KALYAN FEB-DEC 1963

G.K.U.

110343

66|ह|18

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

कल्याण

वर्ष ३७] [अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३०,००० (एक लाख तीस हजार)

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१९, फरवरी १९६३

विषय पृष्ठ-संख्या

१–धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की [कविता] ६८३
२–कल्याण ('शिव') … ६८४
३–'धर्मयुद्ध—भगवत्प्राप्तिका साधन' … ६८५
४–'पाञ्चजन्य लो हाथमें' [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ६९१
५–संन्यास-तत्त्व (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) … … ६९२
६–अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ६९५
७–प्रकाशका देश (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) … ७०२
८–मधुर … … ७०७
९–अन्ताराष्ट्रिय चेतना एवं भारतीय संस्कृति (डा० श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, एम्० बी० ए० (न्यूयार्क), पी-एच्० डी० (न्यूयार्क), एम्० आर० ए० एस्०, एम्० बी० एच०, साहित्यरत्न, विशारद, धर्मरत्न, प्रोफेसर, लाङ्ग आइलेण्ड विश्वविद्यालय न्यूयार्क एवं प्रतिष्ठापक, भारत-केन्द्र, न्यूयार्क) … … ७०८
१०–आपमें छिपा हुआ चमत्कारी विद्युत्प्रवाह—आत्मतेज (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … ७०९
११–गोस्वामी तुलसीदास और अहंकार (श्रीसद्गुरुशरणजी अवस्थी) … ७१२

विषय पृष्ठ-संख्या

१२–मानस रोग (श्रीगोपालदत्तजी सारस्वत) ७१५
१३–जिन्हें दोष नहीं दीखते [कहानी] (श्री 'चक्र') … … ७१७
१४–किंचित् भी दोष नहीं देखते [कविता] ७१९
१५–दो युगोंमें [गद्य-काव्य] (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन') … … ७२०
१६–प्रतीक्षा (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ७२१
१७–हमारा धर्म—धर्म-युद्ध (श्रीजित्तूरामजी मौर्य)७२३
१८–प्रभुका बल [कविता] … ७२७
१९–कैसा साहित्य चाहिये ? (गोरखपुरमें अनुष्ठित 'निखिल-भारत-बंग-साहित्य-सम्मेलन'के ३८वें अधिवेशनमें स्वागत-समितिके अध्यक्ष श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारके बंगला स्वागत-भाषणके कुछ भागका अनुवाद) … … ७२८
२०–भारतीय संस्कृतिमें पशु-पक्षियोंका महत्त्व (श्रीइन्द्रलालजी शास्त्री, विद्यालङ्कार) ७३१
२१–सर्वधर्मान् परित्यज्य (डॉ० कैलाशनाथजी मिश्र, एम्० डी०, एम्० बी० एच० ए०) ७३४
२२–रता नहीं [कविता] … ७३८
२३–जीवनमें सफलताकी कुंजी (प्रो० श्रीहंसराजजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी० ई० एस्०) … … ७३९
२४–दिल्लीके संत कवि महात्मा चरणदास (श्रीफतहचन्द्रजी शर्मा 'आराधक') … ७४०
२५–पढ़ो, समझो और करो … ७४२

चित्र-सूची

१–वृषभारूढ़ हर-पार्वती … … (रेखाचित्र) … मुखपृष्ठ
२–धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की … … (तिरंगा) … ६८३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१० पैस

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

110343

110343

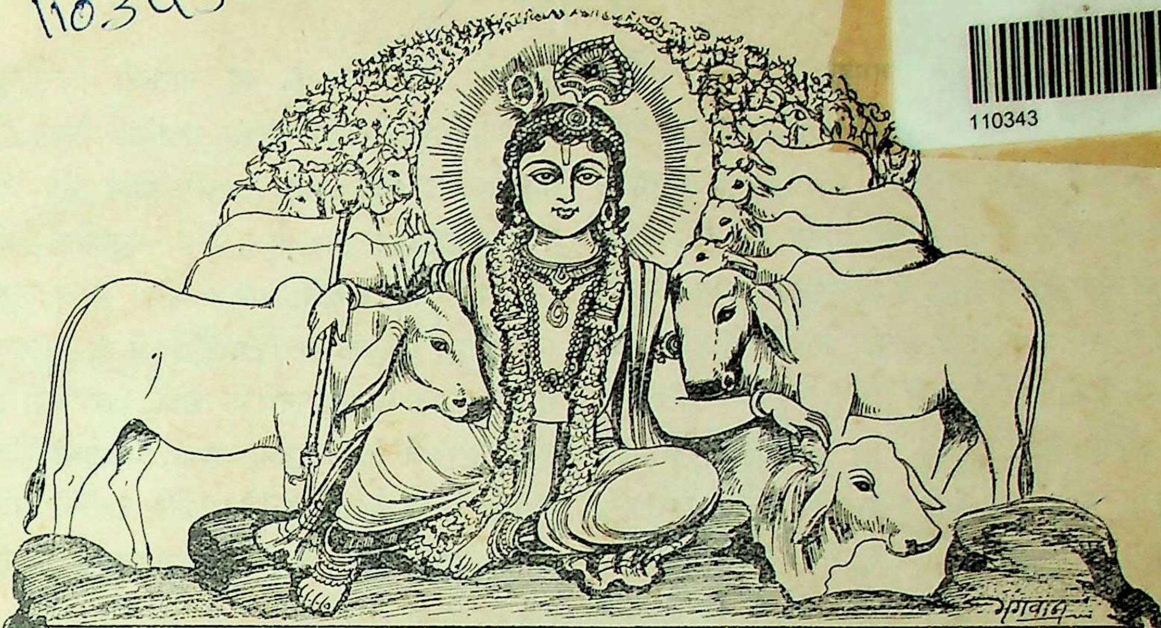

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१९, फरवरी १९६३ { संख्या २
पूर्ण संख्या ४३५

धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की

असुरोंने आ किया आक्रमण देवोंपर सहसा उद्दण्ड ।
सुर-पुकार सुन, उठे रोष भर हरि, ताना कठोर कोदण्ड ॥
धर प्रत्यञ्चा खींचा धनुको, हुआ भयानक धनु-टंकार ।
भड़क उठी ज्वाला भीषण, उमड़ा कालानल कर हुंकार ॥
होगा अब विनष्ट जल-भुनकर असुरोंका सारा समुदाय ।
या फिर साधु बनेंगे सब वे तजकर अघ-अनीति-अन्याय ॥

कल्याण

याद रक्खो—शरीर क्षणभङ्गुर है, विनाशी है। जो जन्मा है, वह मरेगा ही; जो बना है, वह नष्ट होगा ही। पर वही यदि भगवान्‌की सेवामें लगकर मरता है तो उसकी मृत्यु सफल होती है, पर वही यदि केवल भोगोंका भोग होकर मरता है तो उसका जीवन असफल है। जो मनुष्य अपने जीवनको भगवत्सेवामें लगाता है, उसीका जीवन सार्थक होता है।

याद रक्खो—जिसका शरीर परोपकारमें, गरीबोंके दुःख दूर करनेमें, आर्तोंकी आर्ति हरण करनेमें, परसेवामें, त्यागपूर्ण कर्तव्य-पालनमें, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवामें, धर्मरक्षामें, साधु-संरक्षणमें, देशकी सुरक्षा तथा पालनमें, विश्वमानव एवं प्राणीमात्रकी सेवामें, धर्मयुद्धमें, त्याग, क्षमा, दया, विनय, अहिंसा, प्रेम आदि सद्भावोंके सेवनमें, देवाराधनामें, भगवान्‌के भजन-ध्यानमें और भगवान्‌की मङ्गलमयी भक्तिमें लगकर चरम गतिको प्राप्त होता है, उसको शुभ गतिकी और निष्काम भावसे करनेपर भगवत्प्राप्तिरूप परम गतिकी प्राप्ति होती है। जिन मनुष्योंका जीवन इस प्रकार भगवत्सेवामें उत्सर्ग होता है, वे ही मनुष्य वास्तवमें सच्चे अर्थमें मनुष्य हैं। वे ही दैवमानव हैं और वे ही अपने आदर्श जीवनसे जगत्‌का वास्तविक उपकार करते हैं।

याद रक्खो—जिसका शरीर दूसरोंके अहितमें, गरीबोंको सतानेमें, लोगोंके दुःख बढ़ानेमें, स्वार्थवश परस्वापहरणमें, भोगपूर्ण इन्द्रियसेवनमें, गुरुजनोंके अपमानमें, धर्मके नाशमें, साधु-पीड़ामें, देशकी बुराई तथा अरक्षामें, विश्वमानव एवं जीवोंके अपकारमें, अधर्म-पूर्ण स्वार्थभरे युद्धमें, काम-क्रोध-लोभ, मद, क्रूरता, हिंसा, द्रोह, वैर आदि असद्भावोंके वश होकर असदाचरणमें, असुर—असुरभावापन्न मानव और आसुरी भोगोंकी आराधनामें, विषयचिन्तन—विषय-सेवनमें और विषय-भोगोंकी अमङ्गलमयी,—परिणाम-दुःखमयी भक्तिमें लगकर मृत्युको प्राप्त होता है, वह जीते-जी चिन्ता-दुःख-निराशा, पाप और तन-मनकी यन्त्रणा भोगता है एवं मरनेके बाद अशुभ गति, आसुरी योनि और भीषण नरकादिको प्राप्त होता है। जिन मनुष्योंका जीवन इस प्रकार असत्कार्योंमें व्यतीत होता है, वे मनुष्यके रूपमें पशु, पिशाच या राक्षस हैं। वे ही असुर-मानव हैं और उनके जन्म-जीवनसे जगत्‌की बहुत बड़ी हानि होती है। वे केवल कुत्ते, सूअर, गदहेकी मौत ही नहीं मरते, वरं महान् दुःखोंका भोग करनेकी भूमिका बनाकर साथ ले जाते हैं। मानव-जीवनकी यह सबसे बड़ी असफलता है।

याद रक्खो—मनुष्यके असली मनुष्यत्वका प्रारम्भ होता है—जीवनकी गति भगवान्‌की ओर हो जानेपर—और भगवत्सेवाके लिये त्याग-तप-पूर्ण धर्मका आचरण करनेपर। धर्म वही है जिससे अपना तथा दूसरोंका परिणाममें परम कल्याण हो। इस प्रकारके धर्मका आचरण करनेके लिये ही मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है।

याद रक्खो—मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार प्राप्त है। मनुष्य केवल भोगयोनि नहीं है, कर्मयोनि है। वह अपने कर्मोंके द्वारा अपना भविष्य अत्यन्त दुःखमय भी बना सकता है, सुखमय बना सकता है और सत्साधनमें प्रवृत्त हो तो भगवान्‌को—आत्माको भी प्राप्त कर सकता है जो जीवनका परम लक्ष्य है।

याद रक्खो—इस सिद्धान्तको समझकर जो मनुष्य कर्माधिकारका सदुपयोग करता है, वही बुद्धिमान् है। अतएव तुम पापोंका—दुष्कर्मोंका सर्वथा त्याग करो, पुण्योंका—सत्कर्मोंका आचरण करो और वह सत्कर्मोंका आचरण भी करो भगवत्पूजा—भगवत्सेवा-भगवत्प्रीतिके पवित्र भावसे। ऐसा करनेपर तुम्हारा जीवन सर्वथा सफल हो जायगा।

'शिव'

'धर्मयुद्ध—भगवत्प्राप्तिका साधन'

भारतवर्ष धर्मप्राण तथा आध्यात्मिक देश है। उसके प्रत्येक विचार तथा कार्यका धर्मसे सम्बन्ध है तथा धर्मका लक्ष्य है—आत्मसाक्षात्कार या 'भगवत्प्राप्ति'। इसलिये उसके जीवन-निर्वाहके सभी कार्य धर्मसङ्गत होते हैं। इस धर्ममें भौतिकताका बहिष्कार नहीं है। 'अर्थ' और 'काम' भी आवश्यक पुरुषार्थ हैं, पर वे होने चाहिये—'धर्म'-नियन्त्रित और उनका लक्ष्य भोग न होकर होना चाहिये—'मोक्ष'। इसीलिये पुरुषार्थ-चतुष्टयमें 'अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष' चारोंको स्थान है। इन चारोंकी जिसमें उपयुक्त रूपमें—सर्वभूतहित-साधनके रूपमें सिद्धि होती हो—वही 'धर्म' है।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

जिससे अभ्युदय (सर्व प्रकारके श्रेष्ठ लौकिक बल-वैभव) तथा निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती हो, वह धर्म है। अतएव जहाँ सर्वभूतहितके लिये, समष्टिके लाभके लिये युद्धकी आवश्यकता हो, वहाँ युद्ध भी धर्म है। जो युद्ध दूसरेके स्वत्वका अपहरण करनेके लिये हो, शत्रुभावको लेकर किसीका अहित करनेके लिये हो, द्वेषपूर्ण हिंसावृत्तिसे हो, क्रोध या लोभके आवेशमें अविवेकपूर्ण हो, एवं जगत्में कामोपभोगपरायणतारूप आसुरी-सम्पत्तिकी वृद्धिके लिये हो, वह युद्ध धर्म नहीं है। इसके विपरीत जो सबके हितके लिये हो, धर्म और न्यायके विस्तारके लिये हो, दैवी सम्पदारूप धर्मकी सुरक्षाके लिये हो, वैर तथा द्वेष-रहित अहिंसावृत्ति (शरीरके किसी अङ्गसे विषपूर्ण मवाद निकालकर उसे शुद्ध करनेके लिये आपरेशनकी भाँति) से हो—वह युद्ध धर्म है और उसीका नाम 'धर्मयुद्ध' है।

अर्जुन धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होना चाहते थे; परंतु दोनों ओर सेनामें अपने कुटुम्बी स्वजनोंको देखकर शोकाकुल हो गये और धनुष-बाण छोड़कर रथमें एक किनारे बैठ गये। उस समय भगवान्ने उनसे कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥
(गीता २ । २-३)

विषमस्थलमें उपजा कैसे तुममें अर्जुन यह व्यामोह।
जो अनार्यसेवित, अस्वर्गद, है अकीर्तिकारी संदोह ॥
नहीं तुम्हारे योग्य नपुंसकता यह, करो न तुम स्वीकार।
तुच्छ हृदयकी दुर्बलता तज, उठो, युद्ध कर अङ्गीकार ॥

'अर्जुन ! इस विषमस्थलमें तुममें यह मोह कैसे आ गया ? यह न तो (आर्य) श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित है, न स्वर्गप्रद है और न कीर्ति करनेवाला ही है। पार्थ ! इस नपुंसकताको छोड़ो, यह तुम्हारे योग्य नहीं। तुम शत्रुको तपानेवाले वीर हो, हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका परित्याग करके युद्धके लिये उठकर खड़े हो जाओ।'

फिर सब प्रकारसे आत्माकी अमरता समझाते हुए भगवान् बोले—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
(२ । १८-१९)

अप्रमेय अविनाशी है यह हे भारत ! जीवात्मा नित्य।
युद्ध करो, तुम जान सभी उसके देहोंको अथिर अनित्य ॥
मरने और मारनेवाला आत्माको जो लेता मान।
नहीं मारता मारा जाता यह, वे इससे हैं अनजान ॥

'अर्जुन ! आत्मा नाशरहित है, अप्रमेय है और नित्य है एवं उसके जितने ये शरीर हैं—सभी नाश होनेवाले हैं

(इनके नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता)। अतएव तुम युद्ध करो। इस आत्माको जो मारनेवाला मानता है और जो मरा मानता है, वे दोनों ही इसका स्वरूप नहीं जानते। वस्तुतः यह आत्मा न तो मारता है और न मारा ही जाता है।'

फिर व्यावहारिक धर्ममें भी तुम क्षत्रिय हो, अतएव—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
(२। ३१-३३)

अपना धर्म देखकर भी मत होओ तुम कम्पित हे पार्थ !
नहीं श्रेय कुछ भी क्षत्रियके लिये युद्धके सिवा यथार्थ॥
खुला तुम्हारे लिये वीरवर ! स्वर्गद्वार यह अपने-आप।
सुख-सौभाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते ऐसा युद्ध अपाप॥
अगर करोगे नहीं कदाचित् तुम यह परम धर्म-संग्राम।
खो करके निज धर्म, सुयश, तुम लोगे पाप बटोर तमाम॥

'अपने धर्मकी ओर देखकर भी तुम्हें युद्धसे काँप जाना नहीं चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर अन्य कुछ भी कल्याणकारक नहीं है। हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए ऐसे खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप (पापरहित) युद्धको सौभाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं। अतएव यदि कदाचित् तुम इस धर्मयुद्धको नहीं करोगे, तो तुम स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होओगे।' इतना ही नहीं—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥
(२। ३४-३६)

तब फिर गायेंगे जगमें सब सदा तुम्हारी अमिट अकीर्ति।
सम्मानितके लिये मरणसे भी बढ़कर होती अपकीर्ति॥
महारथी मानेंगे तुमको भयवश हुए समर उपराम।
जिनमें हो बहुमान्य, उन्हींमें होगा तुच्छ तुम्हारा नाम॥
निन्दा शत्रु करेंगे तव सामर्थ्य-शक्तिकी कुवचन बोल।
उससे बढ़कर होगा क्या फिर दुःख तुम्हारे लिये अतोल॥

'सब लोग तुम्हारी कभी नष्ट न होनेवाली अकीर्ति किया करेंगे (अर्जुन कायर था, यह अकीर्ति सदा लोगोंके कहनेकी वस्तु बनी रहेगी) और सम्मान्य पुरुषके लिये ऐसी अकीर्ति मृत्युसे भी बढ़कर (दुःख-दायिनी) होती है। आज जिन लोगोंमें तुम बहुत माननीय हो, उन्हींकी दृष्टिमें तुम्हारी तुच्छता होगी और वे महारथी लोग यही मानेंगे कि अर्जुन भयके कारण युद्धसे भाग खड़ा हुआ। तुम्हारा अहित चाहनेवाले लोग तुम्हारी शक्तिसामर्थ्यकी निन्दा करते हुए न कहने योग्य बहुत-सी बातें कहेंगे। इससे बढ़कर तुम्हारे लिये (अतुल) दुःख और क्या होगा ?'

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
(२। ३७)

मर जानेपर स्वर्ग मिलेगा, जीतोगे पाओगे राज।
उठो अतः कौन्तेय ! युद्धका मनमें करके निश्चय आज॥

अतएव 'कौन्तेय ! तुम युद्धके लिये दृढ निश्चय करके खड़े हो जाओ। युद्धमें मृत्यु हो जायगी तो स्वर्गको प्राप्त होओगे और जीत जाओगे तो पृथ्वीका भोग करोगे।'

परंतु यदि भौतिक सुख राज्यलाभ या विजयकी प्राप्तिके लिये ही युद्ध किया जाता है तो आसक्ति, ममता तथा कामना रहनेके कारण मनुष्य आसुरी-भावापन्न होकर जीवनके असली लक्ष्यको भूल जाता है और ऐसे पाप-कर्म कर बैठता है जो भविष्यमें उसके बन्धन तथा भयानक दुःखके हेतु होते हैं। अर्जुन इसी पापसे डर रहे थे। अतः युद्ध करके भी वे पापसे

बचे रहें, हिंसाकर्म भी अहिंसामय हो जाय, भगवान् इसका उपाय बतलाते हुए कहने लगे—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(२ । ३८)

विजय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख मानकर एक समान।
फिर रणमें प्रवृत्त होनेपर पाप न होगा रंचक मान ॥

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख परिणाममें जो भी प्राप्त हो, उसमें समान बुद्धि रखकर, फिर युद्धमें प्रवृत्त होओ। ऐसा करनेपर (रंचक भर भी) पाप नहीं होगा।'

कोई भी कर्म जब आसक्ति तथा फल-कामनासे रहित होकर किया जाता है, तो वह 'योग' बन जाता है और उस निष्काम कर्मयोगका फल मोक्ष ही होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारके मोक्ष-साधनरूप कर्मका निर्देश करते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(२ । ४८)

तज आसक्ति, योगस्थित होकर करो धनंजय कर्म विनीत।
हो समबुद्धि असिद्धि सिद्धिमें फल-समत्व ही योग पुनीत ॥

'धनंजय! कर्म तथा फलकी आसक्तिको त्यागकर एवं सिद्धि और असिद्धिमें समभावापन्न होकर तथा योगस्थ होकर—भगवान्‌के साथ जुड़कर (विनीत भावसे) कर्म करो। यह फलमें 'समत्व भाव' ही (पवित्र) योग है।'

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
(३ । ३०)

मुझमें चित्त जोड़ सब कर्मोंका कर मुझमें ही संन्यास।
युद्ध करो तुम, तजकर ममता, कामज्वर, भोगोंकी आस ॥

'तुम मनको मुझमें जोड़े हुए जो कुछ भी कर्म करो, किसी फलके लिये न करके उन सब कर्मोंका मुझमें भलीभाँति त्याग करते रहो। (मेरे लिये ही कर्म करो।) और भोगोंकी सारी आशा, लौकिक प्राणि-पदार्थोंकी ममता और कामना आदिसे होनेवाले सारे मानस तापोंको त्यागकर युद्ध करो।'

इस प्रकार युद्ध भी एक परम उच्चकोटिकी आध्यात्मिक साधना बनकर मनुष्य-जीवनको उसके चरम तथा परम फल 'भगवान्‌की प्राप्ति' कराकर सार्थक कर देता है। भगवान् फिर अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(८ । ७)

इससे स्मरण करो तुम मेरा सभी समय, फिर करो, सुयुद्ध।
अर्पित कर मन-बुद्धि, मुझे निश्चय ही पाओगे हो शुद्ध ॥

'इसलिये तुम सर्वकालमें निरन्तर मेरा स्मरण करो और (पवित्र) युद्ध करो। यों मन-बुद्धि मुझमें (भगवान्‌में) अर्पण कर देनेपर तुम निस्संदेह मुझको (भगवान्‌को) प्राप्त होओगे।'

यों भगवान्‌में मन-बुद्धि लगा देनेपर भगवान्‌की कृपासे सहज ही सारे विघ्न हट जाते हैं। भगवान्‌ने यह समझाते हुए गीताके उपदेशका उपसंहार करनेके प्रसङ्गमें कहा—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥
(१८ । ५८)

हो मच्चित्त, तार देगी सब दुर्गोंसे मम कृपा अनंत।
नहीं सुनोगे, अहंकारवश, तो होओगे नष्ट तुरंत ॥

'मुझको चित्त सौंपकर मेरे चित्तवाले बन जाओ। फिर मेरी कृपासे तुम (अनायास ही) सारी कठिनाइयोंको पार कर जाओगे। परंतु यदि तुम अहंकारवश मेरी बातें नहीं सुनोगे, मेरे कथनानुसार आसक्ति-ममता-कामना तथा वैर-हिंसाका त्याग करके युद्ध नहीं

करोगे तो तुम नष्ट हो जाओगे (श्रेय-मार्गसे गिर जाओगे ।)'

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
(१८ । ५९)

नहीं करूँगा युद्ध—अगर तुम अहंकारवश लोगे मान ।
मिथ्या यह मान्यता, तुम्हें रणमें जोड़ेगी प्रकृति महान ॥

'तुम अहंकारवश भले ही यह मानते रहो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा ।' पर तुम्हारा यह निश्चय—यह मान्यता ही मिथ्या है । तुम्हारी प्रकृति (स्वभाव) ही तुम्हें युद्ध करनेके लिये बाध्य करेगी । अर्थात् तुम्हें युद्ध तो करना ही पड़ेगा, परंतु वह कामना-आसक्ति तथा वैर-विरोधयुक्त युद्ध धर्मयुद्ध न होनेसे तुम्हारा पतन करा देगा ।'

कर्तव्यरूपसे प्राप्त कोई भी कर्म बुरा नहीं है, बुरी है अपनी आन्तरिक बुरी भावना । संसारके समस्त भूत-चराचर भगवान्के ही रूप हैं, यह समझकर उनके हितके लिये यथासमय यथायोग्य कर्म किया जाय तो प्रत्येक कर्म भगवान्की पूजा बन जाता है और वह जीवनको सफल कर देता है । इसलिये भगवान् अर्जुनको उपदेश करते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

जिससे जीव सकल निकले हैं, जो सबमें रहता है व्याप्त ।
मनुज पूज उसको स्वकर्मसे होता परम सिद्धिको प्राप्त ॥

'जिससे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे यह सारा जगत् (बर्फमें जलकी भाँति) व्याप्त है, उस भगवान्को अपने-अपने कर्मके द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है ।'

यह है भगवान्के द्वारा की हुई धर्मयुद्धकी व्याख्या तथा उसमें प्रवृत्त होनेके लिये अर्जुनको आज्ञा । इस कठोर कर्ममें भी हृदयकी विनम्रता है, शारीरिक हिंसामें भी यह मानस अहिंसा है, क्योंकि यह सर्वभूतहितकी भावनासे ओतप्रोत त्यागमयी भगवत्पूजा है; स्वार्थवश होनेवाला काम्यकर्म नहीं । आसक्ति-कामना, दम्भ-दर्प-अभिमान, क्रोध-हिंसा-अज्ञान आदि दुर्गुणों तथा दुर्विचारोंसे तथा कामोपभोगपरायणतासे युक्त आसुरी सम्पदा ही बन्धनका कारण होती है और भगवत्पूजारूप कर्मनिष्ठामयी दैवीसम्पत्ति मोक्षका कारण होती है । भगवान्ने कहा है—

'दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।'
(१६ । ५)

और अर्जुन 'दैवी सम्पदाको प्राप्त पुरुष' है, यह भगवान्ने श्रीमुखसे कहा है—

'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।'
(१६ । ५)

दैवीसम्पत्- प्राप्त पार्थ ! तुम करो न बन्धनका कुछ शोक ।

अर्थात् तुम्हारा बन्धन नहीं होगा । तुम चिन्ता मत करो और दैवी सम्पदाके २६ गुण*-लक्षणोंमें अक्रोध, अहिंसा, अलोलुपता, निर्वैरता (अद्रोह) आदि गुणोंका समावेश है । अतएव अर्जुनको जिस धर्मयुद्धमें भगवान्ने प्रवृत्त किया था—वह क्रोध, हिंसा, लोभ, वैर आदिसे रहित भगवत्पूजाके भावसे सम्पन्न था । ऐसा युद्ध भी परमार्थका परम साधन होता है । भारतीय आर्य-संस्कृतिकी यही विशेषता है कि इसमें प्रत्येक कर्म भगवत्पूजारूप बनकर भगवत्प्राप्ति करानेवाला बन जाता है । भारतीय संस्कृतिमें जीवमात्र भगवत्स्वरूप हैं, अतः जीवमात्रका हित-चिन्तन और हितसाधन उसका सहज स्वभाव होता है । इसीसे भारतका यह स्वाभाविक नारा है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

---

* देखिये भगवद्गीता अध्याय १६ श्लोक १ से ३ ।

'सब सुखी हों, सब तन-मनसे नीरोग हों, सभीको कल्याणका साक्षात्कार हो और दुःखका भाग किसीको भी न मिले ।'

यद्यपि आज भौतिक विज्ञानकी चकाचौंधमें सारा जगत् तथाकथित भौतिक प्रगतिके प्रवाहमें बह रहा है, सर्वत्र धर्मकी अवहेलना हो रही है । भारतवर्ष भी आत्मविस्मृत-सा होकर इसी प्रवाहमें बह जाना चाहता है । तथापि भारतके सर्वसाधारणमें स्वाभाविक ही परम्परागत यह चिरन्तन मान्यता अभी वर्तमान है कि 'अखिल विश्व एक ही प्रभुका पसारा या एक ही अविच्छिन्न आत्मस्वरूपमय है ।' इसीसे आजका हमारा भारतीय शासन अभाग्यवश धर्म-निरपेक्ष होते हुए भी भारत समस्त विश्वमें शान्तिका अभिलाषी है । सबका कल्याण हो, सभीका हित हो, समस्त विश्वमें शान्ति तथा प्रेमका विस्तार हो यही उसका स्वाभाविक उद्देश्य रहा है । इसीसे भारत न तो किसी परस्पर-विरोधी गुटमें शामिल हुआ और न किसीका विरोधी ही बना । वह सर्वथा तटस्थ होकर सबका मित्र बना रहा तथा सबको अपना मित्र मानता रहा और चुपचाप अपने विकासके प्रयासमें लगा रहा । भारतके अधिकारियोंने यह सोचा ही नहीं कि हमपर भी कोई आक्रमण हो सकता है । कुछ बुद्धिमान् विज्ञ पुरुषोंने सावधान भी किया, परंतु उनकी बात समझमें नहीं आयी । इसीसे वे इस आवश्यक दिशामें प्रायः सर्वथा असावधान तथा अप्रस्तुत रहे । परंतु यह एक बड़ी भूल थी । किसीसे कभी द्वेष न रहे, सबका हित-साधन हो, समस्त विश्वमें शान्ति तथा प्रेमका विस्तार हो—ये बहुत ही अच्छे, परम आदर्श, जीवनके स्वभाव बना लेने योग्य—पवित्रतम विचार हैं, परंतु इन विचारोंका पूर्ण सेवन, पालन, संरक्षण तथा विस्तार हो—इसकी सफलताके लिये भी, इसमें बाधा देनेवाली प्रबल आसुरी शक्तिके दमनके लिये सदा प्रस्तुत रहना आवश्यक है । आसुरी शक्तिके दमनमें ही उसका भी हित है । उसका दमन नहीं होगा और वह यदि बढ़ती चली जायगी तो उसका उत्तरोत्तर पापपूर्ण विस्तार होता जायगा, जो उसके लिये भी परिणाममें अत्यन्त घातक होगा । फिर जहाँ भौतिक राज्य-संचालनके द्वारा भगवत्पूजा करनी है, वहाँ उसकी सुरक्षाका प्रयत्न भी इस भगवत्पूजाका ही एक आवश्यक अङ्ग है । इस आवश्यकतापर पूरा ध्यान न देने और इसपर अमल न करनेके कारण ही इस 'शान्तिप्रेमी' तथा 'विश्वमित्र' भारतपर बर्बरतापूर्ण आक्रमण करनेका चीनको दुस्साहस हुआ है । चीनके इस बढ़े रोगका नाश करके उसे नीरोग बनाकर उसका हित-साधन करनेके लिये आज भारतका यह परमावश्यक कर्तव्य हो गया है कि भारत अपना बल-विक्रम-शौर्य-वीर्य बढ़ाकर चीनकी भौतिक आसुरी शक्तिका ध्वंस कर दे और उसे भारतकी पवित्र भूमिसे ही नहीं, पवित्र बौद्ध-विहारस्थली तिब्बतसे भी बाहर निकाल दे । इसीमें उसका, भारतका और विश्वका हित है । चीनको ऐसी निर्दोष स्थितिमें पहुँचा देना आवश्यक है कि जिसे देखकर उसके तथा अन्य किसी भी राष्ट्रके मनमें कभी किसीपर भी अन्यायपूर्ण आक्रमण करनेकी कल्पना ही उत्पन्न न होने पाये ।

अवश्य ही ऐसा करनेमें हमारे मनमें चीनकी जनताके प्रति या चीन देशके प्रति जरा भी द्वेष या वैरभाव नहीं होना चाहिये । द्वेष या वैर होना चाहिये उसमें आये हुए दोषोंके प्रति, तथा उन्हें ही बड़ी वीरताके साथ समूल नष्ट करनेका प्रयत्न भी होना चाहिये । हमें नाशक 'वैरी' नहीं बनना है, पोषक 'वीर' बनना है ।

वर्तमानमें चीनने जो युद्धबन्दी (सीज फायर)

की घोषणा की है और वह जो अन्यायपूर्वक जीते हुए भारतके कुछ स्थानोंको छोड़कर पीछे हटा या हट रहा है, इसका कारण यह नहीं है कि उसकी राज्य-विस्तार-कामनामें कोई कमी आ गयी हो, या वह सच्चे अर्थमें कुछ शान्ति चाहने लगा हो । इसका प्रधान कारण है—संसारके प्रायः सभी देशोंकी भारतके प्रति सहानुभूति प्रकट करना, अमेरिका-ब्रिटेन आदि देशोंका भारतकी प्रचुर सहायता करना, रूसकी चीनके प्रति कड़ी नजर होना और चीनके साथ विश्वके कम्यूनिष्ट देशोंका भी मतभेद उत्पन्न हो जाना । चीनके पीछे हटनेका कारण संसारके देशोंकी खोयी हुई सहानुभूतिको पुनः प्राप्त करनेका प्रयत्नमात्र है, न कि सच्ची नीयतसे की गयी शान्तिकी साधना है । तथापि हमें उसकी नीयतकी ओर न देखकर उसके इस कार्यका स्वागत करना चाहिये और यदि वह भारतकी ८ सितम्बरकी स्थितिपर वापस लौट जानेकी शर्त मान लेता है तो उसके साथ समझौतेका प्रयत्न भी अवश्य करना चाहिये। यद्यपि ८ सितम्बरकी स्थितिमें भी चीनका भारतकी बहुत-सी भूमिपर अन्यायपूर्ण कब्जा रह जाता है। तथापि शान्तिकी इच्छासे इसे स्वीकार कर लेना उचित है । परंतु यह होनेपर भी अपनी भौतिक शक्तिकी ओरसे उदासीन नहीं होना चाहिये । उसे आधुनिकतम प्रचुर शस्त्रास्त्रोंसे सुसम्पन्न बनाकर और पर्याप्त रूपसे बढ़ाकर कायम रखना चाहिये, जिससे पुनः चीन अथवा कोई भी देश भारतकी ओर बुरी नीयतसे आँख उठाकर न देख सके ।

भारत सदा ही शान्ति चाहता है, वह शान्ति ही चाहता रहेगा । अब भी वह किसीपर आक्रमण करने नहीं गया था । उसे बलात्कारसे ही युद्धमें घसीटा गया है, पर जब घसीटा गया है, तब वह पराङ्मुख भी कैसे हो सकता है ? और होना भी नहीं चाहिये ।

परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल भौतिक बल-विक्रमसे ही काम नहीं चलेगा । सर्वत्र पूर्ण विजय प्राप्त करनेके लिये एक बहुत बड़े अमोघ साधनकी आवश्यकता है—वह है अध्यात्मबल—दैवी बल ।* श्रीरामचरितमानसमें राम-रावण-युद्धके प्रसङ्गमें भगवान् रामके द्वारा उस अध्यात्मबलका विजय-रथके रूपकमें बड़ा ही सुन्दर विवेचन हुआ है । भगवान् श्रीरामको रथरहित देखकर विभीषण अधीर हो जाते हैं । तब भगवान् श्रीराम उनसे कहते हैं—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदनु आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥

---

* 'कल्याण' के गतवर्षके बारहवें अङ्कमें प्रकाशित 'चीनपर पूर्ण विजय प्राप्त करनेके लिये आध्यात्मिक साधन भी किये जायँ' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था । हर्षकी बात है कि देशवासियोंका उसमें बताये हुए आध्यात्मिक साधनोंकी ओर ध्यान तुरंत आकर्षित हुआ और स्थान-स्थानपर देशकी सुरक्षा एवं चीनपर विजय-प्राप्तिके भगवदाराधन और देवाराधनका पवित्र कार्य आरम्भ हो गया । लगभग भारतके विभिन्न प्रान्तोंके बीस स्थानोंसे ऐसे समाचार मिले हैं और प्रायः प्रतिदिन ही मिल रहे हैं। कहीं वैदिक विष्णुयाग, रुद्रयज्ञ तो कहीं गायत्रीयज्ञ होते हैं; कहीं चण्डीकी आराधना, कहीं मृत्युञ्जय आदिके द्वारा शिवोपासना, कहीं रामचरितमानसके सम्पुटित पारायण, कहीं रामरक्षास्तोत्रके अनुष्ठान, कहीं मन्त्रानुष्ठान तथा अखण्ड नामकीर्तन और कहीं सामूहिक प्रार्थना आदि हो रहे हैं। हमारे यहाँ भी एक शतचण्डी-यज्ञ इसी उद्देश्यसे हो चुका है । इस ओर देशवासियोंका ध्यान खींचते हुए पुनः सबसे निवेदन किया जाता है कि वे अपने-अपने क्षेत्रमें तन-मन-धनसे यथाशक्ति सरकारकी सहायता करते हुए ही प्रधानरूपसे भगवदाराधना और देवाराधनाकी ओर ध्यान देकर आराधना करें-करावें ।

—सम्पादक

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे उपदिष्ट दैवी सम्पदाका ही यह रूपान्तरमात्र है। केवल भौतिकबल कहीं जीवनशक्तिशून्य उच्छ्वासमात्र होकर रह जाता है, कहीं उत्तेजनाकी भावमयी आँधीमें उड़ाकर वह नाशके पथपर ले जाता है तो कहीं वह राक्षसी तामसबल बनकर यथार्थ कल्याण-पथसे वञ्चित करके सर्वनाश कर देता है। अतएव बाहरी तैयारीके साथ ही उसके आधाररूपमें इस प्रकारकी एक धर्ममयी बलवती प्रेरणा होनी चाहिये, जिसका हमारी बाहरी रणनीति और रण-सज्जासे सदा सम्पूर्ण संयोग बना रहे और जो हमारे अंदर चिरकालीन पूर्ण विजयप्रदायिनी महान् सात्त्विक अमोघ शक्तिका स्रोत बहाती रहे। इसके लिये धर्म तथा शक्तिके मूल सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का एकान्त आश्रय परम आवश्यक है। भगवदाश्रयका बल ही परम अजेय बल है। जहाँ असीम-शक्ति भगवान्‌का आश्रय होगा और बल-विक्रमके साथ धर्मयुद्धके लिये हम भलीभाँति प्रस्तुत होंगे, वहाँ निश्चय ही हमारी विजय होगी। और इस प्रकारसे प्राप्त हमारी 'पूर्ण विजय' का अर्थ होगा—दैवी सम्पत्तिकी विजय—भागवतीशक्तिकी विजय। एवं इस दैवी सम्पत्ति—भागवतीशक्तिकी पूर्ण विजयसे ही जगत्‌में सच्ची तथा दीर्घकालीन शान्तिकी स्थापना होगी।

दिव्य-दृष्टि-प्राप्त संजयने गीतामें अन्तमें कहा है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(१८। ७८)

'जहाँ कृष्ण योगेश्वर प्रभु हों, जहाँ धनुर्धारी हों पार्थ।
मेरे मतसे, वहाँ सदा श्री, विजय, भूति, ध्रुव नीति यथार्थ॥'

'पाञ्चजन्य लो हाथमें'

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

कहाँ पड़ी है गदा गदाधर ! आज तुम्हारी ?
कहाँ सुदर्शन चक्र ? नक्रका जो संहारी॥
हमें निहत्थे देख शत्रु चढ़ आये ऊपर।
भारी संकट आज मुरारे ! भारत भू पर॥
धीर धनञ्जयको लिये आओ सत्वर साथमें।
मुरलीधर ! मुरली धरो, पाञ्चजन्य लो हाथमें॥

(२)

पाँच गाँवके लिये महाभारतके हामी !
बैठे हो क्यों मौन कहाँ त्रिभुवनके स्वामी ?
पाँच गाँवका नहीं हिमालयका सवाल है।
जिसके हित उठ खड़ा हुआ भारी बवाल है॥
आज त्रिविष्टप पर हुआ असुरोंका अधिकार है।
देवलोक व्याकुल तुम्हें कबसे रहा पुकार है॥

(३)

दैवेच्छासे धर्मयुद्ध है सम्मुख आया।
आ धमका है स्वयं न हमने इसे बुलाया॥
कोटि कण्ठमें गूँज उठे फिर गीताका स्वर।
टूट पड़े भारत निर्भय रिपुओंके ऊपर॥
रथी भक्तके हित पुनः बन जाओ रथवान तुम।
जीत वहीं जिस पक्षमें स्वयं धर्म भगवान् तुम॥

संन्यास-तत्त्व

(लेखक--श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

सत्संगी--स्वामीजी ! आप संन्यास-आश्रमका इतना बखान करते हैं और उसे मुक्तिका द्वार बतलाते हैं । वह प्रभुके दरबारकी एक चाबी है; तुरीय आत्माके साक्षात्कारका प्रत्यक्ष साधन होनेके कारण ही उसे तुर्याश्रम कहा जाता है--इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते आप थकते ही नहीं । पर हम संसारी जीवोंको यह बात ठीक समझमें नहीं आती । ये सब बड़ी-बड़ी अतिशयोक्तियाँ होंगी--ऐसा विचार मनमें आये बिना नहीं रहता । हम तो संसारी जीव ठहरे, इससे हमारा चश्मा ही ऐसा है कि हमारी नजर किसी चीजकी काली दिशाकी ओर ही पहले पड़ती है । उजियाली दिशाकी ओर नजर जाती ही नहीं । आप कृपा करके हमें समझाइये--सच्ची वस्तु क्या है और हमारी भूल कहाँपर है ?

स्वामीजी--भाई ! तुम्हारा कहना ठीक है । संसारमें रचे-पचे रहनेवाले मनुष्योंकी दृष्टिके आगे सदा मायाका पर्दा पड़ा रहता है, इसलिये वे किसी भी वस्तुको उसके यथार्थ रूपमें नहीं देख सकते । इसमें तुम्हारा दोष नहीं है । दृष्टिकी मलिनता ही इसका कारण है । पीलिया हो जानेपर दूध भी पीला दिखायी देता है, इसमें मनुष्यका कोई दोष नहीं है । पीलिया मिटते ही दूध सफेद दिखायी देगा ।

अब पहली बात तो यह समझनेकी है कि कोई भी अच्छी वस्तु जब खराब आदमियोंके हाथोंमें पड़ जाती है, तब वह वस्तु कितनी ही अच्छी क्यों न हो, अच्छी रह नहीं सकती; क्योंकि खराब हाथोंसे उसका दुरुपयोग हुए बिना नहीं रहता । किसी कारखानेने एक अच्छा चाकू बनाया, उसका उपयोग करके एक सर्जन मनुष्यके प्राण बचा सकता है, परंतु वही चाकू बंदरके हाथ आ जानेपर उससे अनेक अनर्थ हो सकते हैं । अब यदि बंदरके किये हुए अनर्थको देखकर चाकू बनानेवाली संस्थाको दोषी ठहराकर यह कहा जाय कि यही सारे अनर्थकी जड़ है, तो यह उचित नहीं होगा । इसी प्रकार व्यवहारमें तुम्हें कोई मनुष्य ऐसा मिल गया हो, जिसके आचरणसे तुम्हें घृणा उत्पन्न हो गयी हो तो इससे संस्था ही खराब है, यह नहीं कहा जा सकता ।

दूसरा उदाहरण है आजका साम्यवाद । एक संस्थाकी दृष्टिसे वह अपने विशुद्ध रूपमें बहुत ही अच्छी चीज है । हमारे हिंदू-दर्शनमें सर्वत्र इस वादके दर्शन होते हैं । उसका स्वरूप यह है---

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

संसारमें सभी प्राणी सुखी हों, सभी रोगरहित हों, प्राणिमात्रका कल्याण हो और दुःखका भाग किसीको भी न मिले । यह है साम्यवादका शुद्ध स्वरूप । हमारे यहाँ इसे त्यागकी भावनासे तथा परस्पर सद्भावनासे काममें लाया जाता है । पश्चिममें इसे द्वेषकी भावनासे व्यवहारमें लाया जाता है । जिसके पास जो कुछ है, उससे छीन लो, ऐसा पश्चिमका उपाय है । इसकी जगह हम कहते हैं कि तुम्हारे पास जो है, उसे जितना अपने काममें लेना आवश्यक हो लेकर, शेषको ईश्वरकी सेवामें लगा दो । दोनोंका ध्येय एक ही है, पर एक उसका दुरुपयोग करता है, दूसरा सदुपयोग । इससे वह संस्था अपने शुद्धरूपमें खराब है--यह नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार संन्यासाश्रमका बाना धारण करके यदि कोई यथेच्छाचार करता हो तो इससे यह नहीं माना जा सकता कि समूची संन्यास-संस्था ही खराब है ।

अतएव संन्यासके विषयमें मैं जो कुछ कहता हूँ, उसमें रत्तीभर भी अतिशयोक्ति नहीं है । यही नहीं, वरं वह सोलहों आने सत्य है । इससे भी आगे बढ़कर यहाँतक कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्यको, चाहे वह स्त्री या पुरुष और किसी भी धर्म या देशका हो, उसे संन्यास लेना ही पड़ता है ।

सत्संगी–स्वामीजी ! यह तो बड़े गजबकी बात है । फिर तो मुक्ति बहुत ही सस्ती हो जायगी और गेरू इतनी महँगी हो जायगी कि कहीं ढूँढ़े भी नहीं मिलेगी। कारण, संन्यास लेनेका अर्थ है—चार पैसेकी गेरूका खर्च । कपड़े रँगे कि हो गये भगवा-वस्त्रधारी संन्यासी ।

स्वामीजी–तुम्हारी समझमें किस बातकी उलझन है–यह अब समझमें आया । तुम भगवा कपड़ेको ही संन्यास मानते हो । पर संन्यासका अर्थ तो बड़ा ही गम्भीर है । भगवा-वस्त्र तो केवल आश्रमका चिह्न बतानेभरके लिये है; वह संन्यासका कोई स्वरूप नहीं है । जब तुम संन्यासका सच्चा अर्थ समझ लोगे, तब मेरी कही बात यथार्थ है, यह तुम्हारी समझमें आ जायगा और फिर ऐसा कुतर्क उपस्थित नहीं होगा ।

गीता सर्वमान्य ग्रन्थ है, अतः हम संन्यासका तत्त्व गीतासे ही समझें तो बहुत अच्छा होगा । श्रीकृष्ण परमात्मा गीतामें अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

> ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
> **निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥**
> (५ । ३)

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन ! जो मनुष्य राग-द्वेषसे मुक्त होकर सुख-दुःख, मानापमान आदि तमाम द्वन्द्वोंसे छूट गया है, उसे सदा सच्चा संन्यासी समझो और ऐसा संन्यासी बिना ही किसी परिश्रमके सुखपूर्वक बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।' देखो, यहाँ भगवान्ने संन्यासका लक्षण भी बता दिया और वह मुक्तिका द्वार है, यह भी कह दिया। फिर अठारहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

> **काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।**
> (१८ । २)

ऋषि-मुनियोंका कहना है कि काम्यकर्मोंके त्यागका नाम ही संन्यास है । कैसी उत्तम व्याख्या सूत्ररूपसे की गयी है । अब यहाँ यह समझना है कि काम्यकर्म किसे कहते हैं और वह किसलिये किया जाता है ।

काम्यकर्मका अर्थ है—कामना या इच्छाकी पूर्तिके लिये किया जानेवाला कर्म । इच्छा प्राणिमात्रको सुख-प्राप्तिकी ही होती है, दुःखकी किसीको नहीं होती । अब यह विचार करना है कि यह सुख भोगनेवाला कौन है ? आत्मा तो असङ्ग है, उसमें सुखभोग सम्भव नहीं; अतएव काम्यकर्मका इतना ही अर्थ रह गया कि शरीरको सुख पहुँचानेके लिये जो-जो कर्म किये जाते हैं, वे ही काम्यकर्म कहलाते हैं । अब यह देखना है कि शरीरको सुख क्यों पहुँचाना चाहिये ? इसका कारण यह है कि लंबे—अनन्त जन्मोंके सहवासके कारण, शरीरमें आसक्ति हो जानेसे उसमें ममताका बन्धन हो गया है और इस ममताके परिणामस्वरूप पुरुषने अपनेको शरीररूप ही मान लिया है । एवं इसीसे वह शरीरको सुख पहुँचानेके लिये प्रयत्न करता रहता है ।

अब संन्यासकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये—इस काम्यकर्मका त्याग करना हो तो पहले तो शरीरकी आसक्तिका त्याग करना चाहिये, तदनन्तर देह-देहीके विवेकके द्वारा अपनेको देहसे अलग करना चाहिये और देहसे अलग हो जानेपर अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होना आवश्यक है । जबतक देहमें आसक्ति है, तबतक देहसे अलग नहीं हुआ जा सकता; और जबतक 'मैं देहसे भिन्न हूँ'—ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं हो जाता, तबतक देहको सुख पहुँचानेकी इच्छा नहीं मिट सकती एवं जबतक ऐसी इच्छा रहती है, तबतक काम्यकर्मका त्याग हो ही नहीं सकता । अतएव संन्यासकी योग्यताके लिये देहसे अलग होकर आत्मस्वरूपमें स्थिर होना चाहिये । इतने विवेचनसे तुम समझ सके होगे कि संन्यासका अर्थ—आत्मसाक्षात्कारसे कम कुछ भी नहीं है । अतएव संन्यासको मुक्तिका द्वार कहना या उसे आत्मसाक्षात्कारका प्रत्यक्ष साधन कहना किसी प्रकारकी अतिशयोक्ति नहीं है, वरं वस्तुका यथार्थ दर्शनमात्र है ।

अब भगवान्‌ने गीतामें संन्यासका फल क्या बताया है, वह देखें—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥
(१८ । ४९)

संन्यासी सब ओरसे आसक्ति हटा चुका होता है, मन-बुद्धिपर विजय प्राप्त कर चुका होता है और इच्छामात्रका त्यागी होता है, इससे उसको परम नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है। 'परमा नैष्कर्म्यसिद्धि' का अभिप्राय है—कर्म करते रहनेपर भी उसमें कर्तापनका अभिमान न रहने तथा फलकी आशा न रहनेके कारण कर्मका बन्धन नहीं होता। सारांश यह कि संन्यासी प्रारब्धके क्षय न होनेतक शरीरसे यथायोग्य व्यवहार जीवननिर्वाह या लोकसंग्रहके लिये करता है, परंतु वह व्यवहार भूँजा हुआ बीज जैसे अङ्कुर उत्पन्न नहीं करता, वैसे ही बन्धनकारक नहीं होता; इससे वह संसारमें जलमें कमलकी भाँति निर्लिप्त रहता है। अब तुम समझ गये होगे कि भगवा-कपड़ा संन्यासका स्वरूप नहीं है, वह तो बाह्यचिह्न मात्र है। संन्यासी देहसे अलग हो जाता है। वह जीते-जी ही देह अग्निको सौंप चुका है, यह बतानेके लिये, वह अग्निके रंगका गेरुआ वस्त्र धारण करता है।

भाई! अब, मैंने जो यह कहा था कि 'प्रत्येक मनुष्यको संन्यास लेना ही पड़ता है।' इसको समझना है। हम संन्यासका ऊपर यह अर्थ कर आये हैं कि शरीरमेंसे आसक्ति निकालकर, शरीर और संसारसे अलग हो जाना संन्यास है। अब तुम्हीं देखो कि मरनेके समय प्रत्येक मनुष्यका क्या होता है? शरीरसे अलग तो झख मारकर होना पड़ता है। अलग होना अच्छा नहीं लगता, परंतु कोई धक्का मारकर निकालने लगे तब शरीरको छोड़े बिना चलता भी नहीं। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य शरीरसे अलग तो होता ही है—उसे होना ही पड़ता है और शरीरके साथ सम्बन्ध छूटते ही संसारका सम्बन्ध भी छूट ही जाता है। परंतु शरीरमें आसक्ति बनी रहनेके कारण उसे दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है और इस प्रकार जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहता है। कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि संन्यास-दीक्षामें और सामान्य मनुष्यकी मृत्युमें बस इतना ही अन्तर है कि संन्यासी विवेकपूर्वक, अपने शरीर और संसारके सम्बन्धको स्वेच्छासे जीते-जी ही छोड़ देता है; और सामान्य मनुष्यको मृत्युके समय अनिच्छासे बाध्य होकर शरीर और संसारको छोड़ना पड़ता है। दोनोंमें क्रिया एक ही है। पर भावमें महान् अन्तर होनेके कारण फलमें भी बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। संन्यासी जीवन्मुक्त होकर विचरता है और संसारीका भवाटवीमें भटकना चालू रहता है।

अब यदि पुरुष विवेकको जाग्रत् करके शान्तिपूर्वक यह विचार करे कि एक दिन तो शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, शरीर छूटते ही संसारका सम्बन्ध भी छूट ही जायगा; क्योंकि शरीर तो सीमित समयके लिये भाड़ेपर लिया हुआ है, समय पूरा होते ही मालिकको वापस सौंप ही देना है, तब फिर, मुद्दत पूरी होनेके पहले ही उसमेंसे आसक्ति हटाकर हँसते मुख मालिककी चीज मालिकको वापस सौंप दी जाय तो कितना अच्छा हो। फिर यदि मुदत पूरी होनेके पहले ही, यदि मैं अपने घरका पता लगा लूँगा तो इस भाड़ेके मकानको खाली करनेके बाद तुरंत ही वहाँ जाकर सुखसे रहूँगा; फिर वहाँसे किसी दूसरे भाड़ेके घरमें रहनेके लिये जाना नहीं पड़ेगा।'—बस, इतना विवेक मनुष्यमें आ जाय और उसको वह अमलमें ले ले तो उसका भवबन्धन कट जाता है।

* * *

अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

गीतामें भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ भक्तिका वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ भक्ति, भजन, प्रेमके वाचक शब्दोंका ही प्रयोग किया है। इस कारण भक्तिके मार्गमें प्रेमकी प्रधानता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४ । ११ का पूर्वार्द्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यहाँ 'यथा' शब्द प्रकार अर्थमें है अर्थात् जो मेरा ध्यान करता है, उसका मैं ध्यान करता हूँ। जैसे, महाभारतमें वर्णन आता है कि राज्य पानेके पश्चात् राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णके पास गये और कृतज्ञता प्रकट करने लगे कि प्रभो! हमने आपकी कृपासे ही यह राज्य पाया है; किंतु भगवान्‌ने कोई उत्तर नहीं दिया; क्योंकि वे उस समय ध्यानमग्न थे। तब युधिष्ठिरने आश्चर्य करते हुए पूछा—'आप तो अमितपराक्रमी, समस्त जगत्‌के आश्रयदाता पुरुषोत्तम हैं, आप किसका ध्यान कर रहे हैं?' इसपर भगवान्‌ने कहा—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः॥

(महा० शान्ति० ४६ । ११)

'राजन्! वाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है।'

इससे समझना चाहिये कि भीष्मका भगवान्‌में कितना प्रेम था और भगवान्‌के स्वभावकी ओर भी ध्यान देना चाहिये कि उनकी कितनी सुहृदता है। भगवान् सबके सुहृद्—हेतुरहित दया और प्रेम करनेवाले हैं—इस प्रकार जाननेसे मनुष्यको शान्ति मिल जाती है। भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५ । २९ का उत्तरार्द्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समान रहता है किंतु दर्पणमें तो सूर्य प्रतिविम्बित होकर प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिगोचर होते हैं और काठ-पत्थर आदिमें नहीं, इसी तरह भगवान् सब जगह समान भावसे रहते हुए भी जिसका हृदय दर्पणकी भाँति शुद्ध है और जो भगवान्‌को प्रेमसे भजता है, उसके हृदयमें विशेषरूपसे निवास करते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

जो भगवान्‌के प्रति निष्कामभावसे अनन्य प्रेम करता है, भगवान् भी उसके प्रति वैसा ही प्रेम करते हैं। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(७ । १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला निष्कामी ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि

मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इतना ही नहीं, भक्त प्रेमसे भगवान्‌को, जो कुछ भी देता है, उसे भगवान् प्रकट होकर ग्रहण कर लेते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९।२६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

अतएव—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९।२७)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९।२८)

'इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

अतः भक्तिका साधन सब साधनोंसे सुगम भी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

यदि कहें कि निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति सुलभ तो है किंतु भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन होना कठिन है तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌में श्रद्धा, प्रेम और आत्मीयता होनेपर कठिन नहीं है; क्योंकि फिर नित्य-निरन्तर चिन्तन अपने-आप ही होने लगता है। तथा भगवान्‌के प्रति प्रेम मनुष्यका स्वाभाविक ही होना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के सिवा वास्तवमें अपना कोई सुहृद् है नहीं, उनके साथ जीवका नित्य सम्बन्ध है। सत्संग और शास्त्रके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेपर उनमें स्वाभाविक ही प्रेम हो जाता है; क्योंकि भगवान्‌के समान कोई गुणी और प्रभावशाली नहीं है तथा भगवान्‌की भक्तिके साधनके समान और कोई दूसरा साधन नहीं है। भगवान्‌ने भक्ति करनेवाले श्रद्धालु भक्तकी विशेष प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता ६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

सगुणोपासक और निर्गुणोपासककी उत्तमताके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने सगुणोपासकको श्रेष्ठ बताया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(गीता १२।२)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

इसके सिवा आगे अ० १२ श्लोक ५ में निर्गुण-

निराकारका साधन कठिन बताया है और सगुण-साकार उपासनासे आत्माका शीघ्र उद्धार होनेकी बात कही है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६-७)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं। हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

इतना ही नहीं, यदि वह पापीसे भी पापी हो तो भी अनन्य भक्तिके प्रभावसे शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

भगवान्की अनन्य भक्ति—अनन्य प्रेमसे भक्त भगवान्का दर्शन, यथार्थ ज्ञान और भगवान्में प्रवेश भी कर सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

यदि कहें कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती—ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है, सो ठीक है । किंतु भक्ति करनेवालेको भगवान् स्वयं ज्ञान प्रदान कर देते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

अतएव भक्तियोगमें भगवान्के प्रति अनन्य विशुद्ध दृढ प्रेम होना ही प्रधान है । उस परम प्रेमकी प्राप्तिके इच्छुक साधकोंको अपने समयके प्रधानतया तीन विभाग समझने चाहिये—१–ऐकान्तिक साधन-काल, २–व्यवहार-काल, ३–शयन-काल । इनको किस प्रकार सुधारकर उत्तमोत्तम रीतिसे व्यतीत किया जाय, इसपर विचार किया जाता है ।

ऐकान्तिक साधन-काल

भक्तियोगके साधकोंको एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान, पूजा, पाठ (स्वाध्याय), स्तुति, प्रार्थना आदि नीचे लिखे अनुसार उत्तम रीतिसे करना चाहिये ।

१. जप—जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सब जलके ही नाम हैं, इसी प्रकार ॐ, हरि, राम, कृष्ण, भगवान्, नारायण, वासुदेव, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि भगवान्के हजारों नाम हैं । ये सभी समान हैं ।

किंतु जिसकी जिस नाममें रुचि, श्रद्धा, विश्वास विशेषरूपसे है उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है। जो नामजप वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके किया जाता है, उसकी अपेक्षा जो दूसरोंको सुनायी न दे ऐसे धीमे स्वरसे ओठोंके द्वारा उच्चारण किया जानेवाला उपांशु जप अधिक महत्त्वका होता है तथा उपांशु जपकी अपेक्षा मानसिक जप और भी अधिक महत्त्वका है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(मनु० २ । ८५)

'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

२. **ध्यान**—भगवान्‌के निराकार या साकार और साकारमें भी शिव, विष्णु, राम, कृष्ण या अन्य जिस किसी भगवत्स्वरूपमें जिसकी श्रद्धा, विश्वास और प्रीति हो, उसके लिये वही विशेष लाभप्रद है। किंतु भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करनेके समय भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान किया जाय तो वह विशेष लाभदायक है।

३. **पूजा**—मन्दिरोंमें या अपने घरमें अपने इष्टदेवका षोडशोपचारके द्वारा विधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे पूजन करना उत्तम है। इससे भी उत्तम है अपने हृदयरूप मन्दिरमें या बाह्य आकाशमें अपने इष्टदेवके स्वरूपकी स्थापना करके षोडशोपचारद्वारा विधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे मानसिक सामग्रीसे मानसिक-पूजन करना। बाह्य पूजा तो बिना मनके भी हो सकती है किंतु मानसिक पूजा तो बिना मन लगाये होती ही नहीं; इसलिये बाहरी सामग्रीसे पूजा करनेकी अपेक्षा मनसे पूजा करना और भी श्रेष्ठ है।

भगवान्‌को प्राणीमात्रके उत्पादक और रक्षक तथा प्राणीमात्रमें व्यापक समझकर भगवद्भावसे सबकी सेवा, आदर-सत्कार करना—यह भगवत्पूजा व्यापक होनेके कारण पूर्वोक्त पूजाकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। इस पूजाका स्वरूप भगवान्‌ने गीतामें यों बताया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

४. **पाठ**—(स्वाध्याय)—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण, भागवत, स्तोत्र आदि धार्मिक ग्रन्थोंके साधारणतया किये जानेवाले स्वाध्यायकी अपेक्षा उन ग्रन्थोंमें आये हुए भगवान्‌के गुण, प्रभावके प्रसङ्गोंका तत्त्व-रहस्य समझते हुए अनुशीलन करना विशेष लाभप्रद है।

५. **स्तुति**—भगवान्‌के गुणोंका गायन करना ही 'स्तुति' कहा जाता है। जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥
(१० । १२-१३

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पु एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कह हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋ तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मे प्रति कहते हैं।'

इसी प्रकार गीतामें तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें भगवान्‌की स्तुतियाँ नाना प्रकारसे मिलती हैं। उ

स्तुतियोंका भगवान्के गुण, प्रभावको समझकर श्रद्धा-प्रेमभावसे गायन करना विशेष लाभप्रद हैं ।

६. **प्रार्थना**—किसी भी कार्य-सिद्धिके लिये या किसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये भगवान्से याचना करना 'प्रार्थना' है । जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान्से चतुर्भुजरूपके दर्शनके लिये प्रार्थना की है—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥
(गीता ११ । ४६)

'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये ।'

इस प्रकार भक्तोंने नाना प्रकारसे भगवान्से प्रार्थना (याचना) की है, जिनका विभिन्न ग्रन्थोंमें वर्णन पाया जाता है । प्रार्थना भी भगवान्का तत्त्व-रहस्य समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्में अनन्य विशुद्ध प्रेम प्राप्त होनेके लिये ही की जाय तो वह बहुत उत्तम है ।

उपर्युक्त छहों साधनोंमेंसे जिस समय जो भी साधन किया जाय, उसे (१) भावसहित अर्थ समझते हुए, (२) परम श्रद्धा, (३) अनन्य विशुद्ध प्रेम और (४) मनोयोगपूर्वक, (५) गुप्त तथा (६) निष्कामभावसे करना चाहिये । इस प्रकार किये हुए साधनका महत्त्व हजारों गुना बढ़ जाता है ।

अब इन छहों प्रकारोंके सम्बन्धमें लिखा जाता है—

(१) **भावसहित अर्थ समझना**—जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थनाका भावसहित अर्थ समझना यह है कि जो कुछ भी जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना की जाय, उसका वास्तविक अभिप्राय (भाव) और तत्त्व-रहस्य क्या है—इसे भलीभाँति समझकर करना ।

(२) **परम श्रद्धा**—किसीमें भी जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास और पूज्यभाव है, उसका नाम 'श्रद्धा' है तथा जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर पूज्यभावपूर्वक विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है । जैसे पत्नीसहित राजा द्रुपदको भगवान् शिवजीने यह वर दिया था कि पहले तुम्हारे कन्या उत्पन्न होगी; किंतु वही बादमें पुरुष बन जायगा—इसके अनुसार उनके कन्या उत्पन्न हुई, किंतु श्रीशिवजीके वचनोंपर दृढ़ विश्वास करके कन्या रहते हुए भी उसे पुरुष मानकर उसका पुरुषों-जैसा ही 'शिखण्डी' नाम रक्खा । इतना ही नहीं, उसका विवाह भी उन्होंने दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्माकी पुत्रीके साथ कर दिया । शिवजीके वरदानके अनुसार बादमें शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८—१९२) । इसका नाम प्रत्यक्षसे बढ़कर विश्वास यानी परम श्रद्धा है ।

(३) **अनन्य विशुद्ध प्रेम**—केवल एक भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय हैं । वे ही माता-पिता, भाई-बन्धु परम हितकारी और सर्वस्व हैं, उनके सिवा हमारा कोई आत्मीय नहीं है—ऐसा समझकर केवल उनमें ही स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम हो, उनके सिवा अन्य किसीमें भी प्रेम न हो, उसको 'अनन्य विशुद्ध प्रेम' कहते हैं । इसे ही गीतामें अनन्य भक्ति कहा गया है (११ । ५४-५५, १३ । १०; १४ । २६) । इन श्लोकोंका भाव विस्तारसहित गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीतातत्त्व-विवेचनी' टीकामें देख सकते हैं ।

(४) **मनोयोग**—मन लगाकर साधन करना ही

मनोयोगपूर्वक साधन करना है । यह नहीं होना चाहिये कि हम हाथमें माला रखकर जप कर रहे हैं और मन कहींका कहीं जा रहा है । किसी कविने कहा है—

> **माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं ।**
> **मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ॥**

इसी प्रकार गीता-रामायण आदिका पाठ करते समय मन कहीं जा रहा है और वाणीसे पाठ हो रहा है, यह पता ही नहीं है कि कहाँ किस स्थलका पाठ चल रहा है तो वह मनोयोगपूर्वक साधन नहीं है ।

इसी तरह स्तुति-प्रार्थना आदिके विषयमें समझ लेना चाहिये । अतः उपर्युक्त साधनोंको करते समय मन अन्यत्र कहीं नहीं जाय, निरन्तर साधनमें ही लगा रहे—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये ।

(५) **गुप्तभाव**—उपर्युक्त साधनोंके द्वारा भगवत्कृपासे कोई विशेष अनुभवयुक्त घटना हो जाय तो उसको तथा इन साधनोंको भी गुप्त रखना चाहिये, किसीसे भी न कहना चाहिये; क्योंकि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी आकाङ्क्षासे कहनेपर अभिमान बढ़ता है और विशेष अनुभव होना बंद हो जाता है । जैसे कपूरभरी डिबियाका मुख खोल देनेपर उसमेंसे कपूर शनैः-शनैः क्षीण हो जाता है, इसी प्रकार अपने मुखसे अपने गुण-प्रभाव, साधन या उसके फलकी प्रशंसा करनेसे उसका महत्त्व क्षीण हो जाता है । इसलिये गुप्तभावसे साधन करना चाहिये ।

(६) **निष्कामभाव**—ईश्वर, महात्मा, देवता, मनुष्य या अन्य किसी भी प्राणीसे तथा जड पदार्थोंसे भी स्त्री, पुत्र, धन, मकान, आरोग्य, कष्टनिवृत्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोकके और स्वर्ग आदि परलोकके भी किसी भी पदार्थके लिये किंचिन्मात्र भी कामना, याचना, अभिलाषा, इच्छा कभी न करना 'निष्कामभाव' है ।

किंतु भगवान्के प्रति परम श्रद्धा और परम प्रेमकी प्राप्तिके लिये, जप-ध्यान आदि निरन्तर होनेके लिये, भगवत्प्राप्तिके लिये और भगवान्के साथ नित्य संयोगके अनुभवके लिये भगवान्से जो कामना है, वह निष्कामके ही तुल्य है ।

व्यवहारकाल

व्यवहारकालमें निम्नलिखित छः बातोंको काममें लाना चाहिये—

(१) व्यवहारकालमें यानी चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते, व्यवसाय और व्यवहार करते समय निरन्तर भगवान्के नाम और रूपका स्मरण रखते हुए ही उन कार्योंको करना चाहिये । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

> **तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।**
> **मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥**
> (गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

जब भगवान्का निरन्तर स्मरण रखते हुए युद्ध भी हो सकता है, तब अन्य सब कार्य होनेमें तो आपत्ति ही क्या है ! अर्जुन क्षत्रिय था, अतः उसके लिये युद्ध कर्तव्य था । इसी प्रकार दूसरे वर्णाश्रमवालों और स्त्रियोंको अपने-अपने शास्त्रविहित कर्तव्यका पालन भगवान्को निरन्तर स्मरण रखते हुए ही करना चाहिये ।

(२) मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं, । यह भगवान्के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध सदासे है, सदा ही

रहेगा—इस प्रकार समझकर भगवान्‌के साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित रखना चाहिये ।

(३) ये स्थावर-जङ्गम सारे प्राणी भगवान्‌के हैं और इन सबमें भगवान् व्यापक हैं—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे आदर-सत्कार और सेवा करनी चाहिये ।

(४) जो कुछ भी शास्त्रविहित क्रिया की जाय, उसको भगवान्‌की आज्ञा समझकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌में परम विशुद्ध प्रेम होनेके लिये और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही निष्काम भावसे करना चाहिये ।

(५) जैसे अर्जुनने अपने रथ, घोड़े और घोड़ोंकी बागडोरको भगवान्‌के हाथमें सौंप दिया था । भगवान् जिस प्रकार अर्जुनको चलाते थे, वह वैसे ही चलता था । उसी प्रकार हमलोगोंको अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीररूपी रथको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये । भगवान्‌की कठपुतली बनकर रहना चाहिये । जैसे भगवान् नचावें, वैसे ही नाचना चाहिये । यह भगवान्‌की शरणागतिका भाव है । श्रीभगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(गीता ९ । ३४)

‘मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ।’

‘मन्मना भव’ के अनुसार मनके द्वारा भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना मनका भगवान्‌में अर्पण है ।

‘मद्भक्तो भव’ के अनुसार बुद्धिके द्वारा ‘मैं भगवान्‌का हूँ’ इस प्रकार तत्त्वसे समझकर भगवान्‌में अनन्य प्रेम करना बुद्धिका भगवान्‌में अर्पण है ।

‘मद्याजी’ के अनुसार सबमें भगवान्‌को समझकर इन्द्रियोंके द्वारा सबकी सेवा-पूजा, सत्कार करना इन्द्रियोंका भगवान्‌में अर्पण है ।

‘मां नमस्कुरु’ के अनुसार देहसे अहंता-ममता उठाकर भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें शरीरको लगा देना शरीरका भगवान्‌में अर्पण है ।

इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जानेपर उस भक्तका ‘करना’ ‘होने’में बदल जाता है ।

(६) जो कुछ भी सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ, परिस्थिति और घटना प्राप्त हो उस सबको भगवान्‌का विधान अथवा भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार या भगवान्‌की लीला समझकर हर समय राग-द्वेषसे रहित हो सम, संतुष्ट और प्रसन्न रहना चाहिये ।

शयनकाल

शयनके समय संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप समझते हुए इसके संकल्पोंके प्रवाहका सर्वथा त्याग करके भगवान्‌में विशुद्ध परम प्रेम होनेके लिये भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यके संकल्पोंका प्रवाह बहाते हुए शयन करना चाहिये । इससे वह शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो जाता है ।

इस प्रकार भक्तियोगका साधन करनेसे भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । अतएव भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मनुष्यको उपर्युक्त प्रकारसे भक्तिका साधन करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये ।

* * *

प्रकाशका देश

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

[शिव-राम-संवाद]

शिव—कैसे हो दादा ?

राम—बस, दादा जानेहीवाले हैं ।

शिव—क्यों, क्या बात है ?

राम—रोग-शोक, ज्वाला-यन्त्रणाने डावाँडोल कर दिया है । घरमें प्रायः सभी बीमार पड़े रहते हैं । मैं तो सदाका रोगी हूँ । इसपर गरीबी ! अब भी यमराज उठा क्यों नहीं रहे हैं, समझमें नहीं आता ।

शिव—क्या बात है ? तुम्हारे घरमें इतने रोग क्यों हैं ?

राम—क्यों हैं ? मुझे तो पता नहीं दादा !

शिव—रोग बिना कारण नहीं होते । अवश्य कुछ कारण है ही । रोगका प्रधान कारण है राजस-तामस आहार । भगवान्ने गीतामें स्पष्ट कहा है—अति कटु, अति अम्ल, अति गरम, तीक्ष्ण, रूक्ष और विदाही आदि राजसिक आहार दुःख-शोक-रोग प्रदान करते हैं और यातयाम, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा मांस-मछली आदि निषिद्ध आहार तामसप्रिय है, जो सर्वथा त्याज्य है । शरीर-मनको स्वस्थ रखनेके लिये आहारादि शुद्ध करने पड़ते हैं । आहारमें कोई नियम रखते हो ?

राम—ना भाई ! कोई नियम नहीं रखता । मांस, मछली, बत्तक, मुर्गी, अंडे, लहसुन, प्याज—सारे देशमें फैल रहे हैं, हम भी वही खाते हैं ।

शिव—तुमलोगोंके रोगका कारण है आहारका यह यथेच्छाचार । मांस-मछली, बत्तक, मुर्गी, अंडे तो दूरकी बात है, प्याज भी हिंदूके लिये अखाद्य है । यह सब खाकर ही मनुष्य इतने रोग उत्पन्न करता है । जो जीवनके असली लक्ष्यपर पहुँचना चाहते हैं उनके लिये सात्त्विक आहार आवश्यक कर्तव्य है ।

राम—मांस-मछली-प्याज आदि खानेमें क्या हानि है ? अंग्रेज, मुसल्मान आदि भी तो आदमी हैं, ये तो खाते हैं !

शिव—उनके और हमारे जीवनके लक्ष्य पृथक् हैं । उनके लक्ष्यकी सीमा इसी लोकतक ही है, पर हमारे जीवनका लक्ष्य ईश्वर-दर्शन है; अतएव उनके साथ हमारा मेल नहीं हो सकता । मांस-मछली-प्याज खानेपर शरीरमें उत्तेजना उत्पन्न होती है और उसके द्वारा इच्छा-अनिच्छासे शरीरकी सार धातु ब्रह्मस्वरूप शुक्र देहसे निकल जाती है । मनुष्य कामवश हो जाता है । अतएव आहार-संयम आवश्यक है । ब्राह्मणोंके लिये तो मनमाना आहार करना आत्महत्याके समान है । ब्राह्मणका शरीर है—तपस्याके लिये । खैर, तुम संध्या करते हो ?

राम—ना भाई, नहीं करता । किसी दिन दस बार गायत्री जपनेका समय मिल जाता है और सच बात तो यह है कि किसी दिन वह भी नहीं हो पाता । पेटके धंधेमें भाग-दौड़ करनी पड़ती है । संध्या करूँ कब ?

शिव—रोग, दरिद्रता और कितनी यन्त्रणाओंके भोगके लिये समय मिल जाता है, पर संध्याके लिये समय नहीं मिलता । जानते हो—ब्राह्मण तीन दिन संध्या नहीं करता तो उसे चाण्डालत्व प्राप्त हो जाता है ।

राम—तुम ब्राह्मण-ब्राह्मण कह रहे हो भाई ! मैंने तो अच्छे लोगोंको यह कहते सुना है कि हम म्लेच्छके राज्यमें वास करते हैं—हमारा ब्राह्मणत्व नहीं रहा ।

शिव—पुण्यभूमि 'भारत' म्लेच्छराज्य है ? यह कौन कहता है ? सूर्य, अग्नि, गङ्गाजल जैसे स्वाभाविक पवित्र

हैं, वैसे हमारी भारतभूमि स्वतः ही पवित्र है। कालक्रमसे विधिके विधानसे म्लेच्छ राजा होनेपर भी इसकी स्वाभाविक पवित्रता नष्ट नहीं हुई है। भारतमें अत्यधिक सात्त्विक परमाणु अपने-आप ही उत्पन्न होते हैं। किसकी शक्ति है जो इस देशको अपवित्र कर दे। विदेशी म्लेच्छगण राजा होकर वे ही पवित्र होकर चले गये। बहते-बहते आये थे और बहते-बहते ही चले गये। तुमको इसके प्रमाण देता हूँ—श्रीमन् महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीतुलसीदास आदि म्लेच्छराज्यके ही ब्राह्मण हैं—उनकी कृपासे कितने म्लेच्छोंका उद्धार हो गया ? श्रीतैलङ्गस्वामी, श्रीभास्करानन्दस्वामी, श्रीरामकृष्ण परमहंस—ये भी म्लेच्छराज्यके ब्राह्मण हैं। परमहंस बाबाकी चरणसेवा करके कायस्थ श्रीनरेन्द्रनाथ श्रीविवेकानन्द बनकर म्लेच्छदेशको मतवाला बना आये। कितने विधर्मी उनकी सेवा करके कृतार्थ हो गये। श्रीअभेदानन्द प्रभृति भी म्लेच्छराज्यके ब्राह्मणकी कृपासे असाध्य साधन कर गये। श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती, श्रीविशुद्धानन्द परमहंस, श्रीरामदास काठिया बाबा, प्रभु जगबन्धु सुन्दर—ये भी म्लेच्छराज्यके ब्राह्मण थे। जगबन्धु सुन्दरकी चरणसेवा करके श्रीरामदास बाबाजी ब्राह्मण न होनेपर भी लाखों लोगोंका कल्याण कर गये। श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी, श्रीरामानन्द ब्रह्मचारी, श्रीनिगमानन्द परमहंस, श्रीसंतदास बाबाजी महाराज प्रभृति सैकड़ों ब्राह्मण करोड़ों लोगोंका कल्याण कर गये और अब भी कर रहे हैं।

राम—अच्छा, तुम भाई ! मेरे लिये कुछ उपाय करो। मैं म्लेच्छाधम हूँ। मेरे लिये कोई गति नहीं है।

शिव—अरे ! चकमक पत्थर पाखानेमें पड़ा रहेगा तो क्या उसमेंसे आग कहीं चली जायगी ? लोहेका आघात लगते ही आग निकलेगी। तुम ब्राह्मण हो—तुम्हारे शरीरमें अब भी उन शाण्डिल्य मुनिका रक्तस्रोत प्रवाहित हो रहा है—तुम संध्या करो, यह करते ही तुम्हारी मैल-मिट्टी सब दूर हो जायगी। वेदने कहा है—

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् ।
ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥
(तैत्तिरीय आरण्यक)

‘उदय और अस्त होनेवाले आदित्यका विशेषरूपसे ध्यान करके विद्वान् ब्राह्मण समस्त कल्याणको प्राप्त करता है।’

संध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः ।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥
निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं त्वघम् ।
त्रैकाल्यसंध्याकरणात् तत्सर्वं हि प्रणश्यति ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति)

‘जो लोग तीक्ष्ण अटूट नियमके साथ सतत संध्या-उपासना करते हैं वे सर्वथा विशेषरूपसे पापशून्य होकर सनातन ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं। रात्रि अथवा दिनमें जो अज्ञानसे पाप होते हैं, त्रिकाल संध्या करनेपर उन सब पापोंका नाश हो जाता है।’

सायं प्रातश्च यः संध्यामुपास्ते शुद्धमानसः ।
जपन् हि पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ॥
तया सम्भावितो देव्या ब्राह्मणो धूतकिल्बिषः ।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानो ह्यपि पृथ्वींससागराम् ॥
(अग्निपुराण)

‘जो शुद्धचित्त पुरुष नित्य सायं और प्रातःकाल संध्या-उपासना करते हैं, वेदमाता पवित्रकारिणी ज्योतिर्मयी गायत्रीका जप करके उसके द्वारा अनुगृहीत निष्पाप ब्राह्मण अन्य प्रतिग्रह तो दूरकी बात है—यदि सागरसहित सारी पृथ्वीका भी प्रतिग्रह कर ले तो भी क्लेशको प्राप्त नहीं होता।’

अनृतं मदगन्धं च दिवा मैथुनमेव च ।
पुनाति वृषलस्यान्नं बहिः संध्या ह्युपासिता ॥
(यम)

'बाहर संध्या-उपासनादि करनेपर वह असत्य, मद्यगन्ध, दिवामैथुन और शूद्रान्न-भोजनको भी पवित्र करती है ।'

सर्वावस्थोऽपि यो विप्रः संध्योपासनतत्परः ।
ब्राह्मण्यात् स न हीयेत सोऽन्यजन्मगतोऽपि सन् ॥
संध्यामुपासिता येन तेन विष्णुरुपासितः ।
दीर्घमायुः स विन्देत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
(योगियाज्ञवल्क्य)

'जो विप्र सभी अवस्थाओंमें संध्योपासनामें तत्पर रहता है, वह जन्मान्तरमें भी ब्राह्मण होता है; जो संध्या-उपासना करता है, उसके द्वारा भगवान् विष्णुकी उपासना होती है; संध्या करनेवाला सारे पापोंसे बिल्कुल छूटकर दीर्घायु प्राप्त करता है ।'

राम—संध्या करनेका फल तो कम नहीं है, जितने कुछ पाप हैं, सब नष्ट हो जाते हैं । संध्या करनेवाला दीर्घायु प्राप्त करता है । यह तो मैं नहीं जानता था । जीवनमें कितने पाप किये हैं और उनके फलस्वरूप कितनी यन्त्रणाएँ भोगी हैं, पर पाप नाश करनेका कोई इतना सहज उपाय है, यह तो किसीने नहीं बताया था । भाई ! तुम्हारे मुखसे संध्या-महिमाकी बातें सुनकर प्राण मानो आनन्दसे नाच उठे हैं । प्राणोंमें आनन्दका संचार हो आया है ।

शिव—अग्निपुराणमें ब्रह्माने गायत्रीसे कहा है—

कुर्वन्तोऽपीह पापानि ये त्वां ध्यायन्ति पावनि ।
उभे संध्ये न तेषां हि विद्यते देवि पातकम् ॥
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥

'हे पवित्रकारिणी ! इस जगत्में पाप करके भी जो प्रातः-सायं तुम्हारा ध्यान करते हैं, हे देवि ! निश्चय ही उनके पाप नहीं रहते । गायत्रीके समान पवित्र करनेवाला अनुपम श्रेष्ठ साधन न तो मर्त्य जगत्में दूसरा कुछ है, न स्वर्गमें ही है ।'

न तथा वेदजप्येन पापं निर्दहति द्विजः ।
यथा सावित्रीजप्येन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
गायत्रीजपनिरता गच्छन्त्यमृततां द्विजाः ॥
(बृहद् यमः)

'द्विज गायत्रीका जाप करके जैसे पापोंको भस्मीभूत करता है, वैसा वेदपाठ करके भी नहीं कर सकता । गायत्री-जपमें लगा हुआ द्विज अमृतत्वको प्राप्त करता है ।'

राम—और कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं, केवल संध्या तथा गायत्री-जपसे ही सब हो जायगा ! सुना है हमारे पूर्व पुरुष साग्निक थे । नित्य होम करते थे । हम तो यह सब कुछ भी नहीं जानते ।

शिव—कालके प्रभावसे सचमुच हम कलियुगके ब्राह्मण निरग्नि हो गये हैं; परंतु हमारी परम सहायिका गायत्री माता हैं । गायत्री-जपसे ही हमें सब कुछ प्राप्त हो जायगा ।

जप्येनैव हि संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
(मनु० २ । ८७)

'ब्राह्मण केवल तपके द्वारा ही पूर्ण रूपसे सिद्धि प्राप्त करता है । वह अन्य कुछ करे या न करे, वह सबके साथ मैत्रीभाव रखनेवाला ब्राह्मण ही कहा जायगा ।'

राम—तुम संध्याके विषयमें और भी कुछ कहो ।

शिव—

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता ।
जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते ॥
(देवीभागवत ११ । १६ । ६)

'जो द्विज संध्या नहीं जानता और नहीं करता, वह जीते-जी ही शूद्र हो जाता है और मरनेके बाद कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है ।'

संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥
(दक्ष०)

गुरुकुल कांगड़ी

‘संध्याहीन ब्राह्मण सदा ही अपवित्र और सम्पूर्ण कर्मोंमें अयोग्य होता है। वह जो अन्य कर्म करता है, उसका फल उसे नहीं मिलता।’

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥
(मनु० २।१०३)

‘जो द्विज प्रातः और सायं संध्योपासना नहीं करता, उसे सभी द्विजोचित कर्मोंसे शूद्रकी भाँति बहिष्कृत कर देना चाहिये।’

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
(मनु० २।७८)

‘व्याहृतिके सहित इस अक्षर गायत्रीका दोनों संध्याकालमें जप करके वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठका फल प्राप्त करता है।’

राम—व्याहृति किसे कहते हैं ?

शिव—ब्रह्माने **ॐ भूः** कहकर पृथ्वीकी, **ॐ भुवः** बोलकर अन्तरिक्षकी, **ॐ स्वः** बोलकर स्वर्गलोककी, इसी प्रकार **ॐ महः**, **ॐ जनः**, **ॐ तपः**, **ॐ सत्यं** बोलकर इन सातों लोकोंकी सृष्टि की थी। व्याहृतिका अर्थ है उक्ति। ॐकार तथा सप्तव्याहृति शिरके सहित गायत्रीका जप प्राणायामके समय किया जाता है।

राम—गायत्री-शिर क्या है ?

शिव—**‘आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्।’** इसपर फिर विचार करेंगे।

राम—संध्या कब करनी चाहिये ?

शिव—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥
(मनु० २।१०१)

‘प्रातःसंध्या करके सूर्योदयपर्यन्त और सायं-संध्या करके जबतक तारे न दिखायी दें, तबतक गायत्री-जप करना चाहिये।’ सूर्योदयके २४ मिनट पहलेसे २४ मिनट पीछेतक प्रातः-संध्याका काल है। ठीक कालपर संध्या अवश्य करनी चाहिये। दैवयोगसे किसी दिन कालका अतिक्रम हो जाय तो दस बार गायत्रीका जप प्रायश्चित्तके रूपमें करके संध्या करनी चाहिये। परंतु ठीक कालपर संध्या की जाय, इसके लिये सचेष्ट रहना चाहिये। सायं-संध्याका काल भी सूर्यास्तके २४ मिनट पहलेसे सूर्यास्तके २४ मिनट पीछेतक है।

राम—ठीक कालपर संध्या न करनेसे क्या हानि होती है ?

शिव—प्रत्येक कार्यके लिये एक निर्दिष्ट समय होता है। मान लो जैसे भूखके समय भोजन किया जायगा तो पित्तरस निकलकर उसका परिपाक हो जायगा। पीछे रस रक्तके रूपमें परिणत हो जानेपर या भूख मारी जानेपर भोजन करनेसे परिपाक नहीं होगा। इसी प्रकार उपासनाका काल, रात्रि बीतकर दिन उगने तथा दिन बीतकर रात्रि आनेकी संधिका समय है। इस समय अपने-आप ही प्राण सुषुम्नाके अभिमुखी होते हैं। इसलिये ठीक कालपर संध्या करनेपर मनुष्य शीघ्र ही मूल लक्ष्यपर पहुँच सकता है। संध्याका काल ही केवल उपासनाका समय है।

संध्यायां न स्वपेद् राजन् विद्यां न च समाचरेत्।
न भुञ्जीत च मेधावी तथाऽऽयुर्विन्दते महत्॥
(महाभारत, अनु० १०४।११९)

संध्याकालमें न तो सोना चाहिये, न पढ़ाई आदि विद्याचर्या करनी चाहिये और न भोजन ही करना चाहिये। ऐसा करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती है।’ संध्याकालमें केवल संध्या-जप ही करना चाहिये। निद्रा-आहार-विद्या-चर्चा न करनेसे अर्थात् केवलमात्र गायत्री-जपादि करनेसे दीर्घायु मिलती है।

राम——तो संध्याके समय गायत्री-जप करनेसे आयु बढ़ती है ?

शिव——निश्चय ही बढ़ती है। प्रातः-सायं जप करनेसे आत्मदर्शन होता है।

अच्छा और भी सुनो——

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसंध्या त्रिधा स्मृता॥
उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसंध्या त्रिधा स्मृता॥
(देवीभागवत ११।१६।४-५)

'प्रातःसंध्या तारे दीखते हों उस समय करनेपर उत्तमा, तारे दीखने बंद होनेपर मध्यमा और सूर्य निकलनेपर अधमा होती है और सायं-संध्या सूर्य रहते समय उत्तमा, सूर्यास्तके समय मध्यमा और तारे दीखनेके बाद कनिष्ठा होती है।'

राम—तो तारे रहते-रहते प्रातःसंध्या और सूर्य रहते-रहते सायं-संध्या आरम्भ कर देनी चाहिये ?

शिव—हाँ, यही संध्या भगवान्‌की प्रथम आज्ञा है।

'अहरहः संध्यामुपासीत्'—जो ब्राह्मण इस संध्याको नहीं करता, उसकी इस लोक और परलोकमें असीम दुर्गति होती है।

संध्यालोपस्य चाकर्ता स्नानशीलश्च यः सदा।
तं दोषा नोपसर्पन्ति गरुत्मन्तमिवोरगाः॥
(महर्षि कात्यायन ११ । १६)

'जो कभी संध्याका लोप नहीं करता और नित्य स्नान करता है उसके पास, जैसे गरुड़के पास साँप नहीं आ सकते, वैसे ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कोई भी दोष अर्थात् पाप, अपराध, अनिष्ट, कुकर्म, कलङ्क, त्रुटि, अनियम, राग-द्वेष-मोह आदि नहीं आ सकते।' गायत्रीजपकी अपार महिमा है।

गायत्रीं जपते यस्तु द्वौ कालौ ब्राह्मणः सदा।
तया राजन् स विज्ञेयः पङ्क्तिपावनपावनः॥
कामकामो लभेत् कामं गतिकामस्तु सद्गतिम्।
अकामस्तु तदाप्नोति यद् विष्णोः परमं पदम्॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

'जो प्रातः-सायं सदा गायत्री-जप करता है वह पंक्तिपावनोंमें पावन होता है, सकाम भावसे जप करनेपर काम्य वस्तुकी प्राप्ति होती है; गति चाहनेवालेको सद्गति मिलती है और निष्काम पुरुषको विष्णुके परमपदकी प्राप्ति होती है।'

राम—केवल गायत्रीजपसे ही मनुष्य विष्णुका परम पद प्राप्त कर सकता है ?

शिव—निश्चय ही। वैदिक उपासना ही गायत्री-उपासना है। पहले प्रणव-उपासना है। उसमें असमर्थ व्यक्ति गायत्रीकी उपासना करे। गायत्री-उपासनाकी योग्यता नष्ट हो जानेके कारण ही तो ऋषियोंने पौराणिक-तान्त्रिक उपासनाकी व्यवस्था की।

राम—गायत्री-उपासनाके द्वारा जो गति प्राप्त होती है, क्या वही राम-कृष्ण आदिकी उपासनासे भी मिलती है ?

शिव—हाँ, सभीका चरम परम काम्य ॐकार है। ॐकार ही ब्रह्म है। ॐकार ही सब कुछ है। समस्त वेद जिस परम वाञ्छितका प्रतिपादन करते हैं, तपस्याके द्वारा देह-दोष दूर होनेपर जो व्यक्त होता है, जिसे पानेकी इच्छासे ब्रह्मचारी गुरुगृहमें वास करके ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं। वह ॐकार ही है; वही पर-अपर ब्रह्म है। अकार, उकार और मकार—ॐकारकी तीन मात्रा हैं। अकारका उपासक अकारका साक्षात् करके पृथ्वीपर लौट आता है, उकार मात्राका उपासक चन्द्रलोकमें जाकर वहाँके ऐश्वर्यका भोग करके यहाँ लौट आता है। और जो अ, उ, म—त्रिमात्रात्मक ॐकार पुरुषोत्तमका ध्यान करता है, वह तृतीय मात्राके स्वरूपको प्राप्त होकर ज्योतिर्मय सूर्यमें मिल जाता है। वह सब पापोंसे मुक्त होकर नादसमूहोंके द्वारा हिरण्यगर्भ लोकमें पहुँच जाता है और फिर हिरण्यगर्भसे भी उत्तम पुरुषोत्तमके दर्शन करता है, जो शान्त अजर अमृत अभय और सबसे उत्तम है। ॐकारका आश्रय लेनेपर उसकी भी प्राप्ति हो जाती है। यह सभी कुछ ॐ—अक्षरात्मक है, यह जो कुछ भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, सभी ॐकार है और जो कुछ भी त्रिकालसे अतीत है, वह भी ॐकार ही है। ॐकार ही सब कुछ है। एकमात्र वही है, उसीकी इच्छा हुई थी—'बहुत होऊँ'। वही सब कुछ सजकर खेल करता है।

[शेष आगे]

मधुर

बहुत दिनोंके बाद प्रियतम श्यामसुन्दर पधारे। राधाको अनुपम अतुल मिलन-सुख मिला। परस्पर वार्तालाप होने लगा। प्रियतम श्रीकृष्णके पूछनेपर राधाजीने बड़े ही संकोचके साथ अपनी दशाका संक्षेपमें वर्णन किया और अपने मनकी गूढ अनन्य अभिलाषा प्रकट करती हुई वे बोलीं—

तुम बिनु बीतत छिन छिन जुग सम
मम जीवनधन! बनवारी!।
जरत रहत नित हिय दावानल
दारुन दहत देह सारी॥
पै या तैं सुख होत जु तुमकूँ
आवत जब यह सुधि प्यारी।
तब अति उपजत मो चित महँ सुख
मिटत मरम पीरा झारी॥
धन्य बियोग जनित मेरो दुख
जो तुम्हरे हित सुखकारी।
या दुख पै हौं नित्य निछावर
पल पल जाऊँ बलिहारी॥
जुग जुग जनम जनम रोवत मोय
मिलत रहै यह सुख भारी।
तुम्हरो सुख ही है मेरो सुख
केवल, मन्मथ-मनहारी!॥
या सिवाय नहिं जगै कबहुँ कछु
कोउ अभिलाषा अघहारी!।
बिछुरन-रोवन, मिलन-हँसन सब
हो तुअ सुख-हित गिरिधारी॥

मेरे जीवनधन! हे वनविहारी! तुम्हारे न रहनेपर, तुम्हारे बिना मेरा एक-एक क्षण युगके समान बड़ा होकर बीतता है, हृदयमें नित्य-निरन्तर दावानल जलता रहता है, जिससे सारी देह दहकती रहती है। पर जब यह प्यारी स्मृति होती है कि इससे तुमको सुख होता है, तो तुरंत मेरे चित्तमें अत्यन्त सुखका उदय हो जाता है और मेरी सारी मर्म-पीड़ाओंके समूह मिट जाते हैं। प्रियतम! तुम्हारे वियोगसे उत्पन्न होनेवाला मेरा यह दुःख, जो तुम्हारे लिये सुखका कारण है, धन्य है। इस दुःखपर मैं नित्य न्यौछावर हूँ, पल-पलपर बलिहारी जाती हूँ। यह मेरा दुःखरूप परम सुख युग-युगमें—जन्म-जन्ममें मुझ सदा रोती हुईको मिलता रहे। हे मन्मथके मनको हरण करनेवाले अनुपम सुन्दर! तुम्हारा सुख ही एकमात्र मेरा सुख है। हे गिरिराजको धारण करके सबका दुःख हरण करनेवाले प्रियतम! हे सारे कामनारूपी पापका हरण करनेवाले हरि! मेरे अंदर इस एक अभिलाषाके अतिरिक्त अन्य कोई भी, कुछ भी अभिलाषा कभी भी जगे ही नहीं। मेरा बिछुड़ना-रोना और मिलना-हँसना सब केवल तुम्हारे सुखके लिये ही हो प्रियतम!

सुनि मृदु मधुर बचन प्यारी के
पुलकित तन मुरलीधारी।
निज सुख हेतु त्याग लखि सखि कौ
उमग्यो हिय रस सुधिहारी॥
निकस्यौ दृग-द्वारनि मधु रस सो
अमृत अनुत्तम बिस्तारी।
दोउ अति विह्वल भये प्रेमबस
उदई प्रीति रीति न्यारी॥

परम प्रियतमा श्रीराधाके इन मृदु मधुर वचनोंको सुनकर, मुरलीध्वनिसे सबको पुलकित करनेवाले मुरलीधरका शरीर पुलकित हो गया। अपने सुखके लिये प्रिय सखी राधाका यह परम त्याग देखकर—उनके हृदयमें सब कुछ भुला देनेवाला रस उमड़ आया और वह मधुर रस नेत्रद्वारोंसे निकलकर सर्वश्रेष्ठ सुधाका विस्तार करने लगा। श्रीराधा-माधव दोनों प्रेमविवश हो गये। विशुद्ध प्रीतिकी विलक्षण रीतिका उदय हो गया।

रहे मौन कछु काल रसिक प्रभु
तब रस-बानी उचारी।

मो पै प्रिये ! वस्तु नहिं कोऊ
तुम्हरे रसकी अनुहारी ॥
कैसें कै करि सुख पहुँचावौं
तोय त्याग-रस-मतवारी ।
जुग जुगको मैं रिनी, न मो पै
नहिं रति रिन सोधनवारी ॥

तदनन्तर रसिक प्रभु श्रीकृष्ण कुछ समयतक मौन रहे, फिर रसभरी वाणीका उच्चारण किया। बोले—प्रिये ! मेरे पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो तुम्हारे रसकी समानता करनेवाली हो। हे त्यागके परम रसमें प्रमत्त रहनेवाली ! मैं तुमको कैसे, क्या करके सुख पहुँचाऊँ ? मैं तो तुम्हारा युग-युगका ऋणी हूँ। मेरे पास वह प्रीति ही नहीं है, जिससे तुम्हारा ऋण-शोध हो सके।

सुनि प्रिय बचन परी चरननि मैं
प्रेमातुर सर्वस हारी ।
लई उठाय तुरत प्रियतम ने
भरी नेह भरि अँकवारी ॥

प्रियतम श्यामसुन्दरके इन वचनोंको सुनकर सर्वस्व हरण करनेवाले प्रेमसे आतुर होकर राधा श्रीमाधवके चरणोंमें गिर पड़ीं। उन्हें पड़ी देखकर प्रियतमने उनको तुरंत उठाकर स्नेहपूर्ण हृदयसे लगा लिया।

धन्य त्याग, धन्य प्रेम !

अन्ताराष्ट्रिय चेतना एवं भारतीय संस्कृति

(लेखक—डा० श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, एम्० बी० ए० (न्यूयार्क), पी-एच्० डी० (न्यूयार्क), एम० आर० ए० एस०' एम० बी० एच०, साहित्यरत्न, विशारद, धर्मरत्न प्रोफेसर, लांग आईलेण्ड विश्वविद्यालय न्यूयार्क एवं प्रतिष्ठापक, भारतकेन्द्र, न्यूयार्क)

भारतीय संस्कृतिकी उदात्त धार्मिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक परम्पराका एक गौरवमय इतिहास है। संस्कृतिकी शक्तिपूर्ण चेतनाका उल्लेख हमें सर्वत्र मिलता है। इसका कारण वस्तुतः भारतीय दर्शनकी सार्वभौमिकता और व्यापकता ही है। जन-जनके भाव-स्थलको स्पर्श करते रहनेके कारण इस यशस्विनी संस्कृति-साधनामें जडताका कभी भी लेशमात्र भी समावेश नहीं हुआ। उदीयमान ज्योतिपुञ्जकी किरणोंके समान स्वच्छ एवं पुनीत साधनारत तपस्वीकी चेतनाके समान सशक्त हमारी संस्कृति सदैव सर्वत्र आशा और उत्साहका परम केन्द्र रही है।

हमारे चिरन्तन महर्षियोंने, जहाँ ब्रह्मकी नानारूपेण क्रियाका उद्घाटन किया और शक्तिकी स्पन्दनमयी परिधिको आत्मसात् किया, वहाँ जीवनदायिनी श्रद्धाकी विश्वास-जनक महिमाका गान भी किया और अनुरागमें केन्द्रित प्रभु-लीलाका चित्रण भी। इस प्रकार उन तपस्वी आराधकोंने विश्व-चेतनाका एकाङ्गी निरूपण कभी नहीं किया। समग्र मानवताके समस्त भावचित्रों, शक्ति-स्वरूपों, राग-विरागों, क्रिया-प्रक्रियाओंका ऐसा सजीव और निष्ठात्मक चित्रण विश्वकी किसी भी सांस्कृतिक-परिवेशमें नहीं मिलता।

पौराणिक आख्यानों तथा प्राचीन शास्त्रोंमें हमें सर्वत्र विश्वव्यापी भारतीय संस्कृतिके उदाहरण मिलते हैं। परंतु हमारी सांस्कृतिक सम्पत्तिका यही एकमात्र आधार नहीं है। आधुनिक युगके वैज्ञानिकों, विचारकों तथा विदेशी विहारोंके अनवरत अन्वेषणोंसे भी यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय संस्कृति केवल भारतकी सीमातक ही व्याप्त नहीं थी, अपितु सारे विश्वमें फैली हुई थी। मध्य एशियाके अन्तर्गत कई भग्नावशेष प्राप्त हो चुके हैं जो इसके यशस्वी चिह्न हैं। यूरोपकी साहित्यिक पृष्ठभूमिमें संस्कृत ग्रन्थोंके अनेकानेक दृष्टान्त मिलते हैं।

यूनानी तथा इटालवी साहित्यमें तो अधिकांश प्राचीन ग्रन्थ संस्कृतके कथानकोंसे ओत-प्रोत हैं। इसके अतिरिक्त हालहीमें यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि अमेरिकामें भी आजसे २५०० वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृतिका प्रवेश हो चुका था। आजके युगमें जिस भौगोलिक प्रदेशको 'मेक्सीको' के नामसे सम्बोधित किया जाता है, वहाँके आदि-निवासियोंकी माया-संस्कृति भारतीय विचारधाराका ही एक प्रतिरूप है। भिक्षु चमनलालकी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदू अमेरिका' से यह तथ्य निर्विवाद रूपसे प्रतिष्ठित हो चुका है कि प्राचीन कालमें नव-विश्वके हरेक स्वरूपपर भारतीय जीवनकी एक सुदृढ़ छाप थी।

इस प्रकार हमारे सम्मुख भारतीय संस्कृति एक विश्वव्यापी परिवेशमें प्रकट होती है, जिसकी नानारूपेण गति-विधियों तथा रूप-प्ररूपोंसे एक समय समस्त विश्वका अनेक भाग प्रभावित था। इसका अर्थ यह नहीं कि यह संस्कृति अपनी छाप आक्रमण, विजय या संहारके द्वारा स्थापित करती थी। इसकी सार्वभौमिक स्थापनाका मूल है—इसकी संग्रहात्मक तथा गत्यात्मक प्रणाली। निरन्तर जागरूकताकी ओर उन्मुख होनेके कारण, बाह्य विचारों तथा तथ्योंको स्वीकार करनेकी असीम शक्तिके कारण तथा प्राणिमात्रमें आस्था एवं विश्वासकी भावना जाग्रत् कर सकनेके कारण ही भारतीय जीवन-दर्शन अपनी भौगोलिक तथा सामयिक सीमाओंको अतिक्रम कर सार्वजनिक एवं सार्वकालिक हो गया। **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** की उल्लासमयी, ओजस्वी वाणीमें जडताके प्रति आग्रह नहीं था—इसमें समग्र मानवताकी चेतना एवं कुशलताका वरदान था।

आज जब आध्यात्मिक परम्परा तथा उदात्त भावनाका संबल छूटा जा रहा है तथा भौतिक उत्कर्षकी भी अवसादमयी कालिमा सर्वत्र देश-विदेशमें व्याप्त होती जा रही है, हमारा कर्तव्य है कि—

श्रद्धा हि जगतां धात्रि, श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्—की अमर प्रेरणा लेकर पुनः अन्ताराष्ट्रिय समाजमें हमारी नैसर्गिक चेतनाका स्वरूप प्रकट करें। देश-विदेशमें भारतीय संस्कृतिकी गरिमा जब पुनः नूतन उत्कर्ष एवं उन्नयनके साथ फैलेगी, तभी मानवकी समस्त शक्ति, स्फूर्ति तथा जाग्रतिका विकास हो सकेगा।

आपमें छिपा हुआ चमत्कारी विद्युत्प्रवाह–आत्मतेज

(इसे विकसित कीजिये)

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आपकी चुम्बकीय शक्ति

सच मानिये, आपमें एक प्रकारकी बिजली छिपी हुई है, जो दूसरोंको चुम्बककी तरह अपनी ओर आकर्षित करती है। हिंदुओंके महापुरुषों, ऋषि-मुनियों, देवताओं, अवतारों आदिके मुखमण्डलके चारों ओर एक गोलाकार आलोक बना रहता है। उनके मुखसे सूर्यकी किरणों-जैसा एक सशक्त प्रकाश-पुञ्ज निकलता रहता है। यह उनका विद्युत्-प्रवाह है। महापुरुषोंका तेज पृथ्वीके कोने-कोनेतक पहुँचता है। महात्माओंका तेजस् उनकी मुद्रा-विचार तथा वाणीसे प्रस्फुटित होकर वायुमण्डलमें व्याप्त हो जाता है। वह सूर्यकी तरह सशक्त है।

प्रसिद्ध विचारक श्रीगणेशदत्त गौड़ इन्द्रके अनुसार मानवीय तेज अनेक रंग तथा उपरंगोंका होता है। यह भावनाओंके अनुसार बदलता रहता है। इसके प्रायः दस रंग होते हैं। परोपकारीका तेज उज्ज्वल होता है। ईर्ष्यालु तथा द्वेषी भावनावालेका तेजस् गहरे मेवके रंगका होता है। क्रोधी व्यक्तिके तेजमें गहरे लाल रंगकी धारियाँ होती हैं। विद्वानों और बुद्धिमानोंका तेज पीले रंगका होता है। लोभकी कामनावालोंका तेज नारंगी होता है। प्रेम आसक्तिमें तेजस् शुद्ध प्रेमका द्योतक होता है। धार्मिक भावनावालोंका तेज नीले रंगका होता है। हलका नीला रंग आध्यात्मिक शक्तिवालेका तेज है। अपवित्र और दुष्ट व्यक्तियोंका तेज काले रंगका होता है। आयुर्वेदमें कहा गया है कि अमुक रोगसे ग्रसित व्यक्तिको इतने हाथके फासलेपर नहीं आने देना चाहिये। इसी कारण दुष्टोंकी संगतिका विरोध किया गया है और अच्छी संगतिकी प्रशंसा।

आपमें आत्मतेज छिपा हुआ है

आपका तेज आपके विचारोंसे उत्पन्न होता है। जब मनुष्यके एक विशेष प्रकारके विचार स्थायी और सशक्त बन जाते हैं, तब वे उसके मुखमण्डलसे सूर्यकी किरणोंकी तरह निकलने लगते हैं। इन विचारोंको स्थायी बनानेमें मनुष्यके आहार-विहार, श्रवण-दर्शन, स्पर्श तथा वातावरण भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। मनुष्य जैसे विचारोंमें निवास करता है, उसका तेज भी वैसा ही बनता है।

विचारोंको एक विशेष दिशा, केन्द्र या विषयपर एकाग्र करनेसे शक्ति बढ़ती है। शुद्ध विचार और पवित्र भावनाएँ तेजस्के निर्माणमें अपना अद्भुत चमत्कार दिखाती हैं।

आपमें तेज और शक्ति छिपे हुए हैं। आपमें विद्युत्का प्रकाश, उष्णता; लोहेकी चुम्बकीय शक्ति है। यही आपकी जीवनी-शक्ति है, इच्छाशक्ति है और सब स्थूल उत्पत्तिकी बीजरूप शक्ति है। यह तेज प्रत्येक मनुष्यमें और प्रत्येक पदार्थमें है। प्रत्येक वस्तुके कोने-कोनेसे निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। सूक्ष्मदृष्टिवाले व्यक्ति इसका अनुभव कर सकते हैं। भारतीय संस्कृतिमें होनेवाले ऋषियों, संतों, महात्माओं और देवताओंके अद्भुत बलकी गाथाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। उनके पास जानेसे दुष्टोंके विचार बदल जाते थे, पापियोंका पाप धुल जाता था। इसलिये इसको 'ब्रह्मतेज' कहते हैं। हम बड़े प्राचीन महात्माओंके चित्रोंमें उनके मुखके चारों ओर जो गोल चक्र देखते हैं, वही उनका तेज है। वही दिव्य प्रकाश है। वह स्थूल जगत्-जन्य पदार्थोंमें प्रकाशसे बिल्कुल भिन्न है।

आत्मतेजके परमाणु

आत्मतेजके परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि हम उन्हें स्थूल दृष्टिसे नहीं देख सकते। एक आलपीनके सिरेपर ८०००,०००,०००,०००,०००,००० परमाणु समाये हुए हैं। हमारे आत्मतेजके परमाणु इनसे भी सूक्ष्म होते हैं।

सारा जगत् ही इन छोटे-छोटे परमाणुओंका ही बना हुआ है। इसी तेजस्के अद्भुत बलसे प्राचीन ऋषि-मुनि दूरस्थ विचारों और घटनाओंको जान लेते थे। सर्वत्र अपने विचार भेज सकते थे और आशीर्वादके शब्दोंसे परमाणुओंमें गति उत्पन्न कर जगत्का कल्याण करते थे।

पवित्र संत पुरुषों और महात्माओंमें, शुद्ध वस्तुओंमें, घीमेंसे निरन्तर शुद्ध सात्त्विक तेजस् निकला करता है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें इनका दर्शन और स्पर्श करना शुभ माना गया है।

दुष्ट मनुष्योंके संगसे, दुष्ट वस्तुओंके स्पर्शसे, सहवाससे हमपर दुष्ट राक्षसी और बुरे तेजस्का कुत्सित और विषैला प्रभाव पड़ता है। इसीलिये स्नान, उपवास और पूजनद्वारा आत्माको पवित्र करनेका विधान है, जिससे दुष्ट तेजस्का प्रभाव धुल जाता है और हमारे शरीरसे शुद्ध तेजस् निकलने लगता है। हमारे धर्म और संस्कृतिमें गङ्गा, यमुना, गङ्गोत्तरी आदिमें स्नान करनेका इसीलिये माहात्म्य है। इस देशके अनेक वृक्ष—जैसे पीपल, बड़, चन्दन, तुलसी, बिल्व, नीम, नीबू, आँवला आदि अब भी शुद्ध स्वास्थ्य-शक्तिवर्द्धक तेजस्का प्रवाह निकालकर हमें उत्तम स्वास्थ्य, शक्ति और भव्य विचार प्रदान कर रहे हैं।

किसी पाश्चात्त्य वैद्यने भारतवर्षमें नीमका वृक्ष देखकर आश्चर्यके साथ यह कहा था—

'इस देशमें ऐसा अमृतमय रोगनाशक वृक्ष होते हुए भी भारतमें बीमारीसे एक प्रकारकी अकाल मृत्युसे अगणित लोग मरते हैं और विशेषकर युवकों और बच्चोंका रोगी होना और मरना बड़े आश्चर्य और दुःखकी बात है।'

इसी दैवी और उपयोगी तेजस्के सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक हिंदू और भारतीय संस्कृतिके प्रेमीको कम-से-कम तुलसीका एक वृक्ष सदैव घरमें रखने, प्रतिदिन उसे अर्घ्य देने, पूजन करनेकी आज्ञा दी गयी है और उसे धर्मका एक अङ्ग माना गया है।

यही मनोवैज्ञानिक रहस्य भारतके पत्थर, स्फटिक, मणि, हीरा, लाल आदि बहुमूल्य रत्न और हीरोंके सम्बन्धमें है।

सच मानिये, प्रत्येक उत्तम, उपकारी, स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थमेंसे दैवी तेजस् निकालनेका विधान रक्खा गया है। हमें इसे जानकर इनसे लाभ उठाना चाहिये।

आपके तेजस्का मलिन अथवा प्रकाशवान् होना

हमारे तेजस् या आकर्षण-शक्तिका मलिन अथवा प्रकाशवान् होना, सशक्त अथवा निर्बल होना—विशेषकर हमारे विचारों और शुभ संकल्पोंपर निर्भर है। शुद्धता, दया, प्रेम, एकता, आनन्द, सहानुभूति, परोपकार, सेवा, सहायता और आशीर्वादके विचारोंपर ही निर्भर है। अतः हमारे वेदोंमें बार-बार ऐसी प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया।
विश्वेदेवाः पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा॥
(ऋग्वेद ९।६७।२७)

अर्थात् देवजन मुझे पवित्र करें। मननशील लोग मुझे विचारद्वारा पवित्र रक्खें। सब पदार्थ मुझे उत्तम विचार ही देते रहें। पवित्रताके आधार, भगवान् मुझे पवित्र करें।

यदस्मृति चकृम किञ्चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः॥
(अथर्ववेद ७।१०६।१)

हे अग्निस्वरूप प्रभो ! कई बार भूलसे हम कुछ कर बैठते हैं और अपने आचरणमें लड़खड़ाने लगते हैं। आप जाननेवाले हैं। हमारे संस्कार ठीक कीजिये। हमें अमृत-भाव प्रदान कीजिये। हमारे द्वारा हमारे साथियोंका भला होता रहे।

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥
(अथर्ववेद १९ । ४ । २)

हे प्रेरणा-देवि ! आ, तू हमें ऐश्वर्य लानेवाली है। तू सोच-विचारकी जननी है। मैं जहाँ रहूँ, तू मेरा सदा साथ देनेवाली बन। तुझे मैं अपने मनमें सदा प्रतिष्ठित होते हुए देखता रहूँ।

अतः उत्तम तेजस् प्राप्त करनेके लिये हमें मलिन अथवा निर्बल-संकीर्ण विचार त्यागकर उत्तमोत्तम विचार मनमें प्रतिष्ठित करने चाहिये। शुद्धता, दया, प्रेम, एकता, आनन्द और शक्तिके विचारोंको ही मनमें स्थान दीजिये और सदैव उन्हें ही आकाश तथा आस-पासके वातावरणमें फैलाते रहिये। आप ब्रह्मतेज प्राप्त करनेके अधिकारी बनेंगे।

दो प्रकारका तेज

तेज दो प्रकारका होता है—सबल और निर्बल। सबल तेज दूसरे निर्बल तेजवाले व्यक्तियोंको अपनी ओर खींचता है और उनपर अपना मनमाना प्रभाव डालकर बरबस दृढ़ इच्छाके साथ उनको अपने अधीन करता है। सबल तेज वजनदार और प्रभावशाली होता है। अतः दूसरोंके द्वारा प्रभावित नहीं किया जा सकता। निर्बल तेज हल्का और प्रभावहीन होता है तथा प्रत्येक मनुष्यद्वारा प्रभावित होता है। हल्की-सी रूईके समान होनेसे सबल तेजके सामने नहीं टिकता और सदैव असफल रहता है।

प्रभावशाली तेजयुक्त व्यक्तिका उद्देश्य स्थिर होता है। उसकी मुखमुद्रा शान्त और गम्भीर होती है। उसकी उपस्थितिमें निर्बल तेजवाला व्यक्ति दबी हुई बिल्लीके समान चुप रहता है। उसे देखकर स्वभावतः ही लोग आकर्षित हो जाते हैं। कोई आँखें उठाकर उसके सम्मुख देखनेका साहस नहीं कर सकता। उसके मनमें सदैव अटल चट्टानके सदृश दृढ़ इच्छा और पूर्ण विश्वास होता है। भय और शंका उसके मनमें स्थान ही नहीं पाते। वह कभी वाद-विवाद या निरर्थक बातें नहीं करता। न फजूल गुनगुनाता और न व्यर्थ अङ्ग-संचालन करता है। वह सदैव युक्तियुक्त आवश्यक बातें और स्थायी ठोस कार्य करता है। फुरसतमें आत्म-चिन्तन करता है, जिससे अपनी शक्तियोंको केन्द्रित रखता है तथा वायुमण्डलके परमाणुओंसे शक्तिका आकर्षण करता रहता है। जब आप उससे बातें करेंगे, तो वह बड़े ध्यानसे आपकी बातें सुनेगा। जब वह आपसे बातें करेगा तो वह आपके नेत्रोंकी पुतलियोंमें शान्त और स्थिरभावसे देखेगा, अथवा भृकुटीके मध्यभागमें, नासिकाकी जड़में अपनी दृष्टि गड़ा देगा और इस प्रकार अपने विचारोंका गूढ़ प्रभाव आपके मस्तिष्कमें भेज देगा। आप उसकी बातें मान लेंगे और सदैव उससे प्रेम करेंगे।

मनोवैज्ञानिक रहस्य यह है कि ऐसे व्यक्तियोंकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है और उस केन्द्रबिंदुके कारण उनके शरीरके प्रत्येक भागमें सूक्ष्म तेजस् निरन्तर प्रवाहित होता रहता है और दूसरोंको प्रभावित कर उन्हें अपने वशमें करता है।

आपमें भी ये तेजस् शक्तियाँ हैं। आप भी दूसरोंपर प्रभाव डाल सकते हैं। दूसरोंको आकर्षित कर सकते हैं। आपकी इच्छाशक्तिमें ये सोयी पड़ी हैं। आप अभ्यासद्वारा, निरन्तर दूसरोंपर प्रयोगद्वारा इन शक्तियोंको जाग्रत् और विकसित कर सकते हैं।

यदि आप अपने किसी अङ्गसे काम न लेंगे, तो वह निर्बल हो जायगा और इस प्रकार बेकाम हो जायगा। धीरे-धीरे व्यायामसे वह सशक्त बनेगा। अबतक आप सोये पड़े थे, परंतु उत्साहित होकर एकदम सब शक्ति एक दिनमें प्राप्त करनेकी आशा मत कीजिये। जिंदगीका मैल एक दिनमें नहीं छूटता और जिंदगीभरकी भूख—आशा एक दिनमें पूरी नहीं होती। अहंकार मत बढ़ाइये, किंतु इच्छाको दृढ़ विश्वासरूपी खाद्य देकर स्फुरित करते रहिये।

संसारके जितने महापुरुष हुए, वे सब सरल-स्वभाव, प्रसन्नचित्त, नम्र, शान्त एवं गम्भीर प्रकृतिके पुरुष थे। जब आपका यह दृढ़ निश्चय है कि लोग आपके इच्छानुकूल कार्य करें, तब आप अपना प्रभाव—तेजस् विकसित कीजिये। अपने रहन-सहन और व्यवहारको वजनदार और आकर्षक बनाइये। अपने विचारों, बातों, कार्यों और संकेतोंपर पूर्ण अधिकार रखिये।

जिनको आप प्रभावित करना चाहते हैं, उनके

कमजोरियोंका निरीक्षण कीजिये। विशेषकर प्रत्येक मनुष्यके मुख, आँख, हाथकी हथेली और अंगुलियोंसे सूक्ष्म-तेजस् निकला करता है। इसलिये जिस मनुष्य अथवा वस्तुसे हमारा संयोग अथवा स्पर्श होता है, जिसपर हमारी दृष्टि पड़ती है अथवा जिस किसी भी पदार्थको हम छूते हैं, उसपर हमारा प्रभाव पड़ता है और हमारे तेजस्के परमाणुओंमें तथा उस वस्तु या मनुष्यके तेजस्के परमाणुओंमें एक प्रकारकी हलचल होती है और दोनोंमें जो सबल होता है, वह निर्बलको हरा देता है, परंतु सबल तेजयुक्त व्यक्तिका तेजस् भी कुछ कम हो जाता है। ईसामसीहसे एक रोगिणी स्त्रीके कपड़ोंका स्पर्श हो गया था। उस स्त्रीका रोग तो अच्छा हो गया; पर स्पर्श होते ही ईसामसीहके तेजस्में कुछ न्यूनता आ गयी उसका अनुभव उन्हें उसी समय हुआ था। अतः इतना आत्मतेज एकत्रित करो कि उसमें थोड़ी-बहुत कमी होनेपर भी तुम सूर्यकी तरह चमकते ही रहो।

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपागहि।
अथो भगस्या नो धेहि अथो नः सुहवो भव॥

(अथर्ववेद १९।४।३)

हे ज्ञान-आधार प्रभो! आओ। प्रेरणाको लेकर आओ। हमें ऐश्वर्य प्रदान करते हुए आओ। हमारी टेर सुनते हुए आओ। हमें आत्मबलसे प्रदीप्त करो।

गोस्वामी तुलसीदास और अहंकार

(लेखक——श्रीसद्गुरुशरणजी अवस्थी)

गोस्वामी तुलसीदास बड़े विद्वान् थे, यह ठीक है; वे बड़े कवि थे, यह भी ठीक है। उनका सांसारिक ज्ञान बड़ा विस्तृत था, यह भी उतना ही सत्य है। परंतु साधकसे सिद्ध और भक्तसे संत व्यक्ति कैसे बन सकता था, इस मार्गका भी उन्होंने दर्शन किया और कराया है। वैसे साधक और भक्त दोनोंके मार्गमें काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार सभी बड़े प्रबल अवरोध हैं; परंतु गोस्वामी तुलसीदासके अनुभवमें अहंकार सबसे बड़ा शत्रु है। अहंकारको दूर करनेके लिये सभी संत कवियों और महात्माओंने पाठ पढ़ाया है। वास्तवमें अन्य सब कुवृत्तियाँ इसीके अधीन विस्तार पाती हैं। पदार्थों और व्यक्तियोंकी अपने उपभोगके लिये जो आकाङ्क्षा होती है, उसीको काम कहते हैं। सारी इच्छाओंका केन्द्र अहं होता है और अहंके पोषणके लिये ही उनका उदय होता है। अभिलषित पदार्थ अथवा व्यक्तिके न मिलनेकी खीजको क्रोध कहते हैं। अप्राप्तसे अहंको जो ठेस लगती है और यह दूसरा जो आड़े आ जाता है और अहंकी कामना पूरी होने नहीं देता है, उसके विनाशका उद्वेग ही क्रोध है। इस दृष्टिसे क्रोध सीधा अहंकारके ही कारण उदय होता है। लोभ तो अहंके सीधे नातेमें है। अहंके लिये ही पदार्थोंका आकर्षण लोभ कहलाता है। आरम्भमें उपभोग करनेके लिये पदार्थोंसे गहरा लगाव लोभके रूपमें प्रकट होता है और फिर कभी-कभी लोभीके मनमें भोगके कारण पदार्थोंकी न्यूनता हो जानेका भय इतना प्रबल हो जाता है कि भोगभावना गौण हो जाती है, केवल संग्रहवृत्ति मात्र रह जाती है। परंतु सामने अथवा पीछे अहंका रूप ही लोभवृत्तिमें काम करता है। मोह तो व्यक्तियोंके लिये होता है। यह भी स्पष्ट अहंकी परितुष्टिके लिये ही होता है। जहाँ मोहका परिशुद्धीकरण अभ्याससे साधक कर लेता है, वहाँ यह शुद्ध प्रेमके रूपमें दिखायी देने लगता है। त्वंका अहंपर उत्सर्ग; त्वंका अहंके लिये प्रयोग शुद्ध 'मोह' है और अहंका त्वंके लिये उत्सर्ग और अहंका त्वंकी सेवामें नियोजित होना 'प्रेम' है। प्रेमके शुद्ध रूपमें अहंकारका पूर्ण लय हो जाता है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि सारी कुवृत्तियोंकी जड़में अहंकार काम करता है। यदि अहंकारको साधक खदेड़ सके तो सारी कुवृत्तियोंका प्रासाद ढह जायगा। गोस्वामीजीने इस बातकी स्थान-स्थानपर व्यञ्जना की है कि भगवान् रामचन्द्रको अहंकार बिल्कुल असह्य है और जहाँ भी किसीको दण्ड दिया गया है, उसके मूलमें अपराधीका अहंकार रहा है। अहंकी स्थिति केवल भगवान्की स्थिति है। किसी भी कामका उनके सिवा कोई दूसरा कर्ता नहीं है।

'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥'

(गीता ३।२७)

अहंकारवश मनुष्य समझता है कि किसी कार्यका

कर्ता वह है अर्थात् वह भी भगवान्की समकक्षताका दावा करता है। यह स्थिति साधकके लिये बहुत घातक है। अतएव गोस्वामीजीने स्थान-स्थानपर यह दर्शाया है कि अहंकारीको भगवान् दण्ड देते हैं और उसके अभिमानको चूर-चूर कर देते हैं—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
(७।७३ (ख)।५)

संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥ ६॥
तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ ७॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ ८॥

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनइ न सो सिसु पीर॥ ७४ (क)॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥ ७४ (ख)॥

यह अहंकारका विनाश भगवान्की अमोघ अनुकम्पा है। इसीसे उनके दर्शन होते हैं। अहंके विलयमें ही परमके दर्शन होते हैं।

जब मैं था तब हरि नहीं; अब हरि हैं मैं नाहिं।

अहंकार कभी-कभी सद्वृत्तियोंके जागरणमें भी उदय हो जाता है। अच्छे कर्म, नियम-व्रतका परिपालन, तीर्थ, उपवास इत्यादि, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि नियमको पालन करनेवालेमें भी ये सद्वृत्तियाँ अपने महत्त्वका आभास देकर अहंकार उत्पन्न कर देती हैं। इस अहंकारको स्वयं अहंकारी कभी-कभी नहीं जान पाता। इस अहंकारीको भी दण्ड मिलता है। हमारे पुराणोंमें तथा अन्य प्राचीन आख्यानोंमें ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं, जहाँ पुण्यात्मा अहंकारीको दण्ड मिले हैं। सत्यवादी हरिश्चन्द्र, दानी बलि, ब्रह्मर्षि नारद इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

रामचरितमानसमें अहंकारीको दण्ड देनेकी पहली योजना नारदमुनिसे आरम्भ होती है। भगवान्के अवतार कब-कब और क्यों हुए? यह बतलाते समय शिवजीने पार्वतीजीसे कहा—

'नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥'
(१।१२३।५)

पार्वतीजी यह सुनकर चकित हो गयीं; नारद-ऐसे भगवद्भक्त भगवान्को शाप दे सकते हैं।

'गिरिजा चकित भइ सुनि बानी। नारद बिष्नु भगत पुनि ग्यानी॥
कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥'

वास्तवमें नारदजीको जिस स्त्रीको जीतनेका अहंकार हुआ था और जिस कामदेवपर विजय प्राप्त करनेके कारण उनमें मद उत्पन्न हो गया था, उसी स्त्रीजाति और उसी कामदेवसे उनकी पराजयकी योजना करके उनके अहंकारको चूर-चूर कर दिया गया। उन्होंने इस विजयका श्रेय भगवत्-कृपाको न देकर अपनेको दिया और अज्ञानसे विजयके कर्ता बन बैठे। इस प्रसङ्गमें भक्तवत्सल रामका निश्चय सुनिये। जब उन्होंने नारदके मुँहसे ही उनके अहंकारका प्रसङ्ग सुन लिया तो क्या निर्णय करते हैं—

'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥'
(१।१२८।४,५)

और इस निश्चयका ही परिणाम नारदको भोगना पड़ा।

दूसरा प्रसङ्ग परशुरामजीका है। उनके अहंकारकी सीमा नहीं दिखायी देती। अपने श्रीमुखसे वे आप कहते हैं—

'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित छत्रियकुल द्रोही॥
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही॥'
(१।२७१।६-७)

इत्यादि।

इस अहंकारकी कैसी दुर्दशा लक्ष्मणजीद्वारा की गयी है, यह जनककी भरी सभा सुनती रही। स्वयंवरमें आये हुए सभी राजाओंके समक्ष परशुरामका पराभव हुआ—

'अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता॥'

अहंकारका एक हल्का-सा प्रसङ्ग जटायुके संदर्भमें भी आता है। जटायुको यह ध्यान था कि वह भगवान्की पत्नीको राक्षस रावणसे छुड़ाने जा रहा है। उसे यह अहंकार आ गया कि वह रावणको पराजित करके नष्ट कर देगा। वह एक पवित्र काम करने जा रहा है। वह रामका काम करने जा रहा है। यह सद्वृत्तिके उदयका अहंकार है। वह ललकारकर कहता है—

'सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा॥'
(३।२९।९)

इस अहंकारका परिणाम क्या होता है—

'काटेसि पंख परा खग धरनी। सुमिरि राम की अद्भुत करनी ॥'
(३ । २९ । २०)

अर्थात् 'खग' होनेके नाते आकाशमें उड़ते रहनेकी जो उसमें नैसर्गिक शक्ति थी, वह भी उसकी छिन गयी। उसके पंख रावणने काट दिये। अहंकार करनेवालेकी अपनी निजी शक्तिका भी क्षय हो जाया करता है। परंतु अभीतक जटायुकी समझमें नहीं आया कि वह भगवान् रामकी पत्नीको बचा रहा था, उसकी सहायता होनी चाहिये थी; परंतु उलटे उसके पंख कट गये। इसीलिये उसके इस प्रसङ्गको 'अद्भुत' कहा है। यह रहस्य उसे तब समझमें आता है जब भगवान् रामचन्द्रजी उससे कहते हैं—

'सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ ॥'
(३ । ३१)

अर्थात् पिता स्वर्गमें हैं। आपको भी वहीं भेज रहा हूँ। तभी तो उनसे भेंट होगी। भेजनेका कारण है—

'परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥'
(३ । ३१ । ९)

परंतु जिसे आप शत्रु समझते हैं वह रावण भी अकेले नहीं, कुलसमेत वहीं आवेगा। तभी तो उसकी पिताजीकी बातें होंगी और सीताहरणकी वार्ता बतला सकेगा। मैं तो 'राम हूँ', शत्रु-मित्रमें समभावसे रमा हूँ। अतएव मेरी पत्नीका पक्ष लेकर अहंकारवश किसी विशेषताकी याचना करना भ्रम है। अहंकारको छोड़ना आवश्यक है।

इसके बाद रामायणमें बालिका प्रसङ्ग है। अहंकारका वह प्रसङ्ग बहुत ही स्पष्ट है। सुग्रीव जाकर अपने भाई बालिको लड़नेके लिये ललकारता है। बालिकी पत्नी तारा अपने पतिके चरण पकड़कर समझाने लगती है। वह कहती है—

'सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु अतुल बल सींवा ॥'
(४ । ६ । २८)

अब बालिका अहंकार देखिये—

'अस कहि चला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी ॥'
(४ । ७ । १)

इस अहंकारको भगवान्‌को तोड़ना है। अतएव जब वह बाणसे आहत होकर पृथ्वीपर गिरता है और इस प्रकार छिपकर हमला करनेका कारण रामसे पूछता है तो रामचन्द्रजीका पहला उत्तर सुनिये—

'अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई ॥'
(४ । ८, ७ तथा ८)

बालि तो इस पापको पाप ही नहीं समझता था। अतएव यह आरोप उसकी समझमें नहीं आया। रामचन्द्रजी अपनी नैतिकता, अपने आचार अथवा अपनी संस्कृतिसे वानर-जातिके आचरणको कैसे तोल सकते थे और बालिको दोषी कह सकते थे। यहाँ तो रामचन्द्रजीने केवल आर्य-सभ्यताके उदात्त लक्षणोंकी चर्चा की है और उनकी अवहेलनासे आर्यजाति किस प्रकार दण्डनीय है, यह बतलाया है। अनार्य बालि 'अनुज बधू' को कुदृष्टिसे देखनेके कारण मारा नहीं जा सकता। और फिर अन्यत्र कहा है—

'जेहि अघ बध्यो ब्याध जिमि बाली। पुनि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली ॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी ॥'

अतएव मालूम होता है कि यह आरोप केवल मौखिक था। वास्तविक अपराध बालिको बादमें बतलाया गया—

'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना ॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि महा अभिमानी ॥'
(४ । ८, ९ तथा १०)

और बालि समझ भी गया—

'सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि ॥
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ॥'
(४ । ९)

अहंकारके भागते ही भगवान् रामचन्द्रमें परिवर्तन हुआ। देखिये—

'सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी ॥
अचल करौं तन राखहु प्राना।' (४ । ९ । १ तथा २)

बालि अब भी 'अनुज बधू' को 'कुदृष्टि' देखनेवाला बना है, परंतु भगवान् रामका व्यवहार ही दूसरी प्रकारका बदल जाता है। इससे स्पष्ट है कि सारा दोष

उसके अहंकारका था। अहंकारके लुप्त होते ही उसके प्रति व्यवहार बिल्कुल बदल जाता है।

राक्षस लोग तो अहंकारकी मूर्ति थे। उनको उसका दण्ड मिला। परंतु अन्तमें सबका ही अहंकार छूटा और सबको ही सद्गति मिली। गरुड़को अहंकार हुआ कि मैंने नागफाँससे रामचन्द्रजीको छुड़ाया। गरुड़ पक्षिराज हैं, उसे शिक्षाके लिये 'शकुनाधम' काकके पास जाना पड़ा और इस प्रकार उसका अहंकार नष्ट हुआ। स्वयं काकभुशुण्डिने अपने पूर्वजन्मकी कथा सुनाते हुए बतलाया कि उनके अभिमानको किस प्रकार नष्ट किया गया।

'मंदिर माझ भई नभ बानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी ॥'
(७।१०६ ख।१)

'जौ नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा ॥'
(७।१०६ ख।४)

सारांश यह है कि गोस्वामी तुलसीदासकी साधना-पद्धतिमें अहंकार सबसे बड़ा और प्रमुख अवरोध है और उन्होंने अपने समस्त ग्रन्थोंमें अहंकारके दोष और उसके पराभवकी ही चर्चा की है।

* * *

मानस रोग

(लेखक—श्रीगोपालदत्तजी सारस्वत)

आधुनिक युगने जहाँ एक ओर सुख-भोगकी सामग्री प्रचुरतासे उत्पन्न की है, वहाँ दूसरी ओर विविध प्रकारके रोगोंकी भी सृष्टि की है। भोग और विलासके पदार्थोंकी वृद्धिके साथ-साथ मानसिक रोग भी बढ़ते जा रहे हैं। आज सम्पूर्ण सुख-सुविधाओंके बीच मानव दुखी, व्यग्र एवं अशान्त है।

ज्यों-ज्यों विज्ञानजनित भौतिक संस्कृतिने उन्नति की है, त्यों-त्यों मनुष्य भौतिक सुखोंकी ओर अधिकाधिक आकर्षित हुआ है। जिसके पास भौतिक सम्पत्तिका भण्डार जितना ही विशाल है, वह आजकल उतना ही सभ्य और श्रेष्ठ माना जाता है।

आधुनिक सभ्यताने वर्गवादको जन्म दिया है। आजका समाज वर्ग-भेद, जाति-भेद, भाषा-भेद, रंग-भेद, वर्ण-भेद, देश-भेद, नीति-भेदके कारण नाना भेदोंमें विभाजित हो गया है। इस भेद-वादने बुद्धिको संकुचित बनाकर व्यक्तित्वको खण्डित कर डाला है। प्रत्येक व्यक्तिमें स्वरतिकी भावना (Ego instinct) चरम सीमाको पहुँच गयी है। वह जो कुछ कार्य करता है, अपने क्षुद्र अहंके परितोषके लिये। इस अहंवादकी प्रवृत्तिने मानव-जीवनमें अनेक ग्रन्थियाँ डाल दी हैं, जिससे आजके मानवका चरित्र कुण्ठाग्रस्त हो गया है। उसके मानसमें अतृप्त इच्छाओंका ताण्डव नृत्य होता रहता है। आजके मानवका हृदय कुण्ठा, भय, द्वन्द्व, अतृप्ति, आतुरता, उद्वेग, विक्षोभ, नैराश्य आदि अनेक विकारोंका संग्रहालय बना हुआ है। सभ्यताके अभिमानी पाश्चात्य देशोंमें भी नागरिक जीवन अनौचित्य, अपराध, औद्धत्य आदि नाना विकृतियोंसे कलुषित हो रहा है। फलतः उन देशोंमें पागलोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है।

यों तो मानसिक रोग अनेक हैं, जिनकी संख्या करना कठिन है; किंतु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, शोक, भय, चिन्ता, हिंसा, द्वेष, दम्भ, द्रोह, निन्दा, आलस्य, प्रमाद, संशय, दीनता, कायरता, मत्सरता आदि विशेषरूपसे दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इन रोगोंसे सर्वत्र पीड़ित होकर मानव-समाज आज आर्तनाद कर रहा है। इनमेंसे एक-एक रोग ही जीवनका नाश करनेमें समर्थ है, जिसमें अनेक रोग हैं, उसके विषयमें तो कहना ही क्या!

पाश्चात्य देशोंमें मानस-शास्त्रियोंने मनके रोगोंका बहुत कुछ अध्ययन किया है। वहाँ मानसिक रोगोंके चिकित्सालय भी मिलते हैं, जिनमें उचित प्रकारसे रोगोंका निदान होता है; किंतु हमारे देशमें मानसिक रोगोंके उपचारकी वैसी सुविधा नहीं है।

भगवद्गीताके चौदहवें अध्यायमें गुणोंकी उत्पत्ति, स्वरूप, स्वभाव, कार्य, परिणाम एवं इनसे छूटनेके उपायोंपर विचार किया गया है और अन्तमें ज्ञानके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले त्रिगुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन है। इसी संदर्भमें कहा गया है—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥
(गीता १४।१७)

अर्थात् सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह एवं अज्ञानकी उत्पत्ति होती है ।

इसमें सत्त्वगुणको छोड़कर शेष गुणों (रजोगुण और तमोगुण) को सब दोषोंका कारण कहा गया है । इनमें भी तमोगुणजन्य प्रमाद, मोह और अज्ञान सबसे अधिक भयानक रोग हैं; क्योंकि सम्पूर्ण मानसिक रोगोंका मूल एकमात्र अज्ञान ही है ।

इसी प्रकार स्थितप्रज्ञके लक्षणोंके प्रसङ्गमें गीतामें कहा गया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

विषयभोगोंका चिन्तन करनेसे उनमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें बाधा पड़नेपर क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोधसे अज्ञान उत्पन्न होता है, अज्ञानसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है; स्मृतिके भ्रमित होनेसे बुद्धिका नाश हो जाता है तथा बुद्धिके नाशसे पुरुष कल्याणसे पतित हो जाता है ।

यहाँ विषयासक्तिजनित विषयकामनाको सम्पूर्ण व्याधियोंका मूल कारण माना गया है । सब पापोंका मूल काम है— इस तथ्यको गीतामें अन्यत्र भी प्रकट किया गया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

अर्थात् रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही (प्रतिहत होकर) क्रोध हो जाता है । यह काम भोगोंसे कभी नहीं तृप्त होता । यह बड़ा पापी है । इसे ही शत्रु समझो ।

योगदर्शनमें—**'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।'**

अविद्या, अहङ्कार, राग, द्वेष एवं मृत्युभयके नामसे जिन पाँच क्लेशोंका उल्लेख हुआ है, वे महारोग हैं । इनमें मूल कारण अविद्याको बतलाया गया है ।

गोस्वामी तुलसीदासने उत्तरकाण्डान्तर्गत मानस रोगोंके प्रकरणमें कहा है—

'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला । तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥'

सम्पूर्ण रोगोंका मूल मोह है । उन व्याधियोंसे फिर और बहुत-से कष्ट उत्पन्न होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि सभी प्रकारके मानसिक रोगोंका मूल कारण अविद्या, मोह और मोहजनित विषय-कामना बताया गया है ।

शारीरिक रोगोंकी अपेक्षा मानसिक रोग अधिक भयानक हैं । सूक्ष्म एवं अदृष्ट होनेके कारण उनसे आसानीसे छुटकारा नहीं मिलता । एक तो उनकी पहचान ही कठिन है । दूसरे यदि उनका ज्ञान भी हो जाय तो उनके दूर करनेका उपाय विदित नहीं । इसके लिये वैद्य भी नहीं मिलते । फलतः उनके वशीभूत होकर प्राणी विविध कष्टोंको भोगते हैं । अन्तमें कर्तव्यसे भ्रष्ट होकर पतनके गड्ढेमें जा गिरते हैं ।

नवीन मनोविज्ञानकी खोजोंसे ज्ञात हुआ है कि मानसिक रोगोंके फलस्वरूप शारीरिक व्याधियोंका आरम्भ होता है । रुग्ण शरीर रुग्ण मनोवृत्तिका परिणाम है । विषय-कामना, मानसिक आवेग, स्नायविक तनाव एवं प्रतिहिंसाकी भावनाने नाना प्रकारके शारीरिक रोगोंको उत्पन्न किया है । इसमें संदेह नहीं; भय, चिन्ता, शोक आदि मनोविकृतियोंके कारण अनेक बाह्य रोगोंका जन्म होने लगता है ।

बौद्ध धर्मने आन्तरिक दोषोंकी निवृत्तिके लिये अष्टाङ्गिक मार्गका प्रतिपादन किया है । सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प एवं सम्यक् कर्मान्त आदिके द्वारा ही जीवनका सुधार हो सकता है । कुशल कर्मोंके आचरणसे अकुशल कर्मोंका निवारण ही सम्यक् दृष्टि है । बौद्ध धर्मने चित्तके संस्कारके लिये शुभ कर्मोंके आचरणका अनुमोदन किया है ।

योगदर्शनने भावनाकी शुद्धिपर बल दिया है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।'

(योगदर्शन १ । ३३)

अर्थात् सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी भावना करनेसे, दुखी लोगोंपर दया करनेसे, पुण्यात्माओंको देखकर प्रसन्न होनेसे और पापियोंकी उपेक्षा करनेसे मलोंका नाश होकर चित्त शुद्ध हो जाता है ।

चित्तके विकारोंको दूर करनेके लिये योगदर्शनकारने एक और भी उपाय बताया है—

'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।'

(योगदर्शन २ । ३३)

इसका अर्थ यह है कि विरोधी भावोंके बाधा डालनेपर उनके प्रतिपक्षी विचारोंका बार-बार चिन्तन करना चाहिये । अशुभ विचारोंको मनसे हटानेके लिये बार-बार शुभ विचारोंका चिन्तन करना चाहिये। निषिद्ध कार्योंके पूर्वापर परिणामको सोचकर उनसे विरत हो जाना चाहिये। उदाहरणके लिये– झूठ, चोरी अथवा व्यभिचारके विचार आनेपर उनसे उत्पन्न होनेवाले क्षणिक सुख और भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले स्थायी दुःख तथा अयशका बार-बार विचार करना चाहिये। इसके अतिरिक्त झूठके स्थानपर सत्य, चोरीके स्थानपर दान और व्यभिचारके स्थानपर पवित्र मङ्गलमय भावोंका अनुसरण करते रहना चाहिये। इस प्रकार अशुद्ध संकल्पोंका उदय होनेपर उनके प्रति बार-बार दोष-दृष्टिसे विचार करके शुभ संकल्पोंके द्वारा उनका निवारण करना चाहिये।

गो० तुलसीदासजीने मानसिक रोगोंका वर्णन करके उनके नाशके लिये भक्तिको संजीवन मूल बताया है—

राम कृपा नासहिं भव रोगा। जौं एहि भाँति बनै संजोगा॥
सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवनि मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

(उत्तरकाण्ड)

निष्कर्ष यह कि आन्तरिक रोगोंकी निवृत्तिके लिये अनेक उपायोंका विधान किया गया है। इनमेंसे जिसके लिये जो अनुकूल हो, उसे उसी उपायका निरन्तर अवलम्बन करते रहना चाहिये। परंतु इसके लिये सबसे अधिक आवश्यक है—सत्संकल्प। ज्यों-ज्यों शुभ संकल्पकी शक्तिका विकास होगा, आन्तरिक रोग आप-से-आप नष्ट होने लगेंगे। संकल्पकी शक्तिके दृढ़, बलिष्ठ तथा अमोघ होनेसे समस्त मनोविकृतियाँ अवश्य दूर होंगी तथा चित्त शिवसंकल्प हो जायगा। इति शम्।

जिन्हें दोष नहीं दीखते

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आप निर्दोष हैं। आराध्यका आदेश पालन करनेके अतिरिक्त आपके पास और कोई मार्ग नहीं था।' आचार्य शुक्र आ गये थे आज तलातलमें। पृथ्वीके नीचे सात लोक हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। इनमें तीसरा लोक सुतल भगवान् वामनने बलिको दे रक्खा है। उसके नीचे अधोलोकोंका मध्य लोक तलातल मायावियोंके परमाचार्य परम शैव असुर-विश्वकर्मा दानवेन्द्र मयका निवास है। सुतलमें तो बलिकी प्रतिकूलताका प्रयत्न करनेवाले असुरोंको दण्ड देने श्रीनारायणका सुदर्शन चक्र यदा-कदा चक्कर लगा लेता है और अधोलोक प्रायः सभी उसके प्रशासनमें हैं; किंतु तलातलमें वह कभी नहीं जाता। भगवान् त्रिपुरारिका लाड़ला भक्त मय—उसके आश्रितोंको चक्रसे कभी भय नहीं हुआ।

'दानवेन्द्र अत्यन्त दुखी हैं। पूरे सात दिनोंसे उन्होंने जल ग्रहण नहीं किया।' अनुचरोंको कोई मार्ग नहीं सूझा तो वे सुतल आचार्य शुक्रके चरणोंमें पहुँचे। आचार्य अपने मुख्य यजमान असुरेन्द्र बलिके समीप ही रहते हैं; किंतु दानव तथा राक्षसोंके भी वही कुलगुरु हैं। वही विपत्तिके सहायक तथा मार्गद्रष्टा हैं। दानवोंको लगा कि आचार्य ही कोई सुलझाव निकाल सकते हैं।

'भगवान् चन्द्रमौलिके श्रीचरणोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी अत्यन्त अनुरक्ति है।' आचार्य कह रहे थे—'और श्रीगङ्गाधर भी द्वारकानाथसे अत्यन्त स्नेह रखते हैं। उमाकान्तने जब यह विधान किया, उसे सम्पन्न करनेमें श्रीकृष्णके प्रति कहीं अश्रद्धा या अपकारका भाव नहीं आता और सत्य तो यह है कि शिवने एक क्रूर शलभको केवल दीपकके समीप भेजा। उस अप्रतिहत शौर्यका न सौभ कुछ बिगाड़ सकता था, न शाल्व। अब तो समाप्त भी हो चुका यह प्रसङ्ग। शाल्वको चक्रकी धाराने निर्वाण दे दिया।'

'भगवन्! मेरे आराध्य भगवान् चन्द्रमौलि और श्रीकृष्णचन्द्रमें कोई अन्तर है, यह कलुष इस जनके अन्तरमें कभी नहीं आया। वे करुणावरुणालय कृत्तिवास रहें या पीताम्बर-परिधान, विश्वके परमकारण-कारण वही हैं। लीलारूप उनके ये और रुचिवैचित्र्यके कारण उनका त्रिलोचन-रूप इस

जनको प्रिय है । वे दोष नहीं देखेंगे, जानता हूँ; क्योंकि उन्हें कभी किसीके दोष दीखते नहीं । वे उत्तमश्लोक हैं— उन्हें दोष देखना आता ही नहीं ।'

'मेरा अमरत्व उस दिन अग्निकी ज्वालामें भस्म ही हो चुका था । मैंने उस दिन प्रत्यक्ष देखा श्रीकृष्णका प्रभाव । महेन्द्रकी वर्षा और उनका वज्र व्यर्थ हो गया था । मैं इतना अज्ञ नहीं था कि इसे अर्जुनके शरोंका चमत्कार मान लेता ।' दो क्षण मयको अपना गद्‌गद स्वर सम्हालनेमें लगे और फिर वे बोले—'श्रीकृष्णकी इच्छाका प्रताप था वह और उस इच्छाने उस दिन अग्निको जो सामर्थ्य दी थी—मय उन लपटोंमें तृणके समान भस्म हो जाता; किंतु इस अधम सुर-शत्रु दानवकी कातर पुकार उन्होंने सुन ली । कोई आर्त पुकार उनके श्रीचरणोंसे निराश नहीं लौटी । मयका यह शरीर, इसका यह जीवन श्रीकृष्णका कृपाप्रसाद, और कोई सेवा उनकी यह नहीं कर सका ।'

'वे हैं ही कृपा-विग्रह । बलिपर जो अचिन्त्य अतर्क्य अनुग्रह उन्होंने किया ।' आचार्य शुक्रका कण्ठ भी भर आया—'उनकी अहैतुकी असीम कृपाका मुझसे अधिक प्रत्यक्ष साक्षी और कौन होगा । वे त्रिभुवननाथ मेरे यजमानके द्वारपर गदापाणि द्वारपाल बने खड़े हैं । उन्होंने मुझसे यहाँ आते समय कहा है—'मय बहुत भावप्रवण है । उसे आश्वस्त करो आचार्य !'

'वे दयाधाम तो कहेंगे ही !' मय क्रन्दन कर उठे—'मेरे सचिव कहते हैं कि मैं द्वारका जाकर श्रीकृष्णचन्द्रसे क्षमा-याचना करूँ । अज्ञ हैं वे । उन उदार चक्रचूड़ामणिसे भी क्या क्षमा-याचना करनी पड़ती है ? किसीके अपराध उनके विशाल नेत्र देख भी पाते हैं कि क्षमा माँगी जाय ? मैं चला ही जाऊँ । तो वे कहेंगे—'मय ! तुम भी यह पागलपन करते हो ? मैं भला तुमसे रुष्ट हो सकता हूँ कभी ?'

'लेकिन यह कृतघ्न !' मयने मस्तक पटक दिया भूमिपर । उनकी अन्तर्वेदनाका अन्त नहीं था । 'भगवान् गङ्गाधरने सौभ-निर्माणकी आज्ञा इसी पापिष्ठको दी—इसीलिये तो कि इसके अन्तरमें कहीं आसुर-द्वेष छिपा था । कोई कल्मष कहीं चित्तमें न होता—जो अपने संकल्पमात्रसे त्रिभुवनकी सृष्टि कर सकते हैं, शाल्वको एक विमान नहीं प्रकट करके दे सकते थे ? जिन्होंने मुझे जीवनदान दिया, उनके शत्रुको उन्हींके नगर एवं जनोंको उत्पीड़ित करनेके लिये इन करोंने सौभ-जैसा दुर्भेद्यप्राय विमान अर्पित किया । मुझे ही इस कर्मका भार आराध्यने क्यों दिया आचार्य ?'

आचार्य क्या उत्तर दें । भगवान् भूतनाथके संकल्प या कर्मका हेतु जाननेमें तो आचार्यकी सर्वज्ञता समर्थ नहीं है । उन लीलामयकी लीला; किंतु इस मयको आचार्य कैसे समझायें ? यह वे स्वयं नहीं समझ पा रहे हैं ।

'मैं कितने भी वर्ष उपोषित रहूँ, मर नहीं सकता । भगवान् शंकरने मुझे अमरत्व दिया है ।' दानवेन्द्र रुदन कर रहे थे—'खाण्डव-दाहमें अग्नि मुझे अंधा, पङ्गु बना दे सकता था । अर्जुनके बाण मयको लुञ्ज-पुञ्ज करके धर देते । मयका अमरत्व विडम्बना बनकर रह जाता और आज वह विडम्बना बन गया है कि मय देह त्यागकर अपनी कृतघ्नताका प्रायश्चित्त करनेमें भी समर्थ नहीं है । श्रीकृष्णकी दृष्टिमें मयका कोई अपराध नहीं । आप भी कह लें कि मय निर्दोष है; किंतु स्वयं अपनी दृष्टिमें मयने जो घोर कृतघ्नता की है शाल्वको द्वारकापर आक्रमणके लिये सौभ-विमान निर्मित करके देनेकी…।'

'किंतु स्वेच्छासे तो नहीं किया तुमने यह !' आचार्य फिर बोले । लेकिन अपने प्रयत्नकी निष्फलता वे समझ चुके थे । उनकी वाणीमें उत्साह नहीं था—'अपने मित्र शिशुपालके वधसे क्रोधाविष्ट शाल्व तप कर रहा था । पूरे वर्षभर मुट्ठीभर रेत प्रतिदिन खाकर वह आशुतोषकी आराधना करता रहा । भगवान् शिव उपेक्षा कर देते उसकी ? तुम तो निमित्त बने आराध्यके आदेशको पूर्ण करनेमें ।'

'मैं ही क्यों निमित्त बना ?' मयके इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं था । 'मैं इस कृतघ्नताके लिये क्यों चुना गया ?'

'यदि तुम एक बार द्वारकेशके दर्शन कर आते !' आचार्य भी अनुरोध ही कर सकते थे ।

'क्या मुख लेकर जाऊँगा वहाँ ?' मयका रुदन फूट पड़ा 'उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा ? नहीं ! नहीं ! नहीं जा सकेगा मय उन दयाधामके सम्मुख ।'

× × ×

'चक्र ! तलातलमें यह सहस्रार चक्र मय !' आचार्यके मुखसे चीत्कार निकल गया । सहस्र-सहस्र सूर्य एक साथ उदय हुए हों; ऐसा महाप्रकाश । इस चक्रके

आचार्य कैसे भूल सकते हैं; किंतु तलातलमें तो यह आया नहीं करता और आज······!

'आओ ! इस अधमको अपनी महाज्वालासे परिपूत करो परमास्त्र !' मयने दोनों हाथ जोड़े—'आपके वेगको कोई वरदान, कोई प्रभाव प्रतिहत नहीं कर पाता ! मयके चित्तमें जो दारुण दावानल धधक उठा है, आपके तेजमें देह दग्ध हो तो शान्ति मिले उससे । आओ ! कृपा करके पधारो !'

'महाभागवतोंकी केवल वन्दना कर सकता है यह !' आचार्य और मय दोनों इस मेघ-गम्भीर स्वरसे चौंके । आचार्यका चिरपरिचित है यह स्वर और वही स्वर तो है जिसे मयने खाण्डव-दाहके समय सुना था । नेत्र खोलकर त्वरापूर्वक मय आचार्यके साथ उठ खड़े हुए ।

'देवेन्द्रको लगा कि इस समय दानवेन्द्र असावधान हैं तो तलातलके अपने शत्रुओंको वे कुछ कम कर लें ! स्मित-शोभितानन भगवान् वामन सम्मुख चले आ रहे थे—'किंतु अब ये स्वयं लज्जित हैं अपने कृत्यपर । इन्हें क्षमा कर दो दानवेन्द्र !'

अब आचार्य तथा मयने देखा कि भगवान् वामनके पीछे नतमस्तक वज्रपाणि इन्द्र संकुचित खड़े हैं । उन्हें कहाँ आशा थी कि उपेन्द्रके ही हाथों उन्हें यह पराभव प्राप्त होगा । किंतु ये उपेन्द्र—ये किसीके हैं तो केवल अपने जनोंके, अन्यथा इनकी गति कब किसकी समझमें आयी है ।

'मय प्रमत्त हो सकता है । वह प्रमाद कर सकता है' दानवेन्द्रने भगवान् वामनके चरणोंपर मस्तक रखनेके पश्चात् कहा—'किंतु सुतलके संरक्षककी सावधानीमें अन्तर पड़ेगा, अथवा मयपर उनका अनुग्रह कम है, यही समझकर देवराजने भूल की और जब मेरे स्वामीने उन्हें क्षमा कर दिया, तब मेरे तो ये सम्मान्य हैं !'

'आप इन्हें अनुमति दें अमरावती जानेकी ।' भगवान् वामनने ही कहा—'आपकी अनुमतिके बिना ये जायँ तो वह जो महाचक्र ऊपर घूम रहा है···।'

'ओह, तो आज देवेन्द्रको ज्ञात हुआ कि श्रीकृष्णका चक्र केवल देवताओंका संरक्षक नहीं है ।' मयके मुखपर हास्य आया—'आज देवाधिपको उसने बंदी किया है !'

'दानवेन्द्रके बंदी हैं ये ।' आचार्यने सूचित किया, यद्यपि अनावश्यक था यह ।

'आप सम्भवतः दानवका आतिथ्य स्वीकार नहीं करेंगे ।' मयने देवेन्द्रको अङ्कमाल देकर विदा दी—'अतः प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान करें ।'

'मयके लिये द्वारका भी दूर नहीं है । वह दूर भी हो तो सुतल तो समीप ही है ।' भगवान् वामन इन्द्रके चले जानेपर मयके हाथको अपने हाथमें लेकर बड़े कोमल स्वरमें कह रहे थे—'दानबेन्द्र भूल जाते हैं कि उनकी व्यथा किसी औरको भी व्यथित करती है । कोई भक्तिपूत हृदय जब व्यथित होता है, श्रीकृष्णचन्द्रको द्वारकाकी सुकोमल रत्नशय्या सुख नहीं दे पाती ! अन्ततः कोई बात भी हो !'

'प्रभु ! दयामय !' मयने दोनों भुजाओंमें बाँध लिये वामनके चरणकमलद्वय और उनपर मस्तक रखकर उन्हें अपने अश्रुओंसे सिक्त करने लगे ।

'उठो वत्स !' भगवान्ने उठाकर हृदयसे लगाया मयको—'भगवान् शंकरको तुम जितने प्रिय हो, श्रीकृष्णका स्नेह उससे अधिक ही तुम्हें प्राप्त है ।'

◆

किंचित् भी दोष नहीं देखते

भरा हुआ दुस्तर दोषोंसे अगणित अवगुणका भण्डार ।
नहीं देखते तुम किञ्चित् भी, नहीं कभी देते दुत्कार ॥
जो अनन्य शरणागत होता, करते उसे तुरत स्वीकार ।
दे निज आश्रय, पापरहित कर उसे बनाते पुण्याधार ॥
तुमसे तुम्हीं एक हो अनुपम, करुणामृतके पारावार ।
मेरे जैसे महा अधमको किया सहजही अंगीकार ॥

दो युगोंमें

(रचयिता—डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन')

एक युगने—
प्रथम रश्मिका स्वागत किया
और अपने मधुर-मधुर तपके
बलपर
उसे स्वर्ण-किरणमें बदल दिया ।

एक युगने—
सूर्यका स्वागत किया
पर जब वह मार्तण्ड हुआ,
प्रचण्ड हुआ, प्रखर हुआ,
तो उसने डरकर धूपका चश्मा लगा लिया
घबराकर अपनेको किसी कोनेमें छिपा लिया ।

मैं—
प्रथम रश्मिके आँगनमें खेला,
स्वर्ण-किरणोंमें नहाया,
पूत हुआ,
सूर्य निकला
तो मैंने काममें हाथ लगाया,
कण्ठसे राग उठाया ।
मार्तण्ड तपा
तो मैंने उसे सहा,
बहुत स्वेद बहा,
पर मैं लगा रहा ।
और अब मेरा दिन ढलता है,
मेरे-जैसोंके श्रमसे,
संगीतसे कहाँ कुछ बदलता है;
पर इतना भी क्या कम है
कि जब मेरा तन श्रान्त है,
मेरा मन शान्त है ।

110343

प्रतीक्षा

(लेखक--श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम')

जीवनकी संध्या हो गयी, पर तुम्हें देख नहीं पाया, रातकी छायाको दूरसे देखकर हृदयमें उथल-पुथल मची है। एक अशान्ति-सी घोर अशान्ति—हाय रात्रि आयेगी। क्या यों ही सो जाऊँगा ? क्या प्रतीक्षा व्यर्थ होगी ? ऐसा तो नहीं हो सकता। मैंने तुमपर विश्वास किया है। तुम्हारी बातपर विश्वास किया है। तुम निश्चय ही मिलोगे। शायद कोई अनन्य भक्त तुम्हें बाँधे बैठा है, शायद मेरा स्थान तुम्हारे लिये उपयुक्त रूपसे सजा नहीं है। तो मैं क्या करूँ ? मुझे तो कुछ आता नहीं। मैं तो इतना ही जानता हूँ—मैं तुम्हारा हूँ तुम मेरे हो, बस। और यही तो तुमने अनेक वाणियोंमें सिखाया ही है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

तुम्हें बड़े-बड़े पकवान और भोग तो नहीं चाहिये। बड़े-बड़े यज्ञ—बड़ी-बड़ी इमारत, बड़प्पनका आडम्बर नहीं चाहिये। चाहिये, एक निर्मल भक्तिपूर्ण हृदय, जो तुम्हारा आधार लिये हो—केवल तुम्हारा सहारा। तुम्हारे सिवा और है ही कौन ? जिसका कोई सहारा ले ? तुम्हारे ही तो अनेक रूप हैं। तुम्हीं तो उनमें प्राण डालते हो। फिर सब सहारे तुम्हारे ही तो हैं। मुझे बताओ, क्या कमी है ? जो कमी हो उसे पूर्ण कर दो या पूर्ण करनेकी शक्ति-भक्ति और ज्ञान दे दो। मैंने तो सब समर्पण कर दिया। अरे, मेरा था ही क्या ? सब तुम्हारा दिया ही तो था। बस, जब 'मेरा' उठा लिया तो तुम्हारा तुम्हारा हो गया। फिर आते क्यों नहीं ? अब भी मेरे पास एक अनमोल रत्न है—भक्ति ! तुम्हारे साक्षात्की असह्य प्रतीक्षा ! यह तो आनेपर ही चरणोंकी भेंट होगी। यह सबको तो सौंपा नहीं जा सकता, इधर-उधर फेंका नहीं जा सकता, अज्ञातको दिया भी नहीं जा सकता। अनमोल है और फिर तुम्हें प्रिय है इसीसे।

बातें करते हो, छिपकर। सुनायी तो देता है, पर दिखायी नहीं देते। आवाज सुनता हूँ, आँखें फाड़-फाड़कर देखता हूँ; पर कुछ नहीं। क्या इन आँखोंसे नहीं देख सकता तो वे आँखें दो जिनसे देख सकूँ। सभी जगह हो यह तो सत्य है; तुम्हारी वाणी है—सत्य ही है। वृक्षोंकी, अनेक जीवोंकी ओटमें ऐसा छिपकर घूमते हो जो किसीको दिखायी ही नहीं देते—पहचाने ही नहीं जाते। इतनी बड़ी चादर ओढ़ रक्खी है कि जिधरसे चादर हटाओ चादर ही हाथ आती है; पर तुम्हारा स्पर्श नहीं होता। कहते हो मैं तो स्वयं ही मिलनेको उत्सुक हूँ। फिर मिलते क्यों नहीं ? तुमने आवाज दी, मैंने दरवाजा खोल दिया, फिर अब अंदर कोई और है भी नहीं। देखते तो हो रातकी अँधियाली करीब आती जा रही है। तुम्हीं सुला दोगे—दूरसे लोरी गाकर, मगर सामने नहीं आओगे ? क्या खेल है यह। तब क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? ढूँढ-ढूँढकर थक गया; पर तुम्हारा ठिकाना नहीं मिला—तुमतक पहुँच नहीं पाया। तुमने कहा—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

तो फिर कहींसे प्रकट क्यों नहीं हो जाते साक्षात्-स्वरूप ? मुझे तुम्हारी विशाल योगमाया जाननेकी—देखनेकी अभिलाषा नहीं—दिव्य दृष्टि उसीके लिये आवश्यक है न ? मैं तो सौम्य रूप देखना चाहता हूँ। अरे, जब अर्जुन-से वीर और भक्त उस रूपको सहन नहीं कर सके, तब मैं क्या चीज हूँ। मुझे दिखाओ—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

कहते हो—'सादा रूप जान नहीं पाते—तेजोमय रूप सहन नहीं कर सकते' तो वही रूप दिखाओ जो गोपियोंको दिखाते थे—गोप-सखाओंको दिखाते थे, छोटा-सा सलोना रूप जो कंसको दिखाया था—वह नहीं, प्रेमसे ओत-प्रोत आँखोंमें प्यारका अमृत छलकता हो, आग नहीं। हाथ उठाओ मुझे ऊपर उठानेको, गला दबानेको नहीं। ऐसा रूप तुमने कहा—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

आँखें गड़ा-गड़ाकर मूर्तियोंमें देखता हूँ, आदमियोंमें ढूँढ़ता हूँ, जानवरोंमें पहचाननेकी कोशिश करता हूँ। पर तुम लुके-छिपे फिरते हो—एक नकाब डालकर ! एक ऐसा जामा पहनकर सामनेसे गुजर जाते हो कि पहचाने नहीं जाते। क्या लुत्फ आता है तुम्हें इसमें ? चुपचाप चलते हो, सबको देखते हो, सबकी सुनते हो, चलनेकी आवाज भी आती है; पर दिखायी नहीं देते। तुम्हीं शायद आते हो; पर मैं जान नहीं पाता। तुम जनाते जो नहीं इसीसे। मैं तो आनेवाली रात्रिकी काली रोशनी देखकर घबरा उठा हूँ ! क्या तुम यों ही सुला दोगे ? ऐसा नहीं हो सकता। निश्चय है, धोखा नहीं हो सकता। हो ही नहीं सकता। तुम्हारी बात जो है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

और एक ही बार तो नहीं कहा—फिर वादा किया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

जब यहाँतक कहते हो कि 'मेरेको प्राप्त होगा' तो दर्शन तो निश्चय ही दोगे। कहीं बातोंमें कुछ हेर-फेर तो नहीं ? तुम्हें तुम्हारे भक्त छलिया भी कहते हैं—प्यारसे। नहीं, ऐसा नहीं—जो हृदयमें ही बैठा हो उसका तो दर्शन साक्षात् होना ही है। तुम्हारी बात है, अविश्वास क्यों हो ?

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

तभी तो आँखें बंदकर अन्तरमें घुसकर तुम्हें कितना ढूँढ़ता हूँ। तुम्हारा प्रकाश तो मिलता है; पर तुम नहीं मिलते। न जाने कौन-से कोनेमें छिप जाते हो। धीरेसे आवाज भी देते हो, झनकार-सी, जो नस-नसको झिंझोर देती है। सुनता हूँ, मुग्ध होता हूँ; पर तुम सामने नहीं आते। न तुम्हारे प्रकाशसे सान्त्वना है, न तुम्हारी आवाज़से तसल्ली ! वर्षोंसे इन्हींसे बहला रहे हो। तुम नहीं मिले तो कुछ नहीं मिला। निराश हो जाता हूँ; पर मेरी निराशामें आशाका प्रकाश है। मैं जानता हूँ वह भी तुम्हारी ही देन है, ताकि मैं इतना सफर तय करके लौट न जाऊँ, कहीं रास्ता भूल न जाऊँ। विश्वास रक्खो, मैं कहीं और जा ही नहीं सकता। तुम्हारी बात सुनी थी—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

तो मैंने सब तर्क कर दिया—मैंने तुम्हारी ओर मुख कर लिया तो सबकी ओर मेरी पीठ अपने-आप हो गयी। पाप-पुण्य, भुक्ति-मुक्ति सभीसे उदासीन हो गया। बस, एक लालसा रही तुम्हें जानकर सामने देखनेकी। यही अब जीवन है, यही विश्वास है। कहते हो, अभी गलेतक ही भक्ति-सरोवरमें डूबा हूँ। सत्य ही है; सिर नहीं डुबोया। तुम दिखते नहीं तो आँखें तुम्हें ही तुम्हारी इन अनेक वस्तुओंमें ढूँढती हैं; सभी आवाज़ोंमें कान तुम्हारी ही आवाज सुनना चाहते हैं। तुम मिलोगे तो जिह्वा तुमसे बात करेगी—भक्तिके सागरमें इसे भी डुबो दूँ—यही चाहते हो ? हाँ, तुमने कहा—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

क्या इसका यही तात्पर्य है ? तो और भक्ति कहाँसे लाऊँ ? जितना तुम देते हो उतना ही तो पाता हूँ। भक्ति तो संसारमें मिलती नहीं, तब कहाँसे लाऊँ ? संसारको तो तुमने मुक्तिसे भर दिया और भक्तिको केवल रख लिया अपने पास। जिसे जितना चाहते हो, देते हो। फिर कहते हो 'कम है' 'काफी नहीं'—तो फिर पर्याप्त भक्ति ही दे दो। मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ—मुझे उतनी पूर्ण भक्ति दे दो, जिसे देखने तुम सामने आ खड़े होते हो। बात एक ही है—तुम आओगे तो भक्ति साथ लाओगे। भक्ति तो पूर्ण होगी ही। नहीं, ऐसा नहीं। कंसके सामने आये तो भक्ति नहीं लाये; उसे भक्ति नहीं दी। तो भक्ति तुम्हारी सजीव है, तुमसे आगे चलती है। भक्ति वह गङ्गा है जो सबको पावन करे, जिसका स्रोत तुम्हारे पास है। किधरसे बहे, यह रोक-थाम तुम्हारी है—तो प्रभो ! भक्ति ही दो इतनी जो तुम्हें खींच लाये या जो मुझे तुमतक खींच ले जाये। संसार तो लुटा-लुटाकर देते हो—चाहे जिसको तिसको; और भक्ति इने-गिनेको परख-परखकर !

लो, अब तो शाम भी ढलती जा रही है। भयभीत अंधेरी आकाशमें धीरे-धीरे चुपके-चुपके अपना शासन

बढ़ाता जा रहा है; मुझे डर लगता है। कितना मूर्ख हूँ मैं रात्रिसे डरता हूँ—क्यों ? भूल गया था—

> **अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।**
> **यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥**

यह सब सच है, पर प्रभु ! अन्तकालकी कौन जाने—तुम्हारी लीला जो अपरम्पार है। तो इससे पहले कि, रात्रिकी अँधियाली मुझे अपने आँचलमें ढाँप ले; तुम आओ, निश्चय एक क्षणको ही, पर जताकर । ऐसा न हो कि मैं तुलसी चन्दन ही घिसता रहूँ और तुम चन्दन लगाकर चल भी दो। प्रभु ! मैं प्रतीक्षा करूँगा, प्रतीक्षा करता ही रहूँगा। शहनाई सुनी, आतिशबाजीकी रंगीनी देखी, बराती आते-जाते देखे, पर दूल्हा नहीं दीखा; न जाने कितनी लंबी बरात है यह तुम्हारी !

* * *

हमारा धर्म—धर्म-युद्ध

(लेखक—श्रीजित्तूरामजी मौर्य)

आज हमारे समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित हो गयी है, वह समस्या है—धर्म। धर्मके पीछे आपसमें बड़ी कशमकश है। धर्मको लेकर आये दिन बड़ी रस्साकशी हुआ करती है। मैदान किसके हाथ लगा, इसका निर्णय ही नहीं हो पाता । विश्व-मैदानमें रूस-अमरीका, चीन-जापान, अफ्रीका-आस्ट्रेलिया, जर्मनी-इंगलैंड, हिंदुस्तान-पाकिस्तान आदि सभी अपने-अपने धर्मकी जय और दूसरेके धर्मकी क्षय, ऐसी आवाज़ बुलन्द करते हैं। कुछ समझमें ही नहीं आता कि अन्ततोगत्वा इनका धर्म क्या है ? उपर्युक्त देशोंमें किसीको ले लें और उसके अन्तरमें प्रवेश करें तो देखेंगे कि उस पूरे देशका भी एक धर्म नहीं है, वहाँवाले अपना-अपना पृथक् धर्म बतलाते हैं। यही नहीं, यदि एक-एक व्यक्तिसे पूछा जाय तो वह अलग-अलग अपना धर्म बतलाता मिलेगा। इस प्रकार विश्वमें असंख्य व्यक्ति और अगणित धर्म मिलेंगे। अब जरा शान्तचित्तसे गहराईतक उतरकर सोचें कि क्या धर्म कोई ऐसी चीज़ है जो असंख्य होगा ? यदि धर्म अगण्य है, तो उसका नाश अवश्यम्भावी है, क्योंकि सृष्टिका नियम जो है कि वह अनेक या असंख्यका विनाश करती है और जो एक है—जैसे आत्मा (परमात्मा), उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकती। सुनिये, हमारे ऋषि और महर्षियोंने हजारों-हजारों वर्षतक छान-बीन करनेके पश्चात् क्या कहा ? यही न ! 'इस संसारमें धन, जीवन, सभी कुछ अस्थायी है, इस नाशवान् संसारमें एक ही वस्तु स्थायी है और वह है धर्म।' तब तो यह निश्चित है कि धर्म अगणित नहीं, वह एक ही है। हाँ, उसके माननेवाले—उसपर चलनेवाले असंख्य हो सकते हैं, जो अपने-अपने रास्ते या मार्गसे उस लक्ष्य (धर्म) तक पहुँचनेका प्रयास करते हैं। वास्तवमें सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्डका धर्म तो एक ही हो सकता है और वह है—मनुष्यता—मानवधर्म।

मानवमात्रका तो केवल एक ही धर्म (मनुष्यता) है। इसके अलावा जितने भी धर्म हैं वे सभी इस मानव-धर्मके ही अन्तर्गत आ जाते हैं या ऐसा मानें कि अन्यान्य धर्म मनुष्यता-धर्मरूपी वृक्षकी शाखाएँ हैं या अन्यान्य धर्म हमारे पंथ अथवा मार्ग हैं, जिनपर चलकर हम इस मानवधर्मतक पहुँचते हैं । दुनियाँके जितने भी उपधर्म अथवा पंथ या मार्ग हैं, सभी हमको अपने-अपने ढंगसे मनुष्यता ही सिखा रहे हैं; सभी मनुष्यताकी ओर उन्मुख हैं। इनमें कोई भी मनुष्यताके विपरीत बोलता है तो वह अधर्म अथवा कुपंथ या कुमार्ग–उपाधिसे अशोभित होता है।

जब कभी पैशाचिकता उठकर अपनी चरम सीमाको छूने लगती है और मनुष्यताको ठेस पहुँचती है, तब ब्रह्म अवतरित होता है। वह मनुष्यताको उठाकर दिव्य सिंहासन-पर बिठाता है और पैशाचिकताको दबोचकर उसका विनाश करता है। दुनियाँके किसी भी धर्मके भगवान्, खुदा, पैगम्बर या गॉडको लीजिये—वह हमें सत्य, प्रेम, अहिंसा और करुणाका पाठ पढ़ाकर मनुष्यता ही सीखनेकी प्रेरणा देता है। तो मामला साफ हो जाता है कि ब्रह्म मनुष्यताके लिये ही अवतार लेता है। जब हमारा भगवान् या गॉड अथवा खुदा मनुष्यताके लिये अवतरित होता है तो हम

मनुष्य होकर दूसरा धर्म अपनावें और आचरण मानव-धर्मके विरुद्ध करें, यह बड़ी अशोभनीय बात होगी ।

रावणने अपने परिवारके साथ दानवीय वृत्तिका आतङ्क फैलाया तो मानवीय वृत्तिका लोप-सा होने लगा; इतना ही नहीं, वरं ऋषि-महर्षियोंके यहाँ भी त्राहि-त्राहि मच गयी । तब ब्रह्मको मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतरित होना पड़ा । तुलसीकृत रामचरितमानसमें आद्योपान्त हम यही देखते हैं कि राजनीति, लोकनीति, अध्यात्म और विज्ञानके द्वारा राघवेन्द्रने हमको मानवताका ही पाठ सिखाया है और पैशाचिकताका विनाश किया है । इसीलिये राघवेन्द्रका 'मर्यादापुरुषोत्तम' नाम भी सार्थक है ।

× × × ×

मनुष्यतामें सीमोल्लंघन अनुचित और असहनीय

मानससे हमें सीखनेको मिलता है कि मनुष्यको कभी किसी हालतमें भी सीमोल्लङ्घन नहीं करना चाहिये । मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रने आन्तरिक-बाह्य जितने भी युद्ध किये, वे कहीं भी कभी भी सीमासे बाहर नहीं हुए । हाँ, जो-जो भी सीमा पार करके उनके समक्ष आये, उनको उन्होंने समुचित दण्ड दिया ।

शूर्पणखा जंगल (पञ्चवटी) में आयी । वह विधवा और परम रूपवती थी । उसने कामान्ध हो रामसे विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की । रामने सोचा कि वन तपस्वियोंकी भूमि है फिर विवाहकी अभिलाषासे यह (राक्षसी) यहाँ कैसे आयी ? शूर्पणखाको सीमा पार करते देख रामने लक्ष्मणके द्वारा उसकी नाक कटवा दी । नाक काटकर सौन्दर्यविहीन कर देना—एक स्त्रीके लिये इससे बढ़कर विनाश और क्या हो सकता है ? मानो रामने इस प्रकार रावणत्वको चुनौती दी और पहली चौकी कायम की वहाँ ।

खर-दूषण दण्डकारण्यमें आये । उन्होंने भी सीमा पार कर दी; क्योंकि दण्डकारण्य तो मुनियों-ऋषियोंका आश्रम (केन्द्र) था । फिर राक्षसोंका वहाँ क्या काम ? बस, रामने उन दोनोंका वध करके वहाँ दूसरी चौकी कायम की ।

बालिको रामने इसलिये मारा कि बालि है तो बंदरकी जाति जो मनुष्यसे मिलता-जुलता है, इसलिये इसे मनुष्यका काम करना चाहिये, किंतु यह काम करता है राक्षसोंका-सा । दूसरी बात यह कि यहाँका राजा है तो रावणत्वकी सीमा यहाँतक हो गयी है । फिर इसके आगे मैं कैसे जाऊँ ! तुरंत बालिको मारकर राज्य दे दिया सुग्रीवको और अपनी सीमा बना ली वहाँतक । यह तीसरी चौकी श्रीरामचन्द्रने तोड़ी ।

सतीको पतिकी बातमें अविश्वास हुआ तो सीताका रूप धारणकर रामको जाँचने चली । रामने कहा, 'माँ ! अविश्वासके दोषने तुम्हें पिताजीसे विलग कर दिया और तुम अकेली जंगलमें भटक रही हो ।' यह रामका केवल संकेत (टोकना) था सतीके लिये । किंतु वास्तवमें सतीने सीमा पार की, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें दुःख मिला, शंकरजीसे तिरस्कृत हुई और दूसरा शरीर धारण करना पड़ा ।

जगज्जननी जानकीने स्वर्णमृग देखकर रामसे कहा, 'नाथ ! इसकी मृगछाला बहुत सुन्दर होगी, इसलिये शीघ्र जाइये और उसका वध करिये ।' रामने कहा, 'प्रिये ! अबतक मैं प्यारा था, मेरे सिवा संसारमें तुम्हें कुछ नहीं चाहिये था तभी तो अवधका वैभव त्यागकर तुमने मेरे साथ जंगल-पहाड़ोंपर भटकना और पदयात्राके कष्टको वरण किया । किंतु यहाँ तपश्चर्या-भूमिमें आकर तुम्हें सोनेसे मोह हो गया ।' फिर रामने स्वयं मनमें निश्चय किया कि सीताने सीमा पार कर दी है तो इसे सोनेकी लंकामें ही बिठाऊँगा । वहीं मनचाहा सोना ले लेगी—और अपने चल दिये मृगके पीछे-पीछे ।

सीताके आग्रहपर लक्ष्मण रामके पास पहुँच गये, तो रामने कहा, 'तुम आज्ञोल्लङ्घन कर सीमा पार कर आये हो, तो जाओ और देखो, सीता भी आज्ञोल्लङ्घन कर सीमा पार कर गयी होगी ! वास्तवमें सीता भी लक्ष्मणद्वारा खींची सीमा पार कर गयीं । तब रावणने उनका हरण किया और आकाशमार्गसे लेकर चम्पत हो गया ।

उधर रावण कम बुद्धिमान् नहीं था । उसने विचार किया कि जंगल जब तपस्वियोंकी सीमामें आता है तो मुझे भी तपस्वी बनकर ही जंगलमें प्रवेश करना चाहिये । फलतः साधु बनकर आया और सीताका हरण करनेमें सफल हुआ ।

यहाँपर रावण पैशाचिक वृत्तिका होनेपर भी मनुष्यताकी सीमाका बहुत खयाल करता है । सीताका तबतक वह कुछ नहीं करता है जबतक कि सीता लक्ष्मणजी द्वारा खींची सीमा पार नहीं करती हैं । ज्यों ही सीताने सीमाको पार किया,

त्यों ही रावण, जो आया था तो साधु-वेषमें किंतु सीताको हरते समय अपने वास्तविक वेशको दिखाकर ही सीताको हाथ लगाया। केवल इसलिये कि साधु-परम्परामें उसके द्वारा कहीं कलंक न लग जाय! कितना पवित्र और ऊँचा ख्याल था उस नरपिशाचका—मनुष्यताकी सीमा और साधु-वेशके लिये! किंतु आज मनुष्य होकर जो मनुष्यताकी सीमा पार करते हैं और साधुवेशमें समाजको ठगते हैं, उनको क्या कहा जाय?

किंतु रामने कहा कि एक बार साधु बनकर फिर साधारण पुरुष बन जाना ही सीमाके बाहर हो जाना है। पर रावण तो साधुरूप धारण करनेके बाद साधारण पुरुष भी नहीं बन सका, वह एकदम निम्नतम श्रेणीका पिशाच बन गया। रावण परम सीमोल्लङ्घक है, इसलिये उसका वध करना आवश्यक ही नहीं, वरं अति अनिवार्य है! किंतु लंका मेरी सीमाके बाहर है फिर वहाँ कैसे जाऊँ? पहाड़ और जंगलोंको पार करके श्रीरामचन्द्र समुद्र-तटपर पहुँचे। उनसे मिलनेके लिये विभीषण आया। तब कुछ बंदरोंने कहा, 'महाराज! यह भी रावणका गुप्तचर है, कुछ भेद लेनेके लिये ही सीमा पार करके आया होगा!' रामने कहा, 'मित्रभावसे अथवा दास बनकर जो अपनी शरणमें आता है, वह अपनी ही सीमामें आता है, वह सीमोल्लङ्घक नहीं होता है। हर प्रकारसे, यहाँतक कि अपने प्राणको निछावर करके भी शरणागतकी रक्षा करना मनुष्य-धर्म हो जाता है और शत्रुभावसे जो सीमा पार करता है वह सीमोल्लङ्घक होता है। सीमोल्लङ्घकका वध करना परम धर्म होता है। यही मनुष्यताकी कसौटी है जिसे 'धर्म-युद्ध' कहा जाता है।

अब क्या था, रामने तुरंत विभीषणको समुद्रतटपर ही 'लंकेश' कह दिया। यानी उसे लंकाका राजा बना दिया। जब रामका दास 'लंकेश' हो गया, तब लंका भी रामकी सीमामें आ गयी। इस प्रकार रामने लंकामें प्रवेशका अधिकार अपने लिये सम्भव किया। ऐसा किये बिना वे स्वयं सीमोल्लङ्घनके दोषी बन जाते, फलतः रामने अपनी सेनाके साथ लंकामें प्रवेश किया और रावणका सर्वनाश किया।

इन बातोंसे स्पष्ट है कि मनुष्यताके सिद्धान्तोंमें सीमोल्लङ्घन अनुचित तो है ही, असहनीय भी है। और कोई भी जो मनुष्यताका प्रेमी होगा, उसे कभी गवारा नहीं कर सकता।

× × ×

धर्म-युद्धमें अहिंसा और विश्वशान्ति

'अहिंसा, अहिंसा' रट लगानेवाले भारतमें कम नहीं हैं; किंतु चीनके एकदम आक्रमण कर देनेसे कुछ लोग तर्क करने लगे हैं कि अब अहिंसासे कैसे काम चलेगा? तर्क करते हैं वह ठीक है; क्योंकि जब हममेंसे ऋषि जाने लगे तो लोगोंने पूछा, 'महाराज! अब आपलोग जा रहे हैं तो हमारे लिये कौन ऋषि होगा?' तो ऋषियोंने उत्तर दिया, 'तुम अपना ऋषि 'तर्क' को समझो, जबतक कि कोई ऋषि पैदा नहीं होता।' तबसे तर्क ही हमारे लिये ऋषि बन गया है। हम खूब तर्क करने लगे हैं। अब चीनसे लड़ाई लड़नेपर हिंसा तो होगी ही, फिर सर्वोदयवाले अहिंसाके द्वारा विश्व-शान्ति कैसे ला सकेंगे? शान्ति एक वृत्ति है तो अशान्ति दूसरी। पूरे विश्वमें ये दोनों वृत्तियाँ काम करती हैं। तो विश्व-शान्ति वृत्ति एक ओर और विश्व-अशान्ति वृत्ति दूसरी ओर। संसारकी रीति है—सत्साहित्यका लोप होने लगे तो असत्साहित्यका उदय होता है, सद्वृत्ति दबने लगे तो असद्वृत्ति उभड़ने लगती है, अहिंसा-वृत्ति निस्तेज होती है तो हिंसावृत्ति प्रचण्ड रूप धारण करती है। ठीक इसी प्रकार, यदि शान्तिवृत्ति अपना प्रयत्न ठप कर दे तो अशान्तिवृत्ति जोर पकड़ेगी और आजके विज्ञानका सहारा लेकर विश्वके लिये महाप्रलय भी समुपस्थित कर सकती है। इसीलिये, विश्व-कल्याणकी दृष्टिसे शान्तिवृत्तिको बढ़ावा देना हमारा परम धर्म हो जाता है। शान्तिवृत्ति दुनियाँमें बढ़ेगी, तभी अशान्तिवृत्ति दब सकती है। फिर शान्तिवृत्तिके द्वारा क्रमशः विश्व-शान्तिकी स्थापना कर सकना हमारे लिये सम्भव होगा।

कुछ लोग अहिंसाका गलत अर्थ करते हैं। धर्म-युद्धको भी ऐरा-गैरा युद्ध समझकर उसमें हिंसाका तर्क बिठाते हैं। ऐसा तर्क मेरी समझसे अहिंसा और धर्म-युद्ध दोनोंके प्रति अन्याय होगा और मनुष्यता रूठकर इस संसारसे बिदा माँग लेगी। तब अहिंसा कहाँ टिकेगी? अहिंसाका एकमात्र आधार मानवता है। चीनसे लड़ाई न लड़ी जाय

तब अहिंसा, और लड़ाई लड़ी गयी तो हिंसा होगी, ऐसा आप मानते हैं ? लड़ाई नहीं लड़ेंगे तो कायर बनकर निस्तेज हो जायँगे और चीनके डरसे आपको भारत छोड़कर लंका या समुद्रपार आस्ट्रेलियामें जा बसना होगा। यह आपकी अहिंसा नहीं, कायरताका प्रतीक होगा। अरे, अहिंसा तो वीरोंका शस्त्र है, कायरोंका नहीं। जो कायर होगा, भीरु होगा, वह अहिंसा क्या दिखलायेगा ? उसकी अहिंसा तो लाचारीकी अहिंसा होगी। अहिंसा तो वही दिखा सकता है जो शौर्यवान् होगा; धैर्यवान् होगा और सत्यवान् होगा। कोई सर्वशक्तिसम्पन्न है, फिर भी वह दुर्बलोंपर आक्रमण करने और सतानेके बजाय उनपर प्रेम बरसाता है—यह उसकी अहिंसावृत्ति है। और यदि कोई दुर्बलोंपर अकारण हमला करके उनपर विपत्तियोंका पहाड़ ढाहता है तो सर्वशक्तिसम्पन्न मनुष्य उन दुर्बलोंके रक्षार्थ आक्रमणकारीका प्रतीकार करता है। यह प्रतीकार भी उसकी अहिंसावृत्ति ही तो है, किंतु अकारण आक्रमणकारीके विरुद्ध चूँतक नहीं करता, यह उसकी अहिंसावृत्ति नहीं, वरं कायरता और भीरुताकी वृत्ति है।

श्रीरामचन्द्रजीको लीजिये। वे सर्वशक्तिसम्पन्न थे। उन्होंने पैशाचिकताको मिटानेके लिये हजारों राक्षसोंका वध कर डाला। तो क्या वे हिंसक थे ? नहीं, वे अहिंसक ही बने रहे। वाह रे अहिंसा ! धर्म-युद्धके लिये हजारों-हजारोंका वध कर दे, फिर भी तू मौजूद रहती है ! राक्षसोंने अपने अनाचारसे मनुष्यताको चुनौती दी तो श्रीरामचन्द्रजीने रावणत्वके विरुद्ध धर्म-युद्ध करके मनुष्यताको प्रस्थापित किया।

मनुष्यता है प्रकाश, तो पैशाचिकता है अन्धकार; प्रकाश स्तुत्य है, अन्धकार निन्द्य। रामचरितमानसमें इसी प्रकाश और अन्धकारका युद्ध हुआ है। परिणाममें प्रकाशकी विजय हुई और अन्धकारकी पराजय। यह बड़ी अनोखी घटना थी, जिसकी छाप मानव-हृदयपर अमिट है। इसलिये जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाशका लाना श्रेयस्कर है; किंतु प्रकाशपर अन्धकारका आवरण डालनेका मिथ्या प्रयास निम्नतम है। जब कभी ऐसा निम्नतम और निन्द्य प्रयास आरम्भ हुआ कि ब्रह्म अविलम्ब शरीर धारण कर लेता है और मनुष्यतारूपी प्रकाशसे अन्तर-बाहर दोनों ओर युद्ध करके वह अन्धकारका विनाश करता है। यही 'धर्म-युद्ध' है, इसीके लिये ब्रह्म भगवान्‌का अवतार लेता है।

ब्रह्मने एक-दो करके अनेकों बार अवतार धारण किया और हर बार मानवमात्रको मनुष्यताको ही सिखाया। फिर भी हम मनुष्य नहीं बन सके तो इसमें ब्रह्मका क्या दोष ? हमारा ही दोष तो है। हममें ही कमी है, हम अपनी बुद्धि विकसित नहीं कर रहे हैं; हम बुद्धू हैं, तभी तो 'गुरु' ने एक ही पाठ (मनुष्यता) अनेक बार पढ़ाया इसपर भी वह पाठ (मनुष्यता) हम सीख नहीं सके। तो, हमारी कमीसे ब्रह्म फिर अवतरित होगा ? पर यह हमारे लिये महान् लज्जाकी बात होगी।

चीन जो बौद्धकालसे भारतका शिष्य रहा है, वह अब मनुष्यतासे कतराकर गुरुकी कुटिया ही उजाड़नेकी तैयारी कर रहा है। किंतु भारतने आजतक गुरु-दक्षिणामें भी चीनके किसी खण्डको लेनेकी माँग कभी नहीं रक्खी—यह गुरु-शिष्यके कितने महान् और पवित्र सम्बन्ध रखनेका श्रेय भारतको है, किंतु चीनकी पैंतरेबाजी तो देखिये। क्या यही गुरु-शिष्यकी मर्यादा है ? 'गुरु गुड़ रह गये और चेला चीनी हो गये।' यही सीमोल्लङ्घन ही तो मनुष्यताको असहनीय है। चीनियोंने मनुष्यताको छोड़ दी तो पैशाचिकताके सिवा दूसरी कौन-सी वस्तु है जो उनके पास फटकेगी ? इसलिये चीन-भारतका युद्ध मनुष्यता और पैशाचिकताकी लड़ाई है—धर्म-युद्ध है। इसी धर्म-युद्धकी कदर न करनेसे ही हमारा देश सदियोंतक गुलाम रहा। मनुष्यताका कर्तव्य होता है कि वह धर्म-युद्धका आवाहन करे। इस धर्म-युद्धका व्यापक महत्त्व सभी क्षेत्रोंमें है। इसलिये विश्वके समस्त मानव चाहे वे किसी भी धर्म, जाति, पंथ, मार्गके क्यों न हों—मनुष्यताके नाते पैशाचिकताके विरुद्ध खड़ा होना उनका कर्तव्य हो जाता है। किंतु इस दिशामें भारत ही सबसे अग्रणी रहा है, इसलिये भारतके हर नागरिकका परम कर्तव्य होता है कि धर्म-युद्धको सीना खोलकर स्वीकार करे।

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रके समयका दण्डकारण्य तो अयोध्याके दक्षिणमें भरद्वाजके आश्रमसे लेकर अगस्त्य मुनिके आश्रमतक फैला था और दण्डकारण्यके दक्षिण बहुत दूर समुद्रपार थी लंकापुरी। दण्डकारण्यमें रहते थे—ऋषि-मुनि और भालू-बंदर। किंतु लंकापुरीमें वे, जिनकी

प्रवृत्ति मनुष्यसे बिल्कुल विपरीत थी, राक्षस रहते थे । यह बात बहुत पुरानी हो गयी। अब तो लंकामें मनुष्य रहने लगे और इधर दण्डकारण्यमें भी मनुष्योंकी बस्ती हो गयी । तो प्राचीन कालका दण्डकारण्य और लंका दोनों समाप्त हो गये । पहलेकी वृत्तियाँ अब वहाँ नहीं रह गयीं । अब वे वृत्तियाँ स्थानान्तरित होकर अयोध्याके बहुत दूर उत्तरमें हिमालय और चीनमें पहुँच गयीं । आज तपस्याकी भूमि हिमालय हो गया है, और उपद्रव-भूमि बन गया है—चीन देश । जहाँ तपस्वी रहें, वह दण्डकारण्य और जहाँ उपद्रवी रहें वही लंका हो जाता है ।

हमारी सफलता और योग्यता तो इसीमें है कि हम ब्रह्मको नमस्कार करके कह दें कि 'महाराज! अबतक आपने हमारे लिये अनेकों बार अवतार धारण किये—एक ही पाठ (मनुष्यता) अनेकों बार पढ़ाये, उसे हमने अब सीख लिया है—हम मनुष्य बन गये हैं। आधुनिक दण्डकारण्यकी रक्षाके लिये आपका सिखाया हुआ धर्म-युद्ध करके आधुनिक लंकामें हम अब मनुष्य बसायेंगे । आप केवल आशीर्वाद दीजिये ।' तभी ब्रह्म अपनी संतानकी सफलतापर प्रसन्न होगा ।

पाण्डवोंको लीजिये । वे क्या अहिंसक नहीं थे ? वे पूरे-पूरे अहिंसक थे, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं । ये तनिक भी युद्धवृत्ति नहीं रखते थे, किंतु कौरवोंद्वारा लड़ाई उनके सिरपर लादी गयी, तब श्रीकृष्णने पाण्डवोंको गीतापाठ सिखाकर धर्म-युद्ध करनेको प्रेरित किया । धर्म-युद्ध हुआ । सारे कौरव मारे गये । फिर भी पाण्डव अहिंसक-के-अहिंसक बने रहे । इसीलिये उनका यश-गान आजतक होता आ रहा है और जबतक इतिहास कायम है, उनके नामके साथ-साथ धर्म-युद्ध भी मानवको प्रेरणा देता रहेगा ।

ठीक इसी प्रकार भारत युद्ध-वृत्ति नहीं रखता है, किंतु चीनने बिना घोषणाके आक्रमण करके भारतके मस्तकपर युद्ध ला पटका है । साथ-ही-साथ, अपनी सीमा पार करके वह भारतकी सीमामें दाखिल हो गया है । यह बात अलग है कि अभी चीनने यह जाहिर किया है कि शान्तिके हितमें हम अपना आक्रमण रोक ले रहे हैं । अब यह सोचनेकी बात है, कि उसने जो जाहिर किया है वह कहाँतक ठीक है। अक्सर तो विश्वास रखना योग्य होता है, किंतु आजतकका चीनका जो अनुभव भारतको मिला है इससे उसपर विश्वास रखना कठिन हो जाता है । इसी भाँति चीन मनुष्यताकी सीमा लाँघता रहता है । सीमोल्लङ्घन मानवता नहीं दानवता है । तो इस दानवताका प्रतीकार करनेके लिये धर्म-युद्ध करना भारतका परम धर्म हो जाता है । मानवताके रक्षार्थ ऐसे धर्म-युद्धमें विश्वका मानवसमाज भारतके साथ रहेगा, ऐसी मेरी शुभकामना है ।

* * *

प्रभुका बल

जान गया जो भरी हुई हैं दुर्बलता मेरे अंदर।
दूर करूँगा उन्हें तुरत अब मैं प्रभुके बलको पाकर ॥
मैं प्रमाद आलस्य न आने दूँगा कभी तनिक अभिमान।
शक्ति-प्रेरणा-स्फूर्ति सभी सत्ता केवल प्रभुकी ही जान ॥
देखूँगा प्रत्येक कर्म शुभमें मैं प्रभुका ही बस, हाथ।
पल-पलमें नव बल पाऊँगा पाकर प्रभु-चरणोंका साथ ॥
करते हैं सब जगमें जैसे बाह्य वस्तुओंका नित दान।
मुक्त-हस्तसे वैसे ही मैं दूँगा प्रभुका प्रेम महान् ॥
पाकर प्रेम परम प्रभुका फिर होगा सारा जग पावन।
सबमें फिर निर्बाध चलेगी लीला उनकी मनभावन ॥

कैसा साहित्य चाहिये ?

(गोरखपुरमें अनुष्ठित 'निखिल-भारत-बंग-साहित्य-सम्मेलन'के ३८ वें अधिवेशनमें स्वागत-समितिके अध्यक्ष श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारके बंगला स्वागत-भाषणके कुछ भागका अनुवाद)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

समागत परम आदरणीय विद्वद्वृन्द, साहित्य-शिल्पी महानुभाव एवं साहित्यप्रेमीगण !

भगवान् बुद्धके आविर्भाव तथा निर्वाण—दोनों पावन स्थलियोंके अत्यन्त निकट स्थित, योगिराज बाबा गोरखनाथजीकी तपोभूमि गोरखपुर नगरमें अनुष्ठित 'निखिल-भारत-बंग-साहित्य-सम्मेलन'के इस ३८ वें अधिवेशनमें आप सभीका भक्तिविनम्र हृदयसे स्वागत और नमस्कार कर रहा हूँ ।

प्रथमतः वर्तमान काल ही कई दृष्टियोंसे अत्यन्त विकट है । द्वितीयतः आपलोगोंके उपयुक्त सेवा-सत्कार तथा संवर्धनाकी व्यवस्था करनेमें हमलोग कोई योग्यता नहीं रखते । सभी क्षेत्रोंमें हमारी त्रुटि, दैन्य तथा दोष ही वर्तमान हैं । आपलोग अपनी उदारताकी ओर देखकर हमारे दोषों और त्रुटियोंको क्षमा करेंगे तथा इस साहित्य-सम्मेलनकी परम सफलताके लिये प्रचेष्टा करेंगे; यही मेरी प्रार्थना है ।

हमारे कुछ हितैषी मित्रोंने परामर्श दिया था कि इस सम्मेलनको इस समय स्थगित कर दिया जाय; परंतु हमने आपलोगोंके उदारचरित तथा समयोचित श्रेष्ठ विचारशक्तिपर श्रद्धा होनेके कारण निर्णय किया कि यह सम्मेलन देशकी वर्तमानकालीन आवश्यकताके एक पूरकरूपमें ही सिद्ध होगा; अतः स्थगित करनेका कोई कारण नहीं दिखायी दिया ।

साम्यवादके कलङ्कस्वरूप, साम्राज्य-विस्तारवादी, निर्लज्ज तथा विश्वासघातक चीनके बर्बर आक्रमणसे भारत इस समय विपद्ग्रस्त है । जिसको भाई समझकर परम विश्वासके साथ तिब्बतमें पैर जमानेमें भारतने कोई भी बाधा न देकर, प्रकारान्तरसे सहायता की थी, मित्र-भावनासे जिसको संयुक्त राष्ट्रसंघमें प्रतिनिधित्व प्राप्त करानेके लिये भारतने प्रयत्न किया था; उसी चीनने आज भारतकी साधुता तथा शान्तिप्रियताका अनुचित लाभ उठाकर, भीषण आततायी दस्युकी भाँति प्रबल वेगसे भारतमें प्रवेशकर भारतकी पवित्र भूमिको रक्त-रञ्जित करनेमें जरा भी हिचक नहीं की । यह निश्चय ही उसकी आसुरिकताकी पराकाष्ठाका निदर्शन है; परंतु भारत भी एक सनातन सत्य सिद्धान्तका उपयुक्त रूपसे अनुसरण नहीं कर पाया था । शान्तिकी रक्षा तथा शान्तिविस्तारके लिये एक ऐसी प्रचण्ड शक्तिकी आवश्यकता है, जो परस्वापहरणमें प्रवृत्त, हिंसापरायण, दस्युभावापन्न, दुर्दान्त आसुरिक शक्तिको तुरंत प्रतिह तथा विध्वंस करनेमें समर्थ हो । नहीं तो, शान्तिपराय दुर्बलशक्ति दैव-मानवोंको प्रबल भौतिक बलसम्पन्न प्रम आसुरिक शक्तिके द्वारा कम-से-कम एक बार तो हा खानी ही पड़ती है । वर्तमान क्षेत्रमें भी ऐसा ही हु है । चोर धर्मकी बात क्यों सुनने लगा ?

इसके अतिरिक्त एक बात और भी है । स्वतन्त्र प्राप्त करनेके बाद हमलोग बिल्कुल निश्चिन्त होक केवल विकास-योजनाके कार्यमें ही लग गये थे; परं दुर्भाग्यवश उसीके साथ हम द्रुतवेगसे अग्रसर होने ल थे—असंयम, इन्द्रियचरितार्थता, विलास, असदाचा भ्रष्टाचार एवं पारस्परिक द्वेष-कलहके अधर्ममय पतनका कुपथपर । इसीसे हमारे जीवनमें देशकी प्राचीन संस्कृ और स्वभावके विरुद्ध 'कर्तव्य' एवं 'त्याग'के पवित्र आस

पर 'अधिकार' तथा 'अर्थ'ने अधिकार जमा लिया था। इसी कारण हमें सभी ओर 'अधिकार' तथा 'अर्थ'के लोभी आकुल तथा उन्मत्तप्राय लोगोंका प्रचण्ड ताण्डव दिखायी देने लगा था। इसीलिये मङ्गलमय भगवान्की सहज ही सृजन और संहार करनेवाली मङ्गलमयी शक्तिने कृपा कर इस कठोर आघातका आयोजन किया है। वह इस उद्देश्यसे कि भारत फिरसे संयमी, सदाचारी, त्यागसम्पन्न, कर्तव्य तथा धर्मपरायण बन जाय, हमारे तमसाच्छन्न वर्तमान जीवनमें पुनः एक चेतनामयी सात्त्विक जागृति आ जाय। इसीके फलस्वरूप आज भारतकी जीवन-सरितामें सर्वत्र अदम्य उत्साह, उल्लास, कर्तव्यपरता, निर्मल त्याग और पवित्र बलिदानकी एक बड़े जोरकी बाढ़ आ रही है और वह सब तरहके प्रमादके कूड़े-करकटके ढेरको दूरकर, प्रबल वेगसे सम्पूर्ण देशको एक ही लक्ष्यकी ओर बहाकर ले जा रही है; सबको एक बना दिया है। इसीसे आज भारतके सभी सम्प्रदाय, सभी दल, परस्पर-विरोधी सारे भाव-विचारोंको छोड़कर एक मन-बुद्धिसे, एक स्वरसे तथा एक निश्चयसे सब कुछ समर्पितकर, विश्वासघाती चीनको हमारी पवित्र भूमिसे तुरंत बाहर निकाल भगानेके कार्यमें जुट गये हैं। इसीसे उमड़ पड़ी हैं—करोड़ों-करोड़ों रुपयोंकी थैलियाँ और सोनेके ढेर-के-ढेर भारत-जननीके चरणकमलोंमें समर्पित होकर धन्य होनेके लिये; और दौड़ पड़े हैं लाखों-लाखों मौतके दीवाने जवान स्वेच्छासे, सहर्ष, हँसते-हँसते रणाङ्गणमें अपने प्राण विसर्जनकर माताका मुख उज्ज्वल करनेके लिये!

भारत सदा ही अपने सहज स्वभावसे सर्वभूतहितमें रत रहा है। भारतने कभी भी, किसीकी भी, अमङ्गल-कामना नहीं की है। अकल्याण और अमङ्गलकी कामना उसकी संस्कृतिके प्रतिकूल है। जो अखिल विश्व-ब्रह्माण्डमें सर्वत्र सर्वदा एक परमात्माको अनुस्यूत देखता है, वह किसीका किसी तरह भी, कैसे तो अहित सोच सकता है और कैसे अहित कर सकता है! हाँ, जिस प्रकार हमारे शरीरके प्रत्येक अङ्गमें समान आत्मभाव रहनेपर भी, तथा प्रत्येक अङ्गका सुख तथा हित इच्छित होनेपर भी यदि कोई एक अङ्ग सड़-गल जाय, मवादसे भर जाय और उसके कारण कहीं सारे शरीरमें जहर फैल जानेकी आशङ्का हो जाय, तो उस समय हम अपने शरीरके हितके लिये ही उस अङ्गका ऑपरेशन करवाकर उसे कटवा देनेकी चेष्टा करते हैं। वैसे ही, यदि समष्टि-शरीरका कोई अङ्ग सड़-गलकर विषमय हो जाता है तो समष्टिके हितके लिये उसका भी 'ऑपरेशन' करना आवश्यक हो जाता है। इसमें हिंसा नहीं है। विशुद्ध अहिंसाकी प्रतिष्ठाके लिये ही इस निर्दोष हिंसाका आश्रय ग्रहण किया जाता है। अहिंसा आचारधर्मका एक उत्कृष्ट गुण है, अभावात्मक निष्क्रियता नहीं। इसी कारण आत्मदृष्टिसे अपना अङ्ग होनेपर भी आज चीनका सफल ऑपरेशन आवश्यक हो गया है। यह हमारी सर्वभूत-हितकी कामनाके अन्तर्गत ही एक राग-द्वेषविहीन पवित्र कार्य है। श्रीभगवान्ने अर्जुनसे कहा था—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'अध्यात्मचित्तसे सारे कर्मोंको मुझमें निक्षेप करते रहो तथा आशा-ममता-कामज्वरको त्यागकर युद्ध करते रहो।'

श्रीभगवान्ने और भी कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः ……………………।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य ……………………।

सर्वकालमें भगवान्को स्मरण रखते हुए मन-बुद्धिको भगवान्में समर्पित करके राग-द्वेषरहित मानससे

श्रीभगवान्‌की पूजाकी भावनासे युद्ध करनेपर वह युद्ध भी श्रीभगवान्‌की अर्चना बन जाता है ।

इस प्रकारकी श्रीभगवान्‌की पूजाके लिये अनुष्ठित आशा-ममता-कामना-शून्य युद्ध ही धर्मयुद्ध है ।

इसी भगवत्पूजारूप धर्मयुद्धमें सर्वतोभावसे समर्पित होकर, जिससे हमारे जीवन धन्य हो सकें,——इसी ओर लक्ष्य रखकर पवित्र और उद्‌बोधक साहित्यका सृजन करना वर्तमानमें समस्त साहित्यिक मनीषियोंका कर्तव्य है ।

सत्साहित्य ही वास्तविक 'साहित्य' पदवाच्य है । केवल भाषाको साहित्य नहीं कहा जाता । भाषा तो साहित्यका माध्यममात्र है । जो साहित्य विभिन्न क्षेत्रोंमें समान भावसे सभीको कल्याण-मार्गपर चलनेके लिये प्रेरणा देता है, सभीका कल्याण करता है, वही सत्साहित्य है । सत्साहित्य मानवको श्रेयकी ओर ले जानेके लिये विभिन्न रूपोंमें आत्मप्रकाश करता है तथा मानवको सदा श्रेयके मार्गपर ही आगे बढ़ाता रहता है । जिस समय देश किसी आभ्यन्तरिक अथवा बाह्य आसुरी शक्तिके द्वारा आक्रान्त होता है, उस समय उस आसुरी शक्तिके तत्काल विध्वंस-साधनसे ही सबका श्रेय सम्पन्न हो सकता है । इसी कारण आज भारतमें एक अभिनव जागृति आ गयी है और साहित्यिक मनीषियोंने ऐसे शौर्य-वीर्यपूर्ण साहित्यका सृजन आरम्भ कर दिया है, जिससे देशका सम्पूर्ण जन-समूह, आबाल-वृद्ध-वनिता सभी अपने-अपने क्षेत्रमें देशके निमित्त जीवन उत्सर्ग करनेके लिये अनुप्राणित हो रहे हैं । आज वे शान्तिकालके विलास-कलापूर्ण संगीतका त्याग करके परम शाश्वत सुधामयी शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्रचण्ड रणभेरीका दिग्भेदी सुर बजाने लगे हैं ।

हमारा बंगला-साहित्य-जगत् चिरकालसे इस क्षेत्रमें यशस्वी है——यह सर्वजनविदित है । भारतमाताको परतन्त्रताकी कठिन शृङ्खलासे मुक्त करनेके लिये बंगला-साहित्यके आदरणीय मनीषी ऋषि बंकिमचन्द्रने उपन्यासके नामपर मुक्तिमन्त्रका शङ्ख फूँका था । उनके 'आनन्दमठ' में सन्तानदलद्वारा गाये गये विश्वविख्यात 'वन्देमातरम्' राष्ट्रगीतसे उस समय आसेतु हिमाचल——समग्र देश मतवाला हो उठा था——आत्मबलिदान देकर भारतमाताकी मुक्तिके लिये । मैं कभी नहीं भूल सकूँगा, विप्लवयुगके बंगला साप्ताहिक 'युगान्तर'की अग्निमयी भाषाको, जिसकी पंक्ति-पंक्तिमें, शब्द-शब्दमें भरी रहती थी——मरणोन्मादकी दुर्दमनीय अनुप्रेरणा ।

> **ज्वलुक ज्वलुक विप्लवबलि नगरे नगरे ।**
> **भस्म होक् राक्षसेर स्वर्ण लंकापुरी ॥**
> **(नगर-नगरमें जल उठे विप्लववह्नि विशाल ।**
> **राक्षसकी लङ्कापुरी होय भस्म तत्काल ॥)**

उस युगके बंगला-साहित्यने देशके महान् बलिदान-यज्ञमें जो अभूतपूर्व अनुदान दिया है, उसकी तुलना और कहीं नहीं मिलेगी ।

परंतु भावके साथ विवेकका योग बहुत आवश्यक है——जोशके साथ होशकी जरूरत है । साहित्यमें भी भाव-प्रेरणाके साथ-साथ विवेकपूर्ण प्रेरणा भी परमावश्यक है, जिससे भावकी उछालमें कोई ऐसा काम न बन जाय जो न करने योग्य हो । एक प्रकारका संयम बना रहे; तथा प्रयोजनके अनुसार भावकी सरिता भी सदाके लिये बहती रहे । कालविशेषकी आवश्यकताका सामयिक उत्तेजनामय भाव स्वभावरूपमें परिणत नहीं हो जाना चाहिये । स्वभाव बन जानेपर फिर बाह्य शत्रुके अभावमें अपना घर ही समरक्षेत्र बन जा सकता है । आशा है, हमारे परम आदरणीय निपुण साहित्यिक महारथीवृन्द इस क्षेत्रमें विशेष रूपसे यशोलाभ करेंगे । × × ×

भारतीय संस्कृतिमें पशु-पक्षियोंका महत्त्व

[पशु-पक्षियोंकी हत्या महान् अपराध और पाप]

(लेखक—श्रीइन्द्रलालजी शास्त्री, विद्यालंकार)

भारतवर्षकी जो सम्पत्तियाँ और निधियाँ हैं उनमें पशु-पक्षियोंका स्थान भी पर्याप्त ऊँचा है । इस सम्पत्तिकी दृष्टिसे भारत अन्य देशोंसे बहुत अधिक समृद्ध है । कहा जाता है कि सारे विश्वमें जितने पशु हैं, उनका चतुर्थांश केवल भारतमें है । भारतमें ५०० प्रकारके स्तनीन वर्गके पशु पाये जाते हैं । भारत अपनी इस सम्पत्ति या धरोहरकी रक्षा **'अहिंसा परमो धर्मः'** इस सिद्धान्तके आधारपर ही करता रहा है ।

वैदिक सनातन धर्ममें पशुओंकी पूजा भी होती आयी है । जैसे दशहरे (विजयादशमी) पर घोड़ेका पूजन, गोवर्धन-पर्वपर गाय-बैलका पूजन और नागपञ्चमी-पर्वपर साँपोंकी पूजा की जाती है । प्रातःकाल नकुल (नेवले) के दर्शनको महान् मङ्गलकारी और विजयादशमीके दिन नीलकण्ठके दर्शन कर लेना शुभ शकुन माना जाता है । शिवरात्रिपर नन्दी (बैल) की पूजा की जाती है ।

प्रातःकाल हाथीके दर्शन करना महान् मङ्गलकारी माना जाता है । 'यशस्तिलकचम्पू' नामक जैन महाकाव्यमें हाथीको परमेष्ठी-पुत्र बतलाया गया है और जो प्रातःकाल उठते ही हाथीको देखता है और उसकी पूजा (सत्कार) करता है उसके सारे विघ्नोंका नष्ट हो जाना तक बतलाया गया है ।

अथ प्रभाते परमेष्ठिनन्दनान्समर्च्य पश्यन् करिणो नरेन्द्रः ।
दुःस्वप्नदुष्टग्रहनष्टचेष्टाः प्रयान्ति नाशं सहसा नृपस्य ॥

(यशस्तिलकचम्पू, पूर्वखण्ड)

अपने-अपने गृहद्वारोंपर हाथी-घोड़ोंके चित्र लिखवाना इसी मङ्गलदायक सूचनाका स्रोत है ।

सनातन वैदिक धर्ममें अनेक देवी-देवताओंके वाहन पशु-पक्षी ही बतलाये गये हैं । जैसे शीतलाका वाहन गर्दभ, गणेशजीका वाहन मूषिक, ब्रह्माजीका हंस, विष्णुका गरुड़, महादेवका बैल, कार्तिकेयका मयूर, इन्द्रका ऐरावत हाथी, लक्ष्मीका उलूक, महाकालीका सिंह । इस तथ्यसे भी पशु-पक्षियोंका महत्त्व भारतीय संस्कृतिमें पर्याप्त है ।

राष्ट्रपिता कहे जानेवाले स्व० महात्मा गांधीजीका प्रिय पशु बकरी रहा है । वे बकरीका ही दूध पीते थे और उसे बहुत प्यार करते थे ।

जैन-धर्ममें २४ तीर्थङ्कर माने जाते हैं । इन चौबीसमें आधेसे अधिक तीर्थङ्करोंकी पहचानके लिये चिह्न पशु-पक्षियोंके ही हैं । कहा जाता है कि जब तीर्थङ्कर भगवान् जन्म लेते हैं तब सौधर्म स्वर्गका इन्द्र स्वर्गसे उतर भगवान्के दर्शनके लिये आता है और सबसे पहले अङ्गुष्ठ देखता है । उस अङ्गुष्ठमें जो चिह्न उसे दीखता है वही चिह्न उन भगवान्का माना जाता है । जैसे ऋषभदेव भगवान्के बैलका, अजितनाथ तीर्थङ्कर भगवान्के हाथीका, सम्भवनाथ भगवान्के घोड़ेका, अभिनन्दननाथ स्वामीके बंदरका, कुंथुनाथ स्वामीके बकरेका, भगवान् महावीर स्वामीके सिंहका चिह्न है । और भी अनेक तीर्थङ्कर भगवान्के विविध पशु-पक्षियोंके चिह्न हैं । तीर्थङ्कर भगवान्का अभिषेक-पूजन करते समय इनका भी पूजन अभिषेकादि हो जाना स्वाभाविक है ।

भगवान्को इन्द्र प्रसूतिस्नान करानेके लिये जब पांडुक-शिलापर ले जाता है तब ऐरावत हाथीपर ही बिठाकर ले जाता है । धरणेन्द्र (सर्प) ने भगवान् पार्श्वनाथपर आये हुए उपसर्गको भक्तिवश दूर किया था । भगवान् पार्श्वनाथके चिह्न भी सर्पका ही है । इस दृष्टिसे भी पशु-पक्षियोंका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है । शान्तिनाथ स्वामीके हरिणका चिह्न है ।

हरिषेणबृहत्कथाकोशमें लिखा है—

यतिराजवाजिकुञ्जरगोमयवरकुम्भवृषवरा ह्येते ।
आगमने निष्क्रमणे सिद्धिकराः सर्वकार्येषु ॥

गमन और प्रवेशके समय यदि सामने मुनि, राजा, घोड़ा, हाथी, गोबर, कलश और बैल दीख पड़ें अर्थात् ये सामने आ जायँ तो जिस कार्यके लिये गमनागमन किया जाय, वह सिद्ध हो जाता है ।

इसी ग्रन्थमें और भी लिखा है—

श्रमणस्तुरगो राजा मयूरः कुञ्जरो वृषः ।
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा सर्वे सिद्धिकराः स्मृताः ॥

श्रमण, (पवित्र 'साधु'), घोड़ा, राजा, मोर,

हाथी, बैल—ये प्रस्थान और प्रवेशमें सामने आ जायँ तो सिद्धिकारक होते हैं।

और भी—

ज्ञानी च योगी च तपोधनश्च
शूरोऽथ राजाथ सहस्रदश्च ।
ध्यानी च मौनी च तथा शतायुः
संदर्शनादेव धुनन्ति पापम् ॥

ज्ञानी—विद्वान्, योगी (साधु-संत), तपस्वी, शूरवीर, राजा, हजारोंका दान देनेवाला, ध्यानी, मौन धारण करनेवाला और सौ वर्षकी आयुवाला—इनके दर्शनमात्रसे ही पाप नष्ट हो जाते हैं अर्थात् ये सब दर्शनमात्रसे ही पापको नष्ट करनेवाले हैं।

इस शकुन अथवा निमित्तशास्त्रसे भी पशु-पक्षियोंका महत्त्व, उपयोगिता, मङ्गलकारण आदि सुस्पष्ट है । जब भारत-जैसे देशमें उसके सत्ताधारियोंद्वारा इन पशु-पक्षियोंको मार डालने—खाने, पकाने, पीड़ा देनेके समाचार सामने आते हैं, इनको मारने-काटनेके लिये बड़े-बड़े कसाईखानोंका संचालन और नव संस्थापन सुना जाता है तब महान् दुःख होता है और चिन्ता होती है कि भारत आगे होकर अपनी सम्पत्ति और निधिको नष्ट कर रहा है। वास्तवमें तथ्य यह है कि इन सत्ताधारियोंको भारतीय शास्त्रों, भारतीय संस्कृति, भारतीय महत्त्व, आध्यात्मिक रहस्य और परम धर्म अहिंसाका जरा-सा भी ज्ञान नहीं है। यदि है तो उसपर विश्वास नहीं है। यदि उक्त चीजोंका ज्ञान और उसपर विश्वास होता तो भारत सब देशोंका इस समय भी पूज्य और शिरोमणि निःसंदेह माना जाता।

यद्यपि भारतमें वास्तविक साधु-संतोंकी बहुत कमी है तो भी इस समय यत्र-तत्र पाये जाते हैं। उनके सद्भाव और प्रभावसे यदि भारतीय जनताकी उनपर आस्था रही तो चीन भारतका बाल भी बाँका न कर सकेगा। भारतीय जनताका कर्तव्य है कि पशु-पक्षियोंकी हिंसासे विरक्त होकर वास्तविक, सच्चे तपस्वी साधु-संतोंके प्रति भक्ति रखते हुए चीन शत्रुको खदेड़नेमें तन-मन-धनसे पूरा-पूरा सहयोग दें। सारे संकट पापोंके फल हैं। इसीलिये नये पापोंका समावेश न होने दें और पुराने पापोंकी निर्जरा की जाय। तभी यह संकट दूर होगा। सापराध चीन या अन्य शत्रुके मारनेमें हिंसा नहीं, परंतु निरपराध मूक हितैषी प्राणियोंको मारनेमें तो हिंसा ही है।

ज्यौतिषशास्त्रकी बारह राशियोंमें मेष (भेड़ा), वृष (बैल), कर्क (केकड़ा), सिंह, वृश्चिक (बिच्छू), मीन (मछली) और मकर (मगरमच्छ)—इन सात राशियों या नक्षत्रोंके नाम पशु-पक्षियों-जैसे और इनके आकार भी वैसे ही हैं। इन राशियोंके स्वामी ही ग्रह और दो उपग्रह (राहु-केतु) हैं। जब हम इनको मारेंगे तो इन ग्रहों-उपग्रहोंका नाराज हो जाना और दुःख देना स्पष्ट है। अतः किसी भी प्राणीको मारनेका संकल्पतक भी नहीं करना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णको गोपाल कहते हैं । बहुत-से लोग अपने पुत्र-पुत्रियोंका नाम गोपाल रखते हैं। गौका अर्थ गाय ही नहीं है; किंतु चलने-फिरनेवाला प्राणी है। 'गच्छतीति गौः' जो चले-फिरे सो गौ । इस प्रकार गौ शब्दका अर्थ समस्त त्रसप्राणी है। किसी भी त्रसप्राणीको न सतानेवाला ही गोपाल हो सकता है। गोपाल नाम रखना भगवान् श्रीकृष्णका प्रतीक है। भगवान् श्रीकृष्ण प्राणीमात्रके रक्षक थे। श्रीकृष्ण, विष्णुके ही रूप हैं। विष्णुका अर्थ व्यापक है। आत्मा सभी प्राणियोंमें होनेसे व्यापक है। इसीलिये जो वैष्णव होते हैं वे किसीकी हिंसा नहीं करते, मांसाहारी भी नहीं होते।

और स्थानोंका तो पता नहीं । राजस्थानके अनेक प्रान्तोंमें मकानको अधिकतर 'गुवाडी' कहा जाता है। गुवाडीका शुद्धरूप 'गोवाडी' है । अर्थात् जहाँ गाय-भैंस, बकरी-बकरे, भेड़ आदि भी मनुष्योंके साथ ही रहते हों। वास्तवमें मानवजीवन पशुजीवनपर ही आधारित है।

कबूतरोंकी हवा लगनेसे क्षयरोग दूर हो जाता है। इसीलिये धार्मिक लोग कबूतरोंको चुग्गा डालते हैं; परंतु छोटे दिलवाले गर्हणीय स्वार्थी कहते हैं कि कबूतर आदि पक्षी हमारा अन्न खा जाते हैं, अतः इन्हें मार डालना देशहित है । जो कबूतर शान्ति और संवादका दूततक प्रसिद्ध है, क्षय रोगका नाशक है और भी उसके अनेक उपकार हैं, वह दो-चार अनाजके दानोंसे अपना पेट भर ले, उसका यह बदला कि उसे जानसे मार दिया जाय। कितनी कृतघ्नताकी पराकाष्ठा है !

भारतीय संस्कृतिमें प्राणीमात्रके संरक्षणकी यत्र-कुत्र आज भी प्रणाली प्रचलित है। जैसे चींटियोंको चून, मछलियोंको आटेकी गोलियाँ, गायोंको ग्रास एवं घास, चीलोंको पकौड़ी-बड़े, कुत्तोंको रोटी और तो क्या साँपोंतकको

दूध पिलाया जाता है । श्राद्धोंके दिनोंमें तो कौओंको भी खूब खिलाया जाता है ।

राजा दिलीपके द्वारा नन्दिनी गायकी रक्षाके लिये सिंहके सामने अपना शरीर भी अर्पण करना प्रसिद्ध है । बाज (इन्द्रका रूप) जब मयूर (अग्निके रूप) को खाने आया तो राजा शिविने मयूरके प्राण बचाकर बाजको उसकी क्षुधापूर्तिके लिये अपना शरीराङ्ग काटकर देना उचित समझा ।

शरीरकी सुन्दरताके लिये भी पक्षियोंके अङ्गोंकी उपमा दी जाती है । जैसे नारीके चञ्चल नेत्रोंको हरिणके नेत्रोंकी उपमा दी जाती है । कटिको सिंहकी कटिकी उपमा दी जाती है ।

स्वामिभक्तिमें कुत्तेकी, चेष्टामें कौएकी, ध्यानमें बगुलेकी सदृशताको अच्छा समझा जाता है । कालिदासके अभिज्ञान-शाकुन्तल आदि ग्रन्थोंसे विदित होता है कि ऋषियोंके आश्रममें अभयारण्य भी होते थे । जहाँ किसी पशु-पक्षीको कोई नहीं मार सकता था और सारे पशु-पक्षी आनन्दसे रहते थे । यदि कोई पशु उन्मत्त या निर्दयी होकर अन्य पशु-पक्षियोंको सताता था तो उसे भी अभयारण्यसे बाहर लाकर ही दण्ड दिया जाता था, जिससे अन्य पशु-पक्षी भयभीत न हों ।

उत्तरी भारतमें ईसासे ३०० वर्ष पहले सम्राट् अशोकका राज्य था । तब शिकार खेलनेका पूर्ण निषेध था । आजके राष्ट्रध्वजमें अशोकचक्रका प्रतीक चक्रचिह्न होते हुए भी राज्यस्तरपर कसाईखाने चलें और नये-नये खुलें, यह अशोकचक्रका अपमान या उसके साथ विश्वासघात भी है । उस समय राजाज्ञाके अनुसार वनोंमें स्वार्थवश या अज्ञानतासे या प्रमादवश आग लगाना दण्डनीय अपराध माना जाता था । आज तो हर कोई सिगरेट पीकर दियासलाई डाल देता है और आग लग जाती है । जिसका कारण हमारे कहने और दिखानेमें तो अहिंसा है; परंतु कृतिमें नहीं है ।

मुगल बादशाह शिकारके बड़े शौकीन थे, तो भी उनके समयमें वन्य जीवोंका संरक्षण होता था; परंतु अब तो हाथीतक मार दिये जाते हैं । अकबर सम्राट्ने हजारों चीते पाल रक्खे थे । अब शेर-चीते वनोंमें भी नहीं रहे । सबको मार दिया गया । भारतमें अंग्रेज आये, आबादी बढ़ने लगी । भूमिकी आवश्यकता हुई । वनोंको नगर बनानेके लिये पशुओंका विध्वंस होने लगा । कुछ लोग आखेट कर इनको मारने लगे । काठियावाड़में एक बड़े अंग्रेजने ८० शेर मारे—एक ही दिनमें १० मारे । इन शेरोंको मारनेके लिये सैकड़ों-हजारों पशु मारे गये; क्योंकि शेरको बुलानेके लिये बकरे-भैंसे आदि आनेके स्थानपर बाँध दिये जाते हैं ताकि उस लोभसे वे आ जायँ और पीछे उनको गोली मारी जा सके ।

यदि हम इन वन्य जीवोंकी हत्याकी ओर भी नजर ओझल कर लें तो भी निरपराध पशु-पक्षियोंके मारने-काटनेकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं है । ये प्राकृतिक खाद्य पदार्थ भी नहीं हैं । इनके रहनेसे खाद्य-उत्पादन बढ़ता है । पोषक तत्त्व घी, दूध, दही, मक्खन इन्हींसे मिलते हैं। हमारे पूर्वजोंने इनका महत्त्व समझा है; उनके ये सहयोगी रहे हैं—हमारे भी हैं ।

सत्ताधीशोंका कहना है कि सारे विश्वमें जितने पशु हैं उनका चतुर्थांश केवल भारतमें हैं; इसलिये इनसे खाद्य-समस्या हल करनी चाहिये । प्रथम तो यह कहना ही असंदिग्ध प्रतीत नहीं होता कि भारतमें इतने पशु हैं । यदि हैं तो दूध एक रुपयेका एक सेर क्यों मिलता है ? घी सात रुपये सेर क्यों है ? जब दूध-घी आदिकी इतनी कमी है तो इनकी संख्याको मार-काटकर और भी घटाना मूर्खता और वज्रपाप तथा अपराध नहीं है तो और क्या है ? यह भी कहा जाता है कि इस देशकी गाय औसतन २०० सेर, भैंस ६०० सेर प्रति वर्ष दूध देती है जब कि इंगलैंडकी गाय-भैंस उन्नीस गुना देती है । यह कहकर भी इनकी अनुपयोगिता बतलाकर जो दो सौ सेर और ६ सौ सेर देती हैं उनको भी सर्वथा नष्ट करनेके लिये उनकी हत्या की जाती है जब कि चारा, घास, खल आदिकी प्रचुरतासे उत्पादन बढ़ाना चाहिये । ध्येय बतलाया जाता है उत्पादन बढ़ाना और नष्ट कर देना उत्पादनके साधनको । क्या यह बुद्धिमानी है ?

अब तो ऐसे कसाईखाने खोलनेकी योजना भी कार्याधीन है जिससे ६५०० पशु छः घंटेमें ही कट जायँ । चीनके साथ संघर्षका समय है । इसमें उत्पादन बढ़ानेकी तीव्रतम आवश्यकता है । परंतु कसाईखानोंसे तो घी, दूध, दही, अन्न आदि सभीका उत्पादन घटेगा । इसलिये भारत सरकारको चाहिये कि कसाईखानोंकी योजना बंद कर दे और जो कसाईखाने चल रहे हैं उनको भी शीघ्रातिशीघ्र बंद कर दे ।

यह आशंका व्यर्थ है कि पशु बढ़ गये तो क्या खायँगे। पशु अन्न नहीं खाते, वे घास खाते हैं। अन्नसे पाँचगुना घास (कड़वी खाखला आदि) अन्नके साथ ही पैदा हो जाता है। अलग घास भी होता है। पाला परिश्रमके बिना ही पैदा हो जाता है। इसलिये पशुओंके लिये अलग खाद्यकी चिन्ता करना अनावश्यक है। पक्षी भी पत्ते आदि ही खा लेते हैं। इसपर भी इन्हें घटाना है तो इनमें परिवार-नियोजन किया जा सकता है। आवश्यकतासे अधिक नर-मादाओंको अलग रखनेकी व्यवस्था करना कठिन नहीं है। यह प्रश्न हो कि इससे तो काटकर खा लेना ही लाभकारी होगा—परंतु यह भौतिक लाभ मानवताका घातक है, भारतकी आध्यात्मिकताका विनाशक है और कृतघ्नताका द्योतक है। सारे जीवन किसीसे लाभ उठाकर अन्तमें उसे मार-काटकर खा जाना घोर कृतघ्नता, पाप और अपराध है और उन प्राणियोंका अप्रतीकार अभिशाप लेना है। जिन्हें पालना उन्हें ही खा जाना, कितना अनैतिक कार्य है!

जो पशु-पक्षी हमारे देव-देवताओंके वाहन हों, चिह्न हों, नर-नारियोंके शरीरके उपमान हों, नक्षत्ररूप हों, एवं और भी अनेक प्रकारसे सम्मान्य और विधेय हों, और तो क्या जिनकी पूजातक होती हो,—वे किसी भी दशामें वध्य नहीं हो सकते और न भक्ष्य ही हो सकते हैं। पशु-पक्षियोंकी जीवनरक्षाका धार्मिक दृष्टिसे ही उपयोग नहीं है किंतु खाद्य-समस्याकी दृष्टिसे भी बड़ा भारी उपयोग है। पशु-जीवन मानवजीवनका बड़ा भारी सहयोगी है। पशुजीवन कृषिद्वारा उत्पादनके सम्बन्धमें परावलम्बन और परतन्त्रताको मिटानेवाला है। प्रत्येक दृष्टिकोणसे पशु-पक्षियोंका संरक्षण ही उचित है। उनका वध और उसके लिये कसाईखाने चलाना असीम देश-द्रोह और भारतीय संस्कृति-द्रोह भी है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य

(लेखक—डॉ० कैलाशनाथजी मिश्र, एम्० डी०, एम्० वी० एच्‌ए०)

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥
(श्रीमद्भागवत ११।२९।३४)

'मनुष्य जब सब कर्मोंको छोड़कर, मुझमें ही आत्माको अर्पण कर मेरी ही आराधनाकी इच्छासे सब कुछ करता है, तब वह जीवन्मुक्त होकर मेरे ही सदृश ऐश्वर्यका अधिकारी हो जाता है।'

योगीश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यह वाणी बार-बार पुकार-कर कह रही है, 'तू अपना सब कुछ मुझे दे दे—मैं तुझे प्राप्त हूँगा।' पर हाय रे मनुष्यका अपना अहं! जो उस सर्वस्वके प्रति अपना समर्पण नहीं होने देता। उस परम प्रीतमकी एक झलक भी इसके कारण देखनी नसीब नहीं। और तभी तो—

काबा बुतखाना कलेसा कौमेआ,
ढूँढ़ता दर-दर कि तेरा घर मिले।
कुछ न पूछो कैसी नफ़रत हमसे है,
हम हैं जबतक वह हमें क्योंकर मिले॥

कबीरने भी कहा—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि।

और इसी प्रकार अंग्रेजीका एक कवि भी कहता है—

When shall I be free?
When "I" shall cease to be.

तो इस अहंके नाशसे या इसकी विस्मृतिसे ही क्या उस महानन्दकी प्राप्ति होगी? उस परम प्रीतमका दर्शन होगा? पर यह तो सांसारिक सम्बन्धोंमें भी स्पष्ट है। प्रेमकी प्रगाढ़ताके साथ-ही-साथ अपना स्वार्थ, अपना अहं, अपने व्यक्तित्व, कुल तथा सर्वस्वका अभिमान समाप्त होता जाता है और यह समाप्त होना जितना ही अधिक होगा, प्रेम उतना ही तीव्र होगा और उस प्रेमका आनन्द तो प्रेमी ही जान सकता है; क्योंकि **'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।'** सम्भोगकी चरम स्थितिमें लज्जा, घृणा, क्रोध, अहं क्या शेष रह जाता है? और जितने ही अंशोंमें ये भाव निःशेष होते हैं, वह क्षणिक आनन्द उसी

मात्रामें अधिक होता है या यों कहिये कि आनन्दकी उस चरम स्थितिमें ये भाव भी उसीके विपरीत समाप्तप्राय होते हैं। उस समय यही अहं घृणा, द्वेष इत्यादि दुर्भावनाओंका पुतला अपने प्रीतमसे एकाकार होनेकी परम चेष्टामें रत रहता है और फलस्वरूप आनन्दकी प्राप्ति होती है। यदि इस वासना-पूर्तिके समय ये भाव भी उपस्थित रहें तो क्या आनन्दकी प्राप्ति होगी ? सम्भवतः नहीं। यह तो इन भावोंकी कमनीयता या उग्रतापर निर्भर है। इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि आनन्दकी प्राप्तिमें ये भाव बाधक हैं। वहाँ तो सम्पूर्ण समर्पण और विस्मृति होनी चाहिये; पर ये सांसारिक सुख हैं ही कितनी देरके लिये ? कीट्सके सुनिये—

At a touch sweet pleasure melteth.
Like unto bubbles when rain pelteth.

—तो जब यह आनन्द क्षणिक है तब (और वास्तवमें जो है ही नहीं) इसमें आनन्द कहाँ ? इसमें तो इसका नाश छिपा है और नाश होनेपर दुःखकी प्राप्ति भी अवश्यम्भावी है और इसीलिये एकमात्र उस विश्वात्माके प्रति प्रेम और समर्पणका अनन्त, अपार आनन्द ही श्रेष्ठ और वरणीय है।

इस जड-जगत्में यह काम कितना निष्कृष्ट समझा जाता है; पर यदि यही काम जडविषयक न होकर भगवद्विषयक हो जाय तो उत्कृष्ट हो जाता है। पर यह जड जगत् है क्या ? तो कहते हैं यह भगवान्‌की छाया है जो मायाके दर्पणमें प्रतिफलित हुआ है। नन्ददासजीके शब्दोंमें—

'या जगकी परछाँह री माया दरपन बीच।'

अब अगर दर्पणमेंकी छायाको हम देखें तो स्पष्ट ही होगा कि यह उल्टी पड़ती है। जो चीज ऊपर होती है वह नीचे और जो नीचे होती है वह ऊपर दिखायी पड़ती है। यही स्थिति रतिकी भी हुई। जो जड-जगत्में सबसे नीचे है, वही भगवद्विषयक होनेपर सबसे ऊपर हो जाता है। तो यही प्रेम और समर्पण जब उस परम प्रीतमके लिये होता है तब वह स्वयं हमें ऊपर उठाकर अपने हृदयसे लगा लेता है। पर जरूरत है कि हम अपने सम्पूर्ण अस्तित्वको उसे समर्पित कर दें और कहें—

Come to my heart, and see your face in the tears of my eyes.

उसीके प्रेमातिरेकमें अपनी खुदीको भुला दें—

बेख़ुदी छा जाय ऐसी दिलसे मिट जावे ख़ुदी;
उनके मिलनेका तरीक़ा अपने खो जानेमें है॥

और जब यह स्थिति हो जायगी, तब तो सर्वत्र ही उस प्रीतमके दर्शन होंगे।

दर दीवार दरपन भये, जित चितवौं तित तोंहि,
काँकर, पाथर, ठीकरी भये आरसी मोंहि॥

पर कहाँ ! कहाँ है यह चरम स्थिति ? हे मेरे परम प्रीतम ! तू मुझे एक झलक तो दिखा जा। मैं पागल हो जाऊँ, विकल हो जाऊँ और तुझीमें भूलकर 'मीर' की तरह कह सकूँ—

दिखाई दिये यूँ कि बेख़ुद किया
हमें आपसे भी जुदा कर चले।

और कोई पूछे तो होशमें आकर कहूँ—

ओह शोख़ियोंसे जलवा दिखाकर तो चल दिये,
उनकी खबर को जाऊँ कि अपनी खबर को मैं॥

पर नहीं—यह झूठी आत्मप्रवञ्चना कैसी ? हृदय तड़प उठता है। तेरे हृदयमें वह प्रेमकी ज्योति कैसे जलेगी ? अरे मन ! तू अपने अहं और स्वार्थमें खोया है। तूने अपना आपा खोया नहीं, अपना सम्पूर्ण प्रेम उसे दिया ही नहीं, तो उससे उसके प्यारकी अपेक्षा कैसे करता है ? उसने तुझे क्या-क्या नहीं दिया, पर तू उसकी दी हुई वस्तुओंमें, इस सारे विश्वकी विविधताओंमें उलझकर उस देनेवालेको ही भूल बैठा। कितनी कृतघ्नता है। उस देनेवालेकी ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं—वह तुझे कैसे मिलेगा ? हाय ! इस हृदयमें इतनी कृतघ्नता, इतना स्वार्थ, इतना अहंकार कहाँसे आ गया ? प्रेमका स्रोत कैसे सूख गया ? अरे मन !

हर कसे रा नूरे सिद्के इश्क ईं रह के देहद,
सूरते ख़ुरशीद रा अंदर शबे तारी मज़ो।
बर सरे तूरे हवा तंबूरे शहवत मी ज़नी,
इश्के मरदे लंतरानी रा बदां ख़ारी मज़ो॥

इस मार्गमें सत्यका प्रणय किसको प्राप्त हो सकता है ? अँधेरी रातमें सूर्य कैसे प्राप्त हो सकता है ? तू सांसारिक विषयोंमें पड़ा हुआ जीवनके झूठे सुखोंका आनन्द लूट रहा

है—फिर बता, इस बुरी भावनामें रहकर तू सच्चा प्रणयी किस प्रकार बन सकता है ?'

प्रेम ! प्रणय ! कैसा अनोखा शब्द है, कैसी अनुभूति है इसमें ? हाय रे हाय ! इसीलिये कविने लिखा—

प्रेम बराबर जोग नहिं, प्रेम बराबर ध्यान ।
प्रेम भगति बिन साधना, सब ही थोथा ज्ञान ॥

और कबीरने—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
ढाई अच्छर प्रेम के, पढ़ै सो पंडित होय ॥

आह ! इसीलिये तुलसीदासने रामसे वरदान माँगा—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु ॥

किस मनोदशामें तुलसीदासने यह कहा होगा । आँखें डबडबा आयी होंगी, हृदय प्रेममें गद्गद हो उठा होगा, हिचकियाँ बँधी होंगी, उनका सम्पूर्ण अस्तित्व चीत्कार कर उठा होगा—और तभी अन्तस्तलसे ये शब्द निकले होंगे । यह प्रेम क्या क्षणिक था ? क्षणिक है ? नहीं…… नहीं…… और तभी तो मैथिलकोकिल विद्यापतिने लिखा—

'सोइ परीति अनुराग बखानिबे तिल-तिल नूतुन होइ ।'

और उस रूपको निहारते, उस आनन्दमें डूबे उन्हें कभी तृप्ति ही नहीं हुई—प्यास बढ़ती ही गयी ।

जनम अवधि हम रूप निहारल नयन ना तिरपित भैल ।'

अरे अहंकारी ! सांसारिक प्रेम ही देखना है तो दीपक और पतंगेका प्रेम देख ! पतंगा लाख रुपयेके फानूसको नहीं देखता, वह नन्हे-से दीपकको ही अपना सर्वस्व देता है । यह आवाज़ सुन—

खाके परवाने से आती ये सदायें पैहम ,
ज़िंदगी है दिले दिलवर में फ़नां हो जाना ।

मनुष्योंमें लैला और मजनूँका प्रेम देख ।

लैलाके वियोगकी तीव्रतामें जब मजनूँके शरीरपर दाने निकल आते हैं और फ़स्साद (रगोंसे खून निकालनेवाला) फ़सद खोलनेके लिये नश्तर निकालता है तो मजनूँ बड़ी मिन्नत अर्ज़ करता है । और कह उठता है—

लेक अज़ लैला वजूदे मन पुरस्त ।
ईं सदफ़ पुर अज़ सिफ़ाते आंदुरस्त ॥
तरसम ऐ फ़स्साद अगर फ़स्दम कुनी ।
नेश रा नागाह बर लैला ज़नी ॥
दानद आं अक़्ले कि ऊ दिल रौशनीस्त ।
दरमियाने लैलये मन फ़र्कनीस्त ॥
मन के अम लैला व लैला कीस्त मन ।
मायके रूहेम अंदर दो बदन ॥

'मेरे सम्पूर्ण शरीरमें लैला ही व्याप्त है और इस शरीर-रूपी सीपीमें उस मोतीकी झलक भरी है । इसलिये ऐ फ़स्साद ! मुझे डर है कि यदि तू मेरी फ़सद खोलेगा तो यह नश्तर कहीं लैलाके न लग जाय । जो रहस्यको समझता है वह जानता है कि मुझमें और लैलामें कुछ भी अन्तर नहीं है । 'मैं' लैला हूँ और लैला 'मैं' है । प्रत्यक्ष दो शरीर दिखायी देते हैं पर प्राण एक ही है ।'

देखा ! प्रेमका यह अनोखा रूप । इसीलिये—

शवज ख़ुद बरी गर्दतावर हकीक़त ,
तुरा बे तो हासिल शवद इनहिदादे ।

'अपने-आपको भुला दे । वास्तविकतातक पहुँचनेका यही उपाय है, इसी उपायसे तू अपने आपेको भी दूर कर सकेगा ।'

उद्धव गोपियोंके लिये योगका ज्ञान लेकर जाते हैं पर उनकी प्रेमकी अनुभूति देखकर, उनके ज्ञानका गर्व चूर-चूर हो जाता है । गोपियाँ कहती हैं—

कौन ब्रह्म की जाति, ज्ञान कासों कह ऊधौ ।
हमरे सुंदर स्याम, प्रेम को मारग सूधौ ॥

और फिर भी जब उद्धव नहीं मानते तो विनती करती हैं—

ऊधो ! जोग-जोग हम नाहीं ।
जेहि लगि जोगी भरमत भूले, सो तो है अपु माँही ॥

उद्धव ज्ञानके अहंमें भूले हैं ! श्रीकृष्णका संदेशा देते हैं और मिलता है उन्हें उलाहना—

ऊधो ! तुम भये बौरे पाती ले के आये दौरे,
जोग कहाँ राखैं इहाँ रोम रोम स्याम है ।

उफ़ ! गोपियोंकी आकुलता, उनका वह प्रेम किसे प्राप्त है ? वह प्रेम, जिसे देखकर ऊधवका ज्ञान गल जाता है । वह चरम स्थिति किसे प्राप्त है जो उनकी तरह कह सके—

प्रान भये स्याममय, स्याम भये प्रानमय,
हियमें न जानि परै प्रान है कि स्याम हैं ।

यह अवस्था गोपिकाओंकी ही थी ।

एक प्रेमके कारण ही एक परमात्मा नाना रूपोंमें व्यक्त हो गया है । अकेले रमण नहीं किया जा सकता, इसलिये परमात्मा या ब्रह्म स्वयं अपने भक्तोंमें मिल सकता है । श्रुति कहती है—

एकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् ॥

इसीलिये तो कहा है तू अपना सर्वस्व उसे दे दे । निवेदन कर—

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा
गुणतोऽसानि यथातथाविधः ।
तदयं तव पादपद्मयो-
रहमद्यैव मया समर्पितः ॥

'हे भगवन् ! शरीर आदिमें स्थित मैं जो कोई भी हूँ अथवा गुणोंमें जैसा भी हूँ, वैसा ही मैं अपने-आपको आपके चरणकमलोंमें अर्पित करता हूँ !'

गीतामें अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने क्या कहा था, उसे तो याद कर—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(१८ । ६६)

'सब धर्मोंको त्यागकर तू एक मेरी शरणमें ही आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू सोच मत कर ।'

और रामके रूपमें उनकी प्रतिज्ञा तो याद कर—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वा॰ रा॰ युद्धकाण्ड १८ । ३३)

× × × ×

निर्जन प्रान्त । रात्रिका दस बजा होगा । मनको यही समझाते, अपने ही खयालोंमें डूबा चला जा रहा हूँ कि अचानक स्तब्ध रह जाता हूँ । पासके ही मन्दिरसे सिसकियाँ आती हैं । और आगे बढ़ता हूँ तो दीपकके मन्द प्रकाशमें जिस मूर्तिको जिस अवस्थामें देखता हूँ—अपना अहं गल जाता है, आँखें भर जाती हैं । जानता नहीं कौन है पर निवेदनके शब्द अन्तर-प्रदेशमें गूँज-गूँज उठते हैं । सुभद्राकुमारी चौहानकी वे पंक्तियाँ अन्तरको भेदकर प्रभुके चरणोंमें लोट-लोट पड़ती हैं—

पूजा और पुजावा प्रभुवर ! इसी पुजारिनको समझो ।
दान-दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिनको समझो ॥
मैं उन्मत्त प्रेमकी भूखी हृदय दिखाने आई हूँ ।
जो कुछ है बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ ॥
चरणोंमें अर्पित है इसको, चाहो तो स्वीकार करो ।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो ॥

मेरी आँखें बरस पड़ती हैं, मस्तक झुक जाता है और अब—

ना बूद शुदम बूद नमी दानम चीस्त ।
अख़गर शुदा अम दूद नमी दानम चीस्त ॥
दिल दादमो जाँ दादमो ईमाँ दादम,
सूदस्त दिग़र सूद नमी दानम चीस्त ॥

'मैं' नाश हो गया, अब मुझे अपने पहले 'होने'की याद नहीं । मैं सुलगता हुआ कोयला बन गया, मुझे धुआँका ज्ञान नहीं । मैंने हृदय, प्राण और धर्म प्रभुकी भेंट कर दिये—और मुझको सबसे बड़ा लाभ यही मालूम हुआ; इसके अतिरिक्त मैं दूसरे लाभको जानता ही नहीं ।

पर क्या सचमुच 'मैं' नाश हो गया ? नहीं । यह अल्पज्ञता सर्वज्ञताके लिये, परिच्छिन्नता अपरिच्छिन्नताके लिये, किरण सूर्यके लिये और जलकी बूँदका समुद्रके लिये अर्पण-सा है । क्या बूँद सागरमें मिलकर नष्ट हो जाती है ? नहीं, वह तो सागरको और उसकी बड़ाईको ही सामने रखती है । इसी प्रकार अपना अहं जब परमेश्वरमें मिल जाता है तब वह अपने नाशसे प्रभुके अस्तित्वको ही दिखाता है ।

और जबसे यह सब देखा है, मनकी विचित्र अवस्था है । वही दरश, वही प्रीतम, वही प्रभु—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गयी लाल॥

अपना सम्पूर्ण अहं, अपना सम्पूर्ण 'होने'का ज्ञान—सब कुछ कर्पूरकी तरह उड़ गया है और अब—

समा गये मेरी नज़रोंमें छा गये दिल पर,
खयाल करता हूँ उनको कि देखता हूँ मैं।
न कोई नाम है मेरा, न कोई सूरत है,
कुछ इस तरह हमातनदीद हो गया हूँ मैं।
न कामयाब हुआ और न रह गया महरूम,
बड़ा गज़ब है कि मंज़िल पै खो गया हूँ मैं॥

और अब उस प्रीतम बिना कहाँ चैन, कहाँ सुख। किसीने ठीक ही कहा है—

प्रीतम नहीं बजार में वहै बजार उजार,
प्रीतम बसै उजार में वहै उजार बजार॥

पर अब कहाँ उजार और कहाँ बजार। अब तो—

'सब घट मेरा साइयाँ'॥

पानीकी बूँद जबतक अलग थी, उसकी अपनी सत्ता थी। वह समझती थी कि मेरी अपनी हस्ती है, पर जब उसने सागरको देखा, तो देखा कि उसका अपना सब कुछ सिवा जलके और कुछ नहीं। जलके सिवा अलग उसका 'मैं' कुछ नहीं। यही स्थिति जीव और ब्रह्मकी है। अब अपना अहं, अपना 'मैं' कहाँ रह गया? अब तो जो है सो वही है। समस्त संसार नाम-रूपमें रहता है, नाम-रूप देश-कालमें और देश-काल मनमें रहते हैं। इसलिये जब अपना अहं और मन ही नहीं रहा तो देश-काल कहाँ रहा और जब देश-काल नहीं तो नाम-रूप कैसा? और जब नाम-रूप नहीं तो अपना-पराया कहाँ, अपने-परायेके अभावमें राग-द्वेष कहाँ? और जब राग-द्वेष समाप्त हो गये तो पाप-पुण्य भी खतम और जब पाप-पुण्य ही नहीं तो कैसा सुख और कैसा दुःख अर्थात् बन्धन और उसका भय भी निःशेष हो गया। यही है प्रेम और समर्पणकी चरम और परम गति। कहा है—

चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः।
तथार्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात्॥

'बेचे हुए पशुकी रक्षाके लिये जैसे चिन्ता नहीं की जाती वैसे ही श्रीहरिके चरणोंमें देहको समर्पित करनेवाला पुरुष उस देहकी रक्षासे निवृत्त हो जाय।' धन्य हो प्रभु! धन्य है तुम्हारी प्रेमलीला।

मुबारक ज़िंदगी उनकी है कद्रे वक़्त उनको है,
कि रटते हैं तुम्हारा नाम तुमको याद करते हैं॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

पता नहीं

नहीं कामका रहा, छोड़ दो इसकी आशा।
रक्खोगे, तो तुम्हें मिलेगी नित्य निराशा॥
भस्म हो गयी बुद्धि जागतिक जल-भुन कर सब।
रही न कोई इसमें भोग-विचार-भूमि अब॥
क्या करना, क्या नहीं, सोच सकता न तनिक यह।
सदा सहज ही उदासीन रहता, सब कुछ सह॥
होता, जो होना है, उसके ही करनेसे।
नहीं इसे कोई मतलब जीने-मरनेसे॥
नहीं रहा अब किसी द्वन्द्वसे भी परिचय है।
हुआ करे कुछ भी, यह तो अब नित निर्भय है॥
लिखता-लिखवाता वही, करता-करवाता वही।
पता नहीं क्या गलत है, पता नहीं क्या है सही॥

जीवनमें सफलताकी कुंजी

(लेखक—प्रो० श्रीहंसराजजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी० ई० एस्०)

आजकल यह प्रथा प्रचलित है कि विद्यार्थी जब बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेता है तब उसे उपाधि प्रदान की जाती है। उपाधि-प्रदानके समारोहपर दीक्षान्त भाषणके लिये किसी महान् शिक्षा-विशारदको आमन्त्रित किया जाता है और वह महापुरुष दीक्षान्त-उपदेशमें विद्यार्थियोंकी जीवन-यात्राके लिये कोई-न-कोई उपदेश दिया करता है। ऐसी ही प्रणाली प्राचीनकालमें भी प्रचलित थी। उपनिषद्-कालमें विद्याप्राप्तिके अनन्तर शिष्य गुरुसे अन्तिम उपदेशके लिये जब प्रार्थना करता है तब गुरु जो शिक्षा उसे प्रदान करता है, उसमें एक वाक्य इस प्रकार है—**'स्वाध्यायान्मा प्रमद'** अर्थात् 'स्वाध्यायसे कभी प्रमाद मत करना।'

अनेक युवक-युवतियाँ इस पंक्तिको पढ़कर यह तात्पर्य लगा लेते हैं कि किसी भी विषयकी पुस्तकोंका अध्ययन स्वाध्याय है। यहाँतक कि विदेशी भाषाओंके अश्लील उपन्यासोंके अध्ययनको भी वे स्वाध्याय समझ लेते हैं। इस प्रकार करनेपर जीवनमें सफलताके स्थानपर जब असफलता मिलती है, तब वे इस उपदेशको निरर्थक समझ लेते हैं। प्रायः यह सबके अनुभवकी बात है कि विदेशी भाषाओंके सौन्दर्य-वर्णनको पढ़कर मन चञ्चल हो जाता है, अतः इसे हम स्वाध्याय कभी नहीं कह सकते। वाल्मीकि और तुलसीने भी स्थान-स्थानपर सौन्दर्य-वर्णन किया है; पर उसे पढ़कर हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि रामसे बढ़कर सुन्दर संसारमें कोई पुरुष नहीं और सीतासे अधिक संसारमें कोई सुन्दरी नहीं। परंतु इससे हमारा मन चञ्चल नहीं होता। हमारी भावना सीताके प्रति जगदम्बा और जगज्जननीकी होती है। हमारा मन श्रद्धा और भक्तिसे उनके चरणोंमें झुक जाता है—यह स्वाध्याय है।

स्वाध्याय जीवनमें सफलताकी अमोघ कुंजी है। 'स्व'का तात्पर्य है 'अपना-आप' अर्थात् आत्मा। आत्माके अध्ययनसे अथवा आत्मनिरीक्षणसे या आत्मज्ञानसे जो साहित्य सम्बन्ध रखता है, उसका पढ़ना, उसपर मनन करना तथा उसपर आचरण करना ही स्वाध्याय है। जीवनमें सफलताके लिये यह नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार हमारे शरीरको बलवान् बनानेके लिये भोजनकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मन और बुद्धिको प्रखर करनेके लिये तथा आत्माको सबल बनानेके लिये स्वाध्यायकी परम आवश्यकता है। शास्त्र बतलाता है और अनुभवसे हम नित्यप्रति देखते हैं कि शरीरकी अपेक्षा मन सूक्ष्म है, मनकी अपेक्षा बुद्धि और बुद्धिकी अपेक्षा आत्मा। जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, उतनी ही उसकी व्यापकता और महत्ता अधिक होती है। आजकलके युगमें प्रायः हमारी यही धारणा बन गयी है कि शरीरको हृष्टपुष्ट बनाना ही हमारा मुख्य ध्येय है। मन कितना ही चञ्चल क्यों न हो जाय तथा बुद्धि कितनी भी कलुषित क्यों न हो जाय, इसकी हमें परवा नहीं। जिस भारतभूमिमें मानवका ध्येय आत्मज्ञान होता था और शारीरिक तप करके भी मनुष्य प्रभुकी खोजमें लीन रहता था, आज उसी भारतकी पुण्यभूमिमें हमारे युवकोंका ध्येय बन गया है—हाय रोटी, हाय कपड़ा, हाय मकान, हाय भोग। रोटी, कपड़ा और मकान तथा भोग हमारे शारीरिक निर्वाहके लिये आवश्यक हैं। इनकी प्राप्तिका सत्प्रयास अवश्य होना ही चाहिये, परंतु सदा यह ध्यान रहना चाहिये कि वह हमारा साधन है, साध्य नहीं। पशु और मानवका भेद करते हुए शास्त्रने यही बतलाया है कि पशुको आत्मज्ञानकी परवा नहीं होती और मानवको होती है। यदि मानव आत्मज्ञानकी खोजमें प्रयास नहीं करता तो वह पशुके ही समान है।

स्वाध्यायकी महत्ताको महात्मा गांधीने समझा था। स्वाध्यायशील व्यक्तिकी आत्मा कितनी बलवान् हो जाती है, इसका उनके जीवनसे प्रचुर प्रमाण मिलता है। यद्यपि उनका शरीर दुर्बल था तो भी उनकी आत्मा समूचे अंग्रेजी साम्राज्यका अकेले मुकाबला कर सकती थी। एक ओर अंग्रेजी सरकारकी सारी भौतिक शक्ति—तोपें, बंदूकें, फाँसी और जेल तथा दूसरी ओर महात्मा गांधीकी स्वाध्यायशील पवित्र आत्मा। किसकी जीत हुई? इतिहास बताता है कि जिस अंग्रेजी साम्राज्यपर कभी सूर्य अस्त न होता था वह १९४७ में भारतमें समाप्त हो गया। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसको स्वाध्यायशील व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

जब हम स्वाध्यायकी महत्ताको समझ लेते हैं तब किसी समय हमारे शरीरको अन्न न भी मिले तो हमें उसकी

चिन्ता नहीं होती; परंतु किसी दिन स्वाध्यायको समय न मिले तो आत्मा इस प्रकार तड़पती है जैसे जलके बिना मछली। साधककी यह अवस्था एकदम नहीं हो जाती। कुछ साधना करनी पड़ती है, कुछ अभ्यास करना पड़ता है और फिर हमें—जीवनके उद्देश्यमें पूरी सफलता मिलती है।

‘प्रमाद न कर’—इसका केवल यही तात्पर्य नहीं कि ‘आलस्य न कर’। प्रमादका वास्तविक अर्थ है उचित कार्योंको न करना और अनुचित कार्योंको करना। समय अमूल्य है, धनकी अपेक्षा समयका मूल्य कई गुना अधिक है। गया हुआ धन पुनः प्राप्त हो सकता है; परंतु गया हुआ समय लौटकर नहीं आता। समय थोड़ा है, कार्य अधिक है। अतः हमें यह विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि हम समयको व्यर्थ चेष्टाओंमें न खोयें। जीवनमें हमारा कोई लक्ष्य होना चाहिये। अपने लक्ष्यको निर्धारित करके हम अपना कार्यक्रम इस प्रकार बनायें कि हमारी सभी चेष्टाएँ उस लक्ष्यमें सहायता करनेवाली हों। जो चेष्टा उस लक्ष्यमें सहायक न हो सकती हो, उसको प्रमाद समझकर हम तत्काल छोड़ दें।

मानवका यह स्वभाव है कि वह अपनी प्रशंसा करता है और दूसरेके दोषोंको देखता है। इससे आत्मा शनैः-शनैः पतित हो जाता है। स्वाध्यायशील व्यक्ति जब आत्माका निरीक्षण करता है तब वह अपने अवगुणोंकी ओर ध्यान देता है और उनपर चिन्तन करके उनको दूर करनेका प्रयास करता है। वह दूसरोंके गुणोंको देखता है और उनको अपने अंदर धारण करनेकी चेष्टा करता है। अपने अवगुणोंको और दूसरेके गुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर देखना स्वाध्यायशील व्यक्तिका स्वभाव बन जाता है। वास्तवमें स्वाध्याय जीवनमें सफलताकी अमोघ कुंजी है।

दिल्लीके संत कवि महात्मा चरणदास

(लेखक—श्रीफतहचन्द्रजी शर्मा ‘आराधक’)

ढाई सौ वर्ष पुरानी बात है, एक सिद्ध पुरुषका अवतरण अलवरके निकट डेहरा ग्राममें हुआ था। बाल्यकालमें ही ये सिद्ध पुरुष अपने ननिहाल दिल्लीमें आ गये थे। तबसे लेकर अपने जीवनकालके लगभग ८० वर्षोंमेंसे ६० वर्ष भगवद्भक्ति, परोपकार और योगसाधना आदिमें विताये। आप जानना चाहेंगे कि वे सिद्ध पुरुष कौन थे? ये सिद्ध पुरुष थे—महात्मा चरणदास, जिनके पन्थका आज भी राजस्थान, दिल्ली, उत्तरप्रदेश और पंजाब आदिमें अनेक स्थानोंपर ‘चरणदासी’ नामसे प्रचलन है। ‘चरणदासी’-पन्थमें जहाँ महात्मा चरणदासजी अवतरित हुए, वहाँ इस मतको सहजोबाई और दयाबाई-जैसी उत्कृष्ट कोटिकी साधिकाएँ मिली हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति, वैराग्य, संत-साहित्यकी समाराधनासे अपने गुण और उनके पन्थको संसारप्रसिद्ध कर दिया।

महात्मा चरणदासमें बाल्यकालसे ही भक्तिके चिह्न दिखायी देने लगे थे। वहुत बार चरणदासजीने साधुओंसे पूछा था कि ‘जीवनके कल्याणके क्या उपाय हैं?’ संतोंने एक बार कहा कि ‘बिना गुरुके गोविन्द नहीं मिल सकते।’ अपनी अठारह वर्षकी अवस्थामें संसारको जानने और प्रभुको पानेके लिये महात्मा चरणदास अपने घरसे निकल चले। कुछ समयतक देशके प्रमुख स्थानोंका भ्रमण करके जब शुकताल पहुँचे और कोई मार्ग नहीं दिखायी दिया, तो उन्हें अपना जीवन व्यर्थ-सा जान पड़ा और वे फूट-फूटकर रोने लगे। कुछ रो लेनेके बाद जब ये प्रकृतिस्थ हुए तब फिर उनकी दृष्टि एक बार उस टीलेपर गयी जहाँ आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व संतोंके वीतराग तपस्वी शुकदेवजीने राजा परीक्षित्को श्रीमद्भागवतका अमृत-पान कराया था। उसी टीलेपर उन्हें शुकदेव मुनिसे प्रेरणा मिली।

महात्मा चरणदास इस दिव्य दृश्यको पाकर दिल्ली आये और अपनी माताकी आज्ञा लेकर उन्होंने साधु बननेकी इच्छा प्रकट की।

दिल्ली उन दिनों भी भारतकी राजधानी थी। उसी राजधानीके राजदरवारमें महात्मा चरणदासके नाना नियुक्त थे। ऐसी स्थितिमें, यह राजपद छोड़कर उनके परिवारका एक प्रिय अङ्ग साधु बने, यह सब उन्हें पसंद नहीं आया। किंतु ये सब रुकावटें आनेपर भी महात्मा चरणदास साधु बन गये।

नादिरशाहके आक्रमणकी भविष्यवाणी

महात्मा चरणदास पहले महापुरुष थे, जिन्होंने अपने शिष्योंको यह बता दिया था कि दिल्लीपर नादिरशाह आक्रमण

करेगा और लूट-खसोट करके दो माह बाद अपने देश ईरानको लौट जायगा। महात्मा चरणदासकी अपने शिष्योंको कही गयी यह बात धीरे-धीरे सारी दिल्लीमें फैल गयी। यह बात मुहम्मदशाहके मन्त्री सहाउद्दीन खाँके कानोंमें भी पड़ी। सहाउद्दीन खाँ इस बातकी सत्यता जाननेके लिये महात्मा चरणदासके पास आया। आपने निर्भय होकर अपने शिष्योंसे जो कहा था, वही सहाउद्दीनको भी बता दिया। सहाउद्दीनने भयभीत होकर यह बात बादशाहसे भी कह दी। बादशाहने अपनी अदावर्ज महात्माजीकी खिदमतमें भिजवायी और कहा कि 'मेहरबानी करके इस पर्चेपर यह लिख दें कि नादिरशाहका भारतपर आक्रमण कब होगा?' महात्मा चरणदासने बादशाहको जो लिखकर दिया था, वह सोलह आने सत्य निकला।

नादिरशाह जब वापस लौटने लगा, तब उसे चरणदासकी भविष्यवाणीका बादशाहसे पता लगा। नादिरशाहने आश्चर्यान्वित होकर महात्मा चरणदासको पालकी भेजकर बुलवाया, पर महात्मा चरणदास नहीं गये। उन्होंने कहा—

जो हरिके रँगमें रँगा, भूषणसे क्या काम।
चरणदास कछु भय नहीं, ना कुछ चहिये दाम॥

जब पालकी खाली वापस लौटी और नादिरशाहको पता चला कि महात्मा चरणदास नहीं आये, तब उसने तत्काल उन्हें गिरफ्तार करनेके लिये सेना भेजी। महाराज स्वयं उपस्थित हो गये। नादिरशाहने हँसकर कहा कि 'मैंने श्रद्धापूर्वक बुलवाया, तब आये नहीं और अब डरके मारे यहाँ आये हो।'

महात्मा चरणदासका अट्टहास लाल किलेमें गूँज उठा। वे बोले—'तेरे भयसे नहीं आया, तेरी कोई शक्ति नहीं, जो मेरा अनिष्ट कर सके।'

नादिरशाहने कहा कि 'अपना चमत्कार दिखाओ' नादिरशाहका इतना कहना था कि उसका ताज सिरसे दूर जा गिरा। नादिरशाहने अपमानित होकर महाराज चरणदासको जेल भिजवा दिया। आज्ञा दी गयी कि पत्थर मार-मारकर चरणदासका अन्त कर दिया जाय, किंतु जब भी जेलका फाटक खुला तब आप वहाँ नहीं थे। नादिरशाहने दोबारा विश्वस्त पहरेदारोंकी उपस्थितिमें जेल भिजवाया, किंतु तब भी जेलसे निकलकर उन्होंने सोते हुए नादिरशाहको ठोकर लगायी और कहा यह सोनेकी जगह नहीं है। क्रूर नादिरशाह भी ये सब घटनाएँ देखकर जान गया कि महात्माजी साधारण जीव नहीं हैं। वह जबतक दिल्लीमें रहा, महाराजके पास आता रहा और चलते समय भी दर्शन करके गया।

मुहम्मदशाहके उत्तराधिकारी शाह आलम (द्वितीय) देशमें चल रहे अशान्तिकालके कारण यहाँसे भागकर पटना चले गये। शाह आलमकी माताको महात्मा चरणदासने यह बताया था कि वह दिल्ली लौट आनेपर भारतका बादशाह बनेगा। जब यह बात सत्य हो गयी, तब शाह आलमने महात्माजीको भेंट देनी चाही। महात्माजीने कहा—'मुझे कुछ नहीं चाहिये।' बार-बार आग्रह करनेपर उन्होंने कहा कि 'यदि देना चाहते हो तो मेरी शिष्या सहजोबाईको दे दो।' शाह आलमने सहजोबाईको कुछ जागीर दी जो अबतक दिल्लीके गाँवों तथा मेरठ जिलेमें है। महात्मा चरणदास जहाँ रहते थे, उस स्थानपर चर्खेवालानमें उनका स्मृति-मन्दिर विद्यमान है। यहाँ कई बार शाह आलम, मुगल बेगमें तथा जयपुर आदिके राजा भी सामान्य जनोंके समान आते रहे।

चरणदासके भक्ति-सम्बन्धी विचार

चरणदास-पन्थमें शब्दमार्गपर विशेष बल दिया गया है। महात्मा चरणदासने अपनी वाणीमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान तथा आशाके परित्याग करनेका उपदेश दिया है। उनका यह विश्वास है कि शत्रुओंको जीते बिना साधना हो नहीं सकती। महात्मा चरणदासने गुरु-महिमा गायी है। उनके पन्थमें गुरुचरणका आश्रय लेना सर्वोच्च साधन माना जाता है। महात्मा चरणदास गुरु-भक्तिमें कबीरसे भी आगे हैं। उनका कहना है कि 'तीनों लोकोंमें देख-भाल करनेपर भी गुरुके समान कोई दिखायी नहीं दिया।' इस सम्बन्धमें आपका कहना है—

मैं मिरगा गुरु पारधी, सबद लगायो बान।
चरणदास घायल गिरे, तन मन बींधे प्रान॥

प्रभु-प्राप्तिके सम्बन्धमें उनका कहना है—

जग माटी मारे रहो, लगे रहो हरि ध्यान।
पृथ्वीपर देही रहो, परमेसुरमें प्रान॥

इन सब गुणोंके स्वामी भक्तप्रवर चरणदासजीका जन्म भाद्रपद शुक्ल तृतीयाके दिन आजसे २५४ वर्ष पूर्व हुआ था। उनके त्यागकी चर्चा आज भी देशमें बड़े सम्मानके साथ की जाती है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सतीका साहस

पश्चिमी पंजाबके जिला डेराग़ाज़ीखाँमें कोटकरानी नामकी एक बस्ती है। खेमीबाईका जन्म उसी गाँवमें हुआ। उसी धरतीपर वह खेली और उसीका अन्न-जल खाते हुए यौवनकी ओर बढ़ने लगी। यौवनसम्पन्न होनेपर उसका विवाह पिताने साथके गाँव, डोनेमें, एक अच्छे सच्चरित्र युवक रामचरणके साथ कर दिया। पति-पत्नी दोनों प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे।

एक दिन रामचरण किसी कामसे बाहर गया। खेमीबाई घरमें अकेली थी। उस दिन सायं उसकी गाय घर न लौटी। चरवाहा गाय चरानेके लिये ले जाता था और शामको वापस गाँवमें छोड़ जाता था। खेमीबाईको चिन्ता हुई कि कहीं गाय खो न गयी हो। इसलिये वह गायका पता लगाने चरवाहेके घरकी ओर चल दी। भगवान् भास्करका रथ आराम करनेके लिये तेजीसे भागा जा रहा था। चरवाहेका घर गाँवसे एक मीलकी दूरीपर था। उसके रास्तेमें एक बहुत भयानक खाई थी। इसमें वर्षाका पानी आकर एकत्र हो जाता। अँधेरेमें तो वह और भी भयंकर हो जाती।

अब खेमीबाई उस खाईके निकट पहुँच चुकी थी। उसे एक मुसलमान गुंडे करीमने देख लिया। करीमपर कामदेवका भूत सवार हो गया। उसने सोचा, 'अभी तो इसे जाने देना चाहिये। वापसीपर अपना मनोरथ पूरा करूँगा, क्योंकि तब अच्छा खासा अँधेरा हो जायगा। यों भी वह उस समय उसे घेर न सकता था; क्योंकि जितनी देरमें वह उसके पास पहुँचता उतनी देरमें वह खाई पार कर सकती थी।

खेमीबाई चरवाहेके घर पहुँची। पूछनेपर मालूम हुआ कि चरवाहा गायको कोटकरानीमें ही छोड़ आया है। वह वापस जानेको तैयार हो गयी।

दिनका प्रकाश समाप्त हो रहा था। पर खेमीबाईको तो घर पहुँचना ही था। जब वह लौट रही थी तो पश्चिमकी ओरका अन्तिम लाल मेघ भी समाप्त हो चुका था। रातके अँधेरेने धरतीको अपनी चादरमें लपेट लिया। इधर वह गुंडा बदमाश उसके आनेकी ताकमें बैठा था कि वह कब खाईमें प्रवेश करे और कब वह अपनी नीच वासना पूरी करे। अन्तमें बेईमानको पैरोंकी आहट सुनायी दी। वह चौकस हो गया। जब खेमीबाई खाईके ठीक बीचमें पहुँची तो उसके कानोंमें धीमी-सी आवाज़ सुनायी दी—'ठहर जाओ!'

खेमीबाईने पीछे मुड़कर देखा। क्षणभरमें सब कुछ समझ गयी।

'बेईमान!' वह गरजकर बोली—'अपना हित चाहते हो तो वापस चले जाओ।'

परंतु वासनाके अंधे उस बदमाशपर कोई प्रभाव न हुआ। वह पागलके समान आगे बढ़ने लगा। खेमीबाई चुपचाप खड़ी रही। करीम निकट पहुँचा और उसको वह अपने बाहुपाशमें जकड़ना ही चाहता था कि खेमीबाईके जोरदार मुक्केने उसकी नाक तोड़ दी। करीमको इतने जोरका धक्का लगा कि वह पीछे जा गिरा। एक छोटी-सी चीख भी उसके मुँहसे निकल गयी। उसके हाथ अपनी नाकको मलने लगे।

खेमीबाई आगे बढ़ी। करीम डर गया कि अब पता नहीं यह क्या करे। इस कारण उसने भागनेका यत्न किया। इस बीचमें खेमीबाईका हाथ करीमके कानपर जा पड़ा। बदमाशने कानोंमें बालियाँ पहन रक्खी थीं। खेमीने एक बालीको पकड़ लिया। किंतु वह इस जोरसे भागा कि बाली उसके कानको फाड़ती हुई खेमीके हाथमें रह गयी। खेमीबाई अपने गाँवमें पहुँच गयी। घर जानेसे पूर्व उसने अपनी गायकी खोज की और उसे ढूँढ़कर घर ले आयी।

दूसरे दिन जब रामचरण घर लौटा तब पत्नीने सारा वृत्तान्त उसे कह सुनाया। पतिने मुकद्दमा करनेकी ठानी। सौभाग्यसे थानेदार भी उन्हीं दिनों किसी कामसे उनके गाँवमें आया हुआ था। कोटकरानी छोटा गाँव होनेके कारण उसका अपना कोई थाना या पुलिस-चौकी न थी। रामचरणने थानेदारके पास जाकर रपट लिखवायी। थानेदारने खेमीबाईको बुलवाया और उससे पूछा—'क्या आप उस हरामीको पहचान सकेंगी?'

'जी हाँ, क्यों नहीं?' खेमीबाईने उत्तर दिया—'मैं उसे जरूर पहचान लूँगी।'

तीसरे दिन गाँव तथा आसपासके सभी गुंडे थानेदारके आदेशसे एकत्र किये गये । सबको एक पंक्तिमें खड़ा करनेके पश्चात् खेमीबाईसे कहा गया कि वह उस बेईमानको ढूँढ़ निकाले । खेमीबाई देखती चली गयी। एक आदमीके सामने जाकर वह रुक गयी। उस पुरुषने सिवा आँखोंके शेष चेहरेको पगड़ीके सिरेसे ढक रक्खा था। खेमीबाईने उसे बाँहसे पकड़कर पंक्तिसे बाहर कर दिया। थानेदारसे उसने कहा—'यही है वह बदमाश !'

'आप कैसे कहती हैं कि यह वही है ?' थानेदारने प्रश्न किया—'इसका प्रमाण ?'

खेमीबाई विचार करने लगी, पर कुछ ही क्षणके लिये। अब वह जल्दीसे उस गुंडेके समीप पहुँची और उसकी नाकको दबाया। नाकके दबाते ही वह पीड़ासे चीख उठा और एकदम पीछे हट गया ।

'एक तो यह प्रमाण है' खेमीबाईने थानेदारसे कहा—'क्योंकि इसी जगहपर इसे मुक्का लगा था जिसके कारण इसे अबतक पीड़ा हो रही है ।'

'अच्छा यह तो हुआ ।' थानेदारने कहा—'क्या आप इसकी पहचान भी बता सकती हैं ?'

'इससे जरा यह पूछिये कि इसके दायें कानकी बाली कहाँ गयी है' खेमीबाईने थानेदारसे कहा ।

जब उससे इस विषयमें सवाल किया गया तो वह बोला—'कुछ दिन पूर्व मैं एक वृक्षके नीचे सो रहा था। तब जोरसे आँधी आयी और वृक्षकी एक बड़ी-सी टहनी मेरे कानसे बालीको काटते हुए निकल गयी ।'

'अच्छा तो वह बाली कहाँ है ?' अब खेमीबाईकी बारी थी, इसलिये उसने पूछा ।

बदमाश चुप रहा । उससे कोई जवाब न बन पड़ा ।

'उस रात यह बाली मेरे हाथमें ही रह गयी थी,' खेमीबाईने अपनी जेबसे बाली निकालकर थानेदारके हाथपर रख दी । थानेदारने करीमके दूसरे कानकी बालीसे इसे मिलाया तो दोनों एक-जैसी निकलीं । करीमको सजा हो गयी ।

—धर्मवीर

(२)

प्रचण्ड अग्निमें गिलहरीके, चिड़ियोंके तथा चूहियोंके बच्चोंकी जीवित रहनेकी सत्य घटनाएँ

कुछ समय पूर्व राजपूत कालेज पिलखुवाके संस्थापक कर्मवीर आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध महोपदेशक, महात्मा श्रीलटूरसिंहजी पिलखुवा पधारे थे । उन्होंने मेरे पूछनेपर, बहुत-से प्रतिष्ठित पुरुषोंके सामने अपनी आँखों देखी निम्नलिखित घटनाएँ सुनायीं ।

(१) कुछ दिनों पहले मऊ जिला मेरठके बढ़इयोंने लक्कड़-लकड़ियोंको जलाकर उनके कोयले बनानेका निश्चय किया । जमीनमें एक गड्ढा खोदा गया और उसे लक्कड़-लकड़ियोंसे भरकर आग लगा दी गयी । रातभर वे धाँय-धाँय जलते रहे । अगले दिन जब सब लक्कड़ जलकर कोयले हो गये तब उन लोगोंने गड्ढेसे कोयले निकालने शुरू किये । कोयले निकालते-निकालते उन्होंने देखा कि और सब लक्कड़-लकड़ी तो जल गये हैं, परंतु उनमें लकड़ीका एक गट्ठा बिल्कुल ही नहीं जला है, वह ज्यों-का-त्यों पड़ा है । यह बात नहीं कि वह अलग पड़ा रह गया हो, वह जलनेवाली लकड़ियोंके बीचमें था । यह देखकर सभीको आश्चर्य हुआ । किसीको कुछ भी कारण समझमें नहीं आया । तब उसे बाहर निकालकर कुल्हाड़ीसे काटकर देखनेका विचार हुआ । तदनुसार उसे बाहर लाकर कुल्हाड़ीसे चीरा गया तो दिखायी दिया कि उस गट्ठेके अंदर छोटे-छोटे गिलहरीके बच्चे जीवित बैठे हैं, उनको न जरा-सी आँच लगी, न जरा भी उनका बाल बाँका हुआ । प्रचण्ड अग्निमें उनका इस प्रकार सुरक्षित रहना देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये । यह आँखों-देखी घटना बरबस यह मनवा देती है कि ईश्वर है और वह जिसको बचाना चाहता है—आश्चर्यजनक रूपसे बचा देता है ।

जाको राखै साइयाँ मार सकै नहिं कोय ।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ॥

(२) दूसरी सत्य घटना हमारे गाँवकी सामने देखी हुई है । गाँवके एक मकानमें ऊपर छप्पर पड़ा था । अकस्मात् पता नहीं, कैसे उस छप्परमें आग लग गयी । सारा छप्पर जलकर भस्म हो गया । देखा जानेपर मालूम हुआ छप्परका एक कोना बिल्कुल नहीं जला । उसके अत्यन्त समीप पहुँचकर भी प्रचण्ड आग उसे नहीं जला पायी । सबको बड़ा कुतूहल

हुआ। पास जाकर देखा गया तो दिखायी दिया कि उस कोनेमें छोटे-छोटे चिड़ियाके बच्चे जीवित बैठे हैं। सारा छप्पर जल-भुनकर खाक हो जानेपर भी इन पक्षिशावकोंको तनिक भी आँच नहीं लगी। प्रभुकी इस अद्भुत लीलाको देखकर सभी आश्चर्यमें डूब गये। आग किसीको न जलाये—यह बात किसी प्रकार भी विश्वासयोग्य न होनेपर भी इन आँखों-देखी घटनाओंको सत्य कैसे न माना जाय ?

इसके पश्चात् आर्यसमाजके श्रीदिलेरामजी और महाशय रघुबरदयालजीने एवं एक मुसल्मान छात्र श्रीअलियास अहमदने आँखों-देखी चुहियोंके बच्चोंकी दो बड़ी विचित्र घटनाएँ आगसे बिल्कुल बचनेकी सुनायीं।

प्रभुकी अपार महिमा है।

—भक्त श्रीरामशरणदासजी, पिलखुवा

(३)

बिना माँगे रुपये चुकाये

लगभग चालीस वर्ष पहलेकी बात है। कलकत्तेमें कपड़ेके एक दूकानदारने—पूजाकी बिक्रीकी भीड़में—दस-बारह हजार रुपयोंकी कुछ गाँठें एक चलानीवालेको डेलिवर दे दी, पर उसके नाम लिखना भूल गया और इसलिये उसके रुपयोंका भुगतान भी नहीं मँगवाया गया। बात बिल्कुल भूलमें पड़ गयी। जिन चलानीवाले व्यापारीको माल भेजा गया था उसका भी उस समय ध्यान नहीं गया। पूजाकी बिक्रीका काम पूरा होनेके बाद जब भीड़ कम हो गयी, तब उस दूकानदारके दस-बारह हजार रुपये घटनेकी बात ध्यानमें आयी। पर उन गाँठोंकी बात उसे एकदम ही विस्मृत हो गयी। बड़ी चिन्ता हुई, पर कुछ उपाय नहीं था। बहुत तलाश की, पर पता नहीं लगा—बेचारा मन मारकर रह गया। उधर चलानीवालेने वे गाँठें जिनको चलान की थी, उनका पहुँचका पत्र मिला तथा रुपये आये। उसके यहाँ सब जमा-खर्च था ही। तब उसे पता लगा कि इन गाँठोंके रुपये दूकानदारने नहीं मँगवाये। लगभग ढाई महीने बीत चुके थे। उसने दूकानदारको कहलवाया कि अमुक दिन आपने इतनी गाँठें हमें डेलिवर दी थीं, उनके रुपये नहीं मँगवाये, सो मँगवा लीजिये। दूकानदार यह समाचार पाकर हर्ष-गद्गद हो गया और स्वयं जाकर रुपये लाया तथा धन्यवाद दिया। चलानीवाले व्यापारीने हठ करके रुपयोंका व्याज भी दिया। उसने चलानीवाले व्यापारीसे कहा—'भाई साहेब ! आपको ये गाँठें दी थीं, यह बात मुझे तो याद ही नहीं थी। आप खबर न देते तो पता ही नहीं लगता। आपके मनकी इस ईमानदारीको देखकर मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई है और मैं आपका बड़ा उपकार मानता हूँ।' उस व्यापारीने कहा—'भाई साहेब ! आपके रुपये आपको चुकाकर मैंने कौन-सा प्रशंसनीय काम किया है, यह तो देने ही चाहिये थे। न देनेकी मनमें कल्पना भी होती तो बड़ा पाप होता। मेरे पिताजीने मुझे यही सिखाया था कि 'बेटा ! परायी छदामपर भी कभी मन मत चलाना। दूसरेके हकका एक पैसा भी जानकर मार लेना—उसकी जान मारनेके समान है।'

—जमनादास अगरवाला

(४)

व्यापारमें प्रतिष्ठा

स्काटलैंडके एडिनवर्ग नगरके एक कारखानेसे एक भारतीय उद्योगपतिने एक पुरानी पर अच्छी हालतकी बड़ी मीलिंग मशीन खरीदी। मशीन बेचनेवाले कारखानेके मालिकने अनुभवी पुरुषोंके अभावके कारण यह शर्त रक्खी कि वे कारखानेमें बैठी मशीनकी डेलिवरी देंगे। अतः खरीददार अपने इंजिनियरको मशीन खोलनेके समय वहाँ एडिनवर्ग भेज दें, उनके सामने मशीन खोली जाय, जिससे वे भारत ले जाकर मशीनको अच्छी तरह बैठा सकें। उद्योगपतिने यह शर्त स्वीकार की और उन्होंने अपने प्रधान इंजिनियरको एडिनवर्ग भेज दिया।

मशीन इतनी बड़ी थी कि मशीनको खोलकर फिरसे बैठानेकी तालीम लेकर लौटनेमें इंजिनियर साहेबको तीन महीने लग गये। मशीन भी खुली हालतमें भारत पहुँच गयी। उसे कारखानेमें बैठानेका काम शुरू हुआ। आधी-पौनी मशीन बैठी होगी—इतनेमें इंजिनियर साहेबकी स्मृति मन्द पड़ गयी और अनेक प्रयत्न करनेपर भी वे मशीनको ठीक नहीं बैठा सके। वे घबराये। बात मालिकतक पहुँची। दस-पंद्रह हजार रुपये खर्च करके इंजिनियर साहेबको तालीम लेने एडिनवर्ग भेजा गया था। इतनेपर भी ऐसी स्थिति हो गयी। इससे मालिकको बड़ा क्षोभ तथा क्रोध हुआ। मशीनसे उत्पन्न होनेवाले मालकी माँग बढ़ गयी थी। इससे ग्राहक भी आतुरतासे राह देखने लगे।

अन्तमें मालिकने तंग आकर एडिनवर्ग कारखानेवालेको सारी हालत लिखी और वहाँसे इंजिनियर भेजनेके लिये

नम्रताके साथ विनय की तथा इसका सारा खर्च देनेका वचन दिया ।

एक सप्ताहके बाद ही तार मिला कि दो इंजिनियर चल पड़े हैं और शीघ्र ही पहुँचकर मशीन चालू कर देंगे । उनके पहुँचनेपर बम्बईके एक खर्चीले होटलमें दोनोंके ठहरनेकी व्यवस्था की गयी । मालिक उनको कारखानेपर ले गये और मशीन बैठानेका काम प्रारम्भ हुआ । जरा भी समय न खोकर दोनोंने बड़ी मेहनत की और आठ ही दिनोंमें मशीनको चालू करके वे अपने देशको लौट गये । जाते समय उद्योगपतिने उनका आभार माना और खर्चका पूरा बिल भेज देनेके लिये अनुरोध किया ।

परंतु एक सप्ताहके बाद कम्पनीका पत्र आया । उसमें लिखा था—'हमारे इंजिनियरोंकी आपने वहाँ अच्छी तरहकी सार-सँभाल की, इसके लिये हम आपके आभारी हैं । आपके इंजिनियरने जैसे-तैसे मशीन बैठाकर उसे चालू नहीं किया, यह उचित किया; कारण चलती मशीन कहीं टूट जाती तो हमारे कारखानेकी बदनामी होती । आशा है, अब मशीन ठीक चल रही होगी । खर्चके लिये कुछ भी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि हमारी मशीनको व्यवस्थितरूपसे चालू कर देनेमें हमारी शोभा और हित दोनों ही समाये हैं । इसपर जो खर्च लगा है, वह सब-का-सब हमारी कम्पनी देगी—यह निश्चय हो चुका है । इसके साथ आपके द्वारा चुकाये हुए होटलके बिलकी रकमका चेक भेजा जा रहा है । इसे सँभाल लें और भविष्यमें हमारे लायक कुछ भी काम हो तो अवश्य जनावें ।' अखण्ड आनन्द—शान्तिलाल बोले

(५)

ईमानदारके लिये तिमादी नहीं

एक डाक्टरने बतलाया कि (अप्रैल सन् १९४५) एक पचीस-छब्बीस वर्षके मारवाड़ी युवकको हैजा हो गया । उपचार करनेपर एक बार बीमार कुछ ठीक हुआ, पर अकस्मात् रोग फिर बढ़ गया और स्थिति भयानक हो उठी। शूल उत्पन्न हो गया और हाथ-पैर ऐंठने लगे । युवकको लगा कि अब मैं नहीं बचूँगा । उसने तुरंत माता-पिताको बुलाकर कहा कि 'मैं शायद न बचूँ, अतएव जिन लोगोंसे मैंने बिना किसी लिखा-पढ़ीके या केवल हैंडनोटपर रुपये लिये हैं, उनके नाम-पते तथा रकम लिख देता हूँ । ये सब रुपये चुका दीजियेगा ।' यह होनेके बाद शामको जाकर देखा तो रोगी अच्छा हो गया था ।

हिंदूमात्र ही इस बातको जानता है कि 'ऋण रखना पाप है । तिमादी (Law of Limitation) का कानून बना है । उसके कारण इस लोकमें चाहे न देना पड़े; परंतु परलोकमें तो देना ही पड़ेगा और नरक अनिवार्य होगा ।' ईमानदारीमें तिमादी नहीं होगी । मारवाड़ी युवकने इस तिमादी कानूनका लाभ उठाना नहीं चाहा, इसीसे आसन्न-मृत्युसे उसकी रक्षा हो गयी । —भारताजिर

(६)

चायके व्यापारीकी आदर्श व्यापारनिष्ठा

एक बार एक व्यापारीके यहाँसे मैंने चाय खरीदी । चाय अच्छी न होनेके कारण जब मैं वापस देने गया, तब उसने लेनेसे इनकार कर दिया और मेरे साथ अपमानजनक बर्ताव किया । इसके विपरीत एक दूसरा अनुभव भी मुझे हुआ था, उसीको यहाँ लिख रहा हूँ ।

उस समय राज्योंके विलीनीकरणसे पहले मैं एक राज्यका अधिकारी था । मुझे बहुत-से गाँवोंमें घूमना पड़ता और बड़े परिमाणमें चाय खरीदनी पड़ती । उस समय एक पैकेटके दाम थे साढ़े तीन आने ।

एक बार मैं सात पैकेट खरीदकर ले गया । मैंने पहला पैकेट खोला, उसमें सदाकी तरह सुगन्ध नहीं थी । हम सुगन्धके लिये यह चाय खरीदते थे । हमारी आदत पड़ गयी थी । दूसरा पैकेट खोला; उसमें भी वही बात । अधिक पैकेट खोलनेकी हिम्मत नहीं हुई । यह दूकानदार भी कहीं उसीका मौसेरा भाई हो और सारे पैकेट हमारे सिर ही मँढ़ जाय !

जिस कम्पनीसे चाय खरीदी थी, उसे फोन करनेपर उत्तर मिला—'आपको इस प्रकार कष्ट हुआ, इसके लिये हमें अन्तःकरणसे खेद है । आप सब पैकेट यहाँ वापस ले आइये ।'

समयपर मैं दूकानपर पहुँचा । कम्पनीने पहलेसे ही इन्स्पैक्टरको बुला रक्खा था । मानो कोई बड़ी बारीक जाँच करनी हो ।

इंस्पैक्टरसे मैनेजरने कहा—देखिये, यह अपने ग्राहककी शिकायत है, इसका क्या करना है । इंस्पैक्टर कड़ी परीक्षा करके तीसरा डिब्बा खोलने लगा—'अरे-अरे, यह क्या' मेरे मुँहसे अचरजभरा उद्गार निकल पड़ा ।

'आप घबरायें नहीं···खोलने दीजिये···'

इसके बाद जैसे कोई पाकमेंसे सड़े आम निकालता हो, उसने एकके बाद एक—सभी पैकेट खुलवाये। चायकी क्वालिटी खराब थी, यह निश्चय होते ही उसने जो शब्द कहे वह आज भी मेरे कानोंमें गूँज रहे हैं।

'कोई हर्ज नहीं, महाशय! यह सारी जिम्मेवारी हमारी अपनी है। आपको जो बेहद तकलीफ उठानी पड़ी है, इसके लिये हम बड़ी लज्जाका अनुभव कर रहे हैं·····आप हमारे ताजे स्टाकमेंसे दूसरे सात पैकेट तो हकके, और आपको तकलीफ हुई इसके बदले एक पैकेट कम्पनीकी तरफसे ले जाइये।'

'परंतु, इन खोले हुए पैकटोंका आप क्या करेंगे?' मैंने कहा।

'इनको हम रब्बिश—कूड़ेमें डाल देंगे। हमारे मालके बाबत ग्राहककी कोई शिकायत आये तो हमारी प्रतिष्ठाका क्या हाल हो? अखण्ड आनन्द। —प्रशान्त

(७)

श्रीरामरक्षास्तोत्रके पाठसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुरक्षित

सन् १९५७की बात है। कुवार महीनेमें गाँवमें मेरे चाचाका देहान्त हो गया था। हमलोग उनकी तेरहीपर गये थे। सब काम हो जानेपर हमारे लौटनेका प्रोग्राम बना। प्रातःकाल नहानेके समय नित्यके अभ्यासके अनुसार रामरक्षाका पाठ हो गया और हमलोग वहाँसे बरहनके स्टेशनको चल दिये। गाड़ी आयी। वहाँ बहुत ही कम गाड़ी ठहरती है। मेरे पतिदेवकी तबीयत कुछ खराब थी, अतः उन्हें पहले चढ़ा दिया। फिर लड़की चढ़ गयी। जब मैं चढ़ने लगी, तब गाड़ी चल दी। मेरा एक हाथ लड़कीके हाथमें था, दूसरेसे मैंने गाड़ीका हैंडल पकड़ रक्खा था। पर मेरा पैर गाड़ीकी पटरीसे फिसल गया। लड़की मेरा बोझ सँभाल नहीं सकी; उसके हाथसे मेरा हाथ छूट गया और मेरे दूसरे हाथसे हैंडल छूट गया। मैं सीधी पहियोंके पास पहुँच गयी और एक फर्लांगतक नीचे झूलेकी तरह झूलती रही। रेलके पहियेसे मेरा सिर आधा फुट दूर होगा। उसी अवस्थामें मैंने आँखें खोलकर देखा—गाड़ी चल रही है, पहिये घूम रहे हैं। फिर भगवान्‌को याद करके सोचने लगी—बीमार पतिका क्या होगा। तदनन्तर आँख खोली तो गाड़ी खड़ी थी। लोग दौड़-धूप कर रहे थे। मेरी बेटी रो रही थी। मुझे उन्होंने आवाज दी। मेरा पैर एक रॉडमें फँसा था जो पहियेके ऊपर लगा होता है। किसी आदमीने गाड़ीके नीचे घुसकर मेरा पैर रॉडमेंसे निकाला। मैं बिल्कुल अच्छी अवस्थामें निकल आयी। मेरा चश्मा भी ऐसे रक्खा था, जैसे किसीने उतारकर पहियोंके बीचमें स्लीपरोंपर रख दिया हो। चूड़ी भी ठीक थी। पीठ कुछ रेलके पत्थरोंसे रगड़कर जरूर छिल गयी थी। पर और सब अङ्ग ठीक थे। मेरा पूर्ण विश्वास है कि रामरक्षाके नित्य पाठसे भगवान् प्रत्येक अङ्गकी रक्षा करते हैं। रामरक्षास्तोत्रको कण्ठस्थ किये तो मुझे बहुत वर्ष हो गये। हरेक बीमारी और परेशानीमें इससे मुझे सहायता मिलती रहती है। जबसे 'कल्याण' में इसके चमत्कारी गुणोंकी चर्चा पढ़ी है तबसे मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गयी है। मैंने इसे नवरात्रमें सिद्ध भी कर लिया है। मेरी हाथ जोड़कर पूजनीय भाई-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे इससे लाभ उठावें। —बृजरानी डेम्पीयर नगर, मथुरा।

(८)

ईमानदारी

श्रीकैनीज बीच (Mr. Kenys Beach) नामक एक अमेरिकन पत्रकार चीन-भारत-युद्धका समाचार जानने दिल्ली आये थे। वे शिकागोके दैनिक समाचारपत्र डेलीन्यूज (Daily News) के संवाददाता हैं। उन्होंने पाकिस्तानके हवाईजहाजपर सवार होनेके लिये हवाई-अड्डेके लिये एक टैक्सी भाड़ेपर की थी। पाकिस्तान पहुँचनेपर उन्हें स्मरण आया कि उनका एक छोटा केस (brief case) उस टैक्सीमें छूट गया। उस केसमें नगद तथा डालरके चेक आदि मिलाकर पंद्रह हजार रुपयेकी रकम थी।

पाकिस्तान अधिक न ठहरकर वे तुरंत तारीख ३।१२।६२ को सबेरे दिल्ली लौट आये और अमेरिकन दूतावासमें पहुँचनेपर उन्हें पता चला कि एक टैक्सी ड्राइवर उनका छोटा-सा केस उसी दिन वहाँ जमा करवा गया था।

तब श्रीबीच टैक्सी ड्राइवरकी तलाशमें निकले और दिनभर भटकनेपर शामको उन्होंने उसे ढूँढ़ पाया। मिलनेपर बड़ी कठिनतासे उसे दो सौ रुपये पुरस्कार स्वीकार करनेके लिये राजी किया।

—गंगाशरण शर्मा, एम्० ए० बी-कॉम

उत्तराखण्डकी यात्रा

(चौंतीस चित्रोंसहित)

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददास, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी और श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

आकार डबल-क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ३१०, चित्र ३४, मूल्य २.०० (दो रुपये), डाकखर्च .९१ नये पैसे।

मासिक 'कल्याण' में समय-समयपर छपा हुआ प्रसिद्ध साहित्यिक विद्वान् संसद्-सदस्य सेठ श्रीगोविन्ददासजीका अपने परिवार और साथियोंसहित की हुई उत्तराखण्ड-यात्राका यह वर्णन पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है। उत्तराखण्ड भारतका गौरवमय अङ्ग है। हिंदुओंकी पवित्र तपोभूमि और तीर्थभूमि है। इस पुस्तकमें इस पवित्र भूमिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन ऐसी अच्छी सरल, सुबोध तथा हृदयग्राहिणी भाषामें किया गया है कि जिसका आनन्द पढ़नेपर ही मिलता है। वर्तमानमें चीनके बर्बरतापूर्ण आक्रमण और हमारे इस पवित्रतम हिमालयखण्डपर उसकी क्रूर दृष्टिके समय तो हिमालय या उत्तराखण्डका महत्त्व और गौरव जानना प्रत्येक भारतीयके लिये और भी आवश्यक हो गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें हरिद्वार, ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, यमुनोत्तरी, गङ्गोत्तरी, केदारनाथ और श्रीबदरीनाथ आदिका वर्णन है। परिशिष्ट (१) में हरिद्वारसे यमुनोत्तरी, (२) में यमुनोत्तरीसे गङ्गोत्तरी, (३) में गङ्गोत्तरीसे केदारनाथ, (४) में हरिद्वारसे केदारनाथ, (५) में केदारनाथसे बदरीनाथ, (६) में हरिद्वारसे बदरीनाथ और (७) में बदरीनाथसे ऋषिकेश और कोटद्वाराका वर्णन, उनकी ऊँचाई, एक स्थानसे दूसरे स्थानकी दूरी, पोस्ट तथा तार आफिसें, अस्पताल, औषधालय, डाकबँगले और पुलिस-थानोंका विवरण है।

आशा है कि पाठकगण इस सुन्दर ग्रन्थसे हिमालयके ज्ञानलाभके साथ ही साहित्यिक आनन्द भी प्राप्त कर सकेंगे।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क (डाकखर्च सबमें हमारा है)

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, डाकव्ययसहित मूल्य ६ रु० ५० नये पैसे। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य। सजिल्द ७ रु० ७५ नये पैसे।

२—संतवाणी-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्ययसहित ७ रु० ५० नये पैसे।

३—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और ३९ रेखाचित्र। डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे।

४—संक्षिप्त देवीभागवताङ्क

जनवरी १९६० का विशेषाङ्क, मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे।

५—संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क

१९६२ का विशेषाङ्क, प्रसिद्ध शिवपुराणका संक्षिप्त साररूप है। इसमें ७०४ पृष्ठोंकी ठोस पाठ्य-सामग्री है। बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा रेखाचित्र १, सादे १२ और १३८ रेखाचित्र हैं। मूल्य डाकखर्चसहित ७.५०, सजिल्दका ८.७५ नये पैसे हैं।

'कल्याण'के आजीवन ग्राहकोंका चंदा १००) है। नियम लिखकर पूछिये।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

राज० स० ए० १७

‘कल्याण’ के आजीवन ग्राहक बनकर सत्साहित्यके प्रचारमें सहायता कीजिये

(१) ‘कल्याण’ तथा गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकोंका मूल्य बहुत कम है, यह सभी जानते हैं। गीताप्रेसका उद्देश्य ही है कम कीमतमें सत्-साहित्यका प्रचार करना। अतः पुस्तकोंके दाम बढ़ानेका कोई विचार अभी नहीं है। पर छपाईकी सभी चीजें उत्तरोत्तर महँगी होती जा रही हैं, इसलिये उत्पादनका खर्च बहुत बढ़ गया है। अतएव किसी प्रकार भी जनताको ‘कल्याण’ तथा गीताप्रेसकी पुस्तकें सस्ते दाममें मिलती रहें तथा ‘कल्याण’के ग्राहकोंको प्रतिवर्ष रुपये भेजनेकी असुविधा न रहे; इसलिये एक सौ रुपये एक साथ लेकर आजीवन सदस्यकी भाँति ‘आजीवन ग्राहक’ बनानेका निश्चय किया गया है। इससे आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक ‘कल्याण’ चलता रहेगा, उनको ‘कल्याण’ प्रतिवर्ष मिलता रहेगा। अवश्य ही उनके पीछे उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश ‘कल्याण’ बंद होनेपर भी नहीं मिलेगा। दोनों ही हालतोंमें रुपये गीताप्रेसके हो जायँगे। इससे प्रकारान्तरसे गीताप्रेसकी सहायता भी होगी। गीताप्रेस यों चंदा नहीं लेता; परंतु आजीवन ग्राहक बननेवाले मूल्य-स्वरूप जो एक सौ रुपये देंगे, वे तो लिये ही जायँगे। जो सज्जन गीताप्रेसकी तथा ‘कल्याण’की सहायता करना चाहें, वे स्वयं आजीवन ग्राहक बनकर तथा अपनी शक्ति और इच्छाके अनुसार, जिन लोगोंके पास पैसे नहीं हैं, परंतु जो ‘कल्याण’ पढ़ना चाहते हैं—ऐसे लोगोंको आजीवन ग्राहक बनाकर उनके प्रत्येकके लिये एक सौ रुपये दे सकते हैं। इससे ‘कल्याण’ पढ़नेवालोंकी सहायता होगी, सत्साहित्यका प्रचार होगा और गीताप्रेसकी प्रकारान्तरसे सहायता भी होगी। एक सज्जनने अभी अपनी ओरसे ऐसे सौ ग्राहक बनाये हैं। आजीवन ग्राहक बन रहे हैं, परंतु अभी, जितनी संख्यामें ग्राहक बनानेकी बात सोची थी, उसे देखते कम बने हैं। अतएव गीताप्रेसके तथा ‘कल्याण’के प्रेमी लोगोंको स्वयं ग्राहक बनकर तथा दूसरोंको यथासाध्य बनाकर रुपये शीघ्र भिजवाने चाहिये। निर्धारित संख्या पूरी हो जानेपर और आजीवन ग्राहक नहीं बनाये जा सकेंगे।

(२) जो सज्जन रु० ७.५० देकर साधारण ग्राहक बन चुके हों वे ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

(३) कुछ सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहते हैं, अतः उनको १२५) (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये।

(४) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये अजिल्द ‘आजीवन ग्राहक’ का मूल्य १२५) या १० पौंड है। सजिल्दका मूल्य १५०) या १२ पौंड है।

(५) कुछ प्रेमी मित्रोंने अपनी मीलों, कारखानों, उत्पादक तथा व्यापारी संस्थाओं, आश्रमों, मन्दिरों, पुस्तकालयों, क्लबों और अन्यान्य संस्थाओंको तथा फर्मोंको आजीवन ग्राहक बनानेका विशेष आग्रह किया है। अतः उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया है। अतः संस्थाओं तथा फर्मोंको भी आजीवन ग्राहक बनाया जाता है। जो लोग इस प्रकारके ग्राहक बनाना चाहें, वे उनका नाम पतेसहित पूरा मूल्य भेजनेकी शीघ्र कृपा करें।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’ गीताप्रेस, गोरखपुर

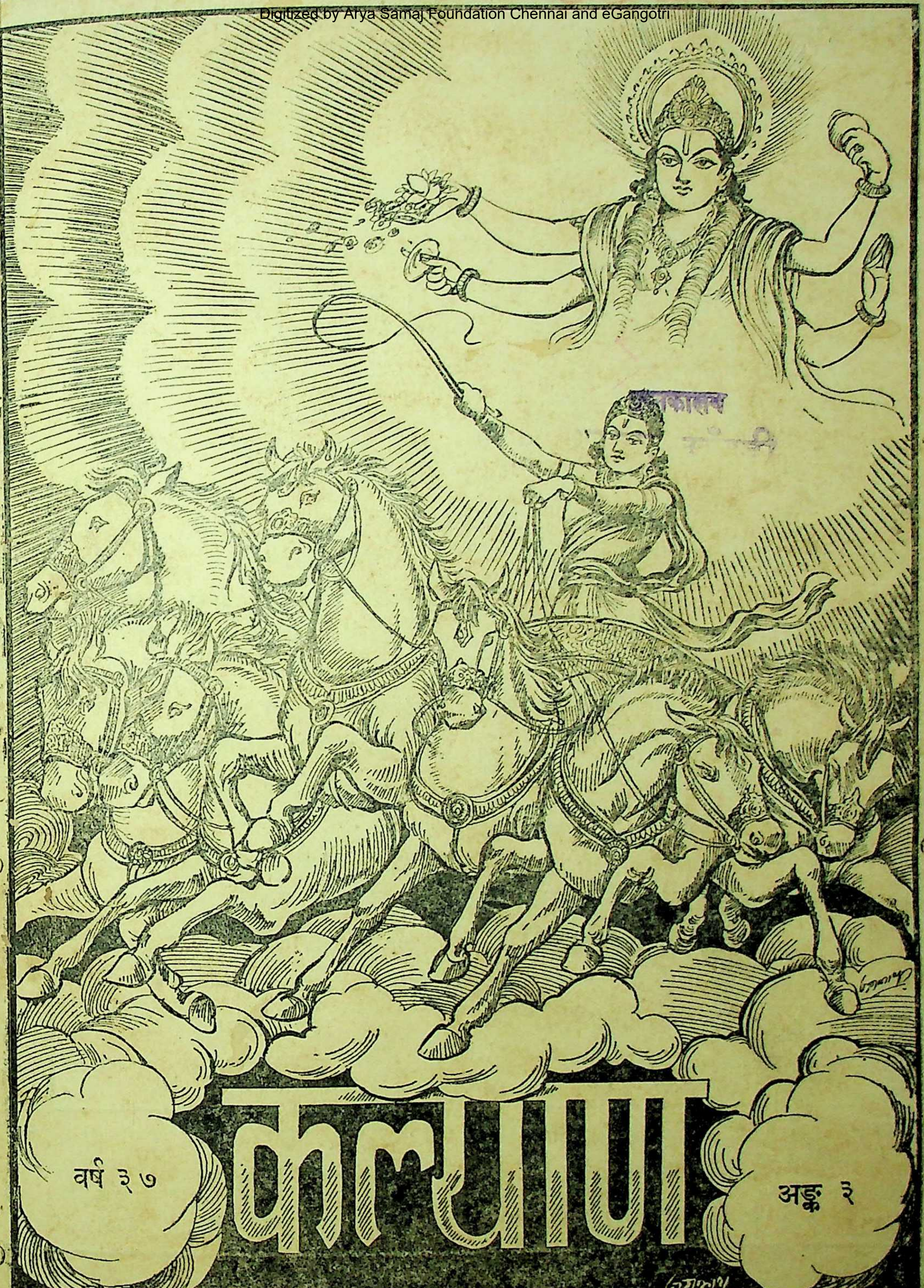

कल्याण

वर्ष ३७

अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

संस्करण—१,३०,००० (एक लाख तीस हजार) दूसरी बार—५,००० (पाँच हजार)

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०१९, मार्च १९६३

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती [कविता] ७४७
२–कल्याण (शिव) ··· ७४८
३–भगवत्प्राप्तिके विविध साधन (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ७४९
४–प्रकाशका देश (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ··· ७५७
५–धर्मक्षेत्र (श्रीलक्ष्मीकान्तजी मिश्र, एम्० ए०, साहित्यरत्न) ··· ७६१
६–मधुर ··· ··· ७६७
७–श्रीराम (श्रीहरेशचन्दजी अग्रवाल, एम्० ए०) ७६८
८–ईश्वर कब हँसता है ! (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी एम्० ए०) ··· ··· ७७३
९–राम-महिमा (प्रा० श्रीदेऊलगाँवकर चन्द्रकान्त) ··· ··· ७७४
१०–सुंदरता कहुँ सुंदर करई (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्०ए०, डी० लिट्०) ७७७
११- द्वादशाक्षर मन्त्र और गीता (श्रीगोविन्दराम पं० हूँदराजजी बोधा [यजुर्वेदी]) ··· ७७९
१२- हृदयमें मधुर गान रखकर आनन्दित होइये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· ७८३
१३–पारिवारिक जीवनकी दृढ़ भित्तियाँ—प्रेम, सहिष्णुता और सेवा (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ७८६
१४–करुण-प्रार्थना [कविता] ··· ७८८
१५–कौन सोचता है ? कौन व्यथित है ? (श्रीसुंदरलालजी बोहरा) ··· ७८९
१६–समर्पण [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ७९१
१७–तीर्थ [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ७९२
१८–सुन्दरता क्या है ? (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ··· ··· ७९४
१९–हिमालय-संरक्षण—देवालय-संरक्षण (श्रीओंकारमलजी सराफ) ··· ७९५
२०–चन्दना [कविता] (श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालङ्कार) ··· ७९८
२१–जन्तु-जगत्की विशेषताएँ (डा० श्रीरामदयालजी भार्गव) ··· ७९९
२२–दीर्घसूत्रीसे ! (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ८०१
२३–न्यायोपार्जित धनसे ही शान्ति मिलती है (श्रीभगवानदासजी चौधरी) ··· ८०२
२४–प्रभु प्रकाशसे भर देते हैं [कविता]··· ८०२
२५–संस्कारकी बात (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ८०३
२६–पढ़ो, समझो और करो ··· ८०५

चित्र-सूची

१–धर्मरथीको भगवान्‌का वरदान ··· ··· (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती ··· ··· (तिरंगा) ··· ७४७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र
भारतमें .४
विदेशमें .५
(१० पैसे)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

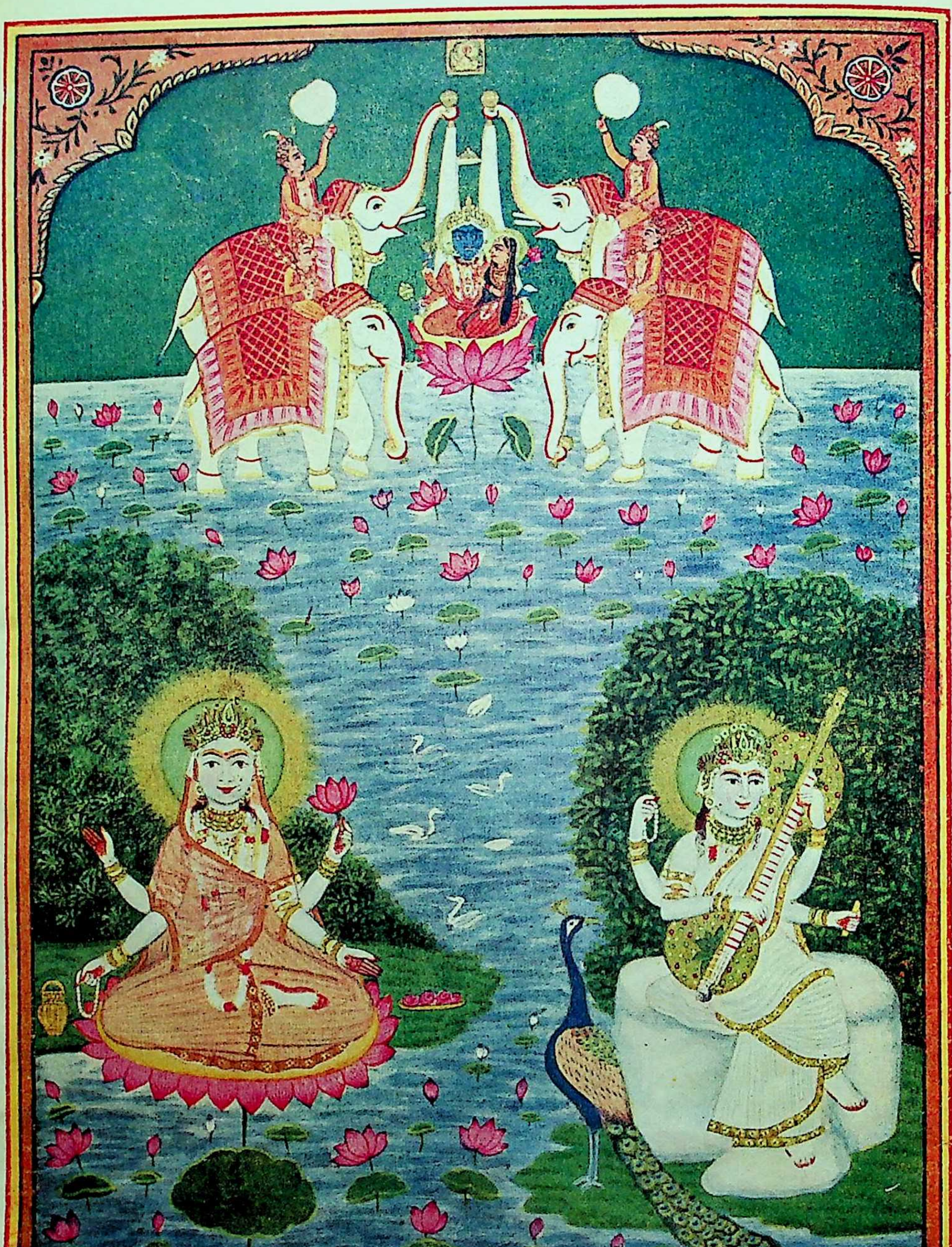

लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

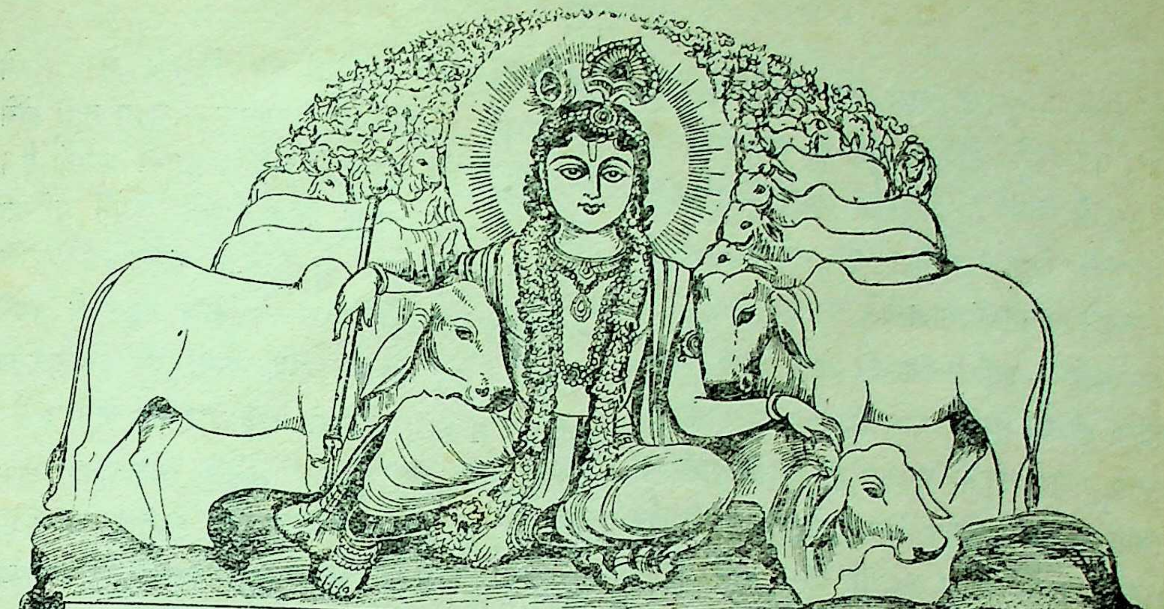

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१९, मार्च १९६३ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ४३६

लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती

शक्ति-शक्तिधर श्रीलक्ष्मी-नारायण दें मंगल वरदान ।
मिटें अशान्ति-दुःख सबहीके, प्राप्त करें सुख-शान्ति महान् ॥
माँ लक्ष्मी कर कृपा, हरें दारिद्र्य, करें सौभाग्य प्रदान ।
माँ सरस्वती दें शुचि विद्या-बुद्धि, हरें सारा अज्ञान ॥

* * *

कल्याण

याद रक्खो—तुम्हारे पास तन-धन, विद्या-बुद्धि, शक्ति-बल, पद-ऐश्वर्य आदि जो कुछ है, सब भगवान्‌का है, सब उन्हींसे मिला है और सब उन्हींकी सेवाके लिये है। उनकी सेवामें लगनेपर ही सबकी सार्थकता है एवं तुम्हारे जीवनकी भी इसीमें सफलता है।

याद रक्खो—जहाँपर जिसको ऐसी किसी वस्तुकी आवश्यकता हो जो तुम्हारे पास है, तो यह समझो वहाँ उस वस्तुके यथार्थ स्वामी भगवान् ही तुमसे अपनी वह वस्तु चाह रहे हैं। अतएव विनम्रताके साथ आदरपूर्वक उनकी वस्तु उन्हें अर्पण कर दो और इसमें अपना सौभाग्य समझो।

याद रक्खो—किसी भी वस्तुके लिये तुम कभी यह न समझो कि यह तुम्हारी है और न उसके लिये अभिमान करो। अपने लिये जितनी कम-से-कम आवश्यकता हो, उतनी भगवान्‌का कृपाप्रसाद समझकर, ग्रहण करो और शेष सब उन्हींकी सेवामें लगाते रहो।

याद रक्खो—सभीमें सदा-सर्वदा भगवान् बस रहे हैं, वरं भगवान् ही समस्त अनन्त विविध रूपोंमें अभिव्यक्त हैं। यह समझकर सभीका मान करो, सभीसे प्रेम करो, सभीका आदरयुक्त हित करो। दीनोंमें दयालु बनकर मत जाओ, दीन होकर ही जाओ और उनके दुःखको अपना दुःख अनुभव करके उनका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—दूसरेके दुःखसे सहज दुखी होकर हृदयमें जो एक द्रवता होती है और उसे दूर करनेके लिये जो त्यागमयी वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम दया है। दया अपना-पराया नहीं देखती, दया अभिमान नहीं आने देती, दया सेवा तथा त्यागमें सुखका अनुभव कराती है, नम्रता लाती है और जिसकी सेवा तुमने की, उसके हृदयमें अपनी न्यूनताका उदय नहीं होने देती, बल्कि उसे भगवान्‌की कृपाका अनुभव कराती है। ऐसी दया—परदुःखको निज दुःखके रूपमें परिणत कर उसे तन-मन-धनसे दूर करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति करानेवाली हृदयकी कोमलतम वृत्ति बहुत ही अच्छी चीज है। इसे अवश्य धारण करो, पर दयालुताका अभिमान न करो, अपनेको कभी बड़ा मत मानो।

याद रक्खो—दीनोंके सामने धनीपनकी शान दिखाना एक अपराध है। दीनोंमें दीनोंकी भाँति ही रहो। उन्हें जितना ऊँचा उठा सकते हो, उठाकर उन्हींके साथ-साथ अपना रहन-सहन भी ऊँचा कर लो। पर अपने वैभवका विज्ञापन मत करो, अपनेको प्राप्त वस्तुओंका अभिमान करके किसीका अपमान कभी न करो। ऊँचे बनो नीचे बनकर—विनम्र होकर—सबकी यथासाध्य सेवा करके।

याद रक्खो—किसी गरीबके सामने गर्वभरी वाणी बोलना, उसके साथ रूखा और कठोर व्यवहार करना भगवान्‌का अपराध है; क्योंकि उस गरीबके रूपमें भगवान् ही तुम्हारे सामने प्रकट हैं। अतएव सभीके साथ नम्र होकर मधुर वाणी बोलो; अपनी विनयविनम्र पियूषवर्षी वाणी तथा व्यवहारके द्वारा सर्वत्र शीतल मधुर सुधाकी धारा बहा दो; दुःखकी विष-ज्वालासे जलते हुए हृदयोंमें सुधा ढालकर उन्हें विषशून्य शीतल, शान्त और मधुर बना दो और यह सब करो केवल भगवान्‌की सेवाके लिये और करो सब कुछ उन्हींकी शक्ति, प्रेरणा और वस्तु मानकर। तुम्हारी निरभिमान त्यागमयी सेवासे भगवान् बड़े प्रसन्न होंगे और उनकी प्रसन्नता तुम्हारे जीवनको परम सफल बना देगी।

'शिव'

भगवत्प्राप्तिके विविध साधन

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परमात्माकी प्राप्तिके लिये भगवान् और ऋषि-मुनियोंने बहुत-से साधन (उपाय) बतलाये हैं । उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार अभ्यास किया जाय तो निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । ऐसे अभ्यास करनेयोग्य कुछ साधनोंका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है—

(१) एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है । एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही ब्रह्म है । उस आनन्दमय ब्रह्मका मनसे इस प्रकार मनन करना कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, बस, एक आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं । इस प्रकार मनन करते-करते मन मनन-क्रियासे रहित हो उस आनन्दमय ब्रह्ममें तन्मय हुआ तद्रूप—विलीन हो जाता है । फिर, ऊपर बताये हुए विशेषणोंसे जो ब्रह्मका विशेष रूप बुद्धिके द्वारा समझमें आता है, उसको ध्येय (लक्ष्य) बनाकर ध्यान करना चाहिये । यहाँ ब्रह्म ध्येय है, बुद्धिकी वृत्ति ध्यान है और साधक ध्याता है । इस प्रकार ध्यान करनेपर बुद्धि तन्मय होकर तद्रूप हो जाती है । तब ध्याता, ध्यान और ध्येयविषयक त्रिपुटी नहीं रहती । केवल एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है । उस साधककी ब्रह्ममें स्थिति हो जाती है । यह सविकल्प समाधि है । इस सविकल्प समाधिमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है । योगदर्शनमें इसको सवितर्क समाधि कहा गया है ।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः । (योगदर्शन १ । ४२)

‘उनमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे संकीर्ण—मिली हुई समाधि सवितर्क है ।’

इसके बाद जब साधक स्वयं ब्रह्ममें तद्रूप हो जाता है, तब वहाँ ये शब्द, अर्थ, ज्ञान नहीं रहते । केवल एक अर्थमात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रहता है । यही निर्विकल्प समाधि है । इसको योगदर्शनमें निर्वितर्क समाधि कहा गया है ।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का । (योग० १ । ४३)

‘शब्द और प्रतीतिकी स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली चित्तकी स्थिति ही निर्वितर्क समाधि है ।’

इसका फल परम गतिकी प्राप्ति है । भगवान्ने गीतामें कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७)

‘जिनका मन तद्रूप हो गया है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो गयी है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं ।’

(२) **‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’**—(छान्दोग्य० ३ । १४ । १) जड-चेतन, चर-अचर जो भी कुछ है वह सब निःसंदेह परब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है—यों सबमें ब्रह्मबुद्धिका अभ्यास करना । इस साधनको भगवान्ने गीतामें यज्ञका रूपक देकर यों समझाया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(४ । २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ।'

इस प्रकार जो मनुष्य सबमें परमात्मबुद्धि करके परमात्माके स्वरूपका ही सदा-सर्वदा अनुभव करता रहता है, वह उच्चकोटिका महापुरुष समझा जाता है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

इसलिये सबमें ब्रह्मबुद्धि करनेका अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि जो कुछ नाना रूपमें दीखता है वह एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है, उसका ही विस्तार है । भगवान्ने गीतामें कहा है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(गीता १३ । ३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।'

(३) एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके भावका और अन्य समस्त दृश्यरूप संसारको स्वप्नवत्, मायामात्र, कल्पित, अनित्य और असत् समझते हुए उसके अभावका अनुभव करना ।

भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
(८ । २०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ।'

इस प्रकार अभ्यास करनेपर उसके अनुभवमें प्रकृति और उसके कार्यका अभाव होकर एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही रह जाता है ।

(४) गीतामें अ० १८ श्लोक ४९ से ५५ तक ज्ञानकी निष्ठाके नामसे वर्णित ध्यानकी प्रणालीके अनुसार ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे एकान्तमें साधन करना । इस साधनसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

(५) गीतामें अ० १३ श्लोक ७ से ११ तक भगवान्ने जो ज्ञानकी प्राप्तिके साधन बतलाये हैं और जिनको भगवान्ने 'ज्ञान' संज्ञा दी है, उन साधनोंके अनुसार अपना जीवन बनाना । इस प्रकारका ज्ञानमय जीवन बनानेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

(६) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माके स्वरूपका ही अनुभव करके मनको उसमें तन्मय कर देना—उसीमें लगा देना ।

कहा भी है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।

अभिप्राय यह कि भगवान्के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार जिस स्वरूपमें अपनी श्रद्धा, रुचि हो, उसीमें भेद या अभेदभावसे अपने मनका समाधान कर देना—भलीभाँति लगा देना और सर्वत्र मनसे उसीका अनुभव करना चाहिये । इस प्रकार अभ्यास करते-करते मन परमात्मामें तन्मय हो सकता है ।

(७) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसे अपने इष्टदेव परमात्माके निर्गुण, सगुण, निराकार या साकार स्वरूपमें लगानेका प्रयत्न करना ।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(६।२६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही लगावे।'

(८) अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—सबको पूर्णरूपसे भगवान्‌के समर्पण कर देना। यही भगवत्-शरणागति है। इसमें मनके द्वारा निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करना, भगवान्‌के सिवा और किसीका भी चिन्तन न करना—यह मनको भगवान्‌के अर्पण करना है (गीता ८।१४, ९।२२)। 'भगवान्‌के सिवा और कोई मेरा नहीं है'—बुद्धिके द्वारा ऐसा निश्चय करके एकमात्र भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम करना—यह बुद्धिको भगवान्‌के अर्पण करना है (गीता ९।३०)। 'भगवान् सबमें व्यापक हैं' ऐसा समझकर भगवद्भावसे सबका आदर-सत्कार और सेवा करना—यह इन्द्रियोंको भगवान्‌के अर्पण करना है (गीता १८।४६)। तथा शरीरको अपना न मानकर भगवान्‌का मानना यानी शरीरमें अहंता-ममतासे रहित हो जाना और शरीरनिर्वाहके लिये जो भी कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहना—यह शरीरको भगवान्‌के अर्पण करना है। इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जानेसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९।३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

(९) मन, वाणी, नाड़ी, श्वास, कण्ठ आदि किसीके द्वारा भी अपने परम इष्टदेव भगवान् राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदिके किसी भी नाम-रूपका परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे निरन्तर जप-ध्यान करना।

योगदर्शनमें भी बतलाया गया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योग० १।२३)

'ईश्वरप्रणिधानसे भी समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १।२७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १।२८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।
(योग० १।२९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है।'

(१०) केवल एक भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम (अनुराग) करना। इससे भगवान्‌की शीघ्रातिशीघ्र प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(रा० च० मा० बाल० १८४।३)

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १३६।१)

किसी संस्कृत-कविने कहा है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधमें क्या सदाचार था ? ध्रुवकी अवस्था ही कितनी थी ? गजराजमें ऐसी कौन विद्या थी ? कुब्जाके नाम-रूपमें कौन-सा उत्कृष्ट सौन्दर्य था ? सुदामाके पास क्या धन था ? विदुरका कौन-सा उच्च कुल था ? यादवपति उग्रसेनमें कहाँका पुरुषार्थ था ? भगवान् तो भक्तिके प्रिय हैं । वे केवल भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं ।'

अतः भगवान्में प्रेम करना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है । भगवान्में प्रेम होनेके अनेक उपाय हैं । भगवान्में प्रेम होनेकी तीव्र लालसा जाग्रत् रहनेसे स्वाभाविक ही भगवान्में प्रेम हो जाता है । 'एकमात्र भगवान् ही हमारे हैं' इस प्रकार भगवान्के प्रति अपनत्वके भावसे भगवान्में प्रेम हो जाता है जैसे सांसारिक विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति—प्रेम हो जाता है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
(गीता २ । ६२ का पूर्वार्ध)

इसी प्रकार भगवान्का चिन्तन करनेवालेका भगवान्में प्रेम हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
(श्रीमद्भा० ११ । ४१ । २७)

'जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसका चित्त मुझमें ही तल्लीन हो जाता है ।'

केवल भगवान्के नाम-स्मरणसे भी भगवान्में प्रेम होता है—

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
(रा०च० मा० बाल० २० । ३)

भगवान्के और भगवद्भक्तोंके जीवन-चरित्रोंको पढ़ने-सुननेसे भी भगवान्में प्रेम होता है । भगवान्में दृढ़ श्रद्धा-विश्वास होनेसे भी भगवान्में प्रेम होता है और सत्संगसे भी भगवान्में प्रेम होता है । सत्संगके लिये श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(रा० च० मा० उत्तर० ६१)

भगवान्के शरण होकर करुणाभावपूर्वक स्तुति-प्रार्थना करनेसे भी प्रेम होता है एवं भगवान्के गुण-प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भी भगवान्में प्रेम होता है।

इस प्रकार भगवान्में प्रेम होनेके और भी बहुत-से उपाय हैं । और कुछ चाहे हो या न हो, भगवान्में श्रद्धाविश्वासपूर्वक दृढ़ अनुराग होना परम आवश्यक है। इसलिये भगवान्में विशुद्ध और अनन्य प्रेम-अनुराग होनेके लिये उपर्युक्त उपायोंको करनेकी चेष्टा तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त करनी चाहिये । इससे भगवान्में परम प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है ।

(११) भगवान्के साथ दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि किसी भी प्रकारके भावसे सम्बन्ध स्थापित करना । जैसे, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका सख्य भावसे युक्त विशुद्ध परकीय माधुर्य भाव था, रुक्मिणी आदि पटरानियोंका कान्ताभावसे युक्त स्वकीय माधुर्य भाव था, अर्जुनका दास्य और सख्य भाव था, गोपबालकोंका केवल सख्य भाव था, श्रीनन्द-यशोदा और वसुदेव-देवकीका वात्सल्य भाव था, अक्रूरका दास्य भाव था । इसी प्रकार भगवान् श्रीरामके प्रति दशरथ-कौसल्याका वात्सल्य भाव था, भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न-हनुमान्का दास्य भाव था, सीताका माधुर्य भाव था, विभीषणका दास्य और सख्य भाव था; सुग्रीवका सख्य भाव था एवं श्रीतुलसीदासजीका केवल दास्य भाव था । इसीसे श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥
(रा० च० मा० उत्तर० ११९ क)

वस्तुतः भाव ही प्रधान है । विना भावके किसी भी क्रियाका विशेष मूल्य नहीं है । अतः हमलोगोंको अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचिके अनुसार किसी भी भावसे भावित होकर भगवान्के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये ।

(१२) भगवान्की सत्ता, स्वरूप, गुण, प्रभाव, महिमा और उनके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना । तात्पर्य यह कि भगवान् सम्पूर्ण दिव्य अलौकिक गुणोंसे सम्पन्न हैं । उनके समान कोई गुणी नहीं है । न भगवान्के समान कोई प्रभावशाली है । वे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ, असम्भवको भी सम्भव कर सकनेवाले और समस्त सौन्दर्यके महान् केन्द्र हैं । संसारमें जो भी कुछ गुण, प्रभाव, महिमा, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदि प्रतीत होता है, वह सब भगवान्के गुण, प्रभाव, सौन्दर्य आदिके एक अंशका आभासमात्र है । भगवान् हैं, मिलते हैं, अनेक मनुष्योंको मिले हैं, मुझे भी अवश्य मिलेंगे—इस प्रकार जो भगवान्के सम्बन्धमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर दृढ़ विश्वास है, वह परम श्रद्धा है एवं जैसे, महर्षि हारिद्रुमत गौतमके वचनोंमें जबालाके पुत्र सत्यकामकी परम श्रद्धा थी, जिसके फलस्वरूप उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी (छान्दोग्य० ४ । ४–९); उससे भी बढ़कर गीतादिमें कहे हुए जो भगवान्के वचन हैं उनमें दृढ़ विश्वास करके मनुष्यको उनके अनुसार चलना चाहिये । इससे बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है; क्योंकि श्रद्धाकी कमीके कारण ही परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब हो रहा है । परम श्रद्धा होनेपर फिर परमात्माकी प्राप्तिमें कोई विलम्ब नहीं । भगवान् गीतामें कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(४ । ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह विना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

(१३) भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके, मनसे उनको अपने सम्मुख उपस्थित देखकर चरणसे लेकर मस्तक तक उनके प्रत्येक अङ्गका दर्शन करते हुए मुग्ध होना और भगवान्के स्वरूपकी मानसिक सामग्रियोंसे बहुत प्रेमपूर्वक मानसिक पूजा करना । इस पूजामें पत्र, पुष्प, फल, जल आदि पूजाकी सभी सामग्री मानसिक है, भगवान्का स्वरूप भी मानसिक है और पूजा करनेवाला साधक भी अपने मानसिक शरीरसे ही पूजा करता है । मन्त्रोंका उच्चारण और पूजाकी सारी क्रिया भी मानसिक होती है। यह श्रद्धा-प्रेमपूर्वक की हुई मानसिक पूजा बाहरी मूर्तिपूजाकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि बाहरी पूजामें तो मन इधर-उधर चला जाता है । किंतु इस मानसिक पूजामें मन अन्यत्र नहीं जा सकता; क्योंकि इस पूजामें सभी कुछ मानसिक है । यदि मन ही अन्यत्र चला जाय तो फिर यह पूजा ही कैसे हो ? चाहे मानसिक पूजा हो चाहे मूर्तिपूजा, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक की गयी पूजाको भगवान् स्वीकार करते हैं । वे स्वयं कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

(१४) यम-नियमोंका पालन करते हुए एकान्त स्थानमें सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि किसी भी आसनसे बैठकर प्राणायामका अभ्यास करना और विषयोंसे इन्द्रियोंका सम्बन्ध विच्छेद करके एकदेशमें

यानी परमात्माके सगुण स्वरूपमें ही चित्तको एकाग्र करके परमात्माका ध्यान करना। इस प्रकार साधन करनेसे मनुष्यकी समाधि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।
(योग० २ । २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगके अङ्ग हैं।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
(योग० २ । ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव)—ये पाँच यम हैं।'

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योग० २ । ३२)

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरणागति—ये पाँच 'नियम' हैं।'

स्थिरसुखमासनम् । (योग० २ । ४६)

'निश्चल (हलन-चलनसे रहित) सुखपूर्वक बैठनेका नाम 'आसन' है।'

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
(योग० २ । ४९)

'आसन सिद्ध होनेके बाद श्वास और प्रश्वासकी गतिका रुक जाना 'प्राणायाम' है।' प्राणवायुका शरीरमें प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंकी गतिका रुक जाना प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
(योग० २ । ५०)

'उक्त प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति—ऐसे तीन प्रकारका होता है। तथा वह देश, काल और संख्याद्वारा देखा जाता हुआ लंबा और हल्का होता है।'

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (योग० २ । ५१)

'बाहर और भीतरके विषयोंका त्याग कर देनेसे अपने-आप होनेवाला चौथा प्राणायाम है।'

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
(योग० २ । ५४)

'अपने विषयोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर जो इन्द्रियोंका चित्तके स्वरूपमें तदाकार हो जाना है, वह 'प्रत्याहार' है।'

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योग० ३ । १)

'बाहर या शरीरके भीतर कहीं भी किसी एक देशमें चित्तको ठहराना 'धारणा' है।'

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योग० ३ । २)

'जहाँ चित्तको लगाया जाय, उसीमें वृत्तिका एकतार चलना 'ध्यान' है।'

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
(योग० ३ । ३)

'जब ध्यानमें केवल ध्येयमात्रकी ही प्रतीति होती है और चित्तका निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब वही (ध्यान ही) समाधि हो जाता है।'

(१५) संसारके जितने भी विषय-भोग हैं वे वस्तुतः रसरहित हैं। ऐसा समझकर रागद्वेषरहित और वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा न्याययुक्त विषयोंका ग्रहण करते हुए उनको इन्द्रियोंमें विलीन कर देना।

गीतामें कहा गया है—

शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥
(४ । २६ का उत्तरार्ध)

'दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।'

इस प्रकार करनेसे साधकको दृष्टिमें सभी विषय-भोग रसहीन हो जाते हैं। फिर इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी उसपर वे अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इस प्रकारका साधन करनेवाला पुरुष भी सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। (गीता ४।३१)

इसलिये मनुष्यको राग-द्वेषसे रहित होकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके संसारमें विचरण करना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसकी परमात्मामें स्थिति हो जाती है। भगवान्ने बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २। ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई रागद्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

(१६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका और शरीरका विस्मरण करके पूर्णरूपसे संकल्परहित हो एक चिन्मय परमात्माका ही चिन्तन करना। इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब अन्तःकरणका भलीभाँति संयम हो जाता है, तब चिन्मय परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। फिर उसका शरीर और संसारसे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। गीतामें बतलाया गया है—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥
(४। २७)

'दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयम-योगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं।'

अतः शरीर और संसारके संकल्पों और स्फुरणाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मय परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये।

(१७) शरीर, वाणी और मनके द्वारा निष्काम-भावसे तपका अनुष्ठान करना।

भगवान् कहते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
(गीता १७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥
(गीता १७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
(गीता १७। १७)

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं ।'

इस त्रिविध तपका श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे अनुष्ठान करनेपर भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है ।

(१८) निष्कामभावसे कर्म करनेकी जो प्रणाली गीता २ । ४७ से ५१ तक बतायी गयी है, जिसका नाम कर्मयोग है उसके अनुसार साधन करना ।

इस कर्मयोगके साधनसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

(१९) गीता १६ । १-२-३ में दैवीसम्पदाके नामसे वर्णित सद्गुण-सदाचारका भलीभाँति सेवन करना और गीता १६ । ४, ७ से २१ तक आसुरीसम्पदाके नामसे वर्णित दुर्गुण-दुराचारका सर्वथा त्याग करना ।

इस प्रकार आसुरीसम्पदाके त्याग और दैवीसम्पदाके सेवनसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है ।

(२०) वीतराग पुरुषोंका चिन्तन करना ।

श्रीपतञ्जलिजीने कहा है—

वीतरागविषयं वा चित्तम् । (योग० १ । ३७)

'वीतरागको विषय करनेवाला चित्त भी स्थिर हो जाता है ।'

अभिप्राय यह है कि श्रीशुकदेवजी आदि जो विरक्त महापुरुष हुए हैं, उन महापुरुषोंका चिन्तन करनेसे मनमें स्वाभाविक ही वैराग्य होकर संसारसे उपरति हो जाती है तथा परमात्मामें ध्यान लगकर समाधि हो जाती है ।

यदि विरक्त महात्माकी पहचान न हो सके तो अपनी मान्यताके अनुसार जिस महापुरुषमें श्रद्धा-विश्वास हो उसीका ध्यान करना चाहिये ।

(२१) सुखी मनुष्योंके प्रति मित्रता, दुखी मनुष्योंके प्रति दया, धर्मात्मा मनुष्योंके प्रति मुदिता और पापी मनुष्योंके प्रति उपेक्षा करना ।

श्रीपतञ्जलिजीने बतलाया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।
(योग० १ । ३३)

'सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी, दुखी मनुष्योंमें दयाकी, पुण्यात्मा पुरुषोंमें प्रसन्नताकी और पापियोंमें उपेक्षाकी भावना करनेसे चित्त शुद्ध—निर्मल हो जाता है ।'

चित्त शुद्ध होनेपर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका पात्र हो जाता है । किंतु प्राणीमात्रके प्रति निष्कामभावसे दया और प्रेम करनेका अभ्यास करनेसे तो सहज ही चित्त शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(१२ । ४ का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥
(रा० च० मा० अरण्य० ३० । ५)

ऊपर जो इक्कीस साधन बतलाये गये हैं, इनका स्वरूप भलीभाँति हृदयङ्गम करनेके लिये उनमें संकेत किये हुए गीताके श्लोकोंकी विस्तृत व्याख्या गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें देख सकते हैं । इनके सिवा और भी बहुत-से साधन हैं । उन साधनोंमेंसे किसी एकका भी अनुष्ठान अच्छी प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जाय तो निस्संदेह उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

प्रकाशका देश

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ ७०६ से आगे]

[शिव-राम-संवाद]

'अ'कार पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद और ब्रह्मा है। 'उ'कार अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद और जनार्दन विष्णु है। 'म'कार द्यौः, सूर्य, सामवेद और महेश्वर है।

राम—मनमें बड़ी गड़बड़ मच रही है—मान लो, मैं राम-राम करने लगा, तो इससे क्या मिलेगा ?

शिव—राम-राम करते-करते राम तुम्हें दर्शन देंगे। रामनाम पूरा हो जायगा, फिर तुम राम उच्चारण नहीं कर सकोगे। तुम यदि नित्यलीलाकी इच्छा रखते होओगे तो चिन्मय नित्य साकेतमें राम-सीताको प्राप्त करके उनका कैङ्कर्य करोगे और यदि वह आकाङ्क्षा नहीं होगी तो एकीभूत हो जाओगे।

राम—ओंकार कहाँ है ?

शिव—वह आकाशकी भाँति विश्वव्याप्त हो रहा है। सबके भीतर-बाहर वही विराजमान है। उसकी इच्छा हुई थी 'बहुत होकर प्रकट होऊँगा।' अतः वही सब कुछ सजकर खेल कर रहा है।

राम—तुम मुझे जरा समझाकर कहो।

शिव—परम व्योम चिदाकाशमें सृष्टिके आदिमें स्पन्दन हुआ—

'बहु स्यां प्रजायेयेति'

बहुत होकर जन्म लूँगा। यह प्रथम स्पन्दन ही परब्रह्म ओङ्कार है—महाकाशमें विश्वहीन विश्वमें सर्वत्र 'ॐ ॐ ॐ' की ध्वनि होती रहती है। आकाश वायुमें ॐकार नादलीला करता रहता है। ॐकारनाद ही प्रकृति है, वही माया है, तमः-तप ज्ञानप्रधान है, शक्ति अज परमाणु है। ये सभी ॐकारनादके नाम हैं। उसी शब्दमय परमाणुसे वायु, वायु स्थूल होकर अग्नि, अग्नि स्थूल होकर जल, जल स्थूल होकर पृथ्वी—ये सभी भूत ॐकार-नादरूप परमाणुसे ही संजात हैं। उससे आधिदैविक—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, देवतागण; आधिभौतिक—मनुष्य, पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता, सागर-नद-नदी, पर्वत, सोना-चाँदी-लोहा-ताँबा आदि धातुएँ—संक्षेपमें समस्त पार्थिव पदार्थ और आध्यात्मिक—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ आदि इन्द्रियोंका उदय हुआ।

राम—हमारा यह देह कहाँसे हुआ ?

शिव—ॐकारनाद ही जमकर हो गया। जैसे जल जमकर बरफ हो जाता है, वैसे ही ॐकारनाद जमकर देह बन गया।

राम—देह मेरा है, मैं कौन हूँ ?

शिव—तुम जीवात्मा हो, ज्योतिर्मय नादात्मक ॐकार हो—तुम हो कुल-कुण्डलिनी।

राम—वह निराकार है या साकार ?

शिव—वह निराकार है, साकार है, साकार-निराकार दोनोंसे अतीत है।

राम—बात ठीक समझमें नहीं आयी।

शिव—तुम यदि निराकाररूपसे उसकी उपासना करोगे तो उसके निराकार स्वरूपमें मिल जाओगे; यदि साकाररूपकी उपासना करोगे तो त्रिपादविभूतिमें जो उसकी नित्यलीला चलती है, उस नित्यलीलामें साथी हो जाओगे।

राम—त्रिपादविभूति कहाँ है और कैसी है ?

शिव—अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके ऊर्ध्वपर 'कोटिसूर्य-

समप्रभ कोटिचन्द्रसुशीतल'—प्रकाशका देश—ज्योतिका राज्य है। उसका नाम परमपद है। इसीसे वह सबका काम्य है।

राम–तब गायत्रीकी उपासनाके द्वारा हमलोग उसी प्रकाशके राज्यमें जायँगे ?

शिव–हाँ, परमपद सभीके लिये काम्य है। निर्गुण उपासक उस परमपदको प्राप्त करके उसमें मिल जाते हैं और भक्तगण, जो उस परमपदके अधीश्वर हैं, उनकी सेवा करके कृतार्थ होते हैं। गायत्री-जपके द्वारा ब्राह्मण पुरुषोत्तम ॐकारमें मिल जाते हैं। अद्वैत ब्रह्मकी प्राप्ति ही ब्राह्मणका लक्ष्य है।

राम–गायत्रीका अर्थ क्या है ?

शिव–भूर्भुवः स्वः—तीनों लोकोंके प्रसविता देवके उस तेजका चिन्तन करते हैं, जो तेज हमलोगोंकी बुद्धि-वृत्तियोंको उनकी ओर प्रेरण करता है।

राम–तीन लोक ही क्यों, लोक तो सात हैं ?

शिव–सात लोक तीन लोकोंमें ही हैं। कोई-कोई अर्थ करते हैं कि भूः आदि सातों लोकोंमें व्याप्त ॐकारस्वरूप विश्वप्रसविता ज्योतिर्मय देवके उस तेजका ध्यान करते हैं जो तेज हमारी बुद्धि-वृत्तिसमूहको धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी ओर प्रेरित करता है। आचार्योंने गायत्रीके अनेक प्रकार अर्थ किये हैं। सार बात यही है कि गायत्रीके द्वारा तेजोमय ॐकारका ही ध्यान किया जाता है। गायत्री-जप करते-करते ज्योतिका आविर्भाव अपने-आप ही हो जाता है।

राम–गायत्री-जप कहाँ करना चाहिये ?

शिव–

गृहेषु तत्समं जप्यं गोष्ठे शतगुणं स्मृतम्।
नद्यां शतसहस्रं तु अनन्तं शिवसंनिधौ॥
(गोभिल)

घरमें जप सम होता है, गोष्ठमें जप करनेपर सौगुणा हो जाता है, नदी-तीरपर लाखगुणा और शिवजीके समीप जप करनेपर वह अनन्तगुणा होता है।

दशभिर्जन्मजनितं शतेन च पुराकृतम्।
त्रियुगं तु सहस्रेण गायत्री हन्ति दुष्कृतम्॥

दस बार गायत्री-जप करनेपर इस जन्मके, सौ बार जपनेपर पूर्वकृत और हजार बार जपनेपर तीनों युगोंके पापोंका नाश हो जाता है।

राम–ऐसा ही होता हो तो फिर मनुष्य इतना कष्टमें क्यों है ?

शिव–जिस प्रकारसे जप करनेपर पाप-नाश होते हैं, ठीक उस प्रकारका जप ब्रह्मचर्यहीनता, आहारका दोष, उच्चारणकी भूलें आदि कारणोंसे होता नहीं। तथापि जप करते-करते उसकी कृपा क्रमशः पापोंका नाश करती रहती है। वह उच्चारणको ठीक कर देती है।

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम्।
गायत्रीं तु जपेद् विप्रो न स पापेन लिप्यते॥

नित्य सहस्र गायत्रीका जप श्रेष्ठ, सौ जप मध्यम और दस जप अधम है। जो विप्र गायत्रीका जप करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता।

राम–गायत्रीकी खूब महिमा है।

शिव–गोभिल कहते हैं—

'अष्टकृत्वः एकादशकृत्वः द्वादशकृत्वः पञ्चदशकृत्वः शतकृत्वः सहस्रकृत्वः'—

आठ बार, ग्यारह बार, बारह बार, पंद्रह बा सौ बार और सहस्र बार जप किया जाता है। आ बारके जपसे पृथ्वीपर विजय प्राप्त होती है, ग्यारह बार जपसे अन्तरिक्षपर, बारह बारके जपसे स्वर्लोकप पंद्रह बारके जपसे सब दिशाओंपर, सौ बारके जप सबपर और हजार बारके जपसे जो कुछ भी देखा-सु जाता है—सबपर विजय प्राप्त की जा सकती है।

राम–विजय प्राप्त करनेका क्या अभिप्राय है ?

शिव–चित्तने बहिर्मुख होकर संसारकी रचना ली है, गायत्री-जपके द्वारा चित्त अन्तर्मुख हो जाता

प्राण सुषुम्णामें प्रवेश कर जाते हैं। चित्तके अन्तर्मुख होनेपर बृहद् ब्रह्माण्डपर विजय प्राप्त हो गयी और प्राणोंके सुषुम्णामें प्रवेश करनेपर क्षुद्र ब्रह्माण्डपर।

नरसिंहपुराणमें कहा गया है—

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम्।
गायत्रीं यो जपेन्नित्यं न स पापैर्हि लिप्यते॥

प्रतिदिन सहस्र बार जप करना उत्तम, सौ बार जप करना मध्यम और दस बार अधम है। जो नित्य सहस्र गायत्रीजप करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता।

लक्षद्वादशयुक्तस्तु पूर्णब्राह्मण इङ्गितः।
गायत्र्या लक्षहीनस्तु वेदकार्ये न योजयेत्॥
(शिव० विद्येश्व० ११।४६।६७)

एक लाख जप करनेपर ही ब्राह्मणोचित कर्म करनेकी योग्यता प्राप्त होती है। बारह लाख जप करनेवाला पूर्ण ब्राह्मण होता है।

राम—बारह लाख गायत्री-जपमें कितने दिन लगते हैं?

शिव—प्रतिदिन एक हजार जप करनेपर तीन वर्ष चार महीनेमें १२ लाख गायत्री-जप हो जाता है। सात्त्विक आहार और ब्रह्मचर्यका नियम लेकर जो १२ लाख गायत्री-जप कर लेते हैं, वे असाध्य साधन कर सकते हैं।

राम—गायत्री-जपसे ही सब कुछ हो जाता है, फिर संध्या करनेकी क्या आवश्यकता है?

शिव—ॐकारकी व्याख्या है—सप्रणव व्याहृति गायत्री, शिवके साथ गायत्री। और गायत्रीकी संक्षिप्त व्याख्या है—संध्या; और चतुर्वेद, षड्दर्शन, समस्त शास्त्र, रामायण, महाभारत, भागवत आदि सब गायत्रीकी विस्तृत व्याख्या हैं।

राम—रामायण-भागवतमें तो श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीला-कथाएँ हैं।

शिव—ॐकार ही श्रीराम और श्रीकृष्ण हैं।

राम—ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ।

शिव—समझना कठिन है। जाने दो—संध्याके मन्त्रमें जलको जगज्जननी कहा गया है और उसकी प्रार्थना की गयी है। सूर्यकी प्रार्थना है। सभी एकमात्र भगवान् हैं—यही संध्याके मन्त्रोंमें बताया गया है। जीवका मूल लक्ष्य है—'सभी कुछ भगवान् हैं'—इस ज्ञानको प्राप्त करना। संध्याके द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है। सप्रणव गायत्री और गायत्री-शिरके द्वारा पर-अपर ब्रह्म ॐकारका स्वरूप बतलाया गया है।

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं—

ये सात व्याहृति गायत्रीका निम्न भाग हैं। गायत्रीका शिर है—**आपः ज्योतिः रसः अमृतं, ब्रह्म, भूर्भुवः स्वः ओम्।** समस्त जल, सम्पूर्ण ज्योतिः, सब रस और अमृत ब्रह्म अपर प्रणव है। भूत, भविष्यद्, वर्तमान तीनों कालोंमें—भूर्भुवः स्वः—ये तीन कालातीत त्रिपादविभूति हैं। नित्य चिन्मय परम ब्रह्म ॐकार इस त्रिपादविभूतिमें ही भक्तोंका परमपद वैकुण्ठ, गोलोक, वृन्दावन, साकेत, कैलास और परम ब्रह्मलोक है। अपर प्रणव सप्तलोक व्याप्त है। यहाँ माया या कालका खेल चलता है और त्रिपादविभूति है कालातीत परम लोक।

राम—यह सब नहीं समझ सका।

शिव—संध्या करो, नित्य एक सहस्र गायत्री-जप करनेकी चेष्टा करो। क्रमशः सब अपने-आप ही समझ सकोगे।

ॐकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रस्त्वन्यरेतजः॥
(देवीभागवत)

ॐकार पिता है, गायत्री माता है। जो विप्र इन पिता-माताको नहीं जानता उसे दूसरेके वीर्यसे उत्पन्न समझना चाहिये।

राम—संध्या-गायत्रीकी बात तो सुनी, परंतु इसमें ठीक रस नहीं मिलेगा । घरमें जिससे सभी आनन्द प्राप्त करें और मुझे जिससे सहज ही आनन्दकी प्राप्ति हो, ऐसा कोई मार्ग बताओ ।

शिव—तुमलोग तो रामोपासक हो ?

राम—हाँ, घरमें श्रीरामका विग्रह है, हम सबने राममन्त्र लिया है । वैसे कोई भोग नहीं लगाया जाता, केवल चावल चढ़ाया जाता है ।

शिव—नित्य प्रातःस्नान, यथाकाल संध्या, तुलसी-सेवा किया करो । फिर कलियुगके—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

—इस महामन्त्रका प्रातः-संध्या सब लोग मिलकर जप-कीर्तन करना, ठाकुरजीके अन्नभोगकी व्यवस्था करना, इष्टदेवताको केवल चावल चढ़ानेसे अपराध होता है । घर ठाकुरजीका है । उनके घरमें मछली, मांस, प्याज आदिको न घुसने देना । अधिक दिन नहीं, तीन महीने इस नियमका पालन करके देखो । केवल तुम्हीं नहीं, घरभरके सभी स्त्री-पुरुष आनन्द-राज्यमें पहुँच जाओगे । जलन तो इसीसे है कि आनन्दमयको भूल गये हैं । आनन्दमय श्रीभगवान्का नाम उठते, बैठते, खाते, सोते सब समय लिया करो । नाम और नामी भिन्न नहीं हैं । नाम लेते-लेते शीघ्र ही उनका पता लग जायगा । भगवान् हैं और अब भी दर्शन देते हैं ।

राम—और क्या करना चाहिये ?

शिव—शामको रोज रामायण पढ़कर सबको सुनाना । राम-राम करना । कब क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये——इसकी व्यवस्था वे स्वयं भी कर देंगे । उन्होंने कहा है——मैं उसको वह बुद्धियोग देता हूँ जिसके द्वारा शरणागत भक्त मुझको प्राप्त कर लेता है । भाई ! बहुत जन्म-जन्मान्तरोंकी साधनाके फलस्वरूप मानवदेहकी प्राप्ति होती है । इस देहका मुख्य लक्ष्य है——'ईश्वर-दर्शन' । जीवनका बहुत-सा अंश व्यर्थ चला गया है । अभीसे यह चेष्टा करो, जिससे अब एक श्वास भी व्यर्थ न जाय ।

राम—एक बात और याद आ गयी ।

शिव—बताओ !

राम—अच्छा, गायत्री-जप करनेपर ज्योति मिलती है, सो हमलोग तो रोज ही सूर्य और चन्द्रमाकी ज्योति देखते हैं,——बिजली और गैसकी रोशनीमें भी ज्योति है । गायत्री-जपसे यदि ज्योति ही मिलती है, तो फिर उस ज्योतिके लिये जप क्यों किया जाय ?

शिव——इस ज्योति और उस ज्योतिमें भेद है । वह ज्योति भर्ग-ज्योति है । भर्ग शब्दका अर्थ है भूँज देना । ब्रह्मज्योति मनुष्यके अनन्त जन्मोंके काम-कर्मोंको भूँज डालती है । इससे फिर कर्मोंका अंकुर नहीं उत्पन्न होता । जापक आत्मस्वरूपमें मिल जाता है । हाँ, यह ज्योति आँखोंके द्वारा देखी जाती है; पर उस ज्योतिको जापक आँखें बंद करके भीतरकी आँखोंसे देख पाता है । पहले खण्डरूपमें दर्शन होता है, उसके बाद अनन्त आकाशकी भाँति 'कोटिसूर्यसमप्रभ कोटिचन्द्र-सुशीतल' परम ज्योतिके पारावारमें सदाके लिये निमज्जित हो जाता है । यही प्रकाशका देश ही सबके लिये एकमात्र काम्य है !

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(कठोपनिषद् २ । २ । १५)

उस पुरुषोत्तम ॐकारको सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं प्रकाशित कर सकते, फिर यह जागतिक अग्नि तो कैसे उसे प्रकाशित कर

सकती है ? वह स्वयं प्रकाशमान है, अतः सब उसीके प्रकाशसे प्रकाश पाते हैं, उसीकी ज्योतिके द्वारा यह सब विविध रूपोंमें प्रकाशित हो रहा है ।

सर्वदिशाओंमें व्याप्त वह पुरुषोत्तम ॐकार ही सबसे पहले हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुआ । वही ब्रह्माण्डमें विराट्-रूपमें रहता है । उसीने फिर मनुष्यादिके शिशुरूपमें जन्म लिया और लेगा । वही समस्त जीवोंके भीतर रहता है । इसलिये वह सर्वतोमुख है । अर्थात् सब प्राणियोंका मुख उसीका मुख है ।

यो देवोऽग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥

जो स्वयम्प्रकाश पुरुषोत्तम ॐकार अग्निमें स्थित है, जो जलमें अधिष्ठित है, जो शाली धान आदि ओषधि-में वर्तमान है, जो अश्वत्थादि वनस्पतियोंमें विराजमान है—उस ज्योतिर्मय ॐकारको बार-बार प्रणाम करता हूँ ।'

ॐ तत्सत् ॐ

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥
जय गुरु, जय नाम, जय भगवान्

धर्मक्षेत्र

(लेखक—श्रीलक्ष्मीकान्तजी मिश्र, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

धर्म और समाज

सामान्यतया मानव-जीवनके लिये धर्म सदैवसे ही एक गूढ़ विषय रहा है । संसारका कोई भी ऐसा भाग नहीं जहाँ धर्म किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान न हो, यद्यपि देश, काल और परिस्थितियोंके अनुसार किसी स्थानपर धर्मका क्या रूप होगा, यह नहीं कहा जा सकता । जिन लोगोंके विचारोंमें किसी परम्परागत धर्मको मान्यता नहीं प्राप्त है, वे भी व्यापक धर्मके किसी-न-किसी अङ्गको स्वीकार कर जीवन-यापन करते हैं । जिस किसी समयसे धर्मका प्रारम्भ माना जाय, यहाँतक कि मानवकी वह अवस्था जब कि किसी समाज-व्यवस्थाका प्रारम्भ नहीं हुआ था या उसके पहलेके किसी रूपमें यह नहीं कहा जा सकता कि धर्मका किसी कालविशेषमें प्रारम्भ हुआ । परंतु धर्म किसी स्पष्ट रूपमें उस समय ही आ पाया, जब मानवके समक्ष एक सामाजिक व्यवस्था आयी । आज धर्मका समाजसे कोई अलग भी रूप हो सकता है, ऐसे विचार नहीं उठते । क्रमशः मानवके सामाजिक जीवनका विकास होता गया और धर्मका रूप भी समाजके लिये स्पष्ट होता गया । आज जब मनुष्यकी परिभाषा करते हैं तो मनुष्य एक 'बौद्धिक प्राणी है' के स्थानपर 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' पर अधिक जोर देते हैं । यद्यपि इनमें कोई आन्तरिक या बाह्य विरोध नहीं है परंतु पहली एक सामान्य परिभाषा है और दूसरीमें मनुष्यके सम्बन्धमें समाजको महत्त्व दिया गया है । आज मनुष्यके लिये प्रायः असम्भव है कि वह समाजके सभी सम्बन्धोंसे अलग होकर अपना जीवन-यापन कर सके । इसीलिये आधुनिक विचारक जे० कृष्णमूर्तिने यहाँतक कह दिया है कि जीवित रहना सम्बन्धित होना है (To be is to be related) । जहाँ सम्बन्ध है वहाँ समाजका कोई-न-कोई रूप अवश्य होगा । इस आधारपर धर्म हमारे लिये समाजसे परे कोई वस्तु नहीं रह जाती और समाजका अर्थ किसी-न-किसी समाज-धर्मसे ही लिया जाता है ।

धर्मके विभिन्न रूप

इस प्रकार धर्मका सामाजिक रूप निश्चित होनेपर तत्सम्बन्धित अनेक विचार उठते हैं । धर्म क्या है ? धर्मका मनुष्यके व्यक्तिगत या सामाजिक जीवनसे क्या सम्बन्ध है ? धर्मका लक्ष्य और फल क्या है ? आदि । भारतीय मनीषियोंने बहुत पहलेसे ही धर्मका रूप निश्चित कर रक्खा है । इस विवेचनमें 'जो धारण करे वही धर्म है', 'वेदोक्त प्रेरणा ही धर्म है' आदि अनेक रूप प्रस्तुत किये गये हैं, जिनके अनुसार भारतीय संस्कृतिका निर्माण हुआ है । इसके अतिरिक्त धर्मका सामाजिक व्यवस्थाके साथ जब सम्बन्ध देखते हैं तो धर्मके अनुसार अर्थ और कामकी प्राप्ति करते हुए मोक्ष पानेकी बात कही गयी है । इसीलिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्षमें धर्मको प्रथम स्थान मिला है । स्पष्ट है कि बिना धर्मके

सामाजिक जीवनका व्यवस्थित रूप सम्भव ही नहीं लगता । नैतिक रूपमें भी नीतिशास्त्रके मूल विचार कि 'प्रत्येक मनुष्यको साधन नहीं साध्य समझना चाहिये' के अनुसार भी धर्मयुक्त व्यवहार ही मान्य ठहरता है । इसी आधारपर मोक्षकी प्राप्तितक धर्म सदैव आगे-आगे चलता है । सामाजिक और नैतिक पक्षमें धर्मका यह रूप तभी चल सकता है, जब मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक रूपोंमें धर्मकी सिद्धि हो । धर्म बाह्य आचरणमें उसी समय आ सकता है जब धर्मको मनद्वारा स्वीकार किया जाय । मनद्वारा ग्रहण करनेका अर्थ है—धर्मकी भावना बन जाना । जबतक सिद्धान्त भावनाके रूपमें नहीं बदल जाता, तबतक उसमें कार्यशक्ति नहीं होती । सिद्धान्त विचाररूपमें ही रहनेपर व्यावहारिक नहीं बन सकते । इस प्रकार धर्म भाव बन जानेपर व्यावहारिक एकताका निर्माण होता है । इसी व्यावहारिक एकताकी परिणति आध्यात्मिक रूपमें हो जाती है । चाहे भारतीय सामाजिक व्यवस्थापर विचार किया जाय अथवा अन्य किसी प्रकारकी व्यवस्थाको देखा जाय, व्यावहारिक एकता सभी जगह मान्य है । बिना इसके कोई भी कार्य सुचारु रूपसे चल ही नहीं सकता । इसीको यहाँपर वेदोक्त प्रवृत्तिरूप धर्म (कर्मयोग) कहा गया है । आचार्य शंकरने अपने गीताभाष्यमें इसका उल्लेख किया है—

स भगवान् सृष्ट्वा इदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षुः मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम् ।

—अर्थात् इस जगत्को रचकर इसके पालन करनेकी इच्छावाले उस भगवान्ने पहले मरीचि आदि प्रजापतियोंको रचकर उनको वेदोक्त प्रवृत्तिरूप धर्म (कर्मयोग) ग्रहण करवाया । इसके बाद निवृत्तिरूप धर्म (ज्ञानयोग) का निरूपण किया है—

'ततः अन्यान् च सनकसनन्दनादीन् उत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास ।'

अर्थात् फिर उनसे अलग सनक, सनन्दनादि ऋषियोंको उत्पन्न करके उनको ज्ञान और वैराग्य जिसके लक्षण हैं ऐसा, निवृत्तिरूप धर्म (ज्ञानयोग) ग्रहण करवाया । इस प्रकार प्रवृत्तिरूप धर्मसे व्यावहारिक रूपकी और निवृत्तिरूप धर्मसे आध्यात्मिक रूपकी सिद्धि होती है । इन्हीं दोनों पक्षोंमें सभी प्रकारसे सामञ्जस्य स्थापित करना व्यावहारिक धर्म और पारमार्थिक धर्म, कर्मयोग और ज्ञान, बुद्धि और मन, विचार और भावनाको एक साथ साधना है । इसीलिये आचार्य शंकरने कहा है—

जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षाद् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैः वर्णिभिः आश्रमिभिः च श्रेयोऽर्थिभिः अनुष्ठीयमानः ।

जो जगत्की स्थितिका कारण तथा प्राणियोंकी उन्नतिका और मोक्षका साक्षात् हेतु है एवं कल्याणकामी ब्राह्मणादि वर्णाश्रम अवलम्बियोंद्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है, उसका नाम धर्म है । धर्मकी इस परिभाषामें उत्पत्ति, स्थिति और लय, सामाजिक व्यवस्था, प्राणियोंका विकास और मोक्ष आदिका समावेश है । इस प्रकार धर्मका यह रूप एकाङ्गी नहीं रह जाता । सभी देश, काल और परिस्थितियोंमें इस धर्मका विधान हो सकता है । इस प्रकार धर्मका वह रूप ही समाप्त हो जाता है जो किसी वर्ग या सम्प्रदायमें सीमित है और यहाँ धर्मकी एक व्यापक पृष्ठभूमि बन जाती है ।

धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र

गीताकी पृष्ठभूमिमें यही व्यापक धर्म है । इसी आधारपर कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्रके रूपमें है । 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' से गीताका जो प्रारम्भ हुआ है, उसे यदि किसी व्यावहारिक मान्यताके अनुसार ग्रहण किया जाय तो गीता किसी विशिष्ट देश, काल और परिस्थितिमें ही महत्त्वपूर्ण होगी । वस्तुतः गीता इस सीमामें किसी भी प्रकार नहीं बाँधी जा सकती । यदि ऐसा होता तो गीता आजके लिये महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकती । यह हो सकता है कि कुरुक्षेत्रके सभी लोगोंके लिये वह 'धर्मक्षेत्र' के रूपमें न हो, परंतु 'धर्मक्षेत्र' के लिये किसीकी मान्यताका कोई प्रभाव नहीं है । यदि इस विचारको न रखते हुए कुरुक्षेत्रकी विशिष्ट परिस्थितियोंतक धर्मक्षेत्रको माना जाय तो फिर भगवान् श्रीकृष्णको **'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे'** क्यों कहना पड़ता ? वस्तुतः धर्मके क्षेत्रमें ही धर्मस्थापनाकी बात हो सकती है । इसीलिये केवल कुरुक्षेत्र ही धर्मक्षेत्र नहीं हो सकता । युग-युगमें धर्मक्षेत्र है और इस रूपमें यह धर्मक्षेत्र जीवनका धर्मक्षेत्र कहा जा सकता है । इस प्रकार यह प्राणियोंका धर्मक्षेत्र बन जाता है जो किसी विशिष्ट परिस्थितिकी सीमाके अन्तर्गत नहीं है । कुरुक्षेत्रको ही धर्मक्षेत्र माननेसे काम नहीं चलता । यदि यह माना जाय तो कुरुक्षेत्रका ऐतिहासिक महत्त्व है और वह इतिहासकारके लिये महत्त्वपूर्ण

होगा। महाभारतका कुरुक्षेत्र एक ऐतिहासिक घटनामात्र रह जायगा। केवल ऐतिहासिक महत्त्ववाले कुरुक्षेत्रके लिये धर्मक्षेत्र कहकर गीता-ज्ञानका उपदेश कम समझमें आता है। स्पष्ट है कि गीता-ज्ञानका उपदेश किसी देश, कालकी सीमासे नहीं बँधा है। उसके ज्ञानका आन्तरिक महत्त्व है जिसकी परिणति व्यवहारमें होती है।

युगके अनुसार धर्म

युगके अनुसार परिस्थितियोंमें परिवर्तन होता है। इन्हीं परिस्थितियोंके आधारपर किसी युगकी कुछ मान्यताएँ बनती हैं, उन्हें उस विशिष्ट युगकी विशेषताएँ कह सकते हैं। गीताका सम्बन्ध युगकी अलग-अलग विशेषताओंसे नहीं हो सकता; क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो उसके लिये सीमित और एकाङ्गी होनेका आक्षेप आता है। गीता वस्तुतः विभिन्न युगोंकी समस्त विशेषताओंके मूलको पकड़कर चलती है। यही कारण है कि आजतक संतों और विद्वानोंने उसमें वही पाया है जिसकी उन्होंने कामना की। उन्हें गीतामें अपनी सभी समस्याओंका समाधान मिला। इसका कारण है गीताका मानव-प्रवृत्तियोंके सूक्ष्म निरीक्षणसे वास्तविक और उचित समाधान प्रस्तुत करना, जो लोगोंके व्यावहारिक अथवा आध्यात्मिक विचारोंके लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है।

स्वधर्म और परधर्म

धर्मकी व्यापक अनुभूतिमें दो पहलू सामने आते हैं। जहाँ धर्म व्यक्तिगत अनुभवों और प्रवृत्तियोंके अनुसार स्वाभाविक रूपमें ग्रहण किया जाता है, वहाँ 'स्वधर्म' और जहाँ व्यक्तिके लिये सामाजिक सम्बन्ध आते हैं वहाँ 'परधर्म'की बात आती है। यहाँ स्वधर्म और परधर्म दोनों ही धर्मक्षेत्रके अन्तर्गत आते हैं। व्यक्तिगत रूपमें तो सभीके लिये स्वधर्मकी बात ठीक जान पड़ती है, परंतु सम्बन्धके लिये सबके साथ परधर्मकी बात लगी हुई है। स्वधर्मका पालन करते हुए भी परधर्मसे छुटकारा नहीं मिल जाता। व्यक्तिगत शान्तिके अतिरिक्त सामाजिक शान्ति परधर्मको ध्यानमें रखनेपर ही आ सकेगी। यद्यपि स्वधर्म तो सबके लिये है, परधर्मके साथ बिना सामञ्जस्य स्थापित किये स्वधर्म स्वाभाविक रूपसे चल सकेगा, यह नहीं कहा जा सकता। स्वधर्मके पालनमें यदि परधर्म विरोधी है तो एक समस्या खड़ी हो जायगी। फिर भी जब वास्तविक बात आती है तो स्वधर्म प्रधान और परधर्म गौण हो जाता है। गीतामें स्वधर्म और परधर्मके लिये कहा है—

> श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'
>
> (३।३५)

अर्थात् परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित भी अनुष्ठान किया हुआ अपना धर्म कल्याणकर है। स्वधर्ममें स्थित पुरुषका परधर्ममें स्थित पुरुषके जीवनकी अपेक्षा मरण भी श्रेष्ठ है; क्योंकि दूसरेका धर्म भयदायक है।

इसके आगे भगवान् श्रीकृष्णने अध्याय १८ में इसका निरूपण किया है—

> स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
>
> (१८।४७)

स्वभावसे नियत किये हुए कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार स्वधर्मके पालनमें स्वभावका विशेष महत्त्व है। प्रत्येक व्यक्तिके लिये स्वभावके अनुसार काम करना भी सरल और सुखप्रद होगा। फिर क्यों परधर्मकी बात आती है? यदि सामाजिक व्यवस्थापर विचार किया जाय तो परधर्मके पालनमें ही गड़बड़ी फैलती है। जब अपने नियत कर्मको कोई नहीं करेगा तो यह धर्मक्षेत्र कभी व्यवस्थित नहीं रहेगा। परधर्मके पालनमें ही सामाजिक और व्यक्तिगत, बाह्य और आन्तरिक संघर्ष होते हैं। वर्तमान जीवनमें संघर्षोंके बढ़नेका कारण भी यही है कि लोग अपने स्वाभाविक कर्मोंको करनेकी अपेक्षा दूसरोंके कर्मोंको अपनानेकी लालसा रखते हैं। आजके लोग दूसरोंसे ऐसा चाहते भी हैं। श्रीअरविन्द इसका उल्लेख इस प्रकार करते हैं—'आधुनिक बुद्धिके लिये मनुष्य एक विचारक कार्यकर्ता या उत्पादक और योद्धा सब एक साथ हैं और सामाजिक व्यवस्थाकी प्रवृत्ति भी इन सब क्रियाओंको एकत्र करनेकी है तथा प्रत्येक व्यक्तिसे आध्यात्मिक, आर्थिक, सैनिक जीवन और सामाजिक आवश्यकताओंके लिये उसका सहयोग पानेकी आशा की जाती है, जब कि उसके व्यक्तिगत स्वभाव और आवश्यकताओंपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। प्राचीन भारतीय सभ्यतामें व्यक्तिके स्वभाव, प्रकृति और प्रवृत्तिपर विशेष जोर दिया गया है और इसके अनुसार ही नैतिक प्रकार, सामाजिक कार्य और स्थान निश्चित किये गये थे—वर्तमान

समाजमें धर्मकी स्थापना तभी हो सकेगी जब कि व्यक्ति-धर्मको महत्त्व दिया जायगा। इस प्रकार समाजकी व्यवस्थाका आधार केवल बाहरी विधान और आदर्श ही नहीं रहेंगे, वरं उसके लिये आन्तरिक पृष्ठभूमि बनेगी और तभी स्वधर्मके पालनकी बात सहज हो सकेगी ! यहाँ परधर्मके साथ किसी प्रकार विरोध नहीं रह जायगा, परंतु दोनोंमें आन्तरिक एकता और सामञ्जस्य होगा।

वर्तमान धर्म, भौतिकवाद, विज्ञानवाद और अध्यात्म

आज जब स्वधर्म और परधर्मके सम्बन्धमें विचार करते हैं तो उनका कोई निश्चित रूप सामने नहीं आता। स्वधर्म तो फिर भी सबके लिये समानरूपसे महत्त्व रखता है परंतु परधर्मका किसी व्यक्तिके लिये क्या रूप है, यह वह भी सरलतासे निश्चित नहीं कर सकता; क्योंकि स्वधर्मको ही ठीक प्रकारसे समझ पाना उसके लिये साधारणतया कठिन है। इसका कारण है व्यक्तिकी भौतिकवादी, विज्ञानवादी आदि विचारधाराएँ, जिनके प्रभावके कारण व्यक्तिको स्वधर्मके समझनेमें कठिनाई होती है। स्वधर्मके अनुसार अथवा यह कहा जा सकता है कि अपने स्वभावके अनुसार व्यक्ति कार्यकी ओर प्रेरित तो होता है, परंतु विवेक न होनेके कारण तथा मनःप्रवृत्तियोंके विकृत होनेके कारण वह अपने मार्गसे विचलित हो जाता है। वर्तमान समयमें भौतिकवादी और विज्ञानवादी अपने बाह्य आवरणको सत्य मानकर और उसमें भ्रमित होकर किस दिशाकी ओर जा रहे हैं यह उन्हें भी ठीक प्रकारसे ज्ञात नहीं। यद्यपि धर्मके व्यापक रूपमें ये सब भी आ जाते हैं, परंतु जहाँ भौतिकवाद ही केवल सत्य माना जाता है, वहाँ उसका दृष्टिकोण एकाङ्गी हो जाता है। भौतिकवादी प्रवृत्ति कोई वर्तमान कालकी ही हो यह बात नहीं। संसारके प्रारम्भसे ही उसके भौतिक रूपको महत्त्व दिया गया है, परंतु बादमें मानवकी व्यापक अनुभूतिने इन सबको एक साथ आत्मसात् कर लिया। इसीलिये 'नेति नेति'के निरूपणमें मानवने जहाँ ज्ञानकी पराकाष्ठापर जाकर तत्त्वकी पूर्ण अनुभूतिके सम्बन्धमें असमर्थता प्रकट की, वहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'के रूपमें एक व्यापक अनुभूति भी प्राप्त हुई, जिसमें 'यह ही' के स्थानपर 'यह भी' आ गया। इस प्रकार जीवनका प्रत्येक रूप एक विशाल इकाईमें समा गया और वहाँ किसी वर्गको स्थान नहीं मिला। इस आधारपर भौतिकवाद हो या विज्ञानवाद—सभी अपनी चरम अवस्थामें उसी इकाईमें लीन हो जाते हैं। वैचित्र्य और संघर्ष तो मध्य अवस्थामें ही दिखायी पड़ता है। आधुनिक भौतिकवाद और विज्ञानवाद अपनी मध्य अवस्थामें ही अध्यात्मसे अलग रह सकते हैं। इसी अवस्थामें प्रत्येकके धर्म अलग-अलग होंगे और यहींपर वर्ग और सम्प्रदायके संघर्ष होंगे। इस प्रकार 'यह ही सत्य'के स्थानपर 'यह भी सत्य' की अनुभूति जबतक प्राप्त नहीं होगी, तबतक वर्गविहीनता भौतिक, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक किसी भी दृष्टिकोणमें नहीं आ सकती। फलतः स्वधर्म और परधर्ममें सामञ्जस्य लाना प्रायः असम्भव होगा। इस जीवनके धर्मक्षेत्रमें उसी धर्मकी स्थापना करना है जिससे व्यक्ति अपने पूर्णत्वमें स्वधर्म और परधर्मको समा सके। तभी मानवका वास्तविक कल्याण होगा।

वर्तमान समाज और धर्म, व्यष्टि और समष्टि

वर्तमान समाज और गीता-धर्म उन्हीं लोगोंको अलग-अलग दिखायी पड़ते हैं, जिन्होंने अपनी व्यष्टिकी इकाईको समष्टिकी इकाईमें लीन नहीं कर दिया। इसीलिये आजका समाज गीता-धर्मको सरलतासे नहीं समझ पाता। यद्यपि नैतिक आधारपर तो यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिके स्थानपर समाज महत्त्वपूर्ण है, परंतु समाजके महत्त्वपूर्ण होनेपर 'व्यक्तिको संतोष क्यों नहीं है ?' इस प्रश्नका समाधान कैसे होगा ? वस्तुतः व्यष्टि जबतक समष्टिकी इकाई बनकर नहीं रहेगी और समष्टि जबतक व्यष्टिकी इकाईको महत्त्व प्रदान नहीं करेगी, तबतक न तो व्यक्ति सुखी होगा और न समाज व्यवस्थित होगा।

वैसे तो व्यक्ति-धर्म (समाजके अङ्गके रूपमें), समाजधर्म (सामाजिक आदर्शोंके रूपमें), देशधर्म (सांस्कृतिक वैचित्र्यके रूपमें) आदिके भिन्न-भिन्न पहल हैं, जिनपर आवश्यकतानुसार जोर दिया गया है, परंतु यहाँ भी देशके लिये स्वधर्म और विदेशके लिये परधर्म होनेपर वहाँ समस्या आ खड़ी होती है। हमारे देशका धर्म सबके लिये 'स्वधर्म' बना हुआ है और इसे ही समष्टि मान लिया गया है, फि किसी देशकी समष्टि (यदि कोई मान ली जाय) अन् देशकी समष्टिके साथ समन्वय क्यों नहीं कर पाती ? स्प है कि वर्तमान समयमें किसी विशिष्ट देशमें ही धर्मक्षेत्र

मान लेनेका अर्थ है, किसी देश-व्यष्टिका संसार-समष्टिमें असामञ्जस्य और इसका परिणाम होगा संघर्ष । वर्तमान युगमें संसारमें तनाव होनेका कारण भी यही है । पहले महाभारतके भीतर ही कुरुक्षेत्र था, अब पूरे संसारमें कुरुक्षेत्र होगा । उस समय कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र था, इसीलिये 'धर्म-संस्थापनार्थाय' की बात हो सकी, परंतु अबका कुरुक्षेत्र यदि धर्मक्षेत्र न बन सका तो परिणाम क्या होगा उसका अनुमान ही लगाया जा सकता है । यदि संसारके धर्मक्षेत्र होनेकी सम्भावना न हो तो संसारके विभिन्न देशोंके कर्णधारोंका जीवन ही धर्मक्षेत्र बन जाय, यही बहुत है । इसीलिये व्यक्ति, समाज या देशधर्मकी अपेक्षा संसार-धर्म इस वैज्ञानिक युगमें पहले है । परंतु इस धर्मकी सिद्धि भी स्वधर्मके पालनसे ही हो सकेगी, जिसका परधर्मसे कोई विरोध नहीं ।

धर्म, कर्म, भक्ति और ज्ञान

आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी कर्म, भक्ति और ज्ञानका व्यष्टिवादियोंने अलग-अलग निरूपण किया है और इस क्षेत्रमें भी विभिन्न मत हैं । यद्यपि सभीने धर्मको मान्यता दी है, वह चाहे किसी रूपमें हो, परंतु कर्मवादियोंके लिये धर्मका अर्थ कुछ दूसरा है और भक्ति तथा ज्ञानमें धर्म किसी अन्य रूपमें है । यह तो ठीक है कि स्वभाव और अनुभवके आधारपर ही कर्म, भक्ति अथवा ज्ञानकी ओर प्रवृत्ति होती है और उसे ही स्वधर्मके रूपमें स्वीकार किया जाता है, परंतु दूसरेके ज्ञान-स्वधर्म या भक्ति-स्वधर्ममें भेद क्यों किया जाता है ? सिद्धान्त-निरूपणके बाह्य आडम्बरमें चाहे कुछ भी समझ लिया जाय, परंतु संतोंकी अपरोक्षानुभूतिने तीनों (कर्म, भक्ति और ज्ञान) की एकताको ही देखा है । यह हो सकता है कि अवस्था-विशेषमें किसी एककी प्रधानता हो, परंतु स्वतन्त्ररूपमें कोई भी नहीं रह सकता । इसके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं होती, बल्कि एकके पूर्ण साधनमें दूसरे स्वतः आ जाते हैं ।

धर्म बाह्य और आन्तरिक

मनुष्य-जीवनके इस धर्मक्षेत्रके दो पहलू हैं—बाह्य और आन्तरिक । इन्हीं दोनोंके सामञ्जस्यके लिये मनुष्यका प्रयास रहता है । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्राणी बिना अपनेको वातावरणके अनुकूल बनाये रह ही नहीं सकता । मनुष्यके लिये आन्तरिक और बाह्य सामञ्जस्य दोनोंकी आवश्यकता होती है, परंतु उससे निम्नश्रेणीके प्राणियोंके लिये केवल बाह्यवातावरणसे सामञ्जस्य रखनेकी आवश्यकता होती है । इसी आधारपर मनुष्य जहाँ बाह्य जगत्में समाज, देश, परिस्थितियों आदिसे सम्बन्धित है, वहाँ उसका अपना अन्तर्जगत् भी है जिसमें अपने विचारों और अनुभवोंके आधारपर विचरण करता है । यही उसका मानस लोक है । मनुष्यके लिये इन दोनों क्षेत्रोंमें सामञ्जस्य रखना भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अन्तर्जगत्की अनुभूतियोंके आधारपर ही बहिर्जगत्का निर्माण होता है । मनुष्यके लिये मानसलोकका प्राणी इसीलिये कहा गया है कि उसके बाह्य-जीवनका संचालन इसीके द्वारा होता है । गीतामें स्वधर्मका विवेचन इसी मानस-लोकके आधारपर किया गया है, जिसमें व्यक्तिके स्वभाव, विचार आदि बनते हैं । यद्यपि बाह्य धर्मोंका निर्माण इसीके आधारपर हुआ है, परंतु अन्तर्धर्मका बाह्यरूपमें जब स्पष्टीकरण होता है तो उसमें परिस्थितिजन्य विकार आ जाते हैं । इसके अतिरिक्त अन्तर्धर्म अशुद्ध हृदय होनेके कारण भी विकारयुक्त हो जाता है, क्योंकि जबतक मनुष्यमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि होंगे, तबतक उसे अपने वास्तविक अन्तर्धर्मका ज्ञान नहीं होगा । फलतः वह स्वधर्मके पालन करनेमें असमर्थ होगा । गीता-धर्मका उद्देश्य यही है कि व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक विकारोंसे रहित शुद्ध-हृदयसे युक्त, हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें स्थिरबुद्धिवाला, सिद्धि-असिद्धिमें समता-भावसे सम्पन्न और निष्पक्ष भावसे लोकसंग्रहकी भावना लेकर अपनी आत्म-तुष्टिमें ही व्यावहारिक जीवनका पालन करे, जिसमें अन्तर्धर्म और बाह्य-धर्ममें किसी प्रकारका असामञ्जस्य न हो । वस्तुतः आत्म-ज्ञानका व्यष्टि और समष्टिरूपमें ठीक निरूपण इसी आधारपर किया जा सकता है । मानव-जीवनका विकास और उसके उद्देश्यकी प्राप्ति इसीमें निहित है ।

धर्मसे मोक्षतक

भारतीय विचारकोंके लिये मोक्ष एक रुचिपूर्ण एवं गहन विषय रहा है, परंतु मोक्ष-प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें सब एकमत नहीं प्रतीत होते । जनसाधारणके लिये भी मोक्ष सबसे बड़ा आकर्षण है । यहाँपर जीवनका चरम उद्देश्य मोक्ष पाना ही है । सैद्धान्तिक विवादोंसे अलग मोक्षके लिये आत्माका परमात्मासे पूर्ण तादात्म्य होनेमें प्रायः सभी एकमत हैं । इसके

साथ ही बाह्य अवस्थाओंसे अलग होकर आन्तरिक रूपमें ही मोक्षकी बात मानी गयी है, इसीलिये **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** अर्थात् इस मनुष्यके लिये मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है—की बात कही गयी है। जहाँतक मानसिक अवस्थाकी बात है, वहाँ प्रत्येकके लिये पूर्ण स्वतन्त्रता है; क्योंकि मन ही परिस्थितियोंके बन्धनसे अलग होनेमें समर्थ है। गीतामें इसका निरूपण किया गया है—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
(५ । २८)

अर्थात् जिसके इन्द्रिय, मन और बुद्धि वशमें किये हुए हैं, जो मननशील और मोक्षपरायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो चुका है वह सदा मुक्त ही है। उसे कोई दूसरी मुक्ति प्राप्त नहीं करनी है।

इसके अतिरिक्त मोक्षके लिये एकत्व-ज्ञानका भी निरूपण किया गया है—

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
(९ । १)

विज्ञानसहित अर्थात् अनुभवसहित ज्ञान जिस ज्ञानको जानकर तू संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जायगा।

यहाँपर ज्ञानका अद्वैतरूप ही है। **'वासुदेवः सर्वमिति'**—सब कुछ वासुदेव ही है—**'आत्मैवेदं सर्वम्'**—आत्मा ही यह समस्त जगत् है, **'एकमेवाद्वितीयम्'**—ब्रह्म अद्वितीय एक ही है, आदि श्रुति-स्मृतियोंमें स्पष्ट किया गया है। परंतु इन्द्रिय-निग्रह और इस एकत्व-ज्ञानके साथ भगवान् श्रीकृष्णने मोक्षके लिये सभी धर्मोंको त्यागनेके लिये भी कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

अर्थात् सब धर्मोंको छोड़कर मुझ एककी शरणमें आ, मैं तुझे धर्माधर्मबन्धनरूप सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

इस प्रकार सब धर्मोंको त्याग इन्द्रिय-निग्रह करके मोक्ष होनेपर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करना चाहिये; क्योंकि यह समस्त जगत् आत्मा ही है **'आत्मैवेदं सर्वम्'**। अतः गीतामें कर्मशून्यतारूप वैयक्तिक मोक्षका प्रतिपादन नहीं किया गया है। ज्ञान-प्राप्तिरूप मोक्षके पानेपर व्यक्ति लोकसंग्रहके लिये समर्थ होता है। **'आत्मदीपो भव'**—आत्माको प्रकाशित करो—से भी इसकी पुष्टि होती है। जिस प्रकार अपने घरका दीपक जला लेनेपर ही व्यक्ति दूसरेके घरका दीपक जला सकता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान होनेपर ही यथार्थ लोकसंग्रह हो सकेगा। इसीलिये वैयक्तिक मोक्षके साथ सामाजिक मोक्षकी बात आती है। इसी आधारपर भक्त प्रह्लादने भगवान्से यह वर माँगा था—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः

अर्थात् अपनी मुक्तिकी कामना करनेवाले देव और मुनि अबतक काफी हो चुके हैं जो जंगलमें जाकर मौन साधना किया करते थे, किंतु उनमें परार्थनिष्ठा नहीं थी, लेकिन मैं अकेला इन सब कृपणजनोंको छोड़कर मुक्त होना नहीं चाहता।

इसी प्रकार भगवान् बुद्धने भी अकेले निर्वाण प्राप्त न करनेकी बात कही थी। श्रीअरविन्द भी इसका प्रतिपादन करते हैं—वहाँ मोक्ष प्रकृतिसे परे भी है, परंतु उसका धारण भी है, हमारे व्यक्तित्वका पूर्णत्व है, परंतु संसार और अन्य लोगोंके सम्बन्धमें भी पूर्णत्व है। इसलिये बिना इस पृथ्वीकी परवा किये वैयक्तिक मोक्ष हमारा उच्चतम लक्ष्य नहीं है; दूसरोंके मोक्ष और आत्मपूर्णत्वसे हमारा उतना ही मतलब है—हम यह कह सकते हैं कि हमारी दिव्य स्व-अभिरुचि—जितना कि हमारा अपना मोक्ष, नहीं तो दूसरोंके साथ एकत्वकी बातका कोई अर्थ न होगा।

इसीलिये आत्मज्ञानी पुरुष दूसरोंके कल्याणके लिये प्रेरित होता है, परंतु जहाँ वैयक्तिक मान्यताओंके आधारपर ही सत्य-निरूपण किया जायगा, वहाँ वास्तविक कल्याण सम्भव नहीं। वर्तमान जटिल परिस्थितियोंमें मोक्षकी यह बात भले ही ठीक न लगे, परंतु गीताने इस समस्याका जो सर्वग्राह्य समाधान प्रस्तुत किया है वह जीवनके व्यापक धर्मक्षेत्रमें अनुकरणीय है। तभी मानव 'आत्मैवेदं सर्वम्'की अनुभूति कर अपना और संसारका कल्याण करनेमें समर्थ हो सकेगा।

मधुर

श्रीकृष्ण मथुरा पधार गये और वहीं रह गये। परंतु महाभाग्यवती परम प्रेमरूपा श्रीगोपीजनोंकी एवं उनकी आत्मस्वरूपा श्रीराधिकाजीकी स्मृति एक क्षणके लिये भी त्याग नहीं सके। उन्होंने अपना प्रेम-संदेश देकर श्रीउद्धवजीको वहाँ भेजना चाहा। उद्धवजीको भाँति-भाँतिसे वहाँकी सब बातें समझाकर, किन-किनसे कैसे मिलकर क्या कहना है यह बतलाते हुए वे प्रेमसागरमें निमग्न हो गये और गद्गद-कण्ठसे गोपी तथा राधाके दिव्य विशुद्ध प्रेमकी महिमा गाते हुए अपना मनोरथ बतलाने लगे। बोले—

ऊधौ! तुम तें कहौं का गोपी-प्रेम-महत्त्व।
जिन जान्यौ केवल परम सुद्ध प्रेम कौ तत्त्व॥
मो में ही अनुराग सुचि ममता अमल अनन्य।
सेवत सरबस सौंपि सो मोय गोपिका धन्य॥
मो मन नित्य मनस्विनी प्रानवती मम प्रान।
मेरे ही हित कर्म सब करत बिगत अभिमान॥
असन-बसन तन-धन सकल धारत मम-सुख-काज।
निज सुख-इच्छारहित नित तजि सब विषय-समाज॥
राग न नैकहु कितहुँ कछु अग-जग ममताहीन।
इह-पर-भोग-विराग नित सहज नेह-रस-लीन॥
मम महिमा, सेवा, परम श्रद्धा, मनकी बात।
केवल गोपीजनन कौं सबै तत्त्वतः ज्ञात॥

उद्धव! मैं तुमसे उन गोपिकाओंके प्रेमकी महिमा क्या कहूँ। केवल उन गोपियोंने ही परम विशुद्ध प्रेमके तत्त्वको जाना है। उनका सारा पवित्र अनुराग केवल मुझमें ही है और मुझमें ही उनकी निर्मल अनन्य ममता है। उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है और वे केवल मेरी सेवामें लगी हैं। उन गोपिकाओंको धन्य है। उनमें उनका अपना मन नहीं रहा, वे मेरे ही मनसे मनवाली हैं। इसी प्रकार वे मेरे ही प्राणोंसे प्राण धारण करती हैं। वे समस्त कर्म केवल मेरे ही लिये करती हैं, उनमें ज़रा भी अभिमान नहीं है। वे तन, मन, धन, भोजन, वस्त्र केवल मेरे ही सुखके लिये धारण किये हुए हैं। अपने सुखकी उनको तनिक भी इच्छा नहीं है। उन्होंने सम्पूर्ण विषय-समूहका त्याग कर दिया है। उनकी ज़रा-सी भी, कहीं भी, कुछ भी आसक्ति नहीं है, वे सारे अग-जगकी ममताको छोड़ चुकी हैं। इस लोक और परलोकके भोगोंसे उनका नित्य ही सहज वैराग्य है और सहज ही वे स्नेह-सुधा-रसमें लीन हो रही हैं। मेरी सारी महिमा, मेरी सेवा, मेरी परम श्रद्धा और मेरे मनकी बातको केवल वे गोपाङ्गनाएँ ही तत्त्वसे जानती हैं।

तिन में सब की आतमा सब की परमाधार।
महाभावमयि राधिका रस-पर-पारावार॥
तिनके मन-बच-कर्ममें उमगत नित रस-सिंधु।
धन्य भयो मैं पाय कछु तिन तें मधु-रस-बिंदु॥
परम त्यागमय प्रेम कौ सुख-सागर लहरात।
वा सुख चाखन कौं सदा मम मन अति ललचात॥
बनौं कबौं जो राधिका मैं लै तिन कौ भाव।
कृष्न मानि सेवौं तिनहि तब पूरै मन चाव॥
जाउ सखा, धनि होउ, लै सिर तिन चरनन-धूरि।
दरसन करि दग-फल लहौ जो मम जीवन-मूरि॥

उन श्रीगोपाङ्गनाओंमें सबकी आत्मा और सबकी परम आधार हैं—प्रेमके सर्वोच्च स्वरूप महाभावकी मूर्ति श्रीराधिकाजी, जो परम (भगवत्-प्रेम) रसकी समुद्र हैं। उनके मन, वाणी, कर्ममें प्रेम-रस-सुधाका समुद्र उमड़ता रहता है, उन्हींसे कुछ मधुर रस-बूँदोंको प्राप्त करके मैं धन्य हो गया हूँ। उनमें परम त्यागमय प्रेमसे उत्पन्न सुखका समुद्र लहराता रहता है। उनके उस सुखका रसास्वादन करनेके लिये मेरा मन सदा ही अत्यन्त ललचाता रहता है। मैं यदि कभी उनके भावोंको ग्रहण करके राधिका बन सकूँ और उनको कृष्ण मानकर उनकी सेवा कर सकूँ, तब मेरे मनका चाव पूरा हो। सखा उद्धव! तुम जाओ और जो मेरे जीवनकी मूल हैं,—उन श्रीराधिकाजीकी चरण-धूलिको अपने सिरपर धारण करके धन्य बनो और उनके दर्शन करके आँखोंका वास्तविक फल प्राप्त करो।

श्रीराम

(लेखक—श्रीहरेशचन्दजी अग्रवाल, एम्० ए०)

रामचरित जे सुनत अघाहीं । रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥

यह संदेहरहित है कि प्राणिमात्रमें मानव ही सर्वश्रेष्ठ है और जिसका आधार स्वयं उसका चरित्र है । इसी अपने चरित्रके कारण वह सबका अधिकारी बना हुआ है । जबतक उसका चरित्र उसके पास है, तबतक उसका यह गौरवपूर्ण अस्तित्व भी अक्षुण्ण है । अन्यथा उसमें और अन्य जीवोंमें कोई अन्तर नहीं ।

जिनके मन राम सों नेह नहीं, सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै ।

जिनके मनमें रामसे स्नेह नहीं है, वे हैं तो पशु ही, केवल उनके एक पूँछ दो सींग नहीं हैं ।

अबतक संसारमें जितने भी चरित्रको धारण करनेवाले महान् पुरुष हुए हैं और जिन्हें आजका संसार पूज्य समझ पूजता एवं नतमस्तक होता है, उन सबने अनादिकालसे ही सद्गुणोंके आदर्शोंकी स्थापना की है । इस प्रकार उन्होंने ज्ञान एवं बुद्धि धारण करनेवाले देवात्माओंको बाध्य किया है कि वे स्वयं चरित्रवान् होकर चरित्रवान् पुरुषोंके नामका जाप करते हुए उनके गुणोंका प्रचार एवं प्रसार करें, जिससे मानव-समाज अपने अस्तित्वको बनाये रखनेमें सफल हो और शनैः-शनैः मनुष्यताकी सीढ़ीपर चढ़ता चला जाय । चरित्रकी महिमा अपार है; उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना कठिन है । ऐसे ही देवात्मा ब्रह्मस्वरूप महान् पुरुषोंमें भारतीय साहित्यके चरित्रनायक रघुकुलनन्दन भगवान् श्रीरामकी भी गणना होती है । इन्होंने अपने आचार-विचार एवं सद्व्यवहारसे अपने पूर्वपुरुषोंके आदर्शों तथा गुणोंको स्वयं ग्रहण कर भविष्यमें होनेवाले उत्तराधिकारियोंके निमित्त महान् आदरणीय उदाहरण उपस्थित किये थे; किंतु कालान्तरमें व्यतिक्रमके उपस्थित होनेसे प्राचीन शृङ्खला टूट गयी और हमारा देश तथा सभ्यता दुर्दशाको प्राप्त हो गये ।

सच्चिदानन्द भगवान् श्रीराम सद्गुणोंके अथाह समुद्र थे और ऐसी पीयूषवर्षिणी रसधारा थे, जिसने आजतक मानवजातिको जीवित कर रक्खा है । बालकपनसे ही सदाचरण उनका मुख्य कर्म था—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुर नावहिं माथा ॥
आयसु मागि करहिं पुरकाजा । देखि चरित हरषइ मन राजा ॥

माता-पिताकी आज्ञाको धारण करना तो मुख्य था ही परंतु गुरु-आज्ञा एवं गुरु-भक्ति भी उनके लिये सर्वोपरि थी, जैसा कि जनकपुरीमें गुरु-सेवा करते हुए उनका वर्णन मिलता है—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते । गुर पद कमल पलोटत प्रीते ॥
बार बार मुनि अग्या दीन्हीं । रघुबर जाइ सयन तब कीन्हीं ॥
उठे लखनु निसि बिगत सुनि, अरुनसिखा धुनि कान ।
गुर तें पहिलेहिं जगतपति, जागे रामु सुजान ॥
—मानस

तत्त्ववेत्ता परब्रह्म होते हुए भी संसारके नाते आनन्दकन्द श्रीराम यह जानते थे कि बिना गुरु-आशीर्वाद तथा ज्ञानके संसार-सागरको पार करना सरल नहीं कहा जाता है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

इस सम्बन्धमें वह उदाहरण मननयोग्य है जब कि गुरु वशिष्ठजी महाराज दशरथके कथनानुसार सीतापति श्रीरामको राज्याभिषेकके पूर्व संयम-नियम-पालनके लिये आदेश देने जाते हैं और रघुकुलतिलक श्रीराम उनका स्वागत कर पादप्रक्षालन करते तथा कहते हैं—

रत्नासने समावेश्य पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः ।
तदपः शिरसा धृत्वा सीतया सह राघवः ॥
धन्योऽस्मीत्यब्रवीद्रामस्तव पादाम्बुधारणात् ।
—अध्यात्मरा० (अयोध्या)

श्रीरामने गुरुजीको रत्नसिंहासनपर बैठाकर उनके चरण धोये और सीताजीके सहित उस चरणोदकको भक्तिपूर्वक अपने शीशपर रखकर कहा—'हे मुने ! आपके चरणोदकको धारण कर आज मैं कृतकृत्य हो गया ।' श्रीरामके आज्ञापालनका क्या कहना है जब कि जनकपुरीमें गुरुपूजन-हेतु जनकजीकी वाटिकामें प्रसून लेते हुए मालियोंसे पूछते हैं—

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन । लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥
—मानस

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके सम्बन्धमें वनगमनके अवसरपर श्रीराम माता कैकेयीसे कहते हैं—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥
न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥
—वाल्मीकिरा०

'मैं महाराजके कथनानुसार अग्निमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका पान कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ; क्योंकि जो पिताकी सेवा और उनकी आज्ञाका पालन करना है, इससे बढ़कर संसारमें दूसरा धर्म नहीं है ।' इस सम्बन्धमें श्रीराम और भी कहते हैं—

सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम् ।
अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः ॥
उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः ।
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते ॥
अतः करोमि तत्सर्वं यन्मामाह पिता मम ।
सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते ॥
—अध्यात्मरा० (अयोध्या)

'सीता, कौसल्या तथा राज्यको भी त्याग सकता हूँ । जो पुत्र पिताकी आज्ञाके बिना ही उनका अभीष्ट कार्य करता है वह उत्तम है; जो पिताके कहनेपर करता है वह मध्यम होता है और जो कहनेपर भी नहीं करता वह विष्ठाके समान है । अतः पिताजीने मेरे लिये जो कुछ आज्ञा की है, उसे मैं अवश्य पूर्ण करूँगा, यह सर्वथा सत्य है कि राम दो बात कभी नहीं कहता ।'

इसके अतिरिक्त इसी प्रसङ्गमें श्रीराम कैकेयीसे कहते हैं—

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥
× × × ×
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू । बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥
× × × ×
अंब एक दुखु मोहि बिसेषी । निपट बिकल नरनायकु देखी ॥
× × × ×
राउ धीर गुन उदधि अगाधू । भा मोहि तें कछु बड़ अपराधू ॥
—मानस

इसी प्रकार मातृ-भक्तिके सम्बन्धमें श्रीराम सुमित्रानन्दन लक्ष्मणके प्रति कहते हैं—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यति ।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु ॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥
—वाल्मीकिरा०

'लक्ष्मण ! मेरे राज्याभिषेकके कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है उस हमारी माता कैकेयीके प्रति वही काम करो, जिससे मेरे ऊपर किसी प्रकारका संदेह न हो, उसके मनमें संदेहके कारण उत्पन्न हुए दुःखकी मैं एक मुहूर्तके लिये भी उपेक्षा नहीं कर सकता ।'

इसके अतिरिक्त माता कैकेयीके सम्बन्धमें आज्ञाकारी श्रीराम भरतको भी समझाते हैं और उनकी निन्दा न करनेके लिये आग्रह करते हुए कहते हैं कि हे भरत ! तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि उससे उन्हें दुःख होगा ।

जो व्यक्ति बिना सोचे-विचारे अपनेसे बड़ोंका आज्ञा-पालन करनेके लिये तत्पर रहता है, वह पहलेसे ही किन-किन अन्य गुणोंको धारण किये हुए है, इसका सरलतासे अनुमान किया जा सकता है । इसमें संदेह नहीं रघुकुलभूषण दशरथकुल-उजागर श्रीराम पहलेसे ही अहंता और गर्वका त्याग करके सत्य, दया, क्षमा, मृदुलता, धीरता, वीरता, विनय, शान्ति, संयम, तेज, प्रेम, त्याग आदि अनन्त आदर्श गुणोंको धारण किये हुए थे । कोपभवनमें महाराज दशरथसे मिलनेपर श्रीराम कहते हैं—

मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात ।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु गात ॥
धन्य जनमु जगतीतल तासू । पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ॥
चारि पदारथ करतल ताकें । प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें ॥
—मानस

इसके साथ ही माता कौसल्याके सम्मुख सब प्रसंग सुन लेनेपर लक्ष्मणके द्वारा क्रोध करनेपर जगत्के भोगोंकी नश्वरता और आत्मस्वरूपकी चर्चा करते हुए सनातन परम-पुरुष श्रीराम उन्हें समझाते हैं—

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत् ।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते ॥
भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः ।
आयुरप्यग्निसंतप्तलोहस्थजलबिन्दुवत् ॥

यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते ।
तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान् ॥
करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः ।
देहस्तु भिन्नः पुरुषात्समीक्ष्यते को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते ॥

——अध्यातमरामायण

'यह जो कुछ राज्य और देहादि दिखायी देता है, वह सब सत्य होता तो अवश्य तुम्हारा परिश्रम सफल होता; किंतु ये भोग तो मेघरूपी वितानमें चमकती हुई बिजलीके समान चञ्चल हैं और आयु अग्निमें तपाये हुए लोहेपर पड़ी हुई जलकी बूँदके समान क्षणिक है । जिस प्रकार सर्पके मुँहमें पड़ा हुआ भी मेढक मच्छरोंको ताकता रहता है, उसी प्रकार लोग कालरूप सर्पसे ग्रस्त हुए भी अनित्य भोगोंको चाहते रहते हैं । कैसा आश्चर्य है कि शरीरके भोगोंके लिये ही मनुष्य रात-दिन अति कष्ट सहकर नाना प्रकारकी क्रियाएँ करता रहता है । यदि यह समझ ले कि शरीर आत्मासे भिन्न है तो फिर भला पुरुष कैसे किसी भोगको भोग सकता है ?'

अन्तमें लक्ष्मणको ज्ञान देते हुए सर्वथा शान्त रहनेके लिये आनन्दकन्द श्रीराम उनसे कहते हैं—

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज ॥
क्रोध एष महान् शत्रुस्तृष्णा वैतरणी नदी ।
संतोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक् ॥

—अध्यातमरामायण

'मनके संतापका मूल क्रोध ही है और क्रोध ही संसारका बन्धन तथा धर्मका क्षय करनेवाला है । इसलिये तुम क्रोधको छोड़ दो । यह क्रोध महान् शत्रु है । तृष्णा वैतरणी नदी है; संतोष नन्दनवन है और शान्ति ही कामधेनु है ।'

इस प्रकार राज्याभिषेकके अवसरपर माता कैकेयीके द्वारा वनवास प्रदान किये जानेपर सहज शान्तस्वरूप श्रीरामको क्रोध न होकर आनन्द ही होता है और हमें उनके मानव-लीलाके अनुभवों तथा दार्शनिकताके बारेमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है । श्रीरामके स्वभाव, शीलके सम्बन्धमें माता कैकेयीने भी मन्थरासे कहा था—

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः ।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥
भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति ।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥

—वाल्मीकिरा०

'हे कुब्जे ! राम धर्मके ज्ञाता, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र होनेके साथ ही महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं, अतः युवराज होनेका अधिकार उन्हींको है । वे दीर्घजीवी और अपने भाइयों तथा दासोंका पिताकी भाँति पालन करेंगे । भला उनके अभिषेककी बात सुनकर तू इतनी क्यों जल रही है ?'

इन गुणोंके आधार शत्रुनाशक श्रीरामने अवश्य ही यह निश्चय कर लिया था कि किसी दैवी घटनावश ही मातामें यह परिवर्तन हुआ है, अन्यथा ऐसा होना असम्भव है । इसलिये दैवके विधानको सहन करना चाहिये । चित्रकूटमें माताओंसहित भरतके आनेपर और सभाके मध्य माता कैकेयीके यह कहनेपर यह सब स्पष्ट हो जाता है—

युग-युगतक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुलमें भी थी एक अभागिन रानी ।'
निज जन्म-जन्ममें सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार ! उसे था महास्वार्थने घेरा ।'

—साकेत

इसपर शत्रुकुलघालक श्रीराम कहते हैं—

'सौ बार धन्य वह एक लालकी माई,
जिस जननीने है जना भरत-सा भाई ।'
पागल-सी प्रभुके साथ सभा चिल्लाई,
'सौ बार धन्य वह एक लालकी माई ॥'

—साके

इस प्रकार राजनीतिविशारद श्रीराम अपने आदर्श आचरणके द्वारा अनिष्टकारी विमाता कैकेयीके प्रति क्षुब्ध जनताके मनोंमें सहानुभूतिका उदय करके उनसे कैकेयीके लिये यह कहला लेते हैं—

'सौ बार धन्य वह एक लालकी माई ।'

और वह भी उस जनतासे, जिसने अयोध्यामें कैकेयीके विरुद्ध हो, ये अपशब्द कहे थे—

एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ । छाइ भवन पर पावक धरेऊ ।
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा । डारि सुधा बिषु चाहत चीखा ।
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी । भइ रघुबंस बेनु बन आगी ।
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई । जानि न जाइ नारि गति माई ।

—मान

इस प्रकार शान्तिपूर्वक प्रतिकूलको अनुकूल बना लेना हमारे परम आदर्शचरित्र पूर्णकाम श्रीरामका ही काम था। माताके द्वारा भाइयोंमें फूट डालनेका प्रयत्न करनेपर भी श्रीराम अपने पक्षमें कुछ न कर भाई भरतके ही पक्षमें मत देते हैं और चित्रकूटमें भरतके आनेपर तथा लक्ष्मणके क्रोध करनेपर भरतकी महिमा गाते हुए उन्हें समझाते हैं—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

—मानस

तत्पश्चात् भरतजीके आनेपर और लक्ष्मणजीके संकेत करनेपर भक्तवत्सल श्रीराम पागल-से हो दौड़ पड़ते हैं—

उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

—मानस

श्रीरामके इस आचरणके प्रभावसे ही भरतके प्रति क्रोध करनेवाले श्रीलक्ष्मणजी भरतसे प्रेमपूर्वक मिलते हैं—

मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि केवटु भेंटेउ राम।
भूरि भायँ भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम॥

वनवासी श्रीरामके व्यक्तिगत आचार-व्यवहारके अतिरिक्त उनके सम्बन्धमें श्रीभरतजीके विमल विचारोंकी झाँकीके भी दर्शन कीजिये—

राम जनमि जगु कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
मोरें सरन रामहि की पनही। राम सुस्वामि दोसु सब जनही॥
अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

—मानस

जिस भरतके लिये महारानी कैकेयीने इतना बड़ा षड्यन्त्र रचा, वे भरत किसी प्रकार भी भाई श्रीरामके विरुद्ध राज्य स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं होते; क्योंकि एक तो वे श्रीरामके ज्येष्ठ होनेके नाते उन्हींका अधिकार मानते हैं और दूसरे, प्रभुके चरित्र तथा आदर्शोंका जो प्रभाव भरतके मनपर पड़ा हुआ है, वह सर्वथा अक्षुण्ण और अमिट है।

जहाँ भी जरा भी अवसर मिला, वहाँ श्रीरामने अपने सहज भ्रातृ-प्रेमको प्रकट किया है। वन जानेके समय वे श्रीसीताजीसे कहते हैं—

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥

—वाल्मीकिरामायण

‘हे सीते! मेरे भाई भरत-शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। अतः तुम्हें उनको अपने भाई और पुत्रके समान या उससे भी बढ़कर प्रिय समझना चाहिये।’

लंकामें लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर श्रीरामका विलाप मनन-योग्य है—

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥

× × ×

बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥

—मानस

इसी प्रकारसे रावण-वधके उपरान्त प्रभु श्रीराम एक क्षण भी वहाँ नहीं ठहरना चाहते और तुरंत भरतसे मिलना चाहते हैं। वे विभीषणसे कहते हैं—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥

× × ×

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

श्रीरामका अपने भाइयों एवं भक्तोंपर ऐसा ही प्रेम और अनुग्रह था कि उनके हितके लिये वे नंगे पाँव अवसर-कुअवसरका विना विचार किये ही दौड़ पड़ते थे। कौन है ऐसा सहज उपकारी और प्रेमी। श्रीसीता माताके द्वितीय वनवासके अवसरपर किसी निर्णयपर पहुँचनेके पूर्व पहले भाइयोंसे और तदुपरान्त महर्षि वसिष्ठसे मन्त्रणा करते हैं—

मन्त्रणा गृहमें प्रातःकाल,
भरत लक्ष्मण रिपुसूदन संग।
राम बैठे थे चिन्तामग्न,
छिड़ा था जनकात्मजा-प्रसंग॥

—वैदेही-वनवास

अन्तमें विचार-विनिमय तथा निष्कर्षपर पहुँचनेके उपरान्त वे भाइयोंसे कहते हैं—

मुझे यह है पूरा विश्वास ,
लोक-हित-साधनमें सब काल ।
रहेंगे आप लोग अनुकूल ,
धर्म-तत्त्वोंपर आँखें डाल ॥

—वैदेही-वनवास

तत्पश्चात् घटनावश लक्ष्मणके महाप्रयाणके उपरान्त श्रीराम व्याकुल हो उठते हैं और स्वयं भी पृथ्वीका त्याग-कर परमधामको पधारते हैं ।

प्रवेशयत सम्भारान् मा भूत् कालात्ययो यथा ।
अद्यैवाहं गमिष्यामि लक्ष्मणेन गतां गतिम् ॥

—वाल्मीकिरामायण

शीघ्र ही समस्त सामग्रियाँ एकत्रित की जायँ । देरी न हो; क्योंकि मैं आज ही जिस जगह लक्ष्मण गया है, वहाँ जाना चाहता हूँ ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे हम पाते हैं कि श्रीरामजी-ने किस प्रकार अपने भ्रातृ-प्रेमको स्थायित्व प्रदान किया था । वे किस प्रकार समय-कुसमयमें अपने भाइयोंके हितमें लगे रहते तथा उनके गुणगानमें भी नहीं चूकते थे ।

अब हम पारिवारिक जीवनके पश्चात् सामाजिक जीवन-की ओर अग्रसर होते हैं और वहाँ यह देखना है कि श्रीराम किस प्रकार अपने मित्रों तथा आश्रितोंके प्रति प्रेम-भाव रखते और उन्हें अपना बनानेमें सफल होते थे । सर्वप्रथम उनका अयोध्याका बालचरित सामने आता है ।

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई ॥

× × ×

अनुज सखा सँग भोजन करहीं । मातु पिता अग्या अनुसरहीं ॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा । करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई । आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥

—मानस

इस प्रकार आनन्दकन्द श्रीराम भाइयों तथा मित्रोंसे समन्वय स्थापित कर तथा अयोध्यावासियोंपर अपना प्रभाव डाल उन्हें भी एकरस बनानेका प्रयत्न किया करते थे । राजकर्मचारियोंसे भी उनका समान बर्ताव था । अवस्थानुसार सबके साथ अपने वे आदर्श धर्मका पालन करते थे, जैसे—

राम सुमंत्रहि आवत देखा । आदरु कीन्ह पिता सम लेखा ॥

× × ×

रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी । सदय हृदयँ दुखु भयउ बिसेषी ॥
कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए । बहुबिधि राम लोग समुझाए ॥
किए धरम उपदेस घनेरे । लोग प्रेम बस फिरहिं न फेरे ॥

—मानस

तत्पश्चात् जब वनवासी श्रीराम शृंगवेरपुर पहुँचते हैं, तब निषाद प्रजावत्सल प्रभुसे तुरंत सम्पर्क स्थापित करने आता है—

यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई । मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई ॥
सहज सनेह बिबस रघुराई । पूँछी कुसल निकट बैठाई ॥

अन्तमें शृंगवेरपुरमें ठहरनेके उपरान्त मन्त्री सुमन्त्र जब महाराज दशरथके आदेशानुसार अयोध्या लौट चलनेके लिये कहते हैं, तब आज्ञापालक श्रीराम स्थितिवश उन्हें समझाते हैं—

मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा । तात धरम मतु तुम्ह सबु सोधा ॥
सिबि दधीच हरिचंद नरेसा । सहे धरम हित कोटि कलेसा ॥
धरमु न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान बखाना ॥

गङ्गा पार करनेके समय केवट तथा उनके मध्य अर्थात् प्रभु तथा भक्तके परस्पर प्रेमका जो उदाहरण प्राप्त होता है वह अन्यत्र प्राप्त होना दुर्लभ है—

मागी नाव न केवटु आना । कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ॥

× × ×

एहि घाटतें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जलु, थाह देखाइहौं जू ।
परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू ॥
तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जियाइहौं जू ।
बरु मारिए मोहि, बिना पग धोए, हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू ॥

—कवितावल

× × ×

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहसे करुना ऐन चितइ जानकी लखन तन ॥
कृपासिंधु बोले मुसुकाई । सोइ करु जेहि तव नाव न जाई ।
बेगि आनु जल पाय पखारू । होत बिलंबु उतारहि पारू ।

—मान

प्रभु रुख पाइ कै, बोलाइ बालक घरनिहि,
बंदि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि-घेरि ।
छोटो-सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजू को,
धोइ पाय पीअत पुनीत बारि फेरि-फेरि ॥

—कवितावल

76162

उपर्युक्त वर्णनसे श्रीरामका अतुलनीय प्रजानुरञ्जन तथा सख्यप्रेम प्रकट होता है, जो किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं मानता और समानरूपसे ऊँच-नीच सबको प्राप्त होता है।

इसी प्रकार चित्रकूट पहुँचनेपर श्रीरामके आगमनकी बात सुनकर सभी मुनिवृन्द वनवासी आते हैं—

जथा जोग सनमानि प्रभु बिदा किए मुनिबृंद।
करहिं जोग जप जाग तप निज आश्रमन्हि सुछंद॥
यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नवनिधि घर आई॥
कहत सुनत रघुबीर निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई॥
राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने॥

× × ×

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे॥
बिदा किए सिर नाइ सिधाए। प्रभु गुन कहत सुनत घर आए॥

× × ×

जब तें आइ रहे रघुनायकु। तब तें भयउ बनु मंगलदायकु॥
फूलहिं फरहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥
करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥

—मानस

इस प्रकार श्रीरामके आगमनके कारण जिस परिवर्तनका वर्णन ऊपर किया गया है, उस सम्बन्धमें आनन्दकन्द श्रीरामके देवत्वको एक ओर रखकर उनके मनुष्यत्वपर विचारकर देखा जाय तो यह सब उनके चरित्रका प्रताप था कि इतना घोर परिवर्तन हुआ और सब उनके प्रेमसे सराबोर हो उनके चरित्ररूपी गङ्गामें डुबकियाँ लेने लगे एवं प्रेमसे परिपूर्ण हो सत्-चित्-आनन्दरूपी परमात्मरूपमें लीन हो गये।

श्रीरामके वियोगमें रथके घोड़ेतक व्याकुल हो उठते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्रभुका न केवल मनुष्य-जातिपर ही बल्कि पशु-पक्षीसहित जीवमात्रपर प्रेमाधिकार था—

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि।
ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि॥

—मानस

[शेष आगे]

ईश्वर कब हँसता है ?

यदि हम—सांसारिक मनुष्य—अपनी दृष्टिको तनिक भी अन्तर्मुखी बनायें और अपने कर्मों—क्रिया-कलापोंपर विचार करें तो हमको अपने भोलेपन, नादानी, नासमझी, अज्ञानता या कपटीपनपर कितनी हँसी आयेगी, कितना क्षोभ होगा कि हम उस परमेश्वरको धोखा देनेका प्रयत्न करते हैं जो सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा, अनादि, अनन्त और त्रिकालज्ञ है, जो हमारे जीवनमें व्यतीत होनेवाले प्रतिपल, प्रति श्वासपर घटित होनेवाली ज्ञात-अज्ञात क्रियाओं, संकल्प-विकल्पों, जिन्हें हम स्वयं भी कभी-कभी नहीं जान पाते, उनसे भी सुपरिचित है। इतना ही नहीं, हम यह निश्चितरूपेण मान बैठे हैं कि हमने उस परमेश्वरको धोखा दे दिया है। क्या हमारी यह अज्ञानता हास्यास्पद नहीं है ?

हमारे ये कार्य उस परम पिताके प्रति वैसे ही हैं, जैसे कोई शिशु अपने पिताको, जिसने उसे गोदमें ले रक्खा है, थप्पड़ मारे और पिता रोनेका प्रदर्शन करे। बच्चा पिताके मुँहमें खानेकी वस्तु रक्खे और पिता सचमुच खानेका प्रदर्शन करे और दिखाये कि वह बच्चा जैसे सचमुच उसे (पिताको) खिलानेवाला है इत्यादि। बालक अपने हर कार्यसे यह समझता है कि मानो मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह सत्य है और वास्तवमें यह पिता कुछ भी नहीं समझता। जब उस अबोध बालकके हृदयमें ऐसा विचार आने लगता है, अर्थात् पिता जब यह देखता है कि यह बालक मुझे खेलते हुए देखकर अपनेको कितना समझदार समझ रहा है, तब निस्संदेह उसे हँसी छूट जाती है।

—राजेन्द्रप्रसाद, एम्० ए०

राम-महिमा

(लेखक—प्रा० श्रीदेऊलगांवकर चन्द्रकान्त)

राम नामाचे पोवाडे। अखंड ज्याची वाचापढे।
धन्य तो एक संसारी। रामनाम जो उचारी॥
——तुकाराम

रामनामके गीत जिसकी वाचा अखण्ड पढ़ती है और जिसकी वाणी रामनाम रटती है, वह इस संसारमें धन्य है।

वेदान्तमें ॐकारको उद्गीथ कहा गया है। पतञ्जलि भी ॐकारको 'ईश्वरवाचक' कहते हैं।

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

ॐकार ईश्वरवाचक है। ॐकारका जप और उसके अर्थकी भावनाद्वारा आत्म-प्राप्ति तथा विघ्ननाश होता है।

'ॐकार यह परमेश्वरका प्यारा नाम है और इस नामसे भगवान्की आराधना की जाय तो वे प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं।' ऐसा शंकराचार्यजीका कहना है—

'तस्मिन्हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहणेनेव लोकाः।'

सभी उपनिषदोंने ॐकारका महत्त्व-गान किया है। 'प्रणवोपासना'-ग्रन्थमें छान्दोग्य, माण्डूक्य, लिङ्ग, तैत्तिरीय, उपनिषदोंसे ॐकार-वर्णनकी ऋचाएँ उद्धृत की गयी हैं। किंतु ॐकार और गायत्री-मन्त्रका अधिकार केवल द्विजोंको ही था। इसी कारण आगे चलकर भगवान्के सहस्र नाम हुए। प्रणवमें जो शक्ति है, वही शक्ति इन सहस्र नामोंमें भी है। इन्हें ज्ञानेश्वर 'हजार जहाज' कहते हैं, इनसे भवसागर पार किया जा सकता है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

नामाचिया सहस्रवरी। नावाइया अवधारी।
सजूनिया संसारी। तारु झालो॥
(ज्ञा० अ० १२।९०)

जिस प्रकार मन्त्रोंकी संख्या अनन्त है, उसी प्रकार परमात्माकी नामावली भी अनन्त है। किंतु इन सब नामोंमें 'राम' नामको एक अनोखा महत्त्व प्राप्त हुआ है। शास्त्रोंने 'राम'को 'तारक-ब्रह्म' कहा है। राममन्त्र प्रणवमन्त्रसे भिन्न नहीं है। वैदिक मन्त्र प्रायः शापयुक्त होते हैं। उनका शापमोचन, उत्कीलन तथा संजीवन करना पड़ता है। किंतु परमात्माके ये नाम सिद्ध हैं। उन्हें फिरसे सिद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। उन मन्त्रोंमें 'राम' भी है।

रामो नृसिंहो विष्णुश्च शंकरश्चाम्बिका तथा।
गजाननो गुरुश्चैव सप्तैते सिद्धमन्त्रकाः॥
(शारदातिलक)

एक बार नारद अपने पिता ब्रह्माके पास गये और उन्होंने उनसे पूछा—हे विश्वेश्वर! परमात्माके नामोंमें पाप-नाशकी कितनी शक्ति है, यह कृपया बताइये। ब्रह्माजीने उत्तर दिया—हे पुत्र! जिन पापोंके लिये शास्त्रमें कोई प्रायश्चित्त नहीं, उन पापोंका संहार नाम-संकीर्तनसे होता है और हरिनाम-स्मरण-जैसी दूसरी औषध नहीं है।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं भाषितं मम सुव्रत।
नामोच्चारणमात्रेण महापापात्प्रमुच्यते॥
राम रामेति रामेति रामेति च पुनर्जपन्।
स चण्डालोऽपि पूतात्मा जायते नात्र संशयः॥

इसीसे यह कहा गया है—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकीजनः॥

हरि-नाममें पाप नाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतने पाप पापीलोग भी नहीं कर सकते।

उसी प्रकार एक समय देवताओंमें शतकोटि रामायणके विभाजनका प्रश्न उपस्थित हुआ। पर वे कोई निर्णय नहीं कर सके। अतएव सबने परम विरागी भगवान् शंकरको पंच नियुक्त किया। कोटि, लाख, हजार, सौ—इस प्रकार विभाजन करते-करते एक बच गया। उस समय शंकरजीने कहा—मैंने तो सबका बराबर भाग कर दिया। यह एक बच रहा। इस एकको किसे दूँ, इसका भाग तो हो नहीं सकता और किसी एकको देनेपर मेरा पक्षपात समझा जायगा। अतएव आपलोगोंकी आज्ञासे इस बचे हुए एकको मैं ही ले लेता हूँ। शतकोटि रामनामोंमेंसे भगवान् शिवजीने जो बचा हुआ भाग बड़े चावसे लिया, वही 'राम'-नाम है*। शिवजी निरन्तर राम-नामका स्मरण करते हैं।

---

* रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जियँ जानि।

वे श्रीरामके सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं । इस प्रकारकी कथा शिवपुराणमें आती है । आनन्दरामायण, श्रीधरके 'रामविजय' में भी इस कथाका आधार लिया गया है । एकनाथजीने शिवपुराणका हवाला देते हुए अपने 'भावार्थ रामायण'में अरण्यकाण्डके १९ वें अध्यायमें कथा लिखी है ।

स्मृति, पुराण, रामोत्तरतापिन्युपनिषद्, रामपूर्वतापिन्युपनिषद्—इन ग्रन्थोंमें राम-महिमाका विशद वर्णन आता है ।

(श्री) सप्तकोटि महामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः ।
एक एव परो मन्त्रो राम इत्यक्षरद्वयम् ॥
(वृद्धमनुस्मृति)

(रा) जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति ।
तस्मात् कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते ॥
(पद्मपुराण)

(म) यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः ।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥
(रामपूर्वतापिन्युपनिषद्)

भारतीय संतोंने राममहिमाका अपार वर्णन किया है । पेशवाके समय महाराष्ट्रके प्रसिद्ध कवि मोरोपंतने एक सौ आठ रामायणोंकी रचना की है । एकनाथजीने भावार्थ रामायणसे चालीस हजार संख्यामें ग्रन्थकी रचना की । विठ्ठलभक्ति करनेवाले सभी संतोंने रामस्मरणको महत्त्व दिया है । भरथरी-सम्प्रदायके सभी संतोंने, अद्वैत-पंथी होनेके कारण पाण्डुरंग, राम, कृष्ण नामोंमें कभी भेद नहीं किया ।

ज्ञानदेव कहते हैं—

रामकृष्ण सर्व दोषां हरण । जडजीवा तारण हरि एक ॥

राम-कृष्ण सब दोषोंका हरण करते हैं, जड जीवोंका उद्धार करते हैं ।

रामकृष्ण उच्चार अनन्त राशि पाप ।
पाणचे कळप पळती पुढे ॥
——नामदेव

राम-कृष्णके उच्चारसे पापोंके ढेर भागते रहते हैं ।

ज्ञानदेव एवं नामदेवने किसी एक देवताके नामोच्चारको महत्त्व नहीं दिया । 'हरिमुखे बोल' (मुखसे हरि कहो) इतना मात्र आग्रहसे कहा है । 'हरिस्मरण' किसी भी नामसे किया जाता है । फिर भी नाथजी, तुकाराम, ज्ञानदेव आदि संतोंने राममहिमाका वर्णन किया है । एकनाथजीने भावार्थ रामायणमें बहुत जगह रामवर्णन किया है । कालविपर्यासका दोष भी नाथजीने किया है । बालकाण्डमें राममहिमाका किस प्रकार वर्णन किया है देखिये—जब श्रवणको दशरथजीका बाण लगता है और वह जमीनपर गिरता है तब उसके मुखसे 'राम'नाम निकलता है । वह कहता है—

कोणा सभाग्याचा बाण । रामस्मरणें सी आला ॥
श्रावणासी बाण लागता । नाठवेचि मातापिता ॥
नाठवेचि देहममता । रामस्मरता देहत्यागी ॥

'राम-स्मरण करते हुए मुझे किस भाग्यवान्ने तीर मारा ! तीर लगते ही माता, पिता, देह—इनको श्रवण भूल गया और राम-स्मरण करते हुए उसने देह त्याग कर दिया ।'

सच देखा जाय तो कथाके कालक्रमसे श्रवणके मुखमें रामनाम आनेका कोई कारण नहीं । मूल-रामायणमें भी श्रवण 'हाय-हाय' करता हुआ धरतीपर गिरता है । **'हा हेति पततस्तोये बाणाद्व्यथितमर्मणः'** किंतु नाथजीको राम-स्मरणका महत्त्व वर्णन करना है, इसलिये उन्होंने कालविपर्यासका दोष भी सिरपर ले लिया । रामस्मरणसे श्रवण मुक्त हो गया, इतना ही नहीं अपितु राम-नाम सुननेके कारण राजा दशरथको भी ब्रह्म-हत्याका पातक नहीं लगा—

रामनाम स्वयें ऐकतां । रायसी न बाधे ब्रह्महत्या ॥

रामनाम-स्मरण किस प्रकार मोक्षप्रद, कल्याणकारक एवं पुण्यप्रद है, जनताको उन्हें यह दिखलाना है । उनमें विश्वास निर्माण करना है । हरिनामस्मरणकी लगनका, चावका उन्हें निर्माण करना है । वे कहते हैं—

जैं धर्माची वाढी मोडे । अधर्माची शीग चढे ॥
तैं आम्हा येणे घडे । संसार स्थिति ॥

जब धर्मका आचरण डूबने लगता है तब हमें संसारमें आना आवश्यक होता है । इसी भूमिकासे उनकी ग्रन्थ-रचना हुई है । मानवोंके लिये तो रामकथा अमृतके समान है किंतु समस्त देवोंको भी रामकथा मधुर लगती है । नाथजी यह कहना नहीं भूलते । उन्हें सरस्वती कहती हैं—

ते म्हणे गा रामकथेलें । वेगीं चालवी भावार्थे ।
सद्भावें होईल सरते । प्रिय संतातें करीन ॥

'तुरंतहि राम-कथा भावार्थसे कहो । मैं उसे संतोंमें प्रिय करूँगी ।'

महाराष्ट्रमें विस्तारपूर्वक रामकथाका वर्णन करनेवाले नाथ

ही पहले संत हैं। भावार्थ रामायणको रामकथा-कोश कहा जाता है।

एकनाथजीके पश्चात् तुकारामने भी अत्यन्त स्पष्टरूपसे राम-महिमाका वर्णन किया है। तुकारामको जो गुरु-मन्त्र मिला वही 'रामकृष्णहरि' था। तुकारामने एक रामचरित्र भी लिखा है। स्वयं वे अपनेको रामका राऊत (सिपाही) समझते हैं—

आम्ही रामाचे राऊत। वीर झुंजार बहुत॥

इस रामनामके लिये कुछ कीमत नहीं देनी पड़ती, इसका वर्णन करते हुए तुकाराम कहते हैं—

नाम घेता न लगे मोल। नाम मंत्र नाही खोल॥
दोचि अक्षराचें काम। उच्चारावे राम राम॥

दो अक्षरोंका काम है और वह है 'राम राम।' और इसका अधिकार सबको है। जात-पाँत, लिंगभेद और समय, काल, स्थिति आदिका भी बन्धन नहीं है। तुकाराम कहते हैं—

राम म्हणे वाट चाली। यज्ञ पाउला पाउलीं॥
धन्य धन्य तें शरीर। तीर्थं व्रतांचे माहेर॥
राम म्हणे करता धंदा। सुख समाधी त्या सदा॥
राम म्हणे ग्रासो ग्रासी। तोचि जेविला उपवासी॥

चलते समय भी राम-नामका यज्ञ कर सकते हैं। जो आदमी राम-नामका यज्ञ करता है उसका शरीर मानो तीर्थोंका उद्गम-स्थान है। काम-धंधा करते समयमें रामनाम करनेपर सुख-समाधिमें तल्लीन हो सकते हैं। भूखा आदमी अगर रामस्मरण करेगा तो उसका पेट भर जायगा।

राष्ट्रगुरु रामदासजीका नाम नारायण था, किंतु राम-भक्तिसे वे रामदास बन गये। इसी घटनासे उनकी रामभक्ति समझमें आ सकती है। दासबोध, करुणाष्टक, मनांचे श्लोक और स्फुट काव्यमें राम-महिमाका तथा रामोपासनाका रामदासजीने वर्णन किया है। रामायणके केवल दो काण्डोंकी रचना उन्होंने की है। समर्थ रामदासजीके रामवर्णनमें केवल रामोपासनाका ही आग्रह दृष्टिगोचर होता है। वे कहते हैं—

भजाया जनीं पाहला राम येकु।
करी बाण येकु। मुखी शब्द येकु॥
क्रिया पाहता उधरे सर्व लोकु।
धरी जानकी नाथकाचा विवेकु॥

ऐसी एक कथा प्रचलित है कि रामदास पण्ढरपुर जानेको तैयार नहीं थे; क्योंकि वहाँ उनके राम नहीं थे। किंतु विट्ठलजीने राम-स्वरूपमें उन्हें दर्शन दिया और यह ज्ञान करवाया कि राम और पाण्डुरंग विट्ठल एक ही हैं। दासबोधमें छठवें दशकका सातवाँ समास राम-महिमा-वर्णनपर ही है।

महाराष्ट्रमें रामकथा लिखनेमें मोरोपंत अद्वितीय हैं। पंतजीकी राम-वर्णनपर लिखी हुई पद्य-संख्या १७३६० है। उन्होंने एक सौ आठ रामायण लिखे। पंतजीकी रामभक्ति अवर्णनीय है। श्रीरामकुमार वर्मा तुलसीदासजीको राम-साहित्यके सम्राट् कहते हैं। तद्वत् मोरोपंत मराठी भाषाके राम-साहित्यके सम्राट् हैं।

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव।

इस रामायणोक्तिके अनुसार उन्होंने राम-महिमाका वर्णन किया है।

ऐसी माला रामचरणीं। गुंफून पूजा रामचरणीं॥
वोंकारवत् अखंडपणीं। खंडूचि नये॥
(दासबोध० १४। ३। १)

राम-नामकी माला उन्हें राम-चरणोंपर अर्पण करनी थी, इसीलिये एक सौ आठ रामायणकी माला उन्होंने तैयार की। उन्हें सिर्फ राम-महिमा और रामस्मरण करना था, इसलिये उन्होंने रामायणोंमें विविधता लानेका प्रयास नहीं किया। उनका उद्देश्य निम्न आर्याओंसे मालूम होगा।

श्रीरामाच्या नामें ताप। नाशे भंगे सारा ताप॥
ऐसा अन्यत्र प्रताप। कोणाहि मन्त्री नसे॥
श्रीरामचरित करिते मुक्त। सत्कृत किमपि सेविता भावे॥
पार न लागे दशत बदननाहि। परंतु वाटतें गावे॥

पंत-साहित्यसे ऐसे वचन हजारों मिलेंगे।

इन संतोंके सिवा श्रीधरका 'रामविजय' बहुजन समाज में बहुत ही लोकप्रिय है। श्रीधरकी विशेषता उसक सादी, सुलभ भाषा है। उत्तर भारतमें जिस प्रका रामचरितमानस पढ़ा जाता है, उसी प्रकार महाराष्ट्र 'रामविजय' पढ़ा जाता है। गिरिधर, नागेश, निरंजन वहिणाबाई, मुक्तेश्वर आदि संतोंकी रामायणपर या कुछ प्रसंगों रचनाएँ उपलब्ध हैं। तुलसीके रामचरितको Bible Northern India कहते हैं, वही स्थान महाराष्ट्र

'रामविजय'को है । पंत और तुलसीकी रामनामकी ओर देखनेकी दृष्टि कैसी एक है, यह इस दृष्टान्तसे ज्ञात होगा।

पंत—'वा नामा ! तू जीवन दीना मीना सदा जपा उदधि ।'

तुलसी—'रामनाम ही की गति जैसे जल मीनको ।'

एकनाथ, पंत, श्रीधर, तुकाराम—इन कवियोंकी रचनाका पूर्ण विवरण देना इस छोटेसे लेखमें बड़ा कठिन है । भारतीय जीवन राममय है । इसका श्रेय इन संतोंको है और आधुनिक संत गांधीजी, विनोबाको भी है । रामनामसे रोग-मुक्ति होती है, इस आशयका पत्र गांधीजीने लिखा था । इस यन्त्रयुगमें भी रामनवमी बड़ी धूम-धामसे लोग मनाते हैं । भारतीय जीवनमें और संस्कृतिमें 'राम' है—इसी कारण भारतीय जीवन और संस्कृतिमें कुछ 'राम' है । जिस दिन भारतीय जीवनसे 'राम' निकल जायगा, उसी दिन भारतीय संस्कृति नष्ट हो जायगी, इसमें संदेह नहीं ।

पंडित जवाहरलाल नेहरूने कहा है—"I do not think any person can understand fully without possessing a knowledge of magnificient epics, that are India's pride and Treasure."

श्रीनेहरू-जैसे विद्वान्, बुद्धिवादी, पुरोगामी और भौतिक प्रगतिपर भारतको ले जानेवाले, पाश्चात्य-संस्कृतिका गुण वर्णन करनेवाले महान् नेताके ये विचार हैं । इससे यह जाना जा सकता है भारतमें रामका महत्त्व और रामके चरित्रका प्रभाव भारतीय जनतापर कितना महान् है ।

सुंदरता कहुँ सुंदर करई

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

गोस्वामी तुलसीदासजी अद्वितीय भक्त ही नहीं थे, परमोच्च कलाकार भी थे । कलाकारका सम्बन्ध सौन्दर्य-साधनासे है; क्योंकि जहाँ कला है वहाँ सौन्दर्य है, जहाँ सौन्दर्य है वहाँ कला है । काव्यकला शब्दोंद्वारा हमें सौन्दर्य-जगत्में ले जाकर अलौकिक आनन्दका अनुभव कराती है । लौकिक आनन्द विषयभोगसे मिलता है । यह आनन्द निम्न श्रेणीका है। इससे शक्ति क्षीण होती है और हमारा जीवन पशुजीवनके स्तरपर ही रहता है । कलाका आनन्द हमारे भीतर एक विशेष शक्तिका संचार करता है, हमें अनुप्राणित करता है। हमारे जीवनको पशुवत् जीवनके स्तरसे उठाकर ऊपर ले जाता है । काव्य-निर्माण एक कला है । सूक्ष्मरूपमें भक्ति भी एक कला है; क्योंकि भक्ति अलौकिक सौन्दर्यसे हमारा योग कराती है । जब एक विलक्षण भक्त कलाकार बन जाता है, तब सोनेमें सुगन्ध मिल जाता है । उसके बनाये सौन्दर्यके संसारमें विचरण करके हम इस पृथ्वीसे बहुत ऊपर उठ जाते हैं । हमारा सुख हमें अलौकिक कर देता है । 'रसो वै सः' रस ही 'वह' है, रस ही वह तत् है जिसका संकेत 'तत्त्वमसि' में है । तत्की सत्यं-शिवं-सुन्दरम् गुणत्रयीमें सुन्दरम् अन्तिम श्रेणी है, जिसका अर्थ यह है कि तत् सत्य है, इसकी सत्ता अशक्य है, इसकी एकमात्र अद्वितीय सत्ता ही एकमात्र अद्वितीय सत्य है और वह शिव है, कल्याणकारक है, सबको सब प्रकारसे कल्याणदाता है और सुन्दर है, अत्यन्त सुन्दर है, अनिर्वचनीय सुन्दर है, एकमात्र अद्वितीय सुन्दर है । अतएव अनिर्वचनीय आनन्ददाता है । उस तत्की सत्तासे ही उसका अस्तित्व है, जो कुछ दृश्यजगत्में स्थिर है, जो कुछ सत्ताको प्राप्त है । इसी प्रकार उस तत्की चित्-शक्तिके कारण ही जो कुछ जिस किसी मात्रामें जिसमें भी जो चैतन्य है वह है, और अपने अस्तित्वका, अपनी स्थितिका, अपने विविध सम्बन्धोंका, अपने निकटस्थ तथा दूरस्थित विषयोंका सचेत ज्ञान है । और जिस-किसीमें थोड़ी तथा अधिक मात्रामें जैसी भी सुन्दरता है और उस सुन्दरताके कारण जो उसमें आनन्द है, अथवा अन्य वस्तुओंकी सुन्दरताके सम्पर्कसे जो आन्तरिक आनन्द अनुभूत होता है, उस आनन्दका आदिस्रोत है वह तत्का अनन्त आनन्द ।

हमलोगोंकी दृष्टि नीचेकी ओर, पृथ्वीकी ओर, स्वभावतः जाती है, अतएव अपार्थिव दृष्टिकोण अपनानेके लिये हमें विशेष प्रयत्न करना पड़ता है । यदि हम सौभाग्यवश 'श्रीगुर पद नख मनि गन जोती'का स्मरण करके दिव्य दृष्टिको प्राप्त कर पायें तो हमें एक अनुपम अनुभव प्राप्त होगा । यह सृष्टि एक जग-व्यापक अद्भुत सौन्दर्यसे ओतप्रोत है । कोई भी वस्तु किसी स्थानमें ऐसी नहीं है जिसमें किसी-न-किसी मात्रामें सौन्दर्य न हो। आकाश परम सुन्दर है चाहे वह जगदात्मा

भगवान् भास्करके तेजसे प्रज्वलित हो या राकेशकी अमृतमयी कान्तिसे परिपूर्ण । कृष्णपक्षमें तारोंकी निराली छटा होती है, शुक्लपक्षमें नित्य नयी चन्द्रकलाकी । बादलोंका संसार तो सौन्दर्यका निवासस्थान ही है परंतु बादलोंकी सुन्दरता वही समझ सकता है जिसने हिमालयकी ऊँची चोटियोंमें भ्रमण किया है । प्रेम-मग्न हृदयमें क्षण-क्षण बदलते संकल्पोंके समान वर्षाके बादलोंके रंग और रूप क्षण-क्षणमें बदलते हैं । शरद्के श्वेत बादल हों या मस्त हाथियोंकी पंक्तियोंके समान गरजते काले जलद । बादलोंके रूप, बादलोंकी चाल, बादलोंके रंग मन-मुग्धकारी होते हैं । समुद्रको जिसने एक बार भी देखा, वह उसकी 'बहुताई'का विस्मयभरा आनन्द भूल नहीं सकता । समुद्रकी निर्भय गर्जना और उस गर्जनाकी प्रतिध्वनि, समुद्रके असीम उल्लाससे भरी स्ववशविहारिणी, स्वेच्छाचारी अनन्त तरङ्गें, उछलती, हिलोरें खाती, अट्टहाससे बिखरती-फैलती !!! समुद्रका सौन्दर्य समुद्रके समान अनन्त है । झरने कैसे सुन्दर होते हैं, कोई इस प्रकार बल खाकर पहाड़की चोटीसे गिरता है जैसे कोई अप्सरा स्वर्गसे नीचे उतर रही हो । कभी दो चश्मे एक-दूसरेसे यों वेगसे मिलते हैं, जैसे वर्षों बाद प्यारे मित्र मिले हों । कभी दो चश्मे ऐसे चुपचाप एक दूसरेसे अलग होते हैं, जैसे दो मित्र सदाको उदास हृदयसे अलग हो रहे हों । पक्षियोंकी सुन्दरता अपना एक विशेष स्थान रखती है । उनके पंखोंके रंग, उनकी मीठी बोलियाँ, उनकी सुन्दर उड़ान, कैसी मनोमोहक होती है !! यह वही जानता है जिसने पहाड़ोंपर और वनोंमें उन्हें प्यारसे देखा है । पुष्पोंकी कोमलता, उनके रंग, उनकी सुगन्ध, उनके रूप और तितलियोंके अद्भुत रूप और रंग कवि भी वर्णन नहीं कर सकता । इस संसारमें अगणित नर, नारी और बालक हैं; परंतु कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होता, जिसका कोई-न-कोई अङ्ग सुन्दर न हो । किसीकी आँखें सुन्दर होती हैं, किसीकी भौंहें, किसीके गाल, किसीकी ठोड़ी, किसीके होंठ, किसीकी नाक, किसीके कान, किसीके बाल, किसीका माथा, किसीके हाथ, किसीके पैर, किसीकी चाल, किसीकी मुस्कुराहट, किसीकी हँसी, किसीका चुप रहना, किसीका देखना, किसीका न देखना, किसीका बोलना और किसीका न बोलना । इसी प्रकार हर एक व्यक्तिमें भावका सौन्दर्य भी पाया जाता है । कोई ऐसी नारी या ऐसा नर या बालक नहीं, जिसके अंदर कोई-न-कोई सद्भाव गुणरूपसे व्याप्त न हो । किसीमें दया, किसीमें सहिष्णुता, किसीमें सौन्दर्य-प्रेम, किसीमें सेवाभाव, किसीमें मातृभक्ति, किसीमें पितृप्रेम, किसीमें भाईका या बहनका प्यार, किसीमें पक्षियोंका प्रेम, किसीमें ईश्वरभक्ति, किसीमें धर्मभाव, किसीमें दान-प्रियता, किसीमें न्याय-प्रेम, किसीमें शान्तिकी इच्छा, किसीमें अहिंसाके प्रति निष्ठा और किसीमें दूसरेके कल्याणका भाव ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह जगत् सौन्दर्यसे ओत-प्रोत है । आकाशमें सौन्दर्य है, जलमें सौन्दर्य है, थलमें सौन्दर्य है, पक्षियोंमें, पुष्पोंमें, तितलियोंमें, नर और नारियोंमें, बालकोंमें सब स्थानोंमें कुछ-न-कुछ सौन्दर्य अवश्य है । हमारे भीतर सौन्दर्य है, हमारे बाहर सौन्दर्य है, हमारे ऊपर-नीचे, चारों ओर सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य है । यह संसार एक महान् छबिगृह है । इस संसारकी इस अनुपम सुन्दरताका कारण क्या है ? इस महान् छबिगृहको दृश्यमान कौन करता है ! कलाकारशिरोमणि कविवर तुलसीदासजी इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जगज्जननी, जगन्मोहिनी जानकीजी ही इस संसारकी सुन्दरताका आदिकारण हैं, वे ही इस महान् छबिगृहको दृश्यमान करती हैं ।

सुंदरता कहुँ सुंदर करई । छबिगृहँ - दीपसिखा जनु बरई ॥

जगदम्बा जानकीजीकी नित्य, अनादि, अनन्त, अनिर्वचनीय, सर्वव्यापक कान्ति ही दीपशिखाके समान इस जगत्‌रूप छबिगृहकी छबिको दीप्तिमान् करती है । जानकीजीकी शोभा अकथनीय है ।

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥

ऐसे श्रीरघुनाथजी भी सीताजीकी शोभाका वर्णन न कर सके ।

हृदयँ सराहत बचनु न आवा ।

जिनकी सुन्दरतासे राकापति अमृतपूर्ण होते हैं, जिनकी सुन्दरतासे अग्नि प्रज्वलित होती है, जिनकी सुन्दरतासे सूर्य तेजस्वी दिखलायी देते हैं, जिनकी सुन्दरताकी अमर, अनन्त कहानी उषा नित्य नये-नये रंगोंसे लिखती है लेकिन पूरी कहानी लिख नहीं पाती, उन जगन्मोहिनी सीताजीकी सुन्दरतासे ही सब वस्तुएँ सुन्दरताको प्राप्त होती हैं । जगन्मोहिनी ही सुन्दरताकी आत्मा हैं । वे ही सुन्दरताको सुन्दर करती हैं ।

◆

द्वादशाक्षर मन्त्र और गीता

(लेखक—श्रीगोविन्दराम पं० हूँदराजजी बोधा [यजुर्वेदी])

विहाय पीयूषरसं मुनीश्वरा
ममाङ्घ्रिराजीवरसं पिबन्ति किम् ।
इति स्वपादाम्बुजपानकौतुकी
स गोपबालः श्रियमातनोतु नः ॥

मुनीश्वरगण अमृतरसको त्यागकर मेरे चरणारविन्द-मकरन्द-रसका पान क्यों करते रहते हैं ? यह सोचकर कौतूहल-वश अपने ही चरणकमलके अँगूठेका पान करता हुआ वह गोपबाल (नन्हा मुन्ना श्रीकृष्ण) हमारा कल्याण करे ।

प्रश्न—छोटा बच्चा कैसे कल्याण कर सकेगा ?

उत्तर—कृष्ण=कृष्+ण=सत्ता+आनन्द !

वह सर्वशक्तिशाली तथा परम आनन्दमय है । जिसने उसकी शरण ली, उसीका कल्याण हुआ (जैसे द्रौपदी आदि)।

प्रलयके समय मार्कण्डेय मुनिने देखा कि एक सुन्दर और सुकोमल बालक अपने चरणकमलका अंगूठा मुँहमें डाले, पीपलके पत्तेपर विराजमान हो, अगाध और भयावह समुद्रमें उनकी ओर आ रहा है । मुनिके निकट पहुँचते ही उसने जम्हाई ली और मुनिको अपने पेटमें पहुँचा दिया । वहाँ मुनिने अनन्त ब्रह्माण्ड इत्यादि देखे । क्या ऐसे बालकको हमें साधारण बालक समझना चाहिये ? वह तो पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम है ।

आत्यन्तिकं व्याधिहरं जनानां
चिकित्सकं वेदविदो वदन्ति ।
संसारतापत्रयनाशबीजं
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

वेदोंके ज्ञाता विद्वान् लोग गोविन्द (वेदवाक्योंद्वारा ही ज्ञात होनेवाले), दामोदर (दम आदि साधनोंसे जब मति उत्कृष्ट हो जाती है, तभी ज्ञात होनेवाले) और माधव (मौन, ध्यान और योगके द्वारा ही ज्ञात होनेवाले) अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णको ही बड़ी-से-बड़ी विकट व्याधिको मिटानेवाले वैद्य तथा संसारके तीनों तापोंके (आधिभौतिक=प्राणियोंद्वारा प्राप्त होनेवाले, आधिदैविक=देवताओंद्वारा प्राप्त होनेवाले तथा आध्यात्मिक=शारीरिक और मानसिक) नाशका बीज बतलाते हैं ।

शरीरं सुरूपं ततो वै कलत्रं
यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम् ।
यशोदाकिशोरे मनो वै न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥

सुन्दर शरीर हो, लावण्यवती स्त्री हो, सुन्दर तथा विचित्र यश हो तथा मेरु पर्वततुल्य धन हो, परंतु यदि यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें मन नहीं लगा, तो इन सबसे क्या लाभ ?

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यं देवमुपासते ।
तृषिता जाह्नवीतीरे कूपं वाञ्छन्ति दुर्भगाः ॥

जो लोग श्रीवासुदेवको (वसुदेवजीके पुत्र श्रीकृष्णको) छोड़कर दूसरे किसी देवताकी (उससे भिन्न मानकर) उपासना करते हैं, वे अभागे गङ्गाजीके तटपर रहते हुए भी प्यास बुझानेके लिये कुएँकी चाहना रखते हैं ।

ऐसे पूर्णपुरुषोत्तम, अशरणशरणका द्वादशाक्षरमन्त्र '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' तथा उनकी अमृतवाणी श्रीमद्-भगवद्गीता हमारे दुःखोंका नाश करनेमें तथा हमारा उद्धार करनेमें समर्थ है । द्वादशाक्षरमन्त्र और गीता कैसे और क्यों हमारे दुःखोंका नाश तथा हमारा उद्धार करते हैं, यह भेद इनसे ही सुनें ।

'**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**'का अर्थ है, (ॐ) सत्, चित् और आनन्दस्वरूप तथा मोक्षदायक परब्रह्म, (भगवते) (सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यसे युक्त, (वासुदेवाय) जो सबमें बसता है, तथा जिसमें सब बसते हैं (तथा वसुदेवजीके सुपुत्र श्रीकृष्ण) ऐसेके लिये (नमः) नमस्कार हो ।

द्वादशाक्षरमन्त्रके प्रत्येक अक्षरसे गीताके कुछ श्लोक आरम्भ होते हैं, उन्हींसे सहायता लें ।

द्वादशाक्षर मन्त्रका पहला अक्षर है 'ॐ', जिसका अर्थ है—सत्, चित् और आनन्दस्वरूप परमात्मा तथा मोक्षदायक परब्रह्म ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
(८ । १३)

जो पुरुष ॐ ऐसे एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझको चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है । वह परम गति है भगवन्मय हो जाना, भगवान्से अलग न रहना ।

हम जिसके कारण जीवित कहलाते हैं, वह हमारे शरीरके अंदर रहनेवाला जीवात्मा, परमात्माका ही अंश है। मायाके चक्करमें फँसकर, यह जीवात्मा अनन्त कालसे उस परमात्मासे अलग हो गया है। मायाके आवरणके कारण न तो अपने अंशीके सांनिध्यमें, जो उसे आनन्दका अनुभव होता था, उसका स्मरण है और न तो अंशीके विरहमें जो उसे दुःख होना चाहिये, वह दुःख ही है। हम तो संसारके ही सुखों और दुःखोंमें फँसे हैं। परमात्माके सांनिध्यमें जो सच्चा सुख और आनन्द प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करनेके लिये, हमें सब कुछ देकर भी पूर्ण प्रयास करना चाहिये। अपना सर्वस्व अर्थात् देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण तथा इनके धर्म तथा पति, स्त्री, गृह, पुत्र, इष्टमित्र, सम्बन्धी एवं धन, इहलोक, परलोक—इन सबको परमात्माको समर्पण करना चाहिये और उनके साथ, परमात्माकी प्राप्तिके हेत्वर्थ, बिना आसक्तिके, शास्त्रोक्त मर्यादाओंमें रहकर व्यवहार करना चाहिये तथा अपनेको परमात्माका दास समझना चाहिये। जैसे उनसे अलग होनेकी वेदना तीव्र होती जायगी, वैसे ही उनमें भक्ति दृढ़ होती जायगी और शीघ्र ही वे हमें प्राप्त हो जायँगे, हमारे दुःख सदाके लिये नाश हो जायँगे और सच्चा सुख तथा अनन्त आनन्द सदाके लिये हमें प्राप्त हो जायगा।

यदि कोई हमें ऐसा लाभदायक मार्ग बतलाये, तो हमें उसके द्वारा मिली हुई कृपाके बोझके कारण नतमस्तक होकर उसे नमस्कार तो करना ही चाहिये।

दूसरा अक्षर है न=नमस्कार।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
(११। ४०)

हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपको आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार हो। हे सर्वात्मन्! आपको सब ओरसे नमस्कार हो; क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सारे संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप सर्वरूप हैं।

भगवान् सबमें बसते हैं, इसलिये वे सर्वात्मा हैं। वे छोटे-से-छोटे अणुसे लेकर बड़ी-से-बड़ी वस्तुमें विद्यमान हैं और ऐसा कोई स्थान अथवा वस्तु नहीं है, जिसमें वे न हों, अतः वे सर्वव्यापी हैं। एतदर्थ हमें सबमें और सब ओर उनका दर्शन करते हुए उनको नमस्कार करना चाहिये। वे 'कर्तुम्, अकर्तुम् तथा अन्यथाकर्तुम् समर्थ' हैं, इसलिये वे अनन्त सामर्थ्यवाले तथा अनन्त पराक्रमशाली कहे गये हैं। हमें उनकी ही शरणमें जाना चाहिये। '**श्रीकृष्णः शरणं मम।**' उनके दिखलाये गये मार्गपर चलना चाहिये तथा ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिये, जिसके लिये उन्होंने रोका हो।

तीसरा अक्षर है मो=मः और मा+उ।

मा=नकारात्मक, उ=उक्ति अर्थात् नहीं करने योग्य कर्मोंके विषयमें उक्ति।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
(९। १२)

वृथा आशा, वृथा कर्म तथा वृथा ज्ञानवाले अज्ञानीलोग राक्षसी, आसुरी तथा मोहिनी प्रकृतिको ही धारण करते हैं।

भगवान् ही हमारे सच्चे सुहृद् तथा सम्बन्धी हैं। वे जिनसे हमारा कल्याण हो तथा हमारे कर्म और योग्यतानुसार ही हमें सम्बन्धी, मित्र, पद तथा सुख-दुःखादि देते हैं। वे हमें ऐसे सम्बन्धी इत्यादि देते हैं, जिनकी सहायतासे हम अधिक योग्य बनकर शीघ्र ही उनको (ईश्वरको) प्राप्त करें। अतः न तो हमें निरर्थक आशाओंका सेवन करना चाहिये और न निरर्थक आशाओंके प्राप्त्यर्थ शास्त्रविधिका उल्लङ्घन कर निरर्थक कर्म ही करने चाहिये। वे हमारी ऐसी माँगोंकी ही पूर्ति करते हैं, जिनसे हमारा सच्चा अभ्युदय हो। वे तो हमारे माँगे बिना ही हमें ऐसी वस्तुएँ प्रदान करते रहते हैं तथा ऐसे सुअवसर देते रहते हैं, जिनसे हमारा सच्चा अभ्युदय हो। आवश्यकता है उन वस्तुओं तथा सुअवसरोंसे पूरा लाभ उठानेकी, न कि उन्हें ठुकरानेकी। निरर्थक भावनाएँ तब उत्पन्न होती हैं, जब हम सुख भगवत्प्राप्तिमें नहीं, अपितु क्षणिक सांसारिक भोगोंमें ही मानते हैं। यही वृथा अर्थात् निरर्थक ज्ञान है। हमें द्वेषवश होकर अथवा अपने सुखके लिये या प्रमादवश भी किसीको दुःख नहीं पहुँचाना चाहिये। तब हमें क्या करना चाहिये, जिससे हमारा भला हो? हमें तो अनन्य भावसे वासुदेवकी ही भक्ति करनी चाहिये, जिससे हमारे दुःख सदाके लिये नाश हो जायँ तथा हमें भगवान्के सांनिध्यका अनुपम आनन्द प्राप्त हो।

चौथा अक्षर है भ=भक्ति ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(१८ । ५५)

भक्तिद्वारा ही वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है ।

अनन्य-भक्तिद्वारा ही मनुष्य भगवान्के निर्गुण-निराकार तथा दिव्य सगुण-साकार रूपोंका भेद तथा कैसे भगवान् निर्गुणसे सगुण, सगुणसे निर्गुण, निराकारसे साकार तथा साकारसे निराकार बनते हैं, समझता है । भगवान्के यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होते ही उनकी प्राप्ति हो जाती है । भगवान्को क्यों प्राप्त करना चाहिये ?

अतः पाँचवाँ अक्षर है ग=गति ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
(९ । १८)

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति तथा प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान और अविनाशी कारण मैं ही हूँ ।

अतः हमें उनकी ही शरणमें जाना चाहिये । ये ही हमें संसारके बन्धनोंसे छुड़ाकर अपनेमें लीन कर लेंगे । जो उनसे एक नहीं हुए, उनको तो दुःखमय जन्म-मरणके चक्करमें घूमना ही पड़ेगा ।

छठा अक्षर है व=वध और विनाश ।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥
(११ । २७)

वे आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीच लगे हुए दीख रहे हैं । परंतु जो सन्मार्गपर चलते हैं और भगवान्में ही चित्त लगाते हैं, उनकी तो वे नैया पार लगाते हैं ।

सातवाँ अक्षर है, ते= ता+ इ= तारनेकी इच्छा ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(१२ । ७)

उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।

परंतु यदि भक्ति इतनी प्रबल नहीं हुई तो क्या होगा ? तो भगवान् उन्हें पुनः मनुष्यशरीर देकर आगे बढ़नेका अवसर देंगे । इसलिये—

आठवाँ अक्षर है वा= व+ आ= वस्त्र+आवरण । अर्थात् यह शरीररूपी वस्त्र जीवात्माका आवरणमात्र है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(२ । २२)

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।

इस शरीरके रहते हुए तथा अन्य शरीरोंको प्राप्तकर मनुष्यको भगवान्की भक्ति करते हुए संसारमें कैसे रहना चाहिये ? सबसे समान भावसे तथा प्रेमसे बर्ताव करना चाहिये ।

नवाँ अक्षर है सु=सुहृद्वत् आचरण करना ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(६ । ९)

(सच्चे प्रेम और हित करनेवाले) सुहृद्, मित्र, शत्रु, द्वेष्य (स्वभावसे नीच), मध्यस्थ (दोनों पक्षोंकी भलाईके लिये न्याय करनेवाले), उदासीन (किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं रखनेवाले), कुटुम्बियोंमें, धर्मात्माओंमें तथा पापियोंमें समान (प्रेम) भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

अथवा

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।
(५ । २९)

मैं सब प्राणियोंका **सुहृद्** **हूँ** यह जानते ही शान्ति मिल जाती है। भगवान्‌के इस सौहार्दपर विश्वास करके शान्ति प्राप्त करनी चाहिये और भगवान्‌का अनुकरण करके प्राणीमात्रका सुहृद् बनना चाहिये। और भी कोई ऐसा साधन है जिससे हमारी शीघ्र उन्नति हो तथा हम भगवान्‌को शीघ्र प्राप्त करें । यह है देवताओंकी सेवा, इसलिये—

दसवाँ अक्षर है दे=देवताओंकी सेवा ।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
(३ । ११)

तुमलोग इस यज्ञद्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें । इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त होओगे ।

ऐसी सुन्दर शिक्षाएँ देनेवाले तथा मुक्तिका मार्ग बतलानेवालेको एक बार फिर नमस्कार करें । इसलिये ग्यारहवाँ अक्षर है वा=वासुदेवको वन्दन करें ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥
(११ । ३९)

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा तथा ब्रह्माके भी पिता हैं । आपके लिये हजारों बार नमस्कार हो, नमस्कार हो, आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार नमस्कार !!

भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है कि इस प्रकार उनमें मन लगानेवालोंका वे अवश्य उद्धार करेंगे । इसलिये—

बारहवाँ अक्षर है य=यजमान और याचकका उद्धार ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
(१८ । ६८)

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके, इस परम रहस्यम शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा (उन्हें सुनायेगा, पढ़ायेगा, अथवा प्रचार करेगा) वह मुझको ही प्राप्त होगा । इस कोई संदेह नहीं है ।

अतः हमारा परम कर्तव्य है कि गीताके ज्ञानके आधारपर संसारके सब कार्य करें, अपने तथा औरोंके कष्ट मिटा और आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्तिद्वार परमपदको प्राप्त हों ।

ध्येयः सदा योगिभिरप्रमेय-
श्चिन्ताहरश्चिन्तितपारिजातः ।
कस्तूरिकाकलितनीलवर्णो
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

योगी भी जिन्हें ठीक-ठीक जान नहीं पाते हैं, जो सभ प्रकारकी चिन्ताओंको हरनेवाले हैं और मनोवाञ्छि वस्तुओंको देनेके लिये कल्पवृक्षके समान हैं तथा जिनके शरीरका वर्ण कस्तूरीके समान नीला है, उन्हें सदा गोविन्द ! दामोदर ! माधव ! इन नामोंसे स्मरण करन चाहिये ।

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

जहाँ सत्य, धर्म, ईश्वरविरोधी कार्यमें लज्जा औ हृदयकी सरलता है, वहाँ ही श्रीकृष्ण रहते हैं और ज श्रीकृष्ण रहते हैं, वहाँ निःसंदेह विजय है ।

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति ॥

ध्यानके अभ्याससे जिनका चित्त वशमें हो गया वे योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योति देखते हैं तो देखा करें, हमारे लिये तो यमुनाजीके तट जो (श्रीकृष्ण नामवाली) वह अलौकिक नील ज्यो दौड़ती फिरती है, वही चिरकालतक लोचनोंको चकाचौं डालनेवाली हो ।

बोलो भक्त और भगवान्‌की जय !

* * *

हृदयमें मधुर गान रखकर आनन्दित होइये

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

हमारे भक्त कवियोंने कभी कविता करनेका जानबूझकर प्रयत्न नहीं किया। उनका प्रभुभक्तिविह्वल हृदय स्वयं ही संगीतके रूपमें फूट निकला। भक्तप्रवर सूरदास, भक्तशिरोमणि तुलसीदास, प्रभुप्रेममें पगी मीराँ, कबीर, नानक इत्यादि भक्त कवियोंने संगीतमय जीवन व्यतीत किया। वे प्रभुभक्तिमें विह्वल होकर एकतारेपर कुछ-न-कुछ मधुर गीत गुनगुनाया करते थे। रैदास जूते बनानेका कार्य करते-करते गाते रहते, कबीर जुलहेका करघा चलाते-चलाते भजन गाते रहते, तुलसी और सूर प्रति दिन एक भव्य भजनसे ही प्रारम्भ करते थे। इन्हें कभी यह ज्ञान नहीं था कि वे सर्वगुणसम्पन्न उत्तम काव्य-रचना कर रहे हैं। यह भजन, उनका यह संगीत, ये मधुर गान 'स्वान्तःसुखाय' ही थे। अपने मन, हृदय, शरीर और आत्माको पूर्ण प्रसन्न और तृप्त रखनेके लिये ही इनका निर्माण हुआ था। मीराँ तो जो गाती थी, वही एक मधुर गान बनकर निकलता था। इन मधुर गीतोंने उसके हृदयको सरस और ताजा बना रक्खा था। उनकी तन्मयतामें वह संसारके कष्टोंको भुला सकी थी।

सच मानिये, जीवन बिल्कुल ही दूसरे प्रकारका हो सकता है यदि आप उसे मनमें या हृदयमें एक मधुर गान रखकर आरम्भ करें। जीवनकी अनेक विषमताएँ बहुत कुछ कम हो सकती हैं या बिल्कुल ही हट सकती हैं, यदि आप गाकर जीवन प्रारम्भ करें। हृदयको किसी मधुर भजन, प्रेरणाप्रद कविता, प्रिय गानसे सरस और तरोताजा रखिये।

हृदयमें किसी गीतका प्रेरक, उत्साहप्रद, संतोषदायक, उन्नतिशील भाव रखना इस बातका प्रमाण है कि आप जीवनके प्रत्येक दिनकी समस्याएँ, विरोध अथवा कठिनाइयाँ ईश्वरमें विश्वास रखकर दूर कर रहे हैं। आपके मनमें किसी प्रकारका भय नहीं है। यह गीत हमें जीवनरूपी सागरमें दूरतक बड़ी बहादुरीसे आगे बढ़ाता है और मनमें नये जोशको भर देता है। गानेसे कठोरताएँ दूर होकर सरसतामें बदल जाती हैं। बुरे-से-बुरा थका या उबा देनेवाला काम आसान लगता है। खेद है कि हम उस शक्ति और योग्यताको नहीं जानते, जो हमें प्रेरक गीतसे मिल सकती है। एक बार एक प्रेरक गाना गाइये, फिर आप पायेंगे कि आपके हृदयकी कली जैसे पूरी तरह खिल गयी है, रग-रेशे ताजगीसे भर गये हैं, मन और शरीरमें नयी ताकत आ गयी है; अब हम अपना कठोर कार्य भी बखूबी पूरा कर पा रहे हैं।

हमें अपनी आजकी समस्याओंका सफलतासे मुकाबला करनेके लिये एक प्रेरक गीतकी आवश्यकता है; क्योंकि हमारी आजकी समस्याएँ विषम हैं। इन कठिनाइयोंको हम संगीतके द्वारा हल करेंगे। हमें वे कठिनाइयाँ कदापि नहीं आयेंगी, जो हमारे पूर्वजोंको आती थीं। आर्थिक समस्याएँ, पारिवारिक विषमताएँ, मकान, बीमारी, बच्चोंके विवाहकी शत-शत समस्याएँ हमें विचलित नहीं करेंगी, यदि हमें आजके लिये कोई प्रेरक शान्ति-स्फूर्तिदायक गीत मिल जाय।

एमर्सन कहा करते थे, 'हमारा यह वर्तमान समय, अन्य समयकी तरह बहुत ही उपयुक्त और कार्य करनेके लिये सर्वोत्तम समय है। जरूरत यह है कि हम यह जान लें कि उसका उचित उपयोग हम किस प्रकार कर सकते हैं।'

यह कथन आज भी उतना ही सही है जितना यह तब था, जब इसे एमर्सनने कहा था। उन्नतिकी असंख्य सम्भावनाएँ हमारे चारों ओर बिखरी पड़ी हैं। इन

सम्भावनाओंके विषयमें सोचने, विचारने तथा उन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेसे हमें नयी आशा मिलती है। यह कार्य प्रेरक गीत बड़ी तेजीसे हमारे लिये करते हैं। प्रत्येक उत्तम कविता या गीतमें एक उत्तम भाव छिपा रहता है, जो हमारे शरीरमें फैलकर हमारी ताकतोंको दुगुना-चौगुना बढ़ा देता है।

मनमें पवित्र भजन, या ईश्वरीय प्रेरणासे सना हुआ गान आपको ईश्वरीय शक्ति प्रदान करता है। हमारे विचार ईश्वरके अक्षय शक्तिभण्डारसे शक्ति खींचते हैं। ईश्वरकी शक्ति आपके चारों ओर वातावरणमें बिखरी पड़ी है। भजनकी विद्युत्-तरङ्गें उसे आसपाससे खींचती हैं। इन भजनोंमें जो ईश्वरीय शक्ति शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षरमें छिपी पड़ी है, उसे अनुभव कीजिये। ये उन संतों तथा महात्माओंके उद्गार हैं, जिन्होंने स्वयं अपने अंदर ईश्वरीय शक्तियोंको अनुभव किया था। ये भजन उन संतोंके प्रत्यक्ष जीवनके निचोड़ हैं, अनुभवकी किरणें हैं। इनसे ईश्वरीय शक्तिका माहात्म्य प्रकट हो रहा है।

प्रेरक गान चाहे आप उच्च स्वरसे करें अथवा शान्त मन-ही-मन गुनगुनायें, या किसी भक्त प्रेमीद्वारा सुनें—हर प्रकार उपयोगी और कल्याणकारी है। इसे आन्तरिक आह्लाद, आन्तरिक आनन्दके गुणके रूपमें ग्रहण करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि वही मधुर स्वर्ग-जैसा पवित्र संगीत हमारे जीवन-पुष्पद्वारा प्रकट हो रहा है। हमारे देशमें संत और भक्त कवियोंके संगीतमय भजनों और ईश्वरीय गीतोंका बृहत् भण्डार बिखरा पड़ा है। उसमेंसे स्वयं अपनी रुचि और आवश्यकतानुसार भजन चुन लेने चाहिये। तुलसीकी 'विनयपत्रिका', सूरका 'सूरसागर', मीराँकी 'पदावली', कबीरके 'पद'—ये सब पवित्र भावोंसे परिपूर्ण हैं।

प्रातः उठते ही बड़े प्रेमसे निम्न उत्तम भजनोंको गाना सुख, स्वास्थ्य और मङ्गलमय जीवन प्रदान करनेवाला है—

अब कै नाथ ! मोहि उधारि।
मगन हौं भव-अंबुनिधि मैं, कृपासिंधु मुरारि॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ-लहरि तरंग।
लिऍं जात अगाध जल कौं गहे ग्राह अनंग॥
मीन इंद्रिय तनहि काटत, मोट अघ सिर भार।
पग न इत-उत धरन पावत, उरझि मोह-सिवार॥
क्रोध-दंभ-गुमान तृष्ना पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत सुत-तिय, नाम-नौका ओर॥
थक्यौ बीच बिहाल बिह्वल, सुनौ करुना-मूल !।
स्याम, भुज गहि काढ़ि लीजै सूर ब्रज कैं कूल॥

सूरदासजी बतलाते हैं कि यह संसार समुद्रकी तरह जंजाल दुःखरूप है। माया इस संसारसागरका अगाध जल है, लोभरूपी लहरें हैं, कामवासनाका मगर है, इन्द्रियाँ ही मछली हैं और जीवके सिरपर पापोंकी गठरी रक्खी हुई है। मोह ही इस समुद्रमें सेवार है। काम-क्रोधादिकी हवा झकझोर रही है। हरिनामकी नौका ही पार लगा सकती है, पर स्त्री-पुत्रकी माया उधर देखने ही नहीं देती। भगवन् ! आप ही मेरा हाथ पकड़कर पार लगायेंगे। आप ही मेरे बल हैं। आपकी करुणा ही संसार-सागरसे मेरा उद्धार करनेवाली है।

एक और भजन इस प्रकार है—

प्रभु, मेरे गुन-अवगुन न बिचारौ।
कीजै लाज सरन आए की, रबि-सुत-त्रास निवारौ॥

× × × ×

जो गिरिपति मसि घोरि उदधि मैं लै सुरतरु बिधि हाथ।
मम कृत दोष लिखै बसुधा भरि, तऊ नहीं मिति नाथ॥
तुमहिं समान और नहिं दूजौ, काहि भजौं हौं दीन॥
कामी, कुटिल, कुचील, कुदरसन, अपराधी, मति-हीन।

× × × ×

तुम सरबज्ञ सबै बिधि समरथ, असरन-सरन मुरारि।
मोह-समुद्र सूर बूड़त है, लीजै भुजा पसारि॥
(सूरदास)

अथवा यह गाइये—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो ॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर हौं चेरो ।
तात-मातु, गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो ॥
मोहिं तोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै ।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै ॥

(विनयपत्रिका)

कुछ आधुनिक कवियोंके प्रेरक गीत लीजिये—

हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ।
दुख आकर मुझसे टकरावें ।
गिरकर चूर-चूर हो जावें ॥
अविचल अटल रहूँ दृढ होकर—
प्रभु ऐसा चट्टान बनूँ मैं ।
हे भगवान् महान् बनूँ मैं ॥ १ ॥

उन्नत हो नभमें लहराऊँ !
मानवके जगमें फहराऊँ ॥
शुचिता अरु मानवताका—
ऐसा अमिट निशान बनूँ मैं ।
हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ॥ २ ॥

जगमग ज्योति अखण्ड जला लूँ ।
भूले पथके पथिक बुला लूँ ॥
हो जाऊँ मग-दर्शक जगका—
ऋषियोंकी संतान बनूँ मैं !
हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ॥ ३ ॥

मैं सत्य-सुधाका पान करूँ ।
मैं प्रेमी बन सम्मान करूँ ॥
मैं न्यायी न्याय-विधान करूँ ।
फिर जीवनका अभिमान बनूँ मैं ।
हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ॥ ४ ॥

तेरी करुणाका ध्यान करूँ ।
प्रतिक्षण तेरा आह्वान करूँ ॥
हो जाऊँ तन्मय तुझमें तब—
तेरे करका वरदान बनूँ मैं ।
हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ॥ ५ ॥

—पं० जनार्दन पाण्डेय

एक कविता जिससे आप सदा नयी शक्ति और प्रेरणा पा सकते हैं—

(१)

क्या हुआ नभमें घटाएँ घिर गईं तो,
क्या हुआ तममें दिशाएँ खो गईं तो,
छोड़ना मत आश मनकी तू अभी,
प्रातका जगमें उजेला छायगा ही !
भोरका तारा गगनमें आयगा ही !

(२)

क्या हुआ पतझार तेरे बागमें मुसका रहा तो,
क्या हुआ मझधारमें तूफान फिर इठला रहा तो,
छोड़ना पतवार मत माँझी अभी तू,
बागमें मधुमास फिरसे छायगा ही !
भोरका तारा गगनमें आयगा ही !

(३)

जिन्दगीमें फूल भी हैं, शूल भी हैं,
जिन्दगीमें हार भी है, जीत भी है,
फिर हृदयमें क्यों निराशा भर रहा तू ?
शाप भी वरदान बनकर आयगा ही !
जिन्दगीका यह अँधेरा जायगा ही !

—श्रीउमाकान्त एम० चौधरी

इसी प्रकारके अनेक प्रेरक गीत, कविताएँ, भजन, वाणियाँ, दोहे इत्यादि आप अपने लिये छाँट सकते हैं। गुनगुनाकर नयी ताकत और नयी स्फूर्ति पा सकते हैं। इन गीतोंमें आपके जीवनको सरस और उत्साहप्रद बनानेकी बड़ी शक्ति है। यदि संगीतका अस्तित्व मिट जाय, तो दुनियाँ बड़ी नीरस, रूखी और कर्कश मालूम होने लगेगी। प्राणियोंके अंदर जो उन्नतिशील चैतन्य तत्त्व है, वह संगीतद्वारा गति प्राप्त करता है। उसे आगे बढ़ाता है। मनुष्यके अंदर जो नयी जागृति होती है, उसका आधार शक्तिशाली झंकृतियाँ ही हैं। भव्य संगीतकी कम्पनमय प्रेरणासे ही समस्त सृष्टिका काम चल रहा है।

एक विद्वान्के शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि 'एक दिव्य संगीतसे दसों दिशाएँ झंकृत हो रही हैं। हर ओर स्वर-लहरी गूँज रही है। हृषीकेशका पाञ्चजन्य,

शंकरका डमरू, भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर मुरली, सरस्वतीकी वीणाका सत्य शिव और सुन्दर संगीत निनादित हो रहा है और उसपर विमुग्ध होकर विश्वकी जड-चैतन्य सत्ताका प्रत्येक परमाणु नृत्य कर रहा है ।'

आइये, इस अमृतमय संगीतको अपने प्राण औ आत्मामें उतारें ।

* * *

पारिवारिक जीवनकी दृढ़ भित्तियाँ—प्रेम, सहिष्णुता और सेवा

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्रत्येक प्राणी जन्म तो अकेला लेता है, पर उसकी वृद्धि और सुरक्षामें कई व्यक्तियोंका हाथ होता है । सबसे पहले तो उसे जिसने अपने गर्भमें रक्खा और जन्मग्रहणके बाद भी जिसकी सेवाएँ उसे आगे बढ़ानेमें सहायक होती हैं, उस माताका उसपर असीम उपकार होता है । इसी तरह पिता, माता, बहिन, दादी आदि, जो भी उसके निकट-सम्बन्धी उसके पनपनेमें सहायक होते हैं, उन सबके प्रति उसका आकर्षण होना स्वाभाविक है । यह आत्मीय-भाव, ममत्व या प्रेम ही पारिवारिक जीवनकी मूल भित्ति है । वैसे तो जीवन-व्यवहारमें अनेकों व्यक्तियोंसे सम्पर्क रहता है, पर उनके साथ वैसा अपनत्व कम ही हो पाता है । इसलिये जिनके साथ सदा रहा जाय, जो अपने सुख-दुःखके साथी हों, जिससे वंशपरम्परानुगत निकट-सम्बन्ध हो, उसका एक परिवार माना जाता है । जिनको हम अपना मानते हैं और जो हमें अपना मानते हैं, उस अपनेपनके साथ पारिवारिक सम्बन्ध विशेषरूपमें जुड़ता है ।

प्राचीन संस्कृति या परम्पराका अनुसंधान करनेपर यह मालूम होता है कि मनुष्यको अपना अकेलापन अखरा । सुख-दुःखके समय एक दूसरेसे मिलना, अपनी बात दूसरोंको कहना और दूसरोंकी बात स्वयं सुनना उसे आवश्यक प्रतीत हुआ । वैदिक मान्यताके अनुसार सृष्टिकर्ता ईश्वर पहले अकेला था और उसे अपना अकेलापन अखरा और ईश्वरको यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं एकका अनेक हो जाऊँ—'एकोऽहं बहु स्याम् ।' उसके बाद ईश्वरने सृष्टिकी रचना आरम्भ की और विविध आकृति, रुचि एवं योग्यतावाले प्राणियोंकी सृष्टि की; क्योंकि एकही-जैसे सभी प्राण होते तो क्रीड़ा या लीलाका जो सुख ईश्वर अनुभ करना चाहता था, वह उसे नहीं मिल पाता । प यदि इन विभिन्नताओंमें एकता स्थापित करनेका प्रयत नहीं होता, सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जाता, तं सब एक दूसरेसे विलग रहकर अपनी-अपनी खिचड़ अलग-अलग पकाते, उनका मेल-मिलाप और पारस्परि सौहार्द नहीं बन पाता । इसलिये स्नेह, ममत्व या प्रेमक बन्धन भी प्राणियोंमें डाला गया, जिससे एक-दूसरे अलग होते हुए भी सब एकताके डोरेमें बँधे हुए-से रहें माताके हृदयमें अपनी संतानके प्रति स्नेह नहीं होत तो संतानका जीवित रहना ही कठिन हो जाता औ उसकी उन्नति तो हो ही नहीं सकती; क्योंकि उस शारीरिक एवं बौद्धिक विकासमें समय लगता है । व स्वयं अपना आहार जुटाने और ग्रहण करनेमें सम नहीं होता और जीवन-व्यवहारकी अनेक बातें सी नहीं पाता । इसी तरह पारिवारिक जीवनकी आवश्यक हुई और उससे मानव-समाजने बहुत अधिक उन्न की । वैसे तो पशुओंमें भी पारिवारिक जीवन हो है। पर उनकी अनेक शक्तियाँ उस रूपमें विकसित न हो पातीं, जिस रूपमें मनुष्यकी । एककी अपे अनेक व्यक्तियोंकी शक्ति जुड़ती है तो उससे अधि

लाभ मिलता है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिमें जहाँ अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं, तो कुछ कमियाँ भी होती हैं। इसलिये पारस्परिक संगठनके द्वारा एक दूसरेकी कमियोंकी पूर्ति हो जाती है और विशेषताएँ बढ़ जाती हैं। इसलिये पारिवारिक जीवन एक पूरक जीवन है।

अनेक प्रकारकी अनेक शक्तियाँ मिलनेसे सबको उसका अच्छे परिमाणमें लाभ मिलता है। सुख और दुःखमें एक दूसरेका सहारा मिलनेसे दुःख इतना भारी नहीं प्रतीत होता। जहाँ अकेला एक व्यक्ति ऊब जाता है, वहाँ दूसरा व्यक्ति उसे आश्वासन या सहारा देकर उसके दुःख-भारको हल्का कर देता है कि तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हारे साथ हूँ। जो भी सुख मुझे प्राप्त होगा हम बाँटकर खायेंगे और दुःख मिलेगा तो भी मिलके भोगेंगे। तुम्हारा कोई विरोधी है या तुम्हें कोई मारने आयेगा तो मैं भी तुम्हारे साथ हूँ। तुम अपनेको अकेला मत समझना। तुम घरका काम देखोगे, तो बाहरका काम मैं सम्हाल लूँगा। तुम बीमार पड़ जाओगे तो तुम्हारा काम मैं कर लूँगा अर्थात् एक दूसरेसे मिल-जुलकर रहने और परस्पर सहायक बननेसे जीवन-संग्राममें अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और इसी बातको लक्ष्यमें लेकर भारतमें पारिवारिक जीवनका अधिक विस्तार हुआ। एक परिवारमें दस-पाँच ही नहीं, पर सौ-दो-सौ व्यक्ति भी होते हैं। उन सब व्यक्तियोंकी योग्यता एक समान हो ही नहीं सकती। कोई कमाऊ होता है तो कोई उड़ाऊ। कोई बुद्धिमान् होता है तो कोई मूर्ख। कोई बलवान् होता है, तो कोई बलहीन। कोई स्वस्थ है तो कोई रोगी। कोई एक व्यक्ति ही बहुत व्यक्तियोंका काम कर सकता है, तो कोई सर्वथा निठल्ला और निकम्मा होता है। यावत् परिवारमें कुछ व्यक्ति अंधे, लँगड़े, लूले, बहरे भी होते हैं, पर सबमें अपनत्व और ममत्व होनेसे सबका एक साथ निर्वाह होता रहता है।

कुछ तेजमिजाजके होते हैं, उनकी कटु बात भी सबको सहनी पड़ती है। अतः पारिवारिक जीवनकी दूसरी मूल भित्ति है—सहिष्णुता। एक दूसरेकी अच्छी-बुरी बातको सहन किये बिना निर्वाह नहीं हो सकता। यदि परिवारके एक व्यक्तिने कुछ कहा और दूसरा उसे सहन नहीं कर पाया तो परस्परमें झगड़ा होकर पारिवारिक संगठन टूट जायगा। यदि एक व्यक्ति नहीं कमाता है और परिवारके लिये भाररूप है तो भी परिवारका मुखिया उसे बरदाश्त करेगा। सबको स्नेह-रज्जुमें बाँधकर रखनेकी यह कला सहनशीलतापर ही आधारित है।

तीसरी मूल भित्ति है—पारस्परिक सहयोग और सेवा। मनुष्य जिसको अपना मान लेता है उस आत्मीयके लिये स्वयं कष्ट उठानेको भी तैयार रहता है—यदि उससे दूसरेको सुख मिलता हो। परिवारका एक व्यक्ति रोगी होता है तो उसकी परिचर्यामें वह अपने शरीरकी सुध-बुध खो बैठता है। दिन-रात एक करके भी वह कैसे और जल्दी-से-जल्दी रोगमुक्त हो, इसके लिये पूरा प्रयत्न करता है। मान लीजिये एक व्यक्ति गिर पड़ा, पर यदि उसे कोई सहारा देकर खड़ा करनेवाला हो तो उसका कष्ट बहुत हलका हो जायगा। आज विपत्ति मुझपर आयी है तो कल दूसरेपर भी आ सकती है। इसलिये एक दूसरेके सहयोग एवं सेवाकी नितान्त आवश्यकता है। परिवारके लोग घरके अनेक कामोंमें बँटवारा कर लेते हैं और अपना-अपना काम ठीकसे करते रहते हैं, तो भी मन मिला रहता है। एक व्यक्तिको बहुत अधिक काम करना पड़े और दूसरा निकम्मा बैठा रहे तो अधिक काम करनेवालेको यह अखरेगा ही और इसका परिणाम आगे चलकर पारिवारिक संगठनका छिन्न-भिन्न हो जाना अनिवार्य होगा। ठीक है, परिवारमें कोई कम काम करता है, कोई अधिक। उसे अधिक महत्त्व देना भी भेदका कारण बनेगा, पर जहाँ उसकी मात्रामें आधिक्य आया, वहाँ तो अलगाव

होना निश्चित ही है; क्योंकि सहन करनेकी भी एक सीमा होती है । अतः परिवारके लोगोंमें एक दूसरेका ध्यान रखना और सहायक बनना बहुत ही आवश्यक है । जिस प्रकार सम्पत्तिमें सबका समान भाग है उसी प्रकार विपत्तिमें भी होना चाहिये । एक दूसरेकी सेवा करनेको तत्पर रहना चाहिये । तभी पारिवारिक जीवन सुखी हो सकता है ।

अनुशासन भी पारिवारिक जीवनका आवश्यक अङ्ग है । परिवारके मुखियाके अनुशासनमें सभीको रहना जरूरी है । स्वच्छन्द अपने मनके मते चलनेसे परिवार तीन-तेरह हो जायगा ।

भारतीय संस्कृतिमें आत्मीयताके विस्तारको बड़ा महत्त्व दिया गया है । अतः संकुचित परिवारसे विशाल परिवारकी ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है । ज्यों-ज्यों विश्वप्रेमकी भावना बढ़ती जायगी; त्यों-त्यों परिवारका संकुचित दायरा विशाल होता जायगा । साधु-महात्मा यही तो करते हैं । पहले तो देखनेमें यही लगता है कि इन्होंने परिवारको छोड़ दिया, स्नेह-बन्धनको तोड़ दिया । पर वास्तवमें उन्होंने संकुचित पारिवारिक जीवनको समाप्त-कर विशाल परिवारको अपनाया है । अब उनका अपनत्व या ममत्व दस-बीस व्यक्तियोंमें ही सीमित न रह-कर हजारों, लाखों और करोड़ोंमें व्याप्त हो गया है । इसीलिये कहा गया है—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

साधुके लिये पहले कुटुम्बका सम्बन्ध छूटकर गुरु-शिष्योंका परिवार बनता है । फिर अनेक अनुयायियोंका एक विशाल परिवार बन जाता है और अन्तमें उन्हें सारा विश्व ही अपना कुटुम्ब—परिवार मालूम देने लगता है । उनके लिये पराया कोई है ही नहीं, सभी तो अपने हैं । अतः यह तेरा, यह मेरा यह क्षुद्र भावना वहाँ समाप्त हो जाती है । यही आत्मीयताका विस्तार है, यही विश्वप्रेम है ।

आजकल पारिवारिक जीवनके प्रति अरुचि बढ़ने लगी है । सभी स्वतन्त्र या स्वाधीन रहना चाहते हैं । बड़ोंके प्रति विनय और माता-पिता आदि गुरुजनोंके प्रति अपना कर्तव्य भुला दिया जा रहा है । परिवार अनेक छोटे-छोटे दायरोंमें विभक्त होता जा रहा है । इससे संकुचित स्वार्थवृत्ति प्रबल हो रही है । दो भाइयोंमें एक सगा भाई तंगीमें है, भूखा है, कष्टमें है, पर दूसरा भाई समर्थ होते हुए भी उसकी ओर उपेक्षा कर रहा है । एक दूसरेको सहायता देनेकी भावना समाप्त होती जा रही है । यह भारतीय संस्कृतिके तो सर्वथा विपरीत है ही, पर इससे मानवोचित गुणोंका ह्रास होता दिखायी दे रहा है । मैं पिया, मेरा बैल पिया, अब चाहे कुआँ टूट पड़ो । मैं सुखी हूँ, बस, इतना ही काफी है, दूसरा दुखी है तो इसका मैं क्या करूँ ? इस तरह आजकल 'मैं' अपनी स्त्री और संतानमें ही सीमित होता जा रहा है । यह बहुत ही हानिकारक है । इस ओर ध्यान देकर माता-पिता, भ्राता-बहिन आदिके पारिवारिक प्रेमसम्बन्ध-को उपर्युक्त दृढ़ भित्तियोंपर पुनः स्थापित करना चाहिये ।

करुण प्रार्थना

नाथ ! हौं निपट निरंकुस नीच ।
नरक-कीट मैं परयौ रहौं नित पाप-तापके कीच ॥
करौं भगतिकी बात मनोहर भीतर भरे बिकार ।
अंतरजामी तुमहु तें मैं करौं कपट-व्यवहार ॥
निज सुभावबस नाथ दयाकर पकरि उधारौ हाथ ।
पाप-प्रबाह पतित पामर कौं करौ कृपालु सनाथ ॥

कौन सोचता है ? कौन व्यथित है ?

(लेखक—श्रीसुन्दरलालजी बोहरा)

व्यक्ति, समाज और राष्ट्रका उत्थान प्राकृतिक वातावरणपर निर्भर करता है; किंतु यह परिभाषा भौतिक प्रगतिको ही संतुष्ट कर सकती है। जहाँतक व्यक्तिके सामाजिक उत्थानकी बात है, नैतिक उत्थानका आदर्श है एवं नागरिक दायित्वोंसे ऋण-मुक्तिकी बात है; प्राकृतिक वातावरणकी अपेक्षा स्वयं व्यक्तिद्वारा निर्मित वातावरण उत्तरदायी है। 'सावधान'के स्वर यहींसे गूँजने शुरू होते हैं; क्योंकि स्वयंद्वारा निर्मित मार्गको सुधारने-मोड़नेमें प्रायः व्यक्ति तर्क-वितर्क करते रहते हैं और अक्सर परिणाम विपरीत ही होता है। सावधान रहते हुए संशोधन करना अपने-आपमें विशेष महत्त्व रखता है और संशोधन भी प्रायः वे ही सफल होते हैं जो संयमी एवं सत्यके सच्चे पुजारियोंद्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। अतः कथनी एवं करनीमें सामञ्जस्य अनिवार्य है। बदल वही सकता है जो वह स्वयं बदलकर बता सकता है। बिना आत्मशोधन एवं अनुसंधानके बदलनेकी बात करना अरण्यरोदन ही है। अतः जो आपत्तिमें, समाजकी किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थितिमें आगे आये, वही अग्रगामी है, वही आदर्श मानव है और वही समाजके मान-मूल्योंको बदलनेका सच्चा अधिकारी है। शिव बनना और बनाना संयमपर निर्भर करता है। आज भारतको ऐसे ही आदर्श नीतिपरायण पुरुषोंकी आवश्यकता है।

आज जहाँ प्रगतिके नामपर दुर्गति पोषण पा रही है। मनोरञ्जनके नामपर सिनेमाद्वारा सत्यानाश हो रहा है। नवीनताके रूपमें नाशका नृत्य हो रहा है। जीवनके मान-मूल्योंका दिन-दूना रात-चौगुना (Cumulatively) विघटन हो रहा है। चारों ओर अनुशासनहीनता एवं अनुत्तरदायित्वका वातावरण विस्तृत हो रहा है। कुल-मर्यादा मरघटपर पड़ी है; शैक्षणिक मर्यादाको संन्यास दिया जा रहा है। फिर भी हम विकास कर रहे हैं! आज लगता है, जैसे विचारकोंका मस्तिष्क शून्य हो गया है; समाजसुधारकोंकी आवाज अटक गयी है, नेताओंको नींद आ गयी है, अध्यापक आमोद-प्रमोदमें मस्त हैं और पत्रकार 'प्रेस्टिज' के पीछे पागल हैं। हमने इतने बाँध बना लिये; हमने इतना लोहा ढाल लिया, हमने इतनी सड़कें बना दीं, इतने अस्पताल-कारखाने खोल दिये और हमने इतना ऋण प्राप्त कर लिया! क्या यही प्रगति है? क्या यही उत्थान है? जब कि हमने इतने सदाचारविनाशक सिनेमाघरोंका निर्माण होने दिया; हमने मनोविज्ञानके नामपर इतना सेक्स साहित्य छपने-बिकने दिया; हमने इतने नट-नर्तकोंका सम्मान किया; हमने इतनी उम्रकी लड़कियोंको नाचना अनिवार्य बनाया; हमने धूम्रपानकी धूम मचने दी; शराबबंदीके नामपर शराब-प्रचार किया। हमने कोठेकी वेश्यावृत्तिका निवारण किया तो पर्देकी वेश्यावृत्ति प्रारम्भ हो गयी! पहलेकी वेश्यावृत्ति कुछ लोगोंतक ही सीमित रही, पर इस 'पर्देकी वेश्यावृत्ति' का रोग आठसे लेकर साठतककी उम्रवालोंको लग गया है। भोजन छोड़ सकते हैं मगर सिनेमा अवश्य देखेंगे। बाप अपनी युवती कन्याके साथ सुहागरातकी हरकतोंसे पूर्ण फिल्म देखता है और वही बाप कन्याको पर्देमें रखना चाहता है! विडम्बनाको भी विलाप करना पड़ता है यहाँ!

जीनेके रास्ते दो हैं (वस्तुतः एक ही है—योग) योग और भोग। एक रास्ता हरिताभपूर्ण मैदानकी ओर जाता है तो दूसरा रेतके टीलोंसे परिपूर्ण मरुभूमिकी ओर। योगमें मोक्ष है तो भोगमें बन्धन तथा रोग। एकमें श्रीवृद्धि है तो दूसरेमें सर्वनाश। जगद्गुरु भारतने भीष्म, हनुमान्, लक्ष्मण, ययाति एवं भर्तृहरिके रूपमें

दोनों मार्गोंका अनुसरण किया, मगर बात—आस्था—पहले पथपर ही पक्की रही और उसकी संस्कृति, कला एवं आचार-विचार सनातन हुए। 'जीवन' अपने सर्वोत्कृष्ट रूपमें भारतके जन-जीवनके सम्मुख उपस्थित हुआ। किंतु मानव-प्रकृति हर नये क्षण परिवर्तन चाहती है—हर क्षण 'संतोष' को संन्यास देनेका हठ करती है और यहींसे सत्यानाश शुरू होता है। भारतवासियोंको योगवादका प्रतिपादन करते-करते अजीर्ण हो गया! मार्गदर्शक स्वयं मार्गच्युत और मार्गसे अपरिचित हो गया। भारतने अपनी चोंच बंद कर ली। वह अपनी चोंच तभी खोले, जब अमेरिका, इंगलैण्ड और रूस सिखाये कि 'बच्चे! चोंच ऐसे खोलते हैं।' भारतको अपने नैतिक संस्कारोंमें त्रुटि दिखायी देने लगी, अपने नैतिक मूल्योंमें मन्दी नजर आने लगी। उसे अपने-आपमें आस्था नहीं रही और साथ ही इन्द्रियोंमें आसक्ति अवश्य प्रबलतर हो गयी। यही कारण है कि आज भारतीय जन-जीवनमें दुराचार, दुःख और अशान्ति है। आज भोगवाद योगवादपर हावी है। आज व्यक्ति बावले होकर चौराहोंपर खड़े हैं—उन्हें रास्ता चाहिये! पर कौन दिखाये! और परिणाम होता है विकृत प्रपञ्चमें परसासक्ति। लोग चोरी-छिनारी और राम-राम साथ-साथ करना चाहते हैं। एक टाँग घोड़ेपर और दूसरी गदहेपर रखकर लक्ष्यको पाना चाहते हैं और परिणाम है अनुशासनहीनता, अशान्ति, अनुत्तरदायित्व और उत्तरोत्तर अधम गति।

इन सबके मूलमें एक प्रधान वस्तु है—सिनेमा! फिल्मोंको राजकीय सम्मान दिया जाता है, विद्वानोंके मुखसे फिल्मोंकी प्रशंसा करवायी जाती है। सिनेमा-नर्तकियोंके चित्र उच्च-से-उच्च अधिकारियोंके साथ छापे जाते हैं। यह सब पतनके लक्षण हैं। यह सिनेमारूपी मीठा जहर उन हजारों अस्पतालोंके रूपमें प्रकट हो रहा है, जहाँ असंख्य व्यक्ति सुजाक, मधुमेह और क्षयरोगके रूपमें अपने कियेका दुष्परिणाम भोग रहे हैं; यह जहर उन भस्मों और बटिकाओंके रूपमें प्रकट हो रहा है, जिन्हें यौवनपूर्वकी अवस्थामें 'स्वप्नदोष-नाशक' के रूपमें नन्हें-मुन्ने उदरस्थ करना शुरू कर देते हैं; यह विष उस तलाकरूपी भवनकी तिड़कनोंसे रिस रहा है, जिसमें कभी एक आदर्श परिवार रहता था और आज जहाँ कबूतरखाना है; यह वह मिट्टीका तेल है जो आत्महत्यारूपी आगको भड़काकर उसमें अलसायी हुई कलियोंको होम रहा है; यह वह दैत्य है जो राह चलती पावन ललनाओंका कुत्सित तिरस्कार कर रहा है! इतनेपर भी कहा जाता है कि भारत प्रगति कर रहा है। भारतवासियोंको अपेक्षित कैलोरियों (Callories) में भोजन मिल रहा है, औसत उम्र बढ़ रही है! हम प्रगति कर रहे हैं! पर वास्तविक चिन्ता किसको है? कौन व्यथित है? अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग। सेन्सर-बोर्ड सो रहा है। हैरानी तो तब होती है जब राम और सीताको भी पर्देपर नचाया जाता है। फिल्म चाहे सामाजिक हो, धार्मिक हो, पारिवारिक हो या श्मशान-यात्राकी हो, आकर्षक नाच-कूद और गाना उसमें अवश्य रहेगा! आखिर यह अनाचारका प्रसार नहीं तो क्या है—सभ्य असदाचार!

मेरा मन पूछता है, मानवमें विशेषता क्या है जब कि भोग, भय, भोजन और नींद पशुओंमें भी है। मानवमें विशेषता है विवेककी। आज उसी विवेकको हमारे विवेकपर रोना आ रहा है। 'मनुज जीवित पर मरा मानवका मोहन।' आज मानवका विवेक नष्ट हुआ जा रहा है और आदमी पुनः पशु बनने लगा—वह सदाचारकी समझ या समझानेसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहता। पशुओंकी सम्भोग-प्रवृत्ति प्रकृतिसे संचालित होती है; पर इधर मानवने अपनी 'सत्ता'को सर्वोपरि मानकर प्रकृतिका उपहास किया है—विवेकको अविवेकके वस्त्र पहिनाकर वह अहर्निश भोगोपासनामें रत है। वस्तुतः स्थिति भयावह है। आज प्रायः सर्व

लोग प्रमादग्रस्त और असदाचारपरायण होते जा रहे हैं। 'कूएँ भाँग पड़ी'—सच्चा रास्ता कौन दिखाये ?

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।

सारा जगत् ही मोहमयी प्रमादकी मदिराको पीकर उन्मत्त हो रहा है !

एक विशेष बातका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ। कुछ पत्र, जो फिल्मोंमें अश्लीलताके नामपर जेहाद किया करते हैं, वे ही जब फिल्मी-फकीरोंके अर्द्ध-नग्न एवं विभिन्न मुद्राओंके फोटो छापते हैं तो सुधारको भी संताप करना पड़ता है। सुधार और व्यापार कभी साथ नहीं चल सकते। एकमें जहाँ त्याग है वहाँ दूसरेमें आसक्ति। अतः 'कल्याण' की तरह विज्ञापन स्वीकार न करना ही श्रेयस्कर है।

यदि हम भारतवर्षकी सही अर्थोंमें प्रगति चाहते हैं तो देशके सारे सिनेमाघरोंको अविलम्ब सरायोंमें परिवर्तित कर दिया जाय। फिल्मी साहित्यकी समाप्ति कर दी जाय। समुद्रपारसे आये हुए सेक्स-साहित्यको समुद्रमें डुबो दिया जाय। नये सिरेसे सेक्स-साहित्यका सृजन करनेवालोंके लिये कठोर दण्डकी व्यवस्था की जाय; क्योंकि आज व्यक्ति इतना विवेकभ्रष्ट हो गया है कि विना कठोर दण्डके केवल पुचकारनेसे राहपर नहीं चलता। फिर उन भजन-मण्डलियोंका बहिष्कार किया जाय जो फिल्मी तरङ्गोंमें भजन अलापती हैं। सहशिक्षा बंद की जाय और कन्याओंके लिये अलगसे पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया जाय। समाजका कायाकल्प भी उचित पथ्यपर चलनेसे ही होगा। अतः समाजके धुरीजनों—अध्यापक, संन्यासी, पत्रकार, नेता, माता-पिता—सभीसे अन्तरात्मासे अनुरोध करता हूँ कि वे अपनी भावी पीढ़ीको इस सिनेमारूपी कुष्ठरोगसे बचायें। व्यक्तिकी प्रगतिमें ही समाजकी प्रगति निहित है; क्योंकि व्यक्तियोंके समूहका नाम ही समाज है। संयमकी महिमाको बल प्रदान करनेवाली प्राचीन परम्पराओंका उपहास करना अपने पैरोंपर आप ही कुल्हाड़ी मारना है। भूतसे यदि वर्तमान सीखता है तो भविष्य अवश्य उज्ज्वल होता है। उपहास हर स्थितिमें भयावह है। समाजके अग्रगामियोंको परमात्मा सद्बुद्धि दें जिससे कि देशकी कच्ची फुलवारीको अनाचाररूपी अजगरकी विषैली श्वाससे सुरक्षा हो सके।

* * *

समर्पण

श्रीकृष्णाय नमः

कृष्ण-विरह-आतप-जनित ताप कलेस अपार।
लहि आनँद सपनो भयो बीते बरष हजार॥
घर धरनी सुत संपदा लाभ हेतु दिन-रैन।
तन इन्द्रिय मन प्रान मम जतन-निरत बेचैन॥
धरम सहित इन सबन कौं निज आत्मा के साथ।
हौं सौंपत भगवान प्रभु नँद-नंदन के हाथ॥
दास तिहारो कृष्ण हौं सतत नवावौं माथ।
चरन गहौं निज सरन लै कीजै नाथ सनाथ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

तीर्थ

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

सौम्य शान्तस्वभाव वयोवृद्ध एवं विद्वान् थे वे कथावाचक। बड़ा कोमल स्वर था। वे कह रहे थे—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अष्टादश पुराण भगवान् वेदव्यासकी ही रचना हैं। इसलिये उसमें सभी वचन व्यासके ही हैं; किंतु उन सबका सार, सबमें प्रधान ये दो वचन हैं—१—परोपकार सर्वश्रेष्ठ पुण्य है। और २—दूसरोंको पीड़ा देनेके समान कोई पाप नहीं है।

कथावाचक बड़ी तल्लीनतासे व्याख्या सुनानेमें लगे थे और ग्रामके सीधे-सादे श्रोता एकाग्रचित्त सुन रहे थे। सबसे पीछे एक प्रचण्डकाय, भयंकर-दर्शन, वज्रदेह, बड़ी दाढ़ी-मूँछोंवाला अधेड़ उम्रका पुरुष अपने मोटे लट्ठको सहारा बनाकर कब आकर खड़ा हो गया, किसीने नहीं देखा। कोई देखता भी तो दस्युप्रमुख दुर्दान्तको पहचान सके, ऐसा कोई यहाँ नहीं था। अवश्य ही दुर्दान्तका नाम आतंक बनकर पूरे प्रदेशमें छा चुका था।

भयानकताकी मूर्ति वज्रपुरुष दुर्दान्त, जिसने दया, नम्रता, क्षमा आदि स्वप्नमें भी नहीं सीखे, जिसके सम्मुख उसके दलके मुख्य व्यक्ति भी 'भीगी बिल्ली' बने रहते हैं, पता नहीं क्यों आया था इस ग्राममें और फिर सहज ही क्यों खड़ा हो गया था इस कथा सुनती भीड़के पीछे।

'परपीड़न सबसे बड़ा पाप' दुर्दान्तके चित्तमें एक अन्धड़ उठा—जीवन पूरा उसका इसी पापमें बीता और अब? इस सत्तर वर्षकी अवस्थामें इस महापापसे छुटकारा पानेका मार्ग मिलेगा उसे?

कथा समाप्त हो गयी। आरती हुई, प्रसाद बँटा और लोग एक-दो करके चले जाने लगे। वृद्ध कथावाचकने ग्रन्थको वस्त्रमें लपेट करके मस्तकसे लगाया और वे आसनसे उठे।

'पण्डितजी!' बहुत नम्र बना लेनेपर भी बड़ा कर्कश एवं उग्र स्वर था। ब्राह्मणने सामने देखा उस दण्डहस्त उग्र पुरुषको—'आपने दस्यु दुर्दान्तका नाम सुना होगा?'

'सुना है भाई!' पीला पड़ गया वृद्ध ब्राह्मण। थरथराते कण्ठसे उसने कहा—'थोड़ेसे पैसे मिले हैं कथाकी आरतीमें। यदि तुम चाहो ....'

'डरिये मत! पैसे मुझे नहीं चाहिये!'

दुर्दान्त क्या करे, चेष्टा करके भी उसका निसर्ग कर्कश-स्वर कोमल नहीं होता। लेकिन वह अपनी बात कह तो देना ही चाहता है—'दुर्दान्तने पंद्रह वर्षकी आयुसे अबतक जब कि वह सत्तरका है, दूसरोंको पीटा, मारा, लूटा, सताया। दूसरोंको सताना ही उसका व्यवसाय, विनोद और जीवन रहा। उस-जैसे महापापीके भी उद्धारका कोई उपाय है?'

'है! होगा क्यों नहीं?' वृद्ध क्षणार्धमें स्वस्थ एवं गम्भीर हो गये—'किसी एकका भी उद्धार असम्भव हो तो भगवान् फिर पतितपावन किस बातके?'

'लेकिन मुझसे भजन-पूजन, जप-तप जो आप बतानेवाले हैं, सो कुछ नहीं होनेका है।' दस्युने स्वयं एक उपाय सुझाया—'मेरे पास सम्पत्तिका अभाव नहीं। मेरा गुप्त कोष स्वर्ण-रत्नसे भरा है। यदि वह काम दे सके............।'

'नहीं भैया!' ब्राह्मणने सिर हिला दिया।

'वह पापकी कमायी—कीचड़से कीचड़ धोया नहीं जा सकता। अपने पसीनेका उपार्जन होता तो भले कुछ काम आता। उसे तो अपने साथियोंको बाँट दो और उनको धन लेकर इस अन्यायसे अलग होनेके लिये समझा दो, यदि वे समझ सकें।'

'वे समझ जायँगे; किंतु मैं क्या करूँ?' दस्युके किसी जन्मके पुण्य आज जागे थे।

'तुम तीर्थयात्रा करो ।' दो क्षण सोचकर ब्राह्मणने कहा—'पूरे भारतके तीर्थोंका दर्शन करो । तीर्थयात्रामें पैदल चलोगे । भूख-प्यास सहोगे । तप होगा अपने-आप । नियम-संयमका पालन होगा । भगवान्‌के श्रीविग्रहोंके तथा संत-महापुरुषोंके दर्शन होंगे । शरीरसे ही हो सके ऐसा सुगम साधन तो तीर्थयात्रा ही है ।'

'मैं पवित्र हो गया, यह मुझे कैसे पता लगेगा' दस्युने जिज्ञासा की ।

'जब दूसरे दीन-दुखियोंपर चित्तमें स्वयं दया आवे ।' ब्राह्मणने बतलाया—'और जब अपना अपराध-अपमान करनेवालेपर भी मनमें क्रोध न आवे, तब समझ लेना कि तुम पवित्र हो गये ।'

दस्युने हाथ जोड़कर प्रणाम किया ब्राह्मणको ।

× × × ×

दस्युराज दुर्दान्तका शरीर अब भी गठा हुआ है; किंतु दुर्बल हो गया है । लाठी अब भी रखता है वह हाथमें; किंतु उसकी लाठीसे तो अब कुत्ते भी कदाचित् ही डरते हैं । सिर एवं दाढ़ी-मूँछके केश प्रायः सब श्वेत हो गये हैं । फटे वस्त्र, नंगे बिवाईभरे पैर, उलझे केश—कोई तपस्वी लगता है देखनेमें अब दुर्दान्त । बिना माँगे कोई कुछ दे दे तो भूख मिटे, अन्यथा कहीं जल पीकर वृक्ष अथवा निर्जन मन्दिरमें रात्रि बिता देता है । बहुत कम बोलता है; किंतु स्वरमें अब भी कुछ रूक्षता है ।

'माता-पिता सबसे बड़े तीर्थ हैं । उनकी सेवा और उनके लिये श्राद्ध सबसे श्रेष्ठ पुण्य है ।' गयामें पहुँचनेपर एक तीर्थपुरोहित मिल गये दुर्दान्तको और उन्होंने इस निर्धन यात्रीपर कृपा की । सिकताके पिण्डका विधान ऐसे ही अकिञ्चन जनोंके लिये तो शास्त्रने किया है ।

'कोई सेवा नहीं कर सका यह नीच माता-पिताकी ।' फूटकर रो पड़ा आज । सम्भवतः वह पहिली बार रोया होगा ।

'दुखी मत हो भाई ! माता-पिता नहीं रहे; किंतु उनके ही समान गुरु, गौ और संत सजीव श्रेष्ठतम तीर्थ हैं ।' तीर्थपुरोहित बोले—'और तुम्हारा यह पश्चात्ताप—पश्चात्तापसे श्रेष्ठ पाप-क्षालक तीर्थ दूसरा कोई नहीं है ।'

दुर्दान्त अब दुर्दान्त कहाँ है ! लोग उसे बाबाजी कहते हैं । वह अद्भुत यात्री हो गया है । गायें दीख जायँ तो घास उखाड़नेमें लगेगा और कुछ तृण प्रत्येकको देकर तब आगे बढ़ेगा । कोई भिखारी, रोगी मिल जाय तो दस-पाँच दिन ही नहीं, महीने-दो-महीने बिता देगा उसकी सेवामें । अवश्य ही वह साधु-संतोंके समीप टिकता नहीं । उनकी ज्ञान-चर्चा उसकी मोटी समझमें नहीं आती; किंतु बड़ी श्रद्धासे प्रणाम करता है । सुयोग मिले तो सूखी लकड़ी तोड़कर रख आता है साधुओंके पास और किन्हींके पैर भी दबाता कुछ देर बैठता है । लेकिन है वह यात्री । कहीं टिकना नहीं सीखा उसने । उसकी तीर्थयात्रा चल रही है ।

'परम तीर्थ है अपना पवित्र चित्त !' एक संत मिल गये उत्तराखण्डकी यात्रा करते समय दुर्दान्तको । कई दिनोंतक मार्गमें उनका साथ रहा । उनका आसन इसने अपने कंधेपर लटका लिया था । वे संत कह रहे थे—'तुम्हारा चित्त तो तीर्थ हो चुका है । ऐसे पवित्रहृदय परोपकारी संत-सेवी पुरुष तीर्थोंमें जाकर उन्हें भी तीर्थ बनाते हैं ।'

विनम्र, तितिक्षु, क्षमामूर्ति दुर्दान्त—वह कई महीनोंसे निरन्तर भगवन्नाम लेने लगा था । श्रीबद्रीनाथके श्रीविग्रहके सम्मुख जब वह पहुँचा, उसके पैर लड़खड़ाये । वहींसे संतोंने उसका देह उठाया और अलकनन्दामें समाधि मिली उस देहको । वह तीर्थीभूत तीर्थयात्री..............

सुन्दरता क्या है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

विश्वका प्रत्येक प्राणी सौन्दर्यकी ओर आकृष्ट होता है । क्या मूर्ख और क्या विद्वान् सभी सौन्दर्योपासक होते हैं । प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने सौन्दर्यकी वृद्धिके प्रयत्नमें लगा रहता है । देशकी काफी सम्पत्ति केवल सौन्दर्यवर्द्धक वस्तुओंमें व्यय की जाती है । पर यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि बाह्य सौन्दर्य कोई सौन्दर्य नहीं है । असली सौन्दर्यका पता तो बहुतोंको है ही नहीं । यहाँपर असली सौन्दर्यपर कुछ प्रकाश डाला जाता है ।

जो मनुष्य नाना प्रकारके शृंगारसे युक्त होकर अपनेको सुन्दर मान बैठते हैं वे भारी भूलमें हैं । जो सौन्दर्य क्रीम, पाउडर, स्नो और वस्त्रादिपर निर्भर करता है वह वास्तवमें सौन्दर्य नहीं है । किसी विद्वान्के विचारानुसार शृंगार वही करता है जिसको अपनी सुन्दरतामें विश्वास नहीं है । ऐसे तो ईश्वरकी सृष्टिमें कोई भी वस्तु, व्यक्ति और क्रिया असुन्दर है ही नहीं । उसमें भी मानव तो सुन्दरतम प्राणी है । ईश्वर कोई ऐसा साधारण कलाकार नहीं है, जिसकी सृष्टिकलापर कोई नाक-भौं सिकोड़ सके । वह स्वयं सुन्दर है और उसकी सृष्टि भी सुन्दर है । जो कुछ असुन्दरता दृष्टिगोचर है वह जीव-कल्पित संसारमें ही है ।

अष्टावक्रजी स्वयं तो आठ अङ्गोंके टेढ़े थे । उनको देखकर जीवन्मुक्त ज्ञानीकी भी हँसी नहीं रुकती थी । पर उनका जीवन इतना पवित्र और सुन्दर था कि राजर्षि जनक भी उनके शिष्य हो गये । जो भी लोग अपनी बाह्य असुन्दरताको अभिशाप मानते हैं उनको अष्टावक्रकी जीवनीसे शिक्षा लेनी चाहिये ।

मानव यदि चाहे तो अपनेको इतना सुन्दर बना सकता है कि सारा संसार उसकी ओर आकृष्ट होकर उसके पीछे-पीछे चलेगा । यही नहीं, स्वयं परमात्मा भी उसका पीछा नहीं छोड़ेगा; क्योंकि वह स्वयं सकल-सौन्दर्य-सम्पन्न होकर भी सौन्दर्यका ही उपासक है । **सुन्दरताकी माँग सारे संसारको है । अतः जो** मनुष्य सुन्दर होगा उसकी माँग सारे संसारको होगी ही

जिसका स्वभाव उदार, शान्त और निर्मल उसकी ओर सभी आकृष्ट होते हैं । अतः सुन्दरता लिये स्वभावका सुधार करना परमावश्यक है

जो स्वार्थरहित होकर संसारकी सेवा करता है उसकी माँग सबको होती है । सभी उसके पीछे रहते हैं स्वार्थरहित सेवकके सभी दास हो जाते हैं, पर स्वा मनुष्य स्वामी होकर भी सबका दास बन जाता है इसलिये स्वार्थरहित सेवा करना सुन्दरताका हेतु है

महान् पुरुषोंके संगमें रहते-रहते भी मनुष्य आकर्षण एवं सुन्दरताकी अभिव्यक्ति होने लगती है

सुन्दर विचारवाले मनुष्यका प्रभाव दूसरो अवश्य पड़ता है ।

यह तो सच्ची बात है कि मनुष्य अपने विचा अनुरूप ही होता है । अतः सुन्दर विचारसे सौन्द की अभिवृद्धि होती है ।

सदाचार, श्रम, संयम, सात्त्विकता, मधुर-भाषण, दा प्रसन्नता, स्वाध्याय, सुन्दर स्वास्थ्य, स्वच्छता, निष्कपट भगवद्विश्वास, भगवत्स्मरण, इच्छाशक्ति, सत्य-संक सत्यप्रियता, आत्मसम्मान, आत्मज्ञान एवं निष्काम आदि सभी मनुष्योंके सर्वोत्तम भूषण हैं, जिनको पा कोई भी स्त्री-पुरुष समाजमें चमकने लगता है इनके विपरीत जो कुछ है, एवं परदोष-दर्शन, परापवा परचर्चा, परस्त्री-प्रेम, पर-निन्दा, पर-सम्पत्ति और आदि ये सभी असुन्दरताके लक्षण हैं ।

जो भी स्त्री या पुरुष त्यागरूपी सिंहासनपर आसीन वैराग्यरूपी मुक्तामालासे युक्त है, निष्कामतारूपी श्वेत धारण करता है, शीलरूपी भूषणसे सुशोभित है ज्ञानका मुकुट जिसके सिरपर है, वह ऐसा सु शोभने लगता है कि स्वयं सौन्दर्य-निधान सर्वशक्ति परमात्मा भी उससे मिलनेके लिये लालायित रहता है

सियावर रामचन्द्रकी जय !

हिमालय-संरक्षण—देवालय-संरक्षण

(लेखक—श्रीओंकारमलजी सराफ)

भारतका नाम देव-भूमि है और हिमालयका नाम आदिदेवालय है । भारतके इस नामकी सार्थकता देवताओंने अवतार ग्रहण कर सिद्ध किया है और हिमालयके इस नामकी सार्थकता स्वयं आदिशक्ति जगदम्बाने जन्म लेकर तथा देवाधिदेव भगवान् आशुतोषने अपना निवास बनाकर सिद्ध किया है । भारत देवालयोंका देश है और इसका प्रारम्भ स्वयं ही परमात्माने सर्वप्रथम हिमालयका निर्माण करके किया है । पृथ्वीकी उत्पत्तिके साथ ही इस आदिदेवालयका निर्माण हुआ । इस नामकी सार्थकता और भी बढ़ जाती है, जब हम भारतीय वाङ्मयमें वर्णित हिमालयका यशोगान पढ़ते हैं ।

आदिदेवालय हिमालय

देवालय वहीं है, जहाँ देवत्वकी प्रतिष्ठा और स्थिति होती है । लोकदृष्टिमें देवालय मनुष्यकी समग्र अभ्युदय और श्रेयस् साधनाओंका केन्द्र माना जाता है । जब वेद, पुराण, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि सद्ग्रन्थोंके बाद भी आधुनिक शास्त्र, इतिहास और भूगोलका अध्ययन करते हैं तो हिमालय आदिदेवालयके रूपमें ही हमारे सामने आता है । यदि हम वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे मानव-सभ्यताके विकासकी आदि कड़ी ढूँढ़ते हैं तो हमारी दृष्टि सर्वप्रथम हिमालयपर ही टिकती है । मानव-विकासकी पहली लीला आलोकविकासके प्रथमस्थल हिमालयकी गिरि-कन्दराओं, घाटियों और तराइयोंसे प्रारम्भ होती है। आजका जनशून्य हिमालय केवल हिम और प्रस्तरका ही अनन्त भण्डार नहीं है, बल्कि ज्ञान, कर्म, सिद्धि और जीवनकी उपादेयताका भी अक्षय स्रोत प्रतीत होता है । सारा भारतीय चिन्तन, जीवन-दर्शन, संस्कृति और सभ्यता सिन्धु और गङ्गाके वीचि-विचुम्बित किनारोंपर ही सर्वप्रथम उद्भूत हुई है, जिसका उद्गम पर्वतराज हिमाचल है । सिन्धु और गङ्गाके द्वारा जो उपलब्धियाँ भारतीय समाज और स्वयं भारतको हुई हैं, उसका गुणगान करनेमें इतिहास और भूगोलकी सीमा संकुचित ज्ञात होती है । फिर इनके जनक हिमालयद्वारा प्रदत्त उपलब्धियोंको वाणीमें बाँधना दुष्कर ही नहीं, असम्भव है । संसारके समस्त कागज और मसि समाप्त हो जानेपर भी हिमालयकी गाथा समाप्त नहीं होती, जो वास्तवमें भारतकी कथा है, भारतीय जीवन और दर्शनकी कथा है, भारतीय ऋषियों और मनीषियोंकी अनन्त साधनाकी कथा है । सम्पूर्ण शास्त्रकार हिमालयको जगज्जननी जगदम्बाका जनक कहकर वाणीकी असमर्थताको प्रकट कर देते हैं । हिमालयकी इतनी प्रशस्तिके बाद शायद अन्य वर्णनका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । फिर भगवान् शंकरकी तपोभूमि बननेका सौभाग्य आदिदेवालय हिमालयको ही प्राप्त है ।

हिमालय और भारत

हिमालय और भारतका सम्बन्ध उसी प्रकारका है जिस प्रकार एक सम्राट्के सिरपर राजमुकुट । हिमालय भारतसे अलग होनेपर भारत वैसा ही लगेगा, जैसा एक सम्राट् जिसका राजमुकुट छीन लिया गया हो और वह अनाथ हो गया हो । हिमालय सचमुच भारतको ईश्वरके वरदानके रूपमें प्राप्त हुआ है । भारतके उत्तरी द्वारका प्रहरी हिमालय भारतीय कृषि, भारतीय पावस और सुरक्षाका प्रधान प्रस्तर-पुरुष है । सम्पूर्ण उत्तर भारत हिमालयकी महिमा और उदारताका ही परिणाम है । हिमालयके विना भारतकी कल्पना हो ही नहीं सकती ।

हिमालय और संस्कृति

हिमालय गौरवमयी भारतीय संस्कृतिका जनक है ।

भारतीय संस्कृतिकी विशेषता यही है कि वह धर्म-प्राण है और बिना भेद-भावके सम्पूर्ण मानव-जातिके मौलिक अधिकारोंकी सुरक्षा करती है तथा एक-एक पृथ्वी-कणको भी स्वातन्त्र्य और अभ्युदयसे सज्जित करनेका प्रयास करती है। भारतने कभी भी दूसरेकी भूमिपर आक्रमण नहीं किया है, बल्कि सम्पूर्ण संसारसे सांस्कृतिक आदान-प्रदान किया है। उसकी लड़ाई असुरत्वसे रही है और उसकी संस्कृति देवत्वकी विजय-परम्परा है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्‌ने रावणका वध कर तथा विभीषणका राज्याभिषेक कर यह सिद्ध कर दिया है कि भारत आक्रमणकारियों, अराजकों, दूसरेके अधिकारों और उपलब्धियोंको हड़पनेवाले असुरोंका नाश कर सम्पूर्ण राष्ट्रोंको उनकी प्रभुसत्ताके रूपमें ही प्रतिष्ठा करता है, स्वातन्त्र्य और स्वशासनका अधिकार देता है और धर्मकी स्थापना करता है। इस महान् सांस्कृतिक परम्पराका जनक एकमात्र हिमालय है, जिसके प्राङ्गणमें युगों-युगोंतक मूक रहकर ऋषि-मुनियोंने देवत्वका चिन्तन, प्रयोग और सम्बोध किया है। भारतीय यज्ञ-संस्कृतिका भी हिमालयकी एकान्त और शान्त तराइयोंमें उद्भव, विकास, पल्लवन तथा पुष्पन हुआ है। शिक्षाके क्षेत्रमें हिमालयकी कन्दराओं और जंगलोंने अभूतपूर्व कार्य किये हैं। यहाँकी चतुष्पाठियाँ, आश्रम और साधना-कक्षने भारतीय संस्कृतिको जितना विस्तृत और परिवर्द्धित किया है, उसका मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। हमारी संस्कृतिका आदिस्रोत दण्डकारण्य[1] भी हिमालयकी उपभूमि ही है, जहाँ ऋषियोंने असुरत्वपर विजय प्राप्त करनेके लिये साधनाएँ कीं और असुर-निकन्दन भगवान् रामचन्द्रने वहाँ पदार्पण कर अगस्त्य आदि मुनिजनोंको संकल्प कर सान्त्वना प्रदान की थी। भरद्वाज, याज्ञवल्क्य आदि पौराणिक ऋषियोंने हिमालयकी तराइयोंमें इतने यज्ञ किये कि सारा हिमालय वैदिक मन्त्रोंकी ध्वनिसे गूँज उठा था और सारा लोक 'स्वाहा' की गगन-विदारक ध्वनिसे निर्भय और ध्वान्त हो उठा था। आक्रमणकारी, दुर्जन और लोका असुरोंको वधकर सारे मानव-समाजको त्राससे त्राण दिलाया था।

भारतीय संस्कृतिकी शुभ चेतनाको सर्वतोमुखीरूपसे नगेश्वर हिमाचलका वरदान मिला है और वह इसलिये प्राणवती बनी है कि हिमालयकी यज्ञपूत वायुलहरियोंने उसमें सुरभि संचारित की है। हमारी संस्कृति तभीतक अचल, अडिग और विशुद्ध है, जबतक हमारे उत्तरमें उसका जनक नगपति उसे गोदमें बिठलाकर थपकियाँ देता रहेगा।

हिमालय और वैदिक काल

संसारका चेतन युग वेदोंसे प्रारम्भ होता है। ये वेद पुस्तकरूपमें संसारके पहले संस्करण हैं जो ब्रह्म और नरकी सामञ्जस्यताको 'श्रुति' अर्थात् 'ध्वनि' के माध्यमसे अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। मानव-मस्तिष्क समस्त साधनाजन्य और लौकिक तथा पारलौकिक चिन्तनकी अतिसीमा वेदोंकी ऊर्ध्वरेता ऋचाएँ हैं। उनका जहाँ अपौरुषेयत्व स्वतःसिद्ध है, वहीं मानव-जीवनके आचार चिन्तन और प्रयोगके रूपमें भी सर्वसुलभ है। नगरा हिमालय इनका प्रयोगस्थल है। वेदोंमें कालमाप मन्वन्तर हिमालयकी स्थिति सिद्ध करते हैं और का निर्माणकके रूपमें हिमालय प्रत्येक जलप्लावनमें मनुओं के आश्रयका स्थान रहा है। अन्तिम मनु वैवस्वत ज प्लावनमें हिमालयके ही शरणार्थी रहे और उस सारस्वत प्रदेशमें इडाके साथ ही कुछ कालतक उन्हों सृष्टिकी अमोघ साधना की थी। श्रद्धाके साथ आनन्द मार्ग अन्वेषण करनेके लिये मनुने हिमालयको ह

---

[1] १. आचार्य विनोबा भावेने दण्डकारण्यको हिमालयके पास ही बतलाया है।

दैनिक विश्वमित्र, कलकत्ता—२३ दिसम्बर १९६२।

निर्वाचित किया था। गत जलप्लावनके पश्चात्‌की सृष्टिका एकमात्र आभार-अधिकारी नगपति हिमालय ही है। भारतीय जन-जीवन और जन-समाज हिमालयका ही उपदान है और इस रूपमें हिमालयको छोड़कर हम जीवित रहनेकी कल्पना नहीं कर सकते।

तपोभूमि हिमालय और पौराणिक वाङ्मय

भारतीय जीवन-दर्शन तपःपूत है। यहाँकी पद्धतियाँ अनन्त तपस्याकी ज्वालाओंसे तप्त और निर्मल हुई हैं। हिमालयकी एकान्त-शान्त तलहटी ऋषियोंकी तपःसाधनासे पवित्र हुई है। आश्रमोंकी लीला-भूमि हिमालय सम्पूर्ण भारतीय संस्कृतिके सम्पोषणार्थ आदिकालसे ही तत्पर है। हिमालयका महत्त्व इसलिये और भी तपस्या-भूमिके रूपमें बढ़ जाता है, जब हम सनातनधर्म और संस्कृतिके प्रतीक-स्तम्भ भगवान् शंकरके कैलासकी ओर दृष्टिपात करते हैं। शिवपुराण तो इस कैलासवासी भूतभावन आशुतोष शंकर तथा कैलासकी महिमाओंका गान है। यों भगवान् शंकरका सम्पूर्ण यशोगान हिमालयकी महिमाका वरदान ही है। देवाधिदेव महादेव शम्भुके साथ कैलास (हिमालय) का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ रूपसे जुड़ा हुआ है, जिसकी यशोगाथा नानानिगमागम-पुराण भी गानेमें असमर्थ हैं। आदिशक्ति पार्वतीसे लेकर आवास प्रदान करनेका सारा कार्य नगराज हिमालयद्वारा ही सम्पादित हुआ है। यों हिमालयका दर्शन करनेसे भी ज्ञात होता है कि शिव ध्यानस्थ होकर बैठे हैं। उनके धवल शिखर हिमालयकी चोटियाँ हैं।

भगवान् वेदव्यास और आदिकवि वाल्मीकिने भी अपनी रचनाओंमें हिमालयकी प्रशस्ति की है जो सनातन संस्कृतिका प्राणगीत है। श्रीमद्भागवत, शिव-पुराण, देवी-भागवत, महाभारत तथा वाल्मीकीय रामायणमें हिमालयकी महिमा मिलती है। पुराणोत्तर संस्कृत वाङ्मयमें कालिदासके कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश-महाकाव्यका अप्रतिम स्थान है तथा ये काव्य भारतीय वाङ्मयके महामहिम संगीत हैं। कुमारसम्भवमें कविकुल-कमल कालिदासने हिमालयका सजीव वर्णन उपस्थित किया है। 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' की सूक्ति संस्कृतिका प्राण-स्वर है, जिस 'पार्वतीपरमेश्वरौ' का एकमात्र स्थान नगराज हिमालय ही है।

यज्ञभूमि हिमालय

सनातनधर्म यज्ञस्वरूप है और भगवान् विष्णु भी यज्ञस्वरूप ही कहे गये हैं। अखिल आर्यावर्तके सर्वतोमुखी विकास और अभ्युदयके लिये तथा सम्पूर्ण जड-चेतनकी प्रगति और उन्नतिके लिये विश्व-चेतक ऋषियोंने यज्ञका आयोजन किया था। चारों वेद यज्ञोंके ही संगीत हैं। सनातनधर्मने मानवका स्वरूप-चिन्तन ही यज्ञमय किया है। जीवनके प्रत्येक पहलूपर 'स्वाहा' और 'स्वधा' की अग्नि-चर्या उस कालकी विशेषता थी। यज्ञ पञ्चमहाभूतोंकी कृषि थे। अग्नि महाभूतके माध्यमसे जल, अनिल, क्षिति और आकाश तत्त्वोंकी खेती कर इन्हें मानव-उपयोगमें लाना इन यज्ञोंका प्रधान उद्देश्य था और इन्हीं यज्ञोंद्वारा उदारमना ऋषि प्रकृतिको मानवोपयोगी बनाते थे, पावसकी अर्चना करते थे तथा आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक समृद्धिका आयोजन किया करते थे। यज्ञ-भारतका सारा श्रेय पर्वतेश्वर हिमाचलको है। इसका साक्षी पौराणिक वाङ्मय तो है ही, किंतु महाभारतमें यह वर्णन प्रचुरतासे प्राप्त होता है। यज्ञपुरुष भगवान् हिमालयकी उपत्यकाओंमें भ्रमण करते फिरते हैं। मुनिराज भरद्वाज, च्यवनपुत्र प्रमति, याज्ञवल्क्य, स्थूलकेश आदि संतजनोंकी साधना-भूमि हिमालय ही रहा है।

तीर्थराज हिमालय

हिमालय स्वयं ही सनातन संस्कृतिका तीर्थस्थान है।

इसकी घाटियों और पहाड़ियोंमें सनातनधर्मके प्राणकेन्द्र अनेक तीर्थ और मन्दिर स्थित हैं । श्रीबद्रीविशाल, ज्योतिष्पीठ, केदारनाथ, तुंगभद्रा, गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी, पशुपतिनाथ आदि तीर्थ हिमालयकी अर्चना है । सम्पूर्ण हिमालय ही शंकर-स्वरूप है । हरिद्वार आदि तीर्थ हिमालयका ही चरण-भाग है । पाण्डवोंद्वारा स्वर्गारोहणके लिये हिमालयका निर्वाचन और भगवान् श्रीकृष्णका तप यह सिद्ध करता है कि हिमालय स्वर्गद्वार है, स्वर्गमार्ग है, जिसकी प्राप्ति सम्पूर्ण सनातन-चिन्तनका परम लक्ष्य है ।

पदाक्रान्त हिमालय

आज वही पुण्य-प्रतीक हिमालय विदेशियोंद्वारा पदाक्रान्त हो गया है । हिमालय भारतमाताका राजमुकुट है, संस्कृति और धर्मका मूल-स्रोत है । अतः इस सुरक्षा सभी भारत-जनका परम कर्तव्य है । आज हि लयके लिये सभी भावनाओंकी एकता आवश्यक क्योंकि यह आदिदेवालय है और हिमालयके भारतकी कल्पना भी नहीं हो सकती ।

इसी उद्देश्यसे देवालय-संरक्षण-समितिने देवाल संरक्षणके कार्यक्रममें हिमालय-संरक्षणको प्रमुखता देने कार्यक्रम अपनाया है । इस युद्ध-कालमें भारतकी वि हो और हिमालय उसीका होकर रहे, इसके लि हम सभी भगवान्से प्रार्थना करें तथा प्रत्येक उत्सर्ग करने लिये हमें तत्पर होना आवश्यक है ।

जय हिमालय—जय सनातनधर्म !

वन्दना

(रचयिता—श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालङ्कार)

जय-जय केशव, कृष्ण, मुरारी !
जय मुकुन्द, मधुसूदन माधव
जय नटवर गिरिधारी !!

मोर-मुकुट-धर वेणु-अधर-धर
पीताम्बर-धर, वनमाला-धर
जय-वृन्दावन कुंज-विहारी ।
जय-जय केशव, कृष्ण, मुरारी ॥

जय-राधावर, मंजुल, मनहर,
जयति चक्रधर, अच्युत, श्रीधर,
जय-जय सुर-मुनि-जन-मनहारी ।
जय-जय केशव, कृष्ण, मुरारी ॥

जय विश्वम्भर, सुन्दर-सुन्दर
जय-जय सुखकर, पातक-दल-हर
जय-जय भुवन-भार भय-हारी ।
जय-जय केशव, कृष्ण, मुरारी ॥

जन्तु-जगत्की विशेषताएँ

(लेखक—डा० श्रीरामदयालजी भार्गव)

आज हम इस बातपर विचार करें कि उन पशु-पक्षियोंमें मनुष्योंकी अपेक्षा कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं, जिन्हें हम सदैव हेय दृष्टिसे देखते आये हैं। सर्वप्रथम यदि स्वास्थ्यकी दृष्टिसे देखें तो यह प्रतीत होता है कि हम सभ्य, वैज्ञानिक कहे जानेवाले मानवोंने अपने शरीरको प्रकृतिके विरुद्ध आचरणके द्वारा इतना कोमल बना डाला है कि उसकी रोगसे सुरक्षा और रोग-निवारण-क्षमता बड़ी कमजोर हो गयी है। पशु-पक्षी बिना वस्त्रोंके भी शीत-उष्ण-वर्षा आदि ऋतुओंके प्रभावको सहनेमें समर्थ हैं जब कि हम वस्त्रोंसहित भी उनके सदृश ऋतुओंके प्रभावको सहन नहीं कर पाते। यहाँतक कि शीतमें हम जानवरोंकी खाल और बालोंके ऊनी एवं रेशमी वस्त्रोंसे ही शरीरको उष्ण रख पाते हैं। इस शीतमें हम प्रकृति-प्रदत्त शीत वायुको अपनेसे दूर रखते हैं, कमरे बंदकर वस्त्रोंसे शरीरको भलीभाँति ढककर सोते हैं तथा धनके बलपर मकानको वायुसुरक्षित (air conditioned) तक कर डालते हैं। फिर तनिक-सी शीत वायु छूनेपर यदि सर्दी-जुकाम एवं कफसे ग्रस्त हो जाते हों तो इसमें क्या आश्चर्य है? हमारी स्थिति तो इस प्रकार है—

कोमलतान्तस्तत्रास्ति वदन्ति यत्र मानवाः।
स्पर्शनाच्छीतपत्रस्य प्रतिश्यायस्तु जायते॥

नाज़की खत्म है उनपर जो ये फरमाते हैं।
ठंडा पत्ता छूते ही सर्दी जुकाम हो जाते हैं॥

इसी प्रकार पशु-पक्षी भोजन भी उन पत्ते, फल, अनाज आदि वस्तुओंका प्राकृतिक रूपमें ग्रहण करते हैं, जिनमें विटामिनोंकी प्रचुरता रहती है। वे संयमित रूपसे भूख लगनेपर ही खाते हैं एवं पेट भरनेसे अधिक मात्रामें नहीं खाते। इससे विपरीत हमलोग असंयमित रूपसे बिना ही भूख भोजन करते हैं, स्वादके लोभसे खूब ठूँस-ठूँसकर खा जाते हैं और प्राकृतिक पदार्थोंको तरह-तरहसे पकाकर उनका विटामिन नष्ट कर डालते हैं। इससे जठराग्नि स्वतः ही मन्द हो जाती है तथा हम उदरसम्बन्धी रोगोंसे पीड़ित रहते हैं। इस स्थितिमें यदि ५० प्रतिशत रोग हममें हों, तो क्या आश्चर्य है! ये जीव हमारी अपेक्षा शारीरिक श्रम भी कहीं अधिक करते हैं, जिसका स्पष्टीकरण इसीसे हो जाता है कि यदि कोई मनुष्य अधिक कार्य करता है तो मित्रगण कहने लग जाते हैं कि 'क्या गधेकी तरह काम करते हो'।

हमलोग शहरोंमें घनी आबादीके कारण पास-पास मकान होनेसे तथा गंदगीके कारण शुद्ध वायुसे वञ्चित रहते हैं, इसके विपरीत पशु-पक्षी शुद्ध वायुमें यथेच्छ-विहार करते हैं। विषय-भोगका तो कहना ही क्या, सभ्य कहलानेवाली मनुष्यजाति आज इस असंयमके क्षेत्रमें जानवरोंकी पंक्तिमें बैठने योग्य तो क्या, मुँह दिखाने योग्य भी नहीं रही है। समय, ऋतु आदिका कुछ भी विचार नहीं। संकेतमें ही सयाने सब समझ लें।

इन प्रकृतिके पुजारी जानवरोंको विधाताने ऐसा सुघड़ एवं सुन्दर बनाया है कि जिसकी तुलनामें मनुष्य तो नगण्य-सा है। चिड़ियाघरोंमें हम रंग-बिरंगे सुन्दर पशु-पक्षी देखते हैं, जिनके निर्माणमें प्रकृतिने अपनी अद्भुत कुशलता एवं चित्रकला दिखलायी है। उसी प्रकार यदि किसी मनुष्यघरमें भिन्न-भिन्न प्रकारके मानवोंको उनके प्राकृत रूपमें रक्खा जाय तो हमें स्वयं ही अनुमान हो जायगा कि दोनोंमें कौन अधिक सुन्दर तथा श्रेष्ठ है। यदि इनकी बनावटकी सुन्दरताकी उपमा हमलोगोंमें कुछ अंशतककी पूरी उतर जाय तो हम अपनेको धन्य समझते हैं। उदाहरणस्वरूप तोतेकी-सी नाक, हिरणकी-सी आँख, सिंहका-सा कंधा एवं शेर-सा दिल

इत्यादि । प्रकृतिने जानवरोंमें नरको मादासे अधिक सुन्दर बनाया है, जैसे शेरको शेरनीसे, मोरको मोरनीसे, बंदरको बंदरियासे इत्यादि । मनुष्यको स्त्रीकी अपेक्षा कैसा बनाया है, इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लें ।

दृष्टिमें चील-दृष्टि, गृद्ध-दृष्टि प्रख्यात हैं जो अत्यधिक दूरीकी वस्तुएँ भी देख सकते हैं जब कि हम अत्यधिक निकट पढ़नेमें तथा देखनेमें असमर्थ हैं और चश्मा लगाते हैं। यही नहीं, इनकी भविष्य दृष्टि भी तीव्र होती है । जब कभी कोई भूकम्प या संकट आनेको होता है तो पशु-पक्षी चिल्लाने लगते हैं । जिसकी मृत्यु निकट हो, उसके हाथसे कौए बलि भी नहीं लेते । इनकी घ्राणशक्ति तो अत्यधिक तीव्र है । आजकलके विश्व-विख्यात जासूस कुत्तोंकी सहायतासे अपराधियोंका पता लगाते हैं । अन्धा हाथी भी घ्राणशक्तिके द्वारा मार्गका पता लगा लेता है । एक कुतियाको बोरेमें बंद करके नदीपार १८ मील दूर छोड़ा गया था, कुछ दिनोंबाद वह अपने स्थानपर लौट आयी । मनुष्यकी आवाज इन पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा कर्कश होती है । मधुरभाषिणी स्त्रीको पिकवयनीकी उपमा और चालमें गजगामिनी उपमा दी जाती है । नियत समयका ज्ञान भी इन्हें पूरा होता है । मुर्गेको कभी भी अलार्मकी आवश्यकता नहीं होती ।

हंसका नीर-क्षीरविवेक तो प्रसिद्ध है । आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि यह रोगोंके स्वयं चिकित्सक भी हैं । जैसे किसीको घाव हो गया तो उसको चाटकर रोग-क्षमता बढ़ाकर ये ठीक कर लेते हैं, बहुत-से पशु-पक्षी ऐसी रोगनाशक जड़ी-बूटियोंको जानते हैं, जिससे वे अपने रोगोंकी चिकित्सा कर लेते हैं ।

गौमाताके समान तो उपकारी संत कोई है ही नहीं, जिसकी प्रत्येक वस्तुको मनुष्य जीवनपर्यन्त उपभोग करता है ।

उपर्युक्त गुणोंको ही ध्यानमें रखते हुए विद्यार्थियोंको उपदेश दिया जाता है ।

काकचेष्टा बकध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च ।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थिपञ्चलक्षणम् ॥

शकुन विचारनेवाले भी पशु-पक्षियोंकी बोली सुनक भविष्यका निर्णय कर लेते हैं, यथा—

काकस्य वचनं श्रुत्वा गृहीत्वा तृणमुत्तमम् ।
त्रयोदशसमायुक्तः सप्तभिर्भागमाचरेत् ॥
लाभं[1] नष्टं[2] महासौख्यं[3] भोजनं[4] प्रियदर्शनम्[5] ।
कलहो[6] मरणं चैव काको वदति नान्यथा ॥

अर्थात् कौएका वचन सुनकर एक पक्षि तिनका लेकर उसे अंगुलसे नापे, जितने अंगुल हों उनमें तेरह मिलाकर सातसे भाग दे। यदि १ शेष रहे तो लाभ, २ रहे तो नष्ट, ३ रहे तो महासुख, ४ हो तो भोजन, ५ हो तो प्रिय-मिलन, छः हो तो कलह और ७ र तो मरण आदि ।'

पशु-पक्षी बिना साबुन लगाये ही स्वच्छ एवं चिक रहते हैं । देवताओंने भी इनसे प्रसन्न होकर वाहनके रूपमें एक-एकको अपनी सेवामें रख लिया है । जै ब्रह्माजीने हंस, विष्णु भगवान्‌ने गरुड, शिवजीने नान्दी स्वामीकार्तिकने मोर और दुर्गाने सिंह आदि ।

हम स्वार्थी मनुष्य इनकी प्रत्येक वस्तुका उपभो डटकर करते हैं । इनकी खालसे जूते एवं अन्य वस्तुएँ बनती ही हैं, संन्यासी भी इनकी खालको पवित्र मान हैं । मृगछाला एवं शेरकी खाल अपने पास रखते हैं हम भी अपने कमरोंको सजाते हैं । भेड़, ऊँट आदि बालोंसे बने हुए ऊनी वस्त्र धारण करते हैं और रेशम कीड़ोंसे रेशमी वस्त्र बनाकर पहनते हैं ।

औषध-निर्माण तथा प्रयोगोंमें भी आजकल स्वार्थी मनु इनके प्रति भीषण अत्याचार करके स्वार्थ-साधन करते है

पशु-पक्षी जन्मजात ही परिव्राजक होते हैं जब हममें लंबी आयु व्यतीत होनेपर वानप्रस्थ तथा संन्य

लेनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है । (वह भी सबमें नहीं) धन्वन्तरिजीने भी पक्षीका रूप धारण कर वैद्यसे पूछा—'कोऽरुक्, कोऽरुक्, कोऽरुक्', अर्थात् रोगी कौन नहीं ? जिसका उत्तर वैद्यजीने दिया—'हितभुक् मितभुक् जितेन्द्रियश्च'—'हितकर और परिमित भोजन करनेवाला और जितेन्द्रिय ।' मनुष्योंकी अपेक्षा इस सूत्रका जानवर अधिक अच्छी तरहसे पालन करते हैं । इसके अतिरिक्त हमारे भगवान्ने भी अवतारोंमें मत्स्य, वराह तथा नृसिंहका रूप धारण किया था । इन सब बातोंको देखते हुए राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त कहते हैं—

करते हैं हम पतित जनोंमें बहुधा पशुओंका आरोप ।
करता है पशु-वर्ग किंतु क्या निज निसर्ग-नियमोंका लोप ?
मैं मनुष्यताको सुरत्वकी जननी भी कह सकता हूँ ।
किंतु पतितको पशु कहना भी कभी नहीं सह सकता हूँ ॥

यों बहुत-से भौतिक गुणोंमें पशु-पक्षी मानवसे बढ़े-चढ़े हैं । मनुष्यमें तो एक ही प्रधान गुण है—विवेक । जिसके द्वारा वह आध्यात्मिक दृष्टिसे अपना लक्ष्य—साध्य निश्चय करके उसके लिये साधनमें प्रवृत्त होता है और मानव-जीवनके प्रधान लक्ष्य भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें आगे बढ़ता है । जो मनुष्य ऐसे नहीं हैं, उनके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

तिन्हतें खर सूकर स्वान भले, जड़ताबस ते न कहैं कछु वै ।
जिन्हके मन रामसों नेह नहीं, सो सही पसु पूँछ-बिषान न द्वै ।
जननी कत भार मुई दस मास भई किन बाँझ गई किन च्वै ।
जरि जाहु सो जीवन जानकिनाथ जियें जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै ॥

इसपर विचार करके मानव-जीवनके असली लक्ष्यकी ओर जीवनकी गति करके हम सच्चे मानव बनें और पशु-पक्षियोंके गुण ग्रहण करें ।

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥

दीर्घसूत्रीसे !

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

दुनिया आकाशके तारे तोड़नेपर तुल रही है ।

तुम दीर्घसूत्री बने बैठे हो ।

क्या करें क्या न करें ?—यह किंकर्तव्यविमूढ़ता तुम्हें खाये जा रही है ।

कैसे करें ? क्या करें ? कब करें ? कहाँ करें ? आदि-आदि तर्क-वितर्क तुम्हारा पीछा ही नहीं छोड़ रहे हैं ।

करें भी कि नहीं ?····संशयका साँप भी फन फैलाये तुम्हें डस जाना चाहता है ।

इन सबसे बच—भागकर किसी निर्णय—निश्चयपर पहुँचकर तुम कुछ करने चलते भी हो तो कुछ इस तरह ढिसल-मिसल करके चलते हो कि तुम्हारी चाल देखकर चींटीकी चाल भी मात मान लेती है ।

ऐसे कैसे चलेगा ?

स्पुतनिकके युगमें चींटी-मात-चालसे चलकर तुम किस दीनके रहोगे ? कहाँ पहुँचकर दम लोगे ?

सच, मंजिल तो स्वप्न ही रहेगी इस तरह ! न, न, स्वप्नमें भी हवातक हाथ न लगेगी उसकी ।

कुछ सोचो-समझो और दीर्घसूत्रता छोड़ो । जागो, सँभलो और चल पड़ो गन्तव्यस्थलकी ओर····एक निष्ठासे, अनन्य श्रद्धासे, सहज सुज्ञतासे, संतत सत्वर गतिसे ।

इसीमें खैर है, अन्यथा विनष्ट हुए धरे हो ।

अपनी मृत्यु आप मत बुलाओ ।

हद कर रखी है तुमने ।

तुम दीर्घसूत्री बने बैठे हो ।

दुनिया आकाशके तारे तोड़नेपर तुल रही है ।

न्यायोपार्जित धनसे ही शान्ति मिलती है

(लेखक—श्रीभगवानदासजी चौधरी)

द्वितीय विश्वयुद्धके समयकी बात है । भारतमें अनाज, कपड़ा, चीनी आदि सभी जीवनोपयोगी चीजोंपर नियन्त्रण था । एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जानेके लिये भी परमिट लेना पड़ता था । परमिटकी प्राप्तिके लिये व्यापारियों और उपभोक्ताओंको बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता था ।

उसी समय मेरे एक मित्र बम्बई टेक्सटाइल कंट्रोल आफिसमें परमिट देनेके कामपर नियुक्त थे । अच्छा वेतन था । उनका स्वभाव भी मिलनसार था और वे बहुत संतोषजनक रूपसे अपना काम करते थे । धीरे-धीरे कुसंगतिसे या धनके लोभसे उनके दिलमें धन कमानेकी दुष्ट बुद्धि उत्पन्न हुई । क्षेत्र था ही । वे चुपचाप प्रत्येक परमिटपर कुछ-न-कुछ लेने लगे । इस अनीतिकी रीतिसे वर्ष-डेढ़-वर्षमें ही उनके पास तीस हजार रुपये नकद जमा हो गये ।

मनुष्य सबको धोखा दे सकता है । पर ईश्वरको नहीं दे सकता । ईश्वर प्रत्येक व्यक्तिमें अन्तरात्मारूपसे बैठा हुआ उसके भले-बुरे सब कामोंको निरन्तर देखता और उचित न्याय करता रहता है ।

अनीतिके द्वारा कमाया हुआ धन जैसे आता है, वैसे ही चला भी जाता है । मेरे उन मित्रकी धन-तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी । उन्होंने कुछ लोगोंको सट्टा करते देखकर सोचा कि 'क्यों न मैं भी सट्टेका व्यापार करूँ और सहज ही बहुत-सा धन कमाकर एकदमसे धनी हो जाऊँ ।' उन्होंने सट्टा करना शुरू किया । अनीतिसे उपार्जित धनके नाश होनेका यह साधन मानो ईश्वररचित ही था । उन्होंने दस रुपयेकी दरमें अमुक चीज खरीदनी शुरू की और काफी खरीद कर ली । अकस्मात् युद्ध बंद हो गया । भीषण मन्दी आ गयी और वह दस रुपयेवाली चीज ढाई रुपयेमें बिकी । जितना कमाया था, सब पंद्रह-बीस दिनोंमें ही वापस चला गया !

आज भी वे मित्र प्रायः मिलते हैं और यही कहते हैं कि हमारे सच्चे प्रयत्न, सच्चे व्यापार और ईमानदारीसे हमें जो सम्पत्ति मिलती है, वही हमारे पास रहती है। अन्यायसे कमाया हुआ धन निश्चय ही नष्ट हो जाता है।

अतएव सभी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि हम व्यापार, समाज, सरकारी दफ्तर—किसी भी क्षेत्रमें काम करते हों, हमें अनीति, बेईमानी, चोरी-ठगीसे सदा सावधानीके साथ बचना ही चाहिये । हमारे भाग्यमें जो कुछ मिलना है, वह हमारे नीतिपूर्ण सद्-उद्योगसे ही मिल जायगा । वास्तवमें वही धन संसारमें श्रेष्ठ और महत्त्वकी वस्तु है । जिस शान्तिके लिये संसारके नर-नारी छटपटाते रहते हैं, वह सच्ची शान्ति भी सच्चे न्यायशील और ईमानदार पुरुषको ही मिलती है ।

प्रभु प्रकाशसे भर देते हैं !

देते हैं भगवान् सदा ही सहज मुझे निज दिव्य प्रकाश ।
करते हैं नित मंगल मेरा, है यह मेरा दृढ़ विश्वास ॥
संकटकी प्रत्येक घड़ीमें रहते हैं वे मेरे पास ।
हर लेते संकट तत्क्षण ही जैसे रवि करता तम-नाश ॥
नये नये पथसे आ-आकर करते घोर विपद्से त्राण ।
विविध अनन्त साधनोंसे प्रभु करते हैं मेरा कल्याण ॥
बरसाते इतनी अनुकम्पा, गणना नहीं—नहीं परिमाण ।
अनुभव मुझे कराते अपना भर देते प्रकाशसे प्राण ॥

संस्कारकी बात

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

आजके युगकी सबसे बड़ी प्रसादी है—अविश्वास। पुरानी कही हुई सभी बातोंको हम अविश्वासकी दृष्टिसे देखते हैं। एक साधारण-सा उदाहरण लीजिये। भारतीय आयुर्वेदके पण्डितोंने ऐलोपैथिक चिकित्साप्रणालीके विद्वानोंको बार-बार चेतावनी दी थी कि 'शारीरिक पीड़ाको दूर करनेके लिये अफीम, कोकीन, मारफीन ऐसी चीजोंसे तैयार की गयी औषधका परिणाम भयंकर होगा। कुछ समयके लिये पीड़ा शान्त हो जायगी, पर रोगीमें उस नशेकी ऐसी बुरी आदत पड़ जायगी कि फिर वह ऐसी ओषधियोंका नशेके रूपमें सेवन करने लगेगा।' वह बात, वह सीख हँसी करके उड़ा दी गयी। आज विश्व-स्वास्थ्य-संघने अपनी ताजी रिपोर्टमें इस बातपर बड़ी चिन्ता प्रकट की है कि मादक ओषधियोंके सेवनके कारण लाखों व्यक्तियोंमें मादक-द्रव्य-सेवनका संस्कार पड़ गया है। वे इसके लती हो गये हैं। संयुक्तराज्य अमेरिकामें ऐसे लती तथा 'रोगी' व्यक्तियोंकी संख्या सन् १९६१में ८६,२५६ थी, जिनमेंसे ५,५५० की उम्र १८–२१ वर्षकी थी। इतना ही नहीं, ऐसी ओषधियोंका आत्महत्याके लिये बड़ा उपयोग होता है। इंग्लैंडमें प्रतिवर्ष ७०० के लगभग व्यक्ति ऐसी ओषधियोंकी 'अधिक' खूराक लेकर आत्महत्या कर लेते हैं।

सोचनेकी बात है कि एक-दो बार ही मादक ओषधिके जरा-से सेवनका मन-बुद्धिपर कितना बुरा संस्कार पड़ जाता है। संस्कार इसी प्रकार साधारण-से-साधारण वस्तुके द्वारा मनको पकड़ लेता है। आजके विज्ञानके युगमें, जब बिना वैज्ञानिक प्रयोगसे सिद्ध हुआ ईश्वर भी विश्वासकी वस्तु नहीं है, उस समय विज्ञान स्वयं भारतीय दर्शनके सिद्धान्तोंकी पुष्टि करता जा रहा है।

अन्तरात्मा, प्रेरणा, संकल्प, अन्तर्ज्योति तथा पूर्व-जन्मकृत संस्कारसे उत्पन्न ज्ञानकी बात हमारा दर्शन प्रतिपादित करता चला आ रहा है। पश्चिमी विज्ञानने इसे मानना अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि 'मस्तिष्ककी बनावट, मस्तिष्कमें जितने निशान बने हों, जितना ऊँचा-खाला भेजा हो, जितनी टेढ़ी-मेढ़ी नसें उसमें घूमती हों, उतना ही बड़ा बुद्धिमान् वह मनुष्य होगा।' इसी आधारपर सैकड़ों वर्षोंसे मस्तिष्ककी नाप-जोख की गयी, बड़े-बड़े विद्वानोंके मस्तिष्क उनके मुर्देमेंसे निकालकर तौले गये। आश्चर्यजनक बातें मालूम हुईं। यह कोई जरूरी नहीं है कि आदमी या जानवरके मस्तिष्ककी रचनामें अन्तर हो। बड़े-बड़े मूर्ख व्यक्तियोंका मस्तिष्क बहुत बड़ा और बड़े-बड़े विद्वानोंका मस्तिष्क बहुत छोटा होता है। पशु और मनुष्यकी बुद्धिमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। अनेक विषयोंमें पशुकी बुद्धि अधिक कुशाग्र होती है। केवल एक महान् अन्तर है। पशु किसी निश्चित स्थिति या विषयपर सोच सकता है। मनुष्य विषय गढ़ता है, बनाता है, कल्पना करता है, तर्क-वितर्क करता है। यह शक्ति उसे कहाँसे मिली। खोपड़ेके भीतर छोटी-सी दिमागकी पुड़िया रखकर भी महापुरुष तथा मेधावी व्यक्ति बहुत ऊँची बातें कहाँसे, कैसे सोच लेते हैं। अभी आजतक तो विज्ञानने इस प्रश्नका यही उत्तर दिया है कि यह ऐसा रहस्य है जिसको अभीतक नहीं समझा जा सका है।

लेकिन हमारे पास इसका उत्तर स्पष्ट है। हम कहते हैं कि अन्तःप्रेरणा, अन्तर्बुद्धि, प्रबोध—यह सब जन्म-जन्मान्तरके संस्कारद्वारा संचित निधि हैं। इसे विज्ञान नहीं तौल सकता, विज्ञान नहीं जान या पहचान सकता!

नैतिक शिथिलता

आधुनिक सभ्यताके चकाचौंधने धर्म तथा देवताकी इतनी उपेक्षा कर दी है कि कम्यूनिस्ट देश पूर्वी जर्मनीमें सवा करोड़की आबादीमें लगभग ६,०६,००० बच्चे सरकारी बाल-गृहमें पल रहे हैं। प्रचण्ड धनी संयुक्तराज्य अमेरिकाके पुलिस-विभागकी सन् १९६१ की रिपोर्टके अनुसार वहाँ प्रति चार मिनटपर एक गम्भीर अपराध होता है। प्रति घंटे एक हत्या होती है। प्रति ३३ मिनटपर बलात्कारका एक व्यभिचार होता है। प्रति ६ मिनटपर एक डकैती, प्रति ३७ सेकेण्डपर एक सेंधमारी, प्रति एक मिनटपर एक बड़ी चोरी तथा प्रति डेढ़ मिनटपर एक मोटरकार चोरी होती है। वैभवकी यह प्रसादी है। जिस सभ्यतामें मानवका संस्कार इस प्रकार बन रहा हो, उसका क्या भविष्य होगा। उनके सामने प्रश्न अभावका नहीं है; नैतिक शिथिलताका है। उनसे अच्छे हम हैं—जिनका सिद्धान्त है—

जिण दीन्हीं है चूँच, चून भी बोही देसी।
कुण नीचो कुण ऊँच, रैयत है सब राम की॥
ग्रंथ पंथ सब जगतमें, बात बतावत तीन।
राम हृदय, मनमें दया, तन सेवामें लीन॥
लाज रखै तो जीव रख लज बिन जीव न रक्ख।
साँईं तोसूँ बीनती, दोनूँ भेळा रक्ख॥

इतनी सीधी-सादी-सी कामना लेकर जब हम अपने

जीवनका संस्कार बनाने चलें तो फिर आजके जीवनकी नैतिक शिथिलतासे बच सकते हैं । हमारे जीवनकी आधार-शिला टूट गयी है । मानव-जीवनकी मर्यादा खण्डित हो गयी है, इसीलिये चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है । पश्चिमकी नकल करते-करते हम भी बहुत कुछ खो बैठे हैं और शायद इसी परिस्थितिसे विचलित होकर भारत-सरकारके शिक्षा-विभागने सभी विश्वविद्यालयोंको आदेश दिया है कि बी० ए० प्रथम वर्षसे ही 'नैतिक तथा धार्मिक महापुरुषोंके जीवनसे शिक्षा' देनेका प्रबन्ध करें । आजकी हमारी समस्याओंमें हमें बाहरसे कुछ सीख लेनेकी आवश्यकता नहीं है । हमें तो वाल्मीकिरामायणका यह उपदेश याद रखना चाहिये—

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ॥

अर्थात् जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहते हैं, उनके सब काम बिगड़ जाते हैं और वे बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाते हैं । यदि हमने अपने जीवनके संस्कारको नष्ट करनेका, अपने अगले जन्मको गँदला और निरर्थक करनेका निश्चय नहीं किया है तो निरुत्साहरूपी मादक ओषधिसे बचकर अपने मन-वचन-कर्मके संस्कारको अभीसे सँवारना पड़ेगा । संस्कारसे भाग्य बनता है, पर भाग्यके विषयमें एक बात याद रखनी चाहिये—

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥

जैसे एक पहियेसे रथ नहीं चलेगा, वैसे ही बिना प्रयत्नके दैव भी अनुकूल नहीं हो सकता ।

प्रयत्न करनेमें सुख-दुःख, ऊँचा-नीचा तो लगा ही रहता है । उससे निरुत्साह होनेकी आवश्यकता नहीं है । संस्कारकी मर्यादाके भीतर, शान्ति तथा धैर्यसे काम लेना होगा । सब कुछ चला जाय, पर सत्य यदि हमारे पास है तो हमारी सम्पदाकी सीमा नहीं है—

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया कृतम् ।
अश्वमेधसहस्रेभ्यः सत्यमेवातिरिच्यते ॥

यह हजार अश्वमेध-यज्ञकी तुलनामें भी सत्यका पलड़ा भारी है । दरिद्रता और भूखसे हम अनाथ और कंगाल नहीं होते ।

झूठा पाट-पटंबरा, झूठा दिखणी चीर ।
साँची पियाजी री गूदड़ी, निरमल रहै सरीर ॥

दक्षिणसे प्राप्त बहुमूल्य वस्त्र धारण करनेसे कहीं अधिक निर्मलता शरीरपर प्रियतम परमात्माकी सच्ची (सत्यकी) गूदड़ी रखनेसे होती है ।

छप्पन भोग बहाय दे, उण भोगन में दाग ।
लूण-अलूणो ही भलो, अपणै पियाजी रो साग ॥

अपने प्रियतम परमात्माके सागसे बढ़िया स्वादिष्ट और कुछ भी नहीं है ।

सुख मानै तो सुक्ख है दुख मानै तो दुक्ख ।
सच्चा सुखिया सोय है दुख मानै ना सुक्ख ॥

स्वर्गीय आगा हस्रने बरसों पहले लिखा था—

जिस राह है खौफ़ो खतर उस राहसे इंसा न चल ॥
जुर्मो गुनाहके बोझसे वरना गिरेगा सरके बल ।
छाई है जुल्मत हर तरफ अंधा न बन अब भी सम्हल ॥
मुड़, दौड़, भाग, आ इस तरफ ताकत अभी है पाँवमें ।
आराम, इज्जत, जिंदगी सब है खुदाकी छाँवमें ॥

आजके जीवनमें जब वासना और कामनाने हमारे म और बुद्धिको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है; अपना, अपने परिवारका अपने समाज तथा देशका संस्कार हमें अपने कार्योंद्वारा सँवारना है । वैभवका परिणाम संयुक्तराज्य अमेरिका तथ निरीश्वरवादका परिणाम सोवियत रूस तथा चीनसे का मालूम हो जाता है । हम भी स्वतन्त्रताके बाद अपने प्राची जीवनकी अमूल्य बातें भूलनेकी धुनमें हैं । हमें भूलना न चाहिये कि जरा-सी गलत ओषधि विष बनकर शरीरको न कर देती है । केवल वासनाकी किंचित् चिनगारी स शरीरको नष्ट कर देती है । बाबा किनारामने कहा था—

चाह चमारी चूहरी, चाह सबै ते नीच ।
तू तो पूरन ब्रह्म था, चाह न होती बीच ॥

आज आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने भी वही करें जो पतञ्जलिके लिये लिखा था—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचं कायं मलं चैव हि वैद्यकेन ।

मन, बुद्धि, शरीर–संस्कार इन तीनोंके योगसे बनत पर सबका सुचारुरूपेण नियन्त्रण हो जाय । यदि हम परमा की सत्ताको न भूलें, उस परमात्माको जिसके विषयमें आयु के प्रवर्तक (भगवान् धन्वन्तरिसे प्राप्त) चरकने आर ही लिखा है:—

प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः ।

अनादित्व-हेतु परमात्माकी उत्पत्तिका कोई कारण है । उसी प्रकार संस्कारके निरूपणका प्रकार केवल बोध है, बुद्धि तथा तर्कसे नहीं समझा जाता । जिसने अ संस्कार नहीं बनाया, उसका जन्म निरर्थक है ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

वेद-मन्त्रोंका चमत्कार

सन् १९५५ के अप्रैलमें ग्राम नरहरिपुर जि० बाराबंकीमें 'विष्णुयज्ञ' हुआ था। यह यज्ञ नरहरिपुरके निवासी पण्डित लक्ष्मीचन्द्र तिवारीने पूज्य श्री १०८ स्वामी नारदानन्दजी सरस्वतीकी सत्प्रेरणासे करवाया था। मैं काशीसे यज्ञका 'आचार्य' होकर गया। यज्ञकी पूर्णाहुति होनेके बाद मैं उसी दिन आवश्यक कार्यवश काशी आनेके लिये तैयार हो गया। काशी आनेके लिये नरहरिपुरसे 'रुदौली' रेलवे स्टेशन पहुँचना पड़ता है, जो नरहरिपुरसे लगभग ६-७ मीलकी दूरीपर है। वहाँका मार्ग पक्का न होनेके कारण यातायातका साधन केवल बैलगाड़ी है। अतः मैं भी अपने दो साथियों (वेदाचार्य पं० जगदानन्द झा, अध्यापक—गवर्नमेन्ट-संस्कृत कालेज, पटना तथा पं० लक्ष्मीनारायणजी (कल्लोजी) सारस्वत, काशी) के साथ बैलगाड़ीमें सवार हो गया। उसी समय नरहरिपुरके दो वृद्ध पुरुष वहाँ उपस्थित होकर बोले—'पण्डितजी ! यहाँसे रात्रिमें रुदौली स्टेशन जाना खतरेसे खाली नहीं है। मार्गमें चोर-डाकू पड़ते हैं, जो लूट-पाट ही नहीं करते, किंतु पथिकोंको मारते-पीटते और नग्नतक कर देते हैं। अतः रात्रिमें न जाकर दिनमें जाइयेगा।' मैंने कहा—'मेरे पास चोर-डाकुओंसे बचनेके लिये अचूक उपाय है, मुझे चोर-डाकुओंका भय नहीं।' कहकर हमलोग रात्रिको ९ बजे स्टेशनके लिये रवाना हो गये।

वसन्त ऋतु और चैत्रका महीना था। रात्रिको चैती हवा कभी मन्द और कभी तेज चलती थी, जो हम सभीको सुखद और सुहावनी प्रतीत हो रही थी। यज्ञकी व्यस्ततासे मैं श्रान्त था, अतः बैलगाड़ीमें निद्रा आ गयी। समथल भूमि न होनेके कारण बैलगाड़ीके भयंकर खटर-पटर शब्दसे कुछ ही देर बाद मेरी नींद उचट गयी। दोनों साथियोंने अत्यन्त भयभीत मुद्रामें मुझसे कहा—'बहुत देरसे हमारे पीछे तीन आदमी लगे हैं और उनके हाथमें टार्च भी है, जिसको कभी-कभी जलाते भी हैं। देखिये वे ही तीनों आदमी हैं, जो हमारी ओर लपके चले आ रहे हैं।'

मैंने बैलगाड़ीके चालकसे पूछा—'हमारे पीछे जो आदमी लगे हैं, इनके बारेमें तुम्हारा क्या ख्याल है ?' गाड़ीवानने कहा—'ये चोर-डाकू मालूम होते हैं।' गाड़ीवानकी बात सुनकर मेरे साथी बोले—'हमलोगोंसे भूल हो गयी, जो वृद्ध पुरुषोंके रोकनेपर भी रात्रिको चल पड़े।' मैंने निर्भीक होकर कहा—'आपलोग तनिक भी न घबरायें। एक बार मेरे स्वर्गीय श्रीपिताजी (महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड) ने मुझे मार्गमें चोर-डाकूसे त्राण पानेके लिये वेदके कुछ महत्त्वपूर्ण मन्त्र बतलाये थे, जिनके ग्यारह अथवा पाँच बार पाठ करनेसे निश्चित ही चोर-डाकुओंसे रक्षा होती है। अतः अब हमें उन वेद-मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये। अवश्य ही वेद भगवान् हमारी रक्षा करेंगे।' पश्चात् हम सभीने श्रीपिताजीके बतलाये हुए निम्नलिखित वेद-मन्त्रोंका उच्चस्वरसे एक स्वरमें होकर पाठ प्रारम्भ कर दिया—

'रक्षोहणं बलगहनम्०'	(शु० य० ५। २३–२५)
'रक्षसां भागः०'	(शु० य० ६। १६)
'योऽअस्मभ्यम्०'	(शु० य० ११। ८०)
'आयुर्म्मे पाहि०'	(शु० य० १४। १७)
'अग्नेर्भागोऽसि०'	(शु० य० १४। २४–२६)
'नमः कृत्स्नायतया०'	(शु० य० १६। २०–२२)
'कृणुष्व पाजः०'	(शु० य० १३। ९–१४)

हमलोग बार-बार उपर्युक्त वेद-मन्त्रोंका पाठ कर रहे थे कि मार्गमें एक गाँव आ गया। बैलगाड़ीके चालक तथा मेरे साथियोंकी सम्मति हुई कि 'गाँवमें गाड़ी रोककर रात्रि यहीं व्यतीत की जाय और प्रातःकाल स्टेशन चला जाय। इससे चोर-डाकूका खतरा दूर हो जायगा और चोर-डाकू भी वापस चले जायँगे।' मैंने कहा—'क्या आपलोगोंको वेदमन्त्रोंपर विश्वास नहीं है, जो भयभीत होकर यहाँ ठहरनेकी बात कह रहे हैं ?' मेरे साथी संकोचके साथ दबे स्वरमें बोले—'हमें वेद-मन्त्रोंपर पूर्ण विश्वास है।' मैंने कहा—'तब मार्गमें रुकनेकी आवश्यकता नहीं है। आज वेद-मन्त्रोंके चमत्कार देखनेका अवसर उपस्थित है। अवश्य ही वेद भगवान् हम सबकी रक्षा करेंगे।' बैलगाड़ी रोकी नहीं गयी और हमलोगोंका वेदपाठ पूर्ववत् चलता रहा। जब गाड़ी गाँवसे लगभग आधा मील आगे पहुँची, तो फिर वे तीनों टार्च जलाते हुए दिखायी देने लगे।

जिस प्रकार हमलोग उच्च स्वरसे वेद पाठ कर रहे थे, ठीक उसी प्रकार गाड़ीवान भी बड़ी तेजीसे गाड़ी हाँक रहा

था। बैलगाड़ीकी गतिके अनुकूल वे चोर-डाकू भी सपाटेके साथ हमारी ओर लपके आ रहे थे। हमें इस बातका अवश्य आश्चर्य हो रहा था कि कई मीलसे चोर-डाकू हमारा पीछा करते हुए भी हमसे लगभग दो-तीन फर्लांग दूर-दूर ही चलते रहे और हमारे सम्मुख नहीं आये। इधर हमारा वेद-मन्त्र-पाठ नौ बार समाप्त हो रहा था कि बीचहीमें गाड़ीवान बोला—'पण्डितजी ! अब यहाँसे स्टेशन सिर्फ एक मील रह गया है और अब वे चोर-डाकू भी दिखलायी नहीं देते।' हम सभीने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी तो पीछा करनेवाले पुरुषोंका कुछ पता नहीं चला। पश्चात् हम सभीने नित्य, अनादि अपौरुषेय वेद भगवान्‌की ही महती कृपा समझी, जिनकी कृपासे वे चोर-डाकू स्वतः वापस चले गये और हमलोग दो बजे सानन्द स्टेशन पहुँच गये। स्टेशन पहुँचनेपर वहाँके स्टेशन-मास्टर तथा अन्य कई सज्जनोंने पूछा—'आपलोग कहाँसे आ रहे हैं ?' मैंने कहा—'यज्ञ कराकर नरहरिपुरसे आ रहे हैं।' सभीने साश्चर्य कहा—'नरहरिपुरके मनुष्य बड़े आततायी मालूम होते हैं, जिन्होंने रात्रिमें यहाँ आनेके लिये आपलोगोंको रोका नहीं। उन्हें तो मालूम है यह मार्ग बड़ा खतरनाक है।' मैंने कहा—'गाँववालोंका कोई दोष नहीं। उन्होंने मना किया था, किंतु मैं जान-बूझकर वहाँ रुका नहीं। मुझे वेद-मन्त्रोंपर पूर्ण विश्वास और भरोसा था कि यदि मार्गमें किसी प्रकारकी विपत्ति पड़ेगी, तो अवश्य ही वेद-मन्त्रोंद्वारा हमारी रक्षा होगी। मार्गमें जो चोर-डाकू मिले थे, वे वेद-पाठके प्रभावसे वापस चले गये, जिससे हम यहाँ सुरक्षित पहुँच गये।' इस घटनाको सुनकर सब लोग दंग रह गये। सभीने वेदके चमत्कारपर विश्वास एवं श्रद्धा व्यक्त की।

'वेदो नारायणः साक्षात्' (भागवत ६ । १ । ४०) के अनुसार जो लोग वेदोंमें श्रद्धा और विश्वास रखते हैं, उनकी आज भी वेद भगवान् सर्व प्रकारसे रक्षा करते हैं।

लेख-विस्तारके भयसे मैंने पूरे मन्त्रोंका उल्लेख न कर, केवल मन्त्रोंके प्रतीक, अध्याय और मन्त्र-संख्याका उल्लेख किया है। मैंने जो मन्त्र लिखे हैं, इनमेंसे बहुत-से मन्त्र 'रक्षोघ्न-सूक्त' नामसे प्रसिद्ध हैं। रक्षोघ्नसूक्तके पाठ करनेसे राक्षस, भूत, प्रेत, चोर आदिका भय नहीं रहता, ऐसी फल-श्रुति है, जिसका मुझे प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ।

—याज्ञिकसम्राट् श्रीवेणीराम शर्मा गौड़, वेदाचार्य

(२)

प्रभुकी दिव्य कृपाकी प्रत्यक्षानुभूति

मेरे एक सहृदय वयोवृद्ध भगवद्भक्त स्नेहीद्वारा वर्णि घटना निम्नवत् है—

'दिनाङ्क १८ अक्टूबर, १९६१, तदनुसार आश्वि शुक्ल ९, संवत् २०१८ विक्रमीकी घटना है। खरगोन (म प्र०) से लगभग १६ मीलकी दूरीपर स्थित बभनाला औ सेलदा ग्रामोंके मध्य एक तपोमूर्ति महात्माश्रीका पवि आश्रम है। आश्रम पुण्यतोया वेदा नदीके तट सुस्थित है। पूज्य महात्माजी प्रत्येक वर्षकी आश्विन शुक् नवमीको नवरात्रके उपलक्षमें कन्याओंको भोजन कराते हैं घटनाकी तिथिको भी वही पुण्यकर्म सम्पन्न करनेका निश्च किया गया। मैंने पूज्य महात्माजीके दर्शन करनेका विनम्रभाव सुसंकल्प किया। तदनुसार मैं इसी दिन खरगोनसे प्रस्थि हुआ। साथमें दो वयोवृद्ध वैष्णव भक्त तथा मेरा एक पु (अवस्था १२ वर्ष) तथा मेरी पोती (अवस्था ५ वर्ष थे। मोटरकार बभनाला ग्राममें छोड़ दी गयी। सारा समुदा पैदल वेदा नदीके तटपर पहुँचा। नदीपर पुल अथवा र आदि नहीं है। वर्षाऋतुमें छोटी नावोंके सहारे नदी प करनी पड़ती है। वर्षाऋतुके पश्चात् नदीका जल सूख जा है और नदीको वैसे पैदल ही पार किया जा सकता है इस वर्ष संयोगवश अतिवृष्टिके कारण नदी अथाह जलराशि परिपूरित थी और जल-प्रवाह भी तीव्र वेगमय था।

नदी पार करनेके लिये एक छोटी नाव किरायेसे गयी। मैंने सभी सज्जनोंको उसमें बैठाया और अन्तमें मैं बैठा। पूज्य महात्माजीके पादपद्मोंमें भेंट करनेके लिये अपने साथ एक मन आटा तथा दो टोकरी फल आदि रक्खे थे। वे पदार्थ भी नावमें यथास्थान रख दिये गये। ना अथाह जलराशिमें गतिशील होना प्रारम्भ किया। शीघ्र नाव दूसरे किनारेके निकट आ पहुँची। वहाँ जल प्रबलतम वेग था और जलकी गहराई भी १५–२० फीटसे न होगी। सभी पूर्ण आनन्दानुभूतिसे प्रकृतिके सुरम्य भाग दर्शन करते हुए महात्माजीके दर्शनकी लालसासे अनुरा होकर गन्तव्य स्थलतक पहुँचनेके क्षणकी प्रतीक्षा कर रहे थे

सहसा घटना-चक्रमें परिवर्तन हुआ। जलके वेग सुदृढ़ आघात-प्रतिघातोंसे नाव अपना संतुलन खो बैठी नाविकने अपने सहज धैर्यको तिलाञ्जलि दे दी नाव एक भागपर सहसा लम्बाकार होने लगी और

भागसे उसमें जल भरने लगा । मेरे मनमें सहसा यह भाव उत्पन्न हुआ कि यह अस्थायी संतुलन-परिवर्तन ही है । अतएव लम्बाकार उत्थित भागको दबानेके लिये हम उधर बढ़ने लगे । परंतु स्थिति भयंकर होती गयी । नाव जलके प्रहारसे प्रकम्पित होने लगी और हमारे दो वयोवृद्ध साथी भय-मिश्रित शब्दोच्चारण करने लगे । पर ईश्वरीय अनुग्रहसे मेरी मनःस्थिति अप्रत्याशितरूपमें आश्चर्यमयी हो गयी । मेरे मुखसे केवल ये ही शब्द निकले—सुरेन्द्र और मंजुको सम्हालना । मन विचारोंसे सर्वथा शून्य हो गया । मैं अर्द्धनिमीलित नेत्रोंसे सारे दृश्यको देखता रह गया । अचानक नेत्रोंके समक्ष सरिताके समीपस्थ तटपर स्थित एक वृक्षकी शाखाएँ हाथमें आने लगीं । ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी अद्वितीय महान् शक्तिने इस वृक्षकी सुदृढ़ शाखाएँ हम सबके हाथोंके समीप ला दीं और साथ ही उन्हें हाथोंसे भी पकड़वा दिया । मैंने सुरेन्द्र और मंजुके कोमल हाथोंको भी इन शाखाओंको सुदृढ़तासे पकड़े हुए देखा । एक ही क्षणमें नाव हमारे पैरोंके नीचेसे अनन्त जलराशिमें अपने अस्तित्वको विनष्ट करनेके लिये तीव्र वेगसे बढ़ गयी और हम पाँचों प्राणी वृक्षकी शाखाओंसे लटके रह गये । न जाने कब किसी व्यक्तिने तट-परसे वृक्षपर चढ़कर हम पाँचोंको खींचकर तटके भूमि-भागपर खड़ा कर दिया । हमारे साथका सारा सामान नावके साथ ही उस विराट्में निमग्न हो गया ।

तटपर आकर मेरी मनःस्थितिमें परिवर्तन हुआ और मेरे हृदयमें शनैः-शनैः भावोंका उद्रेक होने लगा । विश्वास मानिये कि घटना घटित होते समय मेरे मनमें न भय था, न शोक, न विषाद और न ऐसी स्थिति कि प्रभुके दिव्य नामोंसे उन्हें पुकार सकूँ और रक्षा-हेतु आर्तनाद कर सकूँ । अब प्रभु-की असीम कृपाका स्मरण कर नेत्रोंसे अश्रुओंकी अविरल धारा प्रवाहित होने लगी और ऐसा भासित होने लगा कि दयानिधि करुणावरुणालय प्रभु किस प्रकार अपने वरद-हस्त बढ़ाकर अभयदान एवं आश्रय देते हैं । मैं अपने गुरु महाराजकी दिव्य वाणीके अचेतन भाव ग्रहण करने लगा—

वे सुखमें क्या दुखमें कभी भी
न छोड़ते हैं हमको अकेला ।
वे साथमें ही रहते हैं सदा
सम्हालनेको हमको हमेशा ॥

तटसे आगे बढ़कर हमने पूज्य महात्माके चरणारविन्दोंमें नमन किया और घटनाका प्रत्यक्ष विवरण उनके समक्ष प्रस्तुत किया । पूज्य महात्माजीने शान्तिप्रद मुस्कराहटमें यही कहा—'प्रभु दीनवत्सल हैं ।' इस घटनासे उन्हें न कोई संताप हुआ और न उन्होंने हमारे प्रति कोई समवेदना ही प्रकट की । वे प्रभुके दिव्य अनुग्रहका स्मरण करके भावमग्न होकर चुप बैठे रहे ।

—भगवानदास झा एम्० ए०, बी०एस्-सी०, एल्-टी०, सा० र०

(३)

संगका फल

इसे घटना तो कहना उचित नहीं होगा; परंतु संयोग-की बात अवश्य कह सकते हैं; बात कुछ पुरानी है ।

मेरे एक मित्र थे । बहुत समयतक हम साथ-साथ पढ़े । उनका परिवार हमसे सम्पन्न था । इसी कारणसे उन्हें हाथ-खर्चके लिये रोजाना अच्छे पैसे मिल जाते थे; क्योंकि वे माता-पिताके प्रिय लड़के थे । समयके साथ-साथ भाग्यने भी करवट बदली । उनके पिता सट्टेके शौकमें पड़ गये और उन्होंने अपने संचित धनको इस बुरे शौकमें स्वाहा कर दिया । स्थिति यहाँ-तक आ पहुँची कि घरका खर्च चलना भी कठिन हो गया । घरकी हालत कैसी भी हो, पर खर्चके पैसे मिलने ही चाहिये । फिर उन्हें फिजूल खर्च करनेकी आदत जो पड़ गयी थी । उन्होंने चोरी करना शुरू किया, कभी सम्बन्धियोंके घर तो कभी अपने मित्रोंके यहाँ; आदतमें स्थायित्व आ गया और कुछ मित्रोंकी कुशिक्षा भी ऐसी मिली । वे पढ़ाई छोड़कर इसी कुकार्यमें लग गये ।

दो सप्ताह पहले वे ही मित्र एक लंबे अर्सेके बाद मुझसे मिले तो ऐसा अनुभव हुआ कि मानो वे दूसरा जन्म लेकर इस पृथ्वीपर अवतरित हुए हैं । मैंने प्रश्न किया—'मित्र ! इस परिवर्तनका रहस्य क्या है ?' उन्होंने बताया कि एक चोरीके मामलेमें कुछ लोगोंने मुझे घेर लिया था और मेरी बहुत पिटाई भी की गयी । उसी समय एक साधुजी उधरसे गुजरे । उन्होंने मेरी दशापर सहानुभूति प्रकट करते हुए मुझे छुड़ाया और भीड़को तितर-बितर कर दिया । मुझे वे अपने निवास-स्थान (मन्दिर) पर ले गये और समझाते हुए साधुजीने बताया कि 'बेटा! चोरी करनेमें दो बड़े नुकसान हैं । प्रथम तो जिसका पैसा हम चुराते हैं उसकी आत्माको बड़ा दुःख पहुँचता है और दूसरे, उस चुराये हुए पैसेका सदुपयोग भी नहीं हो पाता । तुम इस बुरे व्यसनको छोड़ दो और रोजाना सबेरे उठते ही पाँच मिनिट अपने इष्टदेवताका नाम लिया करो । भगवान्‌की कृपासे सब कार्य ठीक हो जायगा ।'

उस दिनके बादसे साधुजीके द्वारा बताये हुए मार्गपर मैं चलने लगा। उस परम परमात्माके नामका प्रभाव यह हुआ कि मैंने जवाहरातका धंधा सीख लिया, घरकी स्थिति भी सुधर गयी और आज मेरा परिवार पूर्णतया सुखी है।

मित्रकी बात मेरे हृदयके अन्तस्तलतक पहुँची और मैं बोल उठा—'हे परमात्मा ! सत्संग तथा तेरे नामके प्रभावसे हैवान भी इंसान बन सकते हैं।' —हेमचन्द्र सोजातिया

(४)

भूलका पश्चात्ताप

बंगालके अवसरप्राप्त न्यायाधीश श्रीनीलमाधव वन्द्योपाध्याय जीवनके अन्तिम श्वास ले रहे थे। उनका प्रत्येक श्वास प्रतिक्षण मृत्युके बिछौनेपर मूर्च्छित हो रहा था। उनके घर-कुटुम्बके लोग नीलमाधवजीकी मुमूर्षु दशा देखकर उनसे पूछ रहे थे, 'आपको कुछ कहना हो सो सुखपूर्वक कह दें।'

नीलमाधवने कहा—'आजसे पाँच वर्ष पूर्व मैंने पाँच हजारकी बीमा करायी थी। उस समय डाक्टरी परीक्षामें मुझे सर्वथा नीरोग बताया गया था; परंतु उसी दरम्यान मेरे मधुमेहका रोग आरम्भ हो गया था। मैं इसे जानता भी था। इतनेपर भी मैंने बीमाको रद्द नहीं करवाया। इसीका पश्चात्ताप आज मेरे कलेजेको काट रहा है। बंगालके न्यायाधीशके पदपर रहकर मैंने वर्षोंतक अपने कर्तव्यका पालन किया और अन्तमें मेरे-जैसा न्यायाधीश ईमानदारीसे हट गया ! इसका इस समय मुझे बहुत बड़ा दुःख हो रहा है। आप बीमा-कम्पनीवालोंको बुलाइये, जिससे मैं पालिसी रद्द करवा दूँ और बीमासे मिलनेवाली रकम मेरे उत्तराधिकारियोंको न मिले, इसकी व्यवस्था करवा दूँ। मेरे उत्तराधिकारियोंको ऐसे बेहकके पैसे मिलें, मैं यह नहीं चाहता।' (अखण्ड आनन्द)

—धैर्यचन्द्र बुद्ध

(५)

सत्संगतिका परिणाम

लगभग बीस वर्ष पहलेकी बात है। मेरा भानजा मेरे पास रहता था और नीचे कपड़ेकी दूकानमें अकेला ही सोता था। एक दिन अल्मारीमेंसे छः सौ रुपये निकालकर ले गया। कई वर्षोंके बाद इसी ज्येष्ठमें वह आया और अपनी मामीके चरणोंमें गिरकर बोला—'मामीजी ! यह लो अपने रुपये। मैं आपका बच्चा हूँ। मेरे अपराधको क्षमा करो।' उसकी मामीने रुपये लेनेको बहुत ही इन्कार किया, परंतु मना करनेपर भी वह रुपये देकर चला गया। लगभग एक महीने बाद उसका पत्र आया। उसमें लिखा था—'श्रीमा जी तथा मामीजीके चरणोंमें अनन्त बार नमस्कार। मैं आ छः सौ रुपये लौटा देनेमें अपनी कोई मानवता नहीं समझत वे तो मुझे देने ही थे। इस जन्ममें न देता, किसी जन्ममें बैल, गधा आदि बनकर देता। अमानत, चो ठगी, अन्याय आदिका पैसा भगवान्के कानूनमें वापिस दे पड़ता है। यमदूतोंकी मार और नरककी यात्रा रही अलग। त तो श्रीभक्त कबीरजीने हमारी भलाईके लिये कहा है—

कबीरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै और ठगे दुख होय॥

और फिर अन्यायका पैसा ठहरता भी नहीं। नी कहा है—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

अन्यायसे पैदा किया हुआ धन अधिक-से-अधिक वर्ष ठहरता है। ग्यारहवें वर्ष वह धन मूलसहित नष्ट जाता है।

इस प्रकारके बहुत-से वाक्य पत्रमें लिखे थे। मैं तो कहूँगा कि रुपये निकालना कुसङ्गका प्रभाव था—

को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई

और रुपये लौटा देना प्रभुकी कृपा तथा सत्सङ्ग प्रभाव—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई

तभी तो गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने स्वर्ग और मो सुखसे सत्सङ्गके सुखको बड़ा बताया है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

—रामस्वरूप

(६)

दस्युओंद्वारा उपकारका बदला और ब्राह्मण त्याग

आज इस भौतिक युगमें मानवता एवं नैतिक दिनोंदिन ह्रास हो रहा है। मनुष्य अपने स्वार्थके लिये से-बुरे जघन्य-से-जघन्य कार्य करनेमें भी नहीं हिचक नीचे एक सच्ची घटना लिखी जा रही है जिसमें लुटेरों एक त्यागी विप्रके कृतज्ञता और त्यागका वर्णन है। घटना कुछ वर्षों पुरानी है। चित्तौड़ जिलेके एक क

भगवद्भक्त ब्राह्मण सपरिवार रहते थे । वे सात्त्विक जीवन व्यतीत करते थे । उस समय आजकल-जैसा बाहरी आडम्बर गाँवोंमें नहीं पहुँचा था । अमीर-गरीब, हिंदू-मुस्लिमका भेद-भाव भी वहाँ नहीं था । ग्रामवासी सीधे-सादे, सात्त्विक, एक दूसरेके दुःख-सुखमें सहायता करनेवाले, निष्कपट, परिश्रमी एवं आस्तिक होते थे । इन ब्राह्मण सज्जनमें ये सभी गुण मौजूद थे । गीताका नित्य पाठ करते थे । संध्या, हवन, पाठपूजा करना इनका नित्यका कर्म था । रियासतकी ओरसे इन्हें कृषिके लिये कुछ भूमि मिली हुई थी । गाँवके वैष्णव मन्दिरके पुजारी भी थे । एक दिन प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें ये जब शौचादिसे निवृत्त हो लौट रहे थे तो मार्गमें इन्हें कुछ आदमी मिले और उन्होंने इन्हें ब्राह्मण समझकर प्रणाम किया । तदनन्तर इन्हें कुछ दूर अपने साथ अलग ले गये जहाँ निर्जन वन था । ये व्यक्ति डाकू थे । वनमें कई ऊँट थे । वहाँ उनका सरदार ठहरा हुआ था । दस्यु-सरदारने पण्डितजीको प्रणाम कर अपने पास बैठनेको कहा । पण्डितजीने अपनेको लुटेरोंके बीच पाकर कुछ भयका अवश्य अनुभव किया । सरदारने कहा—'पण्डितजी ! डरो मत, हम आपको लूटने नहीं आये हैं । बात यह है कि हम बहुत दूरसे आ रहे हैं, रास्तेमें कहीं भोजनका प्रबन्ध नहीं हो सका, अगर आप हमारे लिये एक मन आटा और कुछ घी, दाल इत्यादि खाद्य-सामग्रीका प्रबन्ध कर दें, तो हम आपका बड़ा उपकार मानेंगे । आपकी बड़ी मेहरबानी होगी ।' सरदारके स्वरमें दीनता थी । सभी दस्यु भूखे थे । पण्डितजीने मनमें विचार किया कि भूखे लोगोंको अन्नदान करना गृहस्थका प्रथम कर्तव्य है ।

अतः उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली । वे गाँवको चले गये । दस्यु सरदारने उनके साथ अपने आदमी नहीं भेजे । ऐसा करनेसे वे पुलिसके हाथ पकड़े जा सकते थे । पण्डितजी अपने घर गये । यदि वे चाहते तो डाकुओंको पुलिसके हाथों पकड़वाकर काफी इनाम प्राप्त कर सकते थे; किंतु मानवता, सत्यता, धर्म तथा ईमानदारीको कैसे धोखा दे सकते थे ? उन्होंने किसीसे इस बातका जिक्रतक नहीं किया । घरसे चुपचाप स्वयं ही साथ एक आदमी लेकर एक मन आटा, कुछ घी, दाल आदि सामग्री ले चले । वनमें जाकर दस्युओंके डेरेपर वह सामान पहुँचा दिया ।

दस्युओंने भोजन बनाया । भोजन प्राप्त कर दस्यु-सरदारने पण्डितजीको धन्यवाद दिया । दस्यु सरदार अपने दलसहित आगेको चल दिया और पण्डितजी अपने घरको लौट आये ।

× × × ×

कुछ महीनों पश्चात् एक बार यही पण्डितजी उसी वनकी ओर घूमने जा रहे थे, अकस्मात् वे ही दस्यु फिर इन्हें मिले और पण्डितजीको अपने सरदारके पास ले गये । सरदारने इनको प्रणाम करके कहा—'पण्डितजी ! आपके उस दिनका उपकार हम नहीं भूले हैं—अब हम अपने प्रयत्नसे यह बहुत-सा माल अनेक प्रदेशोंसे लूटकर लाये हैं । आप किसी भी एक सन्दूकको ले लीजिये । उसमें जो भी निकलेगा, आपका होगा । पण्डितजीने लोभ या कौतूहलवश एक सन्दूकपर हाथ रख दिया । उसे खोला गया तो उसमें हजारों रुपयोंका सोना था । सरदारने पण्डितजीको सन्दूक छिपाकर घर ले जानेको कहा ।

अब धर्मभीरु तथा विद्वान् पण्डितजीके मनमें धर्मका भय और 'परद्रव्येषु लोष्टवत्' आदि शिक्षा-सम्बन्धी बातें आने लगीं । गीताके धन और पत्थरमें समानभाववाले गुणातीत व्यक्तिका ध्यान आया । श्लोककी मस्तिष्कमें स्मृति हो आयी ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
(१४ । २४)

वे अपने मनमें विचार करने लगे कि प्रथम तो धन है ही बुरी चीज, फिर यह धन तो लूटका है । जिसका यह धन होगा, उसका मन कितना दुखी हो रहा होगा । ऐसे पापमय धनको ग्रहण कर मैं अपने परिवारको तामसिक स्थितिमें नहीं ले जा सकता । इस धनको लेना घोर पाप है । फिर, भूखेको भोजन देकर उसके बदलेमें धन लेना तो गृहस्थ-धर्मको कलंकित करना है । ऐसा विचारकर पण्डितजीने सरदारको धन लेनेसे एकदम इन्कार कर दिया । सरदारने बहुत आग्रह किया; किंतु पण्डितजी खाली हाथ ही घर लौट गये । यह था दस्यु-सरदारद्वारा उपकारका बदला और धर्मज्ञ पण्डितजीका आदर्श त्याग । इस घटनाको कई वर्षों बाद पण्डितजीने अपने स्वजातीय बन्धुओंको सुनाया था । उन्हीं सुननेवाले बन्धुओंमेंसे एक सज्जनने यह घटना मुझे सुनायी ।

—प्राध्यापक श्याममनोहर व्यास एम्० एस्-सी०

(७)

जुलाहेकी ईमानदारी

इलाहाबादसे लगभग २२-२३ मीलपर एक गाँव है—मऊआइमा। यहाँ अधिकतर जुलाहे रहा करते हैं जो हाथ-करघेसे साड़ियों तथा खंड (ब्लाउजके कपड़े) बनाया तथा बेचा करते हैं। यहाँकी बनी हुई साड़ियाँ तथा ब्लाउजके कपड़ोंकी वैसे तो सभी स्थानोंपर खपत है तथापि महाराष्ट्र एवं गुजरातमें तो यहाँके कपड़ोंकी बहुत ही माँग है।

सन् १९५९ की घटना है। मेरे एक मित्र श्रीनरसिंहदासजीकी कपड़ेकी दूकान है। वे एक दिन साड़ियाँ खरीदनेके लिये मऊआइमा जा रहे थे। रविवारका दिन था, अतः मेरी छुट्टी होनेके कारण मैं भी घूमनेके दृष्टिकोणसे उनके साथ चला गया था। नरसिंहदासजी १७०० रुपयेके सौ-सौके नोट अपने साथ ले गये थे। कोई व्यवस्थित मंडी न होनेके कारण व्यापारियोंको वहाँ जुलाहोंके घर-घर जाकर दस-दस-पाँच-पाँच साड़ियाँ खरीदनी पड़ती हैं। चूँकि जुलाहोंको हाथ-के-हाथ नकद भुगतान करना पड़ता है, इसलिये रुपये साथमें ही लिये रहना पड़ता है।

दिनभर घूम-घूमकर नरसिंहदासजीने माल खरीदा। मैं भी उनके साथ-साथ था। लगभग ५ बजे सायंकाल एक जुलाहेके यहाँ करीब १४५) का माल लिया गया था। चूँकि वहाँसे वापस आनेके लिये लगभग छः बजे गाड़ी मिलती थी, इसलिये जल्दबाजीमें पता नहीं कैसे मेरे व्यापारी मित्रके सौ-सौ रुपयेके तीन नोट उसी जुलाहेके मकानमें गिर गये। परंतु उस समय नोटोंके गिरनेका न तो नरसिंहदासजीको ही ज्ञान था, न मुझे ही और न उस गरीब जुलाहेको ही।

वहाँसे सब साड़ियाँ इत्यादि एक गाँठमें बाँधकर तथा लगेज करवाकर छः बजेवाली गाड़ीसे हमलोग वापस आ गये। दूसरे दिन जब मैं नरसिंहदासजीसे मिला तो वे बहुत दुखी थे। उन्होंने ३००) खो जानेकी घटना मुझे भी सुनायी; सुनकर मुझे भी बड़ा अफसोस हुआ। मैंने कहा कि एक बार मऊआइमा जाकर खोजबीन करनी चाहिये। नरसिंहदासजी निराश हो चुके थे। कहने लगे—'भाई! दुनिया बड़ी बेईमान हो गयी है। यदि किसीको रुपये मिल भी गये होंगे तो वह क्यों लौटायेगा? बेकारमें आने-जानेमें दो-चार रुपये और खर्च हो जायँगे। खोये हुए रुपये तो मिलनेसे रहे।'

लेकिन संतोष न हुआ। दूसरे दिन वे मऊआइमा गये। जिन-जिन जुलाहोंके यहाँ उन्होंने साड़ियाँ खरीदी थीं उनके यहाँ गये परंतु रुपयोंका पता न लगा। कुछ लो कहा भी कि 'लालाजी! आप बेकार परेशान न हों। आ रुपये मिलने बहुत मुश्किल हैं।' निराश होकर तथा सोचकर कि जब आये ही हैं तो सभी जगह पूछ क्यो लिया जाय, नरसिंहदासजी उस जुलाहेके यहाँ भी पहुँच जिसके यहाँ सबके बादमें माल खरीदा गया था। इन्हें दे ही वह जुलाहा, जो कि अपने मकानमें एकदम उदास बै हुआ था, खुश हो उठा तथा मेरे मित्र उससे कुछ पूछें इसके पहले ही वह कहने लगा कि 'लालाजी! कल आप ३००) के नोट मेरे यहाँ गिर गये थे। नोट देखते ही आपको ढूँढ़नेके लिये स्टेशनतक गया भी, परंतु गाड़ी छू चुकी थी। लीजिये अपने रुपये सँभालिये तथा मुझे उऋ कीजिये।' रुपये मिलनेपर नरसिंहदासजीकी खुशीका ठिका न रहा। उन्होंने जब उस गरीब जुलाहेको कुछ इनाम तौरपर देना चाहा तो उसने कुछ भी लेनेसे इन्कार क दिया। उनके बहुत आग्रह करनेपर उस गरीब जुलाहेने शब्द कहे थे वे वास्तवमें एक ईमानदार आदमी ही क सकता है। उसने कहा—'लालाजी! आपके गिरे हुए रु वापस करके तो मैंने अपना फर्ज अदा किया है। यदि आ मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो यह आशीर्वाद दीजिये पराये धनके लिये मेरी नीयत कभी भी खराब न हो।'

दूसरे दिन जब नरसिंहदासजीने मुझे जुलाहेकी ईमा दारीके बारेमें बताया तो मेरा मस्तक भी उस गरीब ए ईमानदार जुलाहेके प्रति श्रद्धासे झुक गया।

—श्यामसुन्दर अग्रवाल एम० काम०, एल्-एल०, बी

(८)

दमाकी सहज दवा

खानेका नमक १॥ (डेढ़) तोला लेकर सुनारकी सो गलानेकी कुठालीमें पकवा लिया जाय। पकनेपर उस भस्मरूप हो जायगा। उस नमकको खरल कर लिया जाय रात्रिको भोजनके बाद दो मुनक्का दाख लेकर उनका बी निकालकर वह १॥-१॥ रत्ती नमक उनमें भरकर गो बना ली जाय। फिर धीरे-धीरे चूसकर दोनों मुनक्का गोलियोंको खा लें। इसके बाद तीन-चार घंटेतक जल न पीना चाहिये। इस प्रकार ५—७ दिन इस औषधका प्रयो करनेपर दमा (श्वास) रोगमें अवश्य लाभ होता है।

—फूलचन्द जैन पु

प्रेमी ग्राहकोंकी सेवामें एक विशेष निवेदन

आपका प्रिय यह मासिक-पत्र 'कल्याण' गत छत्तीस वर्षोंसे अपनी नीतिके अनुसार जनताकी यथासाध्य सेवामें संलग्न है। जन-मानसको संकीर्ण तथा सीमित स्वार्थकी भावनाओंसे ऊपर उठाकर प्राणिमात्रके हितके लिये प्रेरित करना, उच्च चरित्रनिर्माणके द्वारा मानवजीवनको यथार्थ प्रगतिकी ओर अग्रसर करना, अर्थ और अधिकारके स्थानपर त्याग और कर्तव्यकी स्थापना करना तथा सदाचार, संयम, ज्ञान, वैराग्य, निष्कामकर्म, सेवा और सार्वजनिक कल्याणके भावोंका प्रचार करना, महापुरुषोंके चरित्र, आचरण और वाणीके प्रसारद्वारा सबको ईश्वराभिमुखी बनाना, एवं भगवन्नाम-जप-कीर्तन तथा लोककल्याणकारी सच्चे साधनोंका विस्तार करना 'कल्याण'का प्रधान लक्ष्य रहा है। इसके विशेषाङ्कोंको साहित्यकी अमूल्य सम्पत्ति माना जाता है। 'पढ़ो, समझो और करो' शीर्षक स्तम्भमें लोगोंके जीवनको ऊपर उठानेवाली सच्ची घटनाओंका इतना प्रभावोत्पादक वर्णन रहता है कि जिससे बहुत बड़ी संख्यामें लोग सन्मार्गकी ओर प्रवृत्त होते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिंदीके प्रचारमें 'कल्याण'को बहुत बड़ा श्रेय है। हजारों-हजारों अहिंदी-भाषी प्रान्तोंके महानुभाव इसके ग्राहक हैं और चावसे इसे पढ़ते हैं तथा बहुत-से लोग तो 'कल्याण' पढ़नेके लिये ही हिंदी सीखते हैं।

गतवर्षके विशेषाङ्क 'संक्षिप्त-शिवपुराणाङ्क' की १,५१,००० प्रतियाँ छपी थीं। फरवरीसे दिसम्बरतकके अङ्क १,४८,००० की संख्यामें प्रतिमास छापे गये थे। चालू वर्षके विशेषाङ्कके लिये अनेक मित्रोंने ब्रह्मवैवर्तपुराण'के लिये आग्रह किया था। इस पुराणमें पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी अनेक विचित्र मधुर-मधुर लीलाएँ हैं, जिन्हें गा-गाकर भक्तलोग मुग्ध हो जाते हैं और उनका जीवन धन्य ो जाता है। यह सब कुछ होते हुए भी देशकी वर्तमान संकटकालीन परिस्थितिको समझते हुए इस विशेषाङ्ककी केवल १,४१,००० प्रतियाँ छापी गयीं। जिसमें अबतक लगभग १,२०,००० ग्राहक बने हैं। दि चालू वर्षमें लगभग बीस हजार ग्राहक और न बने तो छपे हुए अङ्क पड़े रहेंगे, जिससे संस्थाकी कम रुकी रहेगी और उसे घाटा उठाना पड़ेगा।

पिछले वर्षोंमें लगातार छपाईसम्बन्धी खर्च बढ़े हैं। कागजोंका मूल्य गत जुलाईमें ही बढ़ा है। ार्टपेपरके मूल्यमें लगातार भारी वृद्धि हुई है। कर्मचारियोंका वेतन तथा व्यवस्था-खर्च भी प्रतिवर्ष ढ़ता ही है। सरकारी कर-भार भी बढ़ता ही जा रहा है। संकटकालीन युद्ध-बीमाका भारी खर्च बढ़ गया है। ागजोंपर अन्तःप्रान्तीय बिक्री-कर (Central sales tax) की दर एक प्रतिशतसे बढ़ाकर दो प्रतिशत करनेकी ाषणा हो ही चुकी है तथा इस अङ्कके निकलते-निकलते नये बजटकी कर-वृद्धियोंका भी असर पड़ ही कता है। डाक-दरकी भी समय-समयपर काफी वृद्धि होती रही है। इन सब कारणोंसे 'कल्याण' की ागत और खर्चमें काफी वृद्धि हुई है। फिर भी 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य विशेषाङ्कसहित बहुत वर्षोंसे ही रु० ७.५० चला आ रहा है जिसमें डाक-खर्च भी सम्मिलित है। ऐसी परिस्थितिमें प्रेमी ग्राहकोंकी वामें हमारा अनुरोध है कि प्रत्येक ग्राहक महानुभाव विशेष चेष्टा करके कम-से-कम दो-दो ग्राहक और ना दें तो इन बीस हजार विशेषाङ्कोंका सहज ही बिक जाना तथा ग्राहक-संख्यामें और भी वृद्धि होना ई बड़ी बात नहीं है। 'कल्याण' का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ना चाहिये और गतवर्षका विशेषाङ्क जब ५१,००० छपा है तो चालू वर्षका विशेषाङ्क कम-से-कम उतना तो छपना ही चाहिये। पर यह सब मी ग्राहकोंके प्रयत्नोंपर ही निर्भर है।

आजीवन ग्राहक बनने-बनानेवाले सज्जन 'कल्याण'की विशेष सहायता कर सकते हैं। आजीव ग्राहक-शुल्क केवल एक सौ रुपया है। जो लोग वार्षिक मूल्य साढ़े सात रुपये भेज चुके हैं वे ब साढ़े बानवे रुपये भेजकर चालू वर्षसे ही आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

आशा है कि 'कल्याण'के प्रेमी ग्राहक-अनुग्राहक महानुभाव कल्याणके शुभ प्रचारमें सहायता क की अवश्य कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपु

गीताभवन ऋषिकेश-सत्सङ्गकी सूचना

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका विचार चैत्र वदी ३० (२५ मार्च १९६३) के लगभग गीताभ (स्वर्गाश्रम) पहुँचनेका है। सदाकी भाँति आषाढ़ सुदी १५के लगभग तक उनका वहाँ ठहरनेका विचार

गीताभवन 'सत्सङ्ग'में जानेवालोंको ऐश-आरामकी दृष्टिसे न जाकर सत्सङ्गके उद्देश्यसे ही ज चाहिये तथा सत्सङ्गमें अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिये।

नौकर-रसोइया आदि यथासम्भव साथ लाना चाहिये। ऋषिकेशमें नौकर-रसोइया मिलना क है। स्त्रियाँ पीहर या ससुरालवालोंके साथ अथवा अन्य किसी सम्बन्धीके साथ ही जायँ। अकेली न एवं अकेली जानेकी हालतमें यदि स्थान न मिल सके तो दुःख नहीं करना चाहिये। गहने आदि जोखि चीजें साथ नहीं रखनी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ ले जायँ, जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्र कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथा किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना कठिन है।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त दो बड़ी पुस्तकोंके नये संस्करण

श्रीरामचरितमानस—मोटा टाइप, बृहदाकार, २२×२९ इंच चार पेजी, भाषाटीकासहित रंगीन चित्र ८, पृष्ठ-संख्या सजिल्द, मूल्य १५.००, डाकखर्च ५.६४।

छान्दोग्योपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, ९ रंगीन चित्र, पृष्ठ-संख्या ९६८, सजिल्द, मू० ३.७५, डाकखर्च

पुस्तकें स्थानीय विक्रेताओंसे प्राप्त करनेपर अथवा रेलसे मँगवानेपर भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरख

'कल्याण' नामक हिंदी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म चार—नियम-संख्या—आठ

१-प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२-प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक

३-मुद्रकका नाम—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

४-प्रकाशकका नाम—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

५-सम्पादकका नाम—(१) हनुमानप्रसाद
(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०

दोनोंका राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६-उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। — श्रीगोविन्दभवनकार्याल पता—नं० ३०, बाँसतल गली, कलकत्ता (सन के विधान २१ के अ रजिस्टर्ड धार्मिक सं

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानका विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

मोतीलाल

दि० १ मार्च १९६३

अप्रैल [illegible]

6 APR 1963

6 APR 1963

6 APR 1963

कल्याण

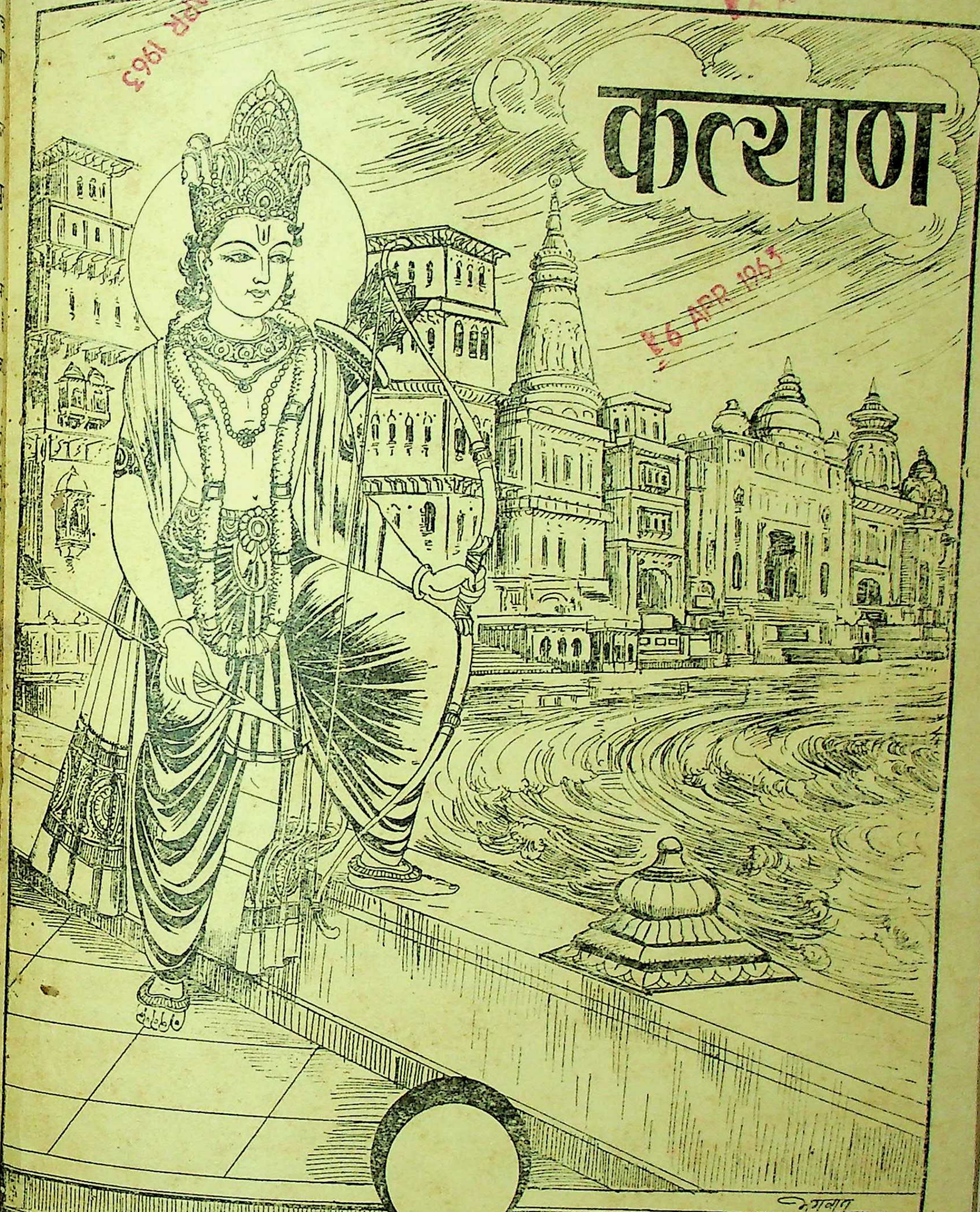

वर्ष २७]

* * *

[अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०२०, अप्रैल १९६३

विषय … पृष्ठ-संख्या

१–रुद्रका तीसरा नेत्र खुला [कविता] … ८११

२–कल्याण (शिव) … ८१२

३–हिंदू-दर्शन (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए० महोदय) … ८१३

४–सुना दे कविवर ऐसा गान [कविता] (श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-ऐट-लॉ) … ८१८

५–भगवान्‌के स्वभावका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ८१९

६–श्रीराम (श्रीहरेशचन्दजी अग्रवाल, एम्० ए०, बी० टी०) … ८२४

७–मोहमेघाच्छन्नता (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') … ८२९

८–संस्कृतिका भारतीय तत्त्व (डा० श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, न्यूयार्क) … ८३०

९–मधुर … ८३१

१०–सबमें सब ओर श्यामसुन्दर [कविता] ८३३

११–भारतीय मूर्तियाँ और चित्र आपको प्रेरक शान्तिसंदेश देते हैं (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न: विद्याभास्कर) … ८३४

१२–मानव-देह किसलिये? (श्रीलक्ष्मीनारायणजी 'अलौकिक') … ८३७

१३–कोप या कृपा [कहानी] (श्री 'चक्र') ८३८

१४–विज्ञानके आलोकमें शक्तिका स्वरूप (डॉ० कैलाशनाथजी मिश्र एम्० डी०, एम्० बी०, एच्० ए०) … ८४०

१५–रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम्० ए०, साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०) … ८४५

१६–प्रेयसकी गन्ध महकाओ फिर [कविता] (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण' एम्० ए०) ८४८

१७–दीपावली-विज्ञान (श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव') … ८४९

१८–विवेकानन्द और भारतीय धर्म तथा संस्कृति (श्रीशशिधरजी शर्मा शास्त्री, सर्वदर्शनाचार्य, एम्० ए०) … ८५२

१९–सूरदासकी सगुण भक्ति (श्रीहरनारायणजी टंडन 'स्वामीजी') … ८५७

२०–ईश्वरमें विश्वास (श्रीलक्ष्मणस्वरूपजी माहेश्वरी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ८५९

२१–अन्तःकरण-शुद्धि [परम पूज्यपाद पं० श्रीपुरुषोत्तमनारायण नागरजी महाराजका सदुपदेश] (प्रेषक—श्रीभगवानदास झा 'विमल' एम्० ए०, बी० एस्-सी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न) … ८६२

२२–मौनं चैवास्मि गुह्यानाम् (श्रीभगवानदीनजी मिश्र एम्० ए०) … ८६४

२३–मैं प्रस्तुत हूँ—(श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) … ८६६

२४–माका खेल (प्रेषक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय) … ८६७

२५–पढ़ो, समझो और करो … ८७१

चित्र-सूची

१–दशरथराजकिशोर … … (रेखाचित्र) … मुखपृष्ठ

२–रुद्रका तीसरा नेत्र खुला … … (तिरंगा) … ८११

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्र
भारतमें .४
विदेशमें .
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

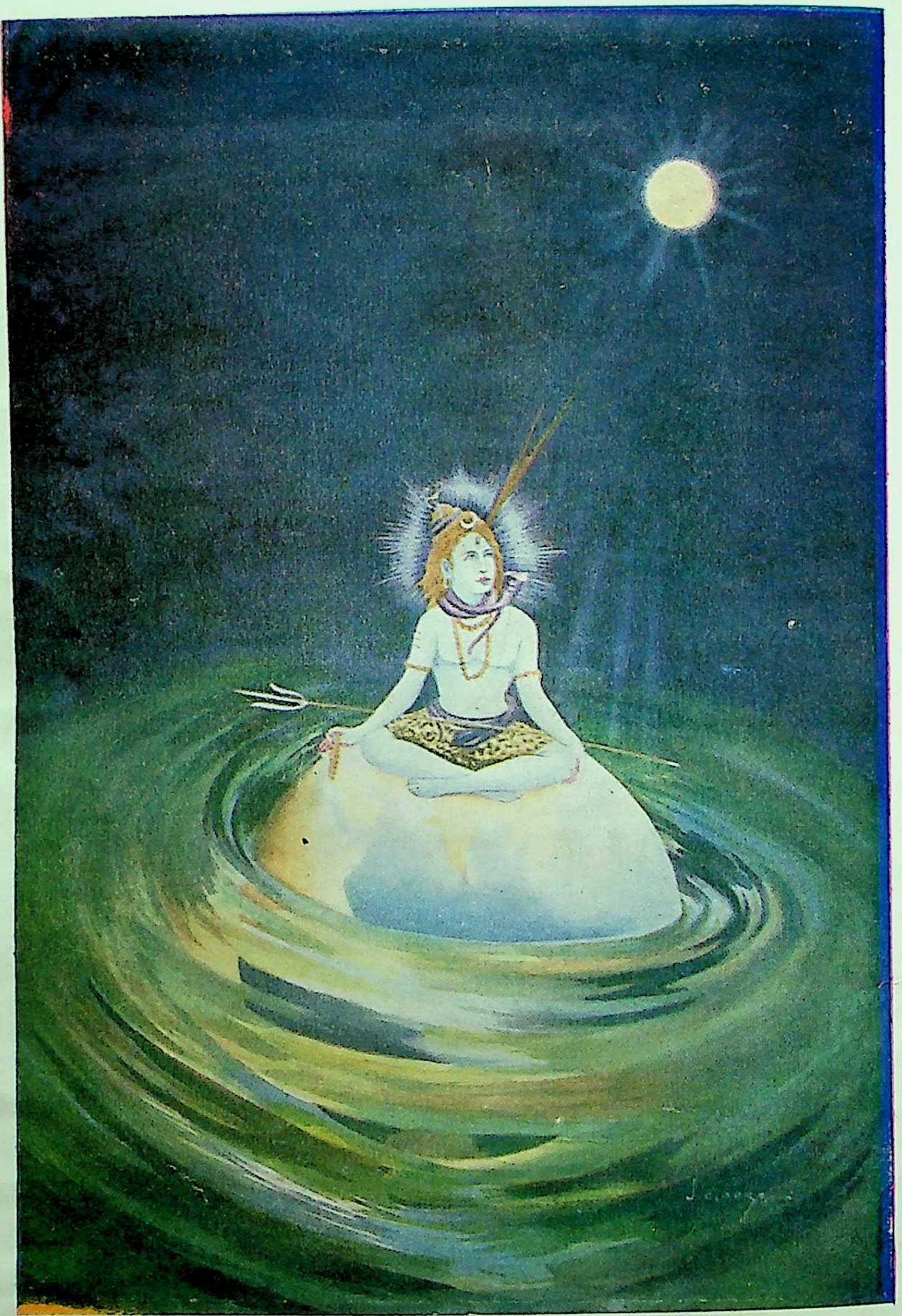

रुद्रका तीसरा नेत्र खुला

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

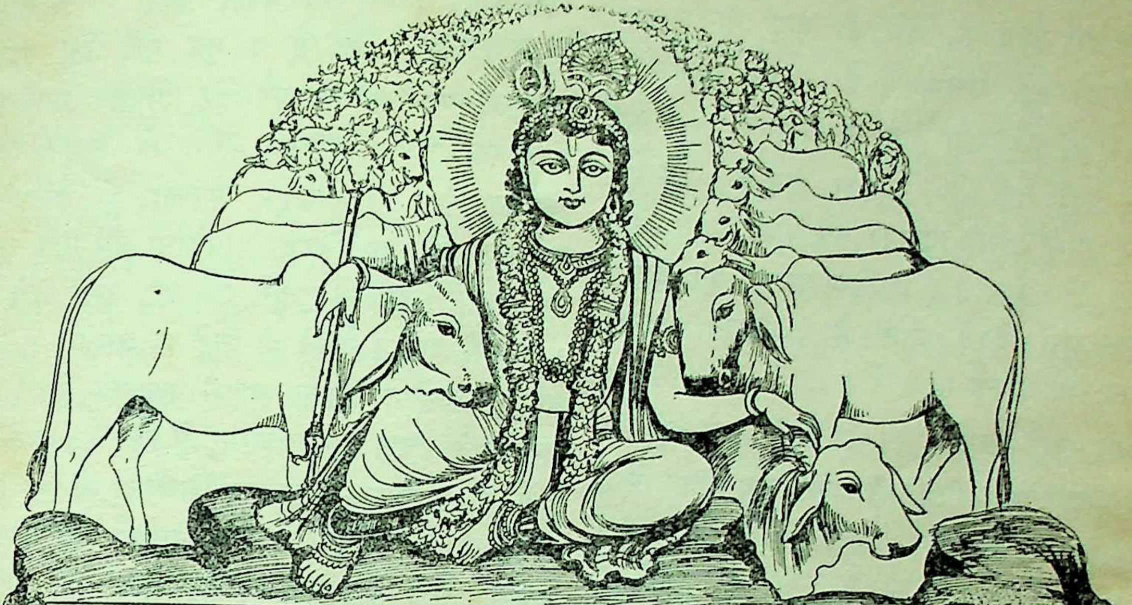

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ गोरखपुर, सौर वैशाख २०२०, अप्रैल १९६३ संख्या ४
पूर्ण संख्या ४३७

रुद्रका तीसरा नेत्र खुला

खुलता नेत्र तीसरा भीषण उठता विषम रौद्र-रस जाग ।
करता दहन दुष्ट दुर्दान्तोंका बरसा प्रलयंकर आग ॥
शीतल ज्योति-सुधा-धारासे हरता सब जनके संताप ।
मंगल धर्मस्थापन होता, मिटते सारे जगके पाप ॥

याद रक्खो—जैसे शरीर कुमार, तरुण और वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है, वैसे ही मृत्यु भी वास्तवमें शरीरकी ही एक अवस्थामात्र है । इस शरीर-आत्म-वियोगको ही मृत्यु कहा जाता है, वास्तवमें मृत्यु कोई भयंकर वस्तु नहीं है । देहान्तर मात्र है । जैसे एक आदमी पुराने कपड़े त्यागकर नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही जीवात्मा (प्रकृतिस्थ पुरुष) एक देहको छोड़कर दूसरे देहमें जाता है । वस्तुतः आत्मा स्वरूपतः ज्यों-का-त्यों रहता है ।

याद रक्खो—मृत्युसे तुम इसीलिये डरते हो कि तुमने पाञ्चभौतिक शरीरको ही अपना रूप मान रक्खा है । शरीर जड है; वह माताके उदरमें बनता है । और जो कभी बनता है, वह नष्ट होगा ही । उसका विनाश उसकी उत्पत्तिकी भाँति ही सहज स्वाभाविक है । तुम्हारा जो असली आत्मस्वरूप है वह तो नित्य है; कौमार, यौवन, जरा, व्याधि, मरण आदिसे सदा ही मुक्त है । इसलिये मृत्युसे डरनेका कोई कारण ही नहीं है । यह केवल अज्ञानमात्र है ।

याद रक्खो—यह शरीरकी मृत्यु भी तभीतक होती है, जबतक जीव परिवर्तनशील और अनित्य प्रकृतिके परिणामोंमें स्थित होकर, उनमें मिथ्या तादात्म्य मानकर उन्हींको अपना स्वरूप मान रहा है । जिस क्षण तुम्हें यह भान हो जायगा—तुम यह जान लोगे कि ये सारे परिवर्तन प्रकृतिके परिणाम मात्र हैं, मैं तो सदा निर्लिप्त इन सबका द्रष्टामात्र हूँ—उसी क्षण तुम जन्म-मृत्युके बन्धनसे मुक्त हो जाओगे । जो बन्धन वास्तवमें है नहीं, माना हुआ ही है ।

याद रक्खो—यह प्रकृति और इसके परिणाम भी जिस स्वरूपमें तुम इन्हें देख रहे हो, उस स्वरूपमें यथार्थतः नहीं हैं । यह सब माया है या ये लीलामय प्रभुके खेलमात्र हैं । वे ही स्वयं खेल, खिलौना और खेलनेवाले बने यह सब लीला कर रहे हैं । जन्म भी उन्हींका एक लीला-स्वरूप है और इसी प्रकार मृत्यु भी । मृत्युके रूपमें वही प्रकट होते हैं । तुम यदि इस बातको जानकर, मृत्युके स्वाँगमें आये हुए प्रियतम भगवान्‌को पहचानकर उनका आलिङ्गन करोगे तो मृत्युकी सारी भीषणता परम सुखरूपतामें परिणत हो जायगी । तुम भगवान्‌के साथ मिलकर परम धन्य और नित्य सुखी हो जाओगे । इसलिये मृत्युसे डरो मत, उसमें छिपे हुए भगवान्‌को देखो । देखते ही उन्हें पा जाओगे । जबतक तुम उन्हें न देखकर बाहरी सज्जाको देखते हो, तभीतक वे प्रत्यक्ष होनेपर भी तुमसे छिपे हैं; ज्यों ही तुमने उनको देखा—पहचाना कि फिर तो वे नित्य प्रत्यक्ष ही हैं । वे ही वे हैं—सर्वत्र, सर्वदा, सभी रूपोंमें, सभी अवस्थाओंमें और सभी नाम-रूपोंमें ।

याद रक्खो—मानव-जीवनकी सफलता भी इसीमें है । मानव-जीवन मिला ही इसलिये है कि इसमें आकर जीव प्रकृतिके मिथ्या बन्धनसे मुक्त हो जाय, वह अपने स्वरूपको प्राप्त करके 'जीव'से नित्य आत्मा बन जाय । नित्य आत्मा तो सदा है ही, 'जीव'की मान्यता ही उसे अपने स्वरूपसे वञ्चित रख रही है । इसीसे वह नित्य स्वरूपमें स्थित होनेपर भी—स्वस्थ होनेपर भी अस्वस्थ ही है ।

याद रक्खो—जो 'प्रकृतिस्थ' है—प्रकृतिमें स्थित है, वही अस्वस्थ है और जो आत्मस्वरूपमें स्थित है—आत्मस्थ है वही स्वस्थ है । स्वस्थताकी पहचान है जगत्के समस्त प्राणि-पदार्थ-परिस्थितियोंमें समभावसे सदा एकमा परमात्माको देखना, परमात्माको उपलब्ध करना विविध व्यवहारस्थलोंमें व्यवहार-भेद होते हुए एकमात्र नित्य अभिन्न परमात्माका अभिन्न स्पर्श प्रा करना । यह स्वस्थता ही मानव-जीवनका लक्ष्य है औ इसीको प्राप्त करानेवाले विचार तथा क्रियाओंका ना ही सच्ची साधना है ।

'शिव'

हिंदू-दर्शन

(लेखक--श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए० महोदय)

'दर्शन' शब्दका साधारण अर्थ है—देखना। इसका पारिभाषिक अर्थ तत्त्वविज्ञान है। साधारण अर्थसे ही पारिभाषिक अर्थकी उत्पत्ति हुई है। हमलोगोंने देखनेकी शक्ति लेकर जन्म ग्रहण किया है। हमारे सामने एक विशाल दृश्य-जगत् विद्यमान है। स्वभावतः ही हम यहाँ विविध विचित्र पदार्थोंका दर्शन करते रहते हैं। यह देखना जितना ही विस्तारको प्राप्त करता जाता है एवं साथ-ही-साथ हमारी बुद्धिका जितना ही विकास होता जाता है, उतना ही हम अनुभव करते हैं कि हमारा यह स्वाभाविक देखना तो नितान्त ही असम्पूर्ण है, इस देखनेके द्वारा तो द्रष्टव्य जगत्के साथ हमारा यथार्थ परिचय नहीं होता, इस देखनेको तो वस्तुतः देखना ही नहीं कहा जा सकता। अपने आसपासके पदार्थों तथा व्यापारोंको देखते-देखते हमारी बुद्धिमें नाना प्रकारके प्रश्न उठते रहते हैं एवं केवल इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोग होनेसे उन प्रश्नोंका समाधान नहीं होता। जागतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश देखते-देखते हमारी बुद्धिमें यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये सब कहाँसे उत्पन्न होते हैं एवं फिर कहाँ विलीन हो जाते हैं ? दृश्यमान प्रत्येक पदार्थका ही किसी-न-किसी कारणसे उत्पन्न होनेका स्वभाव देखकर असंख्य पदार्थोंके समष्टि-स्वरूप समस्त जगत्के ही कारणका पता लगानेकी प्रवृत्ति हमारे अंदर उत्पन्न होती है। इस कार्य-कारण-सम्बन्धका निर्णय करके जबतक पदार्थोंके स्वरूपकी जानकारी नहीं हो जाती, तबतक बुद्धि इस बातको स्वीकार नहीं करती कि उनका यथार्थ परिचय मिल गया, मनमें यह बात नहीं आती कि उनको पूर्णरूपसे देख लिया गया। समस्त जगत्के कारणका आविष्कार न कर सकनेतक यह बोध नहीं होता कि जगत्का परिचय मिल गया, बुद्धिमें यह अनुभव नहीं होता कि जगत्को देख लिया गया।

जागतिक व्यापारोंको देखते-देखते, उनमें रहा हुआ अद्भुत अखण्डनीय नियम-शृङ्खलाका राजत्व हमारी दृष्टिको आकर्षित करता है, सर्वत्र निर्माण-ध्वंसके अंदर भी एक ऐक्य और सामञ्जस्यको देखकर हम विमोहित हो जाते हैं। इस नियम-शृङ्खला और ऐक्यसूत्रका पता लगानेके लिये एवं उनके मूलका अनुसंधान करनेके लिये बुद्धिमें एक स्पृहाका उदय होता है। स्वभावतः ही यह जिज्ञासा होती है कि किस अलक्ष्य शक्तिके द्वारा सुनियत विधानसे यह जगत् परिचालित हो रहा है—इस जगत्का नियन्ता कौन है ? उन सारे नियमोंको और उनके अन्तरालमें विद्यमान नियन्त्रण करनेवाली शक्तिको भलीभाँति देख लिये विना विकसित बुद्धिको इस बातका संतोष नहीं हो सकता कि जगत्को सम्यक्रूपसे देख लिया गया।

वाहरकी ओरसे दृष्टि फिराकर अपनी ओर दृष्टिपात करनेपर भी अनेकों समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। देहके इतने परिणाम, वृद्धि और क्षयके अंदर भी हमें इस बातका अनुभव होता है कि, 'मैं एक ही हूँ'—यह मैं कौन है ? इन्द्रियोंके विकार और हानि, मनके भाव और अवस्थाओंके परिवर्तन, ज्ञानकी ह्रास-वृद्धि—इन सबमें भी मेरे मैंपनका एकत्व नष्ट या क्षुण्ण नहीं होता; यह मैं कौन है ? इस मैंका भलीभाँति परिचय पाये विना हमारा अपने-आपको ही देखना नहीं बना। फिर, मेरे साथ इस जगत्का, जागतिक पदार्थोंका, जगत्कारण और जगन्नियन्ताका यथार्थ सम्पर्क क्या है ? मेरे अंदर जिस ज्ञानकी प्रेरणा, कर्मकी प्रवृत्ति और भावके उच्छ्वासका मैं अनुभव करता हूँ—ये सब भी कहाँसे आते हैं, मेरे साथ इनका क्या सम्बन्ध है और इनकी सार्थकता किसमें होती है। मेरे अंदर श्रेय और प्रेय, उचित और अनुचित, न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म, अच्छे और बुरेका एक भेदवोध नित्य विद्यमान है, एवं बुद्धिविकासके साथ-साथ इस बोधका भी विकास होता रहता है। सचमुच ही इस भेदका कोई आधार है या नहीं ? यदि है, तो उस आधारका स्वरूप क्या है ? हमारे जीवनका आत्यन्तिक श्रेय क्या है ? क्या जान लेनेपर हमारे ज्ञानकी सम्यक् पूर्णता होगी, क्या करनेपर हमारे कर्मकी सम्यक् सार्थकता होगी और क्या प्राप्त कर लेनेपर हमारी चाहोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति होगी ? इन सारी समस्याओंके समाधानके विना हमारा अपनेको अपने परिपूर्णरूपमें देखना नहीं बनता।

इस प्रकार अपनेको और जगत्को देखते-देखते हमारी बुद्धिके उत्कर्षके साथ-साथ जिन सब गम्भीर समस्याओंकी उत्पत्ति होती है, उन सारी समस्याओंका समाधान हो जानेपर

जब देखना होता है, तभी दृश्य विषयोंका यथार्थ परिचय प्राप्त होता है एवं तभी यथार्थ देखना भी होता है। इस प्रकारसे देखना ही 'दर्शन' शब्दका पारिभाषिक अर्थ है। इसीका नाम 'तत्त्वविज्ञान' है। इस प्रकार देखनेके लिये जैसे इन्द्रियोंका सुनियत व्यवहार आवश्यक है, इसीके साथ युक्ति-विचार भी बहुत बड़ी मात्रामें आवश्यक है। प्रत्यक्ष विषयोंके ऊपर विचारशक्तिका सुनियन्त्रित प्रयोग किये जानेपर उनके तत्त्वका दर्शन या रहस्यका उद्घाटन होता है। अतएव सुनिपुण न्यायसङ्गत विचारके द्वारा समस्त पदार्थोंके—आत्मानात्ममय चेतनाचेतनमय समग्र विश्वके मूलतत्त्वके अन्वेषण और आविष्कार करनेका नाम ही है—दर्शनशास्त्र। मानवीय बुद्धिकी पूर्ण सत्यको देखनेकी स्पृहा, उसके लिये यथोचित उपायोंका उद्भावन, परिपूर्ण सत्यका आदर्श रूप—ये सभी दर्शनशास्त्रके रूपमें प्रकट होते हैं। इसीको तत्त्वविज्ञान, तत्त्वमीमांसा आदि नाम दिये गये हैं। इस प्रकार पारिभाषिक अर्थमें 'दर्शन' शब्दका व्यवहार कितना प्राचीन है, इसे ठीक-ठीक बताना कठिन है। तथापि इतना तो एक प्रकारसे सुनिश्चित है कि महाभारतके पूर्वसे ही ऐसा प्रयोग चला आ रहा है।

बहुत-से विचारशील मनीषियोंका यह मत है कि जिस प्रकार व्यक्ति-जीवनमें बुद्धिका क्रम-विकास होता है, उसी प्रकार जाति-जीवनमें भी बुद्धि क्रमशः विकासको प्राप्त होती है। जातीय जीवनमें बुद्धिके जिस परिमाणमें उत्कर्ष प्राप्त कर लेनेपर जीव और जगत्-सम्बन्धी चरम और परम तत्त्वके दर्शनके लिये जो आग्रह उत्पन्न होता है एवं यथोचित अनुशीलन और दृष्टिके सम्यक् शोधनके द्वारा उस तत्त्वके सम्बन्धमें एक सुनिष्पन्न सुस्पष्ट मतका निर्माण होता है, हिंदू-जातिके जीवनमें बुद्धिका तदनुरूप विकास किस सुप्राचीन युगमें हुआ था, इस बातका ऐतिहासिक रूपसे निश्चय करना तो असम्भव ही जान पड़ता है। हिंदुओंका प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। समग्र मानव-जातिमें भी उसका समकालीन अथवा कुछ ही बादका दूसरा कोई भी ग्रन्थ नहीं है और कभी था इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऋग्वेदमें ही इस बातका निर्विवाद प्रमाण विद्यमान है कि उस प्रागैतिहासिक युगमें भी आर्य मनीषिगण इन चरम तत्त्वोंके सम्बन्धमें केवल गवेषणा ही नहीं करते थे, बल्कि सुनिपुण विचारसिद्ध निश्चय भी करते थे।

इस दार्शनिक गवेषणाके क्रमविकासके फलस्वरूप वेदके अन्तर्भाग (वेदान्त) उपनिषद्में मनुष्यके ज्ञातव्य, कर्तव्य, प्राप्तव्य और भोक्तव्य विषयोंके सम्बन्धकी चरम समस्याओंके ऐसे कितने ही समाधान मिलते हैं, जिनका अतिक्रम करनेमें किंवा जिनके अंदर भूल दिखानेमें आर्यमनीषाकी परवर्तीकालीन युगयुगान्त-व्यापिनी विचारसाधना और तत्त्व-समालोचना कभी समर्थ नहीं हुई, बल्कि नतमस्तक होकर उसे मान लेनेको ही बाध्य हुई। कालक्रमसे वेदोपनिषद्के सिद्धान्तोंने आप्तवाक्य, ईश्वरवाक्य या अपौरुषेय स्वतःसिद्ध वाणीके रूपमें गृहीत होकर, चरम तत्त्वके सम्बन्धमें प्रत्यक्षानुमानादि सर्वविध प्रमाणोंके ऊपर स्थान प्राप्त किया। विचार-बुद्धि विभिन्न दृष्टिकेन्द्रसे, विभिन्न प्रणालियोंका अवलम्बन करके, नानाविध तर्कयुक्तियोंकी सहायतासे नाना प्रकारके वाद-प्रतिवादके माध्यमसे जितनी ही परम सत्यकी ओर—ज्ञानकी चरम सार्थकताकी ओर अग्रसर होती है, उतना ही वेदोपनिषद्के ऋषियोंद्वारा आविष्कृत तत्त्वसमूह समर्थित होते हैं।

मानवबुद्धिके साधनक्षेत्रमें अभिज्ञताका विस्तार, पारिपार्श्विक अवस्थाकी जटिलता, मनोवृत्तिका वैचित्र्य, विभिन्न प्रकारकी वासना-कामना-रुचि-प्रकृतिके संघर्षके फलस्वरूप मतभेद और संशय जितने ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं, प्रमाणकी दृढ़ता और तर्कयुक्तिका बाहुल्य भी उतना ही अधिक आवश्यक हो जाता है। सब प्रकारके संदेहोंके निराकरण और विरोधी मतोंके खण्डनके बिना किसी विशेष सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं होता। इस प्रयोजनसे ही दर्शनशास्त्रकी परिपुष्टि होती रहती है।

उपनिषदोंके युगमें भी तत्त्वसम्बन्धी कितने ही प्रकारके संशय और मतभेद उपस्थित थे, ऋषियोंमें इ सम्बन्धमें कितने वाद-विवाद होते थे, कितने प्रमाण, प्रयो और युक्तितर्कोंकी अवतारणा होती थी, सभा करके कि प्रकार किसी एक मीमांसापर पहुँचनेकी प्रचेष्टा होती थी इन बातोंका छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों सुस्पष्ट निदर्शन मिलता है। महाभारतमें उल्लेख मिलता है कि विभिन्न मतोंके हजारों-हजारों आचार्य जनकादि तत्त्व जिज्ञासु विद्योत्साही नरेन्द्रोंके प्रासादोंमें एकत्रित हो विरोधी सिद्धान्तोंका खण्डन करके अपने-अपने सिद्धान्तों श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करनेका प्रयास करते थे। उस अति प्राची युगमें ही दार्शनिक मतवादोंके इतने वैचित्र्य उत्पन्न हो गये थे कि जनसमाजमें धारणा ही बन गयी थी 'नासौ **मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्** ।' मतवादोंके वैचित्र्य भी जि

प्रकार हुए थे, उसी प्रकार समन्वयके प्रयत्न भी हुए थे। अन्य मतावलम्बियोंके मतोंकी भ्रान्तियोंका युक्तितर्ककी सहायतासे प्रदर्शन करके उनको अपने मतमें ले आनेके प्रयत्न भी होते थे एवं बहुत-से लोग अपने मतकी भ्रान्तिको समझकर दूसरे मतको ग्रहण भी कर लेते थे। प्रचलित दार्शनिक ग्रन्थोंमें ऐसे अनेक मत पूर्वपक्ष रूपमें उपन्यस्त हुए हैं एवं ऐसे अनेक मत अपने-अपने मतोंके पोषक-रूपमें उल्लिखित हैं, जिनका वर्तमानमें दूसरा कोई निदर्शन नहीं मिलता।

विभिन्न मतवादोंकी तुलनामूलक दार्शनिक आलोचनाओंके फलस्वरूप जितने मतवाद युक्तिसंगत नहीं प्रतिपन्न हो सके, जिन मतवादोंके पक्षका समर्थन करनेके लिये असाधारण शक्तिशाली आचार्योंका आविर्भाव नहीं हुआ एवं जिन मतवादोंको नये-नये विरोधी मतोंके आक्रमणसे बचानेके लिये उपयुक्त सम्प्रदाय गठित नहीं हुए, वे सभी मतवाद दुर्बल होकर विनाशको प्राप्त हो गये एवं उनके अन्तर्भुक्त तात्त्विक सत्य-सिद्धान्तसमूह दूसरे प्रबलतर मतोंमें सम्मिलित हो गये। आर्योंके समाजमें जो दार्शनिक मतवाद प्राधान्य और प्रसार प्राप्त कर सके एवं सम्प्रदाय-गठनद्वारा आचार्यशिष्यपरम्परा क्रमसे प्रचलित रहकर आत्मरक्षा और आत्मपुष्टि कर सके, उनमें सांख्य और योग, न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा (पूर्वमीमांसा) और ब्रह्म-मीमांसा (उत्तरमीमांसा वा वेदान्त)—ये षड्दर्शनके नामसे लोकप्रसिद्ध हुए। इनमेंसे प्रत्येककी ही भाष्य, टीका, वृत्ति, व्याख्या, निबन्ध आदिके माध्यमसे विरोधी मतके खण्डन और आत्ममतके समर्थनमें प्रयोग होनेके कारण खूब परिपुष्टि हुई। उनमेंसे हिंदू-समाजकी विचारधारा, भावधारा और कर्मधारापर वेदान्त-दर्शनका प्रभाव सर्वापेक्षा अधिक पड़ा। इस समाजमें जितने भी धर्म-सम्प्रदाय गठित हुए, प्रायः सभी ही वेदान्तदर्शनकी तत्त्वमीमांसाके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। उन सब धर्म-सम्प्रदायोंके आचार्योंने अपनी-अपनी बुद्धि, रुचि और आध्यात्मिक अनुभूतिके अनुसार वेदान्त-दर्शनकी विभिन्न व्याख्याएँ की हैं एवं इन व्याख्याओंके माध्यमसे वेदान्त-दर्शन नाना शाखाओंमें विभक्त हो गया है एवं हिंदू-समाजमें दार्शनिक गवेषणाका भी प्रसार हुआ है। वेदान्त-दर्शनको भित्ति न बनाकर भी अनेक धर्म-सम्प्रदाय गठित हुए हैं। उनकी भी भित्तिमें दार्शनिक मत हैं; किंतु वेदान्तानुगत न होनेके कारण वे समाजमें उपधर्म माने गये हैं।

इन दार्शनिक मतवादोंके बीच पौर्वापर्य-निर्धारण करना अतिशय कठिन है,—असम्भव कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। वर्तमानमें प्रत्येक दर्शन-शास्त्रके आदिमें एक-एक सूत्रग्रन्थ पाया जाता है एवं इनके सूत्रकारोंके नाम भी प्रचलित हैं। किंतु इन सब सूत्रग्रन्थोंसे सूत्रित मतवादोंका जन्म-निर्देश करना समीचीन न होगा। एक-एक मतवाद विभिन्न दार्शनिक मुनियोंकी गवेषणा एवं अन्यान्य मतवादोंके साथ वादप्रतिवादके माध्यमसे पर्याप्त मात्रामें विकास और परिपुष्टि प्राप्त करनेके बाद, सूत्राकारमें उनके सिद्धान्त, प्रयोजन, विचार-प्रणाली, आपत्तिखण्डन, विरोधी मतोंका निरसन आदि सभी विषय संक्षेपमें ग्रथित हुए हैं। प्रत्येक दर्शनके सूत्रग्रन्थोंमें दूसरे-दूसरे दर्शनोंके मतवाद और विचार-पद्धतिका उल्लेख और समालोचनाएँ देखी जाती हैं, एवं स्वकीय और परकीय मतोंके पोषक प्राचीन आचार्योंके भी उल्लेख पाये जाते हैं। सुतरां दार्शनिक मतवादकी दृष्टिसे कौन-सा पहलेका है और कौन-सा बादका, इस बातका निर्णय सूत्रग्रन्थोंके प्राचीनत्वकी आलोचना करके नहीं किया जा सकता। उपनिषद्, महाभारत, बौद्धग्रन्थ आदिसे प्रमाणित होता है कि सांख्य-दर्शन अतिशय प्राचीन है, किंतु इसके प्रचलित सूत्रग्रन्थ अपेक्षाकृत आधुनिक हैं। मतवादोंके प्राचीनत्वकी तुलनामें प्राचीनतम सूत्रग्रन्थ भी अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। किंतु मतवादकी आलोचनाके समय उन सूत्रग्रन्थोंको ही उन-उन दर्शनोंके प्रामाण्य ग्रन्थके रूपमें ग्रहण करना पड़ता है, जिसके कारण प्राचीनतर दार्शनिक ग्रन्थ किंवा दार्शनिक मत-विकासका विवरण अनेक क्षेत्रोंमें लुप्त हो गया है।

दार्शनिक तत्त्वालोचना करनेके लिये, प्रथमतः कतिपय प्रमाणोंको स्वीकार कर लेना पड़ता है, एवं सत्य-मिथ्या-निरूपणके कसौटीस्वरूप कतिपय सार्वजनीन नियमोंको भी मान लेना आवश्यक होता है। जिसके द्वारा प्रमा या प्रकृष्ट ज्ञान उत्पन्न हो, सत्यका यथार्थ परिचय प्राप्त हो, उसीका नाम है—'प्रमाण'। प्रमाणोंमें पहला है 'प्रत्यक्ष'—अर्थात् इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संनिकर्षसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान। यह सर्ववादिसम्मत है एवं दूसरे सभी प्रमाण प्रत्यक्षके ऊपर बहुत कुछ निर्भर करते हैं। दूसरा प्रमाण है 'अनुमान'।

पूर्वलब्ध किसी ज्ञानके ऊपर निर्भर करके जब किसी नये तत्त्वका परिचय प्राप्त होता है, तब उसको अनुमान कहा जाता है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंमें भ्रान्ति हो सकती है। भ्रम, प्रमाद, करण-पाटव, विप्रलिप्सा आदिके कारण प्रत्यक्ष लब्ध ज्ञान भी दूषित हो सकता है, अनुमानजनित ज्ञान भी मिथ्या हो सकता है। तथापि ज्ञानके लिये हम लोगोंको प्रत्यक्ष और अनुमानके ऊपर ही निर्भर रहना पड़ता है। अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय प्रत्यक्षके अतिरिक्त सभी प्रकारके ज्ञानको अनुमानके ही अन्तर्भुक्त मानते हैं और कोई-कोई दार्शनिक सम्प्रदाय अनुमानका संकीर्ण अर्थमें व्यवहार करके उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य आदिको भी अलग प्रमाणरूपमें ग्रहण करते हैं। किंतु प्रत्येक प्रमाणकी ही परीक्षा कर लेनी पड़ती है; क्योंकि भ्रान्तिकी सम्भावना सर्वत्र रहती है।

हिंदू दार्शनिकोंका एक विशिष्ट लक्षण यह है कि वे वेदको एक स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें ग्रहण करते हैं एवं अतीन्द्रिय तत्त्वके सम्बन्धमें इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तदुपजीवी अनुमानादिकी अपेक्षा उसको श्रेष्ठतर प्रमाण मानते हैं। उनका विश्वास है कि वेदके तात्पर्यसमूह या प्रतिपाद्य तत्त्वसमूह और विधिनिषेधसमूह ऋषियोंके प्रत्यक्षीकृत सत्य हैं। कहना न होगा कि वेद शब्दसे वे ग्रन्थ-समष्टिको नहीं समझते थे, बल्कि तन्निहित सत्यसमूहको ही समझते थे। ये सब सत्य सनातन हैं। इन्हीं सनातन सत्योंके ऊपर प्रतिष्ठित होनेके कारण हिंदूधर्म 'सनातन' धर्मके नामसे प्रसिद्ध है। दार्शनिक सम्प्रदायोंमेंसे मीमांसकोंका कहना है कि इन सत्योंका प्रसार विश्वप्रवाहके ही समान नित्य है, ये सब सनातन नीतियाँ आचार्य-शिष्य-परम्पराक्रमसे सदासे ही मानव-समाजमें चली आ रही हैं। वेद अपौरुषेय और नित्य हैं। न्याय और वैशेषिक वेदको स्वयं ईश्वरकी वाणी मानते हैं। उनके मतमें वेद पौरुषेय हैं, किंतु हमलोगोंके समान किसी पुरुषविशेषके द्वारा रचित नहीं हैं, अपितु स्वयं ईश्वरके नित्य ज्ञानके भण्डारसे प्रवाहित हैं। बहुत लोग कहते हैं कि वेद ईश्वरद्वारा सृष्ट या रचित नहीं हैं, किंतु ईश्वर-ज्ञानमें नित्य प्रकाशित हैं। वे वेदके कर्ता नहीं ज्ञातामात्र हैं। कोई भी हिंदू दार्शनिक चाहे जिस किसी प्रकारकी युक्तिके द्वारा वेदके प्रामाण्यका प्रतिपादन क्यों न करे, वेदके प्रामाण्यको स्वीकार कर लेनेके सम्बन्धमें सभी एकमत हैं। जो-जो दर्शन उसे स्वीकार नहीं करते, वे सब हिंदू-समाजमें नास्तिक दर्शन माने जाते हैं।

वैदिक वाक्योंका ब्रह्मसूत्रादि दार्शनिक ग्रन्थोंमें अनेक स्थलोंपर श्रुति, दर्शन, प्रत्यक्ष आदि नामोंसे उल्लेख किया गया है। वेदके अन्तभागका नाम है—'उपनिषद्'। उपनिषद्में ही वेदके चरम तात्पर्यसमूह, अन्तिम सिद्धान्त-समूह, गभीरतम तत्त्वसमूह निहित हैं और गुरु-शिष्य-परम्परासे उपदिष्ट होते हैं। इसीलिये उपनिषद् वेदान्त नामसे प्रसिद्ध हैं। हिंदू दार्शनिकोंमें उपनिषदोंके वाक्य श्रेष्ठतम प्रमाण माने जाते हैं। इनके बाद वेदान्तका अनुसरण करनेवाली स्मृतियोंको भी वे लोग प्रमाण मानते हैं। स्मृतियोंमें गीताका स्थान सर्वोच्च है और उसके विषयमें यह साधारण विश्वास है कि वह स्वयं भगवान्की वाणी है। किसी-किसी दार्शनिक सम्प्रदायमें आगमसमूहको भी प्रमाण माना जाता है। इनके अतिरिक्त हिंदू-दार्शनिकोंके विचारक्षेत्रमें योगियोंके प्रत्यक्ष, महापुरुषोंकी समाधिलब्ध प्रज्ञा और उन्नत साधकोंकी अलौकिक अनुभूतिको भी बहुधा प्रमाणरूपमें उपस्थित किया जाता है।

इस प्रकार शास्त्रप्रमाण स्वीकार करनेके मूलमें एक सुदृढ़ युक्ति है; अर्थात् इस दृढ़ भित्तिके अभावमें सत्यान्वेषणके विचाररूपी प्रासादका खड़ा करना सम्भव न होगा। अपने इन्द्रिय-प्रत्यक्षके ऊपर निर्भर रहकर हम चाहे जितना भी युक्तिविचार कर लें, उसके द्वारा जीव और जगत्के पारमार्थिक स्वरूपको हम कभी नहीं जान सकते एवं जान सकनेके लिये जिस प्रकारके विधिनिषेधका अनुवर्तन करना आवश्यक है, वह भी नहीं समझ सकते। अतीन्द्रिय तत्त्व और उसको प्राप्त करनेके लिये जीवनधाराको नियन्त्रण करनेकी प्रणाली हमारे साधारण ज्ञानके अगोचर है। तथापि उसके साथ मानव-जीवनका निगूढ़ सम्बन्ध है। मनुष्यकी बुद्धि जब सम्मार्जित और संस्कृत हो जाती है, अन्तःकरण जब राग-द्वेष-मोहसे विहीन, निर्मल और विक्षेपरहित हो जाता है, हृदय जब सत्यके प्रति गभीर अनुरागवश तीव्र जिज्ञासाद्वारा अनुप्राणित होकर सत्यके यथार्थ स्वरूपसे अवगत होनेके लिये व्याकुल हो जाता है, तब सत्यका यथार्थ स्वरूप उसकी बुद्धिमें प्रतिफलित होता है, अतीन्द्रिय तत्त्व उसके साक्षात्कारके योग्य हो जाता है। जिस जातिकी समस्याओंके समाधानके लिये उसका चित्त व्याकुल होकर दूसरे सब चिन्तनोंका त्याग करके ऐकान्तिक

एकाग्रताके साथ उसी ओर उन्मुख रहता है, उस जातिकी समस्याओंका समाधान उसके अन्तरमें प्रकाशित हो जाता है। इसको भगवत्प्रदत्त ज्ञान या सत्यका साक्षात् आत्म-प्रकाश कहा जा सकता है। ऐसे ही महापुरुषोंके चित्तमें प्रकाशित तत्त्वको आदर्श बनाकर विभिन्न तत्त्वजिज्ञासु साधकगण जीवन परिचालन और दार्शनिक बुद्धिका अनुशीलन करके जब उसी प्रकारकी उपलब्धि करते हैं और जीवनको सार्थक बोध करते हैं, तब उन तत्त्वोंकी सत्यताके सम्बन्धमें कोई संदेह नहीं रह जाता। वेदोपनिषदुक्त तत्त्वसमूह परवर्तीकालके ज्ञानी योगी भक्त दार्शनिकगणोंके द्वारा समर्थित होनेसे ही उनकी प्रामाणिकता सुदृढ़-रूपसे प्रतिष्ठित हो गयी है।

वेदोपनिषदोंमें प्रतिपादित तत्त्वसमूह ही वस्तुतः समस्त हिंदू दार्शनिक विचारका मूल है। ऋग्वेदके ही किसी-किसी ऋषिने विश्वजगत्के आदिकारण और तात्त्विक स्वरूपके अनुसंधान करनेमें प्रवृत्त होकर सूक्ष्म कारणसे स्थूल कार्यका उद्भव, अव्यक्त कारणसे व्यक्त कार्यकी अभिव्यक्ति, एवं कारणके अंदर कार्यके तात्त्विक स्वरूपका दर्शन किया था। इसी विचारप्रणालीका अनुसरण करके उन लोगोंने विश्वके आदिमें एक अव्यक्त स्वप्रकाश परम तत्त्वका संधान प्राप्त किया था। सृष्टिके पूर्व वही तत्त्व अपनेको अभिव्यक्त करनेकी शक्तिको अपने स्वरूपके साथ अभिन्न या अविभक्तभावमें रखकर, प्रकाश-प्रवृत्तिक्रियाविहीन सर्वविधभेदवर्जित एक अवस्थामें विराजमान था। उसके मनमें काम या सिसृक्षा जाग्रत् हुई, उसकी शक्तिका उद्बोधन हुआ; उसने अपनेको आप ही बहुधा विभक्त नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त किया। ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें इस सृष्टि-रहस्यका अतुलनीय वर्णन है। इस प्रकारकी परिकल्पना करके भी सृष्टिरहस्यके सम्बन्धमें ऋषियोंके चित्तमें इतने प्रश्न उत्पन्न हुए कि उनका सम्यक् संतोषजनक उत्तर न पाकर वे सोचने लगे कि जिन्होंने इस जगत्की सृष्टि की है, वे भी इस सम्बन्धकी सभी समस्याओंका समाधान कर सकते हैं या नहीं, इसमें संदेह है।

पुनश्च, विश्ववैचित्र्यमें एक सुमहान् ऐक्यका अनुसंधान करते-करते उन लोगोंने सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष सहस्रपात् सर्वव्यापी एक विराट् अखण्ड पुरुषकी सत्ताकी उपलब्धि की। उन्होंने देखा कि विश्व कतिपय विभिन्न वस्तुओं और व्यापारोंकी समष्टिमात्र नहीं है; क्षुद्र-बृहत्, जड-चेतन, भूर्भुवःस्वः, भूत-भविष्यत्-वर्तमान समस्तको परिव्याप्त करके, अपने एकत्वद्वारा समस्तको एकीभूत करके, एक महान् पुरुष विराजमान है; एवं समस्त विश्वप्रपञ्चका अतिक्रम करके भी उसकी सत्ता विद्यमान है। वह अकेला पुरुष ही जगत्में अनन्त रूपोंमें अभिव्यक्त है। पुरुषसूक्तमें इसी चिन्तनकी पूर्णता मिलती है।

पक्षान्तरमें, आत्मस्वरूपका अन्वेषण करते-करते उन लोगोंने आत्माको देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अतीत एक अखण्ड अनन्त चैतन्यरूपमें अनुभव किया, अपनेको स्वरूपतः सर्व-प्रकार उपाधि, ससीमता, स्व-परभेद, दुःख-तापादिसे विमुक्त बोध किया, एवं अन्तमें विश्वके मूलतत्त्व उस अखण्ड पुरुषके साथ अभिन्न रूपमें उपलब्धि करके अपनेको ही सर्वकारण-कारण, सर्वाध्यक्ष, सर्वमयरूपमें वर्णन किया। अहंसूक्त या देवीसूक्त या वाक्सूक्त इस उपलब्धिकी एक अनन्य साधारण भाषामयी मूर्ति है।

वैदिक ऋषियोंने जगत्प्रक्रियाके भीतर एक और भी गभीर तत्त्वका उद्घाटन किया। जीवके कर्म और कर्मफलभोगके साथ जड जगत्के कार्यकारण-शृङ्खलाके एक अभ्यन्तरीण योगका उन लोगोंने लक्ष्य किया। उन्होंने देखा कि बाह्य जगत्के दृष्ट कार्य-कारण-शृङ्खलाके पीछे उसके नियामक विधिरूपमें एक धर्मविधान है। आधिदैविक शासन और न्यायदण्ड है। जागतिक व्यापारमात्रका उन्होंने आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इस त्रिविध दृष्टिसे दर्शन किया, उनके अंदर एक अत्याश्चर्यमय सामञ्जस्यका आविष्कार किया। ऐसी दृष्टिका अवलम्बन करके वे मानवीय प्रयत्नोंकी अप्रत्याशित आपात व्यर्थता एवं दृष्ट प्रयत्नके बिना भी किसी-किसीके अप्रत्याशित सुख-सौभाग्यकी प्राप्तिके निगूढ़ कारणका सहज ही निर्देश कर सके। इस प्रकारके तत्त्वनिरूपणके फलस्वरूप वाञ्छित सिद्धिलाभके लिये दृष्ट कार्यकारणानुयायी उपायोंका अवलम्बन न करके उन लोगोंने बहुधा अदृष्ट फलप्रद यज्ञानुष्ठानकी व्यवस्था की। दृष्ट भोग्य-सामग्रीको विहित विधानानुसार विश्वनियन्ताकी प्रीति-कामनासे बहुजनकल्याणार्थ आहुति देकर अदृष्ट शुभ फलके लिये विश्वनियन्ताके निकट प्रार्थना करना ही यज्ञकी मूल नीति है। इस प्रकार यज्ञको ही उन लोगोंने मानवोचित कर्म माना। प्रवृत्तिके अनुगत बनकर जो कर्म किये जाते हैं, चाहे वे

विचारपूर्वक ही क्यों न किये गये हों, उनको वे लोग मानवोचित कर्म या धर्म नहीं मानते थे। कर्मके अंदर आदर्श जितना ही उच्च हो, त्याग जितना ही महान् हो, उतना ही यज्ञका श्रेष्ठत्व होता है। सर्वोपरि, उन लोगोंने एक महान् 'सर्वहुत' यज्ञकी परिकल्पना की थी। इसमें अपना सब कुछ त्याग करके अपने स्वयंकी भी आहुति प्रदान कर देनी पड़ती है। इस सर्वत्यागके द्वारा मनुष्य 'विश्वजित्' हो जाता है। यज्ञके आदर्शका चिन्तन करके विश्वस्रष्टा ईश्वरकी उन लोगोंने यज्ञपुरुषरूपमें धारणा की थी एवं इस सिद्धान्तपर वे पहुँचे थे कि यज्ञसे ही विश्वकी सृष्टि होती है एवं यज्ञके द्वारा ही विश्वकी स्थिति और सामञ्जस्य सुरक्षित रहता है।

प्राचीन वैदिक ऋषियोंकी यह कल्पना आरण्यक और उपनिषदोंके ऋषियोंमें विशेषरूपसे परिपुष्ट हुई थी। जीव, जगत् और ईश्वरका पारमार्थिक स्वरूप, उनका एक दूसरेके साथ तात्त्विक सम्बन्ध, जडतत्त्व, प्राणतत्त्व, मनस्तत्त्व, विज्ञानतत्त्व और आनन्दतत्त्व, कर्म-ज्ञान और उपासनाका रहस्य—ये सभी उनकी गवेषणाके विषय थे, एवं प्रत्येक विषयमें ही एक-एक युक्तियुक्त सिद्धान्तपर पहुँचकर उन्होंने अपनी उपलब्धिप्रसूत दृढ़ताके साथ जिज्ञासुओंके प्रति उन तत्त्वोंकी घोषणा की थी।

जिस चरम तत्त्वसे समस्त सृष्ट जगत्की उत्पत्ति होती है, जिसके आश्रयसे सबकी स्थिति है, एवं अन्तमें जिसके स्वरूपमें सब विलीन हो जाता है, उस चरम तत्त्वको उन लोगोंने नाम दिया था—'ब्रह्म'। उन लोगोंने इस ब्रह्मके ही दो रूपोंका निर्देश किया, एक तो स्वप्रतिष्ठ निर्गुण निरुपाधिक निर्विशेष स्वरूप और दूसरा जीव-जगत्के सम्बन्धमें सगुण सोपाधिक सविशेष स्वरूप। उन्होंने **'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'**, **'प्रज्ञानमानन्दम्'**, **'शुद्धमपापविद्धम्'**, **'शान्तं शिवमद्वैतम्'** **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** आदि वाक्योंसे ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश किया है।'

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' आदि वाक्योंसे उसका वर्णन किया है; और फिर **'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'**, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, **'एतदात्म्यमिदं सर्वम्'**, **'यो विश्वं भुवना विवेश'** आदि वाक्योंसे उसके सर्वव्यापित्व सर्वमयत्व सर्वरूपत्वका ख्यापन किया। ब्रह्म और आत्माको कभी एक वृक्षस्थ दो पक्षी, किंवा धूप और छायाके समान, परस्पर सम्बद्ध तथापि पृथक् रूपमें घोषित किया गया है, अथवा कभी **'अयमात्मा ब्रह्म'**, **'अहं ब्रह्मास्मि'**, **'सोऽहमस्मि'** इत्यादि वाक्योंमें दोनोंके ऐक्यका निर्देश किया गया है। फिर **'आत्मैवाधस्तात्, आत्मैवोपरिष्टात्'**, **'अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्'** आदि वाक्योंमें अहं या आत्माके ही सर्वमयत्व और अद्वैतत्वकी घोषणा की गयी है। (शेष आगे)

* * *

सुना दे कविवर ऐसा गान

(रच०—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-ऐट-लॉ)

सुना दे कविवर ऐसा गान।
कि जिससे राष्ट्र करे उत्थान॥
आज जो राष्ट्र बड़े बलवान।
समझते सैनिक बलमें शान॥
आत्मबलका उनको हो भान।
समझकर सबको एक समान॥
करें वे मानवताका मान।
सुना दे कविवर ऐसा गान॥

जगत् है शान्ति-शक्तिका खेल।
सर्वदा रहता उनमें मेल॥
शक्तिका हो जाता जब ह्रास।
शान्तिका तब होता परिहास॥
राष्ट्र दें दोनोंपर ही ध्यान।
सुना दे कविवर ऐसा गान॥

जानकर विश्व सकल परिवार।
परस्पर राष्ट्र करें व्यवहार॥
मिटा दें जगसे अत्याचार।
सत्यकी कर दें जय-जयकार॥
करें सब स्नेह-सुधाका पान।
सुना दे कविवर ऐसा गान॥

भगवान्‌के स्वभावका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हमलोगोंको जो यह मनुष्य-शरीर मिला है वह भगवान्‌की कृपासे ही मिला है, अपनी करनीसे नहीं। भगवान्‌ने यह कितना सुहृदतापूर्ण नियम बनाया है कि चौरासी लाख योनियोंको भोगनेके बाद तो जीवको आत्माके उद्धारके लिये मनुष्य-शरीर देते ही हैं, चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो। यह अविनाशी जीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते हैरान हो जाता है, तब दयामय भगवान् इसपर दया करके मनुष्य-शरीर देते ही हैं।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(राम० उत्तर० ४३। २-३)

खयाल करना चाहिये, यह भगवान्‌का हेतुरहित दया और प्रेमपूर्ण सुहृद्‌तासे भरा हुआ कितना उच्च कोटिका स्वभाव है। इस सुहृदतापूर्ण स्वभावको यथार्थ जाननेसे मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(५। २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

भाव यह कि भगवान् तो सदा-सर्वदा सब प्रकारसे पूर्णकाम हैं, फिर भी परम दयालुस्वभाव होनेके कारण वे बिना किसी हेतुके स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबका हित ही करते रहते हैं और समय-समयपर अवतार लेकर नाना प्रकारकी ऐसी लीलाएँ करते हैं जिनको सुनकर ही लोग भगवान्‌के परायण हो तर जाते हैं। भागवतमें बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
(१०। ३३। ३७)

'भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ।'

उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित भरा रहता है। वे जीवोंके लिये जो भी विधान करते हैं, वह दया और प्रेमसे पूर्ण होता है। जो मनुष्य इस रहस्यको पूर्णतया जानकर यह विश्वास कर लेता है कि भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे हितके लिये ही करते हैं, वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है उसको परम दयालु भगवान्‌का प्रेम और दयासे ओतप्रोत मङ्गलमय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न और संतुष्ट रहता है, इससे उसे परम आनन्द और परम शान्ति मिल जाती है।

वे सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणगणोंके सागर, परम दयालु, परम प्रेमी भगवान् अपनेको जीवोंका सुहृद् बतला रहे हैं। जब मनुष्य उनके इस कथनपर विश्वास करके उनको अपना सुहृद् मान लेता है तब उसे कितना अलौकिक आनन्द और कैसी अपूर्व शान्ति होती है, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। वास्तवमें भगवान्‌के समान भगवान् ही हैं। उनके समान तो संसारमें हेतुरहित दयालु, प्रेमी, निष्काम भावसे परम हित करनेवाला कोई है ही नहीं।

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥
(राम० किष्किन्धा० ११ । १)

माता-पिता, बन्धु-बान्धव सभी अपने स्वार्थके लिये ही प्रेम करते हैं, स्वार्थको छोड़कर कोई नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद्में श्रीयाज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीसे कहा है कि पति, स्त्री, पुत्र, धन आदि सब अपने प्रयोजनके लिये ही प्रिय होते हैं।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।
(बृ० उ० २ । ४ । ५)

'अरी मैत्रेयि! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
(राम० किष्किन्धा० ११ । १)
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
(राम० उत्तर० ४६ । ३)

किंतु भगवान् जीवोंसे बिना किसी प्रयोजनके ही प्रेम करते हैं, उनका कितना उच्चकोटिका निःस्वार्थ प्रेमपूर्ण सुहृद् स्वभाव है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं। चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो, भगवान्के अनन्यभावसे शरणमें आनेके साथ ही भगवान् उसे शुद्ध बनाकर उसका उद्धार कर देते हैं।

रामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥
(राम० सुन्दर० ४३ । १, ४)
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥
(राम० उत्तर० ८५ । ४, ५)

क्योंकि—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
(राम० बाल० २८ । ३)

भगवान्के चित्तमें भक्तकी भूल-चूक याद नहीं रहती और वे उसके हृदयके सद्भावोंको ही सैकड़ों बार याद करते रहते हैं।

इतना ही नहीं, जो सच्चे हृदयसे 'मैं आपका हूँ' यों वाणीके द्वारा भी एक बार भी कह देता है—उसको भगवान् सदाके लिये निर्भय कर देते हैं। भगवान्ने स्वयं यह घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० युद्ध० १८ । ३३)

'जो एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार शरणके लिये याचना करता है उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय देता हूँ—यह मेरा व्रत (नियम) है।'

भगवान्का कितना उत्तम स्वभाव है। वे भक्तके प्रेमकी ओर ही देखते हैं, जाति-पाँति, धन, विद्या, बुद्धि, बल आदिकी ओर नहीं देखते।

भक्त प्रह्लादने भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है—

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥
(श्रीमद्भा० ७ । ९ । ९)

'मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये कोई भी परम पुरुष भगवान्को संतुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं; परंतु भक्तिसे तो भगवान् गजेन्द्रपर भी संतुष्ट हो गये थे।'

क्योंकि भगवान् तो केवल भक्तके अनन्य विशुद्ध प्रेमकी ओर देखते हैं। अनन्य प्रेमी जितना भगवान्को प्यारा होता है उतना कोई भी प्यारा नहीं होता।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(७ । १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला (निष्कामी) ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।'

श्रीबृहस्पतिजीने इन्द्रसे कहा है—

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा । रामहि सेवकु परम पिआरा ॥
(राम० अयोध्या० २१८ । १)

भगवान् श्रीराम स्वयं काकभुशुण्डिजीसे कहते हैं—

सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय ।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ॥
(राम० उत्तर० ८७ (ख)

इसलिये हमलोगोंको अन्य सबका आशा-भरोसा छोड़कर निष्कामभावसे भगवान्की अनन्य भक्ति करनी चाहिये ।

श्रीभरतजी भगवान्के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले परम भगवद्भक्त थे । उनका भगवान्में बहुत ही उच्चकोटिका भाव था । श्रीतुलसीदासजीने उनके उत्तम भावोंका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है, जिनमें भगवान्के स्वभावका दिग्दर्शन होता है ।

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ । कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा । मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥
(राम० अयोध्या० १८३ । ३)

राम जनमि जग कीन्ह उजागर । रूप सील सुख सब गुन सागर ॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता । राम सुभाउ सबहि सुखदाता ॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं । बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं ॥
सारद कोटि कोटि सत सेषा । करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा ॥
(राम० अयोध्या० १९९ । ३-४)

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ । तब पथ परत उताइल पाऊ ॥
(राम० अयोध्या० २३३ । ३)

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ । अपराधिहु पर कोह न काऊ ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी । खेलत खुनिस न कबहूँ देखी ॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू । कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू ॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही । हारेहुँ खेल जितावहिं मोही ॥
(राम० अयोध्या० २५९ । ३-४)

राउरि रीति सुबानि बड़ाई । जगत बिदित निगमागम गाई ॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी । नीच निसील निरीस निसंकी ॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए । सकृत प्रनामु किहें अपनाए ॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने । सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी । आपु समाज साज सब साजी ॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें । सेवक सकुच सोचु उर अपनें ॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी । भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥
(राम० अयोध्या० २९९ । १-४)

जब भगवान् श्रीरामके वनसे अयोध्या लौटनेकी अवधिमें केवल एक ही दिन शेष रह गया तब तो भरतजी भगवान्के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और भगवान्के मधुर स्वभावको स्मरण करके कहने लगते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी । नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
(राम० उत्तर० प्रारम्भकी चौ० ३)

भरतजीके कथनका भाव यह है कि भगवान् दीन और दुखियोंके बन्धु हैं, उनका स्वभाव बहुत ही कोमल है, इस कारण वे अपने भक्तोंके दोषोंकी ओर देख ही नहीं सकते ।

अतएव हमलोगोंको भी अपना भाव भरतजीके समान बनाना चाहिये । फिर हमारे कल्याणमें कोई संदेह नहीं; क्योंकि 'भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् हैं' इस तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला मनुष्य भी सारे प्राणियोंका सुहृद् बनकर भगवान्का परम भक्त बन जाता है । भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दु:खोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवान्के स्वभावका तत्त्व और रहस्य समझनेपर मनुष्य भगवान्का ही हो जाता है एवं भगवान् उसे अपना यथार्थ तत्त्व जना देते हैं। रामचरितमानसमें श्रीवाल्मीकिजीके वचन हैं—

सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
(राम० अयोध्या० १२६।२)

वही पुरुष भगवान्को यथार्थ तत्त्वसे जान सकता है, जिसको भगवान् जनाते हैं। पर जिसके एकमात्र भगवान् ही हैं, जो भगवान्पर ही निर्भर है, जो अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, शरीर सब कुछ भगवान्को समर्पण कर चुका है, वही भगवान्को जाननेका पात्र होता है और उसीको भगवान् अपना यथार्थ स्वरूप जनाते हैं।

गीतामें भी बतलाया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१०।९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्के समान संसारमें कोई प्रभावशाली या गुणी नहीं है। उनके मुकाबलेमें यह जीव तुच्छ है, इसपर भी मनुष्य भगवान्को जिस प्रकारसे जिस भावसे भजते हैं, भगवान् उन्हें उसी प्रकारसे उसी भावसे भजते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४।११ का पूर्वार्ध)

अभिप्राय यह है कि वात्सल्य, दास्य, सख्य, माधुर्य आदि जिस किसी भावसे जो भगवान्को भजता है, उसे भगवान् उसी भावसे भजते हैं। जैसे, रुक्मिणी आदि पटरानियाँ भगवान् श्रीकृष्णको कान्ताभावसे युक्त स्वकीय माधुर्यभावसे भजती थीं, उनके लिये भगवान् परमपति होकर उनके भावकी पूर्ति करते थे। जो गोपियाँ भगवान्को सख्यभावसे युक्त परकीय माधुर्यभावसे भजती थीं उनके लिये भगवान् वैसे ही सख्यभावसे युक्त प्रेमास्पद बनकर रहते थे। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी आदि वात्सल्यभावसे भजते थे उनके लिये भगवान् पुत्ररूप होकर रहते थे। अक्रूर आदि भक्त दास्यभावसे भजते थे उनके लिये भगवान् स्वामी होकर रहते थे। श्रीदामा आदि गोपबालक सख्यभावसे भजते थे, अतः उनके लिये उनके सखा होकर रहते थे। अर्जुन आदि दास्य और सख्य दोनों भावसे भजते थे, इसलिये भगवान् उनके लिये उनके स्वामी और सखा होकर रहते थे।

इसी तरह जो जिस प्रकारसे भगवान्को भजते हैं भगवान् भी उनको उसी प्रकार भजते हैं। जैसे शरशय्यापर शयन करते हुए भीष्मजी भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हैं तो भगवान् भी भीष्मजीका ध्यान करते हैं।

महाराज युधिष्ठिरसे भगवान् स्वयं कहते हैं—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः ।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ॥
(महा० शान्ति० ४६ । ११)

'राजन् ! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है ।'

इतना ही नहीं, जो प्रेमसे भगवान्‌को भजते हैं भगवान् उनको अपने हृदयमें बसा लेते हैं और भगवान् उनके हृदयमें बस जाते हैं । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

ऐसा ही भाव भागवतमें भी मिलता है—

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥
(१० । ३८ । २२)

'न तो भगवान्‌के कोई प्रिय है और न अप्रिय । न उनका कोई अति सुहृद् है और न कोई शत्रु । उनकी उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है । फिर भी जैसे कल्पवृक्ष अपने निकट आकर याचना करनेवालोंको उनकी मुँहमाँगी वस्तु देता है वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी, जो उन्हें जिस प्रकार भजता है, उसे उसी रूपमें भजते हैं—वे अपने प्रेमी भक्तोंसे अतिशय प्रेम करते हैं ।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

आरत लोग राम सबु जाना । करुनाकर सुजान भगवाना ॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी । तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू । कीन्ह दूरि दुख दारुन दाहू ॥
(राम० अयोध्या० २४३ । १-२)

रामचरितमानसमें भरतजीके वचन हैं—

यह नइ रीति न राउरि होई । लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई ॥
जगु अनभल भल एकु गुसाईं । कहिअ होइ भल कासु भलाईं ॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ । सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥
जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच ।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच ॥
(राम० अयोध्या० २६६ । ३-४; २६७)

खयाल करना चाहिये, भगवान्‌का कैसा उच्चकोटिका स्वभाव है । उनके-जैसा परम दयालु कोई नहीं है ।

श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही । मोहि से सठ पर ममता जाही ॥
(राम० उत्तर० १२२ । २)
सिव अज पूज्य चरन रघुराई । मो पर कृपा परम मृदुलाई ॥
अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ । केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥
(राम० उत्तर० १२३ । २)

श्रीउद्धवजीने कहा है—

अहो बकीयं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २ । २३)

'पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था, उसको भी भगवान्‌ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये । उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें ?'

जो मनुष्य परम दयालु भगवान्‌के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है उसे भगवान्‌के सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता । अतः वह भगवान्‌को छोड़कर नाशवान्, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदिको कैसे भज सकता है ।

भगवान् शिवजी कहते हैं—

उमा राम सुभाव जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना ॥
(राम० सुन्दर० ३३ । २)

फिर वह भगवान्को कभी नहीं भूलता और भगवान् भी उसको कभी नहीं भूलते ।

गीतामें बतलाया गया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ।'

सार यह है कि भगवान्का बड़ा ही कोमल, मृदुल, सरल, सरस, मधुर और मनोहर स्वभाव है । वास्तवमें उनके समान वे ही हैं । उनके समान अहैतुक दयालु, निःस्वार्थ प्रेमी, सुहृद्, शरणागतवत्सल, दीनबन्धु, पतितपावन दूसरा कोई नहीं है ।

अतः हमलोगोंको भगवान्के परम दया और प्रेममय मधुर स्वभावको समझकर उसका नित्य-निरन्तर स्मरण-मनन करते हुए उनके प्रेममें मुग्ध रहना चाहिये । इससे अनायास और शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है ।

* * *

श्रीराम

(लेखक—श्रीहरेशचन्दजी अग्रवाल, एम्० ए०, बी० टी०)

[गताङ्कसे आगे]

इसके अतिरिक्त श्रीरामने अपनी जीवन-लीलामें न केवल मानवमात्रसे अपना सम्बन्ध स्थापित किया, बल्कि वनमें विचरण करते हुए जड पदार्थोंसे भी सम्बन्ध स्थापित कर सौहार्द प्रकट किया । सीता-हरणके पश्चात् पेड़-पौधों, लता-बेलों आदि किसीको नहीं छोड़ा और अपने दुःख-सुखके अंशका उनसे आदान-प्रदान किया, जैसे—

लछिमन समुझाए बहु भाँती । पूछत चले लता तरु पाँती ॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ॥
आगें परा गीधपति देखा । सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा ॥
अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम ।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम ॥
कोमल चित अति दीनदयाला । कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ॥
गीध अधम खग आमिष भोगी । गति दीन्ही जो जाचत जोगी ॥

इस प्रकार श्रीसीता माताकी खोज करते तथा वनके प्राणिमात्रसे सम्बन्ध स्थापित करते जब श्रीराम शबरीकी कुटियापर पधारते हैं, तब प्रभुका उसके साथ और भी अद्भुत असामान्य आचरण होता है—

सबरी-आश्रम रघुबर आए । अरघासन दै प्रभु बैठाए ॥
खाटे फल तजि मीठे लाई । जूठे भए सो सहज सुहाई ॥
अंतरजामी अति हित मानी । भोजन कीने, स्वाद बखानी ॥
जाति न काहू की प्रभु जानत । भक्ति-भाव हरि जुग-जुग मानत ॥
(सूरसागर)

यहाँपर यह ध्यान देना है कि साम्य-भावको धारण करनेवाले श्रीराम किस प्रकार साधारण-से-साधारण व्यक्तिसे भी समान व्यवहार स्थापित किया करते थे, किस प्रकार वे अपने आश्रितोंसे प्रेम किया करते एवं उन्हें सत्यलोकका अधिकारी बनाते थे । इसके पश्चात् ही ऋष्यमूक पर्वतपर प्रभु हनुमान्जीसे भेंट होनेपर कहते हैं—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना । तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना ॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥

इसी प्रकार सुग्रीवसे मिलनेपर तथा उसकी दुःखपूर्ण कथाको श्रवणकर वे दुखी हो स्वयं उससे कहते हैं—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ॥
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्र क दुख रज मेरु समाना ॥

यहाँपर श्रीरामके द्वारा स्थापित मित्रताके मापदण्डपर

विचार करना है कि किस प्रकार वे दूसरोंके दुःखको प्राथमिकता दिया करते थे। यह प्रभुकी कितनी महानता थी कि शरणागतके दुःखको दूर करना वे अपना परम धर्म समझते थे—

'हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिग्या मोरी यह ब्रत टरत न टारे॥'
(सूरसागर)

मित्रके धर्मके सम्बन्धमें वे कहते हैं—

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनहि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

इसके पश्चात् वचनानुसार प्रभु मित्र सुग्रीवकी सहायता करनेके लिये उद्यत हो आगे बढ़ते तथा बालिको दण्ड देनेके लिये कार्य-क्रम बनाते हैं। अतएव श्रीरामके समान और कौन उदार एवं हितकारी हो सकता है जो शत्रुको भी, अपने दोषोंको स्वीकार कर लेनेपर अभय प्रदान कर उसीके कथनानुसार अपना व्यवहार निश्चित करते हैं। वे शरणमें आये शत्रुको भी मित्र मान अपनी अनपायिनी भक्ति प्रदान करते हैं जैसा कि विभीषणके सम्बन्धमें मिलता है—

जग महुँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनइ निमिष महुँ तेते॥
जो सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

× × ×

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥
अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी। बोले बचन भगत भय हारी॥
कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥
खल मंडली बसहु दिनु राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भक्तवत्सल श्रीराम एक क्षत्रिय होनेके नाते वीर, बली, साहसी, पराक्रमी, निर्भय, शक्तिशाली, शत्रुनाशक होकर भी शरणागतको उसका उचित स्थान तुरंत देनेवाले तथा भक्तके सारे दोषोंको क्षमा कर देनेवाले थे। यह साधारण बात नहीं। एक महापुरुष ही ऐसा कर सकता है; क्योंकि वह सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-ज्ञानी तथा सम्यक्-बुद्धि होता है और क्रोधको धारण न कर अपवाद नहीं बनता बल्कि उत्साहके आधारपर वीरोंके कार्य करता और उसीके अन्तर्गत आवश्यकतानुसार उसका वध भी करता है जैसा कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने राक्षसराज रावणके वधके उपरान्त उदाहरण उपस्थित किया था। यह सभी जानते हैं कि लंकाधिपति रावणको सुमार्गपर लानेके लिये मारीचसे लेकर हनुमान्, अंगद, विभीषण, मंदोदरी आदि सभीने प्रयत्न किये; किंतु उस दुर्बुद्धिने किसीकी भी बात नहीं सुनी और कर्मवश प्रभुके द्वारा युद्धमें मारा गया। तदनन्तर विभीषणके विलाप करनेपर श्रीराम कहते हैं—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥
(वाल्मीकिरा०)

'हे विभीषण ! वैर जीवन-कालतक ही रहता है। मरनेके बाद उस वैरका अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है; अतः अब तुम इसका संस्कार करो। इस समय यह जैसे तुम्हारे स्नेहका पात्र है, उसी प्रकार मेरा भी स्नेहभाजन है।'

इसीके पश्चात् मन्दोदरी तथा अन्य राक्षसियोंको विलाप करते हुए देखकर श्रीराम भी दुखित होते हैं; परंतु जो होनेको होता है, वही होता है। उससे दुखी नहीं होना चाहिये, ऐसा भगवान्का मत था। इस आधारपर वे विभीषणकी ओर फिर मुड़ते हैं और रावणकी प्रशंसा करते तथा समझाते हुए कहते हैं—

संस्कारः क्रियतां भ्रातुः स्त्रीगणः परिसान्त्व्यताम्।
क्षिप्रमर्हति धर्मेण त्वं यशोभाग् भविष्यसि॥
(वाल्मीकिरा०)

'इन स्त्रियोंको धैर्य बँधाओ और अपने भाईका दाह-संस्कार करो। महाबाहो ! धर्मके अनुसार रावण तुम्हारी ओरसे शीघ्र ही विधिपूर्वक दाह-संस्कार प्राप्त करनेके योग्य है। ऐसा करनेसे तुम यशके भागी होओगे।'

प्रायः देखा जाता है कि विजयीके मनमें शत्रुके जीवित रहते जो द्वेषभावना होती है, उसकी मृत्युके उपरान्त नाश करनेके विचारसे वह और अधिक बढ़ जाती है। किंतु धर्मसंस्थापक श्रीरामने ऐसी किसी भावनाको जरा भी स्थान नहीं दिया बल्कि इसके विपरीत रावणको और भी ऊपर उठानेका प्रयत्न किया था। एक वीरको दूसरे वीरके प्रति आचरण करना चाहिये, वही श्रीरामने भी किया था। यह श्रीरामकी उदारता नहीं तो और क्या है जो उन्होंने शत्रुके प्रति प्रदर्शित की थी।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें श्रीरामके जीवनके कुछ भागोंका दिग्दर्शन कराते हुए उनके चरित्रकी विवेचना अवश्य की गयी है; परंतु अब हमें उन भागोंपर भी विचार कर लेना चाहिये जो कभी-कभी लोगोंके मनोंमें संदेह उत्पन्न कर देते हैं। सर्वप्रथम ताड़काके वधका ही प्रश्न सामने आता है।

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ॥

परंतु ताड़काका वध करनेके पूर्व विश्वामित्रजीके साथ भलीभाँति विचार-विनिमय तथा प्रस्तावका समर्थन हो चुका था, तभी श्रीरामने उसका वध किया था; क्योंकि भारतीय शास्त्रोंमें स्त्रीवध वर्जित है। विश्वामित्रजी कहते हैं—

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना ॥

हे नरश्रेष्ठ! तुम स्त्री-हत्याका विचार करके इसके प्रति दया न दिखाना। एक राजपुत्रको चारों वर्णोंके हितके लिये स्त्री-हत्या भी करनी पड़े तो उससे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये।

इसके अतिरिक्त स्त्री-वधके सम्बन्धमें मुनि विश्वामित्रजीने इन्द्रद्वारा विरोचनकी पुत्री मन्थराका वध, भगवान् विष्णुके द्वारा शुक्राचार्यकी माता तथा भृगुजीकी पत्नीके वध आदिके प्रसङ्ग रामको सुनाये और जब पूर्णरूपसे प्रभुने उस कार्यको निष्कलुष समझ लिया, तभी उन्होंने ताड़काका वध किया था।

इसी प्रकार जनकपुरीमें श्रीपरशुरामजीके आनेपर तथा लक्ष्मणजीसे विदग्धतापूर्ण वार्तालाप होने तथा क्रोध करनेपर श्रीराम युद्धकी स्थितिको चतुरतापूर्वक बताते हैं और परशुरामजीकी ओर उनके नारायणी अंशको नष्ट करनेका संकेत करते हैं—

जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाइं ॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी ॥

× × ×

कंठ कुठार परै, अब हार कि, फूलै असोक कि सोक समूरो।
कै चितसारि चढ़ै कि चिता, तन चंदन चर्चि कि पावक पूरो ॥
लोकमें लोक बड़ो अपलोक, सु केसवदास जु दोउ सु दोऊ।
विप्रन के कुरु को भृगुनंदन! सूर न सूरज के कुरु कोऊ ॥

(रामचन्द्रिका)

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के ॥
राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू ॥
देत चापु आपुहिं चलि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ ॥

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम सभी स्थानोंपर अपनी नीति-कुशलताके आधारपर विजय प्राप्त करते हैं, जिसे सुनकर शत्रु भी प्रसन्न होते एवं प्रशंसा करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि क्षत्रियकुलमें अवतरित होनेपर वे अपने क्रोधको जल्दी व्यक्त नहीं करते। ब्राह्मणों तथा ऋषि-मुनियोंको दुःख देनेवाले राक्षसोंका वध करना तो उनका मुख्य कार्य ही था। दण्डकारण्यमें रहते हुए जब शूर्पणखा मोहित हो श्रीरामसे विवाह करने आयी, उस समय श्रीरामने उसे समझानेका प्रयत्न किया। उसे यह भी बता दिया कि वे विवाहित हैं तथा एकपत्नीव्रती हैं। फिर भी, जब वह सीताको खा जानेके विचारसे भयंकर रूप धारण करके दौड़ी तब उसे शिक्षा देनेके विचारसे श्रीरामके संकेत करनेपर सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजीने उसके नाक-कान काट दिये—

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा।
अभ्यगच्छत् सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव ॥
क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथंचन।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथंचित् सौम्य जीवतीम् ॥
इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम्।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि ॥

ऐसा कहकर दहकते हुए अंगारोंके समान नेत्रोंवाली शूर्पणखा अत्यन्त क्रोधमें भरकर मृगनयनी सीताकी ओर झपटी, मानो कोई बड़ी भारी उल्का रोहिणी नामक तारेपर टूट पड़ी हो।

सुमित्रानन्दन! क्रूर कर्म करनेवाले अनार्योंसे किसी प्रकारका परिहास नहीं करना चाहिये। सौम्य! देखो न, इस समय सीताके प्राण किसी प्रकार बड़ी कठिनतासे बचे हैं।

पुरुषसिंह! तुम्हें इस कुरूपा, कुलटा, अत्यन्त मतवाली और लम्बे पेटवाली राक्षसीको कुरूप—किसी अङ्गसे हीन कर देना चाहिये।

इसमें संदेह नहीं कि समाजके अन्तर्गत स्त्रियाँ अबला होनेके नाते दया तथा कृपाकी पात्र हैं। परंतु जब वे मर्यादाहीन हो पुरुषसे लोहा लेनेको तत्पर हैं और उनके उस कर्मसे समाजकी हानि हो रही हो, तब वह क्षमाकी पात्र नहीं रह जातीं। यही कारण है कि श्रीरामने **शूर्पणखाको दण्डनीय ठहराया और नाक-कान कटवाकर**

छोड़ दिया, जिससे वह भविष्यमें अनुचित कार्योंके करनेका साहस न करे।

इस घटनासे आगे बढ़नेपर सुग्रीव और वालिके द्वन्द्व-युद्धका दृश्य सम्मुख उपस्थित होता है, जिसमें भक्त सुग्रीवके हार जानेके समय श्रीराम वृक्षकी आड़से वानरराज वालिपर बाण छोड़ पृथ्वीपर गिरा देते हैं और तत्पश्चात् सम्मुख प्रकट होकर उसके दोषोंकी ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हैं। वालिके द्वारा बुरा-भला कहने तथा उसके विचारानुसार धर्मके विरुद्ध आचरण करने तथा डाँटनेपर श्रीराम कहते हैं—

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम्।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे॥
(वाल्मीकिरा०)

'हे वानर! धर्म, अर्थ, काम और लौकिक सदाचारको तो तुम स्वयं ही नहीं जानते हो, फिर बालोचित अविवेकके कारण आज यहाँ मेरी निन्दा क्यों करते हो?'

तत्पश्चात् श्रीरामने कहा कि यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी है। इसलिये यह उनका अधिकार है कि विचरण करते हुए वे धर्मसंस्थापनार्थ दुष्टोंका दलन कर साधु पुरुषोंकी रक्षा करें। भरत हमारे राजा हैं इसलिये उनके आदेशानुसार धर्मप्रचारके लिये हम सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं और धर्ममार्गसे भ्रष्ट पुरुषको विधिपूर्वक दण्ड देते हैं। तुम कामी पुरुष हो और कामान्ध हो अनुचित कार्योंके करनेमें तनिक भी नहीं हिचकते।

ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः॥

'बड़ा भाई, पिता तथा जो विद्या देता है, वह गुरु—ये तीनों धर्ममार्गपर स्थित रहनेवाले पुरुषोंके लिये पिताके तुल्य माननीय हैं, ऐसा समझना चाहिये।'

साथ ही कहते हैं कि इसी प्रकार छोटा भाई, पुत्र और गुणवान् शिष्य—ये तीन पुत्रके तुल्य समझे जाने योग्य हैं। गोस्वामीजीके शब्दोंमें कहते हैं—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥
(मानस)

इस प्रकार धर्मसंस्थापक श्रीराम अन्य और भी बहुतसे कारण बालि-वध-हेतु उपस्थित करते हैं, जिससे वह लज्जित हो अपने अनुचित व्यवहारके लिये क्षमाप्रार्थी होता एवं दण्डको उचित बतलाता है; परंतु श्रीरामकी महानता इसीमें है कि वे उसके द्वारा भूल स्वीकार करनेपर सरलता तथा दयाको धारण कर, आगे बढ़ते और उसके सिरपर आशीर्वादात्मक हाथ रखते हैं—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥

और तत्पश्चात्—

राम बालि निज धाम पठावा। नगर लोग सब ब्याकुल धावा॥

इस प्रकार भक्तवत्सल श्रीराम अपने विरोधियोंको दण्ड देते हुए भी उनके प्रति दयाभाव धारण करके उन्हें परमधाम पहुँचाते हैं। इसके पश्चात् वर्षा ऋतुके समाप्त होने और शरद्के आनेपर पतिव्रता सती सीताकी सुधि कर श्रीराम व्याकुल होते हैं और सुग्रीवके दिये वचनोंपर विचार कर कहते हैं—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥
जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

परंतु शीघ्र ही भाव बदलकर कहते हैं—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥

तत्पश्चात् सुग्रीवके आनेपर और उसके क्षमाप्रार्थी होनेपर प्रभु कहते हैं—

तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहि भरत-जिमि भाई॥
अब सोइ जतनु करहु मन लाई। जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई॥
(मानस)

अर्थात् श्रीरामका क्रोध शीघ्र ही दूर हो दयाभावमें परिणत हो गया। इस प्रकार हम पाते हैं कि धनुर्धर श्रीराम केवल राजा ही नहीं, बल्कि एक साधुपुरुष भी थे, जो अनुचित कार्य करनेवालोंको भी क्षमा भी कर दिया करते थे। इसके उपरान्त वानरोंकी सेनासहित जब प्रभु समुद्र-किनारे पहुँचते हैं, तब समुद्रको पार करनेका प्रश्न सम्मुख आता है। साधारणतया पहले वे समुद्रसे सेना-हेतु मार्ग माँगते हैं, परंतु जडरूप समुद्रके ध्यान न देनेपर तीन दिन पश्चात्, जडको चैतन्यता प्रदान करनेके हेतु, श्रीराम आवेशसे कहते हैं—

बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति॥

लछिमन बान सरासन आनू । सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू ॥

× × ×

अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥

× × ×

कनक थार भरि मनि गन नाना । बिप्र रूप आयउ तजि माना ॥

इस प्रकार समुद्रके विनीत होनेपर श्रीराम अपना क्रोध समेट लेते और उससे ही पूछते हैं—

सुनत बिनीत बचन अति कह कृपालु मुसुकाइ ।
जेहि बिधि उतरै कपि कटकु तात सो कहहु उपाइ ॥

तत्पश्चात् अन्तमें जलाधिपतिके कथनानुसार उसकी मर्यादाकी रक्षा करते हुए श्रीराम नल-नीलको प्रस्तरखण्डोंको ला-लाकर समुद्रके जलपर रखने एवं सेतु बाँधनेकी आज्ञा देते हैं। इस प्रकार विरोधीके प्रति दयावान् होना तथा प्रेम प्रदर्शित करना साधु श्रीरामका ही काम था।

समुद्र पारकर वानरी सेनासहित लंका पहुँचनेपर भी प्रभु किसी प्रकार भी राक्षसराज रावणका अहित नहीं चाहते, बल्कि वे प्रयत्नशील हैं कि रावणको उनकी शक्ति तथा रूपका ज्ञान हो जाय और वह अपना दोष स्वीकार कर सीताको सादर उनके समर्पित कर दे। इसी सम्बन्धमें जब एक दिन प्रभु लंकाके दक्षिणमें बादल, बिजली एवं ओलोंके गिरनेका अनुभव प्राप्त करते हैं और विभीषणसे पूछनेपर मालूम होता है कि रावण अपने महलमें आनन्द मना रहा है तब उसके अभिमानको चूर करनेके विचारसे वे मुसुकराते हैं और धनुषपर बाण चढ़ाकर छोड़ते हैं—

प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना । चाप चढ़ाइ बान संधाना ॥

छत्र मुकुट ताटंक तव हते एक ही बान ।
सब के देखत महि परे मरमु न कोऊ जान ॥

और फलस्वरूप रावणपत्नी मन्दोदरी पतिको समझाती है—

कंत राम बिरोध परिहरहू । जानि मनुज जनि हठ मन धरहू ॥

बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वासु ।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ॥

इतनेपर भी जब वह नहीं मानता है तब अपने परामर्शदाताओंके परामर्शसे श्रीराम अंगदको रावणकी सभामें भेजते हैं जिससे युद्ध प्रारम्भ करनेके पूर्वतक भी वह समझ जाय—

काजु हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥

इस प्रकार भक्तवत्सल श्रीरामके समान विश्वमें और कौन ऐसा हो सकता है जो शत्रुके न ध्यान देनेपर भी उसके हितमें ही बार-बार प्रयत्नशील हैं। अन्तमें अंगदके लौटकर विपरीत समाचार देनेपर भी फिरसे एक बार विचार किया जाता है और तत्पश्चात् युद्ध प्रारम्भ होता है—

तब कपीस रिच्छेस बिभीषन । सुमिरि हृदयँ दिनकर कुल भूषन॥
करि बिचार तिन्ह मंत्र दृढ़ावा । चारि अनी कपि कटकु बनावा॥
उत रावन इत राम दोहाई । जयति जयति जय परी लराई॥

राम-रावण-युद्धके समय रावणद्वारा विभीषणके वधके लिये चलायी गयी प्रचण्ड शक्तिको अपने वक्षःस्थलपर रोककर शरणागत विभीषणकी रक्षा करना आनन्दकन्द श्रीरामका ही काम था—

आवत देखि सक्ति अति घोरा । प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला । सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥

श्रीरामके अतिरिक्त शरणागतके प्रति ऐसी दया करके उसकी रक्षा कौन कर सकता है और रावण-वधके उपरान्त कौन यह कह सकता है—

अब जाहु विभीषण रावण लै कै ।
सकलत्र सबंधु क्रिया सब कै कै ॥
जन सेवक संपति कोस सँभारो ।
मयनंदिनि के सिगरे दुख टारो ॥

(रामचन्द्रिका (केशव)

यह स्पष्ट है कि यहाँ इससे श्रीरामकी नीतिज्ञता, दयालुता, सहानुभूति, उदारता आदि सभी क्षत्रियोचि गुण प्रकट होते हैं जो साधारणतया किसी विजयीमें प्रा नहीं होते, परंतु साथ ही धर्मसंस्थापक श्रीराम प्रजानुरञ्जकता एवं न्यायशीलताका अद्वितीय उदाह अयोध्या लौटनेपर मिलता है जो इस कलिकालमें सम्भ नहीं। लंकासे लौटनेके उपरान्त शासन करते हुए लो अपवादको दूर करनेके लिये प्राणप्रियतमा सीताको त्याग दे श्रीरामका ही काम था। वे अपने भाइयोंसे कहते हैं—

अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः ।
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ॥
श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ।
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज ॥

(वाल्मीकिरा०

'नरश्रेष्ठ बन्धुओ ! मैं लोकनिन्दाके भयसे अपने प्राणोंको और तुम सबको भी त्याग सकता हूँ, फिर सीताको त्यागना कौन बड़ी बात है ।'

'अतः सुमित्राकुमार ! कल सबेरे तुम सारथि सुमन्त्रके द्वारा संचालित रथपर आरूढ़ हो सीताको भी उसीपर चढ़ाकर इस राज्यकी सीमाके बाहर छोड़ दो ।'

इस प्रकारके त्यागका उदाहरण आज हमें कहाँ मिल सकता है ? श्रीराम-राज्यने यह दिखला दिया था कि प्रजाके हितको एक ओर रखकर प्रजाको प्रसन्न करना ही कितना कठिन कार्य है । प्रसन्न करनेमें ही राजाको अपने सुखकी तिलाञ्जलि देनी पड़ती थी जो सबमें सम्भव नहीं । अयोध्यानरेश श्रीराम ही इन सब दाँवपेचोंके तथा नीतिकुशलताके मर्मज्ञ थे । इसके अतिरिक्त, अन्तमें एक बार काल (मृत्यु)के आने तथा दुर्वासा मुनिके उपस्थित होनेपर प्रतिज्ञाके अनुसार महाराज श्रीरामके लिये ही यह सम्भव था कि वे प्रतिज्ञा या वचनपूर्तिके हेतु लक्ष्मणको त्यागनेमें सफल हुए थे । श्रीराम, प्राणोंसे प्रिय, अपने भाई लक्ष्मणसे कहते हैं—

विसर्जये त्वां सौमित्रे मा भूद् धर्मविपर्ययः ।
त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम् ॥
(वाल्मीकिरा०)

'सुमित्रानन्दन ! मैं तुम्हारा परित्याग करता हूँ जिससे धर्मका लोप न हो । साधुपुरुषोंका त्याग किया जाय अथवा वध—दोनों समान ही हैं ।'

इस प्रकार त्रिलोकीनाथ श्रीरामके त्रैलोक्यव्यापी चरित्र तथा उनके गुणोंका गान कहाँतक किया जाय । त्वरित गतिसे चलनेवाली लेखनी थककर स्तम्भित है । रामचरित-सागररूपी मसिका पूर्ण उपयोग मानव-शक्तिसे परे है । श्रीराम वह ज्योतिपुञ्ज हैं जिससे अणु-परमाणुतक सभी देदीप्यमान हैं और उनसे शक्ति प्राप्तकर गतिशील होते हैं । यह वह देवगङ्गा है जिसमें स्नानकर मर्त्यलोकवासी देवत्वको प्राप्त होते और उनका सामीप्य लाभ करते हैं । ऐसा चरित्र आजतक किसी देश, समाज, संस्कृति तथा साहित्यमें प्राप्य नहीं, जिससे इसकी तुलना की जाय । श्रीराम, राज्यलक्ष्मीकी रक्षा करते हुए भी, साक्षात् साधुओंकी रक्षा करनेवाले स्वयं एक महान् साधु थे । ठीक ही कहा है—**'रमन्ति साधवः यस्मिन्'** अर्थात् जिसमें साधुओंके गुण हैं वही राम हैं । मानव-चरित्रका आधार ही रामचरित्र होना चाहिये ।

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम् ।
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

हरि अनंत हरि कथा अनंता ।
कहहिं सुनहिं समुझहिं श्रुति संता ॥

क्या ही अच्छा हो कि यदि आजके शिक्षाविद् लोग यह निश्चय करें कि व्यक्तिगत चरित्रको ऊपर उठानेके लिये विद्यार्थियोंको श्रीरामके चरित्रका पूर्ण अध्ययन कराया जाय, जिससे उनके अंदर पायी जानेवाली न्यूनताएँ पूर्ण हों, दीपककी ज्योतिके समान सबको ज्योतिर्मय कर दें ।

मोह-मेघाच्छन्नता

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

प्रेमके पुतले प्रेमके ही पुतलोंके साथ प्रेमकी ही दुनियामें प्रेमकी ही रसमयी क्रीड़ा करते रहते हैं । देश-कालका भेद भुला, नाना रंग-रूपोंमें सदैव सर्वत्र प्रेमका ही लेन-देन होता रहता है । प्रेम ही सबपर ····सबमें छाया-समाया रहता है । छाया-समाया क्या रहता है, होता ही है एकमात्र प्रेम-ही-प्रेम ।

जाने कैसे, क्यों, कभी-कभी स्वच्छ, शुभ्र, उज्ज्वल आकाश स्वच्छ, शुभ्र, उज्ज्वल नहीं रहता । उसमें प्रकाशित प्रेम-सूर्य मोह-मेघाच्छन्नताका शिकार हो जाता है ।

और तब तेरे-मेरेका दौर-दौरा होता है । मैं-तूके विभिन्न भेद खड़े हो जाते हैं । राग-द्वेषका चक्र चलता है । आसक्ति-कामना बखेड़े मचाने लगती हैं । रसमें—रसके नामपर अनरसके दर्शन होते हैं—करने पड़ते हैं ।

परंतु कुछ ही कालके लिये होता है यह सब । फिर तो पूर्ववत् वही सब होने लगता है—होता रहता है ।

सुविज्ञ कहते हैं—लगता भी है कि यह भी एक खेल ही होता है । वास्तविकताके नाते तो कहाँ प्रेम-सूर्य, कहाँ मोह-मेघाच्छन्नता ?

संस्कृतिका भारतीय तत्त्व

(लेखक—डा० श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी एम्०ए०, पी-एच्० डी०, न्यूयार्क)

संस्कृति एक सात्त्विक और स्पन्दनशील तत्त्व है। इसमें जडता नहीं, चेतनाका स्वरूप व्याप्त है। अखण्ड ब्रह्माण्डमें चित्रित आत्मशक्तिकी प्रभुता है। यह सत्यसे आविर्भूत एक अत्यन्त शुचितम भावना है। संस्कृति, वस्तुतः शक्तिकी ही एक पावन व्यञ्जना है, जिसमें मानवका सर्वोच्च पक्ष प्रतिबिम्बित होता है।

हम संस्कृतिको सभ्यतासे कहीं उच्च, कहीं तीव्र, कहीं विशाल एवं कहीं अधिक सर्वाङ्गीण तत्त्व मानते हैं। सभ्यताकी कल्पना केवल मानवके बाह्य स्वरूपतक ही सीमित है, उसमें व्यवहार-पक्षकी सुनियमितता-तक ही विचार किया गया है। इसके उपरान्त संस्कृति अन्तःपेक्षी तत्त्व है जो व्यवहार-आचारसे तीव्रतर विचार-पक्षकी ओर इङ्गित करती है। सभ्यता एक जड भावना है, संस्कृति चेतनामय। सभ्यता परिवर्तनशील है, संस्कृति पुरातन और चिरन्तन। जहाँ एकमें अतिरञ्जन है, वहाँ दूसरेमें शीतलता और निरन्तर स्वाभाविकता है।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की उदात्त भावना हमारी संस्कृतिकी प्राण-प्रसूत भावना है। यहाँ सीमाके स्थानपर सार्वभौमिकता है; विच्छिन्नताके स्थानपर एकताका ज्वलन्त दृष्टिकोण है। पुनीत सत्यकी स्थापना सर्वत्र हो—यह भावना हमारी सांस्कृतिक परम्पराकी ही अमूल्य दैन है।

विश्व-ज्योतिका अखण्ड प्रकाश और आत्मज्योतिका कीर्तिमान् आलोक—दोनोंका सम्मिश्रण भारतीय संस्कृतिमें दर्शनीय है। ब्रह्मकी सर्वोच्च तथा सर्वोत्तम विकसित व्यञ्जना विश्वके किसी भी अन्य दर्शनमें नहीं मिलती। साथ ही मानव-धर्म एवं कर्मकी भी ऐसी महान् योजना अन्यत्र दुर्लभ है। प्राणके दोनों पक्षोंका ऐसा आदर्श चित्रण हमारी संस्कृतिमें ही प्रफुल्लित हो पाया है।

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की अभिव्यक्ति हमारी दैनन्दिन जीवनकी प्रत्येक पंक्तिपर पायी जाती है। यह कल्पना अपने आपमें अद्वितीय है। विश्व-दर्शनके किसी भी अङ्गमें ऐसी त्रि-रूपी भावना नहीं दिखायी देती है।

यदि कहीं सत्यकी प्रतिष्ठा है तो शिवकी नहीं औ यदि कहीं शिवकी संज्ञा व्याप्त है तो सुन्दर पक्षकी अवहेलना है। एतदर्थ, सांस्कृतिक दृष्टिकोणके अनुसार इन तीनोंका समानधर्मी एकीकरण दुर्लभ है। भारतीय मनीषियों, चित्रकारों तथा साधकोंने इस अमृत-तुल्य त्रिवेणीकी पावन जल-धाराने हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्वको आप्लावित कर दिया है।

विश्वास तथा निष्ठा हमारी संस्कृतिके दो दिव्य अङ्ग हैं। कुण्ठित भौतिकता, बाह्य अवसाद तथा आधुनिक संकीर्णता हेय मानी गयी है। इनके स्थानपर श्रद्धासम्पन्न उदात्तता और व्यापकताकी स्वीकृतिको प्रश्रय दिया है। ऋषि-वाक्य है—**'श्रद्धा हि जगतां धात्री,' 'श्रद्धा सर्वस्वजीवनम्'** विश्वास और आत्मशक्तिका इतना समवेत दृढ़ सम्बल जिस संस्कृतिका एक ज्वलन्त सिद्धान्त हो, उसकी उपादेयता क्या कभी कम हो सकती है?

सर्वजन-कल्याणकी जिस महती कामनाका भारतीय संस्कृतिमें विकास किया गया है, उसकी समानता विश्वका कोई भी सांस्कृतिक संनियम नहीं कर सकता। यहाँतक कि इ सर्वव्यापी भावनामें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक त विशेष सम्मिलित है। 'स्व' के स्थानपर 'पर' की स्थापना इसका स्वाभाविक स्वरूप है। कहा गया है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात॥

वस्तुतः संस्कृतिका भारतीय तत्त्व मानवका सर्वोच परिवेश है—सच्चिदानन्दका स्थल है और कल्याणका नि केन्द्र है। इसका प्रत्येक संस्कार पूर्णतः विकसित है—दर्श अध्यात्म, साहित्य, कला तथा विज्ञान आदि सभी बौद्धि पक्ष यहाँ फले-फूले हैं। इस पुनीत ब्रह्म-स्वरूपिणी, शक्तिम तथा शक्तिदायिनी और सनातन भारतीय संस्कृति अध्ययन, मनन एवं उन्नयन प्रत्येक पुरुषका गौरव सत्कर्तव्य है।

मधुर

श्यामसुन्दर अकस्मात् अन्तर्धान हो जाते हैं, उनका क्षणभरका अदर्शन श्रीराधाके चित्तमें असह्य और अदम्य वियोग-वेदना प्रकट कर देता है । उन्हें ऐसा लगता है मानो वियोगमें युगोंके युग बीत गये । वे अत्यन्त आर्त होकर पुकार उठती हैं—

प्राणप्राण हे ! प्राणनाथ हे !
प्राणप्रियतम ! हे प्राणेश !
परम रमण हे ! मधुर मधुरता,
सुन्दर सुन्दरताके देश ! ॥
बिना तुम्हारे दर्शनके अब
परमाकुल ये पीड़ित प्राण ।
पाना सहज चाहते अब ही
दुःसह विरहानलसे त्राण ॥
निकल भागनेको आतुर ये
दर्शन हेतु त्याग तन-धाम ।
सुन्दर सुन्दर कोटि कोटि शशि-
निन्दक मुख-चन्द्रमा ललाम ॥
अङ्ग अङ्ग जल रहा तापसे
मनमें भरा विषाद विमर्ष ।
शीतल शान्त सुखी हो सकते
नहीं, बिना पाये संस्पर्श ॥
हरी भरी हिय-लता सुधा-सी
सूखी—जली विरहके ताप ।
दर्शन-स्पर्श-सुधा बरसाकर
जीवनदान करो निष्पाप ॥
पल पलमें मूर्छित होती, फिर
करती जाग करुण क्रन्दन ।
हा गोविन्द ! गोपिकावल्लभ !
गोपति ! प्रियतम नँदनन्दन ॥

हे मेरे प्राणोंके प्राण ! हे प्राणोंके नाथ ! प्राणप्रियतम ! हे मेरे प्राणेश्वर ! हे परम रमण ! हे मधुर माधुर्यके और सुन्दर सौन्दर्यके धाम ! तुम्हारे दर्शनके बिना अब ये वियोग-पीड़ित प्राण परम व्याकुल हो रहे हैं, ये इस दुःसह विरहज्वालासे इसी क्षण सहज ही त्राण पाना चाहते हैं । तुम्हारे दर्शनके लिये ये इस शरीरधामका त्याग करके तुरंत निकल भागनेके लिये आतुर हो रहे हैं । ये तुम्हारे उस सुन्दरके भी सुन्दर, करोड़ों-करोड़ों चन्द्रमाओंका मान हरण करनेवाले परमललित मुखचन्द्रमाके दर्शन पाना चाहते हैं । मेरा एक-एक अङ्ग तुम्हारी वियोग-ज्वालासे जल रहा है और मनमें सम्पूर्ण विषाद और असंतोष भरा है । तुम्हारा स्पर्श प्राप्त किये बिना ये अङ्ग और मन कभी शीतल, शान्त और सुखी नहीं हो सकते । मेरी हरी-भरी अमृत-सी हृदय-बेलि तुम्हारे विरहके तापसे सूख गयी—जल गयी है । अब हे निष्पाप ! अपने पवित्र दर्शन और स्पर्श-सुखके अमृतकी वर्षा करके इसे जीवनदान करो । हृदयको पुनः हरा-भरा कर दो । यों विलाप-प्रलाप करती हुई वे पल-पलमें मूर्छित होती हैं और फिर पल-पलमें सचेत होकर करुण क्रन्दन करती पुकारने लगती हैं—हा गोविन्द ! हा गोपियोंके प्राणवल्लभ ! हा मेरी तमाम इन्द्रियोंके स्वामी ! हा प्रियतम नन्दनन्दन !

एक अनन्य तीव्र विरहानल
जल उठता जब उर-अंतर ।
होते प्रकट उसी क्षण प्रियतम
स्वयं वहाँ व्याकुल होकर ॥
प्रकटी मिलन-सुधा धारा उस
विरहानलसे अपने-आप ।
अकस्मात् पलभरमें ही सब
पलटा रंग मिटा संताप ॥
उदय हुए वे मन्मथ-मन्मथ
लिये मधुर मुखपंकज-हास ।
मुरली मधुर लिये कर, छाया
सभी दिशाओंमें उल्लास ॥

इस प्रकार जब प्रेमीके हृदयमें एकमात्र अनन्य तथा तीव्रतम विरहानल भड़क उठता है । जब वह

प्राणप्रियके दर्शन बिना पलभर भी भस्म हुए बिना नहीं रह सकता; तब उसी क्षण प्रियतम परम प्रेमास्पद स्वयं भगवान् भी उससे मिलनेके लिये व्याकुल होकर वहाँ प्रकट हो जाते हैं। अतः यहाँ भी उस विरहानलसे ही अपने-आप अकस्मात् मधुर मिलनकी सुधाधारा प्रकट हो गयी। पलक मारते-मारते ही सारा रंग पलट गया और भीषण ताप सारा मिट गया। वे मन्मथ——मदनके भी मनको मथ डालनेवाले सौन्दर्य-माधुर्य-सागर श्रीश्यामसुन्दर वहाँ प्रकट हो गये। उनके मुखकमलपर मधुर मुसुकान खिल रही थी, हाथोंमें वे मधुर मुरली धारण किये हुए थे। उनके उदय होते ही समस्त दिशाओंमें उल्लास छा गया।

(अभी-अभी श्रीराधाजी वियोगकी भयानक पीड़ासे दुखी थीं। विरहाग्निसे जल रही थीं। पर श्यामसुन्दरके अकस्मात् प्रकट होते ही उनकी विलक्षण स्थिति हो गयी।)

मिटी व्यथा, भूली स्मृति सारी,
मानो था संतत संयोग।
मानो नित्य प्राप्त था प्रियका
चिद्-रस-रूप दिव्य संभोग॥

सारी व्यथा मिट गयी। विषम वियोग-दुःखकी सारी याद भूल गयी। ऐसा लग रहा था मानो सदा ही निरन्तर संयोग ही था। मानो प्रियतम श्यामसुन्दरका चिन्मय रसरूप सम्भोग श्रीजीको नित्य प्राप्त ही था। (कभी वियोग हुआ ही नहीं था, श्रीराधाकी इस विलक्षण स्थितिको श्यामसुन्दरने बड़े चाव और भावसे देखा——)

गया न कहीं कभी था मैं,
जा सकता कहीं न तुमको त्याग।
बोले प्रिय——मैं पान कर रहा था
छिप नव रसमय अनुराग॥

और श्यामसुन्दरने कहा——'प्रिये ! मैं तुमको त्यागकर न तो कभी कहीं गया ही था और न कहीं जा ही सकता हूँ। मैं तो यहीं छिपा-छिपा तुम्हारे रसमय अनुरागामृतका रसपान कर रहा था।

श्यामसुन्दरकी यह बात सुनकर राधाजी जो विरहकी स्मृतिको सर्वथा भूल ही गयी थीं, उनको लगा कि श्यामसुन्दर ठीक ही तो कह रहे हैं; वे श्यामसुन्दरकी बातका समर्थन करती हुई बोलीं——

कहा श्रीमतीने——'हाँ हाँ सच,
तुम न गये थे मुझको छोड़।
जा सकते न कभी अपने ही
बाँधे स्नेह-बन्धको तोड़॥

श्रीमती राधिकाजी बोलीं——'हाँ हाँ, सच तो है, तुम मुझको छोड़कर कहीं नहीं गये थे और अपने ही बाँधे हुए स्नेहके बन्धनको तोड़कर कभी कहीं जा सकते भी नहीं।' फिर जो कभी-कभी नहीं दीख पड़ते हो——सो, यह तो तुम्हारा खेल है।

लुका-छिपी लीलामें जब तुम
हो जाते प्रिय अन्तर्धान।
व्याकुलता लख, मन-नैनोंको
स्वयं बता देते संधान॥
जहाँ जहाँ जाते फिर मेरे
नेत्र ढूँढ़ने तुमको श्याम।
जहाँ जहाँ जाता मन, पाने
तुम्हें, छोड़कर सारे काम॥
वहाँ वहाँ तुम खड़े दीखते
मोहन मधुर नचाते नैन।
बरबस हरते चित्त, सुधा-से
सुना-सुनाकर मीठे बैन॥
मधुर मधुर मुसकाते, हृदय
लगाते, कर मोहन भ्रू-भङ्ग।
परम सुखद संस्पर्श प्राप्त कर
होते धन्य सुखी सब अङ्ग॥

सदा साथ रहते तुम मेरे
हो चाहे समीप या दूर।
जीवनमें भीतर-बाहर बस;
तुम छाये रहते भरपूर॥

‘लुका-छिपी लीलामें प्रियतम ! जब तुम अन्तर्धान हो जाते हो और तुम्हें न देखकर जब मैं व्याकुल हो उठती हूँ, तब मेरी व्याकुलताको देखकर तुम मेरे मनको तथा आँखोंको स्वयं ही अपना पता बता देते हो। इसीसे फिर जहाँ-जहाँ मेरे नेत्र, हे श्यामसुन्दर ! तुम्हें ढूँढ़ते हुए जाते हैं और जहाँ-जहाँ मेरा मन तुम्हें प्राप्त करनेके लिये सारे दूसरे कार्योंको छोड़कर जाता है, वहीं-वहीं तुम हे मोहन ! अपने मधुर-मधुर नेत्रोंको नचाते हुए खड़े दीखते हो और अपने अमृतके सदृश मधुर वचन सुना-सुनाकर बलपूर्वक मेरा चित्त हरण कर लेते हो। फिर मधुर-मधुर मुसकराते हुए और अपनी मोहनी भ्रूभंगिमाकी छटा दिखलाते हुए मुझे हृदयसे लगा लेते हो। उस समय मेरे सारे अङ्ग तुम्हारा परम सुखप्रद संस्पर्श प्राप्त कर धन्य और सुखी हो जाते हैं। श्यामसुन्दर ! समीप रहो या दूर——तुम रहते हो नित्य निरन्तर मेरे साथ ही। मेरे जीवनमें बाहर-भीतर सर्वत्र सदा बस, पूर्णरूपसे तुम्हीं छाये रहते हो।’ यों कहते-कहते श्रीराधा आनन्दविभोर हो गयीं।

यों संयोग-सुख-सुधा-रस-
सागरमें दोनों हुए निमग्न।
उदित प्रेम निर्मल भास्कर हो,
मोह निशा कर देता भग्न॥

यों संयोग-सुखके सुधा-रस-समुद्रमें श्रीराधा-माधव दोनों निमग्न हो गये। जहाँ इस प्रकार प्रेमका निर्मल (परम-त्यागपूर्ण) सूर्य उदय होता है, वहाँ वह तुरंत ही अपने दिव्य प्रकाशसे सांसारिक इन्द्रिय-भोग-सुख-कामनारूपी मोहरात्रिका सर्वथा भङ्ग कर डालता है।

प्रेमास्पद-सुख-रूप त्यागमय
प्रेमराज्यके ये दो तत्त्व।
‘मिलन वियोग’ नित्य रसवर्धक
दोनों रखते परम महत्त्व॥

प्रेमास्पदके सुखरूप परम त्यागमय इस प्रेम-राज्यके——‘मिलन’ और ‘वियोग’ रूप ये दो तत्त्व हैं। ये नित्य-निरन्तर पवित्र प्रेमरसको बढ़ाते रहते हैं। इन दोनोंका ही प्रेमराज्यमें परम महत्त्व है।

* * *

सबमें सब ओर श्यामसुन्दर

सखि ! क्या हुआ ? मुझे अब नहीं दिखायी देता तन तेरा।
दीख रहा मुसकाता केवल मधुर श्यामसुन्दर मेरा॥
अनल-अनिल-आकाश-धरा-जल सबमें मधुर कराता स्पर्श।
मनुज-दनुज-सुर-पशु-पक्षीमें छिपा, दिखा मुख देता हर्ष॥
स्वप्न-जगत्‌में भी रहता नित मधुर श्यामसुन्दर छाया।
मोहन मुख दिखलाता, हरकर मिथ्या सभी मोह-माया॥
रहा नहीं कुछ भी, कोई भी, एक श्यामसुन्दरको छोड़।
सबमें सभी ओर दिखता है मधुर मुसकुराता रणछोड़॥

* * *

भारतीय मूर्तियाँ और चित्र आपको प्रेरक शान्ति-संदेश देते हैं

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभास्कर)

एक शान्तिदायक अनुभव

श्रीरोनाल्ड निक्सनको पहली जर्मन-लड़ाईके बाद बड़ी अशान्ति हुई। आप उस युद्धमें हवाई जहाजके युद्ध-अफसर थे। उन्हें हत्या, मारकाट, मृत्युका ताण्डव, ख़ूँरेज़ी, भयङ्कर रक्तपात, सैकड़ों लाशोंको देखना पड़ा था। इन भीषण दृश्योंको देखकर उनके मनमें बड़ी उथल-पुथल और अशान्ति पैदा हो गयी थी। उनका मन बुरी तरह बेचैन और असंतुलित हो गया था। दिन-भर बेचैन रहते थे। चेहरा अशान्त, तो मन उद्विग्न! उनके मनको शान्ति, संतोष और धैर्य देनेवाली कोई बात न रह गयी थी। वे बड़े अनमने और संतप्त रहते थे।

संयोगकी बात, एक बार उन्होंने अपने ध्यानको केम्ब्रिज विश्वविद्यालयमें मौजूद बुद्ध भगवान्‌की शान्त, मुसकुराती, प्रेरणादायक मूर्तिपर लगाया।

अहह! कितना मोहक-मादक था बुद्धका वह चेहरा। उसके पीछेसे जैसे शान्तिदायक संदेश निकल रहा था, 'हे ईश्वरके पुत्रो! तुम्हारा जीवन शान्ति और तृप्तिके लिये है। आनन्दित और प्रसन्न रहनेके लिये है। मुसकुराते रहिये। तृप्त रहिये। चिन्ताको त्याग दीजिये।' ऐसा लगता था कि उस मूर्तिसे ये उत्साहवर्द्धक विचार तेजीसे निकल रहे हों।

जैसे शीतल फुहारोंसे धीरे-धीरे अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही भगवान् बुद्धकी मधुर मूर्तिके दर्शन करने तथा उसपर अपना ध्यान केन्द्रित करनेसे श्रीरोनाल्ड निक्सनको अकथनीय शान्ति मिली। तबसे वे पूर्वीय साधनाओंके अनुगामी बन गये और अपना समय इन्हींमें बिताया।

यह अनुभव प्रो० लालजीराम शुक्लने अपने अंग्रेज मित्रके विषयमें लिखा है। इसी प्रकारका एक अनुभ
अमेरिकन लेखक श्रीडेल कार्नेगी महाशय लिखते हैं—

'जब कभी मुझे किसी सांसारिक चिन्ता या कठिना
का अनुभव होता है, मैं परेशान-सा हो उठता हूँ, त
मैं वाशिंगटनके राजप्रासादमें रक्खे हुए प्रेसीडेण्ट लिंक
के शान्त चित्रपर अपना ध्यान जमाता हूँ। इससे मे
मनमें शान्त-भाव, साहस और नयी प्रेरणाएँ आ जा
हैं। मैं तरोताजा हो अपने कर्तव्यमें फिर जुट जाता हूँ।

भारतीय चित्रों और मूर्तियोंमें असीम प्रेरणाएँ औ
दिव्य संदेश छिपे हुए हैं। ये चित्र या मूर्तियाँ उ
दिव्य महापुरुषों, वीरों, नेताओं, धर्मप्रचारकों, विद्वानों
पथ-प्रदर्शकों, समुन्नत आत्माओंके हैं, जो प्राचीन काल
हम और आपकी तरह इसी भौतिक संसार, इ
समाजके प्राणी थे। इसी पृथ्वीपर चलते-फिरते औ
हमारी तरह हर्ष, शोक, विषाद, उत्साह, दर्प, सं
करते थे; पर जो अपने उद्देश्यों और विचारोंके लि
निरन्तर गतिमान् रहे, प्रयत्नशील रहे, मर मिटे औ
अमर हो गये। जन-मानसमें सदाके लिये बस गये
उनके शील, गुण, विचार, मान्यताएँ, विश्वास, संक
जनतापर स्पष्ट हो गये। प्रत्येक व्यक्ति उनके चित्रोंके
पृष्ठ-भूमिसे आज भी उन्हींकी गुप्त शक्तियोंको और अतुलि
सामर्थ्य तथा शक्तिको खींचता है।

चित्र और मूर्ति-दर्शनकी गुप्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रि

घरमें रक्खी हुई प्रत्येक मूर्ति या चित्र एक वाताव
निर्माण करता है। मनुष्यके चर्मचक्षुओंसे जो चि
मूर्तियाँ या आकृतियाँ, दृश्य या वातावरण प्रतिदि
दिखायी देता है, पुनः-पुनः जिन चित्रोंपर हमारी दृ
पड़ती है, उन सबका गुप्तरूपसे सूक्ष्म प्रभाव हम

गुप्त मन (Unconscious mind) पर पड़ता रहता है। चुपचाप हमारा मन इन चित्रोंके संदेशों, विचारों या प्रेरणाओंको ग्रहण करता जाता है। इन चित्रों अथवा मूर्तियोंमें चित्रित भावनाओं, स्थितियों और मुद्राओंके अनुसार हमारे मनरूपी परदेपर वैसे ही शुभ-अशुभ विचार उत्पन्न होते हैं और वैसी ही मनःस्थितियाँ बनती हैं। ये मानस-चित्र सदा अपने साथ कुछ विशेषताएँ या गुण-अवगुण लिये रहते हैं। चित्रोंके विचार धीरे-धीरे हमारे सम्पूर्ण शरीर और मनमें व्याप्त हो जाते हैं। मनके कण-कणमें प्रविष्ट होकर उसे तरोताजा और स्फूर्तिमान् कर देते हैं।

मनुष्यका गुप्त मन कैमरेके सूक्ष्मदर्शी लेन्सकी तरह है। कुछ कैमरोंकी शक्ति इतनी तीव्र होती है कि उनसे बहुत सूक्ष्म और सच्चे बोलते-से चित्र खिंच जाते हैं। बाहरका जैसा दृश्य होता है, वह कैमरेमें नेगेटिव-रूपमें आ जाता है। फिर इन्हींको पोजेटिवमें छापनेपर स्पष्ट आकृतियाँ आ जाती हैं। छोटे-से कागजपर बाह्य जगत् या व्यक्तिके सब अवयव या दृश्य उभर आते हैं।

इसी प्रकार हमारे घरों, दूकानों, पाठशालाओं या अपने इर्द-गिर्द जिन चित्रोंको हम प्रतिदिन देखते हैं, चुपचाप अपने मनरूपी कैमरेपर अङ्कित करते चलते हैं। ये गुप्त मनमें जम जाते हैं। इन चित्रोंमें अङ्कित हाव-भाव, मुख-मुद्राएँ, आकृतियाँ, शुद्ध या अशुद्ध विचार, उनमें व्याप्त भावनाएँ और आदर्श भी अङ्कित होते जाते हैं। हमारे आसपास या दृष्टिके सामने जो चित्र अनेक बार आते हैं, वे सदा चुपचाप हमें अच्छी या बुरी प्रेरणाएँ दिया करते हैं। उनमें चित्रित व्यक्तियों, नेताओं, देवी-देवताओं, धर्म-प्रचारकों, ऐतिहासिक महापुरुषों और भव्य आत्माओंके गुणोंको हम अपने चरित्रमें धारण करते और अज्ञात रूपसे क्रमशः उन्हीं-जैसे बनते जाते हैं।

चित्रों और मूर्तियोंकी एक भाषा है

जैसे लेखक शब्दोंके माध्यमसे अपने विचार प्रकट करता है, गायक स्वरके माध्यमसे अपना संदेश देता है, वैसे ही चित्रकार रंगों तथा आकृतियोंसे अपनी बात कहता है। चित्रकार जिस भाषामें अपने विचार प्रकट करता है, वही उसका चित्र है। वह चित्रके माध्यमसे आपसे कुछ बातोंको कहना चाहता है, जिसे बुद्धिमान् देखनेवाले समझ सकते हैं। उसके चित्रमें व्याप्त गुप्त संदेशोंको ग्रहण कर सकते हैं।

हमारे अवतारों तथा देवी-देवताओंकी, रामायण-महाभारत-पुराणोंमें वर्णित भव्य कथाओंसे सम्बन्धित धार्मिक चित्रोंकी हर-एक आकृतिमें, हाव-भाव, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, मुख-मुद्राओंमें सर्वत्र दिव्य संकेत भरे रहते हैं। समझदार व्यक्ति इनसे पुराने प्रसङ्ग याद कर लेता है। उनके गुप्त मर्मको जीवनमें उतारता है और उनके द्वारा जीवनको ढालता है।

अध्यापन करनेवाले बन्धु जानते हैं कि जो विचार विद्यार्थियोंके मनपर स्थायी रूपसे अङ्कित करने होते हैं, वे दीवारपर टँगे नक्शों, चार्टों, चित्रों, मूर्तियों और काले तख्तेपर अङ्कित विविध रेखाओंद्वारा किये जाते हैं। बच्चे जो चित्र बार-बार देखते हैं, वैसे ही भाव ग्रहण करते जाते हैं। यही आदत बड़े मनुष्यकी भी है। वह भी अपने इर्द-गिर्द जिन चित्रोंको देखता है, वैसा ही बनता जाता है। इन चार्टोंकी सहायतासे अध्यापकका भाषण बच्चेका अविकसित मन सहज रूपमें ग्रहण कर लेता है। ये शब्द उसके कान सुनते हैं और नेत्र चित्रोंसे एक विशेष भावको ग्रहण करते हैं। इस प्रकार चित्र और मूर्तियाँ हमारे पुराने संस्कारोंको बदलकर नये शुद्ध सात्त्विक और पवित्र संस्कारोंका निर्माण करते हैं।

ऊपर चित्रोंसे बच्चोंके कोमल मनपर होनेवाले मनोवैज्ञानिक प्रभावोंका संकेत किया गया है। वैसा ही

प्रभाव विकसित दिमागोंपर भी पड़ता रहता है । हम अपनी अच्छी या बुरी प्रवृत्तियोंके अनुसार चित्र चुनते हैं, फिर उन्हींके भावोंको गुप्त मनमें धारण करते हैं । कभी-कभी बड़ी उम्रके व्यक्तितकको यह मालूम नहीं हो पाता कि उसने गलत चित्रोंका चुनाव कर लिया है और वह उनसे गलत संकेत (Suggestions) पा रहा है।

उत्तेजक और अश्लील चित्रोंका दूषित प्रभाव

सिनेमामें चलते-फिरते, प्रायः उत्तेजक अश्लील चित्र रहते हैं । अभिनेता और अभिनेत्रियोंके हाव-भाव, विविध मुख-मुद्राएँ दर्शकोंके मनपर तेजीसे अङ्कित होती हैं; क्योंकि चल-चित्रोंकी तस्वीरें बोलती-गाती और चलती-फिरती हैं । हाव-भाव करती हैं, परस्पर बातचीत, नृत्य इत्यादि कार्यकलाप करती हैं । हमें अपनी ओर आकृष्ट करती, लुभाती हैं । प्रायः फिल्मोंके चित्र कुरुचिपूर्ण होनेसे कामोदीपक दृश्य हमारा गुप्त मन पकड़ लेता है । बार-बार गंदे फिल्म देखनेसे ये वासनाएँ संस्कारोंके रूपमें बदल जाती हैं । फिर हम अपने दैनिक जीवनमें वही कार्य करने लगते हैं । अतः अश्लील एवं उत्तेजक चित्रोंको देखना पापसे कम नहीं है । गंदे फिल्म मानसिक पापकी सृष्टि करते हैं; क्योंकि इन्हींसे नैतिक पतन प्रारम्भ होता है । एक बार-मनमें कुवासना जग जाती है या मनुष्यकी पापमय वृत्तियाँ उमड़ उठती हैं, तो बड़े अनर्थ कराती हैं । अतः इन उत्तेजक चित्रोंसे सावधान रहनेका उपदेश दिया गया है—

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।
(अथर्ववेद २० । ९६ । २४)

मानसिक पापोंसे सदा सावधान रहिये । उनका परित्याग कर दीजिये । मनसे उन कुवासनाओंको निकाल दीजिये, जो दुष्कर्म कराते हैं ।

अपास्मत् सर्वदुर्भूतम् । (अथर्ववेद ३ । ७ । ७)

हे मनुष्यो ! अपने गुप्त मनके सब दुर्भावों, मनोविकारों और कुवासनाओंको निकाल बाहर करो। बाहरी शत्रु उतनी हानि नहीं कर सकते हैं, जितनी आन्तरिक शत्रु करते हैं ।

अश्लील और गंदी वासनाओंको भड़कानेवाले चित्ररूपी शत्रुओंको घर, परिवार, दूकानों, संस्थाओंसे निकाल दीजिये ।

चित्रोंका चुनाव सावधानीसे कीजिये

आप मित्रोंका चुनाव, घरमें रिश्तेदारों, नये सम्बन्धी, वर-वधू इत्यादिके चुनावमें बड़ी सावधानी बर्तते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक चित्र भी आपका एक मित्र ही है। यदि मित्र गंदा है, तो उसके कुसङ्गसे निश्चय ही आप अवनतिकी ओर चलेंगे । इसलिये ऐसे चित्र चुनिये, जिनसे मनमें शुभ विचार ही उत्पन्न हों; मनमें उत्साह, पौरुष, साहस और नवप्रेरणाएँ ही आयें ।

सर्वश्रेष्ठ चित्र हिंदू-धर्म, भारतीय संस्कृति, तीर्थ-स्थानों, पावन प्रसंगोंसे सम्बन्धित हो सकते हैं, जिनसे देशकी गौरवमयी संस्कृति स्मृतिपटलपर अङ्कित रहे । वेद, पुराण, गीता, रामायण, महाभारत इत्यादि पवित्र ग्रन्थोंसे सम्बन्धित असंख्य चित्र आपको प्राप्त हो सकते हैं। देवी-देवताओं—भगवान् राम, भगवान् श्रीकृष्ण, हनुमान्, विष्णु, शिव, आदर्श धर्मगुरुओं, नेताओं तथा ऐतिहासिक महापुरुषोंके चित्र हमें सत्पथपर चलाते हैं । प्राकृतिक दृश्योंके चित्र हमें प्रकृतिके साहचर्यकी भव्य प्रेरणाएँ देते हैं । हमारे देवत्वको निखारते हैं ।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम, भगवान् गौतम बुद्ध, वीरवर शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, महामना मालवीयजी इत्यादिके चित्र तो प्रत्येक घरमें रहने अनिवार्य हैं । इनसे घरमें पवित्र आत्माओंका स्थायी और प्रेरक निवास रहता है ।

वे ही चित्र चुनिये, जिनमें मुख-मुद्राएँ प्रसन्नता, मधुर मुसकानसे युक्त तथा उल्लासमय हों । जिनसे मन तरोताजा रहे, शान्ति और नव प्रेरणाएँ पाता रहे । यह याद रखिये—

'अग्निना अग्निः समिध्यते ।' (ऋग्वेद १ । १२ । ६)

अग्निसे अग्नि और बड़ी आत्मासे छोटी आत्मा प्रदीप्त होती है । महान् पुरुषों, हिंदू देवी-देवताओंके चित्र दीप्तिमान् आत्माओंके चित्र हैं । इन चित्रोंरूपी दीप्तिमान् आत्माओंके शान्तिदायक और प्रेरक वातावरणमें रहकर अपनी आत्माको प्रदीप्त कीजिये ।

* * *

मानव-देह किसलिये ?

(लेखक—श्रीलक्ष्मीनारायणजी 'अलौकिक')

'संसारमें कोई भी कार्य प्रयोजनरहित नहीं होता है'—इस सिद्धान्त अथवा नियतिगत सत्यके आधारपर हमें मानव-देहकी लक्ष्यभूत कार्यप्रणालीका निश्चय करना चाहिये । यदि हम इतना भी नहीं सोच सकते कि 'मानव-देह किसलिये ?' तो सचमुच यह बड़े दुर्भाग्यकी बात होगी । उदरपोषण, धनार्जन, विलास-वैभव एवं संततिप्रवाह ही आजके मानवका जीवनलक्ष्य दृष्टिगोचर होता है । सही, पर उस लक्ष्यतक भी मानव कहाँ पहुँचता है ? एकाधिक अभावसे सभी घिरे हुए हैं । धन्य पुरुष तो वे हैं जो अपने जीवनमें किसी अभावका अनुभव नहीं करते तथा मरणोत्तर आनन्दकी प्रशस्त राशि प्राप्त करते हैं । किंतु ऐसा स्वयं ही नहीं हो जाता, कुछ करना भी पड़ता है । 'क्या करना पड़ता है ?' इस प्रश्नके अन्तर्द्वारसे हम शुभ-अशुभ कर्मोंके परिणामकक्षमें पहुँच सकते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
(गीता १८ । ६१)

'हे अर्जुन ! सभी स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके हृदय-यन्त्रमें स्थित वह सर्वव्यापी परमात्मा अपनी मायासे सभी जीवोंको उनके कर्मानुसार भ्रमाता है ।' इसी ज्ञानतत्त्वको एक संत सीधी-सादी भाषामें इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

चार बेद छह शास्त्र में बात लिखी है दोय ।
दुख दीने दुख होत है सुख दीने सुख होय ॥

इस पदमें कर्म-अकर्मकी परिभाषा भी देखनेको मिल गयी है । यह सच है कि मानव-देह कर्मभूमि है, जैसा करोगे वैसा भरोगे । इस तथ्यसे संसार अवगत है । फिर भी मानव जैसा अपने साथ चाहता है वैसा दूसरोंके साथ नहीं बर्तता । यही कारण है जो मानवको सुख और शान्तिके केन्द्रतक नहीं पहुँचने देता । लक्ष्य कुछ और निर्धारित करते हैं तथा चलते दूसरी तरफ हैं । इसलिये कि लक्ष्यका मार्ग प्रत्यक्षमें अप्रिय भासित होता है । उसी तरह जैसे रोगीको कड़वी दवा । पर आरोग्य चाहनेवाला रोगी कड़वी ओषधिको भी आनन्दसे पी जाता है और पीता रहता है । वह आरोग्यकामनामें इतना तन्मय रहता है कि उसे ओषधिके स्वादका पता भी नहीं चलता । इसी तरह यदि हम अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ चलें तो कोई भी अवरोध हमें विचलित नहीं कर सकेगा । सत्यविद्यासे परिचित होना एवं सनातनदेवकी अन्तरङ्ग सांनिध्यता प्राप्त कर लेना, जीवन-लक्ष्य-वाटिकाके नित नव प्रसून हैं जो चित्ताकर्षक तो हैं ही, आत्मानन्दकी सरलतासे युक्त भी हैं । यजुर्वेद कहता है—

देवस्य चेततो महीम्प्र सवितुर्हवामहे ।
सुमतिꣳ सत्यराधसम् ॥ (अध्याय २२ मन्त्र ११)

अर्थात् मनुष्यो ! जिस परमदेवने अपनी चेतनस्वरूप

क्षमतासे इस विशाल सृष्टि-काननको उत्पन्न किया है, उसकी नित्य उपासना कर सुन्दर विनिश्चयात्मक बुद्धि धारण करो, जिससे जीव सत्यरूपी ब्रह्मको सिद्ध और साक्षात् कर मोक्षकी ओर अग्रसर होगा।

हमें चाहिये कि हम परमात्माकी भक्तिका आलम्ब लेकर आत्मकल्याणके पथपर निर्भीकतासे बढ़ चलें।

कोप या कृपा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'मातः !' बड़ा करुण स्वर था हिमभैरवका। यह उज्ज्वल वर्ण, स्वभावसे स्थिर-प्रशान्त, यदा-कदा ही क्रुद्ध होनेवाला रुद्रगण बहुत कम बोलता है। बहुत कम अन्य गणोंके सम्पर्कमें आता है। उग्रताकी अपेक्षा सौम्यता ही इसमें अधिक है। साम्बशिवकी एकान्त सेवा और स्थिर आसन; किंतु जब इसे क्रोध आता है—अन्ततः भैरव ही है, पूरा प्रलय उपस्थित कर देगा। किंतु आज यह बहुत ही व्यथित जान पड़ता है।

'तुम इतने कातर क्यों हो वत्स ?' जगदम्बा शैलसुताने अनुकम्पापूर्वक देखा।

'ऋषिकुमार वर्चाने शाप दे दिया मुझे !' रोते हुए हिचकी बँध गयी हिमभैरवकी—'यक्षराजके सरोवरसें स्नान करके वे लौट रहे थे। सुकोमल हिममें चरणपात उन्होंने अपनी ही असावधानीसे किया; किंतु जब गिरे, रोष उन्हें मुझपर आया। उन्हें कोई आघात नहीं लगा। केवल जटाओं एवं वल्कलमें हिमकण भर गये थोड़े-से और वे कहते हैं कि 'हिमभैरव अब ऋषि-कुमारोंसे परिहासका प्रमाद करता है। उसे भगवान् शंकरके श्रीचरणोंमें रहनेका अधिकार नहीं। वह मनुष्य-जन्म ले!' आपके इन श्रीचरणोंसे पृथक् यह किंकर····।'

'डरो मत पुत्र !' अत्यन्त कातर, अपने चरणोंको अश्रुधारासे धोते गणको वात्सल्यकी उन अधिदेवताने अपने श्रीकरोंसे उठाया—'ऋषिकुमारकी वाणीको अन्यथा नहीं किया जा सकता; किंतु उन्होंने मनुष्य-जन्म लेनेका ही तो शाप दिया है। मर्त्यलोकमें निवास अवधि तो निश्चित की नहीं है। तुम जन्म लो फिर अविलम्ब वह देह त्यागकर मेरे समीप आ जाओ

'मैं भुवनेश्वरीको अम्बा कहता हूँ और अब को सामान्य मानवी मेरी जननी बनेगी !' हिमभैरवका रुका नहीं—'अपवित्र मर्त्यधरा मेरी जन्मभूमि यमके दूत—रोग मुझे पराभव देंगे—मेरी मृत्यु हेतु बनेंगे !'

'यह सब तुमसे किसने कहा ?' माता पार्वती पुचकारा स्नेहपूर्वक—'मेरी प्रिय सखी बल्या-नन्दीश्वरके शापसे वह मर्त्यनारी बनी। उसका निर्वास मुझे व्यथित करता है। तुम उसकी गोदमें जा सक हो। उसे भी तो तुम अम्बा ही कहते थे। तुम्हारा मेरे इस दिव्य प्रदेशमें होगा और मुझे बल्याको भी मुक्त करना है। मुक्त हो जायँगे उसके सम्पर्कमें वाले अन्य बहुत-से परिपूत प्राणी। तुम्हारा यह तुम सबको शरीर-बन्धनसे मुक्त करेगा !'

'अनुकम्पा माताकी !' हिमभैरवने नेत्र पोंछ लिये जगदम्बाके ज्योतिर्मय श्रीचरणोंपर उसने मस्तक रक्खा-'अल्पतम अवधि वियोगकी बने इस शिशुके लिये !'

× × ×

'नाथ ! जबसे सावधान हुई, सचेत हुई नन्दाकी जत किसी वर्ष चुकाया नहीं मैंने। भग नन्दा (पार्वती) हम पर्वतीय जनोंकी परमाराध्या

महारानी बलयाने एकान्तमें बड़े ही अनुरोधभरे स्वरमें प्रार्थना की—'यात्राका समय समीप आ रहा है। महाराज अनुग्रह करें ! मैं आपको साथ चलनेका आग्रह नहीं करती; किंतु अनुमति प्राप्त हो इस सेविकाको !'

'कठिन यात्रा है और इस समय तुम सरल यात्राके योग्य भी नहीं हो !' कान्यकुब्जेश्वर महाराज यशधवल-का मुख गम्भीर हो गया । दो क्षण वे कुछ सोचते रहे—'किंतु इस अवस्थामें तुम्हारी किसी आकाङ्क्षाको भग्न करना भी ठीक नहीं है । यात्राका संकल्प पवित्र है । मैं साथ चलूँगा और सब सुविधा रहेगी; किंतु एक अनुरोध मेरा भी मानना होगा तुम्हें । यात्राकी किसी भी सीमासे तुम पदयात्रा करनेका आग्रह नहीं करोगी !'

'नहीं करूँगी देव !' महारानीने स्वीकार किया ! महाराज यशधवलको बड़ा प्रेम है अपनी इस पर्वतीय महारानीसे और अब तो महारानी अन्तर्वत्नी हैं । राज्यके प्रमुख ज्योतिषियोंने बताया है कि महारानीकी कुक्षिमें कुमार है । महाराजका और आदर बढ़ गया है महारानी बलयाके लिये ।

यात्राका आदेश मिला सैनिकोंको और साथमें चिकित्सक, परिचारक आदि सबकी व्यवस्था हुई । यात्राके उत्सुक श्रद्धालुजनों तथा साधुओंको भी महाराज यशधवलने साथ ले लिया । उनके आहार-विश्रामकी व्यवस्था भी राजाने की ।

आजके समान तीर्थयात्रा सुगम नहीं थी । वैसे 'बड़ी नन्दाकी जत' आज भी गढ़वालमें कठिन यात्राओंमें है और यह घटना तो आजसे लगभग ६ शती पूर्वकी है । मार्गमें शिविर पड़ते, कथा-कीर्तन, साधु-ब्राह्मणोंका सत्कार और मार्गके तीर्थोंपर स्नान-दान करते यह तीर्थयात्रीसमूह जा रहा था । कई मास मार्गमें लगेंगे, यह स्वाभाविक तथा पहलेसे जानी-समझी बात थी ।

महाराज यशधवल जब 'गंगतोली' पहुँचे, महारानी बलयाको प्रसव-वेदना प्रारम्भ हुई । सैनिकों, बहुत-से सेवकों तथा साथके तीर्थयात्रियोंको महाराजने आगे चलनेका आदेश दिया और स्वयं महारानीके साथ रुक गये । चिकित्सक, परिचारक आदि थोड़े-से व्यक्ति गंगतोलीमें रुके । आगे जानेवाले दलने जिबरागिली ढालपर पड़ाव डाला था उस समय जब गंगतोलीमें महारानी बलयाकी गोदमें एक उज्ज्वल-हिमवर्ण पुत्र आया ।

× × ×

'मातः !' भगवती उमाके सम्मुख आज उपस्थित थे भगवान् रुद्रके वे गणप्रमुख जिनके ऊपर हिमालयके पुण्यस्थलोंकी पवित्रताको अक्षुण्ण रखनेका दायित्व है । उन्होंने प्रार्थना की—'राजा यशधवलने नन्दाक्षेत्रकी पवित्रता भङ्ग की है । उस क्षेत्रमें उसकी रानीके पुत्र होनेसे क्षेत्र अशुचि हुआ है । रानी बलया आपकी अनुग्रह-भाजना हैं और उनका नवजात पुत्र तो आपका किंकर हिमभैरव—····हम श्रीचरणोंकी आज्ञाके बिना कोई दण्ड-विधान करनेका साहस अपनेमें नहीं पाते ।'

'बलया मेरे सांनिध्यसे बहुत काल निर्वासित रह चुकी और हिमभैरव तो प्रार्थना कर गया है कि उसके मर्त्य-शरीरकी आयु अल्पतम होनी चाहिये ।' भगवतीने कृपापूर्वक आज्ञा दी—'इन दोनोंके जो भी सहचर हैं, उन्हें भी अब कैलास आ जाने दो ! किंतु केवल हिमपातका ही विधान करना है तुम्हें । आधि-व्याधि या अन्य कोई दण्ड किसीको नहीं मिलेगा ! किसीको कोई कष्ट अथवा आतङ्क प्राप्त नहीं होना चाहिये ।'

'भगवतीकी जैसी आज्ञा !' गणप्रमुखोंने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया ।

दो क्षण पश्चात् सहसा अतर्कित हिमपात प्रारम्भ हुआ 'जिबरागिली ढाल' के प्रदेशमें । इतना भयानक

हिमपात कि किसीको उसे ठीक देखनेका समय भी नहीं मिला। उस ढालके ठीक नीचे 'रूपकुण्ड' है। जो लोग भी ढालपर थे, उनके शरीर हिममें जम गये और पीछे लुढककर हिमके साथ रूपकुण्डमें पहुँच गये।

ठीक उसी समय 'गंगतोली' पर बड़े जोरसे ओले पड़ रहे थे। इन ओलोंकी वर्षामें महाराज यशधवल अपनी पत्नी, नवजात पुत्र तथा सेवक-परिचारकोंके साथ निर्वाण प्राप्त हो गये।*

विज्ञानके आलोकमें शक्तिका स्वरूप

(लेखक—डॉ० कैलाशनाथजी मिश्र एम्० डी०, एम्० बी०, एच्० ए०)

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
(दुर्गासप्तशती ५। ३२-३३-३४)

'जो देवी समस्त भूतोंमें शक्तिरूपसे विद्यमान है उसे हमारा बारम्बार प्रणाम है।'

दुर्गासप्तशतीके उपर्युक्त श्लोकमें देवताओंने माँ दुर्गाकी जो स्तुति की है उसमें उन्होंने उसे शक्तिरूपमें पूजा है। शुम्भ और निशुम्भ—दो महादैत्योंसे पीड़ित होकर देवताओंने अपने कल्याणके लिये उपर्युक्त श्लोकसे भी उसकी प्रार्थना की थी और आज हम भी विनाशके इन क्षणोंमें भगवतीके उसी रूपपर जाते हैं।

प्रत्येक क्षण हम शक्तिके विविध रूपोंको देखते हैं, इसके कार्यकलापोंसे परिचित होते रहते हैं। यह सभी जानते हैं कि शक्तिके बिना सब कुछ निष्क्रिय है। सोचने, विचारने और लिखने-पढ़नेसे लेकर जीवनके प्रत्येक क्षणमें हमें शक्तिकी अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। शक्तिके बिना न तो कोई जीवन सम्भव है और न तो सृष्टिका अस्तित्व ही। सामान्य जीवनमें और भौतिकविज्ञान (Physics) में हम शक्ति या ऊर्जाके विविध रूपोंको देखते और अध्ययन करते हैं। प्रकाश, विद्युत्, ताप तथा चुम्बक इत्यादिका अध्ययन विज्ञानका प्रत्येक विद्यार्थी करता है और जानता है कि यह शक्ति या ऊर्जा (Energy) है, पर जिस विद्युत्-शक्तिसे वर्तमान युगका तमाम चमत्कार हम देख रहे हैं, जिस ताप-शक्तिसे सृष्टिका पालन हो रहा है और जिस प्रकाश-शक्तिसे हम जीवन धारण कर रहे हैं, उन शक्तियोंको किसीने कभी देखा है? नहीं। शक्ति अदृश्य है। प्रकाशको किसीने नहीं देखा है। यह प्रकाशशक्ति अदृश्य होते हुए भी समस्त वस्तुओंको देखनेमें हमें समर्थ बनाती है, इसी प्रकार अन्य शक्तियाँ भी अदृश्य हैं।

हिंदू-धर्मग्रन्थोंमें सम्पूर्ण चराचर जगत्को ब्रह्मका स्वरूप बताया गया है। हम चराचर जगत्को शक्तिका स्वरूप मानकर बादमें ब्रह्म और शक्तिके स्वरूपको समझेंगे। हाँ! तो ये समस्त दृश्य और अदृश्य पदार्थ, समस्त दृश्य और अदृश्य संसार शक्तिका ही रूप है। वर्तमान युगके महान् विज्ञानवेत्ता आइन्सटीनने गणितीय विधियोंसे यह सिद्ध किया था कि पदार्थ कुछ नहीं ऊर्जा या शक्ति है और ऊर्जा कुछ नहीं पदार्थ है और यह भी कि प्रकाशको पदार्थ-रूपमें बदला जा सकता है। हम जानते हैं कि प्रकाश पदार्थ नहीं है, शक्ति (Energy) है; पर जब शक्तिको पदार्थ-

---

* चमोली जिलेमें मोटर बसके अड्डे 'ग्वालडाम' से ४१ मील दूर 'रूपकुण्ड' है। यह समुद्रकी सतहसे १६००० फीट ऊँचाईपर है और इसके चारों ओर खड़ी दीवारके समान पर्वत ८० से २५० फीट ऊँचे हैं। इसके ठीक ऊपर 'जिबरागिली ढाल' है। इससे १० मील दूर 'होमकुण्ड' है। इस रूपकुण्डसे बहुत-से अस्थि-पञ्जर गत दो वर्ष पूर्व मिले थे। साथ ही कुण्डसे तलवारें, ढाल, सैनिक वस्त्र, भाले, कमण्डलु, मालाएँ आदि भी मिली थीं। पुरातत्त्ववेत्ताओंने इन अस्थिपञ्जरोंको छः सौ वर्ष पुराना बताया है। यद्यपि 'ये अस्थिपञ्जर किनके हैं'—इस सम्बन्धमें इतिहासज्ञोंने अनेक प्रकारके अनुमान लगाये हैं और उनमें ऐकमत्य नहीं है; किंतु कुमाऊँ प्रदेशमें प्रचलित 'जागर' लोकगीतोंमें जो इस सम्बन्धमें कथा है, उसीका आधार इस कहानीमें लिया गया है। हिमालयमें अब भी ऐसे दिव्य क्षेत्र हैं—मुझे मिले हैं, जहाँ मल-मूत्र या थूक डालना मना है और कोई यह मर्यादा तोड़े तो वहाँ ओले पड़ने लगते हैं। —लेखक

रूपमें बदला जा सकता है तो पदार्थ भी शक्तिका रूपान्तर होगा। यह तो पहले ही जान लिया गया था कि एक शक्तिको दूसरी शक्तिके रूपमें बदला जा सकता है; जैसे—विद्युत्-शक्तिको बल्वमें स्थित विद्युत्-निरोधक तन्तु (Resistant wire) की सहायतासे प्रकाश-शक्तिमें बदलकर; उसी विद्युत्-निरोधक तन्तुकी सहायतासे विद्युत्को ताप-शक्तिमें बदलकर और उसी विद्युत्-धाराको लोहेपर लपेटे हुए तारमेंसे प्रवाहित करके चुम्बक-शक्तिमें बदलकर। पर यह शक्तिको पदार्थरूपमें बदलनेका सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पदार्थमें एक निश्चित भार होता है और जब शक्तिको पदार्थमें बदला गया तो उसका भी भार होना चाहिये। पर यह भार क्या है? चूँकि भार तुलनात्मक ही होता है, इसलिये उसकी एक इकाई भी है, जिससे अन्योंकी तुलना है। यह इकाई सबसे सूक्ष्मसे प्रारम्भ होती है जैसे भौतिक शास्त्रमें हाइड्रोजनसे। हाइड्रोजन ही भारकी इकाई है। पर चूँकि शक्तिका भार अबतक नहीं जाना जा सका (यद्यपि पदार्थरूपमें इसका भार होना चाहिये) इसलिये कि यह सूक्ष्मतम है, अतः अब शक्तिको ही सबका मूल, सबकी इकाई मानना होगा और इसी प्रकार आइन्सटीनके उसी सिद्धान्तके अनुसार यह भी होगा कि इस चराचरके समस्त सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ शक्तिके ही रूप हैं और इन शक्तियोंकी इकाई भी कोई महाशक्ति है। बदला हुआ रूप इसलिये कि द्रव्यका कभी नाश नहीं होता। उसका रूपान्तर ही होता है। रसायनशास्त्र (Chemistry) का आधार यही सिद्धान्त है कि द्रव्य अविनाशी है, सात सेर लोहा और चार सेर गन्धक मिलनेसे ग्यारह सेर ही लौह सल्फाइड बनता है। यद्यपि लौह सल्फाइडमें लौह या गन्धक किसीका गुण भी विद्यमान नहीं है, तो भी इस यौगिकके भारमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। दो परमाणु हाइड्रोजन और एक परमाणु ऑक्सीजनके मिलनेसे एक अणु जलका बना। इस जलमें न तो हाइड्रोजनके गुण हैं और न ऑक्सीजनके ही, पर द्रव्यका नाश यहाँ भी नहीं हुआ। इसी जलको विद्युत्-धारासे विभाजित कर हम फिर दो परमाणु हाइड्रोजन और एक परमाणु ऑक्सीजनको प्राप्त कर सकते हैं। प्रकृति अपना गुण परिवर्तित कर देती है, उसका नाश नहीं होता।

जिस प्रकार द्रव्यकी अविनाशिताका नियम है, उसी प्रकार (Thermochemistry) में शक्तिकी अविनाशिताका नियम (Law of Conservation of Energy) आता है। शक्ति न तो शून्यसे उत्पन्न की जा सकती है और न तो शून्यमें इसका लय हो सकता है। इसको इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जब द्रव्य शक्तिका रूपान्तर है तो द्रव्यके अविनाशी होनेपर शक्ति भी अविनाशी है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यह स्थूल जगत् भी शक्तिका ही स्थूल रूप है, नहीं तो, तात्त्विक दृष्टिसे यह अवास्तविक है। इसमें यदि हम तर्क करें कि जो रूप या जो कुछ हम देख रहे हैं वह सत्य न होकर अवास्तविक कैसे हुआ? तो हम स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्थाका दृष्टान्त देंगे। स्वप्नमें हम जो कुछ देखते हैं, हमें सत्य प्रतीत होता है। स्वप्नमें मैथुन वीर्यपातका कारण होता है। स्वप्नमें जिस समय हम अपना जन्म-मृत्यु, दुःख-सुख इत्यादि देखते हैं, हमें वह पूर्ण सत्य प्रतीत होता है। उस समय वास्तविक संसारकी स्मृति हमें नहीं रहती। उस समय यह संसार ही असत्य होता है। पर पुनः जाग्रत् होनेपर वह स्वप्नका संसार असत्य और यह संसार सत्य प्रतीत होता है। तात्त्विक दृष्टिसे सत्य कोई भी नहीं है। चल-चित्रोंमें हम जो कुछ देखते हैं वह क्या है? वह तो चित्र भी नहीं, चित्रकी छाया है। पर उसे देखकर क्या हमारे मनमें विभिन्न भाव नहीं उठते? नायक-नायिकाओंके सुख-दुःखसे क्या हम सुखी या दुखी नहीं होते? तात्त्विक दृष्टिसे तो वहाँ भी कुछ नहीं है; केवल प्रकाश और छायाका चमत्कार, एक प्रकारका दृष्टिभ्रम। 'थ्री डायमेन्शन' चित्रोंमें यह अनुभूति विशेषरूपसे होती है कि हम सत्य देख रहे हैं; क्योंकि जिन तीन परिमाणों लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाईसे इस जगत्की रचना हुई है;* इन्हीं तीन बातोंको इन चित्रोंमें स्थान दिया गया है। चलचित्रोंमें सभी चित्र रीलमें अलग-अलग होते हैं और उसमें यह सिद्धान्त काम करता है कि किसी भी दृश्यका प्रभाव हमारी आँखोंपर $\frac{१}{१०}$ सेकेंडतक रहता है और यदि इसी $\frac{१}{१०}$ सेकेंडके भीतर कोई दूसरा दृश्य आ जाय तो हम वास्तविक निर्णय नहीं कर सकते। किसी भी दृश्यको हम उसी समय नहीं देख लेते, वरं एक लाख छियासी हजारवें सेकेंडके अन्तरसे देखते हैं;

---

* एक चौथा आयाम कालका भी है पर मिन्कोव्स्कीने यह सिद्ध किया है कि काल दिक्‌से अलग नहीं और दिक्‌के समाप्त होनेपर काल भी स्वयं समाप्त हो जाता है।

क्योंकि प्रकाशकी गति यही है। यह हमारा दृष्टि-भ्रम ही है जो इन अलग-अलग चित्रोंकी छाया धाराप्रवाह रूपमें दिखायी देती है। ऐसा ही दृश्य और अदृश्य पदार्थोंमें भी होता है। विज्ञानके विद्यार्थी जानते होंगे कि गैसावस्था वह होती है जिसमें तत्त्व या यौगिकके परमाणु या अणु दूर-दूर तेजीसे घूमते हों। यही घूमनेकी तीव्रता और अणु-परमाणुओंकी दूरी यदि उच्च चाप और निम्न तापमानद्वारा कर दी जाय तो वह पदार्थकी द्रवावस्था होगी और यदि इसी द्रवके अणु-परमाणुओंकी दूरी और तीव्रता और अधिक उच्च चाप तथा अति निम्न तापमानद्वारा कम कर दी जाय तो वह पदार्थकी ठोसावस्था होगी। इससे यह सिद्धान्त निकला कि किसी वस्तुका दृश्य या अदृश्य होना उसके प्रकम्पोंपर आधारित है। यदि किसी स्प्रिंगके तारको जोरसे खींचकर छोड़ दिया जाय तो उसमें भीषण प्रकम्प पैदा हो जायगा। यह प्रकम्प (Frequency per second) जितना ही अधिक होगा, स्प्रिंग दिखायी नहीं देगी। ज्यों-ज्यों प्रकम्प कम होता जायगा, स्प्रिंग दिखलायी देती जायगी। इन हर अवस्थाओंमें स्प्रिंग स्थूल रूपमें विद्यमान थी, पर कम्पन अधिक होनेपर यह अदृश्य थी। मृगतृष्णा क्या है ? वायुके भिन्न-भिन्न घनत्वोंमेंसे विचलित पथसे आते हुए प्रकाशसे उत्पन्न दृष्टिभ्रम ही तो है ? हवाको किसने देखा है ? पर उसका अस्तित्व है कि नहीं। इस हवाको उच्च दाब और निम्न तापमानपर द्रव और ठोसका रूप दिया जा सकता है। यह हवाका दृश्य रूप हुआ। भाप, पानी और बर्फ—जलकी तीन अवस्थाएँ हैं। तात्त्विक दृष्टिसे सब जल ही है। कोयले और हीरेमें क्या अन्तर है ? दोनों ही कार्बन हैं। तो हम जो कुछ जिस रूपमें देखते हैं, वही अन्तिम सत्य नहीं है। यह विश्व इन्द्रजालका खेल है, जिसमें कुछ-का-कुछ भासित होता है।

इस समस्त चराचर जगत्के यावत् पदार्थ शक्तिका स्थूल रूप है, यह हम पहले ही बता आये हैं। चूँकि एक शक्तिको दूसरी शक्तिमें बदला जा सकता है तो एक पदार्थको दूसरे पदार्थमें भी अर्थात् लोहेको सोनेमें भी (भारतमें कीमिया रसायन—लोहेको सोनेमें बदल देनेकी विद्या प्राचीन है)। वैज्ञानिक दृष्टिसे तब हमें तत्त्वोंकी परमाणु-रचनापर ध्यान देना होगा। यदि एक तत्त्वके परमाणुके इलेक्ट्रॉनोंकी संख्या दूसरे तत्त्वके परमाणुके इलेक्ट्रॉनोंकी संख्याके बराबर की जा सके तो एक तत्त्व दूसरे तत्त्वमें परिवर्तित हो सकता है। इन सबका यह अर्थ हुआ कि सारे पदार्थ, सारी शक्तियाँ अलग-अलग प्रतीत होते हुए भी एक ही हैं, जिसे हमने पहले ही इकाईके रूपमें माना है, जो अविनाशी है और जिससे सबकी उत्पत्ति और जिसमें सबका लय है। शक्तिके सिवा और कुछ नहीं। सारी सृष्टि शक्तिका ही रूप है। वही आदिशक्ति हमारी दुर्गा है, सरस्वती है, लक्ष्मी है। वही जगज्जननी और महाकाली है।

विज्ञानकी दृष्टिमें शक्तिका स्वरूप जो ऊपर दिखाया गया है, उसका दूसरा अन्तिम विश्लेषण भी विचारणीय है। उसीको निम्नलिखित प्रकारसे समझा जा सकता है।

सृष्टिका प्रत्येक पदार्थ अणु-परमाणुओंका समूह है। विभिन्न प्रकारके अणु-परमाणु और विभिन्न प्रकारके पदार्थ। प्रत्येक पदार्थ कुछ स्थान घेरता है तथा एक निश्चित कालतक बना रहता है। पर पदार्थ क्या ? यह अनेक छोटे टुकड़ों, अणु-परमाणुओंका समूह है। अब एक टुकड़ेको ले लीजिये, उसका छोटे-से-छोटा भाग और छोटा—और छोटा सोचते रहिये और अन्त हुआ कि कुछ नहीं—शून्य। गणितशास्त्रमें किसी वस्तुको अनन्तसे विभाजित करनेपर वह शून्य हो जाता है। तो पदार्थमात्र केवल अनन्त शून्योंके संघातके अतिरिक्त और क्या है ?

काल क्या है ? एक क्षण। नहीं उसका छोटे-से-छोटा अनन्तवाँ भाग······कुछ नहीं, शून्य। तो इस हिसाबसे पदार्थ और काल दोनों ही अनन्त शून्योंका संघात है। एक प्रतीति है और कुछ नहीं।

यह अनन्तता विशुद्ध गति है और शून्यता विशुद्ध स्थिति। विज्ञानमें यही 'कन्टिनुअम' और 'क्वैन्टम' है। तन्त्रशास्त्रमें यही नाद और बिन्दु। नाद अनन्त गति है, बिन्दु शून्यरूपा स्थिति। इस सृष्टिमें जो कुछ भी दिखायी देता है वह नाद और बिन्दुका ही उन्मिश्रित रूप है, गति और स्थितिका विलास है। नाद ब्रह्मकी इच्छा-शक्ति है, बिन्दु क्रिया-शक्ति। नाद शब्द है, बिन्दु रूप है। नाद पदरूपमें प्रकट है तो बिन्दु पदार्थरूपमें।

नाद या शब्द क्या है ? वस्तुतः यह कम्पन है। विज्ञानमें 'वाइब्रेशन' और उपनिषदोंमें 'एजन' है। किसी वस्तुमें जब प्रकम्प होता है तो शब्द उत्पन्न होता है और किसी वस्तुका दृश्यमान या अदृश्य होना भी प्रकम्पोंपर ही आधारित है, यह पिछले एक उदाहरणमें स्पष्ट है। और होते हुए दिखायी न देना या न होकर भी दिखायी देना ही माया है।

प्रति सेकेंड बीससे चालीस हजार बारके कम्पन (Frequency per second) द्वारा उत्पन्न ध्वनिको हम सुन सकते हैं, इसके अपर या परवर्ती नादको नहीं। यही परवर्ती नाद अनहद-नाद है, जिसका योगीजन अभ्यास करते हैं। यही नाद ॐकाररूपमें नाद-ब्रह्म है।

बिन्दुको यदि हम गणितीय बिन्दु लें तो यह आयाम-रहित है। इस बिन्दुको एक गणितीय रेखा लपेटे हुए है जो इसके प्रत्येक भागको स्पर्श करती है, अर्थात् दोनों मिलकर एक बिन्दुमय हो जाते हैं। रेखा 'शक्ति' की वृत्तीय प्रकृति है, इसीलिये वस्तुओंमें वक्रता है। चूँकि किसी सरल रेखामें गति सम्भव ही नहीं है; इसीलिये प्रत्येक ग्रह-उपग्रह वक्र पथोंपर गतिशील हैं और इस प्रकार विविध ब्रह्माण्डोंका निर्माण करते हैं।

'इलेक्ट्रॉन थ्योरी' के अनुसार परमाणु सौर-मण्डलसे मिलता-जुलता एक लघु ब्रह्माण्ड है। इसके केन्द्रमें धनात्मक विद्युत् आवेशयुक्त प्रोटॉन (इस केन्द्रमें न्यूट्रान, पाज़ीट्रान, ह्वी पार्टिकिल्स वगैरह भी हैं) है तथा इसके चारों ओर वृत्ताकार रूपमें तीव्र गतिसे चक्कर लगानेवाला इलेक्ट्रॉन है जो ऋणात्मक विद्युत् आवेशयुक्त है और विभिन्न कक्षाओंमें स्थित है। ये दोनों आवेश मिलकर परमाणुको संतुलित रखते हैं।

निऑनकी परमाणु-रचना

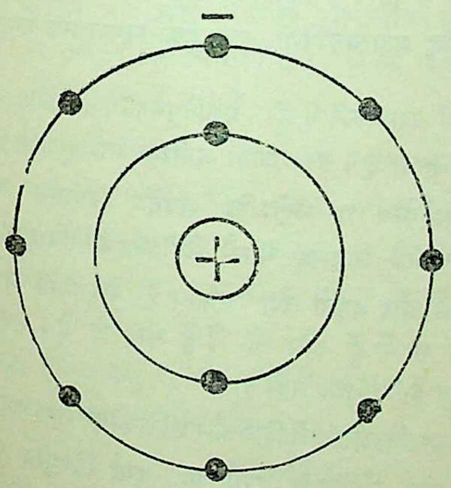

ऐसा ही सारे विश्वमें हो रहा है। जो **पिण्डमें है वह** ब्रह्माण्डमें है। विश्वमें सारे ग्रह सूर्यके चारों ओर घूमते हैं और सूर्यसहित सारा ग्रह-मण्डल भी अन्य किसी सापेक्ष स्थिर केन्द्रके चारों ओर घूमता है और इस प्रकार हम निरपेक्ष, सर्वनियन्ता, स्थिर ब्रह्म बिन्दुतक पहुँच जाते हैं।

शाक्त-तन्त्रोंमें शिव और शक्तिके सम्मिलित स्वरूपको चणक नामसे अभिहित किया गया है। एक चणकमें दो दाने होते हैं, पर एक दूसरेसे वे इतने सटे रहते हैं कि एक मालूम पड़ते हैं। ये एक ही छिलकेसे घिरे हैं। ये दो दाने शिव और शक्ति हैं और जो छिलका है वह माया है। इस संकेतको वैज्ञानिक भाषामें इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है। शिव धनात्मक आवेश है और शक्ति ऋणात्मक। इन आवेशोंसे उत्पन्न बल क्षेत्र ही मायाका स्वरूप है।

हाइड्रोजनका परमाणु

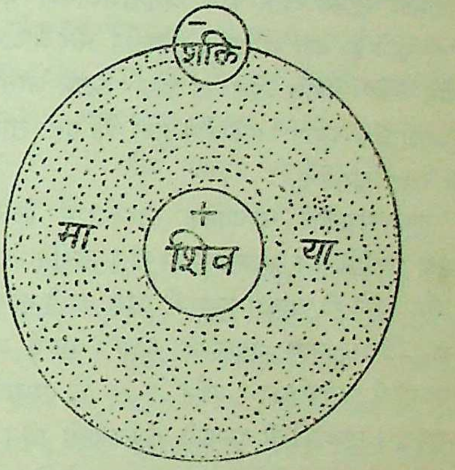

इन दोनोंके कारण ही यह सृष्टि है, जो माया है। इन दोनोंके परस्पर एक दूसरेमें लय हो जानेपर मायाका क्षेत्र अर्थात् जगत्का लोप हो जाता है। बिना शक्तिके शिव शव हो जाता है अर्थात् निष्क्रिय, गतिशून्य। तो अकेले धनात्मक आवेशरूपमें भी शिव संसारकी रचना करनेमें समर्थ नहीं। पर धनात्मक-ऋणात्मक एक ही शक्तिके दो आवेश-प्रकार हैं, जो विद्युत्-युक्त हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में आया है—

'विद्युद्ध्येव ब्रह्म' (५।७।१)

इसमें ऋणात्मक-धनात्मक आवेशोंकी चर्चा नहीं। दोनों ही मूलतः एक होते हुए भी दो रूपोंमें विश्व-प्रपञ्च दिखानेके लिये हैं। इनका एक रूप होना ही महाप्रलय है। योगवासिष्ठमें महाप्रलयके समय जो महाकाली उत्पन्न होती है और फिर शिवमें लीन हो जाती है, उससे इन विद्युत्-आवेशोंकी तुलना कीजिये, जब ये दोनों मिलकर एकरूप हो जायँ। दोनोंमें क्या अन्तर है ? पर अभी भी प्रश्न उठता है कि क्या इस भौतिक

जगत्के ये विद्युत्-विन्दु ही वह शिव या शक्ति हैं ? नहीं । 'पिण्डे-पिण्डे ब्रह्माण्डे-ब्रह्माण्डे' के अनुसार कि जो पिण्डमें वही ब्रह्माण्डमें है, तो जो विद्युन्मय 'वह' है, उसीका प्रतिरूप यहाँ भी होगा । शरीरमें असी और वरणा नाड़ियोंके संगम-स्थानको ही 'वाराणसी' कहा गया है जहाँ निवास करनेसे (प्राणके केन्द्रस्थसे अर्थ है) मोक्षकी प्राप्ति होती है । यह स्थान भ्रूमध्यमें है । यही शंकरका तीसरा नेत्र है । उसीका प्रतिरूप इस संसारमें असी और वरुणा नदीके संगमपर बसा वाराणसी है, जिसे काशी भी कहते हैं ।

यह धनात्मक-ऋणात्मक रूप नर और नारीके रूपमें भी समस्त सृष्टिमें व्याप्त है । अर्धनारीश्वरका जो प्रतिरूप इस संसारमें है, वही परमाणुके इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉनमें भी । इसमेंसे 'जो' आवेश क्षेत्र या माया उत्पन्न करती है वही महामाया है । मूलतः एक होते हुए भी यह सृष्टि, पालन और संहार करती है ।

दुर्गासप्तशतीके 'प्राधानिक रहस्यम्' में लिखा है कि सृष्टिके आदिमें एक महालक्ष्मी ही थीं । उन्होंने अपने शरीरसे ठीक अपने ही आकार-प्रकारकी एक काली स्त्रीको प्रकट किया, जिसका नाम महाकाली हुआ । बादमें अन्य देवी-देवताओंकी उत्पत्तिका वर्णन है । जो महालक्ष्मी थी प्रभायुक्त । सुवर्णकी-सी दमकती कान्तिवाली थी । विज्ञानकी भाषामें इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार भी हो सकता है । विद्युत्के ऋणात्मक और धनात्मक आवेश जब आपसमें मिलते हैं तो तेज या प्रकाश उत्पन्न होता है तो इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन अर्थात् परमाणुके ऋणात्मक और धनात्मक आवेश भी जब एकमें मिले थे तो वह विन्दु एक तेजपुञ्जके रूपमें ही था, जो अकेला था । यह सृष्टिके लयकी स्थिति है । विज्ञानने यह माना है कि परमाणुके इन आवेश-बिन्दुओंमें स्वतःकी इच्छाशक्ति भी होती है । अब जबतक प्रोटॉन विन्दुसे इलेक्ट्रॉन बिन्दु अलग नहीं होता, निष्क्रिय (स्वतः अपनी ही इच्छासे) ब्रह्मसे शिव और शक्तिरूप अलग नहीं होता, सृष्टिकी प्रक्रिया या मायाका क्षेत्र उत्पन्न नहीं होता । इलेक्ट्रॉन जब प्रोटॉनसे अलग हुआ तो वह शक्तिपुञ्ज आवेश ही महाकालीका रूप हुआ । प्रकाशका अभाव ही अन्धकार है जो काला है । चूँकि दोनों आवेशोंके अलग होनेपर वह एक विन्दु तेजपुञ्ज नहीं रह गया, बल्कि इलेक्ट्रॉनमें उस प्रकाशका सर्वथा अभाव होकर वह शक्तिरूपमें सक्रिय हो गया—वह महाकालीका रूप हुआ । अब अन्य देवी-देवताओंकी उत्पत्तिपर भी ध्यान दें । मूलतः सब एक हैं । इनकी उत्पत्तिको हम भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी रचनामें देखें, जहाँ उसी इलेक्ट्रॉनकी भिन्न-भिन्न संख्या, भिन्न-भिन्न कक्षोंमें तीव्रगतिसे घूमती हुई विभिन्न प्रकारके तत्त्वोंको बनाती है । तत्त्वों और यौगिकोंसे निर्मित ही यह सम्पूर्ण विश्व है । सबके मूलमें केवल ऋण-धन विद्युत्के आवेश ही हैं । 'विद्युद्ध्येव ब्रह्म' । विज्ञानकी भाषामें वही शक्ति है, वही शिव है ।

ऊपर हम कह चुके हैं कि अनेक शक्ति (Energy) रूपोंमें भी मूल शक्ति एक ही है और ये सब शक्तियाँ उस महाशक्तिकी अनन्त शक्तिकी एक छाया हैं, एक किरण हैं । पर एक बूँद जल भी जल है और सागरका जल भी जल ही है । तात्त्विक दृष्टिसे दोनों एक हैं । इसी प्रकार शक्ति और महाशक्तिका अन्तर समझना चाहिये । ऊपर हम क भी कह चुके हैं ऋणात्मक-धनात्मक विद्युत् आवेश भी मूलतः एक ही हैं, पर मायाका क्षेत्र उत्पन्न करनेके लिये वे अलग-अलग हैं । एकके होनेपर दूसरेका होना भी अनिवार्य है । ये उसी प्रकार हैं जिस प्रकार प्राण स्त्री-पुरुष न होते हुए भी स्त्री-पुरुषरूपी देहमें जाकर ही, दोनोंके द्वारा सृ पैदा करनेमें समर्थ है । विज्ञानके इसी तत्त्वको इस प्रकार स्पष्ट किया गया है । शिव-शक्ति भेदका उत्तर माँ स्वयं देती है । एक बार देवताओंने जाकर भगवतीसे पूछा—

कासि त्वं महादेवि !

हे महादेवि ! आप कौन हैं ? तो भगवतीने उत्तर दिया—

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगदुत्पन्नम्

(श्रुति

मैं ब्रह्मस्वरूपिणी हूँ; प्रकृतिपुरुषात्मक जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार देवीभागवतमें कहा है—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च ।
योऽसौ साहमहं यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात् ॥

मैं और ब्रह्ममें सदा एकत्व है, भेद कभी नहीं है, जो वह है सो मैं हूँ और जो मैं हूँ सो वह है । भेद भ्रान्ति-कल्पित है, वस्तुतः नहीं है ।

मुण्डमालातन्त्रमें शिव और शक्तिको इस तरह कहा गया है—

यथा शिवस्तथा दुर्गा या दुर्गा विष्णुरेव सः ।
अत्र यः कुरुते भेदं स नरो मूढदुर्मतिः ॥
देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत् ।
भेदकृन्नरकं याति रौरवं नात्र संशयः ॥

श्रीशंकराचार्यने **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** कहकर शि

अद्वैतवादका प्रतिपादन किया था, जिस सत्यको हमारी श्रुति-स्मृतिने गाया है, विज्ञानके अन्तरालमें वही आश्चर्यजनकरूपसे मिलता है । विज्ञान केवल इस महासत्यको स्वीकार करनेमें हिचकता है, पर आखिर कबतक ?

रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ

(वाल्मीकिकी उत्पत्तिकी कथा)

(लेखक—डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत) साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०)

वाल्मीकि नारद घटजोनी । निज निज मुखनि कही निज होनी ॥

रामकाव्य सहस्राब्दियोंसे मानव-समाजमें बड़ा ही लोकप्रिय सिद्ध हुआ है । वाल्मीकिसे लेकर आजतक देश-विदेशके सैकड़ों कवियोंने इसे अपने काव्यका विषय बनाया है । सभ्यताके निर्माणमें 'राम' लोकके लिये एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा-स्रोत रहे हैं । भारतमें रामकथा सदैव एकरूपमें ही प्रचलित नहीं रही । युगके बदलते हुए दृष्टिकोणने उसे भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे सदैव देखा है । रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें प्राप्त रामकथा भेदकी स्पष्ट रेखाओंको बता रही है ।

'तुलसी' ने नाना पुराण, निगम तथा आगमोंका आधार लेकर रामकथाका निर्माण किया है । इसके अतिरिक्त अन्य प्राकृत कवियोंके काव्योंने भी रामकथा लिखनेमें 'तुलसी'को यत्किंचित् सहायता दी है । सच बात तो यह है कि 'तुलसी' के साहित्य-जगत्‌में आते-आते भारतीय भाषाओंके प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्यमें रामकथाका सृजन अनेक रूपोंमें हो चुका था । तुलसीने स्वतः लिखा है—

व्यास आदि कबि पुंगव नाना । जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना ॥
चरन कमल बंदौं तिन्ह केरे । पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे ॥
कलि के कबिन्ह करौं परनामा । जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा ॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने । भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने ॥

× × × ×

बंदौ मुनिपद कंजु रामायन जेहि निरमयउ ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित ॥

(रामचरितमानस १ । १४)

इससे स्पष्ट है कि तुलसीसे पूर्व वाल्मीकि तथा व्यास आदि कवि रामचरितका बखान कर चुके थे तथा रामकथा प्राकृत कवियोंकी वाणीसे भी वर्णित की जा चुकी थी । रामकथाको भारतीय संस्कृति और साहित्यका प्राण माना जाता है । आदर्शवादी 'राम' ने जीवनमें कृत सुकर्मोंसे लोकको जो प्रेरणा दी, उससे लोक-मानस सद्धर्मकी ओर अग्रसर हुआ । मर्यादामार्गके दृढ़ स्तम्भ 'राम' का चरित्र समयके साथ ज्यों-ज्यों विकसित होता गया, वैसे-वैसे वह लोकके आकर्षणका और भी अधिक केन्द्र-बिन्दु बनता गया । 'रामचरित सत कोटि अपारा' की उक्ति रामकी लोकप्रियताका प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

वैसे तो रामकथाके कतिपय पात्रोंका विवरण हमें वैदिक साहित्यमें ही मिल जाता है, लेकिन समग्र रूपसे रामकथाका प्रथम परिचय हमें आदिकवि वाल्मीकिने ही कराया है । पता नहीं, अपने इस विशाल उद्देश्यकी पूर्तिके लिये महर्षिको वैदिक वाङ्मयके साथ लोकप्रचलित विभिन्न कितने स्रोतोंका सहारा लेना पड़ा होगा । वाल्मीकिके बाद 'राम' के चरित्रको केन्द्रबिन्दु मानकर लोकमें अनेक रामायण-ग्रन्थोंका प्रणयन हुआ, जिनमें रामके एक महान् लोकनायक जीवनके साथ ब्रह्मत्वके विकसित आदर्शोंकी भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे समीक्षा की गयी है । 'वाल्मीकि' से लेकर 'तुलसी' तक आते-आते लोकमानसके स्वाभाविक विकासने रामके चरित्रको भी अवश्य विकसित किया है, अनेक रामायण-ग्रन्थ इसके साक्षी हैं ।

रामचरितमानसमें रामकथाके अतिरिक्त हमें विभिन्न युगकी अन्य कथाएँ भी देखनेको मिलती हैं । इनमें कुछ कथाएँ वैदिक कालकी, कुछ रामायण-महाभारतयुगीन और कुछ शुद्धरूपसे पौराणिक युगकी कही जा सकती हैं । विशाल भारतीय वाङ्मयमें इन कथाओंपर बहुत कुछ लिखा जा चुका है । लोकमें भी कर्ण-परम्पराके आधारपर ये कथाएँ बहुत प्रचलित हैं । महात्मा 'तुलसी' ने इसीलिये इन कथाओंकी 'मानस'में सूचनामात्र दी है । इन कथाओंमें हमें कहीं कविका नैतिक, कहीं आध्यात्मिक, कहीं दार्शनिक, कहीं राजनीतिक

तो कहीं सामाजिक दृष्टिकोण देखनेको मिलेगा। मानसमें जिन कथाओंकी सूचनामात्र कविने हमें दी है, इस प्रकारकी कथाएँ ही साहित्यमें अन्तःकथाओंके नामसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रकारकी अन्तःकथाएँ रामायणमें अनेक हैं। यहाँ हम 'वाल्मीकिकी उत्पत्ति' इस अन्तःकथाका ही संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। इस अन्तःकथाका संकेत 'मानस'की जिन चौपाइयोंमें मिलता है, वे इस प्रकार हैं—

'बालमीकि' नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥
(बा० का० ३। ३)

× × × ×

जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥
(बा० का० १९। ५)

× × × ×

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥
(अयो० का० १९४। ८)

× × × ×

पाई न केहिं गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
(उ० का० १३९। १)

यहाँ इस कथाका उल्लेख 'सत्संगति' तथा 'नाम-माहात्म्य' प्रसङ्गमें हुआ है। 'मानस' में इस कथाकी सूचनामात्र दी गयी है। कथाका मूल रूप परवर्ती कतिपय रामायण ग्रन्थों तथा पुराणोंमें मिलता है।

यद्यपि 'वाल्मीकि' यह शब्द कुछ संहिता-ग्रन्थों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंमें प्राप्त होता है,[1] लेकिन इन ग्रन्थोंमें वह शब्द किसी व्यक्तिविशेषके लिये प्रयुक्त न होकर केवल 'वल्मीक' (बाँबी) के लिये ही आया है। हो सकता है, 'वाल्मीकि' इस नाम-निरुक्तिमें आगे चलकर जो आख्यान लिखा गया, उसके लिये इन वैदिक ग्रन्थोंने कुछ सहायता दी हो। नीचे हम कतिपय रामायणों तथा पुराणोंका आधार लेकर संक्षेपमें इस कथापर प्रकाश डालनेका प्रयास कर रहे हैं—

अध्यात्मरामायण—इस रामायणमें यह कथा अयोध्याकाण्ड सर्ग ६, श्लोक ६४–८८ में आयी है। यहाँ महर्षि वाल्मीकिने वनवासके समय अपने आश्रमपर पधारे हुए भगवान् रामको अपना वृत्तान्त स्वयं सुनाया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें रामको बताया कि 'मैं आपके नामके प्रभावसे ही आज महर्षिपदको प्राप्त हुआ हूँ।'[2] यह कथा यहाँ राम-नामके प्रभावके सम्बन्धमें ही कही गयी है। कथासार इस प्रकार है—

'वाल्मीकि जन्ममात्रसे ब्राह्मण थे, पर बचपनसे ही उनका सम्बन्ध किरातोंसे हो गया। वे किरातोंमें पलकर बड़े हुए, अतः किरातोंके समस्त आचार उनमें आ गये। उनका विवाह भी एक शूद्रासे हुआ। उस शूद्रासे उनके बहुतसे पुत्र हुए। इस प्रकार चोरोंके साथ रहते हुए वे भी पूर्ण चोर बन गये। धनुष-बाण लेकर नित्य ही वे जीवोंको मारने लगे। एक बार अग्निके समान तेजस्वी सप्तर्षिगण उस वनसे निकले। वे उनके भी वस्त्रादि लूटनेके लिये उनकी ओर दौड़े। तब मुनियोंने उससे पूछा कि 'अरे द्विजाधम! जिन पुत्र और स्त्री आदिके लिये तू प्रतिदिन पापकर्म संचित कर रहा है, क्या वे तेरे इस पापकर्मके भागी हैं?' इस बातको पूछनेके लिये मुनियोंने उसे घर भेजा। उसने सभीसे पूछा। सभीने अपनेको पापका भागी नहीं बताया। इससे व्याधको निर्वेद हुआ। वह पश्चात्ताप करता हुआ मुनियोंके समीप आया और उनके दर्शनोंसे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। तब उसने मुनियोंसे अपने उद्धारका उपाय पूछा। शरणागतकी रक्षा करनेके निमित्त उन्होंने आपसमें परामर्श किया और अपने लौटकर आनेसे पूर्वतक उसे उन्होंने 'मरा-मरा' जपनेकी आज्ञा दी। इस प्रकार मुनि उपदेश देकर चले गये और वह व्याध भी जाप करता हुआ तदाकार हो गया। बहुत समय बीतनेपर व्याधके स्थिर शरीरपर पक्षियोंने बाँबी रख ली। सहस्र युग बीतनेपर सप्तर्षि पुनः आये। उन्होंने उसे बाँबीसे बाहर निकलनेकी आज्ञा दी। वल्मीक (बाँबी) से निकलते ही मुनियोंने उनका 'वाल्मीकि' नाम रक्खा। ऋषि आशीर्वाद देकर चले गये।' वाल्मीकिने रामको बताया कि 'हे राम! मैं तुम्हारे नामके प्रभावसे इस प्रकारका हुआ हूँ।'

---

[1] दे० तैत्ति० सं० १। १। ३। ४; काठक सं० १९। २; ३१। १२; ३५। १९; वाजस० सं० २५। ८; शत० ब्रा० २। ६। २। १७; तैत्ति० ब्रा० १। १। ३। ४ तथा बृहदा० उप० ४। ४। १०।

[2] राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्।
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान्॥
(अध्यात्म० अयो० ६। ६

अहं ते राम नाम्नश्च प्रभावादीदृशोऽभवम् ।
(अध्यात्म० २ । ६ । ८७)

अध्यात्मरामायणमें इस प्रकार हमें वाल्मीकिके केवल एक ही जन्मकी कथा प्राप्त होती है—जिसमें वे जन्मसे ब्राह्मण होते हुए भी संस्कारोंसे व्याध बन गये और उसी जन्ममें सप्तर्षियोंके सत्सङ्गसे महर्षि बने । इसके विपरीत आनन्दरामायणमें वाल्मीकिके तीन जन्मोंकी कथा है । इस रामायणके आधारपर कथा इस प्रकार है—

आनन्दरामायण—'पम्पासरोवरके पास कोई शङ्ख नामक सिद्ध ब्राह्मण रहता था । एक बार वैशाख महीनेमें जब वह एक निर्जन वनमें जा रहा था, तब वहाँ एक व्याधने उसके जूते, छतरी तथा वस्त्रादि सभी छीन लिये । शङ्ख जलती धूपमें कंकड़ोंसे और गर्म बालूसे जलने लगा । तब व्याधने दयाकर उसके फटे और छोटे जूते उसे लौटा दिये ।'

यह व्याधके एक जन्मकी घटना है । व्याधमें पूर्वजन्मके संस्कारसे ही दया उत्पन्न हुई, जिसके कारण उसने शङ्खको उसके जूते वापिस किये । शङ्खने भी योगसे जानकर उसे उसके पूर्वजन्मका आख्यान सुनाया, जो इस प्रकार है—

'पूर्वजन्ममें वह स्तम्भ नामक एक ब्राह्मण था । दुःसङ्गसे वह वेश्यागामी हुआ । उसके एक विवाहिता पत्नी भी थी, जो बड़ी पतिव्रता थी । वह पतिकी प्रसन्नताके लिये वेश्या तथा स्तम्भ दोनोंकी ही सेवा करती थी । एक बार स्तम्भको भगन्दरका रोग हो गया । वेश्या उसकी सम्पत्ति समाप्त होते ही चली गयी; लेकिन उस विवाहिताने स्तम्भकी उस समय भी बड़ी सेवा की । एक बार वैशाखमें देवल ऋषि स्तम्भके घर पहुँचे । कुछ धर्म-बुद्धिसे स्तम्भने अपनी पत्नीको उनकी सेवा करनेकी आज्ञा दी । पतिकी आज्ञासे स्तम्भकी पत्नीने मुनिका चरणोदक लिया । उसने उस जलको स्वयं पीकर स्तम्भके सिरपर भी कुछ डाला और कुछ पिलाया । कुछ समय बाद स्तम्भको संनिपात हुआ । कफके प्रकोपसे उसके दाँत जकड़ गये । अतः बेहोशीमें दवा पिलाते हुए अपनी पत्नीकी एक अंगुली उसने काट ली । अन्तमें वेश्याका स्मरण करते हुए स्तम्भकी मृत्यु हुई । इस प्रकार स्तम्भ ही व्याध बना और वेश्या भीलनी ।'

शङ्खने व्याधको बताया कि देवल मुनिके चरणोदक-पानके पुण्यसे ही उसमें दयाभाव उत्पन्न हुआ, जिसके कारण उसने उसके जूते लौटाये । शङ्खने दयाकर व्याधको उसके भावी जीवनके विषयमें भी बताया, जो इस प्रकार है—

'भविष्यमें कोई कृणु नामक तपस्वी तप करते होंगे । तपस्याके अन्तमें संयोगसे उनकी आँखोंसे वीर्य निकलेगा । वह उस वीर्यको एक बाँबीमें रख देंगे, जिसे एक सर्पिणी खा जायेगी । उसी सर्पिणीसे किरातरूपमें तुम उत्पन्न होओगे । बादको सप्तर्षियोंसे तुम्हारी भेंट होगी और उन्हींकी कृपासे तुम वाल्मीकि ऋषि हो जाओगे । बादको ब्रह्माकी आज्ञासे तुम राम-कथाका निर्माण करोगे और इस प्रकार विश्व-विख्यात बनोगे ।'

(आनन्द० राज्य० उ० सर्ग १४)

यह है आनन्दरामायणमें प्राप्त वाल्मीकिके तीन जन्मोंकी कथा—प्रथम जन्ममें वे स्तम्भ थे, द्वितीयमें व्याध और तृतीयमें कृणुके वीर्यसे पन्नगीके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले किरात, जो बादको वाल्मीकि कहलाये ।

स्कन्दपुराण—इस पुराणमें यह कथा आवन्त्यखण्ड, अवन्ती-क्षेत्र-माहात्म्य, अध्याय २४; प्रभासखण्ड प्रभास-क्षेत्रमाहात्म्य, अध्याय २७८, तथा वैष्णवखण्ड, वैशाखमास-माहात्म्य, अध्याय १७-१८ तथा २१ में—तीन स्थानोंपर मिलती है । यहाँ वैष्णवखण्डकी कथा तो कुछ अंशोंमें पीछे वर्णित आनन्दरामायणकी कथासे मिलती है, लेकिन आवन्त्यखण्ड तथा प्रभासखण्डकी कथा भिन्न है । संक्षेपमें तीनों स्थानोंकी कथाका विवरण इस प्रकार है—

आवन्त्यखण्ड—प्राचीन कालमें सुमति नामका एक भृगुवंशी ब्राह्मण था । उसकी पत्नी कौशिकवंशकी थी । सुमतिके पुत्रका नाम अग्निशर्मा था । पिताने उसे बहुत पढ़ाना चाहा, पर वह नहीं पढ़ पाया । एक बार उसके देशमें बहुत दिनोंतक वर्षा नहीं हुई, अतः देशके लोग दक्षिण दिशामें चले गये । सुमति भी पुत्र और पत्नीके साथ विदिशाके वनमें आश्रम बनाकर रहने लगा । वहाँ वनमें रहते हुए अग्निशर्माका सम्पर्क लुटेरोंके साथ हो गया । वह अपने ब्राह्मणत्वको भी भूल गया और व्याधोंके साथ रहते हुए वह भी व्यक्तियोंको लूटने लगा । उसने किसी भीलनीसे अपना विवाह भी कर लिया । एक बार उसे मार्गमें सात ऋषि जाते हुए दिखायी दिये । उसने उनसे वस्त्र, छाता, जूते आदि सभी रखा लिये । ऋषियोंने उसे बहुत समझाया और पापके भागी पिता-पत्नी आदि हैं या नहीं, यह पूछने भेजा । तब घरपर उससे सभीने कहा कि तुम्हारे पापसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है ।

इसपर अग्निशर्माकी आँखें खुलीं; वह सप्तर्षियोंकी शरणमें गया। अत्रिने कृपापूर्वक उसे राम-नामकी दीक्षा दी। अग्निशर्माने तेरह वर्ष अविचल रूपसे राम-नामका जप किया। उसके ऊपर बाँबी भी जम गयी। तेरह वर्ष बाद वे ऋषि उधरसे पुनः निकले। उन्होंने बाँबीसे रामनामकी ध्वनि सुनी। तब उन्होंने अग्निशर्माको बाँबीसे बाहर निकाला और उसका नाम वाल्मीकि रक्खा। वाल्मीकिने कुशस्थलीमें महादेवकी आराधना कर दिव्य कवित्व-शक्ति प्राप्त की और शक्ति पाकर रामायणकी रचना की।

प्रभासखण्ड—इस स्थलकी कथा प्रायः आवन्त्यखण्डकी कथाके समान ही है। यहाँ अग्निशर्माके स्थानपर वैशाख नाम दिया है तथा शिवकी आराधनाके स्थानपर यहाँ वाल्मीकिद्वारा देविकाकी पूजा करनेपर उन्हें कवित्व-शक्तिसम्पन्न बताया है। यहाँ वाल्मीकिने देविकाकी पूजा सप्तर्षिकी आज्ञासे ही की है। शेष कथा पूर्ववत् है।

वैष्णवखण्ड—स्कन्दपुराणके इस स्थानपर आनन्दरामायणकी भाँति वाल्मीकिके तीन जन्मोंकी ही कथा है। जैसा हम लिख चुके हैं, यह कथा आनन्दरामायणमें प्राप्त कथासे बहुत मिलती है, अतः यहाँ हम कथाके केवल उन्हीं अंशोंका निरूपण करेंगे, जो आनन्दरामायणसे भिन्न हैं। भिन्न कथांश इस प्रकार हैं—(अ) यहाँ शङ्ख नामक कोई सिद्ध ब्राह्मण एक बार गोदावरी नहाने गया। मार्गमें उसे एक व्याध मिला। ब्राह्मणदर्शनसे व्याधकी मति पवित्र हुई। शङ्खने व्याधको वैशाख-मासमें स्नान एवं विष्णुकी पूजा करनेको कहा। व्याधने शङ्खसे अपने पूर्वजीवनके विषयमें भी पूछा। शङ्खने उसे उसके पूर्व-जीवनका इतिहास बताया। आनन्दरामायणमें शङ्ख और व्याधका साक्षात्कार तो कराया गया है, लेकिन भिन्नरूपमें। वहाँ व्याधने शङ्खको लूट लिया था। स्कन्दपुराणकी भाँति वहाँ शङ्खने उसे विष्णुपूजा आदि नहीं बतायी। (आ) व्याधके पूर्वजन्मकी कथा, जिसे शङ्खने व्याधको बताया, आनन्दरामायणसे हूबहू मिलती है। उस जन्ममें व्याध स्तम्भ नामका ही कोई ब्राह्मण था। (३) तीसरे जन्ममें व्याध शङ्खद्वारा बताये हुए नियमित अनुष्ठानसे वल्मीक मुनिका पुत्र वाल्मीकि नामसे विख्यात हुआ। आनन्दरामायणमें वाल्मीकिको तीसरे जन्ममें कृणु और पन्नगीसे उत्पन्न कहा गया है।

प्रेयसकी गन्ध महकाओ फिर

(ब्रह्मवैवर्त्तकी श्रीराधासे—)

(रचयिता—प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण' एम्० ए०)

सुरसा-सी बाधाएँ राह बंद करती हैं,
उड़ती हुई शान्तिकी कपोती पछताती हैं;
अस्मिताके अन्धड़से कण-कण कँप जाता है,
श्रेयस्के उपवनमें आत्मा अकुलाती है;
ज्ञानकी बाती उकसाओ फिर। प्रेयस···

प्रतिद्वन्द्विताके ज्वारमें चंचल मन कँपता है,
लता सब विस्मित हैं, फूल सब उदासे हैं;
अतृप्तिके भाव-शिशु जाग कुलबुलाते हैं,
जडताके बन्धनमें विकल प्राण प्यासे हैं;
प्यास हरो, रास नव रचाओ फिर। प्रेयस···

कण-कणपर राखकी पर्त्त नयी चढ़ती है,
चेतनताका बिरवा अधउगा, रोता है;
चिन्तनका द्वेषयुक्त प्रवाह उफनाता है,
अहंके अँधेरेमें सब कुछ लुप्त होता है;
दूधिया चाँदनी बिछाओ फिर। प्रेयस···

शक्तिमत्त स्वत्वका विवर्द्धन ही करते हैं,
पुण्य लक्ष्यके लिये अपुण्य राह खुलती है;
करुणकलित साम्य ज्योति दीख नहीं पड़ती है,
उद्धतता, कालिखकी बरषामें धुलती है;
शक्तिकी परिभाषा बनाओ फिर।
प्रेयसकी गन्ध महकाओ फिर॥

दीपावली-विज्ञान

(लेखक—श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव')

दीपावलीसे भारतराष्ट्र राष्ट्रलक्ष्मीको कब प्रसन्न करनेमें समर्थ बन सकेगा ? इस प्रश्नका विचार इस लेखमें किया है।

श्री और लक्ष्मीकी उत्पत्ति—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां 'लक्ष्मी'र्निहिताधि वाचि ॥
(ऋ० १० । ७१ । २)

'सत्तू छननीसे छाने, त्यों पंडित बात निकलती है।
वाणी मनसे शुद्ध करे तहँ श्री व मित्रता रहती है ॥'

दीपावलीपर्व वैदिक-संस्कृतिविरोधी भी मनाते हैं। निगमागम-शास्त्रसिद्ध भगवान् विष्णुकी अर्द्धाङ्गिनी महालक्ष्मीका पूजनादि करते हैं। क्यों करते हैं ? इसका उत्तर यही है कि भारतीय सांस्कृतिक आयोजन सृष्टिकी मूलाधिष्ठात्री महामाया जगज्जननीके सनातन विधि-विधानोंके द्वारा व्यवस्थित हुए हैं, उस महाशक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले नित्यसिद्ध विधि-विधानोंका 'न'-'न' करते हुए भी **'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'—'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** इत्यादि आप्त-सिद्धान्तके अनुसार विवश बनकर करना ही पड़ता है। जिस आराधनाके बलपर महालक्ष्मीस्वरूपिणी योगमायाका वैसा ही अनुग्रह हमें प्राप्त होता रहता है, जिससे इस लोकमें अभ्युदय होता है और आत्माके लिये निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो जाती है।

माता लक्ष्मीका प्रादुर्भाव समुद्रसे हुआ है, आज भी हो रहा है और कल्पके अन्ततक होता रहेगा। कौन-सा वह समुद्र है ? किसने कैसे इसे प्रकट किया ? इत्यादि रहस्यपूर्ण प्रश्नोंके तात्त्विक स्वरूप-समाधानके लिये ही **'समुद्रमन्थनका आख्यान'** कहा गया है। तीन सृष्टिधाराओंके भेदसे तीनों ही सृष्टिधाराओंके मूलाधार तीन महासमुद्र बने हुए हैं। १ स्वयंभूमूला सृष्टिविद्याका आधार नभस्वान् समुद्र है, २ सूर्यमूला सृष्टिविद्याका आधार सरस्वान् समुद्र है और ३ पृथ्वीमूला सृष्टिविद्याका आधार अर्णव समुद्र है। १ संयतीत्रैलोक्यके नभस्वान् समुद्रके मन्थनसे प्रकट हुई विश्वलक्ष्मी **महाकाली** कहलायी, २ क्रन्दसीत्रैलोक्यके सरस्वान् समुद्रके मन्थनसे प्रकट हुई विश्वलक्ष्मी **महासरस्वती** कहलायी और ३ रोदसीत्रैलोक्यके अर्णवसमुद्रके मन्थनसे प्रकट हुई विश्वलक्ष्मी **महालक्ष्मी** नामसे प्रसिद्ध हुई। यों एक ही प्रकृति १ अव्यक्ता, २ व्यक्ता-अव्यक्ता एवं ३ व्यक्ता रूपसे तीन होकर क्रमशः १ काली, २ सरस्वती और ३ लक्ष्मीके रूपसे प्रसिद्ध हो रही है। तीनोंकी मूलप्रकृतिका नाम 'महत् प्रकृति' है, जो १ सत्त्व, २ रज और ३ तमोरूप तीन गुणोंसे युक्त है। **१ सत्त्वप्रधाना स्वायंभुवी महाकाली, २ रजःप्रधाना सौरी महासरस्वती एवं ३ तमःप्रधाना पार्थिवी महालक्ष्मी है।**

जिस कूर्म (कछुए) की पीठपर समुद्रमन्थन होता है वह **द्यावा-पृथिवीमण्डल** ही **कूर्म** है। सूर्यके आदित्यप्राण इस त्रैलोक्यमें कूर्माकारमें परिणत होकर ही पार्थिव त्रैलोक्यकी प्रजाके सर्जक बनते हैं। जैसा कि—

एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत।
(शतपथब्रा० ७ । ५ । १)

—इत्यादिसे स्पष्ट है। इसी रूपसे ये द्रष्टा हैं, विश्वके पश्यक हैं। अतएव इन्हें **'पश्यकः'** कहा गया है, यही शब्द वर्ण-परिवर्तनसे **'कश्यपः'** रूपसे परिणत हो रहा है। यह कश्यप ही कूर्मप्रजापति हैं, जिसमें पार्थिव त्रिवृत् (९) पञ्चदश (१५) और एकविंश (२१) रूप भूः, भुवः एवं स्वः नामक त्रैलोक्यस्थित है। श्रुतिने कहा है—

यदकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः इति। स यः स कूर्मः असौ स आदित्यः।
(शतपथ० ७ । ५ । १ । १ से ६ पर्यन्त)

सूर्यकी ज्योति ही पुराणमें मन्दराचल और ज्योतिर्लिङ्ग है। इसे वेदमें स्कम्भ (स्तम्भ-थम्बा) कहा है और इन्द्र भी कहते हैं। देखिये—

स्कम्भे लोकाः, स्कम्भे तपः, स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ १ ॥
इन्द्रे लोकाः, इन्द्रे तपः, इन्द्रेऽध्यृतमाहितम्।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
(अथर्वसं० १० । ७ । २९-३०)

'स्कम्भमें सब लोक रहते हैं, स्कम्भमें तप रहता है, स्कम्भके आधारमें ऋत रहता है। हे स्कम्भ ! मैं तुझे प्रत्यक्ष जानता हूँ कि (तुझ) इन्द्रमें सब समाया है। इन्द्रमें लोक है, इन्द्रमें तप है और इन्द्रमें ऋत रहता है!

हे इन्द्र ! मैं तुझे प्रत्यक्ष जानता हूँ कि (तुझ) स्कम्भमें सब समाया है ।'

यह ज्योतिर्मय अग्निमय ऐन्द्र-स्कम्भ ही वह 'मन्दराचल' है, जिसे स्वयम्भू प्रजापतिने 'समुद्रमन्थनका दण्ड' बना रक्खा है । देखिये—

विश्वकर्मन् भौवन 'मन्द' आसिथ ।
(श० १३ । ७ । १ । १५)

मन्द इत्येष यो धातुरपासर्थे प्रकाशकः ।
अपां विदारणां चैव 'मन्दरः' स निगद्यते ॥
(मत्स्यपु० १२१ । ६१)

मन्थनदण्ड जिस मन्थनकी रज्जुसे युक्त है, वह सर्पणशील (चलनेवाला) प्रचण्ड प्राणात्मक वायु ही है, जिसे संकेत विधिसे 'नाग' कहा गया है । देखिये—

मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम् ।
(महाभारत १ । १८ । १३)

मन्थन करनेवाले सात्त्विक सूर्यके—ऐन्द्र देवप्राण और तामसिक वरुणके असुरप्राण हैं । देव और असुर प्राणवाली प्रकृतिसे प्रकट विश्वमें सभी पदार्थ न्यून या अधिक मात्रासे दोनों प्रकारके बने हुए हैं । गीतामें भी कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
(गीता ७ । १३)

गुणात्मक सत्त्वभाव और दोषात्मक तमोभावसे युक्त प्रकृतिके विश्वमें दैवीसम्पत् एवं आसुरीसम्पत् इन दोनोंका ही सहज संघर्ष अनादिकालसे चल रहा है और जबतक सूर्य-चन्द्र रहेंगे, तबतक चलता ही रहेगा । समुद्रमन्थनसे प्रकट हुए १४ रत्नोंमेंसे एक 'महालक्ष्मी' है । जिसका वरण विष्णुरूपी सूर्यनारायणसे हो जाता है । लक्षण 'व्यक्त'का हुआ करता है एवं प्रकृतिका व्यक्तस्वरूप सूर्यमें ही हुआ है अतएव उसकी कान्तिको 'लक्ष्मी' कहते हैं, लक्ष्मीके दो रूप हैं—अमृतलक्ष्मी 'श्री' है और मर्त्यलक्ष्मी 'लक्ष्मी' है । जैसा कि निम्नलिखित मन्त्रवर्णनसे प्रमाणित है—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, अहोरात्रे पार्श्वे, नक्षत्राणि रूपं, अश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ (य० ३१ । २२)

'श्री औ लक्ष्मी ईश-पत्नियाँ दिन-रजनी हैं दोनों ओर ।
तारागण प्रभुका प्रकाश औ द्यु-भू मुख प्रभु चारों ओर ॥
इसी रूपमें निजको देखो साधक स्तुति करनेवाले !
सर्वलोककी इच्छा होगी—विश्वरूप धरनेवाले ॥

तैत्तिरीय आरण्यकमें—'**ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**' य पाठ है । 'ह्री' का लौकिक अर्थ लज्जा है और शास्त्रीय अ विनय है । 'विनय' देवभावप्रधान है और वह अमृता श्रीरू लक्ष्मीसे सम्बन्धित है । जैसा कि '**विद्या ददाति विनयम्**' से स्पष्ट है ।

विश्वके केन्द्रमें स्थित सूर्यके त्रैलोक्यव्यापक स्वरूप आधार मानकर ही उक्त मन्त्रवर्णन प्रवृत्त हुआ है । केन्द्रस सूर्यसे ऊपर स्वयम्भूका और परमेष्ठीका श्रीभाग है और नीचे चन्द्रका और पृथिवीका लक्ष्मीभाग है । दोनों इसके उ अर्धाकाशके पूरक बनते हैं, जिसके लिये—'**सोऽयमाकाश पत्न्याऽऽपूर्यते**' प्रसिद्ध है । अतएव पूरक या पूर्णताप्रवर्तक स संवत्सरस्वरूप-सम्पादक अमृत-मृत्युभाववाले श्री और लक्ष्मीभा इस संवत्सररूप आदित्यपुरुषकी 'पत्नी' कहलायी हैं । ३६ अहः (दिन) चितियाँ तथा ३६० रात्रि चितियाँ ऐसी मिलक ७२० इष्टका चितियाँ (अग्नि सोम-चितियाँ) ही इस संवत्स पुरुषके दक्षिण और उत्तर पार्श्व हैं । सोम (रात्रि) गर्भि अहः (अग्नि) की चितियाँ आग्नेय दक्षिणपार्श्व है ए अग्नि (अहः) गर्भित रात्रि (सोम) की चितियाँ सौम वामपार्श्व है । नक्षत्र ही इसके बाह्य भौतिक—रूपसौन्दर्यके प्रतीक हैं । जैसा कि कहा है—

'यावन्त्येतानि नक्षत्राणि, तावन्तौ लोमगर्ताः ।'
(शत० १० । ४ । ४ । २

'तेजसां गोलकः सूर्यः—नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः ।'
(ज्यो०

द्यौ और पृथिवी ही अश्विनीप्राण है । यही इस सौ संवत्सरका व्यात्तिस्थानरूप मुखस्थान है, जैसा कि—

'अश्विनौ हि द्यावापृथिव्यौ । इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम् ॥'

—इत्यादि ब्राह्मण श्रुतिसे स्पष्ट है । ऐसे इस सर्वकामपू संवत्सरपुरुषसे ही उसके लिये यज्ञका अधिष्ठाता द्विजा यही कामना करता रहता है अर्थात् ऋषि देवभाववाले मानव को इस प्रजापतिपुरुषसे मानो यही कामना व्यक्त करने आदेश दे रहे हैं कि—

'इष्णन्-इषाण' कर्मफलमिच्छन् इषाण-इच्छां कुरु, इच्छ इति यावत्'—

तुम उससे यही इच्छा करो । **अमुं इषाण** अर्थात् उस परलोकात्मक आत्मबुद्धिवाले मोक्षकी इच्छा करो, सर्वलो

मा इषण अर्थात् 'अभ्युदयरूपा लोकसमृद्धिकी इच्छा करो। तात्पर्य अमृत-मृत्युमय, श्री एवं लक्ष्मीयुक्त सूर्यप्रजापतिकी उपासनासे मानवके अभ्युदय और निःश्रेयस काम सिद्ध हो जाते हैं।' श्रीका अर्थ है—'विद्या' एवं 'लक्ष्मी' का अर्थ है—'भौतिक सम्पत्ति।' विद्या ही माता **'शारदा'** है और भूतसम्पत्ति ही माता **'लक्ष्मी'** है। शारदारूपा श्रीसे समन्विता भूतसम्पत्तिरूपा लक्ष्मी ही भारतीय सांस्कृतिक 'लक्ष्मी' की मौलिक स्वरूप-व्याख्या है। धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य नामकी भगसम्पत्तियाँ ही 'श्री' हैं। यह अमृतसूर्यात्मिका हैं, जिसका अर्थ—स्वयम्भूगर्भिता परमेष्ठीकी व्यक्त-अव्यक्ता **'महासरस्वती'** है। सरस्वती ही 'श्री' है, 'रस' को ही वेदभाषामें 'श्री' कहा गया है। जैसा कि—

अथ या—**एतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो रसः आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्।** (शत० ६।१।१।४)

—इत्यादिसे स्पष्ट प्रमाणित है।

संस्कृतिके संदेशवाहक भारतीय विद्वद्वर्गकी दासतापूर्णा प्रज्ञामें इस अनार्ष काल्पनिक भ्रान्त धारणाको **दृढमूल** प्रमाणित कर दिया है कि 'जहाँ सरस्वतीका निवास है, वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती एवं जहाँ लक्ष्मीका निवास है, वहाँ सरस्वती नहीं रहती।' उपर्युक्त **'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि'** के स्थानमें शारदाविहीन क्षेत्रोंमें आयी हुई लक्ष्मी सर्वथा मन-वचन-कर्मसे अलक्ष्मीरूपमें ही तो परिणत हो जाती है।

भृगुका सोम ही वह 'अमृत' है, जिसका देवताओंने अङ्गिरारूपा सरस्वतीको मूल प्रतिष्ठा बनाकर पान किया और आपोमय असुर आपोमयी विमोहिनी वैष्णवीमायासे विमोहित होकर, सरस्वतीसे वञ्चित होकर लक्ष्मीके अनुग्रहके साथ-साथ सोम—अमृतप्राप्तिसे भी वञ्चित बन गये। जिस प्रकार ज्ञानशक्तिका प्रधान उत्तरदायित्व आत्मनिष्ठ ब्राह्मणसे सम्बन्धित है, क्रियाशक्तिरूप पौरुषका उत्तरदायित्व बुद्धिनिष्ठ क्षत्रियसे सम्बन्धित है, उसी प्रकार अर्थशक्तिरूप 'वित्त' का उत्तरदायित्व मनोधर्मा वैश्यसे ही समन्वित माना गया है। लोकलक्ष्मीके इसी भावसे कहा है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
(ऋ० १०।७१।२)

'जिस प्रकार भुने हुए जौकी धानीका सत्तू बनानेके लिये (पहले पकी हुई जौ-राशिको) उसे 'तितउ'—शूर्प—सूपड़ेसे साफ किया जाता है, उसी प्रकार परिवारमें, समाजमें या राष्ट्रमें प्रज्ञाशील मानव तितउरूप मनसे 'वाक्'रूपा पकी हुई यवराशिको स्वच्छ—निर्मल बना लेते हैं; उस परिवार, समाज या राष्ट्रके धीर मानव ही (दोषरहिता वाक्के अनुग्रहसे राग-द्वेषरहित होकर परस्पर) सख्यभाव (मैत्रीभाव) स्थापित करनेमें समर्थ बन जाया करते हैं। सख्यभाववाले ऐसे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय मानवोंकी वाणीमें ही अभ्युदयकारिणी भद्रा-मङ्गलमयी लक्ष्मी निवास करती है।'

अध्यात्ममें—स्वयम्भूका अव्यक्त, परमेष्ठीका **महत्** एवं अमृतसूर्यका **अमृतविज्ञान,** इन तीनोंकी समष्टिरूपा आत्मश्री ही मानवका **'आत्मभाव'** है, जिसके आधारपर मर्त्यसूर्यकी **बुद्धि,** चन्द्रका **मन** और पृथिवीका **शरीर,** इन तीनोंकी समष्टिरूपा लोकलक्ष्मी स्थित है। इन तीनों लक्ष्मीपर्वोंके संग्रहके लिये ही मन्त्रश्रुतिमें क्रमशः **धीराः-मनसा-वाचन्** ये शब्द आये हैं। बुद्धि, मन और शरीर—इन तीनोंका जहाँ साथ है, वहाँ सौख्य है या **मैत्री** है, वहाँ ही लक्ष्मीका निवास है, **यही** सारांश है। बौद्धिक श्रम **तप** कहलाया है, मानसिक श्रम **कामना** नामसे प्रसिद्ध है एवं शारीरिक श्रम **श्रम** नामसे प्रसिद्ध है। तप, काम और श्रमके सह समन्वयसे ही मानवके अर्णवसमुद्रका मन्थन होता है, एवं इस मन्थन-प्रक्रियासे ही लक्ष्मीका आविर्भाव होता है। काम, तप और श्रम करनेवाले मानवोंकी तो वाणीमें ही लक्ष्मी विराजमान रहती है। न केवल वाणीमें ही किंतु वाणीमें, नेत्रोंमें और अङ्ग-प्रत्यङ्गमें लक्ष्मी व्यक्त रहती है। ऐसे अध्यवसायनिष्ठ मानवश्रेष्ठ ही **पुण्यलक्ष्मीक** कहलाये हैं—

यस्य मुखे लक्ष्म भवति, तं 'पुण्यलक्ष्मीकः' इत्याचक्षते।
(श० ८।४।४।११)

'धीराः' शब्द 'बुद्धि'का और उसके परिश्रमरूप 'तप' का संग्राहक है, **'मनसा'** शब्द 'काम' का संग्राहक है एवं **'वाचम्'** शब्द वाङ्मय शरीर और उसके श्रमका संग्राहक है। यों तीन शब्द तप, काम और श्रमके संग्रहके साथ-साथ लक्ष्मीके मूलाधारभूत मनःप्राणवाङ्मय आत्मभावके भी संग्राहक प्रमाणित हो रहे हैं। **'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'** मूलक काम, तप और श्रमका समन्वय ही लक्ष्मीको प्राप्त करा देनेवाला बनता है। सम्पूर्ण विश्वलक्ष्मी मन, प्राण और वाङ्मय प्रजापतिके काम, तप और श्रमरूप अध्यवसायसे ही उत्पन्न हुई है। (क्रमशः)

विवेकानन्द और भारतीय धर्म तथा संस्कृति

(लेखक—श्रीशशिधरजी शर्मा शास्त्री, सर्वदर्शनाचार्य, एम्० ए०)

प्राचीन मत

वैदिक धर्म तथा संस्कृति ही भारतीय धर्म तथा संस्कृति है ।

प्रकृत विषयमें उतरनेसे पूर्व भारतीय धर्म और संस्कृतिका संक्षिप्त परिचय पा लेना अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य भी है । भारतीय धर्म तथा संस्कृति क्या है ? इनका वास्तविक स्वरूप क्या है ?—इसका निर्णय आज पर्याप्त विवादका विषय है । प्राचीन रीतिके मर्मज्ञ विद्वानोंकी सम्मतिमें वही धर्म तथा वही संस्कृति—जिनका उद्भव वेदोंसे हुआ है और इसीलिये जो वैदिक धर्म तथा संस्कृतिके रूपमें प्रख्यात हैं—भारतीय धर्म तथा संस्कृति हैं । उनकी दृष्टिमें इसमें 'मीन-मेष'का कोई अवसर नहीं ।

नवीन मत

सब धर्मोंका समन्वय ही भारतीय धर्म तथा संस्कृति है ।

किंतु, भारत एक विशाल देश है । इसमें विभिन्न धर्मोंके अनुयायी सुदीर्घकालसे निवास करते आ रहे हैं । अतः यहाँ किसी एक धर्मको देश-धर्म स्वीकार करना कठिन पड़ जाता है, इसीलिये नवीन शैलीके विद्वानोंका कहना है कि भारतमें पाये जानेवाले सब धर्मोंकी समष्टि ही भारतीय धर्म है । सब धर्मोंमेंसे उपादेय बातें लेकर उनकी समष्टि ही भारतीय धर्मके रूपमें इन विद्वानोंको अभिमत है । यही बात संस्कृतिके सम्बन्धमें भी है । भारतमें वर्तमानमें अनेक संस्कृतियाँ विद्यमान हैं—किसी एकको भारतीय संस्कृति कहना उचित नहीं हो सकता । अतः इस सम्बन्धमें भी सभी संस्कृतियोंका समन्वय ही उचित मार्ग है । सभी संस्कृतियोंसे कुछ अच्छी-अच्छी उपादेय बातें चुनकर उनके समन्वितरूपको बिना किसी बाधाके—इनकी दृष्टिमें भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है ।

नवीन मतकी अव्यवहार्यता

किंतु, थोड़ा-सा भी विचार करनेपर, इस मार्गमें तो काँटे-ही-काँटे नजर आते हैं; क्योंकि उन-उन धर्मोंको खूब जानने और माननेवाले आचार्य ही अपने-अपने धर्ममें—उपादेय तथा हेयका निर्णय करने तथा उपादेयके निर्वाचनके अधिकारी होंगे । पर, क्या उनके लिये यह सम्भव होगा कि वे अपने धर्मकी कुछ बातोंको उपादेय तथा कुछको हेय स्वीकार करें । किसी भी धर्मका कोई भी आस्थावान् विद्वान् इस प्रकारकी अर्धजरतीयताको कभी स्वीकृति न देगा । अतः धर्मोंके सम्बन्धमें समन्वय—सब धर्मोंकी खिचड़ी पकाना उचित नहीं ।

दाल और चावलकी खिचड़ी कुछ उपादेय हो सकती है—वह भी विशेषकर बीमारोंके—अस्वस्थ लोगोंके लिये ही । पर, यह धर्मोंकी खिचड़ी तो स्वस्थ हो या अस्वस्थ किसीके लिये भी उपयोगी नहीं । जो अप्रकृतिस्थ हैं, उन्हें किसी धर्मपर विश्वास ही क्यों होने लगा ? तथा जो प्रकृतिस्थ हैं, वे अपना धर्म क्यों छोड़ने लगे ? अतः यह पक्ष नितान्त अव्यवहार्य (Impractical) है । इसमें तो सभी धर्मोंके मर्मपर ही प्रहार हो जाता है ।

इतिहासकी साक्षी

सम्राट् अकबरकी भी प्रबल अभिलाषा थी कि भारतमें एक सामान्यधर्म प्रचलित हो, जो हिंदुओं तथा मुसल्मानोंका समान सम्माननीय हो । उन्होंने स्वयं एक ऐसे समन्वयात्मक धर्मकी स्थापना भी की—जिसका नामकरण उन्होंने किया 'दीने-इलाही'; किंतु इतिहास साक्षी है कि उन्हें इसमें रत्तीभर भी सफलता नहीं मिली । प्रसिद्ध है जब सम्राट् ने अपने अन्तरङ्गतम जयपुरके महाराजा मानसिंहसे इस अपने चलाये नवीन धर्मको स्वीकार करनेके लिये कहा तो महाराजने उन्हें उत्तर दिया—

'सम्राट् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं मुसल्मान बननेको तैयार हूँ, किंतु इस 'दीने-इलाही'को स्वीकार करना मेरे लिये सम्भव नहीं ।'

आगे भी इस प्रकारके प्रयत्न चलते रहे, किंतु उनमें सफलता किसीको न मिली—इतिहासके विद्वानोंसे यह तथ्य छिपा नहीं है ।

समन्वयके लिये आधारकी अपेक्षा

किंतु, यदि थोड़ा और आगे बढ़ा जाय तो समन्वयका प्रशस्त मार्ग पा लेना कठिन नहीं । बात यह है कि समन्वयके लिये एक आधारकी आवश्यकता होती है । यह आधार

समन्वयगीयोंकी—अर्थात् जिनका समन्वय करना चाहते हैं, उनकी अपेक्षा विशाल तथा व्यापक होना चाहिये । फूलोंका समन्वय धागेमें होता है । धागा सदा ही फूलोंसे व्यापक तथा विशाल होता है । बिना धागेके—फूल चाहे कितने भी सुन्दर हों, आपसमें गुँथ नहीं सकते ।

वैदिक धर्म ही समन्वयका आधार

इस दृष्टिसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि जो धर्म व्यापक हो, जिसमें क्षेत्र विशाल हो—इतना विशाल कि दूसरे धर्मोंकी मान्यताएँ उसमें निर्बाध समा सकें—वही समन्वयका आधार हो सकता है । इस प्रकार एक वैदिक धर्म ही भारतीय धर्म सिद्ध होता है; क्योंकि दूसरे सभी धर्मोंके अपने-अपने क्षेत्र सीमित हैं, संकुचित हैं । एक यदि निराकारवादी है तो उसके यहाँ साकारके लिये कोई स्थान नहीं; एक यदि मूर्ति-पूजक है तो उसके यहाँ निराकारके लिये कोई क्षेत्र नहीं । एकमें यदि गुरुके बिना ईश्वरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती तो दूसरेमें ईश्वरकी प्राप्तिके लिये गुरुकी कोई आवश्यकता नहीं । किसीमें विशेष धर्मग्रन्थ या धर्माचार्यपर विश्वास लाना ही उद्धारका साधन है; किंतु दूसरेमें इनकी कोई अपेक्षा नहीं । किसी विशेष दिन विशेष प्रकारकी क्रियाका अनुष्ठानभर एक धर्मका मूल है । पर जिनका इन क्रियाओंपर विश्वास नहीं, उनके लिये इनके यहाँ कोई स्थान नहीं ।

अब यह देखना है कि क्या कोई ऐसा भी धर्म है जिसमें पिछली बतायी हुई सब धर्मोंकी मुख्य विशेषताएँ बिना किसी तोड़-मरोड़के समाविष्ट हो जायँ । हिंदूधर्म, जिसे वैदिक धर्म भी कहा जाता है, ऐसा ही है—इसमें सभीके लिये स्थान है ।

निराकार ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार यहाँ चरम लक्ष्य माना गया है । जिस ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये भारतीयोंके समग्र जीवनकी साधना चलती है—जो उनका एकमात्र साधन (प्राप्य) है—उसका तात्त्विक रूप निराकार है । भारतीय धर्मके मूर्धन्य-आचार्य, महामहर्षि, चारों वेदोंके व्यास-कर्ता भगवान् व्यासने अपने वेदान्तदर्शनके तृतीय अध्यायमें 'ब्रह्म निराकार है या साकार'—इसपर बड़ा ऊहापोह करके सिद्धान्त स्थापित किया है कि तत्त्वतः ब्रह्म-तत्त्व निराकार ही है; क्योंकि श्रुतियाँ निराकार-प्रधान हैं । 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'—(वेदान्तदर्शन ३ । २ । १४)

अतः निराकारवादी किसी भी धर्मके साथ इसका कोई विरोध नहीं, उन सभीका इसमें पूर्ण समन्वय सिद्ध हो जाता है ।

निराकारवादी दूसरे धर्मोंमें साकारवादी उन लोगोंके लिये—जिनका ईश्वरके शरीर धारण करने या उसकी मूर्तिकी पूजा करनेमें विश्वास है—कोई स्थान नहीं । पर, यहाँ उनके लिये भी समान स्थान है । परम-तत्त्व यहाँ साकार तथा निराकार दोनों रूपोंमें स्वीकृत हुआ है । स्वयं भगवान् वेदने ब्रह्मके दोनों रूप माने हैं ।

द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ।

(बृ० उ० ४ । १ । २ । १)

निराकार ब्रह्म परब्रह्म है तथा साकार अपर ब्रह्म । दोनोंकी अपने-अपने स्वरूपमें उपासना जीवोंके उद्धारका साधन है । अन्तर यही है कि निराकार उपासना जहाँ साक्षात् उद्धारका मार्ग है—वहाँ साकार उपासकके उद्धारका भार उसके उपास्य देवतापर ही पड़ जाता है ।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भी अपने मुखार-विन्दसे कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'एकाग्रभावसे मेरा ध्यान करते हुए जो भक्त-जन मेरी उपासना करते हैं—सदा मेरेमें लवलीन हुए उन (भक्तों)के योगक्षेमका वहन मैं किया करता हूँ ।'

अन्यत्र भी उन्होंने स्पष्ट कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ७)

'हे अर्जुन ! उन भक्तोंका—जिनके कि मन सदा मेरेमें ही लगे रहते हैं—मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-समुद्रसे उद्धार कर लेता हूँ ।'

अतः साकार उपासकके लिये भी यहाँ खूब स्थान है । मूर्ति-पूजाकी उपपत्ति भी इसीसे हो जाती है । इसीलिये तो निराकारवादी भगवान् व्यासको भी—श्रुतियों एवं स्मृतियोंके प्रमाणोंसे—साकार-उपासनामें परमतत्त्वका साक्षात्कार स्वीकार करना पड़ा है—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।
(वेदान्तदर्शन ३ । २ । २४)

जो लोग ग्रन्थविशेष, धर्माचार्यविशेष या अग्नि आदि विभूति-विशेषकी पूजा करते हैं, उनका भी यहाँ सम्मान है । तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
(गीता १० । ४१)

'जो भी वस्तु वैभवयुक्त हो, शोभायुक्त हो तथा शक्तियुक्त हो, हे अर्जुन ! तुम उसे मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न समझो ।'

और, विभूति या विभूतिमान्की पूजाकी तो बात ही क्या ! समस्त विधि-विधानोंकी उपेक्षा कर नितान्त उपेक्षणीय भूत-प्रेत-पिशाचोंकी पूजा करनेवालोंको भी भगवान् अपनी ही पूजा करता हुआ बताते हैं और उन्हें भी अपनानेका कृपामय आश्वासन देते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥
(गीता ९ । २३)

'और भी, श्रद्धासे युक्त जो अन्य भक्तजन दूसरे-दूसरे देवताओंकी पूजा करते हैं—वे भी, हे अर्जुन ! विधिपूर्वक भले ही न हों, मेरी ही पूजा करते हैं ।'

अधिक क्या कहा जाय, जो ईश्वरको नहीं मानता, वह भी यहाँ रह सकता है । महर्षि जैमिनि, शबर तथा कुमारिल-जैसे दार्शनिकोंने भी ईश्वरको प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं किया था-ऐसा कहते हैं; किंतु भारतकी परम्परामें उनका स्थान अविचल है । और तो और, अनादर और अवहेलनासे भी ईश्वरका नाम लेनेवालोंका भी यहाँ ध्यान रक्खा गया है । श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषावहरं विदुः ॥
(६ । २ । १४)

भगवान्के नामका उच्चारण किसी बहानेसे, या हँसीमें, गीतालाप-पूरणार्थ या अनादरसे ही क्यों न किया जाय, वह समस्त पापोंका नाशक माना गया है ।

सार

अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म ही दूसरे सब धर्मोंसे व्यापक है, अतः वही भारतीय धर्म कहलाने योग्य है। सभी धर्मोंका—उनकी विशेषताएँ नष्ट किये बिना ही—उसमें सहज समन्वय हो जाता है ।

संस्कृति

संस्कृतिका प्रश्न भी इसीसे बहुत कुछ समाहित हो जाता है; क्योंकि संस्कृति धर्मसे रली-मिली होती है । विभिन्न देशोंके आचार-व्यवहार ही वहाँकी संस्कृति कहाते हैं तथा वह प्रायः धर्मसे मुद्राङ्कित रहते हैं । यहाँ तो—

'आचारः परमो धर्मः' (मनु० ४ । १५६)

अर्थात् आचार सर्वश्रेष्ठ धर्म है—कहकर मानो भगवान् मनुने दोनोंको बिल्कुल एक कर दिया है ।

इस प्रासङ्गिक संक्षिप्ततम विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि वैदिक धर्म तथा संस्कृति ही क्रमशः भारतीय धर्म एवं संस्कृति है, जो अनादिकालसे न केवल हिंदू समाजको अपितु सारे ही मानव-समाजको प्रकाश और प्रेरणा देते आ रहे हैं । स्वामी विवेकानन्द इसी धर्मके उद्भट व्याख्याताओं तथा मूर्धन्य प्रचारकोंमें अन्यतम थे ।

स्वामी विवेकानन्दकी उदयकालिक धार्मिक पृष्ठभूमि

१८५७ की क्रान्ति जैसे-तैसे दब गयी थी, किंतु अंग्रेजोंकी हृदय-चिन्ता नहीं दबी थी । उन्होंने दीर्घदृष्टिसे देखा कि भारतमें जबतक स्वधर्मका अभिमान है, तबतक इसे वशमें करना असम्भव है । अतः प्रथम आवश्यकता है इसके धर्माभिमानको नष्ट करना । फलतः, अंग्रेजी शिक्षामें बड़ी निपुणतासे धर्मका मूलोच्छेद प्रारम्भ हुआ । ईसाई मिशनरियाँ तेजीसे कार्यरत हुईं । भारतके धर्म-प्राण महापुरुषोंको विभिन्न प्रकारसे कलङ्कित एवं विद्रूप कर सामने लाया जाने लगा। हमारे प्राचीन इतिहासको मिथ्या घोषित कर दिया गया ।

भारतमें कोई अच्छी चीज हुई ही नहीं, कोई महापुरुष हुआ ही नहीं, भारतके पूर्वज नितान्त असभ्य अनार्य थे—इस प्रकारके निरन्तर प्रचारसे भारतीय आत्मविश्वासकी जड़ें हिला दी गयीं ।

आत्मविश्वास किसी भी देश या जातिका प्राण होता है तथा उसका आधार होता है। धर्म नष्ट हो जानेपर देश भी मृतप्राय हो जाता है। फिर, भारत तो देश ही धर्मप्राण है। धर्मपर प्रहारसे उसका प्राण ही छटपटा रहा था। जीवन गतप्राय था।

ऐसे समयमें स्वामी विवेकानन्दका जन्म हुआ और उन्होंने मृतप्राय भारतीय धर्मको पुनः जीवन-दान किया। भारतीय संस्कृति भी उनको पाकर फिरसे लहलहा उठी।

स्वामी रामकृष्ण परमहंससे धर्म-दीक्षा लेनेके अनन्तर स्वामीजी आजीवन भारतीय धर्म तथा संस्कृतिके पुनरुद्धारमें ही लगे रहे। इनका कोई भी कोना उन्होंने अछूता न छोड़ा तथा प्रत्येक क्षेत्र उनके स्पर्शसे ज्वलन्त तथा जीवन्त हो गया।

भारतीय धर्म तथा संस्कृतिकी प्रमुख विशेषताएँ और स्वामीजीद्वारा उनकी प्रतिष्ठा

भारतीय धर्म तथा संस्कृति बहुमुखी हैं, तथापि इनकी कुछ निम्नाङ्कित विशेषताएँ हैं, जो मूलभूत हैं—

१-वेद इनका मूल है।

२-आध्यात्मिकता इनका सर्वस्व है।

३-कर्म, भक्ति तथा ज्ञान—इनके एक ही लक्ष्यकी प्राप्तिके अनेक साधन हैं।

हम इन्हींको लक्ष्यमें रखकर स्वामी विवेकानन्दके कार्योंका विहङ्गमावलोकन करेंगे।

हम कह चुके हैं कि स्वामीजीने अपना सारा ही जीवन इसी सार्वभौम सनातन-धर्मकी सेवामें अर्पित कर दिया था। तथापि, 'शिकागो'के सर्वधर्मसम्मेलनकी उनकी वक्तृतासे धर्मका नवीन जीवन प्रारम्भ हुआ। इसकी सार्वभौमता तथा विश्वजनीनताकी आभा शताब्दियोंकी चिररात्रिके अनन्तर एक दूसरे दिनका आरम्भ करती हुई एक बार फिरसे उदित हुई।

स्वामीजीने धर्मका मूलसे सिञ्चन आरम्भ किया। आजके बड़े भारतीय विद्वान् भी अपने धर्म (तथा संस्कृति) को एक खिचड़ीमात्र सिद्ध करनेमें लगे हैं, केवल कुछ व्यापक प्रशंसाके लिये। किंतु सच्चे संसार-हितैषियोंको प्रशंसा या कीर्तिकी अपेक्षा सत्य अधिक प्रिय होता है। स्वामीजीने इसीसे निर्भीकताके साथ घोषणा की थी कि हिंदुओंने—जिनका वे प्रतिनिधित्व कर रहे थे—अपना धर्म दैवीप्रकाशनसे—जिसे 'वेद' कहा जाता है—प्राप्त किया है—

The Hindus have received their religion through revelation, the Vedas.

वेद स्वामीजीकी दृष्टिमें सत्यके खोजियोंके चिरसंचित आध्यात्मिक नियमोंके कोष हैं—

They mean the accumulated treasury of spiritual laws discovered by different persons in different times.[2]

इन नियम-निधियोंके अन्वेषक ही स्वामीजीके शब्दोंमें 'ऋषि' कहलाये, जो अपने अन्वेषणोंके कारण ही पूर्णपुरुषोंके रूपमें आदरणीय हुए—

The discoverers of these laws are called Rishis, and we honour them as perfect beings.

भारतीय ऋषियोंकी संचित इन निधियोंमें जो सबसे जाज्वल्यमान रत्न है—जो वस्तुतः सबका सारसर्वस्व है—वह है 'आत्मा'। इसीकी खोजमें भारतीयोंका समग्र जीवन न्योछावर है और यही है इनकी 'आध्यात्मिकता'।

यह आत्मा सर्वव्यापक है, विशुद्ध ज्ञान तथा आनन्दरूप है। प्रकृतिके प्रपञ्चसे यह परे है। इसीको परब्रह्म, परमात्मा या ईश्वर भी कहा जाता है। पर, इसकी प्राप्ति होगी कहाँ! अरे, जो खोजनेवाला है—वह यही तो है। केवल अपने दिव्य स्वरूपको भूलकर यह प्रपञ्चमें भटक रहा है—यही बन्धन है। आत्मसाक्षात्कार ही इससे छूटनेका एकमात्र साधन है। भारतीयकी सारी साधना इसी साध्यकी प्राप्तिके लिये अबाध चलती है। इससे नीचेका लक्ष्य उसको स्वीकार नहीं।

सिद्धान्त या मत उसे संतुष्ट न कर पायँगे। उसे साक्षात्कार चाहिये। अपनी आँखोंसे ईश्वरको, अपनी आत्माको देख लेनेपर ही वह संतुष्ट हो सकता है। इसीलिये वैदिक ऋषि कहता है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। (बृ० उ० २।४।५)

हमें तो आत्माका ही साक्षात्कार करना चाहिये। वह मतों

१-हिंदूधर्मपर पत्रक—जो सर्वधर्म-सम्मेलनमें १९।९।१८९३ को पढ़ा गया।

२—वही

३-वही।

या पन्थोंमें न भटककर अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये इस बीहड़ राहपर बढ़ा ही जाता है और उसकी इस गतिमें ही उसका सारा धर्म केन्द्रित है। तभी तो स्वामीजीने कहा था—

Thus the whole object of their system is by constant struggle to become perfect, to become divine, to reach God and see God and this reaching God, seeing God, becoming perfect even as the father in heaven is perfect, constitutes the religion of Hindus.×

अर्थात्—इस प्रकार उन हिंदुओंकी पद्धतिका एकमात्र लक्ष्य है—सम्पूर्ण प्रयत्नसे परिपूर्ण बनना, दिव्य भगवत्स्वरूप बनना, ईश्वरकी प्राप्ति तथा उसका साक्षात्कार।—और ये ईश्वरकी प्राप्ति, ईश्वरका साक्षात्कार तथा परिपूर्णभाव—ठीक वैसा ही है जैसा कि परमेश्वरमें है—हिंदुओंके धर्मका निर्माण करते हैं।'

कर्म हो या भक्ति, योग हो या ज्ञान—सब इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके अलग-अलग मार्ग हैं (All roads had to Rome)। स्वामीजी कहते हैं—

The goal is to manifest the divine within by controlling nature external and internal. Do this either by work (Karmayoga), or worship (Bhaktiyoga) or philosophy (Jnanayoga), by one or more or all of these, and be free.

अर्थात्—हमारा लक्ष्य है बाह्य और आन्तर प्रकृतिका नियमन करते हुए—अन्तःस्थ दिव्य तत्त्वको आविर्भूत करना। इसे हम चाहे कर्मयोगसे करें, चाहे भक्तियोगसे या ज्ञानयोगसे; इनमेंसे किसी एकसे या अनेकोंसे अथवा मिलकर सबसे तथा स्वतन्त्र हो जायँ।

इस प्रकार स्वामीजीने कर्म, उपासना तथा ज्ञान—तीनोंका समन्वय कर भारतके सभी मत-मतान्तरोंका समन्वय कर लिया। सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेपर तो संसारके सभी धर्मोंका समन्वय इसमें हो जाता है; क्योंकि संसारके प्रायः सभी धर्म कर्म तथा उपासनामें ही गतार्थ हो जाते हैं। अन्तर उनमें परिधानका है, शरीरका भी नहीं और आत्माका तो बिल्कुल ही नहीं। और इसी आत्माको तो भारतीय हिन्दू परमात्म कहा करता है।

मूर्तिपूजाके आधारपर उन दिनों भारतीय धर्म त संस्कृतिपर ईसाई मिशनरियोंके आक्षेपोंका प्रहार हो रहा था यह प्रहार इतना प्रबल था कि बहुतेरे भारतीय विद्वान् विचलित हो उठे थे किंतु स्वामीजीने इसकी अद्भुत उप की। उन्होंने संसारको बताया कि कोई भी हिंदू मूर्ति पूजा नहीं करता, किंतु मूर्तिके द्वारा परमात्माकी पूजा कर है। बात यह है कि निर्गुण निराकार अपरिच्छिन्न परमात्म मनुष्यकी परिच्छिन्न बुद्धि टिक नहीं पाती। वह निराध लड़खड़ाने लगती है। उसके लिये आधार अनिवार्य है भारतीयोंकी मूर्ति इसी आधारका काम करती है।

धर्मान्तरोंमें भी इस प्रकारकी आधार-कल्पना किसी-न किसी रूपमें अवश्य की गयी है। तभी स्वामीजीने कहा था—

The Hindus have discovered tha the Absolute can only be realized, o thought of, or stated through the relative and the images, crosses and crescents are simply so many symbols—so man pegs to hang the spiritual ideas on

अर्थात् हिंदुओंने खोज निकाला कि परमतत्त्वका किसी सम्ब परिचित वस्तुके द्वारा ही साक्षात्कार, चिन्तन या कथन-व हो सकता है और (हिंदुओंकी) मूर्तियाँ, ईसाइयोंके क्रा या मुसल्मानोंके अर्धचन्द्र केवल विविध प्रतीकमात्र हैं—आध्यात्मिक विचारोंको आलम्बन देनेके लिये विवि खूँटियाँ हैं। हम कितने भी निराकारवादी हों—किं ईश्वरकी उपासनामें भले ही बाहरी मूर्तिसे पीछा छुड़ा लें—मानसिक मूर्तिसे नहीं ही छुड़ा सकते। स्वामीजीने ठीक ह कहा कि मानसिक प्रतिमाके बिना हम कुछ सोच भी न सकते; ठीक वैसे ही, जैसे साँस लिये बिना जी नहीं सकते

वास्तविक बात यह है कि मूर्त मनुष्य बिना मूर्ति उस अमूर्तको एकाएक पा ही नहीं सकता। तभी तो सूरदासने कहा—

रूप रेख, गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चक्रित धावै।
सब विधि अगम अगोचर तातें सूर सगुन लीलापद गावै॥

× 'शिकागो' सर्वधर्मसम्मेलनमें हिंदू-धर्मपर पढ़ा गया पत्र।

समाजके लिये वर्णव्यवस्थाको एक व्यवस्थित समाज-संस्थानके रूपमें स्वीकृत किया तथा इसको समाप्त करनेकी कुछ चेष्टाओंको देखकर गहरा क्षोभ प्रकट किया। हाँ, वर्णव्यवस्थामें कुछ विकार आ गये थे—हम अपने ही कुछ भाइयोंकी उपेक्षापर तुल गये थे। यह भूल-सा गये थे कि वह भी समाज-पुरुषका एक अङ्ग है। हिंदूशास्त्रोंमें उनको नीच एवं उपेक्षणीय कहीं भी नहीं माना। दलित एवं गलित-जैसे शब्दोंका उनके लिये हिंदूशास्त्रमें एकदम अभाव है। हमारे यहाँ तो उन्हें अन्त्यज कहा गया है जिसका अर्थ है' छोटा भाई ! यह केवल इसलिये कि विराट् पुरुषके अङ्गोंसे दूसरे वर्णोंकी उत्पत्तिके अनन्तर इसकी उत्पत्ति हुई थी। किंतु, छोटा भाई तो सभी भाइयोंके दुलारका अधिकारी होता है—तिरस्कारका नहीं। स्वामीजीने इस भावनाको जगानेके सभी सम्भव प्रयत्न किये।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्दने भारतीय धर्म तथा संस्कृतिके जरा-जर्जरित अङ्ग-प्रत्यङ्गको हृष्ट एवं पुष्ट किया, उनमें नवीन आत्माकी प्रतिष्ठा की तथा तार्किकता एवं वैज्ञानिकताकी स्वर्णकलशियोंसे उसका अभिषेक किया। वे भारतीय धर्म तथा संस्कृतिके महान् उद्धारकके रूपमें सामने आये—जिन्हें पाकर ये कृतार्थ हो गये।

स्वामीजीका शताब्दीसमारोह मनाया जा रहा है। भारतीय धर्म तथा संस्कृति उनका स्मरण कर आज हर्ष-विभोर तथा गद्गद हो रहे हैं और एक बार पुनः अपने इस महान् उद्धारकके दर्शनोंके लिये ललक रहे हैं; क्योंकि आज ये पुनः सङ्कटापन्न हो गये हैं।

महापुरुषोंके अनन्तर उनके उत्तराधिकारी प्रायः उनको अपना मनोवाञ्छित रूप दे दिया करते हैं, जो सामयिक होता है। किंतु महापुरुष सदा ही समयकी सीमाओंसे ऊपर होते हैं। स्वामी विवेकानन्दकी अर्चना उन्हें देवता बनाकर पूजनेमें नहीं, किंतु जिस धर्म तथा संस्कृतिके सर्वहितकारी दिव्य विचारोंका उन्होंने प्रतिनिधित्व किया था, उन्हींके प्रसारमें है। वही उनकी सच्ची अर्चना होगी और वही उनका सच्चा शताब्दीसमारोह होगा।

सूरदासकी सगुण भक्ति

(लेखक—श्रीहरनारायणजी टंडन 'स्वामीजी')

भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदासजीने अपने ग्रन्थ 'सूरसागर' में ईश्वरके सगुण रूपका गुण-गान किया है। इसका कारण यह है कि निर्गुण उपासनाकी तुलनामें सगुण उपासना अधिक सरल और श्रेयस्कर है। सूरने निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंका विरोध नहीं किया। उन्होंने इस विचारधाराका सैद्धान्तिक खण्डन भी नहीं किया, बल्कि उन्होंने यह स्पष्टरूपसे कहा कि अव्यक्त और निर्गुण ब्रह्म मुख्यरूपसे ज्ञानका विषय है, जब कि उसका सगुण स्वरूप भक्तिका। यों सूरदास जिस वल्लभसम्प्रदायके अनुगामी थे, उसमें भी यद्यपि ईश्वरके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप माने गये, परंतु इष्ट रसरूप उसमें भी सगुण ब्रह्म ही माना जाता है।

वल्लभसम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म परमेश्वर हैं। वे अनेक दिव्य गुणोंसे युक्त होनेके कारण 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। वे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण आनन्दस्वरूप हैं। उनकी लीलाएँ नित्य हैं। अपने भक्तोंके सुखके लिये वे दिव्य धाममें भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। वल्लभाचार्यजीके मतानुसार ब्रह्मका सगुण रूप ही वास्तविक और पारमार्थिक रूप है। इसके विपरीत उसका निर्गुण स्वरूप आंशिकरूपसे तिरोहित रूप है।

सूरने श्रीकृष्णकी भक्तिके रूपमें सगुणका जो गान किया है, उसमें प्रेम-तत्त्वकी व्यञ्जना बहुत विस्तारसे हुई है। श्रीकृष्णकी प्रेममयी मूर्ति भक्तोंके लिये अनन्त सौन्दर्यके सागरके समान है। श्रीमद्भागवतके मूलतः दशम स्कन्धकी कथाको ही अपने गुरु श्रीवल्लभाचार्यके

आदेशसे सूरदासने 'सूरसागर'में गाया है । इसीलिये श्रीकृष्णचरितका गान करनेवाले कवियोंमें महात्मा सूरदासका स्थान सर्वोच्च है । सूरकी कृष्णभक्तिका आधार-स्रोत श्रीराधाकृष्णका प्रेम रहा है । इस प्रेममें भी लीला-पक्षकी ही प्रधानता रही है । भ्रमरगीतके अन्तर्गत सूरदासने प्रेम-दशाके विविध प्रकारोंकी अभिव्यक्ति की है । भ्रमरगीतके समान उपालम्भ काव्य हिंदीमें अन्यत्र नहीं मिलता । इसकी सार्थकता सगुण भक्तिके प्रतिपादनकी दृष्टिसे भी है । उद्धव अपने ब्रह्मज्ञान और योग-कथाका माहात्म्य बताकर गोपियोंको श्रीकृष्णके प्रेमसे विरत करना चाहते थे । सगुण-निर्गुणके पारस्परिक विवाद और सगुणकी श्रेष्ठताके प्रतिपादनकी दृष्टिसे भी यह काव्यांश विशिष्टता रखता है ।

परम ब्रह्म परमेश्वरकी निर्गुण और सगुण उपासनाके विषयमें प्रायः प्राचीन कालसे ही विवाद होता आ रहा है । अनेक कवियोंने पृथक्-पृथक् रूपसे निर्गुण और सगुणका वर्णन करते हुए उनकी श्रेष्ठता बतायी है । इस दृष्टिसे सगुणकी उच्च महिमा और ग्राह्यताके सम्बन्धमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कथन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका है, जो उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनको सम्बोधित कर कहा है । गीताके बारहवें अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌से प्रश्न किया कि 'हे मनमोहन ! जो भक्त सगुण रूप परमेश्वरको अनन्य भावसे भजते हैं अथवा जो निराकारकी उपासना करते हैं, इन दोनों प्रकारके भक्तोंमें उत्तम कौन है ?' भगवान् श्रीकृष्णने उसके इस प्रश्नके उत्तरमें कहा कि 'हे अर्जुन ! मैं उन भक्तोंको अति श्रेष्ठ मानता हूँ जो एकाग्रचित्तसे मुझ सगुणरूप परमेश्वरका परम श्रद्धाके साथ भजन करते हैं । वे भक्त योगीजनमें भी उत्तम योगीके समान मुझे मान्य होते हैं । इसके अतिरिक्त जो भक्त सर्वत्र समबु सर्वभूतहितपरायण तथा इन्द्रियविजयी हैं और निरा ब्रह्मका एकात्म-भावसे चिन्तन करते हैं, वे अन्ततः मुझको ही प्राप्त होते हैं; परंतु निराकार ब्र आसक्त भक्तोंके लिये साधन-क्रियाओंमें विशेष परि है । उसके लिये सर्वप्रथम शरीरमेंसे अभिमान भावनाका त्याग आवश्यक है । इसलिये अर्जुन ! अपने सगुण रूप परमेश्वरका ध्यान करनेवाले प्रेमी भ को ही शीघ्र इस संसाररूपी सागरसे मुक्ति द करता हूँ ।'

सूरदासजीने ब्रह्म और जीवके मध्य माया स्थितिके विषयमें भी अनेक पदोंकी रचना की है । मा भगवान्‌की शक्तिका ही एक रूप है । ब्रह्म और जीव बीचमें अज्ञानरूपिणी मायाका एक पर्दा रहता है । माया जीवके ब्रह्ममें सम्मिलनके मार्गमें एक बाधा होती है । मायारूपी शक्तिका बाह्य रूप अत्यन्त आक होता है । इसी कारण जीव अपनी लोलुपवृत्तिके व भूत हो परम लक्ष्यसे भटक जाता है । सूरदास मायाके दो मुख्य भेद बताये हैं । एक तो सत्य है, जिसे वे 'विद्या' माया कहते हैं और दूसरी अ माया है जिसे उन्होंने 'अविद्या'माया कहा है । मायाकी तुलना एक नटनीसे की है । यह नटनी माया समस्त सांसारिक जीवोंको अपनी ओर आकृष्ट उनके मनमें भाँति-भाँतिकी तृष्णावृत्तियोंको उत्पन्न है । यह मनुष्यकी बुद्धिको भ्रमित करती है । मनमें कामनारूपी तरंगें उत्पन्न करती है, मिथ्या की मोहक कल्पना उपजाती है । इसीलिये सूरने भक्तिके मार्गमें भी इस मायाको एक बड़ी बाधा है और भगवान्‌से यह प्रार्थना की है कि वे भक्तोंको के इस बन्धनसे मुक्त रक्खें ।

ईश्वरमें विश्वास

(लेखक—श्रीलक्ष्मणस्वरूपजी माहेश्वरी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

'क्या ईश्वरका अस्तित्व है ।' शीर्षक एक लेख अगस्तके नवनीतमें पढ़ा था । बहुत-से विचार मस्तिष्कमें आये, बड़ी कशमकश-सी रही । यह तो सच ही है कि ईश्वर कोई इस तरहकी तर्क-संगत वस्तु नहीं, जिसे गणितके दो और दो चारकी तरह एक अबोधको, या एक जिज्ञासुको समझा दिया जाय । न वह कोई इस तरहकी वस्तु है, जिसके अस्तित्वका ज्ञान किसी वैज्ञानिककी रसायनशालामें हो सके । तब भी अधिकतर वैज्ञानिकोंने ईश्वरको माना है । अधिकांश गणितज्ञोंने ईश्वरमें आस्था की है । डॉ० पॉल ब्रंटन जब भारतमें श्रीरमण महर्षिसे मिले थे तब जो अनुभूति उन्हें हुई थी, उसका उल्लेख यहाँ आवश्यक है । डॉ० पॉल ब्रंटनने लिखा है कि श्रीरमण महर्षिके सांनिध्यमें एक विचित्र प्रकारकी सनसनी उनके रुधिरमें, उनकी रगोंमें व्याप्त होती रही थी । ऐसा लगता था जैसे किसी अज्ञात शक्तिका ज्योतिपुञ्ज उनके अन्तरालमें समाता जा रहा था और उनकी भौतिक चेतनाएँ शिथिल होती जा रही थीं । उन्होंने लिखा है कि एक ऐसी अनुभूति उन्हें हुई, जिसे विज्ञान या गणितकी कोई भाषा पंक्तिबद्ध नहीं कर सकती ।

एक बड़ी मार्मिक घटना है—स्वामी विवेकानन्दके जीवनकी । परिव्राजकके रूपमें स्वामीजी भारतके दौरेपर थे । उत्तर प्रदेशकी बात है । स्वामी विवेकानन्द रेलके तीसरे दर्जेमें सफर कर रहे थे । कई दिनोंकी निरन्तर यात्राके कारण थके हुए थे । भूखे थे । तृषित भी । पास ही एक बनिया बैठा था जो उनके साथ ही सफर कर रहा था । तरीघाट स्टेशनपर दोनों उतरे । बनियेने अपना सामान एक जगह एकत्रित किया, दरी बिछायी, पानी छिड़का और टिफिन खोलकर खाना शुरू किया । स्वामी विवेकानन्द उतरे और उस बनियेसे जरा दूर, एक कोनेमें बैठ गये । भूख और गरमीके मारे उनका सिर फटा जा रहा था और उन्हें ऐसा लग रहा था कि मूर्च्छित हो जायँगे । थोड़ी देरमें एक दूसरा बनिया वहाँ आया । उसके एक हाथमें जलका कलश था, बगलमें बिछानेकी चटाई थी और दूसरे हाथमें भोजनके संयुक्त पात्र थे । वहाँ पहुँचते ही वह स्वामी विवेकानन्दसे बोला 'चलिये, भोजन कर लीजिये । मैं आपके लिये भोजन लाया हूँ ।' स्वामी विवेकानन्दने देखा; सोचा इसे कहीं और जाना होगा और गलतफहमीसे वह यहाँ चला आया है । बोले—'भाई, किसे खोज रहे तुम ?' बनिया बोला—'महाराज ! मैं तो आपके ही पास आया हूँ । उठिये, भोजन कर लीजिये ।' स्वामी विवेकानन्द हतबुद्धिसे उसे देखते रहे । बोले, 'भाई, तुम मुझे कैसे जानते हो ? अभी-अभी आधा घंटा पहले ही तो मैं रेलसे उतरा हूँ । पहले कभी यहाँ आया भी नहीं । तुम शायद भूल रहे हो । जिसे तुम ढूँढ़ रहे हो वह शायद मैं नहीं हूँ ।' बनिया बोला—'आप भी कैसी बातें करते हैं । अभी-अभी तो मैंने आपको देखा ही था । खाना खाकर दोपहरको सोया ही था कि ऐसा लगा जैसे भगवान् श्रीराम आपको बताकर मुझे कह रहे हैं कि मैं फौरन आपके लिये भोजन लेकर उपस्थित होऊँ । अचकचाकर मेरी नींद खुल गयी । पहले तो जरा विचार हुआ । पर फिर सोचा कि ऐसे ही स्वप्न आ गया होगा । दुबारा सोया ही था कि जैसे फिर किसीने सम्पूर्ण शरीरको झकझोर दिया हो । मैंने देखा कि साक्षात् भगवान् श्रीराम खड़े थे और आपकी ओर इङ्गित करके मुझे आदेश दे रहे थे कि मैं आपके लिये भोजन लेकर उपस्थित होऊँ, फौरन मेरी नींद टूटी । मैं उठा । मैंने स्नान किया और फौरन चूल्हा जलाकर आपके लिये भोजन तैयार किया तथा अब मैं आपके समक्ष उपस्थित हूँ । कृपा करके उठें और भोजन करें ।'

स्वामी विवेकानन्दने यह सुना तो अविरल अश्रुधारा उनकी आँखोंसे बह निकली । उन्हें यही विचार आता रहा कि ईश्वरकी कितनी असीम अनुकम्पा है उसके अपने प्रियजनोंपर, कितनी चिन्ता है उसे उनकी !

दो घटनाएँ पिताजीके जीवनकी हैं, ऐसी ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी । प्रार्थनाकी निस्पृहता एवं एकाग्रतासे भगवान्का आसन किस तरह हिलता है—यह मैं अपने जीवनमें इन दो घटनाओंसे ही समझ पाया ।

जोधपुरकी बात है, सन् १९३७ की । हमलोग सरदारपुरामें पाँचवीं सड़कपर रहते थे । चारों तरफ बड़ा बीरान-सा था । बड़ी दूरतक हमलोगोंके आस-पास न कोई मकान था, न कोई बस्ती । जंगल था । दोपहरके सन्नाटेमें गधेके-से आकारके सूअर मकानके सामने ही, जरा दूरपर डोला करते थे । आने-जानेवाले बहुत कम थे । मईका महीना था । दिनभर साँय-साँय लू चलती थी । पिताजीके दाहिने पैरके अँगूठेका ऑपरेशन हुआ था । हड्डीका पहला जोड़ सड़ गया था और डाक्टरोंका मत था कि अँगूठा काटना पड़ेगा । बड़ी विकट परिस्थिति थी । इसी बीच एक सरजनका आश्वासन मिला कि

अँगूठा बिना काटे भी काम चल सकता है । सड़े हुए जोड़को धीरे-धीरे निकाल दिया जायगा, इस तरह कि दूसरे जोड़में सड़ाद न लग सके । इसलिये घरपर ही इलाज होना तय हुआ । रोज वे सरजन घर आते, अँगूठेके जख्मको खोलते । औज़ारोंके सहारे सड़ी हुई हड्डीके टुकड़ोंको तोड़कर निकालते, मरहमपट्टी करते और चले जाते । रोजका यही क्रम था । मैं १६ वर्षका था तब । कभी-कभी पास जाकर देखता जख्मको । आज भी जब उसकी याद आती है तो सारा शरीर जैसे सिहर उठता है । अँगूठा आकारमें फूल गया था, तीन-चार गुना । दो चीरें लग चुके थे नीचेकी ओर उसमें—एक खड़ा और एक आड़ा । इन दो चीरोंके कारण अँगूठा फट गया था बिल्कुल तथा दोनों तरफकी चमड़ी बेसहारा लटक-सी गयी थी । जख्म ऐसा था कि देखा नहीं जाता था । डाक्टर जब बलपूर्वक सड़ी हुई हड्डीके टुकड़े निकालता, तब पिताजी दर्दके मारे इस तरह कराहते कि मकानकी नींव हिल-सी जाती । मेरी दादी मौजूद थीं तब । वे चीख उठतीं । ताऊजी भी थे । उनसे देखा नहीं जाता और वे बाहर चले जाते । रोज यही होता । घरमें बड़ी उदासी-सी छा गयी थी । सब सुस्त रहते । न जाने कैसी असहायता थी । ऐसेमें एक दिन दोपहरको करीब १॥ बजे बड़ी विचित्र-सी घटना घटी । कमरेमें पिताजी अकेले थे, नींदकी झपकी-सी आ गयी थी उन्हें । इतनेमें एक जैन साधु भीतर आये । बाहरकी सीढ़ी चढ़कर वे बरामदेमें आये । फिर दाहिने मुड़े । फिर बाँयें चलकर पिताजीके सिरहाने आये । आहटसे पिताजीकी नींद टूट गयी । हाथ जोड़े । उन्होंने पूछा 'क्यों, क्या बात है ?' पिताजीने हाल बताया । बोले, चिन्ताकी कोई बात नहीं है । सब जल्दी ही ठीक हो जायगा । इतनेमें आवाज सुनकर भीतरसे भी बहुत लोग आ गये । महात्माजीको प्रणाम किया । उन्होंने अभयदानकी मुद्रामें आशीर्वाद दिया एवं वे चले गये ।

हमलोग सोचते रहे कि दोपहरको १॥ बजे जैन मुनि क्योंकर इधर आये । जैन आचार-विचारसे जो परिचित हैं वे सभी जानते हैं कि जैनी साधु सुबह-सुबह ही अपनी भिक्षा वगैरह ले आते हैं । वे लोग जैन घरोंमें ही भिक्षा ग्रहण करते हैं और उसमें भी कितनी ही कठिनाइयाँ हैं । हमलोग वैष्णव हैं । एक जैन साधु हमारे यहाँ आवें—शहरसे इतनी दूर, लू के थपेड़ोंमें, दोपहरको १॥ बजे, एक सुनसानसे मोहल्लेमें—भरोसा नहीं होता था । पर बात तो सही थी ।

बहुत दिनों बाद एक बार पिताजीने बताया कि उन्होंने भगवान्‌से दिनों तक प्रार्थना की थी कि सब जने दुखी त्रस्त हैं, भयभीत हैं; कि किसी तरह आप सबको आस्व कर दें, तो ठीक हो ।

दूसरी घटना है नीमचकी, सन् १९४० की । दा बीमार थीं । उनकी आयु लगभग ६५ वर्षकी थी उस वक्त दमा था और फेफड़ोंमें कफ जम गया था । पिताजी त ताऊजी दोनों वहाँ पहुँच गये थे । बहुत इलाज करवाया, अवस्था दिनोंदिन बिगड़ती गयी । श्वासमें घरघराहट होने लगी थी, तथा नब्ज बड़ी अनियमित होकर चलती थी एक दिन सहसा उनकी तबियत बहुत अधिक बिगड़ गयी श्वास उखड़कर आने लगी, सम्पूर्ण अङ्ग शिथिल हो गये आँखें पथरा-सी गयीं तथा नब्ज अपने स्थानसे विला गयी । दो-तीन जनोंने मिलकर सावधानीसे उन्हें पलंगके नी उतार लिया । पिताजीमें हिमालयकी-सी सहनशीलता है उस समय मैंने देखा, उनकी भी आँखें डबडबा आ और बड़ी विकल-सी अवस्थामें वे बाहर चले आये । ब बरामदेमें टीनकी छत थी जो लोहेके मोटे-मोटे नलोंके स खड़ी थी । उन्हींमेंसे एक नलके सहारे पिताजी खड़े हो आँखें मूँदे । एक दुर्धर्ष संघर्षकी रेखाएँ उनके मुख व्याप्त थीं, पर कौन कह सकता था कि उसके भीतर क्या है

दादीकी अवस्थाके समाचार गाँवमें पहुँचते ही आने-जा वाले स्त्री-पुरुषोंका एक जमघट-सा लग गया । हमारे समा वे सबसे वृद्ध थीं गाँवमें । निकट और दूरके सम्बन्धी आ और उनके शरीरके इर्द-गिर्द बैठ गये । और बहुत-से लो आये और चले गये । इस बीच करीब पौन घंटेतक पि वहीं खड़े रहे, समाधिस्थ-से अचल । कितने लोग आये कितने चले गये, इसका उन्हें कुछ भी भान न था । अच दादीके शिथिल शरीरमें गतिका आभास हुआ । उन्हें हुआ तथा बड़ी छटपटाहटके साथ कै हुई । विचि अवस्थामें उन्होंने आँख खोली और फिर बंद कर वैद्यने देखा तो नब्ज फिर अपने स्थानपर आ चुकी उन्हें उठाया तथा फिर पलंगपर लिटा दिया । बाहर अ ताऊजीने पुकारा 'रामस्वरूप, रामस्वरूप' । पिताजी वै खड़े रहे । बड़े विह्वल-से होकर ताऊजीने पास आकर उ कंधा पकड़कर उन्हें झकझोर-सा दिया । जैसे पिता नींद-सी टूटी और स्तम्भित-से होकर उन्होंने पूछा 'क्या हु माकी तबियत ठीक है अब । ताऊजीने कहा ।

करीब १॥ घंटे बाद दादीकी नींद टूटी और

उन्होंने बताया कि माथेपर तिलक लगाये, शरीरपर दूध-से उजले वस्त्र धारण किये, देवदूत-से चार-पाँच जने आये और उन्होंने मिलकर उन्हें उठानेका प्रयत्न किया। पर पता नहीं क्या हो गया, कैसे वे इतनी भारी हो गयीं कि उठना तो दूर रहा, उनसे हिल भी नहीं सकीं। तब यह कहकर वे लोग चले गये कि 'अभी छोड़ो, थोड़ी देर बाद आकर ले जायँगे।'

करीब महीनेभर बाद दादीको पिताजी नीमचसे जोधपुर ले आये। कोई महीनाभर और निकला होगा कि एक दिन पिताजीने कहा 'किसी अच्छे फोटोग्राफरको बुलवा लाओ यहाँ। सब जनोंका एक सम्मिलित चित्र खिंचवा लेंगे।' मन-ही-मन बड़ा विस्मय-सा हुआ मुझे। कैसे अचानक आज यह फोटोग्राफरकी बात पिताजीके मनमें आयी ? सदा ही तो इसके प्रति वह बड़े अन्यमनस्क-से रहे हैं ! मैं सोचता रहा। करीब ५-७ दिन बाद उन्होंने फिर आग्रह किया, 'देर नहीं होनी चाहिये।' घंटों सोचकर भी मैं समझ नहीं पाया कि आखिर क्या अर्थ हो सकता था इसका। फोटोग्राफर आया और चला गया। कोई सात-आठ दिन बाद ही दादी फिर बीमार पड़ीं और अबकी बार ऐसी पड़ीं कि फिर उठ ही न सकीं।

दादीकी मृत्युके कुछ दिनों बाद मैंने पिताजीसे उनकी फोटो खिंचवानेकी व्यग्रताके बारेमें पूछा। ऐसा लगा जैसे कुछ घनीभूत था जो उनके अन्तरसे वह निकलना चाहता था। अवरुद्ध कण्ठसे उन्होंने कहा नीमचमें जब माको पलंगसे नीचे उतार लिया था तब बाहर आकर मैंने भगवान्से यही विनती की थी कि वे माको अपने पास बुलावें, उसके पहले एक मौका, सिर्फ एक मौका मुझे दें कि अपनी माकी तसवीर उतरवा सकूँ मैं, कोई तसवीर नहीं है उसकी मेरे पास। भगवान्के चरणोंमें माथा टेके, मैं निरन्तर उनसे प्रार्थना किये जा रहा था तथा अपनी बात मनवानेके लिये हठपूर्वक आग्रह किये जा रहा था। भगवान्से अनुनयमें मुझे तो ध्यान भी नहीं रहा कि पौन घंटेतक वहाँ क्या हुआ, कौन आया और कौन गया।'

पर तब भी क्या कोई अश्रद्धालु ईश्वरमें विश्वास कर लेगा ? कर्नल इंगरसोल, जिनकी नास्तिकता लोकप्रसिद्ध (Proverbial) है, अमेरिकामें स्वामी विवेकानन्दसे मिले थे। दोनोंमें विचार-विनिमय भी हुआ था। पर तब भी उनकी उग्रता (Vehe-mence) क्या कुछ घट सकी ! यह तो अन्ततोगत्वा मानना ही पड़ेगा कि ईश्वर श्रद्धा, विश्वास तथा अनुभूतिकी वस्तु है। वह महान् है, भौतिक अनुबन्धोंसे परे। विज्ञानने हमें महत्त्वाकाङ्क्षा दी। एक विजेताका अहंकार दिया। पर विज्ञान धरतीकी क्षुब्ध और आहत मानवताको ज्ञान न दे सका। इसीलिये शायद बर्नार्ड शा कहा करते थे कि विज्ञानकी परिसीमाके अन्तपर ही ज्ञानकी सीमाका आरम्भ होता है।

क्वेटाके भूकम्पकी एक घटना एक बार एक साप्ताहिकमें प्रकाशित हुई थी। उस रोमाञ्चकारी विध्वंसके बीच भी एक ऐसा मकान खड़ा रह सका, जो चारों तरफ सैकड़ों मकानोंसे घिरा था। सब मकान ढह गये। पर उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। प्रबल झंझावातके निर्दय, विनाशकारी थपेड़ोंके बीच भी जैसे एक छोटा-सा दीपक टिमटिमाता रह सका। बड़े आश्चर्यकी घटना थी। लोग देखते और हतबुद्धि हो जाते। लेखकने बताया कि एक मुसलमान फकीरकी उस परिवारपर कृपा थी और एक बार जब वे उस घरमें आये तब दीवालपर लोहेकी एक कील ठोंककर मानो यह आशीर्वाद देकर चले गये थे कि जबतक वह कील वहाँ रहेगी, उस घरकी तथा उसमें रहनेवालोंकी अमङ्गल तथा अनर्थसे रक्षा करती रहेगी।

अंग्रेजीकी एक पत्रिकामें एक किस्सा एक बार पढ़ा था। दो मित्र थे, एक नास्तिक था, दूसरा आस्तिक था। दूसरेने पहलेसे पूछा।

'अगर एक छोटा बच्चा एक मकानकी पाँचवीं मंजिलसे नीचे गिर पड़े और बच जाय तो क्या कहोगे ?'

'एक आकस्मिकता (an accident)'

'अगर दुबारा फिर वह बच्चा उतनी ही ऊँचाईसे गिरे और बच जाय तो ?' आस्तिकने पूछा।

'एक संयोग (a coincidence)'

'और तीसरी बार मान लो फिर वह बच्चा वहींसे गिर पड़े तथा फिर बच जाय तो ?' जरा झुँझलाहटसे आस्तिकने पूछा।

'एक आदत (a matter of habit)'

कहनेका तात्पर्य यह है कि कोरी तर्ककी छिछालेदर ही करनी हो तो ईश्वरके अस्तित्वका विश्वास सचमुच ही अप्राप्य-सी वस्तु होगी। अन्यथा, आज भी ऐसे महर्षि होंगे जो श्रीरामकृष्ण परमहंसकी तरह विश्वासपूर्वक (Confidently) कह सकते हैं कि उन्होंने ईश्वरको देखा है।

अन्तःकरणशुद्धि

[परम पूज्यपाद पं० श्रीपुरुषोत्तम नारायण नागरजी महाराजका सदुपदेश]

(प्रेषक—श्रीभगवानदास झा 'विमल' एम्० ए०, बी०एस् सी०, एल्-टी०, साहित्यरत्न)

यह संसार एक महान् विद्यालय है और इसमें जन्मे सभी जन मानो विद्यार्थी हैं। इस विद्यालयमें अध्ययन करनेके तीन प्रधान विषय हैं—भौतिकता, दैविकता और आत्मिकता। प्रपञ्च अथवा बाधाकी दृष्टिसे 'भौतिकता' अत्यधिक विचारणीय है। इस भौतिकताको 'अनात्मता' भी कहते हैं, जो आर्थिकताके जंजाल-जालके द्वारा सभीपर अपना शासन करती रहती है। यह आर्थिकता अथवा अनात्मता अथवा अनावश्यक भौतिक आसक्ति मानवके हृदयको भाँति-भाँतिसे दूषित करती रहती है। वस्तुतः जबतक भौतिकता, अनात्मता एवं आर्थिकताकी आसक्तियाँ हृदयमें धँसी हुई हैं, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त नहीं होती और आत्मानुरागरूपी परम श्रेयस्कर सत्-ज्योतिका उदय नहीं हो पाता। प्रायः मनुष्य इस ओरसे अपनी आँख बचा लिया करते हैं; परंतु यही एक महान् व्याधि है जिसने जग-व्यवस्थाको, जनजीवनको नारकीय बना रक्खा है। संसारकी सारी उलझनोंकी ओर निहारिये तो स्पष्ट विदित होगा कि इस अनात्म-आसक्तिने बड़ों-बड़ोंको बड़े-बड़े नाच नचाये हैं। संसारका इतिहास—प्रत्येक देशका, जातिका एवं धर्मका इस बातका प्रत्यक्ष साक्षी है कि अनात्म-आसक्तिके चंगुलमें फँसकर बड़े-बड़े धर्म, धर्माचार्यतक रजोगुणके वशीभूत होकर खून-खराबी, मुकदमाबाजी, निन्दा-बुराई, संघर्ष-विघर्ष आदिके निम्नतम स्तरतक उतरते रहे हैं।

अध्यात्म-विद्याविशारदोंने यह पूर्वसे निर्णय कर रक्खा है कि प्रत्येक मनुष्यका दो प्रकारके मनोंसे सम्बन्ध आता है—(१) शुद्ध मन और (२) अशुद्ध मन। शुद्ध मन कामवर्जित आत्मानुरागी मन कहलाता है। दूसरा मन काम-संकल्प-लोलुप एवं अनात्म-आसक्त मन माना जाता है। मनुष्यको जीवनमें जो सबसे पहले तथा सबसे बड़ा कार्य करना है वह है अशुद्ध मनसे उबरना—उससे निवृत्ति पाना। इस अशुद्ध मनको पिण्डी मनकी भी संज्ञा दी गयी है। इसका प्रधान कार्य अपनेमें अनात्म-आसक्तियोंको सँजोये रखना है। धर्माचरण, सुनैतिकता, उच्च आत्मोन्नति आदि कार्य पिण्डी मनसे हो ही नहीं सकते। एतदर्थ बड़ी आवश्यकता शुद्ध मन अथवा ब्रह्माण्डी मनको जगानेकी है। जैसे संसारके तीन विषय हैं—भौतिक, दैविक और आत्मिक, वैसे ही पिण्डी मनसे उबरने एवं ब्रह्माण्डी मनको जगानेके तीन साधन महापुरुषों एवं संतोंद्वारा सुझाये गये हैं। ये साधन हैं—(१) कर्म, (२) ज्ञान और (३) भक्ति। ये तीनों साधन—उपाय—योगके बिना ढीले फीके एवं अव्यवस्थित रहते हैं। इसलिये इनमें योग संयुक्त किया गया और उपर्युक्त साधनोंके नाम कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग निश्चित हुए। इन तीन योगोंके सहारे मनुष्य पिण्डी मनको मेट, पलटकर ब्रह्माण्डी मनको जाग्रत कर सकता है।

पिण्डी मनके लक्षण काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेष, छल, कपट, पाखण्ड, प्रपञ्च आदि हैं। अज्ञान, अनात्म-आसक्तियाँ और भाँति-भाँतिकी भोग-लोलुपताएँ भी पिण्डी मनके क्षेत्रके अन्तर्गत आती हैं। मनुष्य स्वयं अपने मनके वास्तविक स्वरूपको परखे। जबतक वह पिण्डी मनके अधीन है, तबतक वह, चाहे अपने आपको पिंजड़ेकी किसी भी तहका वासी समझे; मूलतः भौतिक भोगासक्त ही है और उसका अपने आपको छोटा-बड़ा, बढ़ा-चढ़ा आदि समझना केवल मायामय भ्रम ही है।

कर्ममार्गको निर्मल बनानेके लिये—कर्म-परम्परामें सफलता पानेके लिये—ज्ञानाश्रयी कलाओं और भाँति-भाँतिकी विद्याओंका आश्रय ग्रहण किया गया। आत्माका अनुसंधान प्रारम्भ हुआ। परंतु मार्गमें बड़ी-बड़ी जटिलताएँ आती रहीं। अन्तमें भक्ति-मार्गका उदय हुआ और लोग अत्यधिक श्रद्धासे भक्तिपथपर चलने लगे। 'भक्ति'का अर्थ—'अनुराग' अथवा 'प्रेम' माना गया और यह समझा समझाया गया कि 'भक्ति वह है जिसमें आवश्यक अनात्म आसक्तियोंकी अपेक्षा आत्मानुरागकी महत्ता है। भक्ति वह दिव्य तत्त्व है जिसमें कर्मकाण्डकी चतुराई युक्तियोंकी अपेक्षा हृदयकी निर्मलताके माध्यमसे परम तत्त्वतक पहुँचना माना गया है। कर्ममें रजोगुण है

ज्ञानमें युक्तियाँ हैं; पर भक्तिमें केवल निर्मल अन्तःकरणकी महत्ता है। अमुक भक्तिमार्गीय है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह केवल अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा सर्वेश्वर, अखिलेश्वर, पूर्णेश्वरकी कृपा, प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता है। कुछ संघर्षके सम्पर्कके बाद यह संसर्ग प्राप्त हुआ कि सभीने इस बातको स्वीकार किया कि कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गकी अपेक्षा भक्तिमार्ग वास्तवमें सुगम, सरल, सहज और नैसर्गिक है। भक्तिमार्ग ही आत्म-जागृति एवं परमात्म-प्राप्तिका सत्-उपाय है। झुंड-के-झुंड मानव भक्तिके द्वारा अपने ध्येयकी प्राप्तिकी दिशामें बढ़ने लगे। 'माया लाई छल-बल अपना। काट दिया कल-मलका ढँकना॥' के अनुसार मायाने—अनात्म-आसक्तिने—जब अपना राज्य-शासन क्षीण होते देखा तो भक्ति-मार्गके भीतर भी एक भ्रम उत्पन्न किया। वह यह है कि हृदयकी पवित्रताके स्थानपर भाँति-भाँतिकी रूढ़ियाँ भक्ति कहलाने लगीं। भक्तिका जो निर्मल जौहर था, वह समय पाकर मानो खुले कपूरके समान उड़ने-सा लगा। आज अपनेको यह सिद्धान्त-रहस्य, तत्त्व चित्तमें स्थिर कर लेना है कि चाहे कोई सनातनी हिंदू हो, ईसाई हो, मुसल्मान हो, बौद्ध हो, जैनी हो; अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना कोई किसी भी धर्ममें कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। कुछ विशेषज्ञोंने यह प्रकट किया है कि आज्ञापालनसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है। इसलिये माता-पिता, गुरु, बड़े जन आदिके आज्ञापालनकी प्रथा चली। अतएव इस आश्रयसे अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रयास होने लगा। और भी समय आया जब कि यह विचार बनने लगा कि संसारमें समय-समयपर प्रभुप्रेरणासे अलौकिक विभूतियाँ अवतरित होती हैं, जो साधु, संत, महात्मा, ऋषि, महर्षि, योगी, पीर, पैगम्बर, सिद्ध आदि नामोंसे सम्मानपूर्वक सम्बोधित होती हैं। उनके आज्ञा-पालन और शरणागतिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। निष्कर्ष यह है कि जीवनको सफल बनानेके लिये कर्म, ज्ञान आदि समस्त सुप्रयोगोंके ऊपर भक्तिको महत्ता मिली और भक्तिका सार अन्तःकरणकी शुद्धि निर्णीत हुआ। तबसे सभी—छोटे-बड़े, मूर्ख-विद्वान् आदि—इसी प्रयत्नमें रहने लगे कि जैसे-तैसे हृदयकी निर्मलता प्राप्त कर ली जाय। हृदयकी निर्मलताके लिये आज्ञापालन महत्त्वपूर्ण आश्रय बना। यही आज्ञापालन विकसित अवस्थामें सद्गुरु-आज्ञापालन निश्चित हुआ। इस प्रकारकी भक्ति सद्गुरु-भक्ति नामसे प्रसिद्ध हुई। **सद्गुरु-आज्ञापालन ही सद्गुरु-भक्ति है और** सद्गुरु-आज्ञापालनरूपी सद्गुरु-भक्तिसे अन्तःकरणकी शुद्धि-रूपी पवित्र रत्नकी प्राप्ति होती है। वस्तुतः अन्तःकरणकी शुद्धिसे जीवनका सर्वोत्तम ध्येय—आत्म-जागृति; परमात्म-प्राप्ति जेबमें धरे रत्नके समान प्राप्त हो जाती है।

अन्तःकरण-शुद्धिकी स्थितिमें जो मन क्रियाशील रहता है वह ब्रह्माण्डी मन होता है। ब्रह्माण्डी मनकी जागृतिसे—अन्तःकरणकी शुद्धिसे—सद्गुरुभक्तिसे—मानवके मन, मति, वृत्ति रचनाके निम्नस्तर—मूलाधार, प्रजापतिचक्रसे परे होकर हम मणिपूरकचक्रमें अपना स्थान पा लेते हैं। जब इसी साधनाके बलपर मणिपूरकचक्रसे आगे प्रगति प्राप्त होती है तो चतुर्थ चक्र अनाहतकी प्राप्ति होती है। अनाहतमें 'हत्' अर्थात् द्वैतोत्पन्न शक्तियोंका निरसन होकर अनहद-शक्ति सु-उदित होती है और इसीलिये उस मङ्गलमय भवनका नाम 'अनाहत' पड़ा। उसमें पहुँचनेपर काम-संकल्प उसी प्रकार क्षीण अथवा विलीन हो जाते हैं, जैसे श्रावण मासमें तपन, लू आदिका अन्त हो जाता है। अनाहत पद मानवी विकासके लिये एक अत्यन्त उपयोगी विश्राम-स्थल माना गया है। यह चौथा चक्रीय-भवन है। इसके बाद पञ्चम भवन—विशुद्धमें उसी अन्तःकरणकी क्रमिक शुद्धिके बलपर श्रेष्ठ परमात्म-तत्त्व प्राप्त होता है। इस पञ्चम भवनमें तत्त्वोंके मूल आकाशीय अवयवोंकी सूक्ष्म दीप्तियोंके अनुभव होने लगते हैं। 'अनाहत' का शब्द इसी आकाशीय अवयवोंकी सूक्ष्म-स्थितिके स्थलपर दीप्त रूपसे व्यक्त होने लगता है। यहींसे सुमानवी श्रेष्ठताका कुछ-कुछ अनुभव अथवा व्यक्तिके व्यक्तित्वकी गरिमाका अनुमान होने लगता है। साधारणतया पिण्डीतत्त्व स्थितिके अनुसार 'आकाश'का लक्षण 'शब्द' है और वह शब्द आकाश-तत्त्वके मस्तक-भागमें प्रवेश होनेपर स्पष्ट होता है। उसे योगशास्त्रमें तालुमूलका एक उपचक्र कहा गया है। तालुमूलमें मानवी व्यक्तित्वको मानो यह शक्ति प्राप्त होती है कि वह उस प्राप्त-शक्तिको, जो अनाहतसे अनुभवमें आने लगी थी, वाणीद्वारा व्यक्त करे। तालुमूलमें अनुभवसे प्राप्त शक्ति अव्यक्तकी अव्यक्त स्थितिमें प्रभु-स्मृतिमें परिवर्तित होती है। इस प्रकार प्रभु-स्मृतिसे हम आज्ञाचक्र या ब्रह्म-रन्ध्रकी यात्राके लिये अपने-आपको तैयार करते हैं। इन समस्त चक्रोंकी शक्तियाँ, उनकी लीलाएँ यानी ध्वनियाँ और दीप्तियाँ, भाँति-भाँतिसे विकासक और मोदक होती हैं। इसका विवरण अध्यात्म-मर्मज्ञोंने अपने-अपने ढंगसे किया है, जो भिन्न प्रतीत होनेपर भी तत्त्वतः एक ही है।

संक्षेपमें, अन्तरीय धामोंकी उच्चगति, स्थिति, आनन्द, अनुभव आदिकी सहज प्राप्ति जिस उपायसे होती है, वह भक्ति-मार्ग है । भक्तिमार्गका सारांश अन्तःकरणकी निर्मलता है । अन्तःकरणकी निर्मलता सद्गुरु-आज्ञापालनसे सहजमें प्राप्त हो जाती है । एक बार प्रयत्न करके अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कर ली जाय, फिर बड़ी-बड़ी बातें (जो सुनने-समझनेमें जटिल दीखती हैं) अपने-आप प्राप्त हो जाती हैं । भाई, एक बार पैसा कमा लो; फिर समझमें न आनेवाले यन्त्र, मोटर, रेडियो आदि अपने-आप प्राप्त होते रहेंगे । आज उनके जाननेके प्रयत्नमें पड़ना समयसे पहले होगा । आज जो पाना है वह तो अन्तःकरणकी शुद्धि है, जो सद्गुरु-आज्ञापालनसे सहजमें उपलब्ध हो जाती है ।

मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्

(लेखक—श्रीभगवानदीनजी मिश्र एम्० ए०)

कोशगत रूपमें मौन क्री (**मुनेर्भाव इति मौनमस्यास्तीति**) **से व्युत्पन्न** है, जिसका अर्थ है 'चुप', 'शान्त', 'वाक्रहित' 'तूष्णीकृत' । मुनिसे मौन बना है और आरम्भमें उसका प्रयोग मुनियोंके आचरणोंके लिये होता था । मुनियोंका तपःप्रधान जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता था और इसके लिये वे वाक्संयम, एकान्तवासका सेवन करते थे । शनैः-शनैः यह तूष्णीकृत भाव 'मौन' शब्दमें प्रधान हो गया । अतः अर्थ-विकासकी दृष्टिसे इसमें अर्थादेश (Transference of meaning) हुआ । कभी-कभी मौनका अर्थ स्वीकृति भी हो जाता है—**'मौनं स्वीकृतिसूचनम् ।'**

तात्त्विक दृष्टिसे वाणीका स्पन्दनहीन होना ही मौनके लिये पर्याप्त नहीं है । चूँकि मुनि एकाग्रचित्त रहकर तपस्या करते थे, अतः मनका भी 'मौन' हो जाता था । इसीसे अपने मूल अभिप्रेतार्थमें मनके मौनकी भी प्रतिष्ठा थी । मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनका मौन या अल्पांशमें भी मनका क्रियारहित होना विचारणीय प्रश्न है और सम्भवतः इसका उत्तर नकारात्मक होगा । सक्रिय मनकी स्थितिमें, कर्मेन्द्रिय-व्यापारसे रहित होनेपर, विधेयात्मक (Positive) संकल्प सदैव वरेण्य माने गये हैं, निषेधात्मक नहीं । चञ्चल मनका अशुभ चिन्तनकी ओर चला जाना सरल है, इसीसे ऋषि'…… **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** की प्रार्थना करके मनको शुभ दिशामें प्रेरित करनेकी प्रार्थना करते थे । गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने मौनको मानस तपकी कोटिमें रक्खा है, वाणीके तपके रूपमें नहीं ।[1] वाणीके तपमें **'सत्यं प्रियं हितम्'** वाक्यकी मान्यता है । शरीर और वाणीसे मन सूक्ष्मतर और महान् है । अतः 'मानस'का तप मौन भी वरेण्य है, गुह्य है और महान् है । सामान्य दृष्टिसे वाणीका ध्वनि-उत्पादन क्षमता-रहित होना 'मौन' नहीं होगा; अपितु ऐसा व्यक्ति 'गूँगा' कहा जाता है । साभिप्राय एवं स्वेच्छित ढंगसे वाणीका ध्वनि-रहित होना ही मौनकी कोटिमें आ सकता है ।

मौनके अन्य स्तरोंका निर्धारण पात्र, काल, स्थान आदि दृष्टियोंसे किया जा सकता है । बच्चेका मौन उसे 'दब्बू' 'मूर्ख' 'गूँगा' विशेषण दे सकता है; जब कि वयोवृद्ध मूर्ख भी मौनके कारण गम्भीरताकी कोटिमें आ सकता है । आजके प्रजातन्त्रीय युगमें, जिसने गाल नहीं बजाया, भला उसे कोई 'पण्डित' क्यों कहेगा ? स्वभावसे अल्पभाषी व्यक्ति मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अन्तर्मुखी व्यक्तित्वकी कोटिमें आता है । भारतीय विचारकोंने मौनकी आवश्यकताको समझते हुए कालविशेष तथा क्रियाविशेषमें इसका 'व्रत' रखनेके लिये विधान बना दिया है ।[2] चरित्र और मौनका घनिष्ठ सम्बन्ध है । मौनी गम्भीर होता है । गम्भीरतामें छिछलापन कैसा ? मौन गाम्भीर्यका सहोदर है । गम्भीरता ज्ञानोत्पन्न है । मौन ज्ञानाश्रित है । अधभरी गागर छलकती है, परंतु पूर्ण कुम्भ शब्द नहीं करता । आज भी यज्ञोपवीतधारी सवर्ण हिंदू, अंग्रेजीदाँ लोगोंको छोड़ दीजिये, शौचादिमें मौन रहते हैं । उक्त षट्कर्मोंमें मौन-साधनकी कितनी वैज्ञानिकता निहित है, आज पुनः परीक्षण—शोधका विषय है ।

शान्तिप्रिय अध्यात्मोन्मुख व्यक्तियोंके लिये वास्तवि

---

[1] मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
(गीता १६ । १७)

[2] उच्चारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने ।
स्नाने भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत् ॥
(इतितिथ्यादितत्त्व

मौन सत्पथ है; किंतु आजके व्यस्त जीवनमें मौनकी ऐसी आशा गलत ही होगी। अल्पभाषी होना सदैव अच्छा समझा जाता है, वाचालसे सभी कतराते हैं। यदि महर्षि व्यासने वेद-पुराण आदि लिखवाते समय तीव्र 'स्पीड' से लिखनेवाले गणेशपर अर्थ समझकर लिखनेकी शर्त न लगायी होती तो शायद व्यासजीके क्षणिक विराम—अल्प मौनसे गणेशजीकी लेखनी चिरविश्राम ले चुकी होती और उक्त विषय अधूरे ही पड़े रह गये होते। यद्यपि सांसारिक व्यापारोंमें मौनसे सफलताकी जगह हानि भी हो सकती है, किंतु, कार्य-विशेषमें 'दुराव'से अभीष्ट सम्पादन सम्भव है।[1] जोग, जुगति, तप, मन्त्र आदिका प्रभाव 'दुराव'से ही फलदायक हो पाता है। दुरावमें मिथ्यारोपणका भाव उतना नहीं है जितना वस्तुस्थितिके 'गोपन'का। 'गोपन' किसी भी स्तरका हो सकता है। मौन भी 'अप्रकटीकरण' गोपन है। 'दुराव' तथा मौनकी नैतिकतामें अन्तर हो सकता है; किंतु यह नैतिकता उद्देश्य अर्थात् जोग, जुगति, तप आदिसे परिचालित होगी। ये उद्देश्य भी किसी विशेष उद्देश्यके साधन बनते देखे जाते हैं।

वस्तुतः मौनकी पीठिका वैज्ञानिकतासे दृढ़ है। मन मानसिक तप—मौनकी उपादेयताके ऊपर विवेचित है। चित्तवृत्ति-निरोध—मौनसे योग-साधन होता है, जो ज्ञान, सत् या ईश्वर-प्राप्तिका एक सोपान है। वाणीका अल्प भाषण परम उपादेय है। हमारे प्रत्येक चिन्तन, उच्चारणसे शक्ति खर्च होती है। शब्द बोलनेमें प्राण-शक्तिका ह्रास होता है। वाचाल उस प्राणशक्तिका अपव्ययी होता है, अल्पभाषी मितव्ययी तथा मौनी संग्रही होता है। न बोलनेसे शक्ति अंदर ही अंदर संचित होती रहती है। बशर्ते उसका सुनियोजन हो। इसी कारण सच्चे साधु, मुनि वाणीके सिद्ध होते हैं। एक बार यदि आत्मासे संकल्पपूर्वक कुछ कह दिया तो वह होकर रहेगा—केवल उसी संचित प्राणशक्ति, सुनियोजित इच्छा-शक्ति एवं शिवसंकल्पकी क्षमताके कारण। ऊपर वर्णित है कि मौनमें विधेयात्मकताका भाव है। इसी कारण शुभ संकल्पोंसे व्यक्ति अपने चारों ओर 'शुभ' 'शिव' भावोंकी विद्युन्मयी तरंगें विकीर्ण करके पवित्र उपादेय वातावरणका निर्माण करता रहता है, जिसके प्रभावसे अमूर्त संकल्प क्रियान्वित मूर्त हो उठता है। वाचिक संवेदनासे मौन संवेदना तीव्र होती है। शाब्दिक आशीर्वादसे मौन आशीर्वाद अधिक प्रभावशाली होता है, स्थूलसे सूक्ष्म महान् होता है, मौखिक लगावसे मानसिक लगाव अधिक गहरा होता है। कछुआ अपने अण्डोंको सूखी रेतमें दबा देता है और उनका पोषण स्पर्श करके या उनके ऊपर बैठकर नहीं करता, अपितु जलके किनारे बैठकर अपनी भावनाएँ प्रेषित करता है, जिनसे अण्डे बढ़ते रहते हैं। कछुआको मार दीजिये अंडे स्वतः सड़ जायँगे। आजके युगमें मौन सहानुभूति तथा सह-अनुभूति शुभ संकल्प, एवं 'सत्य प्रिय हितकर' मितभाषिता, वाञ्छित है, आवश्यक है।

उक्त षट्कर्मोंमें मौनाचरणकी उपादेयता परीक्षणका विषय हो सकती है। किंतु भोजनमें मौनकी उपयोगिता व्यावहारिक सत्यपर आधारित है। शान्तचित्तसे खाया हुआ भोजन अधिक हितकर होता है। एक ही मेजमें बैठे हुए तर्क-रत आधुनिक विद्यार्थी बातचीतके दौरानमें हाथा-पाई-तक पहुँचते देखे जा सकते हैं। जोर-जोरसे बात करने, हँसनेसे थूकके कणोंका सुन्दर आदान-प्रदान तो होता ही है, कभी-कभी श्वासनलिकामें भोजनकण पहुँचनेसे मृत्युतक भी हो सकती है।

शायद वाणी और नेत्रोंका पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है। वाणीके मौन होनेपर आँखें हृदयकी रामकहानी कह देती हैं। मनकी भली-बुरी भावनाएँ शब्दोंसे अधिक दृष्टिद्वारा अधिक प्रभविष्णुताके साथ व्यक्त होती हैं। 'बड़री' अँखियाँ सुकोमल भावोंकी प्रतीक हैं, चिमधा प्रायः संकीर्ण विचारों-वाला होता है, काने कोई-कोई ही ऐबी नहीं होते। आँख, भाव, चरित्र परस्पर विशेषरूपसे सम्बन्धित हैं। त्रिनेत्रधारी शंकर क्रोधके प्रतीक हैं। मुनि आँखोंसे ही शीतलता प्रदान कर सकते हैं, इसीसे 'कृपादृष्टि' कही जाती है। अबोध मौन शिशुके लिये शब्द उतने महत्त्व, सार्थक नहीं हैं, जितने आपके नेत्र। वह आपकी मौन भाषा, दिलकी बात आँखोंके सहारे सही-सही पढ़ लेगा। शिशु आँखोंसे बात करता है। व्यक्त भावोंकी पूर्णता नेत्रोंकी भावभङ्गिमासे ही सम्भव होती है। श्रोता यदि वक्ताको देखता है तो विशेष तृप्ति या बोध होता रहता है। अज्ञात भाषाभाषियोंके मध्य बोलना न बोलना, मौन रहना एक ही है। पशुओंकी मौन व्यथाएँ कौन कह सकता है? कसाईको देखकर गौकी रूह काँप जाती है, बकरा सहम जाता है। प्रकृतिके अधिकांश प्राणी सर्वप्रथम आपकी आँखोंसे ही भाव जाननेका प्रयास

---

[1] जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिअ दुराऊ॥
—रामचरितमानस

करते हैं। आप उनके लिये नितान्त मौन, गुह्य नहीं रह सकते।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है और संसारकी प्रमुख वस्तुओं, तत्त्वोंमें अपनेको प्रतिष्ठित गिनाया है। उन्होंने कहा है कि 'छलोंमें जुआ, तेजस्वियोंमें तेज…, पाण्डवोंमें धनञ्जय, मुनियोंमें व्यास तथा कवियोंमें उशना कवि मैं हूँ। और आगे वे कहते हैं कि 'गोपनीयोंमें मौन भी मैं हूँ।'

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥
(१०।३८)

वस्तुतः संसारमें पूर्णरूपसे सुरक्षित रखनेके जितने भी सुरक्षित साधन हैं—उनमें मौन सर्वश्रेष्ठ है। विश्वस्तसे विश्वस्त व्यक्तिसे बात खुल जानेकी आशङ्का रहती है। किंतु मौनका कुछ कहना ही नहीं। गुह्यतत्त्व या वस्तुके छिपानेका भाव भी मौन है, गोपन है। मौनमें भगवान्‌की प्रतिष्ठा है। गोपनीयताके कारण मौनसे रहस्यात्मकता, अनिर्वचनीयताका सहज सम्बन्ध जुड़ जाता है। भगवान् गौतमसे ईश्वर आदिके बारेमें प्रश्न करनेपर वे मौन हो जाते थे। उनके इस मौनके विश्लेषणमें न जाने कितनी अटकलें भिड़ायी गयीं और अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय बने, किंतु वास्तविकता आज भी गुह्य है, पूर्णतः निर्णीत नहीं है। कौन कहे बुद्धके इस मौनसे उनके अभिप्रेतमें और स्पष्टता आ गयी हो, जो शब्दोंसे सम्भव नहीं हो सकती थी।

प्रकृतिका कण-कण मौन है, बोलता नहीं, संकेत भले ही करता हो। इसी कारण प्रकृति आजतक गोपनीय, रहस्यमय बनी है। यदि विशाल पर्वतशिखर किसीके लिये स्वाभिमान, दृढ़ता तथा उच्चताके प्रतीक हैं तो 'प्रसाद' के लिये वे ही अचल हिमानीसे रञ्जित, उन्मुक्त, उपेक्षाभरे तुंग अपने जड़ गौरवके प्रतीक बनकर वसुधाका अभिमान भङ्ग करते हैं। उल्लासके क्षणोंमें वैसे ही हिमखण्ड रश्मिसे मण्डित होकर मानो मणिमय दीपकके प्रकाशसे दीखते हैं और जिनसे समीर टकराकर अति मधुर मृदंग बजाया करता है। निराशाके क्षणोंमें यही मौन शैलमालाएँ अतीतसे लेकर अबतक अपने मुँह सियें अभिशाप, ताप, ज्वालाएँ झेलती देखी जाती हैं। भूतत्त्ववेत्ता इस पर्वतश्रेणियोंमें पुरातत्त्वके सिद्धान्त खोजता है। सूर्यमुखी पुष्पकी परिक्रमा देखकर कविके हृदयमें राग-विरागके अन्तर्द्वन्द्व पैदा होते हैं, किंतु वैज्ञानिक उसे देखकर, आकर्षण-विकर्षणके नियम देखता है—पराग, रंग, पँखुड़ियोंका विश्लेषण करता है। एकका सीधा सम्बन्ध हृदयसे है, दूसरेका मस्तिष्कसे। एककी भावनाएँ उद्वेलित होती हैं, तो दूसरेके विचार जाग्रत् होते हैं। यह क्यों? यही न कि वे मौन हैं, गोपनीय हैं, गुह्य हैं; बोलते नहीं, संकेतमात्र करते हैं और हम उन्हें अपने चश्मोंसे देखते हैं। कौआ तथा कोयलका भ्रम तभी-तक सम्भव है जबतक वे बोलते नहीं। कोयलके बच्चेकी मौज इसीमें है कि वह मौन रहे। मौनव्रत छोड़ा नहीं कि असलियत का पर्दाफ़ास हुआ।

इस सचराचर प्रकृतिका एक-एक कण अपनी राम-कहानी कहता है; किंतु बोलकर नहीं। उसकी अपनी भाषा है किंतु ध्वनियोंकी नहीं। राग-विराग, उदासीनताका पाठ पढ़ाता है किंतु सोच-समझकर नहीं। अतीतसे वह कब मानवकी लीलाएँ चुपचाप देखता आ रहा है; उदासीन योगी-की भाँति द्रष्टा ही है। सम्भवतः उसी उदासीनता—मौनके कारण आजतक उसके अन्तरालका पता मस्तिष्क या हृदय किसीसे भी पूर्णतः नहीं लगाया जा सका। वह मौन है इसीसे उसकी ओर मानव आज भी आकर्षित है और उस दमतक उसके रहस्यका पता लगाता रहेगा, जबतक वह बोलेगा नहीं, चुप रहेगा, मुसकाता रहेगा, मौन रहेगा।

* * *

मैं प्रस्तुत हूँ—

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

मैं प्रस्तुत हूँ—
चल देनेको,
जब भी तुम चाहोगे।
मैं प्रस्तुत हूँ—
वह सब करने,
जो भी तुम चाहोगे।
मैं प्रस्तुत हूँ—
दर्पणवत्,
देखने-दिखाने
सब कुछ, कुछ भी,
जब भी, जो भी, तुम चाहोगे॥

माका खेल

[यह पत्र बहुत दिनों पहलेका लिखा है । लेखक 'तुम्हारा ही राँगा दादा' लोकसमाजमें उतने सुपरिचित न होनेपर भी एक ऊँचे स्तरके प्रेमी भक्तसाधक थे,—नाम था पञ्चानन ब्रह्मचारी । वे गृहस्थ थे और शिलंगमें अध्यापन-कार्य करते थे । उनके 'स्नेहके निमाई' थे बरीशालके स्वनामधन्य भक्तप्रवर आचार्य जगदीश मुखोपाध्याय । यह पत्र पहले उद्बोधनमें प्रकाशित हो चुका है ।—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय]

श्रीश्रीदुर्गा

शिलंग–१६ मई,१९१२

परम कल्याणवरेषु,

स्नेहके निमाई मेरे ! बहुत दिन हुए तुम्हारा एक पत्र मिला था । किंतु उसका उत्तर अभीतक नहीं लिख सका; पता नहीं तुम क्या-क्या सोचते होओगे । तुम्हारा पत्र मिलनेके बाद ही, मेरे जीवनमें—इस कामिनी-काञ्चनासक्त मलिन जीवनमें एक ऐसी अलौकिक घटना घट गयी कि लिखने बैठते ही वह अपने-आप ही सामने आ जाती है और लिखना नहीं बनता । पहले सोचा था कि इस घटनाको प्राणोंमें ही छिपा रक्खूँगा । किंतु माकी इच्छा वैसी न होनेके कारण वह चारों ओर फैल गयी । फिर, जो मेरे प्राणोंके गुह्यतम देशमें निवास करते हैं, वे उसे क्यों न जानें ? इसीसे आज लिखनेकी चेष्टा करता हूँ, पता नहीं ठीक-ठीक लिख पाऊँगा या नहीं । पर इसका विचार करनेवाला मैं कौन होता हूँ ? मा जो करेंगी, वही होगा ।

गत २८ फाल्गुनको दो बजेके कुछ बाद ही मैंने स्कूलमें छुट्टी कर दी थी; क्योंकि उस दिन सबेरेसे ही मेरा शरीर कुछ अस्वस्थ-सा था । उसी दिन मैंने घरपर काम करानेके लिये तीन गोरखोंको लगाया था । राजधानी ढाका चली जानेके बाद शिलंग प्रायः जनप्राणीशुन्य हो गया था । हमारे मुहल्लेके ७०, ८० मकानोंमेंसे केवल तीन मकानोंमें दूर-दूर तीन आदमी थे । रास्तेके दोनों ओर बड़े-बड़े मकान थे, पर उनमें जन-प्राणी नहीं थे । बीच-बीचमें दो-चार खसिया (पर्वतीय जाति) केवल थे । इस समय खसिया छोकरे ऐसे बदमाश हो उठे थे कि प्रायः सभी घरोंमें पत्थर मार-मारकर उन्होंने दरवाजे तथा खिड़कियोंके काँच फोड़ डाले थे और घरोंमें घुसकर जो कुछ मिला सो ले गये थे । अन्तमें उनके अत्याचारकी मात्रा यहाँतक बढ़ गयी थी कि वे आग लगाकर मकान जलाने लगे थे । जिस दिनकी बात कर रहा हूँ, उस दिन मैं अपने मकानमें मजदूरोंका काम देखने जा रहा था । जाकर मैं फाटकके पास खड़ा हुआ कि मुझे दिखायी दिया—मेरे मकानसे दो मकानोंके बाद बिजनीकी रानीका एक मकान था । (यह मकान पहले श्रीहरकिशोर शर्मा नामक एक ब्राह्मणका था, उन्होंने बेच दिया था,) उस मकानके बड़े घरके पीछे भयानक आग लगी हुई है । आग देखकर पहले तो मनमें आया कि मालूम होता है, खसियोंने जंगलमें आग लगा दी है । जो कुछ भी हो, दौड़कर गया तो दिखायी दिया कि मकानमें एक दूसरे घरमें भी आग लग गयी है । घरके चारों छप्परोंपर पहुँचकर आग मुँडेरेके ऊपरतक चली गयी है । देखते ही सिर चकरा गया । किसीके घरमें एक बालटी या टीन नहीं थी । मेरे अपने मकानमें भी नहीं थी । कारण, मैं अपने मकानमें न रहकर आजकल राय बहादुर भूपालचन्द्र बसुके विशेष अनुरोधसे मजबूर होकर उनके मकानमें रहता हूँ । (वे इस समय सपरिवार कलकत्ते हैं ।) कुछ भी हो, कहीं एक बूँद जल नहीं था । उस समय नलसे जल नहीं आता था । आखिर दौड़कर एक मकान (काली कुमार बाबूके मकान) में घुसा तो वहाँ एक बालटी जल मिला । उसे लेकर दौड़ा आया और मैंने घरमें काम करनेवाले मजदूरोंको जोरसे पुकारा । दो मजदूर दौड़े आये । मैंने देखा आग इतनी बढ़ गयी है कि बड़े घरसे उस घरमें जाना असम्भव हो गया है । दोनों घरोंमें केवल ७-८ हाथकी दूरी थी । मैं बड़े घरके छप्परपर चढ़नेकी चेष्टा कर रहा था कि मजदूरोंने दोनों हाथोंसे रोककर कहा—'बाबू, उस घरपर बिल्कुल मत चढ़ना । वह घर किसी तरह भी नहीं बच सकता ।' इधर तूफानकी तरह हवा चल रही थी, जिससे सारी आग उस बड़े घरकी ओर लपलपाती चली आ रही थी । मैं उस समय बिना किसी सहारेके, बिना सीढ़ीके कैसे छप्परपर चढ़ गया, इसे मैं भी नहीं जानता । मुझे छप्परपर चढ़े देखकर मजदूर अवाक् हो गये । कहीं और कोई जन-प्राणी नहीं था । मैं अकेला छप्परपर था और नीचे वे दो मजदूर थे । मैंने उनमेंसे एकसे कहा—'जल्दीसे बालटी मेरे हाथमें थमा दो ।' एक मजदूर बड़ी कठिनतासे किसी तरह बालटी मेरे हाथमें थमाकर दूर दौड़ गया और बोला—'बाबू !

तुरंत उतर आओ, वह देखो आगने इस घरको भी पकड़ लिया है ।' मैं उसकी बात न सुनकर अत्यन्त कष्टसे छप्परके बीचमें जाकर बैठ गया । बालटी उठानेके समय अधिकांश जल नीचे गिर गया था । जो थोड़ा-सा बचा था, वह भी आगपर गिरानेके समय हवाके झोंकेसे सारा मेरे शरीरपर ही पड़ गया । इस समयतक आगने प्रायः १५-१६ हाथ ऊपर उठकर मुझको चारों ओरसे घेर लिया । उधर मजदूरोंकी केवल हाहाकारकी पुकार मुझे सुनायी दी । इसके बाद आगके शब्दके मारे मुझे भी कुछ भी सुनायी नहीं दिया । उस समय चारों ओर आग-ही-आग थी । अग्निके सिवा कुछ दिखायी नहीं देता था । मेरा मुख मानो झुलस गया । अब सहा नहीं गया । प्राण गये-गये—हो गया । मैं अपने-आपको भूल गया, जगत्‌को भूल गया, अपने अस्तित्वको भी भूल गया । केवल अग्नि-ही-अग्नि ! प्राण निकलनेकी तैयारी हो गयी । जीवन-मरणका संधिकाल आ गया । ठीक उसी समय प्राणोंसे एक पुकार निकली । मा-माकी पुकार निकली । इस पुकारको किसने निकाला, मुझे पता नहीं । कितनी देर कितनी बार पुकारा, पता नहीं । केवल पुकार-पुकार । केवल मा-मा—जन्मभरके लिये पुकार रहा था। उस समय भाई निमाई ! क्या कहूँ, कहना-लिखना नहीं बनता, नहीं बन पाता । उस समय निमाई ! मैंने सुनी—वीणा-विनिन्दित कण्ठकी ध्वनि—'मा भैः मा भैः; मैं आ गयी हूँ।' भाई मेरे, ऐसी मधुर ध्वनि जीवनमें कभी नहीं सुनी थी, नहीं सुनी थी । आहा ! वह करुणाभरी ध्वनि । उसकी तुलना नहीं है, उसके लिये भाषा नहीं है । तब आँखें खोलीं । भाई जीवन ! निमाई मेरे ! उस समय जो कुछ देखा—जीवन धन्य हो गया । इस प्रकारका रूप मैंने कभी नहीं देखा था । वह विद्युत्‌से निर्मित मूर्ति, उसके तेजसे समस्त अग्नि निष्प्रभ हो गयी । अत्यन्त करुणापूर्ण दृष्टिसे ऊपर भुजा उठाकर कह रही हैं—'मा भैः-मा भैः, भय नहीं है, भय नहीं है, मैं आ गयी हूँ।' भाई रे, वह उन्मादिनी बनकर आयी हैं । मैं मानो उनके हृदयका धन हूँ, शरीरका मांस हूँ, मेरे बिना मानो वे जी नहीं सकतीं, इसीसे ऊर्ध्वबाहु होकर दौड़ी आयी हैं । वे करुणासे निर्मित उन्मादिनी हैं । अब भी उनके दोनों हाथ ऊपर उठे हैं । क्रमशः दोनों हाथोंको दोनों तरफ घुमाकर उन्होंने मानो अग्निकी दाहिका-शक्तिको हरण कर लिया । उस समय सबसे अधिक आग थी, पर थी बिल्कुल शीतल । उस समय मैं और कुछ भी नहीं बोल सका । केवल मा-मा-मा-मा—पुकारते-पुकारते मेरी बाहरी चेतना लुप्त हो गयी । भाई, अब और लिख नहीं रहा हूँ, हाथ अवश हो गया है ।

भाई जीवन ! कल इतना-सा लिखा था, आगे नहीं लि सका । अन्तमें मैं कबतक किस प्रकार रहा, यह पता नहीं फिर आँख खोलकर देखा तो जिस घरमें आग लगी थी, व जलकर राख हो गया था और अब भी दो-तीन हाथ ऊप तक जल रहा है । परंतु इस बड़े घरके छप्परके खड़ एक तिनका भी नहीं जला । दोनों मजदूरोंने मान लिया कि मैं मर गया हूँ, वे चुपचाप खड़े देख रहे थे । इसी सम मुझे होश आया । इस समय सूर्य छिपने जा रहा था । मैं प्रा तीन घंटेसे इस अवस्थामें था । उठनेकी चेष्टा की; पर उठ न सका । निमाई रे ! शरीर काँप रहा है, चारों ओर मा सब नवीन दृश्य प्रकट हो गये हैं, प्रकृतिके प्रत्येक दृश् मानो लावण्य उँडेल दिया गया है, पेड़-पत्ते, घर-मकान स मानो नये दिखायी दे रहे हैं । यह सौन्दर्य-राशि कहाँ आ गयी ! किस रूप-लावण्यका सङ्ग पाकर ये सब रूपसे भ गये, बता सकोगे ? मजदूरोंने मुझको जरा हिलते देखक आशाके साथ पुकारना शुरू किया—'बाबू ! तुम बच ग हो ! आओ, तुम्हें उतार दें ।' मैं किसी तरह छप्परके किनारे पर आया । छोटे-से बच्चेकी तरह हाथ पकड़कर उन्होंने मु उतारा और कहा—'बाबू ! तुम्हारे और कुछ भी न हुआ है, केवल मुख जल गया है, मुखपर बड़े-बड़े फफो पड़ गये हैं ।' जो कुछ हो, मैंने उतरकर देखा—बरामदे पास जो एक तरहके फूलोंकी बेल उठकर छप्परके नीचे बड़े घरतक चली गयी थी, वह अग्निसे जल गयी है, परं बारूदकी तरह सूखे खड़का एक तिनका भी नहीं जला है छप्परके ऊपर अग्निके जलते हुए गोले पड़कर कोयला ह गये हैं, परंतु खड़के एक तिनकेको भी आग नहीं लगी है । यह देखकर मैं अपनेको भूल गया । एक मजदूरने कहा—'बाबू ! हमलोगोंने यह कैसा आश्चर्य देखा—१५-१६ हा ऊँची आगकी लपट छप्परपर पड़ी थी और सब कुछ ज उठा था । और अब देख रहे हैं एक तिनका भी न जला है, यह कैसे हो गया ? जिस समय आगके फैल जाने हमलोगोंको तुम दिखायी नहीं दिये, आगने फैलकर तुम तथा सारे छप्परको ढक लिया था, उस समय खूब जोरसे कई बार तुम्हारे मुँहसे निकली हुई मा-माकी चिल्लाहट सु थी । उसके बाद कोई भी शब्द सुनायी नहीं दिया । त

हमलोग हाय-हाय करने लगे कि बाबू मर गये हैं।' यों कहकर वह रो उठा। उस समय मेरी क्या अवस्था थी, यह तुम सहज ही समझ सकते हो। बहुत देरके बाद मैंने उससे कहा 'यदि तुम नीचे झरनेसे जल लाकर आग बुझा सकते हो तो चेष्टा करो।' इस समय दो-तीन खसिया स्त्रियाँ और दो पुरुष आ गये। उन सबने मिलकर आगको बुझा दिया। उस समय घोर संध्या हो गयी थी, मैं अत्यन्त कष्टसे घर लौट रहा था। रास्तेमें दो ब्राह्म बाबुओंसे भेंट हो गयी, वे उस समय आफिससे लौट रहे थे। वे मुझसे आग लगनेकी बात सुनकर तुरंत वहाँ दौड़े गये। बड़ा घर इतना नजदीक होनेपर भी वह आगसे बचा रहा, यह देखकर वे अत्यन्त आश्चर्यसे भर गये। मैं घर लौटकर दरवाजा बंद करके बैठ गया। केवल मा-मा पुकार रहा था और रोना आ रहा था। इसी प्रकार रात कट गयी।

मुखकी अवस्था दिनोंदिन भयङ्कर होती गयी। पहले सारा मुँह लाल हो गया था, अब क्रमशः काला होने लगा। जितने दिन बीतने लगे, उतनी ही मुखकी स्थिति शोचनीय होने लगी। यहाँतक हो गया कि जिन लोगोंके साथ १९-२० वर्षोंसे निवास कर चुका था, वे भी मुझे पहचान नहीं सकते थे। उनमेंसे श्रीयुत चारुचन्द्र गोस्वामी (Registrar) ने कहा, 'तुम्हारा इतना प्रफुल्ल मुख किस प्रकारका हो गया?' इतनेपर भी मुझे आनन्द था। अन्तमें १६ चैत्रके दिन मेरे एक दूसरे मित्र ढाकासे शिलंग आये और वे मेरे ही घरपर ठहरे। वे भी मुझे देखकर अवाक् रह गये। उनके लिये घर ढूँढ़नेमें कई दिन लग गये, इससे वे मेरे ही पास रहे। इसके बाद गत २७ चैत्रको यहाँके एक डाक्टरने मेरा मुख देखकर पूछा—'आपके मुखको क्या हो गया?' मैंने कहा—'आगसे जल गया था।' उन्होंने कहा—'ऊपरका चमड़ा बिल्कुल जल गया है, यह चमड़ा सारा उतर जायगा तब नीचेसे सफेद चमड़ा निकलेगा, तब आपका मुख ठीक श्वेत कुष्ठ रोगके समान दिखायी देगा और जहाँ फफोले पड़े हैं, वहाँ इन फफोलोंके पिचक जानेपर भयङ्कर दाग बने रह जायँगे।' भाई! इतने दिनोंतक मुखकी अवस्थाको लेकर मेरे मनमें आनन्दको छोड़कर कभी मुहूर्तमात्रके लिये भी निरानन्द नहीं आया था। किंतु पता नहीं, आज मन क्यों विचलित-सा हो गया, बहुत देरतक तिलमिलाता रहा। जो भी हो, घर आनेपर मैं फिर सब भूल गया। रातको बहुत देरतक पुलिन बाबू (जो अभी मेरे घरमें ही हैं) के साथ बातचीत करता रहा। फिर घर आकर सो रहा।

मैं चाहे जब सोऊँ, रातके पिछले पहर तीन बजे मेरी नींद टूट जाती है और मैं उठकर बैठ जाता हूँ। आज भी ठीक उसी समय उठकर बैठ गया। किंतु आज मानो अवस्था कुछ नयी तथा विचित्र-सी लगने लगी। बाहरकी चेतना लुप्त हो गयी। हठात् घरमें दिखायी दिया—उज्ज्वल प्रकाश छा रहा है। सामने फिर वही मूर्ति है। आज मानो शान्त भाव है। उस दिन देखा था उन्मादिनीके सदृश, दोनों आँखें लाल-लाल थीं; परंतु आज अत्यन्त कमनीय है, मुखपर मृदु-मृदु मुसकान छा रही है। भाई रे! उस रूपकी बात कह नहीं सकता। क्या तुलना दूँ उस रूपके लिये; तुलनाकी कोई वस्तु ही नहीं मिलती इस भवमें। वह स्नेहसे गद्गद, प्रेममें पगली और अपने ही भावसे उन्मादिनी है। तुलना नहीं है रे उसकी, कहीं तुलना नहीं है, तुलना नहीं है। तब अपने सुधासम वीणाविनिन्दित कण्ठसे वे बोलीं—'अपने मुखकी बात सोचकर तुम्हारे मनमें उदासी आ गयी थी न?' मैंने कहा 'आ तो गयी थी, पर अब नहीं है।' वह फिर बोली—'अच्छा, एक बार मुझसे कह दो न, अभी तुम्हारा मुख अच्छा हो जायगा।' मैंने कहा—'नहीं मा! यह बात अब किसी तरह नहीं कहूँगा, यह तो तुम्हारा दिया हुआ अलंकार है, यही मेरे लिये अच्छा है, मैं बाहरके सौन्दर्यको लेकर क्या करूँगा। तुमसे माँगनेकी तो मेरे लिये और बहुत-सी वस्तुएँ हैं।' इसपर भी वे बार-बार कहती रहीं—'एक बार कह दो न, अभी तुम्हारा मुख पहलेकी तरह स्वाभाविक हो जायगा। कहो एक बार।' मैंने कहा—'मुझे अब मायामें मत भुलाओ, मैं किसी प्रकार भी नहीं कहूँगा।' तब खूब हँसीं! उस हँसीकी छटाका क्या वर्णन करूँ, कुछ भी कहना नहीं बनता, वह भाषाके अधिकारसे बाहरकी चीज है। भाई रे निमाई! इस प्रकार हँसते-हँसते वे बोलीं,—'तुम स्वयं जब किसी प्रकार भी कुछ नहीं कहना चाहते, तब मैं ही कहती हूँ। आगामी चैत्र संक्रान्तिके दिन तुम ज्यों ही स्नान करके आओगे, त्यों ही देखोगे तुम्हारा मुख स्वाभाविक हो गया है।' इतना कहकर अन्तर्धान हो गयीं। मैं कुछ कहने जा रहा था, पर वह कह नहीं पाया। माको न देखकर मुझे रोना

आ गया । इधर देर हुई जा रही है, तब बड़े कष्टके साथ मैं आसनसे उठा ।

क्रमशः संक्रान्तिका दिन समीप आने लगा । अब मेरे हृदयमें कैसी एक धुक्-धुकी होने लगी । इधर मेरे घरमें जो बाबू रहते थे, वे बार-बार कहने लगे कि तुम्हारे मुखकी अवस्था तो दिनों-दिन भयङ्कर हुई चली जा रही है ।' एक दिन मैं अकस्मात् उनसे कह बैठा कि 'आगामी संक्रान्तिके दिन मेरे मुखपर कोई दाग नहीं रह जायगा ।' उन्होंने पूछा—'आपने यह कैसे जाना ?' इससे अन्तमें मैंने उस घटनाका आभास उन्हें दे दिया । उनके अतिरिक्त अन्य भी कई विशेष बन्धुओंके सामने यह बात पहले ही प्रकट हो चुकी थी । उनमें एक सज्जन दीक्षित ब्राह्मण थे । वे सुनकर अवाक् हो गये । परंतु बहुत-से लोग यह पूरा विश्वास नहीं कर सके कि आगके जले दाग बिल्कुल मिटकर मुख स्वाभाविक हो जायगा । सभीके मनोंमें एक कौतूहल उत्पन्न हो गया । ठीक संक्रान्तिके पहले दिन रात्रिसे ही मेरे मनकी एक विचित्र अवस्था होने लगी । बहुत रात गयेतक पुलिन बाबूके साथ बातचीत करके मैं प्रायः ११ बजे सोनेको गया । मेरे मनमें इसी चिन्तासे भय होने लगा कि 'मैंने लोगोंसे पहले बताकर अच्छा नहीं किया ।' अब कुछ उल्टा भाव हो गया । 'जब कह दिया है, तब यदि यह सत्य नहीं होगा तो मेरी माके नामपर कलङ्क लगेगा ।' यह सोचते ही हृदयमें एक विचित्र अव्यक्त यन्त्रणा होने लगी ।

देखते-देखते ही रात्रि बीतकर प्रभात होनेको आया । मेरी वह यन्त्रणा क्रमशः बढ़ने लगी । शरीर काँपने लगा । किसी तरह हाथ-मुँह धोकर गमछा-झोली लेकर मैं रोजकी भाँति झरनेपर स्नान करने जानेके लिये तैयार हो गया । परंतु मेरे पाँव नहीं उठते थे । तब, कलङ्क-भञ्जनके समय श्रीमती राधिकाजी हजार छिद्रोंवाली कलशी लेकर जब यमुनाकी ओर जाने लगी थीं, तबका उनके द्वारा किया गया श्रीकृष्णका स्तुतिगान मुझे याद आ गया । पर मैं तो अणुसे भी अणु हूँ (राधासे मेरी क्या बराबरी !) परंतु भयङ्कर आसक्त होनेपर भी मेरी स्थिति उनकी अपेक्षा भी अधिक कठिन थी । उनकी थी अपने कलङ्क-भञ्जन परीक्षा; परंतु मेरे लिये तो सामने उपस्थित थी म कलङ्क-भञ्जनकी परीक्षा । अपराधी था मैं, परंतु इस कलङ्क लगेगा मेरी मापर ! छाती फटने लगी । पैर न नहीं । ठीक पागलकी-सी दशा हो गयी । पैर रखता हूँ क और पड़ता है कहीं । झरना हमारे घरसे आधी मी भी कुछ कम दूरपर था । परंतु इतना-सा रास्ता लिये अत्यन्त दुर्गम हो गया । दुःख, कष्ट और भयसे जडवत् हो गया । दो कदम चलकर ही खड़ा रह जात तब कहने लगा—'क्या उपाय होगा ? मा ! यदि तुम्ह बात सत्य नहीं होगी तो मैं लोकालयमें अब मुँह न दिखाऊँगा । स्नानके बाद यहींसे किसी तरफ चल दूँ फिर नहीं लौटूँगा । तुम्हारा कलङ्क मैं नहीं सुन सकूँगा जहाँ खड़ा-खड़ा मैं यों कह रहा था, वहाँ मेरे पैर पूर्ण अचल हो गये । परंतु महामायाकी कैसी आश्चर्य माया है उसी क्षण मैं सारी बातें भूल गया । आज इस प्रकार कोई एक विशेष दिन है, यह बात मुझे बिल्कुल ही य नहीं रही । तब रोज जैसे स्नान करने जाता था, वैसे चल दिया । कुछ भी याद नहीं रहा । रोज जैसे स्नान क आता था, वैसे ही स्नान करके लौट आया । इधर पुलिन बाबू और उनकी पत्नी अत्यन्त कौतूहलके यह प्रतीक्षा कर रहे थे कि देखें क्या होता है । मैं आ ज्यों ही कपड़े बदलने लगा, दोनों दौड़े आये । पु बाबू समीप आकर मेरे मुँहकी ओर देखते हुए स्त होकर खड़े रह गये । मैंने सोचा—ये इस प्रकार क्यों रहे हैं ? अन्तमें उन्होंने ज्यों ही यह कहा कि 'सच तो आपके मुखपर जरा भी दाग नहीं है, क्या आश्चर्य है त्यों ही, यह बात सुनते ही मेरी फिर विचित्र स्थिति हो ग मैं काँपने लगा । बहुत देर बाद मा-मा पुकारकर लगा । कुछ समयके बाद बड़ी कठिनाईसे घरमें आ दरवाजा बंद करके पड़ गया । भाई रे ! अब और कु भी नहीं कह सकता ।

तुम्हारा ही—राँगा दा

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सहृदयता

मेरे एक मित्र बड़े उदारहृदय थे । पर उन दिनों उनका हाथ बहुत तंग था । बड़ी मुश्किलसे घरका काम चलता । इधर कई महीनोंसे अनाजवालेका दाम नहीं दिया गया था । उसके तीन-चार सौ रुपये चढ़ गये थे । उसने कहा कि कल रुपये नहीं दिये जायँगे तो अनाज नहीं दूँगा । घरमें बच्चे थे । मित्र बड़ी दुविधामें पड़ गये । वे अपने एक सम्बन्धीके पास गये और किसी तरह बड़ी विनय-प्रार्थना करके उनसे साढ़े तीन सौ रुपये लाये । रुपये लेकर घर आ रहे थे कि रास्तेमें उनके एक पुराने मित्र मिल गये । वे बहुत ही उदास थे । पूछनेपर पता लगा कि 'उनको किसीके तीन सौ रुपये देने थे, उसने नालिश करके डिक्री करवा ली और आज उनके घरपर कुर्की आ गयी । घरमें अपनी लड़कीका कुछ गहना था, उसे कुर्क किया जा रहा है । गहना एक हजारसे ऊपरका है, वह नीलाम हो जायगा । लड़की भी बड़ी गरीब है । उन्होंने बताया कि मैं एक घंटेकी मोहलत लेकर आया हूँ । कुर्कीवालोंने मुझे कृपा करके समय दे दिया । पर रुपये न देनेपर कुर्कीका माल ले जायँगे । मेरे घरमें और कुछ भी है नहीं । मैं इसीलिये तुम्हारे पास जा रहा था । मैं जानता हूँ तुम भी कष्टमें हो, पर दूसरा कोई दीखा नहीं । कुछ प्रबन्ध कर सको तो··········' यों कहकर वे मित्र फुफकार मारकर रोने लगे । मेरे मित्रसे यह रोना नहीं देखा गया । उन्होंने साढ़े तीन सौ रुपये उनको देकर कहा—'जल्दी जाकर अपना काम करो ।'

इस प्रकार रुपये दे देनेसे उन्हें कुछ परेशानीमें पड़ना पड़ा, पर उन्होंने उसकी परवाह नहीं की । भगवत्कृपासे कुछ दिनों बाद उनका अभाव दूर हो गया । सट्टेमें उन्हें काफी रुपये मिल गये ।

—वल्लभदास

(२)

अपने वेशभूषाके कारण प्राणरक्षा

संवत् २०११ वैशाख मासकी बात है, एक आवश्यक कार्यसे मैं मुजफ्फरपुर गया था, बाजारमें पहुँचनेपर मुझे खूब जोरोंकी प्यास लग गयी । सरैयागंज मुहल्लेमें एक कोठरीमें दो-चार नवयुवक बैठे कुछ बातें कर रहे थे । वे लोग काली लुंगी पहने हुए थे और शिखासे विहीन थे । अनुमानसे लगा कि ये किसी कॉलेज या स्कूलके छात्र हैं । उन लोगोंका वेशभूषा देखकर मैं लौट चला । मुझे लौटते देखकर उनमेंसे एकने पूछा 'क्यों पण्डितजी ?' मैंने कहा 'कुछ नहीं, प्यास लगी है ।' इसपर उसने कहा कि 'आइये पानी पीजिये ।' तब मैंने कहा कि 'हमलोग मुसल्मान-का पानी नहीं पीते हैं ।' इसपर खूब जोरोंसे हँसते हुए उन लोगोंने कहा कि 'पण्डितजी ! हमलोग तो हिंदू हैं ।' तब फिर मैंने उनसे कहा कि 'यदि आप हिंदू हैं तो अपना वेश मुसल्मानोंका-सा क्यों बनाये हुए हैं ? आपलोगोंको बिना चोटीके तथा काली लुंगी धारण किये देखकर मैंने समझा कि आपलोग मुसल्मान होंगे । किंतु अब मैं आपके गलेमें यज्ञोपवीत देख रहा हूँ । इसके लिये आपको धन्यवाद है । पर मेरा तो यही अनुरोध है कि आपलोगोंका अपने वेशभूषा तथा आचार-विचार हिंदुओंका ही रखना चाहिये ।' यह कहकर मैं चल दिया । तब उनमेंसे एक छात्रने पूछा—'पण्डितजी ! आपका मकान ?' मैंने कहा—'मनियारी' । पुनः उसने पूछा—'पण्डितजी ! आप रामेश्वर झाको जानते हैं ?' मैंने कहा—'हाँ, मैं जानता हूँ । मेरे मकानसे उनका मकान कुछ दूर पड़ता है ।' तब उसने कहा—'वे मेरे मामा लगते हैं, मैं अगर कभी आऊँगा तो अवश्य आपसे भेंट करूँगा, आपका नाम क्या है ?' मैं अपना नाम बताकर वहाँसे चला आया ।

अब इसके बाद मैं इस साल संवत् २०१९ माघकी बात लिख रहा हूँ । वही पूर्वकथित छात्र अपने मामाके यहाँ मनियारी आया तो मुझसे भी भेंट करने आया । मैं उसका पवित्र ब्राह्मणोंका-सा वेशभूषा देखकर आश्चर्यमें पड़ गया । साँची धोती पहने, त्रिपुण्ड्र चन्दन लगाये, माथेपर पाग दिये, अंगरखा पहने था और शुद्ध मैथिली बोल रहा था । इस प्रकारका अपूर्व परिवर्तन देखकर मैंने पूछा—'कहिये आजकल आप क्या कर रहे हैं ! आपमें मैं बड़ा परिवर्तन देख रहा हूँ । लुंगीकी जगहपर साँची धोती है, सिरपर शिखा और चन्दन भी है ।' इसपर उस छात्रने कहा कि 'मैं इस समय एम्० ए०का छात्र हूँ और इस अपूर्व परिवर्तनका कारण है ठेस लगना । कई वर्ष हुए सीतामढ़ी मेलेमें हिंदू-मुस्लिम दंगा हो गया था । सीतामढ़ीके समीप ही मेरा और मेरे उस साथीका, जिसको आपने मुजफ्फरपुरमें देखा था, घर पड़ता है । हमलोग मेलामें गये थे । संयोगवश मैं तो उस दिन धोती पहने था, किंतु मेरे साथी लुंगी धारण किये ही चल पड़े थे । होनहार बलवान् होता है । जिस समय हम दोनों पहुँचे, उस समय कई हिंदुओंके मुसल्मानोंद्वारा मारे जानेके कारण क्रोधित हिंदूलोग हाथोंमें लट्ठ लिये

मुसल्मानोंको खोज-खोजकर मार रहे थे। अकस्मात् लुंगी पहने हुए मेरे मित्रपर उन लोगोंकी नजर पड़ गयी, बस, वे उसे पकड़कर मारने लगे। यह देखकर मैंने कहा कि 'अरे, यह तो हिंदू है'; किंतु मेरे मित्रको लुंगी पहने तथा शिखाहीन देखकर उन लोगोंको मेरे कथनपर विश्वास नहीं हुआ, बल्कि उनमेंसे एक आदमीने कहा कि 'अरे यह भी तो मुसल्मान ही मालूम होता है। देखो न इसके भी चोटी नहीं है।' यह कहकर उसने मुझे भी पकड़ लिया। दैवयोगसे मेरे गलेमें यज्ञोपवीत था। मैंने उनको अपना यज्ञोपवीत दिखाया, अपना तथा अपने मित्रका भी पूरा परिचय दिया, कई शपथें खायीं, तब बड़ी मुश्किलसे उन लोगोंसे हम दोनों छूट पाये। मेरे मित्र एक अच्छे खानदानके राजपूत हैं, किंतु आनन्दमार्गी होनेके कारण उन्होंने उपवीत उतार दिया था। अतः शिखासूत्रसे शून्य तथा लुंगीधारी होनेके कारण उनको हिंदू साबित करनेमें मुझे बड़ी दिक्कत उठानी पड़ी। मार तो काफी पड़ी, परंतु परमेश्वरकी कृपासे उनके प्राण बच गये। पण्डितजी! सच कहता हूँ, उसी समय, मुझे आपने वेषभूषाके विषयमें जो कुछ कहा था, वे वह सब बातें याद आ गयीं और साथ ही लड़कपनमें पढ़ी-हुई नीले सियारकी कथा भी याद आ गयी, जो अपना वेष त्यागकर राजाकी नकल करनेपर मारा गया था। इसके बाद घर आकर मैंने नाईको बुलाकर शिखा रखवायी तथा अपने कुलानुकूल स्नान-ध्यानपूर्वक त्रिपुण्ड्र चन्दन तथा वस्त्रादि धारण किये। अपने मित्रको भी अनुकूल बना लिया। तबसे सर्वत्र मेरा आदर हो रहा है। पहले तो मैं केवल अपने मित्रोंमें ही आदर पाता था। टोले-महल्लेके लोग मेरे वेशभूषाको देखकर बराबर मेरी खिल्ली उड़ाया करते थे। कोई साहब कहता तो कोई पाकिस्तानी बताता था। यद्यपि मैं पढ़ने-लिखनेमें खूब तेज था किंतु वेषभूषा तथा उद्दण्डताके कारण लोगोंकी दृष्टिमें आदर पाने योग्य न था, किंतु अब मेरे वेशभूषाको देखकर लोग आदरपूर्वक मेरा उदाहरण देते हैं कि 'देखते हो रामचन्द्रको, एम्०ए०में पढ़ता है, पर कैसा आदर्श सादा वेशभूषा, रहन-सहन और चाल-चलन है। पण्डितजी! अपने देशोचित वेशभूषाका लाभ मुझे दिनोंदिन देखनेमें आ रहा है और मैं अपने साथी-मित्रोंको सदैव यही कहा करता हूँ कि अपने कुलोचित आचार-विचार तथा देशोचित वेशभूषाका भूलकर भी परित्याग न करो। मुजफ्फरपुरमें आपने कहा था, तभीसे मैंने लुंगी धारण करना छोड़ दिया था। उसीके फलस्वरूप मेरे प्राण बच गये और मैंने जरा भी मार नहीं खायी। नहीं तो न तो मैं बच सकता औ न अपने मित्रको ही बचा सकता। इन सब बातोंको सुन मैंने उस छात्रको बहुत धन्यवाद दिया और कहा कि आपका अनुकरण यदि सभी छात्र करें तो देशका परम कल्याण हो। —पण्डित रामविलास मिश्र, कथावाच

(३)

मांस खाना महापाप

हम पंजाबके रहनेवाले हैं। जब वहाँ गड़बड़ी हुई उस समय मैं छोटा-सा बच्चा था। हमारे घरमें मांसका सेवन हो और मुझे भी मांस खिलाया जाता था। मैं मांस खा तो लेता, प उसके दो-तीन घंटे बाद ही मेरे दस्त होने लगते। घरवाले दव दिलाते तो ठीक हो जाता। फिर मांस खाता तो फिर वैसा ही होता। १९४७ में जब हम यहाँ आये तो हमारी हालत कुछ और ही थी। दिन गुजरते गये और भगवान्‌की दयासे हम लोग कुछ काममें लग गये। फिर यहाँ भी वही मांसका सेवन होने लगा। एक दिन घरवालोंने मुझे कुछ पैसे देकर मां लानेको भेजा। मैं कसाईके अड्डे पर पहुँचा तो वहाँ बहुत खरीददार खड़े थे। मांस थोड़ा था, अतः उस कसाईने कहा—'मैं और बकरा बनाऊँगा, तब आपको दूँगा।' हम सब वहाँ बैठ गये। तदनन्तर उसने दूसरे बकरेके साथ जो सलूक किया, वह बड़ा ही भयानक था। मैंने इससे पहले ऐसा बीभत्स दृश्य कभी देखा ही नहीं था। मुझसे वह दृश्य देखा नहीं गया। मेरा जी घबराने लगा और मैं वहाँसे तुरंत भाग आया। मुझे कबीरजीका वह दोहा याद आ गया—

बकरी पाती खात है, वाकी तारें खाल।
जो बकरी को खात हैं, उनका कौन हवाल॥

मैंने घर लौटकर कह दिया कि उसके मांस खतम हो गया है। साथ ही मैंने घरवालोंसे यह भी कह दिया कि आपलो अगर मांस खायँगे तो मैं घरसे चला जाता हूँ। घरवालोंने कहा कि हम मांस खाना छोड़ देंगे। उस दिनसे आज १० व हो गये हैं, हमारे घरवालोंने कभी मांस खानेका इरादातक नहीं किया। मैं अपने सभी भाइयोंसे हाथ जोड़कर प्रार्थ करता हूँ कि वे सबसे पहले तुरंत मांस खाना छोड़ दें मांसके लिये जो निर्दयतासे जीव मारे जाते हैं, वह बड़ा भारी पाप है। 'कल्याण' पढ़नेवालोंको तो अभी प्रतिज्ञा ही क लेनी चाहिये कि वे कभी मांस नहीं खायेंगे। —मदनलाल पिंडो

(४)

सच्ची तीर्थयात्रा

रामनारायणजी साधारण व्यापारी थे। राजस्थानके छो

शहरमें साधारण दूकान करते थे । उनकी पत्नी बड़ी श्रद्धालु तथा धार्मिक प्रवृत्तिकी थी । उसका मन बहुत दिनोंसे चारों धामोंकी यात्रा करने तथा पुण्यस्थलोंपर यथासाध्य कुछ दान करनेका था । पर पतिकी आर्थिक स्थितिको देखकर वह कभी कुछ कहती नहीं थी । एक वर्ष उनकी दूकानमें पाँच-सात सौ रुपयेकी बचत हुई, तब उसने एक दिन पतिसे अपने मनकी बात कही । पतिने प्रसन्न होकर सहानुभूतिके साथ कहा—'सब मिलाकर लगभग दो हजारका खर्च है । अगले साल कुछ और कमाई हो जायगी तब चले चलेंगे । तुम्हारी यह इच्छा बहुत ही उत्तम है ।' पत्नीने कहा—'लगभग चार सौ रुपये तो दस वर्षमें मैंने बचा-बटोरकर रक्खे हैं ।' आखिर यह निश्चय हुआ कि 'होलीके बाद चलना है । अभी छः महीने हैं । इस बीच विवाहोंकी मौसिममें दूकानमें भी कुछ आमदनी हो जायगी ।' पत्नी प्रसन्न होगयी ।

आखिर फागुनतक सब मिलाकर सोलह सौ रुपये इकट्ठे हुए । चैत्र कृष्ण २ का मुहूर्त निश्चित हो गया । रामनारायणने दूकानका काम कुछ समेट लिया; क्योंकि तीर्थयात्रामें पीछेसे दूकान बंद रखनी थी । इसी बीच एक दिन गाँवमें बाहरी बस्तीमें आग लग गयी । गरीबोंकी झोंपड़ियाँ तो जलीं ही, छोटी-सी गोशालाके घासका वह बागर जल गयी, जो कल ही खुलनेवाली थी । गोशालाकी डेढ़ सौ गायोंके खाद्यकी भयानक समस्या आ गयी । यह समाचार रामनारायणजीकी धर्मभीरु करुणामयी पत्नीको मिला । घासके अभावमें गौओंको भूखी रहना पड़ेगा, इस विचारसे उसका हृदय दहल गया । उसने अपने पति रामनारायणजीसे कहा कि 'अपने तीर्थयात्रा या तो इस साल स्थगित कर दीजिये अथवा चारों धामोंकी न करके दो ही धामोंकी कीजिये और सोलह सौमेंसे आधे आठ सौ रुपयेका गायोंके लिये घास खरीद दीजिये । घासके अभावमें गायें भूखी रहेंगी ।' रामनारायणजीने समझाया कि 'वर्षोंसे तुम्हारी तीर्थयात्राकी इच्छा है और बड़ी कोर-कसरसे—बड़ी कठिनाईसे ये रुपये इकट्ठे हो गये हैं । फिर जुगाड़ होना कठिन है ।' पर उसकी समझमें यह बात नहीं आयी । उसने कहा—'तीर्थयात्रा न होगी तो कोई बात नहीं । गाँवमें इस समय कोई घास खरीद दे, ऐसा आदमी दीखता नहीं है । खुली बागरका घास समाप्त हो गया था । कल ही यह बागर खुलनेवाली थी । मैंने पता लगाया है अमुक जाटके पास एक बागर घास है और किसीके पास है नहीं । वह किसीको बेच देगा तो फिर तो घास मिलना ही कठिन हो जायगा । अतएव उस घासको खरीदकर गोशालाको दे दीजिये । तीर्थयात्रामें अपनेको जो लाभ होता, वह न होगा तो कोई बात नहीं, हमारी गोमाता तो भूखों नहीं मरेगी ।' रामनारायणजीने पत्नीकी बात मान ली, घास खरीद लिया गया । तीर्थयात्राका विचार एक बार स्थगित-सा हो गया । साढ़े आठ सौमें घास खरीदा गया; साढ़े सात सौ रुपये बच रहे ।

इसी बीचमें एक और चीज सामने आ गयी । रामनारायणजीकी पत्नीके पीहरके दूर रिश्तेमें एक भतीजी थी । बहुत गरीब घर था । उसकी एक लड़कीका विवाह होनेवाला था । रुपयोंकी व्यवस्था नहीं हो पायी थी, पर लड़कीका पिता प्रयत्न कर रहा था । वह कलकत्तेमें नौकरी करता था, वहाँ मालिकोंसे सहायता माँगने गया था । वहाँ अकस्मात् हैजा होकर उसका देहान्त हो गया । रामनारायणजीकी पत्नीकी भतीजीपर वज्रपात हो गया । पतिकी मृत्यु हो गयी और इधर जवान लड़कीका विवाह रुकनेकी नौबत आ गयी । आगे डेढ़ साल विवाहका लग्न नहीं था । सयानी लड़की थी । यह समाचार जब रामनारायणजीकी पत्नीको मिला तो उसको बड़ी मर्म-पीड़ा हुई । उसने सोचा, तीर्थयात्राके लिये बचे हुए साढ़े सात सौ रुपयोंमें कन्याका विवाह हो जायगा । उसने रोते हुए अपने पतिके सामने विचार प्रकट किये । रामनारायणजीका हृदय भी बड़ा कोमल था । उन्होंने समर्थन किया । दो महीने बाद विवाहकी तिथि थी । रामनारायणजी और उनकी पत्नी दोनों उसके घर गये, उसे आश्वासन दिया और विवाहके मुहूर्तपर दोनोंने वहाँ जाकर अपने रुपयोंसे कन्याका विवाह कर दिया ।

वहाँसे लौटनेपर एक दिन रामनारायणजीकी पत्नीको स्वप्नमें भगवान् नारायणके दर्शन हुए । नारायणने कहा—'तुम्हारी तीर्थयात्रा सफल हो गयी । तुमने गायोंकी रक्षा और विधवा अबलाकी कन्याके विवाहमें रुपये लगा दिये । इससे तीर्थयात्राका फल तो तुम्हें मिल ही गया । मेरी प्रसन्नता भी तुमपर बरस रही है । तुम दोनों पति-पत्नीका लौकिक और पारमार्थिक भविष्य सुधर गया ।' उसने जगकर पतिको सपना सुनाया । पतिको भी ठीक वही सपना आया था । दोनों गद्गद हो गये ।

भगवान्की कृपासे उनका कारोबार बढ़ा, बड़ी सम्पत्ति हो गयी । तीर्थयात्रा भी सम्पन्न हुई । पर उनका जीवन फिर सदाचार, भगवद्भक्ति तथा गरीबोंकी सेवारूप भगवत्पूजामें ही बीता । सच्ची तीर्थयात्रा हो गयी । —सीताराम शर्मा

(५)

पतिकी अनुगामिनी वीरपत्नी

ईस्वी सन् १९४३ में जापान और मित्र राष्ट्रोंमें होनेवाले युद्धका प्रसङ्ग है । इस समय सिंगापुरसे एक बंगाली नेताने एक ज्वलन्त दीपक भेजा । मातृभूमि भारतके मुक्ति-फौजमें एक सैनिक था । इसने अपनी जापानी प्रियतमासे अन्तिम बार मिलकर कहा था—'मातृभूमिका आवाहन है । आऊँगा तो विजयी बनकर, नहीं तो अगले जन्ममें मिलेंगे ।'

और श्योनान (सिंगापुर) में बैठी हुई यह जापानी रमणी अपने भारतीय सैनिक स्वामीकी बाट देखती हुई प्रतिदिन रेडियोसे समाचार सुनती । मणिपुर, तेलविस्ता, ढाका, पालम, इम्फाल और कोहिमा······आजाद फौज एकके बाद एक स्थलको जीतती जा रही है ।

इन समाचारोंसे पुलकित होती यह रमणी स्वयं भी आजाद फौजका एक अङ्ग बनकर 'झाँसी रानी रेजिमेंट' में भरती हो गयी थी ।

फिर तो विजयका पलड़ा पराजयमें पलट गया । समाचार मिलते हैं आजाद फौजके पीछे हटनेके, गिरफ्तारीके और मृत्युके । इतनेपर भी वह प्रतीक्षा करनेसे नहीं चूकी । एक दिन समाचार मिला—इम्फालके जंगलमें पड़ी आजाद फौज घेर ली गयी और उसके सैनिकोंको गिरफ्तार कर लिया गया । उन्हींमें उसका पति भी था ।

उस सैनिकने मृत्युको पसंद किया । अपनी राइफलको अपनी ही छातीपर टेककर 'स्ट्रेगर' दबानेसे पहले ही वह पुकार उठा—'जय हिंद !'

सुहागपर काली स्याही लगा देनेवाले इस समाचारसे जापानी रमणीपर क्या परिणाम हुआ होगा ?

परंतु मातृभूमिके लिये आत्मार्पण कर देनेवाले अपने प्रियतमकी इस गौरवमयी मृत्युने जापानी रमणीकी आँखोंमें आँसू ला दिये, पर ये थे गौरवान्वित आँसू ।

इसके बादकी वीरगाथाकी यह अन्तिम कड़ी भी प्रियतमके पीछे मृत्युके मार्गको पसंद करनेवाली इस रमणीकी मृत्युकथासे पूर्ण होती है । इस रमणीने पहलेसे संग्रह किये हुए जहरकी पुड़िया जलमें मिलायी और प्रियतमके मृत्युमार्गको वरण किया ।

इस सैनिकका नाम था—श्रीएस०एन० कपूर । केसरभीगे कन्तको रणाङ्गणमें भेजनेवाली इस जापानी युवतीका नाम नहीं मिलता । पर पृथ्वी-पटलपर संगृहीत मातृभूमिकी वीरगाथामें एक गुलाबके फूलकी तरह सुगन्ध फैलाता हुआ वह चमकता होगा······चमकती रहेगी । अखण्ड आनन्द—विष्णु पंड्या

(६)

मूक मानवता

अभी सुरक्षाकोषके लिये कार्यक्रम सम्पन्न करने मेरा पूना जाना हुआ था । वहाँ भाई नारायण सोलंकीने एक छोटी-सी किंतु मानवताभरी बात वहाँके एक सज्जन व्यापारीकी सुनायी।

पूनामें दो वर्ष पहले जो बाढ़ आयी थी उसमें बहुतसे घर डूब गये थे । एक गुजराती कुटुम्ब घर नष्ट हो जानेके कारण चौराहेपर आश्रय खोजता छोटे-से बच्चेके साथ खड़ा था।

वहाँसे बहुत लोग निकलते । सभी—'क्यों भाई, आप तो बड़ी मुसीबतमें आ पड़े ! हमारे लायक कोई काम-काज होते कहना ।' ऐसा कहकर मौखिक सहानुभूति दिखाकर आगे बढ़ जाते ।

मोटरपर सवार होकर कांग्रेसके कार्यकर्ता आये। इन्होंने भी सहानुभूति और आश्वासनके दो शब्द कहकर अपना रास्ता पकड़ा ।

किसीने यह विचार नहीं किया कि बिना घरबारका बना हुआ यह छोटे-से बच्चेवाला कुटुम्ब रातको कहाँ रहेगा! यों सुबहसे शामतक वह कुटुम्ब भूखा-प्यासा रास्तेके चौराहे पर खड़ा रहा । उधरसे जिसके साथ आँखकी भी जान-पहचान नहीं, ऐसे एक राजस्थानी सज्जन निकले । समाचार पूछकर सारी परिस्थितिका अनुमान कर लिया और वे उस कुटुम्बको अपने घर ले गये । कुछ भी कहे-सुने बिना ही उसके रहने तथा खाने-पीनेकी सारी व्यवस्था उन्होंने कर दी । सिलाईके कामके लिये एक मशीन भी खरीद दी और उसे रोजी कमानेवाला भी बना दिया ।

अपने साथ रखकर भाईकी तरह उनकी सँभाल रखी और वह भी पूरे एक वर्षतक । जब वे भाई अपने पैरोंपर खड़े रहने योग्य हो गये तब उन्होंने अलग घर ले लिया और उसमें रहनेको चले गये ।

इस मूक मानवताका विज्ञापन उन सज्जनने कभी कहीं भी नहीं किया । न कभी पत्रोंमें नाम तथा फोटो छपवाये। परंतु जिनकी सेवा-सँभाल की, वे भाई तो उपकारवश इनके गुणगान-गाथा गाया ही करते हैं । (अखण्ड आनन्द)

—मूलराज अंजारि

श्रीहरिः

76-6

'कल्याण' के आजीवन ग्राहक बनकर सत्साहित्यके प्रचारमें सहायता कीजिये

(१) 'कल्याण' तथा गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकोंका मूल्य बहुत कम है, यह सभी जानते हैं। गीताप्रेसका उद्देश्य ही है कम कीमतमें सत्-साहित्यका प्रचार करना। अतः पुस्तकोंके दाम बढ़ानेका कोई विचार अभी नहीं है। पर छपाईकी सभी चीजें उत्तरोत्तर महँगी होती जा रही हैं, छपाईके कागज, दफ्ती आदिपर Excise duty तथा Central salestax में हालहीमें और भी वृद्धि हो गयी है। इन सबके कारण उत्पादनका खर्च बहुत बढ़ गया है। अतएव किसी प्रकार भी जनताको 'कल्याण' तथा गीताप्रेसकी पुस्तकें सस्ते दाममें मिलती रहें तथा 'कल्याण'के ग्राहकोंको प्रतिवर्ष रुपये भेजनेकी असुविधा न रहे; इसलिये एक सौ रुपये एक साथ लेकर आजीवन सदस्यकी भाँति 'आजीवन ग्राहक' बनानेका निश्चय किया गया है। इससे आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको 'कल्याण' प्रतिवर्ष मिलता रहेगा। अवश्य ही उनके पीछे उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद होनेपर भी नहीं मिलेगा। दोनों ही हालतोंमें रुपये गीताप्रेसके हो जायँगे। इससे प्रकारान्तरसे गीताप्रेसकी सहायता भी होगी। गीताप्रेस यों चंदा नहीं लेता; परंतु आजीवन ग्राहक बननेवाले मूल्य-स्वरूप जो एक सौ रुपये देंगे, वे तो लिये ही जायँगे। जो सज्जन गीताप्रेसकी तथा 'कल्याण'की सहायता करना चाहें, वे स्वयं आजीवन ग्राहक बनकर तथा अपनी शक्ति और इच्छाके अनुसार, जिन लोगोंके पास पैसे नहीं हैं, परंतु जो 'कल्याण' पढ़ना चाहते हैं—ऐसे लोगोंको आजीवन ग्राहक बनाकर उनके प्रत्येकके लिये एक सौ रुपये दे सकते हैं। इससे 'कल्याण' पढ़नेवालोंकी सहायता होगी, सत्साहित्यका प्रचार होगा और गीताप्रेसकी प्रकारान्तरसे सहायता भी होगी। एक सज्जनने अभी अपनी ओरसे ऐसे सौ ग्राहक बनाये हैं। आजीवन ग्राहक बन रहे हैं, परंतु अभी, जितनी संख्यामें ग्राहक बनानेकी बात सोची थी, उसे देखते कम बने हैं। अतएव गीताप्रेसके तथा 'कल्याण'के प्रेमी लोगोंको स्वयं ग्राहक बनकर तथा दूसरोंको यथासाध्य बनाकर रुपये शीघ्र भिजवाने चाहिये। निर्धारित संख्या पूरी हो जानेपर और आजीवन ग्राहक नहीं बनाये जा सकेंगे।

(२) जो सज्जन रु० ७.५० देकर चालू वर्षके साधारण ग्राहक बन चुके हों वे ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

(३) कुछ सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहते हैं, अतः उनको १२५) (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये।

(४) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये अजिल्द 'आजीवन ग्राहक' का मूल्य १२५) या १० पौंड है। सजिल्दका मूल्य १५०) या १२ पौंड है।

(५) कुछ प्रेमी मित्रोंने अपनी मीलों, कारखानों, उत्पादक तथा व्यापारी संस्थाओं, आश्रमों, मन्दिरों, पुस्तकालयों, क्लबों और अन्यान्य संस्थाओंको तथा फर्मोंको आजीवन ग्राहक बनानेका विशेष आग्रह किया है। अतः उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया है। अतः संस्थाओं तथा फर्मोंको भी आजीवन ग्राहक बनाया जाता है। जो लोग इस प्रकारके ग्राहक बनाना चाहें, वे उनका नाम पतेसहित पूरा मूल्य भेजनेकी शीघ्र कृपा करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस, गोरखपुर

'कल्याण'के अब… विशेषाङ्कोंमें सबसे अधिक बिकनेवाला गत वर्षका विशेषा

'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क'

'कल्याण'के अबतक कुल छत्तीस विशेषाङ्क निकले हैं, जिनमें २४वें वर्षका 'हिंदू-संस्कृति १,२५,००० छपा था, जो उस समयतकके विशेषाङ्कोंमें सबसे अधिक था। उसके बादके विशेषाङ्क कारणोंसे कम संख्यामें छपने लगे। फिर ३४ वें वर्षका 'सं० देवीभागवताङ्क' १,२५,००० छपा उसके ३५वें वर्षका 'सं० योगवाशिष्ठाङ्क' १,३१,००० छापा गया, जो अब अप्राप्य है। ३६वें वर्षका 'क्षिप्त पुराणाङ्क' उसी हिसाबसे १,३१,००० छापा गया; परंतु उसकी माँग इतनी अच्छी रही कि सब तियाँ हा हाथ बिक गयीं और हजारों पुराने ग्राहकोंको भी अङ्क न मिल सके। इसलिये कामकी भा असु होनेपर भी २०,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापा गया। इस प्रकार इस अङ्ककी एक लाख इक हजार प्रतियाँ छप गयीं, जो एक कीर्तिमान् अङ्क है।

यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता है। भगवान् शिवकी बड़ी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा भक्तिके तत्त्वोंका बड़ा ही विशद और सर्वोपयोगी वर्णन है। कथाएँ बड़ी ही रोचक तथा प्रभावोत्पाद

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र सुन्दर बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८ कुल इस विशेषाङ्ककी प्रतियाँ अभीतक मिलती हैं। अतः जिन्हें लेना हो, वे रु० ७.५० (डाकखर्चसहित) भे रजिस्ट्रीसे मँगवा लें अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें।

'कल्याण'के २४वें वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' अब भी प्राप्य है

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६.५० डाकव्ययस -साथ ही इसी वर्षका दूसरा तथा तीसरा अङ्क बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उप महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियोंके साथ-साथ हिंदू-संस्कृतिका स्वरू महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्ध-तत्त्व, संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानु पीठविज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्क कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्ति शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौंसठ कलाएँ, गान्धर्वविद्या, वाद्ययन्त्र, क्रीडा, अस्त्र-शस्त्रादि, वैमानिक नौ-निर्माणकला, काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्र-विज्ञान, रत्न-विज्ञान, गो जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से प.

डाकखर्च सबमें हमारा है।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरख**

गुरुकुल कांगड़ी

कल्याण

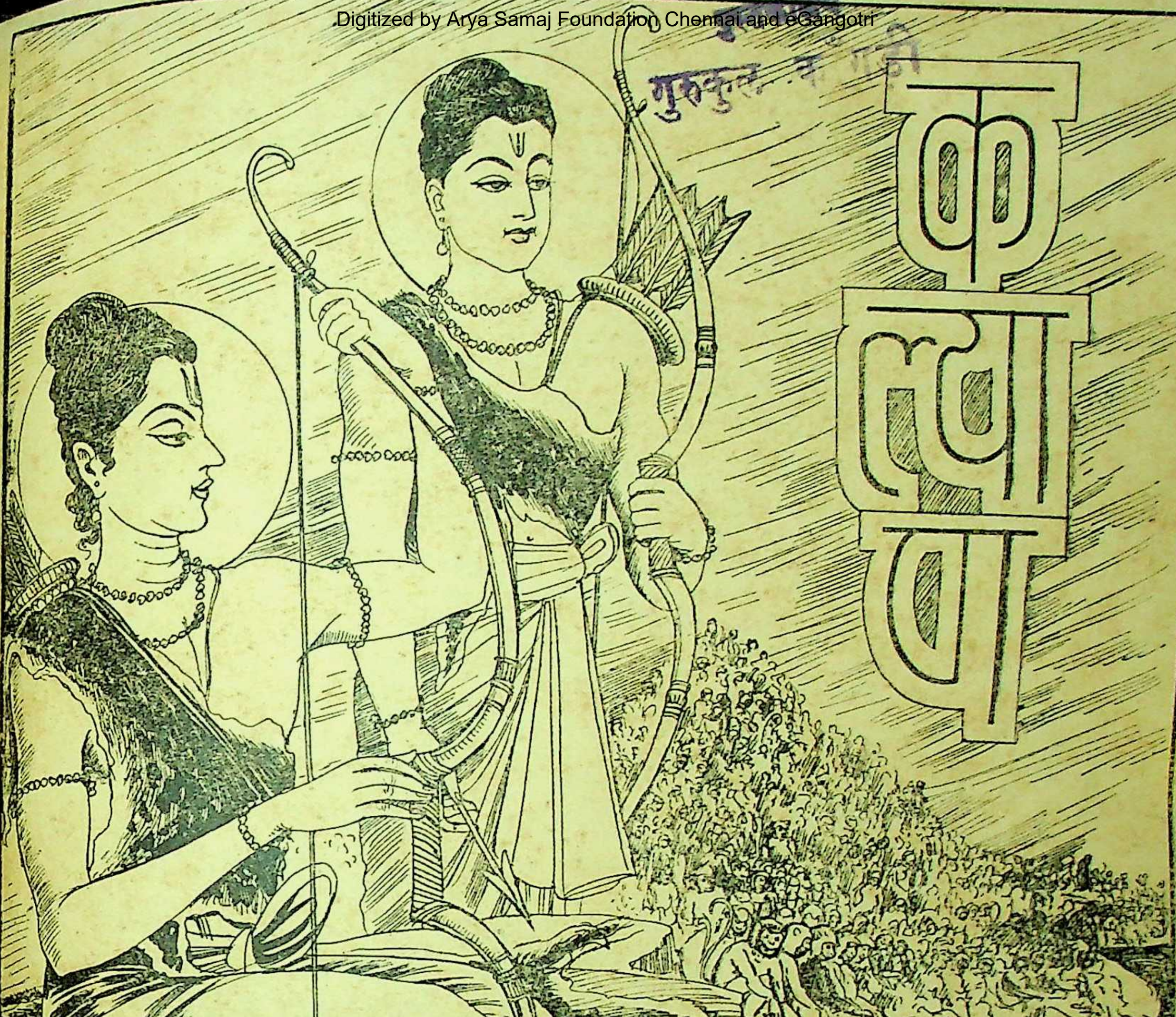

वर्ष २७] * * * [अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।

संस्करण—१,३८,१००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०२०, जून १९६३

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–अमित रूपसे राम सबसे मिले [कविता] ९३९

२–कल्याण ('शिव') ... ९४०

३–श्रीमद्भागवत—एक अनुशीलन (जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामी श्रीराघवाचार्यजी महाराज) ... ९४१

४–धर्मकी हानि और पापकी वृद्धिके निवारणके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९४५

५–उपमान तथा उपमेय [कविता] (चतुर्वेदी श्रीउमरावसिंहजी पाण्डेय, प्रेम-विशारद) ९५०

६–वैज्ञानिक-आध्यात्मिक-अनुभव-ज्ञान (श्रीशिवमूर्तिजी) ... ९५१

७–मधुर ९५३

८–भक्ति (डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल) ९५४

९–अधिक सुन्दर बनिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण, साहित्यरत्न) ९५५

१०–सौन्दर्य कहाँ ? (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ९५८

११–ऐसा भी कभी होगा ? (श्रीदुर्गेश) ९५८

१२–एकादशीका उपवास (मूल मराठी-लेखक—श्रीपं० श्री० दा० सातवलेकरजी; अनु०—पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि) ९५९

१३–दीपावली-विज्ञान (श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव') ९६३

१४–अधर्म और पापसे सावधान रहिये (श्री-श्रीराम माधव चिंगले, एम्० ए०) ... ९६६

१५–पाप त्यागकर सदाचरण करो [कविता] ९७०

१६–महाराजा जनकके चरित्रका एक पक्ष (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ... ९७१

१७–मानसकारका दार्शनिक दृष्टिकोण (श्रीप्राणनाथजी पंकज, एम्० ए०)... ९७५

१८–शक्तिकी उपासनाके दार्शनिक रहस्य (आचार्य पं० श्रीसूर्यमणिजी शास्त्री)... ९७८

१९–दुःख-सुख, सम्पत्ति-विपत्ति और मानापमान [कविता] ... ९७९

२०–मानसिक विश्लेषण (श्रीविश्वेश्वरनारायणजी) ९८०

२१–साँड़ देवता [कहानी] (श्री 'चक्र') ९८२

२२–कालियमर्दन और ताण्डव-नृत्य (श्रीव्यौहार राजेन्द्रसिंहजी) ... ९८५

२३–भोजन-शुद्धि ... ९८६

२४–सूरदासका भ्रमर-गीत (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य)... ९८७

२५–पुष्टिमार्गीय समाराधनामें संगीत-योग (पं० श्रीगोपाल भट्टजी, एम्० ए०) ... ९८९

२६–भद्राचलम्—भगवान् श्रीरामके चरणोंसे पावन (श्रीवेंकटलालजी ओझा) ... ९९५

२७–तुम और मैं (श्री 'स्वर्णकिरण') ... ९९७

२८–पढ़ो, समझो और करो ... ९९८

२९–व्यवहार १००२

चित्र-सूची

१–वनवासी राम-लक्ष्मण ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ

२–प्रभुका ऐश्वर्य ... ... (तिरंगा) ... ९३९

३–भद्राचलम्-मन्दिर ... ... (इकरंगा) ... ९९६

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१० पैसे)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

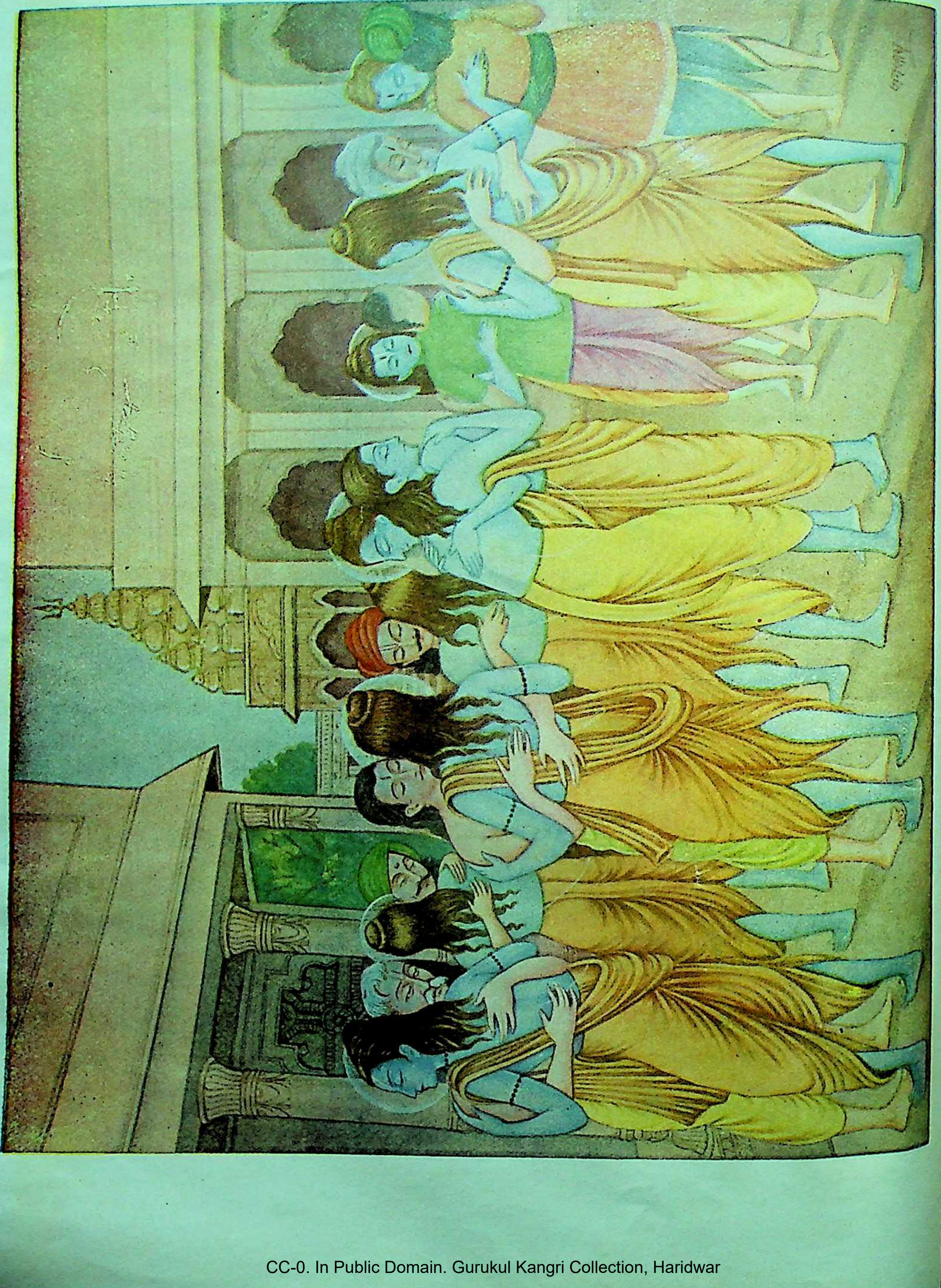

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

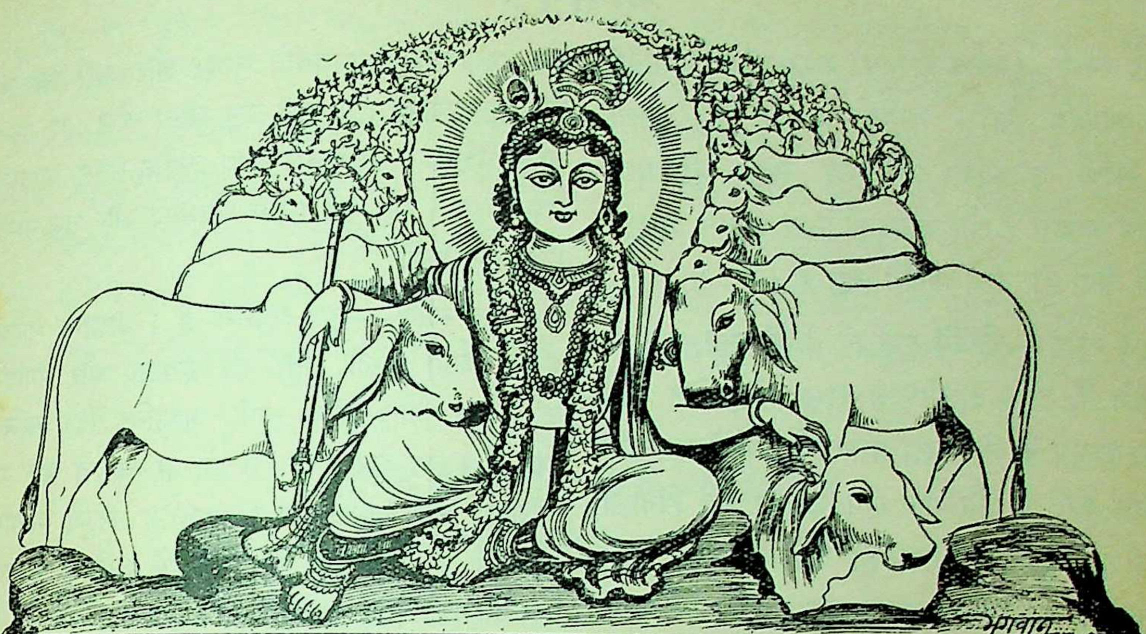

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ | गोरखपुर, सौर आषाढ़ २०२०, जून १९६३ | संख्या ६
पूर्ण संख्या ४३९

अमित रूपसे राम सबसे मिले

रिपु रन जीति राम घर आए ।
लषन-सीय-कपि-रीछ सहित प्रभु कुसल, अवध आनंद बधाए ॥
नगर छयो आनंद-कुलाहल, हाट-बाट-घर सबनि सजाए ।
लगे बाजने बजन चहूँ दिसि, मुदित नारि नर देखन धाए ॥
उतरि बिमान भए सब ठाढ़े, अमित रूप निज राम बनाए ।
जथाजोग मिलि राम सबनि तें सबके मन अति मोद बढ़ाए ॥

कल्याण

याद रक्खो—मानव-जीवनकी सफलता भगवत्प्राप्तिमें है, भोगप्राप्तिमें नहीं । मनुष्य चाहता है अनन्त असीम सर्वथा दुःखरहित सुख, वह सहज ही परम स्वतन्त्रता चाहता है और जीवनकी नित्य अमरता चाहता है । ये तीनों ही चीजें भोगोंमें नहीं हैं ।

याद रक्खो—भोगोंमें सुख तो है ही नहीं, वरं वे दुःखयोनि हैं, उनमें दीखनेवाला सुख मोहजनित तथा दुःखका पूर्वरूप है; भोग सदा परतन्त्र हैं तथा वे परतन्त्रता ही प्रदान करते हैं और भोग स्वयं अनित्य एवं विनाशी हैं तथा क्षणभङ्गुरता एवं मरण ही देते हैं । पक्षान्तरमें भगवान् अनन्त असीम सच्चिदानन्दमय हैं । वे परम स्वतन्त्र हैं तथा तमाम बन्धनोंसे मुक्त करके आत्माकी नित्य स्वतन्त्रताका उदय करानेवाले हैं एवं स्वरूपगत अमृतस्वरूप हैं और सहज अमरत्व प्रदान करनेवाले हैं ।

याद रक्खो—क्षणभङ्गुर अनित्य दुःखमय भोगोंके अर्जन, संग्रह तथा उपभोगमें लगा हुआ मनुष्य सदा चिन्ताग्रस्त, अशान्त, भयभीत तथा पापकर्मोंमें ही संलग्न रहता है । इससे उसके संकटोंकी—संतापोंकी नित्य नयी वृद्धि होती रहती है और वह यहाँ अनन्त तापमय असफल जीवन बिताकर दुःखसे मरता और मरनेके बाद बार-बार नरकादि एवं आसुरी योनि आदि अधम गतियोंको प्राप्त होता है । अतएव भोगोंसे आसक्ति हटाकर भगवान्में मन लगाओ ।

याद रक्खो—भोग उतने बुरे नहीं हैं, जितनी बुरी भोगोंकी आसक्ति है । उस भोगासक्तिसे ही भोगकामना उत्पन्न होती है जो सारे पाप-तापोंकी जननी है । अतएव यदि तुम्हें भोग प्राप्त हैं तो उन्हें भगवान्की सेवामें लगाते रहो । भगवान्की सेवामें लगाना ही भोगोंकी सदुपयोगिता और सार्थकता है । अतएव तुम्हारे पास जो कुछ भी भोग-पदार्थ हैं, उन्हें अपना भोग्य न समझकर भगवान्की सेवा-सामग्री समझो और जहाँ जिस समय जैसी आवश्यकता हो, वहाँ उस समय वैसे ही उनको अभिमानशून्य प्रसन्नचित्तसे उदारतापूर्वक सतत भगवान्की सेवामें लगाते रहो एवं इसीमें अपनेको और उन भोगोंको भी धन्य समझो ।

याद रक्खो—सुख शान्तिमें है । अशान्त मनवाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता और भगवान्के अनिवेदित भोग नित्य नयी अशान्ति पैदा करनेवाले होते हैं । तुम शान्ति चाहते हो, पर चाहते हो परम अशान्त, अति चञ्चल तथा विनाशशील अपूर्ण भोगोंसे । यह वैसी ही अज्ञतापूर्ण चाह है जैसे अग्निसे शीतलता प्राप्त करनेकी चाह । आग जलायेगी ही, वैसे ही भोग भी अशान्ति तथा जलन ही पैदा करेंगे ।

याद रक्खो—इस जीवनकी परम दुर्लभता और उपयोगिता इसीलिये है कि यही एकमात्र भगवत्प्राप्तिका साधन है । इस मानव-जीवनके अमूल्य क्षण व्यर्थ बीते जा रहे हैं । व्यर्थ ही नहीं, अनर्थमें बीत रहे हैं । तुम जो भोगासक्तिमें लगकर व्यष्टि और समष्टिके लिये भी केवल भोगसुख बटोरनेके असफल प्रयासमें लगे हो और इसके लिये राग, काम, द्वेष, क्रोध, कलह, युद्ध, वैर और हिंसाका आश्रय लिये जीवनको सफल एवं धन्य मान रहे हो, यह तुम्हारा प्रमाद है—उन्माद है । इन प्रयत्नोंके द्वारा तुम जन-सेवा, देश-सेवा, विश्व-सेवा, मानव-सेवा या प्राणी-सेवा तो करते ही नहीं हो, निज-सेवा भी नहीं कर रहे हो । प्रमाद विपरीत कर्ममें प्रवृत्त कराता है और विपरीत कर्मका फल भी विपरीत ही होता है ।

याद रक्खो—तुम जिन मनोरथों और कार्योंके द्वारा अपनेको एवं विश्वको सुखी करना चाहते हो, उनके द्वारा सुख नहीं प्राप्त होगा, दुःख ही बढ़ेगा; शान्ति नहीं मिलेगी, अशान्ति ही बढ़ेगी; प्रेमका विस्तार नहीं

होगा, द्वेष ही बढ़ेगा और विकास नहीं होगा, विनाश ही होगा ।

याद रक्खो—तुम भ्रमवश सेवाके नामपर ध्वंस और विकासके नामपर विनाशकी ओर जा रहे हो और इसीको जीवनका कर्तव्य मानकर उत्साहपूर्वक इसीमें जुट रहे हो, यह तुम्हारे लिये और भी बुरी बात है । बुराईको भलाई माननेवालेकी बुराई बढ़ती ही जायगी । अतएव तुम चेतो और आत्माके एवं भगवान्‌के स्वरूपपर गहरा विचार करो और इस सत्यको उपलब्ध करो कि कल्याण त्यागमें है, धन, पद, अधिकार या किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिरूप भोगमें नहीं; जीवनका लक्ष्य भगवान् हैं, भोग नहीं और तुम्हारा कर्तव्य त्यागपूर्ण वृत्तिसे समस्त प्राप्त तन-मन-धनको तथा प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिको भगवान्‌की सेवामें समर्पण करना है, भोगोंमें लगाना नहीं ।

'शिव'

श्रीमद्भागवत—एक अनुशीलन

[जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामी श्रीराघवाचार्यजी महाराज]

श्रीमद्भागवत भागवतदर्शनका विश्वकोष है । ज्ञान-विज्ञानकी ऐसी कोई धारा नहीं, जिसकी चर्चा भागवत-दृष्टिकोणसे इस महान् ग्रन्थमें न की गयी हो । वेद-वाङ्मयकी दृष्टिमें यह वैदिक वेदान्त-सार है । पुराण-वाङ्मयकी दृष्टिमें यह महापुराण है । अध्यात्म-वादकी दृष्टिसे यह परमहंस-संहिता है और भागवतधर्मकी दृष्टिसे भागवत-संहिता ।

श्रीमद्भागवतकी परम्परा साक्षात् भगवान्‌से आरम्भ होती है । साक्षात् भगवान् नारायणने पितामह ब्रह्माको भागवतका उपदेश किया । ब्रह्माने ब्रह्मर्षि नारदको और नारदने महर्षि वेदव्यासको इसका उपदेश किया । वेदव्यासने भागवत-संहिताकी रचना की और परमहंस शुकदेवको इसकी दीक्षा दी । शुकदेवसे इस संहिताका उपदेश महाराज परीक्षित्‌को मिला । महाराज परीक्षित्‌के साथ-साथ महामुनि सूतने इस संहिताको सुना और उनसे शौनक आदि ऋषियोंको इस संहिताका ज्ञान प्राप्त हुआ ।

जैसा कि श्रीमद्भागवतसे ही ज्ञात होता है कि भागवत-ज्ञानकी एक दूसरी परम्परा भी है। इस परम्पराका प्रवर्तन भगवान् संकर्षणसे होता है । संकर्षण शेषसे सनत्कुमार, सनत्कुमारसे सांख्यायन, सांख्यायनसे पराशर और पराशरसे मैत्रेय—इस क्रमसे प्राप्त ज्ञानका उपदेश महर्षि मैत्रेयने महात्मा विदुरको किया था । मैत्रेयके गुरुवर्य महर्षि पराशर वेदव्यासके पिता थे । महर्षि वेदव्यासने अपनी संहितामें इस परम्परासे प्राप्त उपदेशका समावेश किया था । इस प्रकार भागवत-संहितामें दोनों परम्पराओंसे प्राप्त उपदेशका संग्रह है ।

इसके अतिरिक्त भागवतधर्म एवं दर्शनके अन्य उपदेशोंका वर्णन श्रीमद्भागवत-संहितामें है । भगवान् कपिलने माता देवहूतिको भागवतधर्मका उपदेश किया । सनत्कुमारने महाराज पृथुको भागवतधर्मका उपदेश किया । भूतभावन शंकरने प्रचेता लोगोंको, ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको, जडभरतने महाराज रहूगणको, प्रह्लादने शिक्षार्थी बालकोंको, नौ योगीश्वरोंने जनकको, दत्तात्रेयने महाराज यदुको तथा भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको भागवत-दर्शनका उपदेश किया था । नारदने ध्रुव, प्राचीनबर्हि, युधिष्ठिर, वसुदेव आदिको भागवतधर्मका उपदेश किया । ये सारे उपदेश श्रीभागवत-संहितामें संकलित हुए हैं । इनके अतिरिक्त स्थान-स्थानपर जो स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें भी भागवत-दर्शनका विवेचन उपलब्ध होता है । इस प्रकार आदिकालसे महामुनि सूतके प्रवचनके कालतकके भागवतसिद्धान्तका विवरण इस संहितामें प्राप्त है ।

शौनक आदि ऋषियोंके परम श्रेय विषयक प्रश्नसे श्रीमद्भागवत महापुराणका आरम्भ होता है । भागवतधर्म और भगवत्तत्त्वकी व्याख्यासे अपने उपदेशको आरम्भकर महामुनि सूतने भागवत-संहिताके प्रणयन तथा भागवत-संहिताके वक्ता परमहंस शुकदेव तथा श्रोता महाभागवत महाराज परीक्षित्‌का परिचय दिया । इसके पश्चात् महाराज परीक्षित्‌के परमपुरुषार्थ-सम्बन्धी प्रश्नको लेकर परमहंस शुकदेव साधनपथका उपदेश देते हुए भागवत-संहिताका श्रवण कराते हैं ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे महाराज परीक्षित्‌का अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि धर्मकी हत्याका साहस करनेवाले कलिको निवासके लिये स्थान देनेके निमित्त जिन कुकर्मों एवं कुविचारोंका स्मरण महाराज परीक्षित्‌को आता है, उनके मनोगत संसर्गके कारण ही महाराज परीक्षित्‌को ऋषिके आश्रममें कर्तव्यकी विस्मृति और अधिकारकी लिप्सा उत्पन्न होती है, जिसका अन्तिम परिणाम होता है—शाप । नैसर्गिक भागवतनिष्ठाके कारण शापका ज्ञान होते ही महाराजको कर्तव्यकी स्मृति होती है और वे त्रिवर्गसे विश्राम लेकर परम पुरुषार्थकी साधनाके लिये गङ्गातटपर जा पहुँचते हैं । यहाँ ऋषि-महर्षियों, संत-महात्माओंके सांनिध्यमें उनका परमहंस शुकदेवसे समागम होता है ।

परम पुरुषार्थकी साधना कैसे की जाय ? यह महाराज परीक्षित्‌का प्रश्न था । परमहंस शुकदेवका उत्तर था—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ५)

आशय यह है कि परम पुरुषार्थके साधन-पथपर अग्रसर होनेके लिये चाहिये निर्भयता और इसके लिये अपेक्षित है भगवान्‌का श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण । अध्यात्म-शास्त्रने आत्मानुभूतिके जो दो साधन स्वीकार किये हैं, वे हैं—सांख्य (ज्ञानयोग) और योग (कर्मयोग) । इनका विधान करते हुए परमहंसने स्वधर्मानुष्ठान प्रतिपादन किया और नारायणस्मृतिको जीवनका लाभ बताया । उनके शब्द थे—

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ ।

ज्ञानयोगकी पराकाष्ठातक पहुँचे हुए मुनियों जहाँ उन्होंने विधि-निषेधसे ऊपर पाया, वहाँ उन्होंने भी देखा कि वे आत्मानुभूतिमें स्थित होकर भी भगवान् गुणवर्णनमें संलग्न हैं । उन्होंने महाराजको बताया—

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः ।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ७

कि विधि-निषेधसे ऊपर उठे हुए आत्मानुभूति स्थित मुनिलोग भी भगवान्‌के गुणानुकथनमें आन लेते हैं । अपने जीवनमें भी परमहंस शुकदेवने तथ्यको देखा और कहा—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ ।

आशय यह कि 'आत्मानुभूतिमें स्थित होकर मैं भगवान्‌की लीलाके प्रति आकृष्ट हुआ और भागवत-संहिताका अनुशीलन किया ।'

इस प्रकार भगवत्साक्षात्कारको परमपुरुषार्थका लक्ष्य बताकर परमहंस शुकदेवने उसका बताया—

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद् धिया ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ ।

अर्थात् '(१) आसनको सिद्ध करे, (प्राणायामकी साधना करे, (३) संगका त्याग (४) इन्द्रियोंका संयम करे और (५) तब भगवान्

स्थूलरूपका ध्यान करे। यही ध्यान आगे चलकर भक्तियोगकी साधनाको प्रशस्त करता है। कहना न होगा कि यही भक्तियोग भागवत-धर्मका साधन है। आगे चलकर शुकदेवजीने बताया कि—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० २।३।१०)

आशय यह है कि अर्थ और कामको लक्ष्य माननेवाले कामना रखते हैं, धर्मको लक्ष्य माननेवाले धीरे-धीरे अर्थ-कामकी कामनाका त्याग करते जाते हैं। मोक्षकी कामना रखनेवाले इनसे ऊपर होते हैं। ये सभी लोग तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान्‌की आराधनाके अधिकारी हैं।

भगवान्‌के स्थूलरूपका ज्ञान करानेके लिये परमहंस शुकदेवने एक ओर सृष्टिके इतिहासका वर्णन किया और दूसरी ओर चेतनविन्दुके जन्म-जन्मान्तरके रहस्यकी चर्चा की। वराह भगवान्‌के द्वारा हिरण्याक्षका वध और भगवदवतार कपिलके द्वारा माता देवहूतिको तत्त्वज्ञान चेतनविन्दुके जीवनके दो पक्ष हैं। हिरण्याक्षकी दृष्टि अर्थ-कामपर थी। हिरण्याक्षके विनाशमें अर्थ-कामकी दृष्टिका अन्त अभीष्ट था। वराहके यज्ञमय जीवनके द्वारा धरतीका उद्धार और धर्मकी प्रतिष्ठा हुई।

देवहूतिके पिता स्वायंभुव मनुके दो पुत्र थे—उत्तानपाद और प्रियव्रत। उत्तानपादकी परम्पराके माध्यमसे खगोल और प्रियव्रतकी परम्पराके माध्यमसे भूगोलका वर्णन कर त्रिलोकीका जो चित्र उपस्थित किया गया, वह सप्तद्वीपवती पृथ्वी और चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डका वर्णन करता हुआ जगत्‌को भगवान्‌के स्थूल रूपमें उपस्थित करता है। यह है समष्टि दृष्टि। व्यष्टि दृष्टिसे पाँचवें स्कन्धतकके भागवतके आख्यान पुरुषार्थ-चतुष्टयकी उपलब्धिमें भागवतधर्मके उपयोगकी व्याख्या करते हैं।

महाराज परीक्षित्‌के नरकविषयक प्रश्नको लेकर एक नयी समस्या उत्पन्न हुई। इसका समाधान परमहंसने अजामिलके आख्यानद्वारा किया। नरके कुविचार तथा कुकर्म जहाँ नरकका द्वार खोलते हैं, वहाँ प्रायश्चित्त पुण्यमय जीवनका निर्माण करनेमें सहायक होता है। किंतु भगवन्नामके द्वारा जो क्रान्ति होती है, वह भगवच्चिन्तनके माध्यमके प्रेय और श्रेय—दोनोंका सम्पादन करती है। छठे स्कन्धमें वर्णित देवराज इन्द्रके आख्यानोंसे इस तथ्यकी पुष्टि होती है।

एक-एक चेतनविन्दु आनन्दसिन्धुमें विलीन होकर आनन्दका सदाके लिये अनुभव करने लगे, यही भगवान्‌का उद्देश्य है, जिसके लिये वे जगत्कारणके रूपमें सृष्टि, स्थिति और प्रलयका नियमन करते हैं। दैवी गुण और उनसे युक्त लोकहितकारी जीवन इस उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक होते हैं। अतः इनके लिये भगवान्‌का समर्थन मिलता है। सप्तम स्कन्धमें प्रह्लादका जीवन इसके लिये प्रमाण है और नारदके द्वारा दिया गया वर्णाश्रमधर्मका उपदेश इसके साधनका मार्ग प्रशस्त करता है।

भगवान् अनादि-अनन्त हैं। देश और कालकी सीमा उनको बाँध नहीं पाती। प्रत्येक देश-कालमें उनके उद्देश्यकी पूर्ति होती रहती है। एक-एक मन्वन्तरमें उनके अवतरणसे मानवको यह प्रेरणा मिलती है। आठवें स्कन्धकी कथाएँ इसीका वर्णन कर प्रत्येक परिस्थितिका भागवत-दृष्टिसे सदुपयोग करनेमें मार्गदर्शन करती हैं। नवें स्कन्धमें इसके भरपूर निदर्शन हैं। ये सारे निदर्शन इसी मन्वन्तरके हैं। अतः वर्तमान मानव-समाजके लिये ये निदर्शन आदर्श हैं।

सत्कर्म और सद्विचारोंकी जिस मनोवृत्तिकी अपेक्षा होती है, उसमें भगवान्‌का अनुभव होते ही सत्कर्म और सद्विचार स्वतः होने लगते हैं, यह विश्वास दिलाता है भागवतका दशम और एकादश स्कन्ध। भगवान्

श्रीकृष्णकी लीलाएँ मनकी प्रवृत्तियोंको आकृष्ट करती हुई जीवनको निवृत्तिकी ओर अग्रसर करती हैं। जो कार्य शारीरिक एवं बौद्धिक साधनाकी लंबी चढ़ाई चढ़नेसे नहीं हो पाता, वह लीलाविहारीकी लीलाओंके चिन्तनसे तत्काल हो जाता है। कारण, यहाँ पहुँचकर साधक दर्शकमात्र नहीं रह जाता, वह लीलाका अङ्ग बन जाता है। तब भगवान्के उद्देश्य और भागवतके उद्देश्यमें अन्तर नहीं रह जाता। ठीक, उसी प्रकार जैसे अङ्ग अङ्गीके इच्छानुसार अपना कार्य करते रहते हैं। चेतनविन्दु सर्वतोभावेन सच्चिदानन्दघन भगवान्के विराट् शरीरका अङ्ग बन जाता है। अपनी चिन्मयताके कारण अनुभूति उसे होती है। तथापि अङ्ग होनेके कारण भगवान्से भिन्न अपनी सत्ताका अनुभव करनेमें उसकी आकाङ्क्षा ही नहीं रहती। यही कारण है कि जब परमहंस शुकदेवने द्वादश स्कन्धमें पहुँचकर कहा——

लीलाकथास्ते कथिताः समासतः।
(१२।४।३९)

और भगवान्की लीला-कथाओंका उपसंहार किया। महाराज परीक्षित्को भगवत्साक्षात्कार होने लगा। महाराजके मुखसे तत्काल ये शब्द निकले——

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः॥
(१२।६।२)

आशय यह है कि 'आपने भगवान्की कथा सुनाकर मुझे अनुगृहीत कर दिया। जैसा कि आगेके विवरणसे ज्ञात होता है। महाराज परीक्षित् श्रीमद्भागवत-संहिताको सुनकर भगवदनुभूतिमें स्थित हो गये। परिणाम यह निकला कि तक्षकके काटते ही वे अपने नश्वर शरीरको त्यागकर मुक्त हो गये।

परमहंस शुकदेवने भागवतसंहिताका श्रवण महाराज परीक्षित्को एक सप्ताहमें कराया था। सातवें दिन तक्षक सर्पके द्वारा काटे जानेका शाप महाराजको मिला था इसलिये उनका एक सप्ताहमें पूरी संहिताका श्रवण क लेना आवश्यक भी था। किंतु इस संहिताको स ही दिनोंमें और वे भी मृत्यु प्राप्त होनेसे पूर्व अन्ति सात दिनोंमें सुना जाय, ऐसा कोई नियम नहीं है सप्ताह-यज्ञका क्रम अवश्य है। महाराज परीक्षित्की मृत्यु के कारण निस्संदेह भागवत-संहिताके उपसंहारके सा मृत्युका स्मरण हो आता है। इसे दीर्घायुष्यकी भावनामें परिवर्तित करनेके लिये महामुनि सूतने मार्कण्डेयके दीर्घायुष्य तथा आयुष्यदाता सूर्यके व्यूहका वर्णन किय है। अतः मृत्युके बाद मुक्तिके लिये ही नहीं, अपि जीवनमें भी इसका उपयोग सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यसे ज्ञात होता है कि इस संहिताका उपयोग जहाँ प्रेतत्वको छुड़ानेमें है, वहाँ ज्ञान और वैराग्यको जगाकर युवा बनानेमें भी है। वासनाका बना रहना ही जीवनका प्रेतत्व है। कुकर्म और कुविचारमें लगकर धुन्धुकारीकी अधोगति हुई थी। मरकर वह प्रेत हुआ था। श्रीमद्भागवतको श्रवण करनेसे उसे मुक्ति मिली। उसके पिता आत्मदेवने जीवित दशामें ही प्रेतत्वसे छुटकारा प्राप्त कर लिया। इसके अतिरिक्त भागवत-संहिताके श्रवणमें नारदने——

भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा
प्रेमैकरूपा सहसाविरासीत्।

——के अनुसार ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका एक साथ प्राकट्य देखा था। महामुनि सूतके अनुसार भागवतमें——

तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतम्।

ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके साथ-साथ निष्कामभाव अथवा निष्काम कर्म भी है। शरीरमें निष्काम कर्म, मनमें वैराग्य एवं निष्कामभाव, बुद्धिमें ज्ञान तथा जीवात्मामें भगवान्के प्रति भक्ति——यही भागवतदर्शन एवं धर्मकी साधना है और यही श्रीमद्भागवतका संदेश है।

धर्मकी हानि और पापकी वृद्धिके निवारणके उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान्ने गीतामें कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(४।७)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ। अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।'

भगवान्के इन वचनोंको लेकर कई लोग प्रश्न करते हैं कि 'इस समय संसारमें धर्मकी बड़ी भारी हानि और पापकी वृद्धि हो रही है; फिर भी भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते?' इसका उत्तर यह है कि धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि हो रही है, इसमें तो कोई संदेह नहीं; किंतु भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते—यह तो भगवान् ही जानें।

मुसल्मानोंके शासनकालमें हिंदूधर्मपर अनेक आक्रमण हुए। हिंदुओंके अनेक धर्मग्रन्थ भी जला दिये गये। जबरन् अनेक हिंदुओंको मुसल्मान बना लिया गया। धर्म-परिवर्तन न करनेवालोंको जबरन् मर्दुमशुमारीके समय मुसल्मान जातिमें नाम लिखवानेके लिये बाध्य किया गया। यों नाम लिखा देनेसे ही राजस्थानमें एक 'क्यामखानी' जाति हो गयी। क्यामखानी जातिके लोग बहुत समयतक विवाह-शादीमें हिंदुओंकी रीति-रिवाजको भी काममें लाते रहे; किंतु बादमें पूरे मुसल्मान हो गये। इस प्रकार अनेक तरहसे हिंदू-धर्मपर आघात हुए थे। पर उस समयमें तो हिंदू अपने धर्मके लिये मर-मिटनेको तैयार रहते थे। गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने अपने-आपको दीवारमें चिनवा दिया, पर धर्म-परिवर्तन नहीं किया।

अंग्रेजोंके शासनकालमें ईसाई लोगोंने स्कूल, कालेज, अस्पताल आदिके द्वारा सेवा-सुख पहुँचाकर, जगह-जमीन-रुपये आदिका लोभ देकर, फुसलाकर बहुत-से हिंदुओंको ईसाई बना लिया और अब भी बना रहे हैं। उस समयमें हिंदुओंमें अपने धर्मके प्रति कट्टरता और जोश था। इसी कारण उस कठिन समयमें भी धर्मकी रक्षा होती रही। किंतु वर्तमानमें तो अनेक हिंदू भी स्वयं धर्म और ईश्वरकी अवहेलना करने लगे हैं, इसीसे हिंदू-धर्मकी विशेष हानि हुई और हो रही है।

पूर्वमें जो ऋषि-मुनि हुए, वे त्रिकालज्ञ और अनुभवी थे। उन्होंने जो कुछ धर्मके विषयमें लिखा है, वह बहुत ही रहस्यमय, भावपूर्ण और लोक-परलोकमें लाभदायक है। वास्तवमें धर्म वही है जो इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक हो। महर्षि कणादने कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिक दर्शन १।२)

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय (उन्नति) तथा परलोकमें परम कल्याणरूप मोक्षकी प्राप्ति हो, वही धर्म है।'

हिंदूधर्म अनादि है। इसीसे इसको वैदिक सनातन धर्म कहते हैं। वेद ही इसका मूल है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि शास्त्रोंमें इसीका विस्तारसे प्रतिपादन है। श्रीमद्भगवद्गीता उन सब शास्त्रोंका सार है। महाभारतमें बतलाया गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
(महा० भीष्म० ४३।१)

'अन्य बहुत-से शास्त्रोंका संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है। गीताका ही अच्छी तरह गान (श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये;

क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥
(महा० भीष्म० ४३ । २)

'गीता सर्वशास्त्रमयी है (गीतामें सब शास्त्रोंके सार-तत्त्वका समावेश है) । भगवान् श्रीहरि सर्वदेवमय हैं । गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनुस्मृति सर्ववेदमय है ।'

इसलिये हिंदूधर्मके सारे शास्त्रोंके साररूप गीताका विशेषरूपसे अध्ययन करना चाहिये ।

हिंदूधर्म ही एक ऐसा धर्म है जो सबसे अधिक प्राचीन है । संसारमें जितने भी मुख्य-मुख्य धर्म माने जाते हैं, उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं जो वैदिक सनातनधर्मसे पहलेका हो । अन्यान्य जितने भी संसारमें धर्मके नामसे प्रचलित हुए हैं, वे सब पीछेके हैं । जैसे इस्लामधर्म, जो हजरत मुहम्मदका चलाया हुआ है और जिसका धर्मग्रन्थ कुरानशरीफ है, करीब १४०० सालसे है । तथा ईसाईधर्मको प्रचलित हुए १९६३ साल हुए हैं एवं बौद्धधर्म करीब २५०० वर्षसे प्रचलित है; किंतु वैदिक सनातनधर्म अनादि और नित्य है । इसीसे इसका नाम सनातन है । इसके समान अन्य कोई भी धर्म नहीं है । इसमें दया, अहिंसा, परोपकार, उदारता, त्याग आदि पद-पदमें भरे हुए हैं । धर्मके विषयमें त्रिकालज्ञ महर्षियोंने अनुभव करके जो कुछ लिखा है, उसमें प्रवेश करके गम्भीरतापूर्वक सूक्ष्मतासे विचार करके अनुष्ठान करनेपर हमलोगोंको भी उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है । किंतु दुःखकी बात है कि आज अधिकांश लोग उस धर्मके महान् गम्भीर और दूरदर्शितापूर्ण तत्त्व-रहस्यको नहीं समझते । इसी कारण हिंदूधर्मका ह्रास हुआ और हो रहा है ।

हिंदूधर्मका अभिप्राय यों समझना चाहिये कि हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र) का 'न्धु' लेकर 'हिन्धु' शब्द बना है, उसीका अपभ्रंश 'हि शब्द है । अतः हिमालयसे लेकर दक्षिण समुद्रत बीचका जो देश है, उसका नाम 'हिंदुस्थान' है उसमें जो निवास करते हैं उनका नाम 'हिंदू' है । वे जिस सिद्धान्तका पालन करते हैं, उसका है 'हिंदूधर्म' ।

पहले इस देशका नाम भारतवर्ष था । स प्रारम्भमें भारतवर्ष ही सबको धर्मकी शिक्षा देने आदि केन्द्र था । मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(१ । २

'इसी देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणसे पृथ्वीके मनुष्य अपने-अपने सदाचार-धर्मकी शिक्षा ग्रहण करें

अतः समस्त भूमण्डलके लोग भारतवर्षसे ही आ अपने धर्मकी शिक्षा ग्रहण किया करते थे । आज भारतवर्ष हिंदुस्थानके नामसे प्रसिद्ध है ।

इस हिंदूधर्मका ज्ञान करानेवाले जितने धर्म, नीति, अध्यात्म, ज्यौतिष, आयुर्वेद, व्या आदि विषयके प्राचीन ग्रन्थ हैं, वे सभी संस्कृत भा ही हैं । उनका अध्ययन-मनन न किये जानेके कार प्रायः लुप्त होते जा रहे हैं । भारतपर बहुत का विदेशी शासन रहनेके कारण संस्कृतभाषाका प्र प्रसार बहुत ही कम हो गया । किंतु खयाल क चाहिये—संस्कृतभाषाके समान कोई उत्तम भाषा है । यही आदिभाषा है । इसीको देवताओंकी होनेसे देवभाषा, देवताओंकी लिपि होनेसे देवनागरी उनकी वाणी होनेसे देववाणी कहते हैं । इसमें भाषाओंकी अपेक्षा अनेक विशेषताएँ हैं । सं व्याकरण अलौकिक है । ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण ज किसी भी भाषाका नहीं है । इसमें एक धातुके रूप बन जाते हैं । वचन और लिङ्ग आदिकी भी

अपनी एक विशेषता है । इसी प्रकार भारतीय ज्योतिषशास्त्रका गणित अभीतक प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष फलदायक है । आयुर्वेदकी ओर देखिये, हमारे त्रिकालज्ञ महर्षियोंने बहुत परिश्रमपूर्वक अनुभव करके आयुर्वेदका आविष्कार किया है, जिसमें रोगोंके निदान, चिकित्सा, ओषधियोंके नाम, रूप, गुण और उनके निर्माण एवं जड़ी-बूटियोंकी विशेषताओंके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण और अद्भुत विज्ञान भरा हुआ है; किंतु आज आयुर्वेद-विज्ञानके प्रति आदर कम हो जानेके कारण दिनोंदिन उसका ह्रास होता जा रहा है। इसलिये हमलोगोंको इनका विशेष आदर करना चाहिये । आदर करनेसे ही उसका विशेष आविष्कार हो सकता है । अंग्रेजी भाषाके प्रचारके कारण संस्कृतभाषाके ज्ञानमें कमी आयी और आ रही है। उस कमीके कारण तथा डाक्टरी दवाओंके प्रचार-प्रसारके कारण भी आयुर्वेद-विज्ञानकी बहुत हानि हुई। अंग्रेजी भाषाकी शिक्षामें ही ऐसे भाव भरे हुए हैं, जिसको पढ़नेसे ऊपरसे वैसाका वैसा बना रहनेपर भी मनुष्य भीतरसे उन भावोंसे भावित हो अंग्रेज-सा ही बन जाता है । इस विदेशी भाषा, विदेशी पोशाक, विदेशी खान-पान, रहन-सहन और विदेशी चाल-चलनके होनेसे हिंदू धर्मकी बहुत ही हानि हुई है और हो रही है ।

लोगोंमें धार्मिक भावोंकी कमी हो जानेके कारण रोग हो जानेपर मनुष्य आतुर होकर डाक्टरी दवाओंको काममें लाने लगे । आजकल तो डाक्टरी ओषधियोंका और डाक्टरोंका इतना प्रचार हो गया है कि डाक्टरी दवाके सेवनसे बहुत ही कम मनुष्य बचे हैं । डाक्टरी दवाओंमें अपवित्रता और हिंसाकी बहुलता है; किंतु धर्मका विचार उठ जानेके कारण इस ओर लोगोंकी दृष्टि ही नहीं जाती कि मांस, मज्जा, अस्थि, ग्रन्थि, रक्त, अंडा, मदिरा आदि भी उनकी आकृति (रूप) छिपाकर औषधके नामसे उनको दिये जाते हैं । यह कितनी बुरी बात है । इससे धर्मकी बड़ी भारी हानि हो रही है ।

होटलोंमें भोजन करनेसे भी धर्मकी बड़ी भारी हानि हो रही है । होटलमें भोजन करनेवाला कोई व्यक्ति यदि मांस और अंडा नहीं भी खाता तो भी संसर्ग-दोष तो उसके भोजनमें आ ही जाता है । खयाल करना चाहिये, मांस और अंडा आदि महान् अपवित्र और घृणित हैं । उनमें जीवोंकी हिंसा होती है । सूक्ष्मतासे इनके दोषोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो ये पदार्थ इतने घृणित हैं कि इनको छूनेकी भी इच्छा नहीं हो सकती । इसी प्रकार मदिरा (शराब) आदि मादक वस्तुओंके सेवनसे मनुष्यके धार्मिक भाव और बुद्धि नष्ट हो जाती है । मांस खाना पाप है; पर मदिरा पीना तो महापाप है । शास्त्रोंमें सैकड़ों पाप बताये गये हैं । उनमें चार महापाप माने गये हैं । मनुजी कहते हैं—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥
(मनुस्मृति ११ । ५४)

'ब्राह्मणकी हत्या, मदिरापान, स्वर्णकी चोरी, गुरु-स्त्रीगमन और इन पापोंको करनेवालोंका संसर्ग—इनको महान् पाप कहते हैं ।'

तात्पर्य यह कि किसीकी भी हत्या करना पाप है; किंतु ब्राह्मणकी हत्या करना महापाप है । किसी भी गाँजा-सुल्फा आदि मादक वस्तुका सेवन करना पाप है; किंतु मदिरा पीना महापाप है । किसी भी परायी स्त्रीके साथ गमन करना पाप है; किंतु गुरुपत्नीके साथ गमन करना महापाप है । किसी भी दूसरेकी किसी भी वस्तुकी चोरी करना पाप है; किंतु सोनेकी चोरी करना महापाप है । इनके सिवा, जो उपर्युक्त महापाप करनेवालोंका संसर्ग करता है, वह भी महापापी हो जाता है । अतः इन सभी महापापोंका तो सर्वथा परित्याग करना ही चाहिये । इनके सिवा, नीचे लिखे और भी बहुत-से दोष समाजमें जोरसे फैल रहे हैं, उनका भी सर्वथा त्याग करके समाजकी उत्तरोत्तर उन्नति हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये ।

दिन-पर-दिन समाजका बहुत पतन होता जा रहा है। कुरीतियाँ, फिजूलखर्ची, दहेजकी प्रथा, शास्त्रनिषिद्ध अपवित्र, हिंसात्मक और मादक पदार्थोंसे बारात आदि-की खातिरी आदि—ये सब समाजके लिये बहुत ही हानिकर हैं। इनके दूर करनेकी कोशिश करनी चाहिये।

नाटक-सिनेमा देखना बहुत ही बुरा है; क्योंकि उनमें युवती और सुन्दरी स्त्रियोंके चित्र, चरित्र, हाव-भाव, कटाक्ष आदि दिखाये जाते हैं। इससे पुरुषोंमें काम-विकार उत्पन्न होता है और व्यभिचारके भावोंकी जागृति होकर उनका पतन हो जाता है। अतः नाटक-सिनेमा कभी नहीं देखना चाहिये।

चौपड़-ताश, जूआ-लाटरी, सट्टा-फाटका आदिसे देशकी प्रत्यक्ष हानि हो रही है। इनसे मनुष्य-जन्मका समय व्यर्थ नष्ट होता है, बुद्धि पापमय होकर नष्ट हो जाती है तथा प्रमाद, आलस्य और अकर्मण्यता आती है। ये सभी कार्य देश और समाजके लिये बहुत ही हानिकर हैं। इसलिये इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

आजकल लज्जा-शर्म भी दिन-पर-दिन कम होती जा रही है। स्त्रियाँ अपने पीहर (नैहर) और ससुरालमें निर्लज्ज होकर बातें करती हैं और दूसरे पुरुषोंके साथ मोटरमें बैठकर नाटक-सिनेमा देखने जाती हैं। इसी प्रकार पुरुषोंमें भी लज्जा-शर्म कम हो गयी है। बड़ोंका आदर-सत्कार, मान-मर्यादा, विनय-श्रद्धा रखना, नमस्कार करना आदिको लज्जास्पद मानकर उनकी उपेक्षा की जाती है। किंतु यह बड़ा भारी दोष है। इसका त्याग करके विनय और लज्जापूर्वक आदर और प्रेमका व्यवहार करना चाहिये।

शौचाचार-सदाचारके पालनमें भी बहुत कमी आती जा रही है। शौचाचारकी तो आजकल बहुत-से लोग तत्त्व न समझनेके कारण मजाक उड़ाते और अवहेलना करते हैं। अंग्रेजी भाषा पढ़ने और अंग्रेजोंके संसर्गके कारण केवल बाहरकी सफाईको ही लोग आदर देते हैं, जिससे शास्त्रीय शौचाचारकी अवहेलना हो रही है। साबुन, जो कि अपवित्र वस्तु है, उससे हाथ धोना तो पवित्र मानते हैं और जल-मिट्टीसे हाथ धोना असभ्यता समझते हैं। भोजनालयमें भोजनादि बनानेमें जो शास्त्रीय रीति-रिवाज है, उसके स्थानमें सफाईको ही प्रधान मानने लगे हैं, शास्त्रीय पवित्रताको नहीं। टेबलपर भोजन-सामग्री रखकर उसीमेंसे कई व्यक्ति जूठे हाथोंसे ही उठा-उठाकर चारों ओर फिरते हुए खाते रहते हैं। यों वे एक-दूसरेका उच्छिष्ट ही खाते हैं तथा बिना हाथ धोये, जूठे हाथोंसे ही पानीका गिलास लेकर पी लेते हैं; एक व्यक्तिके पानी पी लेनेपर उसी गिलास-से दूसरे पी लेते हैं। चलते-फिरते चाहे जैसे खाते-पीते रहते हैं।

चलते-फिरते खाना मूर्खता है। श्रीकविवर कालिदास-ने राजा भोजसे कहा था—

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे
गतं न शोचामि कृतं न मन्ये।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्
किं कारणं भोज भवामि मूर्खः॥

'महाराज भोज! मैं खाता हुआ नहीं चलता, हँसता हुआ बात नहीं करता, बीते हुएका शोक नहीं करता, किये हुए कार्यका अभिमान नहीं करता एवं परस्पर बात करते हुए दो मनुष्योंमें तीसरा नहीं होता (बिना उनकी सम्मतिके उनके पास जाकर नहीं खड़ा होता)। फिर मैं किस कारण मूर्ख हूँ?'

इन सब बातोंको विचारकर हमलोगोंको शौचाचार-सदाचारके पालनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि शौचाचार-सदाचाररूप बाहरकी पवित्रता भीतर-की पवित्रतामें सहायक है। श्रीपतञ्जलिने बतलाया है—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।
(यो० २।४

'शौचाचारके अभ्याससे अपने अङ्गोंमें जुगुप्सा और दूसरोंसे संसर्ग न करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है ।'

भाव यह कि बाहरकी शुद्धिके अभ्याससे मनुष्यकी अपने शरीरमें अपवित्र बुद्धि होकर उसमें वैराग्य हो जाता है अर्थात् आसक्ति नहीं रहती और दूसरे, सांसारिक मनुष्योंके सङ्गमें भी प्रवृत्ति या आसक्ति नहीं रहती । इस प्रकार उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है ।

बहुत-से मनुष्य अज्ञानसे स्वाद-शौकीनी, ऐश-आराम, भोग-विलास और इन्द्रियलोलुपताके सुखमें फँसकर अपना धर्म-कर्म खो रहे हैं; किंतु विचार करनेपर पता चलता है कि इनमें सुख है ही नहीं, बल्कि इनके कारण मनुष्यका पतन ही होता है । अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको विवेकयुक्त बुद्धिके द्वारा इन सबको दुःखरूप, नाशवान् और क्षणभङ्गुर समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरका संयम करना चाहिये।

भगवान्ने भी कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले तथा अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

आजकल भक्ति, ज्ञान और धर्मकी आड़में बहुत-से गृहस्थी तथा साधु-संन्यासी-वेषधारी पाखण्डी मनुष्य स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करते और धन ठगते हैं । इसलिये जहाँ अश्लील वातावरण हो, धनकी लिप्सा हो, उन धूर्तोंके पंजेमें न फँसकर सावधान रहना चाहिये । जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, वे तो मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको भी मल-मूत्रके समान समझते हैं और अपना उच्छिष्ट या चरणोदक देने, पूजा-आरती करवाने आदिको कलङ्क समझते हैं । किंतु जो मान, बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा चाहते हैं, असलमें वे ही ऐसा करते हैं। उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा पुरुष तो इन सबसे दूर ही रहते हैं । अतएव हमलोगोंको ऐसे लोगोंसे सदा सावधानीपूर्वक बचना चाहिये ।

व्यापारमें भी आजकल झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी, विश्वासघात आदि दोष बहुत अधिक बढ़ गये हैं । यहाँतक कि खान-पानकी वस्तुएँ भी बिना मिलावटकी—शुद्ध मिलनी कठिन हो गयी हैं । जैसे, घीमें बेजिटेबल, तेलमें ह्वाइट ऑयल, दूधमें अरारोट या मिल्क पाउडर एवं इसी प्रकार अन्यान्य खाद्य पदार्थोंमें भी मिलावट करके उनको विक्रय किया जाता है । यह ग्राहकोंको धोखा देना और महान् अन्याय है ।

सरकारकी ओरसे जो नाना प्रकारके टैक्स लगाये गये हैं, उनमें भी अधिकांश लोग सरकारको धोखा देनेके लिये चोरी, बेईमानी, झूठ, कपट करते हैं—यह अनुचित है । इसमें सरकारको टैक्स कम देना उतना पाप नहीं है, जितना पाप झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करके और झूठा बहीखाता बनाकर ईश्वरकी कानूनको भङ्ग करनेमें है ।

आजकल घूस-रिश्वतखोरी भी बहुत बढ़ गयी है । न्यायकर्ता हाकिमों, पंचायती करनेवाले पंचों, सरकारी पदाधिकारियों, रेल-कर्मचारियों और अन्यान्य सभी व्यक्तियोंको अपने-अपने कर्तव्यका समुचितरूपसे पालन करते हुए नीतिपर दृढ़ रहना चाहिये । लोभसे, भयसे या दबावसे, कभी न्यायका त्याग करके अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये ।

कल्याणकामी मनुष्योंको उचित है कि ऊपर जो-जो दोष बतलाये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करनेका प्रयत्न करें । भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी अंडे,

मांस आदि अपवित्र घृणित वस्तुओंका तथा मदिरा आदि मादक वस्तुओंका सेवन कभी सीधे या प्रकारान्तरसे भी न करें । नाटक-सिनेमा, चौपड़-ताश, खेल-तमाशा आदिमें समय लगाकर अपना जीवन नष्ट न करें । जहाँतक हो भाँग, तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तुओंसे भी बचें तथा शास्त्रीय शौचाचार-सदाचारकी कभी अवहेलना न करें । एवं सचाई और समताके साथ लोकहितकी दृष्टिसे निःस्वार्थभावपूर्वक भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करें । इस उत्तम व्यवहारके फलस्वरूप मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर सहज ही मुक्ति हो सकती है—जैसे निःस्वार्थ व्यापारसे तुलाधार वैश्य आदिकी मुक्ति हुई ।

सभीको अपने आत्माके कल्याणके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मके पालनके लिये तत्परतासे कोशिश करनी चाहिये और भारी आपत्ति पड़नेपर भी नीति एवं धर्मका त्याग कामसे, लोभसे, भयसे, लज्जासे किसी भी प्रकार कभी नहीं करना चाहिये । महाभारतमें कहा गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥
(स्वर्गा० ५ । ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है ।'

अतः धर्म-पालनके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये । सम्पूर्ण मानवमात्रके लिये मनुजीने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनुस्मृति ६ । ९२)

'धैर्य, क्षमा, मनको वश करना, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका निग्रह, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं ।'

आगे इनके पालनका फल बताते हैं—

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥
(मनु० ६ । ९३)

'धर्मके इन दस लक्षणोंका जो विप्र भलीभाँति अध्ययन करते हैं और अध्ययन करनेके पश्चात् उनका अनुष्ठान करते हैं, वे परम गतिको पाते हैं ।'

इसलिये मनुष्यको तत्परताके साथ धर्म-पालन करना चाहिये ।

* * *

उपमान तथा उपमेय

चरणकमल के कहत ही गुरुता कमलहिं होय ।
औचक चकित प्रभाव लगि कहि न सकहिं कवि कोय ॥ १ ॥
मधुप मधुर मधु पान करि रहे भौंर के भौंर ।
जिन देखे अरविंद पग भए और के और ॥ २ ॥
यहि तें अरे मलिन्द तू जनि मतिमंद कहाय ।
अमल कमल पद छाँड़ि के समल कमल पै जाय ॥ ३ ॥

—चतुर्वेदी उमरावसिंह पाण्डेय प्रेम-विशारद

वैज्ञानिक-आध्यात्मिक-अनुभव-ज्ञान

[स्फुट विचार]

(लेखक—श्रीशिवमूर्तिजी)

(१)

सच्चिदानन्द-ब्रह्मके स्वरूप—'सत्-चित्-आनन्द'की अभिव्यक्ति दो प्रकारसे होती है—'वास्तविक, अवास्तविक' । इसमें जो अन्तर होता है, उसका ज्ञान केवल ब्रह्मको ही होता है । अन्य प्राणियोंको तो अवास्तविक दृश्य-ज्ञान होता है । जैसे—१–सफेद वर्ण-के चश्मे (शीशे-) के द्वारा वास्तविक दृश्य प्राप्त होता है और अन्य वर्णोंके शीशोंके द्वारा अवास्तविक, एवं जैसे—२–चुम्बकमें वास्तविक आकर्षणशक्ति निहित रहती है; किंतु उसके सांनिध्यसे जो आकर्षणशक्ति लौह-पदार्थोंमें आ जाती है, वह तो अवास्तविक—नाशमान-क्षणिक होती है; क्योंकि वस्तुतः लौहमें आकर्षणशक्ति नहीं होती ।

इसी भाँति सर्वव्यापी ब्रह्मके सांनिध्यसे मायाको जो शक्तियाँ (सत्ता, चेतना, आनन्द) प्राप्त होती हैं, वे सब अवास्तविक, नाशवान्, क्षणिक, केवल दृश्यमात्र होती हैं ।

प्राणियों एवं पदार्थोंका स्थूल-सूक्ष्म शरीर मायिक-स्वरूप होता है । इसमें जो चेतना होती है, वह निद्रावस्थामें, मादक द्रव्योंके सेवनसे एवं मृत्युके समय लुप्त हो जाती है । तब स्व-सत्ताका भी ज्ञान नहीं रहता; किंतु इस अवास्तविक सत्ता-चेतनाके लोपका द्रष्टा-ज्ञाता वास्तविक ब्रह्म तो बना ही रहता है, जो जाग्रत् होनेपर, मादकताके दूर होनेपर एवं पुनर्जन्मकी प्राप्तिपर पुनः ज्ञान प्राप्त कराता है; क्योंकि वास्तविक 'सत्ता-चेतना-आनन्द' तो अविनाशी, निर्गुण, निराकार, निरवयव होनेके कारण त्रिगुणोंसे प्रभावित हो ही नहीं सकता । इन त्रिगुणोंका प्रभाव केवल अवास्तविक सत्ता उस चेतनापर पड़ता है (गीता १३ श्लो० ३२ अध्ययनीय) ।

स्थूल-सूक्ष्म शरीरकी अवास्तविक सत्ता होती है। उसमें चेतना मन-बुद्धिके आकारमें व्यक्त होती है और आनन्द सुखके आकारमें प्रकट होता है । इसी ज्ञानके निमित्त भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको शिक्षा दी है कि यह दृश्यात्मक जगत् दो भाँतिका प्रतीत होता है—क्षर और अक्षर । (अ० १५ श्लो० १६ से १९ तक ।)

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

(अ० २ श्लो० १२ से २९ एवं अ० ७ श्लो० २४ से ३० तक अध्ययनीय) ।

(२)

सूर्यदेवके प्रकाशकी किरणें जो संसारके भिन्न-भिन्न आकारके प्राणियों एवं पदार्थोंपर पड़ती हैं, उन शीशारूपी शरीरधारी प्राणियों आदिपरसे परावर्तित किरणें (Reflected rays) उसी आकारमें अन्यत्र व्यक्त होकर दृश्यमान होती हैं, जिसे प्रतिबिम्ब कहा जाता है । प्रकाशकी किरणें ही प्रतिबिम्बको प्रकाशित एवं प्रकट करती हैं और प्रकाशवत् चेतनाकी भी प्रतीति उसी आकारमें होतीं है ।

अब विचार कीजिये कि यदि प्रकाशकी ज्योति न प्राप्त हो तो कोई प्राणी अपनी मूर्ति एवं प्रतिबिम्बका कैसे दर्शन कर सकता है? उसे कुछ भी न दिखायी देगा ।

इसी प्रकारसे यदि प्रकाशवत् चेतना न प्राप्त हो तो जड पदार्थोंकी भाँति स्व-ज्ञान ही न प्राप्त होगा; फिर संसारका ज्ञान कैसे हो सकता है ? वास्तवमें इस संसारका आभास चेतनात्माके ही ज्ञानात्मक प्रकाशके द्वारा प्राप्त होता है, जो वास्तविक ज्ञान है ।

देखिये, निद्रावस्था आदिमें शारीरिक ज्ञानका लोप हो जाता है, जिसे अज्ञान नामसे सम्बोधित किया जाता है, यह मन-बुद्धिकी अवास्तविक चेतना होती है । वास्तविक चेतना तो बनी रहती है, उसीको ज्ञान-अज्ञान दोनोंका द्रष्टा-ज्ञाता माना जाता है ।

(३)

बुद्धिरूपी इंजीनियरके (Engineer) निरीक्षणमें मनरूपी ठीकेदार (Contracter) भिन्न-भिन्न योनिरूपी भावोंको ज्ञानेन्द्रियरूपी निरीक्षकके (Superviser) निरीक्षणमें कर्मेन्द्रियरूपी मजदूरोंके द्वारा निर्माण कराता है । भिन्न-भिन्न योनियोंके निरीक्षणके लिये यह कैम्प (Camp) रूपी क्षणिक भवन (Building) थोड़े समयके लिये तैयार किये जाते हैं । केवल मानवयोनिमें भविष्य-निर्माणकी योजनाएँ बनती हैं । अन्य योनियाँ तो केवल भोग-योनि मानी जाती हैं ।

इसी भाँति—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

(गीता ९ । १०)

इंजीनियर ब्रह्मके निरीक्षणमें माया, जो ठीकेदार है, कल्पान्ततकके लिये सांसारिक भवनको तैयार कराती है । पञ्चतन्मात्राएँ (Material) धातु एवं धन शक्तियाँ निरीक्षक प्रदान (Supply) करता है सूर्यदेव ही वस्तु-प्रदाता (Supplier) एवं इंजीनि हैं । उनको ज्ञानात्मक, क्रियात्मक शक्तियाँ धातुके स भगवान् प्रदान करते हैं । (देखिये गीता अ० श्लोक १)

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

(गी० अ० १४ श्लोक ३-४ एवं अ० १५ श्लो० १ अध्ययनीय)

जिन-जिन पदार्थोंकी भवन-निर्माणमें आवश्यकता हो उनको मनरूपी ठीकेदारको बुद्धिरूपी इंजीनियरसे माँग चाहिये; क्योंकि उसे गृहको स्वच्छ-नीरोग रखनेके लि सचेत रहना पड़ता है, अन्यथा उसे पुनः भवन बना पड़ता है ।

भिन्न-भिन्न योनि-भवनों (Camp-buildings) को उतने समयतक शुद्ध रखना आवश्यक होता है जबत कि कार्य समाप्त न हो जाय । इसी शुद्धताके निमि संध्योपासन, पूजा, अर्चना आदि क्रियाएँ देवताओं निरीक्षणमें करनेसे सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं । (गीत अ० १४ श्लो० ४ एवं अ० ६ श्लो० २६)

ब्रह्मा निर्माता, विष्णु पोषक, शिव नाशक देव हैं। इनके अतिरिक्त, अन्य देवता प्राणियोंके भोग एवं कर्म निरीक्षक होते हैं । सबके शरीरमें मनरूपी ठीकेदार ए ज्ञान और कर्मेन्द्रियोंके देवता सदा स्थित रहते हैं। अत मनुष्योंको इसका ध्यान रखते हुए कुकर्मोंसे बचने प्रयत्न करना चाहिये, तभी वह नीरोग बना रहेगा।

* * *

मधुर

एक दिन श्रीराधा-माधव एकान्तमें बैठे मधुर प्रेम-चर्चा कर रहे थे । बात-ही-बातमें प्रियतम श्रीकृष्णने श्रीराधाके प्रति राधामहत्त्व, प्रेम-तत्त्व, स्वरूप-तत्त्व और लीला-तत्त्वका वर्णन किया । उसी प्रसङ्गका यह एक बहुत छोटा-सा अंश है । श्रीकृष्णने कहा—

हे व्रजरमणि-मुकुटमणि राधे !
मत्सुख-सुखिनि मधुर रसखान ।
नित नूतन उत्कर्षशील शुचि
महाभावरूपा द्युतिमान ॥
पल-पल, पद-पदपर जो करती
सहज सदा मम सुख-सुविधान ।
नहीं लेश गुण-गौरवकी स्मृति,
नहीं कहीं कुछ भी अभिमान ॥
स्थिति, गति, भाव, विचार, भंगिमा,
इङ्गित, सकल अङ्ग-प्रत्यङ्ग ।
विविध विचित्र नित्य रस पूरित
प्रेम-पयोनिधि मधुर तरङ्ग ॥

व्रजकी सभी रमणियाँ प्रेममयी हैं; उनकी वृत्ति नित्य निरन्तर भगवान्के दिव्य चिदानन्दमय स्वरूपमें रमण करती है—इसी अर्थमें वे रमणी हैं, वे निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छासे सर्वथा रहित श्रीकृष्णसुखकामिनी एवं श्रीकृष्णगतचित्ता हैं। उन समस्त व्रजरमणियोंमें हे राधे ! तुम सबकी मुकुटमणि हो, तुम्हीं मूल प्रेमरस-समुद्रसे उन सबको प्रेमकी प्राप्ति होती है । तुम सदा मेरे सुखमें सुखी रहती हो । तुम मधुर रसकी खान हो । तुम ऐसी हो, जो पल-पलमें, पद-पदपर सहज स्वभावसे ही सदा मेरे ही सुखकी सुन्दर व्यवस्था करती रहती हो, इतना करके भी जिस सर्वसद्गुणमयीमें अपने गुण-गौरवकी स्मृतिका भी लेश नहीं है, न कहीं भी कुछ भी जिसमें अभिमान है । जिसका संसारमें रहना, चलना, जिसके मनमें उठनेवाले भाव, आनेवाले विचार, चेहरेपर आनेवाली भंगिमाएँ तथा सब चेष्टाएँ, जिसके इशारे-संकेत और जिसके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा उनकी क्रिया नित्य मधुर रससे परिपूर्ण प्रेमसमुद्रकी विविध विचित्र मधुर तरङ्गें ही हैं । जो कुछ है तथा होता है—वह सभी विशुद्ध मधुर प्रेमसागरका उच्छ्वासमात्र है ।

जिसका कनक-कमल-मुख होता
परम प्रफुल्लित नित्य नवीन ।
पा रवि-रश्मि-दृष्टि मम उज्ज्वल
हृदय स्व-सुख-अभिलाषा-हीन ॥
मम जीवन-जीवन, मम मन-मन,
नित मत्प्राण-प्राण परिपूत ।
अविनाभाव भाव सत्ता सब
क्रिया सहज ही एकीभूत ॥

मेरी दृष्टिरूपी सूर्य-किरणोंके सम्पातसे जिसका स्वर्ण-मुख-कमल नित्य नये-नये रूपमें परम प्रफुल्लित होता रहता है । जिसका हृदय स्वसुखकी अभिलाषासे रहित परम उज्ज्वल है । जो मेरे जीवनसे जीवित है या जिसका जीवन ही मेरा जीवन है । जो मेरे मनसे मनवाली है अथवा जिसका मन ही मेरा मन है एवं जो मेरे प्राणोंसे प्राणवाली है या जिसके प्राण ही मेरे प्राण हैं, ऐसी जो जीवन-मन-प्राणोंसे परम पवित्र है । जिसके बिना मेरा और मेरे बिना जिसका भाव या सत्ता ही नहीं है तथा जिसकी सारी क्रियाएँ सहज ही मेरी क्रियाके साथ एकमेक है ।

मिली सदा रहती तुम मुझमें,
मैं तुममें रहता नित युक्त ।
प्रेम हेतु दो बने परस्पर
रहते लीलासे अनुरक्त ॥

दो के बिना, न हो पाता,
यह लीला-रस-वितरण-आस्वाद ।
इसीलिये दो बन लीलारत
रहते अमर्याद अविवाद ॥

ऐसी जो तुम हो, वह है राधा ! सदा इस प्रकार मुझमें मिली रहती हो, और मैं नित्य तुममें जुड़ा रहता हूँ । प्रेमके लिये ही लीलासे दो बने हुए हमलोग परस्पर एक दूसरेमें अनुरागी रहते हैं । दोके बिना इस लीला-रसका न वितरण हो सकता है और न आस्वादन ही । इसीलिये हम दो बने हुए सदा सारी मर्यादाओंको एक मन-तनसे निर्विवाद लीला करते रहते हैं ।

श्रद्धायुक्त चित्तसे समझनेपर इसमें श्रीराधा प्रेमतत्त्व, स्वरूप-तत्त्व और लीला-तत्त्वकी मधुर दर्शन हो सकते हैं ।

* * *

भक्ति

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल)

भक्ति, ज्ञान और कर्म—ये तीन साधनाके बड़े मार्ग हैं । ज्ञान मानव-जीवनको किसी शुद्ध अद्वैत-तत्त्वकी ओर खींचता है, कर्म उसे व्यवहारकी ओर प्रवृत्त करता है; किंतु भक्ति या उपासनाका मार्ग ही ऐसा है, जिसमें संसार और परमार्थ दोनोंकी एक साथ मधुर साधना करना आवश्यक है । माधुर्य ही भक्तिका प्राण है । देवत्वके प्रति रसपूर्ण आकर्षण जब सिद्ध होता है, तभी सहज भक्तिकी भूमिका प्राप्त होती है । यों तो बाह्य उपचार भी भक्तिके अङ्ग कहे गये हैं और नवधा भक्ति एवं षोडशोपचार पूजाको ही भक्ति-सिद्धान्तके अन्तर्गत रक्खा गया है; किंतु वास्तविक भक्ति मनकी वह दशा है, जिसमें देवत्वका माधुर्य मानवी—मनको प्रबल रूपसे अपनी ओर खींच लेता है । यह कहने-सुननेकी बात नहीं, यह तो अनुभवसिद्ध स्थिति है । जब यह प्राप्त होती है, तब मनुष्यका जीवन, उसके विचार और आचार कुछ दूसरे प्रकारके हो जाते हैं । सम्भवतः यह कहना उचित न होगा कि ज्ञान और कर्मकी उच्च भूमिकामें मनुष्य इस प्रकारके मानस-परिवर्तनका अनुभव नहीं करता; क्योंकि साधनाका कोई भी मार्ग अपनाया जाय, उसका अन्तिम फल देवत्वकी उपलब्धि ही है । देवत्वकी उपलब्धिका फल है आन्तरिक आनन्दकी अनुभूति अर्थात् विषयोंके स्वल्प सुखसे हटकर मनका किसी अद्भुत, अपरिमित, भास्वर सुखमें लीन हो जाना । अतएव किसी भी साधना-पथको तारत दृष्टिसे ऊँचा या नीचा न कहकर हमें यही अपनाना चाहिये कि रुचिभेदसे मानवको इनमेंसे एकको चुन लेना होता है । तभी मन अनुकूल परि पाकर उस मार्गमें ठहरता है । वास्तविक साधना है, जिसमें मनका अन्तर्द्वन्द्व मिट सके और अपने ही होनेवाले तनाव या संघर्षकी स्थितिसे व मनकी सारी शक्ति एक ओर ही लग सके । प्रकार बालक माताके दूधके लिये व्याकुल है और जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अन्नके लिये दु होकर सर्वात्मना उसीकी आराधना करता है, ही अमृत देवत्वके लिये जब हमारी भावना जाग्रत तभी भक्तिका विपुल सुख समझना चाहिये । भक्ति सूत्रार्थ है—भागधेय प्राप्त करना । यह भागधेय प्राप्त करता है और कहाँ—इन दो महत्त्वपूर्ण प्र उत्तर यह है कि एक ओर मर्त्य मानव है और ओर अमृत देवत्व । इन दोनोंका सम्बन्ध विश्व-नि की ओरसे नियत है । मानवको ही अपना उचित प्राप्त करना है और जिसमें वह अंश प्राप्तव्य है, उ संज्ञा देव है । उस अनन्त अमृत आनन्दरूप देवकी संज्ञाएँ भारतीय धर्म-साधनामें पायी जाती हैं । भेदके पीछे एक स्वरूपकी एकता स्पष्ट पहचानी है । देवमें छोटे और बड़ेकी कल्पना अतात्त्विक

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

जो महान् है, वही देव है । जो अल्प है, वही मानव है । भूमाको देव और सीमाको मानव कह सकते हैं । सीमा दुःख और अभावका हेतु है, भूमा आनन्द और सर्वस्व उपलब्धिका । इस प्रकारके किसी भी देवत्वके लिये मानवके मनकी अविचल स्थिति भक्तिके लिये अनिवार्य दृढ़ भूमि है ।

मनुष्य-जीवन किसी भी स्थितिमें हो, सर्वत्र वह अपने लिये भक्तिका दृष्टिकोण अपना सकता है । पिताके लिये पुत्रके मनमें, पतिके लिये पत्नीके मनमें, गुरुके लिये शिष्यके मनमें जो स्नेहकी तीव्रता होती है, वही तो भक्तिका स्वरूप और अनुभव है । उस प्रकारका सम्बन्ध कहाँतक सम्भव नहीं ? वही दिव्य स्थिति है । उसके अभावमें हम केवल पार्थिव शरीर ही रह जाते हैं और हमारे पारस्परिक व्यवहार यन्त्रवत् भावशून्य हो जाते हैं । अतएव मानवके हृदयके भीतर जो सबसे मूल्यवान् वस्तु है अर्थात् हृदयमें भरे हुए जो भाव हैं, उनके पूर्णतम विकासके लिये भक्ति आवश्यक है । जिसमें हृदयके भाव तरंगित नहीं होते, वह भी क्या कोई जीवन है ? सत्य तो यह है कि मानवको अपनी ही पूर्णता और कल्याणके लिये भक्तिकी आवश्यकता है । यह भी कहा जा सकता है कि जैसे मानव देवके लिये आकाङ्क्षा रखता है, वैसे ही देव भी मानवसे मिलनेके लिये अभिलाषी रहता है । बिना पारस्परिक सम्बन्धके भक्ति सम्भव नहीं; किंतु उसके लिये तैयारीकी आवश्यकता है । अभीप्सा होनी ही चाहिये । जिस प्रकार स्फटिकको सूर्यकी आवश्यकता है, उसी प्रकार सूर्यरश्मियोंकी सार्थकता स्फटिकमें प्रकट होती है । स्फटिकके समान ही मनकी स्वच्छता बाह्य भक्तिचर्याका उद्देश्य है । जब इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त होती है, तब देवत्वका सहज अनुभव हृदयमें आता है ।

अधिक सुन्दर बनिये

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण, साहित्यरत्न)

कुरूपता एक मानसिक रोग है

आजकल सौन्दर्य-प्रसाधनोंपर करोड़ों रुपये प्रतिदिन व्यय किये जा रहे हैं । बड़ी-बड़ी फैक्टरियोंमें नये-नये कृत्रिम सौन्दर्य बढ़ानेके साधन तथा वस्तुएँ बन रही हैं । लोग भूखे रहकर इन सौन्दर्य बढ़ानेके तरीकोंका प्रयोग कर रहे हैं । बाजारमें सौन्दर्य-प्रसाधनोंका व्यापार जोरोंसे चल रहा है । बदसूरत-से-बदसूरत भी इन सौन्दर्य-प्रसाधनोंको बाजारसे खरीदकर सुन्दर बनना चाहता है। पर इससे वास्तविक सौन्दर्य नहीं बढ़ता । वेश्याओंकी-सी नकली सुन्दरता भले ही बढ़ जाय ।

सच पूछिये तो सच्ची सुन्दरता इन कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधनोंमें निहित नहीं है, प्रत्युत वह मनुष्यके उत्तम शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यपर निर्भर है । जबतक आपका शरीर अपना निर्धारित कार्य सुचारुरूपसे नहीं करता, तबतक सौन्दर्य प्रकट नहीं होगा । न शरीरमें रक्तप्रवाह ही ठीक होगा। सुन्दरता वास्तवमें स्वस्थ शरीर, स्वच्छ स्वभाव और अकलुष मनका सामूहिक शुभ परिणाम है ।

कुरूपता एक मानसिक रोग है, सुन्दरता अच्छे स्वभावका परिणाम है । स्वास्थ्य और सुन्दरताका गहरा सम्बन्ध है । यदि हम पूर्ण स्वस्थ रहें, प्रसन्न और खिले रहें, तो अधिक-से-अधिक आकर्षक दिखायी दे सकते हैं, भले ही उसका रंग गोरा हो । साधारणसे पुष्पको देखिये, जब वह पूरी तरह खिला हुआ विहँसता रहता है, तो कितना आकर्षक और प्यारा लगता है । साधारण-सा पक्षी भी जब फुदक-फुदककर हर्षसे कलरव करता है, तो कितना सुहावना लगता है । कुत्ते, बिल्ली, बकरी—यहाँतक कि सूअरके छोटे-छोटे अबोध बच्चे उछलते-कूदते बड़े सुन्दर लगते हैं । सुन्दरता उत्तम स्वास्थ्य, निश्चिन्त जीवन, हर्ष और उल्लास छिपी हुई है । इनके

अतिरिक्त सुन्दरताको देरतक स्थिर रखनेके लिये मधुर और स्वस्थ मानसिक भावोंकी भी अतीव आवश्यकता है। जिन व्यक्तियोंका मन घरेलू पारिवारिक या सामाजिक कलह, संघर्षों या लड़ाई-झगड़ोंमें उलझा रहता है, गुप्त मनमें कोई-न-कोई चिन्ता या उत्तेजना बनी रहती है, उनके चेहरोंपर कर्कशता, क्रोध, आवेश तथा तनाव छाया रहता है। अंदरकी तनी हुई मानसिक स्थिति उनकी मुख-मुद्रापर उभरकर चेहरेको कुरूप बना देती है। क्रोध, ईर्ष्या, वासना, उत्तेजना, चिन्ताएँ, घृणा—वे कुत्सित दुष्ट भावनाएँ हैं, जो मनुष्यको कुरूप और अनाकर्षक बनाती हैं। आन्तरिक दुर्गुणोंसे कुरूपता उत्पन्न होती है।

बड़े महात्माओंका सौन्दर्य

क्या आपने हिंदू देवी, देवताओं, महात्माओं और महापुरुषोंके चित्र ध्यानसे देखे हैं? आज तनिक इन चित्रों और मूर्तियोंकी मुखमुद्राओं और उससे उत्पन्न उनकी मानसिक, आन्तरिक—मन:स्थितियोंपर ध्यान दीजिये। आप उनमें सर्वत्र सद्गुणोंकी प्रतिच्छाया पायेंगे।

यह देखिये—भगवान् श्रीकृष्णके बचपनका चित्र है। बालकृष्ण कैसे विहँस रहे हैं। किलक-किलककर इधर-उधर घुटनों चल रहे हैं। उनके निर्दोष मनोभाव उनके चेहरेपर प्रकट हो रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् राम, लक्ष्मण, सीताजी, भरत, शत्रुघ्न इत्यादि सबके चेहरोंपर मधुर मुस्कान खेल रही है। सरस्वती, लक्ष्मी, महादेव, विष्णु इत्यादि सबके मुखमण्डल एक मधुर आभासे प्रदीप्त हैं। बुद्ध भगवान्‌के चेहरेकी शान्ति और तृप्ति देखिये। यही तृप्ति, यही शान्ति, यही मुस्कराहट हमारे सभी देवी-देवताओंके मुखमण्डलपर दिखायी देती है। हमारे सभी देवताओंका एक गुण उनका सौन्दर्य है, उनकी मृदु और मधुर मुस्कान है। यह मुस्कान हमारा दैवीगुण है। मुस्कान धारणकर हम देवताओंके समीप पहुँचते हैं।

चेहरेके इस सौन्दर्यका कारण मनमें छिपा है

हमारे देवताओं तथा महापुरुषोंके चेहरोंके सौन्दर्यका कारण उनके मनमें छिपा हुआ है। उनके चेहरेकी सरलता, सरसता, मधुरता, हलकी-हलकी मुस्कानपर मानव-मन तथा उसका जीवन बार-बार निछावर होने लगता है। कितना सुन्दर सुखदायक और आँखोंको प्रिय लगता है उनका यह मुखमण्डल। यह उनके हृदयकी सुन्दरताको प्रकट कर रहा है। हम सबका मुखमण्डल आन्तरिक सद्गुणोंसे आकर्षक बनता है। शील और सद्गुणोंका प्रकाश चारों ओर फैलता है। प्रेम, दया, सज्जनता, ईमानदारी, भलाई इत्यादिमें गजबका आकर्षण है।

अच्छे भावोंका अभिनय कीजिये। मुखपर प्रसन्नता, प्रेम, दया और कोमलता प्रदर्शित कीजिये। वैसे ही भावोंकी गुप्त तरंगें आपके सर्वत्र शरीरमें दौड़ जायँगी। आत्मा प्रसन्न हो जायगी और मुखमुद्रा मोहक बन जायगी।

क्या कारण था कि हमारे देवपुरुषों, महात्माओंके दर्शनसे हिंसक जन्तुतक वशीभूत हो जाते थे? सच पूछा जाय, तो यह उनके चेहरेका मोहक भाव ही था।

एक विद्वान् लिखते हैं, 'अच्छे और बुरे विचारोंकी धारा मानसिक केन्द्रसे चारों ओर बिखरकर खूनके प्रवाहके साथ चमड़ीकी सतहतक एक विद्युत्-धाराके समान आती और वहाँ अपना प्रभाव छोड़ जाती है। यदि यह मानसिक विचारधारा निरन्तर आती-जाती रहे, तो उसका प्रभाव भी स्थायी रह जाता है। यदि कोई व्यक्ति दया, प्रेम, सेवा, परोपकार, करुणा, शान्ति, स्वच्छता आदि उत्तमोत्तम दैवी गुणोंका निरन्तर मानसिक अभ्यास कर सके, तो वह चाहे कितना ही कुरूप हो, मोहक-मादक आकर्षण-शक्तिसे परिपूर्ण हो सकता है।'

शोकका विषय है कि हम केवल अपनी मानसिक दुर्भावनाओंके कारण अपनी मोहनी शक्ति खो बैठते हैं। आपकी आयु, स्थिति या आमदनी चाहे कुछ भी क्यों न हो, आप मनमें मधुर देवोचित भाव रखने, उन्हें अपने जीवन और चेहरेपर प्रदर्शित करनेका अभ्यास आजसे ही प्रारम्भ कीजिये। प्रेम, दया, स्नेह, शान्ति, आनन्द आदि मीठे उपयोगी देवताओं-जैसे भावोंको ही मनमें पूर्ण स्थिर कीजिये। सोते-जागते उन्हें रक्तके प्रवाहके साथ समूचे मन और शरीरमें घूमने दीजिये। आपमें मोहक शक्ति आयेगी। सभी उससे प्रभावित होंगे।

क्रोधके अनुगामी अन्याय, अविचार, उत्पीड़न, ईर्ष्या, छिद्रान्वेषण, प्रवञ्चना, कटुभाषण तथा निर्दयताका परित्याग कीजिये; क्योंकि ये बुरे भाव कुरूपता उत्पन्न करते हैं। जीवनको नरककी ताड़नासे परिपूर्ण कर देते हैं।

इसी प्रकार कामवासनाके दुर्गुण त्यागिये। ये हैं—परनिन्दा, अधिक निद्रा, कुलटा स्त्रियोंका तथा चरित्रहीन पुरुषोंका सङ्ग, मद्यपान, मांसभक्षण, कामोद्दीपक गीतोंका गान, गन्दे उत्तेजक साहित्यका अध्ययन, निरुद्देश्य भ्रमण। ये सभी विनाशकारी भाव उत्पन्न कर आपकी मुखाकृतिको बिगाड़ते हैं।

सुखद सुन्दर विचारोंकी भावधारासे सुन्दरता बढ़ती है

सुखद और सुन्दर भावोंको मनमें रख तथा उनका चेहरेपर प्रदर्शन कर हम निश्चय ही अधिक आकर्षक बन सकते हैं। आप इस क्रियाका अभ्यास करें। मन एक शक्ति-केन्द्र है। उसका समूचे शरीरपर राज्य है। मनमें दुःख और चिन्ताएँ जमी रहेंगी, तो निश्चय ही वे कुरूपता उत्पन्न करेंगी। हमारा स्वास्थ्य और सौन्दर्य नष्ट कर देंगी। इसीलिये हमारे यहाँ भावोंके कल्याणकारी सुन्दर रूपको ही मनमें धारण करनेकी प्रार्थना की गयी है—

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे। ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥

'हे मनकी मौज! तू कल्याणकारी स्वरूपको धारण करके हमारे भीतर प्रवेश कर, ताकि जो कुछ तू चाहे, वह पूरा हो (और उससे सबका भला हो) बुरे विचारोंको (हमसे) दूर रख।' (अ० ९। २। २५)

सदा प्रसन्नता और आनन्दके भव्य विचारोंमें ही रमण कीजिये। जब आत्मा प्रसन्न रहती है तो शरीर भी स्वस्थ और सुन्दर रहता है। देखिये, प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता श्रीलालजीराम शुक्ल क्या कहते हैं—

'प्रसन्नता शक्तिकी परिचायिका है। जिस मनुष्यके अंदर आध्यात्मिक शक्ति है, वही प्रसन्न रह सकता है। प्रसन्नता स्वयं उस शक्तिकी उत्पादिका भी है। जो मनुष्य जितना प्रसन्न रहता है, वह अपना आध्यात्मिक बल उतना ही बढ़ा लेता है। इतना ही नहीं, वह अपनी शारीरिक शक्तिकी भी वृद्धि कर लेता है। मन प्रसन्न रहनेपर शरीरकी अमृत पैदा करनेवाली ग्रन्थियाँ अपना काम भली प्रकारसे करती हैं और शरीरमें उन पदार्थोंका प्रवाह जारी रखती हैं, जिनसे शरीर अक्षय बना रहता है और बढ़ता है। बिरला ही प्रसन्नचित्त मनुष्य रोगी मिलेगा।'

अतः अधिक-से-अधिक आनन्द और प्रसन्नताके सुखद विचारोंमें निवास कीजिये और सुन्दर बनिये। आत्माकी प्रसन्नतामें अक्षय सौन्दर्य निहित है। भव्य विचारोंसे सुन्दर बनिये।

सौन्दर्य कहाँ ?

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

व्यक्ति, वस्तु, देश, काल, परिस्थिति—किसीमें भी सौन्दर्य कहाँ ?

सौन्दर्य तो उपयोगमें है ।

उपयोगमें भी सौन्दर्य कहाँ ?

सौन्दर्य तो उपयोग-प्रेरक भावमें है; उपयोग पथ-प्रदर्शक निर्णय-निश्चयमें है ।

भाव एवं निर्णय-निश्चयमें भी सौन्दर्य कहाँ ?

सौन्दर्य तो भाव-निर्झर एवं निर्णय-निश्चयकार अन्तःकरणमें है ।

पर अन्तःकरण जड निपट परतन्त्र ! उसमें भी सौन्दर्य कहाँ ?

सौन्दर्य तो वास्तवमें परम स्वतन्त्र, चैतन्यस्वरूप स्वयंमें है, जिसमें लीन होकर, जिससे अविच्छिन्न भर होकर, जिसके छाया-सौन्दर्यसे ही प्रकाशित—उद्भासित होकर सौन्दर्यविहीन अन्तःकरण सुन्दरतामय हो उठता है ।

सुन्दरतामय ऐसे अन्तःकरणसे सौन्दर्यमय ही भाव निःसृत होते हैं, सौन्दर्यमय ही निर्णय-निश्चय किये जाते हैं ।

सौन्दर्यमय भावोंकी प्रेरणासे, सौन्दर्यमय निर्णय-निश्चयोंके पथ-प्रदर्शनमें सौन्दर्यमय ही उपयोग होता है।

और सौन्दर्यमय उपयोगका स्पर्श पाकर व्यक्ति, वस्तु, देश, काल, परिस्थिति सब—सबका सब कुछ सौन्दर्यमय हो उठता है ।

फलतः असौन्दर्यको मुँह छिपानेभरको ठौर न रहकर सर्वत्र सौन्दर्य-साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

इतना ही नहीं । साथ-साथ बज उठती है सत्यकी भी विजय-दुन्दुभि, फहर उठती है शिवकी भी विजय-पताका ।

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' एक दूसरेसे अलग कहाँ ?

* * *

ऐसा भी कभी होगा ?

वह समय भी जीवनमें आया, जब मेरा कहलानेवाले पंद्रह-बीस शरीर होते हुए भी उस समय कोई पास नहीं था और उस समयका-सा आनन्द भी जीवनमें कभी नहीं आया । मैंने अनुभव किया—तू मेरे सिरहाने है और प्रकृतिके सारे काम यन्त्रवत् होते चले जा रहे हैं । दूसरे आपरेशनके समय भी मैंने बहुत कोशिश की वही आनन्द प्राप्त करनेकी, परंतु नहीं मिला तो नहीं ही मिला; क्योंकि मैं-मेरा इत्यादि मुझे घेरे थे ।

कितना अच्छा होता यदि तू असीम सुखमें विलीन कर देता मुझे प्यारे ! मेरा-तेरासे छुटकारा मिल जाता । मेरा हृदय, मन और मेरी आँखें तुझसे पूर्ण हो जातीं । मायाके लिये जगह ही नहीं रह जाती । प्रभो ! तू कब करेगा मुझे ऐसी, जब कि यन्त्रवत् सांसारिक कार्य होते रहेंगे, पर मुझसे उनका वास्तविक सम्बन्ध कुछ न होगा । मेरा हृदय, प्राण, मन—जो कुछ भी मेरा कहनेका सामान है, सब तेरा क्रीडास्थल बन जायगा । ऐसा भी कभी होगा जब तू-मय हो जायगा सारा संसार मेरा ? एक यन्त्र, एक मन्त्र, एक प्राणायाम—श्रीकृ मेरे, श्रीकृष्णकी मैं । कृष्ण ही जीवन-प्राण हो ।

(इन चार शब्दोंके लिखनेसे पहले मैं डा० गम्भीरकी कुशल-कामना करती हूँ जिनकी कृपासे आँखें इस योग्य हुईं ।)

—दु

एकादशीका उपवास

(मूल मराठी-लेखक—श्रीपं० श्री० दा० सातवलेकरजी)

[अनुवादक—पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि]

आजका नवशिक्षित नवयुवक समाज भारतीय संस्कृतिकी कई प्राचीन परिपाटियोंका उपहास करता है। उनकी दृष्टिमें ये परिपाटियाँ अन्धविश्वास या अन्धश्रद्धासे अधिक कुछ नहीं हैं। पर इस उपहासका कारण उनके अंदर विश्वास या श्रद्धाका अभाव नहीं है, अपितु तत्त्वकी अज्ञानता ही है। अन्धविश्वास कहकर यों ही उड़ा दी जानेवाली इन पद्धतियोंमें कितना तत्त्व भरा पड़ा है, इस तक उन नवशिक्षितोंकी पहुँच नहीं है। उन्हीं प्राचीन परिपाटियोंमें 'एकादशीका उपवास' भी एक है। इसका पालन यद्यपि कुछ लोग आज भी करते हैं, पर ये वे ही लोग हैं कि जिनकी श्रद्धा भारतीय संस्कृतिपर आज भी टिकी हुई है। किसी कामको केवल इसीलिये करना कि वह शास्त्रोंमें लिखा हुआ है या पूर्वज करते आये हैं, अवश्य उपहासास्पद कहा जा सकता है, पर एक बार किसी कामके तत्त्वको समझ लेने या मान लेनेपर भी उस कामको न करना तो दुराग्रह ही कहा जायगा।

प्रत्येक धर्मग्रन्थमें उपवासका बड़ा भारी महत्त्व बताया गया है और किसी भी धर्माचार्यने इसके विरुद्ध अपनी कलम नहीं उठायी है। धर्माचार्य जगत्‌के हितके लिये ही धर्मका प्रचार करते हैं, अतः इससे यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने उपवास करनेकी जो आज्ञा दी है, वह भी जगत्‌के हितके लिये ही होनी चाहिये। पर आजकी प्रचलित शिक्षणपद्धतिके कारण लोगोंकी श्रद्धा धर्मग्रन्थोंसे उठती जा रही है। वे समझते हैं कि धर्मग्रन्थोंके उपदेशोंसे हमारा कुछ भी लाभ होनेवाला नहीं है। इसलिये वे उपवासकी पद्धतिपर भी ध्यान नहीं देते।

पर फिर भी कुछ लोगोंका इस पद्धतिपर महान् विश्वास है। उपवाससे अनेक रोग दूर हो सकते हैं, यह बात शास्त्रीय पद्धतिसे भी सिद्ध हो चुकी है। अनेकोंने अपने दुःसाध्य रोगोंसे उपवासके द्वारा ही छुटकारा पाया। अतः अब उपवासपर अन्धविश्वास रखनेका कोई कारण नहीं है। वस्तुतः उपवासकी पद्धति एक शास्त्रीय पद्धति है।

प्राचीन परिपाटीके अनुसार चलनेवाले हिंदू-परिवारोंमें आज भी एकादशीके दिन उपवास करनेकी रीति है। सम्पूर्ण भारतमें यह दिन विशेष महत्त्वकी दृष्टिसे देखा जाता है। पर आजके नवशिक्षित समाजकी दृष्टिमें यह सब ढकोसला है। वे उपेक्षाकी दृष्टिसे प्रायः कहा करते हैं कि 'उपवास करनेसे क्या लाभ है? यह सब अन्धविश्वास है। यह अज्ञानी और भोले लोगोंके मस्तिष्ककी उपज है। क्या कभी उपवाससे भी देव मिलते हैं? और यदि देव मिल भी जायँ तो हमें उनसे करना क्या है? हमें तो भौतिकवादसे ही जगत्‌को बदलना है। हम इस उपवासकी पद्धतिको बिल्कुल भी मान्यता देनेको तैयार नहीं, आदि-आदि।' पर यदि ये शिक्षित उन प्राचीन कालके धार्मिकोंकी अपेक्षा स्वस्थ एवं दीर्घायुवाले होते, तो इनका कहना मूल्यवान् हो सकता था। पर देखा जाय तो उपवास करनेवाले वृद्ध जितना स्वस्थ रहते हैं, उसका सौवाँ हिस्सा आरोग्य भी आजके इन उपहास करनेवाले नवशिक्षितोंमें दिखायी नहीं देता। इतना ही नहीं; एक वृद्ध मृत्युका मुकाबला साहससे करता है; जब कि नवशिक्षित उससे सहज ही हार खा जाता है।

रोगप्रतिबन्धक उपाय

धार्मिक पद्धतियोंमें एकादशीका उपवास आजके नवशिक्षितोंके उपहासका विषय बना हुआ है। पर अब यूरोप और अमेरिकाके डॉक्टरोंका भी ध्यान उपवासके महत्त्वपर गया है और उनके विचार उपवासके अनुकूल हो गये हैं। आज उनकी मान्यता यह है कि उपवास रोगोंको नष्ट करनेवाला तथा उनका प्रतिबन्धक है। डॉक्टरोंकी इस मान्यताकी प्रतिध्वनि आज भारतमें भी जहाँ-तहाँ सुनायी देती है और अब लोग उपवाससम्बन्धी साहित्यको पढ़नेमें अपनी रुचि भी दर्शाते हैं। आजसे १०-१५ वर्ष पूर्व उपवास एक उपहासका विषयमात्र रह गया था; पर आज वह स्थिति नहीं रही है।

यूरोप और अमेरिकामें डॉक्टरोंने खोजके द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि उपवास रोगप्रतिबन्धक, आरोग्यवर्धक और मज्जातन्तुओंमें चेतना भरनेवाला है। इस विषयपर अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। अतः अब लोगोंको यह

भास होने लगा है कि उपवास रोगोंको दूर करनेका एक उत्तम उपाय है ।

महात्मा गांधी उपवासके एक महान् भक्त थे, उन्होंने अपने जीवनमें कई बार उपवास किया । उनका भी अनुभव यही था कि उपवाससे शरीर निर्मल होता है और रोगाणु नष्ट हो जाते हैं, परिणामस्वरूप मनुष्य रोगोंसे बच जाता है । उन्होंने उपवासके लाभोंका उल्लेख अपने जीवन-चरित्रमें किया है ।

इस प्रकार कई विचारशील व्यक्ति इसपर बहुत कुछ लिख चुके हैं । शिक्षित मनुष्य परमेश्वरकी भक्तिके नामपर भले ही चाहे उपवास न करें, पर आरोग्यके लिये उपवास करनेमें वे भी नहीं हिचकिचायेंगे ।

उपवासके दिन

यह तो निश्चित है कि उपवास आरोग्यका एक उत्तम उपाय है । पर प्रश्न यह है कि वह किया किस दिन जाय ? आजकी पद्धतिके अनुसार कई लोग वारके हिसाबसे उपवास करते हैं और कई लोग तिथिके हिसाबसे । वारके हिसाबसे उपवास करनेपर सप्ताहमें एक-दो दिन ही भोजनके लिये मिलते हैं, क्योंकि प्रायः प्रत्येक दिन उपवासका कारण बन जाता है । पर तिथिके अनुसार उपवास करनेमें चतुर्थी, एकादशी और चतुर्दशी—प्रधानतया ये तीन दिन ही उपवासके होते हैं, शेष बारह दिन भोजनके लिये मिल सकते हैं । तिथि और वारके उपवासमें यह भेद है ।

विष्णुभक्ति

प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें एकादशीके उपवासका बड़ा माहात्म्य दिखायी पड़ता है । इस दिनके उपवाससे विष्णु प्रसन्न होते हैं, ऐसा वैष्णव ग्रन्थोंमें मिलता है । पर जब शैवों और वैष्णवोंमें वैमनस्य जोर पकड़ गया, तो शैवोंने विष्णुकी प्रसन्नताके लिये किया जानेवाला एकादशीका उपवास बंद कर दिया और शिवकी प्रसन्नताके लिये शिवरात्रि (चतुर्दशी) तथा गणेशकी प्रसन्नताके लिये चतुर्थीका उपवास शुरू कर दिया । यद्यपि गणपतिके अनुयायियोंने और शैवोंने अपने-अपने उपवासके दिन अलग-अलग निश्चित कर लिये, तथापि वे एकादशीके उपवासको छोड़ न सके । किसी-न-किसी बहानेसे उन्होंने एकादशीका उपवास भी जारी ही रक्खा और इस प्रकार एकादशीका उपवास सबके लिये आवश्यक हो गया । शैव और वैष्णव सभी चाहे दूसरे उपवास करें, पर एकादशीका उपवास अवश्य करते हैं ।

तिथि और वारोंके उपवास

प्राचीन ग्रन्थोंमें तिथियोंके और उनमें भी एकाद जितना माहात्म्य मिलता है, उतना वारोंके उपवासका न इससे यह स्पष्ट होता है कि वारोंके उपवासका प्रचलन बा आरम्भ हुआ । एकादशीके उपवास करनेवालेको किस ति एकादशी है, यह पता लगाना पड़ता है, इसी प्रकार चतु प्रदोष और शिवरात्रिका भी पता लगाना पड़ता है औ इसके लिये उसे या तो पञ्चाङ्ग देखना पड़ता है या ज्योतिषीके पास जाना पड़ता है, इसके सिवा तीसरा और कोई नहीं ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तिथिका दिन जाने तिथिसम्बन्धी उपवास करना मनुष्यके लिये असम्भव ही है आज तो शिक्षितोंको भी तिथियोंका ज्ञान नहीं होता, अशिक्षितोंका तो कहना ही क्या ? इस अड़चनको करनेके लिये वारोंके उपवासोंका प्रचलन हुआ और उपास भेदके कारण प्रत्येक वारके उपवास आरम्भ हुए । शंकर सोमवार, देवीका मंगलवार, विठोबाका बुधवार, दत्तात्रेय गुरुवार, लक्ष्मीका शुक्रवार, शनिका शनिवार और सूर्य रविवार—इस प्रकार प्रत्येक वारका एक-एक दे होनेके कारण उनके उपासकोंने भी उस-उस दिन उप रखना प्रारम्भ कर दिया ।

जबतक एक देवका भक्त दूसरे देवके दिन उप नहीं करता था, तबतक उसे सप्ताहमें छः दिन भोज लिये मिलते थे । इससे यद्यपि एकादशीका उपवास न होता था, पर फिर भी सप्ताहमें एक दिनके उपवाससे लो का आरोग्य बना रहता था । पर बादमें जब भिन्न-भि देवोंके उपासकोंमें स्पर्धा दूर हो गयी और उपासक देवोंको आदरकी दृष्टिसे देखने लगे तो उपासकोंकी प्र एक देवकी अपेक्षा अधिक देवोंके उपवासकी ओर लगी और इस प्रकार उपवासके दिन अधिक होने और भोजनके दिन कम । पर इस तरह उपवाससे होने लाभ तो हुआ नहीं, उल्टी अशक्तता बढ़ने लगी ।

इसी कारण, तिथि-सम्बन्धी उपवासोंका प्रचलन होकर वारसम्बन्धी उपवासका प्रचलन ज्यादा हो ग तिथिके मूल कारणको लोग भूल गये और उन्होंने

समझ लिया कि किसी भी दिन किया गया उपवास सीधा परमेश्वरके पास पहुँचता है, इसी कारण उपवासकी यह दुरवस्था हो गयी ।

आज धार्मिक कथाओंका सुनना-सुनाना जो पुराने लोग करते हैं, उन्हें उन कथाओंका तत्त्व प्रायः समझमें नहीं आता; पर वे श्रद्धासे अवश्य करते हैं । इसके विपरीत आजके लोग केवल उपवासका विरोध करते हैं और वह भी बिना तत्त्वविवेचन किये ही । यदि कोई तत्त्वकी विवेचना करके और उस तत्त्वमें कोई सार न देखकर नास्तिक बना हो तो वह युक्तिसङ्गत है, पर आजकी नास्तिकताका कारण धर्मके प्रति उदासीनता है, तत्त्वविवेचना नहीं ।

अबतककी विवेचनासे यह स्पष्ट हो गया होगा कि तिथि-वार उपवासकी परिपाटी पुरानी है और उनमें भी सर्वसाधारण उपवास केवल एकादशीका ही है । आज भी बहुत-से लोग श्रद्धापूर्वक एकादशीका उपवास करते हैं । शेष चतुर्थी और चतुर्दशीका उपवास सर्वसाधारण नहीं करते । वारोंके उपवास आधुनिक हैं, पर उनमें एक भी ऐसा उपवास नहीं, जिसे सब लोग करते हों । जो तत्त्व तिथियोंके उपवासमें है, वह दिनोंके उपवासमें नहीं है । वे तत्त्व कौन-से हैं, उन्हें हम यहाँ देखते हैं ।

चक्रका सम्बन्ध

चन्द्रकलाकी वृद्धि और क्षयके साथ वनस्पति और प्राणियोंमें रहनेवाले अङ्गोंके रसकी वृद्धि और क्षयका सम्बन्ध है । यद्यपि वैदिक शास्त्रज्ञोंने अब थोड़ा-सा इस बातको स्वीकार किया है । इससे यह ज्ञात होता है कि तिथि-वार उपवासोंसे आरोग्यका विशेष सम्बन्ध है । चन्द्रकलाकी वृद्धिके साथ तिथियोंका जैसा सम्बन्ध है, वैसा वारोंका नहीं । इसलिये वारोंके अनुसार किया गया उपवास कभी ठीक समयपर होता है और कभी अयोग्य समयपर भी होता है । पर तिथियोंमें चन्द्रमाकी स्थिति सदा निश्चित रहती है । इसलिये चन्द्रकी उस स्थितिका प्रभाव शरीरपर पड़ना स्वाभाविक ही है । अतएव विशिष्ट तिथिपर उपवास करनेसे यदि लाभ होनेवाला है, तो वह अवश्य ही होगा ।

सूर्य और चन्द्रके आकर्षणके अनुसार प्रतिदिन शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षका समय बदलता रहता है । शुक्लपक्षमें तोड़े गये वृक्ष या पौधोंमें जलतत्त्व अत्यधिक बढ़ जानेके कारण उनमें कीड़े लग जाते हैं, पर कृष्ण-पक्षमें काटनेपर उनमें कीड़े नहीं पड़ते । इसका अनुभव आर्द्र प्रदेशमें ज्यादा और शुष्क प्रदेशमें कम होगा ।

इससे पाठकोंको यह ज्ञात हो जायगा कि वनस्पति और प्राणियोंके अङ्गरसपर सूर्य-चन्द्रके आकर्षणका प्रभाव पड़ता है । पूर्णिमा और अमावास्याके दिन वनस्पतियोंमें जलतत्त्व अत्यधिक होता है; क्योंकि उस दिन सूर्य और चन्द्र सम रेखामें रहते हैं और अमावास्यामें दोनोंके एक ही स्थानपर रहनेके कारण उस दिन इनका आकर्षण अधिक प्रमाणमें होता है । अष्टमीके दिन उनका आकर्षण सबसे कम होता है; क्योंकि उस दिन वे दोनों समकोणपर रहते हैं ।

अष्टमीके दिन जलतत्त्वकी अत्यन्त न्यूनता होती है । नवमीसे उसकी वृद्धि प्रारम्भ होती है । फिर पूर्णिमाके दिन अधिक और अमावास्याके दिन तो अत्यधिक जलतत्त्वकी वृद्धि होती है । प्रतिपदासे जलतत्त्वका क्षय आरम्भ होता है और अष्टमीके दिन आकर अत्यन्त कम हो जाता है । जलतत्त्वकी वृद्धिके दिनोंमें वृक्षोंको काटनेसे उनमें कीड़े पड़ जाते हैं, अतः जलतत्त्वकी वृद्धिके समय काटे गये वृक्ष अधिक समयतक टिकते नहीं । आम, बाँस आदि कमजोर वृक्षोंपर इसका परिणाम बहुत जल्दी पड़ता है; पर सागौन, बबूल आदि सशक्त वृक्षोंपर इसका प्रभाव शीघ्र दृष्टिगोचर नहीं होता । चन्द्रके आकर्षणका परिणाम वृक्षोंपर जितना होता है, उससे कहीं अधिक परिणाम मनुष्योंपर होता है; क्योंकि मनुष्य-शरीर अत्यधिक कोमल होता है और मनुष्यके मनका सम्बन्ध चन्द्रमाके साथ बहुत अधिक है । यह बतानेके लिये ही चन्द्रके साथ मनकी समानता वेदोंमें अनेक तरहसे दिखायी है । सोमका अर्थ भी वनस्पति, चन्द्र और मन है । मनका देवता भी चन्द्रमा ही है । मानसिक शक्तिसे दुर्बल मनुष्यकी वृद्धि और क्षय भी चन्द्रके अनुसार होते हैं । मस्तिष्कके बिगड़ जानेके कारण हुए पागलोंका पागलपन भी चन्द्रमाके क्षय और वृद्धिके आधारपर कम-ज्यादा होता रहता है । ये सब इस बातको बताते हैं कि मनुष्यका चन्द्रमाके साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

खेड़गाँवमें लोग वृक्ष काटनेके लिये जलतत्त्वकी वृद्धि और क्षयके दिन पूछनेके लिये ज्योतिषीके पास जाते थे और यथासम्भव क्षयके दिनोंमें ही वृक्ष काटनेका यत्न करते थे । इसी तरह साधारण लोगोंकी यह धारणा रहती है कि अमावास्या और पूर्णिमाके दिनोंमें बीमारी बढ़ती है और अन्य दिनोंमें कम होती है । यद्यपि अज्ञानी लोगोंकाकथन

अधिक विश्वसनीय नहीं होता, फिर भी उनका अनुभव परीक्षणीय है।

न्यूटनके जीवनकी घटना है कि एक बार जंगलमें जाते हुए उसकी भेंट बकरी चरानेवाले एक गडरियेसे हुई। गडरियेने देखा कि उसकी बकरियाँ एकाएक भाग-भागकर धूपसे बचनेके लिये पेड़ोंकी छायामें जाकर खड़ी होने लगीं। यह देखकर उसने न्यूटनसे कहा कि 'एक घंटेके अंदर ही वर्षा होनेवाली है।' न्यूटनको उसकी बातपर विश्वास नहीं हुआ। पर जब वह घर पहुँचनेतक पानीसे बुरी तरह भींग गया तो उसे गडरियेकी बातपर विश्वास करना ही पड़ा। यह भेद है--शास्त्र और अनुभवमें। इसलिये बुद्धिमान्‌की दृष्टिमें सर्वसाधारणोंके अनुभवोंका भी मूल्य होता है।

हमने भी बड़ी सूक्ष्म दृष्टिसे कई वर्षोंतक इस बातका निरीक्षण किया और इससे जो अनुभव हमें प्राप्त हुए, वे इस प्रकार हैं—

अनुभव

१–मृत्युकी संख्या द्वादशीसे तृतीयातक अधिक रहती है। उनमें भी शुक्लपक्षकी अपेक्षा कृष्णपक्षकी इन तिथियोंमें अधिक मृत्यु होती है।

२–द्वादशीसे तृतीयातक यदि कोई रोग प्रारम्भ हो जाय तो तृतीयातक उस रोगका क्षय नहीं होता और यदि बीमार मृत्युके संनिकट हो तो उसका बचना कठिन होता है।

३–चतुर्थीसे एकादशीतकके बीचमें उत्पन्न रोग साधारणतया सौम्य होते हैं और पहले उत्पन्न हुए रोगोंकी दशा इन तिथियोंमें कुछ सुधर जाती है और ठीक होनेवाले रोग इन तिथियोंमें ठीक भी हो जाते हैं।

४–बहुत समयसे रोगग्रस्त मनुष्य प्रायः द्वादशीसे तृतीयातकके मध्यमें ही मरते हैं अथवा इन तिथियोंमें उनकी अवस्था शोचनीय हो जाती है।

५–ओषधियोंका परिणाम इन तिथियोंमें आशादायक नहीं होता। पर चतुर्थीसे एकादशीपर्यन्त चिकित्साका परिणाम लाभकारी होता है।

६–छूतकी बीमारियोंके समय भी बीमार पड़ने तथा मरनेवालोंकी संख्या ऊपरकी तिथियोंके अनुसार न्यूनाधिक होती रहती है।

सूर्य-चन्द्रके आकर्षणके कारण शरीरके जीवन-रसमें भी न्यूनाधिकता होती रहती है। इसलिये द्वादशीसे तृतीयातकके दिन मनुष्यकी आरोग्यताके लिये अनिष्ट होते हैं। जो सशक्त हैं, उनके शरीरमें भी उपर्युक्त कार इन तिथियोंमें रोगाणुओंकी वृद्धिकी सम्भावना रहती है इनकी बाढ़ शुक्लपक्षकी अपेक्षा कृष्णपक्षमें अधिक होती है।

सूर्यकी जीवनशक्ति

सूर्यसे इस पृथ्वीपर विपुलमात्रामें जीवनशक्ति होती है, यदि उसमें जरा-सी भी न्यूनता आ जा मनुष्यके आरोग्यपर उसका बड़ा अनिष्टकारक परि होता है। यदि सूर्यपर किसी तरहका प्रतिबन्धक प जरा-सा भी आ जाय तो उसकी जीवनशक्तिमें कमी आ है। परिणामस्वरूप हवामान, मनोवृत्ति, बरसात सभीपर अनिष्ट प्रभाव पड़ता है। कुछ दिन यदि बराबर छाये रहें और सूर्यदर्शन जरा भी न हो तो अनेक प्र रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

द्वादशीसे लेकर अमावास्यातक सूर्यके क्षेत्रपर चन्द्र प्रभाव रहनेके कारण सूर्यकी जीवनीशक्ति बहुत मा कम हो जाती है, इसलिये यह स्थिति अशक्तोंके घातक सिद्ध होती है और अमावास्याके व्यतीत हो सूर्यके क्षेत्रसे चन्द्रका प्रभाव भी कम हो जाता है सूर्यसे जीवनशक्ति अधिक प्राप्त होनेके कारण अमावा विशेषतः तृतीयाके पश्चात् दस-पंद्रह दिन लाभकारी होते हैं

सूर्यकी ग्रहमालाओंमें सूर्य और चन्द्र धनशक्ति ऋणशक्तिके केन्द्र हैं। उपनिषदों और वेदोंमें भी ग्रहोंके सम्बन्धमें अनेक तरहके वर्णन मिलते हैं। आ भौतिक शास्त्रके आधारपर भी सिद्ध हो चुका है सूर्य जीवनशक्तिका पुञ्ज है। इसलिये वह धनश केन्द्र है। चन्द्रकी स्थिति इससे उल्टी है। पर-प्र होनेके कारण अपना प्रकाश वह सूर्यसे प्राप्त करता इसलिये वह सूर्यका ऋणी है। इस प्रकार सूर्य धनी चन्द्रमा ऋणी है। अमावास्याके दिन ऋणश चन्द्र सूर्य और पृथ्वीके बीचमें आ जाता है। पृथ्वीपर सूर्यसे आनेवाली जीवनीशक्ति उस दिन कम जाती है। सूर्यग्रहण इसी दिन पड़ता है, इस कार पृथ्वीपर आनेवाली सूर्यकी जीवनीशक्ति बहुत कम जाती है। इससे अनेक जीवाणु मर जाते हैं, ऐसा आ शास्त्रज्ञोंका मत है। प्रति अमावास्याको भी जीवनशक्तिके कम मात्रामें प्राप्त होनेका भी यही है। ऋग्वेदका कथन है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च

'सूर्य जङ्गम—चलनेवाले और स्थावर—न चलनेवाले जगत्की आत्मा है।' वह अपनी शक्तिसे स्थावर और जङ्गम जगत्को पूर्ण करता है। इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि जिस-जिस प्रमाणमें सूर्य और पृथ्वीके बीच चन्द्र आता जायगा, उस-उस प्रमाणमें उससे प्राप्त होनेवाली जीवनीशक्ति भी कम होती जायगी। कृष्णपक्षमें दशमीके बाद चन्द्र सूर्यके पास आता जाता है और अमावास्याके दिन वह पूरी तरह सूर्य और पृथ्वीके मध्यमें आकर पृथ्वीपर आनेवाली सूर्यकी जीवनीशक्तिको रोक देता है। इसीलिये सूर्यग्रहणके अवसरपर उससे प्राप्त होनेवाली जीवनशक्ति बहुत ही कम हो जाती है। अतः कृष्णपक्षके अवसरपर उससे प्राप्त होनेवाली जीवनशक्ति बहुत ही कम हो जाती है। इसलिये कृष्णपक्षके उत्तरार्धमें सूर्यसे जीवनशक्ति कम प्राप्त होनेके कारण रोगी मनुष्योंके लिये इन दिनोंका प्रतिकूल होना स्वाभाविक ही है। अमावास्याके दिन सामान्य मनुष्योंको जो भय लगता है, उसका भी यही कारण है।

वनस्पतियोंमें रस बढ़नेके दिनोंमें उनका रस जड़से शाखाओंकी ओर वेगसे दौड़ता है और घटनेके दिनोंमें रस शाखाओंसे जड़की तरफ जाता है। इस कारण रस बढ़नेके दिनोंमें तोड़े गये पौधोंमें कीड़े जल्दी और अधिक लगते हैं। मनुष्यके शरीरमें रक्त-परिभ्रमणपर भी इसका प्रभाव पड़ता है। ऊपरके कारणोंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि अष्टमीके दिन मिलनेवाली सूर्यकी जीवनीशक्ति अधिक पूर्ण और निर्दोष होती है। आकर्षणके कारण रक्त-परिभ्रमण (Circulation of Blood) पर होनेवाले अनिष्ट परिणाम इस दिन कम ही होते हैं। तृतीयासे लेकर अष्टमीतक इष्ट परिणामोंके और बादमें अनिष्ट परिणामोंके होनेकी सम्भावना रहती है। अतएव इन पाक्षिक अनिष्ट परिणामोंसे अथवा रोगाणुओंके बढ़नेकी सम्भावनासे मनुष्योंकी रक्षा हो, इसलिये कुछ उपाय करना आवश्यक था। वह उपाय एकादशीके उपवासके रूपमें शास्त्रज्ञोंने लोगोंके सामने रक्खा।

दीपावली-विज्ञान

[गताङ्क पृष्ठ ८५१ से आगे]

(लेखक—श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव')

वैदिक ज्योतिर्विज्ञान और दीपावली

राजर्षि जनकने भगवान् याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया था कि 'याज्ञवल्क्य ! किं ज्योतिरयं पुरुषः' 'याज्ञवल्क्यजी ! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ?' उसका उत्तर क्रमशः याज्ञवल्क्यने दिया है—१. आदित्यज्योतिः सम्राट्, २. चन्द्रज्योतिः, ३. अग्निज्योतिः, ४. वाग्ज्योतिः, ५. आत्मज्योतिः।

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

इसका सारांश यही है कि जीवनसत्ताका आधार ज्ञान कर्मादि इतर अन्नोंकी भाँति ज्योतिस्तत्त्व भी है और प्रमुख-रूपसे है। पाँचों ज्योतियोंका तत्त्वतः 'सूर्यज्योति'में ही अन्तर्भाव हो रहा है। परज्योति होनेसे चन्द्रज्योति सूर्यज्योतिमें ही आ जाती है, भूपिण्ड सूर्यका ही उपग्रह है, 'वाक् पतङ्गाय धीयते' इत्यादि सिद्धान्तसे वाग्ज्योति भी सूर्यकी इन्द्र-ज्योतिमें ही आती है एवं 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः-सं० १३। ४६) के अनुसार मानवीय भूतात्मासे अभिन्न आत्मज्योति भी सूर्यसे ही आती है।

कार्तिकी अमारात्रि सूर्यज्योतिके प्राकृतिक दिव्य प्राणसे वञ्चित है, चन्द्रज्योतिका अभाव तो स्पष्ट ही है, वर्षात्मक वारुण भोगकालसे पृथिवीकी अग्निज्योति भी गिरी हुई है। इन तीनों भूतज्योतियोंके बिना संस्कार लक्षणवाली आत्मज्योति तथा पार्थिवाग्निसे व्यक्त वाग्ज्योति भी मन्द है। यों पाँचों ही व्यक्त ज्योतिर्भाव एक प्रकारसे नहीं-से ही हो रहे हैं। इसीलिये इस रात्रिमें कृत्रिम ज्योति—प्रकाशका समावेश हो गया है। सूर्यके इन्द्रप्रकाशका प्रतिनिधि दीपक है, अग्निज्योतिकी प्रतिनिधि आतिशबाजी (अग्निक्रीड़ा) है, वातावरणमें व्याप्त आसुरप्राणके निरोधके लिये ही कार्तिकमासमें 'आकाशदीप' प्रज्वलित किया जाता है।

अमावास्या तिथिमें किस समय लक्ष्मीपूजन करना चाहिये ? यह एक प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसके समाधानमें अनेक विकल्प हो पड़े हैं। कुछ मानवोंने यह मान्यता बना रक्खी है कि 'अर्धरात्रिमें ही लक्ष्मीपूजन करना चाहिये; क्योंकि इस समय प्रायः सभी निद्रानिमग्न हो जाते हैं, अतएव सबको सोता देखकर लक्ष्मी मुझ जागते रहनेवालेपर ही अनुग्रह कर

देगी।' सबको भुलाकर जो अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धिके लिये श्रीविहीना लक्ष्मीका ही संचय करना जीवनका मुख्य पुरुषार्थ मानते हैं, उनपर अवश्य ही जड भूतरूपा; परिणाममें अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी अनुग्रह कर देती होगी।

किंतु जो आर्षमानव **'सर्वे भवन्तु सुखिनः' 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते' 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि'** लक्षणा श्रीसे युक्ता (सरस्वतीसे युक्ता) लक्ष्मीको ही अपनी मुख्य आराध्य देवी मानते हैं, वे सांस्कृतिक पुरुष तो सूर्य-सत्तामें ही लक्ष्मीपूजन करना शास्त्रीय कर्म मानते आ रहे हैं। जैसा कि—**'प्रदोषसमये लक्ष्मीं पूजयित्वा यथाक्रमम्'** इत्यादिसे प्रमाणित है। श्री और लक्ष्मी दोनों विष्णुरूपी सूर्यकी अर्धाङ्गिनियाँ हैं। अतः सूर्यकी सत्तामें ही लक्ष्मीपूजन (प्रदोष-समयमें) करना चाहिये।

सूर्यके इन्द्रप्राणवाली हिरण्मय परमेष्ठीका तत्त्व ही श्री (सरस्वती) गर्भिता ज्योतिर्मयी—हिरण्यवर्णा लक्ष्मीका स्वरूप है। यह लक्ष्मीका रूप प्रदोषकालमें ही रहता है। रात्रिमें ज्योतिर्मयी लक्ष्मीका अभाव है। विकसित कमल ही इस श्रीयुक्त लक्ष्मीका आसन है। अर्धरात्रिकी अलक्ष्मीरूपा आसुरीलक्ष्मीका वाहन उल्लू माना गया है। प्रसिद्ध है कि सूर्यास्तपर पङ्कजश्री (कमलश्री) अन्तर्मुख बन जाती है। जब कमल ही मुरझा गया तो रात्रिमें कमलासना कैसे मिल सकती है ! फिर तो सरस्वतीविरोधियोंको उल्लू-वाहना—आसुरी लक्ष्मी ही उपास्या बन सकती है।

घरके लोग अङ्गन्यासादि करके दीपादि जलाकर लक्ष्मीका ध्यान करें—

आसीना सरसीरुहे स्मितमुखी हस्ताम्बुजैर्बिभ्रती
दानं पद्मयुगाभये च वपुषा सौदामनीसंनिभा।
मुक्ताहारविराजमानपृथुलोत्तुङ्गस्तनोद्भासिणी
पायाद्वः कमला कटाक्षविभवैरानन्दयन्ती हरिम् ॥१॥

लक्ष्मीपूजनम्

तुलाराशिगते भानौ अमावास्यां नराधिप।
स्नात्वा देवान् पितॄन् भक्त्या सम्पूज्याथ प्रणम्य च ॥ २ ॥
ततोऽपराह्णसमये (लक्ष्मीं) पूजयित्वा यथाक्रमम्।
दीपवृक्षास्तथा कार्या भक्त्या देवगृहेष्वपि ॥ ३ ॥

अमावास्या यदा रात्रौ दिवाभागे चतुर्दशी।
पूजनीया तदा लक्ष्मीर्विज्ञेया सुखरात्रिका ॥

कुबेरपूजनम्

लक्ष्मीनारायणाभ्यां च नमोऽन्तेन प्रपूजयेत्।
धिषणं च कुबेरं च पूजयेत्तदनन्तरम् ॥
धनदाय नमस्तुभ्यं निधिपद्माधिपाय च।
भवन्तु त्वत्प्रसादान्मे धनधान्यादिसम्पदः ॥

दीपदानम्

अग्निर्ज्योती रविर्ज्योतिश्चन्द्रज्योतिस्तथैव च।
उत्तमः सर्वज्योतीनां दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

महामुनि दुर्वासाने एक बार प्रसन्न होकर इन्द्रको जय दी। मदोन्मत्त इन्द्रने जयमालाको गलेसे निकालकर ऐ हाथीपर फेंक दिया। हाथीने सूँड़से पृथ्वीपर गिराकर उसे तोड़ दिया। दुर्वासाके अन्तःकरणसे परोक्षरूपसे शाप नि कि जिस राज्यलक्ष्मीके मदसे विजयमालको ऐरावतसे तुड़ है वह लक्ष्मी तेरे पूर्वभारतादि लोकोंसे निकलकर जन्मभूमि समुद्रमें चली जायगी, जहाँ ऐरावतने भी जन्म है। वैसा ही हुआ। यों इन्द्रकी मदोन्मत्ततासे ब्राह्मणकी उपास्या सरस्वतीके तिरस्कारसे ही लक्ष्मी रुष्ट देवत्रैलोक्यसे समुद्रमें चली गयी। लक्ष्मीको लानेके उपाय खोजे जाने लगे। अन्तमें इन्द्रको विष्णुकी आना पड़ा और विष्णुके अनुग्रहसे ही लक्ष्मीका फिर इ अनुग्रह हुआ।

यज्ञात्मक विष्णुने क्या साधारण प्रार्थनामात्रसे ही प्र होकर लक्ष्मीका पुनरावर्तन करा दिया था देवमण्ड नहीं। आत्मरूप आधिदैविक नभस्वान् समुद्र, आधि और आध्यात्मिक समुद्रोंको गर्भमें रखनेवाला आधि मनःशरीररूप अर्णव समुद्रोंके मन्थनसे ही प्रकृतिसिद्ध यज्ञकर्मात्मक विष्णुके प्रसादसे ही श्रीयुक्ता माता ल अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है, यही उक्त आख्यानका श्रीयुक्ता लक्ष्मीके पति हैं भगवान् विष्णु 'यज्ञो वै वि (शत० १ । १ । २ । १३) 'यज्ञ ही विष्णु है।' मूलाधार है **'त्रयीवेदात्मक तत्त्ववेद'** जैसा कि—'सैषा

विद्या यज्ञः’ (शत० १ । १ । ४ । ३)—‘ते देवा अब्रुवन् यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै’ इत्यादिसे स्पष्ट है । अर्थात् कर्मरूप यज्ञका ही नाम विष्णु है ।

जिस देशमें त्रयीवेदवाले यज्ञका प्रतिनिधि कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है, वही देश वेदात्मक-यज्ञ-विष्णुका घर माना गया है, एवं उसी यज्ञिय नैगमिक देशमें वेदमूलक वर्णाश्रमाचारसिद्ध अर्थात् प्रकृतिसिद्ध आत्मप्रतिष्ठ धर्म (आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-समन्वयात्मक अभ्युदय और निःश्रेयससाधक ‘मानवधर्म’ नामक सनातनधर्म) पुष्पित-पल्लवित हुआ है । जैसा कि कहा है—

यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्मान्निबोधत ।
(याज्ञवल्क्य १ । २)

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥
(मनु० २ । २३)

ऐसा देश जिसकी प्राणप्रतिष्ठा—‘मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः’ (ऋ० १० । १८० । २) के अनुसार ‘मृग’ ‘कृष्णमृग’ नामसे प्रसिद्ध भारत अग्नि है । पश्चिमके समुद्रवाले देशोंको ‘वारुणदेश’ ही कहा जायगा । पश्चिमदिशाके दिक्पाल तथा आपोलोकके लोकपाल वैसे ही वरुण माने गये हैं, जैसे कि पूर्वदिशाके दिक्पाल एवं ऐन्द्राग्न-ज्योतिर्लोकके लोकपाल इन्द्र ही माने गये हैं । अतः पूर्व भारतवर्षको जहाँ लक्ष्मीका श्वशुरगृह माना जायगा, वहाँ वरुणरूप पश्चिमी देशोंको लक्ष्मीका पितृगृह ही कहा जायगा ।

वर्तमानकी दीपावली तो हमारा उपहास ही किया करती है। जो अग्निक्रीड़ा कर सकते हैं, आगसे खेल सकते हैं। संघशक्तिके रूपसे समुद्रमन्थन कर सकते हैं, जिनके दीपपात्रों (शरीर-मन-बुद्धिरूप अग्नि-चन्द्र-सूर्यज्योतिके अवलम्बरूप दीपपात्रों) में तैलमात्रा (आत्मरस) परिपूर्ण है, वास्तविक दीपावलीके पर्व, उत्सव और आयोजनोंका अधिकार उन्हींको प्राप्त हुआ है । दीपज्योतिसे वे कर्मनिष्ठ-धर्मनिष्ठ-आचारनिष्ठ मानव लाभ उठा सकते हैं, जिनके चर्मचक्षुओंमें ज्योतिर्मय चाक्षुषपुरुष (सूर्य) जागरूक है । अतः पूर्वीय भारतवर्षात्मक इन्द्रदेशकी लक्ष्मी पश्चिमके वारुणदेशोंमें चली गयी । जहाँ लक्ष्मी चली गयी, वहाँ दीपावली जगमगा उठी ।

अवश्य ही यहाँकी (पूर्वकी) दीपावलीकी दीपज्वाला तो बुझ गयी थी, किंतु दीपपात्रों (शरीरों) में थोड़ा तैल सांस्कृतिक-परम्परासे सौभाग्यसे बचा रह गया था । वहाँके (पश्चिमके) दीपोत्सवके आयोजकोंने अनुभव किया कि ‘पानीसे भी कहीं दीप जले हैं’ दीप जलते रहते हैं तैल या घृतसे, और उसका अपने खारे समुद्रमें अभाव है । शीघ्र तैलका अन्वेषण आरम्भ हो पड़ा । पूर्व देशोंपर दृष्टि गयी और इनके शेष बचे हुए सभी प्रकारके तैलकोश स्वाधीन कर लिये गये । यों दीपावलीके साथ-साथ पूर्वीय देशोंका प्राणात्मक और भौतिक सभी प्रकारका तैल-घृत भी बलपूर्वक निकाल लिया गया, कस-कसकर चुआ लिया गया, निचोड़ लिया गया और हम कङ्कालरूपसे बच गये । यही है तैल-घृत-शून्या, मज्जा-मांस-रुधिरशून्या अतएव दीपप्रभाशून्या वर्तमान भारतकी निस्तत्त्वा दीपावली, जो प्रतिवर्ष हमारी सोयी हुई वेदनाओंको जगाकर हमें पीड़ित किया करती है ।

वर्तमान भारतकी आत्म-बुद्धिके प्रकाशसे शून्य, केवल मनःशरीरवाली शून्यं शून्यंकी अनात्मभावनासे समन्विता दुःखभावप्रवर्तिका ऐसी अलक्ष्मीरूपा यह दीपावली कब भारतीय दृष्टिसे ‘सांस्कृतिक-दीपावलीपर्व’ के रूपमें परिणत होगी ? इस प्रश्नका यथार्थ समाधान आज हम भारतवासी किससे प्राप्त करें ?

इस प्रश्नके समाधानकी प्रस्तावना होगी—निगमागमकी संस्कृतिका अनन्य स्वाध्यायव्रत । जिस प्रस्तावनाको मतवादोंसे, सत्ताश्रयसे और स्वाध्यायविरोधी सब तन्त्रोंसे सर्वथा निरपेक्ष—तटस्थ ही रखना पड़ेगा । तभी भारतवर्षके सांस्कृतिक आचार और सांस्कृतिक-आयोजनोंका ज्ञान-विज्ञानात्मक मौलिक स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा । केवल इस स्पष्टताके बलपर ही श्रीयुक्त महान् सांस्कृतिकपर्व दीपावली-महोत्सवका यथार्थरूपसे आचरण करता हुआ भारतराष्ट्र राष्ट्रलक्ष्मीको प्रसन्न करनेमें समर्थ बन सकेगा ।

अधर्म और पापसे सावधान रहिये

(लेखक—श्री श्रीराम माधव चिंगले, एम्० ए०)

प्राणिमात्र चाहता है कि उसे सुख मिले, दुःख न मिले। सुख भी वह ऐसा चाहता है जिसमें दुःखका लेश न हो और जो पूर्ण और नित्य हो। ऐसा नित्य पूर्ण आत्यन्तिक सुख मोक्षमें ही है। पृथ्वीतलपर वर्तमान समस्त प्राणियोंमें कर्माधिकारी केवल मनुष्य ही है। इसलिये एकमात्र मनुष्य ही शाश्वत सुखरूपी मोक्षका अधिकारी है। केवल मनुष्य ही ऐसी बुद्धिसे युक्त है, जो ब्रह्मसाक्षात्कार कर सकती है ('ब्रह्मावलोकधिषणम्')। मनुष्य यदि योग्य मार्गका अनुसरण करे तो वह नरसे 'नारायण' बन सकता है। इस नरदेहकी इतनी महान् महिमा है; किंतु मनुष्य अनादि अविद्याके प्रभावसे अपने सच्चे स्वरूपको भूलकर बाह्य जगत्के शब्द-स्पर्शादि विषयोंके प्रलोभनोंमें फँसकर ब्रह्मसाक्षात्काररूप एकमात्र परम लाभसे वञ्चित रहता है और जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा लगातार दुःख उठाता रहता है। अनन्त जन्मोंके कुसंस्कारोंके फलस्वरूप मनुष्यके मनमें अगणित पाप-वृत्तियाँ घर किये रहती हैं, जो मनुष्यको मानो बलात् सन्मार्गसे खींचकर असन्मार्गमें प्रवृत्त करती रहती हैं, अतः मनुष्य उसके सच्चे स्वरूप-सुखसे वञ्चित रह जाता है। अनन्त कालके अभ्याससे दृढ़ हुई—ये पापवृत्तियाँ एक दिनमें क्षीण नहीं हो सकतीं। इनपर धीरे-धीरे ही पुण्याचरणके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकारके शुभसंकल्पसे प्रेरित होकर ही आत्मकल्याणेच्छु साधक भगवन्नाम-जप, गीता-रामायणादिके अध्ययन तथा सदाचरणादि अनेकों साधनोंके अवलम्ब लेकर, इनपर विजय प्राप्त करनेमें प्रयत्नशील होते हैं। उनकी इस शुभ प्रवृत्तिको दृढ़ करनेके हेतु हृदयस्थ पापवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करनेके कुछ उपायोंपर प्रकाश डालना प्रस्तुत निबन्धमें अभिप्रेत है।

ध्यान रहे, भगवन्नाम-जपादि साधन भवरोग-नाशके लिये रामबाण ओषधि है। परंतु औषध-सेवनके साथ ही जैसे कुपथ्यसे बचना आवश्यक होता है, वैसे ही इस रामरसायनके सेवनके साथ ही पापाचरणादिरूप कुपथ्यसे बचना आवश्यक है। तभी ये साधन शीघ्र अभीष्ट फल दे सकते हैं। अन्यथा, पापकर्मोंके प्रक्षालनमें ही इनकी सारी शक्ति खर्च हो जाती है और साधकको इन यथार्थ अभीष्ट फल नहीं मिल पाता।

इस दिशामें पाप-पुण्यका स्पष्ट तथा यथार्थ ज्ञान विवेक सबसे पहले आवश्यक है। ध्यान रहे, ह सारे व्यवहार ज्ञानाधीन ही होते हैं। जिसका जै ज्ञान, वैसा ही उसका व्यवहार होता है। ज्ञान बदल साथ ही व्यवहार, आचरण भी बदल जाता है औ व्यवहारमें परिवर्तन होते ही सम्पूर्ण मनुष्य ही आमू बदल जाते हैं। दूषित तथा विपरीत ज्ञानके कारण वाल्मीकि अपने जीवनके पूर्व भागमें डाकू थे; कि इस ज्ञानके बदलते ही, यथार्थ ज्ञानके प्राप्त होते तदनुसार आचरणके फलस्वरूप वे महर्षिपदपर आ हो गये। भगवान् बुद्धको राज्य, सुन्दरी स्त्री, नव पुत्र इत्यादि सभी सांसारिक वैभव प्राप्त थे; किंतु इ यथार्थ ज्ञानके उदय होते ही कि 'यह सब सांसा वैभव नश्वर है'—वे इन सबसे तुरंत अलग हो गये औ उन्होंने शाश्वत सुख प्राप्त करके ही चैन ली। इ प्रकार मनुष्य यदि भले या बुरे कर्म करते समय अ भावी अच्छे या बुरे अनिवार्य परिणामोंपर अच्छी त विचार कर ले तो उस विचारके द्वारा उसे पापकर्म औ उनके दुष्परिणामोंसे बचनेमें बड़ी सहायता मिले कर्मसिद्धान्त अटल है। भौतिक विज्ञानका भी इसे समर्थन प्राप्त है। इसी सिद्धान्तका अनुसरण करके कहता है कि सुख—जिसकी सभी इच्छा करते हैं—पुण्य पवित्र कर्मका फल है। दुःख—जिसे कोई नहीं चाह पाप–दुष्कर्मका फल है। किंतु सुखकी इच्छा करने मा तो सुख नहीं मिल जाता। केवल इच्छा हो, पर उ अनुसार योग्य आचरण न हो तो उसकी लि शेखचिल्लीके मनोराज्यके सदृश असत् हो जाती है अतः यथार्थ सुख-प्राप्तिके लिये पापकर्मोंसे मुँह मोड़ पुण्य-सम्पादन करना पड़ता है। किंतु हम अपने व्यव इससे ठीक विपरीत स्थिति पाते हैं। इस प्रत्यक्ष लो स्थितिका अनुवाद निम्न श्लोकमें बहुत ही उत्तम साथ किया गया है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

'मनुष्य पुण्यके फल (सुख) की तो इच्छा करते हैं; किंतु पुण्यकर्म करनेकी इच्छा नहीं करते । (इसी प्रकार) वे पापके फल (दुःख) को तो नहीं चाहते किंतु पाप कर्म प्रयत्नपूर्वक करते हैं ।' बताइये, ऐसी स्थितिमें मनुष्यको किस प्रकार सुख मिल सकता है और किस प्रकार वह दुःखसे बच सकता है ? इसी आशयकी महर्षि व्यासकी निम्न शिकायत भी देखिये—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

'मैं दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर जोरसे पुकारकर कहता हूँ कि धर्मसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है । इसलिये धर्माचरण ही क्यों न किया जाय ? किंतु मेरी कही कोई नहीं सुनता है ।' यही तो माया या अविद्याका प्रभाव है । पाण्डवगीतामें दुर्योधन कहते हैं—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

'धर्म क्या है यह मैं जानता हूँ तथापि उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती । अधर्म क्या है यह भी मैं जानता हूँ; किंतु उससे मैं छुटकारा नहीं पा सकता । मेरे हृदयमें स्थित कोई एक देव हैं । वे मुझसे जैसा कराते हैं, वैसा ही मैं करता हूँ ।'

दुर्योधनके उक्त कथनका क्या अर्थ है ? यदि इसका सीधा अर्थ लिया जाय तो मनुष्य अपने कृत कर्मोंके दायित्वसे मुक्त हो जाय और सारे दोष ईश्वरके सिरपर ही लद जायँ । अतएव इसका यह अर्थ लेना चाहिये कि मनुष्य कर्म करनेके लिये तो स्वतन्त्र है किंतु कृतकर्मोंके फल भोगनेमें परतन्त्र है । साथ ही, विशिष्ट प्रकारके कर्म करनेसे बार-बार उन्हींके करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती है और इस अभ्यासके फलस्वरूप विशिष्ट प्रकारके संस्कार दृढ़ होते जाते हैं । फिर मनुष्यका उनसे छूटना कठिन हो जाता है । मनुष्यके ये स्वकृत बन्धन महाभयानक होते हैं । व्यसनासक्त मनुष्यके उदाहरणसे इस बातको हम अच्छी तरह समझ सकते हैं । पहले तो मनुष्य निरे शौकसे या केवल देखादेखी चाय, सिगरेट, शराब या अन्य मादक पदार्थोंका सेवन प्रारम्भ करता है । उस समय उसे इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती । इतना ही नहीं; इनके सेवनसे पहले-पहले बहुत कष्ट भी उठाना पड़ता है । उलटी आती है; जी मचलाता है; चक्कर आने लगते हैं । किंतु अभ्याससे मनुष्य इनके इतना अधीन हो जाता है कि फिर प्रयत्न करनेपर भी इन्हें छोड़ नहीं सकता । ऐसा मनुष्य यदि 'केनापि देवेन' की दुहाई देने लगे तो वह कहाँतक समर्थनीय होगी ? तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने कर्मोंके लिये स्वयं ही जिम्मेदार है । ईश्वर केवल कर्मफलनियन्ता है । इसीसे अपने सुख-दुःखके लिये दूसरोंको जिम्मेवार ठहरानेकी वृत्तिको नीतिज्ञोंने 'कुबुद्धि' कहा है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

यह निर्विवाद है कि हमारी सारी प्रवृत्तियाँ सुखके लिये ही होती हैं । किंतु अज्ञानके कारण हम सुखप्राप्तिके सच्चे उपायको नहीं जानते । शास्त्रकार हमें सुखप्राप्तिकी यह सच्ची कुंजी बतलाते हैं कि 'अधर्मको छोड़कर धर्मको पकड़ो ।' बिना अधर्मको छोड़े और धर्मको पकड़े कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता । यही आशय निम्न श्लोकमें प्रकट किया गया है—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥

तात्पर्य यह कि 'सुख प्राप्त करनेके लिये (फिर वह सुख चाहे लौकिक हो अथवा पारमार्थिक) मनुष्यको पापाचरणसे सर्वथा बचकर भगवन्नामस्मरणादि तथा सत्कर्माचरणादि-द्वारा पुण्य संचय करना चाहिये । इन साधनोंका सकामभावसे सेवन करनेपर ऐहिक सुखोंकी प्राप्ति होती है । किंतु इन्हीं साधनोंका निष्कामभावसे सेवन करनेपर मनुष्य चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानका अधिकारी हो जाता है और उसे यथार्थ ज्ञानसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति भी हो सकती है एवं सगुण प्रेमियोंको, स्वरूपके प्रेमियोंको भगवत्तत्त्वका दिव्य सगुण साक्षात्कार भी हो सकता है ।

उपर्युक्त साधनोंका सेवन करते समय मनुष्य यदि दो बातोंका पूरा-पूरा ध्यान रक्खे तो उसे पापाचरणसे बचनेमें और पुण्य सम्पादन करनेमें बहुत अधिक सहायता मिल सकती है । ये दो उपाय ये हैं—

(१) मनुष्य जब कोई पाप कर्म करता है तब वह प्रायः यह भ्रान्त धारणा बना लेता है कि 'मुझे कौन

देखता है । यह बात स्पष्ट है कि सबके देखते हुए मनुष्य बहुत ही कम ऐसे काम करता है, जिन्हें सभ्य समाज अच्छा नहीं समझता । किंतु चोरी-छिपे वह ऐसी बातें करनेसे नहीं हिचकता । 'काला बजार' शब्द प्रयोग इसी मनोवृत्तिका द्योतक है । किंतु यदि मनुष्यको इस प्रकारके पापकर्म करते समय इस बातका ज्ञान और निश्चय हो जाय कि उसके एकान्तसे एकान्तमें किये हुए पापकर्मके भी अदृश्य रूपसे देखनेवाले अनेक हैं तो उसे पापकर्मसे परावृत्त होते देर नहीं लगेगी । इसी प्रकारकी सूचना भगवान् मनुने निम्न श्लोकमें दी है—

> **मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।**
> **तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥**
> (८ । ८५)

'पाप करनेवाले समझते हैं कि उन्हें कोई नहीं देखता है । किंतु उनको याद रखना चाहिये कि उन्हें देखनेवाले कई देव हैं और है उन्हींके हृदयमें बैठा हुआ पुरुष !'

मनुष्यके छिपकर किये हुए पापकर्मोंको देखनेवाले **देवता ये हैं—**

> **आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।**
> **अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥**

चौदह देव मनुष्यके शुभाशुभ कर्मोंको देखते हैं—सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, द्युलोक, पृथ्वी, जल, हृदय—हृदयस्थ पुरुष या चैतन्य, यम, दिन, रात एवं इनके दो संधिकाल और धर्म । ध्यान रहे, वैदिक देवता-विज्ञानके अनुसार उक्त चन्द्र-सूर्यादि केवल प्राकृतिक जड पदार्थ नहीं हैं । इन सबसे अभिप्राय इनके अभिमानी देवताओंसे है, जो इनके भीतर ही वर्तमान रहते हैं । चन्द्रसूर्यादि पिण्ड इनके बाह्य शरीरमात्र हैं । ये विभिन्न देव एक ही परब्रह्मके सोपाधिक भेद हैं, जो सृष्टिव्यापारमें महत्त्वका काम करते हैं । जिस प्रकार एक ही केन्द्रीय राजसत्ता अधिकार-विभागद्वारा देहातके कोने-कोनेतक फैली रहती है और जिस प्रकार इस सत्ताके गुप्तचर बिना किसीके जाने अपना काम करते रहते हैं, उसी प्रकार सृष्टि-कालीन पारमेश्वरी-व्यवस्थामें भी सोपाधिकरूपसे सत्ताविभाजन-के सिद्धान्तानुसार अनेक देवताओंके द्वारा सृष्टिके व्यापार नियन्त्रित होते रहते हैं; और यहाँ भी मनुष्यकी गुप्त-से-गुप्त कृतियोंको देखनेवाले गुप्तचर उसके साथ लगे रहते हैं । आप मनुष्यकी आँखोंमें धूल झोंक सकते हैं, किंतु इन पारमेश्वरी-शक्तिरूप देवताओंकी आँखोंमें और स्वयं हृदयस्थ सहस्र नेत्रवाले अन्तःसाक्षी परमात्माकी आँखोंमें कैसे धूल झोंक सकते हैं ? पाप करते समय मनुष्य इस बातका ध्यान नहीं रखता । किंतु जब इन कर्मोंके दुःखप्रद अनिष्ट फल मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं, तब वह ईश्वर और दैवको कोसता है। ऐसे समय भी वह अपने ही किये हुए कर्मको देखकर उसका अनुताप नहीं करता !

(२) इस सम्बन्धमें एक दूसरी प्रचलित भ्रान्त धारणा यह है कि 'सत्याचरण या धर्माचरणका अवलम्बन करने और किसी भी रूपमें असत्यका आश्रय न लेनेपर व्यावहारिक जगत्में, विशेषतः व्यापार-व्यवसायादि सदृश क्षेत्रोंमें सफलता नहीं मिल सकती ।' किंतु यह कोई बुद्धिमानी या दूरदर्शिता नहीं है । तात्कालिक लाभकी प्राप्तिके लिये यदि आगे चलकर असत्यके आश्रयके फलस्वरूप इह-पर दोनों लोक बिगड़ते हैं तो ऐसा लाभ किस कामका ? पाप-पुण्य, धर्माधर्म-सदृश अतीन्द्रिय विषयमें एकमात्र अधिकार रखनेवाली श्रुति पुकार पुकारकर कहती है—**'सत्यमेव जयति नानृतम्'** (मुण्डक उ॰ ३ । १ । ६) सत्य बोलनेवालेकी ही विजय होती है असत्य बोलनेवालेकी नहीं । असत्य भाषण (जो असत्याचरण का भी उपलक्षण समझा जाना चाहिये) के भी घोर दुष्परिणाम श्रुति बतलाती है—**'समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति'** (प्रश्न० उ० ६ । १) अर्थात् जो असत्य भाषण करता है वह जड़मूलसे सूख जाता है ! श्रुतिके इस आशयको स्मृतिकार भगवान् मनुने निम्न श्लोकमें स्पष्ट कर दिया है—

> **अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।**
> **ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥**
> (४ । १७४)

'परस्व-हरण या परद्रोहादिरूप सब तरहके अधर्मसे यद्यपि तात्कालिक रूपसे धनादिकी समृद्धि होती-सी दिखायी देती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य अनेक नौकर-चाकर, पशु, धनधान्यादिसे सम्पन्न होता-सा और अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करता-सा दिखायी देता है, तथापि कुछ समयके पश्चात् जब किया हुआ अधर्म अपना फल देने लगता है, तब उपर्युक्त सारे ऐश्वर्यके सहित मनुष्यका नाश हो जाता है !'

अधर्म तथा अन्यायसे प्राप्त धन कितने समयतक रहता है—इसकी भी अवधि हमारे त्रिकालज्ञ शास्त्रकारोंने बतलायी है—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥

यह अवधि दस वर्षकी है । ग्यारहवाँ वर्ष लगते ही वह जड़मूलके सहित नष्ट होने लगता है । तात्पर्य यह कि पाप या अधर्मके तात्कालिक तथा आपातरमणीय फलोंके भुलावेमें न पड़कर, उनके भावी दुष्परिणामोंकी ओर ध्यान रखकर उनसे बचनेमें ही बुद्धिमानी है । यही सच्ची दूरदर्शिता है ।

सुखार्थीको सदैव इस बातका विवेक जाग्रत् रखना चाहिये कि पापकर्म आदि, मध्य तथा अन्त तीनों ही कालोंमें दुःखप्रद है । अन्तःकरणमें पापकर्मके संकल्पका उदय होते ही मनुष्य सुखकी नींदसे हाथ धो बैठता है । जिस समय मनुष्य प्रत्यक्षरूपमें पापकर्ममें प्रवृत्त होता है, उस समय उसे छिप-छिपकर उस कर्मके करनेमें कितना भारी कष्ट उठाना पड़ता है । एक असत्यको छिपानेके लिये सैकड़ों असत्योंका आश्रय लेना पड़ता है ! फिर इस कर्मके कर चुकनेपर वह कहीं प्रकट न हो जाय, इस बातकी रात-दिन चिन्ता रखनी पड़ती है । इन उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रयासोंमें हृदयकी शान्ति और सुख कहाँ-के-कहाँ काफूर हो जाते हैं । पापका तो स्वभाव ही है कि वह मनुष्यके हाथसे होते ही अपने जनकको खाने लगता है । अन्ततोगत्वा एक-न-एक दिन किया हुआ पाप प्रकट हो ही जाता है । सत्यका तो यह स्वभाव ही है कि वह छिपाये नहीं छिप सकता, दबाये नहीं दब सकता । एक-न-एक दिन वह सामने आकर ही रहता है । तब फिर मनुष्य सबकी नजरोंमें गिर जाता है और मानवी तथा ईश्वरी उभयविध न्यायालयके दण्ड-विधानानुसार उसे दण्ड भोग करना पड़ता है । यदि मनुष्य इस अनर्थपरम्परासे बचना चाहे तो उसे अपने हृदयमें पाप-संकल्पको उठने ही नहीं देना चाहिये । यदि किसी कारणवश वह उठ भी जाय तो उसके भावी दुष्परिणामोंका चित्र सामने लाकर तुरंत उसकी जड़ काट देनी चाहिये । यदि आप संकल्परूपी पापबीजको विवेकरूपी अग्निमें भून देते हैं तो फिर कभी भी उससे अंकुरादि उत्पन्न नहीं होंगे । इसी आशयसे महाराष्ट्र संत समर्थस्वामी रामदास हृदयस्थ पापसंकल्पको छोड़नेका और सत्य संकल्प धारण करनेका उपदेश देते हैं—

मना पापसंकल्प सोडूनि द्यावा ।
मना सत्यसंकल्प जीवीं धरावा ॥

अर्थात् हे मन ! तू पापसंकल्पको छोड़ दे और सत्यसंकल्पमें जी लगा ।

यह बात सुनिश्चित है कि यदि पापकर्म करते समय मनुष्यके सामने उनके भावी दुष्परिणामोंका जीता-जागता चित्र खड़ा हो जाय तो उसके हाथसे वह कर्म कदापि न हो । प्रायः होता यह है कि मनुष्य तात्कालिक लाभकी ओर दृष्टि गड़ाकर पापकर्म कर बैठता है । किंतु यदि उसके हृदयमें यह विवेक जाग्रत् हो जाय कि पापकर्मसे जितना लाभ होगा, भविष्यमें उससे कई गुना अधिक हानि होगी तो वह कदापि पापकर्ममें प्रवृत्त न होगा । मान लीजिये एक मनुष्य कई दिनोंसे भूखा है । ऐसे मनुष्यके सामने कोई पञ्च-पकवानोंसे भरा हुआ थाल रख दे और उन्हें छूनेसे पहले ही उसका कोई विश्वासपात्र हितैषी उसे इशारा कर दे कि इन पदार्थोंमें जहर मिला हुआ है तो क्या वह भूखा मनुष्य उनका सेवन करेगा ? सेवन करना तो दूर रहा; वह उन्हें छूयेगा भी नहीं और तत्काल वहाँसे भाग खड़ा होगा ।

शास्त्र मनुष्यका सच्चा हितैषी है । वह अज्ञानी मनुष्यको (जो पापकर्मके तात्कालिक फलकी ओर ही देखता है) पापकर्मके घोर भावी दुष्परिणामोंसे परिचित कराकर उससे छुड़ाना चाहता है । यही 'निषेध' शास्त्रका प्रयोजन है । इसी प्रकार मनुष्यको पुण्यकर्म प्रारम्भमें कष्टप्रद मालूम होते हैं; क्योंकि इन्हें करते समय मनको मारना पड़ता है । किंतु शास्त्र इन कर्मोंके भावी सुमधुर फलोंसे परिचित कराकर मनुष्यकी इनमें प्रवृत्ति कराता है । शास्त्रके 'विधि' वचनोंका यही कार्य है । यदि मनुष्यको भावी सुखका पूर्ण ज्ञान हो जाय तो वह तात्कालिक कष्टकी उपेक्षा ही करता है । परीक्षार्थी विद्यार्थी अपने भावी हितके लिये अध्ययनमें कितना परिश्रम करता है, यह सबको विदित ही है ।

त्रिविध सुखका रहस्य भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें भलीभाँति समझाया है—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(१८ । ३६–३९)

'हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन) ! अब तुम मुझसे सुखके तीन प्रकारोंका स्वरूप सुनो—जिस सुखमें साधक भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है । जो सुख पहले साधनाभ्यासके समय विषके समान अप्रिय मालूम होता है; किंतु परिणाममें अमृतके तुल्य प्रिय और हितावह होता है, इस प्रकारका भगवत्-विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुख सात्त्विक सुख कहलाता है ।

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है और जो पहले भोगकालमें अमृतके समान प्रिय लगता है, किंतु जो परिणाममें विषके समान कटु फलदायक होता है—ऐसा सुख राजस कहा गया है ।

'जो सुख पहले और पीछे भी, भोगकालमें और परिणाममें भी आत्मामें मोह उत्पन्न करता है, ऐसा निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ।'

श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये स्पष्ट शब्दोंमें सब बातोंका स्पष्टीकरण कर दिया है । अतएव प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह भगवद्वचनमें श्रद्धा रखकर उसके अनुसार आचरण करे तथा अपना शाश्वत कल्याण करके नरदेहको सफल बना ले ।

मनुष्य जिन विषयसुखोंको ग्राह्य समझकर घोर पापकर्म करता है उनका स्वरूप क्या है ? कठश्रुति बालक नचिकेताके मुँहसे इसका उत्तर देती है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
…………………… ॥

अत्यन्त विनश्वर इनका स्वरूप है । ये आज दिखायी हैं, किंतु कल रहेंगे या नहीं इसमें भी संदेह है । इसके विषयसेवन मनुष्यकी सब इन्द्रियोंका तेज हरण कर लेता फिर सबका जीवनकाल भी अल्प ही है । इन्हीं का विवेकी पुरुषोंने सब प्रकारके कर्मफलोंको दुःखरूप ही बत है—'**दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**' (पातञ्जलयोगसूत्र २-१५ श्रुति भी मुक्तकण्ठसे कहती है—'अतोऽन्यदार्त्तम्' (उ० ३ । ४ । २) यानी एक परब्रह्म या आत्मस्व छोड़कर और सब विनाशसे ग्रस्त हैं । ऐसी स्थितिमें मनु चाहिये कि गीता-रामायणादि-सरीखे ग्रन्थोंसे पाप-पुण्या स्वरूप समझकर तथा अपने कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति प्राप्त करके, अन्तःकरणकी मलिन वासनाओं तथा पापवृ को दूर करे और धर्ममार्गका ही आचरण करे, जिससे इ कल्याण हो । भगवन्नामरूपी रसायन भवरोगपर अव्यर्थ ओ है । किंतु इसका सेवन करते समय परद्रव्य, परदारा, निन्दा, असत्याचरण, परपीड़ा आदिके सदृश पापरूपी कु से बचना परम आवश्यक है । तभी इसका अभीष्ट फल हो सकता है । अब हम निम्न बोधवचनोंद्वारा इस विवे का उपसंहार करें—

नश्वरं सुखमनादरणीयं स्वान्तरं सुविमलं करणीयम्
रामनाम सततं जपनीयं तेन संसृतिजलं तरणीयम्
सर्वथा स्वहितमाचरणीयम्

पाप त्यागकर सदाचरण करो

इह-पर दोनों लोकमें जो चाहो कल्यान ।
पाप-कर्मसे विमुख हो भजो सदा भगवान ॥
काम-क्रोध-मद-लोभ, भय, कटु भाषण, अभिमान ।
पर-दारा, पर-द्रव्य, पर-पीड़ा, पर-अपमान ॥
तज इन सबको सर्वथा, कर सबका सम्मान ।
करो नित्य सत्-आचरण सेवो साधु सुजान ॥

महाराजा जनकके चरित्रका एक पक्ष

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्०ए०, डी० लिट्०)

महाराजा जनक सामान्य राजा नहीं थे । ज्ञान और वैराग्यमें जैसे वे विलक्षण थे, वैसे ही वे राजकार्यमें कुशल थे । श्रीसीताजीने सुमन्त्रसे कहा—

पितु बैभव बिलास मैं डीठा । नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा ॥

राजा जनकके पाँव रखनेकी चौकीसे राजाओंके मणि-मुकुट स्पर्श करते रहते थे । एक उच्च अधिकारका प्राप्त करना कठिन है, परंतु इससे कहीं अधिक कठिन इस उच्चाधिकारका निर्वाह करना है । जनक एक वैभवसम्पन्न महीपति थे और उन्होंने अपने स्थानकी रक्षा अपूर्व योग्यतासे की । नरपाल होते हुए ही वे राजा, जनता और ऋषि-मुनियोंके सम्मानपात्र बने रहे । यह उनके शासन-कौशल और उच्च व्यक्तित्वका प्रमाण है । सीता-स्वयंवरमें आये हुए सहस्रों पराक्रमी राजा एकके बाद एक हारकर बैठते जा रहे थे । त्रिपुरारिके धनुषने सबका पराक्रम विफल कर दिया ।

'दीप दीपके भूपति नाना'

एक-एक करके, हार मानकर, सिर झुकाकर बैठ गये । ऐसा कोई नहीं रहा जो—

कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय ।

—की लालसासे धनुष तोड़नेके लिये उठनेका साहस करता । जनक यह लीला देख रहे थे । जिनको अपने बल और पौरुषका गर्व था, उनके गर्वको विदेह-राजाने चूर होते देखा । मैथिल-नरेशने अभिमानका सिर झुकते देखा, उनकी हार देखी जो अपनेको विजय-वीर समझते थे और उनके स्वप्न टूटते देखे जिन्होंने अपने अरमानोंसे मधुर-स्वप्न-जगत् बनाया था । तब जनकको एक बात याद आयी । उनको यह खटका कि जो राजकुमार मुनि विश्वामित्रके साथ आये थे वे क्यों नहीं उठे ? 'सोभासिंधु खरारी' श्रीरघुनाथजीको देखकर जनकपुरकी युवतियोंको यह लगा कि—

'जोगु जानकिहि यह बरु अहई'

और रंग-भूमिमें नर-नारियोंकी एक यही लालसा थी—

एहिं लालसाँ मगन सब लोगू । बरु साँवरो जानकी जोगू ॥

जो बात सहस्रों नर-नारियोंके हृदयमें उठी, वही राजा जनकके हृदयमें उठी । राजा जनकको अपनी वह दशा याद थी, जब वे श्रीरघुनाथजीकी सुन्दरतासे विदेह हो गये थे ।

मूरति मधुर मनोहर देखी । भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥

यहाँ 'मूरति' एकवचन है और यह शब्द श्रीरघुनाथजीके ही लिये प्रयोग हुआ है । कविवर तुलसीदास-जीकी शैली है कि वे एक बार तो श्रीरघुनाथजीका सबके साथ वर्णन कर देते हैं और बादमें उनका विशेष प्रकारसे अलग वर्णन करते हैं । जैसे बाल-लीलाका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

'चारिउ सील रूप गुन धामा'

यहाँ 'चारिउ' में सामूहिक रूपसे श्रीरघुनाथजी आ गये, परंतु फिर यह कहकर कि—

'तदपि अधिक सुखसागर रामा'

कविवर तुलसीदासजी श्रीरघुनाथजीको एक वर्गविशेषमें कर देते हैं । इसी प्रकार—

जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई । थकित होहिं सब लोग लुगाई ॥

यहाँ 'सब भाई' में श्रीरघुनाथजीसहित चारों भाई आ गये और उनके माधुर्यका नर-नारियोंपर जो प्रभाव पड़ा, वह कविवरने वर्णन कर दिया—'थकित होहिं ।' परंतु इतनेसे भक्तवर तुलसीदासजीको संतोष नहीं हुआ ।

उन्होंने कहा—

कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल ।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल ॥

इस प्रकार एक बार सब भाइयोंके साथ श्रीरघुनाथजीका वर्णन करके कविवरने उनका फिरसे अलगसे गुण वर्णन किया । आगे चलकर अयोध्यामें मुनिवर विश्वामित्रके प्रति राजा दशरथका वचन है—

'सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं'

परंतु—

'राम देत नहिं बनइ गोसाईं'

क्योंकि वे विशेष प्रिय हैं ।

इसी प्रकार—

भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥

दोनों भाइयोंको देखकर प्रेम-आनन्दसे सब पुलकित हो गये और भावकी प्रीतिसे उनके आँसू आ गये; परंतु श्रीरघुनाथजीकी अनुपम मधुर मूर्ति देखकर तो वैराग्य-विभूति विदेह विशेष प्रकारसे अपनेको भूल गये—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेखी॥

जिन श्रीरघुनाथजीको देखकर खर और दूषणने कहा कि—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥

और जिनकी रूप-माधुरी देखकर राक्षस-हृदय रजनीचरके भी हाथ न चले—

'प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी'

उन शोभाधाम खरारि श्रीरघुनाथजीकी अनन्त छवि देखकर राजा जनकको 'अलौकिक सोभा'वाली अपनी 'कुँअरि मनोहर' याद आ गयी; क्योंकि श्रीरघुनाथजीको देखकर राजा जनकके हृदयपर भी वही प्रतिक्रिया हुई जो सहस्रों नर-नारियोंके हृदयोंपर हुई थी कि—

'बरु साँवरो जानकी जोगू'

और इसीलिये अपने संतोषके लिये राजाने ऋषिवरसे यह प्रश्न किया—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥

पूछा तो 'दोउ बालक' के लिये, लेकिन अभिप्राय विशेषकर एकहीसे था; क्योंकि जनकपुरके नरपालको भी यही लगा कि—

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहिं स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥

लेकिन राजा बुद्धिमान् थे, नीतिनिपुण थे, इसलिये शिष्टाचारके नाते दोनों भाइयोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया, केवल एकका ही नहीं पूछा।

इस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमिके संदर्भमें जनकको यह खटका कि जिन श्रीरघुनाथजीको देखकर—

सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

वे 'दसरथ के जाए' धनुष तोड़ने क्यों नहीं उठे? परम चतुर शासक राजा जनकने विचार किया कि कुछ ऐसी बात कहनी चाहिये जिसके कारण यदि उन्हें कोई संकोच हो तो उसे त्यागकर वे धनुषभङ्गके लिये अनुप्राणित हो जायँ।

शोभासिन्धु श्रीरघुनाथजीको देखकर राजा जनकके मनमें वैसे विचार नहीं उठे, जैसे रानी सुनयनाके मनमें उठे थे—

रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥
सो धनु राजकुँअर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं॥

ऐसे विचार राजा जनकके मनमें नहीं उठे। इसका कारण यह था कि मुनिवर विश्वामित्रका अतुल प्रभाव राजा जानते थे। यह वे ही विश्वामित्र थे जिन्होंने तपबलसे ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त किया था, जिनकी उग्र तपस्याके कारण उनमें ऐसी अद्भुत शक्ति आ गयी थी कि जब त्रिशंकुको इन्द्रने मुनि विश्वामित्रकी इच्छाके विपरीत स्वर्गसे निकालकर पृथ्वीकी ओर गिरा दिया तब उन्होंने त्रिशंकुको बीचमें ही गिरनेसे रोक दिया और इन्द्रके व्यवहारसे कुपित होकर मुनिवरने दक्षिणमें दूसरे सप्त ऋषिमण्डल और नक्षत्रमालाओंकी सृष्टि आरम्भ कर दी और नये देवतागण भी बनाने आरम्भ कर दिये। ऐसे परम तपस्वी, परम शक्तिमान् ऋषिवर विश्वामित्रके परमप्रिय अनुगामी श्रीरघुनाथजी थे, यह राजा जनक देख चुके थे।

उठे सकल जब रघुपति आए। बिस्वामित्रु निकट बैठाए।

मुनिवर विश्वामित्रका श्रीरघुनाथजीको निकट बैठाना और ऋषिका राजासे सप्रेम और सगर्व यह कहना कि—

रामु लखनु दोउ बंधुबर रूप सील बल धाम।

और बलधाम होनेका यह प्रमाण कि—

मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम॥

इन सब बातोंसे राजा जनकको विश्वास हो गया था कि ये राजकुमार अद्वितीय हैं, अनुपम हैं, अलौकिक हैं। जो स्वयं बलधाम हों, जिनकी अद्भुत और अभूतपूर्व कीर्तिका जगत् साक्षी बन गया हो, जिनके ऊपर परम प्रतापी ब्रह्मर्षि विश्वामित्र जैसे तपस्वीका वरद हस्त हो, ऐसे रघुकुलमणि श्रीरघुनाथजीसे ही यह आशा की जा सकती थी कि जो औरोंके लिये असम्भव थे, उन कार्योंको वे सम्भव करके दिखला देंगे। जब इनके कुछ कार्योंकी प्रशंसा जनकपुर पहुँच चुकी थी। अहल्योद्धारकी बात जब जानकीजीको मालूम थी तो क्या राजा जनक उससे अनभिज्ञ रहे होंगे?

इसलिये राजा जनकको यह बात खटकी कि 'रूप सील बलधाम' वाली 'मूरति मधुर मनोहर' अबतक छिपी क्यों बैठी है, अपना अलौकिक पराक्रम वह क्यों नहीं दिखाती ? क्योंकि सत्य तो यही लगता था कि—

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहिं स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥

'विचारी' शब्द ध्यान देने योग्य है।

अतएव राजा जनक बोले। कविवर तुलसीदासजीने विदेहके सम्बन्धमें यह नहीं कहा कि 'बोले बचन रोष महुँ साने' बल्कि 'महुँ'के स्थानपर 'जनु'का प्रयोग किया।

नृपन्ह बिलोकि जनकु अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥

शासक-प्रवीण राजा जनकने क्रोधका नाटक किया और ऐसे वचन कहे मानो वे क्रोधमें सने हों। राजाने कहा—

दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पन ठाना॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥
कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय॥

राजा जनक कहते हैं कि 'आए' अपनी इच्छासे और कामना-पूर्तिके लिये आये, कुँअरि और कीर्ति पानेके लोभसे आये, हमने बुलाया नहीं, हमारा प्रण सुनकर आये। देवता स्वर्गलोकसे आये, राक्षस पाताललोकसे आये, पृथ्वीके द्वीप-द्वीपके भूपति आये, जो रणधीर थे, विपुल वीर थे, वे आये, तीनों लोकोंके विपुल वीरों और पराक्रमधारियोंको परीक्षार्थ 'कीरति अति कमनीय'ने जनकपुर आकर्षित कर लिया।

'अति'का अर्थ 'बहुत अधिक' नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजीने 'अति'की व्याख्या इस प्रकार की है—

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीन दयाला॥

अतः 'अति' का अर्थ है इतनी अधिक कि जो सीमा पार कर चुकी हो, जिसके वर्णनमें शब्द अपर्याप्त हों। अतएव 'अति कमनीय'का अर्थ है 'अकथ कमनीय', जिस असीम कमनीय कीर्तिने सबको यहाँ एकत्रित किया। परंतु—

पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय।

परम चतुर राजा जनकके 'जनु' शब्दने इसके लिये जगह छोड़ रक्खी जो अभीतक नहीं उठा और हो सकता है धनुषभङ्गके लिये वह अब उठे।

राजा जनकने कड़वी बात कही। यदि सब लोग राजाके निमन्त्रणपर बुलाये हुए होते तो राजा ऐसी कड़वी बात न कहते; क्योंकि ऐसा करना आमन्त्रितका तिरस्कार होता। परंतु राजाने लोगोंको बुलाया नहीं था। वे तो आये थे—राजाका प्रण सुनकर। अपनी इच्छासे आये थे।

राजाने कड़वी बात कही, पर इसका कुछ फल नहीं मिला। स्थिति वैसी ही रही। श्रीरघुनाथजी जहाँ बैठे थे, वहीं बैठे रहे!

तब राजा जनकने अधिक चुभनेवाली बात कही। उन्होंने सोचा कि यह तो सीधी हृदयमें चुभ जायगी और कुछ काम कर दिखायेगी। प्रत्येक महीपको सम्बोधित करके वे बोले—

कहहु काहि यह लाभु न भावा। काहुँ न संकर चाप चढ़ावा॥

'लाभु' की बात बड़ी मार्मिक है।

'रंगभूमि जब सिय पगु धारी'

उस समय कविको ऐसा लगा कि—

'देखि रूप मोहे नर नारी।'

और जो सबकी चेष्टाएँ देखकर उनके भावोंको समझनेमें तत्पर थे, उन शासक-प्रवीण राजा जनकको भी ऐसा ही प्रतीत हुआ कि जानकीका रूप देखकर—

'मोहे नर नारी'

तब क्या वे न मोह गये होंगे जो 'जानकी जोगू' थे, जिन श्रीरघुनाथजीकी कौमार अवस्था जानकीजीके रूपसे मोहित हो जानेमें पूर्ण सहायता दे रही थी ? इसलिये व्यंगसे यहाँ 'लाभु' का प्रयोग राजाने किया।

परंतु फिर भी कुछ असर न हुआ। अयोध्याके राजकुमार रघुवंशमणि जहाँ जैसे बैठे थे वैसे ही बैठे रहे।

तब राजा जनकने और भी तीव्र और कटु बात कही—कुछ धिक्कारते हुए कही—

रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥

लेकिन इसका भी कुछ असर न हुआ, स्थिति बदली नहीं। श्रीरघुनाथजी जैसे बैठे थे वैसे ही बैठे रहे। राजा जनकने सोचा कि मेरे ये वचन-बाण विफल क्यों हो रहे हैं? तब उन्हें एक बात याद आयी और उन्होंने सोचा कि मुझसे भूल

हो गयी; क्योंकि श्रीरघुनाथजीके साथ वह बात तो लागू होती नहीं थी, जो औरोंके साथ थी कि वे—

आए सुनि हम जो पन ठाना।

उनको तो रंगभूमिमें स्वयं राजा जनकने बुलाया था—

सतानंद तब जनक बोलाए। कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाए॥
जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई। हरषे बोलि लिए दोउ भाई॥
सतानंद पद बंदि प्रभु बैठे गुरु पहिं जाइ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक बोलाइ॥

अतएव अबतक जो कुछ राजा जनकने कहा वह 'दसरथके जाए' से सम्बन्ध नहीं रखता था। तब मनोविज्ञान-प्रवीण राजाने जो शासन-कला और नीतिमें निपुण थे, ऐसी बात कही जो किसी भी वीर क्षत्रिय-कुमारके हृदयमें चुभ जाती; जिसकी नाक पिनाकने अबतक नहीं काट ली थी। 'चक्रवर्त्ति दसरथ के जाए' के हृदयमें तो सीधी लगनेवाली थी। राजा जनकने कहा—

अब जनि कोउ माखै भटमानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥

'मैं जानी' अर्थात् यह कही-सुनी बात नहीं है। यह बात दृढ़ है, निश्चित है। जैसे शंकर भगवान्‌का वचन है—

हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

यहाँ 'मैं जाना' का अर्थ है कि यह मेरा निजका अनुभव है जिसपर मेरा दृढ़ विश्वास है। इसी प्रकार राजा जनक कहते हैं कि—

बीर बिहीन मही मैं जानी।

राजा कहते हैं कि वीरविहीन मही है—यह मैंने प्रत्यक्ष देख लिया, यह मेरा सत्य अनुभव हो चुका है और इस अनुभवपर निर्धारित अपने अन्तिम निर्णयको भी राजाने सुना दिया—

तजहु आस निज निज गृह जाहू।

फिर अपने शब्दोंके प्रभावको कटुतर और अधिक तीव्र करनेके लिये उन्होंने एक मनोवैज्ञानिक चाल चली। उन्होंने उस 'कुँअरि मनोहर'की दीन दशा दिखलायी जिसका रूप देखकर सब नर-नारी मोह गये थे। शासक-प्रवीण राजा जनक बोले—

लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू।

ठीक है, जब विधिने वैदेहि-विवाह लिखा ही नहीं, कोई क्या कर सकता है—

जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार।

राजा जनकने अपनी विवशता दिखाकर इस दुष्परिणाम अपने उत्तरदायित्वको इस प्रकार मुक्त कर दिया कि—

सुकृतु जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुआरि रहउ का करऊँ।

और इस प्रकार जग-मोहिनी 'अलौकिक शोभा' वा 'कुँअरि मनोहर'की दीन-हीन दशाको सहानुभूतिप्रद बनाया। ऐसा करुण वातावरण निर्माण करके लोकनीतिनिपु शासनकला-प्रवीण राजा जनकने क्षत्रियत्वको यों अनि चुनौती दी—

जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई।

राजा जनकके वचनोंने अपना कार्य पूरा किया। एक उन्होंने कहा—

बीर बिहीन मही मैं जानी।

और फिर वही बात दोहरायी—

बिनु भट भुबि भाई।

यह लखनलालके लिये असह्य हो गया। खुवं राजकुमारका क्षत्रियत्व जाग उठा। उन्होंने राजा जनक चुनौतीका चुनौतीसे उत्तर दिया। उधर जानकीजीके प्र पूर्णरूपसे एक-एकको गूढ़ सहानुभूति हो ही गयी थी; क्योंकि—

जनक बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भए दुखा

इसके बाद जो हुआ वह जगविदित है।

इस प्रकार राजा जनकने अपनी वाक्चातुरीसे—

सब मंचन्ह तें मंचु एक सुंदर बिसद बिसाल।

—पर अपने और जानकीजीके प्रति गहरी सहानु उत्पन्न करके रघुवंशी रामानुज लखनलालके क्षत्रियत्वको बार चुनौतीसे जगाकर ऐसी स्थिति निर्माण कर दी श्रीरघुनाथजीको धनुषभङ्गके लिये उठना पड़ा।

इस प्रसङ्गमें राजा जनककी लोक-व्यवहार-नीति एक उत्कृष्ट शासकोचित मनोवैज्ञानिक निपुणता स्पष्ट है।

1 8 JUN 1963

मानसकारका दार्शनिक दृष्टिकोण

(लेखक—श्रीप्राणनाथजी पंकज, एम्० ए०,)

कविके लिये कविता भावाभिव्यक्ति मात्र नहीं होती; उसमें उसके समस्त जीवनकी आस्थाओंकी, उसकी तलस्पर्शिनी अन्तःप्रज्ञाकी चरम परिणिति निहित रहती है। दृष्टिकोणको अभिव्यक्त करनेका माध्यम कुछ भी हो, पर एक व्यापक दार्शनिक आधार-बिन्दु कविके लिये अत्यन्त अनिवार्य है, जिसे केन्द्र बनाकर वह अपनी कला और कल्पनाका सृजन तथा विकास करता है। इस जीवन-दर्शनके अभावमें कविता और कला निष्प्राण रहती है और कदाचित् कहीं अपनी बाह्य-सज्जाके बलपर वह कुछ काल जनमानसमें अपना स्थान बना भी ले, तो भी चिरस्थायिनी तो वह कदापि नहीं हो सकती। इस प्रकार जीवन-दर्शनकी व्यापक और सुनिश्चित परिकल्पना किसी भी अमर-काव्यके लिये अनिवार्य है।

कवि परिस्थितियोंसे निर्मित भी होता है और उनका निर्माण भी करता है। गोस्वामी तुलसीदासजीके साहित्य-क्षेत्रमें आविर्भावके समय वातावरणमें कुछ अजीब घुटन-सी थी। अकबरके राजनीतिक प्रयत्नोंके कारण दो संस्कृतियोंमें एक कृत्रिम-सा मिलन हो रहा था और शाहजहाँ—गोस्वामीजीके समकालीन मुगल-सम्राट्के अपेक्षाकृत कड़े व्यवहारके बावजूद भी राजपूत मुगल राज्यको सहयोग दे रहे थे। कृत्रिम मिलनके वातावरणमें जो उलझन और उमस होती है, वह इधर सामाजिक और धार्मिक जीवनमें लक्षित हो रही थी। असंख्यों मनुष्योंके लिये एक सुनिश्चित दिशा मरीचिकामें जलकी आशाके समान बनकर रह गयी थी। भारतकी परम्परागत दार्शनिक विचार-धाराओंके प्रभावसे धार्मिक जीवनमें विस्फोट हो रहे थे। एक आचार्य शंकरकी प्रखर प्रतिभासे प्रभूत अद्वैतवादी दृष्टिकोण था, जो अनजान हाथोंमें पड़ जानेके कारण देहाभिमानका कारण और मनमाने कर्मोंको करते रहनेका बहाना बन गया था। दूसरी, पौराणिक आस्थाओंपर निर्मित रसिक-दृष्टि थी, जिसका रहस्यमय मधुर लक्ष्य धीरे-धीरे छिपता जा रहा था और जिसके स्वच्छन्द प्रयोगसे उच्छृङ्खलताको प्रोत्साहन मिल रहा था। धार्मिक विद्वेषोंकी भी कमी नहीं थी जो कि विभिन्न सम्प्रदायोंमें वास्तविक तत्त्वकी समानताको भूलकर अपने-अपने सिद्धान्तोंको श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी प्रवृत्तिसे उत्पन्न हो रहे थे।

हमारी यह सारी-की-सारी आर्ष दार्शनिक पद्धति इस प्रकार उलझकर अस्पष्ट हो रही थी और जन-समुदायको एक निश्चित दिशा दे नहीं पा रही थी। आवश्यकता एक ऐसे समर्थ और सबल आचार्यकी थी जो इस सारी दार्शनिक-परम्पराको अपने व्यापक दृष्टिकोणमें समेटकर उसका समन्वय कर उसे पूर्णरूपसे विश्वमें प्रस्तुत कर पाता—धार्मिक जीवनको; जो कि दार्शनिक आस्थाओंपर आधारित होता है, एक सुनिश्चित दिशा देता; ऊपरी विरोधोंके नीचे मौलिक प्रतिपाद्य-तत्त्वकी एकरूपताका दिग्दर्शन करा पाता और भारतकी अध्यात्ममूलक संस्कृतिका महान् प्रतिपादक बनकर जनसाधारणका नेतृत्व कर सकता।

तुलसीके आविर्भावको भगवत्कृपाका एक बहुत बड़ा प्रतीक कहना मुझे सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उनके रूपमें हमें एक ऐसा आचार्य मिला, जिसके पास न केवल प्रौढ़ मस्तिष्क था, अपितु एक अत्यन्त भाव-प्रवण हृदय और रस-सिक्त लेखनी भी थी। इस प्रकार वे बुद्धि और हृदयका कुछ ऐसा समन्वय कर पानेमें सफल हुए जो मानवताके लिये दिशा-निर्देशक सिद्ध हुआ। यों हम देखते हैं कि उनकी रसनिष्यन्दिनी जन-भारती देशके प्रत्येक वर्गके हृदयमें स्थान बना पानेमें सफल हुई और भारतको अपने गहन दार्शनिक तत्त्वोंका सरल, स्पष्ट और वास्तविक स्वरूप दिखायी दिया।

स्पष्ट है कि मानसका दर्शन समन्वयमूलक दर्शन है। विश्वके स्वरूपका जहाँतक सम्बन्ध है, गोस्वामीजी आचार्य शंकरके पूर्ण समर्थक हैं। इस संसारकी कल्पना इसके अधिष्ठान ब्रह्ममें ही होती है। अतः संसार ब्रह्मके ही आश्रित है—

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।

इस पङ्क्तिका तात्पर्य सीधा श्रुतिकी निम्न पङ्क्तियोंका स्पष्टीकरण है—

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति··· तद्ब्रह्म ।’

(तैत्तिरीयोपनिषद् ३ । १)

आचार्य शंकर 'जन्माद्यधिकरण' (वेदान्तसूत्र) में इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'अस्यजगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः—तद्ब्रह्म ।'

परंतु यह सारा संसार, आचार्य शंकरके मतानुसार ब्रह्ममें भ्रान्तिके कारण कल्पित है । अन्धकार और प्रकाशकी भाँति विरोधी स्वभावके होनेके बावजूद भी एककी कल्पना दूसरेमें—संसारकी ब्रह्ममें—हम नैसर्गिक रूपमें कर बैठते हैं—

'···अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य···'

यह 'अतस्मिन् तद्बुद्धि' है । इसीको आचार्य शंकर अध्यासका नाम देते हैं । विवेकचूडामणिमें आचार्य कहते हैं—

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तद्विवेके तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम् ।
भ्रान्तेर्नाशे भाति द्रष्टा हि सत्त्वं रज्जुस्तद्वद्विश्वमात्मस्वरूपम् ॥

संसारके सम्बन्धमें गोस्वामीजीकी पूर्णरूपसे यही मान्यता है—और जिस प्रकार ज्ञानको ही भ्रान्तिके नाशका उपाय आचार्य मानते हैं, उसी प्रकार गोस्वामीजी भी उसे स्वीकार करते हैं—

झूठेहु सत्य जाहि बिनु जानें । जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें ॥
जेहिं जाने जग जाइ हेराई । जागे जथा स्वप्न भ्रम जाई ॥

परंतु वे इस ज्ञानको श्रमसाध्य नहीं मानते । भगवत्कृपा ही इसमें एकमात्र कारण है, अतः वे भगवत्कृपाको प्राथमिकता देते हैं—

सो जानइ जेहि देहु जनाई ।

और—

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई ।

अब चूँकि भगवत्कृपा भक्तिसे अथवा अनन्यशरणागतिसे प्राप्य है; अतः गोस्वामीजीके निकट शरणागति अथवा भक्ति परम साधन है, ज्ञान उसके आधीन है—

सो सुतंत्र अवलंबु न आना । तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥

इस प्रकार गोस्वामीजी दार्शनिक दृष्टिसे यह तो मानते हैं कि संसारका मिथ्यात्व ब्रह्मको जान लेनेसे स्पष्ट हो जाता है और ऐसा होनेसे जीव और ब्रह्मका अभेद सिद्ध हो जाता है—

'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ।'

परंतु चूँकि इस जाननेमें भगवत्कृपा और भगवत्कृपामें भक्ति कारण है; अतः भक्ति ही गोस्वामीजीका अभीष्ट साधन है । इस भक्तिकी भावनाके परिणाममें गोस्वामीजीमें दैन्य, सेवक-भाव और शरणागतिके विचारोंका विकास होता है । यह भावना इतनी प्रबल और मार्मिक है कि बौद्धिक-पक्ष इसके सामने हेय प्रतीत होने लगता है । यहाँ कवि वैष्णव-आचार्योंके सिद्धान्तोंकी अभिव्यञ्जना करता है । कहीं-कहीं तो बरबस यामुनाचार्यके आलवन्दार-स्तोत्रका स्मरण होने लगता है । श्रीमद्भागवतके अन्तर्गत गजेन्द्र-स्तुति, वृत्रस्तुति और ब्रह्मस्तुति मानसके पृष्ठोंसे लोकभाषामें छलकने लगती हैं । भक्ति और प्रपत्तिकी इस व्यापक भावनाके कारण मानसका दार्शनिक पक्ष पीछे पहुँच जाता है और गोस्वामीजी वैष्णव सिद्धान्तोंके व्याख्याता प्रतीत होने लगते हैं; परंतु यहाँ भी तुलसीकी समन्वयमूलक भावना दृष्टिगोचर होती है—उन्होंने ज्ञान और भक्ति—दो विरोधी प्रतीत होनेवाले सिद्धान्तोंको मौलिक रूपमें एक-दूसरेके पूरक बनाकर प्रस्तुत किया है ।

संसारका निर्माण मायाकी अनिर्वचनीय शक्तिसे होता है । यही मायाशक्ति ब्रह्मके संकेतपर सृष्टिका निर्माण, रक्षण और संहार करनेमें प्रवृत्त होती है—

लव निमेष महुँ भुवन निकाया । रचइ जासु अनुसासन माया ॥

तथा—

भृकुटि बिलास जासु जग होई । राम बाम दिसि सीता सोई ॥

यहाँ यह मत वैष्णव-दर्शनके सर्वथा अनुकूल बैठता है । परंतु कवि इसे भी अद्वैतकी ही ओर प्रेरित करता है—एक दृष्टिकोण तो तन्त्रशास्त्रके अनुसार 'शिवाभिन्ना शिवंकरी' का प्रतिपादक है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बंदउँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

परंतु निष्कर्षरूपेण तो मायाकी वास्तविक सत्ता ही कहाँ है ? वह तो जड है, मिथ्या है—

जासु सत्यता ते जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ।

मोहकी—भ्रमकी सहायताके कारण यह माया और इससे निर्मित यह सारा विश्वप्रपञ्च सत्य प्रतीत होते हैं।

संसार और मायाके मिथ्यात्वकी बातके साथ ही हम सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्मतक पहुँचते हैं। इसी अधिष्ठानमें मायाकी कल्पना है और इसीमें संसारकी। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। भगवान् बादरायण कहते हैं—**आनन्दमयोऽभ्यासात्** (ब्र० सू० १।१२)। बृहदारण्यकके शब्दोंमें **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** (३।९।२८)। अन्यत्र भी श्रुति ब्रह्मको आनन्दमय कहती है—

'सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति'। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्' इत्यादि।

शब्द आनन्दमयमें यह मयट् प्रत्यय विकारार्थमें न होकर प्राचुर्यार्थमें है, इस आशयके शारीरकसूत्र (प्रथम पाद, सूत्र १३) की व्याख्यामें आचार्य शंकर कहते हैं—

'आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा। ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्।'

गोस्वामीजीने भी स्थान-स्थानपर ब्रह्मके आनन्दमयत्वका प्रतिपादन किया है—

जो आनंदसिंधु सुख रासी।
जय सच्चिदानंद जग पावन।
चिदानंदमय देह तुम्हारी। —इत्यादि।

परंतु एक भेद स्पष्टरूपसे हम आचार्य शंकर और गोस्वामीजीके ब्रह्ममें देखते हैं। भगवान् राम गोस्वामीजीकी दृष्टिमें वेदान्तके परम प्रतिपाद्य निरुपाधि ब्रह्म हैं। आचार्य शंकरके बताये हुए ब्रह्म और ईश्वर दोनों रूपोंका मधुर समन्वय हमें तुलसीके दर्शनमें दिखायी देता है—

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा स्वप्न भ्रम जाई॥
बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥

और—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥

पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ॥

यही परब्रह्म राम सारे विश्वमें व्याप्त हैं—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** की भावनाका विकास तुलसीके दर्शनमें यों हुआ है—

सीय राम मय सब जग जानी।

और—

निय प्रभुमय देखहिं जगत……॥

इसी ब्रह्मका सनातनस्वरूप इस संसारको प्रकाशित कर रहा है—'जगत् प्रकास्य प्रकासक रामू……' और भगवत्कृपासे बोध होनेपर और कुछ भी शेष नहीं रह जाता, केवल निरुपाधि ब्रह्म रामके अतिरिक्त।

गोस्वामीजी रामके इस रूपका चित्रण करते थकते नहीं हैं और उपनिषद्के **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** के अनुसार 'मन समेत जेहि जान न बानी'—ऐसा कहते हुए भी इस सत्यको स्थापित करनेमें निरन्तर प्रयत्नशील हैं। सामाजिक मूल्योंके लिये जहाँ गोस्वामीजीको यह आवश्यक था कि वे भगवान् रामको एक आदर्श मर्यादापालक लोकनायकके रूपमें प्रस्तुत करते, वहाँ धर्मको सही और सुनिश्चित दिशा देनेके लिये यह भी जरूरी था कि वे भगवान् रामकी वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मके साथ अभिन्नता स्थापित करते; क्योंकि शुष्क ब्रह्मज्ञान—जिसकी गोस्वामीजीने कड़े शब्दोंमें भर्त्सना की है—मनुष्यको अधकचरी और अपरिपक्व स्थितिमें छोड़ देता है। गोस्वामीजीने मनुष्यकी सुनिश्चित 'ब्राह्मी स्थिति'के लिये प्रयत्न किया और उसे वह दिशा दी; पर, केवल मनुष्यको कुछ कह देना आवश्यक था, इसलिये उन्होंने ऐसा किया—यह कहना तो 'स्वान्तःसुखाय'के कविका गलत मूल्याङ्कन करना होगा। उन्होंने अपने अन्तःसंचित जीवन-दर्शनको हमारे समक्ष ईमानदारीसे प्रस्तुत किया, इसीमें उनके काव्यका अमरत्व निहित है—यही उनकी मानसका जन-जनके मानसमें एक दिव्य संदेशके रूपमें बस जानेका रहस्य है!

समन्वयके इस दार्शनिक महाकविको हमारे शत-शत प्रणाम!

◆

शक्तिकी उपासनाके दार्शनिक रहस्य

(लेखक—आचार्य पं० श्रीसूर्यमणिजी शास्त्री)

शक्तिमान् और शक्तिमें वस्तुतः अभेद है। शक्तिमान् और शक्तिकी पृथक्-पृथक् सत्ता जबतक परोक्षानुभूति अथवा अपरोक्षानुभूतिद्वारा प्रत्यक्ष की जाती है, तबतक यह मानना ही पड़ेगा कि शक्तिमान्से शक्तिका प्राधान्य है। एक गायक, जिसमें अलौकिक गायनशक्तिका विकास है, उसकी अपेक्षा उसकी गायन-शक्तिका आदर, उपयोग और महत्त्व अधिक पाया जायगा। वह गायक यदि अपनी गानशक्तिका प्रयोग करे, तो उसका दर्शन न करके भी उसकी मधुर शब्दमयी सृष्टिके विलासमें जगत् मुग्ध होता है; परंतु वह जब अपनी शक्तिको अपनेमें अव्यक्त रखता है, उस समय उसके स्वरूपको देखकर कोई भी मुग्ध नहीं हो सकता। इसी कारण शक्ति-उपासनाका विस्तार, शक्ति-उपासनाका उपयोग और शक्ति-उपासनाका महत्त्व पुराण, तन्त्र आदि शास्त्रोंमें अधिक पाया जाता है।

वस्तुतः उपासना सगुण ब्रह्मकी होती है। जबतक द्वैत-भान है, तभीतक उपासनाका सम्बन्ध रह सकता है। द्वैत-भान तभीतक रह सकता है, जबतक सगुणत्व है।

इसी कारण वेद-सम्मत सभी शास्त्रोंमें सगुण उपासनाका ही अधिक विस्तार है। सगुण उपासनाके पाँच भेदोंमेंसे चिद्भाव आश्रयकारी विष्णु-उपासना, सद्भाव आश्रयकारी शिव-उपासना, भगवत्तेजका आश्रयकारी सूर्योपासना, भगवद्भावमयी बुद्धिका आश्रयकारी धीश-उपासना और भगवत्-शक्तिका आश्रयकारी शक्ति-उपासना है।

ब्रह्मानन्द-विलास-रूपी सृष्टि-दशामें ब्रह्मपदसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले चित्, सत्, तेज, बुद्धि और शक्ति—ये ही पाँच हैं। चित्-सत्ता जगत्को दिखाती है, सत्-सत्ता जगत्के अस्तित्वका अनुभव कराती है, तेज जगत्को ब्रह्मकी ओर आकर्षण करता है, बुद्धि सत् ब्रह्म और असत् जगत्का भेद बताती है, और शक्ति, सृष्टि, स्थिति लय करती हुई जीवको बद्ध भी कराती है तथा मुक्त भी कराती है। इसी कारण इन पाँचोंके अवलम्बनसे सगुणपञ्चोपासनाका विज्ञान निर्णीत हुआ है। उपासक इन्हीं पाँचोंके अवलम्बनसे ब्रह्मसांनिध्य प्राप्त करके अन्तमें ब्रह्मसायुज्य प्राप्त कर लेता है।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय दृश्यप्रपञ्च ब्रह्मशक्तिका ही विलास है। ब्रह्मशक्ति ही सृष्टि-स्थिति-लय करती है, वही अविद्या बनकर जीवको बन्धन-जालमें फँसाती है; और विद्या बनकर उसको ब्रह्मसाक्षात्कार कराके मुक्त करती है। दूसरी ओर ब्रह्मशक्तिमें और ब्रह्ममें अहंममेतिवत् भेद नहीं है। शक्तिमान्से शक्तिकी विशेषता कैसी है, सो गायक और गान-शक्तिके उदाहरणसे ऊपर कही ही गयी है। उसी ब्रह्मशक्तिके भेद वेद और शास्त्रोंने चार प्रकारके कहे हैं।

ब्रह्ममें सदा लीन रहनेवाली तुरीया शक्ति कहाती है, यह ब्रह्मशक्ति सच्चिदानन्दमय स्वस्वरूपकी प्रकाशिनी है। ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी जननी, निर्गुण ब्रह्मको सगुण दिखानेवाली, ब्रह्म-आलिङ्गित महाशक्ति कारणशक्ति कहाती है। यही शक्ति कभी विद्या बन जाती है, कभी अविद्या बन जाती है। ब्रह्मशक्तिके तमःप्रधान और सत्त्व-प्रधान दो पृथक् भाव ही इसके कारण हैं। ब्रह्मशक्तिकी तीसरी अवस्था सृष्टि करानेवाली ब्राह्मी शक्ति, स्थिति करानेवाली वैष्णवी शक्ति और लय करानेवाली शैवी शक्तियाँ समझी जाती हैं। ये ही तीनों सूक्ष्म शक्ति कहाती हैं। चाहे स्थावर सृष्टि हो, चाहे जंगम सृष्टि हो; चाहे ब्रह्माण्ड सृष्टि हो, चाहे पिण्ड सृष्टि हो; सर्वत्र सृष्टि, स्थिति और लयके क्रम एवं अस्तित्वको रखनेवाली ये ही सूक्ष्म ब्रह्मशक्तियाँ हैं। भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिव जो प्रत्येक ब्रह्माण्डके नायक हैं, वे इन्हींके सहयोगसे अपना-अपना कार्य सुसम्पन्न करते हैं। उस महाशक्तिकी चतुर्थ अवस्था स्थूल शक्ति कहाती है। स्थूल शक्तिका अनुभव पदार्थ विद्याके द्वारा भी होता है। स्थूल जगत्की अवस्थाओंका परिवर्तन, उसका धारण आदि सब कार्य इस शक्तिके द्वारा सुसिद्ध होते रहते हैं। उसके तडित्-शक्ति आदि अनेक भेद हैं। इस कारण भी शक्ति-उपासनाका विस्तार और महत्त्व अधिक है।

समष्टि-व्यष्टिरूपी ब्रह्माण्ड-पिण्डात्मक-सृष्टि ब्रह्म-शक्तिका ही विलास है। वह चतुर्दश लोकमय है। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें

भूः, भुवः, स्वः आदि सात ऊर्द्ध्वलोक और अतल, वितल आदि सात अधोलोक हैं। सात ऊर्द्ध्वलोकोंमें देवताओंका वास है और सात अधोलोकोंमें असुरोंका वास है। यह मृत्युलोक ऊर्द्ध्व सप्त लोकोंमेंसे भूलोकका एक बहुत छोटा-सा अंश है। इसमें जीवगण मातृगर्भसे उत्पन्न होते हैं और मृत्युको प्राप्त होते हैं। इस कारण इसका नाम मृत्युलोक है। अन्य सभी लोकोंमें मातृगर्भसे जन्म नहीं होता। भारतवर्षरूपी मृत्युलोकके ही जीव अपने-अपने कर्मोंके वश होकर मृत्युके अनन्तर आतिवाहिक देहके द्वारा उन नाना दैवलोकोंमें दैवी सहायतासे पहुँचते हैं। पिण्ड तीन श्रेणीका होता है। एक सहज-पिण्ड उद्भिज्जादि योनियोंका; दूसरा मानव-पिण्ड मनुष्योंका और तीसरा दैवपिण्ड देवताओंका कहाता है। मृत्युलोकके अतिरिक्त जितने लोक हैं, वे सभी देवलोक कहाते हैं। उनमें दैवपिण्डधारी देवताओंका ही वास है। सहजपिण्डधारी अथवा मानवपिण्डधारी जीव दैवपिण्डधारी जीवोंको देख नहीं सकते। देवतागण इच्छा करें, तभी वे देख सकते हैं। देवलोक हमारे पार्थिवलोकसे अतीत और सूक्ष्म हैं। सुर जिस प्रकार दैवपिण्डधारी हैं, उसी प्रकार असुर भी दैवपिण्डधारी हैं। भेद इतना ही है कि देवताओंमें आत्मोन्मुख वृत्तिकी प्रधानता है और असुरोंमें इन्द्रियोन्मुख वृत्तिकी प्रधानता है। यही कारण है कि सूक्ष्म देवलोकमें देवासुरसंग्राम प्रायः हुआ करता है। परंतु देवतागण आत्मोन्मुख होनेसे वे कदापि असुर-राज्यको छीननेकी इच्छा नहीं करते, अपने ही अधिकारके लोकमें तृप्त रहते हैं।

असुरगण विषयलोलुप होनेके कारण उनकी प्रवृत्ति सदा दैवराज्य छीननेकी ओर बनी रहती है। यह देवासुरसंग्रामका मूल कारण है। मृत्युलोकमें भी मानवपिण्ड देवासुर-संग्रामके लिये दुर्गरूप हैं। उनको असुरगण और देवतागण अपने-अपने ढंगपर अपने-अपने अधिकारमें लानेका प्रयत्न करते रहते हैं। यही मनुष्यपिण्डमें पाप-पुण्यसे सम्बन्धयुक्त कुमति और सुमतिका युद्ध है। देवासुर-संग्राममें जब-जब असुरोंकी जय होने लगती है, तब ब्रह्मशक्ति महामायाकी कृपासे ही पुनः असुरोंका पराभव होकर सूक्ष्म दैवराज्यमें शान्ति स्थापित करती है। मनुष्य जब पाप-पङ्कमें फँस जाता है, तब पुनः उसका उस दलदलसे निकलना कठिन होता है। ऐसे समयमें गुरुबल अथवा दैवबल, ये ही उसके सहायक होते हैं। ये सब उस अखिल लोकमयी जननी महाशक्तिकी कृपाका ही रूपान्तर है।

जगत्कारण परमात्मा ब्रह्म जिस प्रकार सत्-चित् और आनन्दरूपसे त्रिभावद्वारा जाने जाते हैं; पुनः पराभक्तिके अधिकारी भावुक भक्तगण जिस प्रकार उनके इन तीनों भावोंके अनुसार ब्रह्म, ईश्वर और विराट्रूपसे अपने हृदय-मन्दिरमें पृथक्-पृथक् भावसे उनके दर्शन करके आनन्द-सागरमें अवगाहन करते हैं, वैसे ही संसारकी सब वस्तुएँ भी त्रिभावात्मक हैं। कारण-ब्रह्ममें जिस प्रकार तीन भाव हैं, उसी प्रकार कार्य-ब्रह्म भी त्रिभावात्मक है। इसी कारण वेद और वेदसम्मत शास्त्र भी त्रिविध अर्थमय हुआ करते हैं। इसी सर्वतन्त्रसिद्धान्तस्वरूप प्राकृतिक नियमके अनुसार देवासुर-संग्रामके भी तीन स्वरूप हैं। देवासुर-संग्रामका अध्यात्म-स्वरूप प्रत्येक पिण्डमें क्लिष्ट और अक्लिष्ट अर्थात् पाप-जनक और पुण्यजनक वृत्तिके नित्य युद्धद्वारा प्रकट होता है। उस युद्धका अधिदैव-स्वरूप सूक्ष्म दैवराज्यमें देवराज और असुरराजकी सेनाओंके द्वारा प्रकट होता है—जैसा कि शुम्भ-निशुम्भ और महामायाका युद्ध एवं उसका अधिभूत रूप इस मृत्युलोकमें नाना सामाजिक और राजनीतिक युद्धके द्वारा प्रकट होता रहता है।

दुःख-सुख, सम्पत्ति-विपत्ति और मानापमान

प्रभुकी याद दिलानेवाले दुःख रहें नित मेरे पास।
प्रभुकी याद भुलानेवाले सुख-समूह हो जायँ नाश॥
वह विपत्ति सम्पत्ति परम है, जिसमें प्रभुके हों दर्शन।
वह सम्पत्ति विपत्तिरूप है, हटवा दे जो प्रभुसे मन॥
वह अपमान मान सच्चा है, जिसमें हो शुभ प्रभुका भान।
जो प्रभुसे सम्पर्क छुड़ा दे, वह है जलनेलायक मान॥

मानसिक विश्लेषण

(लेखक—श्रीविश्वेश्वरनारायणजी)

मनोविज्ञानने मानव-मनके अङ्ग-प्रत्यङ्गका सम्यक्रूपसे अध्ययन किया है। विविध पहलुओंसे मनके विविध तरङ्गोंका विश्लेषण भी किया है। आजके कुछ विद्वानोंका कहना है कि पश्चिमीय दार्शनिक ही मनोविज्ञानके विस्तार-क्षेत्रके जन्मदाता हैं; परंतु मेरे विचारसे उनका यह कहना बिल्कुल ही भ्रान्त प्रतीत होता है। हाँ, उनका यह कहना कुछ हदतक तो अवश्य मान्य है कि पश्चिमीय दार्शनिकोंने 'मनोविज्ञान' नामकी संज्ञा देकर इसका अध्ययन किया है। परंतु भारतीय दार्शनिकोंने दर्शनक्षेत्रके अन्तर्गत अध्ययन-मननके सिलसिलेमें मानव-मनके अंदर उठनेवाले तरङ्गोंका तथा विविध रूपसे आनेवाले सुख-दुःख, कामोत्तेजक प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ एवं भावनाओंका विशद वर्णन किया है।

पश्चिमीय दार्शनिक कहते हैं कि सांसारिक बाधाओंके रहते मनकी शान्ति सम्भव नहीं। फलस्वरूप मन तरह-तरहके विघ्न-बाधाओंसे घिरा रहेगा। मन अशान्त रहनेसे वह तरह-तरहकी चिन्ताओंका ही दास बना रहेगा। ऐसी हालतमें शान्ति-लाभके लिये मानवको मनकी गतिकी ओर बढ़ना होगा। जिस बातको लेकर मन अशान्त बना हुआ है, उसकी प्राप्तिके लिये यथासाध्य प्रयत्न करना होगा। तभी मनकी गति रास्तेपर आ सकती है। पर इस सम्बन्धमें पूर्वीय दार्शनिकोंका कहना है कि मनके अंदर उठनेवाली हर तरङ्गकी पूर्ति नहीं की जा सकती। मनकी तो दशा ही ऐसी है कि एक अभावकी पूर्ति होते ही दूसरा अभाव खटकने लगता है और सबकी पूर्ति सम्भव नहीं। मनके अंदर उठनेवाली विभिन्न आवश्यकताओंको दमन करनेका ही हमारे पूर्वपुरुषोंने उपाय बताया है। पश्चिमीय मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि 'मनको दमन करनेसे भले ही उसकी प्रतिक्रिया तत्काल न हो, पर उसकी भावना हमारे अन्तर्मनमें दबे रूपमें रह जाती है और समय पाकर वही उपद्रवका कारण बनती है। इसीसे अनेकों प्रकारके मानसिक उपद्रव होते हैं।' परंतु हमारे पूर्वीय विचारकोंका कहना है मनको दमन करनेके लिये आवश्यक है कि मनको इस तरहकी खूराक देनी चाहिये कि उसे जिस ओरसे हटाना है, उससे अधिक सुख-शान्तिकी उपलब्धि उसे दूसरी ओरसे मिल सके। इसीलिये हमारे यहाँ मनको सांसारिक भोग-कामनाओंसे हटाकर भगवत्-सुखकी ओर लगानेका संकेत किया गया है, जहाँ इसे कभी भी दमनकी बातोंकी स्फुरणा तक न होगी, बल्कि सहज ही आनन्द और शान्तिकी ही प्राप्ति होती रहेगी। विषयोंसे उन्मुक्त मन भगवत्-चिन्तन, कथा-कीर्तन-भजनमें इतनी प्रसन्नताको प्राप्त कर लेता है, जिससे पूर्वकी बातें दुःखद प्रतीत होने लगती हैं। तब क्या मनके दमन करनेपर अन्तर्मनमें दबी हुई भावना कभी उपद्रव क सकती है? वह तो और प्रसन्नताको प्राप्त होगी।

थोड़े कालके लिये हम गीताकी ओर आ जायँ तो हमें पता चलेगा कि इस अजेय मनको एक जगह केन्द्रीभूत करनेके लिये उसमें तरह-तरहके उपायोंको निर्देश किया गया है। अर्जुनको जब यह मालूम हो गया कि मनको एकाग्र किये बिना किसी प्रकारकी भी यौगिक क्रियाओंकी सिद्धि सम्भव नहीं है, तब उन्होंने भगवान्से प्रश्न किया—'हे भगवन्! यह मन अति वेगवान् है। ऐसी दशामें योगका साधन कैसे किया जा सकता है।' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६ । ३५)

हे महाबाहो! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास अर्थात् स्थितिके बार-बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे वशमें होता है, इसलिये इसको अवश्य वशमें करना चाहिये।

अब हमें तत्कथित अभ्यास और वैराग्यको भी जान लेना है। जीवको जन्म-जन्मान्तरसे विषयोंमें ही सुख भासनेका अभ्यास लगा है। तब उसका मन एकाग्र होगा भी कैसे! वह तो विषयोंका ही चिन्तन करेगा और विषय-चिन्तनमें मनकी एकरूपता सम्भव नहीं; क्योंकि सांसारिक वासनाएँ मनको ढकेलकर विक्षिप्त दशामें ले जाती हैं। मन अशान्त हो जाता है। अतः बार-बार अभ्यास करना चाहिये। जो मन विषयोंमें भटकता था, उसे निरोध भगवान्में लगाना चाहिये। भगवान् सर्वव्यापी हैं। ऐसा स्थान नहीं जहाँ भगवान् न हों और वैराग्य

होना चाहिये कि 'जिन सांसारिक विषयोंमें मन टिकता है, वे सभी क्षणभङ्गुर और नाशवान् हैं। फिर उसमें आसक्ति ही क्यों ?' इस तरहसे यदि बार-बार प्रयत्न किया जाय तो सम्भव है जन्म-जन्मान्तरसे विषयोंमें भटकनेवाला मन भगवान्में लग जाय। इसपर एक लोककथा भी है।

एक किसान अपने किसी मवेशीको एक खूँटेमें बाँधकर उसे वहीं खिलाता रहा। कुछ दिन पश्चात् उसने एक दूसरी जगह खूँटा गाड़ दिया और उसे वहाँ बाँध दिया। मवेशीने तुरंत इस नये खूँटेको तोड़ दिया और पहले जहाँ बाँधा जाता था, वहीं जाकर खड़ा हो गया; पर किसान बार-बार वहीं नया खूँटा गाड़-गाड़कर उसे बाँधने लगा। जब मवेशीको इस नये खूँटेपर खाना-खूराक मिलने लगा और इसमें उसका मन रम गया तो उसका अभ्यास पुराने खूँटेसे छूट गया। अब वह कहींसे छूटता, उसी नये खूँटेपर आकर खड़ा हो जाता।

यह है दृष्टान्त, परंतु इसमें बहुत बड़ा तत्त्व छिपा हुआ है। जीवरूपी मवेशी है, इसे जन्म-जन्मान्तरसे विषय-सेवनका अभ्यास लगा हुआ है। भगवत्-तत्त्व परम मधुर होनेपर भी उसे विष-तुल्य लगता है। वहाँ इसके मनका टिकाव होता ही नहीं। परंतु अनवरत अभ्यास जारी रखनेसे एक दिन ऐसा भी आ जाता है; जब कि इसका पूर्वाभ्यास अनायास ही छूट जाता है, जिस विषयमें इसे आनन्द मिलता था वही विष-तुल्य हो जाता है और परमानन्दमय भगवान्में सदाके लिये इसका मन रम जाता है। परंतु मनके अंदर रहा हुआ जन्म-जन्मान्तरका कुसंस्काररूपी मल आसानीसे नहीं धुलता। जीवका यह स्वभाव वस्तुतः था नहीं। मायारूप आवरणने इसे भ्रममें डाल दिया और इस भ्रम-जालमें पड़नेसे ही मनमें तरह-तरहके दोष उत्पन्न हो गये, जिनका मनने एक परिवार ही कायम कर लिया। इस कुसंस्कारके परिवारको तुलसीदासजीने मानस-रोगकी संज्ञा दी है। काकभुशुण्डिजीके शब्दोंमें वे कहते हैं—

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह तें दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषादु गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ॥
तृस्ना उदर बृद्धि अति भारी। त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥

ये सब हैं मानस-रोग। इनके वशीभूत हो जीव निरुपाय हो जाता है। इन असाध्य रोगोंसे ग्रसित जीव योगकी सिद्धि अथवा परमार्थ-साधन कर भी कैसे सकता है—जब कि वह शान्त मनद्वारा ही सम्भव है। इसीलिये कहते हैं—

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥

ये असाध्य रोग परमार्थ-साधनके अनेकों उपाय करनेपर भी नहीं जाते। यद्यपि जीव अपने प्रयत्नमें तत्पर है—

नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान॥

तब जन्म-जन्मान्तरसे लगी गाँठके तोड़नेका कौन-सा उपाय है, जिससे जीव शान्ति लाभ कर सके। इसके लिये मानसकार उपाय भी बताते हैं—

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संयोगा॥

वह कौन-सा संयोग उपस्थित होगा, जिससे कि जन्म-जन्मान्तरके दुःसाध्य रोगका नाश हो सके। इसके लिये आगे कहते हैं—

सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥

जिस प्रकार शारीरिक रोग-नाशके लिये हम किसी अच्छे वैद्य या डाक्टरकी शरण ग्रहण करते हैं और उसके बताये अनुसार दवाका सेवन तथा संयम करते हैं; उसी प्रकार इस भवरोगके लिये हमें सद्गुरुरूपी वैद्यकी शरण ग्रहण करनी होगी और उसके परमार्थ-साधनके वचनोंपर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना होगा। परंतु इसके संयमके विषयमें कहते हैं कि विषय-वासनाओंकी तृष्णा छोड़ देनी होगी। यही इसका संयम है। इस तरह यदि किया जाय, तभी इस मानस-रोगसे छुटकारा पा सकते हैं। कहते हैं—

एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

तभी हम जीवनका अन्तिम लाभ प्राप्त भी कर सकते हैं, जिसे पाकर कुछ करना-पाना शेष नहीं रह जाता।

साँड़ देवता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'साधुका दर्शन करना है तुझे ?'—सहसा चलते-चलते वे खड़े हो गये और हाथ उठाकर एक झोपड़ीकी ओर संकेत करके बोले—'जा, वहाँ जा ! वहाँ तुझे सच्चे साधुके दर्शन मिल जायँगे ।'

काला कोयले-जैसे रंगका देह, लाल-लाल नेत्र, सिरपर चिड़ियाके घोंसलेके समान उलझे केश । ये सर्वथा दिगम्बर रहते हैं । अङ्गमें धूलि, कीचड़ और केशोंमें तिनके लगे रहें—साधारण बात है । कहीं न डेरा है, न कुटिया । वृक्षके नीचे, खंडहरमें या मार्गके ही एक ओर पड़ रहते हैं । प्यास लगनेपर अञ्जलिसे जल पी लेंगे माँगकर; किंतु भोजन माँगते नहीं । कोई कुछ दे और भूख हो तो ले लेंगे, नहीं तो सिर हिलाकर चल देंगे ।

लोग कहते हैं कि पगला है । किंतु पागलपनकी कोई बात देखी नहीं गयी इनमें । न किसीको मारते, न गाली देते । प्रायः नित्य गङ्गामें डुबकी लगाते देखा गया है । कोई पास आ बैठे या समीप खड़ा हो जाय तो 'भाग जा ! भाग जा !' अवश्य चिल्लायँगे और उसके भागनेसे पहले स्वयं ही उठकर अन्यत्र चल देंगे ।

मैं आज इनके पीछे चल पड़ा, जब ये 'भाग जा !' कहकर चल दिये । थोड़ी दूर जाकर मुड़े और मुझे झोपड़ी दिखाने लगे । चमारोंके झोपड़े हैं इधर ग्रामसे बाहर थोड़ी दूरीपर । इन सब झोपड़ोंसे तनिक हटकर एक झोपड़ा और है । मैं जानता हूँ कि वह बूढ़े मंगू चमारका झोपड़ा है । इस गंदी बस्तीमें (गंदी मैं अनुमानसे ही कहता हूँ; क्योंकि) मैं कभी भीतर नहीं गया । लेकिन ये संत (मैं संत ही समझता हूँ इन अवधूतको) कहते हैं तो मंगूके झोपड़ेको आज देख लेना चाहिये । सम्भव है, कोई साधु आ टिके हों उसके यहाँ । इन साधुओंका ठिकाना क्या कि कहाँ आसन जमा दें ।

चमरटोलेमें जाना मुझे पसंद नहीं । उनका चक्कर काटकर गया, फिर भी पासके खेतोंमें जो गंदगी है—लेकिन मंगूके झोपड़ेके आसपास गंदगीका नाम नहीं । झोपड़ेके सम्मुख पर्याप्त दूरतक एक तिनका नहीं, गोबरसे लिपी-पुती स्वच्छ भूमि ! इस झोपड़े और आसपासकी स्वच्छताने इधर आनेकी ग्लानि दूर कर दी । सामने तुलसीके कुछ पौधे हैं और गेंदा फूल रहा है । मंगू बाहर ही बैठा है झोपड़ेके और जूता बनानेके लिये चमड़ा छीलनेमें लगा है !

मुझे देखते ही उसने राँपी हाथसे छोड़ दी और उठ खड़ा हुआ । दोनों हाथ जोड़कर सिरसे लगाकर प्रणाम करके बोला—'मालिकने क्यों कष्ट किया ! किसीसे बुला भेजा होता !'

मंगूका झोपड़ा खुला पड़ा है । भीतर कोई नहीं । होगा भी कौन । मंगूका पुत्र परलोक चला गया चार वर्ष पहले । पुत्रकी स्त्री पिछले साल दूसरेके बैठ गयी । बस, एक पाँच वर्षका पौत्र है जो मंगूकी पुत्रवधू साथ नहीं ले गयी ।' मंगूकी टाँगोंको दोनों हाथोंमें पकड़कर पीछे छिपा तनिक सिर टेढ़ा करके झाँक रहा है वह बच्चा मेरी ओर ।

'मालिकको हाथ जोड़ ।' मंगूने बालकका हाथ पकड़ा तो वह और भी चिपट गया उसकी घुटनोंतक नंगी टाँगोंसे । खूब काला, नंग-धड़ंग; किंतु बड़ी-बड़ी आँखोंवाला सुन्दर सलोना बच्चा है । बड़ा प्यारा बच्चा—

गलेमें एक छोटी तावीज काले धागेमें लटकती है और दूसरा कुछ नहीं देहपर ।

'तुम्हारे यहाँ और कोई नहीं है ?' मैंने इधर-उधर देखा । कहीं कोई बाबाजी होंगे, यह मेरा अनुमान ठीक नहीं निकला ।

'और कौन होगा मालिक ?' मंगूने फिर हाथ जोड़े। उससे बैठनेको कहना व्यर्थ है; क्योंकि मैं खड़ा रहूँगा, तबतक वह बैठेगा नहीं । लेकिन उसने समझ लिया कि मैं खड़े-खड़े चले जाने नहीं आया, इसलिये झोपड़ेमें खाट लेने जाते हुए कह गया—'और तो बस, ये साँड़ देवता हैं ।'

'साँड़ देवता !' मंगूके झोपड़ेके बाहर एक नाटा काले धब्बेवाला लाल साँड़ बैठा है । छोटा-सा, दुबला, कुरूप साँड़, जिसके दोनों नेत्रोंमें मसे लटक रहे हैं । कूबड़के पास बड़ा-सा घावका दाग है । वह बैठा-बैठा 'पागुर' कर रहा है । कभी-कभी पूँछ हिलाकर मक्खी उड़ा देता है । मंगूकी टाँगोंसे चिपका बालक अब चला गया है साँड़ देवताके पास । वह साँड़का गोबर जो उसने अभी-अभी किया है, अपनी छोटी हथेलीमें उठाकर दूर ले जा रहा है ।

'तो इसने अब यहाँ अड्डा जमाया है !' चारपाईपर बैठकर मैंने साँड़की ओर संकेत किया ।

'गङ्गा मैयाने कृपा की मालिक !' मंगू मेरे पास ही भूमिपर बैठ गया—'मैंने उस दिन 'बड़े घर' जब कथा हो रही थी—वे पंडितजी आये थे कथा बाँचनेवाले, तब दूर बैठकर उनकी कथा सुनी । बड़े विद्वान् थे पंडितजी । उन्होंने कहा था कि 'साँड़ साक्षात् धर्म है । धर्मकी जो रक्षा करता है, धर्म उनकी रक्षा करते हैं । भगवान् उसपर प्रसन्न होते हैं; क्योंकि धर्मके स्वामी स्वयं भगवान् हैं ।'

'मैं ठहरा नीच जातिका मूर्ख गँवार । धर्म-कर्म क्या होता है, पता नहीं । भगवान्का भजन-पूजन तो ब्राह्मण-ठाकुर करते हैं ।' बड़े भोलेपनसे मंगू कह रहा था । 'गङ्गाजी नहा लेता हूँ और तुलसी मैयापर एक लोटा पानी डाल देता हूँ, लेकिन मालिक ! दूसरे दिन गङ्गाजीसे लौट रहा था तो ये साँड़ देवता मिल गये । पता नहीं कैसे इनका अगला दाहिना पैर टूट गया था । ऐसे डकरा रहे थे पीड़ासे कि सुना नहीं जाता था । चार भाइयोंके हाथ-पैर जोड़कर इनको उठवा लाया । ये साक्षात् धर्म हैं । गङ्गा मैयाकी कृपासे इनकी सेवा मिल गयी । हल्दी-प्याज बाँधते-बाँधते इनके पैरका दर्द तो चला गया, लेकिन हड्डी जुड़ेगी नहीं ।'

'इनके लिये चारा ?' मुझे पता है कि मंगूका निर्वाह अपने बनाये जूते बेचकर होता है । उसके पास दूसरी कोई जीविका नहीं । यह बुड्ढा अब मजदूरीका परिश्रम नहीं कर पाता ।

'गङ्गामैयाने शायद इनकी सेवाके लियें ही वह दो बिस्वा जमीन छोड़ दी है ।' मंगूने बताया—'पिछले साल तो वह भी कट गयी थी । इस साल मैयाने छोड़ दी । उसमें बाजरा डाल दिया था । अब वह साँड़ देवताकी सेवाके काम आ गया ।'

'तुम्हारे पास खेत है मंगू ?' मेरे लिये नयी सूचना थी यहाँ 'यह भी एक हँसी-जैसी बात है मालिक ।' मंगूने बताया—'जब अंग्रेजी राजमें गदर हुआ था, कोई साहब इस गाँवमें आ निकला । उसका बूट टूट गया था । मेरे परदादाने उसे एक अच्छा चमरौधा जूता पहिना दिया तो वह कछारकी जमीनका पट्टा उन्हें दे गया । हर साल चौबीस रुपये लगान जरूर देता हूँ; लेकिन जमीन तो पता नहीं कब गङ्गामैयाके पेटमें चली गयी । कभी दो और कभी चार बिस्वा मैंने जिंदगी भर जोती है । इस साल कुल चार हाँथ चौड़ी धरती मैयाने छोड़ी है ।'

गङ्गाकिनारे जिसकी जमीनका जितना पट्टा हो, लगान उसे उतनी जमीनका देना पड़ता है । जमीन गङ्गाजी पूरी काट ले जायँ तो भी और उसके सामने मीलभर जमीन छोड़ दें तो भी । उसकी जमीनकी सीधमें जितनी भूमि धारा छोड़ दे, सब उसकी । मंगू डेढ़ रुपये बीघेके हिसाबसे लगान देता है । इसका अर्थ है कि उसके पास पूरे सोलह बीघेका पट्टा है । सोलह बीघे कछारकी भूमि गङ्गा यदि छोड़ दें—मंगू एक वर्षमें लखपती हो जायगा ।

‘तुम्हारे इस पोतेका भाग्य बलवान् दीखता है ।’ मैंने बच्चेकी ओर देखकर कहा । गाँवके लोगोंकी दृढ़ मान्यता है कि गङ्गा दयामयी हैं । वे कोसी नदीकी भाँति प्रलयंकरी नहीं हैं । वे भूमि काटती हैं, फसल बहाती हैं; किंतु पूरे ब्याजके साथ लौटा भी देती हैं । वे जब भूमि छोड़ती हैं, तो उस भूमिमें सोना उगता है । यदि गङ्गाने अबतक मंगूकी भूमि नहीं छोड़ी तो अवश्य उसे या उसके पौत्रको वे कई गुना भूमि देनेहीवाली होंगी, यह मेरा मन कह रहा था ।

‘अब मैयाकी कृपा और इन साँड़ देवताकी ।’ मंगूने भूमिमें मस्तक रक्खा । ‘यही एक बच रहा है इस झोपड़ेका दीया । जीता-जागता रहा तो अगले साल इसे पढ़ने बैठाऊँगा ।’

मंगूकी महत्त्वाकांक्षा पौत्रके लिये होना स्वाभाविक है । किंतु उस गरीबकी महत्त्वाकांक्षा भी कितनी ? ‘बच्चा चार अक्षर पढ़कर रामायण बाँचने लगे । चिट्ठी-पत्री करने योग्य हो जाय और पेटके लिये दो रोटी कमाना सीख जाय—बस !’

‘आपने कोई हुकुम नहीं किया मालिक !’ मैं उठकर चलने लगा तो मंगूने पूछा । अबतक बातचीतमें लगकर वह भूल ही गया था कि अकारण कोई उसके द्वारपर क्यों आयेगा ?

‘इधर घूमने आया था तो तुम्हारे साम सफाई देखकर चला आया ।’ मैंने बहाना दिया—‘कोई विशेष काम नहीं था ।’

मंगूको मैं क्या बताऊँ कि मैं कैसे आया उस फक्कड़ने सम्भवतः इस बूढ़े चमारको ही बताया अथवा मुझसे पिण्ड छुड़ानेको जो मुँहमें कह दिया । मंगू साधु है ? यह संदेह मनमें लि मैं लौट आया उस दिन । यह जूता गाँठनेवाला चमार साधु ? लेकिन वे अवधूत झूठ क्यों बोलें यह साधु और उसका साँड़ देवता ?

× × ×

‘भगवन् ! आप कृपा नहीं करेंगे ?’ बात साल बादकी है । आज मैं फिर उन अवधूतके पड़ा हूँ । वे बैठे थे अपनी मस्तीमें वृक्षसे टि मैंने पैर पकड़ लिये—‘अपने लिये नहीं माँगता किंतु श्रावण बीतनेवाला है, वर्षाकी बूँद नहीं पड़ी। आते हैं और चले जाते हैं । सूखे खेत, भूखे और ये निरीह गाँवके लोग—आप इनपर कृपा करेंगे ?’

‘जा ! भाग जा ! मेरे पास क्या धरा उन्होंने पैर छुड़ा लिये मेरे हाथसे और उठ खड़े जाते-जाते बोले—‘उस साधुके पास चला जा !’

‘मंगू भगत !’ मुझे अवधूतने फिर वही दिखाया था । वहाँ जाकर मैंने हाथ जोड़े तो हड़बड़ाकर स्वयं भी हाथ जोड़कर खड़ा हो लेकिन मैंने प्रार्थनाके स्वरमें कहा—‘अवधूत कहा है कि तुम चाहो तो वर्षा हो सकती है । हुई हो तो क्या खायँगे तुम्हारे ये साँड़ देवता !’

‘देवता ! धर्म देवता !’ मंगू दो क्षण गम्भीर और फिर जाकर साँड़के अगले पैरपर उसने पटक दिया । इन वर्षोंमें साँड़ इधर-उधर भले आता हो, रहा मंगूके झोपड़ेपर ही है । उसे

बाँधा नहीं जाता; किंतु किसीके खेतमें उसने मुँह मारा हो, यह मैंने किसीसे नहीं सुना। मंगू केवल रो रहा था सिर रक्खे। मैं कई क्षण खड़ा रहा और फिर लौट आया।

उसी दिन मेरे लौटनेके दो घड़ी बाद घटाएँ आयीं और शामतक तो खेत ही नहीं, नदी-नाले भी लहराकर बह उठे; किंतु मंगू दूसरे दिन इस लोकसे चला गया। मंगूके साँड़ देवताका क्या हुआ, किसीको पता नहीं। मंगूकी भस्म गङ्गामें पहुँचाकर पड़ोसी लौटे तो उस लंगड़े साँड़का पता नहीं था। ढूँढ़नेपर भी वह मिला नहीं।

मंगूका पौत्र यद्यपि अभी बच्चा है और पढ़ता है; किंतु उसके शुभ-चिन्तकोंका अभाव नहीं है; क्योंकि गङ्गाने इस वर्ष लगभग अड़तालीस बीघे कछारकी भूमि उसे दे दी है। इतनी बड़ी सम्पत्तिके स्वामीको कहीं हितैषियोंका अभाव हुआ है ?

कालियमर्दन और ताण्डव-नृत्य

(लेखक—श्रीव्यौहार राजेन्द्रसिंहजी)

दो चित्र मेरे सामने हैं, कालियनागपर नृत्य करते हुए श्रीबालकृष्णका चित्र और प्रलयकालमें नृत्य करते हुए नटराजका चित्र। फुफकारते हुए भयंकर कालियनागपर कोमल चरण श्रीबालगोपालका नृत्य और वंशीवादन मृत्युपर अमर जीवनके आनन्दमय नृत्यको सूचित करता है। कालियनागके हजारों सिरोंमें प्रधान पाँच सिर सहस्रों प्रवृत्तियोंसे युक्त पञ्चेन्द्रियोंको सूचित करते हैं, जिनपर आत्मा नृत्य करता है। अक्सर वे इन्द्रियाँ ही जीवात्माको नचाती रहती हैं। यदि वह जरा-सा तार चूका कि इन्द्रियोंने उसे डसा। उनसे बचनेका एकमात्र उपाय यही है कि हम इन इन्द्रियोंको अपने हृदयमें रहनेवाले परमात्माको सौंप दें। फिर तो, वह ऐसा नृत्य नाचेगा कि फुफकारते हुए कालियनागके मुखसे कचूमर निकलने लगेगा और वह पनाह माँगने लगेगा।

भागवतमें वर्णित है कि कालियनागका जो-जो सिर नहीं नमता था उसे श्रीबालकृष्ण अपने चरण-प्रहारसे दबा देते थे। इस चरण-प्रहारसे कालियनाग विष वमन करने लगा। इन्द्रियोंसे विषयरूपी विष वमन करानेका भी यही उपाय है कि उनपर श्रीबालकृष्णका पदाघात हो।

इधर कालिय विष वमन कर रहा है और उधर बालकृष्ण अपने मधुर वंशीनिनादसे मुग्ध कर रहे हैं। विषसे खाली हुए हृदयको कर्णकुहरोंके द्वारा भक्ति-सुधासे भर रहे हैं।

उधर नटराज प्रलयङ्कर अपनी जटाओंको छिटकाये, गजचर्म ओढ़े, डमरू बजाते हुए विश्वके शवपर अपना ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। बालकृष्णका नृत्य मृत्युपर जीवनका नृत्य है और रुद्रका ताण्डव-नृत्य जीवनपर मृत्युके देवता प्रलयङ्करका नृत्य है। दोनों ही आनन्दसे वंशी और डमरू बजा रहे हैं। जीवनमें भी आनन्द और मृत्युमें भी आनन्द। आनन्द हमारे जीवनका ध्रुव सत्य है, दुःख नहीं। इसीलिये वे प्रलयङ्कर होकर भी शंकर हैं। शवको चूर्ण-विचूर्ण करनेके कारण वे शिव हैं। भीमरूप होकर भी कल्याणकारक हैं—

स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते।

मृत्युका प्रतीक विष उनके कण्ठमें विराजमान है। कालरूपी सर्प उनका भूषण है। विष भी उनके लिये अमृत हो जाता है। 'कालकूट फल दीन्ह अमी के।' त्यागसूचक जटा उनका मुकुट है—'जटा मुकुट अहि मौर सँवारा।'

भोजन-शुद्धि

भोजन पवित्र हो; पवित्र स्थानपर पवित्र पुरुषके द्वारा पवित्र वस्तुओंसे बनाया हुआ हो, पवि स्थानपर पवित्रतासे बैठकर किया जाय और पवित्र होकर मनमें पवित्र भाव रखते हुए किया जाय।

दूसरेकी जूँठी कोई चीज न खाओ, न अपनी जूँठी कोई चीज दूसरेको खिलाओ। जूँठी चीजोंके सेवनसे विचारोंमें विकार पैदा होते हैं, बुद्धि बिगड़ती है और शरीरमें नये-नये रोग पैदा होते हैं। डाक्टर किसी संक्रामक रोगके रोगीकी नब्ज देखकर साबुनसे हाथ धोते हैं; क्योंकि रोगके कीटाणुओंका भय रहता है। जब छूने मात्रसे कीटाणुओंका संक्रमण होता है, तब थूक लगे जूँठे पदार्थोंके भोजनमें कीटाणुओंका भय नहीं है, यह मानना ही मूर्खता है।

आसानीसे ऊपरसे मुँहमें डालकर खानेकी सुविधा होनेपर भी आज-कल फलादि तथा सूखे मेवे आदि भी जीभसे अंगुली लगाकर जूँठे करके खाये जाने लगे हैं। एक-दूसरेकी जूँठन शौकसे खायी जाती है। 'बफे पार्टी' तो पशु-भोजनकी भाँति सबके जूँठन खाने-खिलानेकी ही दूषित भोजन-प्रणाली है। इससे शारीरिक, मानसिक रोग बढ़ते हैं और पतन होता है।

हाथ-मुँह धोकर पवित्र स्थानमें पवित्रतासे जमीनपर बैठकर अन्नका आदर करते हुए शान्तिसे भोजन करो और भोजनके उपरान्त हाथ-मुँह धोकर कुल्ले करो। इससे भोजनकी पवित्रता बनी रहेगी और शरीर तथा मन स्वस्थ होंगे। हाथ-मुँह न धोने तथा कुल्ले न करनेके कारण ही विदेशोंमें दाँतोंका पायरिया रोग उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

बिना नहाये-धोये गंदे विचारोंवाले सर्वभक्षी मनुष्यके अथवा कामी, क्रोधी तथा वैर-भाव रखनेवाले एवं अस्वस्थ व्यक्तिके हाथका बनाया हुआ भोजन मत करो। उससे मनमें अपवित्रता, गन्दगी, काम-क्रोधादि विकार तथा शत्रुता उत्पन्न होगी। अच्छी तरह नहा धोये शुद्ध शरीरवाले, पवित्र सात्त्विक भोजी, शु स्नेहमय भाववाले संयमी स्वस्थ सुहृद् व्यक्तिके हाथ बनाया भोजन करो। भोजन बनानेवाले मनुष्य स्वस्थ या अस्वस्थ शारीरिक और मानसिक वि तथा परमाणुओंका प्रभाव भोजनपर पड़ता है और उ पदार्थोंका भोजन करनेवाले व्यक्तिपर भी तदनुसार असर पड़ता है। 'जैसा अन्न, वैसा मन।'

भोजनमें मांस, मद्य तथा हिंसाजनित सभी पदार्थों सर्वथा एवं प्याज-लहसुन आदि तामसी पदार्थोंका त्याग करो। इन सब पापमयी गंदी वस्तुओंके सेवन सद्विचार नष्ट होते, मनमें विकार उत्पन्न होते औ बुद्धिका नाश होता है। ये चीजें सर्वतोमुखी प कारक हैं।

चोरी, परस्वापहरण, ठगी, बेईमानी, हिंसा, भ्र चार आदि साधनोंसे प्राप्त धनसे मिले हुए भोज बुद्धिका बहुत बुरी तरह नाश होता है। इससे प पुण्यबुद्धि हो जाती है और फलतः मनुष्यका सर्व हो जाता है। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'

भोजन करनेसे पहले भोजनके पदार्थोंको आ पूर्वक प्रथम भगवान्‌के अर्पण करके तब भोजन क ऐसा करनेपर वह 'प्रसाद' बन जायगा और उ 'प्रसाद' (अन्तःकरणकी निर्मलता और प्रसन्न की ही प्राप्ति होगी, जो समस्त कर्मोंका पवित्री समस्त दुःखोंके नाश करनेवाला और समस्त कल्या प्रदान करनेवाला है।

* * *

पुस्तकालय गुरुकुल काँगड़ी

सूरदासका भ्रमर-गीत

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य)

यह निर्विवाद है कि हिंदीके व्रजलीला-गायक कवियोंमें सूरदासजी सर्वश्रेष्ठ हैं। इस लघु लेखमें हम उनके उन पदोंपर कुछ विचार करेंगे, जिन्हें 'भ्रमर-गीत' कहा जाता है।

श्रीकृष्ण कंसद्वारा आमन्त्रित होकर अक्रूरजीके साथ मथुरा गये। वहाँ उन्होंने कंसको मारा, अपने पिताको बन्धनमुक्त किया और कुब्जाको अपने प्रेमकी अधिकारिणी बनाया। वे जब अवधि बीत जानेपर भी न लौटे, तब व्रजवासी बड़े आर्त्त हुए। इसी बीच श्रीकृष्णने अपने सखा उद्धवको व्रजमें भेजा कि वे विशेषतः गोपियोंको समझावें।

उद्धव जब व्रजमें आये, उन्होंने अद्वैतवादका राग अलापा। पर उनका यह रस-विहीन उपदेश व्यर्थ हुआ। उद्धव अपना राग अलाप रहे थे, तभी एक भ्रमर उड़ता-उड़ता वहाँ आ निकला। अन्योक्ति-पद्धतिसे भ्रमरको लक्ष्यकर गोपियोंने उद्धवको बनाना प्रारम्भ किया। इस क्रियामें गोपियोंने जो बातें कही हैं, जो पद कहे हैं, उन्हींका नाम 'भ्रमर-गीत' है।

प्रसङ्गतः यह लिखना अनुचित न होगा कि सूरदासजीने श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमका वर्णन किया है, उसकी उत्पत्तिमें प्रेमका यह विकास अत्यन्त स्वाभाविकता अतएव दृढ़तासे हुआ था। इसलिये प्रेम या भक्तिकी उपेक्षा करनेवाले उद्धवजीके उपदेश व्यर्थ हो गये।

श्रीकृष्णने उद्धवजीको भेजा ही इसलिये था कि उनका अज्ञान दूर हो जाय। वे प्रच्छन्न व्यंग करते हुए कहते हैं—

उद्धव ! बेगिही ब्रज जाहु।
सुरति-सँदेस सुनाय मेटौ बल्लभिनको दाहु॥

हे उद्धव ! तुम शीघ्र ही व्रज जाओ, ब्रह्मज्ञानका 'संदेश' सुनाकर वल्लभियोंका ताप दूर करो।

उद्धव गर्वमें चूर व्रज पहुँचे। गोपियोंने श्रीकृष्णका मित्र जानकर उनका बड़ा स्वागत किया।

उद्धवने चट ज्ञानकी गठरी खोली और उसमेंसे अद्वैतवादको सामने रखकर उसका वे बखान करने लगे। अब तो गोपियाँ घबरायीं। उन्होंने सोचा कि रसिक-शिरोमणिका यह कैसा अरसिक मित्र आ पहुँचा। अब क्या किया जाय ? उन्होंने उद्धवको बनाना शुरू किया।

आये जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े॥

यह देखो पाँडेजी योग सिखाने आये हैं। ये बड़े परमार्थी हैं और पुराण लादे फिरते हैं, जैसे बनजारे पण्य-वस्तु लिये घूमते हैं।

आयौ घोष बड़ौ ब्योपारी।
लादि खेप गुन-ग्यान-जोगकी ब्रजमें आप उतारी।
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपट-सुधारी॥

गोपियाँ एक दूसरीको सावधान करने लगीं—हे सखी ! व्रजमें एक बड़ा व्यापारी आ गया है। उसने ज्ञान और योगकी खेप (मालका बोझ) व्रजमें उतारी है और फाटक (अन्नकी भूसी, फटकन) देकर सोना लेना चाहता है। हमलोगोंको एकदम मूर्ख ही समझ लिया है।

गोपियाँ पूछती हैं—

ए अलि ! कहा जोगमें नीको ?
तजि रस रीति नंदनंदनकी सिखवत निर्गुन फीको।

हे भ्रमर ! योगमें क्या अच्छाई है। नन्दनन्दनसे प्रेम छोड़कर तुम निर्गुणका उपदेश देते हो।

उद्धवजी बोले—हमारा निराकार ब्रह्म अन्तर्यामी है, घट-घटमें व्याप्त है।

गोपी बोलीं—तो वह श्रीकृष्णमें भी होगा; पर,

हरि काहेके अंतरजामी ?
जौ हरि मिलत नहीं यहि औसर, अवधि बतावत लामी॥

हरि काहेके अन्तर्यामी हैं ! यदि होते तो इस समय अवश्य आकर मिलते। जब हम वियोगमें दशम अवस्थाके आस-पास हैं। वे अन्तर्यामी होते तो मिलते, लंबी अवधि न बताते और हे उद्धवजी ! तुम जो ऐसी बातें कह रहे हो, इसमें तुम्हारा दोष नहीं।

बिलग जनि मानहु ऊधो प्यारे।
यह मथुरा काजरकी कोठरि जे आवहिं ते कारे॥

तुम बुरा न मानो, दुःख न करो, तुम्हारा दोष नहीं। मथुरा है ही काजलकी कोठरी, वहाँसे जो आता है, वह काला ही (हृदयका) आता है।

हे उद्धवजी! हमारा दुःख तो श्रीकृष्णहीको देखनेसे मिटेगा, तुम्हारे ब्रह्मकी चर्चासे नहीं—

का की गई भूख मन-लाडू सो देखहु चित चेत।

विचार कर देखो, मनके मोदकोंसे किसकी भूख मिटी है?

गोपियोंको संदेह हुआ कि रसिकराज श्रीकृष्णने दिल्लगीके लिये उद्धवको भेजा है। उन्होंने उद्धवसे पूछा—

साँच कहौ, तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने।
'सूर' स्याम जब तुम्हैं पठाये, तब नेकहुँ मुसुकाने॥

हे उद्धवजी! सच कहना, तुम्हें शपथ है कि श्रीकृष्णने जब तुम्हें भेजा, तो वे जरा भी मुस्कराये थे! (यदि श्रीकृष्ण मुस्कराये, तब तो निश्चय ही दिल्लगी की है।)

पर, उद्धव पुनः जोर-शोरसे अपना राग अलापने लगे। गोपियाँ बोलीं—

ऊधो! भली करी तुम आये।
ये बातें कहि कहि या दुखमें ब्रजके लोग हँसाये॥

हे उद्धव! अच्छा किया कि तुम यहाँ आ गये और विरह-व्याकुल लोगोंको अपनी (मूर्खता-भरी) बातोंसे हँसा तो दिया।

उद्धवजी पुनः अपने विषयका प्रतिपादन करने लगे। खीझकर गोपियाँ बोलीं—

ऊधो! जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधहु गाँठ, कहूँ जनि छूटै फिर पाछे पछिताहु॥
ऐसी बस्तु अनूपम मधुकर! मरम न जानै और।
ब्रजबासिन के नाहि काम की, तुम्हरे ही है ठौर॥

हे उद्धव! योगको भूल न जाना। इसे गाँठ बाँधकर रख लो, कहीं छूट न जाय कि पीछे पछताओ। यह अपूर्व वस्तु है, इसका मर्म कोई नहीं जानता। कम-से-कम यह व्रजवासियोंके तो कामकी नहीं है।

गोपियाँ पुनः कहती हैं—

यह निर्गुन निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी।
नफा जानि कै यहाँ लै आये सबै वस्तु अकरी॥

यह निर्गुण (निर्गुण ब्रह्म तथा गुणहीन वस्तु) नि (बिना जड़ या पत्तेकी तथा ऐसी, जिसमें अपना मू नहीं लगा है, अर्थात् ऐसा ब्रह्म, जिसकी स्वानुभूति तु नहीं है, सुन-सुनाकर बकते हो) गठरी सँभालो। न जानकर सभी मँहगी वस्तु तुम यहाँ ले आये।

पर उद्धव अपनी बकवाद बंद नहीं करते। झुँझलाकर गोपियाँ कहती हैं—

कत श्रम करत सुनत को यहाँ है,
होत ज्यों बनको रोयो।
'सूर' इते पर समझत नाहीं,
निपट दर्दको खोयो॥

क्यों श्रम करते हो? कौन सुनता है? क्यों अ रोदन करते हो! इतनेपर भी समझते नहीं! 'निपट द खोये'—विधाताद्वारा एकदम नष्ट न हो!! उद्धवजी 'पूरे' हैं। नहीं ही माने। गोपियाँ बोलीं—

उधो हम हैं तुम्हरी दासी।
काहेको कटु-बचन कहत हो, करत आपनी हाँसी॥

हे उद्धव! हम तो तुम्हारी दासी हैं। क्यों ऐसे क वचन (ब्रह्मचर्चा) कहते हो और अपनी हँसी कराते हो।

गोपियोंका दैन्य, प्रेम, औदार्य छलक प वे श्रीकृष्णके लिये संदेश देने लगीं—

उधो कहियो यह संदेस।
लोग कहत कुब्जा-रस-माते, तातैं तुम सकुचौ जनि ले

हे उद्धवजी! श्रीकृष्णसे कहना कि लोग तुम्हें 'कु रत' कहते हैं। इस बातका जरा भी संकोच न कर चले आओ।

फिरि ब्रज बसहु गोकुल नाथ।
बहुरि तुमहिं न जगाय पठवौं गोधननके साथ॥
करिहौं न तुमसौं मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसौं गान॥
कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार बट-तर बसन जमुना-कूल॥

देहु दरसन नंदनंदन ! मिलन ही की आस ।
'सूर' प्रभुकी कुँवर छबि कौ मरत लोचन प्यास ॥

'कहिहौं न चरनन देन जावक' आदिसे यह सूचित होता है कि प्रेमका भक्तिमें पर्यवसान हो चला है ।

जब प्रियके दर्शनका आग्रह भी छूट जाय, तो आत्मोत्सर्गकी अन्तिम कोटि समझनी चाहिये । वह इस पदसे स्पष्ट है—

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ,
लेहु कोटि सिर भार ।
यह असीस हम देति 'सूर' सुनु,
न्हात खसै जनि बार ॥

'जहाँ रहो वहीं राज्य करो' यह दर्शनका अनाग्रह है । अन्तमें वे कहती हैं—

हम तौ दुहूँ भाँति फल पायो ।
जौं ब्रजनाथ मिलैं तौ नीकौ, नातरु जग जस गायो ॥

यदि श्रीकृष्ण मिलें तो अच्छा, न मिलें तो भी अच्छा ।

उनमें पुनः विनोद-वृत्ति जाग्रत् होती है । वे पूछती हैं—

निर्गुन कौन देसको बासी ?
मधुकर ! हँसि समझाय, सौंह दै बूझति, साँच न हाँसी ॥

हे मधुकर ! निर्गुण कहाँका निवासी है ? क्रोध न कर, हँसकर बता दो, सच ! तुझे शपथ है; हम सचमुच पूछती हैं, हँसी नहीं करती हैं ।

इस छोटेसे लेखमें दो-चार पदोंकी बानगी दी गयी । यही सम्भव भी था । सूरदासजीके पाण्डित्य, रसिकता, दूरदर्शिता और लोकोत्तर कल्पनाका आनन्द लेना हो, तो पाठक 'सूरसागर' में यथाशक्ति गोते लगावें* ।

पुष्टिमार्गीय समाराधनामें संगीत-योग

(लेखक—पं० श्रीगोपाल भट्टजी, एम्० ए०)

हमारा उत्तरमध्यकालीन युग राजनीतिक एवं सामाजिक शान्तिका युग था । बाहरी देशोंसे आये हुए विदेशी लोग इस देशको जीतकर यहाँ बस गये और इस देशको अपना ही समझने लग गये । जब अपना ही शौर्य विदेशियोंको परास्त कर सकने और अपना शासन बनाये रख सकनेमें समर्थ न रह सका, तब हमने परस्पर एक दूसरेके रहन-सहन, उनकी विद्या-कलाओं और उनकी सामाजिक व्यवस्थाओंको किसी-न-किसी रूपमें अपना ही लिया । विजेताका विजितोंपर प्रभाव पड़ता ही है, अतः उनकी संस्कृति और विचारभावना हमें प्रभावित कर चली और यहाँतक कि हमारी उपासना-पद्धतिपर भी उसका प्रभाव पड़ा ।

जनसाधारण अपने आश्रयदाताओं—अमीर उमराव जागीरदार राजाओं और नवाबों आदिको प्रसन्न करने और उनसे बख्शीश प्राप्त करनेमें ही अपनी सारी शक्ति लगाये हुए था । सारी विद्याओं और कलाओंकी सिद्धि तभी मानी जाती थी जब उसका प्रदर्शन विद्वानों और गुणीजनोंके सामने राजदरबारोंमें होता था और गुणीजनोंद्वारा उसकी प्रशंसा की जाती थी, तभी राजपुरस्कार भी मिल पाता था । कभी-कभी कलाकारोंको उत्कृष्ट कलाप्रदर्शनमें असमर्थता रहनेपर मौतके घाट भी उतरना पड़ता था । इस स्थितिमें विद्याओं और कलाओंकी यद्यपि आशातीत उन्नति हुई और विद्वानों एवं कलाकारोंको राज्याश्रय एवं पुरस्कार भी प्राप्त हुए, जिससे जनसाधारणमें इसकी वृद्धिके लिये पर्याप्त आकर्षण एवं प्रवृत्ति बढ़ी, परंतु सारी साधना 'परान्तःसुखाय'में ही परिणत हो गयी, जब कि उसकी सात्त्विक साधना स्वान्तःसुखाय ही थी और इसी 'परान्तःसुखाय'की प्रवृत्तिने सारी हमारी साधनाको उसी साँचेमें ढालना प्रारम्भ कर दिया, जिसका प्रभाव हम आजतक अपने ऊपर देखते हैं । इसके अतिरिक्त इस साधनाका और भी कुछ ध्येय है या नहीं, यह हम समझते ही नहीं—यह अपना ही दुर्भाग्य है ।

ऐसे समयमें भी कुछ ऐसे लोग थे, जो अपनी सारी साधनाको भगवदर्पण करते थे, उन्हें अपने समयमें ख्याति, राज्याश्रय एवं जनतासे धनकी अपेक्षा नहीं थी । वे इसे तृणवत् मानते थे—

संतन को कहा सीकरी काम ।
आवत जात पन्हैंया टूटैं बिसरि जाय हरिनाम ॥

---

* लेखककी अप्रकाशित 'तत्त्व-विचार' पुस्तकसे उद्धृत ।

कहा जाता है, कुम्भनदासजी उस समयके एक प्रसिद्ध गायक कवि थे। उनके गायनकी प्रशंसा बादशाहतक पहुँच चुकी थी। बादशाहके अति आग्रहसे बुलाये जानेके उपरान्त कुम्भनदासजीने बादशाहकी मर्जीके अनुसार पद-गायन करनेके अनन्तर उनसे यही प्रार्थना की कि अब आप हमें कभी न बुलायें। उन्होंने मनमें विचार किया कि जिस विषयीके देखनेमात्रसे दुःख होता है, उसको नाहक सलाम झुकाना पड़ता है; वक्रनीतियों एवं मदिरापानादिसे मत्त दारुणहृदय इन राजाओंकी क्या व्यर्थ स्तुति की जाय, जिनका चरित्र अत्यन्त दूषित है, जिनकी स्तुतिसे न तो ऐहिक सुख-समृद्धि ही प्राप्त हो और न मरनेके बाद अनन्त सुख ही। अतः उन्होंने सर्वकल्याणकारी जगदीश्वर भगवान्‌की आराधना और उन्हींके लीलागुणगानमें अपनी साधना और अपने इस मानवजीवनकी सिद्धि मानी। उन लोगोंने कहा—

ये दृशो भृशमिरासदारुणाः दारुणाश्च हृदि वक्रनीतिभिः।
तेषु राजसु विदां सदा नवा दानवारिमपहाय का स्तुतिः॥
वृथाकुटिलवेल्लितभ्रुकुटिवल्लरीभीषणा-
मदान्धनसदोत्कटां चटुपरः परैः सेवताम्।
वयं तु नवमालतीं ललितसौरभोद्गारिणीं
गिरं सफलयामहे गुणगणैर्वृषाद्रीशितुः॥

(कविचक्रवर्तिश्रीश्रीनिवासभट्टमहोदयानाम्)

इन भक्तकवियोंने अपनी सारी वाणीकी साधना, विद्याओं और कलाओंकी सिद्धि जगदीश्वर भगवान्‌की आराधनामें एवं उनकी कृपा-प्राप्तिमें ही लगा दी। सूरकी बालकृष्णकी उपासना भावनाके साथ ही उन्होंने भी अपना समस्त जीवन ही लगा दिया।

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किये॥
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत (हे सखि!) रुचिर हिये।
धन्य सूर एकहु पल यह सुख कहा (भयो) सत कल्प जिये॥

उक्त पदके आधारपर श्रीबालकृष्णकी समाराधना भक्तोंने तीन प्रकारसे की है—वात्सल्यभावसे श्रीनंद एवं माँ यशोदाके भावनानुसार; माधुर्यभावनामें अनुरागवती गोपिकाओंके भावानुसार, निकुञ्जमें श्रीराधा-कृष्ण और उनकी अनुचरी ललिता-विशाखादिके रूपमें; तथा सख्य-रसकी भावनाके अनुसार वृन्दावनमें गाय चराते हुए राम-कृष्णकी उपासना सखामण्डलीके साथ की।

यों तो उक्त भावनाओंके अनुसार आराधना मा सम्प्रदायमें, गौडीय सम्प्रदायमें और निम्बार्क-सम्प्रदायमें भी की जाती है; किंतु इस सरस आराधनापद्धतिका विशेष आग्रह पुष्टिमार्गीय आचार्योंने लिया है। उन्होंने अपने शुद्धाद्वैत दर्शनके साथ-साथ भगवान् श्रीकृष्णके नवनीत-प्रिय स्वरूप-की आराधना बड़े आकर्षक ढंगसे की है; जिसमें उन्होंने अपने समस्त ऐहिक साधनोंका विनियोग भगवत्सेवामें कर दिया। श्रीनन्दालयमें माँ यशोदाकी भावनाके अनुसार सेवा-क्रम ऐसा सरस बनाया गया है कि जिसे कोई भी रसिक-हृदय व्यक्ति यदि देखे तो उस पद्धतिकी ओर सहसा आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। विभिन्न ऋतुओंके अनुसार प्रभुके भोग-राग-कीर्तन (लीलागुणगान) वस्त्र-अलंकार धारण आदिकी पद्धति अपनी निजी है, साथ ही बड़ी मोहक एवं भावयुक्त है। जिसमें राग एवं रसकी एक ऐसी समन्वित योजना दीख पड़ती है कि जिसे देखते ही बनता है, कहनेमें वाणीकी असमर्थता रह जाती है। इस सेवाक्रमकी क्रमबद्धतापर ज्यों-ज्यों सोचते हैं, परम विस्मय होता है। अतः यह मानना ही पड़ता है कि उसमें अलौकिक ही दिव्यता है। जिन महापुरुषोंने इस पद्धतिको क्रमबद्ध किया, वे निःसंदेह दिव्य और रस-सिद्ध पुरुष थे। वे भगवान् श्रीकृष्णकी नित्य-लीलाके नित्य-परिकर ही थे, जिन्होंने कलिकालके अल्प-साधन, अल्प सामर्थ्यवान् इन संतोंने जीवोंके कल्याणार्थ ही इस पृथ्वीतलपर जन्म लिया और उस दिव्य नित्य-लीलाको संसारमें प्रकाशित किया; नहीं तो ऐसे तत्कालीन कठिन युगमें ऐसी दिव्याराधन-पद्धति भला कैसे सम्भव हो पाती? उसकी दिव्यता ही आजतक उस सरस उपासनाको अक्षुण्णरूपमें बनाये हुए है। उसकी सरसता आज भी सहृदयों; भावुकों और रसज्ञोंको आकृष्ट करनेके लिये पर्याप्त है। इस आराधना-पद्धतिको द्विगुणित क्या सहस्रगुणित करनेवाली पद्धति कीर्तन (प्रभुकी झाँकियों-दर्शनमें उन-उन समयोंपर गाये जानेवाले लीला-गुण-गान) की है जो समय-समयपर प्रभुके सामने भगवान्‌की अनेक लीलाओंके गुणगानके रूपमें की जाती है।

पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें प्रायः प्रातःकालसे रात्रितक शयनपर्यन्त आठ बार दर्शन (झाँकियाँ) होती हैं; जिनमें हर समय विविध भावनाओंके अनुसार, विविध ऋतुओंके अनुसार विविध उत्सवोंके अनुसार यह लीला-गायन सुरीले गायकों द्वारा, जिन्हें कीर्तनियाँ कहते हैं, किया जाता है; इस पद्धति

76[illegible]62

कुशल गायक कलाकारोंकी कलाकारिताको अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, बल्कि महात्माओं (रससिद्ध कवियों) की वाणी (कविता) को शुद्ध रागोंके स्वरोंमें धीमी गतिमें ध्रुपद-धमार-पद्धतिके अनुसार झाँझ, मृदंग (पखावज), तानपूरा, इसराज, सारंगी आदि वाद्योंके साथ इस प्रकारसे गाया जाता है कि कीर्तनसे प्रभुके दर्शनोंका पूर्णतम लाभ मिले और वह दिव्यलीला प्रकटरूपमें दिखलायी देने लगे। जिसमें श्रोतागण, दर्शकगण, सेवाधिकारीगण सभी रसविभोर हो जायँ और उस रस-प्रवाहमें अपने जीवनके त्रिविध ताप (शोक-मोहादि) को भूल जायँ।

पुष्टिमार्गीय इस अनुग्रहमार्गके संस्थापक जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी थे। वे स्वयं बहुत संक्षिप्त रीतिमें श्रीनाथजीकी सेवा करते थे। सूरदास नामक भक्त कवि उनके परम अनुरक्त शिष्य थे, जो आचार्यजीसे श्रीमद्भागवतकी श्रीकृष्णलीलाका श्रवण करते थे और उसीका वर्णन सरस पदावलीमें सुन्दर रागोंकी योजनामें प्रभुके सामने गाकर सुनाया करते थे। धीरे-धीरे तत्कालीन राज्याश्रयके प्राप्त होनेपर इस सेवाश्रमके वैभवका पूर्ण विस्तार हुआ। श्रीवल्लभाचार्यजीके कनिष्ठ पुत्र गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी इस सम्प्रदायके संगठन-कर्ता एवं सेवामार्गके प्रवर्तक हुए। उनके समयमें गोविन्दस्वामी (अष्टछापके प्रसिद्ध कवि) श्रीनाथजीके कीर्तनियाँ नियुक्त किये गये। गोविन्दस्वामी अच्छे गायक भी थे और कवि भी। अष्टछापके कवियोंमें आपका नाम बड़े आदरसे लिया जाता है। कहा जाता है गोविन्दस्वामी जब गाते थे, उनको प्रभुकी लीला स्पष्टरूपमें दिखलायी देती थी। एक समय शयनके समय फागके दिनोंमें गोविन्दस्वामी

श्रीगोवर्द्धन राय लाला। तेरे चंचल नयन बिसाला॥

—नामक पद (धमार) गा रहे थे। उन्होंने आगे वर्णन किया 'अचका अचका आयकें भाजी गाल लगाय' ग्वालिन (श्रीराधा) श्रीकृष्णके कपोलोंपर गुलाल मलनेकी इच्छासे अचक-अचक (धीरे-धीरे) आयी, गुलाल मली और श्रीकृष्णके कपोल-से-कपोल मिलाकर भाग गयी। श्रीकृष्ण भी उनके(श्रीराधाके) पीछे भागे। उन दोनोंकी इस अनुरागमयी लीलाका वर्णन करते-करते गोविन्दस्वामी गाते-गाते चुप हो गये। उनका मन भी उन दोनोंके साथ ही भाग निकला; वे अपने तन-मनके स्वकीय स्वरूपमें ही न रहे। कहा जाता है कि श्रीगुसाईंजीने स्वयं जब गोविन्दस्वामीको सम्बोधित करके पूछा कि 'आप चुप क्यों हो गये ? आगेकी लीलाका वर्णन कीजिये ?' तब गोविन्दस्वामीकी इस असमर्थताको देखकर श्रीनाथजी स्वयं (भगवान्) ने अन्तिम पंक्ति 'श्रीगोवर्धनधर रूप पै जन गोविंद बलि बलि जाय' गाकर पूरा कर दिया। इस प्रकारके अनेक शब्द-चित्र गोविन्दस्वामीके काव्यमें मिलते हैं। स्वयं आचार्यगण बड़े रसज्ञ एवं भावुक थे और उनकी इस उपासनाके अनुरूप ही ऐसे भक्त कवि भी उनको मिले जिन्होंने इस मार्गको अत्यन्त सरस बना दिया। अष्टछापके तथा व्रजके अन्यान्य भी अनेक कवियोंके बड़े सुन्दर शब्द-चित्र हमें उनके काव्योंमें मिलते हैं। यहाँ तो हमें केवल यही दिखलाना है कि इस सरस सेवा-मार्गको इन भक्त गायकोंने किस प्रकार और भी सरस कर दिया। हृदयका अनुरागी होना, प्रभुकी लीलाको सीधे स्वरोंमें गा देना मात्र ही इन भक्त गायकोंकी विशेषता थी। वे किस उस्तादके शागिर्द थे ? या किस विद्यालय या विश्वविद्यालयकी शिक्षा पाये हुए थे ? या किस राजाके दरबार-गायक थे ? इनमें कितनी गायन-कला-चातुरी थी ? यह उनकी विशेषता नहीं थी। कहा जाता है कि उस समयके प्रसिद्ध और बादशाह अकबरके दरबारी गायक तानसेन गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके यहाँ आये और उन्होंने अपना कलापूर्ण गायन सुनाया। गायनकी कला-चातुरीका जहाँतक सम्बन्ध था, तानसेनका गायन उत्कृष्टतम था। सभीने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की; किंतु गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीने जब उन्हें गायनका पुरस्कार दिया तब एक सहस्र मुद्रा देनेके बाद ऊपरसे एक कौड़ी रख दी। इस कौड़ीको देखकर तानसेन सहसा चौंक पड़े और उसका रहस्य पूछने लगे। उत्तरमें गुसाईंजीने कहा कि सहस्र मुद्राएँ तो आपके इस कलापूर्ण गायन-प्रदर्शनके पुरस्काररूप हैं। परंतु यह आपकी सारी कलाचातुरी हमारे लिये कौड़ीभर मूल्यकी है; क्योंकि इसमें हमारे प्रभुका गुणगान नहीं है। उस विद्या और कलाका क्या मूल्य ? क्या प्रयोजन ? क्या विनियोग ? जिसमें हमारे प्रभुका गुणगान न हो। हमारी दृष्टिमें उसका मूल्य कौड़ी भी नहीं। श्रीगुसाईंजीने प्रथम तो तानसेनको अपने कीर्तनियाँ गोविन्दस्वामीसे निम्नलिखित एक पद सुनवाया—

यो मन गिरिधर छबि पै अटक्यौ।
ललित त्रिभंगी चाल पै चलि कें चिबुक चारु गढ़ि ठटक्यौ॥
संजल स्याम घन बरन लीन ह्वै फिर चित अनत न भटक्यौ।
कृष्णदास किये प्राण निछावर यह तन जग सिर पटक्यौ॥

इसके अनन्तर उन्होंने अपनी सारी विद्याकला एवं सारी साधनाकी सर्वाङ्ग सिद्धि भगवत्सेवा-विनियोग ही बतलायी। इस बातको सुनकर तानसेनने श्रीगुसाईंसे प्रार्थना की कि मुझे भी इस अनुग्रहमार्गका पथिक बना लीजिये। कहा जाता है कि तबसे तानसेन श्रीगुसाईंजीके अनुगत हुए, तभीसे उनकी कवितामें 'तानसेनके प्रभु तुम (या वे) बहुनायक' नामसे छाप आने लगी, अन्यथा 'कहैं मियाँ तानसेन' की छाप उनकी कवितामें आया करती थी। अस्तु, यहाँ इस बातके कहनेसे केवल इतना ही प्रयोजन है कि हमारा सारा प्रयत्न, सारी कलाचातुरी यदि भगवद्गुणगानमें विनियुक्त होती है तो वह सार्थक है, अन्यथा निरर्थक। जैसा कि श्रीमद्भागवतपुराणमें कहा गया है—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ॥
तद्वाग्विसर्गो जनताघसम्प्लवो (विप्लवो)
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥

तात्पर्य यह है कि यदि गायनकलाबाजी स्वर-तालों और लयकारियों आदिका ही विस्मयकारक प्रदर्शन मात्र हो और उसमें भगवद्गुण या सदुपदेशात्मक काव्यका विनियोग न हो तो उस संगीतकी कलाबाजीका क्या उपयोग ? वह तो निरर्थक प्रयास या जलताडन ही कहा जायगा। उससे तो श्रेय और प्रेयमेंसे किसीकी भी सिद्धि नहीं हुई। ऐसी साधनासे क्या लाभ ? अस्तु, श्रीभगवान्‌की विविध झाँकियोंमें ये कीर्तनियाँ लोग बड़े सुरीले स्वरोंमें दर्शनोंकी भावनाके अनुसार ही पद-गायन करते हैं। उनके उस गायनमें कहीं भी कोरी कलाकारिताको महत्त्व नहीं दिया जाता, परंतु साथ ही यह भी देखा जाता है कि यदि कोई भक्त कलाकार उक्त पद्धतिसे अपनी कलाका भी प्रदर्शन किया चाहे तो उसका भी मान श्रीभगवान्‌के सम्मुख होता है।

पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें प्रातःकालसे रात्रिपर्यन्त आठ बार दर्शन (झाँकियाँ) होते हैं। प्रातःकालकी सबसे पहली झाँकी 'मङ्गला' कहलाती है। इस 'मङ्गला'के दर्शनोंसे पूर्व भगवान्‌के जगानेके समय बीन या वीणा बजाये जानेकी प्रथा देखनेमें आती है। यह वीणा प्रातःकालमें प्रातःकालीन रागोंमें तथा शामको भोगके समय तत्कालीन रागोंमें तथा शयनके समय कान्हरा, शंकरा या विरागादि रागोंमें बड़े स्वरविन्यासोंमें किया जाता है।

कहा जाता है कि गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके श्रीघनश्यामजी नित्यप्रति भगवान्‌के शयनके लिये शय्यास सुकोमल पुष्पोंसे करते थे और उनके शयनके पूर्व वीणावा करते थे। रात्रिभर आँखोंपर पट्टी बाँधकर भगवान्‌के करनेके समय पंखा झलते रहते थे। वीणा बजाते-ब उनके हाथोंमें कुछ खुरदरापन आ गया था। एक दिन उ जो ध्यानपूर्वक अपने हाथोंको देखा तो उन्हें यह खुरदरा दिखलायी दिया। उन्होंने उसका कारण सोचना प्र किया। शीघ्र ही वे इस निष्कर्षपर आ गये कि इसी वीनवाद यह बात हुई होगी। उनके मनमें इस बातको लेकर संकोच होने लगा कि प्रभुके नवनीतवत् सुचिक्कण श्रीअङ्गमें मेरे हाथोंका यह खुरदरापन अवश्य ही पहुँचाता होगा। निदान उन्होंने उसी दिनसे वीनवादन कार्य अपने छोटे भाई श्रीरघुनाथजीको सौंप दिया। वीणावादनका कार्य अब भी बड़े-बड़े प्रतिष्ठित घरोंमें परिकरके व्यक्तियों या कीर्तनियोंद्वारा मधुर स्वरोंमें जाता है। इसके वादनके समय यही ध्यान रक्खा जा कि स्वरविन्यास परम मधुर हो। चमत्कार-प्रदर्शनादि लयकारियोंकी विविधताको महत्त्व नहीं दिया जाता। सर्वथा प्रभु-सुखद हो, यही भावना ही प्रमुख रहती है।

वीणावादनके अनेक पद इस सम्प्रदायकी कीर्तनप पाये जाते हैं। मङ्गलाके समय एक पद गाया जाता है—

''आज प्रात नवकुंज द्वार है (पै) ललिता ललित बजाई बी
पौढ़े सुनत स्याम श्रीस्यामा दम्पति चतुर नवीन नवी

वीनवादनमें पटु श्रीललिता नामक सखीने निकु पर, जहाँ श्रीराधाकृष्ण दोनों शयन किये हुए थे, जगानेके लिये ललित स्वरोंमें या ललित रागमें वीणावादन जिसे लेटे-लेटे श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण सुनते रहे या भाव है कि जिस मधुर वीणावादनके ललित स्वरवि सुनते हुए चतुर दम्पति (श्रीराधाकृष्ण) नवीन (श्री और नवीना (श्रीराधा) दोनों ही पुनः सो गये। भावुकजन अर्थ लगा लें। अस्तु, उद्धरणसे केवल यही है कि वीणावादन इतना मधुर होना चाहिये तो क्या स्वयं श्रीभगवान् भी सुनते हुए आनन्द-विभोर हो

उपर्युक्त पदमें ललिता नामक परम अन्तरङ्ग सखीके वीणावादनका उदाहरण हमने रक्खा। इस वीणावादनकी परम उत्कृष्ट आचार्या श्रीराधा हैं। जिनके विषयमें श्रीगदाधर भट्टजी कहते हैं 'विदित (चतुर) चौंसठ कला तदपि भोरी' जैसा कि नीचेके पदसे स्पष्ट दिखलायी देता है। यह पद ग्रीष्मकाल या उससे पूर्व ही 'राजभोग' सम्मुखमें कुञ्जमहलकी भावनामें ध्रुपदमें (चौताल) गाया जाता है।

बैठे हरि राधा संग कुंज भवन अपने रंग,
कर मुरली अधर धरे सारँग मुख गाई।
मोहन अति ही सुजान परम चतुर गुननिधान
एक तान जान बूझि चूकि कें बजाई ॥
प्यारी जब गह्यो बीन सकल कला गुन (न) प्रवीन
अति नवीन गुन सहित वही तान सुनाई।
वल्लभ गिरिधरनलाल रीझ दई अंकमाल
कहत भले भले लाल सुंदर सुखदाई ॥

एक और भी पद इसी ध्रुपदका भाव व्यक्त करता है। जहाँ श्रीकृष्ण वेणुवादनमें अपनी कलाचातुरी दिखलाते हैं, वहाँ श्रीराधा अपने वीणावादनमें वही सिद्धता दिखलाती हैं।

जब स्याम अभिराम मुरली धुनि कीनी।
तब स्यामा सुर मिलाय बीना कर लीनी ॥

सूरदासजीने भी एक पदमें—

स्याम तेरी मुरली नेंकु बजाऊँ।
जोइ जोइ तान भरो मुरलीमें सोइ सोइ गाय सुनाऊँ ॥

अतः जहाँ श्रीकृष्णका वेणुवादन शीलस्वरूप बतलाया गया है, वहाँ श्रीराधा भी संगीतकी गायन, वादन एवं नृत्य-की आचार्या बतलायी गयी हैं। इसके उदाहरण हमें रासके पदोंमें, नृत्यकी विविध गतियोंमें, विविध वाद्योंके वादनके वर्णनमें मिलते हैं। अस्तु, वीणावादन इस मार्गकी आराधनामें एक विशेष सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किये हुए है। संगीतकी सम्यक् योजना भगवत्सेवामें इसी मार्गके द्वारा हो सकी है, यह कहना कुछ अत्युक्ति नहीं है। मनुष्यकी सारी क्रियाएँ भोग-राग, वस्त्र-अलंकार-भूषण, भवन-सम्पत्ति आदि समस्त वैभवका विनियोग केवल श्रीभगवान्‌की पवित्र सेवामें ही हो। स्त्री-पुत्र, परिजन, भाई-बन्धु, इष्ट-मित्र आदि सबको श्रीभगवान्‌की सेवामें ही लगाया जाय—इस मार्गकी यह विशेषता है। सभी वस्तुएँ भगवदीय हैं, हमारा अपना कुछ नहीं, अतः **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'** की भावनासे भगवदर्पण करना—यही इस मार्गकी प्रपत्तिका दृष्टिकोण है। अपने भोगकी वस्तुको अपनी न समझकर प्रभुकी है, प्रभुकी सेवामें ली जाय, लगायी जाय। यह भावना मनुष्यके प्रत्येक व्यवहारमें रहे, यही आचार्योंका उपदेश रहा है। उसी दृष्टिकोणसे असमर्पित (जो प्रभुके समर्पण न की जा सकी हो या जिसका भगवत्सेवामें उपयोग न हुआ हो) वस्तुका व्यवहार इस मार्गमें त्याज्य समझा गया है। प्रभुकी सेवामें आनेसे पूर्व किसी भी वस्तुका उपभोग इस मार्गमें ग्राह्य नहीं माना गया है [कालान्तरमें इस सिद्धान्तका गलत अर्थ समझकर कुछ अधिकारी लोगोंने असमीचीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिया, जिसकी प्रतिक्रिया भी हुई। अस्तु, इसके विवेचनसे हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं] और कहा जाता है कि किसी समय एक कीर्तनियाँ या गायक भैरवी राग, जिसमें कई प्रकारसे चमत्कारवादी स्वरोंका प्रयोग करके इतने आकर्षक ढंगसे गा रहे थे कि वह राग सुननेमें बहुत ही सुन्दर दिखलायी दे रहा था। किसी श्रोताने गायकके गायन-माधुर्यपर उसके सुरीलेपनपर उस रागके वैचित्र्यपर उसकी सराहना वहीं करना प्रारम्भ कर दिया। तत्कालीन सेवाधिकारी भी उस समय वहीं थे। उन्होंने उस प्रशंसकसे उस सराहनाका अभिप्राय पूछा। उसने अपना सरलभावसे विचार प्रकट कर दिया। इसपर अधिकारी महोदयने पूछा कि 'क्या इस राग-विशेषका तुमने आस्वादन कर लिया? यदि ऐसा है तब तो यह राग अब हमारे प्रभुके आस्वादनकी वस्तु नहीं रही, "यह तो अब छू गई"। तभीसे कहा जाता है 'भैरवी रागिनी छू गई'। अतः पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें कहीं इस राग या रागिनीको गाते या बजाते हुए सुननेमें नहीं आता और न किसी कीर्तन-पद्धतिकी पुस्तकोंमें ही इस रागका कहीं विवेचन ही देखनेमें आता है। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इस रागको प्रायः चमत्कारवादी लोग राजाओंके दरबारोंमें गाया करते थे और इस चमत्कार-प्रदर्शनके कारण उसके शुद्ध रूपमें यत्र-तत्र बहुत-से परिवर्तन करके बिगाड़ दिया था। इसी कारण यह राग अपने शुद्ध रूपमें नहीं रह पाया था। साथ ही, इस सेवा-मार्गका एक कठोर नियम यह भी है कि किसी भी व्यक्तिके किसी भी कार्यसे लौकिक भावनाओंको, कामोत्पादक भावनाओंको और संसारी विलासिताकी भावनाओंको पोषण नहीं मिलना

चाहिये । उक्त भावनाओंकी गन्ध भी हमारे अंदर प्रवेश न कर सके इसी कारण इस रागके विषयमें भी यही निर्णय तत्कालीन सेवाधिकारियोंने किया । इस रागमें शृङ्गारी भावनाओंके गीत ठुमरी आदि पद्धतियोंमें भाँड या दरबारी गायक गाया करते थे, जिनमें विविध रागोंके मेल और चमत्कारजनक मुखड़े रहते थे । अतः इस रागके प्रयोगकी इस लौकिकताके कारण ही इसे मन्दिरकी पवित्र भावनामें स्थान नहीं दिया गया और इसी लौकिकताके वर्जनके रूपमें देखा गया है कि हार्मोनियम, सारंगी एवं तबला या अन्यान्य आधुनिक वाद्य प्राचीन मन्दिरोंमें प्रभुके सम्मुख नहीं किये जाते । हाँ, अब यत्र-तत्र हार्मोनियमका प्रयोग होने लगा है ।

इन पदगायनोंकी विशेषता इस बातपर निर्भर करती है कि लीला-पद-गायन इतना मधुर, स्पष्ट और सरस होना चाहिये कि दर्शक, श्रोतागण एवं भावुक सेवाधिकारीगण उस लीला-रसमें रस-विभोर हो जायँ और रसिक महानुभावोंद्वारा वर्णित लीलाका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकें । राग और रसकी इस समन्वित पद्धतिमें कौन जाने किस-किसको क्या-क्या सिद्धि मिली और मिलती रहती है । परंतु प्रायः यह देखा गया है कि इस लीलागानमें मत्त ये व्यक्ति (कीर्तनियाँ) अपने जीवनको परम धन्य मानते हैं; क्योंकि वे प्रभुके सम्मुख उनका लीला-गुणगान महानुभावोंकी दिव्य वाणियोंके आधारपर करते रहते हैं । वे अपने-आपको किसीका नौकर, आश्रित या बड़ा आर्टिस्ट (कलाकार) नहीं मानते । वे तो केवल कीर्तनकार हैं, ऐसा मानते हैं । परंतु उनकी यह साधना "इहैव तैर्जितः सर्गः" की साधनासे किसी भी प्रकार कम नहीं कही जा सकती । एक तो प्रभुका चरित्र ही दिव्य और उस लीलाका गान करनेवाला कितना पुनीतात्मा होगा, इसकी कौन कल्पना कर सकता है । श्रीगोपीजनोंने श्रीमद्भागवतान्तर्गत रासपञ्चाध्यायीमें कहा ही है—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

श्रीवृन्दावनमें प्रसिद्ध श्रीराधावल्लभजीका मन्दिर है। उ कीर्तनियाँ जिन्हें वहाँ मुखियाजी कहते हैं, पिछली क पीढ़ियोंसे राग-रागिनियाँ, पद-पदावलियोंके विशेषज्ञ होते हैं; जिन्हें प्रायः महानुभावोंकी समस्त वाणियाँ कण्ठाग्र ही प्रभु-सम्मुख लीलागान करते हुए वे अपने आपेमें नहीं रह स्वयं पगले-से रहते हैं । उन्हें अपने खाने-पीने, रहने-सहने कुछ सुध-बुध नहीं रहती । रात्रि-दिन उसी लीला-भावन निमग्न रहते हैं । शायद ऐसी ही लीला-रस-मत्तता सर्वत्र लीला-गुणगानपर भक्त कीर्तनियोंकी रहती होगी । एक रसि महानुभावसे मैंने यों ही पूछा कि 'अमुक स्थानपर बड़ सुन्दर उपनिषदीय गम्भीर चर्चा होती है, आप वहाँ क्यों न आते ?' उन्होंने बड़े सुन्दर सरल ढंगसे उसका समाधान कर हुए रहीमके दोहेमें उत्तर दिया—

जिन नैनन प्रीतम बसे पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि पथिक आप फिरि जाय॥

'हम तो व्रजराज-कुँवर श्रीश्यामसुन्दर और श्रीराधि रानीकी लीलामाधुरीका आनन्द लेते रहते हैं । हमें इस शु निर्गुण ज्ञान और आत्माके शुष्क विवेचनसे क्या प्रयोजन जबतक नवनीत न प्राप्त हो तबतक दधिका मन्थन ठीक है जब नवनीत प्राप्त हो गया तब फोकरा मठाके बिलो क्या मिलेगा ।' कितनी सुलझी बात थी । मेरे मनको गयी । विस्तारके भयसे इस लेखको यहीं समाप्त किया जा है । आगे फिर कभी पाठकोंके समक्ष भगवत्से अष्टयामकी भावनाओं और उनमें ऋतुओंके अनुसार रागों विनियोगकी विवेचना की जा सकती है और वर्षभर अनेक उत्सवोंकी भावनाएँ उनमें वस्त्र, साज-शृंगारों भावनाएँ, उनके साथ रागोंका योग किस-किस प्र बदलता है आदिपर विचार हो सकता है ।*

---

* इस लेखके सामग्री-एकत्रीकरणमें जो सहायता काशी हिंदू विश्वविद्यालयान्तर्गत कॉलेज आफ म्यूजिक एण्ड फाइन आर्ट्स चित्रकला-विभागाध्यक्ष बम्बईवास्तव्य श्रीजगन्नाथजी मुरलीधारी अहिवासीसे प्राप्त हुई है, इसके लिये लेखक उनके अनुग्र आभारी है ।

भद्राचलम्—भगवान् श्रीरामके चरणोंसे पावन

(लेखक—श्रीवेंकटलालजी ओझा)

दंडक बन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिबर कर हरहू॥

इक्ष्वाकुके छोटे पुत्र राजा दण्डकने अपने गुरु शुक्राचार्यकी बड़ी कन्या अरजासे दुर्व्यवहार किया। उसने अपने पितासे कह दिया। पिताने क्रुद्ध होकर शाप दे राजाका समस्त राज्य नष्ट कर दिया। हराभरा प्रदेश वनस्पतिसे शून्य हो गया। दण्डक राजाका राज्य मिटकर वन बन गया; इसीलिये यह दण्डकारण्य कहाया। अपने वनवासकालमें भगवान् श्रीरामने अगस्त्य ऋषिके अनुरोधपर शुक्राचार्यके शापसे इस दण्डकारण्यका उद्धार किया; जिससे सब वृक्षादि फलने-फूलने लगे और ऋषि-मुनि वहाँ तपस्या करने लगे।

यहींपर अगस्त्य ऋषिके आग्रहपर पर्णशाला अर्थात् अपने हाथसे पत्तोंकी कुटिया बनाकर श्रीराम अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणसहित रहने लगे, जिसका उल्लेख रामायणमें तुलसीदासजीने इस प्रकार किया है

'गोदावरी निकट प्रभु रहे परनगृह छाइ'

खम्ममेट जिलेके कोत्तागुडम्, भद्राचलम् आदि स्थानके निवासियोंकी यह आदिकालसे मान्यता चली आयी है कि यहाँके आसपासका जो बियाबान जंगल है, वही रामायण-कालके दण्डकारण्यका एक भाग है और भगवान् श्रीराम भद्राचलम्से २० मील दूर पर्णशाला बनाकर रहे थे।

भद्रऋषि जिस पर्वतकी चोटीपर तपस्या करते थे, उसीपर आजका भद्राचलम् बसा हुआ है और उसका यह नामकरण उन्हींके नामपर हुआ है। यहाँ प्रतिवर्ष रामनवमीके अवसरपर बड़ा भारी मेला लगता है, जो १५ दिनतक रहता है। प्रथम दिन वहाँ रामजन्मके बाद कल्याण-महोत्सव होता है, जो भगवान् श्रीरामचन्द्र और सीताजीके विवाहकी याद ताजा कर देता है। वेदमन्त्रोंकी ध्वनिसे वायुमण्डल पावन हो जाता है। भगवान्‌की शोभायात्रा इस अवसरपर मुख्य मार्गपर निकलती है, जो बड़ी ही राजसी ठाट-बाटकी होती है। कल्याण-महोत्सवके लिये यहाँ एक विशाल मण्डप बना हुआ है।

काजीपेट विजयवाडा रेलमार्गपर डोरनकलसे भद्राचलम् रोडके लिये रेल जाती है। जहाँसे गोदावरीके इस पार गुम्मूर तक सरकारी बसें चलती हैं। वहाँसे नावमें बैठकर नदी पार की जाती है, यदि पानी अधिक हुआ। अन्यथा यात्री पैदल ही नदी पार करते हैं। १९५७ में यहाँपर रामनवमीके अवसरपर यात्रियोंकी भारी भीड़के कारण एक नाव-दुर्घटना हो गयी, जिसमें २०० यात्रियोंने गोदावरीमें सदाके लिये जल-समाधि ले ली। इस तरहकी दुर्घटनाकी पुनरावृत्ति न हो, अतः आन्ध्रप्रदेश-सरकारने यहाँ गोदावरीके विशाल पाटपर एक पुलके निर्माणका श्रीगणेश किया है। इसके तैयार हो जानेपर यात्री सीधे बसमें वहाँ जा सकेंगे, जिससे उनका समय बचेगा और यात्रा सुलभ हो जायगी।

यहाँपर रामनवमीके अतिरिक्त भी नित्य यात्री आते रहते हैं। कई लोग पिण्डदान आदि भी यहाँ कराते हैं। तिरुपति बालाजीकी तरह यहाँ भी श्रद्धालु नर-नारी अपने सिरके बालोंका मुण्डन कराते हैं। यह प्रथा इस ओर अत्यधिक प्रचलित है, शिक्षित और अशिक्षित सभी इसका पालन करते हैं। दक्षिणको छोड़कर अन्य प्रदेशोंसे आनेवाले श्रद्धालु ऐसा नहीं करते।

अब तो यहाँपर भारत-सरकारने यात्रियोंकी सुविधाके लिये एक बंगला भी बनाया है, जहाँ कोई भी ठहर सकता है और इसी तरह राज्य-सरकार भी यात्रियोंकी सुख-सुविधाके लिये काफी ध्यान दे रही है। जिससे यहाँ प्रतिदिन देश-भरसे आनेवाले यात्रियोंकी संख्या बढ़ रही है और उसी अनुपातसे भद्राचलम्‌का विकास भी हो रहा है।

जहाँपर भगवान् श्रीराम गोदावरी पारकर सीताकी खोजमें निकले थे, उस पावन स्थलपर सीतारामस्वामीके मन्दिरके निर्माणकी कथा भी बड़ी विचित्र है। आजसे लगभग ३०० वर्ष पूर्व गोलकुण्डा साम्राज्यके हैदराबादके अन्तिम बादशाह अबुल हसन तानाशाह थे। इनके प्रधानमन्त्री अक्कन्ना थे। उनके भतीजे गोपन्ना यहाँ तहसीलदार थे, जो बड़े रामभक्त थे। रामभक्ति-रसपूर्ण उनके बनाये गीत आज भी तेलुगु-भाषी घरोंमें प्रातःकाल बड़े प्रेमसे गाये जाते हैं; जैसे कि उत्तरमें तुलसी और मीराँके। अपनी रामभक्तिके कारण रामदासके नामसे वे लोकप्रिय हो गये और उनके असली नामका बहुत कम लोगोंको पता है।

जनसहयोगसे मन्दिरका निर्माणकार्य आरम्भ हुआ, पर धनकी कमीके कारण जब निर्माणकार्य बंद होने लगा तो

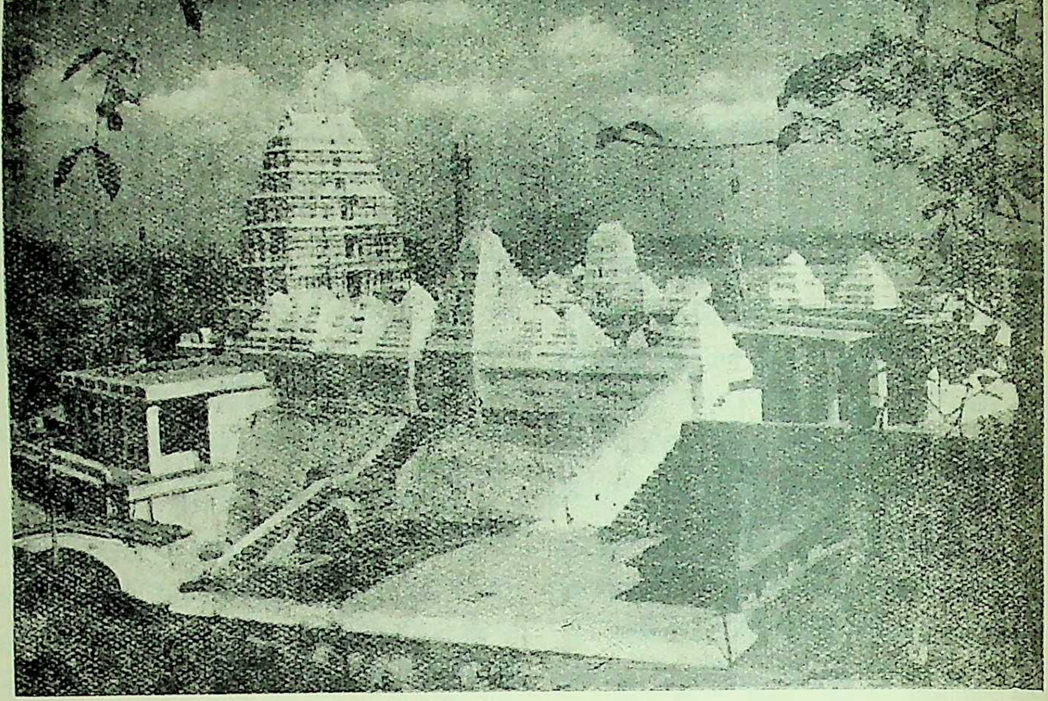

सरकारी मालगुजारीके रुपये, जो तहसीलके खजानेमें थे, उनसे निर्माणकार्य पूर्ण कर दिया। जब समयपर रुपया गोलकुण्डा नहीं पहुँचा तो बादशाहने कारणका पता लगानेके लिये दूत भेजे। उन्होंने वापस जाकर असली बात बादशाहको बता दी, जिसे सुनते ही उनकी क्रोधाग्निका भड़कना स्वाभाविक था। गोपन्ना (रामदास) को जंजीरमें बाँधकर गोलकुण्डा लानेकी राजाज्ञा निकली, सरकारी धनके दुरुपयोगके भयंकर आरोपमें तानाशाहने उन्हें गोलकुण्डेके किलेमें ही कैद कर दिया, पर रामदासके मुखपर चिन्ता या शर्मके कोई चिह्न नहीं थे। उन्हें तो यह अटूट विश्वास था कि भगवान् स्वयं उनकी रक्षा करेंगे। बस, इसी विश्वासपर वे बन्दीगृहमें भी भगवान् श्रीरामकी भक्तिमें ही लीन रहने लगे, क्षणभरके लिये भी उनकी श्रद्धा डिग न सकी। वहाँ भी वे निर्भय होकर पूजा-पाठमें निमग्न रहते थे। यह बन्दीगृह संत रामदासकी गुफाके नामसे बालाहंसारके कुछ नीचे आज भी गोलकुण्डामें दिखायी देती है।

चमत्कारको नमस्कार

कहते हैं कि अन्तमें एक दिन संत रामदासको अपनी रामभक्तिका पुरस्कार मिला। भगवान्‌ने उनकी भक्तिसे प्रसन्न हो उन्हें दर्शन दिये और सरकारी खजानेकी मुहर लगी हुई सरकारी रकमकी पूरी भरपाईकी रसीद, जो कि मन्दिरके निर्माणमें खर्च हुई थी, देकर अन्तर्द्धान हो गये। घटनाका पता लगते ही स्वयं तानाशाह बन्दी-गृहमें और संत रामदासको मुक्त किया। दरबारमें पूर्ण राजसी सम्मान प्रदान किया और कहा कि अज्ञात व्यक्तिने पूरी रकम खजानेमें जमा कर दी है।' तो तानाशाह इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने संत भेंट आदिसे अर्चना की, बल्कि मन्दिरके खर्चके लिये अनुदान और भगवान्‌को धारण करनेके लिये बहुमूल्य आदि अर्पण कर संत रामदासको बन्दीगृहमें रखनेके प्रक्षालन किया।

संत रामदास पुनः भद्राचलम् लौट आये और उन्होंने शेष आयु वहींपर भगवान् श्रीरामकी सेवामें अर्पण कर आज भी भद्राचलम्‌में इनका मकान देखकर यात्री नत हो जाते हैं।

१६८७ में गोलकुण्डा साम्राज्यके पतनके बाद, उसपर औरंगजेबने विजय प्राप्त कर ली थी, यह १७२४ तक मुगल-शासनमें रहा और १७२४ में जब साम्राज्यके दक्षिणके सूबेदार आसफजहाँने नाम धारण कर अपनेको स्वतन्त्र घोषित कर निजाम स्थापना की, तबसे यह मन्दिर १९४८ तक निजाम

शासित रहा। फिर, १८६० की संधिके अनुसार गोदावरी नदीके उस पारका भूभाग अंग्रेजोंके अधीन चला गया। फिर भी निजाम राज्यकी ओरसे बुरगमपाड़के तहसीलदार मन्दिरकी व्यवस्था करते थे, जिसपर राज्यकी ओरसे २५ से ३० हजार रुपया वार्षिक खर्च होता था। तानाशाह और हैदराबादके अन्य मुसलमान शासकोंद्वारा भगवान् श्रीरामको समय-समयपर भेंट किये गये बहुमूल्य गहने आज भी यहाँ सुरक्षित हैं और रामनवमी आदि विशेष समारोहोंपर भगवान्को धारण कराये जाते हैं।

संत रामदासने उस समय मन्दिरका निर्माण ६ लाख रुपयेमें किया था। निज मन्दिरके अतिरिक्त २४ छोटे मन्दिर भी आसपास बने हुए हैं, जिनसे मन्दिरकी शोभा और भी बढ़ गयी है। अब इसी मन्दिरके जीर्णोद्धारके लिये आन्ध्र-प्रदेश-सरकारके धर्मस्व-विभागके तत्कालीन मन्त्री श्री के० चन्द्रमौलिने १२ लाख रुपयेकी एक योजना १९६० में तैयार की थी। इसके पूर्ण होनेपर निःसंदेह भद्राचलम्की काया-पलट हो जायगी। जीर्णोद्धार-कोषमें भक्तोंका अच्छा योग मिल रहा है। इस समय मन्दिरका प्रबन्धभार एक समितिके अधीन है और उसके अध्यक्ष स्वयं धर्मस्व-विभागके मन्त्री रहते हैं।

तुम और मैं

(रचयिता—श्री'स्वर्णकिरण')

शून्य पटपर दृश्य
तुम हो
स्वतः अंकित एक अक्षर,
दीप्त, अपने आप अनुपम शक्तिसे सम्पन्न;
एक अक्षर, विश्वव्यापी गूँज;
औ' मैं विश्वव्यापी गूँजका बस एक कण हूँ।
अहंसे परिचित,
विवशताकी न छाया,
चिन्तनाकी शक्तिसे अभिभूत
विस्तृत एक उपवन हूँ।
गन्धवहकी गन्धसे अभिषिक्त
तुम
आलोकके हो कल्पतरु;
निर्भीक, अपने आपमें संतुष्ट,
केवल कल्पतरु बस एक, फल-माधुर्य लेकिन
जगद्व्यापी;
जगद्व्यापी कल्पतरु-माधुर्यका मैं एक कण हूँ,
पासमें अद्भुत विमोहन शक्ति,
रेशम डोर, मोहक स्वप्नके सुकुमार स्वर-जैसे
नहीं मैं आत्मरतिके स्वप्नका स्वन हूँ।
ऊर्ध्वगति औ' अधःगतिके बीच
तुम हो
सलिलपूरित एक मानस,
मुक्त, अपने-आपमें उत्फुल्ल;
एक मानस, अनगिनत अनुभूतियोंसे पूर्ण;
और मैं
इस तरहकी अनुभूतियोंका एक कण हूँ।
एक कण, संवेदनाका पुंज,
विकसनशील, ऊर्ध्वग,
कान्तिसे संयुक्त, सक्षम,
विभापूरक, दीप्त पौरुष-व्रत-प्रवण हूँ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कृतज्ञता-ईमानदारी और कृतघ्नता-बेईमानी

गणेशदासजी राजस्थानके निवासी थे। आसामके एक गाँवमें उनकी कपड़े, गल्ले, किरानेकी दूकान थी। काम कुछ चलने लगा। तब वे देशसे रामकुमार नामक अपने एक गरीब सम्बन्धीको मुनीमके रूपमें ले गये। उसको पाला-पोसा, काम सिखाया, काम सौंपा। इन्हींके साथ एक साँवलराम नामक गरीब ब्राह्मण भी गये। गणेशदासजीने अपने छोटेसे भगवान्के मन्दिर (ठाकुरवाड़ी) में साँवलरामको पुजारी नियुक्त कर दिया। इसके सिवा बरनी, पाठ-पूजा आदि करके भी वे कुछ कमाने लगे। पर साँवलराम रहते थे गणेशदासजीके गोलेमें ही तथा वहीं खाते भी थे। कुछ समय बाद साँवलरामने अपनी पत्नीको भी बुला लिया। गाँवमें राजस्थानियोंके कई परिवार रहते थे। नयी बहीका पूजन, पूजापाठ, व्रत-त्योहार, रामनवमी-दीवाली आदिके काम रहते थे ही। वहाँ और कोई पण्डित था नहीं। सभी कामोंमें साँवलरामजीकी माँग रहती। वे अच्छी तरह कमाने-खाने लगे। रुपये जुड़ने लगे। जब वे गणेशदासजीके साथ आये थे, तब भी और उनकी स्त्रीके आनेके बहुत दिनों बादतक भी उनकी हालत बहुत गरीबीकी ही थी। गणेशदासजीकी पत्नी और गणेशदासजी उनकी हर तरहसे सहायता करते। लड़कीका विवाह भी करा दिया था उन्होंने ही। इधर पं० साँवलरामजी भी गणेशदासजीके लिये अपना जीवन देनेको तैयार रहते।

दूकानका सारा काम अब रामकुमार सँभालने लगा। उसका परिवार भी वहाँ आ गया। कुछ वर्षोंके बाद रामकुमारकी नीयत बिगड़ी। उसने दूकानमें चोरी आरम्भ की। दूकानका सामान अपने घर ले जाता, माल बेचकर रुपये अपनी जेबमें डाल लेता। धीरे-धीरे इस बातका साँवलरामजीको पता लग गया। उन्होंने रामकुमारको समझाकर कहा कि 'यों चोरी तथा नमकहरामी करना ठीक नहीं, इससे बड़ा पाप होता है।' पर पैसेका लोभ मनुष्यके विवेकको नष्ट कर देता है। 'चोर धर्मकी बात क्यों सुनने लगा।' रामकुमारने उनकी बात नहीं सुनी। बल्कि साँवलरामको भी कुछ हिस्सा देनेका प्रस्ताव किया। साँवलराम ईमानदार थे, सच्चे थे। उन्होंने उस प्रस्तावको ठुकरा ही नहीं दिया, रामकुमारको समझाया भी। पर वह नहीं माना। उलटे साँवलरामसे वैर मानने लगा और गणेशदासजीसे साँवलरामजीके चरित्र, आचरण, व्यवहार आदिके सम्बन्धमें झूठी-झूठी शिकायतें—'यह व्यभिचारी है, चोर है, मैं समझाता हूँ तो मुझसे बुरा मानता है।' आदि कह-कहकर उनका मन खराब करने लगा।

रामकुमारकी चोरी खुले हाथों चलने लगी। बेईमानी बेहद बढ़ती गयी। वह बड़ी तेजीसे अपना घर बनाने लगा। गणेशदासजीकी हानिका उसके मनमें कोई विचार ही नहीं रहा। साँवलरामजीसे यह नहीं सहा गया। उन्होंने गणेशदासजीको एक दिन सब बातें संक्षेपमें कहीं। गणेशदासजीका मन पहलेसे खराब तो था, पर उन्होंने रामकुमारसे इसके बाबत पूछा। रामकुमारने साँवलरामजीके सम्बन्धमें जली-कटी बातें सुनाकर उनसे कहा—'मैंने तो पहले ही कहा था कि साँवलराम अब पहले-जैसा गरीब ब्राह्मण नहीं रहा है—यह आपका बुरा चाहता और बुरा ही करता है। मुझसे वैर मानता है, इसीसे मेरे बारेमें झूठी बातें बना-बनाकर उसने आपसे कही है।' यों कहकर वह झूठमूठ रोने लगा और अपना विश्वास जमानेके लिये गणेशदासके पैर पकड़कर बोला—'आप मालिक हैं, जचे सो कीजिये। पर मुझसे आपका अनिष्ट देखा नहीं जाता, इसीसे रोकर आपसे यह कहता हूँ कि आप अपना भला चाहते हैं तो साँवलरामको तुरंत निकाल देना चाहिये।'

सेठ गणेशदासपर रामकुमारके रोनेका बड़ा असर पड़ा। उन्होंने साँवलरामजीको बुलाकर उनका तिरस्कार किया और घरसे निकल जानेको कह दिया। उनकी पत्नी चन्दाने रोका-टोका भी, पर उस समय गणेशदासजी क्रोधमें थे, बुद्धि मारी गयी थी, इससे वे नहीं माने। साँवलराम अपना सामान तथा रोती हुई पत्नीको लेकर चल दिये और एक दूसरे दूकानदार हरनारायणके घर जाकर रह गये। वह इनसे बहुत प्रेम करता था।

× × ×

कुछ समय बाद पासा पलटा। रामकुमारकी बेईमानी तथा अन्यायाचरणसे गणेशदासजीकी दूकानका बुरा हाल हो गया। एक दूसरे व्यापारी बजरंगलालसे, जो गुंडा स्वभावका

था और गणेशदाससे द्वेष रखता था, साजिश करके रामकुमारने गणेशदासकी फार्मके नामसे तीन साल पहलेकी तारीखमें पंद्रह हजारका उधार रुपये लेनेका हैंडनोट लिख दिया—कह दिया कि 'डिक्री होनेपर रुपये वसूल होंगे तब आधे-आधे बाँट लिये जायँगे।' नालिश हो गयी। रामकुमारको सब प्रकारकी सही करनेका हक था। उसने साक्षी दे दी कि 'रुपये फार्मके कामसे लिये गये थे, मेरे हस्ताक्षर हैं।' हाकिमको भी किसी तरह् पक्षमें कर लिया गया। डिक्री हो गयी। मालताल तो कुछ था नहीं, जमीन-गोला था और कुछ गहना था। उसपर कुर्कीकी नोटिस आ गयी। गाँवभरमें तरह-तरहकी पक्ष-विपक्षकी चर्चा फैल गयी। रामकुमारकी नीचता सीमा पार कर गयी।

कुर्की आनेवाली थी, उसके पहले दिन रात्रिको साँवलरामजीकी स्त्री—गोदावरी ब्राह्मणी चुपके-से गणेशदासजीकी स्त्री चन्दा बाईके पास पहुँची और पैर पकड़कर रोने लगी। उस समय गणेशदास कुछ व्यवस्था करनेके लिये बाहर गये हुए थे। वे कई दिनोंसे प्रयत्न कर रहे थे कि कहींसे जमीन-गोलेपर कुछ रुपये मिल जायँ तो इज्जत बचे। पर कहीं व्यवस्था हो नहीं पा रही थी। निराश और बड़े दुखी थे। कभी-कभी दोनों स्त्री-पुरुष आत्महत्याकी बात सोचा करते थे। कहा करते हे प्रभो!—'साँई इतनी बीनती दोनूँ भेला रख। लाज रखे तो जीव रख लज विन जीव न रख॥' आज यह आखिरी प्रयास था। सफलता न होगी तो फिर कुछ-न-कुछ किया ही जायगा, यही कहकर वे गये थे।

पण्डितानी गोदावरीको पैर पकड़े रोती देखकर दुखिया चन्दा भी रो पड़ी। धीरजका बाँध टूट गया। इस दुःखके समय गोदावरी आयी तो है, इसी बातपर चन्दाका स्नेह उमड़ आया। वह बोल न सकी। गोदावरीने धीरेसे बगलमेंसे एक पोटली निकाली—उसमें सोनेका छः-सात हजारका गहना था और दस हजारके नोट थे। दस-पंद्रह वर्षकी साँवलरामकी ब्राह्मण-वृत्तिकी सारी कमाई थी। उसने रखकर हाथ जोड़कर कहा—'मैं कंगालिनी आपका कोई उपकार करने नहीं आयी। आप मेरी माँ हैं, मेरे पतिकी माँ हैं। आपके ही स्नेहसे हमलोगोंका जीवन बना है, हमारे रक्तके कण-कणमें आपका अन्न भरा है। यह जो कुछ है, सब आपका ही है। इसे आप स्वीकार करें।' यों भाँति-भाँतिसे गोदावरी बड़ी नम्रतासे रो-रोकर चन्दासे प्रार्थना कर रही थी और चन्दा उसका उपकार मानती हुई लेनेसे इन्कार कर रही थी। इसी बीच गणेशदासजी खाली हाथ उदास लौटे। वे दूर खड़े होकर आँसू पोंछने लगे और सुनने लगे इनकी बातें। गोदावरी कह रही थी—'माँजी! यह सारी रामकुमारकी करतूत है, उसीने हमारे भोले सेठजीको बहकाकर आपके बेटे (साँवलराम) को घरसे निकलवाया, उसने बेईमानीसे अपना घर बनाया और उसीने षड्यन्त्र करके यह विपत्ति बुलवायी। पर आप उसपर क्षमा करें और मेरी प्रार्थनाको स्वीकार करें।' सुनकर गणेशदास दंग रह गये। अपनी भूलपर पश्चात्तापकी आग जल उठी। वे तुरंत सामने आ गये। श्रीसाँवलरामजीको बुलाया गया। सारा भेद खुला। सबेरे रुपये कोर्टमें भरकर वकीलोंकी सलाहसे बजरंगलाल और रामकुमारपर फौजदारी मामला दायर कर दिया और मामलेके फैसला न होनेतकके लिये कोर्टमें दरखास्त देकर बजरंगलालको रुपये न देनेका आदेश प्राप्त कर लिया। कोर्टमें केस चलनेपर सच्ची बातें सामने आ गयीं। बजरंगलाल और रामकुमारको कड़ी कैदकी सजा हुई। रुपये गणेशदासको वापस मिल गये। सबकी सहानुभूति बढ़ गयी। दूकान फिर चल निकली। गणेशदास सुखी हो गये। साँवलराम और उनकी पत्नी फिर घरमें आ गये। उनके प्रति गणेशदासका जीवन कृतज्ञतासे भर गया।

ये दो सच्चे चित्र हैं। एक—कृतज्ञता, ईमानदारी और भलाईका, दैवी भावका; दूसरा—कृतघ्नता, बेईमानी और बुराईका, आसुरी सम्पत्तिका।

सोचिये—और जीवनमें दैवी सम्पत्तिके चित्रको चरित्ररूपसे उतारिये।

—बालमुकुन्द सोनी

(२)

बड़ोंका आशीर्वाद

सर चिन्तामणि देशमुख भारतके माने हुए अर्थशास्त्री हैं। ब्रिटिश-राज्यकालमें वे रिजर्व बैंकके गवर्नर थे। इनसे पहिले अर्थविभागके इतने ऊँचे पदपर किसी भी भारतीयकी नियुक्ति नहीं हुई थी। देश स्वतन्त्र होनेपर श्रीजान मथाई और सर षणमुखम् चेट्टीके बाद वे केन्द्रीय सरकारमें फाइनेन्स मेम्बर (अर्थसचिव) बनाये गये। मेरठके नागरिकोंद्वारा आयोजित एक स्वागत-समारोहमें

बोलते हुए आपने अपने जीवनकी एक रोचक घटनाका वर्णन किया ।

श्रीदेशमुखजीने कहा कि जब मैं फर्ग्यूसन कालेज पूनाका विद्यार्थी था, तब लोकमान्य तिलकने एक दिन हमारे प्रिन्सिपल महोदयसे कहा कि 'मुझे एक आवश्यक अर्थसम्बन्धी लेख लिखना है, आप अपने किसी होशियार छात्रको भेज दें, मैं जो बोलूँ उसे वह ठीक-ठीक लिखता रहे ।' प्रिन्सिपल महोदयने इस कार्यके लिये मुझे चुना और कहा कि आज संध्यासमय पाँच बजेके लगभग लोकमान्य तिलकजीके पास चले जाना और वे जो बोलें उसे ठीक-ठीक लिखते रहना ।' मैंने इसे अपना अहोभाग्य समझा और सगर्व तिलकजीके चरणोंमें पहुँचा । अकस्मात् उस समय तिलकजीसे मिलने कुछ महानुभाव आ गये और लेख लिखानेके लिये उनके पास समय नहीं रहा । तिलकजी इससे खिन्न थे । मैंने कहा, 'आप मुझे समझा दीजिये कि आप क्या लिखाना चाहते हैं । एक स्थूल-सी रूप-रेखा दे दीजिये । मैं स्वयं लेख तैयार कर लाऊँगा ।' इसपर तिलकजी मुस्कराये, पर मेरा मन रखनेके लिये उन्होंने अपना विषय और मुद्दे मुझे समझा दिये। अगले दिन मैं वह लेख तैयार करके उनकी सेवामें पहुँचा, जिसे पढ़कर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और मेरे सिरपर हाथ फेरते हुए बोले—'जाओ, हमने तुम्हें आशीर्वाद दिया, तुम एक दिन भारतके फाइनेन्स मेम्बर बनोगे ।' तिलकजीका यह आशीर्वाद मुझे बराबर स्मरण रहा; क्योंकि मैं जानता था कि महात्माओंका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं जाता और जब मैं रिजर्व बैंकका गवर्नर बन गया तो मैंने समझा कि अब लोकमान्यका आशीर्वाद पूरा हो गया; क्योंकि रिजर्व बैंकके गवर्नर और फाइनेन्स मेम्बरके पदमें कोई ऐसा विशेष अन्तर नहीं है और इसके बाद मैं इस आशीर्वादकी बात बिल्कुल भूल गया । परंतु अब भारतसरकारका फाइनेन्स-मेम्बर बन जानेके बाद मुझे फिर तिलकजीका आशीर्वाद याद आ गया कि यह मेरी भूल थी कि रिजर्व बैंककी गवर्नरीपर ही मैंने उनके आशीर्वादको पूरा हुआ समझ लिया था । महात्माओंका आशीर्वाद लगभग ही सत्य नहीं होता, वह तो अक्षरशः सत्य होता है ।

—राजेन्द्रप्रसाद जैन, सिरसा

(३)

एक अफसर और

एक पाठशालामें एक समय किसी विद्वान् स्वामीजी प्रवचन था । विद्यार्थियोंके योग्य अपने सरल प्रवचनमें विद्यार्थियोंको एक दृष्टान्त सुनाया, उसीको यहाँ जाता है ।

एक राजा था, बड़ा शौकीन । इतनेपर भी प्रजाके उसकी बड़ी लगन थी । प्रजा कैसे सुखी हो, इसकी वह सदा करता ।

उसने अपने नगरमें बालकोंको सुबह-शाम दूध इसकी व्यवस्था सोची । गोचरभूमि खरीदी । सौ गायें लीं और उन गायोंके पालनके लिये उनकी सेवा करने एक ग्वाला रक्खा ।

वह ग्वाला गायोंको चराकर सुबह-शाम गायोंको और दूध दरबारमें दे जाता तथा वहाँसे बालकोंको दिया जाता ।

इस योजनाके अनुसार बहुत दिनोंतक सुन्दर चलती रही; पर धीरे-धीरे समाजमें परिवर्तन आया । शौक बढ़ गया और महँगीका चक्र चलने लगा । खान-पानकी चीजोंकी कीमत बढ़ गयी, कपड़े-लत्तेपर महँगाईका असर पड़ा । बेचारा ग्वाला इस महँगीसे उसने राजाजीसे फरियाद की, पर कुछ फल नहीं नौकरीमें एक पैसा भी नहीं बढ़ा । बँधी नौकरीसे इस महँगीमें कुटुम्बका पालन कैसे करता ?

और अन्तमें 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्?' (क्या पाप नहीं करता) के अनुसार उसने रास्ता ढूँढ़ा । तंदुरुस्त होनेके कारण प्रत्येक दस-दस सेर दूध दिया कुल पचीस मन दूधमेंसे एक मन निकालकर ग्वाले मन जल मिलाना शुरू किया । ग्वालेने नीति एक रख दी । बेचारा और करता भी क्या ? .

कुछ दिन तो यों चला । एक दिन राजाजीने जाँच की । राजाजीको लगा दूध पतला कैसे ?

उनको चाहिये था कि वे ग्वालेसे पूछते, उसकी सुनते । पतले दूधके लिये कौन जिम्मेवार है, इसका लगाते । पर ऐसी व्यावहारिकतासे काम लें तो राजाजी उन्होंने तुरंत ही ग्वालेपर देखरेख रखनेके लिये

अफसरको नियुक्त कर दिया। इस अफसरके वेतनका चौथा हिस्सा भी ग्वालेको अधिक दिया गया होता तो ? पर यह सब राजाजी क्यों करने लगे।

अफसर साहेबकी कार्रवाई शुरू हुई। अधिक नहीं, सिर्फ दो-तीन दिनोंतक तो वह ग्वाला कुछ नहीं बोला; लेकिन चौथे ही दिन उसने उन साहेबसे कहा—'भाई साहब ! काहेमें से पेट पूरा करूँ ? थोड़ेमें कहूँ तो इतना ही कि आप यदि कृपादृष्टि रक्खेंगे तो आपके यहाँ भी बच्चे दूध पीते रहेंगे।'

अरे, उस भोले हृदयके ग्वालेकी नीति कहाँ चली गयी ? वह कैसे ऐसा नीतिचोर बन गया ? यह प्रश्न भी क्या ऐसा है जिसे हमलोग न समझ सकें ?

वे अफसर धमकी दे गये; पर उनकी धमकीके पीछे कितना स्वार्थ था ? साहेबके बाल-बच्चोंके लिये दूध पहुँचने लगा; इस कमीको मिटानेके लिये जलके सिवा और था ही क्या जो मिलाया जाता !

राजाको आजकल निश्चिन्तता थी। पर एक दिन जाँच कर बैठे तो पता लगा कि दूध तो पतला ही होता चला जा रहा है। राजाजीको और क्या सूझता ? एक इन्सपेक्टर अफसर और रक्खे गये। इन इन्सपेक्टर साहेबके यहाँ भी बिना ही दूध खरीदे दूधपाक-हलवा बनने लगा।

अब राजाजीने दूधको गाढ़ा बनानेके लिये उन इन्स्पेक्टरके ऊपर एक समिति बना दी और दूसरे ही दिन समितिके प्रत्येक सदस्यके लिये दो-एक देगची खरीदना कर्तव्य हो गया, दूधके आगमनका स्वागत-सत्कार करनेके लिये ही तो। और इस प्रकार ग्वालेका सारा समय गायोंके पालनमें नहीं, पर अफसरोंके 'लालन-पालन'में ही खर्च होने लगा। गायोंकी दूध देनेकी शक्ति घट गयी। मुश्किलसे दस मन दूध गायें दे पातीं और उसमेंसे नौ, साढ़े-नौ मन अफसरोंके यहाँ बँट जाता। कठिनतासे केवल एक मन दूध ग्वालेके पास बचता। उसमें चौबीस मन जल मिलाया जाता और उसे सब दूध कहते !

राजाने फिर जाँच-पड़ताल की, अब प्रधान मन्त्रीसे पूछनेकी बात मनमें आयी। उनको बुलाकर सब बातें बतायीं। प्रधानजी मूँछोंमें मुस्करा दिये।

राजाजीने तंग आकर व्यंगमें पूछा—दूधमें सफेदी तो नहीं होनी चाहिये न ? फिर इस दूधमें इतनी सफेदी क्यों है ?

प्रधान मन्त्रीने तिरछी नजरसे जवाब दिया—एक अफसर और नियुक्त कर दीजिये। फिर इतनी सफेदी भी दूर हो जायगी······सिर्फ खाँटी दूध ही रह जायगा······'

हमारी आजकी योजनाओंकी तो इस दृष्टान्तके साथ कहीं कुछ लाग-लपेट नहीं है न ? (अखण्ड आनन्द)

—जोइताराम पटेल

(४)

चौकीदारकी ईमानदारी

श्रीधर्मदास चौकीदार ग्राम-पञ्चायत धिठती, तहसील चच्पोट, जि० मण्डी (हि० प्र०) को ३ अप्रैल १९६३ के दिन धिठती, चच्योट मार्गमें एक बटुवा मिला, जिसमें सात सौ रुपये थे। श्रीधर्मदास चौकीदारने उसे रास्तेसे उठाया और जोरसे पुकारा कि 'यह बटुवा' किसका है ?' उस समय आस-पास खेतोंमें काम कर रहे आदमियोंसे पूछा; किंतु बटुवा उनका नहीं था। थोड़ी देरमें जिस व्यक्तिका वह बटुवा था, वह चार फर्लांगसे पीछे बुलाया गया। उसे पूछा गया कि 'बटुवा आपका है ?' उसने उत्तर दिया कि 'मेरा ही है।' श्रीधर्मदास चौकीदारने उसे सम्मानपूर्वक उसके हाथोंमें सौंप दिया। जब खोलकर देखा तो सात सौ रुपयेकी रकम पूरी थी।

इस समय वह बटुवेवाला, जो कि लाहुलनिवासी था, खुशीमें श्रीधर्मदास चौकीदारको बीस रुपये इनामके रूपमें दे रहा था; किंतु श्रीधर्मदास चौकीदारने उससे कहा कि 'मुझे ईश्वरने जो दिया है, वह संतोषजनक है। यह तो मेरा कर्तव्य था। आपके खोये हुए पैसे मुझे आपको देने ही हैं।' श्रीधर्मदास चौकीदारके साथ और भी व्यक्ति थे, उन्होंने कहा था कि 'आप क्यों वापिस कर रहे हैं, यह तो आपको रास्तेमें मिले हैं।' किंतु श्रीधर्मदास चौकीदारने कहा कि 'दूसरेकी चीज मैं कैसे लेता ? यदि लेता तो पता नहीं, भगवान् मुझे कितना और दुःख देते। मेरे लिये दूसरेका धन धूलके समान है। मैं एक साधारण ग्रामपञ्चायतका चौकीदार हूँ। मुझको कुल पंद्रह रुपया मासिक वेतन मिलता है। मुझे उसीमें संतोष है। देनेवाला भगवान् है। अगर मैं लालच-लोभमें आकर छिपा लेता तो देखा तो ईश्वरके सिवा किसीने भी नहीं था। पर भगवान् मुझे कैसे क्षमा करते। सम्भवतः

भगवान् मेरी परीक्षा ले रहे थे; किंतु उनकी कृपासे मैं उसमें सफल हो गया हूँ ।'

श्रीधर्मदास चौकीदार एक साधु-भक्त-संत-सेवक ईमानदार और दयाशील व्यक्ति है। भगवान्‌का उपासक दीन-दुखियोंपर दया करनेवाला और सत्यके मार्गसे कभी भी विचलित नहीं होनेवाला होता है। धर्मदास गरीब तथा निर्धन घरसे सम्बन्ध रखता है, परंतु साधु-सेवाने उसके चित्तको निर्मल बना दिया है। अतएव श्रीधर्मदास चौकीदार अपनी सच्चाईकी प्रतिभासे आगेके लिये भी प्रतिभाशाली बनता रहेगा।

श्रीधर्मदास चौकीदारने साधु-संतोंके लिये भी अपनी जमीनमें एकान्त स्थानमें एक कुटिया बना रक्खी है। कुटियामें कोई भी महात्मा ठहर सकता है। श्रीधर्मदास चौकीदार सेवाके लिये तैयार रहता है।

—के॰ आर॰ राकेश

(५)

भाग्यका चमत्कार

सन् १९५३ में हम मोगा मण्डी, फीरोजपुर जिलामें अपने मामाके यहाँ गये हुए थे। लगभग दो महीने वहाँ रहे थे। वहाँ एक सरदार थे, बर्तन सिरपर लेकर घूम-घूमकर बेचा करते। एक दिन फूट-टूटमें उन्हें कहींसे आठ आनेमें किसी रईस घरानेका एक पानदान मिल गया। पानदान बहुत सुन्दर था, उसपर जड़ाऊ काम था। पानदान बंद था। वे शामको जब घर आये तो मुहल्लेकी कुछ औरतें जुट गयीं। किसीने खरीदी, किसीने गिलास लिया। एक औरत वह पानदान रुपये चार आनेमें खरीदकर अपने घर ले गयी। घर उसने उसको खोलना चाहा; बहुत जोर लगाया, पर जब खुला तो उसने आकर अपने दाम वापस ले लिये पानदान सरदारजीको लौटा दिया। दूसरे दिन रविवार था दूकानें बंद थीं, इसलिये सरदारजी चौतरेपर बर्तन बैठ गये। किसीने उस पानदानको फिर सवा तीन खरीदा। पर भाग्यकी बात, उससे भी वह पानदान खुला, तब शामको वह भी लौटा गया। उसके लौट बाद सरदारजीको बड़ा गुस्सा आया और वे कहने कि 'ऐसा क्या पानदान है किसीसे नहीं खुलता।' आकर सरदारने उसको उठाकर जोरसे सड़कपर दे मारा कहा कि 'देखता हूँ—यह कैसे नहीं खुलता।'

सड़कपर गिरते ही पानदानके दो टुकड़े अलग-अल हो गये। डिब्बा एक तरफ और ढक्कन दूसरी तरफ गिर पड़ा। पर यह देखकर सब आश्चर्यचकित हो गये और सबने अँगु मुँहमें दबा ली—कि उसमें सात हजार रुपयेके सौ-सौ सत्तर नोट थे। सरदारने डिब्बा उठाकर नोट लिये। तबसे सरदार वहाँ ठाटसे बर्तनोंकी दूकान करते हैं। यह मेरी आँखों-देखी घटना है।

—मदनलाल पिहो

व्यवहार

जो व्यवहार तुम सदा दूसरोंसे अपने लिये चाहते हो अर्थात् मान-सत्कार, प्रशंसा, हित, प्रेम, सेवा, लाभ और सद्व्यवहार चाहते हो,—वही दूसरोंके प्रति सदा विशेष सावधानी तथा उदारताके साथ स्वाभाविक करो।

जो व्यवहार तुम दूसरोंसे अपने लिये कभी नहीं चाहते अर्थात् अपमान-असत्कार, निन्दा, अहित, द्रोह, उपेक्षा, हानि और दुर्व्यवहार कभी भी जरा भी नहीं चाहते,—वही दूसरोंके साथ कभी भूलकर भी जरा भी न करो।

संस्कृति-माला भाग १ से ८ (कक्षा ३ से १० के लिये)

प्रायः सभी देश-हितैषियों तथा शिक्षाविशारदोंने यह स्वीकार किया है कि शिक्षा-संस्थाओंके वर्तमान पाठ्यक्रममें भारतीय संस्कृतिके ज्ञानका समावेश न होनेके कारण आज देशके नवयुवकोंमें अनुशासनहीनता आ गयी है। नैतिक बलका अभाव हो गया है और उच्छृङ्खलता बढ़ गयी है। भारतीय संस्कृतिके अमर सिद्धान्तोंसे परिचित होनेपर ही ये कमियाँ दूर हो सकती हैं। इसलिये बिरला-शिक्षण-संस्थाओंके सम्मान्य कुलपति पद्मश्री पं० श्रीशुकदेवजी पाण्डेने विभिन्न कक्षाओंके विद्यार्थियोंके मानसिक धरातलके अनुरूप प्राचीन भारतीय संस्कृतिका एक पाठ्यक्रम तैयार करनेके लिये विभिन्न शिक्षाविद् सज्जनोंकी एक उपसमिति श्रीयुत डॉ० कन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, अध्यक्ष—हिंदी-संस्कृत-विभाग, बिरला-आर्ट्स् कालेज, पिलानी (राजस्थान) की अध्यक्षतामें नियुक्त की थी। उसने विभिन्न कक्षाओंके लिये जो पाठ्यक्रम बनाया उसीके अनुसार ये पुस्तकें तैयार हुई हैं। आशा है कि शिक्षा-जगत् इनसे लाभ उठा सकेगा।

संस्कृति-माला भाग १ (कक्षा ३ के लिये)—पृष्ठ-सं० ४८, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, मू० २० नये पैसे, डाकखर्च अलग। इसमें रामायण, महाभारत, श्रवणकुमार, प्रह्लाद, ध्रुव, सती सावित्रीकी कहानियाँ और पालनीय नियम हैं।

संस्कृति-माला भाग २ (कक्षा ४ के लिये)—पृष्ठ-सं० ५६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मू० .२५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें सत्यकाम जाबाल, महाशाल शौनक और अङ्गिरा ऋषि, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी, नचिकेता, इन्द्र-विरोचन, श्रीकृष्ण, भक्त हनुमान्, भीष्मपितामह, युधिष्ठिर और एकलव्यकी कहानियाँ तथा पालनीय नियम हैं।

संस्कृति-माला भाग ३ (कक्षा ५ के लिये)—पृष्ठ-संख्या ८८, मूल्य .३० नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, भगवान् परशुराम, महात्मा कबीर, गुरु नानकदेव आदि १९ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ४ (कक्षा ६ के लिये)—पृष्ठ-संख्या १०४, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें भक्त सुव्रत, भक्त परीक्षित्, मातृपितृभक्त श्रवणकुमार, चैतन्य महाप्रभु, समर्थ स्वामी रामदास, महामुनि वशिष्ठ, दिलीप, भक्त सूरदास, तानसेन, मीराँ आदि २६ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ५ (कक्षा ७ के लिये)—पृष्ठ-संख्या ९६, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें जातक कथाओंका परिचय, चाणक्य, चरक, कालिदास, कर्ण, दमयन्ती, बुद्ध, महावीर, तक्षशिला, नालन्दा आदि १७ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ६ (कक्षा ८ के लिये)—पृष्ठ-सं० १००, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, मू० .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें दानवीर दानव नमुचि, राजा त्रिविक्रमसेन और भिक्षुक तपोदत्तकी कहानी, धवलमुख और उसके दो मित्र, भरत मुनि, कपिल मुनि, भामती, रामकृष्ण परमहंस आदि १९ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ७ (कक्षा ९ के लिये)—पृष्ठ-सं० १५२, आठ सादे चित्र, मू० .५५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें ब्रह्मतेजकी विजय, अभिमानका त्याग, महर्षि दध्यङ्ङाथर्वणकी क्षमाशीलता आदि १२ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ८ (कक्षा १० के लिये)—पृष्ठ-सं० १३६, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, दो तिरंगे तथा दो सादे आर्टपेपरपर छपे चित्र, मू० .५५ नये पैसे। डाक-खर्च अलग। इसमें ईशादि तेरह उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, हड़प्पा और मोहेन-जो-दड़ो और विक्रमशिलाके पाठ हैं।

ये सभी पुस्तकें साफ सुन्दर अक्षरोंमें छपी हुई हैं। स्कूल-कालेजोंके पाठ्यक्रममें सम्मिलित करने योग्य हैं। विक्रेताओंको नियमानुसार कमीशन तथा अपने निकटस्थ स्टेशनतक नियमानुसार फ्री-डिलेवरी मिलती है।

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी

टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका। गीता-विषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तरके रूपमें विवेचनात्मक ढंगकी हिंदी टीका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य साधारण संस्करण ४.००, **३८ पौंडके मोटे रैगऊभ टिकाऊ कागजोंका बढ़िया संस्करण, मूल्य ६.००**, डाकखर्च अलग।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

॥ श्रीहरिः ॥

एक नयी पुस्तक ! *प्रकाशित हो गयी !!*

कर्मयोगका तत्त्व

लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आकार डबल क्राउन सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या ४२०, दो तिरंगे तथा तीन सादे—कु पाँच सुन्दर चित्र, **मूल्य** १.१२, डाकखर्च १.०३, कुल २.१५ न० पै०।

जबसे **श्रीगोयन्दकाजी**के ज्ञानयोग-सम्बन्धी लेखोंका संग्रह **'ज्ञानयोगका तत्त्व'** तथा प्रे योग-सम्बन्धी लेखोंका संग्रह **'प्रेमयोगका तत्त्व'** प्रकाशित हुए, तभीसे अनेक प्रेमियोंका यह आग्रह थ कि उनके कर्मयोग-सम्बन्धी लेखोंका भी एक अलग संग्रह प्रकाशित किया जाय जिससे इस मार्गके साधकोंको एक स्थानपर एकत्र कर्मयोगसम्बन्धी पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सके।

प्रस्तुत पुस्तकमें कर्मयोग-सम्बन्धी ३१ लेखोंका संग्रह है, जो समय-समयपर 'कल्याण' त 'तत्त्व-चिन्तामणि' आदि पुस्तकोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। ये लेख गृहस्थोंके लिये विशेष उपादे हैं; क्योंकि इनमें गृहस्थाश्रममें रहकर बहुलतासे काम करते हुए भी शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्रा कैसे हो सकती है—यह विशेषरूपसे बतलाया गया है। आशा है कि कर्मयोगके तत्त्व-रहस्यको भलीभाँति समझने और तदनुसार साधन करनेके इच्छुक लोगोंके लिये यह संग्रह विशेषरूपसे सहाय हो सकेगा।

श्रीगोयन्दकाजीकी कुछ अन्य पुस्तकें

१—**महत्त्वपूर्ण शिक्षा**—पृष्ठ-संख्या ४७६, चार तिरंगे सुन्दर चित्र, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग।
२—**परम साधन**—पृष्ठ-संख्या ३७२, पाँच सुन्दर तिरंगे चित्र, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग।
३—**मनुष्य-जीवनकी सफलता**—पृष्ठ-संख्या ३५२, पाँच तिरंगे चित्र, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग।
४—**परम शान्तिका मार्ग**—पृष्ठ-संख्या ४१६, चित्र रंगीन चार, सादे दो, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग।
५—**मनुष्यका परम कर्तव्य**—पृष्ठ-संख्या ४१०, चित्र रंगीन चार, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग।
६—**ज्ञानयोगका तत्त्व**—पृष्ठ-संख्या ३८४, चित्र रंगीन तीन, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग।
७—**प्रेमयोगका तत्त्व**—पृष्ठ-संख्या ३८०, चित्र रंगीन पाँच, सादा १, **मूल्य** १.०० डाकखर्च अल

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने शहरके **पुस्तकविक्रेता**से प्राप्त करने प्रयत्न कीजिये, इससे आपको भारी डाकखर्च एवं समयकी बचत हो सकेगी।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर**

कांगड़ा

हो गयी !!

सादे—

तथा प्रे
ह आग्रह
इस मार्ग

ल्याण' त
शेष उपादे
माकी प्रा
तत्त्व-रहस्य
पसे सहा

र्च अलग।
लग।
र्च अलग।
र्च अलग।
र्च अलग।
लग।
खर्च अल
प्राप्त करने

गोरखपुर

कल्याण

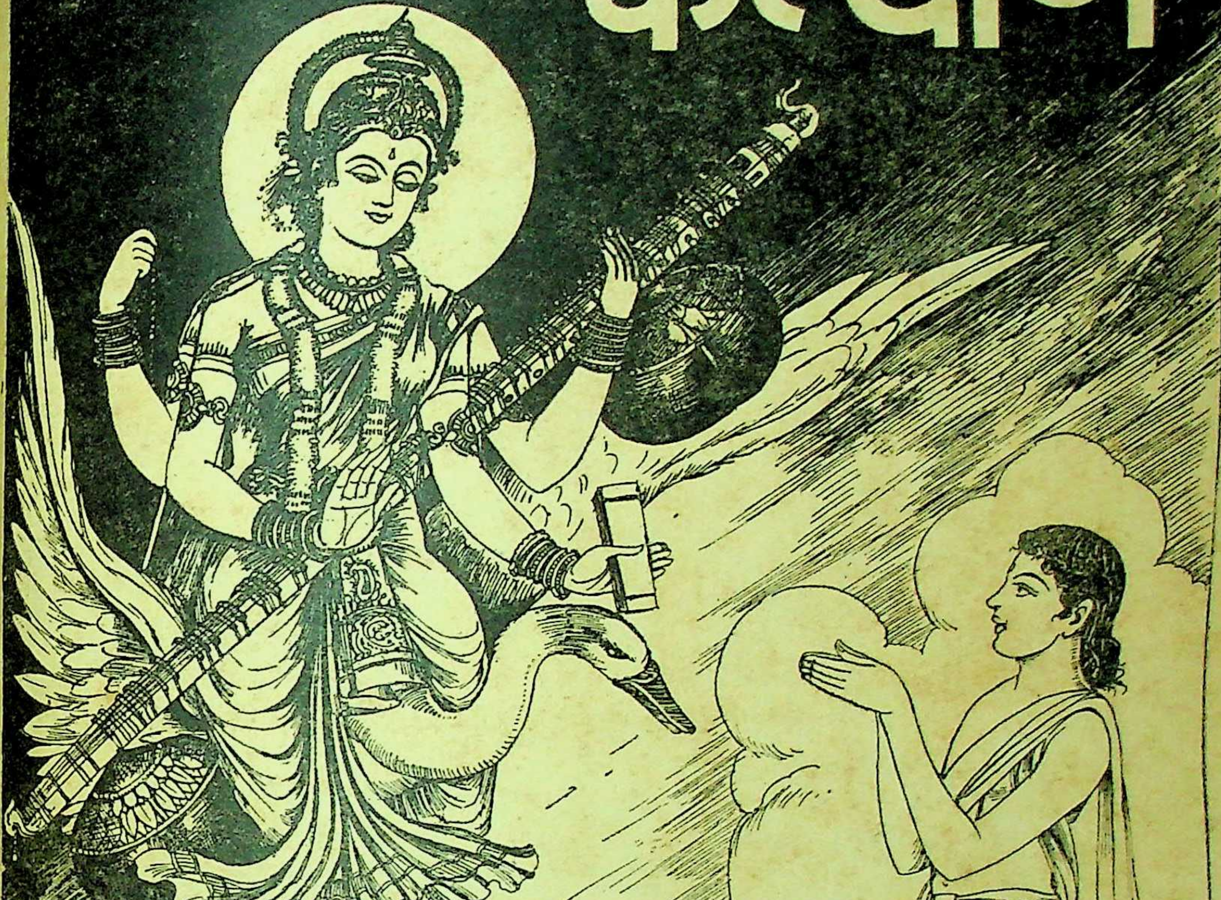

वर्ष ३७]   [अङ्क ७

* * *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०२०, जुलाई १९६३

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–मिथ्याचार [कविता] (गीता ३ । ६ के आधारपर) … …	१००३
२–कल्याण ('शिव') …	१००४
३–साधन-विचार (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) …	१००५
४–सत्सङ्गका प्रसाद (पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … …	१०१०
५–वेदमें अवतारवाद (महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी) …	१०११
६–आत्मोद्धारकी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) …	१०१३
७–अब मैं केवल जोग तुम्हारे [कविता] (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन') …	१०१९
८–मधुर … …	१०२०
९–एकादशीका उपवास (मूल मराठी-लेखक—पं० श्री श्री० दा० सातवळेकरजी; अनु०—पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि) …	१०२२
१०–अवतार [कहानी] (श्री 'चक्र') …	१०२४
११–प्रभुकी कृपा [कविता] …	१०२६
१२–सबका कल्याण कैसे हो ? (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक भाषण) … …	१०२७
१३–श्रीमद्भागवतकी मौलिकता और उसके महापुराण होनेमें प्रमाण (पण्डित श्रीगोपालदत्तजी शर्मा, ज्योतिषशास्त्री)	१०३३
१४–हे राम ! [कविता] (श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालंकार) …	१०३५
१५–तुलसीदासजीकी सौन्दर्य-भावना (श्रीपरमलालजी गुप्त) …	१०३६
१६–हृदयंगम [कविता] (श्रीबालयोगी प्रेमवर्णीजी) … …	१०३९
१७–मनको सदा कल्याणकारी विषयोंमें लगाइये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) …	१०४२
१८–अनन्य प्रेम ही सर्वोत्तम भजन है [कविता] (संकलित) …	१०४३
१९–मितव्ययिताका आदर्श (श्रीरमाकान्तजी मिश्र) … …	१०४४
२०–हमारा महान् शत्रु—आलस्य (श्री-अगरचन्दजी नाहटा) …	१०४६
२१–मोक्ष-साधन-रहस्य (श्रीस्वामी प्रेमानन्दजी महाराज) … …	१०४८
२२–दवाओंसे बचिये (श्रीधर्मचन्दजी सरावगी)	१०५३
२३–सुशासनका साक्षात्कार (पण्डित श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी (डाँगीजी); प्रेषक—श्रीसत्यपालजी शर्मा 'सत्य') …	१०५५
२४–प्रियतम-सुख [कविता] …	१०५८
२५–धर्मप्राण संस्कृति और देवालय (श्री-ओंकारमलजी सराफ) …	१०५९
२६–पढ़ो, समझो और करो …	१०६१

चित्र-सूची

१–भक्तको भगवती सरस्वतीका दर्शन …	… (रेखाचित्र)	… मुखपृष्ठ
२–मिथ्याचार …	… (तिरंगा)	… १००३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें
विदेशमें
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

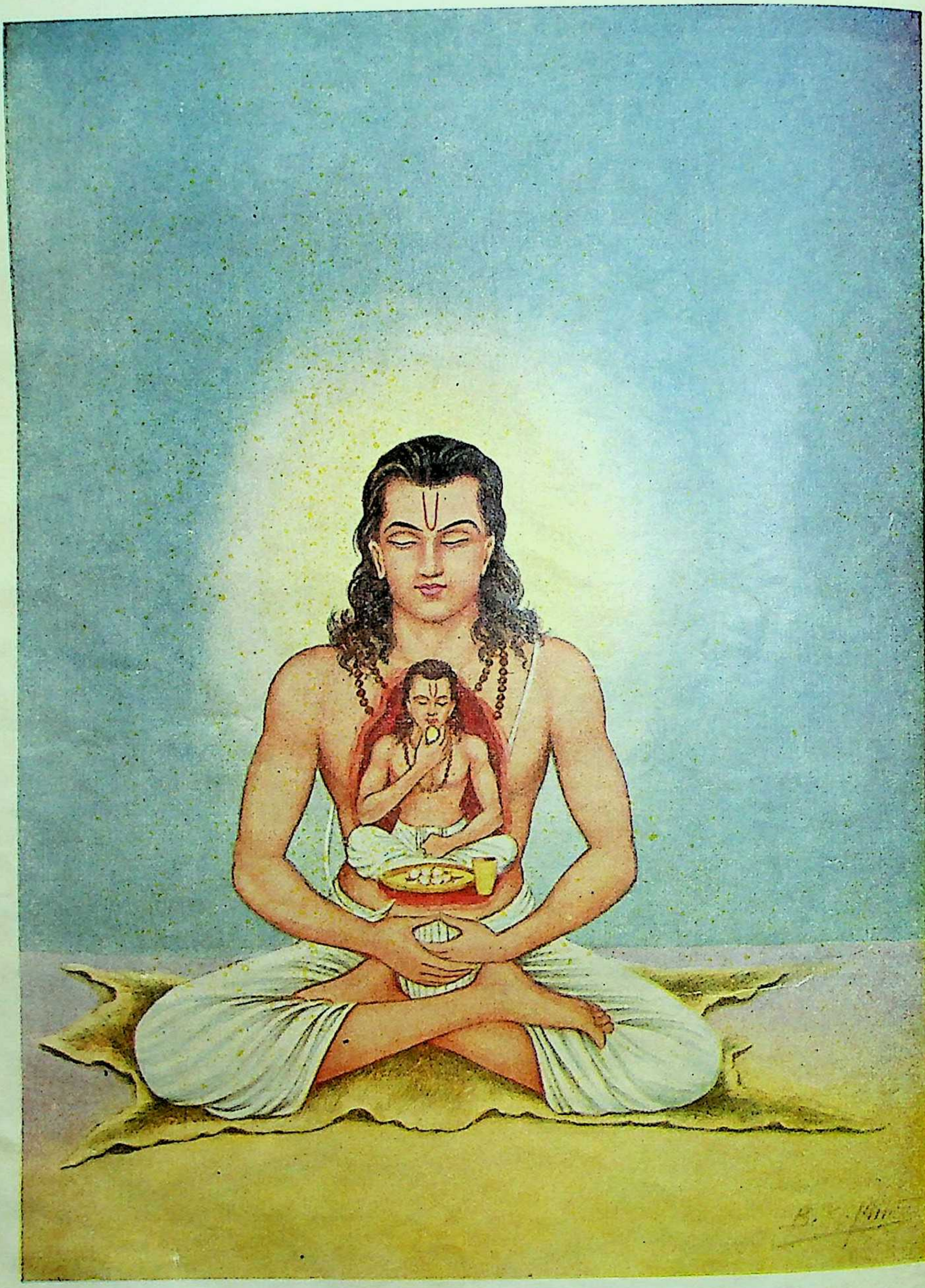

मिथ्याचार

[गीता ३ । ६

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०२०, जुलाई १९६३ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ४४०

मिथ्याचार

कर्मेन्द्रियाँ रोक जो तजता बाहर भोगोंका व्यवहार ।
मनसे करता भोग मूढ़ सो कहलाता है मिथ्याचार ॥

(गीता ३ । ६)

'जो मूर्ख कर्मेन्द्रियोंको रोककर बाहरसे उनके भोगोंका त्याग कर देता है, किंतु मन-ही-मन उनका सेवन करता रहता है, वह मिथ्याचार (दम्भी) कहलाता है ।'

कल्याण

याद रक्खो—सौन्दर्य किसी बाहरी रूप, रंग, वेष-भूषा और साज-शृङ्गारमें नहीं है; यह सब तो काल्पनिक है। कहीं गौर-वर्ण सुन्दर माना जाता है तो कहीं कृष्ण-वर्ण। इसी प्रकार वेष-भूषा, साज-शृङ्गारमें भी सुन्दरताकी कल्पना भिन्न-भिन्न है। शरीरके अवयवोंकी सुन्दरताके विषयमें भी लोगोंकी पृथक्-पृथक् कल्पना है। विषयासक्तको विषयकामना बढ़ानेवाले अङ्ग सुन्दर लगते हैं और विषय-विरक्तको वे ही अत्यन्त भयानक प्रतीत होते हैं।

याद रक्खो—वस्तुतः जिसका हृदय सुन्दर है, जिसके अन्तरमें विषयविराग, त्याग, अहिंसा, प्रेम, करुणा, परदुःखकातरता, विनय, दया, नम्रता, सहिष्णुता, सेवा, संयम, साधुता, समता, शान्ति आदि सुन्दर विचार, भाव, गुण भरे हैं, वही वस्तुतः सुन्दर है। ऐसे सुन्दर हृदयवाले पुरुष या स्त्रीकी मुखाकृतिमें, उसके नेत्रोंमें, उसके अङ्ग-अङ्गमें भीतरके इन सुन्दर भावों—गुणोंका प्रकाश अपने-आप छा जाता है और वह देखनेवालोंके हृदयमें उसके भावोंकी न्यूनाधिकताके अनुपातसे इन गुणोंका प्रकाश करता है।

याद रक्खो—किसीको देखकर तुम डर जाते हो, किसीको देखकर निर्भय हो जाते हो; किसीको देखते ही क्रोध उत्पन्न होता है, किसीको देखकर क्षमाका उदय हो जाता है; किसीको देखकर कामके वश हो जाते हो, किसीको देखते ही संयमकी सहज उत्पत्ति हो जाती है; यह सब इसीलिये होता है कि उसकी मुखाकृति आदिसे वैसे ही भावोंका प्रकाश हो रहा है।

याद रक्खो—जगत् त्रिगुणात्मक है, इसलिये सभीके अन्तरमें कम-ज्यादा सात्त्विक गुण भी है, तमोगुण भी है। देवता भी हैं, राक्षस भी हैं। तुम अपने सात्त्विक या तामस गुणसे, देवभाव या आसुरभावसे किसीके अंदरके देवताको जगा देते हो, तो किसीके अंदरके असुरको जगा देते हो।

याद रक्खो—सुन्दर वह है जिसे देखते ही हमारे पापके विचार दब जायँ, लुप्त हो जायँ और पुण्यके विचार जग जायँ, बढ़ जायँ। देवता जगकर क्रियाशील हो जाय और असुर-राक्षस दबकर मृतवत् हो जाय।

याद रक्खो—जिसके हृदयमें आसक्ति, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, वैर, हिंसा, मोह, मद, अभिमान, विषमता, भोगपरायणता, अशान्ति आदि दुर्विचार, दुर्भाव और दुर्गुण भरे हैं, वह बाहरसे सुन्दर दीखनेपर भी, वेष-भूषासे सुसज्जित होनेपर भी वस्तुतः सुन्दर नहीं है, भयानक है। वह स्वयं सदा दोषोंका घर बना रहता है; क्योंकि उसके अंदरका असुर-राक्षस जगा हुआ सक्रिय हो रहा है और उसके सम्पर्कमें जो आता है, उसको भी वह अपनी नकली सुन्दरताके पर्देमें छिपे भयानक विचार-भाव देकर उसे भी असुर-राक्षस बना देना चाहता है।

याद रक्खो—जिस सुन्दरताके साथ हमारे चरित्रकी पवित्रता, भावोंकी विशुद्धि और आचरणकी शुचिता है, वही सुन्दरता वास्तविक है। शेष समस्त सौन्दर्य यथार्थतः वैसा ही है, जैसा जहरसे भरा चमकता हुआ स्वर्ण-कलश। इस भयानक सुन्दरतासे अपनेको बचाओ और इसीलिये बाहरी रूप-रंग, वेष-भूषा, साज-शृङ्गारके चक्करमें न पड़कर विचारों, भावों और गुणोंको तथा उसीके अनुसार अपनी क्रियाको सुन्दर बनाओ। इससे शरीर स्वस्थ होगा, मन स्वस्थ होगा, बुद्धि स्वस्थ होगी, क्योंकि इसीसे स्व-स्थ आत्माके शुभदर्शन होंगे।

याद रक्खो—गंदे विचार, असद्भाव, दुर्गुण तथा दुष्कर्म स्वयं नरक हैं और नरकोंमें ले जानेवाले हैं।

उनमें सर्वत्र गंदगी तथा कुरूपता भरी है, भले ही भ्रमसे वे कहीं बाहरसे स्वच्छ, सुन्दर प्रतीत होते हों।

याद रक्खो—भगवान् श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर हैं—उनका बाहरी रंग गोरा नहीं, पर उनकी सुन्दरता सबको मोह लेती है; इसीलिये कि उनके बाहर-भीतर, सर्वत्र सदा परम कल्याणमय, नित्य नवीन सुन्दर दिव्य भगवत्ताका प्रकाश हो रहा है। इस श्याम-प्रकाशमें डूब जाओ तो तुम भी बाहर-भीतरसे परम सुन्दर हो जाओगे—

'ज्यों-ज्यों डूबै स्यामरँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।'

'शिव'

साधन-विचार

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

साधनके सम्बन्धमें विस्तृत विचार करनेके पहले मैं यह विचार करना चाहता हूँ कि साधनमात्रका सार क्या है? सब साधनका सार, सब साधनोंका भूप अथवा साधनराज है—

'साधन सिद्धि राम-पग नेहू॥'

दूसरे साधनोंको देह-स्वरूप मानें तो इसको आत्मा कहेंगे। 'नेहू' शब्दका अर्थ स्नेह, भाव या प्रेम—अर्थात् सच्चा साधन वही है जिससे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रीति हो, भाव हो या अनुराग हो। वह भाव कैसा होना चाहिये?—इसका उत्तर है, 'परानुरक्तिरीश्वरे'। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें परा अनुरक्ति, अलौकिक प्रेम होनेका नाम ही सच्चा साधन है। श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप अलौकिक है, अतएव उनके प्रति प्रेम भी अलौकिक होना चाहिये। अध्यात्मरामायणमें श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुतिके प्रसङ्गमें ऐसा वर्णन आता है—

नित्यं शुद्धं बुद्धमनन्तं प्रणवाख्यम्।
सत्तामात्रं सर्वहृदिस्थं दृशिरूपम्॥

यहाँ श्रीरामचन्द्रजीको साक्षात् परब्रह्मरूप वर्णन किया है। अर्थात् अपने इष्टमें परब्रह्म-भावपूर्वक निरतिशय प्रेमका होना ही सर्वसाधनकी प्रथम सीढ़ी है। प्रथम सीढ़ीपर चढ़े बिना कोई छतपर नहीं चढ़ सकता। इसी प्रकार इष्टदेवके प्रति जबतक सच्चा प्रेम नहीं होता, तबतक कोई आदमी साधनमें आगे नहीं बढ़ सकता।

यही बात दूसरी जगह दूसरी रीतिसे कही गयी है—

'राम नामको अंक है सब साधन हैं सून।'

इसका भाव यह है कि रामनाम अर्थात् ईश्वरके किसी भी स्वरूपमें भाव और प्रेम, अपने-अपने इष्टमें प्रेम या अनुराग अङ्क है। अङ्क नौ होते हैं, जो एकसे नौतक क्रमशः प्रसिद्ध हैं। दूसरे साधन शून्यरूप हैं। यदि एकके आगे हम शून्यको रक्खें तो उसकी कीमत दस हो जाय। यदि एक न हो और शून्य अकेला लिखा जाय, तो उसकी कीमत कुछ भी नहीं होगी। इसका सारांश यह है कि कोई भी साधन कीजिये, यदि उसके साथ ईश्वर-प्रेम है तो उस साधनका दस गुना फल हो जायगा और यदि वह नहीं है तो साधन व्यर्थ जायगा अर्थात् बहुत ही अल्प होगा या नहींके बराबर होगा।

पतञ्जलि भगवान्ने अपने योगदर्शनमें 'अभ्यास'की आलोचना करते समय 'सत्कारासेवित' एक विशेषण प्रयुक्त किया है। उसका भी यही भाव है। साधनके प्रति प्रेम न हो, साधन यदि भावसे न होता हो, तो वह साधन सफल नहीं होता। साधनमें प्रेम या भाव तभी होता है, जब साध्यके प्रति प्रेम और भाव हो। साध्य अर्थात् ईश्वरके प्रति प्रेम न हो तो उसकी प्राप्तिके साधनमें प्रीति कैसे हो सकती है?

इस प्रसङ्गमें समझाते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहा गया है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

भाव यह है कि मनुष्य यदि आकाशको चमड़ेके समान अपने शरीरमें लपेटनेमें समर्थ हो जाय तो वह ईश्वर-प्रेमके बिना मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अर्थात् ईश्वर-प्रेम न हो तो किसी भी साधनसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

हम यहाँ जिस साधनकी बात करते हैं, वह अपरा विद्याके या लौकिक विद्याके अथवा भौतिक विद्याके साधनकी बात नहीं है । उस क्षेत्रमें तो प्रभुके लिये अथवा उनके नामके लिये आज कोई स्थान ही नहीं रह गया है । वहाँ तो स्थूल देहके सिवा दूसरी कोई शक्ति है, यह बात कदाचित् ही कोई सोचता है । इसलिये हमको यहाँ उसके सम्बन्धमें विचार नहीं करना है । हमें तो ऐसे साधनके सम्बन्धमें विचार करना है, जिससे सुखकी प्राप्ति होती है, परमानन्दमें निमज्जित होकर जीव बारंबार जन्म-मरणके दुःखसे छुट्टी पा जाता है ।

पहले मैं कह चुका हूँ,

'साधन सिद्धि राम पग नेहू ।'

अर्थात् यही एक सच्चा साधन है । तो फिर विभिन्न शास्त्रोंमें जो विभिन्न साधन बतलाये गये हैं, वे किस लिये ? यह प्रश्न स्वभावतः उठता है । यह बात आपाततः सच्ची भी लगती है, क्योंकि मानवमात्रके स्थूल शरीर पञ्चभूतोंसे बने होनेके कारण एक समान हैं । सब शरीरोंमें प्रभुने एक-सी सामग्री प्रदान की है । तथा सूक्ष्म शरीर भी एकसमान उपादानसे बने हैं, उनमें भी किसी प्रकारकी न्यूनाधिकता नहीं है । प्राण भी सब शरीरोंमें एक ही है और एक ही ईश्वर नियन्तारूपमें सब शरीरोंमें विराज रहा है । तब फिर साधन पृथक्-पृथक् क्यों चाहिये ? उपर्युक्त सारे तत्त्व सत्य हैं तथापि साधन पृथक्-पृथक् देखनेमें आते हैं । क्या बात है ? ऐसा क्यों है ?—यह समझानेकी चेष्टा करूँगा ।

हिंदू शास्त्रकी मान्यताके अनुसार सारे जीव अनादि कालसे अनेकों बार चौरासी लाख योनियोंमें भटकते आ रहे हैं, उनमें कुछ जीव पुण्यके प्रतापसे आज मानव-शरीरको प्राप्त हुए हैं । इनमें कितने ही जीव इन्द्रासनपर बैठकर आये होंगे, कितने ही जीवोंने देवता बनकर श्रेष्ठ स्वर्गीय सुखोंको भोगा होगा, कितने ही जीव चक्रवर्ती राजा बन चुके होंगे, कितने ही जीव साधारण राजा बन चुके होंगे, कितने ही बड़े अफसर, बड़े व्यापारी, बड़े-बड़े विधान-शास्त्री आदि हो चुके होंगे । कितने ही पशुका जन्म ले चुके होंगे, कितने ही पक्षीके रूपमें अवतरित हुए होंगे, अधिक क्या कहें, अनेक जातिके ऊँच-नीच, भले-बुरे, ब्रह्मासे लेकर चींटी तकका जन्म धारण कर चुके होंगे । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी दो जीवका इस संसारचक्रमें भ्रमण एक-सा नहीं होता, अतएव किसी भी दो जीवके संचित कर्म एक-सरीखे नहीं होंगे । फलस्वरूप किसी भी दो जीवके प्रारब्ध भी एक-से नहीं बनते, अतएव किसी भी दो जीवके सुख-दुःखके भोग भी एक-सरीखे नहीं होते । ये सुख-दुःखके भोग अन्तःकरणमें अपने संस्कार डालते जाते हैं । भोग तो समाप्त हो जाते हैं, परंतु उनके संस्कार अन्तःकरणमें रह जाते हैं । इन विभिन्न संस्कारोंके कारण पृथक्-पृथक् रुचि उत्पन्न होती है । किन्हीं भी दो मनुष्योंकी रुचि एक-सी नहीं होती । इसका कारण यह है कि किन्हीं भी दो मनुष्योंके अन्तःकरणके संस्कार एक-से नहीं होते । एक दृष्टान्त लीजिये । षट्रसमें एक रस लवण किसीको प्रिय लगता है तथा दूसरे मनुष्यको वह बहुत खारा होनेके कारण अप्रिय लगता है । पहला मनुष्य इस रससे सुखका अनुभव करता है । अतएव यह रस उसके अन्तःकरणमें सुखका संस्कार छोड़ जायगा । उधर, दूसरे मनुष्यको यही रस प्रिय न लगकर अप्रिय लगेगा और अप्रिय लगनेके कारण उसे सुख न होकर दुःख होगा, अतएव उसके अन्तःकरणमें दुःखका संस्कार पड़ेगा ।

अब यदि आप सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो समझमें आ जायगा कि पदार्थमें स्वतः प्रियत्व या अप्रियत्व नहीं होता । यदि उसमें प्रियत्व होता तो वह दोनों आदमियोंको प्रिय लगता; यदि उसमें अप्रियत्व होता तो वह दोनों मनुष्योंको अप्रिय लगता । अतएव इससे स्पष्ट हो गया कि सुख-दुःख देनेवाला कोई पदार्थ नहीं है । तो फिर सुख-दुःख होता कैसे है ?—केवल अन्तःकरणके संस्कारके द्वारा न होनेपर भी सुख-दुःख होता है । तात्पर्य यह है कि संस्कारभेदके कारण रुचिकी भिन्नता होनेसे एक ही पदार्थ एक आदमीको सुखरूप दीखता है और वही पदार्थ उससे भिन्न रुचिवालेको दुःखरूप दीखता है ।

रुचि-विभिन्नताके कारण कुछ लोगोंको परमानन्द, परम सुख अर्थात् आत्यन्तिक सुखकी इच्छा भी होगी । उनमें ध्येय एक होनेपर भी, रुचिकी विभिन्नताके कारण साधन-प्रणाली विभिन्न होगी और सब मनुष्य एक ही मार्गसे गन्तव्य स्थानको नहीं जायँगे । जिसका जैसा अधिकार होगा, वह वैसा मार्ग प्राप्त करेगा । कोई पैदल पगडंडीका मार्ग पकड़ता है और कोई वाहनके बिना नहीं जा सकता । वाहनमें भी सम्पत्तिके अनुसार कोई बैलगाड़ीमें तो कोई घोड़ागाड़ीमें

कोई मोटरमें तो कोई हवाई जहाजमें जायगा । इसी प्रकार अन्तःकरणके संस्कारके चढ़ाव-उतारके अनुसार पृथक्-पृथक् लोगोंके लिये मृदु, मध्यम या तीव्र साधनोंकी सुविधा शास्त्रोंमें की गयी है ।

रुचिभेदसे साधन-भेदकी बात श्रीमहिम्नःस्तोत्रमें भी कही गयी है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

रुचिकी विभिन्नताके कारण विभिन्न मनुष्य अपनी उपासना पृथक्-पृथक् रीतिसे तथा पृथक्-पृथक् साधनोंके द्वारा करते हैं । रुचिकी विभिन्नताके कारण इष्टदेव भी विभिन्न होते हैं, तथापि वे सब आपको ही प्राप्त होते हैं । ठीक उसी प्रकार जैसे अनेकों नदियाँ टेढ़े या सीधे मार्गसे जाकर अन्तमें समुद्रमें मिलती हैं ।

यहाँ ऋजुका अर्थ है सीधा और सरल साधन, जिसको सामान्य बुद्धिका मनुष्य भी समझ सके । कुटिलका अर्थ है जटिल साधन, जो झट समझमें न आते हों, जिनको केवल सूक्ष्म बुद्धिवाला मनुष्य ही समझ सकता हो । परंतु वस्तुतः बात और ही है । जो साधन सद्गुरुके द्वारा मिला है, वह 'क' के लिये सरल है पर 'ख' के लिये अनुकूल नहीं है तो वही साधन 'ख' के लिये कुटिल कहलायेगा । इसी प्रकार जो साधन 'ख' के लिये सरल है परंतु 'ग' के लिये अनुकूल नहीं है तो वही साधन 'ग' के लिये कुटिल कहलायेगा । इस प्रकार साधनमें स्वतः ऋजुता या कुटिलता नहीं होती, परंतु रुचि तथा अधिकार-भेदसे एक ही साधन एकके लिये ऋजु तथा दूसरेके लिये कुटिल जान पड़ता है ।

अतएव साधनका निश्चय करते समय सद्गुरुकी खास आवश्यकता है । कोई भी साधक, जो अपने साधनका निश्चय स्वयं कर लेता है, उसका साधन कुछ दिन तो ठीक तौरपर चलता है; परंतु दीर्घकालके पश्चात् मन उससे हटने लगता है और वह दूसरे साधनकी खोजमें लग जाता है । उस साधनको भी कुछ दिन करता है, फिर उससे भी मन उचटता है तो तीसरा साधन शुरू कर देता है । इसका परिणाम यह होता है कि एकके बाद दूसरा साधन बदलता जाता है और किसी भी साधनमें निष्ठा परिपक्व नहीं होती । अन्तमें वह साधनमात्रसे उदासीन हो जाता है और परिणामस्वरूप नास्तिक बन जाता है ।

यह बात एक उदाहरणसे स्पष्ट समझें; क्योंकि गुरुके द्वारा निर्दिष्ट साधन ही परिपक्व हो सकता है ।

पाँच-छः मनुष्य हैं । उन सबको एक ही रोग है, उसके लिये जुलाब लेना आवश्यक है । वे पंसारीकी दूकानपर जाकर पूछते हैं कि 'भाई ! जुलाबके लिये क्या लेना चाहिये ?' वह कहता है कि नमकीन आँवला बहुत अच्छा रहेगा । दूसरी दूकानपर जाकर पूछते हैं तो वह कहता है कि हर्रें अच्छी रहेगी । तीसरा दूकानदार कहता है कि नौसादर अच्छा रहेगा । चौथा कहता है कि विलायती नमक अच्छा रहेगा । झण्डूकी दूकानपर पूछनेसे वह कहता है कि अश्वगंधा ले लो, वायु कुपित हो गया है ।

ऐसी अवस्थामें वे निश्चय नहीं कर पाते कि कौन-सा जुलाब लें और उनको निराशा हो जाती है । इतनेमें एक चतुर मनुष्य कहता है, 'भाई ! उदास क्यों होते हो ? चतुरलाल वैद्यके यहाँ चलो और वे जैसा कहें; वैसा करो । वैद्यराज प्रत्येककी प्रकृतिकी जाँच करके किसीको हर्रें, किसीको नौसादर तथा किसीको नमकीन आँवला, किसीको विलायती नमकका नुस्खा बताते हैं और उससे प्रत्येकको लाभ होता है ।

इसी प्रकार हम सब लोग एक ही रोगसे पीड़ित हैं । व्याधि महाभयंकर है, उसका नाम है भव-रोग । निदान तो ठीक है, परंतु चिकित्सामें भूल होनेसे मृत्यु निश्चित है । यहाँ मृत्युका अर्थ एक बार मरना नहीं है, बल्कि अनन्त मृत्युके चक्करमें भटकना है । **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति ।'** अतएव सद्गुरुरूपी सद्वैद्यके पास जाना चाहिये और उनकी बतलायी हुई ओषधिका सेवन तबतक करना चाहिये, जबतक व्याधि निर्मूल न हो जाय । इसमें असावधानी करनेसे रोग दूर नहीं हो सकता ।

महात्मा कवि सुन्दरदासजीने भी सद्गुरुको सद्वैद्यके रूपमें वर्णन किया है—

सुंदर सद्गुरु बंदिये, सो ही बंदन जोग ।
औषध शब्द पिलायके, दूर कियो भव रोग ॥

इसी बातको समझाते हुए गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

आध्यात्मिक मार्गमें पुस्तक पढ़ने या भाषण सुननेसे कार्यसिद्धि नहीं होती । अतएव हे अर्जुन ! तुझे यदि

यथार्थ रहस्य जानना है तो ज्ञानी अर्थात् श्रोत्रिय और तत्त्वदर्शी ब्रह्मनिष्ठ महात्माकी शरणमें जाओ। उनको विनयपूर्वक प्रणाम करके, उनकी सेवा करके प्रश्न करनेसे वे महात्मा यथार्थ रहस्य समझायेंगे। तत्त्वका रहस्य समझनेका यही मार्ग है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है—

'नान्यः पन्था विद्यते।'

औषध निश्चित हो जानेके बाद उसके सेवनमें भी बहुत ध्यान देना चाहिये। अतएव भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि **'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः।'** अर्थात् दीर्घकालपर्यन्त, जबतक व्याधि निर्मूल न हो जाय तबतक ओषधि-सेवन करना चाहिये और वह भी **'नैरन्तर्येण'** अर्थात् सतत, बीचमें त्रुटि न आने दे। यह नहीं कि सप्ताहमें पाँच दिन किया और दो दिन नहीं किया। सबसे महत्त्वकी बात है **'सत्कारेण आसेवितः।'** अर्थात् श्रद्धा और विश्वासपूर्वक औषधका सेवन करना चाहिये। सारांश यह है कि सद्गुरुके बताये हुए साधन, जबतक साध्यमें सिद्धि न हो, तबतक श्रद्धा और विश्वासपूर्वक भावसे करते रहना चाहिये।

हमने पहले कहा है कि 'क' का साधन 'ख' को अनुकूल नहीं पड़ता, 'ख' का साधन 'ग' को अनुकूल नहीं पड़ता। इसका कारण दूसरे प्रकारसे एक दृष्टान्तद्वारा खोजिये।

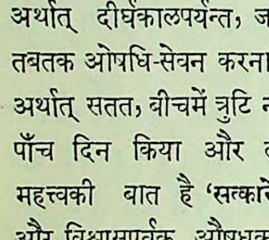

एक वृत्त बनाइये। इस वृत्तकी परिधिके ऊपर सब लोग अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार चल रहे हैं। वृत्तके केन्द्रमें परमेश्वर विराजमान होकर सब प्राणियोंका नियमन कर रहा है। सभी मनुष्योंको जन्म-मरणके भयसे बचनेके लिये केन्द्रमें परमेश्वरकी शरणमें जाना है। भूमितिके नियमके अनुसार परिधिके विभिन्न बिन्दुओंसे केन्द्रमें जानेवाली सारी रेखाएँ परस्पर समान होती हैं। अर्थात् परिधिके चाहे किसी भी स्थानसे मनुष्य सीधा केन्द्रतक जाय तो सबके लिये एक-सा रास्ता चलना पड़ेगा। 'यदि क, ख, ग—तीन मनुष्य अपने-अपने स्थलसे केन्द्रतक जायँ तो सबको समान मार्ग चलना पड़ेगा। यदि 'क' 'ख'से कहे कि मेरा रास्ता सरल और सीधा है, अतएव यहीं आओ, हम दोनों आदमी साथ-साथ चलेंगे, तो ख के लिये यह मार्ग बड़ा लम्बा और कुटिल हो जायगा। इसी प्रकार ग यदि क या ख के पास जाकर फिर केन्द्रकी ओर जाय तो उसका मार्ग भी बहुत लम्बा और कुटिल कहलायगा। सारांश यह है कि जो जहाँ है, उसको वहाँसे ही अपने मार्गपर चलना चाहिये। दूसरेके रास्तेसे जानेपर उलटे रास्ते चढ़ जायगा।

यह बात एक-दूसरे दृष्टान्तके द्वारा समझिये। बम्बईमें एक बड़ा सम्मेलन है। सारे भारतके मनुष्य वहाँ जानेवाले हैं। एक आदमी मसूरीसे चलता है, दूसरा कलकत्तेसे चलता है। एक मद्राससे जाता है तो दूसरा धनुष्कोटिसे जाता है। एक गोवासे चलता है तो दूसरा राजकोटसे आता है। अब यदि प्रत्येक मनुष्य यह आग्रह करे कि मैं जिस रास्तेसे जाता हूँ, उसी रास्तेसे सब लोग बम्बई चलें, तो यह स्पष्ट है कि दूसरे लोगोंकी कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जायँगी। कलकत्ते, मद्रास, धनुष्कोटि, गोवा तथा राजकोटसे चलनेवाले सब लोग मसूरी होकर बम्बई जायँ तो स्पष्ट है कि सबके रास्ते बहुत लम्बे और असुविधाजनक हो जायँगे। अतएव जो जहाँ है उसे वहींसे सीधे बम्बई जाना चाहिये। तदनुसार साधनके विषयमें भी जिसकी जैसी रुचि हो, जैसा स्वभाव हो तथा जिसका जैसा अधिकार हो, उसीके अनुसार उनके साधन भी विभिन्न प्रकारके होने चाहिये। एक ही साधन-पथ सबके लिये उपयोगी नहीं हो सकता।

यहाँतक हमने दो बातें निश्चित कीं—(१) रुचिभेदके कारण साधन-भेद अनिवार्य है, तथा (२) साधन सद्गुरुके द्वारा निश्चित होना चाहिये। अब यह प्रश्न हो सकता है कि साधन करना आवश्यक क्यों है? उत्तरमें निवेदन यह है कि जीव मायामें फँस गया है, मोहजालमें जकड़ गया है। उससे मुक्त होकर उसको अपने घर पहुँचना है। अतएव माया क्या वस्तु है? इसका स्वरूप जानना चाहिये।

लक्ष्मणजीके प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीरामचन्द्रजीने अपने श्रीमुखसे कहा है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
(राम० अर० १५)

यह मैं हूँ, यह मेरा है। यह तू है और यह तेरा है। यही जीवकी अविद्या है। 'मेरी' और 'तेरी' की दो डोरियोंसे जीवके गलेमें फाँसी लगी है। फाँसीकी ये डोरियाँ

जबतक कटतीं नहीं, तबतक गलेकी फाँसी नहीं छूटती। श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं कि 'मैं' और 'मेरा' 'तू' और 'तेरा'—इसीका नाम माया है और इस मायासे प्रत्येक जीव बँध गया है। यह व्यष्टिकी बात हुई, परंतु समष्टिमें 'गो-गोचर' अर्थात् इन्द्रिय-गोचर, तत्तत् इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है और फिर 'जहँ लगि मन जाई'—अर्थात् जहाँतक मन जा सकता है, तत्तत् मनसे जो ज्ञान होता है, 'सो सब माया जानेहु भाई'—उस सबको हे भाई! तुम मायारूप जानो—सारांश यह है कि भौतिक प्रपञ्च और उसका ज्ञान, जो मन और इन्द्रियोंके द्वारा होता है, उसको तुम माया समझो।

यहाँ 'मैं और मेरा' जो अविद्याके कारण जीवको हो रहा है, इसके लिये भी माया शब्दका प्रयोग किया है और भौतिक प्रपञ्च जो ईश्वरकी रचना है, इसके लिये भी माया शब्दका व्यवहार किया है; क्योंकि माया और अविद्या शब्द सामान्यतः पर्याय रूपमें व्यवहृत होते हैं। इसी प्रकार 'अनुभवप्रकाश' ग्रन्थके रचयिता स्वामी विशुद्धानन्दजीने प्रधान, प्रकृति, माया, अविद्या और अज्ञान—इन सबको पर्याय शब्द माना है। जहाँ शास्त्रीय चर्चा नहीं, अथवा जहाँ किसी विशेष दर्शनका अभ्यास नहीं या किसी शास्त्रीय प्रक्रियाके विषयमें समझाना नहीं है, वहाँ इन शब्दोंका व्यवहार पर्यायरूपमें करनेसे कोई आपत्ति नहीं होती। संतवाणीमें बहुधा शास्त्रीय सूक्ष्म चिन्तन न होनेके कारण इस प्रकारका प्रयोग होना स्वाभाविक है।

वेदान्तके अनुसार मायाविशिष्ट चेतन ही ईश्वर है और अविद्याविशिष्ट चेतन जीव कहलाता है। यहाँ विशिष्ट शब्दका प्रयोग दोनों जगह है। परंतु विशिष्ट होनेमें बहुत बड़ा भेद है। ईश्वरको जब अवतार लेनेकी या सृष्टि करनेकी इच्छा होती है, तब ईश्वर स्वेच्छासे मायाको अङ्गीकार करता है और कार्य हो जानेपर उसे छोड़ देता है। परंतु जीवके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। वह तो अज्ञानके कारण मोहसे अविद्यामें फँस जाता है और फिर उसको यह भान भी नहीं होता कि मैं कौन हूँ। परमेश्वर दया करे तभी जीव उससे छूट सकता है। इस रहस्यको समझानेके लिये ही ईश्वरको स्वतन्त्र और जीवको परतन्त्र कहते हैं।

इस अविद्या और मायाके बीच जो अन्तर है, उसे पञ्चदशीमें एक ही श्लोकमें बहुत सहज रीतिसे समझाया गया है—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन निर्मिता।[१]
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः॥[२]

(१) परमात्मा योगनिद्रामें सोये थे। उससे जागकर देखते हैं तो कुछ दीख नहीं पड़ता। तुरंत ही सहज इच्छा होती है—'एकोऽहं बहु स्याम्'—अर्थात् मैं अकेला हूँ, अनेक रूप हो जाऊँ।' यह संकल्प प्रकृतिके ऊपर प्रतिफलित हुआ और प्रकृति माताने पुरुषकी प्रसन्नताके लिये अनेकविध सृष्टिकी रचना की। परंतु यह सृष्टि जडके समान ज्यों-की-त्यों खड़ी रही। उसमें क्रिया या गति कुछ भी दृष्टिगोचर न हुई। परमात्माको तो अनेक रूप होकर बैठना था, अतएव अपने अनेक अंशोंसे वे सारी सृष्टिमें प्रवेश कर गये और सारी सृष्टि चेतन बन गयी। इसका नाम है सृष्टि और यह 'ईशेन' अर्थात् प्रभुके द्वारा निर्मिता अर्थात् रची गयी है।

इस सृष्टिमें भौतिक सृजन त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका है और ये तीनों गुण जबतक विषमावस्थामें रहते हैं, तभीतक सृष्टि रहती है। अतएव भौतिक पदार्थोंमें विषमता रहने, अर्थात् वृद्धि-ह्रास होते रहनेको शास्त्रोंने षड्विकार रूपमें वर्णन किया है। परंतु हम स्थूल दृष्टिसे भौतिक सृष्टिको तीन विकारवाली समझें तो काम चले। वे विकार हैं—उत्पत्ति, स्थिति और लय—अर्थात् जन्म, जीवन और मरण। ईश्वरकी सृष्टिमें कोई घट-बढ़ नहीं होती, केवल विकार अर्थात् रूपान्तर हुआ करता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता, जिसमें असंख्य शरीर उत्पन्न न होते हों, तथा असंख्य शरीर नाशको प्राप्त न होते हों। शरीर उत्पन्न होनेसे ईश्वरकी सृष्टिमें कोई वृद्धि नहीं होती तथा नाश होनेसे उसमें कोई ह्रास नहीं होता। उसमें तो सारा जैसा है, वैसा ही रहता है। केवल विकार अर्थात् रूपान्तर उत्पत्ति और विनाशरूपमें दिखलायी देते हैं। इस बातको एक दृष्टान्तके द्वारा समझिये। समुद्रमें प्रतिक्षण असंख्य तरङ्ग उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। अतः जैसे यहाँ उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष दिखलायी देते हैं, परंतु वस्तुतः कुछ उत्पन्न नहीं होता और न विनाशको प्राप्त होता है। केवल जलके विकार उत्पत्ति-विनाशरूपमें दिखायी पड़ते हैं और जल जैसे-का-तैसा रहता है, तरङ्गोंकी उत्पत्तिके समय न वह बढ़ता है और न तरङ्गोंके नाशके समय घटता है। (शेष आगे)

सत्सङ्गका प्रसाद

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

कुछ दिनों पहले एक पूज्यचरण प्रज्ञाचक्षु महात्माके सत्सङ्गका सौभाग्य पटनानिवासियोंको प्राप्त हुआ था। उसमें पूज्य स्वामीजीके प्रवचनसे कुछ अनमोल बोल यथाश्रुत, यथागृहीत लिखे जा रहे हैं—

'मानव-जीवनका निर्माण प्रभुकी अहैतुकी कृपासे हुआ है। यह किसी कर्मका फल नहीं है। खोजकी सामर्थ्य मानवमें ही है, सुने हुए पर अपनेको निछावर करनेकी शक्ति भी मानवको ही मिली है। जीवनका मौलिक प्रश्न है—व्यक्तिगत जीवनमें असफलता और सामाजिक जीवनमें संघर्ष क्यों है? उत्तर है—मिले हुएके दुरुपयोगसे। दुःख तो सबके जीवनमें है परंतु दुःखका प्रभाव नहीं है। सुखके चले जानेपर भी सुखके लिये जो प्रलोभन है यही मुख्य समस्या है। जो हम मानते हैं, जानते हैं और करते हैं उससे व्यक्तिगत जीवनकी असफलता और सामाजिक जीवनका संघर्ष मिटा? उत्तर है, नहीं मिटा। हम जो कुछ करते हैं, मानते हैं, जानते हैं, उसपर कभी विचार नहीं करते। मानवका काम है अपनी ओर देखकर अपनी बात मानना। मानव-जीवनका महत्त्व है प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगसे। इस सदुपयोगसे आत्मरति प्रभु-प्रेममें और प्रभुप्रेम विश्वप्रेममें अपने-आप रूपान्तरित होता जायगा। विपत्तिमें अपनी ओर देखो, प्रकाश मिलेगा। हमारा मूल्य परिस्थितिके अधीन नहीं है, परिस्थिति हमारे अधीन है।

जो कुछ मिला है, वह 'उसका' है। जो सामने है, वही परमात्मा है। मिले हुए-से सामनेवालेकी सेवा ही प्रभु-सेवा है। प्रभुको अपना मान लो, जो मिला है उसे परमात्माका मान लो। जगत्के स्वरूपमें, अपनी सामर्थ्यके द्वारा, अपने द्वारा उनकी पूजा करो। जगत्की सेवा ऐसे ही है जैसे पतिके नाते सासकी सेवा। अर्थात् परमात्माके नाते विश्वकी सेवा और सेवाके अन्तमें प्रियतमकी अगाध मधुमय नित नव स्मृति। मेरे पास जो कुछ है सारे विश्वका है—यही भावात्मक सेवा है।

× × ×

न्याय अपनेपर, प्रेम सबके प्रति। किसी भी नाते सभी अपने हैं। आत्माके नाते, परमात्माके नाते, जगत्के नाते सभी अपने हैं। किसीके साथ कभी भी ऐसी बात नहीं करेंगे जो हानिकर हो जाय। धर्मसे बुराई न करनेकी प्रेरणा मिलती है; क्योंकि सभी अपने हैं। विचारोंमें भेद होनेपर भी प्रीतिकी एकता अनिवार्य है। जो हमें जानता है, परंतु जिसे हम नहीं जानते, वही परमात्मा है। परमात्मा उनका भी उतना ही है जो उसे नहीं मानते। हम सबका ज्ञाता, आश्रय, प्रकाशक वही है। उसीने प्रेमकी प्रेरणा दी। अपने पास जो कुछ है—प्रियतमका है। वे अपने हैं। जीवनमें प्रेम न होनेपर ही न्याय या शासनकी आवश्यकता होती है। मिले हुएको वापिस कर देना ही धर्म है। नीति धर्मकी रक्षक है। धर्म नीतिका उत्पादक है। न्याय राजा है, प्रेम साधु है। अपनेपर अपना शासन, अपनेपर अपना न्याय—यही मानव-जीवनका मङ्गलोदय है। भूतकालके दोषोंका त्यागकर वर्तमानकी निर्दोषतामें स्थित होना ही सच्ची साधना है। व्यक्तिगत विचारोंकी भिन्नता होते हुए भी प्रीतिकी एकता रहे—यही सच्चा मानव-जीवन है। दूसरोंके अधिकारकी रक्षा और अपने अधिकारका त्याग—यही मानव-जीवन है और इसीके अंदरसे जीवनमें सच्चा योग, सच्चा ज्ञान, सच्चा प्रेम आता है।

× × ×

सभीको अपनी ओर देखना है। धर्म जब जीवनमें अवतरित हो जाता है तो जीवन प्रभु-प्रेमसे सुरभित हो

जाता है। धर्मात्माकी आवश्यकता जगत्को सदैव रहती है। धर्मात्माको जगत्का चिन्तन नहीं होता। धर्मका अर्थ ही है—भयरहित शान्ति। धर्म रागरहित कर देता है। रागरहित भूमिमें योगरूपी वृक्ष उगता है, जिसमें तत्त्वज्ञानरूपी फल लगता है, जिसमें प्रेमरूपी रस रहता है। मानवमें ही धर्म अवतरित होता है, अतएव धर्मसे मानवका परम आत्मीय सम्बन्ध है। धर्म एक प्राकृतिक एवं दैवी विधान है। धर्म व्यक्तिकी खोज है, व्यक्तिके दिमागकी उपज नहीं। धर्मात्मा अनेक हुए, पर धर्म एक है।

× × ×

शिक्षाका स्रोत मानव-जीवन है। जीवनकी सारी उपयोगी बातें शिक्षाके अन्तर्गत हैं। जीवनका ज्ञान जीवनसे मिलता है, पुस्तकसे नहीं। जो मनका निरोध नहीं कर सकता, वह बच्चेकी सेवा नहीं कर सकता। अपनी सुन्दरतासे समाजको सुन्दर बनाना—यही शिक्षा है। शिक्षाका अर्थ है—अपना सुख देकर दूसरोंका हित करना। शिक्षाका अर्थ है—हमारे लिये कुछ नहीं चाहिये। दीक्षाका अर्थ है—जीवनकी एकमात्र माँग 'प्रेम' है। अतएव दीक्षाका अर्थ है सबके साथ हमारी एकता।

वेदमें अवतारवाद

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

वेदमें अवतारवाद है या नहीं। इसके लिये अवतारवादके प्रतिपादक कुछ मन्त्र यहाँ लिखे जाते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजाय
मानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

इसका अर्थ है कि प्रजाओंका पति भगवान् गर्भके भीतर भी विचरता है। वह तो स्वयं जन्मरहित है किंतु अनेक प्रकारसे जन्म ग्रहण करता रहता है। विद्वान् पुरुष ही उसके उद्भव-स्थानको देखते एवं समझते हैं। जिस समय वह आविर्भूत होता है तब सम्पूर्ण भुवन उसीके आधारपर अवस्थित रहते हैं। अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ नेता बनकर लोकोंको चलाता रहता है। इस मन्त्रके प्रकृत अर्थमें अवतारवाद अत्यन्त स्फुट है। अब यद्यपि कोई विद्वान् इसका अन्य अर्थ करें तो प्रश्न यही होगा कि उनका किया हुआ अर्थ ही क्यों प्रमाण माना जाय? मन्त्रके अक्षरोंसे स्पष्ट निकलता हुआ हमारा अर्थ ही क्यों न प्रमाण माना जाय? वस्तुतः बात यह है कि वेद सर्वविज्ञाननिधि है। वह थोड़े अक्षरोंमें संकेतसे कई अर्थोंको प्रकाशित कर देता है और उसके संकेतित सब ही अर्थ शिष्ट सम्प्रदायमें प्रमाणभूत माने जाते हैं। इसलिये बिना किसी खींच-तान और लाग-लपेटके जब इस मन्त्रसे अवतारवाद बिल्कुल विस्पष्ट हो जाता है, तब इस अर्थको अप्रमाणित करनेका कोई कारण नहीं प्रतीत होता। यदि कोई वैज्ञानिक अर्थ भी इस मन्त्रसे प्रकाशित होता है तो वह भी मान लिया जाय। किंतु अवतारवादका अर्थ न माननेका कोई कारण नहीं। अन्य भी मन्त्र देखिये।

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत कुमारी।'
(अथर्ववेद का० १०।४।८)

यहाँ परमात्माकी स्तुति है कि आप स्त्रीरूप भी हैं, पुरुषरूप भी हैं। कुमार और कुमारीरूप भी आप होते हैं।

अब विचारनेकी बात है कि परमात्मा अपने व्यापक स्वरूपमें तो स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी कुछ भी नहीं है। ये रूप जो मन्त्रमें वर्णन किये गये हैं, अवतारों-

के ही रूप हो सकते हैं। पुरुषरूपमें राम, कृष्ण आदि अवतार प्रसिद्ध ही हैं। स्त्रीरूप महिषमर्दिनी आदि अवतारोंका विस्तृत वर्णन दुर्गासप्तशतीमें प्रसिद्ध है। वहाँके अवतार सब स्त्रीरूप ही हैं। व्यापक, निराकार परमात्मा पुरुषरूपमें वा स्त्रीरूपमें इच्छानुसार कहीं भी प्रकट हो सकता है। कुमारीरूपमें अवतार भी वहाँ वर्णित है। और कुमाररूपमें वामनावतार प्रसिद्ध ही है, जिसकी विस्तारसे कथा शतपथ ब्राह्मणमें प्राप्त होती है। शिष्ट-सम्प्रदायमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद माने जाते हैं, इसलिये शतपथमें प्रसिद्ध कथाको भी वेदका ही भाग कहना शिष्ट-सम्प्रदायद्वारा अनुमोदित है और कथाका संकेत मन्त्रमें भी मिलता है।

'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदं समूढमस्य पाꣳसुरे।'

अर्थात् इन दृश्यमान लोकोंको विष्णुने विक्रमण किया—इनपर अपने चरण रक्खे। अर्थात् अपने चरणोंसे सब लोकोंको नाप डाला। सब लोग इनकी पाद-धूलिमें अन्तर्गत हो गये। यह स्पष्ट वामन अवतारकी कथा है। यहाँ भी अर्थका विभाग उपस्थित होनेपर यही उत्तर होगा कि मन्त्रके अक्षरोंसे स्पष्ट प्रतीत होता हुआ हमारा अर्थ क्यों न माना जाय। जो कथा ब्राह्मण और पुराणोंमें प्रसिद्ध है, उसके अनुकूल मन्त्रका अर्थ न मानकर मनमाना अर्थ करना एक बलात् कार्य होगा। जो सम्प्रदाय ब्राह्मणभागको वेद नहीं मानते, वे भी यह तो मानते ही हैं कि मन्त्रोंके अर्थ ही भगवान्‌ने ऋषियोंकी बुद्धिमें प्रकाशित किये। वे ही अर्थ ऋषियोंने लिखे। वे ही ब्राह्मण हैं और पुराण आदि भी वेदार्थोंके विस्तार ही हैं, यह उनमें ही वर्णन किया गया है। इसी प्रकार मत्स्यावतारकी कथा और वराह अवतारकी कथा भी शतपथ आदि ब्राह्मणोंमें स्पष्ट मिलती है। जो वैज्ञानिक अवतार हैं, जिनका सृष्टिमें विशेषरूपसे उपयोग है, उनकी कथा ब्राह्मणोंमें सृष्टि-प्रक्रिया बतानेके लिये स्पष्ट रूपसे दी गयी है। उनके वैज्ञानिक अर्थोंको प्रकाशित करनेका यहाँ स्थान नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टिका विवरण करना गीताके व्याख्यानोंमें सर्वथा अप्रस्तुत होगा।

महाभारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठने 'मन्त्र-भागवत' और 'मन्त्र-रामायण' नामके दो छोटे निबन्ध भी लिखे हैं। उनमें राम और कृष्णकी प्रत्येक लीलाओंके प्रतिपादक मन्त्र उद्धृत किये हैं, उन मन्त्रोंसे राम और कृष्णके प्रत्येक चरित प्रकाशित होते हैं। औरवेदके रहस्यको प्रकाशित करनेमें ही जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया, उन वेदके असाधारण विद्वान् विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझाने भी गीता-विज्ञान-भाष्यके आचार्य-काण्डमें उन मन्त्रोंको दुहराया है। इसलिये ये मन्त्र उन लीलाओंपर नहीं घटते, ऐसा कहनेका साहस कोई नहीं कर सकता। इससे वेदोंमें अवतारवाद होना अति स्पष्ट हो जाता है।* × × ×

* * *

---

* भारतके प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदीने गत सात वर्षोंतक प्रति रविवारको गीताका प्रवचन करके अठारह अध्याय समाप्त किये। उसी 'गीताप्रवचन' में की हुई पहले छः अध्यायोंकी विद्वत्तापूर्ण नवीन विचारोंसे युक्त व्याख्या 'गीताप्रवचन-व्याख्यानमाला'के नामसे काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय नेपालराज्य संस्कृत-ग्रन्थमालाके चतुर्थ भागके रूपमें विश्वविद्यालयके द्वारा प्रकाशित हुई है, उसीका एक क्षुद्र-सा अंश ऊपर दिया गया है। पुस्तक बड़ी ही उपयोगी है तथा संग्रह एवं ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेके योग्य है। पुस्तक बड़े साइजके ६३१ पृष्ठोंमें अच्छे कागजोंपर बड़ी सुन्दर छपी है। 'कल्याण'के गीता-प्रेमी पाठकोंको इससे लाभ उठाना चाहिये।

आत्मोद्धारकी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ज्ञान, भक्ति आदि साधनोंके अनुसार यहाँ ऐसी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें बतलायी जाती हैं, जिनको धारण करनेपर मनुष्यका निश्चय ही कल्याण हो सकता है ।

(१) आत्मोद्धारके लिये भगवान्ने गीतामें दो ही निष्ठा बतलायी है—ज्ञाननिष्ठा (अद्वैतवाद) और योगनिष्ठा (द्वैतवाद—भक्तियोग और कर्मयोग) ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(गीता ३ । ३)

'हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है । उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है ।'

भगवान्ने इसके पूर्व दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक ज्ञाननिष्ठाका एवं श्लोक ४० से ७२ तक योगनिष्ठाका वर्णन किया है; जिसमेंसे श्लोक ४७ से ५१ तक तो प्रधानतासे कर्मयोगका विवेचन है और श्लोक ६१ में भक्तियोगका उल्लेख है ।

ये दोनों ही निष्ठाएँ कल्याण करनेवाली हैं ।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
(गीता ५ । ४)

'उपर्युक्त सांख्य और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है ।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
(५ । ५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमपद प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है; इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है वही यथार्थ देखता है ।'

इसलिये मनुष्यको अपनी रुचि और योग्यताके अनुकूल इन दोनोंमेंसे किसीका भी तत्परतासे अनुष्ठान करना चाहिये ।

(२) सांख्य (ज्ञान) की दृष्टिसे आत्मा और अनात्मा—इन दोनोंका यथार्थ तत्त्व समझना चाहिये । इस विषयमें एक श्लोक है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

'जो करोड़ों ग्रन्थोंमें कहा गया है उसीको मैं इस आधे श्लोकसे बतलाता हूँ कि जीव ब्रह्म ही है, भिन्न नहीं । ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है ।'

अतः अद्वैतमार्गके साधकोंको नित्य-निरन्तर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके भावका और दृश्यरूप संसारको स्वप्नवत्, मायामात्र, कल्पित, अनित्य और असत् समझते हुए उसके अभावका अनुभव करना चाहिये । गीतामें भगवान्ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
(२ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ।'

तात्पर्य यह कि सत्य वस्तु जो परमात्मा है उसका तो कभी अभाव नहीं होता और जो अनित्य देहादि दृश्य पदार्थ हैं वे कभी कायम नहीं रहते ।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
(गीता २ । १८)

'इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ।'

अतः ज्ञानयोगके साधकोंको इस प्रकार आत्मा और अनात्माके तत्त्वको भलीभाँति समझ लेना परम आवश्यक है ।

(३) सगुण भगवान्के दो स्वरूप हैं—निराकार और साकार । इन दोनों स्वरूपोंकी उपासना भेद-भावसे होती है । निराकारकी उपासनाका प्रकरण गीता ८ । ९, १०, २२; ९ । ४, ५, ६; १० । २०; १५ । १५, १७ आदिमें मिलता है । साकार उपासनाका प्रकरण गीता ४ । ६—११; ९ । २६; १० । १२, १५; ११ । ७, १७, ३६–४६; १८ । ७७ आदिमें मिलता है । इनके सिवा, गीतामें बहुत-से श्लोक ऐसे भी हैं जिनके अनुसार साधक अपनी इच्छाके अनुकूल सगुण-साकारकी या सगुण-निराकारकी भी उपासना कर सकता है, जैसे—६ । ४७; ७ । १४, १६; ८ । ५, ७; ९ । २२; १० । ९-१०; ११ । ५४-५५; १२ । २, ६-७-८; १८ । ६५-६६ आदि ।

भक्तिके साधकोंको अपनी इच्छाके अनुसार भगवान्के किसी भी स्वरूपकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना अवश्य करनी चाहिये ।

(४) भक्तिके साधकोंके लिये ये दो साधन सार हैं—भगवान्में परम अनुराग, विशुद्ध अनन्य प्रेम और संसारसे तीव्र वैराग्य । गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥
(१५ । ३-४)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है । उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।'

यहाँ तीसरे श्लोकके उत्तरार्धमें वैराग्यका और चौथे श्लोकमें शरणागतिरूप भक्ति (प्रेम) का प्रतिपादन किया गया है ।

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें गोकर्णजीने अपने पिताजीके प्रति कहा है—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥
(४ । ७९)

'पिताजी ! यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है । इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें और स्त्री-पुत्रादिको 'अपना' कभी न मानें । इस संसारको रात-दिन क्षणभङ्गुर देखें, इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उसमें राग

76 62

न करें। बस, एकमात्र वैराग्यरसके रसिक होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहें।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
(रा० च० मा० अयो० ३२३। ४)

भगवान्‌की निष्काम विशुद्ध भक्ति शीघ्र ही कल्याण करनेवाली है। उसके समान यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी नहीं है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५३-५४)

'जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है, इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ। परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य-भक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ और प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

आगे अनन्य-भक्तिका स्वरूप बतलानेके लिये अनन्यभक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

यहाँ भी 'सङ्गवर्जितः' कहकर वैराग्यके लिये और 'मत्परमः' 'मद्भक्तः' कहकर अनन्य-भक्तिके लिये स्पष्ट संकेत है।

(५) भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर भगवान्‌के लिये ही चिन्तित रहे, संसारके लिये नहीं। किसी कविने कहा है—

केशव केशव कूकिये ना कूकिये असार।
रात दिवस के कूकते कबहुँ तो सुनै पुकार॥

जिस प्रकार 'हाय धन! हाय धन!' करना धनकी तीव्र इच्छाका द्योतक है, वैसे ही भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर 'केशव! केशव!' कूकना ही भगवद्दर्शनकी तीव्र इच्छाका द्योतक है। अभिप्राय यह कि एकमात्र भगवान्‌से मिलनेकी ही तीव्र इच्छा करे, सांसारिक पदार्थोंकी कभी किंचिन्मात्र भी इच्छा न करे। यह भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा भगवान्‌से मिलानेवाली है; क्योंकि जिस प्रकार भक्त भगवान्‌को भजते हैं, वैसे ही भगवान् भी उनको भजते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

किंतु धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, आरोग्य आदिकी तीव्र इच्छा करनेपर भी वे धनादि पदार्थ मनुष्यको इच्छानुसार नहीं मिलते। सभी लोग आरोग्य चाहते हैं, किंतु इच्छा करनेमात्रसे आरोग्य नहीं प्राप्त होता। दुःखको कोई नहीं चाहता, सुख सभी चाहते हैं पर इच्छा करनेमात्रसे ही सुख नहीं मिलता, न दुःख ही निवृत्त होता है। इसका कारण यही है कि मनुष्य ही धनादि पदार्थोंकी चाह करता है, धनादि पदार्थ उसे नहीं चाहते। महाभारतमें महाराज युधिष्ठिरके प्रति भीष्मजीके वचन हैं—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥
(भीष्म० ४३। ४१)

'महाराज ! पुरुष अर्थका दास है किंतु अर्थ किसीका दास नहीं है । यह सच्ची बात है । मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ।'

इस कथनसे यही तात्पर्य निकलता है कि धनादि पदार्थ किसीके दास नहीं हैं—वे किसीको नहीं चाहते। इसलिये मनुष्यको भगवान्‌से मिलनेकी ही तीव्र इच्छा करना उचित है, अन्य किसीकी नहीं ।

(६) संत-समागम और हरिभक्ति—ये दो साधन बहुत महत्त्वके हैं ।

किसी कविने कहा है—

सुत दारा अरु लच्छमी पापीके भी होय ।
संत-समागम हरि-भगति दुर्लभ जगमें दोय ॥

भगवान् श्रीकृष्ण तो भक्त उद्धवसे कहते हैं—

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ४८)

'प्यारे उद्धव ! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्सङ्ग और भक्तियोग—इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये । प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई सुगम उपाय नहीं है; क्योंकि संत पुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ ।'

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे अपनी भक्ति करनेवाले भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे श्रेष्ठ मान्य है ।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ।
(रा० च० मा० उत्तर० ४४ । ३

सत् नाम परमात्माका है, उनमें प्रीति होना है उनका सङ्ग है । वह परमात्माकी प्रीति सत्संगसे ही प्राप्त होती है ।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ६१

सत्संगके बिना हरिकथा नहीं मिलती, उस हरिकथाके बिना मोह दूर नहीं होता और मोह दूर हु बिना भगवान् श्रीरामके चरणोंमें दृढ़ प्रेम नहीं होता।

उदाहरणके लिये भगवान्‌की भक्तिको ही एक वृक्ष समझना चाहिये । सत्संग करना ही उस वृक्षमें जल सींचना है, उससे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होना ही वृक्षका हरा-भरा होना है और भगवान्‌की प्राप्ति ही उसका फल है ।

(७) मनुष्य दो बातोंको कभी न भूले—१ भगवान्‌को, २ मृत्युको । श्रीनारायणस्वामीने कहा है—

दो बातन को भूल मत जो चाहे कल्यान।
नारायण इक मौत को दूजे श्रीभगवान ॥

मृत्युको हर समय अपने निकट देखनेसे मनुष्यसे पाप नहीं बन पाता; क्योंकि शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाता है । एवं भगवान्‌का हर समय स्मरण रखनेसे पापोंका नाश होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जो सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण करता है उसे अन्तःकालमें भगवान् अवश्य ही स्मरण हो जाते हैं; क्योंकि मनुष्य जैसा सदा-सर्वदा अभ्यास करता है उसका अन्तःकालमें वैसा ही अभ्यास स्वाभाविक ही होता है। भगवान् कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥
(गीता ८ । ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है ।'

अतएव मनुष्यको हर समय ही भगवान्का स्मरण रखना चाहिये । अर्जुनसे भी भगवान्ने यही कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

(८) आत्मकल्याणके लिये चित्तवृत्तियोंका निरोध और मनको वशमें करना प्रधान बताया गया है । मनको वशमें किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योगकी सिद्धि सम्भव नहीं । भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
(गीता ६ । ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—ऐसा मेरा मत है ।'

मनके निरोध और वशमें करनेके दो ही उपाय प्रधान हैं—अभ्यास और वैराग्य ।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । (योगदर्शन १ । १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है ।'

मनको वशमें करनेके ये ही दो उपाय भगवान्ने गीतामें भी बतलाये हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
(६ । ३५)

'हे महाबाहो ! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है ।'

श्रीपतञ्जलिजीने अभ्यासका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । (योगदर्शन १ । १३)

'उन दोनोंमेंसे, चित्तकी स्थिरताके लिये जो प्रयत्न करना है वह अभ्यास है ।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।
(योगदर्शन १ । १४)

'परंतु वह अभ्यास बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग किया जानेपर दृढ अवस्थावाला होता है ।'

गीतामें अभ्यासका रूप भगवान्ने यों बताया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(गीता ६ । २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही लगावे ।'

श्रीपतञ्जलिजीने वैराग्यका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।
(योगदर्शन १ । १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है ।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । (योगदर्शन १ । १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है—वह 'पर वैराग्य' है ।'

गीतामें वैराग्यका रूप यों बताया गया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

तथा—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।
(गीता १३ । ८ का उत्तरार्ध)

'जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना—'वैराग्य' है ।'

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य करनेसे मन वश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

(९) सद्गुण और सदाचारका सेवन एवं दुर्गुण और दुराचारका त्याग आत्मकल्याणमें परम आवश्यक है ।

भगवान् प्रेरणा करते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
(गीता ६ । ५ का पूर्वार्ध)

'अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले ।'

सद्गुण-सदाचारका सेवन करना और दुर्गुण-दुराचारका त्याग करना ही अपनेद्वारा अपना उद्धार करना है, किंतु इसके विपरीत करना अपनेद्वारा अपना पतन करना है ।

सद्गुण-सदाचारोंके समूहका नाम दैवीसम्पदा है और दुर्गुण-दुराचारोंके समूहका नाम आसुरी सम्पदा है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥
(गीता १६ । ५)

'दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी हैं । इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ।'

दैवी सम्पदा गीतामें यों बतलायी गयी है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
(१६ । १–३)

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरा अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे

विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन ! दैवीसम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ।'

इसके विपरीत आसुरी सम्पदा है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥
(गीता १६ । ४)

'हे पार्थ ! दम्भ, घमंड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरीसम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ।'

इस आसुरी सम्पदाका विस्तार गीताके सोलहवें अध्यायमें श्लोक ७ से २१ तक किया गया है, जिनपर विस्तृत विवेचन 'गीतातत्त्वविवेचनी' टीकामें देख लेना चाहिये ।

उपर्युक्त आसुरी सम्पदाका परित्याग करके दैवी सम्पदाको ग्रहण कर लेनेपर ही मनुष्यका कल्याण सम्भव है ।

(१०) दूसरोंका हित करना ही परम धर्म है और दूसरोंका अनिष्ट करना ही परम पाप है । प्रसिद्ध है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

'अठारह पुराणोंमें श्रीवेदव्यासजीके दो सार वचन हैं कि दूसरोंका उपकार करना धर्मके लिये प्रधान है और दूसरोंको पीड़ा देना पापके लिये प्रधान है ।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४० । ')

इसलिये मनुष्यको उचित है कि मन, वाणी, शरीरके द्वारा सबका लौकिक और पारलौकिक हित ही करे, किंतु अनिष्ट तो कभी किसीका किंचिन्मात्र भी किसी भी निमित्तको लेकर कभी न करे । अभिप्राय यह कि न किसीको बुरा समझे, न किसीका बुरा चाहे, न किसीका बुरा करे और न किसीके दोषोंको देखे ।

उपर्युक्त सभी बातें मनुष्यका परम कल्याण करनेवाली हैं । इसलिये मनुष्यको इनको भलीभाँति समझकर काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

* * *

अब मैं केवल जोग तुम्हारे

(१)

अब मैं केवल जोग तुम्हारे !
दर्पन हँसकर बोला, 'बावरा जो तुझ पर तन वारे !'
अंदर पैठा; बैठ गया मन लाज हयाके मारे ।
साधन करते सब दिन बीते; जीते जो सो हारे ।
जैसा हूँ वैसा ही मुझको ऐसा कौन दुलारे ।
अब मैं केवल जोग तुम्हारे !

(२)

तुमने मेरी लाज बचा ली !
जड़ हठ में मैं माँग पड़ा था तुमसे भेंट निराली ।
गड़ पथ में ही जाता, आता हाय लिये जो खाली ।
रख मन मेरा तुमने रख ली मेरे मुखकी लाली ।
कौन बिगाड़े उसकी जिसकी तुम करते रखवाली ।
तुमने मेरी लाज बचा ली !

—हरिवंशराय 'बच्चन'

मधुर

एक समयकी बात है । श्रीराधाजीका प्रियतम श्रीकृष्णसे लीलारसवृद्धिके भावसे कई दिनोंतक मिलन नहीं हुआ । श्यामसुन्दर मिलनेके लिये आतुर थे और श्रीराधा जहाँ जातीं, वहीं पीछे-पीछे जाकर पहुँच जाते । तदनन्तर एक दिन प्रिय श्रीकृष्णको अत्यन्त विकल देखकर राधाजीने मिलनेका सुअवसर दिया । बड़ी पवित्र मधुर प्रेमचर्चा होने लगी । श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधाके पवित्र प्रेमसुधा-समुद्रमें निमग्न थे । उनकी यह स्थिति देखकर श्रीराधाजीने श्रीश्यामसुन्दरके सुन्दर दिव्य स्वभावकी प्रशंसा करते हुए विनोदकी भाषामें उनकी महत्ता तथा अपना दैन्य प्रकट करते हुए कहा——

प्रेमाधीन शिरोमणि हो तुम
प्रेमीके कर बिक जाते ।
प्रेम विशुद्ध देख भगवत्ता-
को भी सहज बिसर जाते ॥
तुम रस हो, रसमूल, रसिक
तुम परम रसोंके हो ज्ञाता ।
देख दिव्य रस, तुम्हें सहज ही
निज रस-रूप भूल जाता ॥
परम गुणाकर हो, गुणज्ञ तुम,
तुम सद्गुण वितरण करते ।
देख दिव्य सद्गुण, अपनेको
उसपर न्योछावर करते ॥
जो सब छोड़ परम श्रद्धासे
तुम्हें लक्ष्यकर चल पड़ता ।
तुरत सामने आ जाते तुम,
नहीं उसे चलना पड़ता ॥

प्यारे श्यामसुन्दर ! प्रेमके महत्त्वको जाननेवाले जितने भी प्रेमाधीनता स्वीकार करनेवाले महानुभाव हैं, तुम उन सबमें शिरोमणि हो । तुम तो जहाँ जरा भी विशुद्ध प्रेम देखते हो, वहीं अपनी सारी भगवत्ताको भूलकर उसके अधीन हो जाते हो । तुम ही यथार्थमें 'रस' हो, तुम ही रसके मूल स्रोत हो—सारा संसार तुम्हींसे रस प्राप्त करता है, तुम ही परम रसिक हो और रसोंके तत्त्वको जाननेवाले हो। पर तुम ऐसे रसिक हो कि जहाँ भी कहीं तुम्हें दिव्य रस दिखायी दिया कि तुम्हें अपनी 'रस'-रूपताकी विस्मृति हो जाती है और तुम उस रसके आस्वादनके लिये लालायित हो उठते हो । तुम ही समस्त श्रेष्ठ गुणोंकी खान हो, गुणके ज्ञाता हो और तुम्हीं सबमें सदा सद्गुणोंका वितरण करते हो, पर जहाँ कहीं दिव्य गुण देखते हो, वहाँ अपनेको उसपर न्योछावर कर देते हो । प्रेम-रस और गुणोंके स्वरूप तथा मूल स्रोत एवं भण्डार होनेपर भी तुम जो ऐसा करते हो, यह भी तुम्हारी——प्रेमाधीनता, रसरूपता और गुणज्ञताका ही परिचय है । इसके अतिरिक्त, यदि कोई सब कुछ छोड़कर, तुम्हें लक्ष्य बनाकर परम श्रद्धाके साथ तुम्हारी ओर चलना आरम्भ कर देता है तो तुम ऐसे उदार हो कि तुरंत ही उसके सामने आकर खड़े हो जाते हो, उसे चलना ही नहीं पड़ता । जहाँ कुछ भी प्रेम-रस या गुण हो, वहाँ तुम्हारा ऐसा करना ठीक है, यह तुम्हारे हृदयकी विशालता और उदारता है; परंतु——

मैं तो नित्य प्रेम-कण-विरहित
हूँ सर्वथा शुष्क रसहीन ।
सद्गुण एक नहीं है मुझमें
दोष पूर्ण हूँ, दुर्गुण-पीन ॥
पीठ दिये ही हूँ मैं रहती,
सदा विमुख ही हूँ चलती ।
इतनेपर भी कभी न मुझको
अपनी नीच दशा खलती ॥

मैं तो सदा ही, प्रेमकी बात तो दूर, प्रेमके एक कणसे भी पूर्णरूपसे रहित हूँ । रसकी तो चर्चा ही क्या, मेरा हृदय तो सर्वथा सूखा और नीरस है । इसी प्रकार मुझमें एक भी सद्गुण नामको भी नहीं है, वरं मैं दोषोंसे भरी हूँ और दुर्गुणोंसे स्थूल हो रही हूँ । कभी तुम्हारे सम्मुख होती ही नहीं, सदा ही पीठ दिये रहती हूँ, यही नहीं, मैं तो सदा तुम्हारे विमुख ही चलती हूँ ।—इतनेपर भी मेरी, इस नीच दशापर मुझे जरा भी दुःख नहीं होता ।

फिर तुम क्यों रीझे हो मुझपर ?
क्यों देते हो इतना प्यार ?
क्यों पीछे-पीछे फिरते हो ?
क्यों करते ममता-विस्तार ?
जाना, तुम अति ही भोले हो,
या तुम हो अत्यन्त उदार !
निज स्वभाववश दोषोंमें भी
देख रहे गुण नित्य अपार ॥

फिर, पता नहीं, तुम किस बातको लेकर मुझपर रीझ रहे हो ! क्यों इतना प्रेम दान कर रहे हो ! क्यों सदा मेरे पीछे-पीछे फिरते हो और क्यों सब ओरसे मेरे प्रति इतनी ममता फैला रहे हो ? मैं जान गयी, तुम एकदम भोले हो, अथवा तुम अत्यन्त उदार हो, बस, केवल उदार ही हो । इसी अपने स्वभावके वश होनेके कारण तुम दोषभरी मुझमें सदा अपार गुण ही देख रहे हो ।

बिना हेतु नित देते रहते
हो तुम इतना प्रेम ममत्व ।
यही जानकर मुझ अधमामें
जाग उठा है यह विषमत्व ॥
कर आरोप उसीका तुमपर
देख रही तुममें वैषम्य ।
पक्षपातवश करते मुझसे
प्रेम, न जो सुधियोंको क्षम्य ॥
इसीलिये मुझ गर्वीलीने
तुमको मान लिया अपना ।
तुमपर नित अधिकार मानती,
जागूँ या देखूँ सपना ॥
तुम ही मेरे प्राणनाथ हो,
हो सर्वस्व, एक आधार ।
अपने ही गुणसे जो मुझको
सदा दे रहे इतना प्यार ॥

इसीसे तुम बिना ही कारण नित्य-निरन्तर मुझको इतना प्रेम दे रहे हो और ममता बढ़ा रहे हो । तुम्हारी इस अकारण प्रीतिको देख-जानकर मुझ अधमाके मनमें यह एक विषमता उत्पन्न हो गयी और मैंने उसी विषमताका तुमपर आरोप करके यह मान लिया कि तुम मुझसे पक्षपात करते हो, इसीलिये मैं प्रेमके योग्य न होनेपर भी मेरे प्रति तुम जितना प्रेम करते हो, उतना दूसरोंके प्रति नहीं करते, यद्यपि तुम्हारे इस पक्षपातको बुद्धिमान्जन क्षमाके योग्य नहीं मानते । पर तुम्हारे इस पक्षपातपूर्ण प्रेमको देखकर मेरा गर्व बढ़ गया और मैंने तुमको अपनी वस्तु ही मान लिया । इसीसे चाहे जागूँ या सोती रहूँ, सदा तुमपर अपना यह अधिकार मानती हूँ कि तुम मेरे हो और सच-मुच ही श्यामसुन्दर ! तुम ही मेरे प्राणेश्वर हो, तुम ही मेरे सर्वस्व हो, तुम ही एकमात्र आधार हो । जो अपने ही गुणसे मुझ दोषपूर्णको सदा-सर्वदा इतना प्यार दे रहे हो ।

श्रीराधाके इन पवित्र भावोंकी जय हो !

* * *

एकादशीका उपवास

(मूल मराठी-लेखक--श्री पं० श्री दा० सातवलेकरजी)

[अनुवादक--पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि]

[गताङ्कसे आगे]

उपवासकी निर्दोषता

शुक्ल और कृष्णपक्षकी एकादशीके दिन उपवास करनेसे शरीरके अंदरका मल नष्ट हो जाता है, रोगाणु नष्ट हो जाते हैं और शरीरके स्वस्थ हो जानेके कारण आगेके दिनोंमें होनेवाले अनिष्टकारक परिणामोंका शरीरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्वस्थ मनुष्यके लिये पंद्रह दिनोंमें इस एक दिनका उपवास पर्याप्त है। पर जो रोगोंसे आक्रान्त हैं, उनके लिये अमावास्यासे पहले चतुर्दशीके उपवासका भी विधान है। पूर्णिमाके पहलेके चतुर्दशीके दिन उपवास करनेका विधान नहीं है; क्योंकि अमावास्याके दिन अनिष्टकारक परिणामका जितना भय रहता है, उतना पूर्णिमाके दिन नहीं। त्रयोदशीके दिन प्रदोषकाल (संध्याकाल) के समय उपवास करना चाहिये। अमावास्याके बाद शुक्लपक्षमें चतुर्थीको पूर्ण उपवास और कृष्णपक्षकी चतुर्थीको आधे उपवासका विधान ऐच्छिक है। बाकीके उपवास करें या न करें, पर एकादशीका उपवास आवश्यक है, ऐसा शास्त्रकारोंका मत है। तिथिवार किये जानेवाले उपवासोंकी संख्या इतनी ही है, पर उनकी योजना अद्भुत है—

मासका प्रारम्भ—शुक्लपक्ष

१. **चतुर्थी**—द्वादशीसे लेकर तृतीयातकके दिनोंमें सूर्यसे जीवनशक्ति कम मिलनेके कारण कुछ मल शरीरमें यदि एकत्रित हो गया हो तो वह नष्ट हो जाय और आगेके दिनोंमें प्राप्त होनेवाली निर्दोष जीवनशक्तिका पूर्णतया लाभ उठाया जा सके, इसलिये पूरे दिनका लङ्घन करना चाहिये। फिर दशमीतक कोई लङ्घन नहीं।

२. **एकादशी**—आगेके सप्ताहमें होनेवाली प्रतिकूल परिस्थितिसे बचाव करनेके लिये एक दिनका पूरा लङ्घन।

३. **प्रदोष**—सदोष प्रकृतिवाले लोगोंके लिये प्रतिकूल सप्ताहमें आधा उपवास।

इसके आगे पूर्णिमाके निकल जानेके बाद—

कृष्णपक्ष

१. **संकष्टी चतुर्थी**—प्रतिकूल सप्ताहके निकल जानेपर उन दिनोंमें उत्पन्न हुए दोषको नष्ट करनेके लिये आधे दिनका उपवास।

२. **एकादशी**—आगे आनेवाले विशेष प्रतिकूल सप्ताहमें अनिष्ट परिणामोंसे बचनेके लिये पूर्ण लङ्घन।

३. **प्रदोष**—सदोष प्रकृतिवालोंके लिये आधा उपवास।

४. **चतुर्दशी**—अमावास्याके विशेष प्रतिकूल परिस्थितिको हटानेके लिये पूर्ण लङ्घन।

शुक्लपक्षकी अपेक्षा कृष्णपक्षमें अमावास्याके निकट एक अधिक उपवास रक्खा गया है। इसका कारण पहले ही बताया जा चुका है। स्वस्थ मनुष्यके लिये केवल एकादशीका उपवास ही पर्याप्त होता है। पर जो प्रायः बीमार रहते या पड़ते हैं, उनके आरोग्यके लिये यह सब योजना है। इसलिये वह सब ऐच्छिक हैं।

इस प्रकार उपवाससे शरीरकी शक्ति बढ़ती है और रोगबीज नष्ट होते हैं।

तिथिवारके उपवासोंमें जो तत्त्व है, वह दिनोंके उपवासोंमें नहीं है; क्योंकि वार किसी भी तिथिपर आ सकते हैं अर्थात् यह कोई निश्चित नहीं है कि बृहस्पतिवार हमेशा एकादशीके दिन ही पड़ेगा, वह अमावास्या, पूर्णिमा, द्वादशी किसी भी दिन पड़ सकता है। इस कारण सूर्य-चन्द्रके आकर्षणके कारण होनेवाले फेर-बदलसे वारोंके उपवासोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण शास्त्रकारोंने जितना महत्त्व तिथिके उपवासोंका बताया है, उतना वारोंके उपवासोंका नहीं। सुविधाकी दृष्टिसे यद्यपि आज वारोंके उपवासोंका प्रचलन अधिक है, पर तिथिके उपवास अधिक शास्त्रसम्मत और उपवास-चिकित्साके समीप हैं।

जो प्राचीन लोग उपवास करते हैं वे बहुत रोगी नहीं होते। नयी संस्कृतिके उपासक एवं प्राचीन संस्कृतिके उपहासक

तथा दिनमें छः बार खाकर बिल्कुल उपवास न करनेवाले नवशिक्षित लोग हमेशा रोगी होते हैं । पर प्राचीन लोग अपनी धर्मभीरुताके कारण उपवास करते हुए तथा अन्य दिनोंमें सिर्फ एक या दो बार ही खाकर बीमारीको पास भी फटकने नहीं देते । उनके शरीरमें संचित रोगोत्पादक मल योग्य समयपर उपवास करनेके कारण नष्ट हो जाता है । पाठकगण इसका अनुभव कर सकते हैं ।

यूरोपियन लोगोंको दिनमें छः बार खाते हुए देखकर भारतीय भी उसी प्रकार करने लगे । सबेरे चाय, थोड़ा-सा नाश्ता, दोपहर भोजन, डेढ बजे कुछ हल्का खाना, चार बजे फिर चाय, शामको सात बजे भोजन, रातमें फिर चाय— यह क्रम हमारे भारतीय साहबोंका है । यूरोप ठंढा देशके कारण वहाँ भूख ज्यादा लगती है, पर वैसी स्थिति भारतमें नहीं है । यह सीधी-सी बात भी लोग भूल जाते हैं और दूसरोंका अन्धानुकरण करने लगते हैं ।

दो समय भोजन

हमारे शास्त्रोंमें एक या दो समयका ही भोजन लिखा हुआ है । बचपनमें शरीरके बढ़नेके कारण बच्चोंको बार-बार खाना पड़ता है, पर बड़ोंकी वैसी स्थिति नहीं है । बड़ोंको सिर्फ दो समय ही खाना चाहिये । तीसरी बार मुँहमें कुछ भी न डालें । वृद्धोंको सिर्फ एक ही वक्त खाना चाहिये, हमारे शास्त्रोंका इस तरहका उपदेश है । पर अन्धानुकरण करनेवालोंको यह पसंद नहीं आयेगा । वे पुराने लोगोंके अन्धविश्वासको भला-बुरा कहते हुए दिनमें छः बार खाते हैं और इच्छानुसार खूब चाय पीते हैं तथा अन्धानुकरण करते हैं । वह अन्धविश्वास लाभप्रद है या यह अन्धानुकरण, विचारणीय है ।

मुँहसें लार उत्पन्न होती है और वह दाँतमें अटके हुए अन्नके टुकड़ोंको धीरे-धीरे निकाल फेंकती है । पर यदि पहलेके अन्न-टुकड़ोंके दाँतोंसे दूर होनेके पहले ही दुबारा कुछ खा लें तो पहलेके अन्नकणके ऊपर दूसरे अन्नकण जाकर चिपक जाते हैं और अंदरके अन्नकण सड़ने शुरू हो जाते हैं । दिनमें बहुत बार खानेवालोंके मुँह कभी भी साफ नहीं रहते । यूरोपवासियोंके भी दाँत अच्छे नहीं रहते । उनके दाँत अकसर कीड़े लगे हुए होते हैं ।

दाँत

सब जगत्के मनुष्योंमें हिंदुओंके दाँत उत्तम होते हैं और जहाँ नयी संस्कृति अभी पहुँची नहीं, वहाँ हिंदुओंके दाँत अभी भी उत्तम हैं । पाश्चात्त्योंका अन्धानुकरण करनेके लिये दिनमें अनेक बार खानेवाले तथा बिल्कुल उपवास न करनेवाले भारतीय साहबोंके भी दाँत खराब होते हैं । दिनों-दिन दाँतोंके रोग बढ़ते जाते हैं । ब्रशके प्रयोगसे मसूड़े छिल जाते हैं और उनके द्वारा कृमि दाँतोंमें घुसते हैं । अतः इस साधनसे भी दाँतोंके रोग बढ़ते ही हैं ।

अपचनसे भी दाँतके रोग बढ़ते हैं और उनमें विष बढ़ने लगता है । भोजन करते समय लारके साथ वही विष पेटमें जाकर अनेक रोगोंका कारण बनता है । कभी-कभी तो यह क्षय-जैसे भयंकर रोगोंका भी कारण बन जाता है । पर इस होनेवाले नाशका कारण हमारा अपना आचार ही है, यह बात किसीकी समझमें नहीं आती । नवयुवक यदि दो ही समय खायें और एकादशीका उपवास रक्खें, तो ऊपर कही गयी आपत्तियाँ उन्हें कभी तंग न करें ।

प्राचीन लोग भी आज विकृतावस्थामें पहुँच गये हैं । वे भी उपवासके दिन केवल अन्न नहीं खाते, बाकी सभी पदार्थ खाते हैं । अथवा उपवासके दिन चाय या काफी पीते हैं । पर यह ढंग भी घातक है । आरोग्यके लिये उपवास कैसे किया जाय, इसका सविस्तर विवेचन करके यह समझ लेना चाहिये कि उपवासका सम्बन्ध केवल जीभसे न होकर सभी इन्द्रियोंसे है ।

व्रतोंकी योजना

अपने भारतीय धर्ममें उपवास एवं व्रतोंकी जो प्राचीन योजना है, वह इतनी सहेतुक, बुद्धिपुरस्सर और दूरतकका विचार करके की गयी है कि इसकी योजना करनेवालोंकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है । हमारे धर्ममें बहुत-से त्यौहार तिथिसे सम्बन्धित हैं, उसी प्रकार उपवास भी एकादशीसे सम्बन्धित है । प्रत्येक त्यौहारका तिथिसे सम्बन्ध दिखाना इन थोड़ेसे पृष्ठोंमें असम्भव है, तथापि यह विषय यहाँ अंशरूपसे दिखाते हैं । 'दशमी, एकादशी और द्वादशी' इन तीन तिथियोंके साथ त्यौहारोंका क्या सम्बन्ध है और इनसे हमें क्या बोध मिलता है, इसका विचार हम अब करते हैं—

विजया दशमी

दशमीका बड़ा पर्व 'विजया दशमी' (दशहरा) है । दशमी विजययुक्त होती है । दशमीका अर्थ है 'दश+शमी ।

पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दसोंका शमन करना, संयम करना अर्थात् दसों इन्द्रियोंको स्वाधीन रखना, यह 'दशशमी' अथवा दशमीका साध्य है । यदि दसों इन्द्रियाँ अपने स्वाधीन रहीं, अपने दिव्य रथके दसों दिव्य घोड़े यदि अपने अधिकारमें रहे तो इस 'दशरथ' (आत्मा)का इच्छित स्थानपर पहुँचना सम्भव हो सकेगा । जिस मंजिलपर मनुष्यको पहुँचना है, वहाँ वह सरलतासे पहुँच सकेगा । इसीका नाम विजय है । इसीलिये इसे 'विजया दशमी' कहते हैं । इसी 'दशरथ'से 'राम'रूपी प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न होती है और वही दसों इन्द्रियोंसे विषयोपभोग करनेवाले 'दशमुख'पर विजय प्राप्त करती है । दशरथ दसों इन्द्रियोंके संयमसे सत्कार्य करनेके लिये धर्ममार्गपर लगानेवाला है और 'दशमुख' दसों इन्द्रियोंको बेकाबू करके अधर्ममार्गपर चलानेवाला है । इन दोनोंका युद्ध सनातन है और अन्तमें दशरथके रामकी ही विजय होती है । जगको जीतनेवाले दशमुखके पुत्र इन्द्रजित्की विजय नहीं होती । यह सारांशमें 'विजयादशमी'का सार है । (क्रमशः)

अवतार

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'संसारके प्राणी अत्यन्त दुखी हैं दयाधाम !' देवर्षि नारद गोलोकेश्वरका सत्कार स्वीकार करके आसनपर आसीन हो गये थे और कुशल-प्रश्नका अवकाश दिये बिना ही उन्होंने स्वतः प्रार्थना प्रारम्भ कर दी—'आपकी अहैतुकी कृपाके अतिरिक्त उनका और कोई आश्रय नहीं है ।'

'मैं कृपा-कृपण नहीं हुआ हूँ देवर्षि !' तनिक मुस्कराये मयूरमुकुटी—'जीवोंके परम कल्याणके लिये श्रुतिकी शाश्वत वाणी मैंने पूर्वसे उन्हें प्रदान की । सृष्टिके प्रारम्भमें ही मैं स्रष्टाको वेद-ज्ञान दे देता हूँ, जिससे जीवोंको अज्ञानके अन्धकारमें भटकना न पड़े ।'

'वे अब भी भटक रहे हैं ।' कृपाकी अतिशयताके कारण नारदजीके नेत्र टपकने लगे—'जप-तप, योग-यज्ञ आदिमें प्रथम तो उनकी प्रवृत्ति नहीं होती और कदाचित् हो भी गयी तो आपकी लोकविमोहिनी मायाके प्रलोभन कहाँ कम हैं । भोग, यश, स्वर्ग और कुछ न हो तो अहंकार—इन पाशोंसे परित्राण कैसे पायें वे दुर्बल ?'

'अन्ततः आप चाहते क्या हैं ?' सीधा प्रश्न किया गया । श्रीनारदजीका क्या ठिकाना कि कब उठ खड़े हों । उनको कहीं स्थिर बैठना आता नहीं । उनकी खड़ाऊँ हिलने लगी है । दूसरे, ये लम्बी चुटियावाले वीणाधारी विचित्र स्वभावके हैं । इधरकी उधर लगानेमें, पहेली बुझानेमें इन्हें आनन्द आता है । क्या पता कब कह दें कि आगेकी बात अपने आप समझो । अभी सानुकूल हैं । अतएव अभी सीधे ही पूछ लेना अधिक उपयुक्त था ।

'मेरे चाहनेका कोई महत्त्व नहीं ।' देवर्षिने उलाहना नहीं दिया । वे प्रार्थनाके स्वरमें ही बोल रहे थे—'आप सर्वज्ञ हैं; किंतु जीव इसे समझ नहीं पाते । उनके मध्य आप पधारो और स्वयं अपने व्यक्त दृगोंसे उन्हें देखो । वे आपके परम मङ्गलायतन स्वरूपका दर्शन करें । आपके व्यक्त सगुण-साकार श्रीविग्रहके रुचिर क्रीड़ा-विहारोंका आधार मिले उनके चञ्चल चित्तको । तब कहीं माया भगवती भी कुछ संकुचित होंगी, कुछ कृपा करना आवेगा उन्हें ।'

पीताम्बरधारीने तनिक देखा निकुञ्जेश्वरीकी ओर । तात्पर्य स्पष्ट था—'इनकी छाया-शक्ति ही माया है । आप इनसे क्यों नहीं कहते ?'

'ये नित्य प्रेमस्वरूपा—इन्हें तो स्नेह ही देना आता है !' देवर्षिने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया—'आपकी क्रीडा-प्रियतामें बाधा न पड़ती; इन्होंने कहाँ कब उपेक्षा सीखी है किसीकी । इनके स्मरणसे मायाका अन्धकार तिरोहित होता है; किंतु जीवोंका अभाग्य—वे स्मरण ही कहाँ कर पाते हैं । उनके लिये स्मरणका स्पष्ट, व्यक्त, सुरम्य, आधार प्रदान करने आप स्वयं धरापर पधारें देव !'

'आपकी इच्छा पूर्ण हो !' देवर्षिने वीणा तब उठायी, जब सर्वेश्वरके श्रीमुखसे यह सुन लिया ।

× × ×

'मैं बार-बार धरापर गया और मैंने जीवोंके कल्याणके साधन उन्हें प्रदान किये ।' युगोंके पश्चात् देवर्षि फिर गोलोक पधारे थे और इस बार श्यामसुन्दर स्वतः बता रहे थे—'मानव कर्ममें नित्य स्वतन्त्र है और वह उन्हीं कर्मोंको प्रिय मानता है, जो उसके बन्धनको और दृढ़ करते हैं । वह अपने क्लेशको बढ़ानेमें लगा है । मेरी ओर देखनेका तो जैसे उसके पास समय ही नहीं ।'

'आपने महामत्स्यरूप धारण किया और मानवके एक आदिपुरुषको स्वतः श्रीमुखसे धर्मका उपदेश किया !' देवर्षिकी वाणीमें इस बार व्यंग था—'मानवका अभाग्य कि वह उस धर्मकी ओर ध्यान नहीं देता और ध्यान नहीं देता प्रलयाब्धिविहारी महामत्स्यकी ओर ।'

'देवर्षि ! मैं मत्स्यावतार, वाराहावतार या वामन अथवा नृसिंहावतारकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ ।' श्रीकृष्णचन्द्र खुलकर हँसे—'ये अवतार मनुष्योंके मध्य नहीं हुए और मानव इनमें आकर्षण न पाये तो उसे दोष देनेका कारण नहीं है ।'

'मनुष्यके कल्याणके लिये आप गृहत्यागी बने और नर-नारायणरूपसे आपने दीर्घकालीन तपस्या की । कपिलरूपमें आपने तत्त्वका प्रसंख्यान किया और तपका आदर्श स्वतः उपस्थित किया ।' देवर्षिका स्वर परिवर्तित नहीं हुआ—'कूर्म, यज्ञ, हयशीर्ष, मोहिनी अवतारकी चर्चा आप करेंगे नहीं; क्योंकि वे भी मनुष्योंके मध्य नहीं हुए । यही अवस्था हंस, धन्वन्तरि-जैसे अवतारोंकी है और प्रभु ! ऋषभरूपसे भी वही तपका आदर्श दिया आपने । मानव तप कर नहीं पाता । थोड़ेसे ऋषियोंके वशका है तप । जहाँ वह अपनेको समर्थ नहीं पाता, वहाँसे उदासीन तो होगा ही ।'

'आप अपनेको और अपने अग्रज सनकादि कुमारोंको गणनामें लेनेवाले नहीं हैं । परशुरामका अवतार साधन प्रदान करनेके लिये हुआ नहीं । आगे भी बुद्ध तथा कल्कि-अवतार प्रयोजनविशेषसे होने हैं तथा गजेन्द्रके उद्धार या ध्रुवके लिये हुए अवतारकी बात भी मैं नहीं करता ।' इस बार श्रीभगवान्का स्वर गम्भीर हो गया—'आप चाहें तो कह सकते हैं कि पृथुके रूपमें भी मैं सत्ययुगमें धरापर गया और यज्ञका ही विशेषरूपसे मैंने प्रतिपादन किया; किंतु मैंने त्रेतामें मानवको सम्यक् आदर्श देनेमें कहाँ त्रुटि की देवर्षि ? मैंने सम्पूर्ण मानव-चरितको क्या उचितरूपमें अयोध्यामें उपस्थित नहीं किया ?'

'मन्दप्रज्ञ ही मर्यादापुरुषोत्तमके मङ्गल चरितमें त्रुटि देखते हैं !' देवर्षिके स्वर श्रद्धाभरित हुए—'आप अनन्त कृपा-पयोधि हैं, इसीलिये तो यह जन इन श्रीचरणोंमें पुनः जीवोंपर कृपा-याचना करने उपस्थित हुआ है ।'

'तब आप चाहते हैं····।' श्यामसुन्दरकी बात पूरी नहीं हुई । देवर्षिने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया ।

'कलि-कलुष मानवको मर्यादामें रहने नहीं देता देव ! आपके भुवन-पावन चरित उसे निर्मल करते हैं और आपका वह पावन 'राम' नाम निखिल पापतापका विनाशक है । आपने मानवके समस्त वर्गोंके लिये सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान एवं साधन-प्रणाली अपने कृष्णद्वैपायन रूपसे सुगम कर दी है; किंतु····।' दो क्षण रुककर पुनः बोले देवर्षि—'यदि आप अपने इन त्रिभुवनमोहन रूपसे पधारते ! यदि अपने इन दिव्य चरितोंको प्रकाशित करते धरापर, जो श्रवणमात्रसे चित्तको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं ।'

'प्रेम मानवको श्रीचरणोंकी ओर अधिक आकर्षित करता है मर्यादाकी अपेक्षा और भक्तिदेवीपर आपका सर्वाधिक अनुग्रह भी है ।' देवर्षिने इस बार श्रीनिकुञ्जेश्वरीके पाद-पंकजोंकी ओर मस्तक झुकाया—'महाभावका आलोक यदि एक बार धराको धन्य कर जाता ।'

'इसका अर्थ है कि अंश और कलाका अवतरण देवर्षिको संतुष्ट नहीं कर सका है । आदर्शकी मर्यादासे भी ये नित्य अवधूत कुछ अधिक चाहते हैं; किंतु महाभाव····' मयूरमुकुट उन महाभावकी नित्यमूर्ति अपनी अभिन्न सहचरीकी ओर झुका—'वह तो अन्यत्र व्यक्त नहीं होता । उसका आलोक धरापर यदि व्यक्त होता है तो वह दूसरेमें व्यक्त हो, यह कैसे हो सकता है । आप धरापर पधारेंगी ?'

'अस्वीकृति मैंने कभी सुनी नहीं ।' देवर्षि बीचमें ही बोले—'अनन्त स्नेह, अनन्त कृपा और अनन्त वात्सल्य जहाँसे शिशु पाता है, वहाँ उसकी याचना पूर्व-स्वीकृत ही रहती है ।'

'एवमस्तु' सुननेकी भी अपेक्षा देवर्षिने नहीं की। वे वीणा करोंमें उठा चुके थे और उठ चुके थे आसनसे। उनकी अंगुलियाँ वीणाके तारोंसे उल्लासपूर्ण झंकृति गुंजित करने लगी थीं । भला कहीं किसीकी आकाङ्क्षा इन चारु चरणोंतक पहुँचकर भी कभी अपूर्ण रही है ?

* * *

प्रभुकी कृपा

घेरे हुए मुझे है प्रभुका सभी ओर सब समयं प्रकाश ।
बाँधे हुए मुझे है प्रतिपल प्रभुके दिव्य प्रेमका पाश ॥
रक्षा करती है मेरी नित प्रभुकी शक्ति अमोघ विशाल ।
प्रभुकी नित्य कृपा अब मेरी करती सारी सार-सँभाल ॥
सहज सुहृद प्रभुका वह पावन मिला मुझे सौहार्द अपार ।
हुआ सरस जीवन, उमड़ा शुचि स्नेह-सुधाका पारावार ॥
अपना लिया मुझे अब प्रभुने रक्खा मेरे सिरपर हाथ ।
रखने लगे निरन्तर मुझको करुणामय प्रभु अपने साथ ॥
प्रभुकी शाश्वत शान्ति आ बसी मेरे जीवनमें सब ओर ।
करती रहती मुझे सर्वदा आत्यन्तिक आनन्द-विभोर ॥

* * *

सबका कल्याण कैसे हो ?

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक भाषण)

प्रश्न–सबका कल्याण कैसे हो ?

उत्तर–ऐसा मनमें आता है कि मैं जो बात कहता हूँ, इसको आप और हम सब करें तो सबका कल्याण हो जाय। सबसे पहले तो हमारा यह उद्देश्य हो कि हमें अपना उद्धार करना है। हमारी यह एक ही इच्छा है, एक ही माँग है, जरूरत है, आवश्यकता है। कहावत भी है—

एकै साधें सब सधै, सब साधें सब जाय।

—एकके सिद्ध करनेसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं और सब कामोंको सिद्ध करना चाहें तो कोई-सा भी सिद्ध नहीं होता। अतः सबसे पहली आवश्यकता तो इस बातकी है कि सब ओरसे वृत्तियोंको हटाकर एक अपने कल्याणकी ओर ही कर लिया जाय। अब इस उद्देश्यके अनुसार निरन्तर साधन होना चाहिये। उस निरन्तरताके लिये विचार करना है।

हमारे सामने ये चीजें आती हैं—काम-धंधा, समय, व्यक्ति, वस्तु आदि-आदि। भाव यह कि हमारे सामने अनेक तरहके काम-धंधे कर्तव्यरूपसे आते हैं। और एक हमारे पास है समय (वक्त)—यानी हमें जो रात-दिन, महीना-वर्ष आदिके रूपमें उम्र मिली हुई है। तीसरी हमारे सामने माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी आदि व्यक्तियाँ आती हैं। चौथी आती हैं धन, मकान आदि वस्तुएँ। इनके लिये हमें अलग-अलग क्रिया करनी पड़ती है। कभी ऐसा होता है कि अभी सत्सङ्गका समय है सत्सङ्ग करो, अभी समय भोजनका हो गया तो भोजन कर लो, अब आरामका समय है आराम कर लो, अब पुस्तक पढ़ना है तो यह कर लो। इसी प्रकार जीविकाका काम है, रसोईका काम करना है, बाल-बच्चोंके पालन-पोषणका काम होता है, सोनेका काम होता है, शारीरिक शुद्धिका काम है, गङ्गास्नान आदिका काम होता है। ऐसे अलग-अलग धंधे सामने आते हैं, वे समय-समयपर आते हैं। अतः कामका विभाग होगा और समयका विभाग होगा। ऐसे ही व्यक्तियोंका और वस्तुओंका भी विभाग होगा कि ये हमारी हैं और ये हमारी नहीं हैं। किंतु ये जो अलग-अलग हैं, इन सबको एक कर देना तो हमारे वशकी बात नहीं है और उचित भी नहीं है। तब फिर उद्देश्य एक कैसे हो? तो हम विचारसे इस अलग-अलगपनेको मिटा दें। यह कैसे हो? वस्तुएँ भी अलग-अलग रहेंगी, व्यक्तियाँ भी अलग-अलग रहेंगी, उनका उपयोग भी अलग-अलग होगा, समय भी अलग-अलग रहेगा और काम-धंधा भी अलग-अलग रहेगा ही। यह रहना ही चाहिये। यह रहना कोई अन्याय नहीं है। तब हम एक साधन क्या और कैसे करें? क्योंकि हमारा उद्देश्य एक होता है तो वस्तुएँ इतनी सामने आ जाती हैं। हमें कुटुम्ब-पालनके लिये धन भी कमाना है, अपने परिवारके लिये वस्तुएँ भी लाना है, वक्तपर आराम भी करना है, सोना भी है, खाना-पीना भी है। यह सब अलग-अलग होगा। तब फिर एक उद्देश्य कैसे हो? यह प्रश्न आता है।

इसमें एक खास बात समझनेकी है। हम अलग-अलग काम किसलिये करते हैं? वह 'लिये'—उद्देश्य हमारे अनेक हो जाते हैं; तब हम फँसते हैं। कभी हमारा उद्देश्य विद्या हो जाती है; कभी यश हो जाता है, कभी धन हो जाता है, कभी मान-बड़ाई और स्वास्थ्य उद्देश्य हो जाता है। कभी भगवत्प्राप्ति उद्देश्य हो जाता है, कभी भजन-ध्यान करना उद्देश्य होता है। ऐसा होनेसे हम साधन नहीं कर सकते। 'सब साधें सब जाय'—कोई-सा भी काम सिद्ध नहीं हो पाता। इसलिये हमारा भाव एक ही होना चाहिये कि हम सभी काम करेंगे और करेंगे प्रभुकी प्रीतिके लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये। सोकर उठनेपर यह सोचें कि अब काम क्या करना है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना है, भगवान्‌के लिये करना है और मैं भगवान्‌का ही काम कर रहा हूँ। तो मान लें वह काम आप हाथ-मुँह धोनेका कर रहे हैं। तो उसमें अनुभव यह होना चाहिये कि यह भगवान्‌का काम है। यदि आप कहें कि इसे हम भगवान्‌का काम कैसे मानें, हम तो अपना मुँह धोते हैं, अपने हाथ धोते हैं। तो समझना चाहिये, आप अपने हाथ-मुँह धोते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि आप अपनेको स्वयं अपना मानते हैं, भगवान्‌का नहीं मानते। अतः इस प्रकार अपनेको भगवान्‌का नहीं माननेसे उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होगी। तो क्या होगा? बन्धन होगा। और क्या होगा? जो होता आया है वही होगा। प्रश्न होता है कि इस शरीरको भगवान्‌का कैसे मान लें? इसका उत्तर यह है—जब हम भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं और

हम भगवान्‌के हैं तो हमारा शरीर भी भगवान्‌का है । हम हाथ धोनेके समय यह समझें कि भगवान्‌की अनन्त सृष्टिमें यह भी उनका एक छोटा-सा क्षुद्र अंश है । जैसे छोटे-से-छोटा रज (बालू) का एक कण भी पृथ्वीसे अलग नहीं है, ऐसे ही एक शरीर यह है । बहुत छोटा है अनन्त ब्रह्माण्डमें । परंतु यह भी है भगवान्‌का । अतः यह अनुभव होना चाहिये कि मैं मुँह धो रहा हूँ, यह भगवान्‌का काम कर रहा हूँ; हाथ धो रहा हूँ यह भगवान्‌का काम कर रहा हूँ । यह मैं बहुत महत्त्वकी बात समझनेके लिये कहता हूँ, हँसी-दिल्लगीकी बात नहीं है । आप टट्टी जा रहे हैं, पेशाब कर रहे हैं—उसमें भी यह अनुभव होना चाहिये कि मैं भगवान्‌का काम कर रहा हूँ । स्वतः भीतरसे ही यह वृत्ति रहनी चाहिये । यह शरीर जब भगवान्‌का है, तब इसको साफ करना क्या भगवान्‌का काम नहीं है ? हम किसीके घरकी टट्टी साफ करते हैं तो क्या उस घरके मालिकका काम नहीं कर रहे हैं ? उसमें झाड़ू लगाते हैं तो उस घरका जो मालिक है, उसीका तो काम कर रहे हैं । इसी प्रकार जब यह शरीर भगवान्‌का है तो इससे टट्टी-पेशाब करके इसको साफ करना भी भगवान्‌का ही काम करना है । ऐसे ही, स्नान कर रहे हैं—यह भी भगवान्‌का काम कर रहे हैं । कपड़ा धो रहे हैं, यह भगवान्‌का काम कर रहे हैं । अब रसोई बनाते हैं तो भगवान्‌का काम करते हैं । भोजन करते हैं तो यह भी भगवान्‌का काम करते हैं । ऐसी कोई क्रिया न हो, जो क्रिया भगवान्‌की न होती हो । यदि हमें यह अनुभव न हो कि प्रत्येक काम हम भगवान्‌का ही कर रहे हैं तो हम इसे मानना शुरू कर दें कि हम प्रत्येक काम भगवान्‌का ही कर रहे हैं ।

जैसे सभी काम भगवान्‌के हैं, वैसे ही सब समय भी तो भगवान्‌का ही है । यह समय तो भगवद्भजनका है और यह समय अभी काम-धंधेका है—यह विभाग हम न करें । जब भगवान्‌के भजन करनेका काम भी भगवान्‌का है और यह रसोई बनानेका काम भी भगवान्‌का है, तब यह सब-का-सब समय भी भगवान्‌का ही हुआ । अतः कार्यविभाग भी नहीं रहा और समयविभाग भी नहीं रहा । साधक कभी यह समय-विभाग न करे कि यह समय तो भजनका है और यह भजनका नहीं है । हाँ, भजनके रूप अलग-अलग हैं । उस समय नाम-जप, ध्यान आदि भजन था; अब रसोई बनाना भजन है । विचार करें, भजन नाम किसका है ? भगवान्‌की सेवाका । जब भगवान्‌के लिये काम कर रहे हैं तो यह सेवा ही तो भजन है; अतः भगवान्‌का काम भजन है ही । अब भोजन करना भी भगवान्‌का भजन है । यह समय भी भगवान्‌का है । इसलिये यह नहीं सोचना चाहिये कि भोजन करनेका समय भगवान्‌का समय नहीं है । ऐसे ही काम-धंधा करते समय यह अनुभव हो कि सब काम भगवान्‌का है, तो सबका सब समय भगवान्‌का हो गया ।

अब आप कहें कि हम सोते हैं तो क्या सोनेका काम भी भगवान्‌का है और क्या सोनेका समय भी भगवान्‌का है ! अवश्य । यह कैसे ? जब आप सोयें, तब यह बात काममें लानेकी है । यह बहुत बढ़िया बात जान पड़ती है । सोयें तब हम नींद लेनेके लिये, आरामके लिये न सोयें । तो किसलिये सोयें ? इतनी देर बैठे हुए, चलते-फिरते हुए काम करते थे भगवान्‌का । अब छः या पाँच घंटा लेटकर भगवान्‌का भजन करना है; क्योंकि यह शरीर भगवान्‌का है । इसे चलाना-फिराना भी इसका काम है, काम-धंधा करना भी इसका काम है और इसे लंबा डालकर थोड़ा आराम देना भी काम इसीका है । किंतु इसका होते हुए भी हमें करना भगवान्‌का काम है । सोकर—नींद लेकर हमें भगवान्‌का भजन करना है, आराम नहीं करना है, सुख नहीं लेना है । ऐसा विचार करते सो जायँ । सोते समय हमें नींद न आ जाय तबतक भगवान्‌के चरणोंमें पड़े रहें, भगवान्‌का चिन्तन होता रहे, यह अनुभव करते रहें कि हमपर भगवान्‌का कृपामय हाथ है, कृपादृष्टि है । जैसे, माँ अपने बच्चेको गोदमें लिये बैठी है, बालक उसके चरणोंमें पड़ा है तो माँकी उसपर कृपा है, वैसे ही मैं भगवान्‌के चरणोंमें पड़ा हूँ, भगवान्‌की मुझपर कृपा है, भगवान् मुझे कृपादृष्टिसे देख रहे हैं, मेरे सिरपर भगवान्‌का हाथ है । इस प्रकार चिन्तन करते हुए उनका नाम लेते रहें । अब यह लेटनेका समय भजन हो गया । ऐसा करते हुए नींद आ गयी तो आ गयी । नींद लेनेकी चिन्ता नहीं कि नींद नहीं आयी । अपने तो नींद लेनेसे मतलब नहीं है, भगवान्‌के चरणोंमें पड़े रहनेसे मतलब है । हम प्रभुके हैं । नींद आ गयी तो प्रभुका ही नींदरूपी काम कर रहे हैं । नींद नहीं आती तो भी भगवान्‌का ही चिन्तनरूपी काम कर रहे हैं ।

इस प्रकार सब-का-सब काम-धंधा भगवान्‌का है और सब-का-सब समय भगवान्‌का । अब रह गयीं व्यक्तियाँ ।

गुरुकुल काँगड़ी

ये जो हमारे भाई-बन्धु, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी, प्रेमी-सम्बन्धी हैं—ये सब व्यक्तियाँ हैं। ये भी भगवान्के हैं। ये भगवान्के हैं तो भगवान्के जनोंकी सेवा कैसे करनी है? जैसे, श्रेष्ठ बहू अपनी सासकी सेवा करती है। इसी प्रकार सासको अपनी बहूके प्रति कर्तव्य-पालन करना है यानी उसे सुख देना है, अपना सुख लेना नहीं है। अपना सुख लेना तो हमारा उद्देश्य नहीं है। अपना सुख न लेकर उसको सुख कैसे पहुँचाना है? माता सीताको और कौसल्या अम्बाको याद कर लो। माँ कौसल्या तो यह कहती है कि मैंने दीपककी बत्ती भी ठीक करनेके लिये सीताको कभी नहीं कहा और भूमिपर, जो कठोर है, पैर नहीं रखने दिया। ऐसा तो माता कौसल्याने किया और सीता कहती है—मैं बड़ी अभागिनी हूँ कि मैंने आपकी सेवा नहीं की। दोनोंको पश्चात्ताप इसीका है। बहूको यह विचार नहीं हुआ कि सासने मुझे सुख नहीं दिया और सासको यह विचार नहीं कि बहूने मेरा धंधा नहीं किया। विचार यही है कि प्रभुका काम करना है। अतः इसकी सेवा कर देना है। जैसे वह प्रसन्न रहे, उसका हित हो, वैसे कर दे और अनुकूल बननेकी भावना रखे।

इसी तरह जितने भी कुटुम्बी हैं, सभी भगवान्के हैं। अब विचार करें, उनमें हमें दो विभाग जान पड़ते हैं कि ये तो हमारे कुटुम्बी हैं, हमारे सम्प्रदायके हैं और ये हमारे नहीं हैं। ये हमारे कुटुम्बी हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि इस कुटुम्बकी सेवा करना मेरा पहला कर्तव्य—धर्म है; क्योंकि इस कुटुम्बका मैं ऋणी हूँ, इसलिये इसका ऋण पहले चुकाना है और जो हमारे नहीं जान पड़ते, समय-समयपर उनकी भी सेवा करनी है। यानी उनकी सेवा करनेकी अधिक आवश्यकता होनेपर, समय निकालकर पहले उनकी सेवा करे। सेवा क्यों करनी है? भगवान्की प्रसन्नताके लिये, क्योंकि ये भगवान्के हैं। 'ये हमारे हैं'—इसका तात्पर्य होता है कि इनकी सेवा विशेषतासे कर देनी है; क्योंकि वे हमसे विशेषतासे सेवा चाहते हैं। अतः उनकी सेवा पहले कर दो, और विशेषतासे कर दो। परंतु मानो यह कि ये भगवान्के हैं, मेरे नहीं हैं। इनमें जो मेरापन प्रतीत होता है, इसका अर्थ यह है कि हमें इनको सुख पहुँचाना है, इसलिये ये हमारे कुटुम्बी हैं। यह भावना सदा जाग्रत् रखे।

अब अन्तमें रहीं वस्तुएँ। वस्तुओंका उपयोग अलग-अलग होगा। भोजनकी थाली-गिलासका उपयोग अलग होगा, लिखनेकी कलमका उपयोग अलग होगा। वस्तुएँ अलग-अलग काममें आती हैं। यह अलग-अलग उपयोग किसलिये है? भगवान्की प्रसन्नताके लिये। इनको भगवान्की सेवामें लेना है। ये अपनी और ये दूसरेकी—भगवान्के नाते तो यह विभाग है नहीं। किंतु जो हमारी कहलाती है, उस अपनी वस्तुसे तो पहले काम लेना है। इस तरह इन वस्तुओंसे प्रभुकी और प्रभुकी जनताकी सेवा करना है।

तात्पर्य क्या निकला? यही कि कोई-सा भी काम भगवान्का न हो—ऐसा नहीं। कोई-सा भी क्षण भगवान्का न हो ऐसा नहीं। कोई-सी भी व्यक्ति भगवान्की न हो ऐसा नहीं और कोई-सी भी वस्तु भगवान्की न हो ऐसा नहीं। अब बताइये, निरन्तर भजनके सिवा और हुआ क्या? स्वतः निरन्तर भजन—निरन्तर साधन हो जायगा।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर, युध्य च—यहाँ 'युध्य च' कहनेका अर्थ है—समय-समयपर जो आवश्यक काम आ पड़े वह करना; परंतु करना भगवान्की आज्ञासे और उनकी प्रसन्नताके लिये। अर्जुनने और क्या किया! जब वे कर्णको मारने लगे तब कर्णने कहा—'अर्जुन! तुम अन्याय करते हो।' भगवान्ने कहा—'अर्जुन! कर्णको बाण मार दो।' अर्जुन बोले—'हमें न्याय-अन्याय कुछ नहीं देखना है, हमें तो प्रभुकी आज्ञाका पालन करना है। प्रभुकी आज्ञा है—इसे मार दो।'

किंतु हमलोगोंके सामने प्रत्यक्षरूपसे प्रभु हैं नहीं तो भगवान्की वाणी देख लो और हृदयमें टटोलकर देख लो कि हम ऐसा आचरण क्या दूसरोंसे चाहते हैं। दूसरोंसे नहीं चाहते तो वैसा मत करो। साक्षात् भगवान् आज्ञा दें तो न्याय-अन्यायको भी देखनेकी जिम्मेवारी हमपर नहीं रही। भगवान् सामने प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भगवान्की आज्ञा—गीतादि ग्रन्थ हैं। उनमें देख लो, उनके अनुसार न्याय करो, अन्याय मत करो और उनसे समझमें न आवे तो घबराओ मत, किंतु भाव शुद्ध रखो; फिर समझमें आ जायगी।

एक बाबाजी थे। कहीं जा रहे थे नौकामें बैठकर। नौकामें और भी बहुत लोग थे। संयोगसे नौका बीचमें बह गयी। ज्यों ही वह नौका जोरसे बही, मल्लाहने कहा—

'अपने-अपने इष्टको याद करो, अब नौका हमारे हाथमें नहीं रही । प्रवाह जोरसे आ रहा है और आगे भँवर पड़ता है । शायद डूब जाय । अतः प्रभुको याद करो ।' यह सुनकर कई तो रोने लगे, कई भगवान्को याद करने लगे । बाबाजी भी बैठे थे, पासमें था कमण्डलु । उन्होंने 'जय सियाराम जय जय सियाराम, जय सियाराम जय जय सियाराम' बोलना शुरू कर दिया और कमण्डलुसे पानी भर-भरकर नौकामें गिराने लगे । लोगोंने कहा—'यह क्या करते हैं ?' पर कौन सुने ! वे तो नदीसे पानी नौकामें भरते रहे और जय सियाराम जय जय सियाराम······ कहते रहे । कुछ ही देरमें नौका घूमकर ठीक प्रवाहमें आ गयी जहाँ नाविकका वश चलता था । तब नाविकने कहा—'अब घबरानेकी बात नहीं रही, किनारा निकट ही है ।' यह सुनकर बाबाजी नौकासे जलको बाहर फेंकने लगे और वैसे ही 'जय सियाराम जय जय सियाराम' कहने लगे । लोग बोले—'तुम पागल हो क्या ! ऐसे-ऐसे काम करते हो ?' बाबाजी—'क्या बात है भाई ?' लोग—'तुमको दया नहीं आती ? साधु बने हो । वेष तो तुम्हारा साधुका और काम ऐसा मूर्खके-जैसा करते हो ! लोग डूब जाते तब ?' बाबाजी—'दया तो तब आती जब मैं अलग होता । मैं तो साधु ही रहा, मूर्खका काम कैसे किया ?' लोग—'जब नौका बह गयी तब तो तुम पानी नौकाके भीतर भरने लगे और जब नौका भँवरसे निकलने लगी तब पानी वापस बाहर निकालने लगे । उल्टा काम करते हो ?' बाबाजी—'हम तो उल्टा नहीं, सीधा ही करते हैं । उल्टा कैसे हुआ ?' लोग—'सीधा कैसे हुआ ?' बाबाजी—'सीधा ऐसे कि हम तो पूरा जानते नहीं । मैंने समझा कि भगवान्को नौका डुबोनी है । उनकी ऐसी मर्जी है तो अपने भी इसमें मदद करो और जब नौका प्रवाहसे निकल गयी तो समझा कि नौका तो उन्हें डुबोनी नहीं है, तब हमें तो उनकी इच्छाके अनुसार करना है—यह सोचकर पानी नौकासे बाहर फेंकने लगे । साधु ही हो गये तब हमें हमारे जीने-मरनेसे तो मतलब नहीं है, भगवान्की मर्जीमें मर्जी मिलाना है । पूरी जानते हैं नहीं । पहले यह जान लेते कि भगवान् खेल ही करते हैं, उन्हें नौका डुबोनी नहीं है तो हम उसमें पानी नहीं भरते । पर उस समय मनमें यह बात समझमें नहीं आयी । हमने यही समझा था कि नौका डुबोनी है, यही इशारा है ।'

यह शरणागत भक्तका लक्षण है । यह तो उन संतों कर दिया; पर आपलोगोंसे यह कहना है कि कहीं नौका डूबने लगे तो उसमें पानी तो नहीं भरना, परंतु रोना बिल्कुल नहीं । यही समझना कि बहुत ठीक है, बड़ी मौजकी बड़े आनन्दकी बात है; इसमें भी कोई छिपा हुआ मङ्गल है । हमने ऐसी भी एक बात सुनी है । एक संतोंका आश्रम है, उसी आश्रमकी बात कई वर्षों पहलेकी सुनी है । वहाँके महन्त थे, बड़े अच्छे थे, बहुत विद्वान् और भगवान्के बड़े भक्त थे । एक बार गङ्गाजी बहुत बढ़ गयीं । पहाड़से पानीका प्रवाह आया बहुत जोरसे । आश्रमके पीछे ऐसे बड़े जोरसे पानीका नाला आया कि मानो मकानको काटकर बहा ही देगा । उस समय जो वहाँके बड़े महन्त थे, उनका नाम याद नहीं रहा, बहुत खुश हो गये, प्रसन्न हो गये और गद्गद हो गये कि अब मैयाकी गोदमें जायँगे—मतलब, गङ्गाजीमें जायँगे । दूसरे जितने थे घबरा रहे थे कि मकान बह जायगा और वे खुश हो रहे थे । हुआ क्या ? पानीका नाला आया और साथमें पत्थर-ही-पत्थर आकर पत्थरोंका ढेर लग गया । तब पानी एक ओरसे निकलने लगा और मकान बच गया । बच गया तो बच गया । उन संतोंके हृदयमें तो यही भाव हुआ कि मैयाकी गोदमें जायँगे । विचार कीजिये, माँकी गोदमें बच्चेको आनन्द आता है कि दुःख होता है ? उनको यही खुशी थी । प्रत्यक्ष बात तो डूबनेकी थी कि इतना पानीका प्रवाह बढ़ा आ रहा है; किंतु इन्हें खुशी हो रही है । इससे सिद्ध क्या हुआ ! करनेमें तो भगवान्की आज्ञा, इशारेके अनुसार करना और होनेमें हरदम प्रसन्न रहना है । चाहे सुख आये चाहे दुःख, जो घटना घटे, उसमें खुश रहना है; क्योंकि होना है वह तो सब-का-सब भगवान्के हाथमें है और करना हमारे हाथमें है । अतः करना सब भगवान्की आज्ञासे । होनेके नामपर जो होये उसमें खुश हो कि वाह ! वाह !! प्रभुकी बड़ी कृपा है । जो हो रहा है, उसमें यह नहीं देखना कि यह ठीक है, यह बेठीक है । बल्कि यह देखें कि यह कर कौन रहा है, यह किसके हुकमसे, किसके इशारेसे हो रहा है । 'करी गोपालकी सब होइ ।'

जो दुःख आता है, दर्द होता है, उसमें भगवान्की विशेष कृपा है। दर्द, दुःख, प्रतिकूलता—यह पापोंका फल है कि पुण्यका ? पापोंका फल मानते हैं तो फल भोगनेसे पाप रहेंगे कि नष्ट होंगे ? एवं पाप नष्ट होना भगवान्की कृपा है या अकृपा है ? शुद्धि हो रही है, भगवान् कृपा कर रहे हैं—ऐसा विचारकर मस्त होता रहे। ज्यों टीस चले, ज्यों पीड़ा हो, त्यों अनुभव हो कि भगवान्की बड़ी कृपा है। प्रभु बड़ी कृपा कर रहे हैं—पवित्र बना रहे हैं। सुनार सोनेको अपनाता है तो उसको खूब तपाता और पीटता है, खराबी-खराबी निकाल देता है। इसका अर्थ यह होता है कि अब वह अपनायेगा। इसी तरह प्रभुने हमको अपना लिया तो अब अपनी वस्तुको साफ कर रहे हैं, अतः अपनेको मस्त होना चाहिये।

अभिप्राय यह कि जो होता है, उसमें तो कोई अनिष्टकी सम्भावना है नहीं, उसमें तो प्रसन्नता लानी है; क्योंकि वह भगवान्के हाथमें है और जो हमें करना है, वह उसकी आज्ञासे करना है, उसकी आज्ञाके विरुद्ध नहीं करना है—यह हमारा उद्देश्य है। इन दोके सिवा और कोई बात है नहीं—एक होना और दूसरा करना। तो फिर हमारा जीवन सब-का-सब साधनमय हो गया। अब हम सब समय मस्त रहें। किंतु हम मस्त नहीं रहते, तभी तो कहना पड़ता है—इधर लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य हो तो ऐसे हो सकता है।

इसलिये चौबीस घंटोंमें एक मिनट भी ऐसा नहीं, जिस समयमें साधन न होता हो। अब बताओ, कौन-सा समय ऐसा शेष रहा, जिसमें साधन न हो। सब समय साधन ही हो रहा है। और अब कौन-सी प्रवृत्ति, कौन-सी क्रिया है, जो भगवान्का भजन न हो। इससे **'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'** हो जायगा। जो कहा है—

'यत्क्षणं यन्मुहूर्तं वा वासुदेवं न चिन्तयेत्।'

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

—तो अपनी विपत्ति तो दूर हो गयी। अब विपत्ति कहाँ रही ? सब-का-सब समय भगवान्का, सब-का-सब काम भगवान्का, सब-की-सब वस्तुएँ भगवान्की, सब व्यक्तियाँ भगवान्की; सब-के-सब सम्बन्ध भगवान्के। और हमारी कोई वस्तु है ही नहीं। मन भगवान्का, बुद्धि भगवान्की, शरीर भगवान्का, प्राण भगवान्के, सब भगवान्के हैं—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

—'आपकी वस्तु ही, प्रभो ! आपके चरणोंमें समर्पित है।' ऐसे होकर मस्त होते रहें।

हमारे क्या है ? हमारे तो भगवान् हैं और भगवान् हैं इसलिये आनन्द है। फिर मौज और मस्ती रहेगी ही।

चिन्ता दीनदयालको मो मन सदा अनन्द।

भगवान् और हम दो हैं। हमारा-उनका बँटवारा हो गया। मौज-मौज हमारे हिस्से आ गयी और चिन्ता-चिन्ता भगवान्के। तुम चिन्ता नहीं करते ? मैं क्यों करूँ ? भगवान् करें। भगवान् बड़े हैं, बड़े चिन्ता किया करें। भक्त नरसीजीके पत्र आया, बहुत बड़ा चिट्ठा कि इतना-इतना सामान लाओ तो आना। पत्रमें ऊपर भगवानका नाम लिखनेकी रिवाज अनादि कालसे चली आ रही है। पत्र पढ़ा तो ऊपर भगवानका नाम लिखा ही था, नरसीजी नाचने लगे—

'पाती तो बाँच नरसी मगन भया।'

—लाखों-करोड़ोंकी वस्तु चाहिये। पत्रमें इतनी वस्तुएँ लिखी थीं कि उनकी बात पढ़-सुनकर नरसीजी नाचने लगे और खुश हो गये एवं गाने लगे—

ऊपर नाम लिख्यो सो तो मायरो भरसी।
नरसीलो तो बैठ्यो बैठ्यो भजन करसी॥

आपलोगोंके किसी कुटुम्बी, सम्बन्धीका कोई भी काम पत्रमें लिखा आता है तो पत्रमें ऊपर जिसका नाम होता है उसीपर भार होता है; कहीं बालकोंपर भी कोई भार होता है ? बालक तो यही सोचते हैं, विवाह है, अच्छी बात है, हम तो मौज करेंगे, मीठा-मीठा भोजन करेंगे। अरे ! तुम तो मौज करोगे, पर पितापर कितना खर्चा होगा, पता है ? पर उनको क्या चिन्ता ?

कितनी मौज हो रही है ! कोई नरसीजीसे पूछे—

तुम किसके भरोसे जा रहे हो ? भरोसा क्या ? हमारे तो भगवान् भात भरेंगे । तुम भी चलो भैया ! मीठा-मीठा भोजन करोगे । यहाँ अपने कोई चिन्ता-फिक्र है ? अपने तो मौज हो रही है ।

चिन्ता दीनदयालको मो मन सदा अनन्द ।
जायो सो प्रतिपालसी रामदास गोविन्द ॥

हम तो सबकी चिन्ता-फिक्रसे छूट गये । हमने तो प्रभुकी शरण ले ली । सब काम भगवान्‌का हो गया । मौज है । भगवान्‌के दरबारसे नीचे उतरे ही नहीं । ये जो छोटे-छोटे लड़के—छोकरे होते हैं उसमेंसे कोई-कोई तो ऐसे होशियार हो जाते हैं कि माँ गोदीसे नीचे रखे तो रोने लगते हैं । उन्हें यही अच्छी युक्ति आ गयी । इसी तरह अपने तो भगवान्‌की गोदमें चढ़ा ही रहे, नीचे उतरे ही नहीं ।

इसीलिये नारदजीने भक्तिसूत्रमें बताया है—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

सम्पूर्ण आचरणोंको भगवान्‌के समर्पित कर दिया और भगवान्‌की विस्मृतिमें परम व्याकुलता—बड़ी घबराहट होती है; क्योंकि भगवान्‌ने गोदसे नीचे रख दिया । अतः यही निश्चय रखें कि हम तो गोदमें ही रहेंगे, नीचे उतरेंगे ही नहीं । अब तुम दुःख पाओ चाहे सुख पाओ । हम क्या करें ? बच्चा तो गोदमें ही रहेगा; भार लगे तो माँको लगे, बच्चा क्या करे ? हम नीचे उतरेंगे ही नहीं, हम तो प्रभो ! आपके चरणोंमें ही रहेंगे, आपकी गोदीमें ही रहेंगे और मस्त रहेंगे । खूब मौज हो रही है । यहाँसे सत्सङ्गसे जाय तो खुशी—आनन्दमें ही जाय । क्या हो गया ? क्या क्या हो गया, मौज हो गयी । ‘क्या’ तो पीछे रह गया अर्थात् ‘क्या’ का अर्थ प्रश्न होता है सो प्रश्न तो हमारे रहा ही नहीं । भगवान्‌के यहाँ ही हम रहते हैं । भगवान्‌का ही काम करते हैं, भगवान्‌के ही दरबारमें रहते हैं । मौज-ही-मौज है । प्रभुके वहाँ आनन्द-ही-आनन्द है । खुशी किस बातकी है ? तो दुःख ही किस बातका ? चिन्ता किस बातकी ? कोई है तो ‘चिन्ता दीनदयालको’ । हम तो मौज करते हैं । बस, खुशीसे ही मस्तीमें रहे । चले-फिरे, उठे-बैठे—सब समय मौज-ही-मौज है । उसके तो भगवच्चिन्तन ही होता है । फिर भगवान्‌का चिन्तन करना नहीं पड़ता । ऐसी मस्तीमें चिन्तन स्वतः होता है । इसीलिये ध्रुवजीने कहा है—

विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो !

आपको भूलें कैसे ? आप भूले जायँ कैसे ? कैसे भूलें, बताइये । इस जन्ममें माँ थोड़ा ही प्यार करती है । जब वह माँ भी याद रहती है, तब अनन्त जन्मोंसे प्यार करनेवाली माँ कैसे भूली जाय ! सदा स्नेह रखनेवाले भगवान् भूले जायँ ! हमारा काम तो उनके चरणोंमें पड़े रहना है, उनकी ओर मुँह करना है । हमको याद करते हैं स्वयं वे प्रभु । एक बात याद आ गयी । ध्यान देकर सुनें । हम भगवान्‌को याद नहीं करते तब भी भगवान् हमको याद करते हैं । इसका क्या पता ? आप जिस स्थितिमें स्थित रहते हैं, उस स्थितिसे ऊबते हैं कि नहीं, तंग आते हैं कि नहीं ? कुटुम्बसे, रुपये-पैसेसे, शरीरसे, काम-धंधेसे तंग आते हैं न ? क्यों आते हैं ?—भगवान् आपको याद करते हैं तब तंग आते हैं । भगवान् अपनी तरफ खींचते हैं तब उस स्थितिसे तंग आ जाते हैं । फिर भी हम उसे पकड़ लेते हैं । किंतु भगवान् ऐसी स्थिति रखना नहीं चाहते किसी जीवकी, कि वह भोगोंमें, रुपयोंमें, कुटुम्बमें फँसे । अर्थात् ऐसी कोई स्थिति नहीं जहाँ ठोकर न लगे । ऐसी कोई स्थिति हो तो आप बतायें । ठोकर तभी लगती है जब भगवान् हमें विशेषतासे याद करते हैं कि अरे ! कहाँ भूल गया तू ! मुझे याद कर । मुझको छोड़कर कहाँ भटकता है ? पर हम फिर फँसते हैं । भगवान् यदि हमें याद नहीं करते तो हमें सुखकी इच्छा कभी नहीं रहती । परम सुख, परम आनन्द तो भगवान् ही हैं । हमें भगवान्‌की इच्छा होती है यह भगवान् हमें याद करते हैं, अपनी ओर खींचते हैं, पर वे जबरदस्ती नहीं करते ।

सार बात यह कि सभी काम भगवान्‌के हैं, सभी समय भगवान्‌का है, सभी व्यक्तियाँ भगवान्‌की हैं और सभी वस्तुएँ भगवान्‌की हैं । कोई भी क्रिया करते समय यह अनुभव निरन्तर होता रहे तो साधन निरन्तर हो सकता है, जिससे सबका कल्याण है ही ।

श्रीमद्भागवतकी मौलिकता और उसके महापुराण होनेमें प्रमाण

(लेखक—पण्डित श्रीगोपालदत्तजी शर्मा, ज्योतिषशास्त्री)

संसारके समस्त अध्यात्मग्रन्थोंका शिरोमणि श्रीमद्भागवत निगम-कल्पतरुका पका हुआ अमृत फल है। यह श्रीव्यासदेवकी समाधि भाषा है। यह अत्यन्त सरस, मधुर, ललित पदोंसे परिपूर्ण, भावगम्भीर, प्रसादगुणयुक्त कमनीय भावोंसे ओत-प्रोत अद्वैत भक्तिशास्त्रका सर्वस्व है। इसका उपकरण इतना मार्मिक है कि वह श्रोताओंके अन्तस्तलको आनन्द-समुद्रमें निमग्न कर देता है।

भगवान् व्यास पुराण, इतिहास और ब्रह्मसूत्रकी रचना करनेके बाद भी शान्ति प्राप्त करनेमें असमर्थ रहे, तब देवर्षि नारदके उपदेशसे निजकृत ब्रह्मसूत्रके अकृत्रिम भाष्यस्वरूप गायत्री-मन्त्रार्थरहस्य वेदार्थरूप श्रीमद्भागवतका निर्माण किया।

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते॥
(मात्स्ये)
अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥
द्वादशस्कन्धसंयुक्तः शतविच्छेदसंयुतः।
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः॥
(गारुडे)
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्॥
(भागवते)

अर्थात् जहाँ गायत्री-मन्त्रके रहस्यार्थके साथ धर्मोंका विस्तार वर्णन किया है। ब्रह्मसूत्र और भारतार्थका निर्णय किया गया है। वेदार्थ-परिबृंहित गायत्री-भाष्यका वास्तविक स्वरूप दर्शाया है। द्वादश स्कन्धयुक्त अठारह हजार श्लोकों-वाला श्रीमद्भागवत नामका रत्न जिसमें सम्पूर्ण वेद और इतिहासोंका सारसंग्रह किया गया है। जिसमें लोककल्याण और मोक्षप्राप्तिका विधान है।

श्रीमद्भागवतका प्रथम श्लोक 'जन्माद्यस्य' बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें गायत्रीमन्त्रका 'धीमहि' पद अन्तमें आया है और वेदमाताके अर्थको प्रकट करता है। पद्मपुराणके उत्तरखण्ड अध्याय १८९ से १९४ के मननसे श्रीमद्भागवतकी महापुराणता सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवतकीर्त्तन-सभाका प्रथमाधिवेशन सरस्वती नदीके पश्चिमतट 'शम्याप्रास' नामक स्थान बदरिकाश्रमके व्यासाश्रममें हुआ था। जहाँ श्रीव्यासदेवने श्रीनारदके आदेशसे महाग्रन्थका प्रणयन कर सर्वप्रथम निजपुत्र श्रीशुकदेवको अध्यापन किया था। फिर द्वितीय अधिवेशन श्रीगङ्गातीरपर 'शुकताल' स्थानपर हुआ था जहाँ महर्षि शुकदेवने महाराजा परीक्षित्के निकट लोमहर्षणि श्रीसूत गोस्वामीप्रमुख अनेक ऋषि-महर्षियोंके सम्मुख एक सप्ताह कालतक श्रीमद्भागवत-कथा कीर्तन की। इसके बाद तृतीय अधिवेशन गोमती नदी-तटस्थित 'श्रीनैमिषारण्य' में हुआ। जहाँ श्रीसूत गोस्वामीने श्रीशौनकादि ऋषियोंको श्रीमद्भागवत कथा श्रवण करायी। ये तीन ही अधिवेशन साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हुए थे।

श्रीमद्भागवतपर सैकड़ों टीकाएँ बनीं। सभी आचार्योंने टीकाएँ बनायीं, जिनमें श्रीधरस्वामीकी भावार्थदीपिका बड़ी महत्त्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। श्रीधर स्वामीका आविर्भाव ई० ११०० माना जाता है। ये भगवान् नृसिंहके उपासक थे। इन्होंने अपनी टीकाके प्रारम्भमें यह श्लोक लिखा है—

व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः॥

अर्थात् भागवतका तात्पर्य श्रीव्यासदेव और महर्षि शुकदेव जानते हैं। महाराज परीक्षित् जानते हैं या नहीं? यह संदेहजनक है। किंतु श्रीधरस्वामी भगवान् नृसिंहके प्रसादसे पूर्णरूपसे जानते हैं। इसलिये यह टीका अधिक लोकप्रिय हुई है। यह टीका अद्वैत-मतानुयायिनी है। तब भी श्रीचैतन्य महाप्रभुको यह अत्यन्त प्रिय हुई थी। भागवतके प्रथम श्लोकपर १०० प्रकारकी टीकाएँ श्रीवेंकटेश्वर प्रेस मुंबईसे प्रकाशित हो चुकी हैं। इसी प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत आदि समस्त सम्प्रदायोंके आचार्योंने श्रीमद्भागवतपर टीकाएँ लिखी हैं।

आधुनिक ऋषिकल्प स्व० डा० भगवानदास वाराणसीने अपने 'पुरुषार्थ' ग्रन्थमें लिखा है कि मेरी बहुत वर्षोंसे उत्कट इच्छा है कि भागवतका आद्योपान्त सरस पद्यमय अनुवाद हिंदीमें होता, जैसा तुलसीदासजीने रामायणका कर दिया। रामायणसे मर्यादापुरुषका सर्वाङ्गीण चित्र हमलोगोंकी आँखोंके सामने आता है। उत्तम पुत्र, उत्तम पति, उत्तम भ्राता, उत्तम प्रजापालक, उत्तम मित्र, उत्तम शत्रु, उत्तम वीर, उत्तम स्वामी, उत्तम पिता—इन भावोंका एकत्रीभूत चित्र वाल्मीकिने रामायणमें खींचा है। मधुकर-गीतसे अतिमानुष परम पुरुषका एक ही रूप देख पड़ता है। इतनेसे हमारा

काम नहीं चलता। हमको तो उनके सभी रूप चाहिये। मुझे बड़ा आश्चर्य और खेद है कि भारतवर्षके हिंदी कवियोंने भागवतके सर्वजनीन अनुवादकी ओर ध्यान नहीं दिया। रामायणके-जैसी भागवत भी तैयार हो जाय और अँधियारेको दूर करनेमें सहायता दे। डाक्टर साहबने श्रीमद्भागवतके महत्त्वपरक कई श्लोक और निजनिर्मित कई पद्य 'पुरुषार्थ' में इसी प्रसङ्गमें उद्धृत करके श्रीमद्भागवतकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अन्तमें जो हृदयग्राही मार्मिक शब्द लिखे हैं, वे इस प्रकार हैं—

यदि हमारे वर्तमान कवियोंमें ऐसी मानस और पार्थिव आभ्यन्तर और बाह्य तीर्थोंकी और गुरुजनोंके चरणोंकी पवित्र सेवाका पुण्य उदय होगा तथा हिंदीभाषी भारतवासियोंमें भी, तब वे इनको यह समग्र कथा सुनानेका यत्न करेंगे और सुनेंगे। मेरा ऐसा भाग्य नहीं, ऐसा पुण्य नहीं, मेरे पास ऐसी कविताशक्ति नहीं जो इस उच्चकोटिकी भगवत्सेवा कर सकूँ! मेरे लिये मेरी क्षुद्रताके अनुरूप दूसरी बहुत नीची कोटिकी चाकरीकी आज्ञा दी गयी है, सो भी नहीं निभती, इसलिये इस महाकार्यके लिये दूसरोंसे प्रार्थना करता रहता हूँ—इत्यादि।

इस प्रकार भागवतकी महिमा अनेक प्राचीन-अर्वाचीन मनीषियोंने गायी है। डाक्टर साहबने तो पुरुषार्थके कोई २० पृष्ठ रँगे हैं। यहाँ लेख-विस्तारभयसे अधिक उपकरण नहीं दिया जा सका।

श्रीमद्भागवत-जैसे ग्रन्थरत्नके सर्वसाधारणके लिये अनायास उपलब्ध रहते हुए हमारे दुर्भाग्यसे हमारे कुछ विद्वानोंने किसी सामयिक कारणसे जनसाधारणकी इधर अनास्था करा देनेका प्रयत्न किया; जिससे अध्यात्म-जगत्की बड़ी हानि हुई। पुराणोंकी वास्तविक विशेषताके परिज्ञानसे रहित कुछ लोगोंने श्रीमद्भागवतको बोपदेवकी कृति बतला दिया। इससे बहुत-से इतिहासविशेषज्ञ कहलानेवालोंके मस्तिष्कमें भी विकृति आयी और उसका प्रभाव सर्वसाधारण जनोंपर भी पड़ा। अब मैं श्रीमद्भागवतके व्यासदेवकी कृति होने और बोपदेवकी न होनेके परिपुष्ट प्रमाण उपस्थित करता हूँ।

१. बोपदेव १३वीं शताब्दीमें हुए थे। उन्होंने एतद्विषयक तीन ग्रन्थ प्रकट किये थे। १. हरिलीलामृत, २. मुक्ताफल, ३. परमहंसप्रिया। हरिलीलामृत काशीसे प्रकाशित हो चुका है, जिसमें भागवत ग्रन्थके अध्यायोंकी सूची दी है। मुक्ताफल कलकत्तेसे प्रकाशित हुआ है और परमहंसप्रिया अप्रकाशित है। मुक्ताफलके प्रारम्भमें ५ श्लोक और अन्तके ६—इस प्रकार कुल ११ श्लोक बोपदेवकी रचना है। बाकी ग्रन्थके समग्र श्लोक भागवतके हैं। मुक्ताफलमें कुल ११ अध्याय हैं और ८०० श्लोकोंका संग्रह है। बोपदेवने भक्तिके नौ रसोंके श्लोकोंको एकत्र लिपिबद्ध किया है। बोपदेवने परमहंसप्रियामें श्रीमद्भागवतकारके एक हजारसे अधिक आर्ष प्रयोग ऐसे दिखलाये हैं जो व्याकरणसे सिद्ध नहीं होते। क्या कोई अपनी ही गलती इस प्रकार प्रकट करनेकी पण्डिताई करता है?

२. महाराष्ट्रके अन्तर्गत देवगिरिके यादववंशीय राजा महादेव और रामचन्द्रके हेमाद्रि १२६० ई० से १३०९ ई० तक मन्त्री थे। बोपदेव इन्हीं हेमाद्रिके आश्रित थे। हेमाद्रिने अपने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' और 'दानखण्ड' ग्रन्थोंमें भागवतके श्लोकोंको प्रमाणमें प्रस्तुत किया है। क्या अपने आश्रितकी रचनाके उपकरणको प्रमाणमें उपस्थित कर कोई अपने ग्रन्थकी और व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठा पा सकता है?

३. कहा जाता है कि श्रीशंकराचार्य और रामानुजाचार्यने कहीं अपने भाष्योंमें भागवतका स्मरण नहीं किया! इसलिये भागवतकी रचना इन दोनोंके बादकी है! यह नितान्त भ्रम कल्पित है। श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्रपर शारीरक और श्रीरामानुजने श्रीभाष्यका निर्माण किया है। श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रकी समाधि भाषामें व्याख्या है। यथा—

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥

अतः व्याख्याका प्रमाण ब्रह्मसूत्रको अपनी व्याख्यामें न दिया हो। अपने अन्यान्य ग्रन्थोंमें दोनों आचार्योंने यथास्थान भागवतके प्रमाण उद्धृत भी किये हैं। पद्मपुराणमें श्रीविष्णुसहस्रनामके शांकर-भाष्यमें 'स आश्रयः परं ब्रह्म **परमात्मेति शब्द्यते**' इति भागवते २। १०। ७ इति प्रथमशतके पञ्चमनामव्याख्याने। अर्थात् पहले शतकके ५वें नामके व्याख्यानमें। आगे ५५वें नामके व्याख्यानमें **'पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्'** १। ३। ४ यह श्लोक दिया है। इसके अतिरिक्त श्रीशंकराचार्यने अपने 'चतुर्दशमतविवेक' ग्रन्थमें श्रीमद्भागवतका नामोल्लेख किया है। श्रीरामानुजाचार्यके वेदान्ततत्त्वसारमें भागवतके बहुत-से वाक्य उद्धृत हुए हैं।

४. श्रीशंकराचार्यके दादा गुरु श्रीगौडपादाचार्यने उत्तरगीताके भाष्यमें **'तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यथा**

स्थूलतुषावघातिनाम्'। १० । १४ । ४ श्लोक भागवतसे उद्धृत किया है । इसके अतिरिक्त ईश्वरकृष्णकी 'सांख्य-कारिका' के ऊपर गौडपादकी माठर वृत्ति है । उसमें भागवत १ । ८ । ५२ का श्लोक उद्धृत किया गया है—

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥

आगे इसीमें, 'एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया विभुः' (१ । ६ । ३५) आया है । इसी माठर वृत्तिको ५५७में परमार्थ पण्डितने चीनी भाषामें अनुवाद किया था । गौडपादाचार्यका समय छठी शताब्दीके उत्तरार्द्धमें माना जाता है, इसलिये भागवत छठी शतीसे प्राचीन है । श्रीरामानुजने अपने वेदार्थसंग्रहमें विष्णु-पुराण और मत्स्यपुराणको प्रामाण्यरूपसे ग्रहण किया है । उक्त दोनों पुराणोंमें भागवतका नाम कई जगह आया है । इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भागवत व्यासदेवकी कृति है ।

५. अन्यान्य बहुत-से आचार्य जो एक हजारकी शताब्दी-से पहले हुए हैं, उन सबने भागवतको प्रमाण-कोटिमें लिया है । इधरमें फैलाया हुआ भ्रम कि 'भागवत बोपदेवकी कृति है !' उक्त प्रमाणोंसे निरस्त हो जाता है ।

६. अब एक बात और रह जाती है कि पुराणोंमें इसी भागवतकी गणना है या देवीभागवतकी ? यह विवाद भी भागवतप्रेमियोंमें बहुत समयसे सिरदर्द पैदा करता है; किंतु विद्वत्समाजके द्वारा इस प्रश्नका भी निर्णय हो चुका है । देवीभागवतपर एक ही टीका हुई है; किंतु भागवतपर सैकड़ों व्याख्यान हैं । शास्त्रीय एक ही सिद्धान्तसे यह निर्णय हो जाता है कि देवीभागवत पदका किसी साधारण व्यक्तिके द्वारा नामकरण हुआ है । 'तस्येदम्' यह पाणिनीय ४ । ३ । १२० का सूत्र है । इससे 'भगवत इदं भागवतम्' पद निष्पन्न होता है । इसी प्रकार 'भगवत्या इदं भागवतम्' यह पद सिद्ध नहीं होता । 'भगवती' शब्द स्त्रीलिङ्ग है । अतः 'स्त्रीभ्यो ढक्' ४ । १ । १२० इस सूत्रके अनुसार 'भागवतीय' शब्द निष्पन्न होता है । इससे प्रमाणित होता है कि बहुमानित श्रीमद्भागवत-के अवैध अनुकरणसे देवीभागवतकी रचना हुई है ।

७. इस युगमें चतुर्वर्ग-फलदायक श्रीमद्भागवत-जैसा चित्त-प्रसादन करनेवाला शान्तिका प्रतीक ग्रन्थरत्न सर्व-साधारणके लिये समुपलब्ध है । इसका हिंदीभाषार्थसहित सस्ते-से-सस्ता सचित्र संस्करण गीताप्रेससे उपलब्ध हो सकता है । आत्मकल्याणके लिये भवसागरको तरनेकी यह सुदृढ़ नौका है । साधक दलदलसे निकलकर इधर प्रयत्नशील हों । श्रीमद्भागवतके बाहरी रंग-रूपके दिग्दर्शनके लिये इस लेखमें अकाट्य प्रमाण उपस्थित किये गये हैं । विद्वान् लोग समीक्षा करें । आगे अन्तरङ्गरूपको प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जा सकता है ।

* * *

हे राम !

मेरे ललित ललाम ।
भेज रहा हूँ भोज-पत्रपर लिखकर प्रणत प्रणाम ॥
चाह रहा हूँ तुम आ जाते मेरे हृदय-भवनमें ।
रह जाती न तुम्हारे दर्शनकी अभिलाषा मनमें ॥
तुम्हें बिठाकर प्रेमासनपर हो जाता निष्काम ।
मेरे ललित ललाम ॥

(२)
तुम न पधारे तो जाऊँगा तुम्हें खोजने वनमें ।
जहाँ किये तुम बास भभूत रमाये कोमल तनमें ॥
पंचवटी-पथ, चित्रकूट हैं लेते अभी तुम्हारा नाम ।
मेरे ललित ललाम ॥

(३)
कहीं मिली जो शिला-अहल्या तो मैं पता पूछ लूँगा ।
पद-स्पर्शके लिये प्रतीक्षामें संसार भुला दूँगा ॥
कब अवसर वह दोगे मुझको, हे मेरे लीलामय राम !
मेरे ललित ललाम ॥

(४)
खोजूँगा फिर अवधपुरीमें, मिले न तुम यदि वनमें ।
जहाँ सिंहासनपर बैठे भर भक्ति-भाव जन-जनमें ॥
कहाँ छिपोगे इन नयनोंसे कहलाकर तुम राजा राम ।
मेरे ललित ललाम ॥

(५)
तुम मिलते हो, मैं सुनता हूँ, दुखियोंके क्रन्दनमें ।
खोजूँगा मैं तुम्हें नहीं धनपतियोंके कंचनमें ॥
जहाँ मिले, तुम वहीं बन गया भक्तोंका पावन सुख-धाम ।
मेरे ललित ललाम ॥

(६)
खोज-खोज केवटके आग्रहको लाऊँ जीवनमें ।
प्रेम-भक्ति शबरीकी पाऊँ, तुम मिल जाओ क्षणमें ॥
तुम्हें खोजना ही अब मेरा रहे जगतमें काम ।
मेरे ललित ललाम ॥

—जगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालंकार

तुलसीदासजीकी सौन्दर्य-भावना

(लेखक—श्रीपरमलालजी गुप्त)

सौन्दर्य एक सापेक्ष शब्द है । इसके दो पक्ष हैं——१–विषयिगत और २–विषयगत । इसी आधार-पर विद्वानोंमें दो प्रकारके प्रवाद प्रचलित हो गये हैं । कुछ विद्वान् सौन्दर्यको विषयिगत मानते हैं और कुछ विषयगत ।

विषयिगतपक्षका समर्थन पाश्चात्त्य विद्वान् क्रोचे, कालिंगवुड आदिने अत्यन्त प्रबलतासे किया । क्रोचेके मतानुसार बाह्य जगत्की तो कोई सत्ता ही नहीं है; जो कुछ है वह सब मनमें है । वस्तुओंका जो रूप प्रत्यक्ष दिखायी देता है, वह मनने अपनी सुविधाके लिये बना लिया है । बाह्य वस्तुओंके संसर्गसे हमारी आत्मामें कुछ अरूप संवेदन होते हैं, जिन्हें कल्पना बिम्बरूप दे देती है । यही सहजानुभूति (Intuition) है, यही अभिव्यञ्जना है और यही सौन्दर्य । क्रोचे सौन्दर्यको अभिव्यञ्जनासे विलग कोई वस्तु नहीं समझते । (We may define beauty as successful expression or better as expression and nothing more because expression when it is not successful is not expression.) अभिव्यञ्जना पूर्णतया मानसिक क्रिया है । उसका बाह्य जगत्से कोई सम्बन्ध नहीं है । इसलिये सौन्दर्य वस्तुगत न होकर आत्मगत होता है । (Beauty does not belong to things, it belongs to the human aesthetic activity.) बाह्य वस्तुओंमें जो सौन्दर्य दिखायी देता है, वह बार-बार उस वस्तुके सम्बन्धमें सौन्दर्यमयी उक्तियाँ सुननेके कारण । इस प्रकार क्रोचेने सौन्दर्यको पूर्णतया आत्मगत स्वीकार किया ।

हमें एक सीमाके अन्तर्गत सौन्दर्यको विषयिगत स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं । परंतु हम सौन्दर्यके विषयगत पक्षको भूल नहीं सकते । सौन्दर्य-भावनामें काल, सांस्कृतिक परिस्थिति, मानसिक स्थिति आदि प्रभाव डालते हैं । हम कह सकते हैं कि 'जब दिल लगा दीवारसे तो परी क्या चीज है' परंतु हम पूछना चाहते हैं कि परी और दीवार क्या समान सौन्दर्यकी वस्तुएँ हैं । फिर हम जगत्की कुछ वस्तुओंके प्रति क्यों आकृष्ट होते हैं और कुछके प्रति क्यों नहीं ! उदाहरणके लिये हमारे समक्ष एक सुन्दर स्त्री और एक पुरुष खड़े हुए हैं । क्यों हमारी दृष्टि नारीकी ओर स्वभावतः खिंची जाती है । अभिव्यञ्जनावादका समर्थक यह उत्तर दे सकता है कि 'मनने ही एकको सुन्दर और दूसरेको असुन्दर मान लिया है । नारी और पुरुषमें सुन्दरता और असुन्दरताका कोई प्रश्न नहीं ।' ठीक है, परंतु हम पूछते हैं कि 'यदि हमारे सामने नारी और पुरुष न होते तो मनमें सौन्दर्यकी कोई प्रतिक्रिया होती ही क्यों ? इसलिये वस्तुका अस्तित्व कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ?' स्वयं क्रोचे भी वस्तुगत आधारको पूर्णतया विस्मृत नहीं करता ।

सौन्दर्य कुछ अंशोंतक वस्तुमें होता है । यह वस्तु-के गुण, रेखाओं आदिके सामञ्जस्यपर निर्भर है । ताजमहलका सौन्दर्य सभीको अपनी ओर आकृष्ट करता है । इसका कारण है——उसके अङ्गोंका सामञ्जस्य, विषयीकी भावनामात्र नहीं । नारीके सौन्दर्यका क्या कारण है ? उसके सभी अङ्गोंका सामञ्जस्य । जहाँ यह सामञ्जस्य गड़बड़ हो जाता है, वहीं भद्दापन प्रतीत होने लगता है । सौन्दर्यका मानदण्ड विभिन्न हो सकता है, परंतु सौन्दर्यका आधार वहाँ भी वस्तुगत होता है; इसलिये सौन्दर्य विषयिगत तथा विषयगत दोनों है । किसी एकको हम अलग करके नहीं रख सकते । सौन्दर्यके इन दो रूपोंको एक दूसरेसे विलग करके समझना दुस्साध्य ही नहीं, वरं असम्भव है । इसी कारण घनानन्दने कहा है——

लिखि राख्यौ चित्र यौं प्रवाह रूपी नैननि में
लहि न परति गति उलट अमेरे की।
रूप कौ चरित्र है अनंदघन जान प्यारी
ए किधौं बिचित्रताई मो चित चितेरे की॥

सौन्दर्य विषयगत है या विषयिगत, इसे कवि स्वयं नहीं समझ पाता।

फिर भी सौन्दर्यके इन दो पक्षोंमें कभी किसी पक्षकी प्रधानता हो सकती है, कभी किसीकी। तुलसीकी सौन्दर्यभावना विषयिगत अधिक है, यद्यपि विषयगत रूपको भी वे भुला नहीं सके। उन्होंने अपने मनकी भावनाके अनुसार संसारके समस्त सौन्दर्यको असत्य एवं माया कहकर अस्वीकार कर दिया है। उनकी आँखें अलौकिक सौन्दर्यकी खोज करती हैं; परंतु उस सौन्दर्यको भी वे लौकिक धरातलपर उतार देते हैं। जहाँ उन्होंने संसारके झूठे सौन्दर्य या नारी-सौन्दर्यके प्रति मनको सचेत किया है, वहाँ भी वे उसके प्रति पूर्णरूपसे अचेतन नहीं हैं। फिर भी, उन्होंने बाह्य सौन्दर्यकी अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्यको अधिक महत्त्व दिया। बनावटीपनकी निन्दा करते हुए सहज सौन्दर्यकी सराहना की—

चरन चोंच लोचन रँगौ, चलौ मराली चाल।
छीर-नीर-बिबरन समय बक उघरत तेहि काल॥
(दोहावली)

बाह्य सौन्दर्यमें आन्तरिक कुरूपता कैसे छिप सकती है। गोस्वामीजी उन भक्तोंमेंसे हैं, जो सद्गुणोंको महत्त्व देकर अपने आराध्यके व्यापक सौन्दर्य-सागरमें डुबकियाँ लगाया करते हैं। उनकी आँखें केवल उसी रूप-माधुरीका पान करती हैं। इस प्रकार उन्होंने समस्त सांसारिक सौन्दर्यसे अपना मन हटाकर आराध्यके सौन्दर्यमें ही उसका केन्द्रीकरण कर दिया है। उनका मन किसी भी स्थितिमें उस सौन्दर्यसे अलग नहीं होना चाहता। उसने चातककी टेक अपना रक्खी है। चातकके नेत्र सदा घनके सौन्दर्यकी ओर अटके रहते हैं, भले ही उसे कठिन साधना करनी पड़े—

उपल बरसि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

तुलसीने इसी प्रणको लेकर समस्त सांसारिक सौन्दर्यके प्रति विरक्ति प्रदर्शित की है। इसलिये उनके काव्यमें प्रकृति एवं नारी-सौन्दर्यकी छटा दिखायी नहीं देती। तुलसीने सीताके सौन्दर्यका जो चित्रण किया है, वह अपने आराध्यकी आराधिका धर्मपत्नी होनेके कारण। साथ ही यह सौन्दर्य अत्यन्त मर्यादित एवं सात्त्विक प्रभाव उत्पन्न करनेवाला है। उसमें अन्य कवियोंकी भाँति नखशिख आदिका स्थूल चित्रण नहीं है। उसमें हृदयको द्रवित करनेका अनुपम गुण है। उसकी प्रभावात्मक विमलता देखिये—

सखि ! सरद बिमल बिधु बदन बधूटी!
ऐसी ललना सलोनी न भई, न है, न होनी,
रख्यौ रची बिधि जो छोलत छबि छूटी॥
साँवरे गोरे पथिक बीच सोहति अधिक,
तिहुँ त्रिभुवन-सोभा मनहुँ लूटी।
तुलसी निरखि सिय प्रेम बिबस कहैं तिय,
लोचन-सिसुन्ह देहु अमिय घूटी॥

सूरदासके सौन्दर्य-वर्णनमें यह बात नहीं है। सूरने नारी-सौन्दर्यके अनेक चटकीले और मादक चित्र प्रस्तुत किये हैं। पर गोस्वामीजीकी दृष्टि उधर गयी ही नहीं है। उनका वर्णन अत्यन्त मर्यादित एवं संयमित है। उनकी भावनापर संतका अङ्कुश सदा लगा रहता है। उनके सौन्दर्याक्रममें ऐन्द्रिय उत्तेजनाका नितान्त अभाव है। उसमें हृदयको उदात्त बना देनेवाला गुण मिलता है। गोस्वामीजीने नारी-सौन्दर्यका सर्वाङ्ग चित्रण नहीं किया। इसका कारण यह है कि वे नारीको मायारूप मानते थे। अपनी साधनामें उन्होंने नारीको सबसे अधिक बाधक स्वीकार किया है—

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥
(रामचरितमानस)

तुलसीने 'गीतावली'में रामके सौन्दर्यका विस्तृत वर्णन किया है । बालवर्णन, जनकपुरकी स्त्रियोंद्वारा सौन्दर्य-वर्णन, वन-मार्गमें ग्राम-वधूटियोंद्वारा वर्णन, उत्तरकाण्डका वर्णन—सभी रामके सौन्दर्यसे भरे पड़े हैं । उसमें रामकी प्रत्येक अवस्थाके सौन्दर्यका अङ्कन हुआ है । सभी व्यक्ति रामके सौन्दर्यसे प्रभावित हैं । अधिकांशतः यह वर्णन रामके अङ्ग-नखशिखसे सम्बन्ध रखता है और इसमें परम्परागत उपमानोंका सहारा लिया गया है । परंतु इस परम्परागत वर्णनमें भी तुलसीकी कल्पनाने मौलिकता दिखायी है । देखिये—

अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत कछुक अरुनाई ।
कंज दलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सु-सदसि बनाई ॥
पीन जानु उरु चारु जटिल मनि नूपुर पदकल मुखर सुहाई ।
पीत पराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लुभाई ॥

× × ×

कंबु कंठ, चिबुकाधर सुंदर, क्यों कहौं दसनन की रुचिराई ।
पदुम कोस महँ बसे बज्र मनो निज सँग तड़ित-अरुन-रुचि लाई ॥
नासिक चारु, ललित लोचन, भ्रू कुटिल, कचनि अनुपम छबि पाई।
रहे घेरि राजीव उभय मनो चंचरीक कछु हृदयँ डेराई ॥

इसमें चरणोंके लिये कमल, कण्ठके लिये शङ्ख, अधरोंके लिये पद्मकोश, दाँतोंके लिये विद्युत्, लोचनोंके लिये कमल, बालोंके लिये भौंरे आदि सभी उपमान प्राचीन एवं रूढ़िगत हैं । परंतु तुलसीने उनकी योजना इस प्रकार की है कि प्रयोगमें मौलिकता दिखायी देती है।

गोस्वामीजीके अधिकांश सौन्दर्य-वर्णनोंमें सूक्ष्मताका अभाव है; किंतु उनमें उदात्तता अवश्य मिलती है । यही विशेषता उन्हें अन्य कवियोंसे ऊँचा उठा देती है । एक उदाहरण लीजिये—

दूलह राम, सीय दुलही री ।
घन दामिन बर बरन, हरन-मन सुंदरता नखसिख निबही री ।
सुषमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री
मथि माखन सिय रामसँवारे, सकल-भुवन-छबि मनहुँ मही, री ।
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जात कही, री ॥
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो,सिला लवनि रति-काम लही री॥

पाठक देखेंगे कि इस वर्णनमें सूक्ष्म सौन्दर्य न होते हुए भी स्थूलता एवं वस्तुपरकता एक प्रकारसे समाप्त-सी हो गयी है । इससे मनमें एक उदात्त और व्यापक भावनाकी सृष्टि होती है । मन उस सौन्दर्यकी व्यापकताको अनुभूत करने लगता है, जो संसारमें आकर भी संसारसे परे है और जिसमें सौन्दर्यके सारको संकलित कर दिया गया है । यह तुलसीदासके सौन्दर्य-वर्णनकी मौलिक विशेषता है, जो अन्य कवियोंमें नहीं मिलती ।

गोस्वामीजीके सौन्दर्य-वर्णनकी एक अन्य प्रभावात्मक विशेषता यह है कि उनका सौन्दर्य शीलसे सम्बन्धित है । उन्होंने सौन्दर्याङ्कनमें सदैव शीलका ध्यान रक्खा है । इसी कारण उसमें स्वाभाविक गाम्भीर्य और मर्यादा बनी हुई है । इसके विपरीत सूर आदि कवियोंने केवल श्रीकृष्णके सौन्दर्य-पक्षको ही लिया है । इसलिये उसमें अधिक उन्मुक्तता एवं विलासका प्राचुर्य है । तुलसीने रूप और शील दोनोंको एकमें समाविष्ट कर दिया है—

सजनी ! हैं कोउ राजकुमार ।
पंथ चलत मृदु पद कमलनि दोउ सील रूप आगार ॥

तुलसीने सौन्दर्यका वर्णन एक भक्तकी दृष्टिसे किया है, रसिककी दृष्टिसे नहीं। उनका उद्देश्य भक्तको भगवान्‌के सौन्दर्यका प्रत्यक्षीकरण या साक्षात्कार कराना है, काम या विषयकी ओर आकृष्ट कराना नहीं । इसी कारण उनके सौन्दर्य-चित्र मनको व्यापक एवं पवित्र सौन्दर्यका बोध कराते हैं ।

'गीतावली'में रामकी विभिन्न मुद्राओं और गत्यात्मक स्थितियोंका सौन्दर्य भी मिलता है । रामकी मृगयाके समय एक मुद्रा देखिये—

सुभग सरासन सायक जोरें ।
खेलत राम फिरत मृगया बन, बसति सो मृदु मूरति मन मोरें ॥
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौं हैं तकत सुभौंह सकोरें ।

इसमें मृगको लक्ष्य करके भौंहें सिकोड़कर निशाना साधनेकी कैसी स्वाभाविक मुद्रा है । इस सौन्दर्यका प्रभाव भी कैसा व्यापक है, देखिये—

सोभा अमित समाति न कानन उमगि चली चहुँ दिसि मिति फोरें।
चितवत चकित कुरंग कुरंगिनि सब भए मगन मदन के भोरें ॥

जिस सौन्दर्यको देखकर मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षी तक मोहित हो जाते हैं, प्राकृतिक उपकरण आनन्दसे विभोर हो उठते हैं, क्या उसे लौकिक कहा जा सकता है ? परंतु इस सौन्दर्यकी दीप्ति पृथ्वीपर ही अपनी प्रभा विकीर्ण करती है । इसलिये यह लौकिकताकी पृष्ठभूमिपर अलौकिक सौन्दर्य है ।

अन्तमें एक गत्यात्मक सौन्दर्यका उदाहरण देकर इस प्रसङ्गको समाप्त करते हैं । मृगके पीछे दौड़ते हुए रामकी स्वाभाविक भङ्गिमाएँ देखिये—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम-हरिन के पाछें।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछें ॥

उपर्युक्त विश्लेषणसे सिद्ध है कि तुलसीकी सौन्दर्य-भावना अपनेमें नितान्त मौलिक और अतुलनीय है । मर्यादा, उदात्तता, शीलका समन्वय आदि उसकी प्रधान विशेषताएँ हैं ।

हृदयंगम

(रचयिता—श्रीबालयोगी प्रेमवर्णीजी)

(१)

एकताकी रागिनी हो ।
प्रेमका स्वर मुखर अन्तर
माधुरी कविकी घनी हो,
चाँदनीकी चूँदरीमें
पुनः वह सुख फागुनी हो ।
एकताकी रागिनी हो ॥

(२)

विरहकी अर्थी पुकारे—
'मिलनका अन्तिम पहर है ।'
नयनकी नदिया-किनारे
आँसुओंके बोझसे झुक
तिलमिलाते हैं सितारे ।
विरहकी अर्थी पुकारे ॥

(३)

तोड़ पलकोंके किनारे
आँसुओंके देशमें चल
जीवनी-श्वासें सहारे
स्वप्नके संसारमें सुधि
खो गयी राधा पुकारे ।
तोड़ पलकोंके किनारे ॥

(४)

मिट रहा अनागत खटका
आकुल अनादि फाँसीमें
प्रत्याशी जीवन लटका
आनन्द खोजता यह मन
जाकर तन-तनमें भटका ।
मिट रहा अनागत खटका ॥

(५)

रीझेंगे या खीजेंगे
भावुकता तन्मयतासे
क्या सच प्रीतम भीजेंगे
इन प्रेमिल मनुहारोंसे
चिर क्लेश-कर्म छीजेंगे ।
रीझेंगे या खीजेंगे ॥

(६)

संगममें डूबा तरता
चिर दुख संत्रस्त हृदय हो
सिंदूर प्रेमका भरता
कवि महाविरहकी मंजिल
रचना पदसे तय करता ।
संगममें डूबा तरता ॥

(७)

प्रियका सिंदूर बिखरता
टल रही प्रतीक्षा-वेला
अन्तर आकाश सिहरता
ये अन्धकारके आँसू
ऊषाका रंग निखरता ।
प्रियका सिंदूर बिखरता ॥

(८)

हृदयका घाव नहीं भरता
नीर नयनोंका मनभावन
विरहसे प्रेम नहीं डरता
भावनाका अनन्य राधन
किसीका चाव नहीं करता ।
हृदयका घाव नहीं भरता ॥

(९)

प्राणमें सिहर रहा संगीत
वह रहा विरह हृदय हिमशिला
पिघलती प्रीत, मुखरते गीत
मिलनके तारोंसे स्वर मिला
प्रेमकी हार कहूँ या जीत ।
प्राणमें सिहर रहा संगीत ॥

(१०)

विरहमें नींद नहीं आती
आँसुओंके प्रिय दर्पणमें
पलकमें पीड़ा हर्षाती
विहँसती राधा अर्पणमें
मधुर स्मृति प्यास सिहर जाती।
विरहमें नींद नहीं आती ॥

(११)

प्रिय 'विरह योग' के रासी
चमके अंतर ज्वालामें
वह मेरे तन-मन वासी
सुधि आँसू सुमन सँजोती
कट रही हृदयकी फाँसी।
प्रिय 'विरह योग' के रासी ॥

(१२)

पियाका गाँव आता है
उन्हींका प्रेम बन सम्बल
सतत पथ पर बढ़ाता है
नहीं कुछ, 'मैं' चढ़ाऊँ क्या ?
दरशका दाँव आता है।
पियाका गाँव आता है ॥

(१३)

वियोगिन गीत गाती है
'सुहागिन' माँग भरनेको
पियाके देश जाती है।
हृदय-वनसे 'सुमन' लेकर
चिदालयको सजाती है।
वियोगिन गीत गाती है ॥

(१४)

प्रेमरस भोगी न आये।
हृदयकी अर्थी वरनको
कफन भी सोगी न लाये।
सिहरती मिटती मिलनको
पुलिनपर योगी न आये।
प्रेमरस भोगी न आये ॥

(१५)

हो गयी प्रियसे सगाई
कह रही धड़कन हृदयसे
किंतु यह कैसी जुदाई
पीर विस्मृतिकी सतहसे
सुप्त थी आखिर जगाई।
हो गयी प्रियसे सगाई ॥

(१६)

प्रिय दर्शन ज्योति जगाई
एकाकिन अधित्यकामें
चिर श्रद्धा पीर पगाई।
वह हृदय देशसे आये
जब अचल 'समाधि' लगाई।
प्रिय दर्शन ज्योति जगाई ॥

(१७)

बीती वह भूल भुला देना
धूलमें पड़ा हुआ यह फूल
प्रेम द्रुम-मूल धुला लेना।
विरहसे उलझा हृदय-दुकूल
सुधियोंके शूल सुला देना।
बीती वह भूल भुला देना॥

(१८)

चरणमें बैठा धर धरना
देवता शरण तरण तारण
लिये तन तरणीको तरना।
विषयके विषम बवंडरसे
सुमनको दूर नहीं करना।
चरणमें बैठा धर धरना॥

(१९)

भृकुटिके मध्य सुरति-संगम
चित्तमें प्रियतमका दर्शन
हुआ चैतन्य प्राण निर्मम।
खिला मन बुद्धि अहं शतदल
ज्योतियोंका चिर हृदयंगम।
भृकुटिके मध्य सुरति-संगम॥

(२०)

हृदयसे हृदय हुआ अर्पण
सुषुम्णा सार योगका यज्ञ
चन्द्रमाका करता भेदन।
महाव्रत प्रज्ञाका आलोक।
पंचकोशोंमें परिवर्तन।
हृदयसे हृदय हुआ अर्पण॥

(२१)

पलक पंखोंकी मृदु फड़कन
कह रहीं 'प्रिय कल्पद्रुममें
बसा ले हृदय नीड़ निर्जन।
साधनामें मन-सुमन खिले
सुरभती सुधि बन संजीवन।'
पलक पंखोंकी मृदु फड़कन॥

(२२)

हृदयमें हर्षाया मधुवन
लाई श्वास समीर संदेश
आ रहे 'संगम'को सावन।
चाँदकी छायामें कुछ छन
सिसकता मेरा भावुक मन।
हृदयमें हर्षाया मधुवन॥

(२३)

हृदयमें प्रियका आवाहन
करे ऋण-धनसे संघर्षण
इन्द्रियोंका प्रतिपल नर्तन।
ज्योतियोंका यह आकर्षण
देखता 'मैं-पन' प्रज्ञा मन।
हृदयमें प्रियका आवाहन॥

(२४)

चित्तमें छिपा हुआ चेतन
करे संकेत महापथका
'परा पश्यन्ती' का गुञ्जन।
'चला रथ संगमको अविरल'—
अहं करता अनुप्रेरित मन।
चित्तमें छिपा हुआ चेतन॥

(२५)

चित्तमें चमक रहा चेतन
गुणत्रयका चिर संचित ऋण
चुकाने चपलाका वेतन।
अहंता-ममतामय कण-कण
चक्रवत् घूम रहा यह तन।
चित्तमें चमक रहा चेतन॥

(२६)

अचल है मेरा सिंहासन
हो रहा केवल ईक्षणसे
प्रकृतिमें प्रतिपल नित नर्तन।
गुणत्रयका प्रत्यावर्तन
सृजन संपोषण संहारन।
अचल है मेरा सिंहासन॥

(२७)

'निस्सङ्ग ज्योति' का निर्गम
संगीत सरस रचनाएँ
गङ्गा गिरि वास विहंगम।
सुहागिनि हो साधनाएँ
कर वरण शरण शिव-संगम।
'निस्सङ्ग ज्योति' का निर्गम॥

मनको सदा कल्याणकारी विषयोंमें लगाइये

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०,पी-एच्० डी०)

हमारा मन जब एक विषयमें तृप्ति नहीं पाता, तब वह भागकर नये विषयको पकड़ता है। जब उसमें भी शान्ति नहीं पाता, तब तीसरे विषयकी ओर दौड़ता है। इस प्रकार वह सदैव इधर-उधर भटकता, लुढ़कता और कूदता-फिरता है, मानो उसकी कोई अमूल्य वस्तु खो गयी हो, जिसका पाना उसे आवश्यक है और जिसके बिना उसका कार्य नहीं चल सकता।

हमारे चञ्चल नेत्र इस संसारमें अनेक प्रकारके दृश्य देखते हैं, जिससे उनका प्रभाव मनपर पड़ता है। देखा गया है कि जीवनकी बहुत-सी घटनाओं, दृश्यों, परिस्थितियोंपर मन सुख मानता है। अतः इनपर वह देरतक टिका रहता है। बहुत-से ऐसे विषय हैं कि वह उनसे जल्दी ही पीछा छुड़ाना चाहता है।

अतः मनको किसी एक सुन्दर उपयोगी, कल्याणकारी विषयपर टिकाये रखना संयमकी अपेक्षा सुगम है। अभ्यासमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये जिज्ञासुको सर्वप्रथम इसी साधनाका आश्रय लेना चाहिये। भक्तोंको प्रायः इसके द्वारा अधिक सहायता मिलेगी।

यदि उन्नतिके इच्छुक महान् पुरुषोंके चरित्रों, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण इत्यादि धर्म-ग्रन्थोंमेंसे किसी मनोहर लीलाको लेकर उसका साङ्गोपाङ्ग स्पष्ट चित्र अपने मानसिक जगत्में स्थिर करे, उसीमें देरतक रमण करे, वही मानसिक वातावरण बनाये रहे, तो उन्नति हो सकती है। धीरे-धीरे वे ही भाव जीवनमें स्पष्ट हो सकते हैं। इस रीतिसे धीरे-धीरे मन एक मार्गपर एकाग्र हो सकता है।

ज्यों-ज्यों वह मानसिक एकाग्रता, चरित्र और भावचित्रमें अपना प्रवेश पाता जायगा, त्यों-त्यों यह आदत मजबूत होती जायगी और मन सरलतापूर्वक एकाग्र होने लगेगा। जीवनकी किसी मनोहर सुन्दर घटनाको मानसिक जगत्में उपस्थित करनेसे चित्तका संयम जितना हो सकता है, उतना किसी पुस्तकको पढ़ने अथवा विषयको रटने या दुहरानेसे नहीं हो सकता।

जिन लोगोंने मनका साधन आरम्भ कर रखा है, उनकी प्रायः ये शिकायतें होती हैं कि संयमके साधनका यत्न करनेसे चित्तकी चञ्चलता और भी अधिक बढ़ जाती है। वे कहते हैं कि हम मनको एकाग्र करना चाहते हैं, परंतु वह नहीं होता। कुछ अंशोंमें यह शिकायत ठीक है, परंतु वास्तवमें देखा जाय, तो उनका साधन ही गलत है; क्योंकि वे एक म्यानमें दो तलवारें रखनेका प्रयत्न करते हैं। एक विषयको पकड़े हुए हम दूसरे विषयको नहीं पकड़ सकते। एक साथ ही हम दो नावोंमें नहीं बैठ सकते। प्रत्यक्ष हम यह बात देखते हैं कि जहाँ बहुत शोर हो रहा हो या परस्पर जहाँ तीन-चार मनुष्य एक साथ ही बोल उठें, उस समय हम सबोंको बात एक ही समयमें नहीं सुन पड़ती, क्योंकि हमारा मन सदा एक ही विषयको देखता, सुनता एवं विचार करता है। पुस्तकके दो पृष्ठोंको अथवा दो लकीरोंको हम एक साथ कभी नहीं पढ़ सकते।

अतः इससे यह सिद्ध है कि हमारा चित्त सदैव एक ही विषयको पकड़ता है; पर कठिनाई यह है कि वह अधिक कालतक उसपर स्थिर नहीं रहता। इसलिये जबतक हम एक मुख्य बातको, जो हमारे चित्तमें जमी हुई है, न छोड़ दें, तबतक चित्त दूसरे विषयपर स्थिर नहीं हो सकता। जो विषय उपयोगी हैं, जिनसे वास्तवमें हमारा सच्चा लाभ हो सकता है, जो हम अध्ययन कर रहे हैं, उन्हींपर मनको बारंबार एकाग्र करना चाहिये। इस प्रकार एकाग्रताकी सिद्धि हो सकती है।

उदाहरणके लिये जब बालक रोता है, उस समय यदि हम उसे भय दिखायें और कहें कि 'चुप हो जा, नहीं तो पीटेंगे।' तो शायद ही वह चुप हो; परंतु इसकी अपेक्षा और भी अच्छा साधन उसको चुप करनेका यह है कि उसे कोई खिलौना दे दिया जाय, मिठाई दे दी जाय या अन्य पदार्थ जो उसे पसंद हो, तो वह धमकाये जानेकी अपेक्षा शीघ्र ही चुप हो जायगा और प्रसन्न भी हो जायगा। यही हाल हमारे मनका भी है। इसके विषयमें श्रीकृष्णभगवान्‌ने जो कुछ कहा है, वह महत्त्वपूर्ण है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६। ३५)

उन सब साधकोंको जो मनका साधन कर रहे हैं, दृढ़ताके साथ उन संकल्पोंपर दृष्टि रखनी चाहिये, जो चित्तमें सदा प्रवेश करते रहते हैं। उनमेंसे केवल शुभ और उत्कृष्ट संकल्पोंको ही अपने इच्छानुसार संग्रह करते रहना चाहिये। अशुभ और हानिकर संकल्पोंके आवेशको रोकना चाहिये। यह तभी होगा, जब सदा शुभ संकल्पोंको ग्रहण करनेका ध्यान रहे। इससे अशुभ संकल्प आप ही न फटकने पायेंगे। इसमें अभ्यास ही प्रमुख बात है। अभ्याससे हमारा मन बलवान् होगा। हमपर दूसरोंके बुरे विचारों तथा गालियोंका प्रभाव न पड़ेगा।

बहुधा लोग अशुभ विचारों तथा अप्रिय अवस्थाओंका ही चिन्तन करते रहते हैं और उनसे अपना पीछा छुड़ानेके लिये युद्ध करते रहते हैं। रोगी मनुष्य यदि रोगका ही चिन्तन सदैव करता रहेगा तो वह कदापि स्वस्थ नहीं हो सकता, चाहे कितनी ही ओषधियोंका सेवन करे। इसके विपरीत यदि मनुष्य दवा ही न ले और अपने ही संकल्पको बलवान् रखकर मनकी चञ्चलतापर संयम करके पूर्ण स्वस्थ तथा आनन्दमय अवस्थाका चित्र ही अपने मानसिक जगत्‌में उपस्थित करे और यह धारणा करे कि वह पूर्ण स्वस्थ है तो वह अवश्य स्वस्थ हो जाता है। सद्विचार ही वह बीज है, जो जीवनको स्वस्थ, सुन्दर और तृप्त बना सकता है।

अपने कष्टोंको कभी मत गिनिये। जबतक वे बिल्कुल आ ही न जायँ, तबतक निरन्तर उनकी भयावह कल्पनाएँ कर अपनी उत्कृष्ट सृजनात्मक शक्तिका क्षय मत कीजिये।

प्रिय व्यक्तियों, अपनी छोटी-बड़ी सफलताओं, अपनी समृद्धि और यश-प्रतिष्ठा इत्यादिकी मङ्गलकारी स्मृतियाँ ही मन-मन्दिरमें बसाइये। अपनी सफलताओंके विषयमें चिन्तन करने, उन्हींमें लगे रहने तथा उन्हीं दिशाओंमें विकास करनेसे नयी शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। अपनी शक्तिकी बातें सोचनेसे शक्तियोंका विकास होता है।

* * *

अनन्य प्रेम ही सर्वोत्तम भजन है

उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥
पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।
यह बिचारि मुनि पुनि पुनि करत राम गुन गान॥
(श्रीरामचरितमानस)

मितव्ययिताका आदर्श

(लेखक—श्रीरमाकान्तजी मिश्र)

अर्थशास्त्रकी ट्युटोरियल कक्षा । प्राचार्य महोदयके सामने टेबलपर अभ्यास-पुस्तिकाएँ पड़ी थीं । छोटे प्रश्नोंके लंबे-चौड़े उत्तर । विद्यार्थियोंकी आँखें प्राचार्य महोदयके चेहरेपर थीं और प्राचार्य महोदयकी आँखें अभ्यास-पुस्तिकाओंकी पंक्तियोंपर । उन्होंने पुस्तिकाओंको देखनेके बाद लड़कोंकी ओर देखते हुए कहा, 'Be clear and concise' (अर्थात् आपके उत्तर स्पष्ट एवं संक्षिप्त होने चाहिये ।)

संध्याका समय—[illegible] दिन मन्त्री महोदय आये । आनेका उद्देश्य 'राष्ट्रीय प्रतिरक्षा-कोष'से सम्बन्धित था । उन्होंने भाषणके तारमें कह डाला,—'आज राष्ट्रके सामने जो खतरा है, उसे दूर करना हम सबोंका परम कर्तव्य है । आज आवश्यकता है कि हम स्वयं अपनी कुछ आवश्यकताओंको भूल जायँ और राष्ट्रके हितमें अपने तुच्छ हितोंकी बलि दे दें····।' अपने लंबे और सारगर्भित भाषणमें मन्त्रीजीने योजना एवं राष्ट्रीय रक्षाके लिये मितव्ययितापर जोर दिया ।

देशके बड़े-बड़े समाचारपत्रोंने मुख-पृष्ठोंपर लिखा, 'Wage war on wastes' (अर्थात् हम बर्बादियोंसे लड़ें) ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने तो बहुत पहले ही आसक्ति और अनबुझी आवश्यकताओंके विषैलेपनपर प्रकाश डालते हुए अर्जुनसे कहा था—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(२ । ६२-६३)

आवश्यकताओंकी अनन्त, दूषित कुण्डलिनी और उनके भयावह परिणामोंकी ओर लोगोंके ध्यान सदासे आकर्षित किये गये हैं ।

* * *

आप मानेंगे कि सभीकी कुछ आवश्यकताएँ होती हैं । जीवित रहनेके लिये हमें वायु चाहिये, ताप चाहिये, वस्त्र चाहिये, अन्न और जल चाहिये । यों कहिये, संसारमें आते ही आवश्यकताओंने हमें आ घेरा । फिर भी दो रास्ते हैं—अपव्यय और मितव्यय । इसीमें सारी अशान्ति और शान्ति बसती है ।

लगाम ढीली की और घोड़ा लगा हवासे बातें करने । रास कड़ी हुई और बेचारा घोड़ा रास्तेपर आने लगा । पर एक ऐसा घोड़ा होता है, जो काफी ढीठ और उद्दण्ड हो जाता है । वह अपने प्राणोंकी भी परवा नहीं करता । लगामसे उसके जबड़े छिल जाते हैं, फिर भी वह रुकनेका नाम ही नहीं लेता जबतक कि सवार गिर नहीं पड़ता ।

* * *

घरमें बच्चे नये खिलौनेके लिये मचलते हैं । औरतें नये गहनोंके लिये रूठती हैं । आवश्यकताओंकी गति अत्यन्त तीव्र है । हमें मोटर चाहिये, आलीशान मकान चाहिये, बगीचा चाहिये, सेवकोंका एक दल चाहिये। ये न भी मिलें, फिर भी दिवा-स्वप्न तो हम देखते ही हैं इनके विषयमें ।

इन सभी आवश्यकताओंके पीछे हमारी एक सच्ची आवश्यकता है कि इन बढ़ती आवश्यकताओंपर हमें नियन्त्रण कैसे करना चाहिये ? आत्मसंयमद्वारा। आत्मसंयम कहाँसे आये ? वस्तुओंकी निस्सारताका बोध होनेपर ।

* * *

शहरमें अकेले आदमीके लिये दो कमरोंवाला एक फ्लैट क्या, एक कमरा भी काफी होता है । मेरे एक मित्रने पटना (राजेन्द्रनगर) में अकेले दो कमरोंवाला फ्लैट लिया । वे एकमें सोते थे और दूसरेमें पढ़ते और मित्रोंसे मिल-जुल लेते थे । उन्होंने अपने विषयमें एक मनोरञ्जक कहानी हमें सुनायी । अपने कमरोंको धीरे-

धीरे उन्होंने फर्नीचरसे सुसज्जित करना प्रारम्भ किया। अपने आरामके लिये एक आरामकुर्सी थी उनके यहाँ। अब दो मित्रोंके सामने वे अकेले आरामकुर्सीपर बैठें तो कैसे ! दो से तीन कुर्सियाँ बड़ी-बड़ी और चली आयीं। धीरे-धीरे इनका ताँता बढ़ चला। पहले बेचारे एक ही टेबलपर पढ़ भी लेते, दाढ़ी भी बना लेते और अखबार वगैरह भी रख छोड़ते। अब 'डाइनिंग टेबल' आया, दो छोटे-छोटे टेबल अखबार रखनेके लिये और बरामदेकी शोभा बढ़ानेके लिये आये। आल्मारियाँ आ पहुँचीं। घर क्या ? फर्नीचरकी एक दूकान-सी हो गयी। चलने-फिरनेको भी काफी कम जगह बच रही। अन्तमें उन्होंने सब फर्नीचर घर भिजवा दिया और काफी जगह हो गयी।

हमारी भी व्यग्रता बढ़ती चलती है। हम हैं कि आवश्यकताओंको पूरा करके दम मारनेको परेशान और आवश्यकता वे हैं कि एक गयी और दूसरी कई साथियोंको लिये आ खड़ी हुई। गजबकी व्यग्रता है। वह बढ़ती ही जाती है और हमारी मुट्ठी छोटी पड़ रही है। हम हार माननेको तैयार नहीं हैं। इतनी दूरीतक हमारा अहंकार पहुँच गया है कि दूसरोंके आगे हार माननेको तैयार नहीं। आजका मानव व्यग्रतामें—खिंचाव (tension) में जी रहा है। उसे कभी शान्ति नहीं। युद्धकी आशङ्का है, दीवालियेपनका डर है, हारका भय है। **'तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौड़'** को हमने उलट डाला है, जो वस्तु-स्थितिसे कभी भी मेल नहीं खाता। **'लंबे पाँव पसार दो, मत देखो तुम सौड़।'** अब तो आफत आ गयी है ! जो जितना अधिक भोगैश्वर्योंके पीछे है, उसका जीवन-मान उतना ही अधिक बढ़ा-चढ़ा है। मनकी सारी शान्ति गवाँकर काठ-कबाण जुटाये चलो, इसीमें आज जीवनकी सार्थकता है।

'सादा जीवन और उच्च विचार'को आज कायरोंका आदर्श कहा जाता है। आजके मानवकी दृष्टिमें कबीर फीके पड़ गये, जिन्होंने कहा है—

साईं इतना दीजिये जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय॥

* * *

आजकी अधिकांश आवश्यकताएँ कृत्रिम हैं। सभ्यताके बढ़ते रोगकी देन हैं। बाह्य आडम्बरकी उछल-कूद हैं। आदमी अपनी मुट्ठी देखकर खर्च नहीं करता, बल्कि अपनी इच्छा देखकर रोता है। आजका सभ्य मस्तिष्क दुखी है, रुग्ण है।

* * *

विद्यार्थीने कम शब्दोंमें भाव स्पष्ट नहीं किया। मन्त्री महोदयने लंबे भाषणके दौरानमें मितव्ययिताके गुणोंका बखान किया। श्रीकृष्णने भी इसपर जोर दिया। पर वे सब जहाँ-के-तहाँ रह गये। अमल तो उसपर किसीने नहीं किया।

हम बकते जाते हैं, लिखते जाते हैं। एक ही बातको दस तरहसे कहनेके आदी हैं। कठिनता और दुरूहताको हम शैलीका एक विशेष गुण मान बैठे हैं। विचारोंमें मितव्ययिताकी आवश्यकता है।

जेट और राकेटके युगमें भी हम शिथिलताके आदी हैं। यह हमारी मूर्खता है। अभी एक मूर्ख हमारी बगलमें आ बैठता है। अनाप-शनाप बकने लगता है और हम भी अपना काम छोड़ उससे उलझ पड़ते हैं। काम गया ताकपर। तो हमें समयकी मितव्ययिताकी भी आवश्यकता है।

* * *

हम बुद्धिका प्रयोग करें; क्योंकि भगवान्ने बड़ा सोच-समझकर हमें एक दिमाग दिया है। हित-अनहितकी पहचान सबोंको है। न्यूनतम व्ययपर अधिकतम लाभ सभी क्रियाओंका मौलिक सिद्धान्त रहा है। इसे एक बार भला आजमाकर तो देखिये कि आप इस परीक्षामें कहाँतक सफल होते हैं और आपमें आत्मसंयमकी कितनी मात्रा है।

हमारा महान् शत्रु—आलस्य

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ।

अर्थात् मनुष्यका सबसे बड़ा शत्रु उसके शरीरमें स्थित आलस्य ही है। अपने इस जीवनमें भी हम प्रतिपल यह अनुभव करते हैं कि किसी भी कार्यकी सिद्धिमें आलस्य ही सबसे महान् बाधक है। उत्साहकी मन्दतासे प्रकृतिमें शिथिलता आती है। हमारे बहुत-से कार्य आलस्यके ही कारण सम्पन्न नहीं हो पाते। दो मिनटके कार्यके लिये आलसी व्यक्ति 'फिर करूँगा, कल करूँगा' करते-करते लंबा समय यों ही बिता देता है।

हमारे जीवनका बहुत बड़ा भाग आलस्यमें ही बीत जाता है; यदि हम उतने समयतक कार्य-तत्पर रहें तो कल्पनासे अधिक कार्यकी सिद्धि हो सकती है। इसका अनुभव हम प्रतिपल कार्यमें संलग्न रहनेवाले व्यक्तिके कार्यकलापोंद्वारा भलीभाँति कर सकते हैं। बहुत बार हमें यह आश्चर्य होता है कि आखिर एक व्यक्ति इतना काम कब और कैसे कर लेता है। अपने स्वर्गीय पिताजीके बराबर जब हम तीन भाई मिलकर भी काम नहीं कर पाते तो उनकी कार्यक्षमताका अनुभव कर हम विस्मय-विमुग्ध हो जाते। जिन कार्योंके करनेमें हमें प्रातःकाल नौ-दस बज जाते हैं, वे हमारे सोकर उठनेके पहले ही उन्हें कर डालते थे। जब कोई काम करना हुआ, वे तुरंत काममें लग गये और उसको पूर्ण करनेके पश्चात् उन्होंने विश्राम लिया। जो काम अभी हो सकता है, उसे घंटों बाद करनेकी मनोवृत्ति आलस्यकी ही निशानी है। एक-एक काम हाथमें लिया और करते चले गये तो बहुत-से कार्य पूर्ण हो जायँगे; पर बहुत-से काम एक साथ लेनेसे किसे पहले किया जाय, इसी इतस्ततःमें समय बीत जाता है, एक भी काम पूरा और ठीकसे नहीं हो पाता।

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पलमें परलय होयगी, बहुरि करेगा कब॥

दूसरी बात ध्यानमें यह रखनी है कि एक साथ अधिक कार्य हाथमें न लिये जायँ; क्योंकि किसी भी कार्यमें पूरा मनोयोग और उत्साह न रहनेसे सफलता नहीं मिल सकेगी। अतः एक-एक कार्यको हाथमें लिया जाय; अन्यथा, सभी कार्य अधूरे रह जायँगे और पूरे हुए बिना किसी भी कार्यका फल नहीं मिल सकता। आलसी व्यक्ति पहले तो कार्यका आरम्भ ही नहीं करता; यदि प्रारम्भ भी करता है तो हारकर उसे अधूरा छोड़ देता है।

जैन ग्रन्थोंमें शुभ कार्योंमें बाधा देनेवाली तेरह बातोंको तेरह 'कठिनाइयाँ' (रुकावट डालनेवाला) की संज्ञा दी गयी है। उसमें सबसे पहला काठिया 'आलस्य' ही है। बहुत बार बना-बनाया काम तनिक-से आलस्यके कारण ही बिगड़ जाता है। प्रातःकाल निद्रा भङ्ग हो जाती है, पर आलस्यके कारण ही हम उठकर काममें नहीं लगते। इधर-उधर उलट-पुलट करते-करते कामका समय खो बैठते हैं। जो व्यक्ति उठकर काममें लग जाता है, वह हमारे उठनेके पहले ही बहुत-से काम समाप्त कर लेता है। दिनमें भी आलसी व्यक्ति विचारमें ही रह जाता है और करनेवाला कमाई कर लेता है। अतः प्रत्येक समय किसी-न-किसी कार्यमें लगे रहना चाहिये। कहावत भी है कि 'ठालेसे बेगार भली।'

मानव-जीवन दुर्लभ होनेके कारण उसका प्रत्येक क्षण अत्यन्त मूल्यवान् है। जो समय जाता है, वह वापस नहीं आता। प्रतिक्षण आयु क्षीण हो रही है। न माल्रम जीवन-दीप कब बुझ जाय। अतः क्षणमात्र भी प्रमाद न करनेका, भगवान् महावीरने उपदेश दिया है। महामना गौतम गणधरको सम्बोधित करते हुए उन्होंने

उत्तराध्ययन सूत्रमें कहा है—**'समयं गोयम मा पमायार'** अर्थात् 'हे गौतम ! क्षणमात्रका भी प्रमाद न कर ।'

जैन-दर्शनमें प्रमाद* निकम्मेपनके ही अर्थमें नहीं है, परंतु समस्त पापाचरणके आसेवनके अर्थमें भी है । पापाचरण करके भी जीवनके बहुमूल्य समयको व्यर्थ न गँवाइये । आलसी आत्माकी शक्तिका उपयोग नहीं करता तो पापाचारी उसका दुरुपयोग करता है । दोनों ही ठीक नहीं ।

कई लोग कार्योंकी अधिकतासे घबराते हैं और आराम नहीं मिलनेसे स्वास्थ्य नष्ट होनेकी आशङ्का करते हैं । पर आलस्यके त्यागद्वारा कार्यशक्ति बहुत बढ़ायी जा सकती है । अतः अपनेको अधिकाधिक कार्य कर सकनेके उपयुक्त बनानेका अभ्यास डालना चाहिये । शरीर-मन आदिका जैसा अभ्यास डाला जाता है, वैसे ही वे बन जाते हैं । कार्य करते रहनेसे शक्तियोंका विकास होता है ।

आत्मा अनन्त शक्तिका भंडार है, पर उसका मान न होनेसे ही हम उस शक्तिका अनुभव नहीं कर पाते । बहुत बार उससे काम न लेनेके कारण ही हमारी शक्ति कुण्ठित हो जाती है । विधिवत् उपयोग करते रहनेसे वह क्रमशः बढ़ती चली जाती है । हम दो-चार घंटे शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक श्रम करके थक जाते हैं एवं विश्रामके लिये आतुर हो उठते हैं; पर अभ्यासके बलपर जिन्होंने अपनी शक्तिको बढ़ा लिया है, वे पंद्रह-बीस घंटेतक काम करनेपर भी थकते नहीं । महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरूके कार्योंको देखिये, उनका प्रतिपल कार्यसंलग्न है । दस-बारह वर्ष हुए जब नेहरूजी सिल्हट पधारे थे तो मैंने देखा कि उनके एक ही दिनमें १००-१५० मीलके भ्रमणके साथ १०-२० कार्यक्रम थे; उन्होंने किसीको फेल नहीं होने दिया । उनके एक-एक मिनटके समयका कार्यक्रम बँधा हुआ था, स्थान-स्थानपर भाषण देना पड़ता था । लोग उनकी ऐसी कार्यशक्ति देखकर दंग रह जाते हैं । गांधीजीको भी कितने अधिक काम करने पड़ते थे, पर वे सबको नियमित रूपसे करते थे । सैकड़ों व्यक्तियोंसे मिलना, सबकी बातें सुनना तथा संतोषप्रद उत्तर देना । सैकड़ों व्यक्तियोंके पत्र आते थे और 'हरिजन' आदिके लिये लेख लिखना, प्रवचन देना तथा रोगियोंको सँभालना, चरखा कातना और सभी शारीरिक कार्य अच्छी तरह करना, टहलने भी जाना । फिर भी उनके ठीक समयपर सब काम निपट जाते थे । वे कभी भी आजका कार्य कलपर नहीं छोड़ते थे ।

आलस्यके कारण ही हम अपनी अन्तर्हित शक्तियोंका अनुभव नहीं कर पाते और शक्तिका उपयोग न कर उसे कुण्ठित कर देते हैं । किसी भी यन्त्र और औजारका उपयोग करते हैं तो वह ठीक और तेज रहता है । सत्कर्मोंमें तो आलस्य तनिक भी न करे; क्योंकि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—अच्छे कामोंमें बहुत विघ्न आते हैं । आलस्य करना है तो असत् कार्योंमें कीजिये, जिससे आपमें सद्बुद्धि उत्पन्न हो और कोई भी बुरा कार्य आपसे होने ही न पाये ।

जहाँतक हम पुरुषार्थ नहीं करते, वहींतक कार्य कठिन लगता है । पुरुषार्थके सामने असम्भव कुछ भी नहीं । सभी कठिन काम सरल हो जाते हैं । लंबा रास्ता आलसीके लिये है, चलनेवालेके लिये तो वह ज्यों-ज्यों कदम बढ़ायेगा, रास्ता तय होता जायगा और उत्साह बढ़नेसे छोटा-सा प्रतीत होगा । अतः हम आलस्यरूपी शत्रुको अपने पास ही न फटकने दें—पुरुषार्थी बनें ।

---

* 'प्रमाद'का अर्थ किया गया है करनेयोग्य कार्यको—वैध कर्तव्यको न करना और न करनेयोग्य कर्मोंको करना ।
—सम्पादक

मोक्ष-साधन-रहस्य

(लेखक—श्रीस्वामी प्रेमानन्दजी महाराज)

मानव-शरीरधारी आत्मज्ञानसम्पन्न अखिलब्रह्माण्डनायक लीला-विहारी पूर्णतम ब्रह्म पुरुषोत्तम व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ही गीता-ज्ञानके यथार्थ रहस्यवेत्ता और सदुपदेशकर्ता हैं। चिरकालसे त्रिविध-ताप-तापित और अज्ञानान्धकारसे आच्छादित अर्जुन-नामधारी जीव इस भवाटवीमें भटक रहा है। उसे दिव्य दृष्टि प्रदानकर भगवान् ज्ञानोपार्जनमें प्रवृत्त कराना चाहते हैं। प्रवृत्ति-निवृत्ति-स्वरूप दैवी और आसुरी सम्पत्ति धारण करनेवाले तथा कर्म और ज्ञानके यथार्थ रहस्यके अमर्मज्ञ मायाच्छन्न जीवोंकी इन्द्रिय-मनादि शक्तियाँ आपसमें संघर्ष कर रही हैं। नित्य ही क्षण-क्षण उनका संघर्ष परिवर्द्धित हो रहा है। श्रीकृष्ण-नामधारी सद्गुरुस्वरूप लीलानायक इन्हीं दोनों सेनाओंके बीचमें ज्ञानखड्गधारी अर्जुन नामक प्रपन्न जीवका जिज्ञासारूपी रथ खड़ा करते हैं। मायाच्छन्न जीव अर्जुनने जिन इन्द्रियों, मन तथा चित्त, बुद्धि, अहंकारका आश्रय लेकर विषय-सेवन किया है और क्षणिक आनन्दका उपभोग किया है, उनका परित्याग करनेमें वह असमर्थ है और उनसे निवृत्त होनेमें दुःखकी अनुभूति करता है और संघर्षसे विमुख होना चाहता है। किंतु बातें करता है निरालम्ब स्थितिकी। भगवान् रहस्य समझ जाते हैं और उसकी मोह-निवृत्तिके लिये गीता-ज्ञानका उपदेश करते हैं। इसी प्रसङ्गमें वे साधकको किस तरह अपने इन्द्रियों तथा मन-बुद्धिके साथ सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें सतत जाग्रत् रहना चाहिये और प्रतिकूल विषयोंसे विराग और भगवच्चरणोंके प्रति अनुराग रखना चाहिये, इसका रहस्योद्घाटन करते हैं। भगवान्का निर्देश है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

अमानित्व—मानीपनका भाव अर्थात् बड़प्पन प्रकट करनारूप जो मानित्व है, उसका अभाव अमानित्व। मोह ही दुःखका कारण है। छोटा-बड़ा, गुणी-अवगुणी, विद्वान्-मूर्ख, बलवान्-निर्बल, धनी-गरीब—ये सभी भावनाएँ परस्पर-विरोधिनी हैं। इन्हींके कारण राग-द्वेष उत्पन्न होता है और इसीसे मानापमानकी अनुभूति होती है। इसलिये पूज्यपाद गोस्वामीजीने बतलाया है—

सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान-सम ते मम प्रानी।

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने भरतलालजीके प्रति ऐसा उपदेश किया है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुनके प्रति आदेश करते हैं कि तुम भी अमानी हो जाओ। मानको देखकर विनय-विनम्र हो जाओ।

अदम्भित्व—साधनादि अच्छे गुणोंका बिना ही हुए बाहरसे दिखाना—प्रचार करना ही ढोंग या दम्भ है। इसका न होना अदम्भित्व है। इस दम्भित्वका त्याग करके सरल निष्कपट जीवन बनाना चाहिये।

अहिंसा—हिंसा न करना अर्थात् प्राणिमात्रको कायिक, वाचिक, मानसिक—किसी प्रकारका कष्ट न देना और न देनेकी भावना रखना। श्रुतिका उपदेश है—'अहिंसा परमो धर्मः।' अहिंसा-पालनकी आवश्यकता इसलिये है कि उनके सांनिध्यमें रहनेवालेका वैरभाव स्वतः मिट जाता है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

क्षमा—दूसरोंका अपने प्रति अपराध देखकर क्रोधादि विकारका न होना अक्रोध है। पर अपराधीके अपराधको भूलकर उसका हित चाहना—क्षमा है।

आर्जव—सरलता, अकुटिलता। किसीके प्रति कौटिल्यपूर्ण नीतिका व्यवहार न करना।

आचार्योपासनम्—आचार्यकी उपासना। मोक्षसाधन करानेवाले गुरुकी शुश्रूषा, उनका आज्ञापालन आदि। गुरुके प्रति जिज्ञासुका शिष्टाचार।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

शौच—बाह्याभ्यन्तर शुद्धि—शारीरिक मलोंको मिट्टी और जलसे शुद्ध करना और आभ्यन्तरिक मलों—राग-द्वेषादिको प्रतिपक्ष-भावनासे दूर करना।

स्थिरता—मोक्ष-मार्गमें ही निश्चित निष्ठा, निश्चित लक्ष्य।

आत्मविनिग्रह—आत्माका अपकार करनेवाला और आत्माशब्दसे कहा जानेवाला जो कार्य-कारणका संघात

यह शरीर है, इसका निग्रह अर्थात् इसे अपनी स्वाभाविक विषय-प्रवृत्तिसे हटाकर सन्मार्गमें ही नियुक्त करना। जब साधक इस स्थानपर पहुँचकर दृढ़ हो जाय, तभी वह दुर्भावना रखनेवाले शत्रुओंसे सामना करे। शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि इन्द्रिय-विषयोंके प्रति विराग तथा अनहंकार, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि- दुःखमें दोष-दृष्टि रक्खें, इस साधनके पहले अमानित्व, अदम्भित्व आदि साधनोंको क्यों प्रकट किया गया? समाधान यह है कि कोई भी सेनानी जैसे शत्रुओंसे सामना करनेके पहले अपनी सेना, व्यूह, खाद्य-सामग्री, निवास-स्थान आदि वस्तुओंका दिग्दर्शन कर लेता है, तदुपरान्त युद्धमें प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार भगवान्‌ने गीतामें निर्देश किया है कि जब अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव, आचार्योपासना, शुश्रूषा, शौच, स्थिरता, आत्मविनिग्रह—ये सभी गुण और धर्म अपनेमें आ जायँ तभी इन्द्रिय-विषयोंमें वैराग्य-अनहंकार, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, दुःख—इन सबमें दोषदृष्टि आयेगी। पुत्र, दारा, गृह आदिमें ममता नहीं होगी अथवा इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें सुख-दुःखकी भावना न होगी। समताका साम्राज्य स्थापित होगा। ज्ञानकी वह दुर्लभ स्थिति प्राप्त होगी, जिसे पाकर पुनः जन्म-मरणके चक्करमें नहीं आना पड़ेगा। त्रिविध तापोंसे निवृत्ति मिल जायगी। यही जीवका चरम लक्ष्य है, अन्तिम पुरुषार्थ है।

पुनः भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रिय-विषयोंसे वैराग्य, अनहंकार तथा जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि—इनके प्रति किस प्रकार दोष-दृष्टिका व्यवहार करें—यह बतलाया है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्य—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

इस शरीर-रूपी रथके बुद्धिरूपी सारथिके हाथमें मन-रूपी लगाम है। इन्द्रिय-रूपी घोड़े उच्छृङ्खल हैं। आरोहण करनेवाला रथी जीवात्मा है। प्रत्येक घोड़ेके ऊपर भी एक-एक देवता सवार रूपमें स्थित हैं, जो गुप्तरूपसे सूक्ष्म-शरीर धारणकर, उनको प्रेरितकर विषयभोगोंके प्रति लोलुप बनाकर उच्छृङ्खल बना रहे हैं। बुद्धिरूपी सारथि मनरूपी लगाम ग्रहण करनेमें अपनेको असमर्थ समझता है—इसलिये कि बागडोर भी इतनी कमजोर है कि विशेष शक्ति व्ययकर रोकनेमें उसके टूट जानेका भय है। संकल्प-विकल्प-रूपी सूत्रको मिलाकर जो मनरूपी लगाम तैयार हुआ है, उसके सूत्र कच्चे हैं। सारांश, मन इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है। इन्द्रियोंके आश्रित रहकर ही मन विषय-सेवन करता है। प्रत्येक इन्द्रियके अधिष्ठाता भोग-लिप्साके मूर्तिमान् रूप देव हैं, जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भोगोंके प्रति है। ये सभी—इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि, चित्त-अहंकार, सर्वाङ्ग शरीर—आत्माके आश्रित ही स्थित हैं। आत्माकी इनके प्रति इतनी आसक्ति हो गयी है कि इनसे विलग रहकर इनसे भिन्नताकी अनुभूति कर अपनेको निराश्रित समझता है। मन-बुद्धि इन्द्रियादि यद्यपि इसके सेवक हैं, अनुचर हैं; फिर भी यह अज्ञानी मायाच्छन्न जीव इनसे भिन्नताका अनुभव कर अपनेको निराश्रित समझता है। सम्भवतः इसीलिये इनसे संघर्ष भी नहीं करना चाहता। प्रत्येक इन्द्रियके अलग-अलग भोग्य विषय हैं। इन्द्रियोंमें स्वयं भोगनेकी शक्ति नहीं। मनका आश्रय लेकर देवता ही उनको प्रेरितकर भोगोंके प्रति उनकी आसक्ति उत्पन्न कराते हैं। वैराग्यका अर्थ है—वीतरागता अर्थात् रागोंके प्रति विरति। राग कहते हैं आसक्ति तथा स्पृहाको। इससे अनासक्त और स्पृहारहित हो जाना ही विराग है। इन्द्रियोंके जो स्वाभाविक विषय हैं, उनसे जीव बन्धनमें नहीं पड़ता। उनके प्रति जब आसक्ति हो जाती है, तभी बन्धन दृढ़ हो जाता है। जैसे मुँहका विषय है—आहार ग्रहण करना। उसके साथ रसनाका सम्बन्ध है—रसानुभवसे। उसकी अभिव्यक्ति मनके द्वारा बुद्धिपर आती है। आत्मा चित्तके सहारे उसका चिन्तन करती है। फिर आनन्द मानकर अहंकार कर बैठती है। इसी क्रमसे आसक्ति बढ़ती जाती है। यदि मुख केवल जिह्वाके आश्रयसे आहार ग्रहण करके ही संतोष कर ले, आत्मा उसपर सतत नियन्त्रण रक्खे, मनसे उसका संयोग न होने दे, तब आसक्ति उत्पन्न ही न हो। इसी प्रकार जिन-जिन इन्द्रियोंके जो-जो स्वाभाविक कार्य हैं, उनसे मनका सम्बन्ध न होने पाये, आत्मा सतत जाग्रत् रहकर प्रयत्नशील रहे तो वह रागरहित हो जाता है; क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारके सङ्गद्वारा जो उसकी वृत्ति संकुचित हो गयी है तथा मल-विक्षेप-आवरण आदि

दोषोंने उसके ऊपर जो आवरणरूपी जाल फैला दिया है, उसे वह शीघ्र ही छिन्न-भिन्नकर मुक्त हो जाता है। उसकी स्थिति सहज स्वरूपमें हो जाती है और स्वरूपस्थिति ही मोक्ष है। श्रुति कहती है—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

मन—

> मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
> बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं स्मृतम्॥

संशयात्मक मन—एक ही चित्त-शक्ति अवस्था-भेदसे विभिन्न स्वरूपोंमें भासित होती है। जब वह संकल्प-विकल्प करती है तब उसकी संज्ञा मन है, जब निश्चय करती है तब बुद्धि, जब चिन्तन करती है तब चित्त और जब अभिमान करती है तब अहंकार। यही अन्तःकरण-चतुष्टय है। चित्-शक्ति आत्माकी प्रतिभासित शक्ति है। इसीलिये चित्तकी उपमा दर्पण और कम्पनरहित स्वच्छ सरोवरसे दी गयी है। चित्तमें किसी प्रकारकी स्फुरणा नहीं हो, किसी भी वृत्तिका उदय न हो; क्योंकि जब वृत्तियाँ उदित होती हैं तभी चित्तमें संकल्प-विकल्प होता है। किसी भी कार्य या वस्तुमें तभी आसक्ति उत्पन्न होती है, जब उसके लिये पहलेसे ही संकल्प होता है। संकल्प, इच्छा, प्रयत्न तीसरी अवस्था प्राप्ति या अप्राप्ति। प्राप्तिसे राग (सुखानुशयी रागः) और अप्राप्तिसे दुःख (दुःखानुशयी द्वेषः) होता है। सारांश यह है कि मनके लिये वैराग्यकी वस्तु यही है कि संकल्प न हो और जब संकल्प नहीं होगा तो विकल्प नहीं होगा, जब विकल्प नहीं होगा तो दुःख ही नहीं होगा। तदनन्तर सुख-ही-सुख है। तब प्रश्न हुआ कि सुख क्या है? **'सुखः क आनन्दस्वरूपः।'** आनन्द ही ब्रह्मका रूप है, **'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्।'** शङ्का उत्पन्न होती है कि बुद्धि तथा चित्तके सम्बन्धमें विराग उत्पन्न करनेका कोई संकेत नहीं, जब कि इन्द्रिय, मन तथा अहंकारके प्रति भगवान्ने किया है। बुद्धि सारथि है, रथीके आदेशानुसार ही सारथि रथ बढ़ा सकता है। उसकी स्वयं अपनी भावना काम नहीं करती। यद्यपि मनरूपी लगाम उसके हाथमें है फिर भी वह साधन-सम्पन्न अपरोक्ष ज्ञानी जीवके लिये एक संकेत है न कि बद्ध जीवके लिये। सारांश यह है कि बुद्धि जबतक निश्चयात्मिका नहीं हो जाती, सदसद्विवेकिनी नहीं हो जाती, आत्माके साथ उसका सीधा सम्बन्ध नहीं हो जाता, तबतक उसकी गति मनके साथ रहती है। इसी तरह चित्त भी जबतक असंयत मन-बुद्धिका अनुगामी है, तबतक स्वेच्छया उसमें कोई विरक्ति उत्पन्न नहीं होती। मन और अहंकार—ये ही दो प्रमुख अज्ञानान्धकारसे आच्छादित करनेवाले हैं, जिनका आश्रय लेकर बुद्धि और चित्त निश्चय और चिन्तन करते हैं। इसी कारणसे भगवान् श्रीकृष्णने बुद्धि और चित्तके प्रति विराग-का संकेत नहीं किया है।

अनहंकार—'अभिमानात्मकोऽहंकारः।' मिथ्या अहं-भावना ही बन्धनका कारण है। अहंकारके कारण ही जीव नाना प्रकारकी विपत्तियोंका सामना करता है। पूज्यपाद गोस्वामीजीने 'विनय-पत्रिका' में संकेत किया है—

> जब ते देह गेह निज जानी। तब तें देह भयो अभिमानी॥
> मायावस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥

'रामचरितमानस' में भी आया है—

> सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
> संसृति मूल सूल प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
> तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

शरीरमें ही अहंकी भावना करके जीव अपनेको शरीर अनुभव करने लगता है। मायाका यही स्वरूप है। कोई भी शुद्ध कार्य हो, उसमें अहंकारका योग हो जानेसे ही उसका स्वरूप विकृत हो जाता है। गोस्वामीजीने कहा है—

> मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥

'योगवाशिष्ठ' में वशिष्ठजीने भगवान् रामके प्रति उपदेश किया है कि चित्तमें जो अहंकी स्फुरणा होती है, वही सृष्टिका कारण है। इसलिये बतलाया कि अभिमानका त्याग करो और त्यागका भी जो अभिमान हो, उसका भी त्याग करो। गीता भी संकेत करती है कि अहंकारका सर्वथा त्याग करो।

जन्म—पूर्वकर्मानुसार जीव प्रारब्धका भोक्ता होता है। प्रारब्ध बनता है संचितको लेकर। प्रारब्ध ही जन्म धारण करनेका हेतु है। प्रारब्धका क्षय भोगसे होता है। भोगका स्वरूप वासना है। वासना बीज है। यह बीज अङ्कुरित होता है—शरीर, मन, इन्द्रियादि क्षेत्रसे; इसी कारण इस जीवको पूर्वजन्ममें किये हुए इष्ट-अनिष्ट कर्मोंका फल भोगनेके लिये सूक्ष्मशरीररूपी झोलीमें कर्मरूपी बीज

लेकर कारण-शरीरमें प्रवेशकर नूतन पाञ्चभौतिक शरीर धारण करना होता है। इसीको 'जन्म' कहते हैं। भगवान् आदेश देते हैं जन्ममें दोष देखनेको। रहस्य यह है कि जन्म लेनेके लिये वासनालिप्त जीवको पुरुषके वीर्यका आश्रय लेकर माताकी कुक्षिमें आना पड़ता है। वहाँ नाना प्रकारके कष्ट तथा कफ-रक्त-मांस, मल-मूत्र इत्यादि विकारोंके बीच जीवन व्यतीत करना पड़ता है। दुःखों, यातनाओंकी अनुभूति करके इस जीवको विषयसे विरत रहना चाहिये। जब इन्हीं सभी विषयोंपर विचार किया जाय और विवेकद्वारा इनसे होनेवाले सुख-दुःखादिके प्रति उपेक्षा हो जाय, तभी यह जीव कृतार्थ हो। यही जन्मका रहस्य है और इसमें दोष देखना है।

मृत्यु—मृत्युका अर्थ है पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग। मृत्यु भयका कारण है। मृत्युसे सभी डरते हैं। यह जीव कर्मानुसार जिस शरीरको धारण करता है, उसमें स्थित मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियोंके सङ्गसे इतना आसक्त हो जाता है कि इस शरीरको छोड़कर जाते समय इसे बहुत कष्ट होता है। ममत्वके कारण वह इन्हें अपना स्वरूप ही मान लेता है। प्रत्येक इन्द्रियके अधिष्ठाता देवता हैं, जिनकी विषयभोगोंके प्रति विशेष आसक्ति है। शरीर तथा मन-इन्द्रियोंद्वारा वे विषय-सेवन करते हैं। इसलिये जब जीव इस शरीरको छोड़कर जाने लगता है, तब इन्हें अत्यन्त कष्ट होता है और साधकको विषयमें प्रवेश करनेके लिये बलात् कपाट खोल देते हैं। फिर दीर्घकालपर्यन्त भोग भोगकर पुनः कर्मरूपी बीजके साथ वे भी पुनः दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं, जिस प्रकार भ्रमर एक पुष्पसे दूसरे पुष्पमें परागार्थ प्रवेश करता है। भगवान् इसलिये भक्तको उपदेश देते हैं कि वह मृत्युमें भी दोष देखे; क्योंकि जन्मके बाद ही मृत्यु होती है तथा मृत्यूपरान्त जन्म—दोनोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

जरा—जरा वृद्धावस्थाको कहते हैं। शरीरके छः विकार हैं—उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति, ह्रास, क्षय और नाश। इन्हींमें पाँचवीं जरावस्था है। जिस प्रकार वृक्षमें कोई फल लगता है, उसकी वृद्धि होती है, वह परिपक्व होता है और पुनः शाखासे विच्छिन्न हो जाता है। वही हालत शरीरकी भी है। जरावस्था पाँचवीं परिपक्वावस्था है। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है—यहाँतक कि शारीरिक क्रियाका निर्वाह भी अपने-आप नहीं होता। विषय भी पूर्णरूपेण भुक्त नहीं होते। यही नहीं, स्त्री-पुत्र भी अन्तमें उनका साथ छोड़ देते हैं। इसलिये वृद्धावस्थामें दुःख और दोष देखनेके लिये भगवान्ने संकेत किया है।

व्याधि—शरीरमें अनेक प्रकारके ताप उत्पन्न होते हैं। यों तो त्रिविध ताप प्रसिद्ध हैं, पर उनकी शाखा-प्रशाखा अनेक हैं। ये ही समय पाकर विभिन्न रोगोंका रूप धारणकर रोगीको शरीर-मनादिका आश्रय लेकर दुःख पहुँचाते हैं। कायिक, मानसिक आदि दुःखोंसे जीव पीड़ित हो जाता है। उसका भी कारण पूर्वजन्म-कृत अनिष्ट कर्म ही हैं। इसलिये भगवान्ने इन व्याधियोंके प्रति दोष देखनेका निर्देश किया है।

दुःख—**'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, अनुकूलवेदनीयं सुखम्।'** सुख-दुःखके सम्बन्धमें पूर्व आचार्योंका सिद्धान्त यह है कि सुख, दुःख दोनों वेदनाके स्वरूप हैं। जो वेदना प्रतिकूल होती है उसे दुःख और जो अनुकूल होती है उसे सुख कहते हैं। इसका मुख्य कारण है रागद्वेष। रागद्वेषसे ही इनकी उत्पत्ति होती है। राग ही आसक्ति है। आसक्ति होती है ममत्वके कारण। ममत्वका कारण मोह है। मोह कहते हैं अज्ञानको। अज्ञानके कारण ही जीव मायाके वशीभूत होता है और किसी शरीरविशेष, वस्तुविशेष या कार्यविशेषमें सम्मोह आनेके कारण जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ता है तथा विभिन्न योनियोंमें भ्रमणकर कर्मानुसार सुख-दुःख आदिका भोग करता है। उसीका चिन्तन करते-करते वह दुःखस्वरूप हो जाता है। इसलिये उसके प्रति भी दोष देखनेका संकेत है। इस प्रकार जन्मादिमें दुःखरूप दोषको बार-बार देखनेसे शरीर, इन्द्रिय और विषय-भोगोंसे वैराग्य हो जाता है। उससे मन-इन्द्रियादि कारणोंका साक्षात्कार करनेके लिये अन्तरात्मामें प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार ज्ञानका कारण होनेसे जन्मादिमें दुःखदोषकी बार-बार आलोचना करना ज्ञान है।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः—आसक्तिके निमित्तभूत विषयोंमें प्रीतिमात्रका नाम सक्ति है, उसका अभाव यानी उससे विरति ही असक्ति है। मोहपूर्वक अनन्य आत्मभावना-रूप जो विशेष असक्ति है, उसको आसक्ति कहते हैं। जैसे

किसी वस्तु या व्यक्तिविशेषके प्रति आसक्त होकर उसके सुखसे सुखी और दुःखसे दुखी होना अथवा किसीकी मृत्युपर अपना प्राणत्याग करना, रोना, तड़पना इसका आश्रय है।

पुत्रदारगृहादिषु—त्रिविध एषणा ही जन्म-मृत्यु तथा बन्धनका कारण है । पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा—इन त्रिविध एषणाओंके कारण ही जीवको शूकर-कूकर पतंगादि योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है । इनसे वे ही महापुरुष, जिनके ऊपर अकारण करुणावरुणालयकी विशेष अनुकम्पा होती है, बचते हैं । पुत्रैषणाके कारण ही महान्-महान् पुरुष जैसे राजा दशरथ, वसुदेव, हरिश्चन्द्रको बहुत कष्ट उठाना पड़ा । वित्तैषणामें भी अनेक प्रकारसे भयभीत रहना पड़ता है । लोकैषणासे तो कोटि विरक्तोंमें कोई एक बचा है, यद्यपि महात्माओंके लिये लोकैषणा शूकरी विष्ठाके तुल्य है ।'गृहादिषु'का अर्थ है—मकान, जमीन आदि तथा गृहमें रहनेवाले दास, पशु-पक्षी आदिमें भी आसक्ति; अतः इनके प्रति भी उदासीन रहे ।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु—प्रियाप्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिमें, सफलता और असफलतामें भी चित्तका सम रहना । प्रियकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं, अप्रियकी प्राप्तिमें विषाद नहीं । इस प्रकार जो चित्तकी नित्य समता है, वही यथार्थ ज्ञान है ।

> **मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।**
> **विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥**

मयि चानन्ययोगेन—मुझ ईश्वरसे परे अन्य कोई भी नहीं है, अतः ईश्वर ही हमारे परम गति हैं—इस प्रकार जो अविचल निश्चित बुद्धि है, वही अनन्य योग है । रामचरितमानसमें पूज्यपाद गोस्वामीजीने रामके शब्दोंमें हनूमान्के प्रति संकेत किया है—

> सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
> मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

भक्तिरव्यभिचारिणी—उस अनन्यतासे युक्त होकर भजन करना ही कभी न विचलित होनेवाली अव्यभिचारिणी भक्ति है । जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिके सिवा किसी अन्य पुरुषसे किसी प्रकारकी कामना नहीं रखती, उसका चिन्तन नहीं करती, उसी प्रकार संसारके ही नहीं, इन्द्रलोक तथा ब्रह्मलोकके भोगोंको तुच्छ–निस्सार समझकर, उनकी उपेक्षा करके भगवान् वासुदेवके चरणोंमें अविच्छिन्न तैल-धारावत् सतत अनुरक्ति रहनेकी वृत्तिको ही अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं। इसको प्राप्त करके ही जीव उस स्थितिको प्राप्त करता है; जिसके प्रति भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

> **अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।**
> **यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥**

विविक्तदेशसेवित्वम्—एकान्त पवित्र देश-सेवनका स्वभाव । जो देश स्वभावसे पवित्र हो या झाड़ने-बुहारने आदि संस्कारोंसे शुद्ध हो तथा जहाँ सर्प-व्याघ्रादि किसी प्रकारके हिंसक जन्तुओंसे भय नहीं हो, ऐसे वन, नदी-तीर या देवालयादि एकान्त पवित्र देशमें निवास करनेका जिनका सहज स्वभाव है, वे ही विविक्त-देश-सेवी हैं। उस निर्जन पवित्र देशमें रहनेसे लाभ क्या है ? इसपर भगवान् कहते हैं कि निर्जन पवित्र देशमें निवास करनेसे ही चित्त पवित्र और स्वच्छ होता है। इसलिये विविक्त देशमें आत्मादिकी भावना प्रकट होती है। वहाँ लौकिक पुत्र, गृह, कलत्र, धनादि बाधा नहीं पहुँचाते। इसलिये उपासनामें वृत्ति सतत जाग्रत् रहती है ।

अरतिर्जनसंसदि—जनसमुदायसे अप्रीति। इससे यह संकेत है कि जो शिष्टाचार-विनयभावरहित संस्कार-शून्य विषयासक्त प्राकृत पुरुष हैं, उनके समुदायको ही जनसंसद् कहते हैं । यदि संस्कारसम्पन्न संत-साधुसेवी तथा भगवद्भक्त व्यक्तियोंके प्रति संकेत होता तो शास्त्रसे विरुद्ध होता; क्योंकि संतों तथा महापुरुषोंके सङ्गके सम्बन्धमें हर जगह निर्दिष्ट है कि उनका सङ्ग अवश्य करो अतः यहाँ विनययुक्त संस्कार-सम्पन्न मनुष्योंका संकेत नहीं है; क्योंकि वह तो ज्ञानका सहायक होता है। प्राकृत जनसमुदायमें प्रीतिका अभाव ज्ञानका साधन होनेके कारण अनुकूल है, इसलिये उसका सेवन ही साधकका कर्तव्य है—

> **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।**
> **एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥**

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्—आत्मादिविषयक ज्ञानका ही नाम अध्यात्मज्ञान है । उसमें नित्य स्थिति यानी ब्रह्म, जीव, प्रकृति—इनका स्वरूप क्या है ? इनका परस्पर सम्बन्ध क्या है?

शरीर तथा मन-इन्द्रियादिके प्रति इनका सम्बन्ध क्या है ?—इसके वास्तविक ज्ञानको ही अध्यात्मज्ञान कहते हैं। उसमें निरन्तर स्थित रहनेके ही अभ्यासको नित्य स्थिति कहते हैं।

तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्—तत्त्वज्ञानके अर्थकी आलोचना। अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंकी परिपक्व भावनासे उत्पन्न होनेवाला जो तत्त्वज्ञान है, उसका रहस्य जो संसारकी उपरति-रूप मोक्ष है, उसकी आलोचना अर्थात् सत्यासत्य गुण-दोषका निर्णय; क्योंकि उसकी आलोचना करनेसे ही उसके साधनोंमें प्रवृत्ति होती है। अमानित्वसे लेकर तत्त्वज्ञानके अर्थकी आलोचना-पर्यन्त कहा हुआ समस्त साधन-समुदाय ज्ञानका साधन होनेके कारण ज्ञान-नामसे कथित है। उपर्युक्त ज्ञान-साधनोंके समुदायसे विपरीत जो मानित्व, दम्भित्व, हिंसा, क्षमाका अभाव, कुटिलता इत्यादि अवगुण-समुदाय हैं; वे संसारमें प्रवृत्त करनेके हेतु हैं। उन्हें भी अज्ञान कहते हैं। अतः उनका परित्याग उपदिष्ट है। अज्ञानसे ही जीव बन्धन-युक्त होता है (**अज्ञानाद्बद्ध्यते जन्तुः**), इसलिये अज्ञान सर्वथा त्याज्य एवं ज्ञान उपास्य है। श्रुति भगवती कहती है—

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

दवाओंसे बचिये

(लेखक—श्रीधर्मचन्दजी सरावगी)

अभी कुछ दिनों पहले मैंने अखबारोंमें एक समाचार पढ़ा था। उसमें लिखा था कि एक लड़केको चिकित्सकोंने पेनिसिलीनके इन्जेक्शन दिये। उन इन्जेक्शनोंका उसके स्वास्थ्यपर बहुत बुरा असर पड़ा और लड़केकी बीमारी बढ़ती गयी। उसे दूर करनेके लिये अमेरिकासे एक दूसरी दवा मँगाकर दी गयी। उस दवाका नाम था—न्यूट्रैपेम। (Newtrapem)

इस समाचारके पढ़नेके बाद इस तरहकी और अनेक घटनाएँ मुझे याद हो आयीं, जिनको या तो मैंने पढ़ा था या किसी भुक्तभोगी अथवा उसके रिश्तेदारों या मित्रोंके मुँहसे सुना था कि अमुक दवा देनेसे प्रतिक्रिया हो गयी और लाभके बजाय रोगीकी हालत और भी बिगड़ गयी अथवा दवा लेनेके बाद एक रोग दब गया और दूसरा रोग उभड़ आया।

इस तरहकी बातें अक्सर हम देखते-सुनते हैं और इसके बावजूद भी हम दवाओं, इन्जेक्शनों और इसी तरहकी अन्यान्य चीजोंको, जिन्हें स्वास्थ्यलाभके नामपर चिकित्सक लोग देते हैं, हम अपने शरीरमें डालते रहते हैं। इसके बारेमें हमलोगोंके सोचनेका तरीका ही गलत हो गया है। यदि कोई कहता है कि अमुक पुल खतरनाक हो गया है, तो सरकार भी उस पुलपर आवागमनका चलना रोक देती है और जनता भी उसपर नहीं जाना चाहती, किंतु दवाओंके बारेमें हम इतने अन्धविश्वासी हैं कि उनके हानिकारक प्रभावको अपनी आँखोंसे देखते रहते हैं और फिर भी उन्हें लेते रहते हैं तथा उसका फल भोगते हैं, तथापि दवाओंके प्रति हमारा मोह नहीं छूटता। इसका कारण यह है कि एक तो हम अपनी गलत आदतोंके सुधारे बिना स्वास्थ्य प्राप्त करनेकी सोचते हैं। दूसरे, अपने लाभके लिये लोग दवाओंके बारेमें आकर्षक विज्ञापन निकालते रहते हैं।

बहुत-से लोगोंका ख्याल है कि पेनिसिलीन निर्दोष दवा है यानी वह यदि कहीं फायदा नहीं करती तो नुकसान भी नहीं करती। किंतु यह धारणा बिल्कुल गलत है। पेनिसिलीन कीटाणुओंको मारनेवाली दवा है, उससे रोगके कीटाणु नष्ट होते हैं। जब यह कीटाणु नष्ट करती है तो शरीरमें जानेपर शरीरके लिये लाभजनक आवश्यक कीटाणुओंको भी नष्ट करती है। शरीरमें दवाके नामपर किसी भी तरहके विषका प्रवेश कराना, चाहे वह खानेकी दवाके रूपमें हो या इन्जेक्शनके रूपमें या अन्य किसी रूपमें हो, कभी बुद्धिमानी नहीं है। विषको मारनेके लिये विषका शरीरमें प्रवेश कराना आवश्यक है—इस प्रकार सोचना तो वैसा ही हुआ जैसे आगसे लड़नेके लिये कोई हाथमें आग लेकर लड़े। एक विष शरीरमें है और उसका असर नष्ट करनेके लिये दवाके नामपर जो दूसरा विष प्रवेश कराया जाता है, वह सम्भवतः पहले विषके प्रभावको दबा देता है या कम कर देता है,

फिर भी अपना प्रभाव तो डालता ही है । कभी वह प्रभाव ऐसा होता है जो तुरंत देखनेमें आ जाता है और कभी देखनेमें नहीं आता । अक्सर ही बच्चोंके शरीरमें जब दवाइयाँ ठूँस दी जाती हैं, तब जिन रोगोंको रोकनेके लिये वे दवाएँ शरीरमें डाली जाती हैं, वे रोग कुछ दिनोंके लिये दब जाते हैं, किंतु उनकी जगह कोई दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है । अक्सर एनिमिया यानी खूनकी कमीकी बीमारी पैदा हो जाती है । इसका कारण यह है कि शरीरमें लगातार दवाओंके रूपमें विषके भरे जानेसे शरीरकी प्राकृतिक क्रियामें बाधा पड़ती है, पाचनशक्ति नष्ट हो जाती है, खाये हुए भोजनका ठीकसे खून नहीं बन पाता और शरीरमें खूनकी कमी हो जाती है ।

इस विषयमें अमेरिकाके एक प्रसिद्ध चिकित्सक हैरोल्ड थामस हीमैनको एक ऐसे रोगीने लिखा था, जिसका दस सप्ताहतक दवाओंसे एक अस्पतालमें इलाज किया गया और इस बीच उसकी सुननेकी शक्ति एकदम नष्ट हो गयी थी और वह बहरा हो गया था ।

इस सम्बन्धमें यह उल्लेखनीय है कि स्ट्रैप्टोमाइसिन या इस तरहकी जितनी भी दवाएँ हैं, वे श्रवण-इन्द्रियोंके कोमल तन्तुओंको नष्ट कर देती हैं, जिनका नव-निर्माण होना प्रायः असम्भव है ।

मुख्य बात यह है कि दवाओंका प्रयोग करना ही गलत है । शरीरमें किसी तरहके अस्वास्थ्यके आनेपर हमें आँख मूँदकर दवाओं और इन्जेक्शनोंकी ओर नहीं दौड़ना चाहिये । बल्कि इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि जितने भी विकार शरीरमें प्रकट होते हैं, वे वास्तवमें रोग नहीं हैं, बल्कि शरीर उन विकारोंके माध्यमसे अपनेको स्वस्थ करना चाहता है । शरीरमें वे खराबियाँ हमारे गलत खान-पान, गलत रहन-सहन और हमारी गलत आदतोंके कारण पैदा होती हैं, अतः उन्हें दूर करनेके लिये हमें अपना खान-पान सही—प्राकृतिक करना होगा । गलत रहन-सहनका तरीका बदलना होगा और अपनी आदतोंमें सुधार करना होगा । यह नहीं कि तुरंत लाभ पानेके लोभसे शरीरमें और भी खराबी पैदा कर लें और फिर असमय मौतके मुँहमें चले जायँ या जीयें तो मरेके बराबर होकर ।

प्रायः यह भी देखने-सुननेमें आता है कि कोई रोगी जब चिकित्सकके पास जाता है तो चिकित्सक उसे तरह-तरहकी दवाएँ देता है, तरह-तरहके इन्जेक्शन देता है। किंतु उसका रोग दूर नहीं होता । रोग दूर हो भी कैसे सकता है—प्रकृति जिस रास्तेपर चलकर किसीके स्वास्थ्यको सुधारती है, जब उसीमें दवाएँ और इन्जेक्शन शरीरमें जाकर बाधा उत्पन्न कर देते हैं, तब शरीर किस तरह स्वस्थ होगा । इस प्रकार रोगीके काफी रुपये फीस, इन्जेक्शनों तथा दवाओंके नामपर खर्च हो जाते हैं और चिकित्सक एक दिन उस रोगीके रोगको असाध्य घोषित कर देता है । तब वह रोगी निराश होकर दवाओंको बंद कर देता है । वैसी स्थितिमें प्रायः प्रकृति अपना काम करके उस रोगीको स्वस्थ कर देती है । यह क्या इस बातका प्रमाण नहीं है कि रोगीका रोग अच्छा करनेके लिये दवाओं-इन्जेक्शनोंकी जरूरत नहीं है, बल्कि प्रकृतिके रास्तोंपर लौटनेकी जरूरत है । इस सम्बन्धमें एक घटनाको हमारे समाजके प्रायः सभी लोग जानते होंगे ।

एक प्रतिष्ठित व्यक्तिका उदाहरण है, चिकित्सकोंके द्वारा दवाके नाम उनके काफी रुपये खर्च हो गये। उन्हें तरह-तरहकी दवाएँ दी गयीं और अन्तमें उनके रोगको असाध्य घोषित करके दवा बंद कर दी गयी और कह दिया गया कि अब ये कुछ ही दिनोंके मेहमान हैं। वे सज्जन काशी चले गये। उन्होंने सब तरहकी दवाएँ छोड़कर अपने जीवनको प्राकृतिक कर लिया । अन्नका एकदम परित्याग करके वे दूध-फलपर रहने लगे । गङ्गा-स्नान शुरू कर दिया और कुछ ही दिनोंमें वे एकदम स्वस्थ हो गये और फिर लंबी उम्रतक जीवित रहे ।

ये सब बातें यह सिद्ध करती हैं कि हमें दवाओंकी ओर न दौड़कर प्रकृतिकी ओर चलना चाहिये। हमारे स्वस्थ रहने और अपनी गलतीके कारण अस्वस्थ हो जानेपर पुनः स्वास्थ्य-लाभ करनेका यही सही रास्ता है ।

* * *

सुशासनका साक्षात्कार

(लेखक--पण्डित श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी (डाँगीजी))

[प्रेषक--श्रीसत्यपालजी शर्मा 'सत्य']

श्रीभगवान्‌का शासन स्वभावसे शाश्वत होनेपर भी विभव या वैभवदृष्टिसे सतत 'चलता'-'जा'-'रहा' है। 'चलता' यानी उसमें उत्पादन भी है, जिसका वाचक ब्रह्मा है। 'जा' यानी उसमें व्यय भी है, जिसका वाचक रुद्र है । 'रहा' है यानी उसमें ध्रौव्य भी है, जिसका वाचक विष्णु है । सम्पूर्ण लोकोंके सभी द्रव्योंकी सभी अवस्थाओंपर यानी सभी व्यक्तियोंकी सभी शक्तियोंकी सभी अभिव्यक्तियोंपर उल्लिखित नियमका अटल शासन है।

इस नियमके नाथ होनेसे ही नेमनाथ शासन-नायक कहलाते हैं। जो राजमति है, वह नित्य इनकी सङ्गिनी होती है। दरिद्रमति ही नेमनाथके शासनके अज्ञानसे विषयोंमें भटकती है—कभी उधर और कभी इधर; यानी निवृत्तिमें हैवान और प्रवृत्तिमें शैतान बनकर घड़ीकी लटकनकी तरह लटकती रहती है; या कभी साधनके अहंकारमें अटक जाती है। जबतक यह राग या ममत्व खटकता नहीं, तबतक नेमनाथके शासनका आराधक नहीं कहा जा सकता ।

योगेश्वर श्रीकृष्णको यह राग खटकता है, इसलिये स्वयं क्षत्रिय होते हुए भी वे पहले गोपालन और कृषिकर्ममें लगे। अपने बड़े भाईको तो हलधर ही बना दिया । उत्तम अर्थ-व्यवस्थाका आदर्श गोकुल और कृषि है । जितना-जितना गोवर्धनका आन्दोलन उठाया जायगा, उतना-उतना ही देश स्वयं पूर्ण रहेगा। 'जितना गोबर उतना धन' यह भारतका आर्थिक जीवन था । बच्चियाँ कन्या बनते समय अपने प्रार्थना-गीत यों गाती थीं—**'कड़ियाँ जित्तो गोबर दीज्यो'** अर्थात् कटिपर्यन्त गोबरमें रहना पड़े ऐसा घर मुझे देना । जब धन-की गिनती होती, तब गोधन-संख्या देखकर ही उसे श्रीमान् माना जाता था । आज भी इसका प्रतीक श्रीनाथद्वारा है। सैकड़ों, हजारों रुपयोंका प्रतिदिन शुद्ध गोरस-सना अन्न केवल वहीं पकता है । पुराणोंके अनुसार लक्ष्मीका गोबरमें ही निवास माना गया है । नोटोंके बंडल और बैंक-बैलेंसको लक्ष्मी मानना वेश्याको माता माननेके समान है । हमारे देश-की सर्वतोमुखी संस्कृतिका साक्षात्कार जिनको हुआ था, वे दो पुरुष धन्य हैं; एक हैं श्रीवल्लभाचार्य और दूसरे हैं श्री-तुलसीदास । वे दोनों ही गोस्वामी हैं। गोरक्षणके कारण ही हरिश्चन्द्र और रामका वंश गोमाता नन्दिनीके आशीर्वादसे प्राप्त 'रघु'के नामसे विख्यात हुआ। 'रघुपति राघव राजाराम' ही हमारे देशकी सर्वतोमुखी रक्षा करनेमें समर्थ हैं । इनको सम्पूर्ण विश्वकी लक्ष्मी जो सीता प्राप्त हुई थीं, वे भी विदेह क्षत्रियके कृषिकर्मद्वारा ही प्राप्त थीं। इसी कारण वे नारियोंकी आदर्शभूता सिद्ध हुईं । जिस भूमिकामेंसे उनका अवतार हुआ था, वह भूमिका पवित्र बैलोंके पवित्र गोमल-मूत्रोंसे ही सिञ्चित थी। हमारी मातृभूमि ट्रैक्टर्स नहीं माँगती; गोमूत्र माँगती है। जो ट्रैक्टरोंसे खेती करके अन्नोत्पादन चाहते हैं, वे मातृस्तनोंके दुग्ध नहीं, रक्तपानके इच्छुक हैं । वर्धमान-भगवान्‌के श्रावकोंके घरमें सैकड़ों-हजारों गोकुलोंका उल्लेख मिलता है। हमारे बापूने भी विदेशी बहन मिस स्लेडको मीराँबाई बनाकर गोवर्धनधारी गोपालका प्रिय कार्य सौंपा और वैश्य-ऋषि जमनालाल बजाजको काँग्रेसका अध्यक्ष न बना गो-सेवा और कृषि सौंपी। हमारे ब्रह्मर्षि लोकमान्य थे, क्षत्रिय ऋषि नेताजी थे, उसी प्रकार वैश्यऋषि जमनालाल बजाज थे; इसीलिये बापूने उनको भारतीय संस्कृतिके अनुरूप ही कार्य सौंपा । तात्पर्य यह है कि हमें देवकीके नन्दन गोपालका आदर्श मानकर गोवर्धनकी ही पूजा करनी चाहिये, अमरेन्द्र—अमेरिकाकी नहीं।

'देवकीके पुत्र' लिखनेका तात्पर्य यह है कि आज हमारी मनोवृत्ति 'देव'की नहीं, अपितु राक्षसी हो गयी है । राक्षसी यानी अपना मानकर रक्षण करनेवाली—संग्रह करने-वाली; देवकी यानी देनेवाली। जो ब्राह्मण होनेपर भी—वेद-वेदाङ्गमें पारंगत होनेपर भी रखनेकी वृत्ति रखता है—या सोनेकी लङ्का बना लेता है, उसे राक्षस ही कहा गया है। यह लक्ष्मी माताका दूध पीनेकी वृत्ति नहीं, उसे छीनकर धोखेसे अपने अधिकारमें करनेकी बीभत्स मनोवृत्ति है। हमारे यहाँ लक्ष्मीपति तो केवल भगवान् हैं; भगवान् श्रीकृष्ण इसीलिये 'श्रीनाथ' कहलाते हैं। जो लक्ष्मीपुत्र नहीं बनकर लक्ष्मीपति या पूँजीपति बनना चाहते हैं, वे माँके स्वामी बननेका घोर अनाचार सेवन करते हैं। ऐसे अनाचारी असुर

कैसे सुखी हो सकते हैं ! वे स्वयं दुखी होते हैं और विश्वमें दुःखका विस्तार ही करते हैं ।

जिस प्रकार अर्थ-व्यवस्थाके आदर्श गोपाल नन्दनन्दन हैं, उसी प्रकार धर्मव्यवस्थाके आदर्श उनके बड़े भाई देवकीके छः पुत्र हैं, जिनके लिये प्रख्यात है कि मामाने उन्हें मार दिया । परंतु शासननायक नेमनाथने यह रहस्योद्घाटन किया कि ये पुत्र सुलसागाथा पत्नीके यहाँ बड़े हुए हैं और उनके शासनमें महाव्रतका पालन कर रहे हैं । देवकी यह जानकर कितनी आनन्दित हुई होगी, उसका अनुमान लगाना भी हमारे लिये दुष्कर है । पाँच ज्ञानेन्द्रियों-का बल और छठा मन—इन्हें मारनेकी क्या आवश्यकता है ? इनको अप्रमत्तवृत्तिके घर बड़ा करके नियमोंके संरक्षणमें सौंप देना चाहिये; बस, धर्मका इतना ही तात्पर्य है । सारांश यह है कि आर्थिक सुखके लिये गोपालका आदर्श है और आन्तरिक सुखके लिये मन और इन्द्रियोंकी विजय ही अनुकरणीय है । आर्थिक सुखका फल उत्तम 'काम'-सेवन है और आन्तरिक सुखका फल मोक्षरूप ब्रह्मरसपान है । वसुदेव कामके आदर्श हैं और गजसुकुमार मोक्षके आदर्श हैं । आगमोंमें उल्लेख है कि वसुदेवकी रानियाँ देवकीके अनुशासनमें चक्रवर्तीसे भी अधिक यानी बहत्तर हजार थीं और सबमें सगी बहनोंसे भी अधिक प्रेम था । भगवान् श्रीकृष्ण जब देवकीमाताके दर्शन करने जाते थे तब प्रति छः महीने बाद उनकी फिर बारी आती थी । अभिप्राय यह है कि अपनी चार सौ माताओंके वे नित्य दर्शन करते थे और फिर उसी माताके पास छः महीने बाद पहुँचते थे । आज वे देवकीमाताके चरणोंमें नमस्कार करके बोले—'माता ! आज उदास क्यों दीखती हैं ?' माताने कहा ''बेटा ! आज तेरे बड़े भाई साधुवेशमें यहाँ तीन बार भिक्षाके लिये आये । वे दो-दो मिलकर आये थे । सब एक-सरीखे होनेसे मुझे शङ्का हुई, भगवान् नेमनाथके साधु और ऐसे रसलोलुप ! क्या द्वारकामें अन्यत्र गृहस्थाश्रमकी उदारता लुप्त है ? पर जब मैं धर्मरथ सजाकर उद्यानमें वीतराग प्रभुके दर्शनके लिये गयी, श्रीनेमनाथने मेरा समाधान किया—'देवकी, ये छहों पुत्र तो तुम्हारे ही हैं। जिन्हें तुम अनभिज्ञतावश मृत समझ रही थीं, वे हिरण्यगवेषक दिव्य व्यक्तिके द्वारा सुलसागाथा पत्नीके घर पहुँचा दिये गये थे। वे ही बड़े होकर वैराग्यके द्वारा गृहस्थाश्रम त्यागकर महाव्रतोंके पालक बने ।' बेटा ! यह सुनकर मैं तो भौंचक्की हो गयी और छहों पुत्रोंके पास जाकर उनके तपःसंयमसे पवित्र अङ्गोंका दर्शन करने लगी । उस समय मेरे स्तनोंसे दूधकी धार बह चली । उद्यानसे लौटकर मैं आज प्रसन्न होनेके स्थानपर उदासीन हो गयी हूँ कि मैंने सात-सात पुत्र उत्पन्न किये और एकको भी दूध नहीं पिला सकी । मैं चाहती हूँ एक ऐसा पुत्र, जो मेरे हाथों पले—मेरा दूध पीये ।''

भगवान् श्रीकृष्ण माताकी उक्त बात सुनकर अपनी विशिष्ट शक्तिके बलपर छोटे बालक बनकर मचलने लगे और दूध-मिश्री माँगने लगे । दूधमें मिश्री अधिक पड़ गयी उसे वापिस निकालनेके लिये हठ करते हुए रोने लगे । माताने दूध और डाल दिया तो चिल्लाने लगे—फीका हो गया। माताने कहा—'कृष्ण ! यह तेरी कृत्रिम लीला है, स्वाभाविक सरल मचल नहीं ।' भगवान् श्रीकृष्ण तत्काल अपने निज स्वरूपमें प्रकट हुए और मातासे प्रार्थना की कि आप निश्चिन्त रहें । वासुदेवके सामर्थ्यसे उसकी माँ अपनी सभी अभिलाषाओंको सम्पन्न कर सकती हैं । वसुदेवका पुत्र अपने छोटे भाईकी माँग आराधिका शक्तिके बलपर अवश्य ही पूरी करेगा । तीन दिनतक उपवासके साथ सकाम पौषधव्रतकी आराधना करनेसे एक परम मृदुल गजके तलुवेके समान कोमल अत्यन्त सुकुमार बालकका जन्म हुआ, जिसका नाम गजसुकुमार था । देवकी माताकी चिर-सिञ्चित मनीषा सफल हुई और दैवी सम्पत्तिके अत्यन्त सुकुमार कर-कमलोंमें इस कृष्णानुजका जन्म हुआ ।

युवावस्था आनेपर योगेश्वर श्रीकृष्णने अपने छोटे भाईके लिये सौ कन्याओंका चुनाव करनेका संकल्प किया और निन्यानबे कन्याएँ तो अन्तःपुरमें पहुँचा दी गयी थीं। इसी प्रसङ्गपर तीर्थस्वामी नेमनाथका पदार्पण हुआ । स्वागतके लिये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं समारोहके साथ पधारे । मार्गमें एक बालिका खेल रही थी । श्रीकृष्ण अपने धर्मरथसे उतरे और उस बालिकासे अपनी बड़ी बहनको बुला लानेको कहा । तुरंत ही वह बालिका अपने घर पहुँच गयी और अपने पितासहित बड़ी बहनको साथ लेकर आयी । भगवान् श्रीकृष्णके अपने भाईके लिये उपस्थित उस कुमारीकी माँग की और आज्ञानुसार उसे अन्तःपुरमें पहुँचा दिया । इस प्रकार सौकी संख्या पूरी हो गयी । अब इस गृहस्थाश्रमके पवित्र कर्त्तव्यको पूरा करके भगवान् श्रीकृष्ण नेमनाथ स्वामीके

शासनमें पहुँचे और परम शान्तिका उपदेश ग्रहण किया। पार्षदोंके साथ श्रीकृष्ण लौट चले।

परंतु विचारणीय है कि एक छोटा भाई गजसुकुमार वीतरागके चरणोंमें हाथ जोड़े खड़ा है—'प्रभो! मेरे मन-मतंगको मायाग्राहने ग्रस्त कर लिया है, अब तो अधरोंमें आह अटक रही है। भैया मुझे एक-एक नहीं, सौ-सौ मायाओंके बन्धनमें बाँध देना चाहते हैं; अतः मुझे इस संसाररूपी दल-दलसे उबार लीजिये। मेरा हृदय तो आपकी वैराग्य और त्यागमयी वाणीसे ओतप्रोत हो गया है। अब मेरे मुण्डको पकड़कर आप खींच लें। गजकी सूँड उघाड़ी थी, उसी प्रकार मेरा मूँड उघाड़ा है। मुझे विश्वास हो गया है कि जैसा उद्धार वहाँ हुआ, वैसा यहाँ भी होगा' नेमनाथके वचनामृत झरने लगे—दैवी सम्पत्ति देवकीके कर-कमलोंमें पला हुआ गजसुकुमार ही ऐसी बात कर सकता है। उन्होंने कहा—'जाओ भैया! तुम अपनी माताकी अनुमति ले आओ! तुम शीघ्र ही सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे!' श्रीगजसुकुमार दौड़ते हुए माताके चरणोंमें उपस्थित हुए और उन्हें अपनी सहज सरल माँग पेश की—'माँ! मैंने नेमनाथ प्रभुके दर्शन किये। नियमोंके संरक्षणकी इच्छा जाग्रत् हुई।' माँने कहा—'मैं धन्य हूँ। याद रख विश्व-कुटुम्बी बन रहा है; इसलिये फिर जन्म-मरण करके किसी अन्य माताको मत रुलाना।'

भाई श्रीकृष्णने कहा-'भैया! एक दिन तो राज्य कर लो।' माँकी इच्छा पूरी करनेवाला व्यक्ति क्या अपने बड़े भाईकी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता? अवश्य ही करेगा। भाई श्रीकृष्णने अपने वैरागी बन्धुको बाध्य कर दिया कि वह एक दिनको तो राज्य करे। भाई श्रीकृष्णके अनुरोधसे गजसुकुमारका राज्याभिषेक हुआ। श्रीकृष्णने राज्यमन्त्रीके तौरपर आज्ञा माँगी—'राजन्! मेरे लिये आदेश कीजिये।' राजा गजसुकुमारका आदेश हुआ—'सचिववर्य्य! आपको राज्यकी आज्ञा है कि अपने स्वामीके संन्यासकी तैयारी करें और अपने किसी योग्य सुपुत्रको ही यह पद अर्पित करें।' एक दिन अत्यन्त समारोहके साथ गजसुकुमारकी दीक्षा सम्पन्न हुई। उसी दिन हाथ जोड़कर अपने परम-गुरुदेवके समक्ष खड़े हो गये और नम्रतापूर्वक पूछने लगे कि 'मुझे आप ऐसा सीधा रास्ता बताइये, जिसपर चलकर मैं आज-का-आज कृतकृत्य हो जाऊँ।'

श्रीनेमनाथ स्वामीने गजसुकुमारकी आध्यात्मिक सामर्थ्यको तुरंत पहचान लिया और कहा—'श्मशानमें जाओ एवं एकान्तमें केवल अपनी आत्माका ज्ञान प्राप्त करो और उसीमें लीन हो जाओ!'

श्रीगजसुकुमार ये वचन सुनकर बैठा नहीं, उठा तो था ही, चल पड़ा। एकान्त श्मशानमें पहुँचकर स्वस्थ ध्यानस्थ हो गया। भावी-प्राबल्यसे उसका आसन्न श्वशुर उधरसे निकल पड़ा। अपने भावी जामाताकी यह स्थिति देखकर चकित हो गया। मनमें द्वेष जाग्रत् हुआ—मेरी कन्याको जीवित वैधव्यकी अग्निमें झोंकनेवाले इस दुष्ट व्यक्तिको जीवित रहनेका क्या अधिकार है? अपने जामाताके खुले लुञ्चित केशवाले खल्वाटपर मिट्टीकी पाल बाँधी और जलते हुए अङ्गारे उसकी शान्त खोपड़ीपर डालकर तत्क्षण श्रीकृष्णके भयसे भागा। वहाँसे सीधा न भाग वह वीथिकाओंमेंसे होकर जाने लगा।

इधर श्रीगजसुकुमार अंगारोंको हिलानेसे पृथ्वीपर पड़े हुए जीवोंकी हिंसा होगी, इस करुणा-भावसे जडवत् खड़े रहे और शरीरका मोह छोड़कर ब्रह्मस्वरूप हो गये। समरस सागरमें निमग्न हो गये। उधर श्रीकृष्ण अपने संन्यस्त भ्राताके वन्दनके लिये गये। नेमनाथ स्वामीने कहा—'भैया! भाई गजसुकुमार तो जिस कार्यके हेतु आया था, उसे सम्पन्न कर चुका है। त्रिकालदर्शी नेमनाथने सारी घटनाएँ सुनायीं। यह सुनकर श्रीकृष्ण कारुण्य-रससे आतुर हो गये। विचार किया कि भाई तो गया; अब यह बेचारा मेरे डरके मारे कहीं स्वयं ही न मर जाय, इस पुण्यभावसे राज-मार्गसे न जाकर वीथियोंसे होकर निकलने लगे।

उनका समधी भी उक्त दुष्कृत्य करके इसी मार्गसे आ रहा था। नियतिकी प्रबलतासे दोनोंकी अप्रत्याशित भेंट हो गयी। श्रीकृष्ण उसे अहिंसाका आश्वासन देना चाहते थे, पर भयके मारे उस बेचारेकी हृदयगति ही रुक गयी। अब श्रीकृष्णने सोचा परमात्माका अंश तो चला गया। अब इस शरीरकी तो दुर्गति ही बनानी चाहिये, जिसको उदाहरणके रूपमें यादकर साधुओंको कोई नहीं सतायेगा, चूँकि मेरे अवतारका प्रथम

कर्त्तव्य ही साधुका परित्राण है। उसके शरीरको नगरकी गली-गलीमें उसके दुष्कृतकी घोषणा करते हुए घसीटवाया गया। सर्वत्र श्रीकृष्णके इस पुण्यप्रकोपका समादर हुआ। इसी प्रकार यदुवंशमें धर्मके आदर्श श्रीकृष्णके छः भाई अर्थके आदर्श श्रीबलरामके साथ स्वयं कामके आदर्श वसुदेव-देवकीजी, मोक्षके आदर्श श्रीगजसुकुमार मुनि और श्रीसंघके स्वामी नेमनाथका शासन स्थापित हुआ।

जो इसका साक्षात्कार करेंगे, उनको सभी पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होगी। धर्मके लिये वे पाँच इन्द्रियाँ और छठे मनको नेमनाथके संरक्षणमें सौंप देंगे, अर्थके लिये वे गोपालन और कृषिसे प्रेम करेंगे, और काम-पुरुषार्थके लिये उनका वसुदेवचित्त उन सभी वासनाओंको, देवकीके आधिपत्यमें रखकर अर्थात् दैवी सम्पदाके सहारे अपना जीवन बितायेंगे; तात्पर्य यह है कि देवकीके अनुशासनमें देकर भोग भोगेंगे और मोक्षके लिये श्रीगजसुकुमार-जैसी तितिक्षा धारण करेंगे।

भारतीय शासनका आदर्श जबतक इस पद्धतिसे न चलेगा, तबतक देशको पूर्ण स्वतन्त्र समझना नादानी है, और विश्वशान्तिका दम भरना दम्भमात्र है। हम चाहते हैं कि सभी इस शासनका साक्षात्कार करें और नेमविधानका नाथ भारत फिर जगद्गुरुके आसनपर अभिषिक्त हो सके—ऐसा पूर्ण पुरुषार्थ करें। उल्लिखित कथाको अद्भुत मानना श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें उपयुक्त नहीं; क्योंकि—

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई॥
कलपभेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरज न मानहीं जिन कें बिमल बिचार॥*

(रामचरितमानस)

* * *

प्रियतम-सुख

'सर्व-त्याग' हो गया सहज ही, होने लगा 'भजन' अविराम।
एकमात्र 'प्रियतम-सुख' ही है 'भजन' सहज सुन्दर सुखधाम॥
'कृष्ण सुखी होंगे'—इससे मैं करूँ सर्वथा 'सर्वत्याग'।
जगी नहीं 'कर्तव्य-बुद्धि', यह केवल सहज रहा 'अनुराग'॥
मेरी अब प्रत्येक चेष्टामें रहता यह 'सहज-सुभाव'।
इसीलिये 'प्रियतम-सुख'के हित उठते नये नये नित चाव॥
लोक-वेद-तन-धर्म कर्म सब लज्जा-धैर्य-मान-सुख-भोग।
सहज हो गया त्याग सभीका, जबसे हुआ श्याम-सुख-योग॥
मिटे सभी 'आसक्ति, वासना, ममता, आशा, काम, क्रोध।
केवल 'प्रियतम-सुख' ही प्रिय अति जीवनका रह गया सुबोध॥
मिटी सभी अनुकूल और प्रतिकूल वेदना, विस्मय-खेद।
'प्रियतम-सुख' में देश-कालका, बन्ध-मोक्षका रहा न भेद॥

* * *

---

* इस लेखमें बहुत-सी बातें सबका समन्वय करनेके लिये जैन साहित्यसे ली गयी हैं।

धर्मप्राण संस्कृति और देवालय

(लेखक—श्रीओंकारमलजी सराफ)

भारतकी संस्कृति धर्म-प्राण है और धर्म सनातन । इसीलिये हमारी संस्कृति सनातन कहलाती है और धर्म भी सनातन-धर्म कहलाता है । हमारी संस्कृति धर्म-प्राण है, सनातन है; इसीलिये अजेय है, अखण्ड और अव्यय है । हमारी सनातन संस्कृतिका प्राणगीत है श्रीमद्भगवद्गीता और इसमें स्वयं परब्रह्म भगवान् धर्म-रथके संचालक बनकर घोषणा करते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश ही हमारे अवतारवादका मूल उद्देश्य है । हमारे आनन्दकन्द परमात्मा इसीलिये अवतरित होते हैं कि वे धर्मकी स्थापना करते हैं और इसे हानि पहुँचानेवाले दुष्टप्रकृति असुरोंका विनाश करते हैं । बिना असुरोंके विनाशके धर्मस्थापना सनातन नहीं हो सकती । यही है हमारी संस्कृतिका मूल मन्त्र और इसीके प्रतीकस्वरूप चमचमा रहे हैं हमारे गगनचुम्बी देवालय ।

अपराजेय संस्कृतिके तत्त्व

सर्वदा अपराजित रहनेवाली भारतकी देव-संस्कृति असुरत्वपर देवत्वकी विजय-परम्परा है । इस परम्पराको संजीवित रखनेके लिये ही अनन्त-ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्द परमात्मा संसारमें अवतरित होते हैं और असुरत्वके प्रभावसे प्रताड़ित और प्रपीड़ित मोहग्रस्त समाजको शस्त्र उठानेका मन्त्र देते हैं और कहते हैं—दुष्टोंको मैंने पहलेसे ही मार डाला है, तुम निमित्तमात्र बनो । चिन्ताका परित्याग करो, शस्त्र उठाओ; क्योंकि न्याय और धर्म तुम्हारा अधिकार है । इसे छोड़ देना क्लीवता है, अधर्म है ।

सनातन संस्कृति देवत्वकी: असुरत्वपर या सत्त्वकी तमपर विजयकी मनोहारिणी कथा है । प्रत्येक देवपुरुष सौन्दर्ययुक्त होता है । वह अधर्मियों तथा अन्यायियोंको विनष्ट करता है । असत्, तमस्, असुरत्व और अन्यायका स्वरूप भयानक, विद्रूप, बीभत्स तथा अमङ्गलकारी बतलाया गया है । इसीके प्रतिरूप देवालय भी सौन्दर्ययुक्त भावनाकी सौन्दर्ययुक्त प्रतिकृति हैं, जो इतने पवित्र हैं कि समग्रलोकमें सौन्दर्य, सत्य, न्याय, आनन्द अर्थात् 'शिवम्' का स्रोत बहाते रहते हैं ।

मनुष्यत्वकी परम दृष्टि

सनातन संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता है—मनुष्यत्वका चरम निरूपण । इस संस्कृतिमें मनुष्यत्वकी पतित अवस्था दानवत्व है और चरम अवस्था ब्रह्मत्व—मोक्ष । संसारकी सारी संस्कृतियोंसे भिन्न तथा उत्तम हमारी भारतीय संस्कृति है । हम मनुष्य हैं, भगवान्के अंश—आत्मा हैं । हम सर्वशक्तिमान् हैं, पूर्ण, अव्यय और निर्मल हैं । हमारा लक्ष्य है मोक्ष, परमपद-प्राप्ति यानी जिस अंशीसे हम उद्भूत हैं, उसीमें पुनः मिल जाना । ठीक इसके विपरीत, अन्य संस्कृति दूसरेको पतित, अज्ञानी और घृणित बतलाती है । हमारे महापुरुष ब्रह्मके साकाररूप हैं और उनके संत या ईश्वरपुत्र । इसीलिये वे धर्मकी स्थापना तो करते हैं किंतु अधर्मका विनाश नहीं करते । वे अज्ञानी और आततायियोंद्वारा मार दिये जाते हैं और हमारे महापुरुष उनका संहार करते हैं ।

योरोपीय संस्कृतिकी मनुष्यत्व-चिन्तना आस्कर वाइल्डकी व्याख्यासे जानी जा सकती है । कलाको जीवनसे पृथक् कर कलाके लिये कहनेवाले आस्कर वाइल्ड मनुष्यत्वका निरूपण करते हुए कहते हैं—मनुष्य तीन प्रकारका होता है—पाषाण (Stone) के समान, कन्दुक (Ball) के समान और श्येन (Eagle) के समान । पाषाणके समान मनुष्य टूटकर जहाँ गिरते हैं, वहीं पड़े रहते हैं । कन्दुकके समान मनुष्य इस संसारसे ऊपर उठनेकी उछाल मारते हैं किंतु पुनः गिर जाते हैं, किंतु उनकी उछाल निरन्तर जारी रहती है । श्येनके समान मनुष्य श्रेष्ठ हैं जो संसारसे ऊपर उठकर विचरण करते रहते हैं । जहाँ भी इसमें गंदगी देखते हैं, झपटकर उठा ले जाते हैं । इसके विपरीत, हमारा मनुष्यत्व-निरूपण महान् है, व्यापक है, अत्युच्च है ।

देवालय हमारे इसी मनुष्यत्व-निरूपणको अमर बनाते हैं और हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं । इसी प्रकारका विचार देवालय-संरक्षण समितिके पाक्षिक पत्र 'स्वधर्म' में 'देवालय-संरक्षण क्या है'* शीर्षक लेखमें प्रकट किया गया है।

सनातन संस्कृति और युद्ध

आज भारतकी शान्ति-नीतिको चीनी आक्रमणने चुनौती दी है । हम शान्तिरक्षाके लिये सामान्यतः कटिबद्ध हैं, किंतु सनातन संस्कृति शान्ति और विश्व-बन्धुत्वपर आधारित

---

* 'देवालय-संरक्षण क्या है ? पाक्षिक 'स्वधर्म'के प्रथम तीन अङ्कोंमें प्रकाशित लेख ।

रहते हुए भी निरन्तर शौर्य-परम्परारूप रही है। इतिहास इसका साक्षी है कि हम निरन्तर अनार्यत्वसे लड़ते रहे हैं। जब भी हमने अहिंसाको साध्य माना, हम युद्धरत रहे और विजयी बने। जब भी हमने अहिंसाको साधन माना, हमारी पराजय हुई। हम लड़ते हैं शान्तिके लिये शान्तिके शत्रुओंसे, धर्मके लिये दुष्टों और असुरोंसे तथा न्यायके लिये आततायियों और अन्यायियोंसे।

हमारी संस्कृतिका मूल स्रोत है—वेद। वेदोंमें आर्यत्वका अनार्यत्वसे संघर्ष और आर्यत्वकी विजय दिखायी गयी है। हमारी पवित्र ऋचाएँ शक्तिपुञ्ज देवताओं—सविता, पूषा, इन्द्र, वरुण, अग्नि आदिकी स्तुतियाँ हैं। युद्धसे भाग जाना ही अधर्म कहा गया है। हमारी सनातन संस्कृतिके दो पुराणग्रन्थ रामायण और महाभारत युद्धके ही आधारपर सांस्कृतिक और धार्मिक विजयकी कहानी हैं। अस्त्र-शस्त्र भी हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोणसे पूज्य हैं। असुरनिकन्दन भगवान् विष्णुके चतुर्भुजरूपमें गदा, शङ्ख, चक्र और पद्म (पद्म भी शान्तिस्वरूप शस्त्र है)। अष्टभुजा दुर्गाके हाथोंमें त्रिशूल, धनुष, खड्ग, तलवार, खप्पर, गदा, चक्र, शङ्ख आदि-आदि। शत्रुञ्जय इन्द्रके हाथमें अजेय वज्र, भूतभावन भगवान् शंकरके हाथमें त्रिशूल और शृङ्गी, मर्यादापुरुषोत्तम रामके हाथमें शार्ङ्ग और वंशीधर ललितललाम घनश्याम श्रीकृष्णके हाथमें चक्र, हनुमान्के हाथमें गदा आदि सभी सिद्ध करते हैं कि हम पद्म-स्वरूप शान्ति और धर्मकी रक्षाके लिये शस्त्र धारण किये रहते हैं और शङ्खनाद करते रहते हैं। सनातन संस्कृतिकी इस शौर्य-परम्पराकी एकमात्र अभिव्यक्ति हैं देवालय। शङ्ख, चक्र और त्रिशूल हमारे राष्ट्रीय प्रतीक हैं।

ये देवालय आज भी चीनी आक्रमणके समय देशके स्त्री-पुरुषोंको उनका सांस्कृतिक स्वरूप स्मरण करा रहे हैं।

धर्मप्राण संस्कृतिके केन्द्र

धार्मिक विजयका निरन्तर शङ्खनाद करनेवाली भारतकी ब्राह्म-संस्कृति जीवनके सर्वतोमुखी उन्नयन और उत्थानके लिये आदिकालसे लेकर अबतक कार्यरत है। सर्वप्रथम इसके प्रधान केन्द्रके रूपमें आश्रम संस्थापित थे, जहाँ त्याग, आत्मदर्शन, कर्म और आचारकी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। इन सभीके साथ ही गार्हस्थ्य-धर्मकी मूलभावना उत्पादन और सेवापर विशेष बल दिया जाता था। समाज, कुटुम्ब, धर्म, देश और विश्वके प्रति कर्तव्यका बहुमुखी ज्ञान इन आश्रमोंका कार्य था। जीवन-यापनके निमित्त कृषि-कार्योंका व्यावहारिक ज्ञान यहाँ दिया जाता था। बिवेकका वार्द्धक्य यहींसे होता था। इनके बाद ही देवालय भी संस्कृतिके केन्द्र बने, जहाँ धर्मके साथ-साथ साधारणीकरण, आत्मोन्नयन, समदर्शन और समन्वयके लिये उपासना, पूजा, अर्चना आदिका मार्ग प्रशस्त किया गया। गो-सेवा सार्वजनिक स्वास्थ्य, श्री-समृद्धि और कृषि-कर्मके लिये प्रचलित हुई थी।

आज वैज्ञानिक और आधुनिकवादी दृष्टिकोण, जो प्रधानतः पाश्चात्त्य-दर्शनसे अभिभूत है, प्रत्येक ओर प्रतिष्ठित हो गया है, जिससे हमारा सांस्कृतिक अवमूल्यन मौलिक रूपसे नहीं होता। हम निरन्तर निर्बल होते चले गये। आश्रम आज भी शिक्षण और सामान्य आनन्दके केन्द्र हो सकते हैं और वैज्ञानिक शिक्षणकी प्रतियोगितामें राष्ट्रको विजयी बना सकते हैं। इनके द्वारा शिक्षण बहुत ही कम खर्चवाला होगा; जिससे सर्व साधारण लाभ उठा सकते हैं और राष्ट्रको सबलताकी ओर अग्रसर कर सकते हैं। इसके साथ ही देवालयोंका विस्तार हमारी शक्तिका विस्तार है और विस्मरण प्रगतियोंकी अधोगामिता। राष्ट्रमें सुख-शान्ति लानेके लिये इन देवालयोंको पुनः कार्यशील बनाना ही होगा।

सबल राष्ट्रकी आवश्यकताएँ

आजकी विश्व-प्रतियोगिता और अनात्मवादी, विस्तारवादी चीनी-आक्रमण और अन्ताराष्ट्रीय कूटनीतिके दबावकी स्थितिमें राष्ट्रका बहुमुखी निर्माण तभी हो सकता है, जब धर्मप्राण संस्कृतिके आधारपर राष्ट्र-जीवनका संयोजन, समन्वय और संवर्द्धन किया जाय। सैनिकीकरणकी दिशामें ग्राम्य-स्तरपर आश्रमों और देवालयोंके माध्यमसे जो कार्य हो सकता है, वह सनातन होगा। औद्योगीकरणकी विशिष्टताने राष्ट्रकी कृषि-व्यवस्थाको विस्मृत-सा कर दिया था। इस ओर विशेष दृष्टि देना अनिवार्य है। कृषि-कार्यके बहुमुखी उत्थानके लिये गो-संरक्षण, गो-संवर्द्धन और देवालय-संरक्षणकी आवश्यकता है। इस आधारपर संघटित राष्ट्रकी विजय ध्रुव—निश्चित है। इस सम्बन्धमें देवालय-संरक्षण समितिके कार्यक्रम हैं। पाठकोंको चाहिये कि वे समितिसे इस सम्बन्धकी जानकारी उपलब्ध करें और संस्कृतिकी धर्मप्राणताकी रक्षा करनेमें हमारा सहयोग करें।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

ईमानदारीका फल

घरमें स्त्रीको टी० बी० हो रही थी। छोटे एकमात्र बच्चेको भयानक कुकुर-खाँसी। न दवाके लिये पैसे थे न पथ्यके लिये। मगनलाल बीस रुपये महीनेकी नौकरी करता था। डाक्टरने कहा था कि वह सौ रुपयेकी व्यवस्था कर सके तो उसके स्त्री-बच्चेके लिये दवा तथा पथ्यकी व्यवस्था हो सकती है और दोनोंके प्राण बच सकते हैं। डाक्टर अपनी फीस नहीं लेगा, पर दवा तथा पथ्यकी व्यवस्था तो मगनलालको ही करनी पड़ेगी।

मगनलालका बुरा हाल था। कहाँसे पैसे मिलें। उसके मालिक भी बहुत धनी नहीं थे। मामूली व्यापार करते थे। उनके दो लड़के बाहर पढ़ते थे तथा बूढ़े मा-बाप देशमें रहते थे। दोनों जगह पचास-पचास रुपये वे प्रतिमास भेजा करते थे। उन्होंने दो मनीआर्डर पचास-पचास रुपयेके लिखकर मगनलालको सौ रुपये समेत दिये और डाकमें लगानेको भेजा।

मगनलालको स्त्री-बच्चेकी जान बचानेके लिये सौ रुपयेकी ही जरूरत थी और ये सौ रुपये ही थे। स्त्री-बच्चेकी करुण दशा, उनकी रोनी सूरत और रुपयोंकी व्यवस्था होनेपर उनकी जान बचनेकी पूरी आशा। मगनलालका मन विचलित होने लगा। बार-बार संघर्ष हुआ, पर आखिर स्त्री-बच्चेके मोहने विजय पायी। मगनलाल मनीआर्डर न लगाकर शामको रुपये घर ले गया। पर उसका मन बड़ा खिन्न था। चेहरा अत्यन्त उदास। वह पश्चात्तापकी आगसे जल रहा था। घर जाकर उसने पत्नीसे कहा बड़ी हिम्मत बटोरकर कि वह सौ रुपये लाया है—दवा-पथ्यादिके लिये। पत्नीने उसके चेहरेको उदास तथा आँखोंमें छलकते आँसुओंको देखा। पूछा, 'कहाँसे कैसे लाये हैं?' उसने सारी बातें बता दीं। पत्नीने कहा—'आपने मोहमें पड़कर यह क्या किया? मान लीजिये मेरे तथा बच्चेके प्राण नहीं बचेंगे; पर कौन कह सकता है कि अगले जन्ममें हमलोगोंका फिर मिलाप नहीं होगा। पर खोया हुआ ईमान, गँवायी हुई सचाई कहाँसे वापस मिलेगी। आप भगवान्पर भरोसा कीजिये और कल ही दोनों मनीआर्डर लगा दीजिये तथा हिम्मत करके अपना यह अपराध मालिकको बता दीजिये। हो सकता है वे आपकी एक बार नीयत बिगड़ी जानकर आपको निकाल दें, पर भगवान् आपके योगक्षेमको निबाहेंगे। आप भगवान्पर पूरा भरोसा कीजिये।'

मगनलालका मन तो दुविधामें था ही। दो प्रकारके पापी होते हैं। एक तो वे—जिनको परिस्थितिके परवश होकर मानसिक कमजोरीके कारण पाप करने पड़ते हैं, पर वे पाप उनके हृदयमें शूलकी तरह चुभते रहते हैं। दूसरे वे, जो पाप करके अपनेको बुद्धिमान् मानते तथा गौरवका अनुभव करते हैं। ऐसे पापियोंका उद्धार बड़ा ही कठिन होता है। पर मगनलालका यह पाप परिस्थिति-परवश हुआ था, उसके मनमें पश्चात्ताप था। उसको पत्नीकी पवित्र प्रेरणासे अपनी भूल स्पष्ट हो गयी। दूसरे ही दिन उसने मनीआर्डर लगा दिये और मनीआर्डर लगाकर कल वापस न लौटनेकी, मोहवश रुपये रख लेनेकी, अपने मनकी बिगड़ी हालतकी तथा पत्नीके साथ हुई बातचीतकी सारी कथा रोते-रोते मालिकको सुना दी और कहा कि 'मुझसे यह अक्षम्य अपराध हो गया है, आप मुझे निकाल दीजिये।'

मालिक बड़े नेक तथा सहृदय थे। वे मगनलालकी स्त्रीकी बीमारीका हाल कुछ सुन चुके थे। मगनलालने तो कभी विशेष बताया नहीं था। इसलिये वे समझते थे—अच्छी हो गयी होगी। आज सब बातें सुनकर उनके नेत्रोंमें आँसू आ गये और सहानुभूति जाग उठी। उन्होंने मगनलालका वेतन बीससे पैंतालीस कर दिया। ऐसे ईमानदार आदमी मासिक पैंतालीसपर मिल जायँ तो बड़े सस्ते मिले। सौ रुपये नगद उसी समय दे दिये और कह दिया कि 'पत्नी तथा बच्चेके लिये दवा-पथ्यमें जो खर्च लगे, सब दूकानसे ले लिया करो।'

मगनलाल और उसकी पत्नीकी ईमानदारीका फल हाथों-हाथ मिला। पत्नी और बच्चा दोनों अच्छे हो गये। आगे चलकर तो मालिकने मगनलालको अपनी दूकानमें बराबरका हिस्सेदार बना लिया।

—रामजीवन चौधरी

(२)

नास्तिकता और अनास्तिकताका फल

यह घटना आजसे पंद्रह वर्ष पूर्वकी है। उन दिनों मैं प्रतिवर्ष हिंदी, संस्कृत तथा अंग्रेजीकी साथ-साथ कई परीक्षाएँ देता और प्रत्येकमें ही सफलता प्राप्त करता। इस बार-बारकी सफलतासे मुझमें अहंवृत्ति जाग गयी और मेरी यह धारणा बन गयी कि जो कुछ मनुष्यको मिलता है, उसमें पुरुषार्थ कारण होता है, दैव नहीं। मैं भगवान् कृष्णका उपासक हूँ और एक लघु प्रतिमा, जो उन दिनों भी मेरे पास थी और आज भी है; उसकी पूजा किया करता था। मेरी अहंताने धीरे-धीरे मुझे उस पूजासे विरत किया और मैं पुरुषार्थपर और विश्वास करता हुआ अध्ययन करने लगा। सन् १९४९ में मैं शास्त्रीका द्वितीय वर्ष दे रहा था; इससे पूर्वके दोनों वर्षोंमें मेरी प्रथम श्रेणी आयी थी और उस वर्ष भी मैंने अथसे इतितक ग्रन्थोंको पढ़ा और कण्ठ कर लिया। मेरे लिये यह सुलभ था कि मैं सोनेकी स्थितिसे जगकर किसी भी स्थलकी किन्हीं भी पंक्तियोंकी टीका-टिप्पणी कर सकता था। भगवान्‌के प्रति मेरी धारणा कुछ शिथिल हो गयी थी, शायद यह उसीका परिणाम था—मैं परीक्षामें बैठा, पर अनुत्तीर्ण हो गया। अपने साथियोंमें और विद्यालयमें मेरे लिये जीवन-मरणका प्रश्न बन गया। सारा अहंकार, जो मुझमें कुछ दिनोंसे जग रहा था, चूर-चूर हो गया। प्रश्न केवल यही था, यह सब हुआ कैसे ? आप विश्वास करेंगे, सात दिन तक मैं अपने आराध्य प्रभुके सामने रोता हुआ समाधान पूछने लगा। मानसिक चिन्ताने दुर्बल तो बना ही दिया था। आठवें दिन मुझे स्वप्न हुआ और स्वप्नमें मैंने जो कुछ देखा आज भी उसे प्रभुकी कृपा समझ मैं अपनेको धन्य मानता हूँ। मैंने स्वप्नमें देखा परीक्षाकी कापीको कोई मेरे सामने लाया और एक-एक पृष्ठ पलटकर मेरी अशुद्धियोंको और मेरे प्राप्ताङ्कोंको कोई गिना रहा है। लगभग एक-डेढ़ मास बाद रजिस्ट्रार आफिससे मेरे प्राप्ताङ्क मिले और वे वही थे, जिन्हें मैंने स्वप्नमें कापीपर गिने थे—पूरे सोलह, जब कि सत्रहमें उत्तीर्ण होते हैं। अनन्तर भगवान्‌ने धैर्य दिया और उनके प्रसादसे ही आज मैं एक विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक बन कार्य कर रहा हूँ। आप आश्चर्य करेंगे, बचपनमें ही हम पितृविहीन हो गये, भावी जीवनका कोई अता-पता भी नहीं था, फिर भी भगवान्‌की प्रेरणासे न जाने कितनी ज्ञात-अज्ञात सहायताएँ हमें मिलीं जिनसे मैंने बहुत सुखपूर्वक अपने उन विगत दिनोंको बिताया। मेरी तो आज यही धारणा है कि मेरी उस क्षणिक नास्तिकताने मुझे जीवनमें असफलताका मुँह दिखाया और मेरी प्रगाढ़ आस्तिकताने आज मुझे इस स्थलपर ला बैठाया।

—वागीशदत्त पाण्डेय एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत) पी-एच० डी०, साहित्याचार्य

(३)

कर्तव्य-पालन

संध्याका समय था। रेलगाड़ी पूनासे बम्बई जा रही थी। गाड़ीमें अधिक भीड़ नहीं थी। लोग आरामसे यात्रा कर रहे थे। पहला दर्जा तो बिल्कुल खाली था, सिर्फ एक कालेजकी युवती थी। कालेजकी छुट्टियोंमें वह बम्बई जा रही थी। उसी गाड़ीसे मेरा मित्र भी बम्बई जा रहा था। वह रेलवे पुलिसमें था।

धीरे-धीरे अँधेरा होने लगा। गाड़ी तेजीसे चल रही थी। इतनेमें बगलके डिब्बेमेंसे एक दर्दभरी चिल्लाहटकी आवाज आयी। पर शायद उस ओर किसीका ध्यान नहीं गया। सिर्फ मेरे उस पुलिस मित्रने उसे सुना और वह सोचने लगा कि जरूर पहले दर्जेमें कुछ गड़बड़ी होगी।

तुरंत ही वह गाड़ीके दरवाजेपर आ गया। सिग्नल न मिलनेके कारण एक-दो मिनिटके लिये गाड़ी ठहरी। सिर्फ इतना ही मौका उसको मिला, वह झटसे गाड़ीसे कूद पड़ा और अगले पहले दर्जेके डिब्बेमें चढ़ गया।

वहाँकी हालत देखने, सोचने या सुनने लायक नहीं थी। उसमें एक अकेली युवती थी और दो गुंडे थे। युवतीका मुँह बंद किया हुआ था, जिससे वह चिल्ला न सके। मार-पीट और कीमती चीजें छीननेका काम चालू था। इस करुणापूर्ण और भयानक दृश्यको देखकर मेरे मित्रकी आँखें लाल हो गयीं। उसने तुरंत ही दोनों गुंडोंपर हमला किया। उन लुटेरोंके पास हथियार थे। इसके पास सिर्फ एक डंडा था। पर अपनी जानको जोखिममें डालकर मेरा मित्र उनसे भिड़ गया। वहाँ एक छोटी-सी लड़ाई हो गयी। लुटेरोंके हथियार मेरे मित्रने छीन लिये। पर उसको बहुत बुरी मार और तकलीफ सहनी पड़ी। आखिर लुटेरोंको मार खाकर भागना पड़ा। इस छोटी-सी लड़ाईमें मेरे मित्रकी जीत हो गयी। वह महिला डरके मारे काँपती हुई

हृदयको देख रही थी। वह बोल नहीं सकती थी। मेरे मित्रकी जीत देखकर उसमें कुछ धीरज आया। वह समझी कि इन बहादुर पुरुषके रूपमें खुद भगवान् ही मेरी सहायताके लिये आये हैं।

मेरे मित्रने उस युवतीको बम्बईमें उसके भाईके घरपर पहुँचाया। मेरे मित्रकी इस बहादुरीको देखकर अत्यन्त कृतज्ञ हुई वह महिला कुछ पुरस्कार दे रही थी, किंतु मेरे मित्रने लिया नहीं। केवल इतना ही कहा कि 'समझो, मेरी बड़ी बहनपर ऐसी विपत्ति पड़ती तो क्या मैं सहायता न करता? इस अवस्थामें मदद करना मेरा कर्तव्य है। भगवान्ने मुझे उस समय ऐसी शक्ति दी कि मैं लुटेरोंका मुकाबला करके बहनकी जान बचा सका। यह सब भगवान्की कृपासे ही हुआ, मुझसे कुछ भी नहीं।'

बादमें मेरे घरपर आकर, मित्रने मुझे यह दुर्घटना सुनायी। दुर्घटना सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ। मैंने भगवान्से केवल यही प्रार्थना की—'हे प्रभो! ऐसा टेढ़ा समय किसीपर न आने देना।'

मनुष्य जब इस दुनियामें सचाईके साथ सत्कार्य करता है तो टेढ़े समयपर खुद भगवान् ही किसी-न-किसी रूपमें उसकी सहायताके लिये आ खड़े होते हैं।

—वि० ग० ढमाले, ओतूर (पूना)

(४)

गङ्गामाईकी महिमा

पहलेकी बात है कि मैं एक दिन बड़ा परीशान था। छोटे भाईकी स्त्री बीमार मृत्युसे लड़ रही थी। चार दिन बाद मेरी बहिनकी शादी थी। रिश्तेदार आ गये थे। हम सबने मिलकर निश्चय किया कि सब रात्रि-जागरण करें और मिलकर परमपिता परमात्मासे प्रार्थना करें कि हमारी परीशानी दूर हो। जागरणके पश्चात् प्रातः आरती की गयी और मेरे मुँहसे स्वयं ही ये शब्द निकले कि 'यदि बहू भी बच जाय और शादी भी निर्विघ्न समाप्त हो जाय तो मैं प्रतिमास सालभरतक एक दिन गङ्गास्नान किया करूँगा।' बहूको इस कारण अस्पतालमें भर्ती करा दिया कि यदि मृत्यु होनी ही है तो अस्पतालमें ही हो और हम शादीकी तैयारीमें लग गये। परमात्माकी ऐसी कृपा हुई कि बहू ठीक होने लगी और शादीके दिन उसकी इच्छा हुई कि कोठीपर ले चलो—मैं तो वरको देखूँगी। वरको अस्पताल भेजा गया। बहूने उसके पैर पूजे और माला पहनायी। आठ दिनके भीतर शादी भी निर्विघ्न हो गयी और बहू भी अच्छी होकर अस्पतालसे घर लौट आयी।

हमारा परिवार आर्यसमाजी है। उसी वातावरणमें रहनेके कारण मुझे गङ्गाजीमें कोई श्रद्धा नहीं थी। परंतु अचानक मुँहसे उस दिन जागरणके पश्चात् सालभर प्रतिमास एक दिन गङ्गास्नान करनेकी बात न जाने कैसे स्वयं ही निकल गयी थी; अतः उसी निश्चयके बन्धनमें फँसकर मैंने प्रतिमास गङ्गास्नान एक दिन करना शुरू कर दिया। गङ्गाजीके किनारे कई महात्माओंके दर्शन हुए। मुझे गङ्गास्नान करनेमें बड़ा आनन्द आने लगा। प्रतिमास चारों ओरसे कुछ-न-कुछ शुभ समाचार आते रहे। तीन अमेरिकन साधुओंने और कई भारतवर्षके उच्चकोटिके महात्माओंने स्वयं कोठीपर पधारकर सेवकको अनुगृहीत किया। एक महात्मा 'ज्ञानेश्वरी'की पुस्तक मेरी मेजपर छोड़ गये। एक अमेरिकन महात्मा २१ दिन कोठीपर ठहरकर शिवलिङ्गकी मूर्ति मुझे दे गये। पूजाके कमरेमें एक महात्मा श्रीकृष्णका चित्र फ्रेम कराकर रख गये। इन सब बातोंसे और ज्ञानेश्वरीको पढ़ते-पढ़ते मैं एक मूर्तिपूजक बन गया। शङ्ख-कीर्तनकी खड़तालें, इकतारा, झाँझ इत्यादि सभी चीजें मेरे पूजाके कमरेमें आ गयीं। पूजा करनेमें सेवकको बड़ा आनन्द आने लगा। प्रतिदिन गङ्गाजलका प्रातःकाल आचमन करनेके पश्चात् ही खाने-पीनेका संकल्प कर लिया। गङ्गाजलकी एक छोटी शीशी मैं सदा अपनी जेबमें रखने लगा। इस प्रकार १२ मास गङ्गास्नान करनेमें मुझे इतना आनन्द आया कि मैंने निश्चय किया कि अब भविष्यमें प्रतिमासका गङ्गास्नान करना जीवनभर जारी रक्खूँगा। बहुत-से अद्भुत चमत्कार हुए, पर उनका यहाँ वर्णन करना ठीक नहीं जान पड़ता।

यों ही पाँच वर्ष गङ्गास्नान करते बीत गये। फिर मेरी बड़ी पुत्र-वधू बहुत बीमार हुई। ६ महीने उसे अस्पतालमें रखना पड़ा। खर्च भी बहुत हुआ। एक दिन डाक्टरनियोंने जवाब दे दिया कि अब इसके बचनेकी आशा नहीं। सभी रो रहे थे। मैं एक कोनेमें एक छोटी-सी चारपाईपर बैठा था। एक हाथमें गङ्गाजल-शीशी—दूसरे हाथमें गीताका सबसे छोटा गुटका और

माल। शरीर काँप रहा था—आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी। मेरे मुँहसे निकला—'भगवान् ! आपकी इच्छा—बहू आपने ही दी थी। आप ले जाना चाहते हैं तो ले जाइये—मेरे कोई पाप होंगे, जिनका दण्ड मुझे मिल रहा है। पर इस बार आप इसपर कृपा करके जीवनदान दें—तो मैं अब प्रतिमास दो दिन गङ्गास्नान किया करूँगा।' उधर डाक्टरनियाँ उपचार कर रही थीं। आध घंटे बाद बड़ी डाक्टरनीने आकर कहा कि बहू अब बच गयी—यकीन मानो मरेगी नहीं, पर पूरी ठीक होनेमें शायद कुछ महीने और लग जायँ। मुझे घरवालोंने चाय पिलायी, तब कहीं मैं होशमें आया। प्रभुका और गङ्गामाईका बहुत बड़ा धन्यवाद किया। बहूको घर लिवा लाये और उसकी दशा प्रतिदिन सुधरती गयी। इस समय उसके तीन बच्चे हैं। मुझे छः वर्षतक दमेकी बीमारी लग गयी। मैं सदा यह कहता रहता था कि जिस गलेमें प्रतिदिन गङ्गाजल जाता है उस गलेमें दमेकी शिकायत नहीं रहेगी। किसी दिन गङ्गामाई कोई औषध भेजेंगी और यह बीमारी चली जायगी। हुआ भी ऐसा ही—अनूपशहरके पास गङ्गास्नान करनेके एक दिन बाद किसीने मुझे धोखेसे ठंडाईकी जगह भंग पिला दी। मैं १८ दिन सिरके दर्दमें पड़ा रहा। पर दमा ऐसे चला गया कि आजतक कभी भी उसका दौरा नहीं हुआ।

श्रीराम कालिज आफ़ कॉमर्स दिल्लीसे जब मैं १९५४ में रिटायर हुआ, तब मुझे श्रीयुवराज कर्णसिंहजी सदरेरियासत जम्मू-कश्मीर अपने कॉमर्स कालेजका प्रिंसिपल बनाकर ले गये। कश्मीरसे प्रतिमास दो दिन गङ्गास्नान करने आना कठिन था। इसलिये पूज्य श्रीहरिबाबाजीके आज्ञानुसार मैंने प्रतिमास तीन दिनके हिसाबसे वर्षमें ३६ दिन गङ्गास्नान तीन महीनोंकी छुट्टियोंमें करनेका निश्चय किया और पाँच वर्ष ऐसा ही करता रहा और कहीं ३६ दिन गङ्गाके किनारे रहकर आनन्द लेता रहा। कश्मीरसे रिटायर होनेपर मेरी आयु ६५ वर्षकी हो गयी। तब फिर श्रीहरिबाबाजीके आज्ञानुसार यह नियम लिया कि प्रतिवर्ष १ दिन और अधिक गङ्गास्नानको बढ़ाता रहूँगा। इस १९६३ ई० में ४१ दिन गङ्गास्नान करूँगा। गङ्गामाई सब निभा देगी।

परिवारमें जब कोई बाहर जाता है, गंगाजलकी शीशी अपने साथ रखता है। मेरा छोटा भाई डा० आनन्दस्वरूप शर्मा बुलंदशहरमें है—उसके लड़कियाँ थीं—लड़का नहीं था। आर्यसमाजके मन्त्री होनेके नाते उसे गङ्गाजीमें श्रद्धा नहीं थी। पर मेरे कहनेपर एक वर्षतक प्रतिमास गङ्गास्नान करनेपर गङ्गामाईकी कृपासे उसे पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, जो आजकल लन्दनमें डाक्टरी पढ़ रहा है। इसी प्रकार मेरे एक करीबी रिश्तेदार—पं० परमानन्द बेकल एक मुकदमेमें फँस गये—जीतनेकी कोई आशा नहीं थी। वे ज्योतिषी थे। मैंने उनसे कहा कि जबतक मुकदमा चले, प्रतिमास गङ्गास्नान करते रहो तो मेरा पूर्ण विश्वास है कि तुम्हारी जीत होगी। तीन वर्ष मुकदमा चला, पर अन्तमें उनकी जीत हुई। जबतक जीवित रहे प्रतिमास गङ्गास्नान करते रहे।

मुझे जब भी कोई परीशानी हुई या नौकरीके सम्बन्धकी तरक्की इत्यादि और दूसरी इच्छाएँ हुईं, तब मैं लिखकर अपनी अर्जीकी नकल गङ्गाजीमें डाल देता था। सच बात तो यह है कि जो कुछ भी मैंने गङ्गामाईसे माँगा, वह मुझे तुरंत ही मिला। अब मैं ६९ वें वर्षमें चल रहा हूँ। प्रभुसे प्रार्थना है कि गङ्गामाई इसी प्रकार हमारे देशपर अमृतकी वर्षा करके सबको सुखी करती रहें। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

श्रीगङ्गा माता ! सबका उद्धार कर दे—दुखिया संसारको तू सुखिया संसार कर दे।

—मदनलाल शाण्डिल्य एम्० ए०, बी० कॉम, एल्-एल्० बी०

(५)

बुरेमें भी भलाई तथा परिवर्तन

आजसे दस वर्ष पहलेकी बात है। कच्छसे सर्वथा अपरिचित मैं वरंडीसे कोटडा जानेके लिये घरसे निकला। सलाह ली—किस रास्ते जाना ठीक है ? मैं वरंडीसे बीशाल बैलगाड़ीमें आया। दूरसे आती हुई बसको देखकर गाड़ीवालेने कहा—'इस बसपर सवार हो जाओ, यह आपको कोटडा पहुँचा देगी।' मैंने उतरकर उस बसमें खड़े रहनेकी जगह प्राप्त कर ली। पाँच-सात मील आगे निकलनेपर कंडक्टर मेरे पास आया। मैंने पैसे देकर कहा—एक टिकट कोटडा।' वह क्षणभर मेरी ओर देखकर बोला—

'यह बस कोटडा नहीं जाती। जान पड़ता है आपको यहाँकी जानकारी नहीं है। अगले स्टापपर उतर जाइयेगा। वहाँसे बायीं तरफ एक पगडंडी मिलेगी। लगभग डेढ़ मीलपर रोहा-गाँव है। वहाँसे रातको नौ बजे कोटडा जानेवाली बस मिलेगी।'

बुगचा उठाकर मैं उतरा, सँकड़ी-सी पगडंडीसे आगे बढ़ा। सूर्यदेव तो कभीके विदा ले चुके थे। एकाध फर्लांग आगे बढ़ा होऊँगा कि पीछे कुछ आहट-सी सुनायी दी, मैंने चौंककर पीछेकी ओर देखा। कोई काली छाया मेरी ओर बढ़ रही थी। ईश्वरका स्मरण करता हुआ मैं आगे बढ़ा कि दो-ही-तीन मिनटमें वह छाया मेरे बगलमें आ पहुँची। मेरा हृदय काँप गया। एक लंबा पूरा पुरुष, बड़ी-बड़ी मूँछें, सिरपर बड़ा पग्गड़ और पट्टेसे बँधी बंदूक देखकर मैं तो मुर्दा-सा हो गया। मेरे समीप आकर उसने कहा—'क्यों महाशय! कहाँ जाना है?'

डरके मारे मैं उत्तर नहीं दे सका। उसने फिर पूछा। मैंने शुरूसे अबतककी बात सुना दी।

'तुम थके हुए जान पड़ते हो। लाओ, यह बुगचा मैं ले चलूँ।' 'नहीं...नहीं...मैं बिल्कुल थका नहीं हूँ।' सारी हिम्मत बटोरकर मैं मुश्किलसे इतना बोल पाया। मेरी आवाजसे उसने पहचान लिया कि मैं डर गया हूँ; वह खिलखिलाकर हँस पड़ा। नीरव रात्रिमें उस हँसीने मुझे और भी डरा दिया।

'कठिनाईमें मदद करना हम गाँववालोंको आता है; आप कहो तो आपको भी उठाकर ले चलूँ' उसने कहा।

मेरी समझमें नहीं आया कि मैं इसका क्या उत्तर दूँ और मैं उसके पीछे-पीछे घसिटता चला। बुगचा अब उसके हाथमें था। कितने ही विचार मेरे मस्तकमें भर गये। मैं निडर हो गया। कोई गाँव नहीं आया। विपत्तिमें भगवान् याद आया करते हैं। दूरसे मन्दिरकी झाँझ-घण्टा सुनायी दी। इस ध्वनिने मेरे अंदर एक अजब श्रद्धा उत्पन्न कर दी—भगवान्में।

बुगचा मेरे हाथमें देते हुए उस पुरुषने कहा—'लो, यह रोहा आ गया। अब मैं जा रहा हूँ। मुझे यहाँ लोग रतनजीके नामसे पहचानते हैं।'

मैंने स्वीकृतिमें सिर हिला दिया। खेतोंमें होता हुआ वह अदृश्य हो गया, मैंने गाँवमें प्रवेश किया। बस आनेमें कुछ देर थी। कितने ही लोग वहाँ जमीनपर बैठे थे। मैं उनकी ओर बढ़ा। उनको पता लगा कि मैं डेढ़ मील सुनसान रास्तेसे आया हूँ। तो एक युवकने कटाक्ष किया—'हमने तो सुन रक्खा था कि शहरके लोग डरपोक होते हैं और आप इस अँधेरेमें अकेले आ गये।'

डेढ़ मीलतक मेरे साथ आनेवाले सज्जनके विषयमें मैंने बताया। सब चुपचाप सुनते रहे। एकने पूछा—'क्या नाम था उनका?' और 'रतनजी' सुनते ही सब लोग बिना ही कुछ कहे उठकर चल दिये। उनका यह काम मेरी समझमें नहीं आया। बस आयी, कंडक्टरसे पूछकर मैं बसमें जा बैठा। पास बैठे हुए मुसाफिरको कदाचित् रतनजीके बारेमें कोई जानकारी हो, मैंने उससे पूछा—'क्यों भाई! यह रतनजी कौन है?'

मेरी ओर देखकर उसने मुँह फेर लिया। मैंने फिर पूछा, तब उसने कहा—'आप उसे नहीं जानते? आश्चर्य है। वह यहाँका प्रसिद्ध डाकू है। आप कहीं उसे देख लो तो तुरंत प्राण निकल जायँ—ऐसा भयानक है। अच्छे-अच्छे पुलिसवाले उससे डरते हैं।' बड़ी देरसे रात्रिको मैं कोटडा पहुँचा, तब कहीं जीव अपनी जगहपर आया।

× × ×

अबसे दो वर्ष पहले बंबईमें एक विवाहमें अचानक रतनजी मिले। पर इस समय वे डाकू नहीं, एक प्रतिष्ठित पुरुषके रूपमें विवाहमें निमन्त्रित थे। मुझे नहीं पहचान सके। मैंने पहचान बतायी। मुझको हृदयसे लगा लिया। 'क्यों आज तो वह डर नहीं लगता है न? अब मैं एक किसान बन गया हूँ और किये पापोंका प्रायश्चित्त करनेके प्रयत्नमें लगा हूँ।'

मैं मनमें सोचने लगा—ऐसा कोई मङ्गल क्षण आता है, जो मनुष्यको विषसे हटाकर अमृतके समीप ले जाता है।

(अखण्ड आनन्द)

—मोतीलाल डी. सावला

(६)

दोनों सच्चे साबित हुए

मेरे पड़ोसमें मेरे मित्र डाक्टर साँईदासजी खन्ना रहते थे। करीब १५ वर्ष हुए उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी बीमा करायी हुई थी, उसके करीब २७००) डाक्टर साहबकी

पत्नीको मिले। डाक्टरकी स्त्रीने ये रुपये वहाँके लब्धप्रतिष्ठ वकील साहब श्रीपरतापमलजी मेहताको जमा करनेके लिये दे दिये। वकील साहबने ये रुपये स्वयं नहीं रखकर यहाँकी एक फर्म श्रीशिवदास सिरेमलमें डाक्टर साहबकी स्त्रीके नामसे ही जमा करवा दिये। कुछ वर्षों बाद डाक्टर साहबकी पत्नीको रुपयोंकी जरूरत हुई और उन्होंने वकील साहबसे रुपये माँगे। वकील साहब इस बातको बिल्कुल ही भूल गये थे कि उन्होंने ये रुपये श्रीशिवदास सिरेमलमें खन्नाजीकी स्त्रीके नामसे जमा करवा दिये थे। वकील साहबने बहियाँ देखीं, पर रुपये कहीं जमा नहीं मिले। वकील साहबने कहा कि रुपये तो आपके जमा नहीं हैं। इसपर डाक्टर साहबकी पत्नीने कहा कि रुपये मैंने जरूर आपको दिये थे। वकील साहबने सोचा ज्यादा तूल-तवीलमें जानेसे लोग समझेंगे कि एक विधवा स्त्रीकी रकम दबानेकी नीयतसे मुकर रहे हैं। चुपचाप रु० २७००) डाक्टर साहबकी पत्नीको दे दिये।

गतवर्ष श्रीशिवदास सिरेमलके हिस्सेदार अलग-अलग हुए और उन्होंने हिसाबके आँकड़ोंमें रु० २७००) के छः आने ब्याजसे प्रायः ४६००) श्रीसाँईदासजी डाक्टर साहबकी पत्नीके नामसे जमा निकाले। डाक्टर साहबकी स्त्रीको सूचना दी गयी। उन्होंने कहा मैंने तो रुपये जमा नहीं कराये। फिर वकील साहबके पास गये तो अब उनको सब बातें याद आ गयीं कि ये रुपये तो वही हैं, जो बीमाके डाक्टर साहबकी पत्नीने उन्हें दिये थे और उन्होंने डाक्टर साहबकी पत्नीके नामसे ही जमा करा दिये थे। डाक्टर साहबकी स्त्रीने वकील साहबसे कहा कि मेरे रुपये तो आपने दे दिये थे, पर वकील साहबने कहा—'ये रुपये तो आपके ही हैं। इस विस्मृतिमें भी भगवान्‌का कुछ रहस्य है।' प्रसन्नतासे वकील साहबने पूरे रुपये डाक्टर साहबकी स्त्रीको दिला दिये। कहा—प्रसन्नता इसी बातमें है कि मैं भी सच्चा था और डाक्टर साहबकी पत्नी भी सच्ची थीं। इसका भेद ईश्वरने चौदह वर्ष बाद खोला। ईश्वरकी लीला विचित्र है, सचाई प्रकट हुए बिना नहीं रहती।

—हरषराज लोढ़ा

(७)

आत्माकी आवाज

१३ अप्रैल सन् १९६३ के दोपहरकी बात है। मैं 'कल्याण' का विशेषाङ्क पढ़ रहा था और उसमें बिल्कुल खो था। इसी समय अचानक मेरे अंदरसे एक आवाज आने लगी कि 'जरा बाहर चलो, जरा बाहर चलो।' पर मैंने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया और मैं पढ़नेमें ही लगा रहा। पर मुझे आत्मशान्ति नहीं हुई, बार-बार बाहर जानेकी मनमें आने लगी और मेरा मन पढ़नेसे उचट गया। मैं अपने कमरेसे बाहर आया, तो क्या देखता हूँ कि मेरा चार वर्षका छोटा भानजा बाहर खड़ा है, उसके हाथमें एक दियासलाई है। क्षणभरमें ही वहाँपर मुझे बगलके बरामदेकी सीढ़ियोंसे 'चट, चट, चट' शब्द सुनायी दिये। मैं शीघ्र ही उस ओर गया तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वहाँपर छः पिंडियाँ घासकी एक किवाड़के सहारे रखी थीं और उनमें बहुत जोरकी आग लगी हुई थी। शायद बच्चेने दियासलाई जलाकर फेंक दी हो। उन पिंडियोंके सहारे उस किवाड़को भी आगने पकड़ लिया था और वह भी जलने लगा था।

मैंने शीघ्र ही जल लाकर उस अग्निको शान्त किया। कुछ हानि नहीं हुई थी, किंतु हो जाती। वह अग्नि तो शान्त हो गयी, किंतु मेरे मनमें बराबर उस 'जरा बाहर चलो' की आवाज गूँज रही थी।

अब आप स्वयं ही अनुमान लगा सकते हैं कि यदि उस समय मैं उस आवाजकी ओर ध्यान न देता तो कितना भयानक परिणाम होता। इसलिये मनुष्यको हमेशा अपनी अन्तरात्मापर विश्वास रखना चाहिये। वह हमें सदा तथा सच्चे मार्गपर ले जाती है। जब भी हम कोई कार्य करते हैं, तब हमारे हृदयमें दो तरहकी भावना जाग्रत् होती है। पहली होती है 'इसे करूँ' और दूसरी होती है 'न करूँ'। इस तरहसे 'मन' और 'आत्मा' में संघर्ष होता रहता है। यदि हम मनकी बात मान लेते हैं तो परिणाम अच्छा नहीं निकलता और यदि आत्माकी बातपर विश्वास करते हैं तो उसका परिणाम इस घटनाके अनुसार आपके सामने प्रस्तुत ही है।

—महेशचन्द्र

* * *

'कल्याण'के चालू वर्षका विशेषाङ्क 'संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क'

प्रसिद्ध वैष्णव-पुराण 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'का सार रूप है। इसमें दिव्य गोलोकविहारी परात्पर भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्नस्वरूपा श्रीराधिकाजीकी अमृतोपम गोलोक-लीला तथा उनकी अवतारलीलाका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। साथ ही सब देवताओंकी एकता, सारी शक्तियोंकी एकता, भक्तितत्त्व, सदाचार, कर्म और कर्मफलोंका, दिव्य लोकोंका, ज्ञान-विज्ञानका, चमत्कारपूर्ण दुर्लभ स्तोत्रों, कवचों और मन्त्रोंका विशद विवेचन है। अतएव यह अङ्क सभीके लिये परमोपयोगी और संग्रह करने योग्य है।

इसमें ७०० से अधिक पृष्ठ, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, सादे ६ और लगभग १२० रेखाचित्र हैं। वार्षिक मूल्य केवल ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) तथा सजिल्दका ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) डाकखर्चसमेत है। आज ही ग्राहक बनिये और अपने इष्ट-मित्रोंको भी बनाइये।

'कल्याण'के गत वर्षका विशेषाङ्क 'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क'

३६वें वर्षके 'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क'की एक लाख इक्यावन हजार प्रतियाँ छापी गयी थीं। इसमें भगवान् शिवकी बड़ी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा योग-भक्तिके तत्त्वोंका बड़ा ही विशद और सर्वोपयोगी वर्णन है। यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता है।

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र सुन्दर बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८, कुल १६८, मूल्य रु० ७.५० (डाकखर्चसहित) भेजकर रजिस्ट्रीसे मँगवा लें अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें।

कल्याणके पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१—हिंदू-संस्कृति अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६ रु० ५० नये पैसे। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

२—संतवाणी-अङ्क

पृष्ठ-सं० ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्ययसहित ७ रु० ५० नये पैसे।

३—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और ३९ रेखाचित्र। डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे।

देशभरके चुने हुए महात्माओं और विद्वानों तथा विदेशी महानुभावोंके मानवतासम्बन्धी सद्विचारोंके संग्रहसे सम्पन्न और सबके द्वारा प्रशंसित।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

एक करोड़ रामचरितमानस-पाठ

आगामी वि० सं० २०३० में गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी रचित श्रीरामचरितमानसके चा वर्ष पूरे होते हैं। इस सुअवसरपर एक विशाल धार्मिक और साहित्यिक समारोह मनानेकी यो दरीबा, दिल्ली ६ के अखिलभारतीय श्रीसनातनधर्ममहामण्डलने बनायी है और इस बीचके वर्षोंमें श्रीरामचरितमानसके एक करोड़ पाठ करने-करानेका प्रस्ताव किया है। प्रतिवर्ष दस लाख मा पाठ होनेसे दस वर्षोंमें एक करोड़ पाठ पूरे हो सकते हैं। यह महान् मङ्गलमय, सर्वविश्वहितकारी लोक-परलोक-कल्याणकारी परम पुण्य अनुष्ठान है।

अतः 'कल्याण'के लाखों-लाखों पाठक-पाठिकाओंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि मङ्गलमय कार्यमें स्वयं सक्रिय सहयोग देने और दूसरे अधिक-से-अधिक लोगोंको प्रेरणा देनेकी करें, जिससे सब लोग पूर्ण उत्साहके साथ श्रीरामचरितमानसका नवाह्न-पारायण, मासपारायण, दिनका अखण्ड पाठ, ऋतुपारायण, त्रैमासिक पारायण आदि किसी भी रूपमें पाठ करना आरम्भ दें और संख्यासहित पाठपूर्तिकी सूचना नीचे लिखे पतेपर अवश्य भिजवा दें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—
श्रीरामचरितमानस-कोटि-पाठ-अ
गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीगीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षा की व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। इस वर्षसे रामा परीक्षाओंमें पुरस्कारोंकी संख्या एवं धनकी वृद्धि भी की गयी है। परीक्षाओंके लिये स्थान-स्थानपर ला ३५० केन्द्र भी स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार किये जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ रविवार, सोमवार दि० २४–२५ नवम्बर १९६३ को एवं रामायण-परी दि० ५–६ जनवरी १९६४ को होनेवाली हैं। केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थना-पत्र दि० ३० अगस्त १९६३ तक भेज देनेकी कृपा करें। वि जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादू

३०१८१

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

कल्याण

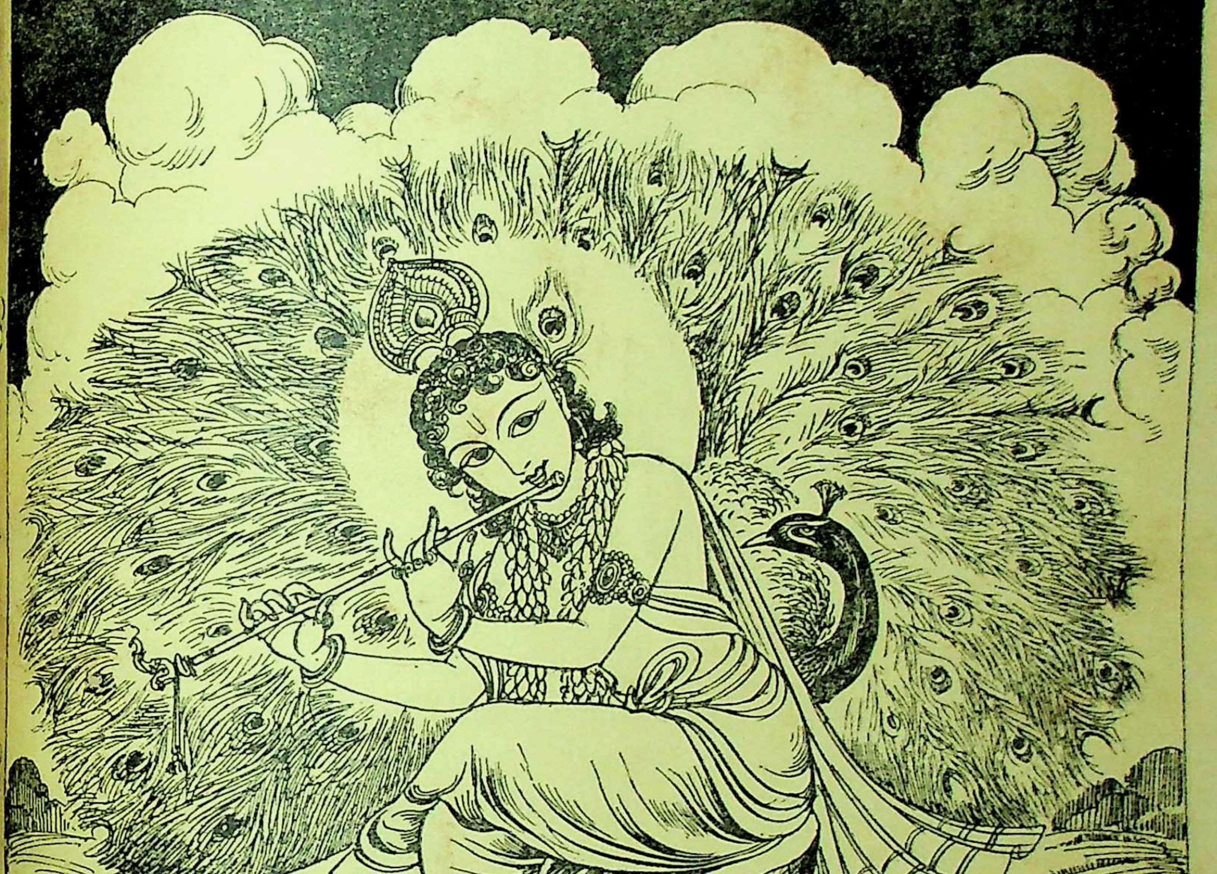

वर्ष २७] * [अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०२०, अगस्त १९६३

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी [कविता] (गीता ५।५ के आधारपर) १०६७
२–कल्याण ('शिव') ... १०६८
३–साधन-विचार (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) १०६९
४–भक्तिके विना सुख कहाँ ! [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ... १०७३
५–पुराणोक्त धर्म-वंशका **रहस्य** (सर्व-दर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक **अनन्तश्री स्वामी** अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) १०७४
६–करता राम सनेही [कविता] (संत नामदेवजी) १०७८
७–केवल निष्काम कर्मसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०७९
८–धर्म, सदाचार, सम्प्रदाय और ईश्वर (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ... १०८३
९–आत्मनाश—एक नशा (श्री-शेषनारायणजी चंदेले) ... १०८८
१०–कौंध रहे वे क्षण [कविता] (प्रो० स्वर्णकिरण) १०९०
११–निराश हृदयकी जीवन-ज्योति (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) १०९१
१२–सत्य समदर्शन [कहानी] (श्री 'चक्र') १०९४
१३–'सगुन जान नहिं कोइ' (पं० श्रीज्ञान-शंकरजी पाण्डेय, एम्० ए०) ... १०९६
१४–षोडशनाम महामन्त्रके विस्तृत विविध अर्थ (परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिमयूख भागवत गोस्वामीजी महाराज) ... ११००
१५–दानशीलता (श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक) ११०५
१६–जीवकी कल्याण-साधना (श्रीगोपालजी भट्ट एम्० ए०) ... ११०७
१७–'ओ मेरे मन ! गुणगान करो श्रीसीता-रामका' (डा० श्रीरवीन्द्रप्रताप राव, आर्गेनिक केमिस्ट्री डिपार्टमेंट, यूनिवर्सिटी आव् ऐडेलायड, साउथ आस्ट्रेलिया) ... ११०९
१८–राम-लक्ष्मण—दो शरीर एक प्राण (श्रीदूधनाथसिंहजी) ... १११०
१९–सूरदास मदनमोहन (श्रीगोकुलानन्द-जी तैलंग 'साहित्यरत्न') ... १११३
२०–दुर्वचन (विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेश-दत्तजी शर्मा 'इन्द्र') ... १११७
२१–रामका अन्याय (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ११२१
२२–मन एवं इन्द्रियोंसे सावधान ! (प्रो० श्रीशैलजानन्दजी झा 'अंगार', एम्० ए०) ११२३
२३–जब पाण्डव हार गये ! (श्रीउपेन्द्रनाथ राय, एम्० ए०, शास्त्री) ११२६
२४–पढ़ो, समझो और करो ... ११२७

चित्र-सूची

१–मुरलीकी तान ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी ... ... (तिरंगा) ... १०६७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र
भारतमें .४
विदेशमें .५
(१० पैसे)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०२०, अगस्त १९६३ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ४४१

सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

जाते वहीं कर्मयोगी हैं, सांख्य प्राप्त करते जो स्थान ।
वही देखता, देख रहा जो सांख्य, योगको एक समान ॥

(गीता ५ । ५)

याद रक्खो—तुम जो कुछ भी दान करते हो, किसीकी कुछ सहायता करते हो, भगवान्का भजन करते हो और ध्यान करते हो—यह सब तभी विशुद्ध रहेंगे, जब इन्हें लोगोंको दिखानेकी अथवा जनानेकी भावना तुम्हारे मनमें बिल्कुल ही नहीं रहेगी।

याद रक्खो—दान देना चाहिये, जिसको देना चाहते हो उसके लाभ तथा अपने संतोषके लिये, सहायता करनी चाहिये किसी दुखीका दुःख मिटानेके लिये और अपने संतोषके लिये। इसी प्रकार भगवान्का भजन-ध्यान भी करना चाहिये भगवान्के प्रीतिसम्पादन तथा अपने परमार्थसाधनके लिये; पर यदि तुम्हारे मनमें अपने ये कार्य दूसरोंको दिखानेकी बात आती है तो तुम अपने उद्देश्यसे गिर जाते हो। फिर इनसे वास्तविक सिद्धि या सफलता नहीं मिलती।

याद रक्खो—जो काम दूसरोंको दिखाने या जनानेके लिये किये जाते हैं, उनमें उद्देश्य हो जाता है दिखाना और जनाना ही। जब दूसरे लोग नहीं देखते या नहीं जान पाते, तब तुम उन कार्योंके करनेमें शिथिलता करने लगते हो और आगे चलकर तो करना ही छोड़ देते हो। अतएव उन कार्योंमें पवित्रता नहीं रह जाती।

याद रक्खो—अपने-आपको अपने प्रति ईमानदार रहनेकी बड़ी आवश्यकता है। भगवान् तो धोखा खाते नहीं, तुम स्वयं ही अपने-आपको धोखा देकर कर्म या साधनके वास्तविक फलसे वञ्चित रह जाते हो। इसलिये उचित यह है कि तुम जो कुछ भी दान करो, दान ग्रहण करनेवाला भी उसे न जाने तो सर्वोत्तम, नहीं तो कम-से-कम दूसरा तो जाने ही नहीं। इसी प्रकार सहायताके करनेमें भी ध्यान रक्खो और भजन-ध्यानमें तो दूसरोंको दिखाने-जनानेकी भावना होनी ही नहीं चाहिये। ये तो अन्तरके धन हैं और निरन्तर अन्तरमें अर्जित और संचित होते रहने चाहिये। केवल तुम जानो और तुम्हारे भगवान् जानें, तीसरेसे कोई मतलब नहीं।

याद रक्खो—किसी सार्वजनिक सहायताके कार्यमें भी, जहाँतक बने, अपना नाम प्रकट न करनेका विचार रक्खो। किसी संस्थाद्वारा सहायता करवानी हो तो उसमें भी सम्भव हो तो अपना नाम प्रकाशित मत होने दो। इससे दानका मूल्य बढ़ जायगा और अधिक-से-अधिक विशुद्धि होगी।

याद रक्खो—तुम जो कुछ भी देते हो, वह भगवान्की ही चीज है और जिसको देते हो वह भी भगवान्का ही रूप है। अतएव अभिमान छोड़कर भगवान्की चीज भगवान्को अर्पण करनेमें अपना सौभाग्य समझो और अर्पणबुद्धिसे ही दान करो।

याद रक्खो—दान-सहायता और भजन-ध्यान भगवान्की प्रीतिके लिये ही होने चाहिये। अन्य लोगोंको दिखाने अथवा अन्य किसी सदुद्देश्यको लेकर इन्हें करना भी लाभदायक ही है पर इनका असली विशुद्ध रूप और असली भगवत्प्रीतिरूप फल तो तभी रहता और प्राप्त होता है जब कि ये गुप्तरूपसे हों और केवल भगवत्प्रीति-सम्पादनके लिये ही हों।

'शिव'

साधन-विचार

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ १००९से आगे]

इसी प्रकार ईश्वरकी सृष्टिमें भी पञ्चमहाभूतोंके तरङ्ग प्राणी-पदार्थोंके रूपमें उत्पन्न होते और नाशको प्राप्त होते भी दीखते हैं। तथापि पञ्चमहाभूतोंमें कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती। ये तो ज्यों-के-त्यों सृष्टिसे प्रलयतक बिना घट-बढ़के बने रहते हैं। इन पञ्चमहाभूतोंमें जो विकार या रूपान्तर होता है, उसको हम उत्पत्ति-विनाश कहते हैं। वस्तुतः जलतरङ्गके समान न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नाश होता है। परंतु तरङ्गका विवेचन करते समय हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ विनाशको प्राप्त होता है; क्योंकि वहाँ 'अहंता-ममता' रूपी अविद्याका पर्दा हमारी आँखोंपर नहीं लगा है। परंतु शरीरकी उत्पत्ति और विनाशके समय यह तटस्थ दृष्टि नहीं रहती; क्योंकि वहाँ हमारी आँखोंके ऊपर अविद्याका पर्दा पड़ा रहता है। सर्वदा ऐसी तटस्थ दृष्टि रहनेका ही नाम है सच्चा ज्ञान।

यही बात एक कविने केवल दो पंक्तियोंमें कही है। जैसे—

आया न कोई, गया न कोई, जो जैसा-का-तैसा है।
द्रष्टा है एक अभिन्न चेतन, वह वैसा-का-वैसा है॥*

कविकी स्त्रीका देहान्त हो गया है। इस प्रसङ्गमें कुछ लौकिक बात करके आध्यात्मिक दृष्टिसे वह कहता है कि मेरी स्त्री मर गयी, यह ठीक है और इससे मेरा संसार बर्बाद हो गया, यह बात भी उतनी ही ठीक है। परंतु इससे ईश्वरकी सृष्टिमें कोई फेर-बदल नहीं हुआ। न तो इसमें कोई नया आया और न इसमेंसे कोई चला गया। अनादि-कालसे जैसा चलता आ रहा है, वह ज्यों-का-त्यों है, अर्थात् इसमें कोई घट-बढ़ नहीं हुई और स्वयं परमात्मा भी सृष्टिमें प्रवेश करनेके बाद भी जैसा था, वैसा-का-वैसा है और सारी सृष्टिमें प्रवेश करनेसे परमात्माके स्वरूपमें कोई घट-बढ़ नहीं हुई, वह द्रष्टाके रूपमें ज्यों-का-त्यों है।

(२) **'जाग्रदादिविमोक्षान्तः'**—अर्थात् जीव शरीर धारण करके माताके गर्भमेंसे बाहर निकलता है तबसे लेकर जबतक उस शरीरका नाश नहीं होता तबतकका जो संसार है, वह **'संसारः जीवकल्पितः'** अर्थात् जीवका रचा हुआ, संसार उसकी कल्पनामात्र है। इस जीव-कल्पित संसारमें घट-बढ़ होती रहती है। इसमें कुछ भी स्थिर नहीं है। इस जीव-कल्पित संसारकी सृष्टि कैसे होती है, इसकी आलोचना कीजिये।

जीव शरीर धारण करके गर्भसे बाहर आया। परमेश्वरने उसका पालन-पोषण करनेके लिये एक माता दी, जिसने उसको पाल-पोसकर बड़ा किया। दो वर्षके बाद परमेश्वर उससे पूछता है। भाई! यह कौन है? तो वह उत्तर देता है—'मेरी माँ है।' प्रभु कहते हैं ठीक है। प्रभुने फिर उसको एक भाई दिया और पूछा—'भाई! यह कौन है?' वह बोला—'मेरा भाई है।' फिर दो-तीन दूसरे भाई-बहिन देकर पूछा—'ये कौन हैं?' बोला—'मेरे भाई-बहिन हैं।' पश्चात् प्रभुने उसका ब्याह कराया और उसकी स्त्रीको भी दो-तीन बालक प्रदान किये, और पूछा—'भाई! ये कौन हैं?' वह बोला—'मेरे स्त्री-पुत्रादिक हैं। मैं स्वयं जाकर स्त्रीको ब्याह करके लाया था। क्या तुमने नहीं देखा था, जो पूछते हो? और उसके पेटसे उत्पन्न बच्चे मेरे ही हैं, इसमें पूछनेकी क्या बात है?' यों देखिये! मेरा-मेरा करता हुआ जीव कैसा मूढ़ बन जाता है!

अब एक दिन प्रभुकी दृष्टि उसकी स्त्रीके ऊपर पड़ी। अपनी सृष्टिमें उसको दूसरा काम सौंपना था। प्रभुने कहा—'अपनी स्त्री मुझको लौटा दो।' वह बोला—'अपनी वस्तु मैं आपको क्यों दूँ?' प्रभु झपट मारकर अपनी वस्तु ले जाते हैं और वह वहाँ ही रोता खड़ा रह जाता है। इस प्रकार जीवके संसारकी सृष्टि होती है और हमने प्रत्यक्ष देख लिया कि इसमें 'मेरी-तेरी' की कल्पनाके सिवा संसार-जैसी कोई वस्तु नहीं है। इसी कारण संसारको मिथ्या कहा है; क्योंकि जीवकी कल्पनाके सिवा उसका कोई स्वरूप नहीं है। **'संसरति इति संसारः'**—अर्थात् पकड़ने जाओ तो हाथमेंसे सरक जाय, उसे संसार कहते

---

* 'आव्युँ काईं नथी, गयुं पण नथी, जे जेम नुं जेम छे।
द्रष्टा एक अभिन्न चेतन अहो, ते तेम नु तेम छे॥

हैं। फिरकीसे जल भरने जाओ तो कुछ हाथ न लगेगा। इसी प्रकार संसारके पदार्थ कोई भी स्थिर नहीं रहते। सब-के-सब समय आनेपर सरक जानेवाले हैं।

संसार इसी प्रकार रचा जाता है। इसलिये प्रत्येक जीवका संसार अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार पृथक्-पृथक् होना चाहिये। इस व्यक्तिगत संसारमें ह्रास-वृद्धि हुआ करती है, यह हमने प्रत्यक्ष देख लिया। इसमें ममताके कारण सुख-दुःख उत्पन्न होता है। 'क' के संसारमें जब दो आदमी कम होते हैं, तब रोना-पीटना होता है, और 'ख' या 'ग' के संसारमें एक-दो आदमी बढ़ते हैं तो वहाँ आनन्द-मङ्गल होता है।

इस प्रकार जन्मसे मृत्युपर्यन्त जीव, 'मेरा-मेरा' करता हुआ अपने संसारकी सृष्टि करता है। उसमें वृद्धि होनेसे आनन्द मनाता है और ह्रास होनेपर रोता-पीटता है। इस तरह शरीरके प्रारब्ध-भोगके अनुसार सुख-दुःखकी तरङ्गोंमें डूबता-उतराता जीव संसारमें भटकता रहता है और प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर उसको अपना शरीर भी इच्छा न होते हुए भी छोड़ देना पड़ता है। शरीरके साथ सम्बन्ध छूटनेपर उसके रचे हुए इस संसारके साथ भी सम्बन्ध छूट जाता है और दूसरे जन्ममें इसकी स्मृति भी नहीं रहती।

इस बातका रहस्य समझाते हुए महाभारतकार एक श्लोकमें इस प्रकार कहते हैं—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

हे जीव! तुम हजारों माता-पिताकी गोदमें खेले होओगे तथा हजारों स्त्री-पुत्रादिका सुख भी तुमने भोगा होगा। वे जैसे चले गये और उनकी स्मृतितक आज नहीं है, उसी प्रकार वर्त्तमान जन्मके माता-पिता तथा स्त्री-पुत्र आदिके साथका सम्बन्ध भी छूट जायगा और वैसी स्थितिमें इनकी भी स्मृति भावी जन्मोंमें नहीं रहेगी। तथा जबतक तुम्हारी मुक्ति नहीं हो जाती तबतक यह संयोग-वियोग चलता ही रहेगा।

यह बात नाटकके दृष्टान्तसे इस प्रकार समझायी जा सकती है। प्रत्येक जीवका संसार नाटकका एक प्रवेश है। नाटकके किसी-किसी प्रवेशमें दो-चार आदमी अधिक भी आते हैं और किसी प्रवेशमें चले भी जाते हैं। यह प्रवेश जीवका एक संसार है और इसमें घट-बढ़ हुआ करती है। सारे प्रवेशोंके समूहका नाम नाटक है। अर्थात् नाटक तो ईश्वरकी सृष्टि है और उसमें प्रत्येक प्रवेश जीव-विशेषका संसार है।

यहाँतक हमने मायाके स्वरूपका दिग्दर्शन किया। अब यह विचार करना है कि इससे मुक्ति कैसे मिल सकती है। श्रीकृष्णभगवान्ने गीतामें इस प्रसङ्गमें बहुत ही स्पष्ट कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

श्रीभगवान् कहते हैं कि मेरी माया 'दुरत्यया' है अर्थात् इससे निस्तार पाना बहुत कठिन है। प्रायः असम्भव-सा है। परंतु श्रीभगवान्की जीवके ऊपर इतनी बड़ी कृपा है कि इस प्रकारकी अपनी दुस्तर मायाको पार करनेका भी सरल उपाय बतलाते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं कि जो कोई मेरी शरणमें आ जाता है, वह मेरी मायाको सहज ही पार कर जाता है। मायापतिकी शरणमें जानेपर माया कैसे पास आ सकती है। यदि सूर्यके पास अन्धकार जा सकता हो तो परमेश्वरके समीप माया जा सकती है। इसीलिये भगवान्ने कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अर्थात् दूसरी सारी बातोंको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ जा, इससे तू सब प्रकारसे निर्भय हो जायगा।

इस प्रकार मायाके बन्धनसे छूटनेके लिये ईश्वरकी अनन्य शरणागतिका एक मुख्य मार्ग हमने देखा। परंतु हम जहाँ हैं, वहाँसे इस मुख्य रास्तेतक पहुँचनेमें कुछ गलियों को पार करना पड़ेगा। अर्थात् अनन्य शरणागतिकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये कुछ साधन करने पड़ेंगे और वे सब साधन भक्तिमार्गके साधन कहलाते हैं।

इन साधनोंका निश्चय करनेके लिये सद्गुरुके पास आनेके लिये योग्य साधनका निर्णय करना पड़ेगा। परंतु गुरुके पास जानेके पहले एक विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ेगी। इस योग्यताका साधन-चतुष्टय श्रीचैतन्य महाप्रभुने इस प्रकार निश्चय किया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

अर्थात् (१) अपनेको एक तृणसे भी तुच्छ माने। इसीका नाम दीनता है। भक्तिमार्गकी पहली पगडंडी दीनता है; क्योंकि जबतक दैन्य नहीं आता तबतक अनन्य शरणागति नहीं हो सकती। दूसरे साधनोंमें कमी-बेशी हो तो चल सकता है, परंतु दीनताके बिना तो आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। (२) वृक्ष-जैसा सहनशील हो। अर्थात् सुख-दुःखमें सम रहे, समता प्राप्त करे। प्रत्येक साधनमें समताका ऊँचा स्थान है। इसके बिना किसी साधनमें उन्नति नहीं होती। अपनेको मान मिले, ऐसी इच्छा भी नहीं होनी चाहिये। समाजमें लोग मेरा आदर करें, लोग महान् भक्तके समान मेरा सम्मान करें—ऐसी इच्छा भी न हो। अर्थात् लोकैषणाका त्याग करे तथा भूतमात्रमें मेरे भगवान् ही विराज रहे हैं—ऐसा भाव बनाये रक्खे, सबका आदर करे, अर्थात् सबको मान प्रदान करे और मनसे प्राणीमात्रको नमस्कार करे।

इसके बाद गुरुके बताये हुए साधन भाव और प्रेमके साथ यदि निरन्तर किये जायँ तो भगवान्का साक्षात्कार होनेमें देर न लगेगी। देर लगती है केवल योग्यता प्राप्त करनेमें।

× × ×

अब एक दूसरी दृष्टिसे मायाका विचार कीजिये। माया त्रिगुणात्मिका है। उसके तीनों गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न होनेसे क्रमपूर्वक उनसे पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए। इन पञ्चमहाभूतोंके विभिन्न अङ्गोंसे सूक्ष्म और स्थूल शरीर बने। अतएव मानव-शरीरको मायाका एक मूर्तस्वरूप कहें तो कह सकते हैं। (यहाँ 'शरीर' शब्दका प्रयोग स्थूल और सूक्ष्म दोनोंके लिये आया है।) क्योंकि इस शरीरके द्वारा ही प्रपञ्चका प्रसार होता है। यह सुख-दुःखमय सारा व्यवहार भी शरीरको लेकर ही है। शिवत्व और जीवत्व भी इस शरीरके कारण ही होता है। शरीरद्वारा भोग भोगा जाता है, यह देखते-देखते शिवको शरीरमें आसक्ति हो जाती है, फलतः अपनेको कर्त्ता-भोक्ता मानकर अपने शिवभावको भूलकर वह जीवभावको प्राप्त होता है और न होनेपर भी जन्म-मरणके कष्टको भोगता है।

इसी दृष्टिकोणको श्रीभगवान्ने गीतामें इस प्रकार व्यक्त किया है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

यहाँ 'अनित्य' और 'असुख' शब्द समझने योग्य हैं। यह जगत् प्रवाहरूपसे नित्य दीखता है, परंतु वस्तुतः नित्य नहीं है, बल्कि अनित्य अर्थात् नित्यत्वकी भ्रान्ति करानेवाला, वस्तुतः क्षणभङ्गुर है। इसी प्रकार जबतक विवेकबुद्धि जाग्रत् नहीं हो जाती, तबतक यह सुखरूप दीखता है, परंतु वस्तुतः यह सुखकी भ्रान्ति कराकर दुःखका ही भोग कराता है। अर्थात् जीवको फुसलाकर दुःखमें सुखबुद्धि प्रदान करता है। राजस सुखको समझाते हुए श्रीभगवान्ने यही बात स्पष्ट की है कि यह जगत् भोगकालमें तो सुखरूप जान पड़ता है, परंतु परिणाममें यह जीवको दुःखकी परम्परामें ही ढकेलता है। यहाँ लोकका अर्थ अपना जगत् है, परंतु इसका अर्थ शरीर भी होता है। अतएव जबतक यह शरीर है, तबतक यह जगत् है, और इस शरीरके लिये ही जगत्के सारे व्यवहार हुआ करते हैं। यदि शरीर छूट जाय अर्थात् शरीरसे आसक्ति निकल जाय तो उसके लिये जगत्के व्यवहार नहीं रहते। सारांशमें श्रीभगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! इस क्षणभङ्गुर और दुःखदायी शरीरमें आये हो तो शरीरकी माया छोड़कर मेरा भजन कर लो। मनुष्य-शरीरकी सार्थकता इसीमें है।

यही बात भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें इस प्रकार समझायी है—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

--द्रष्टा अर्थात् शुद्धस्वरूपमें आत्मा और दृश्य अर्थात् शरीर—इन दोनोंका संयोग अर्थात् एकमें मिल जाना हेयहेतु अर्थात् दुःखका कारण है। भाव यह है कि आत्माने शरीरको ही अपना स्वरूप मान लिया है, यानी 'शरीर ही मैं हूँ'—ऐसा दृढ़ देहाध्यास उसे हो गया है। यही समस्त दुःखोंका, जन्म-मरण आदि दुःखोंका कारण है। अर्थात् शरीर ही मायारूप होकर आत्माको जीवभावमें ला देता है।

द्रष्टा आत्मा और दृश्य शरीर, दोनोंमें जो संयोग होता है, इसको शास्त्र हृदय-ग्रन्थि कहते हैं; कहीं-कहीं इसको चिज्जड (चित्+जड) ग्रन्थि भी कहते हैं। अब यह समझना है कि यह 'ग्रन्थि' शब्द कैसे आया? हम दस-बारह फुट लंबी रस्सी देखते हैं। हमारे पास छः-छः फुटके दो टुकड़े थे, दोनोंकी एक गाँठ बाँधकर उसको हम काममें लाते हैं। गाँठ बाँधनेसे क्या हुआ? दो रस्सियोंसे एक सपाट रस्सी बन गयी। इसी प्रकार आत्मा शरीरके साथ एकात्मता मान लेता है और फलस्वरूप स्वयं शरीररूप हो जाता है तथा

अपनेको न होते हुए भी शरीरके दुःख-सुखको अपना मानकर सुखी-दुखी होता है।

चित् अर्थात् चैतन्य कहनेसे आत्मा और जड यानी शरीर—इन दोनोंके बीच तादात्म्य-संयोग हो जानेसे इनका नाम 'चिज्जड-ग्रन्थि' बनता है। चैतन्य और जड, इन दोनोंमें सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि शरीरके मायारूप होनेके कारण चैतन्य अपने प्रतिबिम्बको अन्तःकरणमें देखकर अपनेको शरीररूप मान बैठता है और शरीरके सुख-दुःखको भोगता रहता है। परस्पर अत्यन्त विरोधी स्वभाववाले पदार्थोंमें एकात्मता हो गयी, भला इससे बढ़कर मायाका दूसरा चमत्कार और क्या हो सकता है? आत्मा चेतन है, पर शरीर जड है। आत्मा नित्य और अविनाशी है, परंतु शरीर अनित्य और क्षणभङ्गुर है, अर्थात् इसका कब नाश हो जायगा, इसका कुछ भी निश्चय नहीं। आत्मा पवित्र है, परंतु सारा शरीर अपवित्र और मलिनताका घर है। आत्मा आनन्दस्वरूप और सुखस्वरूप है, परंतु शरीर दुःखोंकी परम्पराका धाम है। इस प्रकार अत्यन्त विलक्षण स्वभाववालोंमें मिलन सूर्य और अन्धकारके मिलनके समान असम्भव है, परंतु मायाके प्रभावसे तादात्म्य मिलन होता है, यह हम आँखों देखते हैं। इसी कारण मायाको 'अघटित-घटना-पटीयसी माया' कहा गया है अर्थात् असम्भवको भी सम्भव करके दिखानेमें जो चतुर है, उसका नाम है माया। सचमुच परमेश्वरकी माया बहुत बलवान् है। सोनेका मृग न किसीने देखा न सुना; परंतु सीताका हरण और रावणका मरण इस मायाके ही कारण हुआ।

अब आगे देखिये। शरीरकी बनावट ऐसी है कि मनुष्य काम किये बिना नहीं रह सकता। भगवान्ने गीतामें कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

अर्थात् स्वभावतः शरीरसे कर्म हुआ करता है, अतएव मनुष्य एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इतना ही क्यों? कर्म किये बिना शरीर भी नहीं टिक सकता।

अतएव जबतक शरीर है, तबतक कर्म करना ही है और जबतक अन्तःकरण है तबतक इच्छाएँ होती रहेंगी। अतएव कर्मका फल भोगनेके लिये तथा इच्छाओंको तृप्त करनेके लिये जीवको बारंबार जन्म लेना पड़ता है। यदि वह कोई कर्म न करे और किसी प्रकारकी इच्छा न करे तो उसको जन्म भी न लेना पड़े। परंतु यह बात सम्भव नहीं है। अतएव जीवको जन्म न लेना पड़े, इसके लिये कोई दूसरी युक्ति खोजनी पड़ेगी।

कर्म तो जड है, वह जीवको कैसे बन्धनमें डाल सकता है? परंतु कर्ममें जो आसक्ति होती है, वह बन्धनका मूल है। कोई कर्म करते समय स्वयं कर्त्ता न होते हुए भी जीव कर्तृत्वका अभिमान करता है और कर्मफलकी आशा करता है। इस प्रकार कर्ममें अहंकार, आसक्ति और फलकी आशा ही जीवको बन्धन देनेवाली है, कर्म नहीं। यह बात श्रीभगवान्ने गीतामें इस प्रकार समझायी है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

अर्थात् जिस मनुष्यको यह अभिमान नहीं होता कि मैं इस कर्मका कर्त्ता हूँ तथा इस कर्मका मुझे यह फल मिलेगा—ऐसी आशा जो मनुष्य नहीं करता, वह कदाचित् इस युद्ध-भूमिमें खड़े सब लोगोंको मार भी डाले तो भी अकर्त्ता ही रहेगा और इस हेतु इस कर्मका फल उसे नहीं मिलेगा, अर्थात् यह कर्म बन्धनकारक न होगा। कर्म किस प्रकार सम्पादन होता है, इसकी बहुत विस्तृत आलोचना भगवान्ने इसी प्रसङ्गमें की है। उन्होंने 'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता' आदि श्लोकोंके द्वारा स्पष्ट किया है कि कर्मका सम्पादन इन अधिष्ठानादि पाँच साधनोंसे होता है; तथापि जो मनुष्य अपनेको कर्त्ता मानता है, वह अंधा ही है यों समझना चाहिये।*

इच्छाएँ भी सारी-की-सारी बन्धनकारक नहीं होतीं। प्रकृति-प्रेरित इच्छाएँ—जैसे भूख लगनेपर खानेकी इच्छा, प्यास लगनेपर पानी पीनेकी इच्छा, थक जानेपर आराम करनेकी इच्छा अवश्य होती है; परंतु ये इच्छाएँ बन्धनकारक नहीं होतीं। बन्धनकारक तो वे ही इच्छाएँ होती हैं, जिनमें कर्मके द्वारा किसी फलकी वासना या भोगकी वासना हो। ऐसी इच्छाएँ तृप्त हों या न हों, अन्तःकरणमें अपना संस्कार छोड़ जाती हैं और ये संस्कार ही भवबन्धनको दृढ़ करते हैं।

---

* गीता अध्याय १८ श्लोक १४, १५, १६

अतएव यह निश्चय हो गया कि कर्म करते हुए यदि कर्तृत्वका अभिमान नहीं होगा और फलकी आशा भी न होगी, तभी भवबन्धन दूर होगा। इसके लिये एक ही रास्ता दीखता है और वह यह है कि मायाको छोड़ दे, अर्थात् शरीरके साथ जो तादात्म्य-सम्बन्ध हो गया है, उसको छोड़ दे। शरीरमें अहंबुद्धि होनेपर ही शिवमें जीवभाव आता है। अतएव इसके लिये यह साधन अपनाना चाहिये कि जिससे देहमें रहते हुए देहके सङ्गका सम्बन्ध छूट जाय और देहके सुख-दुःख तथा कर्ता-भोक्तापन आत्माको स्पर्श न कर सकें।

इसके लिये जो साधन किया जाय, वह ज्ञान-मार्गका भी एक साधन हो। ऐसा साधन खोजनेके लिये सद्गुरुकी शरण लेनी पड़ेगी। परंतु सद्गुरुके पास जानेके पहले एक विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। यह योग्यता साधन-चतुष्टयके नामसे पुकारी जाती है और इसका स्वरूप इस प्रकार है—(१) विवेक यानी क्या सत् और शाश्वत है, तथा क्या असत् और नश्वर है—इसका निश्चय करनेवाली बुद्धि, (२) वैराग्य—अर्थात् इहलोक और परलोकके किसी पदार्थमें आसक्ति न होना, यानी भोगके पदार्थोंमें सहज अरुचि होना, (३) षट् सम्पत्ति—शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। इनमें तितिक्षा और श्रद्धा विशेष उपयोगी है, (४) मुमुक्षुता—अर्थात् मुक्त होनेकी प्रबल इच्छा। इन चार साधनोंसे सम्पन्न होकर साधक श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जाय और पश्चात् उसके बतलाये हुए साधनको तबतक भाव और प्रेमसे निरन्तर करता रहे, जबतक साध्यकी सिद्धि न हो। ऐसे साधकको मुक्ति प्राप्त हुए बिना नहीं रहती।

इस 'साधन-विचार'का सार संक्षेपमें इतना ही समझकर मनुष्य ईश्वरका आश्रय लेकर अपने मार्गपर सदाचारपूर्वक चले, प्रारब्धके योगसे रास्तेमें कटीली झाड़ी आये तो उसमें न फँसे बल्कि सावधानीसे अपने रास्ते चला जाय। मार्ग छोड़कर न चले, नहीं तो रास्ता भूल जायगा। यदि कहीं काँटेमें कपड़े फँस जायँ तो सावधानीसे छुड़ा ले और आगे बढ़े। यदि रास्तेमें पुष्पोद्यान आये तो उसे देखकर सुगन्धसे लुब्ध होकर रुक न जाय, बल्कि आगे-ही-आगे बढ़ता जाय। अर्थात् सुखके भोगमें आसक्त न हो और दुःख आनेपर घबरा न जाय; क्योंकि प्रारब्धका भोग तो भोगनेपर ही छुटकारा मिलता है। घबरानेसे तो काम चलनेका नहीं। अतएव दुःखके प्रसङ्गमें नीचेका मन्त्र याद रक्खे और आगे बढ़ता जाय।

ज्ञानी काटे ज्ञान ते, मूरख काटे रोय।
मौत बुढ़ापा आपही सब काहूको होय॥

यही बात पञ्चदशीमें इस प्रकार लिखी है—

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समेऽप्यारब्धकर्मणि।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः॥

प्रारब्धानुसार दुःखका भोग ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनोंको होता है। परंतु ज्ञानी तो धैर्यसे सहन करके शान्ति-सेवन करता है और अज्ञानी धैर्य धारण न कर सकनेके कारण क्लेशका अनुभव करता है।

जहाँ जानेसे सार वस्तु प्राप्त हो, वैसा सत्सङ्ग अवश्य करे। परंतु वस्तुतः आश्रय तो ईश्वरका ही ग्रहण करे।

सच कहा है कि 'मार्गस्थो नावसीदति' अर्थात् जो मनुष्य अपने रास्ते चलता रहता है, वह अवश्य ही लक्ष्यस्थानपर पहुँच जाता है। जो रास्तेमें गलती करते हैं या रास्ता बदला करते हैं, उनको ही विघ्न-बाधाएँ घेरती हैं। ऐसे मनुष्य लक्ष्यस्थानपर नहीं पहुँच सकते।

भक्तिके बिना सुख कहाँ ?

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

पुराणोक्त धर्म-वंशका रहस्य

(लेखक—सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्त श्रीस्वामी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

पुराण

विश्व-विद्या एवं विश्व-कलाओंके विश्वकोश होनेपर भी पुराणोंका मुख्य सम्बन्ध किस विषयसे सम्बद्ध है ? इस प्रश्नका समाधान करती हुई अथर्ववेदीय गोपथ-ब्राह्मण श्रुति कहती है—**‘ध्रुवायाश्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदं निरमिमित’** अर्थात् ध्रुवा दिशा (पृथिवी) एवं ऊर्ध्वा दिशा (द्युलोक) से पुराण; वेद (पुराण-विद्या) का निर्माण हुआ है। श्रुतिका तात्पर्य यह है कि त्रिलोकी एवं उसके अन्तर्गत पदार्थोंकी सृष्टि; स्थिति एवं प्रलयसे पुराण-विद्याका सम्बन्ध है। इसी रहस्यको प्रकट करनेके लिये पुराणोंमें यह कहा गया है कि ब्रह्माके पाँचवें मुख (आकाश) से पुराणोंका आविर्भाव हुआ है।

त्रिलोकी

आप्तोंका आदेश है कि आधिदैविक; आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक भेदसे त्रिलोकी तीन प्रकारकी है। इस त्रिलोकीके ही क्रमशः दिव्यत्रिलोकी; शारीरिकत्रिलोकी एवं भूतत्रिलोकी भी नामान्तर हैं। योग-शास्त्र एवं तन्त्र-शास्त्रोंमें दिव्यत्रिलोकीको ब्रह्माण्ड; शारीरिकत्रिलोकीको पिण्ड एवं भौतिक त्रिलोकीको विराट् कहते हैं **‘पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यम्’** यह तान्त्रिकों और योगियोंका सिद्धान्त विज्ञान्य (प्रमाण-युक्त) है। त्रिलोकी एवं त्रिलोकी-अन्तर्गत सब पदार्थोंकी उत्पत्ति; स्थिति एवं प्रलय-परम्पराको कहना पुराणोंका मुख्य विषय है। इसी कारण धर्म और अधर्मके वंशका वर्णन भी पुराण-विद्याके अन्तर्गत ही है। कारण कि धर्म एवं अधर्मरूप द्वन्द्व; विश्व-धारक धर्माधर्म; ज्ञानाज्ञान; वैराग्य-राग (आसक्ति) एवं ऐश्वर्य-अनैश्वर्यरूप चार द्वन्द्वोंमें अन्यतम द्वन्द्व है। इस अर्थको सरलतासे समझानेके लिये तन्त्रोंमें धर्मको ज्ञान; वैराग्य एवं ऐश्वर्यके साथ भगवान्‌के पीठका एक पाद माना गया है। ऐसे ही अधर्मको पीठका शरीर माना गया है। भगवान्‌का पीठ विश्वरूप ही है।

धर्मका वंश

धर्म-वंश-ज्ञानके पूर्व, धर्मके स्वरूपका ज्ञान आवश्यक है। धर्मका स्वरूप क्या है, इस प्रश्नका उत्तर देता हुआ ‘वराहपुराण’ कहता है कि ‘विश्वकी संचालिका पाँच शक्तियोंमें अन्यतम शक्ति धर्म है।’ ‘विष्णुपुराणका आवेदन है कि ‘विश्वमें तीन प्रकारकी शक्तियाँ प्रतिक्षण तीन कार्य किया करती हैं। उनमें एक शक्ति दक्ष और प्रजापतियोंके रूपोंमें नित्य सृष्टि किया करती है। दूसरी शक्ति धर्म; मनु एवं धर्मात्मा मनुष्योंके रूपोंमें नित्य रक्षा किया करती है। तीसरी शक्ति अधर्म एवं रौद्ररूपोंमें नित्य प्रलय किया करती है। इनमें जो शक्ति विश्वकी नित्य रक्षा (धारण) करती है; वही शक्ति (वीर्य) धर्म है। इसके स्वरूपको निरूपित करते हुए आप्तजन कहते हैं—

धर्मो हि वीर्यं ध्रियते हि धर्मो धर्मो धृतो धारयते हि रूपम्।

अर्थात् धारणात्मिका शक्तिको धर्म कहते हैं। वह शक्ति धर्म इसलिये है कि द्रव्य (धर्मी) द्वारा धारण की जाती है। जिस द्रव्य (धर्मी) द्वारा जो शक्ति (धर्म) धारण की जाती है; अर्थात् जिस पदार्थका जो धर्म है, वही धर्म उस पदार्थ (धर्मी) को धारण (रक्षा) करता है। इन दो कारणोंसे उस शक्तिको धर्म कहते हैं। इसका विशेष भाष्य इस प्रकार हो सकता है कि विश्वगत यच्च-यावत् पदार्थोंके संरक्षण एवं संवर्द्धनके लिये धर्मतत्त्व आविर्भूत हुआ है। वही धर्मरूपसे प्रत्येक पदार्थके हृदयमें प्रतिष्ठित होकर तत्तत्पदार्थोंका संरक्षण-संवर्द्धन करता है। यही धर्म-तत्त्व ब्राह्मण ग्रन्थोंमें ‘अन्तर्यामी’ नामसे प्रसिद्ध है।

यद्यपि अन्तर्यामी ईश एकरूप है; तथापि उपाधिभेदसे विविध रूपोंमें परिणत हो जाता है। जलका अन्तर्यामी (द्रवत्वरूप धर्म) जहाँ पानीको निम्नगामी बनाता है, वहाँ अग्निका अन्तर्यामी (उष्णत्वरूप धर्म) अग्निको ऊर्ध्वगामी बनाता है। यही धर्मरूप अन्तर्यामी विश्वका शासन करता है। इसी अन्तर्यामी (धर्म) के शासन-दण्डसे प्रशासित होकर ·विश्वके पदार्थमात्र स्व-स्वकर्ममें प्रवृत्त रहते हैं। यही धर्म ‘नियति’ कहलाता है। जो पदार्थ अपनी ‘नियति’ (धर्म) को छोड़ देता है, वह नष्ट हो जाता है—

‘येऽत्यायुस्ते पराबभूवुः।’

स्पष्ट ज्ञानके लिये पुनरपि विवरण किया जाता है।

प्रकृतिमें जो अलौकिक शक्ति सम्पूर्ण संसारकी रक्षा करती है, उसीका नाम धर्म है । जो शक्ति पृथिवीमें व्यापक होकर पृथिवीके पृथिवीत्व (काठिन्य) को बनाये रखती है, जो शक्ति जलमें रहकर जलके जलत्व (तरलता) का सम्पादन करती है, जो शक्ति तेजमें रहकर उष्णताकी रक्षा करती है, जिस शक्तिके न रहनेसे पृथिवी जल अथवा तेजरूपमें परिणत हो जाती है, तेज गुरुत्व एवं काठिन्य धर्माक्रान्त होकर पृथिवीरूपमें परिणत हो जाता है, जो शक्ति पञ्चभूतों एवं मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और ग्रह-नक्षत्र आदि पाञ्चभौतिक पदार्थोंको अपने-अपने स्वरूपमें स्थित रखकर उनका संवर्धन करती है, वही प्राकृतिक शक्ति धर्म है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक अणु-परमाणुके भीतर आकर्षण-विकर्षण नामक दो शक्तियाँ हैं । वैदिक परिभाषामें इन्हीं दो शक्तियोंको विष्णु और इन्द्र कहा गया है । इन दोनोंकी समानताके कारण असीम एवं शून्य महाकाशमें वर्तमान अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र अपनी-अपनी कक्षापर घूमते हुए कभी कोई अपनी कक्षासे गिरकर दूसरे ग्रहादिके साथ टकराता नहीं । जलमय चन्द्रलोक तेजोमय सूर्यलोकमें प्रविष्ट होकर नष्ट नहीं होता अथवा बड़ा ग्रह छोटे ग्रहको अपने भीतर खींचकर नष्ट नहीं कर देता । जो प्रकृति (ईश्वरीय शक्ति) आकर्षण-विकर्षण दोनोंकी समानता रखकर सब पदार्थोंकी रक्षा करती है और उनकी वृद्धि करती है, वही प्रकृति-शक्ति धर्म है ।

विश्वमें धर्मरूपी इस धारिका शक्तिका प्रभाव दो रूपोंमे दिखायी देता है । प्रथम यह कि एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे पृथक् रखकर उसे अपनी अवस्थामें सुरक्षित रखना, द्वितीय यह कि क्रमशः उस पदार्थकी उन्नति कराकर उसे पूर्णताकी ओर ले जाना । विश्व इसी धारिका शक्तिपर टिका हुआ है । इसको निदान (संकेत) भाषामें समझानेके लिये महादेव (ब्रह्माण्ड) का वाहन वृषभ अङ्कित किया गया है ।

धर्म-वंशका रूपक

ब्रह्माण्डकी रक्षिका (धारिका) यह धर्मात्मिका शक्ति भिन्न-भिन्न रूपोंसे अधिदैवत (ब्रह्माण्ड) एवं पिण्ड (शरीर) में रहकर रक्षा करती है, इस तत्त्वको सरलतासे आबाल-गोपालोंतक पहुँचानेके लिये पुराणोंने रूपकालंकारसे काव्यों-की भाषामें इस प्रकार समझाया है—'धर्म ब्रह्माका पुत्र है, वह ब्रह्माके दक्षिण-स्तनसे उत्पन्न हुआ है । दक्षप्रजापति-की तेरह पुत्रियाँ (दाक्षायणी कन्याएँ) उसकी पत्नियाँ हैं, जिनके नाम ये हैं—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री एवं मूर्ति । इन पत्नियोंसे धर्मको तेरह पुत्र प्राप्त हुए, जो विश्वका कल्याण करते हैं । श्रद्धासे शुभ, मैत्रीसे प्रसाद, दयासे अभय, शान्तिसे सुख, तुष्टिसे मुद, पुष्टिसे स्मय, क्रियासे योग, उन्नतिसे दर्प, बुद्धिसे अर्थ, मेधासे स्मृति, तितिक्षासे क्षेम, ह्री (लज्जा) से प्रश्रय (विनय) उत्पन्न हुआ । मूर्तिसे आधार (अणु-परमाणुका आश्रय तत्त्व) उत्पन्न हुआ, जो पिण्ड-ब्रह्माण्डात्मक है । इस आधार-भेदसे ही मूर्तिके पुत्र नर-नारायण कहलाये ।

धर्म-वंशका तात्त्विक रूप

उपर्युक्त प्रकारसे पुराणोंमें धर्मवंशका रूपकालंकारसे उल्लेख हुआ है । इस पौराणिक भाषाका तात्त्विक (दार्शनिक भाषा) में अनुवाद करें तो वह इस प्रकारसे होगा कि 'धर्म' प्रकृतिकी नित्य रक्षा करनेवाली एक सात्त्विक शक्ति है । दक्ष-वृत्तकी तेरह पुत्रियाँ, जिन्हें चान्द्री शक्तियाँ अथवा सौम्य शक्तियाँ भी कहते हैं, प्रस्तुत धर्मतत्त्वकी सहयोगिनी शक्तियाँ हैं । पौराणिक परिभाषामें जिस मार्गसे चन्द्रमा पृथ्वीके चारों ओर नियत कक्षावृत्तपर परिक्रमण लगाया करता है, वह कक्षावृत्त 'दक्षवृत्त' नामसे प्रसिद्ध है । इस 'दक्षवृत्त'से अवच्छिन्न (सीमित) चन्द्र-मण्डल ही सृष्टिकी उत्पादिका सौर, आग्नेय आदि विविध शक्तियोंके साथ औषधरूपमें परिणत होता हुआ पार्थिव प्रजाकी उत्पत्तिका कारण बनता है । इसलिये दक्षवृत्तको दक्षप्रजापति कहते हैं । दक्ष-वृत्तमें चान्द्र-सोमकी प्रधानता रहती है । जिस प्रकार अग्नितत्त्व पुरुष-संस्थाका अधिष्ठाता बनता है, तथैव सोमतत्त्व स्त्री-भावका प्रवर्तक है । दक्षवृत्तमें स्त्री-प्राणप्रधान इसी चान्द्रसोमकी प्रधानता है । इसका संरक्षक दक्षवृत्त (दक्षप्रजापति) ही है । अतएव पुराणोंमें इस सोमतत्त्वको दक्षप्रजापतिकी कन्या माना है । यह एक ही सोमतत्त्वात्मक कन्या ६० भागोंमें विभक्त हो जाती है । सोमतत्त्वपूर्ण यह दक्षवृत्त भिन्न-भिन्न शक्तियोंसे विभक्त होता रहता है एवं उन शक्तियोंके साथ मिलकर तत्तत् पदार्थोंको त्रिलोकीमें उत्पन्न करता रहता है । जिस प्रकार कश्यपात्मक सूर्यके सम्बन्धसे दक्षवृत्तके १२ विभाग हो जाते हैं, उन विभागोंके सम्बन्धसे कश्यप प्रजापति सर्पप्राण, देवप्राण आदि भिन्न-भिन्न प्राणोंके जनक होते हैं ।

दक्षवृत्तके येही १३ विभाग कद्रू, विनता, दिति, अदिति आदि नामोंसे पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार धर्मतत्त्व भी उस दक्षवृत्तको ८–१० अथवा १३ भागोंमें विभक्त करता है। उन भागोंसे मिथुनभावको प्राप्त होता हुआ अधिदैवत, अध्यात्म एवं अधिभूतोंमें विभिन्न भावोंका प्रवर्तक होता है। विश्वका कोई भी जन्य पदार्थ आग्नेय एवं सौम्यरूप दो तत्त्वोंके बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, यह प्राकृत नियम है। इस नियमसे नियन्त्रित होनेके कारण सौर अथवा आग्नेय तत्त्वप्रधान धर्मतत्त्वको भी स्त्री-भाव-प्रधान दक्षवृत्तमें रहनेवाले सोमतत्त्वका अवलम्बन विभिन्न भावोंके उत्पादनके लिये लेना पड़ता है। यही धर्मका दाक्षायणी कन्याओंके साथ विवाह है, जिसका पुराणोंमें रूपकालंकारसे वर्णन हुआ है।

दक्ष-कन्याओंके नामान्तर

उपरिवर्णित धर्मपत्नी दाक्षायणियों एवं उनके पुत्रोंके नाम श्रीमद्भागवतपुराणके आधारपर लिखे गये हैं। अन्य पुराणोंमें दक्षकन्याओं तथा उनकी संततिके नामोंमें भेद है। 'विष्णुपुराण'में उनके नाम इस प्रकार हैं—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपुः, शान्ति, सिद्धि, कीर्ति, ख्याति, सती, सम्भूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, संतति, अनसूया, ऊर्जा, स्वाहा, स्वधा—इन चौबीस कन्याओंमेंसे तेरह कन्याओंका विवाह धर्मके साथ हुआ है। प्राञ्जल भाषामें कहें तो यों कह सकते हैं कि धर्मके ही तेरह रूपान्तर हैं। इन्हीं रूपोंसे प्रकृति प्राणियोंका ही नहीं अपितु पदार्थमात्रका पालन किया करती है। ब्रह्माण्ड-रक्षिका ये शक्तियाँ जब पदार्थोंमें विकसित होती हैं, विशेष करके मनुष्योंमें, तब विश्वकी अनेक प्रकारसे रक्षा किया करती हैं।

धर्मके पुत्र

दक्षपुत्री श्रद्धासे धर्मने कामको उत्पन्न किया, लक्ष्मीका पुत्र दर्प हुआ। धृतिने नियमको जन्म दिया, तुष्टिने संतोषको उत्पन्न किया। पुष्टिका पुत्र लोभ है। दक्ष-कन्या मेधाने श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) को उत्पन्न किया तो दक्षपुत्री क्रियाने तीन पुत्रोंको जन्म दिया। जब क्रिया तमोगुणको धारण करती है, तब 'दण्ड' नामक पुत्रको जन्म देती है, वह जब रजोगुणमें रहती है, तब उससे नय (नीति) नामक पुत्र उत्पन्न होता है और जब वह सत्त्वगुणका भोग करती है, तब अनौद्धत्यरूप मानस विनयको जन्म देती है। दाक्षायणी बुद्धि बोध (ज्ञान) को उत्पन्न करती है। दक्षकन्या लज्जादेवी शरीरसम्बन्धी विनयको उत्पन्न करती है। वपुदेवी व्यवसाय (कर्मण्यता) को जन्म देती है। दक्ष-कुमारी शान्ति देवी क्षेमको उत्पन्न करती है। सिद्धि सुखको और कीर्ति यशको जन्म देती है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण धर्मकी आठ पत्नियाँ मानता है। उनके नाम हैं—शान्ति, पुष्टि, धृति, तुष्टि, क्षमा, श्रद्धा, मति और स्मृति। इनमें शान्तिका पुत्र संतोष, पुष्टिका महान् (महत् परिमाण), धृतिका धैर्य, तुष्टिके हर्ष और दर्प, क्षमाका सहिष्णु, श्रद्धाका धार्मिक, मतिका ज्ञान एवं स्मृतिका पुत्र जाति-स्मर हुआ, जिसका अर्थ है—जात-जात (उत्पन्न-उत्पन्न) संस्कारका स्मरण करना।

लिङ्गपुराणमें दक्षपुत्री क्रियाके दो पुत्र माने गये हैं—दण्ड और समय। यहाँपर समयसे मर्यादा अभिप्रेत है। वस्तुतः दण्ड और मर्यादाने ही विश्वको धारण कर रखा है। इसी पुराणमें दक्षकन्या बुद्धिके बोध और अप्रमाद—ये दो पुत्र माने गये हैं। पुराणका कहना है कि धर्मपुत्र कामका विवाह प्रीति देवीसे हुआ है। इन दोनोंके मिथुन-भावसे हर्ष नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। धर्म एवं उसके पुत्र-पौत्ररूप वंश उदर्क (उत्तरकालीन) सुख है।

दक्षकी १६ कन्याएँ

विष्णुपुराणमें स्वायम्भुव दक्ष (यज्ञसूत्रात्मक) प्राणरूप दक्षकी २४ कन्याओंका उल्लेख है। किंतु श्रीमद्भागवतपुराण निम्नाङ्कित श्लोकके आधारपर २४ कन्याओंमें दक्षकी केवल १६ कन्या ही मानता है। जैसे—

प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः।
तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः॥

यद्यपि श्रीमद्भागवत दक्षकन्यात्वेन प्रसिद्ध ख्याति, अनसूया एवं कला आदि कन्याओंको कर्दम प्रजापति एवं मनुपुत्री देवहूतिकी कन्याएँ मानता है, तथापि कर्दम प्रजापति तथा देवहूतिका कतिपय पुराणोंमें उल्लेख नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि कर्दम दक्षका ही रूपान्तर (छाया) है। 'छायायाः कर्दमो जज्ञे' यह भागवत-वचन सुप्रसिद्ध है। मनुपुत्री एवं कर्दमपत्नी देवहूति भी मनुपुत्री प्रसूतिका ही रूपान्तर है। देवहूतिका अर्थ है—दैवीगुणोंकी उत्पादिका शक्ति। वस्तुतः अनसूया आदि गुण दिव्य गुण हैं। अतः जिस मानसमें

देवहूतिका विकास होगा, वह मानव दैवीगुण क्षमा, अनसूया, कला आदि गुणोंसे अलंकृत हुए बिना नहीं रह सकता ।

कर्दमकन्या

पुराणान्तरोंमें दक्ष-कन्यात्वेन प्रसिद्ध कला, अनसूया, श्रद्धा, हविर्भूः, गति, क्रिया, ऊर्जा, चिति एवं ख्याति—ये नौ कन्याएँ श्रीमद्भागवतके अनुसार कर्दम प्रजापति एवं मनुकन्या देवहूतिकी पुत्रियाँ हैं । इनमें कलाके कश्यप एवं पूर्णिमान ये दो पुत्र हैं । अनसूयाके दत्त, दुर्वासा एवं सोम—ये तीन पुत्र हैं । अङ्गिराकी श्रद्धासे सिनीवाली, कुहू, राका एवं अनुमति—ये चार कन्याएँ हैं । बृहस्पति एवं उतथ्य भी श्रद्धाके पुत्र हैं । हविर्भूःका पुत्र अगस्त्य है । क्रियाके पुत्र हैं—वालखिल्यादि ऋषिगण । विश्वमें उच्चावच (छोटी-मोटी) क्रियाओंके प्रवर्तक वालखिल्य ऋषि (प्राण) ही हैं । ऊर्जाके पुत्र हैं—चित्रकेतु आदि । अथर्वाकी पत्नी चितिने दध्यङ् प्राण (ऋषि) को उत्पन्न किया । भृगुने ख्यातिसे धाता-विधाताको उत्पन्न किया ।

प्राणविध हैं—

ब्रह्मा, ब्रह्मपुत्र मनु, मनुपत्नी देवी शतरूपा तथा उसकी तीनों (देवहूति, आकूति, प्रसूति) पुत्रियाँ । देवहूति-पति कर्दम और कर्दमकी कला, अनसूया, ख्याति आदि पुत्रियाँ एवं उनके पति मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा आदि सब प्राणविध (प्राणरूप) हैं, प्राणिविध (मनुष्यविध) नहीं—अतः सर्वदेश एवं सर्वकालमें व्याप्त हैं । इन सबका व्यवहार दिव्य है । दिव्य शक्तियोंका विवाह आदि व्यवहार भी दिव्य ही है । मनुष्य-व्यवहारवत् मानना अज्ञान है । केवल सरलतासे प्रबोधके लिये ही मानुष-व्यवहारसे उनके विवाह आदिका वर्णन है । वस्तुतः यह सब काव्यभाषामें रूपकालंकार है ।

अन्य प्रकार

प्राचेतस दक्षकी ६० कन्याओंमेंसे १० धर्मकी पत्नियों, उनके पुत्रों, प्रपौत्रोंके नाम तथा पुत्रोंके कार्य श्रीमद्भागवतमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपलब्ध होते हैं । प्रथम दक्ष-पुत्री भानुका पुत्र देवऋषभ एवं पौत्र देवसेन है । द्वितीया पुत्री लम्बाका पुत्र विद्योत (विद्युत्) है एवं पौत्र घोष (स्तनयित्नु) है । तृतीया कन्या ककुप्का पुत्र पार्थिव दुर्गम प्रदेश है । इसका तात्पर्य यह है कि जिस पार्थिव भागमें ककुप् शक्ति (प्राण) का प्राकट्य होता है, वह भाग वन, पर्वत आदिसे दुर्गम बन जाता है । चतुर्थी पुत्री यामीका पुत्र स्वर्ग एवं पौत्र नन्दी (आनन्द) है । यहाँपर 'स्वर्ग' शब्दका अर्थ नागवीथि है । पाँचवीं पुत्री विश्वाके पुत्र विश्वेदेव हैं । इनका कार्य एक बीजको अनेक रूपोंमें परिणत करना है । छठी पुत्री साध्याके पुत्र साध्यदेव एवं पौत्र अर्थ-सिद्धि है । साध्य प्राण (शक्तियाँ) वस्तुकी साधक (निर्माण-कर्त्री) शक्तियाँ हैं । इसका आशय यह है कि वस्तुका उत्पादन अथवा निर्माण ही साध्योंका अर्थसिद्धिरूप (वस्तुनिष्पादनरूप) पुत्र है । सातवीं मरुत्वतीके मरुत्वान् (इन्द्र) और जयन्त (उपेन्द्र) —ये दो पुत्र हैं । आठवीं मुहूर्ताके पुत्र मौहूर्तिक देव (प्राण) हैं । ये अपने-अपने कालमें उत्पन्न फल देते हैं । नवीं दक्षकन्या संकल्पाका पुत्र संकल्प एवं पौत्र काम (वस्तुकी अभिलाषा) है । दशवीं कन्या वसुके आठ वसु पुत्र हैं, जो पिण्ड-ब्रह्माण्डमें भिन्न-भिन्न भावों (गुणों) के प्रवर्तक हैं ।

भानु, लम्बा एवं ककुप् आदि दक्ष-पुत्रियाँ तथा उनके विद्योत एवं द्रोण आदि पुत्र—ये सब प्राणरूप होनेसे प्रकृतिकी उच्चावच कलाएँ हैं तथा पिण्ड और ब्रह्माण्डमें भिन्न-भिन्न भावोंकी प्रवर्तिका हैं । जैसे—दक्षपुत्री और धर्मपत्नी वसुका पुत्र द्रोण नामक वसु अपनी पत्नी अभिमतिके सहयोगसे अध्यात्ममें हर्ष, शोक, भय एवं विस्मय आदि भावोंका प्रवर्तक है, वैसे ही ब्रह्माण्डमें भी व्यापक भय-शोकादिका कारणभूत है । द्रोण एक प्रकारकी आग्नेय शक्ति है, जो अभिमतिरूप सौम्य शक्तिसे मिलकर हर्ष, शोक एवं भय आदि भावोंको उत्पन्न करती है । इस तात्त्विक अर्थको पौराणिक लोग रूपकालंकारसे इस प्रकार कहते हैं कि द्रोणने अपनी पत्नी अभिमतिके दाम्पत्य-भावसे हर्ष, शोक आदि पुत्रोंको उत्पन्न किया । प्राण नामक वसु अध्यात्ममें पिण्ड एवं अधिदैवत (ब्रह्माण्ड) में बल, आयु एवं पुरोजव (आगे बढ़ना) भावोंका प्रवर्तक है । दक्षकन्या वसुका पुत्र ध्रुव वसु विश्वमें विद्यमान विविध घनताओं (काठिन्य भावों) का प्रवर्तक है । अर्क वसु अपनी पत्नी वासनाके सहयोगसे अध्यात्ममें तर्ष, अभिलाषा, आशा एवं प्रतीक्षा आदि भावोंका प्रवर्तक है । तर्ष, अभिलाषा आदि भाव वस्तुमात्रमें इसी अर्क वसुसे उत्पन्न होते हैं । विभावसु नामक वसु उषाके दाम्पत्य-भावसे व्युष्ट, रोचिष्, आतप एवं पंचयाम (दिन) आदि विविध प्रकाशोंके तारतम्यका पिण्डब्रह्माण्डमें प्रवर्तक है । इस प्रकाशसे ही प्राणी निद्रासे जाग्रत् होते हैं ।

प्रस्तुत विवेचनसे यह सिद्ध हुए बिना नहीं रहता कि जहाँ अन्य दर्शन भय, शोक एवं हर्ष आदि मानुष भावोंका उल्लेखमात्र सम्मुखाकारसे करते हैं, वहाँ पुराण उनके मूल कारण एवं उनके स्वरूपका भी 'इदमित्थम्' रूपसे निर्देश करते हैं—वह भी प्राञ्जल तथा सरल-सरस भाषामें। दुःखका विषय है कि अपनी जड बुद्धिके कारण पुराण-रहस्योंको न समझकर भ्रान्त जनोंने 'पुराणोंपर वैदिक बम' डालनेका असफल प्रयत्न किये हैं। इससे तो वैदिक संस्कृतिका ही नाश है। विश्वमें सामान्य जनोंतक वैदिक संस्कृतिके प्रचार और प्रसारके लिये पुराणोंसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं। पुराणोंकी उपेक्षा प्रकारान्तरसे वेदोंकी ही उपेक्षा है। पुराण, वेद (प्रकृति) के इस ध्रुव नियमका कि भय, शोक एवं हर्ष आदि विश्वगत सभी पदार्थ मूलमें विद्यमान दो तत्त्वोंसे उत्पन्न हैं, कभी उल्लङ्घन नहीं करते।

दो दक्ष

१८ पुराणोंमेंसे दो-तीन पुराणोंको छोड़कर सब पुराणोंमें धर्मवंशका उल्लेख है। इन पुराणोंमें २ प्रकारसे उसका उल्लेख मिलता है। एक जगह दक्षकी २४ कन्याओंमेंसे १३ कन्याओंका विवाह धर्मके साथ हुआ, यह उल्लेख है। अन्यत्र दक्षकी ६० कन्याओंमेंसे १० कन्याएँ धर्मको देनेका उल्लेख है। इन दोनों स्थलोंमें केवल संख्यामें ही भेद नहीं है, अपितु उनके नामों तथा पुत्र-पौत्रोंके नामोंसें भी भिन्नता है। प्राचीन विद्वानोंने विष्णुपुराणकी व्याख्यामें इस विषयका समाधान करते हुए कहा है कि दक्ष दो हैं—एक स्वायम्भुव दक्ष, दूसरा प्राचेतस दक्ष। स्वायम्भुव दक्षको २४ और प्राचेतस दक्षको ६० कन्याएँ हैं। स्वायम्भुव दक्षकी २४ कन्याओंमेंसे १३ का विवाह धर्मके साथ हुआ है तथा प्राचेतस दक्षकी ६० कन्याओंमेंसे १० कन्याओंका। विद्वानोंका यह समाधान कि 'दक्ष दो हैं' प्रमाणयुक्त होनेसे यथार्थ है। वस्तुतः दक्ष दो ही हैं—एक दक्षवृत्तरूप दक्ष और दूसरा प्राणात्मक दक्ष, जिसे व्यवसायरूप दक्ष कहते हैं। ये ही स्वायम्भुव दक्ष हैं। इनका काम अध्यात्ममें व्यवसाय-शक्तिको उत्पन्न करना है। यही दक्ष-यज्ञका सूत्र है, जिस सूत्रपर यज्ञका वितान होता है।

व्यवसायरूप स्वायम्भुव दक्षकी १३ कन्याओं एवं उनके संतानोंका वर्णन ऊपर किया गया है। दक्षवृत्तरूप प्राचेतस दक्षकी १० कन्याओं तथा उनके पुत्रोंके नाम नीचे लिखे जाते हैं—१ मरुत्वतीके पुत्र मरुत्वान्, २ वसुके पुत्र वसु, ३ यामीकी संतति नागवीथि, ४ लम्बाका पुत्र घोष, ५ भानुका पुत्र भानु, ६ अरुन्धतीके पुत्र तृणादिक, ७ संकल्पाका पुत्र संकल्प, ८ मुहूर्तके पुत्र मुहूर्तगण, ९ साध्याके पुत्र साध्यदेव और १० विश्वाके पुत्र विश्वेदेव हैं। स्वायम्भुव दक्षकी पत्नी मनुपुत्री प्रसूति है और प्राचेतस दक्षकी पत्नी वृक्षकन्या असिक्नी है। (शेष आगे)

करता राम सनेही

हमरो करता राम सनेही।
काहे रे नर ! गरब करत है,
बिनसि जाय झूठी देही ॥
मेरी-मेरी कौरव करते दुरजोधन-से भाई।
बारह जोजन छत्र चलै था, देही गिरधन खाई ॥
सरब सोनेकी लंका होती, रावनसे अधिकाई।
कहा भयो दर बाँधे हाथी, खिन महँ भई पराई ॥
दुरवासा सूँ करत ठगौरी, जादव वे फल पाए।
कृपा करी जन अपने ऊपर नामा हरिगुन गाए ॥

—संत नामदेवजी

केवल निष्काम कर्मसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

केवल निष्काम कर्मसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और उसमें भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब तो कल्याण होनेमें बात ही क्या है। जैसे भगवान्ने कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(गीता १२ । १२)

अभिप्राय यह कि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। योगका अभ्यास, शास्त्रका अभ्यास, किसी भी प्रकारका जो अध्यात्मविषयक अभ्यास है, उससे ज्ञान श्रेष्ठ है। पर जो अभ्यास ज्ञानपूर्वक नहीं है, उसकी अपेक्षा वह ज्ञान श्रेष्ठ है जहाँ ज्ञान है पर अभ्यास नहीं है। जो केवल ज्ञान यानी शास्त्रज्ञान (परोक्ष ज्ञान) है, उससे परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है। किंतु जो परमात्माका साक्षात्—यथार्थ अनुभव यानी अपरोक्ष ज्ञान है, उससे नहीं। तथा परमात्माका जो ध्यान निष्काम नहीं है, ऐसे ध्यानसे कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है अर्थात् जहाँ कर्मके फलकी इच्छा नहीं है, ऐसा निष्काम कर्म भगवान्के सकाम ध्यानसे श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मफलके त्यागमें जो त्याग है, उस त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर जो शान्ति मिलती है, वही शान्ति उसे मिल जाती है। इसलिये निष्काम कर्म सबसे श्रेष्ठ है, इसीसे ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ कहा गया है। इसमें कर्मफल-त्यागके साथ ध्यान नहीं है यानी यह ध्यानरहित कर्मफल-त्याग है; क्योंकि ध्यान होनेसे तो ईश्वरकी भक्ति शामिल हो गयी, अतः वह तो श्रेष्ठ है ही। पर जिस ध्यानके साथ फलत्याग नहीं है, उस सकाम ध्यानकी अपेक्षा वह निष्काम कर्म जिसके साथ ध्यान नहीं है, श्रेष्ठ है। यह केवल कर्मयोग है।

गीताके तीसरे अध्यायके १९वें श्लोकमें भी केवल कर्मयोगका वर्णन है। वहाँ आसक्तिके त्यागसे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'अर्जुन ! इसलिये तू अनासक्त भावसे—आसक्तिरहित होकर कर्तव्य कर्मोंका अच्छी प्रकारसे आचरण कर; क्योंकि अनासक्त भावसे सदा-सर्वदा कर्मोंका आचरण करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

यहाँ साधनके साथ भक्ति नहीं है और कर्मोंके साथ 'सततम्' शब्द है। अतः इसका यह अर्थ है कि सदा-सर्वदा अनासक्त भावसे कर्मोंका आचरण कर। जहाँ आसक्ति नहीं है, वहाँ कामना है ही नहीं; क्योंकि—

'सङ्गात्संजायते कामः' (गीता २ । ६२)

—आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है। जहाँ आसक्ति ही नहीं, कारण ही नहीं, वहाँ कामनारूप कार्यका अभाव है ही।

ऐसे ही गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें भी भक्तिरहित कर्मयोग है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

जो कर्मोंके फलके आश्रयसे रहित है यानी कर्म करता है पर फलका आश्रय नहीं लेता—जिसे कर्मके फलकी इच्छा बिल्कुल नहीं है, ऐसा निष्काम भावसे कर्म करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ माना गया है। वह संन्यासी है, वह योगी है। किंतु केवल स्वरूपसे जिसने कर्मोंका या अग्निका त्याग कर दिया है, वह न संन्यासी है और न योगी है। वास्तवमें जिसके अन्तःकरणमें उच्चकोटिका भाव है, भीतरमें भी जिसके त्याग है, भीतरमें ज्ञान है, भीतरमें योगका अभ्यास है, परमात्माका ध्यान है, उसके लिये यह नहीं कहा कि वह संन्यासी या योगी नहीं है।

इसी प्रकार कहीं आसक्तिके त्यागकी, कहीं कामनाके त्यागकी बात गीतामें कही गयी है। साथमें भगवान्‌की भक्तिका सम्बन्ध नहीं है। ऐसा कर्मयोग भी मुक्तिको देनेवाला है। गीतामें पाँचवें अध्यायके ११ वें, १२ वें श्लोकोंमें भी इसका उल्लेख है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
(गीता ५ । ११)

केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे निष्काम कर्मयोगी—अनासक्तभावसे—आसक्तिसे रहित होकर आत्माकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं; उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर वे परमात्माको पा लेते हैं।

आगे स्पष्ट बतला दिया—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता ५ । १२)

कर्मयोगसे युक्त यानी निष्काम भावसे कर्म करनेवाला योगयुक्त पुरुष कर्मफलको त्यागकर निष्ठावाली शान्तिको पा लेता है—जो शान्ति योगनिष्ठाकी या परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है, जिसे परमशान्ति और शाश्वत-शान्ति भी कहते हैं। तथा जो योगयुक्त नहीं है, वह कामनाके कारण फलमें आसक्त हुआ कर्मोंके द्वारा बँध जाता है।

इस प्रकार गीतामें जहाँ-कहीं भक्तिका बिल्कुल सम्बन्ध नहीं बताया गया है, वह कर्म निष्काम कर्म है। यानी जहाँ कामनाका अभाव है, आसक्तिका अभाव है, कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म किया जाता है, वह केवल निष्काम कर्म है। उससे भी आत्माका उद्धार हो जाता है और उसके साथ भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब तो उससे उद्धार हो ही जाता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि वह कौन-सा कर्म है। जिस वर्ण-आश्रमके मनुष्यके लिये, जिस पुरुष या स्त्रीके लिये शास्त्रने जो कर्म निश्चित कर दिया है—उसका कर्तव्य बतला दिया है, उस कर्मको निष्काम-भावसे करनेपर उसका कल्याण हो जाता है। जैसे, सुहागिन स्त्रीके लिये पातिव्रत्यधर्मका पालन करना उसका कर्तव्य है। वह निष्काम भावसे केवल पातिव्रत्यधर्मका पालन करती हुई परमात्माको प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार जिसके माता-पिता जीवित हैं, वह निष्कामभावसे केवल माता-पिताकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है। उसके लिये माता-पिताकी सेवा परम धर्म है, शेष सब उपधर्म हैं। मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० २ । २३७)

माता, पिता और आचार्य—इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कर्म सम्पन्न हो जाता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म हैं।

पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेसे किन-किन स्त्रियोंका उद्धार हो गया—इसके लिये शास्त्र प्रमाण हैं। श्रीतुलसीदासजी भी, रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें अनसूयाजीने जो सीताजीके प्रति उपदेश दिया था, उसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
(अरण्य० ४ । ५, ९)

स्त्रीके लिये एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है—मन, वाणी और शरीरसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना। छलका त्याग करके पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली नारी बिना ही परिश्रम परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

इसी प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह पातिव्रत्यधर्मकी महिमा बतलायी गयी है। अनसूयाजी स्वयं पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली थीं—जिनके ब्रह्मा, विष्णु, महेशने अंशरूपसे अवतार लिया। ऐसे और भी बहुतसे उदाहरण हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सबकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही उसका निष्काम भाव होना चाहिये। उसमें किसी प्रकारका भी कहीं भी किंचिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं रहना चाहिये। हरेक प्रकारसे हमलोगोंका कर्तव्य है सबकी सेवा करना। यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो शुभ कर्म हैं, उनका भी जो निष्कामभावसे पालन करता है, उसका निश्चय कल्याण हो जाता है। अवश्य ही भाव निष्काम होना चाहिये, उनमें उसका कोई स्वार्थ नहीं रहना चाहिये।

शूद्रका सब वर्णोंकी सेवा करना धर्म है। वह चारों वर्णोंकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है। किंतु उसमें भी निष्काम भाव होना चाहिये। इसी प्रकार वैश्य कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य——निष्काम भावसे करे तो उसका उद्धार हो जाता है; किंतु जो वैश्य रुपया संग्रह करनेके लिये कर्म करता है, उस रुपयोंकी कामनावालेका नहीं। जो अपना कोई भी स्वार्थ नहीं रखता और यह समझता है कि खेती, व्यापार या गोरक्षाके द्वारा सबको सुख पहुँचाना है तथा यों सुख पहुँचाकर भी जो बदला कुछ भी नहीं चाहे——उसीका निष्कामभाव है। आप दूसरोंकी सेवा करते हुए यदि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा करते हैं तो वह निष्काम सेवा नहीं है। आप इनकी इच्छा तो नहीं करते, इनकी प्राप्ति आपका उद्देश्य भी नहीं है, पर दूसरे लोग आपका आदर-सत्कार तथा प्रतिष्ठा करते हैं, आपकी कीर्ति गाते हैं और उस सबको सुनकर यदि आपके चित्तमें प्रसन्नता होती है तो वह भी सकामभाव है। वह एक प्रकारसे निष्कामभावमें कमी है। इस बातको तो मनुष्यको बुद्धिसे या विचारसे हटा देना ही चाहिये कि दूसरे मनुष्य यह कहें कि वाह वाह! वाह वाह!! ये बड़े उच्चकोटिके निष्कामी हैं, बड़े स्वार्थत्यागी हैं। ये शब्द हमको प्रिय नहीं लगने चाहिये, बल्कि इन्हें सुनकर हमको लज्जा होनी चाहिये, मनमें दुःख होना चाहिये।

हरेक काममें यह विचार करना चाहिये कि यह काम जो मैं कर रहा हूँ इसमें कोई मेरी कामना तो नहीं है, मेरी आसक्ति तो नहीं है। जहाँ आसक्ति है, कामना है, वहाँ समझना चाहिये कि वह निष्काम नहीं है। किंतु निष्काम न होनेपर भी सेवा करना उत्तम है। विचार करना चाहिये——कोई मनुष्य किसी भी प्रकारसे दूसरेकी सेवा करता है, दान देता है, उपकार करता है और वह भयसे, लज्जासे या मान-बड़ाईकी इच्छासे करता है तो वह करना भी न करनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। किंतु जो निष्काम कर्म है, उसका तो बहुत ही ऊँचा दर्जा है।

मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये। किसी भी प्रकारकी कामना निष्कामभावमें कलङ्क है। शुभकर्म सकाम भावसे भी करना अच्छा है। पर निष्कामका दर्जा बहुत ऊँचा है। सकाम और निष्काममें बहुत अधिक अन्तर है; रात-दिनका अन्तर है। इस बातको ध्यानमें रखकर मनुष्यको निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये।

कोई भी मनुष्य कुछ काम करता है तो पहले मनमें यह भाव आ जाता है कि इसको करनेसे मुझको क्या लाभ होगा। यही सकाम भाव है। इसलिये मेरी इस क्रियासे संसारको कितना लाभ होगा——इस दृष्टिको रखकर कर्म करना चाहिये। अधिक-से-अधिक लोगोंको लाभ हो——यह ध्यान रखना चाहिये और उस लाभके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहना चाहिये, बल्कि देनेपर भी नहीं लेना चाहिये। किंतु याद रखना चाहिये कि कहीं-कहीं लेना भी एक प्रकारसे निष्काम हो जाता है। जैसे कोई साधु, महात्मा, ब्राह्मण या गृहस्थ है, उसे कोई व्यक्ति अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे कुछ देता है, उचित या न्याय समझकर देता है तो उसको निष्कामभावसे ले लेना देनेवालेके लिये भी हितकर है और लेनेवालेके लिये भी हितकर है। जैसे, किसी साधुके पास वस्त्र नहीं है, देनेवाला आग्रह करके देता

है और साधुकी भी एक प्रकारसे लेनेकी इच्छा नहीं है बल्कि अपने फटे-पुराने वस्त्रसे ही काम चलानेकी इच्छा है, किंतु फिर भी वह उसके आग्रह करनेपर उसके संतोष—प्रसन्नताके लिये कुछ स्वीकार कर ले तो उसमें दोष नहीं है। यदि दाताके मनमें यह दुःख हो कि मैं गया-बीता हूँ इसलिये महाराजने मेरी वस्तु स्वीकार नहीं की तो उसके दुःखको दूर करनेके लिये वह वस्तु ले ली जाय तो वह लेना भी न लेनेके समान ही है। इसी प्रकार कोई गृहस्थ है, उसके यहाँ किसीने यह कहलाकर फल आदि भेज दिये कि हमारे लड़केकी शादीके निमित्त आये हुए ये फल आदि आपके लिये भेजे हैं। उनको न लेनेपर उस दाताको दुःख होता है तो वहाँ कुछ ले लेना भी न लेनेके समान है। इसी तरह किसीके यहाँ हम गये और वह हमें अतिथि समझकर सत्कार करता है और हम उसे स्वीकार नहीं करते, हमारे स्वीकार न करनेसे उसे दुःख होता है तो उस हालतमें हम उसकी दी हुई वस्तु स्वीकार कर लें तो यह लेना न लेनेके ही समान है।

अपने स्वार्थके लिये दूसरेसे सेवा स्वीकार करना तो सकाम है किंतु उसकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है। हरेक बातमें यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं हमारे भीतर कोई स्वार्थका भाव तो नहीं है। जो स्वार्थका भाव है, वही हानिकर है। जैसे, अपने लड़के, नौकर या स्त्रीसे काम ले लेते हैं, न लेनेसे उनको दुःख होता है तो उनसे काम करवाना, सेवा लेना न लेनेके समान ही है। हरेक विषयमें ऐसा विचार कर लेना चाहिये कि मैं जो स्वीकार करता हूँ, वह उसकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करता हूँ या अपनी प्रसन्नताके लिये। जहाँ स्वार्थ है, वहीं सकामभाव है। यह सकामभाव निष्कामभावमें कलङ्क है। पर वास्तवमें जो न्यायसे प्राप्त है, उसे स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है। उत्तम कोटि वह है कि अपनी प्रसन्नताके लिये नहीं, दूसरोंके संतोषके लिये हम स्वीकार करें; वह हमारा निष्कामभाव है।

इसके सिवा, यह भी विशेषरूपसे खयाल रखना चाहिये कि अपने मनके अनुकूल जो कुछ प्राप्त होता है, उसमें तो राग होता है और जो अपने मनके प्रतिकूल प्राप्त होता है, उसमें द्वेष होता है। किंतु जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ निष्कामता नहीं है। अतएव हरेक काम करते समय राग और द्वेषका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। राग-द्वेषसे रहित होकर विषयोंमें विचरण करना भी कल्याणकारक होता है। यहाँ विषयोंमें विचरणका अर्थ है राग (रस)-बुद्धिसे रहित हो विषयोंका न्याययुक्त सेवन। जैसे भोजनादि करना न्याययुक्त है, शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक और उचित है। विषयोंमें विचरण करना, इस कथनमें आसक्ति झलकती है; इसलिये साथमें यह कहना पड़ता है कि विषयोंमें विचरण करनेका अर्थ आसक्ति—रस-बुद्धिसे विषयोंका ग्रहण नहीं समझना चाहिये। किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये उचित खाना-पीना आदि विषयोंमें जो विचरण करना है, वह निष्कामभाव है। गीतामें बतलाया गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २। ६४-६५)

भाव यह कि जिनमें राग-द्वेषका नाम-निशान नहीं है और जो अपने वशमें हैं ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा, जिसका मन भी अपने वशमें है, वह पुरुष विषयोंमें विचरण करता हुआ प्रसादको प्राप्त होता है यानी उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध होनेसे चित्तकी प्रसन्नता होती है। उस सात्त्विक प्रसन्नतासे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है और उसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें या यों कहें निष्काम कर्मयोग-

की निष्ठामें शीघ्र ही स्थित हो जाती है, जिससे वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

निष्कामभावकी यह महिमा है । यहाँ जो विषयोंमें विचरण करना है—उसमें कोई आसक्ति नहीं है, कोई कामना नहीं है, कोई राग-द्वेष नहीं है । अपना कर्तव्य समझकर ही वह न्याययुक्त कर्मोंका आचरण करता है । बिना राग-द्वेषके ही केवल इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता है । ऐसा आचरण करनेसे उसका कल्याण हो जाता है । भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ७१)

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहा (आसक्ति) से रहित होकर और ममता तथा अहङ्कारसे रहित हो विचरण करता है, वह उस यथार्थ शान्तिको प्राप्त होता है, जो शान्ति परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है । इससे पूर्वके ७० वें श्लोकमें भी आया है—**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**—वह वास्तविक शान्तिको प्राप्त होता है, कामना करनेवाला कामी पुरुष कभी शान्तिको नहीं प्राप्त होता । अतः यहाँ उसी वास्तविक शान्तिकी प्राप्तिका वर्णन है ।

इस प्रकार केवल निष्काम कर्मसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है, फिर साथमें भक्तिका सम्मिश्रण हो तब तो फिर बात ही क्या है ।

धर्म, सदाचार, सम्प्रदाय और ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वेद-पुराण, दर्शन-धर्मशास्त्र, काव्य-इतिहासादिका सर्वस्वभूत प्राणस्वरूप एकमात्र धर्म ही है । मनु आदिका सुस्पष्ट डिण्डिम घोष ही था—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
(मनुस्मृति ८ । १५)

अर्थात् धर्म ही सब कुछ है । जो धर्मको मारना चाहता है, धर्मपर प्रहार करता है, धर्म उसे निस्संदेह मार डालता है । और जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसे बचा लेता है । गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीरामके मुँहसे कहलाते हैं—

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा । सहे धरम हित कोटि कलेसा ॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना । धर्मु धरेउ सहि संकट नाना ॥
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा । तजें तिहूँ पुर अपजस छावा ॥
—इत्यादि

वाल्मीकि श्रीरामको 'विग्रहवान् धर्म' कहते हैं । श्रीराम, युधिष्ठिर आदि राजाओंके राज्यमें कोई नरकगामी नहीं होता था । संसारमें भी किसीको हिंस्र जंतु, सर्प, जल, अग्नि, रोग, दुःख, शोक, वियोगका कोई भय न था; क्योंकि इनका राज्य 'धर्मसर्वस्व' था ।

नाधयो व्याधयश्चैव रामे राज्यं प्रशासति ।
(वा० रा० युद्ध०)

नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः ।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे ॥
(श्रीमद्भा० ९ । १० । ५०)

नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः ।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥
(श्रीमद्भा० १ । १० । ६)
—इत्यादि

राजनीतिज्ञोंकी दृष्टिमें धर्म

कौटल्य-जैसे परम कूटनीतिज्ञने भी राज्यपालनमें धर्म—सदाचारको ही सब कुछ माना है और वर्णाश्रम-धर्मके बिना राज्यके तहस-नहस होनेकी बात लिखी है । कालिदास भी 'धर्म-पालन' ही राजाका मुख्य कर्तव्य मानते हैं ।

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्
स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
(रघुवंश १४ । ६७)

कौटल्य लिखता है कि धर्म ही कल्याणकारी है। उसके नष्ट होनेपर पहले वर्णसांकर्य फैलता है, फिर दुनिया नष्ट हो जाती है—

धर्मातिक्रमे लोकः संकरादुच्छिद्येत ।
(१ । ५ । १५)
तस्मात् स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत् ।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति ॥
(अर्थशास्त्र १ । ३ । १६)

जहाँ अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रमें विप्रतिपत्ति उपस्थित हो, वहाँ धर्मशास्त्र ही प्रमाण माना जाय—

संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम् ।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत् ॥
(कौ० अर्थशास्त्र ३ । १ । ५६)

सदाचार तथा वर्णाश्रमधर्मके रक्षक होनेसे ही राजाको 'धर्मप्रवर्तक' कहा गया है—

चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात् ।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः ॥
(कौ० अर्थशा० ३ । १ । ५०)
आत्मसम्पद्गुणैर्युक्तं नीतिज्ञं युक्तकारिणम् ।
धार्मिकं प्राप्य राजानं सुखी लोकोऽभिवर्धते ॥

'राजा' का अर्थ ही—कि जिसमें धर्म विराज रहा हो—

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते ।
(म० शा० प० ९० । १५)

महाभारतमें भीष्मने युधिष्ठिरको 'राजधर्मसार'का उपदेश करते हुए कहा है कि वास्तवमें आचार और धर्मकी रक्षा ही राजाका एकमात्र कार्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो असफलप्रयास होकर सदाके लिये नरकमें गिर पड़ता है। यदि राजा अपने राष्ट्रमें (चोरी, हिंसा, उच्छृङ्खलता, लूट, व्यभिचार आदिके मूल) अधर्मको नहीं रोकता तो सारा राष्ट्र त्रस्त तथा आतङ्कित हो जाता है। ऐसे राजाके व्यवहारसे देव-पूजा, श्राद्ध, कथाएँ बंद हो जाती हैं। धर्म ही सभी काम्यवस्तुओंकी वर्षा करनेके कारण 'वृष' कहा जाता है। धर्म तथा सदाचारके ही ऊपर सम्पूर्ण भूतोंकी स्थिति है। राजाको 'धर्म' का रूप होना चाहिये। यदि वह धर्म नहीं करता तो उसे 'धर्मलोप्ता', 'वृषल' कहते हैं—

यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ॥
वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं विवर्धयेत् ॥
धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा ।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥
... ...

प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा ।
तस्मात् प्रवर्तयेद्धर्मं प्रजानुग्रहकारणात् ॥
………………धर्मः श्रेष्ठतरः स्मृतः ।
... ...

धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम ॥
(महा० शा० प० ९० । १५—१७, १९-२१)

शुक्राचार्य भी कहते हैं कि मनमानी करनेवाले राजाको पापग्रस्त होना पड़ता है, विफलता मिलती है; अतः वेद, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्रका आदर करना चाहिये—

स्वतन्त्रः साधयन्नर्थान् राजापि स्याच्च किल्बिषी ।
···उत्तमोऽपि नृपो धर्मनाशनान्नीचतामियात् ।
वेनो नष्टस्त्वधर्मेण पृथुर्वृद्धस्तु धर्मतः ।
तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः ॥
धर्मात् पैजवनो राजा विधाय बुभुजे श्रियम् ।
अधर्माच्चैव नहुषः प्रतिपेदे रसातलम् ॥
(शुक्र० १ । ६८-६९, कामन्दक १ । १६-१७)

'सगरान्वये इन्द्रसेनो राजा रजस्वलया स्वदेव्या सह संगतः, इति राक्षसेनात्तुमारब्धः । उक्तश्चापि तेन यदि त्वं सर्वाः प्रजा अधर्मे नियोजयसि तदा न भक्षयामि । इत्युक्तः स प्राणभयात् तथैवानुष्ठितवान्, इत्यधर्मादचिरेणैव क्षयं गतः । तदनन्तरं तद्वंशजा अपि विनाशं प्राप्ताः । तत्संततावेव पैजवनो बभूव।

तेन राक्षसवचनमनादृत्य भयं त्यक्त्वा प्रजा धर्मे नियोजिताः। अतः स चिराय महीं बुभुजे।'

(जयमङ्गला—उपाध्यायनिरपेक्षा)

महर्षि गौतम भी 'राजधर्म-निरूपण'में राजाका प्रधान कार्य वर्णाश्रमकी रक्षा बतलाते हैं—

वर्णाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्।
चलतश्चैतान् स्वधर्मे स्थापयेत्।
धर्मस्यांशभाग्भवति ।

(गौतमधर्मसूत्र २ । २ । ९—११)

सोमदेवका 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसमें ३२ समुद्देश हैं, जिनमें पहला 'धर्मसमुद्देश' ही है। इसमें वे सर्वप्रथम 'धर्म'को अभ्युदयनिःश्रेयसप्रद कहकर अधर्मको इसका विपरीतफलदायक अर्थात् दुःख-शोक-नरकदायक लिखते हैं—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः॥
कः सुधीः भेषजमिवात्महितं
धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति।
धर्मातिक्रमाल्लब्धं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात्।

धर्मविरोधी लोकायतिक नीतिशास्त्रज्ञके लिये अपने अर्थशास्त्रमें आचार्य बृहस्पति कहते हैं—

लोकायतिको मृतो भवति, अर्थकामधर्ममोक्ष-विहीनः, नारकी च, तत्कुलं च तत्पुत्रपौत्रान्तरे विनश्यति। (बार्हस्पत्यार्थशास्त्र २ । १७)

नीतिका फल धर्म, धन, सुखकी प्राप्ति ही है—

नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः। (बार्हस्पत्य० २ । २७)

धर्मेण कामार्थौ परीक्ष्यौ।

गीता तो स्वधर्ममें मृत्युको भी श्रेष्ठ कहती है—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**'। उपनिषदें धर्म—सदाचारमें ही जगत्की प्रतिष्ठा—स्थिति बतलाती हैं—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।

यहाँ राजनीतिज्ञोंके मतकी इसलिये थोड़ी चर्चा की गयी है कि राजा चाहे तो धर्मलोप कर सकता है; क्योंकि सारी प्रजा सदा राजाका ही अनुवर्तन करती है—

स्वधर्ममनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा।

(भोजप्रबन्ध)

और इस प्रकार राजा चाहे तो सत्ययुगमें भी कलियुगकी सृष्टि कर सकता है जैसा कि रावण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु आदिने किया था। (सुनते हैं रावणके राज्य करते हुए ६८ सत्ययुगादि आये और गये थे।) कुन्ती एवं भीष्मने भी महाभारतमें बराबर राजाको ही कालका कारण बतलाया है और उसीके द्वारा सत्ययुग, कलियुग आदिका प्रवर्तन माना है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
एतत्ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥

(महा० उद्योग० १३२ । १६; शान्तिपर्व ६९ । ७९ भोजप्रबन्ध पृ० ९ इत्यादि)

शुक्रने भी ऐसा ही कहा है—

कालस्य कारणं राजा सदसत्कर्मणस्त्वतः।
स्वक्रौर्योद्यतदण्डाभ्यां स्वधर्मे स्थापयेत्प्रजाः॥

(१ । ६०)

राजा कृतयुगस्त्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्॥
कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते।
कलेः प्रवर्त्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते॥

(महा० शा० पर्व० ६९ । ९९-१००)

पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी धर्म—सदाचारको राजनीतिका अङ्ग माना है (Introduction to Social Philosophy, p. 48; Republic of Plato, Ch. XII; Methods of Ethics by Sidgewick, Elements of Ethics by Muirhead, Book I, Chapter III etc.)

विष्णुशर्माका राजनीतिपरक ग्रन्थ पञ्चतन्त्र प्रसिद्ध है। पं० जवाहरलालजी अपनी पुस्तक Discovery of India के पृ० ७९ की टिप्पणीमें लिखते हैं—

'The story of the innumerable translations and adaptations of the Panchatantra into Asiatic and European languages is a long, intricate and fascinating one. The first known translation was from Sanskrit into Pahlavi in the middle of the 6th century A. C. at the instance of Khusrau Anusherwa Emperor of Persia. Soon after (C. 57 A. C.) a Syrian translation appeared and later on an Arabic one. In the eleventh century a new translation appeared in Syrian, Arabic and Persian, the last-named being famous as the story of Kalia-Daman. Through these translations Panchatantra reached Europe. There was a Greek translation from the Syrian at the end of the eleventh century and a little later a Hebrew translation. In the 15th and 16th centuries a number of translations appeared in Latin, Italian, Spanish, German, Swedish, Danish, Dutch, Icelandic, French, English, Hungerian, Turkish and a number of Slav languages'.

अर्थात् पञ्चतन्त्रके प्रचारकी कथा बड़ी आकर्षक है। ६ठी शताब्दीमें इसका फारसके राजा खुसरो नौशेरवाँने संस्कृतसे पहलवी भाषामें करवाया। इसके बाद तुरंत इसका अनुवाद सीरियन तथा अरबी भाषामें हो गया। बादमें फारसीमें भी अनुवाद हुआ और इसका नाम 'कलियहदमनग' पड़ा। इन अनुवादोंके सहारे पञ्चतन्त्र योरपमें पहुँचा। १६ वीं शताब्दीतक इसका ग्रीक, लैटिन, इटालियन, स्पैनिश, जर्मन, स्वीडिश, डैनिश, डच, आइसलैण्डिक, फ्रेंच, इंग्लिश, हंगेरियन, टर्किश तथा असंख्य पाश्चात्त्य भाषाओंमें हो गया।

इतने प्रसिद्ध तथा विश्वव्याप्त पञ्चतन्त्रका भी धर्मके सम्बन्धमें क्या मत है, यह भी विचारणीय है। पञ्चतन्त्रमें श्रीविष्णुशर्मा लिखते हैं—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यः संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥
यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥
नाच्छादयति कौपीनं न दंशमशकापहम्।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थं पाण्डित्यं धर्मवर्जितम्॥
पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम्॥
सृष्टा मूत्रपुरीषार्थमाहाराय च केवलम्।
धर्महीनाः परार्थाय पुरुषाः पशवो यथा॥
स्थैर्यं सर्वेषु कृत्येषु शंसन्ति नवपण्डिताः।
बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः॥*

(पञ्चतन्त्र ३ । ९४—१००)

मार्कण्डेयपुराण (२७ । ३२) में मदालसा अपने पुत्र अलर्कको राजनीतिकी शिक्षा देती हुई कहती है—

एतद्राज्ञः परं कृत्यं तथैतत् सिद्धिकारकम्।
स्वधर्मस्थापनं नृणां चाल्यते यत्कुबुद्धिभिः॥

(मार्कण्डेयपु० २७ । ३२ वे० प्रेस तथा मोरद्वारा प्रकाशित)

---

* धन, शरीर आदि चञ्चल हैं, अतः उनसे धर्मसंग्रह करना चाहिये। धर्महीनका जीना लुहारकी भाथीकी तरह है। दुराचारी पुरुषका विज्ञान भी कुत्तेकी पूँछकी तरह है, जो न दंश, मशकोंका निवारण कर सके और न लज्जाका ही। धर्महीन पुरुष भूसी, तितली तथा मच्छरके समान तुच्छ है। वह केवल खाने और मलमूत्र करनेके लिये ही रचा गया है।

अर्थात् 'दुष्ट बुद्धिवाले पुरुष जनताको सदा धर्मसे बहकाना चाहते हैं। राजाका यह परम कर्तव्य है कि प्रजाको उस वर्णधर्मसे विचलित न होने दे।'

चक्रवर्ती सम्राट् मान्धाताको बृहस्पतिके बड़े भाई उतथ्य राजनीतिका उपदेश देते हुए कहते हैं कि सारे प्राणियोंकी प्रतिष्ठा धर्ममें है और धर्मकी प्रतिष्ठा राजामें। अतः जो राजा धर्मपूर्वक शासन करता है, वस्तुतः वही पृथ्वीका स्वामी है।

धर्म ही सदाचार है और सदाचार ही श्रेष्ठ धर्म—

'आचारः प्रथमो धर्मः' 'सर्वागमानामाचारः प्रथमः परिकल्पते।' (महा० अनु०)

इसलिये स्पष्ट है कि धर्म, सदाचार, शुद्धि, पवित्रताकी उपेक्षा-तिरस्कार करनेपर शासन नहीं चल सकता। उसमें भ्रष्टाचार व्याप्त होकर लूट-हत्या और मात्स्य-न्याय (बलीद्वारा छोटेकी हत्या, अपहरणादि) फैल जायगा। वेन आदिकी यही दशा हुई थी। उन दिनों चारों ओर डाकू-ही-डाकू फैल गये थे—

चोरप्रायं जनपदं हीनसत्वमराजकम्।
लोकान्नावारयञ्छक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः॥

यह तो 'राजनीति'की दृष्टिसे चर्चा हुई। वास्तविक धर्मचर्चा तो धर्मशास्त्र तथा पुराणोंमें है, जिसके दो ही उदाहरण पर्याप्त होंगे। वाल्मीकीय रामायणमें सीता कहती हैं—

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥
(३।९।३०)

इसी प्रकार काशीखण्डमें सूर्योक्ति है—

धर्मो हि रक्षितो येन देहे सत्वरगत्वरे।
त्रैलोक्यं रक्षितं तेन किं कामार्थैः सुरक्षितैः॥
रक्षणीयो यदि भवेत् कामः कामारिणा कथम्।
क्षणादनङ्गतां नीतो बहूनां सुखकार्यपि॥
अर्थश्चेत्सर्वथा रक्ष्य इति कैश्चिदुदाहृतम्।
तत्कथं न हरिश्चन्द्रोऽरक्षत् कुशिकनन्दनात्॥
धर्मस्तु रक्षितः सर्वैरपि देहव्ययेन च।
शिबिप्रभृतिभूपालैर्दधीचिप्रमुखैर्द्विजैः॥
(स्क० काशी० ४६। ३३—३७)

अर्थात्—जिसने धर्मकी रक्षा की, उसने मानो त्रिलोकीकी ही रक्षा कर ली। इसीलिये शिवने जलनेसे कामकी तथा हरिश्चन्द्रने विश्वामित्रसे धनकी रक्षा नहीं की। शिबि, दधीचि, हरिश्चन्द्र आदि सभीने धर्मकी ही रक्षा की। ऐसे उदाहरणोंसे वेद-पुराण, धर्म-सूत्र, गृह्य-सूत्र, इतिहास, काव्यादि सारा भारतीय साहित्य भरा पड़ा है और यह प्राचीन भारतीय साहित्य इतना प्रबल, अजेय, ठोस, मोहक तथा उत्कृष्ट है कि आजके भी सभी शोधकर्ता उसे ही विशेष आदर देने लगे हैं। यह सोलह आने सत्य है कि आजका सारा ही साहित्य मिट्टीमें मिल जायगा। केवल लेखक ही भीख माँगकर अपना साहित्य एक-दो बार छाप-बेंच लें; पर गीता-रामायण, रघुवंश, वेदादिको तो लोग प्राणोंकी बाजी लगाकर कण्ठस्थ भी याद रखते चले आये हैं और आगे भी याद रखेंगे। इस सहस्राब्दीका कोई ग्रन्थ विशाल कालकी परम्परामें टिकेगा तो एकमात्र रामचरितमानस। वह भी इसीलिये कि 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' है। अगले अङ्कमें सम्प्रदाय और ईश्वर-की चर्चा की जायगी।

आत्मनाश—एक नशा

(लेखक—श्रीशेषनारायणजी चंदेले)

['वसुंधरा भौतिक विलास, स्वार्थ और हिंसाके हलाहलका पान करनेको उद्यत है। व्योम अध्यात्म-का अमृत देकर उसे आत्मरक्षाका उपाय सुझाता है। अहिंसाका देवदूत गांधी व्योमके पवित्र ध्येयका समर्थक बनकर आता है; किंतु गतिके पागलपनमें व्यस्त वसुंधराको इतना अवकाश कहाँ कि वह अहिंसा और अध्यात्मवादके संदेशको सुने !' —लेखक]

'यह क्या वसुंधरे, अल्पायुमें ही जीवनसे विराग ?' व्योमने अपनी सकरुण आँखें वसुंधराकी आँखोंमें स्थिर कर दीं।

'तुम !'—वसुंधरा कटाक्ष करते हुए बोली—'जीवनके प्रति अनुरागका इससे महत्तर प्रमाण और क्या हो सकता है दुर्भेद्य ?' हलाहल-पात्रका स्पर्श लेते हुए वसुंधराके रक्तिम अधरोंपर झूमता हुआ यह वाक्य थिरक पड़ा।

'क्या विष भी जीवनको गतिसे अनुप्राणित कर सकता है देवि ?'—व्योमने सहानुभूति प्रकट की। वसुंधराकी आँखोंसे मादकता छलक रही थी। वह कहती गयी—'जीवन समुद्र है नीलाङ्ग ! उसकी सतरंगी हँसी अठखेलियाँ करती हुई तरंगें हैं। और मैं—मैं तरंगोंके पारदर्शक अवगुण्ठनमें संतरण—उत्प्लवन करती हुई मत्स्याङ्गना हूँ। मेरा हृदय एक नैसर्गिक जलाशय है। उसका आमोद सतहपर विचरण करता हुआ मराल है। किंतु—तनिक रुककर वसुंधराने कहा—किंतु तुम्हारा इन सबसे क्या सम्बन्ध है ? तुम अदृश्य हो व्योम, तुम्हारी सत्तापर मेरी अनास्था है। अवस्तुसे वस्तुका क्या सम्बन्ध ?'

व्योमने उपदेशकी भाषामें कहा—'चपले ! जो मधुर है, जिसे अपने जीवनके आनन्दका उपकरण समझती है, वही तेरे जीवनकी इयत्ता है। मुग्धे ! तेरी बुद्धि भ्रमित है। जिस पात्रमें भौतिक उपकरणका प्रतिबिम्ब देखकर तू आनन्दातिरेकमें तिरोहित हो रही है, वह हलाहल है। स्वार्थ तेरा प्रतिद्वन्द्वी है, जिसे गले उतार रही है। हिंसा तेरी मृत्यु है, जिसकी तू उपासना करती है। अपने कर-कमलसे इस स्वर्ण-पात्रको मुक्त कर दे। उसमें हलाहल है।'

वसुंधराने विक्षोभ प्रकट किया—'अगोचर ! तुम मुझे मार्गच्युत करनेकी स्पृहा रखते हो ! भौतिक उपकरण मेरा सुहृद् है। मैं उसमें जीवन-दर्शन पाती हूँ। तुम्हारा अध्यात्म मिथ्या है। उसमें जीवन-शक्ति नहीं है। मात्र, वह कल्पना-लोकका साथी है। कल्पनामें सत्यका स्थान कहाँ है ? विशदाम्बर ! जीवनको स्वार्थ और हिंसाकी अपेक्षा है। विश्व एक वितान है, जो स्वार्थोंसे तना हुआ और स्थिर है। स्वार्थरहित संसारकी सत्ता सम्भाव्य नहीं। मेरे जीवनका अपना अलग आदर्श है। वह तुम्हारी बुद्धिसे परे है।'

व्योमने उत्तर दिया—'वसुंधरे ! तुम्हारा चिन्तन अयथार्थ है। कल्पना अध्यात्म-क्षेत्रका सत्य है। असत्का चिन्तन अशक्य है। सत् ही कल्पनाका विषय बन सकता है। कल्पना सर्वथा निराधार नहीं होती। सारा वस्तु-जगत् भाव-जगत्का निर्माण है। वस्तु-जगत्से भाव-जगत्का कार्य-कारण सम्बन्ध है। किंचित् गहराईसे सोचो, तुम्हारी उक्ति एक प्रवञ्चना है।'

'बस, बस, मैं अधिक नहीं सुनना चाहती।'—वसुंधरा विकल होकर बोली। व्योमने वसुंधराकी बातें सुनकर शान्तिके देव-दूतको पुकारा। गांधी उनके समक्ष हो गये। व्योमने कहा—'महात्मन् ! वसुंधराके मोहका निवारण करो। उसने असत्यको सुहृद् बना लिया है। शत्रुसे मित्रता कर ली है। मरणका वरण कर लिया है।

जाओ, पथ-भ्रमिता वसुंधराका मार्ग आलोकित करो।'

आकाश-मार्गसे गांधीका अवतरण हुआ।

× × ×

विशाल जन-समूहमें एक व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे चिल्ला रहा था—"गांधीकी अहिंसा आज विश्व-की अहिंसा बनकर उसे मृत्युके मुखसे निकाल लेगी। 'प्रेम' को हृदयके रूपमें, 'सत्य' को विवेकके रूपमें और अहिंसाको उनकी देहके रूपमें पाकर आजका वैज्ञानिक युग धन्य हो गया है। सम्पूर्ण राष्ट्रका सम्मिलित प्रयत्न जन-संहारके विरुद्ध रहेगा।' गांधी वहाँ उपस्थित थे। अनात्मवादीके मुँहसे ये शब्द सुनकर उन्हें आश्चर्य हुआ।

'यह क्या!' गांधीके कुतूहलकी सीमा न रही। इस सघन तमिस्राका उद्गम कहाँ है? धूम्राच्छादित रवि-रश्मियाँ गहनताका उद्भेदन करनेमें अक्षम हो रही हैं। सर्वत्र व्याप्त धूम्रसे गांधीका दम घुट रहा है। कदाचित् परमाणु-अस्त्रका प्रयोग हुआ था।

सहसा ज्योतिकी किरणें प्रविष्ट हुईं। उन्होंने कुछ अनोखा ही दृश्य देखा। विविध-यन्त्र-संचालित विश्व और साथ ही काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, स्वार्थ और हिंसाका नग्न खिलवाड़।

उनका कहीं स्थिर खड़े रह सकना असम्भव हो गया। सम्पूर्ण विश्व अपनेमें व्यस्त था।

'गति ही जीवन है'

—व्यस्त संसार मानो कह रहा था। गांधी स्थिर रहनेका प्रयत्न करते और अनेक धक्के सहते।

'आह!' यन्त्र-संचालित वाहनसे उन्हें ठोकर लगी।

'वृद्ध मानव! नवीनताकी गतिका अवरोध करते हो?' चालकने घुड़की दी। गांधीने नम्रतासे कहा—'बन्धु! मुझे अवरोधकी आकाङ्क्षा नहीं थी, किंतु उसका गन्तव्य-पथ मर्यादित तो होना चाहिये। मर्यादामें सौन्दर्य है बन्धु! जीवनको उन्मुक्त, उच्छन्द बना देना श्लाघ्य नहीं। इससे अन्य व्यक्तिके जीवनमें व्याघात पहुँचता है। समझनेकी कोशिश तो करो। अस्तु, मेरी सहायता करो।' गांधीने कराहते हुए कहा—'इस तरहकी ठोकरोंसे मैं क्षीणशक्ति हो गया हूँ।'

'तुम्हें क्या वाञ्छनीय है वृद्ध?'

'जीवन!' गांधीने प्रश्न किया—'क्या तुम मुझे नहीं पहचानते? मैं गांधी हूँ।'

'है परिचय, किंतु मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। समयाभावसे मैं विवश हूँ।'

गांधीने पुनः संदेहके स्वरमें पूछा—'क्या तुमने मुझे अबतक नहीं पहचाना?'

'पहचान लिया है तथा इसी रूपमें कि सत्य, प्रेम और अहिंसा विश्वके समष्टिरूपकी माँग है। व्यष्टिके लिये इसकी कोई उपादेयता नहीं।'

गांधीने आश्चर्य व्यक्त किया—'तो क्या यह सत्य नहीं कि व्यक्तिका कर्तव्य-पालन समाजके लिये मङ्गल-कामनाका दूसरा रूप है? क्या तुम नहीं सोचते कि मेरा जीवन विश्वके जीवनका पर्याय है?'

'अपने गौरवकी गुरुतामें तुम स्वयं झूलते रहो संत! विश्वकी इकाईपर तुम्हारे प्रति मोहका बन्धन नहीं है।'

उक्त चालक वही व्यक्ति था, जिसने विशाल जन-समूहमें गांधीकी दुहाई दी थी। गांधी धरतीपर ठहर न सके।

× × ×

'तुमने गांधीका तिरस्कार किया वसुंधरे!'—व्योमने ललकारा।

किंतु वसुंधरा पूर्णतः चेतना-विहीन हो चुकी थी।

क्षीण-सी ध्वनि कर्णगोचर हुई—'इसीमें हमारा गौरव है महान्!'

व्योम कुण्ठित हो गया।

कौंध रहे वे क्षण

(रचयिता—प्रो० स्वर्णकिरण)

चनेके अङ्कुर के समान
कौंध रहे वे क्षण।
जब हमने मान दिया,
ज्ञान-दान दिया
विहार के लिये सुविधाएँ दीं,
तुच्छ कंडों औ' उपलों-से वीरान खँडहरों को
चिन्तना की लताओं और कलियों से
भरनेके उपाय बतलाये,
बाँझ बने ध्वस्त प्रस्तरों को
आबाद करने को
करुणा के छलहीन छींटे दिये,
सोयी हुई सिद्धियों के द्वार खोलनेको
'प्रज्ञा' और 'पारमिता' की
कभी पुरानी न होनेवाली कुंजी दी,
भौतिकता से ऊपर उठकर
अध्यात्मके धूम्ररहित आकाश में
विचरने की राह बतलायी,
विनम्रता के कपूरी मन्त्रों से
कुटिल विषधरों को वशीभूत करने के
ढंग बतलाये;
जामुनी रंगवाले काल को
मुट्ठी में करने को
शीतल वाणीवाली जादुई छड़ी दी।
कौंध रहे वे क्षण
जब बारहमासी गुलाब के
नहीं मुरझनेवाले बीज दिये,
एकीभूत चित्त की वे छवियाँ दीं
जो निरन्तर आगे बढ़ाएँ,
उत्साह के वे ज्वार दिये
जो प्रलयकालिक गर्जनों में अभय रहें,
साहचर्य की वह लकड़ी दी
जो कभी टेढ़ी या पुरानी न हो,
ब्रह्मपुत्र के सार्थक्य को सिद्ध कर
(कि हम तुम सभी एक ही ब्रह्म के पुत्र हैं,)
'ह्वाँग' औ 'याँगटिसीक्याँग' को
गंग की तरह ही शान्त माना,
गम को पीकर सदैव गमरहित रहनेको
'मानस'के राजहंसोंके विवेक के
मोती दिये।
कौंध रहे वे क्षण
जब मानस के कमल मधु को लेकर
अनुरागी भौंरे पतझर में
वसन्तकी अवतारणा करते,
हवा निर्बन्ध चलती,
स्नेह के शीतल फुहारों से
तन और मन दोनों के दाग
धुल जाते,
अन्तःकालुष्य की रेती का
नहीं छूटनेवाला जंग भी
छूटने को विवश होता,
हिमालय के समान अचल,
समुद्र के सदृश गंभीर,
प्रभञ्जन की तरह निर्भीक,
बरसाती नदी की भाँति उच्छल
पुनीत प्रेम से भीगे हुए वे क्षण
भीतर और बाहर
दोनों को भिगोते हैं,
विस्मय की आग को
प्रज्वलित करते हैं,
सोये हुए परुष पौरुष को
ललकारते हैं,
प्रवञ्चना के दुस्तर दुर्गको तोड़नेको कटिबद्ध हैं,
हाँ,
'पोषणं तदनुग्रहः' पर भी कम ध्यान नहीं।

निराश हृदयकी जीवन-ज्योति

(मैं जिंदगीसे घबरा उठा हूँ)

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

आप जिंदगीसे घबराये हुए हैं ?

कभी-कभी आप निराश और पस्तहिम्मत होकर कहते हैं, 'मैं जिंदगीसे घबरा उठा हूँ। मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मैं संसारसे ऊब उठा हूँ। मुझपर जो मुसीबत पड़ी है, वह असाधारण है। दुनियामें इतना दुखी कोई व्यक्ति नहीं है, जितना दुखी मैं हूँ।'

'मेरे निकटतम सम्बन्धीकी मृत्यु हो गयी। वही मेरे जीवनका सब कुछ था। अब दुनियामें मेरा कौन है ? मेरा सब कुछ नष्ट हो गया। मेरी दुनिया लुट गयी। जीवन सूना हो गया है। अब मैं क्यों जीऊँ ? बिना उस बिछुड़े हुए साथीके जीवन व्यर्थ है। जिंदगीकी डोर टूट गयी है। मेरा दिल सदा-सर्वदाके लिये टूट गया है। मैं अब जीकर ही क्या करूँगा ?'

'मुझे व्यापारमें धक्का लगा है। यह ऐसा धक्का कि अब मेरा पाँव जमना कठिन है। बाजारमें मेरी साख गिर गयी। समाजमें मैं मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा। बिना इज्जतके, बिना रुपये-पैसे या आर्थिक समृद्धिके जीना व्यर्थ है। कर्जदार मेरा रक्त ही चूस डालेंगे। मेरा घर-बार, दूकान नीलाम हो जायँगी। उफ़ ! कितनी बेइज्जती है। इससे तो मरना ही बेहतर है।'

'मेरे घरमें सदा कलह बनी रहती है। सास-बहूकी कचकच, पुत्र आवारा होता जा रहा है, पढ़ता-लिखता या कमाता नहीं है। दिन-रात घरमें क्रोध और आवेशका हुड़दंग मचा रहता है। इस नित-नितकी कलहसे तो आत्महत्या ही कर लें, जिंदगीकी इस कड़वाहटसे छुटकारा तो मिले।'

'मेरी नौकरी छूट गयी है। जीविकाका प्रश्न विकटरूपसे मेरे सामने मुँह फैलाये साँपकी तरह निगलनेको तैयार है। अब टुकड़ा कैसे मिलेगा ? बाल-बच्चों, पत्नी तथा परिवारको भोजन कैसे प्राप्त होगा ? इस बढ़ी हुई उम्रमें मुझे कौन नौकरी देगा ? भूखे मरनेसे तो एक बार ही फाँसी लगाना ठीक है।'

'मैंने प्रेममें मुँहकी खायी है। मेरी प्रियतमाने मुझे धिक्कारा है। मेरे प्रेमका तिरस्कार किया है। मेरे भावी सुख-सपनोंकी दुनिया नष्ट कर डाली है। इस दुनियामें भला मुझे कैसे चैन मिल सकती है ? मैं यह कैसे सहन कर सकता हूँ कि मेरी हृदयेश्वरीका विवाह किसी दूसरे युवकसे हो। मेरे हृदयके दुःखकी कोई सीमा नहीं। मेरे दिलके हजार टुकड़े हो चुके हैं।'

'मैं सदा बीमार ही रहता हूँ। शरीर कमजोर होता जाता है। हाथ-पाँवोंसे उठा-फिरा नहीं जाता। भूख नहीं लगती। कैसी जिंदगी है—बस जिंदा मौत ही है।'

ये बातें वे निराश लोग करते हैं, जिनके पास दुर्बल हृदय और अशक्त संकल्पशक्ति है। ये तर्क उन हीन, कमजोर और छोटे मनवाले आदमियोंके हैं, जो जीवन-युद्धसे भाग चुके हैं, मामूलीसे संघर्षसे पस्तहिम्मत हो चुके हैं।

निराश व्यक्तिको नवजीवन

बस, तनिक-से कष्टसे निराश हो गये। आप परम पुरुषार्थी होकर क्षणभरमें कायर बन गये। आप कभी भी असफल नहीं हो सकते।

क्योंकि आप जानते हैं कि निराशा एक प्रकारका

क्षणिक काला अन्धकार है, जो थोड़ी देरमें स्वयं ही हटता है। काले अँधेरे बादल फटते हैं और नयी आशाओंकी रजत-किरणें फूटती हैं। रात्रिके बाद प्रकाशवान्, दीप्तिमान् नया उत्साह, नयी शक्ति और स्फूर्ति देनेवाला दिन उदित होता है। चारों ओर नया जीवन फिर छिटकता है।

संसारमें कौन-सी ऐसी मुसीबत है, जो मनुष्यपर नहीं पड़ी। मनुष्यने हर मुश्किलको आसान बनाया है। हर मुसीबतमें वह पनपा है। हर विरोधको उसने परास्त किया है।

किस बड़े आदमीने कठिनाइयोंसे संघर्ष नहीं किया? दुःखकी काली छाया किस महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, प्रसिद्ध नेता, लोकप्रिय धर्मप्रचारकपर नहीं पड़ी? ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो सदा जीवनपर्यन्त फूलोंकी मृदुल सेजपर सोया हो।

संसार टक्करोंसे भरा हुआ है। यहाँ मनुष्यको, विशेषतः पुरुषको पग-पगपर टक्करें खानी पड़ती हैं—समाजकी टक्करें, जाति-बिरादरीकी ठोकरें, परिवारकी टक्करें, रोजगार और नौकरीकी टक्करें; पर आदमी अन्तमें इन सबको जीतकर ही रहा है। उसने हर टक्करको अपने सीनेपर सहा है।

प्रतिपल आशाका संचार

इस उत्तुङ्ग चट्टानको देखिये। यह समुद्रके किनारे सीना ताने खड़ी है। समुद्रकी उत्ताल तरङ्गें इसपर कस-कसकर वार कर रही हैं। न जाने कितने प्रहार हो चुके हैं, किंतु यह एक सच्चे शूरवीरकी भाँति सीना ताने खड़ी है।

आप भी इस उत्तुङ्ग शृङ्गकी भाँति ही दृढ़ हैं। संसारके कष्टोंमें इतनी ताकत नहीं कि वे आपको हिला सकें। आप मुसीबतोंके मध्य महिमान्वित अविचल हिमालयकी तरह अडिग हैं, अविचल हैं। पूरी तरह दृढ़ हैं। सांसारिक कष्ट तो उन बवंडरोंकी तरह हैं, जिनका आपपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

आप वह महाशक्तिसम्पन्न महामानव हैं, जिसकी महिमा ये बड़े-बड़े ऊँचे बर्फीले पर्वत कह रहे हैं, जिसकी शक्ति नदियोंसहित यह समुद्र वर्णन कर रहा है, ये चारों दिशाएँ जिसके बाहुतुल्य हैं। आपकी शक्तियोंका अन्त नहीं है। वे निस्सीम हैं।

संसारमें युग-युगसे मृत्यु अपना भयंकर मुँह फैलाये जीवोंको निगलती रही है। कभी इसने महामारीका रूप धारण किया, कभी रणका रक्तपात आया, कभी भूख, विवशता, पीड़ा, हाहाकार आया; पर मनुष्यकी सदा विजय ही रही है। उसने मृत्युको हमेशा परास्त किया है।

जो-जो बाधाएँ जीवनसे लोहा लेने आयीं, सदा ही परास्त हुईं। हमेशा मानव ही जीता है, निष्ठुर प्रहारोंमें भी जीवनकी गति चलती आयी है। उसकी राह कभी नहीं रुकी है। फिर आप क्यों निराश हैं?

विनाशने सृजनशक्तिसे संघर्ष किया, पर सृजनकी बहुतायतसे ही जीवका अस्तित्व है। पृथ्वीसे असंख्य जीव मरे; पर सृजनकी शक्ति देखिये। पृथ्वीपर जीवोंकी संख्या उत्तरोत्तर वृद्धिपर ही है। भविष्यमें भी जीवन सदा विनाशको इसी प्रकार पछाड़ता रहेगा, क्योंकि उसका शक्ति-भंडार ईश्वर है।

आप सृजन-शक्तिके भंडार हैं। मृत्युको आखिरी दम-तक पछाड़नेवाले साहसी सैनिक हैं। छाती खोले खड़े हैं। भला ऐसी कौन-सी राक्षसी शक्ति है, जो आपका सामना कर सके। आपकी गति वायुसे भी तीव्र है। मृत्यु स्वयं मरेगी; जीवनकी ही विजय रहेगी।

निराशा एक प्रकारकी कायरता है, इसे त्यागिये

एक विद्वान्ने उचित लिखा है, 'निराशा एक प्रकारकी कायरता है। जो आदमी कमज़ोर होता है,

वह कठोर परिस्थितिका सामना नहीं कर पाता । वह एक कायरकी तरह युद्ध छोड़कर भाग जाता है ।'

'निराशा एक प्रकारकी नास्तिकता है ।' जो व्यक्ति संध्याके डूबते हुए सूर्यको देखकर दुखी होता है और प्रातःकालके सुनहरी अरुणोदयकी आशा नहीं करता, वह नास्तिक है ।

मरणके बाद जीवन होता है । पतझड़के बाद वसन्त आता है । ग्रीष्मके बाद वर्षाकी सुखद सुहावनी शीतल ऋतु आती है ।

इसी प्रकार दुःख क्षणिक हैं, अल्पकालमें दूर होनेवाले हैं । जब दुःखके बाद सुखका दैवी विधान है, तब क्या कारण है कि हम अपनी कठिनाइयोंको स्थायी समझें ?

जो माताके क्रोधको स्थायी समझता है और उसके प्रेमपर विश्वास नहीं करता, वह बालक नास्तिक है । हमें अपनी नास्तिकताका दण्ड रोग, शोक, विपत्ति, जलन, असफलता और अल्पायुके रूपमें भोगना पड़ता है ।

लीजिये कविवर श्रीसुधेशजीका यह उद्बोधन-गीत सुनिये और उससे प्रेरणा प्राप्त कीजिये—

हर विफलता पर न तुम आँसू बहाओ ।
हर सफलता का यही पहला चरण है ।
    हर कदम पर ही तुम्हें यदि शूल मिलते,
    तो उन्हें भी प्यार कर दिलसे लगा लो;
    यदि तुम्हारे स्वप्न भी घायल हुए हैं,
    तो उन्हें चुपचाप पलकोंमें छिपा लो;
बाँध लो तुम नींदको भी मुट्ठियोंमें,
मौत सोना है, कि जीवन जागरण है !
    जो कभी चलता नहीं, वह क्या गिरेगा ?
    जो कभी गिरता, वही उठ उठ चलेगा ।
    जो कि हँस हँस आँधियोंसे खेलता है,
    वह प्रलय में भी दिवाकर-सा जलेगा;
इसलिये चलते चलो गिर-गिर सँभल कर,
रास्तेमें पाँव रुक जाना मरण है ।

आप तुच्छ नहीं, महान् हैं

एक छोटे-से बीजसे कितना बड़ा वटवृक्ष उत्पन्न हो जाता है । छोटे-से बीजको देखकर कौन उसमें छिपी गुप्त शक्तिका अनुमान कर सकता है ? लेकिन उसी बीजसे आश्चर्यचकित करनेवाला दृढ़ और मजबूत वृक्ष बनता है, जिसकी छायामें न जाने कितने व्यक्ति विश्राम करते हैं । इसी प्रकार आपमें अद्भुत शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियाँ भरी हुई हैं । इनके विकाससे आप संसारको चकित कर सकते हैं । कुछ दिन पश्चात् आपके जीवनका सबसे सफल भाग आ रहा है । आपके यश और कीर्तिके दिन आगे आ रहे हैं । ठहरिये और प्रतीक्षा कीजिये । परिस्थितियाँ अब बदल रही हैं । नाउम्मीदीके काले बादलोंमें आशाकी स्वर्ण-रेखाएँ चमक रही हैं । तनिक साहस कीजिये । आप तुच्छ नहीं, महान् हैं । इस क्षणिक विपत्तिसे आपको किसी कमजोरीका अनुभव नहीं करना चाहिये ।

आपके पास जो गुप्त आत्मिक शक्तियाँ हैं, वे अचूक ब्रह्मास्त्र हैं । आपकी छिपी हुई ताकतोंकी शक्ति अनेक इन्द्रके वज्रोंसे भी अधिक है । विजय, आनन्द, सफलता, उन्नति आपके जन्मजात अधिकार हैं । अपने हथियारोंको सम्हालिये और एक बार फिर अपने कार्यकी सफलताके लिये जूझ जाइये ।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरका वह गीत दुहराइये, जिसमें उन्होंने थके हुए पक्षीको पुनः अपने पंखोंको फड़फड़ा कर ऊँचा उड़ने, आगे बढ़नेकी सलाह दी है । उस कविताका भाव इस प्रकार है । इसे मनमें बैठाइये । इन शब्दोंपर विचार कीजिये—

'यदि मन्द-मन्द मन्थर गतिसे चलकर चारों ओरसे संध्या बढ़ती आ रही है, दिनका संगीत रुक गया है, संगी-साथी छूटनेसे जीवन सूना-सा मालूम हो रहा है, तेरे अङ्ग-अङ्गमें थकान उभर आयी है, तेरे

मनमें निखर आशङ्का उभर आयी है, दिग्-दिगन्त अपनी काली चादर ताने सो रहे हैं, तो भी मेरे विहंग ! तू अपने पंख बंद न कर ।

यदि तेरे सम्मुख अब भी लंबी दूभर रात्रि है, सुदूर अस्ताचलपर सूर्य ऊँघ रहा है, संसार निश्वास रोक एकान्त स्तब्ध आसनसे बैठा हुआ है, दिनका प्रकाश रजनीके धीमे-धीमे पहर गिन रहा है, अन्धकाररूपी सागरमें चन्द्रमाकी क्षीण रेखामात्र दिखायी दे रही है, तो भी मेरे विहंग ! तू निराश न हो । अपने पंख बंद मत कर ।

समस्त तारागण आकाशमें तेरी ही ओर अनिमेष दृष्टि लगाये हुए हैं । नीचे सागरमें शत-शत लहरें उछल-उछलकर उल्लासका संदेश लिये उद्वेलित हो तेरी ओर दौड़ रहे हैं । वे न जाने कौन वहाँ दूर करुण अनुनय करके ''आओ, आओ !'' की पुकार कर रहे हैं ? सभी ओर तेरा स्वागत है । इसलिये मेरे विहंग ! तू अपने पंख अभी बंद न कर ।'

इसी प्रकार आप भी अपनी निराशा छोड़िये । प्रसन्नतापूर्वक अपने कष्टोंको विदा कीजिये । आपको संसारमें व्यर्थ नहीं भेजा गया है । आपमें बलवान् आत्माका निवास है । उसका बल प्रकट कीजिये । ईश्वरका सारा बल आपमें, आपकी सर्वशक्तिमान् आत्मामें निहित है । उसमें पूर्ण विश्वास कीजिये और इसी विश्वासकी ज्योति सदा जलाये रहिये ।

सत्य समदर्शन

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

''मैं सत्यका पुजारी हूँ ।''—महात्मा गान्धी ।

'बापूने सत्यको परमात्मा माना है और अहिंसाको उसका साधन !' एक खद्दरधारी सज्जन अपने समीपके दूसरे व्यक्तिसे कह रहे थे ।

सबमें—प्रायः सभी मनुष्योंमें कुछ-न-कुछ दुर्बलता होती है । मेरी अनेक दुर्बलताओंमें यह एक है कि यदि थोड़ी भी आर्थिक सुविधा हो तो गर्मियोंमें पहाड़की ओर भाग खड़ा होऊँगा और अपनी छोटी-सी जेब खाली होनेतक वहीं डटा रहूँगा । इस बार कसौली रहनेकी ठानी थी; क्योंकि प्रसिद्ध पर्वतीय यात्रा-स्थानोंमें भीड़-भाड़ अधिक होती है ।

कालकासे ही मोटर बस पकड़ी हमने । दोनों ओर हरे-भरे पर्वत और वन—मार्ग बड़ा सुन्दर और उसमें भी वे खद्दरधारी महोदय एक गम्भीर चर्चा उठा चुके थे । उनकी बात सुनने और मार्गके दृश्य देखते चलनेमें कोई बाधा नहीं थी; क्योंकि मैं चर्चाका तटस्थ श्रोता था ।

'बापूने सत्य किसे समझा, वे ही जानें ।' दूसरे सज्जन खीझे लगते थे—'किंतु उनके अनुयायियोंने आज जो कुछ कर रक्खा है·······।' जाने दीजिये, दोषोंकी चर्चासे कोई लाभ नहीं है । किसीकी निन्दा—किसीकी दुर्बलताका वर्णन करने तथा सुननेमें हम जिस उल्लास-उत्साहका अनुभव करते हैं, वह स्वयं भारी दुर्बलता है । उस समय हम भूल ही जाते हैं कि हम जिन दुर्गुणोंकी चर्चा करते हैं, उनके बीज हममें भी हैं और वैसा ही अवसर आनेपर वे ही सुविधाएँ प्राप्त होनेपर हम उस व्यक्तिसे जिसकी अभी निन्दा कर रहे हैं, अच्छे सिद्ध होंगे—यह साहसके साथ नहीं कह सकते ।

'सत्य क्या है ?' किसी भाईने पूछा ।

'तुसी जानदा नहीं ?' एक हट्टे-कट्टे पंजाबी भाईने कमीजकी बाहें समेटीं और घूसा बाँधकर दिखाया——'सच यह है। बाज़ूकी ताकत सच है।'

सहसा सब यात्रियोंको एक कड़ा झटका लगा। मार्ग एक मोड़पर था। सामनेसे पूरी गतिसे एक ट्रक आ गया। बसका ड्राइवर भी सम्भवतः दो क्षणको इस चर्चाकी ओर आकृष्ट हो गया था। ट्रकने 'हार्न' दिया होगा मोड़ लेते समय; किंतु इसने सुना नहीं और स्वयं मोड़पर हार्न देना भूल गया। आधे क्षण और कुछ इंचसे दुर्घटना बच गयी। ट्रक और बस लगभग टकराते-टकराते रुके। 'ब्रेक' चीख-से पड़े। एक ओर पर्वत तथा दूसरी ओर गहराई—दोनों ड्राइवरोंने क्रुद्ध नेत्रोंसे एक दूसरेको देखा। ट्रक ड्राइवरने कुछ कहा पंजाबीमें, जो मैं स्पष्ट सुन नहीं पाया; किंतु दोनों गाड़ियोंने तत्काल एक दूसरेको बचाकर मार्ग पकड़ा। ऐसे अवसरोंके वे अभ्यस्त लगते थे।

'अभी समझ लेनेवाले थे तुम कि सत्य क्या है।' एक बाबाजी भी बैठे थे बसमें। वे इतनी देर बाद बोले—'बस खड्डुमें जाती तो सत्यका पता लग जाता।'

'मौत सच है, यही कहते हैं न आप ?' उन खद्दरधारीने गम्भीरतासे कहा——'किंतु मौतसे जिंदगी कहीं ज्यादा सच है।'

'बाबा, कम-से-कम तू तो कह कि गुरु सच है और अकाल पुरुषका नाम सच है।' एक बूढ़े सफेद दाढ़ीवाले सिख सज्जनने कहा।

'आप ठीक कहते हो !' साधु बोले——'परमात्मा सच है। परमात्माका नाम सच है और गुरु सच है।'

× × ×

'सत्य परमात्मा है और परमात्मा सत्य है !' यह बात भले ठीक हो; किंतु इससे मेरी समझको कुछ नहीं मिला था। परमात्माको समझ लें तब सत्य समझमें आये, तब तो समझमें आ चुका वह।

उस दिन 'मंकी पाइंट' पर जा बैठा था। यह एक ऊँचा शिखर है यहाँका। पता नहीं इसे यह नाम क्यों अंग्रेजोंने दिया था। इसके चारों ओर प्रातः-सायं भ्रमणके लिये मार्ग है और शिखरपर चढ़नेके लिये पगदंडी है। यात्री प्रायः इसपर पहुँचते हैं; क्योंकि यहाँसे नीचे मैदान, नदी, झील ही नहीं, कालका और पंजाबकी राजधानी चंडीगढ़तक दीखते हैं।

सायंकाल——सूर्यके अस्त होनेमें कठिनाईसे आध घंटेकी देर होगी। मैं जब इस शिखरपर चढ़ने लगा था, यात्रियोंके लौटनेका समय हो चुका था। मुझे उतरते हुए लोग मिले थे। शिखरपर मैं पहुँचा तो वहाँ कोई नहीं था। एकान्त——शान्त। मैं इधर-उधर देखकर बैठ गया। ऊपर स्वच्छ आकाश है; किंतु शिखरसे नीचे पश्चिम दिशामें बादल बिछे हुए हैं।

पर्वतपर छा जानेवाले मिलकी चिमनीसे उठते सफेद धुएँ-जैसे मेघ मैंने बहुत देखे हैं। उनमें मीलों चला हूँ। उनसे घिरकर बैठा हूँ। वर्षाके पश्चात् इन पर्वतोंपर जहाँ-तहाँ छोटे-बड़े उज्ज्वल मेघखण्ड चीड़की डालों और हरी झाड़ियोंमें जब रुक जाते हैं, लगता है खेलते-खेलते थककर मेघ-शिशु जहाँ-तहाँ विश्राम कर रहे हों। किंतु आजकी यह छटा सर्वथा भिन्न, सर्वथा अपूर्व है। मीलोंतक मानो खूब धुनी रुईके कोमल धुए तीस-चालीस फुट ऊँचे बिछा दिये गये हैं। पृथ्वी और गगनका भेद करना कठिन है और उस सम्मुख क्षितिजसे ऊपर तो मैं बैठा हूँ इस शिखरपर।

रुईके धुए फैल रहे हैं, बढ़ रहे हैं। दृश्य डूबता जा रहा है उनमें और इनके पीछे अस्ताचलगामी सूर्यकी किरणोंने इनपर अब अबीर उँड़ेलना प्रारम्भ कर दिया है। यह कैसा रंग——पूरा एक भाग अतसी-पुष्प-नीलाभ और वह भी सूर्यके पीछेसे पड़नेवाले प्रकाशके कारण ज्योतिर्मय, अत्यन्त कोमल ! यह रंग,

यह सौकुमार्य, यह ज्योति—कई क्षण नेत्र और वृत्ति डूबे रह गये वहीं।

अब उतरना चाहिये। अन्धकार होनेसे पूर्व शिखरसे नीचे पहुँचकर स्वच्छ पथ पकड़ लेना चाहिये। शिथिल पद उतरना पड़ा और पथपर पहुँचते ही वे उस दिनवाले साधु मिल गये, जो आते समय बसमें मिले थे।

'आप घूमकर आ रहे हैं?' उन्होंने पूछा और स्वतः कहने लगे—'ये मेघ जो उमड़े आ रहे हैं दृश्योंको एकाकार करते, सत्यका दर्शन करा देते हैं ये।'

'सत्यका दर्शन?' मैं कुछ चौंक गया। अपने-आप वह प्रश्न फिर सम्मुख आ गया था, जो उस दिन यात्रामें उठा था और वह सब घटना स्मृतिमें स्पष्ट हो गयी।

'नाम-रूपने ही तो उस एक चिन्मय परमात्मामें ये भेद बना रक्खे हैं!' वे संत कह रहे थे—'एक भेद और इस भेदको लेकर चलनेवाला सब व्यवहार मिथ्या है। इस भेदको पृथक् कर देनेपर जो एक रह जाता है, सत्य तो वही है।'

'आपका तात्पर्य है कि इस भेदमें अभेदका दर्शन सत्य है।' मैंने कहा—'ये मेघ उसका कुछ आभास करा देते हैं।'

सत्यं च समदर्शनम्।

साधुने केवल श्रीमद्भागवतका एक वाक्य कह दिया। उन्हें अब दूसरी ओर जाना था। मार्गकी बत्तियाँ जल चुकी थीं। मैं उनको अभिवादन करके पृथक् हुआ।

'सगुन जान नहिं कोइ'

(लेखक—पं० श्रीज्ञानशंकरजी पाण्डेय, एम्, ए०)

जिस अव्यक्त अचिन्त्य निर्गुण निराकार ब्रह्मके निरूपणमें श्रुतियाँ 'नेति-नेति' कहकर मूक हो जाती हैं; जिस अद्वैत, अनन्त, गुणातीत परमतत्त्वके अवगाहनमें औपनिषदिक ऋषियोंकी बुद्धि भी पङ्गु बन जाती है एवं जिस ज्ञेयतत्त्वकी जिज्ञासामें वैदिक ऋषि—

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।

(केन० उ० १। ३)

—और 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' कहकर आश्चर्य प्रकट करने लगता है; भगवान् गीताचार्य भी जिस निष्क्रिय अचल, अप्रमेय अक्षर ब्रह्मकी साधना कष्टसाध्य बतलाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२। ५)

और कबीर भी जिस परमतत्त्वको 'पुहुपवास ते पातरा' कहकर उसकी दुरूहताका परिज्ञान कराते हैं; यही नहीं अंधे कवि सूरको भी जहाँ 'सगुनलीला पद' गानेके लिये बाध्य होना पड़ता है—

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालंब मन चकित धावै।
निरगुन अगम बिचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥

—वहीं निर्गुण मार्गकी 'ग्यान पंथ कृपान कै धारा' एवं

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।

—वाली दुरूहता एवं दुर्गमताको सूक्ष्म दृष्टिसे परखते हुए भी 'श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक' के राजमार्गपर चलनेवाले एक वीतराग, निःस्पृह महात्माके मुखसे सहसा—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।

—की सरल किंतु निर्भयवाणीकी उद्घोषणा कम आश्चर्यका विषय नहीं है।

यह बात यों ही कह दी गयी हो, इसके लिये अवकाश नहीं। भूतभावन जगद्गुरु शंकर भी अम्बा पार्वतीसे इसी बातकी ही तो पुष्टि कर रहे हैं—

चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥

—और उनको सावधान करते हुए कहते हैं—

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति॥

उमा ! तुम सावधान हो जाओ । मैं अब उसी नरलीलाका वर्णन करने जा रहा हूँ; जिसे देखकर तुम्हें व्यामोह हुआ था एवं जिसके फलस्वरूप तुम 'सती सरीर रहिहु बौरानी' और यही नहीं 'अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी ।'

कारण, सगुण विग्रहवान् भगवान्की ईश्वरताका अनुमान तो उनके अतिमानवीय कार्यों एवं शक्तिसम्पन्नतायुक्त ऐश्वर्यप्रधान रूपके द्वारा सहज ही हो जाता है; एतदर्थ वह सुगम है; किंतु उनका माधुर्य एवं रसप्रधान विमोहनकारी रूप ही भ्रमोत्पादक होनेके कारण तर्कका विषय बन जाता है । अतएव वह बोधगम्य नहीं; अगम है । साधारण प्राकृतजनकी तो बात ही क्या; बड़े-बड़े ऋषि-मुनितक व्यामोहमें पड़ जाते हैं—

सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ।

× × ×

भगवान् आशुतोष शंकर जगदम्बा पार्वतीके साथ कुम्भज ऋषिके आश्रममें चातुर्मास्य व्यतीत करके कैलासकी ओर आ रहे हैं । मार्गमें दण्डकारण्य पड़ता है । यहाँ निर्गुण ब्रह्म नराकार होकर अपनी माधुर्य किंतु अगम लीलामें प्रवृत्त हो चुका है । विदेहनन्दिनी अपहृत की जा चुकी हैं । भगवान् राघवेन्द्र पागलोंकी भाँति इतस्ततः पशु-पक्षियों, झाड़ियों, गुल्मों एवं लताओंसे उस मृगनयनी सीताका पता पूछते हुए भटक रहे हैं । अवढरदानीने नरलीलामें व्याघात पड़नेके भयसे संनिकट न जाकर दूरसे ही प्रणाम कर लिया । सतीजी यह सब देख रही थीं । सोचने लगीं—

संकर जगत बंद्य जगदीसा । सुर नर मुनि सब नावत सीसा ॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा । कहि सच्चिदानंद परधामा ॥

क्योंकि—

जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि ।

सतीको बहुत बड़ा संदेह हुआ । अभी-अभी उस ब्रह्मका निरूपण वे स्वतः ऋषिके श्रीमुखसे सुनकर आ रही हैं । सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी कहा जानेवाला ब्रह्म आज अल्पज्ञ प्राकृत-जन-सदृश एक साधारण स्त्रीके लिये विलाप कर रहा है, कैसी विडम्बना है—

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी । तुम देखी सीता मृगनैनी ॥
खंजन सुक कपोत पिक मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥

यही नहीं, शंकरजी देखिये तो, आपके उस तथाकथित ब्रह्मको आज एक जीव उपदेश कर रहा है—'लछिमन समुझाए बहु भाँती ।' लक्ष्मण जीव कैसे ?

उभय बीच सिय सोहति कैसी । ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥

अरे; वह तो उन्मत्तों-जैसी व्यर्थकी बातें भी करने लगा है—

राखिय नारि जदपि उर माहीं । जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं ॥

यही नहीं; आपके उस ब्रह्मका उपहास अधोयोनिवाली मृगियाँ भी कर रही हैं—

तुम्ह आनंद करहु मृग जाए । कंचन मृग खोजन ये आए ॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', एकोऽहं बहु स्याम्', 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।'

—वाला ब्रह्म भला इतनी दुर्दशाको कैसे प्राप्त हो सकता है ? जब वह सर्वत्र पूर्णरूपेण व्याप्त है, तब उससे सीताकी दूरी कैसी ? जब उस अंशीके सभी अंशस्वरूप हैं; तब फिर सीता या रावणमें भेद ही क्या ? जब उपनिषद्—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

—कहकर उसको सब प्रकारसे पूर्ण बतलाते हैं, तब अपूर्णता कैसे सम्भव है ? और जब अपूर्णता नहीं, तब फिर अभाव किस बातका ? जब कोई अभाव ही नहीं, तब किसी प्रकारकी इच्छा ही कैसे जाग्रत् हो सकती है ? और जब कोई इच्छा ही नहीं; तब फिर चञ्चलता कहाँसे सम्भव है ? परंतु आज ब्रह्म चञ्चल हो उठा है !

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।

—कहलानेवाला वह अखिलात्मा असीम, अज, अनवद्य, अखण्ड, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, पुञ्जीभूत गुणोंवाला सर्वान्तर्यामी विभु 'मनहुँ महाबिरही अति कामी' रूपमें 'प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं' और 'जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू' आदि कहकर जहाँ अपनी अल्पज्ञता एवं ससीमताका परिचय दे रहा हो, वहाँ प्राकृत मनुष्य ही नहीं; नारद; गरुड़; भुशुंडि-जैसे नीर-क्षीरविवेकी परमतत्त्वज्ञ महात्मा भी मोहग्रस्त हो जायँ—इसमें कोई आश्चर्य नहीं ।

अतः सतीका भ्रम स्वाभाविक ही था ।

देवर्षि नारद 'जेहिं बहु बार नचावा मोही' एवं पितामह ब्रह्मा भी 'बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा' कहकर उस चरित्र-

के अवगाहनमें अपनी असमर्थता प्रकट कर देते हैं। वस्तुतः यह माधुर्यप्रधान रूप ऐसा है ही।

× × ×

राजराजेश्वर महाराज दशरथके मणिमय प्राङ्गणमें बालब्रह्म क्रीड़ा कर रहा है। महाभाग कागभुशुण्डि उस लीलामें सम्मिलित हो रहे हैं। भगवान् राघवेन्द्र हाथमें मालपूआ लेकर कौएकी तरफ बढ़ते हैं। कौआ समीप आता है। दूसरे हाथसे पकड़नेकी चेष्टा करते ही कौआ दूर हट जाता है। यही लीलाक्रम अधिक समयतक चलता रहा। और—'चलउँ भागि तब पूप देखावहिं।' भगवान्को अपनी लीलामें विस्तार करनेकी सूझी। हाथ आगे बढ़ा, कौआ दूर हटा; हाथ बढ़ता ही गया, कौआ उड़ चला। और 'सप्तावरन भेद करि जहाँ लगें गति मोरि'—प्रकृतिके सातों आवरणों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, महत्तत्त्व एवं अहंकारको पाकर अष्टम आवरण स्वतः प्रकृतिमें ही पहुँच गया; इसके आगे किसी जीवकी गति नहीं। परंतु जब भी पीछे मुड़कर देखता है, तब—

जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहि मोहिं तात।

यह दो अंगुलकी दूरी विचारणीय है! यही दो अंगुलकी दूरी यशोदा मैयाने कन्हैयाको रस्सीसे बाँधते समय भी अनुभव की थी। कहनेका तात्पर्य यह कि कौआ घबराया। आँखें मूँद लीं। परंतु आँखें खोलनेपर देखता है कि वही दशरथका मणिमय प्राङ्गण तथा मुस्कराते हुए वे ही भगवान् राघवेन्द्र उसके समीप बालक्रीड़ामें निमग्न हैं। भगवान्ने मुख खोला, कौआ उदरस्थ हुआ। बाहर तो एक ब्रह्माण्डकी बात थी; यहाँ तो—

उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया।

वह प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अनेक वर्षोंतक भ्रमण करता रहा—

एक एक ब्रह्मांड महुँ रहउँ बरस सत एक।

यही नहीं, अनेक युग एवं कल्प बीत गये—

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥

परंतु 'बिहँसतहीं मुख बाहेर' होनेपर क्या देखता है कि—'उभय घरी महँ मैं सब देखा।' कहाँ तो युगों एवं कल्पोंकी बात और कहाँ दो घड़ी; केवल ४८ मिनट। यहींपर आइंस्टीनके सापेक्ष्यवाद (Relativity) का सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार यह माधुर्यप्रधान सगुण चरित्र भ्रमोत्पादक होनेके कारण दुर्गम एवं दुर्बोध्य है। इसी भ्रमके निवारणार्थ मानसमें भगवान्की नरलीला अथवा उनका माधुर्य रूप बारंबार सामने रक्खा गया है। जहाँ कहीं इस रूपके कारण भ्र होनेकी सम्भावना हुई, वहीं वक्ताने श्रोताको सावधान कर दिया है।

क्या परात्पर पूर्णब्रह्मके समक्ष भी क्रोध, मोह, लोभके अवसर आ सकते हैं—

जेहिं सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

इसीलिये भगवान् शंकर उमाको सावधान कर देते हैं कि पुनः भ्रममें न पड़ना—

जासु कृपाँ छूटहिं मद मोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥

इन चरित्रोंके समझनेकी सामर्थ्य सभीमें है भी नहीं, इसे तो—

जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥

अतः उमे! मेरे प्रभुको कभी अशक्त, कभी परवश, कभी असमर्थ एवं कभी भयभीत होते देखकर कहीं भ्रममें न पड़ जाना, यह तो उनकी लीला—विलासमात्र है। इसी कारण वे बारंबार उस प्रभुकी सर्वशक्तिमत्ता एवं ऐश्वर्यका स्मरण कराते चलते हैं—

उमा काल मर जाकीं ईछा। सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा॥
उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगत कृपाल देखाई॥
भय आतुर कपि भागन लागे। जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे॥
उमा करत रघुपति नरलीला। खेलत गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥
भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई॥

गरुड़जी भी उसी भ्रमके शिकार हुए थे—

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥

भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥

वास्तवमें प्राकृतगुणरहित सगुण ब्रह्म समझमें आनेवाला है ही नहीं। वह अवर्ण्य प्रभु तो प्रेम ही करने योग्य है। वर्णन तो निर्गुणका ही सम्भव है। अगस्त्यजी भी यही कहते हैं—

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता । अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता ॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ । फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ॥

सगुण रूपकी दुरूहता एवं निर्गुण रूपकी सुलभताको श्रीमद्भागवतकार भी स्वीकार करते हैं—

तथापि भूमन्महिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥
(१ । १४ । ६)

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥
(१ । १४ । ७)

—अर्थात् हे अच्युत ! हे व्यापक ! यद्यपि आपके निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपोंकी महिमाका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुरूह है, तथापि शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा आपके निर्गुण स्वरूपकी महिमा आत्मस्वरूपके प्रकाशमें जान भी सकते हैं । इसके अतिरिक्त उसे जाननेका और कोई उपाय नहीं है । कारण, आपका निर्गुण रूप केवल अनुभवगम्य है, वह वृत्तियोंका विषय नहीं । परंतु भगवन् ! जिन समर्थ पुरुषोंने अनेक जन्मोंतक परिश्रम करके पृथ्वीके परमाणु, आकाशके परमाणु, आकाशके हिमकण तथा आकाशमें स्थित नक्षत्रों, तारों तथा उनकी किरणोंके परमाणुओंको गिन डाला है, उनमें भी भला ऐसा कौन है जो आपके सगुणस्वरूपके अनन्त गुणोंको गिन सके ।'

कहनेका तात्पर्य यह कि मननशील मुनि एवं बड़े-बड़े वीतराग योगी भी जब अवतार-रहस्यको तत्त्वतः न जानकर भगवान्‌की माधुर्य-लीलासे विमुग्ध हो जाया करते हैं, तब साधारण जनोंकी सामर्थ्य ही क्या ? साकाररूपसे प्रकट होनेपर भी अभक्त उन्हें पहचान नहीं पाते । कारण, भगवान् योगमायासमावृत रहते हैं—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।'
'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥'
(गीता ४ । ६)

सगुण रूपकी यह दुर्लभता अपनेको प्राकृत नरलीलामें भी व्यक्त किये हुए बिना नहीं रहती । परंतु बुद्धि उसे तर्ककी कसौटीपर कसनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाती है; क्योंकि वह चिन्मयस्वरूप इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी पहुँचके बाहर है और जो असम्मूढ़ उसको जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर पुनः जन्म नहीं धारण करता—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

यही कारण है कि भगवान् राघवेन्द्रकी लीला 'दनुज-बिमोहन जनसुखकारी' कही गयी है जो 'मायाबस मतिमंद अभागी' हैं और जिनके 'हृदय जमनिका बहुबिधि' लगी हुई है, वे ही हठवश संशय करनेवाले मूढ़ अपने अज्ञानका आरोपण रामपर किया करते हैं । वे उस अज, अक्रिय, अद्वैत, निर्गुण परमतत्त्वका वन-वन भटकते हुए भगवान् राघवेन्द्रके सगुण मानवरूपसे साम्य ही कैसे स्थापित कर सकते हैं । वस्तुतः यहाँ तर्कबुद्धि शिथिल पड़ जाती है; इसी कारण अश्रद्धालु अभक्त उसे पहचान नहीं पाते—

पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धरम रति ॥

तथा—

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।
(गीता ७ । २५)

इसके विपरीत निर्गुण रूप निरवधि किंतु विचारगम्य है । उसमें रूप, लीला आदिका कोई प्रश्न ही नहीं; तो भ्रम कहाँसे होगा । वहाँ तो सभी वस्तुओंका निषेध करते हुए अव्यभिचारिणी बुद्धिका अवलम्बन ले यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदिके द्वारा आत्मतत्त्वसे उस परमतत्त्वका अनुभव किया जा सकता है । यहाँ अद्विधात्मक स्थिति होनेके कारण भटकनेका कोई प्रश्न ही नहीं । इसीलिये—'निर्गुनरूप सुलभ अति' कहा है, परंतु सगुणरूप भ्रमजनक होनेके कारण अगम बतलाया गया है । वैसे तो कबीरसाहब 'निर्गुण' और 'सगुण' के भेदको ही भ्रमात्मक मानते हैं—

'निरगुन सरगुन मनकी बाजी खरे सयाने भटके ।'

षोडशनाम महामन्त्रके विस्तृत विविध अर्थ

(लेखक—परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिमयूख भागवत गोस्वामीजी महाराज)

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

निवेदन

भुवन-मङ्गल श्रीकृष्णनाम-संकीर्तन ही कलियुगका धर्म है। हरिनाम-संकीर्तनके अतिरिक्त कलियुगके जीवोंके लिये नित्य मङ्गलकी प्राप्तिका कोई उपाय नहीं है। भगवन्नाम साक्षात् भगवान् है। भगवान् श्रीकृष्ण ही जीवोंका उद्धार करनेके लिये अपने गुणसे कृपा करके नाम-रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। इसी कारण भाग्यवान् सज्जनलोग नामाचार्य सद्गुरुसे श्रीकृष्ण-नाम ग्रहण करके नामका आश्रय लेकर हरिनाम लेते-लेते धन्य और कृतार्थ हो जाते हैं।

श्रीकृष्णनाम-संकीर्तन साधन-शिरोमणि है। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने अपने जीवनमें आचरण करके जगत्के सब निवासियोंको कृष्णनाम-महामन्त्रका प्रतिपल कीर्तन करनेका उपदेश दिया है। कलियुग-पावनावतारी श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी शिक्षा मङ्गलाकाङ्क्षी जीवमात्रके लिये अवश्य ही आदरपूर्वक ग्रहण करने योग्य है। इस महामन्त्रका उल्लेख वेद-पुराणादि विभिन्न शास्त्रोंमें सदासे वर्तमान है। इस महामन्त्रके जो विभिन्न अर्थ नित्यसिद्ध महाजनोंने कृपापूर्वक बतलाये हैं, उन्हींको आज मैं अपने इष्टदेव श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपादकी कृपा-भिक्षा करके आत्मशुद्धिके लिये प्रकाशित कर रहा हूँ। भक्तगण इस महामन्त्रके अर्थका आस्वादन करके मुझ-सरीखे पामरको अपनी कृपा और आशीर्वादसे धन्य और कृतार्थ करेंगे।

इस महामन्त्रके सम्बन्धमें विभिन्न शास्त्रोंमें हजारों महत्त्वपूर्ण वचन हैं। विभिन्न पुराण, यजुर्वेदीय कलिसंतरणोपनिषद्, अथर्ववेदीय पिप्पलादशाखा, अनन्तसंहिता, श्रीसनत्कुमारसंहिता आदि संहिताएँ तथा विविध तन्त्रों और महापुरुषोंके महामन्त्र-माहात्म्यसम्बन्धी वचनोंका संग्रह करनेपर एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन सकता है।

महामन्त्रके विभिन्न अर्थ

नामश्रेष्ठं मनुमपि शचीपुत्रमत्र स्वरूपं
रूपं तस्याग्रजमुरुपुरीं माथुरीं गोष्ठवाटीम्।
राधाकुण्डं गिरिवरमहो राधिकामाधवाशां
प्राप्तो यस्य प्रथितकृपया श्रीगुरुं तं नतोऽस्मि॥

कर मङ्गलाचरण शुभ करता ग्रन्थारंभ परम अभिराम।
गुरु, वैष्णव, भगवान—तीनके चरणोंका कर स्मरण-प्रणाम॥
इन तीनोंके स्मरण मात्रसे होता सब विघ्नोंका नाश।
मिलता सहज सभी मनवाञ्छित बिना किये किंचित् आयास॥

श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभुका उपदेश

कलियुगमें है हुआ कृष्णका नामरूपमें शुभ अवतार।
केवल नाम-रटनसे होता अखिल जगत्का ही निस्तार॥
कर स्वजनोंको सभी महाप्रभु श्रीगौराङ्ग कर रहे उपदेश।
कृष्ण नामके महामन्त्रका सुनो हर्षयुत हो संदेश॥

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

प्रभुने कहा—सभीको मैंने महामन्त्र बतलाया यह।
जपो सभी निर्बन्ध प्रेमसे, दुःख दूर होंगे दुस्सह॥
सबको इससे सभी तरहकी सिद्धि प्राप्त होगी निश्चय।
विधि-विधान कुछ नहीं; जपो अनवरत कहीं भी, किसी समय॥
खाते-पीते, सोते-जगते जपो निरन्तर बिना विराम।
मनसे चिन्तन करो, वदनसे बोलो सदा 'कृष्ण' प्रिय नाम॥
'कृष्ण' नाम इस महामन्त्रका है यह सुन्दर सहज स्वभाव।
जपनेवालेके जीवनमें होता उदय कृष्णका भाव॥

महामन्त्र

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

हरिः कृष्णो राम इति नामत्रयात्मको महामन्त्रः। तस्मिन् सम्बोधनात्मकानि त्रीणि नामानि सन्ति। तत्र त्रयाणामर्थानां माधुर्यमयी व्याख्या—

विज्ञाप्य भगवत्तत्त्वं चिद्घनानन्दविग्रहम्।
हरत्यविद्यां तत्कार्यमतो हरिरिति स्मृतः॥
आनन्दैकसुखः श्रीमान् श्यामः कमललोचनः।
गोकुलानन्दनो नन्दनन्दनः कृष्ण ईर्यते॥
वैदग्धीसारसर्वस्वं मूर्त्तलीलाधिदैवतम्।
श्रीराधां रमयन् नित्यं राम इत्यभिधीयते॥

हरि, कृष्ण, राम—इन तीन नामोंसे युक्त महामन्त्रमें सम्बोधनमय तीन नाम हैं ।

इन तीनों नामोंकी माधुर्यमयी व्याख्या इस प्रकार है—

सच्चिदानन्द-विग्रह भगवान् तत्त्वज्ञान प्रदान करके अविद्या या अज्ञानको हरकर उसके कार्योंका भी नाश करते हैं, अतएव वे 'हरि' नामसे प्रसिद्ध हैं। एकमात्र आनन्दरस-विग्रह गोकुलके आनन्दप्रद, कमललोचन, नन्दनन्दन श्रीश्यामसुन्दर ही 'कृष्ण'नामसे अभिहित होते हैं। लीलाके मूर्त्त-विग्रह या अधिदेव रसिकचूड़ामणि श्रीकृष्ण सतत श्रीराधाको रमण करा रहे हैं, अर्थात् श्रीराधाको आनन्दित करते हैं; अतएव वे 'राम' नामसे अभिहित हैं।

ऐश्वर्यमयी व्याख्या

यथा—

हरति त्रिविधं तापं जन्मकोटिशतोद्भवम् ।
पापं च स्मरतां यस्मात्तस्माद्धरिरिति स्मृतः ॥
कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥
रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनादः परब्रह्माभिधीयते ॥

स्मरण करनेवाले भक्तोंके शत-शत जन्मोंके सारे पाप-तापको हरण करते हैं, अतएव वे 'हरि' हैं। 'कृष्' धातु आकर्षक सत्ता-वाचक और 'ण' शब्द निर्वृति अर्थात् सुखवाचक है, इन दोनोंके ऐक्यमय आनन्दस्वरूप आकर्षक परब्रह्म ही 'कृष्ण' नामसे अभिहित हैं। योगीजन चिन्मय, अनन्त, सत्यानन्द-स्वरूप परतत्त्वमें रमण करते हैं अर्थात् आनन्द प्राप्त करते हैं, अतएव वे परब्रह्म 'राम' नामसे अभिहित होते हैं।

युगलस्मरणमयी व्याख्या

यथा—

मनो हरति कृष्णस्य कृष्णाह्लादस्वरूपिणी ।
ततो हरा श्रीराधैव तस्याः सम्बोधनं हरे ॥
अपगृह्य त्रपां धर्मं धैर्यं मानं व्रजस्त्रियाम् ।
वेणुना कर्षति गृहात्तेन कृष्णोऽभिधीयते ॥
रमयत्यनिशं रूपलावण्यैर्व्रजयोषिताम् ।
मनः पञ्चेन्द्रियाणीह रामस्तस्मात् प्रकीर्तितः ॥

कृष्णकी आह्लादस्वरूपिणी (ह्लादिनीशक्ति) श्रीराधा कृष्णके चित्तको हरण करती है, इस कारण श्रीराधा 'हरा' नामसे कथित होती हैं। 'हरा'का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है। व्रजरमणीगणकी लज्जा, धर्म, धैर्य और मान दूर करके वंशीध्वनिके द्वारा उनको घरसे आकर्षण करते हैं; अतएव श्रीव्रजेन्द्रनन्दन हरि 'कृष्ण' नामसे अभिहित होते हैं। वे अपने रूपलावण्यसे व्रजरमणीगणके मन और पञ्च इन्द्रियोंको सर्वदा आनन्दित करते हैं, इस कारण 'राम' नामसे कीर्तित होते हैं।

श्रीश्रीजीवगोस्वामिप्रभुकृत श्रीहरिनाममहामन्त्रकी व्याख्या

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥
सर्वचेतोहरः कृष्णस्तस्य चित्तं हरत्यसौ ।
वैदग्धीसारविस्तारैरतो राधा हरा मता ॥ १ ॥
कर्षति स्वीयलावण्यमुरलीकलनिःस्वनैः ।
श्रीराधां मोहनगुणालंकृतः कृष्ण ईर्यते ॥ २ ॥
श्रूयते नीयते रासे हरिणा हरिणेक्षणा ।
एकाकिनी रहःकुञ्जे हरेयं तेन कथ्यते ॥ ३ ॥
अङ्गश्यामलिमस्तोमैः श्यामलीकृतकाञ्चनः ।
रमते राधया सार्द्धमतः कृष्णो निगद्यते ॥ ४ ॥
कृत्वारण्ये सरः श्रेष्ठं कान्तयानुमतस्तया ।
आकृष्य सर्वतीर्थानि तज्ज्ञानात् कृष्ण ईर्यते ॥ ५ ॥
कृष्यते राधया प्रेम्णा यमुनातटकाननम् ।
लीलया ललितश्चापि धीरैः कृष्ण उदाहृतः ॥ ६ ॥
हृतवान् गोकुले तिष्ठन्नरिष्टं पुष्टपुंगवम् ।
श्रीहरिस्तं रसादुच्चै रायतीति 'हरा' मता ॥ ७ ॥
ह्यस्फुटं रायति प्रीतिभरेण हरिचेष्टितम् ।
गायतीति मता धीरैर्हरा रसविचक्षणैः ॥ ८ ॥
रसावेशपरिस्रस्तां जहार मुरलीं हरेः ।
हरेति कीर्तिता देवी विपिने केलिलम्पटा ॥ ९ ॥
गोवर्द्धनदरीकुञ्जे परिरम्भविचक्षणः ।
श्रीराधां रमयामास रामस्तेन मतो हरिः ॥ १० ॥
हन्ति दुःखानि भक्तानां राति सौख्यानि चान्वहम् ।
हरा देवी निगदिता महाकारुण्यशालिनी ॥ ११ ॥
रमते भजतो चेतः परमानन्दवारिधौ ।
अत्रेति कथितो रामः श्यामसुन्दरविग्रहः ॥ १२ ॥
रमयत्यच्युतं प्रेम्णा निकुञ्जवनमन्दिरे ।
रामा निगदिता राधा रामो युक्तस्तया पुनः ॥ १३ ॥

रोदनैर्गोकुले दावानलमाशयति ह्यसौ ।
विशोषयति तेनोक्तो रामो भक्तसुखावहः ॥ १४॥
निहन्तुमसुरान् यातो मथुरापुरमित्यसौ ।
तदागमद्रहः कायो यस्याः सासौ हरेति च ॥ १५॥
आगत्य दुःखहर्त्ता यो सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
श्रीराधाहारिचरितो हरिः श्रीनन्दनन्दनः ॥१६॥

इति श्रीश्रीजीवगोस्वामिप्रभुविरचिता श्रीहरिनाम-महामन्त्रव्याख्या समाप्ता

अनुवाद—श्रीराधा असमोर्द्ध्व प्रेमके द्वारा सर्वचित्तहारी श्रीकृष्णके भी चित्तको हरण करती हैं, अतएव उनका एक नाम 'हरा' है। 'हरा' का सम्बोधन पद 'हरे' होता है ॥ १ ॥

अपने रूप-लावण्य और वंशीध्वनिके द्वारा भुवनमोहन श्रीहरि श्रीराधाको आकर्षण करते हैं, अतएव वे 'कृष्ण' नामसे अभिहित होते हैं ॥ २ ॥

रासलीलाके समय मृगनयनी श्रीराधा केलिकुञ्जमें श्रीकृष्णके द्वारा नीता (हृता) हुई थीं, अतएव श्रीराधाको 'हरा' कहते हैं। इसका सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥३॥

जो अपने श्याम अङ्गकी कान्तिसे सुवर्णको भी श्यामायमान कर देते हैं, वे श्रीराधारमण श्यामसुन्दर ही 'कृष्ण' कहलाते हैं ॥ ४ ॥

व्रज-काननमें अपनी कान्ता श्रीराधाकी इच्छाके अनुसार श्रेष्ठ सरोवरको प्रकट करके उन्होंने उसमें सब तीर्थोंको आकर्षण किया था, अतएव उनका नाम 'कृष्ण' है ॥ ५ ॥

लीलाके द्वारा भुवनमोहन होकर भी श्रीहरि श्रीराधाके प्रेममें मुग्ध होकर उनके द्वारा यमुनातटवर्ती काननमें आकृष्ट होते हैं, इसी कारण वे 'कृष्ण' कहलाते हैं ॥ ६ ॥

व्रजमें वृषरूपधारी बलिष्ठ अरिष्टासुरका प्राण हरनेके कारण श्रीराधाने उनको 'हरि-हरि' कहकर सानन्द आह्वान किया था, अतएव श्रीराधा 'हरा' नामसे पुकारी जाती हैं। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥ ७ ॥

श्रीराधा कभी अस्फुट स्वरमें हरिलीला उच्चारण करती हैं तथा कभी प्रेमवश हो उसका कीर्तन करती हैं, अतएव रसिक भक्तगण उनको 'हरा' कहा करते हैं। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥ ८ ॥

केलि-परायणा श्रीराधाने रसावेशमें उन्मत्त श्रीकृष्णकी मुरली हरण की थी, अतएव वे 'हरा' नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ९ ॥

श्रीहरिने गोवर्द्धन गिरिके कुञ्जमें आलिङ्गन आदिके द्वारा श्रीराधाको आनन्द प्रदान किया था, इसलिये वे 'राम' नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ १० ॥

परम कल्याणमयी श्रीराधा भक्तजनोंके सारे दुःखोंको हरकर उनको परम सुख प्रदान करती हैं, अतएव उनका नाम 'हरा' है। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥११॥

भजन करनेवालोंका मन परमानन्द-सिन्धु श्रीकृष्णमें रमण करता है अर्थात् आनन्द प्राप्त करता है; इस कारणसे श्यामसुन्दर श्रीहरि 'राम' नामसे अभिहित होते हैं ॥ १२॥

श्रीराधा निकुञ्जवनमें प्रेमोन्मत्त होकर श्रीहरिको आनन्द प्रदान करती हैं (रमयति आनन्दयति) अतएव उनका नाम 'रामा' है। रामा श्रीराधाके साथ मिलित श्रीकृष्ण ही 'राम' नामसे अभिहित होते हैं ॥ १३ ॥

दावाग्नि देखकर व्रजवासी लोग जब रोने लगे, तब उन्होंने दावानल पान करके भक्तोंको आनन्दित किया था, अतएव वे भक्तोंको सुख देनेवाले नन्दनन्दन श्रीकृष्ण 'राम' नामसे कीर्तित होते हैं ॥ १४ ॥

श्रीहरि असुरोंका संहार करनेके लिये मथुरापुरीमें गये थे। पश्चात् श्रीराधाके साथ मिलनकी कामनासे व्रजमें आये। इसलिये भी श्रीकृष्णके चित्तको हर लेनेके कारण श्रीराधाका नाम 'हरा' हुआ है। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥ १५ ॥

जिन्होंने मथुरासे आकर व्रजवासियोंका दुःख हर लिया था, श्रीराधाके मनको हरनेवाली लीलाओंसे युक्त वे श्रीनन्दनन्दन कृष्ण ही 'हरि' नामसे ख्यात हैं। 'हरि' शब्दका सम्बोधनमें अन्तिम 'हरे' पद बना है ॥ १६ ॥

इति श्रीश्रीजीवगोस्वामिप्रभुविरचिता श्रीहरिनाममहामन्त्रव्याख्या समाप्ता

श्रीगोपालगुरुगोस्वामिप्रभुकृता
श्रीहरिनाममहामन्त्रव्याख्या

अज्ञानतत्कार्यविनाशहेतोः
सुखात्मनः श्यामकिशोरमूर्तेः ।
श्रीराधिकाया रमणस्य पुंसः
स्मरन्ति नित्यं महतां महान्तः ॥ १ ॥
विलोक्य तस्मिन् रसिकं कृतज्ञं
जितेन्द्रियं शान्तमनन्यचित्तम् ।
कृतार्थयन्ते कृपया सुशिष्यं
प्रदाय नामत्रययुक्तपद्यम् ॥ २ ॥

अज्ञान और उसके द्वारा उत्पन्न भवव्याधिको नष्ट करनेवाले आनन्दस्वरूप श्यामकिशोरमूर्त्ति श्रीराधारमणको महाभागवतगण नित्य स्मरण करते हैं ॥ १ ॥

रसिक, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, शान्त, अनन्यचित्त सुशिष्यको साधु लोग कृपा करके महामन्त्र (हरे कृष्णादि नामत्रययुक्त पद) को प्रदान करके कृतार्थ करते हैं ॥ २ ॥

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥ ३ ॥
विज्ञाप्य भगवत्तत्त्वं चिद्घनानन्दविग्रहम् ।
हरत्यविद्यां तत्कार्यमतो हरिरिति स्मृतः ॥ ४ ॥

अथवा सर्वेषां स्थावरजंगमादीनां तापत्रयं हरतीति हरिः । यद्वा दिव्यसद्गुणश्रवणकथनद्वारा सर्वेषां विश्वादीनां मनो हरतीति । यद्वा स्वमाधुर्येण कोटिकंदर्पलावण्येन सर्वेषामवतारादीनां मनो हरतीति हरिः । हरिशब्दसम्बोधने हे हरे ॥ ५ ॥

रासादिप्रेमसौख्यार्थे हरेर्हरति या मनः ।
हरा सा गीयते सद्भिर्वृषभानुसुता परा ॥ ६ ॥
स्वरूपप्रेमवात्सल्यैर्हरेर्हरति या मनः ।
हरा सा कथ्यते सद्भिः श्रीराधा वृषभानुजा ॥ ७ ॥
हरति श्रीकृष्णमनः कृष्णाह्लादस्वरूपिणी ।
अतो हरेत्यनेनैव श्रीराधा परिगीयते ॥ ८ ॥

इत्यादिना श्रीराधावाचक हरा शब्दस्य सम्बोधने हरे ॥

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥ ९ ॥
ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥ १० ॥
आनन्दैकसुखः श्रीमान् श्यामः कमललोचनः ।
गोकुलानन्दनो नन्दनन्दनः कृष्ण ईर्यते ॥ ११ ॥
कृष्णशब्दस्य सम्बोधने कृष्ण ॥
राशब्दोच्चारणाद्देवि बहिर्निर्यान्ति पातकाः ।
पुनः प्रवेशकाले तु मकारश्च कपाटवत् ॥ १२ ॥
रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनादः परब्रह्माभिधीयते ॥ १३ ॥
वैदग्धीसारसर्वस्वं मूर्त्तलीलाधिदैवतम् ।
श्रीराधां रमयन्नित्यं राम इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥
श्रीराधायाश्चित्तमाकृष्य रमति क्रीडतीति रामः ।
रामशब्दस्य सम्बोधने राम ।

तथा हि क्रमदीपिकायां चन्द्रं प्रति श्रीकृष्णः—

मम नामशतेनैव राधानाम सदुत्तमम् ।
यः स्मरेत्तु सदा राधां न जाने तस्य किं फलम् ॥ १५ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार अग्नि अनिच्छासे भी स्पर्श हो जानेपर जला देती है, उसी प्रकार दुष्टचित्त मानवोंके द्वारा भी किसी भी प्रकारसे स्मरण या कीर्तन होनेपर उसके सारे पापोंको जो हरण करते हैं अर्थात् दूर करते हैं, उन मङ्गलमय भगवान्का नाम 'हरि' है ॥ ३ ॥

अथवा सच्चिदानन्दविग्रह भगवान्का तत्त्वज्ञान प्रदान करके अविद्या या अज्ञानको हरकर उसके कार्योंको भी नष्ट कर देते हैं, इस कारण वे 'हरि' नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ४ ॥

अथवा स्थावर-जङ्गम सबके तापत्रयको हरण कर लेते हैं, इस कारण उनको 'हरि' कहते हैं । अथवा दिव्य अप्राकृत सद्गुणोंके श्रवण-कीर्तनके द्वारा सारे विश्वके निवासियोंके मनको हरण करते हैं, अतएव उनका नाम 'हरि' है । अथवा अपने करोड़ों कंदर्पोंके-से लावण्यकी मधुरताके द्वारा सब अवतारोंके मनको हर लेते हैं, अतएव उन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका नाम 'हरि' है । हरिका सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥ ५ ॥

अथवा रास आदिके प्रेम-सुखको प्रदान करनेके लिये जो अपने प्रेम-वात्सल्य और रूप-गुण आदिके द्वारा कृष्णके मनको हर लेती हैं, वे कृष्णकी आह्लाद-स्वरूपिणी (ह्लादिनी शक्ति) श्रीराधा 'हरा' नामसे अभिहित होती हैं ॥ ६-८ ॥

इस राधावाचक 'हरा' शब्दका सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ।

'कृष्' धातु आकर्षक सत्तावाचक है और 'ण' शब्द निर्वृति अर्थात् सुखवाचक है । इन दोनोंके ऐक्यमय आनन्दस्वरूप आकर्षक परब्रह्म 'कृष्ण' नामसे अभिहित होते हैं ॥ ९ ॥

कृष्ण परमेश्वर हैं । वे सच्चिदानन्दविग्रह हैं, स्वयं अनादि और सबके आदि तथा सब कारणोंके कारण हैं । कृष्णका दूसरा नाम गोविन्द है ॥ १० ॥

एकमात्र आनन्द-रसविग्रह, गोकुलके आनन्दप्रद कमललोचन नन्दनन्दन श्रीश्यामसुन्दर 'कृष्ण' नामसे प्रसिद्ध हैं॥ ११॥

रामनामके 'रा' शब्दके उच्चारणसे सारे पाप दूर हो जाते हैं तथा 'म' शब्दका उच्चारण कपाटवत् होनेके कारण वे पाप पुनः हृदयमें प्रवेश नहीं कर पाते ॥ १२ ॥

योगीजन जिस चिन्मय, अनन्त, सत्य और आनन्द-स्वरूप परतत्त्वमें रमण करते हैं अर्थात् आनन्द प्राप्त करते हैं, वे परब्रह्म 'राम' नामसे अभिहित होते हैं ॥ १३ ॥

लीलाके मूर्त्त-विग्रह या अधिदेव रसिक-चूडामणि श्रीकृष्ण सतत श्रीराधाको रमण करा रहे हैं अर्थात् श्रीराधाको आनन्दित करते रहते हैं, अतएव वे 'राम' नामसे अभिहित हैं। अथवा श्रीराधाके चित्तको हरण करके उनके साथ क्रीड़ा करते हैं, अतएव श्रीकृष्णका एक नाम 'राम' है।१४।

क्रम-दीपिका ग्रन्थमें चन्द्रके प्रति श्रीकृष्णकी उक्ति है–

मेरे शतनामकी अपेक्षा भी 'राधा' नाम श्रेष्ठ है। जो सर्वदा श्रीराधाका स्मरण-कीर्तन करते हैं, उनको जो फल प्राप्त होता है, वह मुझे भी ज्ञात नहीं, अर्थात् वह मेरे लिये भी अज्ञेय है ॥ १५ ॥

(१) हरे—**कृष्णस्य मनो हरतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(२) कृष्ण—**राधायाः मनः कर्षतीति कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे कृष्ण !**

(३) हरे—**कृष्णस्य लोकलज्जाधैर्यादि सर्वं हरतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(४) कृष्ण—**राधाया लोकलज्जाधैर्यादि सर्वं कर्षतीति कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे कृष्ण !**

(५) कृष्ण—**यत्र यत्र राधा तिष्ठति गच्छति वा तत्र तत्र सा पश्यति कृष्णो मां स्पृशति, बलात् कन्चुकादिकं सर्वं कर्षति हरतीति कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे कृष्ण !**

(६) कृष्ण—**पुनर्हर्षतां गमयति वनं कर्षतीति कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे कृष्ण !**

(७) हरे—**यत्र कृष्णो गच्छति तिष्ठति वा तत्र तत्र पश्यति राधा ममाग्रे पार्श्वे सर्वत्र तिष्ठति इति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(८) हरे—**पुनस्तं कृष्णं हरति स्वस्थानमभिसारयतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(९) हरे—**कृष्णं वनं हरति वनमागमयतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(१०) राम—**रमयति तां नर्मनिरीक्षणादिनेति रामः, तस्य सम्बोधने हे राम !**

(११) हरे—**तात्कालिकं धैर्यावलम्बनादिकं कृष्णस्य हरतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(१२) राम—**चुम्बनस्तनकर्षणालिङ्गनादिभिः रमते इति रामः, तस्य सम्बोधने हे राम !**

(१३) राम—**पुनस्तां पुरुषायितां कृत्वा रमयतीति रामः, तस्य सम्बोधने हे राम !**

(१४) राम—**पुनस्तत्र रमते इति रामः, तस्य सम्बोधने हे राम !**

(१५) हरे—**पुनः रासान्ते कृष्णस्य मनो हृत्वा गच्छतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(१६) हरे—**राधायाः मनो हृत्वा गच्छतीति हरिः कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे हरे !**

इति श्रीगोपालगुरुगोस्वामिप्रभुविरचिता श्रीहरिनाममहामन्त्र-व्याख्या समाप्ता ।

(१) जो कृष्णके मनको हर लेती हैं, वे हरा अर्थात् राधा हैं। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(२) जो श्रीराधाके मनको आकर्षित करते हैं, वे हैं श्रीकृष्ण। कृष्णका सम्बोधनमें 'हे कृष्ण' रूप होता है।

(३) श्रीराधा श्रीकृष्णके लोक-लज्जा-धैर्यादिको हर लेती हैं, इस कारण वे 'हरा' कहलाती हैं। 'हरा'का सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(४) श्रीराधाकी लोक-लज्जा, धैर्यादिको आकर्षित करते हैं, इस कारण वे 'कृष्ण' कहलाते हैं। कृष्णका सम्बोधनमें 'हे कृष्ण' रूप होता है।

(५) श्रीराधा जहाँ-जहाँ रहती हैं या जाती हैं, वहाँ-वहाँ वे देखती हैं कि 'कृष्ण' मुझे स्पर्श करते हैं, बलपूर्वक कर्षण अर्थात् हरण करते हैं, इस कारण वे कृष्ण हैं, कृष्णका सम्बोधनमें 'हे कृष्ण' रूप होता है।

(६) वे श्रीराधाको आनन्द प्रदान करनेके लिये वनमें आकर्षण करते हैं, इसलिये 'कृष्ण' कहलाते हैं। कृष्णका सम्बोधनमें 'हे कृष्ण' रूप होता है।

(७) श्रीकृष्ण जिस स्थानमें जाते या रहते हैं, वे उन-उन स्थानोंमें देखते हैं कि श्रीराधा हमारे सामने—पार्श्वमें स्थित हैं, अतएव 'हरा' श्रीराधा हैं। उनका सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(८) पुनः उन्हीं कृष्णको हरण करती हैं, अपने

स्थानमें अभिसार कराती हैं, अतएव श्रीराधाका नाम 'हरा' है। उनका सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(९) कृष्णको हरण करके वनमें लाती हैं, अतएव श्रीराधा 'हरा' हैं। उनका सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(१०) श्रीराधाको परिहास और दर्शन आदिके द्वारा आनन्दित करते हैं, अतएव उनका नाम राम है। उनका सम्बोधन 'हे राम' होता है।

(११) श्रीकृष्णके तात्कालिक धैर्य आदिको हरण करती हैं, इस कारण श्रीराधा 'हरा' हैं। उनका सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(१२) विविध प्रकारसे स्वयं रमण अर्थात् क्रीड़ा करते हैं, अतएव उनका नाम 'राम' है। रामका सम्बोधनमें 'हे राम' रूप होता है।

(१३) पुनः श्रीराधाको आनन्द प्रदान करते हैं; अतएव उनका नाम 'राम' है। उनका सम्बोधन 'हे राम' होता है।

(१४) पुनः-पुनः उसी प्रकार रमण करते हैं, इस हेतु कृष्णका नाम 'राम' है। उनका सम्बोधन 'हे राम' होता है।

(१५) पुनः रासके अन्तमें श्रीकृष्णके चित्तको हरण करके गमन करती हैं, इस कारण श्रीराधाका नाम 'हरा' है। उनका सम्बोधन 'हे हरे' होता है।

(१६) श्रीराधाका चित्त हरण करके गमन करने हैं, अतएव हरिका अर्थ श्रीकृष्ण जान पड़ता है। उनका सम्बोधन 'हे हरे' होता है।

इति श्रीगोपालगुरुगोस्वामिप्रभुविरचित श्रीहरिनाम महामन्त्रकी व्याख्या समाप्त हुई।

दानशीलता

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

दानशीलता मानवके विकास और आत्मिक शान्तिका अमोघ साधन है। इसमें दिव्यताका पुट लगा होता है। परमात्माके बच्चोंको हृदयमें स्थान देना और उनको अपनी दानशीलतासे लाभान्वित करना परमात्माके प्रति प्रेमका द्योतक होता है। सृष्टिमें सर्वत्र परमात्माकी दानशीलता और उपकार-भावना प्रतिलक्षित होती है। यदि हम परमात्माके पीड़ित और असहाय बच्चोंकी सहायता करते, भूख-प्याससे छटपटाते और सरदीसे ठिठुरते हुए लोगोंको अन्न, जल और वस्त्र देकर तृप्त करते हैं तो हम परमात्माके प्रति अपने प्रेमका परिचय देते हैं।

हमारे वेद-शास्त्रोंमें दानका बहुत माहात्म्य वर्णित है। वेद दान न देनेवाले कंजूसको अराति कहता है, जिसका अर्थ है शत्रु। जो दान नहीं देता, वह समाजका शत्रु समझा जाता है। दानी जहाँ अपने विकासकी प्रक्रियाको पूर्ण करता है, वहाँ वह विपत्तिके समयके लिये अपने मित्रोंकी सृष्टि भी करता है, जो उसकी सहायताके लिये हर समय तैयार रहते हैं। इसी बातकी ओर शेखसादीने संकेत करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति गिरे हुओंको ऊपर उठानेमें प्रमाद करता है, उसे यह सोचना चाहिये कि जब मैं गिर जाऊँगा तो दूसरे मुझे उठानेके लिये हाथ नहीं पसारेंगे। मनुष्यके विकास और समाजकी शान्ति एवं रक्षाके लिये दानका महत्त्व यहाँतक स्वीकार किया गया है कि भय, लज्जा, श्रद्धा और अश्रद्धासे भी दान देना आवश्यक ठहराया गया है। परोपकारके कर्म कभी नष्ट नहीं होते और दान तथा परोपकारपर व्यय हुआ धन ही हमारी संचित निधि होती है। उचित साधनोंसे धनका कमाया जाना और अपनेपर भी इस ढंगसे व्यय किया जाना उचित है, जिससे जीवनका निर्वाह हो जाय और समाजमें विलासिता, ईर्ष्या-द्वेष, लूट-खसोट और आपा-धापी व्याप्त न होने पावें। इस प्रकार बचे हुए धनपर समाजका अधिकार होता है। अपनेपर उचित ढंगसे खर्च हुआ और पर-हितमें लगा हुआ धन ही सच्चे अर्थमें अपना धन होता है।

दान देनेमें विवेकसे कार्य लेना आवश्यक होता है। बुराईमें वृद्धि किये बिना भलाई करना सरल कार्य नहीं होता। उस दानका कोई महत्त्व नहीं होता, जो पात्र-कुपात्रका विचार किये बिना अविवेकपूर्वक दिया जाता है।

कुपात्रको दिये हुए दानसे दाता और ग्रहीता दोनोंका अहित होता है। एक कहावत है कि जो व्यक्ति गरीबको भोजन देता है, वह धन्य नहीं होता। धन्य वह होता है, जो भोजन देते समय यह देखता है कि वह गरीब भूखा है या नहीं। विवेकयुक्त दया और परोपकारका जरा-सा भी कार्य अविवेक-युक्त विपुल धन-राशिके दानसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रत्येक सत्कार्य दान होता है। यदि हम अपने भाईको अपनी मुस्कुराहटसे प्रफुल्लित करते हैं तो ऐसा करना भी दान है। यदि हम अपने संगी-साथीको सत्कर्मकी प्रेरणा देते हैं तो यह भी दान है। भूले-भटके मुसाफिरको सही मार्गपर डालना, अंधे व्यक्तिको मार्ग बताना, सड़कपर पड़े हुए पत्थरों, काँटों और अन्यान्य दुःखदायी बाधाओंको हटाना, भूखेको अन्न और प्यासेको जल देना भी दान है। मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति, जो वह मरनेके बाद इस जगत्में छोड़ जाता है, परोपकारके कार्य होते हैं। जब वह मरता है, तब दुनियादार लोग पूछते हैं 'उसने कितनी सम्पत्ति छोड़ी है?' परंतु दिव्यात्माएँ पूछती हैं 'उसने परलोकयात्रा करनेसे पूर्व कितने सत्कर्म वहाँ भेज दिये थे?'

गरीबको दान देनेकी अपेक्षा काम देना चाहिये। काम मिल जानेपर वह आलस्य और निठल्लेपनसे बचा रहेगा। उसे दानपर जीवित रखनेसे उसमें आलस्य-प्रमादादि अवगुण बढ़ सकते हैं। दान दो प्रकारका होता है—एक औपचारिक और दूसरा निरोधक। औपचारिक दानकी प्रवृत्ति प्रायः हानिकर और निरोधक दानकी प्रवृत्ति प्रशंसनीय होती है। रोगकी चिकित्सा करनेकी अपेक्षा उसका रोकना श्रेष्ठ होता है।

दान और परोपकारके कार्य स्वयं बोलते हैं। उनके वाणी होती है, अतः उनकी घोषणा करनेकी आवश्यकता नहीं होती। घोषणा करनेसे उनकी महिमा घट जाती है। प्रदर्शनसे अहंकारकी गंध आने लगती है। मनुष्यपर यह लाञ्छन लग जाता है कि उसे दानसे इतना प्रेम नहीं होता जितना नामसे होता है। सामान्य अवस्थामें अपनी सामर्थ्यके अनुसार परहित करना श्रेष्ठ होता है, परंतु स्वयं कष्ट उठाकर दूसरोंका हित करना श्रेष्ठतर होता है। गरीब और असहायकी जीभ दानका शङ्खनाद होना चाहिये। दूसरोंकी वाह-वाहपर ध्यान रखनेसे दानके पुरस्कारसे, जो परमात्माकी ओरसे आत्मिक आनन्दके रूपमें हमें प्राप्त होता है, हम वञ्चित हो जाते हैं। परमात्माको खुला हुआ हाथ और बंद हुआ मुँह अधिक प्रिय होता है।

पुरानी कहावत है कि दानका आरम्भ घरसे होना चाहिये। केवल इसी आधारपर बाहरवालोंको दानसे वञ्चित रक्खा जाय, यह ठीक नहीं है। परमात्मा सर्वव्यापक है, अतः दानका क्षेत्र भी व्यापक होना चाहिये। मनुष्यको अपनेको संसारके परिवारका अङ्ग समझना चाहिये। अवश्य उसकी उदारता किसी स्थान या व्यक्तिविशेषको प्रमुखता दे सकती है; परंतु उसकी उदारताका लक्ष्य समस्त विश्व होना चाहिये। हाँ, संसारमें एक व्यक्ति ऐसा होता है, जिसके प्रति उसे अनुदार रहना चाहिये और वह स्वयं होता है। अपने दोषों और दुर्बलताओंके प्रति मनुष्यको कभी उदार न बनना चाहिये। उनसे बचने और उनके निराकरणमें उसे सदैव यत्नवान् रहना चाहिये।

दान देनेमें विलम्ब न होना चाहिये और प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी प्रकारकी झिझकके देना चाहिये। विलम्ब करने और झुँझलाते हुए दान देनेसे उसकी शोभा जाती रहती है और कभी-कभी उसका उद्देश्य भी नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें प्रसन्नताके अवसर आते हैं, परंतु उदार और दान-शील व्यक्ति अपनेको सबसे अधिक प्रसन्न उस समय अनुभव करता है, जब दूसरे व्यक्ति उसकी प्रसन्नताके भागीदार होते हैं।

दानशीलताके वे कर्म, जिनसे पीड़ितोंको दिलासा मिलती हो, उनकी पीड़ा दूर होती हो और जो दाता और ग्रहीताके लिये वरदान सिद्ध होते हों, मनुष्योंके चरणोंमें फूलोंकी भाँति छितराये होते हैं, जो शोभा और सुगन्धकी सृजना करके वातावरणको मनोरम बनाते और प्रकाशमान हीरे बनकर संसारमें भलाईकी प्रगतिके मार्गको धवल प्रकाश प्रदान करते रहते हैं।

जीवकी कल्याण-साधना

(लेखक—श्रीगोपालजी भट्ट एम० ए०)

आइये, क्षणभरके लिये अपने मनको व्रजके उस गोकुल गाँवमें ले चलें, जहाँ श्रीनन्दका भवन है और उनके उस मणिमय आँगनको देखें, जहाँ सर्वत्र दधि-ही-दधि बिखरा पड़ा है। माँ यशोदाने श्रीकृष्णको पेटभर स्तन्य-पान नहीं कराया और अतृप्त ही छोड़कर चल दी हैं, इसी रोषके कारण श्रीकृष्णने दधिभाण्ड फोड़ दिया है। इसी अपराधके दण्ड-स्वरूप माँ यशोदाने उन्हें अपने वात्सल्य-प्रेम-बन्धनमें ऊखलसे बाँध दिया है। उस ऊखलको खींचते-खींचते श्रीकृष्ण अर्जुनके उन यमल वृक्षोंके बीचसे निकलना चाह रहे हैं। इसी दृश्यको देखकर किसी महात्माने—जिसकी बड़े-बड़े वेदोपनिषदों, शास्त्रोंके तत्त्वोंको खोजते-खोजते, यम-नियमोंका पालन करते-करते सारा जीवन बीत गया किंतु कुछ सार हाथ नहीं आया—किसी अनिर्वचनीय सार-तत्त्वको पाकर इस प्रकार कह दिया कि निगमरूपी निर्जन वनमें भटकते-भटकते यदि थक गये हो और कहीं भी शास्त्रों और पुराणोंमें, उपनिषदोंमें खोजनेपर ऋषि-मुनि-देवोंसे पूछनेपर भी यदि किसीने उस अचिन्त्य अव्यक्त परब्रह्मका पता न बतलाया हो तो हम तुम्हें एक सरल-सा उपाय उसके प्राप्त करनेका बतलाते हैं—वह आपको व्रज-गोकुलमें किसी ग्वालिनीके घरमें छाछके लिये नाचता हुआ, बाँसुरी बजाता हुआ, मयूरपिच्छ धारण किये हुए गायोंको चराता हुआ, पनघटपर छेड़छाड़ करता हुआ या माँ यशोदाके द्वारा अपराध करनेपर ऊखलसे बाँधा हुआ मिल जायगा। उपनिषदोंका प्रतिपाद्य वह परब्रह्म किसी ग्वालिनके घर ऊखलसे बँधा हुआ मिल जायगा—बात सुननेमें कितनी अद्भुत लगती है! सहसा कोई इसपर विश्वास करता नहीं दिखलायी देगा; परंतु वास्तवमें है यह सत्य और अनुभवप्राप्त। उपर्युक्त महापुरुषको उसी परब्रह्मने इस रहस्यका उद्घाटन करानेके लिये अवश्य दर्शन दिया होगा। गोकुलकी गलियोंमें उसको परब्रह्म औपनिषद तत्त्वके दर्शन हो गये होंगे। तभी तो उसने इतना सरल पता बतला दिया—

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः।
विचिनुत भुवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

इतना सरल पता बतला दिये जानेपर भी हमारा दुर्भाग्य है कि हम उसको खोज-पानेकी चेष्टा नहीं कर रहे हैं और उसके पानेकी चिन्तामें यम-नियम-आसन-प्राणायामादि-से समाधितक पहुँचकर भी उसकी झलक भी कहीं नहीं पाते। देह-प्राण-इन्द्रियोंको सुखा-सुखाकर धर्मशास्त्रोंके बतलाये हुए अनेकानेक व्रत, जप, अनुष्ठान, तीर्थसेवन करते-करते विद्वानोंके अनेक कठिन ग्रन्थोंको पढ़-पढ़कर हम थक गये; किंतु उस तत्त्वका कहीं आभास भी हमें नहीं मिला। हमने इस सरल मार्गको न समझा और न उसपर विचार किया। उस संतने कितना सरल, सीधा और यथार्थ पता बतला दिया है; क्योंकि उसने उस तत्त्वके वहाँ (व्रजमें) दर्शन पाये हैं, तभी तो अन्य भटकनेवालोंको इस सरल मार्गका संकेत उसने दिया है। इसी प्रकार उन्हीं संतने कितने मधुर शब्दोंमें निषेध-के बहाने विधिका उपदेश किया है—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूर्तः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

'हे रास्ता चलनेवालो! इस दुर्गम कठिन भयंकर मार्गपर मत चलो। यहाँ इस मार्गपर तमाल वृक्षके समान रंगवाला एक धूर्त बालक नंगा खड़ा हुआ मिलेगा, जिसने अपनी कटिके पश्चात् भागपर अपने हाथ रख रखे हैं! 'सबही अंग कौ बाँकौ' वह बालक आपके चित्तरूपी धनको जबरदस्ती छीन लेगा।' इस रास्तेसे जानेपर इस संतका श्यामसुन्दरने चित्त चुरा लिया होगा, इसी कारण इन्होंने अन्य आनेवाले रास्तागीरोंसे कहा कि 'हम तो इस नंगे बालकके दर्शनोंमें ही लुट गये, हमारा चित्त ठिकाने (यथास्थान) नहीं रहा और यदि तुम्हें लुटना न हो और अपना चित्तरूपी वित्त सम्हालकर रखना हो और उसका प्रयोग किसी बड़ी ब्रह्मप्राप्तिकी समाराधनामें लगाना हो तो अवश्य ही उसे सम्हाले रहो और इस रास्ते जानेका साहस न करो; क्योंकि हम उस श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीपर लुट चुके हैं और अब किसी दीन-दुनियाके नहीं रहे। यदि तुम इसी रास्तेपर चलते रहनेकी जिद करोगे तो हम नहीं जानते,

तुम्हारा भी वही हाल होगा जो हमारा हुआ है । अतः समय रहते हम आपको सावधान कर रहे हैं ।' कहनेमें बात निषेधकी है, किंतु उसी मार्गपर चलने और गाय चराते उस श्यामसुन्दरका दर्शन प्राप्त करनेके लिये अन्य भटकते हुए संसारी जीवोंको इस भक्तिमार्गकी ओर लानेकी कितनी सुन्दर है युक्ति इन संतोंकी ।

त्रिभङ्गललित रूपमें खड़े श्यामसुन्दरकी उस मधुरमूर्तिको देखकर सब कुछ देह-गेहकी सुध भूल जानेवाले परम रसिकवर श्रीश्रीगदाधरभट्टजी—

'सखी हौं स्याम रँग रँगी ।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरति माहिं पगी ।

कहते हैं कि जबसे हमने उस मधुर मूर्तिके दर्शन किये, हम तो मानो बिक गये और उसने ऐसा जादू डाला है कि हम तो उसीके रंगमें रँग गये हैं । अब हमें दुनियाके व्यवहारसे कोई प्रयोजन नहीं ।

वेद-वेदाङ्गोपनिषदोंके अध्ययनके बाद निर्गुण निराकार निरञ्जन उस परब्रह्मका चिन्तन करनेकी साधना करनेवाले एक संतकी क्या स्थिति हुई, उसका भी एक चित्र देखिये । अचिन्त्य अव्यक्त उस तत्त्वका चिन्तन करते-करते ज्यों ही समाधिमें वे संत बैठते थे, उनकी विचित्र स्थिति होती थी । कभी वे टेढ़ी पागवाले, मयूरपिच्छ धारण किये यमुनातटपर गाय चराते हुए श्रीकृष्णकी रूप-छविका दर्शन कर चुके थे; परंतु अपने निर्गुण निराकारको पानेकी खोज उनकी बराबर लगी हुई थी । उन्होंने अपनी समाधिके अनुभवको इस प्रकार व्यक्त किया है—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम् ।
तावद्बलात्स्फुरति हन्त ! हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ॥

'समस्त संसारमें व्याप्त उस अव्यक्त निरञ्जन तत्त्वको खोजते-खोजते जब हम उसका समाधिमें ध्यान करने बैठते हैं; सब ओरसे देह-प्राण-इन्द्रियोंका निरोध करके मनको उस अव्यक्तके चिन्तनमें लगाते हैं और चाहते हैं कि उसकी तनिक-सी भी झलक मिल जाय; परंतु उसके स्थानपर न जाने हठात् किसी गोप (व्रजवासी ग्वाले) का वह छोटा-सा श्यामवर्णका बालक, जिसे श्यामसुन्दर कहते हैं, क्यों आ जाता है ?' क्या वही श्यामसुन्दर उपनिषदों, वेदों और शास्त्रोंमें निरञ्जन, निर्विकार अव्यक्त अचिन्त्य विभु आत्मा आदि नामोंसे कहा गया है ? यदि यही बात है तो फिर आजसे हम स्पष्ट रीतिसे क्यों न कह दें कि उपनिषदोंका वह परमतत्त्व परब्रह्म यही श्यामसुन्दर है ? उसके निराकार निरञ्जन-स्वरूपके स्थानपर इस **'गूढं परब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्'**की उपासना कीजिये । यही परात्पर तत्त्व है । इसे निराकार रूपमें यदि खोजियेगा तो शायद नहीं पा सकेंगे । इस साकाररूपमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार उसकी उपासना करके देखें—कैसा आनन्द आता है । उसकी असीम करुणाका कैसा आस्वादन मिलता है ! उन अन्य सारी साधनाओंमें अन्त समयतक यही पछतावा रहता है कि सारी जिंदगी बीत गयी और कोई संतोष देनेवाला तत्त्व हाथ नहीं लगा; किंतु इस सरस भक्तिमार्गमें **''यत्र सम्पूज्यते हरिः'** सिद्ध और साधक दोनों अवस्थाओंमें जीवनका पूर्णतम लाभ पा लिया—ऐसा संतोष भक्तके हृदयमें बना रहता है । तब वह विवेकी पुरुषसे यह पूछता है कि कौन-सा मार्ग तुम्हें सुलभ और श्रेयस्कर दीख रहा है । विवेकीका उत्तर स्पष्ट ही है ।

भक्तिमार्गपर चलनेवाला वह साधक फिर उस मुक्तिकी चाह नहीं करता, जहाँ जाकर फिर वह निष्क्रिय हो जाय । वह तो बार-बार जन्म लेनेकी कामना करता है कि इस जीभसे भगवन्नाम लूँ, देह-प्राण-इन्द्रियोंसे भगवान्‌की सेवा-अर्चना करके अन्य संसारी लोगोंको इस सरस भक्तिमार्गकी ओर लगाऊँ । उसकी कामना रहती है कि मेरा जन्म भगवद्धाममें हो, जिससे उसके पुण्यदर्शन, उनके पवित्र नामोंका उच्चारण होता रहे, उनके एकान्त भक्तोंकी कृपा मुझपर बनी रहे । उसकी कामना है—

भवन्तु तानि जन्मानि यत्र ते मुरलीरवः ।
कर्णपेयत्वमायाति किं मे निर्वाणवार्तया ॥

'हे श्यामसुन्दर ! यदि मुझे आप जन्म दें तो कृपा करके ऐसे स्थानोंपर वे मेरे जन्म हों, जहाँ तुम्हारी मधुर-मधुर मुरलीकी ध्वनि होती हो और मैं अपने कानोंसे उस मधुर मुरलीध्वनिको सुनता रहूँ, मेरा इस निर्वाण (मोक्ष) की बातचीतसे क्या मतलब ?'

एकान्त भक्तोंकी यह साधना कितनी सीधी, सरल, निष्कपट, सौदेबाजीसे रहित (मुक्तिकी बात तो व्यावसायिकता-की होती है), भगवान्‌की एकमात्र कृपापर ही अवलम्बित होती है, जहाँ जीवका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रहता !

इस साधनाके लिये कितना सुन्दर आदेश आचार्योंने दिया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नः परः ॥

'कलियुग-पावनावतार श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभुका बतलाया हुआ यह भक्ति-साधनाका आदेश है, जिसपर चलनेका हमारा पूर्ण आग्रह है । श्रीवृन्दावनमें भगवान् श्रीव्रजेशतनय श्रीनन्दराजकुमार एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी या कृष्ण-बलरामकी उपासना उस भावसे करनी, जिस भावसे रागानुगा भक्ति करनेवाली या वात्सल्यभाव रखनेवाली व्रजकी वधूजनों (व्रजस्त्रियों) ने की थी । इस प्रेमलक्षणा भक्तिके मार्गपर चलनेवाले पथिकके लिये प्रमाणस्वरूप यदि कोई ग्रन्थ है तो वह श्रीमद्भागवत है और धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी पुरुषार्थचतुष्टय हमारा पुरुषार्थ नहीं है; अपितु श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें, श्रीवृन्दावन-रजरानीमें एवं तद्भावगम्भीरचित्त भगवद्भक्तजनोंमें प्रेम ही हमारा पुरुषार्थ है ।'

कितना सरल उपाय इस मानव-जीवनकी कल्याण-साधनाका आचार्यों एवं उन संत-महात्माजनोंने बतलाया है, जिसने हमारे श्रेय-मार्गको परम सरल कर दिया है !

'ओ मेरे मन ! गुणगान करो श्रीसीतारामका'

(लेखक—डॉ० श्रीरवीन्द्रप्रताप राव, आर्गेनिक केमिस्ट्री डिपार्टमेंट, यूनिवर्सिटी ऑव् ऐडेलायड, साउथ आस्ट्रेलिया)

ओ मेरे मन ! प्रभुका नाम लो । श्रीसीतारामका गुणगान करो, बावरे ! अनन्तकालसे दिलमें जल रही वासनाकी भयंकर अग्नि तभी बुझेगी, मित्र ! दिलको साफ करो कीर्तनसे, भर दो उसे दिव्य प्रेमकी सुगन्धसे, बिठा लो उसमें प्यारे राधेश्यामको, सबका दिल चुरानेवाले मोहनको । गोविन्दकी विद्यमानतामें तुम्हारा हृदय-कमल विकसित होगा, साथी ! और निर्माण होगा उसमें दिव्य मधुका । इस मधु-पानसे ही तुम्हारे बन्धन कटेंगे, पगले ! और सरल मार्गसे तुम परम आनन्दकी ओर जा सकोगे ।

मेरे सबसे बड़े साथी, मेरे चञ्चल मन, शान्त हो जाओ, प्यारे ! विनम्र बनो—दूर्वादलकी तरह; छोड़ो मान-प्रशंसाको, तजो सारी कामनाओंको । प्रभुका नाम लो बारंबार । अरे ! नाम लेना कितना आसान है, प्यारे ! प्रभुके सहस्राधिक नाम सब समानरूपसे शक्तिमान् हैं । किसी नामके प्रति तुम्हारा प्रेम तुम्हें सत्य-धर्मका उपासक बना देगा, पगले !

हे प्रभो ! कृपा करो मुझपर । कब वह दिन आयेगा जब मैं सांसारिक धन, यश, वासना, प्रसिद्धिको सर्वथा त्याग दूँगा और तुम्हीं मेरे एकमात्र लक्ष्य होगे, माधव ! हे कृष्ण ! तुम कितने बड़े हो—महत्तमसे भी महान् और मैं कितना छोटा हूँ—लघुतमसे भी लघु । तुम्हारी एक कृपादृष्टि ही मेरा कल्याण कर देगी, आनन्दमूर्त्ति !

तुम्हीं आदि सत्य हो, भगवान् ! और मैं जन्म-जन्मान्तरसे सत्यका उपासक । न जाने कैसे मैंने अपनी प्रकृति बिसरा दी है, गोपाल ! कब कहाँ और कैसे—मैं कुछ नहीं जानता, मधुसूदन ! हे मार्गदर्शक, देदीप्यमान, विश्वपोषक प्रभो ! मुझ सत्यधर्म-उपासकके लिये तुम सत्यका मुँह खोल दो ।

प्रभुका नाम लो, ओ मेरे मन !
गुण गाओ श्रीसीतारामका ।
श्रीसीतारामका ।
श्रीसीतारामका ॥

राम-लक्ष्मण—दो शरीर एक प्राण

(लेखक—श्रीदूधनाथसिंहजी)

भरतजीका चरित्र-चित्रण रामायणमें तुलसीदासजीने जिन शब्दोंमें किया है, उससे स्पष्ट है कि उनके त्याग, रामके प्रति महान् अनुराग, पौरुष, रामके इच्छानुसार कर्म करनेमें ही रुचि तथा कर्तव्यपरायणताकी तुलना कहीं नहीं। ऐसी दशामें लोगोंके मनमें इस शंकाका उठना स्वाभाविक है कि क्यों मर्यादा-पुरुषोत्तम रामके साथ भरतका, जो अवस्थामें भी लक्ष्मणसे बड़े थे, नाम न जोड़कर राम-लक्ष्मणकी रट लगायी जाती है और मन्दिरोंमें भी अधिकतर राम-जानकीके साथ लक्ष्मणकी ही प्रतिमा स्थापित की जाती है, जिससे लक्ष्मणका विशेष महत्त्व सिद्ध होता है। यद्यपि भक्तिका आधार विश्वास है, जिसमें शंकाका स्थान नहीं, फिर भी तर्ककी कसौटीपर किसी बात या वस्तुके खरा उतरनेपर उसमें सहज ही आस्था हो जाती है, जिससे आराधकको बड़ा बल मिलता है और ध्यानको केन्द्रीभूत करनेमें सहायता मिलती है।

विभिन्न रामायणोंके अध्ययनसे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि चारों भाइयों—राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्नमें आदर्श और अपार स्नेह था; परंतु भाइयोंके पारस्परिक प्रेममें विशेषता यह थी कि लक्ष्मणका रामके प्रति और शत्रुघ्नका भरतके प्रति प्रेम अधिक प्रगाढ़ था, जिसकी पुष्टि निम्नाङ्कित चौपाइयोंसे होती है—

बारेहि ते निज हित पति जानी।
लछिमन राम चरन रति मानी॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई।
प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥

लक्ष्मण रामसे कितने सम्बद्ध थे और उनका प्रेम कितना अगाध था—इसकी थोड़ी-सी कल्पना मातृपरायण शिशुके उदाहरणसे हो सकती है। जब माँ अपने हिये लगे शिशुको लेकर ऐसी जगह जाती है जहाँके सारे व्यक्ति बच्चेके लिये अपरिचित हों, वहाँ तनिक देरके लिये भी यदि माँ शिशुको छोड़कर कहीं जाती है तो वह यह समझकर कि उसका एक मात्र सहारा छूट रहा है, वह तड़प उठता है और रोकर माँका आँचल पकड़ लेता है, अतः उसे बाध्य होकर बच्चेको गोदमें उठा लेना पड़ता है। श्रीरामके प्रति लक्ष्मणका यह भाव अटूट रहा। जीवनपर्यन्त इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

माता, पिता, गुरु, पत्नी, भाई, बन्धु, राज्य-पाट, सांसारिक तथा नैसर्गिक सुखकी लालसा इत्यादिका लक्ष्मणको तनिक भी मोह न था। कहीं ऐसा आकर्षण ही उनके लिये नहीं था, जो उन्हें क्षणभर भी रामसे विमुख या उनकी सेवासे विचलित कर सके। इस कथनकी पुष्टिके लिये लक्ष्मणकी उस समयकी दशाका वर्णन करना उपयुक्त होगा, जब उन्हें रामके वन जानेका समाचार मिला था। लक्ष्मण उस समय ऐसे घबरा गये, जैसे मणिधर साँप मणि खो जानेपर और मछली जलसे बाहर कर दिये जानेपर व्याकुल हो जाती है। वे काँपने लगे और उनकी आँखोंसे अश्रु-धारा प्रवाहित हो चली। जब उन्हें कुछ न सूझा तो दौड़ते हुए जाकर वे रामके चरणोंमें लोट गये। रामके उठानेपर भी वे हाथ जोड़े खड़े रहे और उनके मुँहसे कोई बात न निकली। यही सोचते रहे कि यदि राम उन्हें साथ वन न ले गये तो उनका होगा क्या। रामने उनका ध्यान राजा दशरथके दुःख, भरत-शत्रुघ्नकी अनुपस्थिति और गुरु, परिवार तथा प्रजाकी सेवाकी ओर खींचा एवं राज्यकाजके ठीक न चलनेके कारण प्रजाके दुःखित हो जानेपर नरकके भागी होनेका भय भी दिखलाया। और भी बहुत-सी नीतिकी बातें कहीं। इन सबके उत्तरमें लक्ष्मणके मुँहसे निकला केवल एक वाक्य कि आप स्वामी और मैं दास हूँ, यदि आप ही मुझे त्याग देंगे तो मेरा क्या वश है। तत्पश्चात् वे दुबारा रामके चरणोंपर गिर पड़े।

थोड़ी देर बाद सँभलनेपर उन्होंने जो कहा, उसे नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं ।
लागि अगम अपनी कदराईं ॥
नरबर धीर धरम धुर धारी ।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला ।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू ।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई ।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी ।
दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही ।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मन क्रम बचन चरन रत होई ।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ॥

लक्ष्मणकी मनोदशा तथा उनके उपर्युक्त उद्गार उनके राममय होनेके परिचायक हैं, जिनके वियोगमें लक्ष्मणका जीना कठिन ही नहीं वरं असम्भव था। पत्नीसे मिलना तो दूर, माता सुमित्रासे भी विदा माँगने वे तब ही गये, जब रामने उन्हें बरबस उनके पास भेजा। जितने समय वे माँके पास रहे, उन्हें यही भय लगा रहा कि कहीं माता स्नेहके वशीभूत होकर उन्हें वन जानेको मना न कर दें। सब कुछ समझकर ही रामने परिवार, प्रजा तथा राज्यका भार गुरुको उस समयतकके लिये जबतक भरत-शत्रुघ्न ननिहालसे न लौटें, सौंपकर लक्ष्मणको साथ लेकर उन्होंने वनको प्रस्थान किया।

रामका बाल बाँका होते देखनेकी तो कौन कहे, उनके लेशमात्र अपमानका आभास मिलते ही लक्ष्मण आपेसे बाहर हो जाते थे। उस समय श्वसुर, पिता, बड़े भाई तथा अन्य बड़ोंके मानका भी उन्हें तनिक ध्यान नहीं रहता था। सीता-स्वयंवरके समय महाराज जनकको डाँट बताने, परशुरामजीकी खिल्ली उड़ाने, सुमन्तसे विदा लेते समय रामको अकारण ही वनवास देनेके लिये माता-पिताको खरी-खोटी सुनाने तथा भरत-जैसे निष्पाप तथा आदर्श भाईको इस संदेहमें कि वे रामको एकाकी और निःसहाय जान चतुरंगिणी सेना लेकर चित्रकूट उन्हें मारने जा रहे हैं, अपशब्द कहनेमें भी न हिचके। ऐसा नहीं कि लक्ष्मणमें विवेक और ज्ञानकी कमी थी। शृङ्गवेरपुरमें राम-जानकीको जमीनपर शयन करते देखकर जब निषादराजको महान् दुःख हुआ और वह बिलखने लगा तो लक्ष्मणने जो उसे उपदेश दिया उससे स्पष्ट है कि वे बड़े ज्ञानी थे। फिर भी रामके प्रति प्रेमकी उनमें इतनी प्रधानता थी कि अपने आराध्यदेवके हितके आगे उनको और कुछ सूझता ही न था। सांसारिक माया-मोहसे वे परे थे और रामके प्रति उनका प्रेम इस पराकाष्ठाको पहुँच गया था कि उनका अपना कोई अस्तित्व था ही नहीं। वास्तवमें लक्ष्मणका चोला या पार्थिव शरीर ही रामसे भिन्न था, अन्यथा राममें वे इतने तन्मय थे कि दोनों भाइयोंको 'दो शरीर एक प्राण' कहनेमें कोई अतिशयोक्ति न होगी।

भरत विज्ञानी रामकी रुचिके अनुसार सेवाको कर्तव्य माननेवाले, नीति-धर्मधुरीण थे और थे व्यवहारकुशल। रामके प्रति उन्हें महान् अनुराग था और वे उनका परम आदर करते थे। रामके मर्यादापुरुषोत्तम होनेका उन्हें भान था, पर साथ ही रामके इच्छानुसार गुरु, माता, पिता, परिवार तथा प्रजाके प्रति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वका भी उन्हें ध्यान था। राम-लक्ष्मण जब विश्वामित्रके साथ ऋषि-मुनियोंके कष्टको दूर करने गये तो भरत भाईके वियोगमें अधीर हो लक्ष्मणकी भाँति व्याकुल नहीं हुए थे।

भरत जब रामको मनानेके लिये वन जाने लगे और पूरा परिवार तथा सारे अयोध्यावासी उनके साथ जानेको तैयार हो गये, तब चित्त व्यग्र होनेपर भी

उन्होंने राज्यका प्रबन्ध अस्तव्यस्त न छोड़ा। अनुभवी तथा विश्वस्त सेनानियोंको राज्यकी रक्षाका भार सौंपा। अपनी अनुपस्थितिमें कुशल कर्मचारियोंद्वारा राजकाजके सुचारु रूपसे चलते रहनेका प्रबन्ध किया। मार्गमें सबको समयानुकूल सुख-सुविधा मिले, इस हेतु खाने-पीनेकी सामग्री और बैठने-सोनेके आवश्यक सामान साथ लिया। भरत अपनेको रामका सेवक मानते थे, अतएव सेवा-धर्म निभानेके लिये उन्होंने रामकी भाँति अधिकांश यात्रा पैदल ही की। थके होनेपर भी, रात्रिमें जहाँ लोग विश्राम करते थे, प्रत्येककी वे सुधि लेते थे और माताओंके पैर दबाकर उनकी थकान दूर करते थे। रामके वियोगका दुःख तो था ही, परंतु उससे महान् दुःख उन्हें इस बातका था कि रामके वनवासका कारण उनको बनना पड़ा। भरतको अकारण ही इतना भारी कलङ्क लग जानेसे उन्हें कितनी मानसिक वेदना हुई होगी इसका अनुमान करना भी कठिन है। इन परिस्थितियोंमें भी सबकी सार-सँभाल करना इस बातका द्योतक है कि भरतमें असीम धैर्य, धर्मनिष्ठा तथा कर्तव्य-परायणता थी। यह सब होते हुए भी यदि कोई बात उन्हें असंगत लगी तो विनम्र शब्दोंमें ही सही, उन्होंने अपने स्वामी रामके सामने उसको रख दिया। राम-राज्याभिषेकके बाद जब रामने भरतको जानकीको वनमें छोड़नेको कहा तो ठीक न समझकर इस कामको करनेसे उन्होंने मुँह मोड़ लिया। इसके विपरीत लक्ष्मणने रामकी आज्ञा पाते ही बिना संगत-असंगतका विचार किये उसका पालन किया और जानकीको वे घोर वनमें छोड़ आये। इससे पहले रामके तनिक-से संकेतपर रावण-विजयके बाद लंकामें जगज्जननी सीताकी अग्नि-परीक्षाके हेतु उन्होंने काष्ठ एकत्रित कर अपने हाथों अग्नि प्रज्वलित कर और भी दुष्कर कार्य कर दिखाया था। तात्पर्य यह है कि भरत ज्ञानकी कसौटीपर कसकर ही काम करनेमें विश्वास रखते थे; परंतु लक्ष्मण जो रामकी रुचि समझते थे, वही करते थे और उनकी आज्ञाका पालन बिना किसी सोच-विचारके करते थे। निष्कर्ष यह है कि भरत रामके महान् सेवक होनेके साथ ही परम विज्ञानी थे और लक्ष्मण रामके परम अनुगत अनन्य भक्त। मर्यादापुरुषोत्तम रामने नारदको उपदेश देते हुए कहा—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं।
पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

भगवान्‌को भक्त सर्वाधिक प्रिय है, इसकी और भी पुष्टि रामने काकराज (काकभुशुण्डि)को बताते हुए दुबारा फिर की। उनके श्रीमुखसे निकले वाक्योंको तुलसीदासजीने रामायणकी निम्नलिखित चौपाइयोंमें अङ्कित किया है—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए।
सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी।
तिन्ह महँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी।
ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी।
मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

निस्संदेह लक्ष्मण मन-कर्म-वचनसे रामके अनन्य भक्त तथा दास थे। उनकी कोई न दूसरी गति थी और न अस्तित्व ही। अतएव आराधकोंका उन्हें भरतकी अपेक्षा रामका अधिक प्रिय समझना उचित ही है। इसका यह अर्थ नहीं कि भरतमें रामके प्रति कम प्रेम था। दोनोंकी दो विभिन्न पवित्र प्रेमकी धाराएँ थीं, जो अपने-अपने पथपर चलती थीं।

* * *

सूरदास मदनमोहन

[एक भाव-विश्लेषण]

(लेखक—श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग 'साहित्यरत्न')

मानव-मनकी सुकुमार रागात्मिका वृत्तियोंकी पृष्ठभूमिमें रूप और रसका जहाँ मङ्गल विधान हुआ है, बाह्य और आन्तर सौन्दर्यकी कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है, वहीं और उसी स्थलपर मानो काव्य और संगीतकी, प्रेम और भक्ति-सरीखी उच्चतम आध्यात्मिक साधनाकी संसृष्टि—प्राणप्रतिष्ठा हुई है। कवि, गीतकार, प्रेमी अथवा भक्त—सभी समान रूपसे एक ही रस-तत्त्वके परिपोषक हैं; एक ही भाव-तूलिकासे चित्रित रस, स्वरूपकलाके सजल परिधानमें, उनके द्वारा सज्जित होता है। फिर उन रसिक-मूर्द्धन्य महानुभावोंकी तो बात ही अलग है, जिनमें काव्य, गीत, प्रेम वा भक्तिका विलक्षण सामञ्जस्य है, जो अपनी अलौकिक साधनासे अपने साध्य-आराध्यका ऐसा मूर्तरूप उपस्थापित करते हैं, जिसके निर्वचनमें रस-रागका प्राण-तत्त्व सम्पुटित है।

श्रीसूरदास मदनमोहन-सरीखे भक्त-कवि, कलाकार और प्रेमी, रूप-रागके पारखी, गायक, विधायक—सभी रूपोंमें हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं; पावन-पुण्य व्रज-निकुञ्ज तथा गोष्ठोंकी मादक मधुर भूमिकामें वे श्रीराधा-कृष्ण प्रिया-प्रियतमके माधुर्यका जो स्वानुभव करते हैं, उनके रूप-लावण्यका जो अनुपल आस्वाद पाते हैं, उनके काव्यके परिशीलनसे—उसके भाव-विश्लेषणसे परखिये—

बड़ी-बड़ी अँखियानि साँवरौ ढोटा है अति लौनौ।
अबही तैं मनमथ मन मोह्यौ, आगै अजहूँ हौनौ॥
कहा री, कहौं अँग-अँगकी बानिक नखसिख रूप सुठौनौ।
'सूरदास मदनमोहन' पियकी चितवनमें कछु टौनौ॥

वह जन्मसे ही रूपका जादूगर है, तभी तो मन्मथका भी मन मोहित कर रहा है, किसी 'गोपी-हृदय'की तो बात ही क्या। यह बड़ी-बड़ी सलोनी आँखोंका चमत्कार है, सर्वाङ्ग-श्यामल लावण्यका जादू है। और अभी हुआ ही क्या है, 'आगै अजहूँ हौनौ'…… । यह रूप-निधि अनुदिन, अनुपल, प्रवर्द्धमान होगी, यह रूप-सम्मोहन अपनी विश्वविमोहिनी शक्तिसे रसिकोंके तन-मनपर, अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्के कण-कणपर छा जायगा, समा जायगा। अङ्ग-अङ्गकी सुढार बानिक, नख-सिखकी लोनी सुषमा कहते नहीं बनती। वे तो उसे 'कछु टौनौ' कहकर, वाणीद्वारा अभिव्यक्त करनेमें अपनेको असमर्थ सिद्ध कर रहे हैं, वह क्या है, कैसा है—एक अनबूझी पहेली बना हुआ है। समग्ररूपमें गोपी-हृदय कवि तो इतना जान पाया है कि यह टौना अङ्ग-अङ्गसे सिमिटकर प्रियतमकी चितवनमें मानो केन्द्रीभूत हो गया है।

त्रिभुवनमें जो भी कुछ सौन्दर्यके नामसे है, वह सब इसी अगाध रूप-निधिका एक कण—एक बिन्दु है। रूप-सौन्दर्यका अधिष्ठाता कामदेव भी जिसके विलक्षण लावण्यसे सम्मोहित है, उसके आकर्षणका अङ्कन कैसे हो? अद्भुत रंग, अद्भुत रूप, अद्भुत रसकी मर्यादा जिसने स्थापित की, उस 'त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं' की अनिर्वचनीयता कविके ही शब्दोंमें देखिये—

माई री, यह अद्भुत रंग।
अंग-अंग की बानिक मोपै कहि न परै, काम कौ मन हरै भ्रकुटि भंग॥
त्रिभुवन की सोभा एक रोमपर वारि डारौं, उपमा सकल डोलति लागी संग।
'सूरदास मदनमोहन' पिय सोभासिंधु, पार न पावै छबि के तरंग॥

निस्सीम शोभा-सिन्धु अनुक्षण उच्छलित-तरङ्गित हो रहा है, नीलाम्बुज-श्यामल स्वरूप-सागरकी नील परिधियोंमें हिल्लोलित अङ्ग-अङ्ग माधुरीको अभिव्यक्तिकी परिसीमाओंमें कौन बाँध सकेगा? 'नेति-नेति'की चरितार्थता यहीं तो परिलक्षणीय है। रोम-रोममें रम रही कान्तिमती छवि-तरङ्गों, उनकी निर्बन्ध क्रीडा-कल्पनाओंको मूर्त्तरूप देनेकी किस कविमें, किस कल्पनाके धनी विलक्षण चित्रकारकी तरल तूलिकामें सामर्थ्य है। एक-एक भ्रकुटि-भङ्गिमा, एक-एक दृष्टि-निक्षेप, चारु चितवनकी चञ्चलता, अधरोंका मन्द-मधुर स्फुरण—सभी कुछ तो इतना मादक, इतना मञ्जुल-मधुर है कि बेचारा काम भी उनके आगे पराभूत—पराजित है। किस-किसका निर्वचन किया जाय, किसको क्या उपमा दी जाय, यथातथ्य स्वरूप-निदर्शनके लिये, 'उपमा सकल डोलति लागी संग'……'यह कहकर ही कविकी वाणी कुण्ठित, गतिमें अवरोधित हो जाती है, लड़खड़ा जाती है। इन छवि-तरङ्गोंका पार पाना सहज सुलभ नहीं। 'त्रिभुवनकी शोभा एक रोमपर वारि डारौं'……

कहिये, अब क्या रहा कहनेको; फिर भी बहुत कुछ

कहना है । कविका मन रूप-गरिमासे दबा-दबा…रसमाधुरीसे पगा-पगा, कुछ कहे बिना रह भी नहीं सकता । 'बदन-सुधा-सरसी' का एक रूपक सहसा कलमकी नोकसे उतरकर शब्द-साधनामें बँध गया—

बदन सुधा सरसी तामें नैन कमल रँगमगे ।
बरुनीके उपल दल चंचल चितवनि पगन गमन डगमगे ॥
मकरंद पान भार भरे फिरि उठि बैठत कुटिल अलक सगबगे ।
सूरदास मदनमोहन ठाढ़े गोदोहन समय कुंडल रबि जगमगे ॥

गो-दोहनकी सरस बेलामें सजीव मूर्तिमन्त मुख-माधुरीका एक साङ्ग रूपक यहाँ उन आरक्त-उत्फुल्ल नेत्रोंकी कल्पना कीजिये, जिन्हें कोमल कमलका उपमान देकर, कविने समग्र मुखमण्डलमें एक अमिय सरोवरकी मञ्जुल कल्पना पायी है । उसमें भी साङ्गता उसका अपना कवि-कौशल है । रँगमगे नयनोंसे हृदयके किन्हीं अन्तःस्तरोंमें विरमती रँगमगी भावनाएँ सहज रूपसे स्फुरित हो रही हैं, मानो उस रूपनिधिका अन्तस्सौन्दर्य नयन-युग्मके इस बाह्य सौन्दर्यसे संवलित होकर एक विलक्षण माधुर्य—एक अलौकिक मादनभावकी सृष्टि कर रहा है । इस रूप-सृष्टिका वैभव अनुक्षण इतने परिमाणमें इतने आवेगसे बिखर-निखर रहा है कि उसे सहेजने-सँवारनेमें बरौनियोंकी कोमल पंखुरियाँ अपनेको अक्षम पाती हैं । पलकोंकी चञ्चलता, चल चितवनकी उन्मनतासे यह भावावेश स्पष्ट निदर्शित हो रहा है । धीरे-धीरे यह भावावेश क्रम-क्रमसे अङ्ग-अङ्गमें समाहित होता जा रहा है । जब दृष्टि ही अस्थिर है, डगमगा रही है, तब अन्य अङ्गोंकी प्रक्रियाएँ, उनकी गति-मति अचञ्चल कैसे रह सकती हैं ? मन डगमगा गया, तन डगमगा गया, पग इधर-उधर पड़ रहे हैं । इस 'सुधा सरसी' का सब कुछ सुधामय है, उसीका यह रगमगापन है, डगमगापन है । यह वह प्रशान्त, सर्वाङ्ग-विलसित मादकता है, जो समूचे कमल-कोषको अपने झीने आवरणसे सम्पुटित—संकुलित किये हुए है । हृदयसे, रग-रगसे सिमिटकर नयन-पुटोंकी परिसीमाओंमें समाया हुआ अनुराग-राग ही तो यहाँ वह मधु-मकरन्द है, जो रसिकजनोंके लिये संजीवनी प्रदान कर रहा है । इस रूपकमें उन रसिकोंकी प्रतीक, श्यामसुन्दरके नयनसरोजके आस-पास बिथुरी रस-मुग्ध, मधु-लुब्ध अलकावलियाँ ही बतायी गयी हैं, जो इतनी भाग्यशालिनी हैं कि उन्हें उन्मुक्त, अबाधित रस-पान करनेको मिल रहा है । ये 'कुटिल' अलक और यह 'मकरन्द-पान', पल-पल प्रवर्द्धमान उनकी कैसी मद-विभोर स्थिति है कि रसोन्मादमें वे रह-रहकर उठती, फिर बैठती हैं, उस रस-कोषपर, और—कुछ और पानेकी बेचैनी, अनमनी अधीरताके साथ । 'मकरन्द-पान' का कण-कण करके, बिन्दु-बिन्दु करके भार जो बढ़ रहा है । क्या वे सँभाल सकेंगी, इस रसावेगको ? अलकोंके लिये एक सुन्दर हेतूत्प्रेक्षा है ।

यह रही एक पक्षकी स्थिति—श्यामसुन्दर मदनमोहनके रूप-रागकी अभिव्यञ्जना । अब इसका दूसरे पक्षपर—इस रूपमोहिनीकी प्रतिक्रिया गोप-ललनाओंपर, स्वामिनी राधापर, भक्त कविकी लेखनीसे चमत्कृत देखिये—

एरी, पाँयनिकी चंचलता क्रम क्रम
ऊँचे चढ़ि चढ़ि सुदीरघ दृगनि गई ।
उत तैं उतरी सिथिलताई मंद मंद
गति तिनि पाई चरननि की सरन लई ॥
उत नितंब स्थूल होत अति अनूप
सबल मध्य देस तातैं पैसैंही कटि छीन भई ।
'सूरदास मदनमोहन' पिय जोबन सैसव झगरत जाने ।
तब रोमावलि मरजादा दैकै तनमें ठाहर दुहनी दई ॥

यहाँ नायिकाके हृदयमें शृङ्गारके स्थायी रति-भावके सम्पोषणमें सहयोगी दो संचारी भावोंकी एक साथ स्थिति बतायी है—चञ्चलता और शिथिलता । यह भाव-शबलताका लक्षण है । रूप रागका एक साथ परिपाक है । यहाँ कवि यौवन और शैशवके आगम-निगमको लक्ष्य कर एक वयःसंधिकालीन संघर्षकी कल्पना कर रहा है । दो आवेग दो दिशाओं, विरुद्ध दिशाओंसे बढ़े आ रहे हैं । ये हैं रसावेग । समग्र रूप-राशि मानो दो भागोंमें विभक्त हो गयी है । मध्यदेशपातिनी, कटितटवर्तिनी रोमावलि-शृङ्खला इसकी विभाजक रेखा है । नयन और चरण उसके दो सुदूर छोर हैं । इस रस-द्वन्द्वके पूर्व चरणोंमें चञ्चलताकी गति विद्यमान थी, उनमें एक यौवनसुलभ भावोन्माद था । उधर नेत्रोंमें बाल-सुलभ कुतूहलकी स्थिरता, जिज्ञासा-जन्य गति-कुण्ठाका भाव था, किंतु अब रूप-वय एक ऐसे रसबिन्दुपर आ टिके हैं, जहाँ उनमें एक-दूसरेको आक्रान्त कर लेनेकी आकाङ्क्षा प्रबल होती जा रही है । यौवन और शैशवके बहिर्द्वन्द्व, उद्घोषित संघर्षकी भूमिका तैयार होती जा रही है । उसीका सरस परिणाम है कि चरणोंकी चञ्चलता एक सैन्यावेगके साथ क्रम-क्रम ऊर्ध्व गति पा रही है, सुदीर्घ नयनाञ्चलमें समाहित होती जा रही है । उसके सम्मुख

पक्ष, नयनोंके भाव-सैन्यपर इसकी प्रतिक्रिया हुई, प्रतिरोधात्मक गतिविधियाँ सामने आयीं। उनकी अचञ्चलता उसी क्रमिक गतिसे, धीरे-धीरे निम्नगामिनी हुई और उसने चरणोंका आश्रय लिया। 'चरननि की सरन लई' से स्पष्ट ध्वनित है कि वह नेत्रागत शिथिलता, चरणोंको भाव-विजडित करते हुए भी, उसकी चञ्चलताको अभिभूत न कर सकी, वह उसके प्रति आत्मसमर्पित हो गयी। यौवनके उद्दाम आवेगरूप चञ्चलतासे पराजित, सर्वांशतः पराभूत चञ्चलता अङ्गाङ्गपर पूर्ण विजयिनी हुई, वह एक चक्रवर्ती सम्राट्की भाँति शिथिलताको अनुशासित कर रही है—एकदेशीय मण्डलाधिप वा जनपदीय करद राजाके रूपमें। यही शैशवपर यौवनकी विजय है। अवश्य ही, पराभवके बाद भी शिथिलताने अपना आवेग खोया नहीं है। वह पुनरपि ऊपर उठनेका प्रयास कर रही है, ऊरु-नितम्बकी स्थूलता, कटिकी क्षीणता उसके छोड़े हुए वा छोड़े जा रहे भारका प्रमाण है। किंतु रोमावलियाँ उसे एक मर्यादा दे रही हैं, यह यौवन और शैशवके बीच एक युद्धविराम-रेखा है, जिसका अतिक्रमण अशक्य है, अस्वाभाविक भी। भौतिक विज्ञान इसका साक्षी है। गुरुत्वाकर्षण-शक्तिसे भारी वस्तु नीचेकी ओर आयेगी, हलकी वस्तु ऊपरको उठेगी, उसका स्थान ग्रहण करनेके लिये। शिथिलता और चञ्चलतामें यही गति-विनिमय हुआ है, गोपाङ्गनाकी रूप-माधुरी मानो रसिकोंकी एक प्रयोगशाला—रसायनशाला है, जहाँ भारी भरकम शिथिलतापर हलकी फुलकी चञ्चलताकी अपूर्व विजय सिद्ध की गयी है।

इस चञ्चलतासे अभिभावित गोपीकी रूप-छविको कविने और आगे निखारा है। श्यामसुन्दरसे उसे इतना रूप-सम्मोहन मिला है कि वह उसे अपनेमें सहेज-समेट नहीं पाती। उसकी बिखरती-सँवरती रस-चेष्टाओंको आँखोंमें, हृदयमें भर लेनेकी आप भी चेष्टा कीजिये—

आधौ मुख नीलांबर सों ढाँकै, आधौ मुख अलक बिथुरी सोहै।
एक दिसा मानों मकर चाँदनी,
एक दिसा मानों बिजुरी कौंधै, जब हँसि हरि मन मोहै॥
कबहुँ कर पल्लव सों केस निवारत, पाछैं ढारत
तब निकसत संपूरन ससि सनमुख जब जोहै।
'सूरदास मदनमोहन' छिनु छिनु न्यारी न्यारी छबि सोहै,
और त्रिभुवन में उपमा को कौ है?

कितना भावपूर्ण रूपक है! किसी रूप-सम्मोहनकी वेलामें अपने बिखर-बिखर पड़ते हुए मुख-लावण्यको समेटती-सी उस गोपीकी चञ्चल चेष्टाओंकी कल्पना कीजिये। नीलाञ्चलके फीके-भीने आवरणमें अपनी सौन्दर्य-माधुरी उससे बाँधते नहीं बनती। नील पिछौरीसे आधा मुख ढँका हुआ है, आधेपर बिथुरी भँवराली अलकावलियाँ भी आवरणका ही काम दे रही हैं; किंतु इससे उसकी मुख-छवि पूरी तरह सम्पुटित, निमीलित नहीं हो पा रही है। यह आंशिक उन्मीलन-निमीलन ही उसकी रूप-ज्योत्स्नाको और निखार रहा है। जब कभी वह कोमल कर-पल्लवोंसे अलक-संवरण करती है; केश-राशिको समेटकर पीछेकी ओर ढार देती है, तब तो उस सम्पूर्ण अनावृत चन्द्रानन-कान्तिका कहना ही क्या? सुनील आवरणके भीतर भी, मुखके आधे भागपर, एक पार्श्वपर, मकराकृति कुण्डलिकाओंकी झलमलाहट शुभ्र चन्द्रिकाकी समुज्ज्वल किरणोंकी भाँति समुद्भासित है; उधर दूसरी दिशामें, बिथुरित साँवल अलकोंकी ओटमेंसे, किसी क्षण मुक्त हास्य-स्मिति-रेखा एक विद्युच्छविका-सा चित्र उतार रही है। सुदूर-सुदूर क्षितिजके छोरोंको छूते हुए प्रशस्त नील गगनके बीच समुज्ज्योतित पूर्णेन्दुका विकास, किसी क्षण नील-श्याम बदलियोंके झीने आवरणमें उसका अर्द्धोन्मीलन-निमीलन, उसके समीप एक पार्श्वपर कुन्तल-मेघमालाओंकी घिरन, कभी उनका निरावरण तो कभी संवरण और इस आँख-मिचौनीमें कलित कौमुदीका प्रसारण-संगोपन, कभी समग्र बिम्ब-परिदर्शन, कभी घन-घटाके बीचसे सहसा बिजुरीकी कौंध—यह सारा-का-सारा दृश्य कविने अपनी भाव-तूलिकासे गोपीके मुख-मण्डलपर प्रतिबिम्बित किया है। क्षण-क्षण उदीयमान रसानुभावोंकी अपनी-अपनी अनूठी छवि है। कवि इनके लिये विविध उपमानोंका विधान करते हुए भी संतुष्ट नहीं होता, 'और त्रिभुवनमें उपमाको को है?' कहकर अपनेको असमर्थ पाता है। फिर ऐसे अनुपमेय सौन्दर्य-राशिसे उसके एक ही मन्द-मधुर अधर-स्फुरणसे, रूप-राशिके अगाध निधि स्वयं श्रीहरि भी क्यों न सम्मोहित हो जायँ?

यहाँ तो इतनी विलक्षणता है कि स्वयं गोपी—श्यामाजू अपने ही अङ्ग-अङ्ग-लावण्यपर रीझ रही हैं—

स्यामाजू अपुनौ रूप देखि रीझि रीझि
नैकहु दर्पन दूरि न करति।
आपुनी छबि जु निहारति, आपुनौ तन मन वारति,
बिबस होति प्रतिबिंब के पाइँनि परति॥

कबहुँ स्याम तैं सकुचि मानति जिय अनुमानति
या ही सों जु प्रीति इहिं डर डरति ।
'सूरदास मदनमोहन' पिय पाछें दुरि देखत दृष्टि न इत उत टरति ॥

हाथमें लिये हुए दर्पणपर अपने ही रूपका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है । अपलक उसपर दृष्टि टिकी हुई है । उसे दूर नहीं करतीं, उसपर तन-मनसे न्यौछावर हो रही हैं—आपपर आप ही, कितनी अद्भुत मोहावस्था है ! इस अनूप रूप-मोहिनीपर वे सशङ्क भी हैं—यह सोचकर कि कहीं इसकी मोहासक्ति इतनी प्रगाढ़ और प्रबल न हो जाय कि प्रियतम श्यामसुन्दरको ही वे भूल जायँ, उनसे विलग हो जायँ । इसीलिये 'बिबस होति प्रतिबिंबके पाइँनि परति'—उधर पीछे छिपकर खड़े हुए मनमोहन भी इस रूप-लीलाको देख रहे हैं—प्रियतमा श्यामाकी स्वरूपासक्ति-विवशता और मनोमुग्धकारिणी मधुर प्रतिच्छविकी ओर एकटक नेत्र लगाये—अचञ्चल, अविचल ।

आजका रूप-शृङ्गार भी तो अनिर्वचनीय है, जिसके प्रति श्यामसुन्दरकी भी आसक्ति इतनी बढ़ती जा रही है कि वे वैसे ही प्रतिमानोंको अङ्गीकार कर अपनी प्रियतमाके साथ आन्तर और बाह्य, दोनों रूपोंमें एक रूपरसता ग्रहण करनेको लालायित हैं । इस शृङ्गार-प्रसाधनका विनिमय वा समीकरण किस रूपमें हुआ है, कविकी वाणीमें देखिये—

तेरे तन कौ बरन तमहरन देखि देखि
स्याम नव पीतांबर उर धार्यौ ।
तैं धार्यौ नीलांबर और स्याम मनि कंठ
नैननि अंजन दै चिबुक स्याम बिंदु न्यारौ ॥
मन तौ हुतौ एक पहिलैं ही या तन अदलि
बदलि एक भयौ यातैं एहिं बिचार्यौ ।
'सूरदास मदनमोहन' स्याम स्यामा
प्रीति परस्पर दोउन अपुनपौ वार्यौ ॥

यही एकात्मभाव—तद्रूप-तादात्म्य-भाव है । श्यामाके तमहरन गौरवर्णके प्रतिरूप नव पीताम्बर, नीलाञ्चलके स्थानपर नील कण्ठमणि और श्याम अञ्जनके उपमानमें चिबुकपर श्याम-बिन्दु । कितना सुन्दर रूप-विधान है । एक मन तो थे ही, अब दोनों एक तन भी हो गये । दोनों एक-दूसरेमें 'अपुनपौ' विलय कर दें, यही तो प्रेमका पावन आदर्श है । उनके तन-मनके नित्य साहचर्यका निर्वचन ही ये पंक्तियाँ भी कर रही हैं—

माई री, राधा, बल्लभ बल्लभ, राधा
—वे इनमें, उनमें वे बसत ।
घाम छाँह इत घन, दामिनी उत
कसौटी लीक ज्यों कसत ॥
दृष्टि नैन ज्यों स्वाँस, बैन त्यों
ऐन मैन ज्यों गसत ।
'सूरदास मदनमोहन' पिय प्यारी
मैं देखे सम्मुख हँसत ॥

कितना अभेद-विधान है, अद्वैत-सिद्धि… प्रणय-रागकी परमावधि । 'वे इनमें, उनमें वे बसत' की स्थितिमें विलगाव रहा क्या ? यह तो धूप-छाँह, घन-दामिनीका नित्य-संयोग है । कसौटीपर कसे हैं, दोनों ही खरे; प्रणय-रसमें परम पारंगत । 'नैन, बैन, ऐन, मैन' सभीमें तो निरवधि अविच्छिन्नता है । एक रूप-रसावेश, भावोन्मादमें डूबते-उतराते… रस-लीलाओंमें नित्य-निमग्न वे किस प्रकार चले जा रहे हैं, कविने एक स्थलपर निरूपित किया है—

चले जात नव गजेंद्र गति टेढी काम गली ।
रस के भरन अनुसरन बरन के,
पग के धरन मानों प्रेम कली ॥
उमँगि मिले तन मन हिय जिय सों,
छबि है मानों रंगयली ।
'सूरदास मदनमोहन' नीके बने,
मोहिनी सी छाइ गई रंगरली ॥

'टेढी काम गली'… अटपटी प्रीतिकी साँकरी खोरिमें निर्बाध गतिसे चले जाना सामान्य बात नहीं, गज-गतिमें एक उन्मत्तता होती है । आत्म-विभोरताकी मस्ती, बेखबरी होती है । श्यामा-श्याम उसी रस-विभोरतामें उमँग-उमँगकर परस्पर मिल रहे हैं । आज 'तन, मन, हिय, जिय' एक हो रहे हैं । आन्तर और बाह्य रसस्थितिमें समीकरण है । सर्वत्र एक-सा आवेग, एक-सा उल्लास, विलास, आज रूप रागसे और राग रूपसे परस्पर अनुप्राणित हो रहा है । श्यामा, श्यामके रूप, वर्ण और उनके तन, मनमें पले रस, वर्ण… शृङ्गारके अधिष्ठातृदेव श्रीकृष्णके श्याम रंगको दृष्टिमें रख-कर ही कविने उनमें 'गज-गति' की उद्भावना की है… 'उस गज-गतिकी, जिसके मार्गमें आनेवाली वस्तु पददलित नहीं होती, किंतु पद-पदपर जो स्वयं प्रेम-कलिकाओंको विकास देती जा रही है । जहाँ रसराज मूर्त्तिमान् शृङ्गार दम्पतिरूपमें प्रवर्तमान है, वहाँ कलियोंके पाँवडे बिछते जायँ, इसमें विस्मय

ही क्या ? प्रिया-प्रियतमकी रँगरेलियोंके साथ उनकी छविसे एक मोहिनी-सी छा रही है, आज तो।

श्यामा-श्यामके इस एक रूप-रस, राग-रंगका वर्णन करते कवि थकता नहीं। नित्य-नये रूपकोंमें वह उसके परिदर्शन करा रहा है। उनकी प्रणय-चातुरी, नव-नव खेलाओंमेंसे एकका साङ्गरूपमें रसास्वाद लीजिये—

चौंप चपरि तलप रचि रचि
सुभग पुलिन बिसात सँवारि।
कटाच्छनि की गिनति नहीं बैठे सनमुख दोऊ,
खेलत स्यामा स्याम दगपासे ढारि॥
दोऊ चतुर प्रबीन जुग प्रीति न छूटै
हावभाव तरंग तेई रंग रंग सारि।
'सूरदास मदनमोहन' प्रिया नव नव खेल रचत
लग्यौ तन मन दोऊ जीत न हारि॥

एक-दूसरेके प्रति 'चौंप' की चौपर सँवारी गयी है। किसी सुभग पुलिनके बीच, लता-वल्लरियोंकी शीतल छाँह-तले, एक तल्पकी रचना करके, दोनों आमने-सामने बैठकर खेल रहे हैं। इस रङ्गशालाके ये दोनों परम प्रवीण खिलाड़ी हैं। दग-पाँसोंकी ढरनके साथ अनगिन कटाक्ष-निक्षेप ही उनके दाँव हैं, जिनकी संख्या आँकी नहीं जा रही है। बस, रंग-तरंग, हाव-भाव, उमंगकी गोटियाँ दोनों ओरसे बराबर चली जा रही हैं। दोनों रस-चतुरकी प्रीतिका एक बार बन पड़ा 'जुग', दोनोंकी 'जोट' छूटती नहीं। फिर, किसी जीत-हारके परिणामपर नहीं आ पाते। इस प्रेम-चौपड़में दोनों तन-मनसे जुटे हुए हैं। जान पड़ता है, यह नव-नव खेला अनन्तकाल-तक, युग-युगतक चलती रहेगी। नित्य-सनातन प्रीतिकी कैसी सुन्दर कल्पना है! श्यामा-श्यामका यह प्रेम-व्यापार, नित्य-रस-विहार भक्तोंके हृदयमें नित्य-रस-स्फुरण कराता रहेगा, और 'श्रीसूरदास मदनमोहन'-सरीखे भावुक कवि-कलाकार उनके रूप-रागका अनुगायन कर शाश्वत आनन्द-रसानुभूति देते रहेंगे।

दुर्वचन

(लेखक—विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र')

'वाचं ते शुन्धामि' (यजु० ६ । १४)

मैं तेरी वाणीको शुद्ध करता हूँ। यह वेदवाक्य हमें शिक्षा देता है कि वाणीकी पवित्रता आवश्यक है। जीवनमें वाणीका बड़ा गहरा प्रभाव है। मानवीय शक्तियोंमें वाक्-शक्ति सर्वोपरि है। संसारका ऐसा कोई कार्य नहीं, जो इसकी सीमाके बाहर हो।

जिस प्रकार प्रत्येक वस्तुके दो पहलू होते हैं, उसी तरह वाणीके भी दो पहलू हैं। जिन्हें हम शुभ-अशुभ, पवित्र-अपवित्र, श्रेष्ठ-निकृष्ट, भद्र-अभद्र, उच्च-नीच, स्तुत्य-निन्द्य आदि संज्ञा दे सकते हैं। वाणीका सदुपयोग व्यक्तिको महान् बनाता है तो दुरुपयोग उसे हीनता प्रदान करता है। आज लोक-विश्रुत पुरुष वाणीके कारण ही सम्मानार्ह, पूज्य एवं विश्ववन्द्य हैं। बड़े-छोटे, भले-बुरे, उच्च-नीच, शरीफ और बदकी पहचान उसकी वाणीसे होती है।

वाणीकी अधिष्ठात्री वाग्देवी सरस्वती है, जिसका आसन जिह्वा और निवासस्थान मुख है। सरस्वतीको पवित्र, ब्रह्मज्ञान-विचार-रता, आदिशक्ति, विश्वव्यापिनी, वीणा और पुस्तक धारण करनेवाली, स्फटिक मालासे युक्त, पद्मासनस्थिता, जडता एवं अज्ञानहारिणी, अभयदात्री और हंसारूढा आदि विशेषणोंसे सम्बोधित किया गया है। वस्तुतः देव-देवियोंमें यही एकमात्र ऐसी देवी है जो शस्त्रास्त्रादि आयुधोंसे रहित है। वाग्देवी शान्ति, संतोष, ज्ञान, स्नेह, प्रेम, दया, सहिष्णुता, आनन्द आदि विविध सद्गुणोंसे युक्त है। रसवती ही सरस कही जा सकती है और सरसवती ही सरस्वती है। सरस्वतीका आसन जिह्वा होनेके कारण ही जिह्वाको रसना कहा जाता है। माया-मोह-मदान्धकारभेदिनी तथा तापत्रयोन्मूलिनी वाग्देवी सरस्वतीके उपासकको वाणीकी पवित्रताका सदैव ध्यान रखना चाहिये।

'सत्यपूतां वदेद् वाचम्।' इसीलिये आवश्यक है कि वाणीकी पवित्रता नष्ट न होने पाये। और पवित्रताकी रक्षाके लिये ही 'सत्य'को धर्मके दश अङ्गोंमें इसीलिये रक्खा गया है। मीठे वचन वाणीको पवित्र तथा कटुवचन उसे अपवित्र बनाते हैं। मिष्ठभाषी आदरका पात्र होता है और कठोर वचन बोलनेवाला अनादर पाता है। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षियोंतकमें भी यही नियम लागू होता है। गधेकी रेंकन किसीको भी नहीं सुहाती, जब कि गौका रँभाना कर्णप्रिय होता है। कौवेका स्वर चित्तको क्लान्त कर देता है तो कोयलकी आवाज मनको आनन्द पहुँचाती है।

दुर्वचनोंको अग्निस्फुलिङ्ग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। दुर्वचन मुखरूपी धनुषसे फेंके गये अदृश्य बाण

हैं—ऐसे बाण जो विष-बुझे बाणों-से गहरे पैठकर मनुष्यके मन और आत्माको तड़पाया करते हैं। तीरोंके घाव अच्छे किये जा सकते हैं, किंतु दुर्वचनोंके घाव नासूर बनकर आमरण कष्ट दिया करते हैं। इतिहास उठाकर देख डालिये—वाग्बाणोंकी कठिन क्रूरताके उदाहरण अगणित मिल जायँगे। दुर्वचन कहनेवाला व्यक्ति, इसके दुष्प्रभावसे अछूता नहीं रह जाता। जो दुर्वचन बोलता है और जिसके प्रति दुर्वचनोंका प्रयोग किया जाता है, दोनों ही समान परिणाम भोगते हैं। दुर्वाची वचनोंके अङ्गारोंसे स्वयं भी जलता है और दूसरोंको भी जलाता है; इसीलिये श्रुति-वचन है:—

'सम्यं च सव्रता भूत्वा वाचं वदथ भद्रया:'

सदैव भद्रवाणीका प्रयोग हितकर है, जो सांसारिक तापोंसे तप्त मानवको हिमसीकरकी भाँति शीतलता प्रदान करती है। महात्मा गान्धीके तीन बंदरोंकी मूर्तियोंमेंसे एक बंदर, जो अपने दोनों हाथोंसे अपने मुँहको दबाये हुए है, यही प्रकट करता है कि 'अपने मुँहसे कभी दुर्वचन न बोलो।'

जिनके मन कलुषित हैं, जो स्वभावसे दुष्ट हैं, जिनका जीवन पतित है, जो दूसरोंका अभ्युत्थान सहन करनेमें असमर्थ हैं और जो आसुरी मनोवृत्तिके व्यक्ति हैं, वे ही दुर्वचनोंका प्रयोग करते हैं। अथवा भले मानसोंमें जब आसुरी बुद्धिका उदय होता है, तब वे क्रोधमें आगबबूले बनकर दुर्वचन बोलने लगते हैं। मनोवैज्ञानिकोंने मूर्खोंके छः लक्षणोंमें दुर्वचनको भी एक चिह्न माना है।

यथा—

मूर्खस्य षट् चिह्नानि— गर्वो दुर्वचनम-
तिक्रुद्धो दृढावाणी परनिन्दा स्वयंस्तुतिः।

गर्व, दुर्वचन, क्रोध, कठोर वाणी, दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा—ये छः चिह्न मूर्खताके द्योतक हैं। ये सभी दुर्गुण एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। यह दुर्गुण-परिवार मूर्खोंके हृदयमें बड़े आनन्द और सुखचैनसे निवास करता है। बुद्धिमान् और समझदार व्यक्ति इनसे दूर रहते हैं। उनके मनपर दुर्गुणोंका कोई प्रभाव नहीं होता, बल्कि दुर्गुणोंपर वे अपने सद्‌गुणोंद्वारा विजय प्राप्त करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(२ । ६०)

मनको मथन करनेवाली इन्द्रियाँ ज्ञानी पुरुषोंके मनको भी बलपूर्वक अपनी ओर खींच लेती हैं। क्योंकि—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(२ । ६२, ६३)

जो मनुष्य विषयोंका ध्यान करता है, उनमें उसकी आसक्ति बढ़ती है। आसक्ति कामनाओंका मूल है। कामनाओंकी पूर्ति न होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे विवेकशक्तिका लोप हो जाता है। विवेकके अभावमें मस्तिष्कमें भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। स्मृतिविभ्रमसे मनुष्यकी बुद्धि क्षीण हो जाती है और बुद्धिके अभावमें मनुष्यका पूर्णतया नाश हो जाता है। अर्थात् मनुष्यकी बर्बादीका मूलस्रोत इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर बढ़ना है।

मानव-शरीरमें एक इन्द्रिय तो है नहीं, जिससे जूझकर मनुष्य अपनी रक्षा कर सके। यहाँ तो अनेक हैं, जिन्हें दो प्रकारोंमें विभाजित किया गया है। यथा—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। प्रत्येक इन्द्रियका वेग बहुत बड़ा है। साधारण उपाय इन्हें दमन कर सकनेमें असमर्थ रहते हैं। जो व्यक्ति इन्द्रियोंके नियन्त्रणका प्रयत्न करते हैं, वे ही इनकी प्रबलताको समझते हैं। जो इनके संयमका प्रयत्न नहीं करते, वे क्या जानें कि इन्द्रियोंका वेग कितना प्रबल होता है। नदीके प्रवाहमें पड़कर तैरनेवालेको यह पता नहीं लगता कि प्रवाहका वेग कितना है—पता उसे ही लगता है जो प्रवाहके विपरीत तैरनेका प्रयत्न करता है।

लोग सोचते हैं कि इन्द्रिय-भोग्य विषयोंको अपनेसे दूर रखनेपर इन्द्रियोंपर काबू पाया जा सकता है। कुछ लोगोंका यह भी विश्वास हो सकता है कि विषयोंके भोगसे दूर रहनेपर इन्द्रिय-संयम होता है, किंतु ये धारणाएँ मिथ्या हैं। विषयोंकी विरक्ति मनुष्यको विषयसे दूर रख सकती है; किंतु विषयके आनन्दकी ओर उसका मन उसे खींचता रहता है, इसलिये संयम नहीं हो पाता। जैसे एक व्यक्ति उपवासके समय हठात् अन्नसे दूर रहता है परंतु उसका मन अन्नके स्वादकी ओर आकृष्ट होता रहता है, इसी प्रकार इन्द्रियोंको बलपूर्वक विषयोंसे अलग किया जा सकता है किंतु इन्द्रियजन्य रसोंके आनन्दका अनुभव मन लेता रहता है। अर्थात् विषयोंकी अभिलाषा हठपूर्वक

किये गये नियमनमें प्रायः बढ़ती ही है, घटती नहीं ।

इन्द्रियोंके वेगोंकी तुलना उस भयंकर झंझावातसे की जा सकती है, जिसके वेगमें आये वृक्ष, घर आदि सामने आनेवाले पदार्थ उखड़ जाते हैं, ढह जाते हैं या उड़ जाते हैं । इन्द्रियोंका वेग उस टूटे विशाल बाँधके जलकी भाँति है, जो अदम्य रूपसे आगे बढ़ता हुआ सब कुछ बहा ले जाता है या डुबा देता है । प्रत्येक इन्द्रिय मनुष्यको अपने वेगमें बहा ले जाना चाहती है । जिसकी समस्त इन्द्रियाँ अनियन्त्रित हों, उसकी क्या गति हो सकती है—जरा कल्पना तो कीजिये । थोड़ी-सी असावधानी, ज्ञानी-से-ज्ञानी व्यक्तिकी बुद्धिको झकझोर डालती है, उसके पाँव उखाड़ देती है और न जाने कहाँ ले जाकर पटक मारती है । इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण विषयोंसे दूर रहनेका उपदेश दे रहे हैं ।

विषयीका ध्यान सदैव इन्द्रियोंके चाञ्चल्यकी पूर्णताकी ओर रहता है । वह इन्द्रियजनित सुखोंकी पूर्णताको ही जीवनकी पूर्णता मान लेता है । इन्द्रियोंके भोगोंका निरन्तर ध्यान करनेवाला व्यक्ति कामनामय बन जाता है । भोगोंकी वासना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । वासनारूपी ग्राह इन्द्रियरूपी गजेन्द्रको अपनी ओर खींचकर लील जाना चाहता है । मनुष्य प्रत्येक इन्द्रियसे अधिक आनन्द, अधिक रस लेनेकी अभिलाषा करता है । यह कामना सुरसाके मुखकी भाँति बढ़ती हुई मनुष्यको लील जानेका कार्य करती है ।

जैसे एक ही प्रकारका पदार्थ खाते रहनेसे दुःखका अनुभव होता है, उसी तरह एक ही भोग बहुत दिनोंतक भोगते रहनेसे उसका आनन्द नष्ट हो जाता है, अतः भोगोंकी विविधताकी ओर वह दौड़ने लगता है । परंतु एक दिन जब यह विविधता भी उसके दुःखका कारण बन जाती है, तब क्रोधकी उत्पत्ति स्वाभाविक है । कामनाओंकी अपूर्ति ही क्रोधका कारण है । फिर वह कामना भोजनकी हो, वस्त्रकी हो, धनकी हो, स्त्रीकी हो किंवा कुर्सियोंकी हो । चुनावोंके समय झगड़े, मनमुटाव, हाथापाई और हत्याएँ कामनाओंकी पूर्तिके अभावमें ही होते हैं । जो उसके भोगोंमें बाधक होता है, उसीपर पागल होकर वह आक्रमण करने लगता है । एक ही भोगके लिये यदि दो व्यक्ति हुए तो फिर खीसें निकालकर श्वानवत् जूझने लगते हैं । अर्थात् स्वार्थ, कामना अथवा इच्छाओंका पूरा न होना ही क्रोधको जन्म देता है । इतिहासोंमें वर्णित युद्ध, रक्तपात, अत्याचार आदिकी पृष्ठभूमि क्रोध है और भोगोंको प्राप्त करनेके बीचमें विघ्न करनेवाला उसका शत्रु बनता है, जिसे वह नष्ट कर देना चाहता है । अर्थात् कामनाओंकी अपूर्ति क्रोधका कारण है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'धनंजय ! कामनाओंसे क्रोध होता है, क्रोधसे विवेक नष्ट हो जाता है, विवेक खो जानेपर स्मृतिभ्रम होता है, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिका लोप होता है और बुद्धिनाशसे उसकी पूरी तरह बर्बादी हो जाती है ।'

जब मनुष्य कामनाओंके पूर्ण न होनेपर क्रोधी होता है, तब उसकी विवेकशक्ति उसका साथ छोड़कर तमाशा देखने लगती है । क्रोधमें मनुष्य ज्ञानहीन पशुतुल्य हो जाता है । पशुतुल्य ही नहीं, उससे भी आगे बढ़ जाता है, आपा खो बैठता है । बुद्धि उसका साथ छोड़ देती है । मनकी स्थिति बिगड़ जाती है । शरीरमें रक्तका अभिसरण बिगड़ जानेसे वह बेकाबू हो जाता है । उसके शरीरमें बहनेवाला रक्त विवर्ण होकर काला हो जाता है । उसका शरीर काँपने लगता है—पैर थर्रा जाते हैं । साँस फूल जाता है और वाणी लड़खड़ा जाती है । इस प्रकार जब वह सब कुछ खो देता है, तब दुर्वचनोंका आश्रय लेता है । क्रोधमें जब उसके पास कुछ नहीं रह जाता, तब अपशब्दोंका प्रयोग करने लगता है । राजसूययज्ञके समय जब प्रथम-वन्दनीय पुरुषकी पाण्डवसभामें ढूँढ़ हुई, तब श्रीकृष्णका नाम प्रस्तावित होते ही चेदिराज शिशुपाल अपनी इच्छाके विपरीत कार्य होता देखकर अपना संयम खो बैठा । उसके मस्तिष्कके संतुलनको क्रोधने बिगाड़ दिया और वह प्रस्ताव करनेवालेको छोड़कर प्रस्तावित व्यक्ति श्रीकृष्णचन्द्रको अपना लक्ष्य बनाकर दुर्वचन बोलने लगा । सभामें सन्नाटा देखकर उसका हौसला और बढ़ गया । उसने सोच लिया कि 'श्रीकृष्ण डर गया और दब गया ।' सभाके सारे सदस्योंके मौनसे उसे बढ़ावा मिला । वह खूब गालियाँ बकने लगा । जब उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता तथा असभ्यता धरतीसे उठकर आकाशको छूने लगी, तब सहसा निस्तब्धताको भङ्ग करता श्रीकृष्णका सुदर्शन शिशुपालकी ओर बढ़ा और उसने उस दुर्वचन बोलनेवाले चेदिराजके सिरको काट डाला ।

दुर्वचनोंसे अशान्ति उत्पन्न होकर भयका निर्माण

होता है । दुर्वचन मनुष्यको पतित बनाता है। इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते; किंतु इस सचाईसे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि जो दुर्वचन कहता है, वह पतित ही होता है। अर्थात् जो नीच, दुष्ट, पतित या मलिन मनवाला होगा, वही दुर्वचन, परुष वाणी और कठोर शब्दोंका उच्चारण करेगा । संत प्रकृतिका मनुष्य कभी दुर्वचन नहीं बोलेगा, जब कि हीन स्वभावका व्यक्ति सहज ही बार-बार गंदे शब्दोंका प्रयोग करेगा । मनुष्यको अपशब्द बोलनेके लिये क्रोध बढ़ावा देता है । वह उसे ढकेलकर निम्नस्तरपर ले जाकर खड़ा कर देता है। जब मनुष्य अपने स्तरसे नीचे गिर जाता है, तब वह ज्ञानशून्य होकर अनर्गल प्रलाप करने लगता है और क्रोधके दहकते अंगारे दूसरोंपर फेंककर उन्हें पीड़ा पहुँचाना चाहता है—समाजमें, राष्ट्रमें और विश्वमें अशान्ति उत्पन्न करके अपने मनको तुष्ट करना चाहता है; किंतु तुष्टिका यह उपाय—यह मार्ग मूर्खोंका अथवा दुर्जनोंका ही कहा जा सकता है ।

क्रोध सभीको आता है । बुद्धिमान्-मूर्ख, सबल-निर्बल, धनी-निर्धन, सभ्य-असभ्य—सभी इस विकारसे पीड़ित हैं, परंतु ठीक उसी प्रकार जैसे कुछ लोग साधारण ज्वरमें बहुत छटपटाने लगते हैं और कई तेज बुखारमें भी शान्त रहते हैं। मूर्ख, अज्ञानी, हीन मनोवृत्तिके लोग, दुष्ट, असहिष्णु, निर्बलात्मा, क्रोधके वशीभूत होकर दुर्वचन बोलने लगते हैं; किंतु ज्ञानी, विद्वान्, बुद्धिमान्, उच्च विचारवाले, संतवृत्तिके लोग क्रोध आनेपर भी उसके शिकार नहीं बन जाते। दुर्वचनोंको वे गोस्वामी तुलसीदासजीके वचनोंमें—

बूँद अघात सहहिं गिरि कैसें। खल के बचन संत सह जैसें॥

—सिद्ध करके दिखा देते हैं। तात्पर्य यह कि दुष्टोंका क्रोध दुष्टतापूर्ण, संसारमें अशान्ति उत्पन्न करनेवाला होता है तो सज्जनों और विवेकी व्यक्तियोंके क्रोधका नाट्य किसीको हानि न पहुँचाकर परिणाममें सुखका कारण बनता है ।

क्रोधमें ज्ञानी व्यक्ति अपनी वाणीपर संयमका अङ्कुश रखता है, जब कि मूर्खकी वाणी क्रोधमें निरङ्कुश गर्दभकी तरह दुलत्तियाँ झाड़ती हुई कर्कशता उत्पन्न कर देती है। अज्ञानी तथा असभ्य क्रोधके वशीभूत होकर जब दुर्वचन बोलता है, तब वह असभ्य और मातृजातिके अपमानसूचक दुर्वाक्य बोलनेमें भी नहीं शर्माता । इसे सर्वसाधारण 'गाली' कहते हैं । गालियाँ, जब माता और बहनोंके सम्बन्धमें अपमानसूचक फ़ोश लफ़्ज़ोंमें बोली जाती हैं, तब तो गाली बोलनेवालेके हीन विचार और नीच मनोवृत्तिके नग्न दर्शन होने लगते हैं । हीन वाणीसे बोलनेवालोंकी कुलीनतापर बट्टा आता है। अच्छे माता-पिताकी संतान कभी भी हीन वचन नहीं बोलेगी । खान्दानी लोगोंके मुखसे कभी दुर्वचन नहीं निकलेंगे । वे दुर्वचन बोलनेवालेके सामने 'अगिनि परी तृन रहित थल, आपहि तें बुझि जाय।' का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे ।

जब मनुष्य माँ-बहनोंके प्रति नंगे शब्दोंका उपयोग अपनी वाणीसे करने लगता है, तब वाणीकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वतीका कितना दुरुपयोग, कितना अपमान होता है—यह कल्पना भी नहीं की जा सकती । जिस वाणीकी अधिष्ठात्री नारी हो, उसीसे नारी जातिका यह अपमान एक अक्षम्य लज्जाकी बात है । वाग्देवीके माध्यमसे किसीकी माता और बहनोंको दुर्वचन बोलना उन्हें निन्द्य तथा नंगे शब्दोंसे अपमानित करना स्वयं अपना और अपनी ही माँ-बहनोंका अपमान समझना चाहिये । भले आदमी कभी किसीके प्रति दुर्वचन नहीं बोलते या यों कहिये कि भले आदमियोंकी पहचान ही यही है कि उनके मुँहसे क्रोधमें भी कभी दुर्वचन नहीं निकलते ।

हीन मनुष्य ही दुर्वचनोंका प्रयोग करते हैं । दुर्वचन अकुलीनताका चिह्न है । हीन संगतिमें रहकर भी मनुष्य दुर्वचनोंका प्रयोग करने लगता है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि दुर्वचनोंका प्रयोक्ता हीन संगतिमें रहा है या रहता है । तात्पर्य यह है कि दुर्वचन बोलनेवालेके हीन कुल, हीन माता-पिता, हीन संगति, हीन संस्कृति और हीन शिक्षामें तनिक भी संदेह नहीं करना चाहिये । यह दुर्वचन-भाषणकी हीनता मनुष्यको दूर करके अपने चरित्रको उज्ज्वल बनानेकी ओर अग्रसर होना चाहिये । हीनतासे ऊपर उठनेवाला व्यक्ति महानताको प्राप्त होता है और हीनतासे प्रेम करनेवाला पतनकी ओर बढ़ता है । हमें वेदके इस वचनको नहीं भुलाना चाहिये कि—'महान् उच्चगुणोंसे युक्त ज्ञानकी प्रकाशक सरस्वती, भारती और इडा—तीनों इस राष्ट्रमें निवास करें—

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ सदान्त्विडा
सरस्वती भारती । मही गृणाना ।
(यजु० २७ । १९)

रामका अन्याय

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

जब मैं अंग्रेजी साहित्य लेकर प्राइवेट एम्० ए० की तैयारी कर रहा था, उन दिनों उचित मार्ग-निर्देशनके लिये कभी-कभी मेरठ कालिज, मेरठके अंग्रेजी विभागके अध्यक्ष प्रोफेसर जे० सी० विश्वासके पास जाया करता था। प्रोफेसर साहब अब अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। मेरा उनसे गुरु-शिष्यका पुराना सम्बन्ध है। जब मैं मेरठ कालिजमें बी० ए० का छात्र था, तब वे हमें अंग्रेजी पढ़ाते थे। हम सब छात्रगण उनकी विद्वत्ता और अध्यापन-शैलीसे बहुत प्रभावित थे। प्रोफेसर साहब अंग्रेजीके अतिरिक्त बँगला और संस्कृत साहित्यके भी अधिकारी विद्वान् हैं। एक दिन जब नाटकोंके विषयमें चर्चा चल रही थी, प्रोफेसर साहबने बतलाया कि भवभूतिका उत्तर-रामचरित संस्कृतका सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसीसे बात सीता-वनवासपर आ गयी और प्रोफेसर साहबने इसे रामका घोर अन्याय बतलाया। मैंने प्रतिवाद करना चाहा तो वे उग्र हो उठे। मैं चुप हो गया। गुरु होनेके साथ-साथ मेरी अपेक्षा रामपर उनका अधिकार भी अधिक है। प्रोफेसर साहब धार्मिक वृत्तिके बंगाली वैष्णव हैं।

एक क्या, धार्मिक वृत्तिके अनेक आस्तिक विद्वान् श्रीरामके पावन चरितमें सीता-वनवासको एक अनुचित घटना समझते हैं और किसी-न-किसी प्रकार विधिका विधान या प्रभुकी लीला समझकर अपने मनको संतोष दे लेते हैं। आधुनिक विद्वान् प्रजारञ्जनकी दुहाई देते हैं। अथवा ऐसा कह लेते हैं कि सूर्यमें भी काले धब्बे हैं। मनुष्य-शरीरमें परमात्मा ही क्यों न अवतरित हो, कोई-न-कोई भूल उससे अवश्य ही बन जायगी। कोई भी स्खलन जिससे न हो, ऐसे मानव-तन-धारीकी कल्पना ही असम्भव है।

ऐसा सब सोचनेवाले भक्त तथा विद्वान् अवतारवादका प्रयोजन ही भूल जाते हैं। अवतार संसारका सुख भोगनेके लिये अथवा नाम और यश अर्जनके लिये नहीं होता। उसका मुख्य उद्देश्य धर्मकी स्थापना है और वह धर्मकी स्थापना केवल दुष्टोंके दमनसे ही नहीं हो सकती। दुष्टोंका दलन धर्म-संस्थापनका एक उपाय है। धर्म-प्रचार दूसरा उपाय है। किन परिस्थितियोंमें दलन अधिक लाभदायक है, किनमें प्रचार—यह चतुर वैद्यकी तरह वही जान सकता है, जिसने धर्म-संस्थापनके लिये ही पृथ्वीपर अवतीर्ण होना स्वीकार किया है। फिर धर्म-प्रचारका भी कोई एक मार्ग निश्चित नहीं किया जा सकता। आस्तिकोंमें धर्म-प्रचार शास्त्रोंके ठीक-ठीक अर्थका खोलना है। जिनकी शास्त्रोंपर श्रद्धा नहीं, वहाँ युक्तिवादसे काम निकालना होता है, शास्त्रोंकी दुहाई देनेसे वहाँ कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कहीं-कहींपर तो बुद्धिगम्य प्रचार सफल सिद्ध न होकर भावात्मक प्रचार चमत्कारी फल दिखलाता है। बहुत-से लोग किसी भी सिद्धान्तको केवल तभी स्वीकार करते हैं, जब उसके माननेवाले उन्हें विजयी, यशस्वी और तेजस्वी दिखलायी दें। मौलाना रूमने एक कहानी लिखी है कि एक बार एक मुसल्मानोंका क़ाफ़िला एक कट्टर पारसियोंके गाँवमें पहुँचा। थोड़ी देर बाद मुसल्मानोंने देखा कि कुछ पारसी उनके लिये मिठाई-हलवा लिये चले आ रहे हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह अनहोनी घटना कैसे हुई! पारसी, जो मुसल्मानोंसे इतनी घृणा करते हैं, आज स्वागतार्थ कैसे आ पहुँचे। पूछनेपर एक पारसीने उत्तर दिया कि मेरी लड़की किताबें पढ़-पढ़कर बहुत दिनोंसे मुसल्मान बननेकी जिद कर रही थी, मैं बहुत परीशान था। आज मुसल्मानोंका काफिला आया सुन पहले तो वह बहुत प्रसन्न हुई; परंतु जब आपके मुल्लाने अज़ान दी तो उसकी भद्दी, कर्णकटु, बेसुरी आवाज सुनकर उसने पूछा कि "क्या मुसल्मानोंका स्वर ऐसा ही होता है।" मैंने उत्तर दिया—"हाँ।" उसने कहा, "तो मैं मुसल्मान नहीं बनती।" आपकी कृपासे मेरी लड़कीका खब्त दूर हो गया। उसके उपलक्ष्यमें यह मिठाई और हलवा भेंटके लिये लाया हूँ।

जैसा रोगी, जैसी रोगकी अवस्था, वैसा ही निदान। कहीं-कहींपर धर्म-संस्थापनाके किसी भी साधनसे काम नहीं चलता, तब हृदय-परिवर्तनके अस्त्रसे काम लिया जाता है। विशेषतः जब अपने ही साथियोंको सुधारना हो और दोष एकाधमें न हो, सामूहिकरूपसे फैला हुआ हो। यह हृदय-परिवर्तनका अस्त्र बिल्कुल उल्टा है। अत्याचारका विरोध करनेके स्थानमें इसमें अत्याचारके सामने बहुत शान्तिपूर्वक सिर झुका दिया जाता है। पीड़ित इसमें धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म नहीं कहता, परंतु वह अत्याचारका कोई

विरोध नहीं करता—सिवा इसके कि अपने आचरणद्वारा अत्याचारियोंको वह यह समझा दे कि वह तुम्हारे अत्याचारको अत्याचार समझता है। यदि रोग जाता रहे और उसकी कोई खोटी प्रतिक्रिया भी न हो तो समझना चाहिये कि औषध और औषध देनेवाला वैद्य दोनों ही ठीक थे। इसी प्रकार यदि समाजसे किसी दोषको दूर करनेके लिये हृदय-परिवर्तनके अस्त्रका प्रयोग किया जाय और उससे कोई नयी बुराई पैदा किये बिना समाजका वह दोष जाता रहे तो हमें समझना चाहिये कि उस अस्त्रका प्रयोग ठीक ही हुआ है।

इस हृदय-परिवर्तनके अस्त्रके लिये सुधारकको बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है अपने सुख, वैभव और आरामका। पूज्य महात्मा गांधी अनेक बार इस अस्त्रका सफलतापूर्वक प्रयोग करते थे। अमीर आलम पठानने उनपर छुरा चलाया। पुलिस अमीर आलमको पकड़कर ले गया; परंतु गांधीजीने न्यायालयमें अमीर आलमके पक्षमें गवाही दी। अमीर आलम छूट गया और आजन्म उनका अनुयायी बना रहा। प्रभु ईसाने इसी हृदय-परिवर्तनके निमित्त अपने प्राणोंका बलिदान दिया। ईसाइयोंके धर्मानुसार प्रभु ईसा न केवल परमात्माके पुत्र बल्कि स्वयं साक्षात् परमात्मा भी हैं। उनकी यह मान्यता कि एक ही व्यक्ति पिता-पुत्र दोनों हो कहाँतक युक्तियुक्त है, हमें इसपर बहस करनेकी आवश्यकता नहीं। हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि ईसाई-धर्मके अनुसार वे परब्रह्म परमेश्वरके अवतार हैं। फिर प्रश्न होता है कि सर्वशक्तिमान् सृष्टि-नियन्ता होते हुए भी उन्होंने दुष्ट यहूदियोंको दण्ड न देकर प्राण-विसर्जनके मार्गको क्यों ग्रहण किया। उत्तर यही है—हृदय-परिवर्तन-द्वारा धर्म-संस्थापनके लिये। यदि वे दुष्टोंके दलनपर आते तो न केवल सारी यहूदी जाति वरं समस्त रोमन राष्ट्र एवं प्रजाको भी उन्हें नष्ट करना पड़ता और फिर जब कुछ भी शेष न रहता, तब उनके धर्मोपदेशको वृक्षों और पर्वतोंके अतिरिक्त और कौन सुनता? प्रभु ईसाने रोगकी उचित चिकित्सा की—भले ही उस चिकित्सामें उन्हें एक चोर डाकुओं-जैसी* निन्दनीय मृत्युका आलिङ्गन करना पड़ा हो! फल सामने है—आज संसारमें न केवल संख्याकी दृष्टिसे ईसाई सबसे आगे है और सभ्यता और संस्कृतिके प्रत्येक क्षेत्रमें उनका स्थान सर्वोपरि है।

भगवान् रामने भी अयोध्यावासियोंकी निन्दनीय मनोवृत्तिको सुधारनेके लिये आत्मोत्सर्गके मार्गका अवलम्बन किया। उन्होंने कुछ दुष्ट मनोवृत्तिके नागरिकोंके निर्णयके आगे सिर झुका दिया। सीता-वनवाससे जो उन्हें असहनीय वेदना हुई, उसे उन्होंने चुप-चाप सहन किया और अन्तमें वे न केवल अयोध्यावासियोंको सुधारनेमें सफल हुए बल्कि सीता-परित्यागको लेकर अयोध्यावासियोंमें पड़नेवाले बुद्धिभेदको भी रोकनेमें सफल हुए। अत्याचारके सामने पूर्णतया नतमस्तक हो जानेपर भी रामने बतला दिया कि सीता-रामकी जोड़ी अविच्छिन्न है, संसारकी कोई भी शक्ति उसे तोड़ नहीं सकती। वनवासद्वारा उन्होंने सीताको एक नये गौरवके साथ स्थापित किया। यदि अग्नि-परीक्षा और परित्यागकी घटनाएँ न घटी होतीं तो पूजनीया तो सीता फिर भी रहती; परंतु उनकी कहानीमें वह प्रेरणा न रहती, जो अब है।

राम-कथाके समुचित अन्तके लिये भी सीता-वनवास एक अनिवार्य शर्त थी। अयोध्यावासियोंमें सब गुण होते हुए भी अकारण ही दूसरोंकी नीयतपर संदेह करनेका भयानक दोष था। यदि यह दोष उनमें न होता तो राम-कथाका विस्तार नहीं हो सकता था। दशरथ भरतकी अनुपस्थितिमें रामका युवराज्याभिषेक करना चाहते हैं, सम्भवतः उन्हें भरत-पर विश्वास न हो। दशरथने भरतपर संदेह किया; कैकेयीने दशरथपर संदेह किया कि मेरे पुत्रकी अनुपस्थितिसे क्यों यह लाभ उठाया जा रहा है। परस्पर संदेहका यह वातावरण न होता तो रामका वनवास न होता और फिर राम-कथा कैसे आगे बढ़ती। वनवासके पश्चात् भी लक्ष्मण बार-बार निर्दोष भरतपर संदेह करते हैं। वे चित्रकूटमें आते हैं रामकी चरण-रज लेने, लक्ष्मण कुछ और ही बात सोचते हैं। इस वातावरणका प्रभाव जगन्माता जनक-नन्दिनीपर भी पड़ा। मायामृगके पीछे जब राम चले गये, तब मारीचकी कपट-वाणीको सुनकर सीताजी घबरा उठीं, बार-बार लक्ष्मणसे भाईकी सहायताको जानेके लिये कहने लगीं। परंतु लक्ष्मण जो राक्षसोंकी मायाको जानते थे, टस-से-मस न हुए। यदि लक्ष्मण न जाते तो सीताका हरण कैसे होता और सीता-हरण न होता तो राम-रावणमें विरोध कैसे बँधता और कैसे

---

* And with him they crucified two thieves, the one at his right hand and the other at his left – Mark 15–27

—और उनके साथ दो चोर क्रासपर चढ़ाये गये, एक उनके दाहिने और दूसरा उनके बायें।

राक्षसोंके विनाशके सम्बन्धमें रामका संकल्प पूरा होता । और लक्ष्मण सीताको भाईकी आज्ञाके विरुद्ध अकेली छोड़कर चले जायँ, इसका इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था कि सीताके द्वारा उनके चरित्र और नीयतपर ऐसा संदेह प्रकट किया जाय, जिसे सुनकर वे तिलमिला उठें । अयोध्यावासियोंके इस जातीय दोषका, जो कभी-कभी विशेष परिस्थितियोंमें उनमें प्रकट हो जाता है, परिहार करना भी राम-जीवनका उद्देश्य था । क्या ही अच्छा हो यदि सीता-वनवास पढ़कर हम रामके अन्याय और भारतमें नारियोंकी करुणापूर्ण स्थितिपर बहस करनेके बदले बिना बात एक दूसरेपर लाञ्छन लगाने और अकारण ही एक दूसरेकी नीयतपर संदेह करनेकी प्रवृत्तिको सदाके लिये छोड़ दें । आज भी यह बुराई हमारे पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवनको नरक-कुण्ड बनानेमें कोई कसर नहीं छोड़ रही है । देखना यह है कि अपने इस दोषको निकालनेमें हम किस प्रकार सफल होते हैं ।

मन एवं इन्द्रियोंसे सावधान !

(लेखक—प्रो० श्रीशैलजानन्दजी झा 'अंगार', एम्० ए०)

गीताके छठे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको लोक-कल्याणार्थ उपदेश देते हुए कहा है—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

अर्थात् जिस व्यक्तिका मन सांसारिक विषयोंमें लिप्त हो, वह स्वयं अपना शत्रु है तथा जिसका मन विषयोंसे निर्लिप्त हो, वह स्वयं अपना मित्र है । दूसरे शब्दोंमें, विषय-वासनाओंमें लिप्त मन पतनोन्मुखी होकर मानवको दानवत्वके महाखड्डमें ढकेल देता है तथा दूसरी ओर, विषय-वासनाओंसे निर्लिप्त मन ऊर्ध्वमुखी होकर देवत्वका दुर्लभ द्वार खोल देता है ।

फिर एक स्थलपर श्रीकृष्णने मानवके नित्य-सुखका रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
(५ । २३)

अर्थात् जो इस पाञ्चभौतिक शरीरके विनष्ट होनेके पूर्व ही काम एवं क्रोधसे उत्पन्न वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष सत्-चित्-आनन्द-का भोक्ता है ।

इतना स्पष्ट हो गया कि काम एवं क्रोधसे मुक्ति पानेमें ही सच्चा सुख है; किंतु चूँकि काम और क्रोध-के निवासस्थान मन एवं इन्द्रियाँ हैं, अतः इस परम आनन्दोपलब्धिके लिये हमें मन एवं इन्द्रियोंका स्वामी बनना पड़ेगा और जो इनका दास है, वह सदा दुखी रहेगा ।

एक भुक्तभोगी होनेके नाते मैंने उपर्युक्त श्लोकोंकी आवृत्ति की । कामके जादूकी छड़ीपर नाचनेवाला कौन मुझसे बढ़कर पतित और कामी होगा ? भाई ! लेकिन इसमें मेरा क्या दोष ? काम तो ज्ञानको ही ढक देता है और फिर आगे कुछ सूझता ही नहीं । देखिये, यह अनन्त ज्योतिष्पिण्ड सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको उद्भासित कर रहा है; यह अनन्त पृथ्वी निरवलम्ब गतिशील है; सम्पूर्ण भुवनका कण-कण उस वायुसे व्याप्त है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये प्राण सँजोये रहता है; किंतु एक कामीके लिये उस अनश्वर चतुर चितेरेकी इस अनन्त लीला-का कोई मोल नहीं । उसे तो बस गोरे चामसे ढँका हुआ अस्थिपञ्जर ही एकमात्र सत्य भासता है । उस

अंचेको मदमाती आँखोंद्वारा छिपे हुए हड्डियोंके दो कोटर नहीं दीख सकते और न वक्षःस्थलपर उभड़े हुए मांसके लोथ और खून ही दीख सकते हैं ।

हाय राम ! तुमसे बढ़कर हमें काम ही मधुर लगता है । हे प्रभो ! हमारी क्या गति होगी ? हे पिता ! ज्ञान दो, मनश्चक्षु खोलो; हमारे शत्रुओंका दमन करो, नहीं तो मानव-जीवन निरर्थक ही चला जायगा ।

मेरे जिज्ञासु पाठको ! मानव-जीवन सुदुर्लभतर है । यही वह जीवन है, जिसे प्राप्तकर हम अपने सृष्टिकर्त्ताको पानेकी इच्छा पूर्ण कर सकते हैं । किंतु इस शिव-संकल्पके पूर्व एक अटल विश्वास अपने मनमें जमा लेना होगा कि कामके राहगीरोंको प्रारम्भमें विष-दंशित, मृगतृष्णाके फूल मिलते हैं और फिर अन्ततक झाड़ीदार शूल और दूसरी ओर रामके पुजारियोंको प्रारम्भमें कण्टकाकीर्ण राहें मिलती हैं और फिर शबनमसे भीगे, सुगन्धमय पुष्पोंसे सजे प्रशस्त पथ, जो सीधे मंजिलतक चले जाते हैं । किंतु इस मङ्गलमय साधन-पथपर केवल वे ही चल सकते हैं, जो मन एवं इन्द्रियोंके स्वामी हों । अवश्य ही मन एवं इन्द्रियोंका स्वामी बनना अत्यन्त ही कठिन है । अतः आप पूर्ण निष्ठाके साथ भगवान् श्रीकृष्णके उस वचनका सदा चिन्तन करते रहें कि इन्द्रियाँ बली हैं, किंतु मन इन्द्रियोंसे भी बली है; विशुद्ध बुद्धि मनसे भी अधिक शक्तिमती है और आत्मा तो सर्वशक्तिमान् है । भगवान् श्रीकृष्णका यह भी उपदेश है कि इन्द्रियाँ एवं मन विषयोन्मुखी हैं, किंतु विशुद्ध बुद्धि एवं आत्मा तो परमानन्दमें रहते हैं । स्पष्ट हो गया कि हमारे अंदर चार शक्तियोंके दो समूह हैं, जो सदा परस्पर संघर्ष करते रहते हैं । अपेक्षाकृत दो लघु शक्तियाँ अर्थात् मन एवं इन्द्रियाँ विषयोंके दलदलमें फँसानेके लिये भरपूर शक्ति लगाती हैं तथा दूसरी ओर अपेक्षाकृत दो गुरु शक्तियाँ अर्थात् बुद्धि एवं आ परमानन्दकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्नशील हैं। चूँकि दो गुरु शक्तियाँ दो लघु शक्तियोंसे अधि हैं, अतः अन्ततोगत्वा हमारी विजय निश्चित है। साधन-पथपर चलकर मंजिलतक पहुँचनेवाले जितने ह पथिक आजतक हुए, उनमेंसे किसीने भी भगवत्कृ तथा धैर्यका सम्बल नहीं छोड़ा और जिसने भगवत्कृ और धैर्य छोड़ दिया, वह मंजिलतक नहीं पहुँच सका। किंतु यह विजय तुरंत नहीं प्राप्त होती। कारण, संग्राममें मन एवं इन्द्रियोंका केवल एक कार्य है—विषयोंमें रमना । किंतु बुद्धि एवं आत्माके दो का हैं—विशुद्धानन्दमें रमना तथा मन एवं इन्द्रियोंक विषयोंसे विरत कराके उन्हें भी विशुद्धानन्दमें रमाना। यही कारण है कि जय-पराजयका निर्णय तुरंत न हो पाता और अधीर व्यक्ति अपनी विजयको नहीं ले पाता ।

अब एकाध संतका दृष्टान्त लेकर उपर्युक्त कथनकी सत्यता आँकनी चाहिये । राम-कृष्ण-चरण-रति अभिलाषी तुलसी और सूरको भी कामने खूब पछाड़ा, मन तथा इन्द्रियोंने खूब घसीटा । सूर तो हठी मनके सामने रो-रो पड़े ।

'माधव जू, मन हठ कठिन परयौ ।
जद्यपि बिद्यमान सब निरखत, दुक्ख सरीर भरयौ ॥

किंतु सूरने धैर्य नहीं खोया और अन्तमें हठी मन सूरका गुलाम बन गया । अब तो वह कृष्ण-चरणको छोड़कर कहीं हटता ही नहीं । सूर तंबूरेपर मस्त होकर गाते हैं—

मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै ।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै।
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यौं करील-फल भावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै।

तुलसीदासजी रामकृपासे इन्द्रिय-मनके चक्करसे छूटकर कहते हैं—

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
रामकृपाँ भवनिसा सिरानी, जागें फिरि न डसैहौं॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यौ इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥

अतः हे महत्त्वाकाङ्क्षियो! तुम जैसे भी हो, वैसे मन तथा इन्द्रियोंको अवश्य साधो। चूँकि तुम्हारे शत्रु हठी हैं, इसलिये तुम इन्हें हठसे ही साध सकोगे। ज्ञान और तर्क वृथा हैं मन एवं इन्द्रियोंके सामने। ज्यों ही तुम्हारे शत्रु रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शके लिये आकुल हों, तुम तत्क्षण राम-नामकी छड़ी लेकर प्रचुर प्रहार करने लगो। देखोगे, विजय तुम्हारी है। प्यारे! गाँठ बाँध लो। जहाँ भी जाओ, जब भी जाओ, राम-नामकी छड़ी कभी नहीं भूलना। इस भोगलोकमें मन एवं इन्द्रियोंके लिये हर जगह चारे हैं। अतः हर क्षण सावधान रहो। आप सड़कपर चलते हैं। हजारों युवतियाँ सेंट, क्रीमसे लिपी-पुती, जूड़ेमें फूल खोंसकर चलती हैं। नाकोंको गन्ध मिलता है। वह आँखोंसे कहता है—'अरी! जरा रूप तो पी ले इस अप्सराका।' खबरदार! यदि आँखें उठायीं आपने। राम-नामका जप प्रारम्भ कीजिये। फिर आप कहाँ हैं, रूपसी कहाँ है।

आप सड़कपर आगे बढ़ते हैं। किसीका कोकिल कण्ठ कानोंसे टकराता है। मन आँखोंसे कहता है—'री! यह कौन स्वर्गकी परी है? आँखोंमें बिठा ले न इस जादूगरनीको?' खबरदार! यदि आँखें उठायीं आपने।

भाई! अपने अज्ञानी एवं हठी मन तथा इन्द्रियोंको इसी प्रकार हठसे पराजित करना होगा। और कोई चारा नहीं। हाँ, आपके शत्रु केवल हठी ही नहीं, अज्ञानी भी हैं। आँखोंके अज्ञानके कारण ही तो परवाना शमापर जलकर मर जाता है। अज्ञानी परवाने! एक बार जलते हो तो फिर दूसरी बार क्यों जाते हो उसके निकट? मछली! तू भी रस-मोहके अज्ञानमें वृथा क्यों जान गँवाती है? और अज्ञानी मानव! तू! तू तो पाँचों इन्द्रियोंका दास है। अरे! अपने रामको छोड़कर परायी स्त्रीके हाड़से लिपटता है? छिः-छिः। कभी मिला भी है कुछ? अभी भी हट जा रे, पामर!

प्यारे! अपने विषयासक्त मन एवं इन्द्रियोंसे सतत सावधान रहें, आप इसपर राम-नामरूपी अस्त्रका प्रहार करते रहें।

फिर तो आप भी तुलसीकी भाँति ही गा उठेंगे—

सिय-राम-सरूपु, अगाध अनूप बिलोचन मीननको जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिएँ पुनि रामहिको थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को बलु है।
सबकी न कहै, तुलसीके मतें इतनो जग जीवनको फलु है॥
(कविता० उत्तर० ३७)

अन्तमें हम सबोंको उस परमपिता परमेश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये कि 'जब तुम हमारे पिता हो तो अपने पुत्रसे जन्मभर ओझल ही मत रहना। मंजिल तो तुम्हारी बहुत दूर है—कोई बात नहीं; किंतु हे पिता! जब धैर्य टूटे तो धैर्य बँधा देना। और एक निहोरा पिता! जब जीवनके अन्तिम क्षणतक भी तुम्हारी मंजिलतक नहीं पहुँच सकूँ तो जरा तुम ही चले आना न!'

जब पाण्डव हार गये !

(लेखक—श्रीउपेन्द्रनाथ राय एम्० ए०, शास्त्री)

महाभारत-युद्धको समाप्त हुए बहुत दिन हो गये। भीष्म आज भी बाणोंकी सेजपर पड़े हुए हैं मृत्युके लिये उपयुक्त क्षणकी प्रतीक्षामें। पाण्डव नित्य उनकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उनसे नीति और धर्मकी बातें सुनते हैं, अपनी शङ्काओंका समाधान प्राप्त करते हैं और अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। पितामह इन शक्तिशाली, विजेता पाण्डवोंको देखते हैं और समयकी गतिपर विचार करते हुए मौन रह जाते हैं।

आज पितामहने बातचीतके बीच पूछा—'युधिष्ठिर! तुम्हें और कोई शङ्का तो नहीं? मेरी बातें समझ चुके हो न?'

'हाँ पितामह! आपकी कृपासे मैं कृतार्थ हो गया। मुझे अब इस समय कोई शङ्का नहीं है। वैसे धर्मका तत्त्व गूढ़ है और मेरी बुद्धि बहुत साधारण, तुच्छ!' युधिष्ठिरने कहा। भीष्मके अधरोंपर एक हलकी-सी मुस्कान न जाने क्यों बिखर गयी। वे कुछ देर एकदम शान्त रहे।

कुछ देर बाद पितामहके होठ धीरे-धीरे हिले, 'युधिष्ठिर! मुझे संतोष है कि मेरी सभी इच्छाएँ पूरी हो गयीं। मेरा कर्तव्य भी पूरा हुआ। अब मैं इस दुनियासे बिदा ले रहा हूँ। मेरी एक अन्तिम इच्छा है। पूरी करोगे?'

'क्यों नहीं, पितामह?'

'तो सुनो। मेरा अन्तिम संस्कार ऐसे स्थानपर करना, जहाँ कभी कोई जलाया न गया हो। समझे?'

'हाँ पितामह! अवश्य।'

भीष्मने एक दृष्टि पाण्डवोंपर डाली। उनके होठोंपर एक गहरी मुस्कान चमक गयी और उनकी आँखें सदाके लिये बंद हो गयीं।

× × ×

पाण्डव खोज करते-करते थक गये। चारों ओर चारों भाइयोंको युधिष्ठिरने पता लगानेको भेजा, पर खोज सफल न हुई। कोई स्थान ऐसा न मिल रहा था, जहाँ उनकी जानकारीमें कभी-न-कभी कोई जलाया-दफनाया न गया हो। प्रायः निराश हो चले थे कि युधिष्ठिरकी निगाह एक अतिवृद्ध कृषकपर पड़ी।

'बाबा, क्या आपको कोई स्थान मालूम है, जहाँ कोई मुर्दा कभी जलाया न गया हो?'

'हाँ, एक पहाड़ी है जहाँ जितने समयसे मैं जानता हूँ कभी कोई जलाया-दफनाया नहीं गया।'

युधिष्ठिर प्रसन्न हो गये—'अर्जुन! तैयारियाँ करो। अन्ततः हमारी खोज सफल रही।'

पितामहका शव पहाड़ीपर पाण्डव सम्मानपूर्वक ले गये।

अन्तिम संस्कारका उपक्रम आरम्भ हुआ। एकाएक पाण्डव चौंक पड़े। आकाशवाणी हो रही थी—

अत्र भीष्मशतं दग्धं पाण्डवानां शतत्रयम्।
द्रोणाचार्यसहस्रं च कर्णसंख्या न विद्यते॥

सभी चकित थे। क्षणभर सभी शान्त और निश्चेष्ट रहे। अन्ततः भीमने मौन भङ्ग किया—'तो आर्य, हमारी खोज व्यर्थ रही!' माद्रीपुत्रोंने एक साथ कहा—'तो पितामहकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी!' और अर्जुन? अर्जुन पूछ रहे थे—'आखिर निःस्पृह पितामहने ऐसी असाधारण इच्छा ही क्यों की?'

युधिष्ठिर मुस्करा पड़े। 'हमारे पितामह वास्तवमें महान् थे। उनका ज्ञान असाधारण था। उन्होंने हमें बहुत कुछ शिक्षा दी, पर हम उसे समझ नहीं सके थे। इसीलिये उन्होंने हमें अन्तिम और सबसे बड़ी शिक्षा दी।'

'सो क्या?' अर्जुनने कहा।

'अर्जुन! तुम्हें अपने हस्तकौशलका गर्व था, भीमको अपनी भुजाओंका और माद्रीपुत्रोंको अपने गुणोंका।

मैं भी धोखेमें था कि मैं ज्ञानी हूँ । कौरवोंको महायुद्धमें नष्ट कर डालनेसे उत्पन्न हमारा दर्प कैसे रुकता ? आज उसे पितामहने चकनाचूर कर दिया । महान् त्यागी भीष्मको क्या इच्छा हो सकती थी ? नश्वर देहके लिये, वह भी मृत शरीरके लिये वे क्यों चिन्ता करते ? वे जो कुछ बताना चाहते थे, जो कुछ उनकी सारी शिक्षाका निचोड़ है, वह इस आकाशवाणीमें आ गया है । अर्जुन ! अब तुम शायद मेरा आशय समझ गये होगे ।' युधिष्ठिरने कहा ।

'हाँ, आकाशवाणीने हमें बताया है कि इस पहाड़ीपर ही, जिसपर हम समझते थे कि कभी कोई जलाया-दफनाया नहीं गया, सौ भीष्म जलाये गये हैं, तीन सौ पाण्डव जलाये गये हैं, एक हजार द्रोणाचार्य जलाये गये हैं और कितने कर्ण ? उसकी गिनती ही नहीं ।' अर्जुनने कहा ।

'ओफ, तो संसारमें कोई भी स्थान ऐसा नहीं, जहाँ कभी कोई मरा न हो या दफन न किया गया हो ! हमारे-जैसे और हमसे भी बढ़कर बलवानोंका यहीं अन्त हुआ ।' भीम बोल उठा ।

'हाँ, परंतु कैसे निराले ढंगसे पितामहने शिक्षा दी !' नकुल कह पड़ा ।

'पाण्डुपुत्रोंको महात्मा भीष्मने बिना शस्त्रोंके ही परास्त कर दिया ।' सहदेवका मत था ।

और वास्तवमें महान् विजेता पाण्डव अपने बूढ़े पितामहसे हार गये थे, किंतु अपनी इस हारपर उन्हें हर्ष था !

(एक प्राचीन कथानकके आधारपर)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सद्व्यवहारका सुपरिणाम

हरजीवनदास और गोविन्ददास दो भाई थे । दोनों ही विवाहित थे । छोटा भाई कुछ भोला था । बड़ा भाई उसके साथ बड़े प्रेमका बर्ताव करता, पर कभी-कभी खीझ भी जाता । छोटे भाईकी स्त्री अपने पतिका अपमान देखकर दुखी तो होती, पर कुछ बोलती नहीं । अपने पतिके भोलेपनपर उसका मन उदास रहता । उसकी जेठानीका स्वभाव इतना अच्छा था कि वह अपने पतिको समय-समयपर नम्रतासे समझाया करती कि 'भाई भोला है तो क्या, है तो भाई ही न । आप उसपर नाराज न हुआ करें ।' हरजीवनदास अपनी पत्नीके सद्भावपर मुस्करा देता ।

एक दिन हरजीवनदास चार हीरेके कड़े लेकर आया—दो अपनी स्त्रीके लिये और दो छोटे भाईकी स्त्रीके लिये । उसने लाकर छोटे भाई गोविन्ददासको दो कड़े दे दिये और कहा—'अपनी पत्नीको दे देना ।' उस दिन गोविन्ददास कुछ खीझमें था । इसलिये वह उन दोनों कड़ोंको फेंककर बोला—'या तो चारों कड़े लूँगा या एक भी नहीं ।' बड़े भाईने प्रेमसे समझाया, पर वह समझा नहीं । तब बड़े भाईने जरा खीझकर कहा तो उसने उससे भी अधिक खोटी-खरी कही । हरजीवनदासके मुँहसे अकस्मात् निकल गया कि 'इस तरह तुम्हारी शरारत नहीं चलेगी, अलग हो जाओ ।' गोविन्ददासकी पत्नीको अपने स्वामीके व्यवहारपर दुःख हो रहा था, पर अब जेठके मुँहसे अलग हो जानेकी बात सुनकर उसे अलग होनेकी जँच गयी । उसकी जेठानी हरजीवनदासकी पत्नी छतपर रसोईघरमें थी । उसे इन सब बातोंका कुछ पता ही नहीं था । गोविन्ददासकी पत्नी रोती हुई अपनी जेठानीके पास गयी और रोते-रोते बोली—'जेठजीने आज्ञा दे दी है । मैं आपकी आज्ञा लेने आयी हूँ । हमलोग जा रहे हैं ।' वह सुनते ही हक्की-बक्की रह गयी । उसने नीचे आकर सब बातोंका पता लगाया और फिर उसने रोकर

अपने पतिके पैर पकड़ लिये और कहा—'आप गोविन्ददास और उसकी पत्नीको अलग कर रहे हैं तो मुझे भी उनके साथ जाने दीजिये। मेरे कोई संतान नहीं है। मैंने छोटे-से देवर गोविन्ददासको अपने पेटके बच्चेकी तरह पाला-पोसा है। इसकी बहूको मैं अपनी बेटी मानती हूँ। मैं इनसे अलग नहीं रह सकती। आप हमलोगोंको अलग भेजकर अकेले कैसे रह सकेंगे? आप अपने इस भोले छोटे भाईको चारों कड़े दे देते तो क्या बिगड़ता। आखिर सभी सम्पत्ति है तो इन्हींकी न। फिर भेदभाव क्यों? मैं जानती हूँ—आपका हृदय भाईके प्रति स्नेहसे भरा है; पर आपका यह भोला भाई बड़े ही स्नेहसे पाला-पोसा गया है, यह आपकी स्नेहभरी खीझको न समझ सकता है और न सहन कर सकता है। इसे हृदयसे लगाइये और सबको सुखी कीजिये।'

हरजीवनदासका हृदय तो अच्छा था ही। पत्नीके इन शब्दोंने बड़ा अच्छा असर किया। उसने उठकर तुरंत छोटे भाईको हृदयसे लगा लिया। वह खीझता और बकता रहा। पर हरजीवनदास रोता और उसे पुचकारता रहा। गोविन्ददासका हृदय भी पलट गया। उस दिनसे घरमें सर्वत्र स्नेहकी सरिता बहने लगी। हरजीवनदासकी पत्नी यदि अपने पतिकी क्रोधाग्निमें जरा-सी आहुति डाल देती तो सारा घर भस्म हो जाता। पर उसने अपने हृदयके अमृतरसको आँसुओंकी धाराके रूपमें बहाकर उनके द्वारा बढ़ती हुई आगको सदाके लिये शान्त कर दिया। धन्य!

—श्रीदलपतराम नटवरलाल

(२)

चेचकके प्रकोपसे बालकोंकी रक्षाका उपाय

संवत् २०१५ की बात है। चैत्रशुक्ला रामनवमीसे चैत्रशुक्ला पूर्णिमातक भासू (जि० टोंक, राजस्थान) ग्राममें विश्वकल्याणार्थ 'विष्णुयाग' हुआ था। यह यज्ञ भासूकी जनताकी ओरसे किया गया था। इस यज्ञको करानेके लिये काशीके सुप्रसिद्ध विद्वान् याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी गौड़ वेदाचार्य आचार्यरूपमें पधारे थे। वेदाचार्यजी यज्ञ प्रारम्भ होनेके दो दिन पूर्व भासू पधार गये थे। हम लोगोंने वेदाचार्यजीसे निवेदन किया कि 'इधर आठ-दस दिनोंसे अचानक भासू तथा भासूके आस-पासके बीस-पचीस मीलतकके ग्रामोंमें चेचक (शीतला माता) का भयंकर प्रकोप हो गया है, जिससे भासू-जैसे छोटे-से ग्राममें प्रतिदिन एक माससे लेकर बारह वर्षतकके छोटे-छोटे बालक पचासकी संख्यातक मृत्युको प्राप्त हो रहे हैं। अतः यज्ञके प्रति हम लोगोंका जो उत्साह था, वह नष्ट हो गया और हमलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं; समझमें नहीं आता, क्या करें।'

वेदाचार्यजीने बड़ी दृढ़तासे कहा—'यज्ञ प्रारम्भ होनेमें अभी दो दिन बाकी है, इसके पूर्व ही मैं रात्रिमें एक ऐसा अनुष्ठान करा देता हूँ, जिससे निश्चित ही चेचक (शीतला माता) का प्रकोप शान्त हो जायगा और बालकोंकी रक्षा होगी।' वेदाचार्यजीके कथनानुसार हमलोग अनुष्ठान करानेके लिये संनद्ध हो गये और हमलोगोंने पूजनादिकी सारी सामग्रीकी व्यवस्था कर दी। पश्चात् वेदाचार्यजीने भासू ग्रामके मध्यमें चौराहेपर रात्रिमें ८ से १०.तक गणपत्यादिका पूजन कराकर दो विद्वान् अनुष्ठानी ब्राह्मणोंको अलग-अलग अनुष्ठान करनेके लिये नियुक्त कर दिया और उनसे इस बातपर विशेष जोर दिया कि 'दीपक जलाकर रात्रिभर एक आसनसे अनुष्ठान पूर्ण करना चाहिये। अन्यथा अनुष्ठानका फल नहीं होगा।' वेदाचार्यजीके आज्ञानुसार दोनों ब्राह्मणोंने सविधि अनुष्ठान रात्रिभर किया। प्रातःकाल होते ही श्रीवेदाचार्यजीके बतलाये हुए अनुष्ठानका तत्काल

प्रत्यक्ष चमत्कार दिखायी दिया; जहाँ प्रतिदिन पचास तककी संख्यामें बालकोंकी मृत्यु होती थी, वहाँ अनुष्ठानके बाद प्रथम दिन केवल एक ही बालककी मृत्यु हुई, जो कई दिन पूर्वसे चेचककी बीमारीसे ग्रस्त था । दूसरे दिनसे चेचकके कारण किसी भी बालककी मृत्यु होनेका समाचार सुनायी नहीं दिया । श्रीवेदाचार्यजीके चमत्कारपूर्ण अनुष्ठानका प्रभाव केवल भासूमें ही नहीं, किंतु भासूके आस-पासके ग्रामोंमें भी पड़ा, जिस कारण सर्वत्र बालकोंकी सुरक्षा हुई । वेदाचार्यजीके चमत्कारपूर्ण अनुष्ठानकी चर्चा दूर-दूरतक फैल गयी । आज भी समय-समयपर वेदाचार्यजीके अनुष्ठानकी प्रशंसा धार्मिकवर्ग किया करते हैं ।

चेचककी बीमारी शान्त हो जानेके कारण भासूके निवासियोंकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा । वे सभी लोग अत्यन्त उत्साहके साथ अपने पूर्वसंकल्पित 'विष्णुयाग' की तैयारीमें लग गये । भगवत्कृपासे यज्ञ भी बड़े आनन्दके साथ परिपूर्ण हुआ । यज्ञकी समाप्तिके बाद जब वेदाचार्यजी काशी जानेके लिये तैयार हुए तब मैंने उनसे श्रद्धापूर्वक पूछा कि 'महाराजजी ! काशी जानेके पूर्व आप कृपाकर अपने उस अनुष्ठानको बतला दीजिये, जिससे बालकोंकी रक्षा हुई ।' श्रीवेदाचार्यजीने कहा—मैंने एक ब्राह्मणसे दुर्गाके—

बालग्रहाभिभूतानां बालानां शान्तिकारकम् ।
संघातभेदे च नृणां मैत्रीकरणमुत्तमम् ॥

—इस मन्त्रद्वारा दुर्गाका सम्पुटित पाठ कराया था और दूसरे ब्राह्मणसे शीतलाष्टकके—

शीतले त्वं जगन्माता शीतले त्वं जगत्पिता ।
शीतले त्वं जगद्धात्री शीतलायै नमो नमः ॥

—इस मन्त्रद्वारा दुर्गाका सम्पुटित पाठ कराया था । इन दोनों महमन्त्रोंकी शक्ति अपूर्व है । इन दोनों मन्त्रोंके द्वारा दुर्गाका सम्पुटित पाठ करनेसे चेचक (शीतला माता) का भयंकरसे भयंकर प्रकोप तत्काल दूर हो जाता है और बालकोंकी अकाल मृत्युसे निश्चित ही रक्षा होती है ।

वेदाचार्यजीके बतलाये हुए तात्कालिक लाभप्रद अनुष्ठानके प्रत्यक्ष चमत्कारको देखकर मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि चेचक (शीतला) की बीमारीको शान्त करनेके लिये वेदाचार्यजीके द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठानको यदि श्रद्धा और विश्वासके साथ किया जाय तो अवश्य ही लाभ हो सकता है—'श्रद्धया सत्यमाप्यते ।'

यह सत्य घटना 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंके कल्याणार्थ प्रेषित है । कोई भी सज्जन चेचककी बीमारीको शान्त करनेके लिये उपर्युक्त लोकोपकारक अनुष्ठानका सदुपयोग कर सकते हैं ।

—बजरंगप्रसाद शर्मा, भासू (जि० टोंक)

(३)

सुवास रह गयी

तब मैं विवाह होनेपर पहले-पहल ही ससुराल आयी थी । छोटी-सी बहूको घरमें इधर-उधर फिरते देखकर बड़ोंकी आँखें शीतल होतीं और मेरे आनन्दोल्लासका पार नहीं रहता । स्वर्ग मेरा घर ही था । इतना होनेपर भी नववधूके आनन्दके पीछे नये लोगोंका और नये घरका डर मुझे खूब सताता । काम करते समय सदा यह लगता— कहीं भूल तो नहीं हो गयी ?

बड़ी गर्मीका दिन था । पास ही भड़-भड़ जलती हुई सिगड़ी रक्खी थी । गरम-गरम रोटियाँ बनाकर मैं सबको परस रही थी । पास रक्खी कटोरीमें घी खतम

हो गया था। मैं बहुत उतावलीमें हाथ धोकर घी लेने गयी। आलमारीमेंसे घीका काँचका भाँड़ निकालकर जमीनपर रखने लगी तो मेरे गीले हाथोंमेंसे वह चिकना भाँड़ जमीनपर गिर पड़ा।

'हाय रे!'—छाती धोंकनी-सी धोंकने लगी और घी बहने लगा। भाँड़के फूटनेकी आवाज सुनकर मेरी सासजी पूजाघरसे बाहर आयीं और उन्होंने वस्तुस्थितिका परिचय प्राप्त किया। पास आकर मेरी पीठपर हाथ फिराते हुए उन्होंने कहा—'बहू बेटा! घबरा मत। जा शान्तिसे बैठ, मैं सब साफ किये देती हूँ।'

सहानुभूति और प्रेमभरी वाणीने मेरे हृदयमें एक ऐसा उत्पात मचाया कि मेरी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली मानो मैंने बहुत बड़ा अपराध किया हो। मैं अपने कमरेमें जाकर सिसक-सिसककर रोने लगी।

सब सफाई हो गयी। काँच चुन लिये गये, जगह धो दी गयी और जैसे कुछ हुआ ही न हो, ऐसे घरमें सब कामकाज चलता रहा। किसीने, कभी किसी बातपर भी इस घटनाका इशारा करके मुझे नीचा दिखाने अथवा अपने महत्ता-प्रदर्शनका कोई प्रयत्न नहीं किया। घी तो बह गया, पर उसकी सुवास रह गयी।

इस बातको वर्षों बीत गये। मैं अब बहू न रहकर सास बन गयी हूँ, पर कैसी? इसे तो मेरी बहू ही बता सकती है।

—श्रीमती सुभद्रा मारफतिया

(४)

उस हाथ दे, इस हाथ ले

घटना लगभग ५ वर्ष पुरानी है। मेरा घर जिला मेरठ, उत्तर प्रदेशमें है। मैं अवकाश लेकर ग्रीष्मावकाशमें घर गया हुआ था। वहाँपर श्रीउजागरमलजीने मेरे सामने अपनी आँखों-देखी घटनाका वर्णन किया। घटना उन्हींके शब्दोंमें इस प्रकार है—

एक बार मुझे शामली जानेका अवसर प्राप्त हुआ। यहाँके लिये देहलीसे सहारनपुरतक बसें जाती हैं। वैसे तो गाड़ी भी जाती है, परंतु मैंने बससे जाना ही अधिक अच्छा समझा। बस जब शामली बसस्टैंडपर खड़ी हुई तो वहाँ एक खरगोशका पीछा कुत्तेको करते पाया गया। वह बेचारा खरगोश कुत्तेके भयसे एक झाड़ीमें छिप गया। इस दृश्यको ड्राइवर तथा अन्य यात्रियोंने भी देखा। यात्रियोंने कहा कि भगवान्‌ने बच्चेको बचा लिया। इतना कहनेसे सरदार ड्राइवरको क्रोध आ गया और वह कहने लगा कि 'अभी तो भगवान्‌ने बचाया; अब देखें कौन-सा भगवान् इसकी रक्षा करता है।' इतना कहते हुए वह झाड़ीमेंसे बच्चेको पकड़ लाया और कृपाणसे मारने लगा। यात्रियोंने मना किया और मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण किया, परंतु जैसे ही उसने कृपाण बच्चेपर चलानी चाही कि भगवत्-कृपासे बच्चा हाथसे छूट गया और अपनी ही कृपाणसे उस ड्राइवरका अपना ही हाथ कट गया। वह खरगोश भाग चुका था। सभीको खुशी हुई और कहना पड़ा कि मारनेवालेसे बचानेवाला महान् है। उस ड्राइवरको अस्पताल ले जाया गया; परंतु देर हो जानेसे खून इतना बह गया था कि उसके दो-तीन घंटेमें ही प्राण-पखेरू उड़ गये। उस हाथ दे, इस हाथ ले।

डॉ० रामकृष्ण अग्रवाल ए० एम्०, बी० एस्०

The Kalyana-Kalpataru

(An Illustrated monthly magazine)

77 Old monthly issues for sale at a highly reduced price of Rs. 10.00 only.

(Delivery free by registered Post)

VOL. 1	Issues Nos. 2	to	12	PRICE 13 nP.	each
VOL. 12	,, Nos. 2	to	12	,, 13 nP.	,,
VOL. 13	,, Nos. 2	to	12	,, 13 nP.	,,
VOL. 14	,, Nos. 2	to	12	,, 13 nP.	,,
VOL. 21	,, Nos. 1	to	3	,, 13 nP.	,,
VOL. 22	,, Nos. 1	to	11	,, 13 nP.	,,
VOL. 23	,, Nos. 3	to	10	,, 13 nP.	,,
VOL. 26	,, Nos. 1	to	11	,, 13 nP.	,,
	Total Copies 77			Total Price Rs. 10.00	

OLD SPECIAL NUMBERS STILL AVAILABLE

1. The Gitā-Tattva Numbers— I, II and III (Complete)	unbound	Price Rs. 7.50 nP.
2. The Bhāgavata Numbers—I, II, III, IV, V, VI (An English translation with the original Sanskrit text of the complete Bhāgavata from Skandhas I to XII with Māhātmya @ Rs. 2.50nP. each)	,,	Rs. 15.62 nP.
3. The Vālmīki-Rāmāyaṇa Numbers—I, II, III (An English translation with original Sanskrit text of Bālakāṇḍa and Ayodhyākāṇḍa up to Canto Eighty-eight of the Vālmīki-Rāmāyaṇa)	,,	Rs. 7.50 nP.

MANAGER,
KALYANA-KALPATARU
P.O. Gita Press (Gorakhpur)

सूचना

'कल्याण' एवं 'कल्पतरु'के सभी ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन है कि वे साधारण एवं आजीवन सदस्योंके चंदे, पुराने अङ्कोंके मूल्य आदिकी जो भी रकम बैंकके ड्राफ्ट, चेक, पे आर्डर आदिके द्वारा भेजें वह 'मैनेजर, कल्याण'के नामसे न भेजकर 'मैनेजर, गीताप्रेस'के नामसे ही भेजें; क्योंकि हमारा बैंक एकाउन्ट गीताप्रेसके नामसे है, 'मैनेजर, कल्याण'के नामसे नहीं। जो रकम मनीआर्डरसे भेजी जाय, वह सदाकी तरह 'मैनेजर, कल्याण'के नामसे ही भेजें।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६ रु० ५० नये साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य ।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है । इसमें वेद, उप महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार सदाचार, आहार-विवेक, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख

इसके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं ।

२—संतवाणी-अङ्क

पृष्ठ-सं० ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्यय ७ रु० ५० नये पैसे ।

३—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और रेखाचित्र । डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे ।

देशभरके चुने हुए महात्माओं और विद्वानों तथा विदेशी महानुभावोंके मानवतासम्बन्धी सद्विचारोंसे सम्पन्न और सबके द्वारा प्रशंसित ।

४—संक्षिप्त-शिवपुराणाङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र सुन्दर बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८, कुल मूल्य रु० ७.५० (डाकखर्चसहित) भेजकर रजिस्ट्रीसे मँगवा लें अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरख

एक करोड़ रामचरितमानस-पाठ

आगामी वि० सं० २०३० में गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीरचित श्रीरामचरितमानसके चार सौ पूरे होते हैं। इस सुअवसरपर एक विशाल धार्मिक और साहित्यिक समारोह मनानेकी योजना दरीबा, के अखिल भारतीय श्रीसनातनधर्ममहामण्डलने बनायी है और इस बीचके दस वर्षोंमें श्रीरामचरितमा एक करोड़ पाठ करने-करानेका प्रस्ताव किया है। प्रतिवर्ष दस लाख मानस-पाठ होनेसे दस वर्षोंमें एक पाठ पूरे हो सकते हैं। यह महान् मङ्गलमय, सर्वविश्वहितकारी और लोक-परलोक-कल्याणकारी परम अनुष्ठान है।

अतः 'कल्याण'के लाखों-लाखों पाठक-पाठिकाओंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे इस मङ्गलमय स्वयं सक्रिय सहयोग देने और दूसरे अधिक-से-अधिक लोगोंको प्रेरणा देनेकी कृपा करें, जिससे सब पूर्ण उत्साहके साथ श्रीरामचरितमानसका नवाह्न-पारायण, मासपारायण, एक दिनका अखण्डपाठ, पारायण, त्रैमासिक पारायण आदि किसी भी रूपमें पाठ करना आरम्भ कर दें और संख्यासहित पाठ सूचना नीचे लिखे पतेपर अवश्य भिजवा दें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—

श्रीरामचरितमानस-कोटि-पाठ-अनु

गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

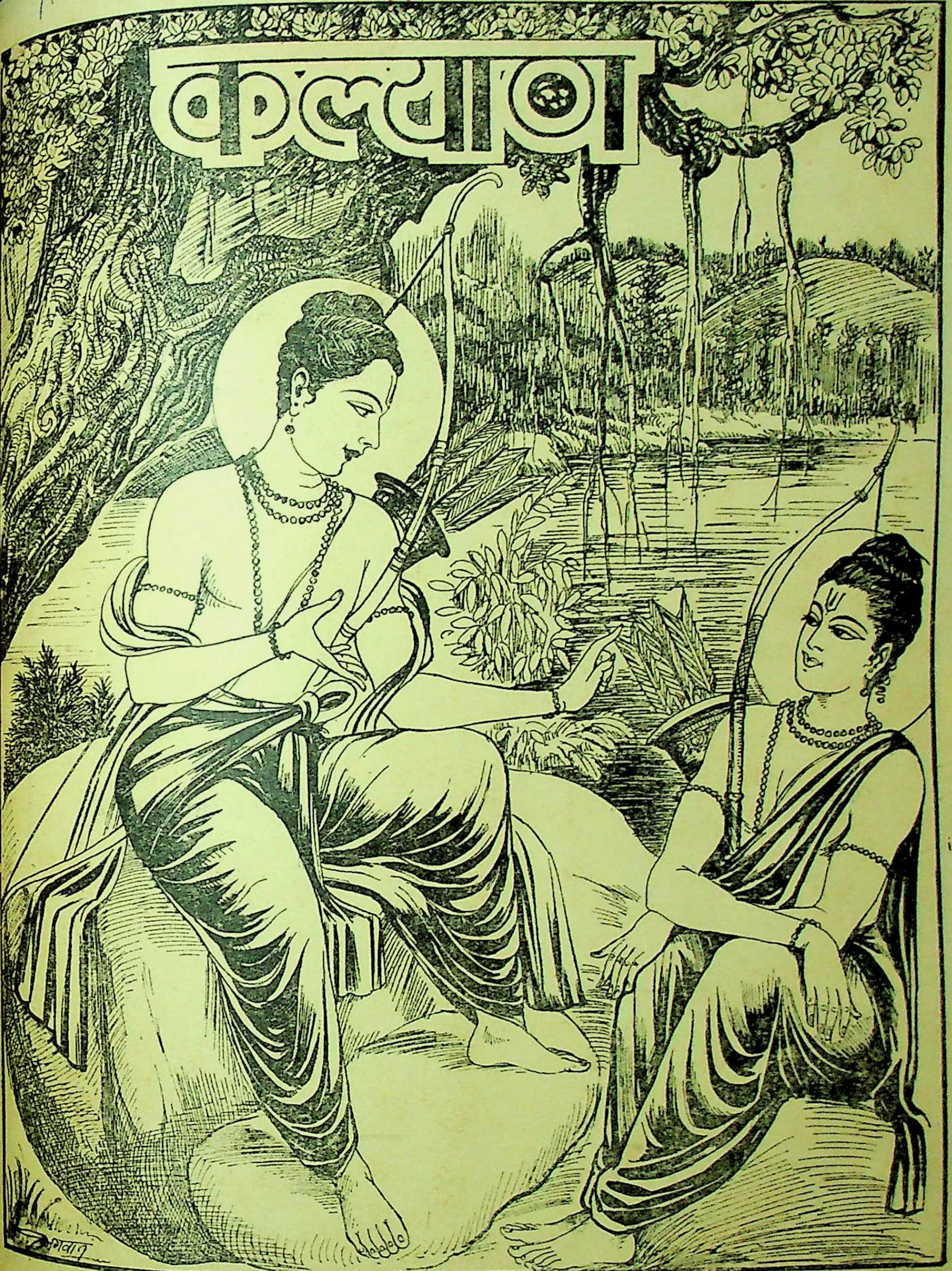

वर्ष ३७]　　*　　*　　*　　*　　[अङ्क ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०२०, सितम्बर १९६३

विषय पृष्ठ-संख्या

१–प्रलय-नृत्य [कविता] … ११३१

२–कल्याण ('शिव') … ११३२

३–शरीर-मीमांसा (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) … ११३३

४–पुराणोक्त धर्म-वंशका रहस्य (सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) … ११३७

५–सब अनर्थोंके मूलभूत राग-द्वेषके नाशके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ११४१

६–त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ) ११४८

७–स्वयंके अतिरिक्त (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') … … ११५०

८–श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी (भाद्रपद-कृष्णाष्टमीके महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन) … ११५१

विषय पृष्ठ-संख्या

९–विपत्तिको पराजित करनेकी रीतियाँ (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … ११५५

१०–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) … ११५८

११–किसने पुकारा ! (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') … ११६४

१२–रामचरितमानसमें नारीका स्थान (आचार्य पं० श्रीकेदारनाथजी मिश्र, एम्० ए०, एल्० टी०) … ११६९

१३–श्रीश्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सव (श्रीराधा-जन्माष्टमी (सं० २०२०) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके गोरखपुरमें प्रवचन) … ११७४

१४–धर्म, सम्प्रदाय, सदाचार और ईश्वर (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … ११८४

१५–परम योग [कहानी] (श्री 'चक्र') ११८७

१६–खान-पानमें भयानक अशुद्धि … ११८९

१७–पढ़ो, समझो और करो … ११९१

चित्र-सूची

१–लक्ष्मणके प्रति रामका उपदेश … … (रेखाचित्र) … मुखपृष्ठ

२–प्रलय-नृत्य … … (तिरंगा) … ११३१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५१
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

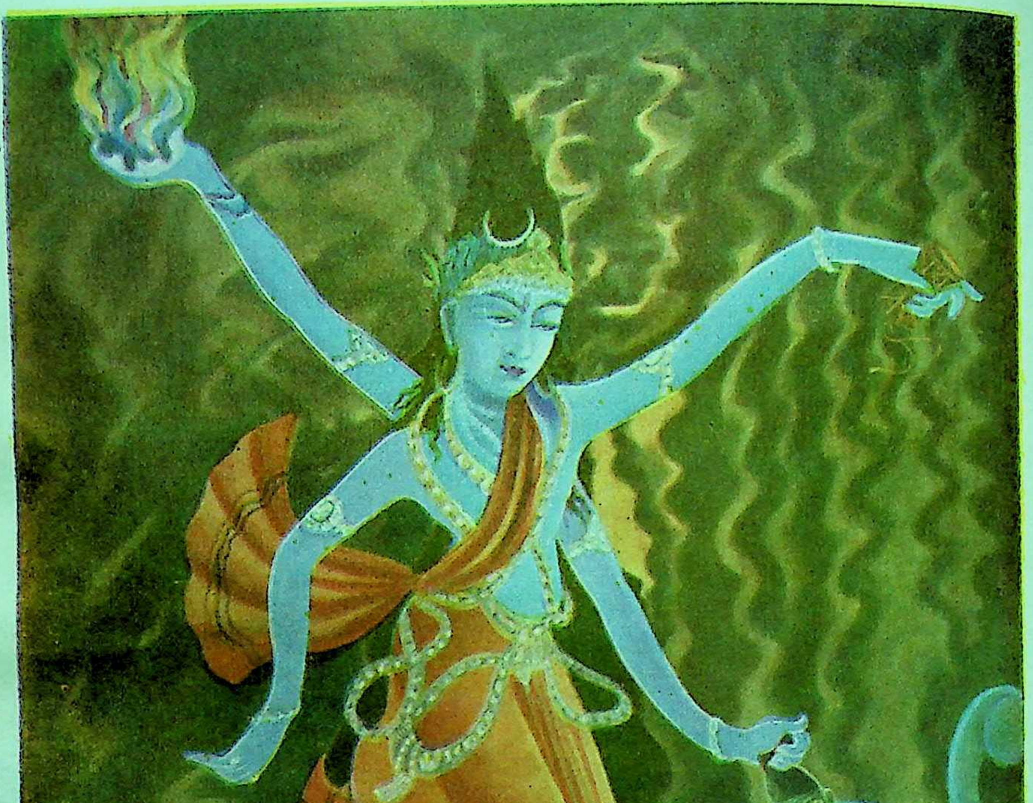

प्रलय-नृत्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

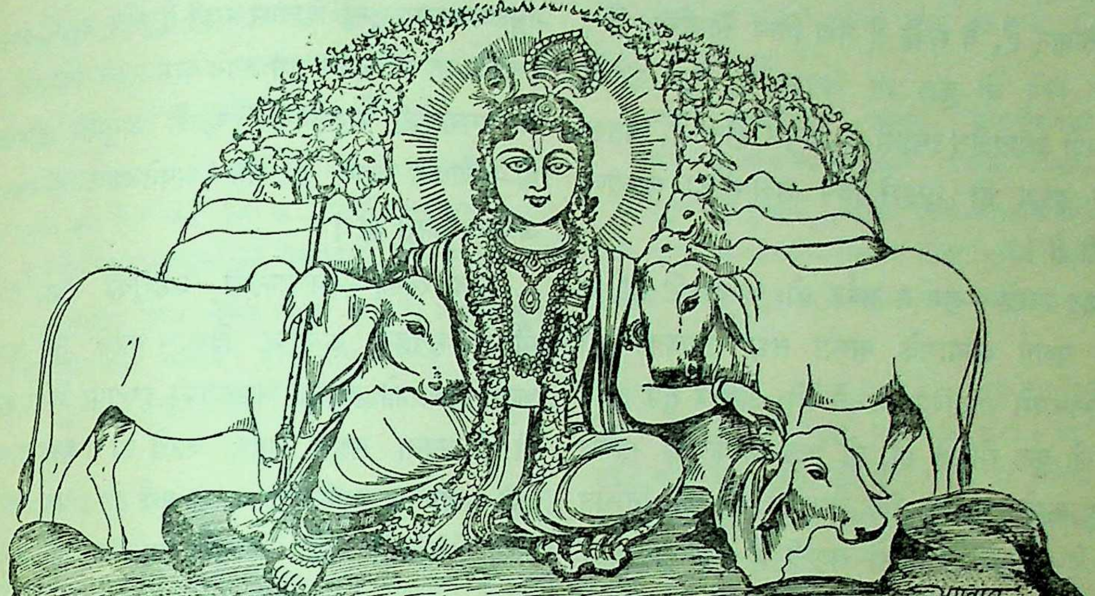

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ गोरखपुर, सौर आश्विन २०२०, सितम्बर १९६३ संख्या ९ पूर्ण संख्या ४४२

प्रलय-नृत्य

काम-भोग-पर केवल जब हो जाता मानव ।
मानवता खो, वह बन जाता पूरा दानव ।
अर्थ और अधिकार-कामना उठती नव-नव ।
लोभ-क्रोध-प्रदाह, शान्ति पाता न कभी लव ॥
हिंसा-वैर-विरोध-रत, जग हो जाता पापमय ।
करते तब शिव रुद्र बन 'प्रलयनृत्य' संहारमय ॥

याद रक्खो—भगवान् मङ्गलमय हैं, उनका प्रेम अहैतुक है, उनकी दया सहज सर्वत्रव्यापिनी है, वे सर्वशक्तिमान् हैं, वे सर्वज्ञ हैं तथा नित्य निर्भ्रान्त हैं। तुम्हारे लिये जो कुछ भी विधान है, सब उनकी मङ्गलमयी इच्छारहित इच्छासे ही सम्पन्न होता है, अतएव उनकी इच्छा ही तुम्हारे लिये सदा-सर्वदा कल्याण-कारिणी है।

याद रक्खो—तुम न सर्वज्ञ हो, न दूरदृष्टि हो, न अपने यथार्थ कल्याणके स्वरूप तथा साधनको ही निर्भ्रान्तरूपसे वास्तविक जानते हो; अतएव तुम अपने लिये जो कुछ सोचते हो, जो कुछ कल्याणका साधन निश्चय करते हो, वह ठीक वैसा ही है, यह निश्चित नहीं है। तुम्हारी भूल हो सकती है। हो सकता है तुम अपनी राग-द्वेषमयी अदूरदर्शिनी दृष्टिसे अहितको हित, अमङ्गलको मङ्गल, अकल्याणको कल्याण और असत्यको सत्य मानकर उसीकी इच्छा करके अपने ही हाथों अपना अनिष्ट कर लेते हो या करने लगते हो।

याद रक्खो—तुमसे भूल हो सकती है, भगवान्से नहीं; तुम भ्रमसे अपना अमङ्गल सोच या कर सकते हो, पर भगवान् कभी तुम्हारा अमङ्गल न सोच सकते हैं न कर सकते हैं। तुम किसी बातमें अपना हित समझकर भी सीमित-शक्ति होनेके कारण उसे नहीं कर सकते, पर असीमशक्ति भगवान्के लिये सभी कुछ सहज सम्भव है। तुम्हारी इच्छा बदल भी सकती है, पर भगवान्की मङ्गलमयी इच्छा नित्य है। अतएव तुमको यही चाहिये कि तुम सब प्रकारसे, सब ओरसे, सभी कार्योंमें अपने परम सुहृद् श्रीभगवान्की इच्छापर अपनेको छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ।

याद रक्खो—भगवान्की इच्छापर अपनेको न छोड़कर यदि तुम अपनी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार भगवान्से काम कराना चाहते हो या करते हो तो इससे सिद्ध होता है कि भगवान्की सर्वज्ञता, सौहार्द तथा मङ्गलमयतापर तुम्हें विश्वास नहीं है और अपनी स्वतन्त्र इच्छाका उपयोग करके तुम अपने परम मङ्गल परिणाममें—जो भगवान्की मङ्गलमयी इच्छाके अनुसार होनेवाला था—बाधक होते हो और अपने-आप ही अपना अमङ्गल करते हो।

याद रक्खो—भगवान्की अहैतुकी कृपा, प्रीति, सौहार्द, सर्वज्ञता आदिपर विश्वास करके तुम अपनी स्वतन्त्र इच्छाको छोड़कर भगवान्की इच्छापर निर्भर करते हो तो अपना सहज मङ्गल करते हो। अतएव सदा यही चाहो कि भगवान्की इच्छा पूर्ण हो। यह विश्वास रक्खो—देखनेमें कहीं भयानक या विनाशक होनेपर भी भगवान्की इच्छासे होनेवाला परिणाम, तुम्हें मिलनेवाला फल निश्चय ही तुम्हारे लिये परम कल्याणरूप होगा।

याद रक्खो—अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी फल तुम्हें प्राप्त होता है, वह भगवान्के मङ्गलविधानसे ही होता है। उसके विपरीत कभी इच्छा न करो, उसमें कभी असंतुष्ट मत होओ। वरं भगवान्का मङ्गल-प्रसाद समझकर उसे सिर चढ़ाओ। भगवान्से कभी कोई माँग करनी हो, कुछ चाहना हो तो बस, केवल यही माँगो, यही चाहो कि मङ्गलमय भगवन्! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम्हारी इच्छाके विपरीत मेरी कभी कोई इच्छा हो ही नहीं और कदाचित् कभी कुछ हो जाय तो उसे कभी पूरी मत करना।

याद रक्खो—भगवत्सेवाकी बुद्धिसे, भगवान् जब जैसी सद्बुद्धि दें, वैसा आचरण करो और फल केवल भगवान्की इच्छापर छोड़ दो। इससे तुम्हें सुख-शान्ति तो मिलेगी ही, भगवत्कृपासे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति भी हो जायगी। तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।

'शिव'

शरीर-मीमांसा

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

हम जानते हैं कि शरीरके भीतर चैतन्यस्वरूपमें परमात्मा ही रहते हैं। जीवभाव तो आगन्तुक है और भ्रम है। इस भ्रमको दूर करनेके लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है।

प्रश्न यह होता है कि 'ऐसी दशामें प्रत्यक्ष दीखनेवाला जन्म-मरण क्या है ? जीव विभिन्न योनियोंमें भटकता है, यह क्या है ? कर्मका शुभाशुभ फल भोगनेवाला कौन है ?'

इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके पहले शरीरके विषयमें कुछ बातें हमें जान लेनी चाहिये। शरीर तीन हैं—(१) स्थूल-शरीर, (२) सूक्ष्म-शरीर या लिङ्गदेह और (३) कारण-शरीर।

स्थूल-शरीर देहको कहते हैं, जो प्राण निकल जानेके बाद पड़ा रह जाता है और उसे यदि जलाया या गाड़ा न जाय तो वह सड़ने लगता है और नष्ट हो जाता है। यह पञ्च महाभूतोंका बना हुआ है। नष्ट होनेपर पृथ्वीका अंश पृथ्वीमें मिल जाता है, जलका अंश जलमें, तेजका अंश तेजमें, वायुका अंश वायुमें और आकाशका अंश आकाशमें मिल जाता है। यह शरीर भोगायतन कहलाता है। श्रीशंकराचार्यने इसकी इस प्रकारसे व्याख्या की है—

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसंचितम्।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते॥

अर्थात् यह स्थूल-शरीर पञ्च महाभूतोंके स्थूल अंशोंसे बना है और जीवको किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःख भोगनेके लिये एक निश्चित अवधिके लिये निवासके रूपमें मिला है। इस शरीरको यदि कोई प्राणी खा जाय तो खाया हुआ भाग विष्ठाके रूपमें निकल जाता है और शेष भाग नष्ट होकर अपने-अपने रूपमें मिल जाता है। यह शरीर क्षणभङ्गुर है अर्थात् क्षणभरमें इसका नाश हो जाता है, यानी प्रारब्धका भोग पूरा होनेपर तनिक भी अधिक समयतक नहीं टिक सकता।

मानव-शरीर ऐसा क्षणभङ्गुर है, तथापि यदि इसमें रहनेवाली सामग्रीका सदुपयोग किया जाय तो यह मुक्ति प्रदान करनेवाला भी है; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें ही मुक्तिकी साधना हो सकती है, दूसरे किसी भी शरीरमें नहीं हो सकती। देव-शरीरमें भी नहीं हो सकती, दूसरे शरीरकी तो बात ही क्या। ठीक ही कहा है—

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्यातुं तरी यावन्न भिद्यते॥

बहुत बड़े पुण्यके प्रभावसे दुःखरूप भवसागरसे तरनेके लिये ही यह कायारूपी—देहरूपी नौका तुमने प्राप्त की है। जबतक यह टूट-फूट नहीं जाती, उसके पहले ही भवसागरसे तर जा।

(३) तीसरा कारण-शरीर है। सूक्ष्म-शरीरकी बात बहुत लंबी है। वह पीछे आलोचित होगी। यह कारण-शरीर कोई शरीर-विशेष नहीं है। बल्कि यह संसार-चक्रको चलानेमें अर्थात् जीवको जन्म-मरणके फेरमें घुमानेका कारण है। इसी कारण इसको कारण-शरीर कहते हैं। यह कारण-शरीर भवबन्धनका कारण है, इसलिये कोई इसको अज्ञान या अहंकार भी कहते हैं। इसे अज्ञान कहना अधिक ठीक है, क्योंकि अहंकारकी उत्पत्ति भी अज्ञानसे ही होती है। अतएव अज्ञान—स्वरूपका अज्ञान कारण-शरीर है।

इस लेखमें 'जीव' शब्द विशेष अर्थमें व्यवहृत हुआ है। जीवका अर्थ है देहाध्यासयुक्त चेतन, अर्थात् वह चेतन जिसको देहाध्यास दृढ़ हो गया, जिसकी स्थिति शुद्ध-स्वरूपमें नहीं है। जबतक देहाध्यास है, तभीतक यह शरीर है। देहाध्यास छूट जानेके बाद जीव अपने शुद्धस्वरूपमें अर्थात् परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। उस समय शरीर-मीमांसाकी आवश्यकता नहीं होती।

(२) दूसरा सूक्ष्म-शरीर है। स्थूल-शरीर जैसे लोहा-लकड़ीके समान जड है, वैसे यह शरीर पूर्णतया जड नहीं तथा चैतन्यके समान स्वयं चेतन भी नहीं है, बल्कि मध्यभावी है। अर्थात् अति सूक्ष्म होनेके कारण चैतन्यका प्रकाश ग्रहणकर स्वयं चेतन होकर कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है। इसकी व्याख्या शंकराचार्यने इस प्रकार की है—

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्॥

पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और सोलहवें अन्तःकरणसे युक्त सोलह कलावाला सूक्ष्म-शरीर होता है।

यह बनावटमें सूक्ष्म होनेके कारण जीवको भोग भोगानेका साधन है। इसी कारण इसका नाम सूक्ष्म-शरीर पड़ा है। इसमें भी जो अन्तःकरण है, वह अति सूक्ष्म होनेके कारण आत्माका आभास ग्रहण करनेमें समर्थ है और इस प्रकार स्वयं चेतनवत् होकर क्रिया कर सकता है। अतः अब यह विचार करना है कि अन्तःकरण है क्या वस्तु।

पहले 'इन्द्रिय' शब्द समझने योग्य है; क्योंकि इसका यथार्थ ज्ञान बहुत थोड़े लोगोंको होता है, अधिक लोग तो इन्द्रियोंके गोलक अर्थात् रहनेके स्थानको ही इन्द्रिय मानते हैं; परंतु यह ठीक नहीं है। प्रत्येक इन्द्रियके पृथक्-पृथक् नियन्ता देवता होते हैं—उदाहरणार्थ, रूप देखनेवाली इन्द्रिय दर्शनेन्द्रिय कहलाती है और यह आँख नामके गोलकमें रहती है। आँखका अवयव ज्यों-का-त्यों हो, पर उसमें देखनेका काम करनेवाली इन्द्रिय चली गयी हो तो मनुष्य देख नहीं सकता। अर्थात् आँख-अवयव स्थूल-शरीरका भाग है और इन्द्रिय एक प्रकारकी शक्ति है, इस शक्तिका देवता सूर्य है। इसी प्रकार मनुष्यका हाथ जब किसी कारणवश बेकार हो जाता है तब हाथका अवयव तो स्थूल-शरीरमें रहता ही है; परंतु उसमेंसे इन्द्रियरूपी शक्तिके चले जानेसे वह काम नहीं कर सकता। अर्थात् हाथ नामक अवयवरूपमें हस्तेन्द्रिय नहीं है; बल्कि हाथके भीतरकी काम करनेवाली शक्ति हस्तेन्द्रिय है। इसका देवता इन्द्र है। इसी प्रकार दसों इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् शक्तियाँ हैं और वे अपने-अपने नियत स्थानमें रहती हैं।

अन्तःकरण दो शब्दोंके योगसे बना है, अन्तःका अर्थ है भीतर और करण इन्द्रियको कहते हैं। दसों इन्द्रियोंका स्थान स्थूल-शरीरमें ऊपर है और यह ग्यारहवीं इन्द्रिय शरीरके भीतर रहकर काम करती है, अतएव इसको अन्तःकरण कहते हैं। इसके लिये शरीरके ऊपर कोई उपयुक्त स्थान नहीं, अतएव यह सारे शरीरमें व्याप्त होकर रहती है। स्थूल-शरीरके किसी भी भागमें सुख-दुःखका असर हो तो अन्तःकरण तुरंत उसे ग्रहण करके जीवके सामने उपस्थित करता है।

अन्तःकरण-शब्दके बदलेमें कभी-कभी हृदय-शब्द व्यवहारमें लाया जाता है। उस समय याद रखना चाहिये कि हृदय शरीरके बाँयें पार्श्वका मांसल अवयव नहीं है, जो रक्तको शरीरमें घुमानेका काम करता है, बल्कि अन्तःकरणके अर्थमें है, अर्थात् वह सारे शरीरमें व्याप्त होकर रहता है। यह खुलासा इसलिये करना पड़ा है कि बहुत लोग हृदय और अन्तःकरणको एक मानकर समझते हैं कि बाँयें पार्श्वका मांसल अवयव ही अन्तःकरण है और इसी अर्थमें व्यवहार भी करते हैं। परंतु यह वस्तुतः है नहीं।

अन्तःकरणकी चार मुख्य वृत्तियाँ हैं, अतएव उसके चार विभाग किये जाते हैं—जिनके नाम हैं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इन चारोंके लिये एक शब्दमें अन्तःकरणचतुष्टय शब्द व्यवहार किया जाता है। कभी-कभी अन्तःकरण-शब्दका प्रयोग न करके इन चारोंमें किसी एक शब्दका व्यवहार करते हैं। कहीं अन्तःकरणके बदले मन, कहीं बुद्धि, कहीं चित्त और कहीं अहंकार-शब्द प्रयुक्त होता है। पूर्वोक्त सूक्ष्म-शरीरकी व्याख्यामें श्रीशंकराचार्यने अन्तःकरणके बदले मन और बुद्धि दो शब्दोंका प्रयोग किया है। दूसरे उदाहरण भी निम्नाङ्कित तरीकेसे दिये जा सकते हैं।

चित्तमेव हि संसारः ।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ॥

इन तीनों स्थलोंमें विभिन्न शब्द अन्तःकरणके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं और यही समझना ठीक है; क्योंकि इससे गड़बड़ी नहीं होती। इन तीनोंका एक दूसरेके साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रत्येकको कार्यक्षेत्रके अनुसार पृथक्-पृथक् कहना या समझना सम्भव नहीं है। अतएव श्रेयस्कर यही है कि प्रत्येक शब्दके बदले अन्तःकरण-शब्दको रखकर समझें, अर्थात् प्रत्येक शब्दको अन्तःकरणका पर्याय या प्रतिनिधि मानें।

अन्तःकरणचतुष्टयका धर्मशास्त्रोंने इस प्रकार वर्णन किया है। मनका धर्म है—संकल्प-विकल्प करना, सारे द्वन्द्वोंको दिखलाना कि यह भला-बुरा, यह सुख-दुःख, यह प्रिय-अप्रिय है। बुद्धिका धर्म है—निश्चय करना; इस वृत्तिके कारण भले-बुरे, प्रिय-अप्रियका पृथक्-पृथक् निश्चय होता है। इसमें मन भी सहायक होता है।

चित्तका धर्म है—चिन्तन करना, एक-न-एक बातका विचार करके सुख-दुःख भोगना तथा भूतकालकी बातें याद करके सुख-दुःख भोगना। आत्मचिन्तन करके मोक्ष-सुख देनेमें भी चित्त समर्थ होता है।

अहंकारका धर्म है—अभिमान करना, यह अपना नहीं, यह अपना है—इस प्रकारका मिथ्या-अभिमान करना।

जीव कहता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं जवान या बूढ़ा हूँ, मैं मूर्ख या ज्ञानी हूँ इत्यादि । ये सारे असत् अहंकार हैं। परंतु सत् अहंकार करनेपर जीव मुक्ति प्राप्त करता है—जैसे, मैं ब्रह्म हूँ, मैं परमात्मस्वरूप हूँ, देह आदि दृश्यके साथ मेरा कुछ भी लेना-देना नहीं है, इत्यादि । इस वृत्तिमें चित्त अपना सहकार प्रदान करता है ।

अब इस अन्तःकरणकी महिमा देखिये । जन्म-जन्मान्तरके संचित कर्म अन्तःकरणमें सूक्ष्मरूपसे रहते हैं और वे ही जन्म-मरणके कारण बनते हैं । तथा सूक्ष्म-भाव भी संस्काररूपमें यहीं रहते हैं । अन्तःकरण चैतन्यका आभास प्राप्तकर स्थूल-शरीरको चेतनवान् बनाता है और उसके द्वारा उसके सारे व्यवहार कराता है । यदि उसकी उपस्थिति न हो तो स्थूल-शरीर लकड़ी या लोहेके समान जड हो जाय और कोई भी कार्य न कर सके; यह हम प्राण निकल जानेके बाद प्रत्यक्ष देखते हैं ।

यह बात नीचेके दृष्टान्तसे खूब स्पष्ट हो जायगी । एक बिजलीका लैम्प है । उसमें ऊपर काँचका बल्ब है और उसके भीतर प्रकाश देनेके लिये गोल है । यहाँ ऊपरके काँचके बल्बको स्थूल-शरीर मानिये और भीतरके गोलको सूक्ष्म-शरीर या अन्तःकरण मानिये । बिजलीका प्रकाश इस गोलको प्रकाशित करता है और उसके प्रकाशसे ऊपरका काँचका बल्ब प्रकाशित होकर बाहर चारों ओर प्रकाश फैलाता है । यदि किसी कारणसे भीतरका गोल नष्ट हो जाय यानी बिगड़ जाय, तो ऊपरका बल्ब प्रकाश नहीं प्रदान कर सकता । बिजली तो उस दशामें भी उपस्थित रहती है; परंतु उसके प्रकाशको ग्रहण करनेकी वस्तु न होनेके कारण काँचका बल्ब प्रकाश नहीं देता; क्योंकि उसमें प्रकाश ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं । इसी प्रकार स्थूल-शरीरमें जबतक अन्तःकरण है तबतक वह चेतनवान् बना रहता है; परंतु जब स्थूल-शरीरको छोड़कर सूक्ष्म-शरीर चला जाता है, तब स्थूलशरीर चेतनरहित हो जाता है; क्योंकि उसमें आत्माका प्रकाश ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं रहती । बिजलीके दृष्टान्तके अनुसार सूक्ष्मशरीरके चले जानेपर स्थूलशरीरमें आत्मा तो है, पर उसका प्रकाश नहीं दीखता; क्योंकि प्रकाशको ग्रहण करनेवाली वस्तु उस समय उपस्थित नहीं रहती । आत्मा तो सर्वव्यापक होनेके कारण मुर्देमें भी है, मुर्देके जल जानेपर भी रहेगा, उसे जलानेवाली अग्निमें भी है और सारी अवशिष्ट राखमें भी है । कारण, आत्मा सर्वव्यापक है, अतएव वह कहाँ नहीं है ? अर्थात् सर्वत्र है ।

सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीरको छोड़कर चला जाता है, तब उसमें आत्माका प्रकाश क्यों नहीं दीखता ? इसका उत्तर श्रीशंकराचार्य देते हैं—

यथा दर्पणाभाव आभासहानि-
मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेव ।
तथा धीवियोगे निराभासको यः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥

तात्पर्य यह है कि मुँहके सामने दर्पण रखनेसे उसमें मुखका प्रतिबिम्ब दिखलायी देता है और दर्पणको दूर करनेसे प्रतिबिम्ब दीखना बंद हो जाता है । ऐसी अवस्थामें बिम्बरूपी मुखका नाश हो गया—ऐसा कोई नहीं मानता; क्योंकि पुनः दर्पण सामने रखनेपर उसमें पुनः प्रतिबिम्ब दिखलायी देता है । इसी प्रकार जब सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीरको छोड़कर चला जाता है, तब उसमें आत्माका प्रकाश दीखता नहीं । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय स्थूल-शरीरमें आत्मा नहीं है । प्रतिबिम्ब डालनेवाली वस्तु बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण जो सूक्ष्म-शरीरके साथ चला गया है, उसके अभावमें आत्माका प्रतिबिम्बरूप प्रकाश नहीं दीखता । अन्यथा, आत्मा तो सर्वव्यापक और त्रिकालाबाधित है ही । अतएव वह कब और कहाँ रहेगा ? अर्थात् सर्वत्र और तीनों कालमें रहेगा ही ।

इस अन्तःकरणके कारण ही देहकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ होती हैं। जब अन्तःकरण बहिर्मुख होता है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा विश्वके विषयोंका अनुभव करता है, उस अवस्थाको जाग्रत् अवस्था कहते हैं और इस अवस्थाके अभिमानी जीवको 'विश्व' नाम प्रदान करते हैं; क्योंकि इस अवस्थामें जीवका बाहरके विश्वके साथ सम्बन्ध होता है ।

यही अन्तःकरण जब अन्तर्मुख होता है, अर्थात् शरीरके भीतर ही संसारको रचता है और स्थूल-शरीरके साथ सम्बन्ध छोड़ देता है, तब उस अवस्थाको स्वप्नावस्था कहते हैं और उसके अभिमानी जीवको 'तैजस' नाम

प्रदान करते हैं; क्योंकि इस अवस्थामें जीव अपने तेजसे सृष्टि रचता है और उसको भोगता है।

इसी प्रकार जब यही अन्तःकरण अपने उपादान-कारणमें लीन हो जाता है और इससे कार्य सामने नहीं रहता, तब सुषुप्ति अवस्था होती है। कुछ लोग प्रकृतिको अन्तःकरणका उपादानकारण मानते हैं और दूसरे लोग अज्ञानको मानते हैं। दोनों ही बातें ठीक हैं, कोई विरोध नहीं आता। प्रकृतिको मानना अधिक ठीक है, क्योंकि हम ऊपर कह चुके हैं कि अन्तःकरण पञ्चमहाभूतोंके सात्त्विक अंशसे बना है; परंतु कुछ और आगे बढ़कर देखनेसे अज्ञान ही उसका उपादानकारण दीख पड़ेगा। परंतु इसमें मस्तिष्कको थोड़ा श्रम लगाना पड़ता है। इस अवस्थाके अभिमानी जीवको प्राज्ञ कहते हैं। यहाँ प्राज्ञका अर्थ बुद्धिमान्, चतुर या विज्ञानवान् नहीं बल्कि पूर्ण अज्ञान (**प्रकृष्टमज्ञानम्**) अर्थ होता है; क्योंकि सुषुप्ति-अवस्थामें अविद्या या अज्ञानके सिवा और कुछ रहता ही नहीं।

यहाँ एक बात समझने योग्य है। जो जीव जाग्रत्-अवस्था में है, वही जीव उसी स्वरूपमें स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थामें भी रहता है। अवस्था बदलनेसे जीवका स्वरूप नहीं बदलता। विश्व आदि नाम तो केवल उस अवस्था-विशेषके साथ जीवके सम्बन्धको बतलानेके उद्देश्यसे ही व्यवहृत होते हैं। ये तीनों ही नाम एक ही जीवके हैं, इसी कारण वही जीव अपने शुद्ध स्वरूपमें तुर्य कहलाता है।

इस प्रसङ्गमें तुरीय अथवा तुर्य अवस्थाके विषयमें कुछ कहना अप्रासङ्गिक न होगा। जिस प्रकार शरीर कोई शरीर-विशेष नहीं, उसी प्रकार तुरीय अवस्था कोई अवस्था-विशेष नहीं है। अन्तःकरणके बहिःस्फुरण, अन्तःस्फुरण या लयकी अवस्थाओंको क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कहते हैं। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंमें साक्षीरूपमें विद्यमान होता है और केवल द्रष्टारूपमें रहता है। अतएव आत्माको तुरीय या तुर्य कहते हैं और इन तीनों अवस्थाओंके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, यह बतलानेके लिये 'तुरीयावस्था' शब्दका व्यवहार करते हैं।

सुख-दुःखके भोग भी इस अन्तःकरणमें ही होते हैं; क्योंकि और सब तो जड हैं और जीव स्वरूपतः सुख-दुःखसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वे उसको स्पर्श नहीं कर सकते। अन्तःकरणके साथ तादात्म्य हो जानेसे, अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःखका भोक्ता भ्रमवश यह अपनेको मान लेता है। इसी कारणसे जीव सुखी, दुखी होता है। वास्तवमें ऐसा नहीं होता। यह बात नीचेके उदाहरणसे स्पष्ट समझमें आ जायगी।

एक मनुष्यको बिच्छूने डंक मार दिया है। बिच्छूके विषकी वेदनासे वह चिल्लाता है और व्याकुल होता है। पश्चात् कुछ नींद आती है और उसके साथ ही वह मनुष्य शान्त बन जाता है। क्या बिच्छू-डंककी वेदना मिट गयी? नहीं। वह जैसी-की-तैसी है। परंतु वेदनाका अनुभव करनेवाला अन्तःकरण अन्तर्मुख हो गया, यानी स्थूल-शरीरके साथ उसका वह सम्बन्ध न रहा। इसलिये उतने समयके लिये दुःखका भोग दूर हो गया। पश्चात् जब वह आदमी जागता है तो फिर वह वेदना शुरू हो जाती है।

स्वप्नका उदाहरण लीजिये। उस आदमीको नींद आनेपर स्वप्न दीखता है। उसको सामने एक बाघ दीखता है और वह खूब डरता है, भाग जानेकी चेष्टा करता है; परंतु बाघ उसको पकड़ लेता है, इतनेमें उसकी आँख खुल जाती है। देखता है कि बाघ नहीं है और वह बिछौनेपर पड़ा है। अब बिच्छू-डंककी वेदना शुरू हो जाती है। इस समय वह वेदना नयी नहीं आयी। अन्तःकरणके बहिर्मुख होनेपर उसका स्थूल-शरीरके साथ सम्बन्ध फिर हो गया। नींद उचट गयी और स्वप्न बंद हो गया। अन्तःकरणके बहिर्मुख होनेपर वह बिच्छू-डंककी वेदना भोगने लगा।

परंतु सुषुप्तिमें अन्तःकरणके विलीन हो जानेपर दुःखका भोग नहीं जान पड़ता। जीव तो उस समय भी उपस्थित रहता है, पर सुख-दुःख भोगनेवाला अन्तःकरण उस समय उपस्थित नहीं रहता, इस कारण भोग भी नहीं दीखता।

* * *

पुराणोक्त धर्म-वंशका रहस्य

(लेखक—सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ १०७८ से आगे]

प्रकृतिकी अंशकला और उनका अधिदैवतमें प्रभाव

दक्ष-कन्या होनेसे दाक्षायणी एवं धर्मकी पत्नी श्रद्धा, मैत्री एवं दया आदिको ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिकी अंशकला मानता है। वे केवल धर्म-तत्त्वकी पत्नी ही नहीं, प्रत्युत भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी पत्नियाँ भी हैं। उक्त पुराणका कथन है कि (१) देवी स्वाहा अग्निकी पत्नी हैं। सम्पूर्ण जगत्में इनकी पूजा होती है। इनके बिना देवता अर्पित की हुई हवि पानेमें असमर्थ हैं। (२) देवी दक्षिणा यज्ञकी पत्नी हैं। इनके न रहनेसे विश्वके सभी यज्ञ-प्रधान कर्म निष्फल हो जाते हैं। स्वधा पितरोंकी पत्नी हैं। इनके नामोच्चारण बिना दिये हुए कव्यको पितृ-ईश्वर ग्रहण नहीं करते। स्वस्ति वायुकी पत्नी हैं। इनके बिना आदान-प्रदान निष्फल हो जाते हैं। पुष्टि गणेशकी पत्नी हैं। इनके बिना स्त्री-पुरुष क्षीणशक्ति हो जाते हैं। तुष्टि अनन्तकी पत्नी हैं। इनके बिना संसार सम्यक् प्रकारसे संतुष्ट नहीं बन सकता। सम्पत्ति ईशानकी पत्नी हैं। इनके न रहनेपर जगत्में दुःख-दारिद्र्य फैल जाता है। धृति कपिलकी पत्नी है, जिसका काम जगत्को धैर्य देकर अधीरतासे बचाना है। क्षमा यमकी पत्नी है, जो वीरोंका भूषण है। इसके न रहनेसे मनुष्य रुष्ट और उन्मत्त बन जाता है। सती-साध्वी रति कामदेवकी पत्नी है। वह क्रीडाकी अधिष्ठात्री देवी है। वह न रहे तो जगत्के सब प्राणी केलि-कौतुकसे शून्य हो जायँ। सती मुक्ति सत्यकी भार्या है। सबसे आदर पानेवाली यह देवी आत्मप्रतिष्ठाकी वृद्धि करती है। दया मोहकी पत्नी है, इसके बिना सम्पूर्ण प्राणी निष्ठुर बन जाते हैं। प्रतिष्ठा पुण्यकी पत्नी है। इसके बिना सारा संसार जीते हुए ही मृतकवत् बन जाता है। कीर्ति सुकर्मकी पत्नी है। इसके अभावमें जगत् यशोहीन हो जाता है। क्रिया उद्योगकी पत्नी है। इसके बिना सारा संसार आलसी होकर नष्ट हो जाता है। मिथ्या अधर्मकी पत्नी है। सभी धूर्त इसका सत्कार करते हैं। यह देवी सत्ययुगमें सर्वथा अदृश्य थी, त्रेतायुगमें सूक्ष्म-रूप धारणकर प्रकट हो गयी। द्वापरमें अपने आधे शरीरसे शोभा पाने लगी। कलियुगमें तो मिथ्यादेवीका शरीर हृष्ट-पुष्ट हो गया है। सब जगह इसीका बोल-बाला है। इसके भाईका नाम कपट है। उसके साथ यह प्रत्येक घरमें चक्कर लगाती है। शान्ति और लज्जा सुशीलकी दो पत्नियाँ हैं। इनके न रहनेपर सारा जगत् उन्मत्तकी भाँति जीवन व्यतीत करने लगता है। ज्ञानकी तीन पत्नियाँ हैं—बुद्धि, मेधा और स्मृति। यदि ये मनुष्यका साथ छोड़ दें तो समस्त जगत् मूर्ख और मृतक-समान बन जाय।

धर्मकी पत्नी मूर्ति हैं। इनका सहयोग न मिले तो परमात्मा और समस्त संसार निराकार-निराधार रह जाय। इनके स्वरूपको अपनाकर ही साध्वी लक्ष्मी सर्वत्र शोभा पाती हैं। 'श्री' और 'मूर्ति' दोनों इनके स्वरूप हैं। रुद्रकी पत्नी कालाग्नि है। इसे योगनिद्रा भी कहते हैं। रात्रिमें इसका सहयोग पाकर समस्त प्राणी आच्छन्न अर्थात् निद्रासे व्याप्त हो जाते हैं। कालकी तीन पत्नियाँ हैं—संध्या, रात्रि और दिन। ये न रहें तो ब्रह्मा भी कालसंख्याका परिगणन नहीं कर सकते। लोभकी दो भार्याएँ हैं—क्षुधा और पिपासा। इन्होंने सम्पूर्ण जगत्पर अपना प्रभाव जमा रखा है। इन्हींके कारण जगत् क्षोभयुक्त तथा चिन्तातुर बनता है। तेजकी दो स्त्रियाँ हैं—प्रभा और दाहिका। इनके अभावमें जगत्स्रष्टा ब्रह्मा अपना कार्य सम्पादन करनेमें असमर्थ हैं। ज्वरकी भार्या जरा और मृत्यु हैं, जिनके पिता कालदेव हैं। इनकी सत्ता न रहे तो ब्रह्माके बनाये हुए जगत्की व्यवस्था ही बिगड़ जाय। निद्राकी कन्याका नाम तन्द्रा है। तन्द्रा और प्रीति—ये दो सुखकी पत्नियाँ हैं। विधिके विधानमें बना रहनेवाला यह समस्त जगत् इनसे व्याप्त है। श्रद्धा और भक्ति वैराग्यकी पत्नियाँ हैं। इनके कृपा-प्रसादसे अखिल जगत् सदा जीवन्मुक्त हो सकता है। देवमाता अदिति, गोमाता सुरभि, दैत्यमाता दिति, कद्रू, विनता और दानव-माता दनु—ये सभी देवियाँ सृष्टिका कार्य सँभालती हैं। इन्हें भगवती प्रकृतिकी कला कहा जाता है। ये सभी कलाएँ विश्वके अणु-परमाणुमें व्याप्त हैं।

दक्ष-कन्याओंका अध्यात्ममें प्रभाव

दक्ष-कन्याएँ अपने पति धर्म अथवा ऋषियोंसे अभिन्न हैं। ये शक्तियाँ ही विश्वमें विद्यमान तत्-तत् धर्म (मृदुता, मधुरता एवं सौन्दर्य आदि) की प्रवर्तिकाएँ हैं। धर्म और धर्मकी शक्तिरूपा श्रद्धा आदि पत्नियाँ, ऋषि और ऋषियोंकी

शक्तिरूपा ख्याति आदि शक्तियाँ अभिन्न हैं । जिस पुरुष अथवा स्त्रीमें दक्ष-कन्या अथवा धर्मपत्नी श्रद्धाका विकास होता है, वह स्त्री अथवा पुरुष पुण्यशील होता है । मानव-हृदयमें शुभभावका संचार ही श्रद्धाका कार्य (फल) है । इसी अर्थको रूपकालंकारसे पुराणोंमें 'श्रद्धासूत शुभं पुत्रम्' यह कहा गया है । जिस मानवके हृदयमें दक्षकुमारी मैत्रीका विकास होता है, उसके अध्यात्ममें प्रसादभाव (प्राणिमात्रके प्रति स्नेह) का उदय होगा । यही धर्म और मैत्रीके दाम्पत्य-भावसे प्रसादनामक पुत्र (भाव) का उदय होना है । जिस प्राणीके अध्यात्ममें दक्ष (स्वायम्भुव प्राण) एवं धर्मपत्नी दयाका विकास होता है, उसके हृदयमें प्राणियोंके प्रति अभयभावकी उत्पत्ति होती है । इसी भावको समझानेके लिये रूपकालंकार तथा कथालंकारसे काव्यकी भाषामें दयाका पुत्र अभय बताया गया है । अभयदान विश्वमें सब दानोंसे बड़ा है । जिसके अध्यात्ममें शान्तिनामक दक्ष कन्याका विकास होता है, उसके हृदयमें सुखभावका उदय हुए बिना नहीं रह सकता । शान्ति ही सुखकी जननी है । **'अशान्तस्य कुतः सुखम्'** यह गीतावाक्य सानुभव है । जिस पुरुषमें तुष्टिनामक धर्मपत्नीका विकास होता है, उसके मनमें मुद (आनन्द) भावका विकास हुए बिना नहीं रह सकता । भगवान् मनुका यह कथन—**'संतोषमूलं ही सुखं दुःखमूलं विपर्ययः'** सानुभव है । जिसके अध्यात्ममें पुष्टिरूप दक्षकुमारीका विकास है, उसके मनमें मदकी उत्पत्ति होकर रहेगी, जिसका फल अपनेको बड़ा समझनेके रूपमें होगा । जिसके अध्यात्ममें दक्षकन्या क्रियाका विकास होता है, उसके मनमें सदा ही उद्योग-प्रवणता बनी रहती है । अर्थात् जो निष्क्रिय (निकम्मे) होते हैं, वे धर्म-हीन हैं । जिसके मनमें धर्मपत्नी उन्नतिका विकास होगा, उसके हृदयमें दर्प (अहंकार) का संचार हुए बिना नहीं रह सकता । यही भाव उन्नतिसे दर्परूप पुत्र उत्पन्न होनेमें दिखाया गया है । दर्पके स्वरूपका निर्देश गीतामें **'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'** इत्यादि वाक्योंसे किया गया है । दर्पके स्वरूपका विवेचन करते हुए आचार्य श्रीवेंकटनाथने संकल्पसूर्योदय ग्रन्थमें कहा है—

विद्यातश्च विवादतश्च विदितादाचारतश्च क्षितौ
कूटस्थाभ्यधिकः कथं मम कुतः को वा समः कथ्यते ॥

अर्थात् विद्या, कुल और धनमें हमारे समान ही कोई नहीं है तब बड़ा तो होगा ही कहाँसे । इस प्रकारके दर्पसे बचना चाहिये । जिसके अध्यात्ममें दक्षकन्या बुद्धिका विकास होता है, उसके हृदयमें कर्तव्याकर्तव्य-विषयक विवेकका उदय होता है । जिसके अध्यात्ममें धर्मपत्नी मेधाका विकास होता है, उसकी स्मरण-शक्ति प्रबल रहती है । जिसके हृदयमें धर्मपत्नी तितिक्षाका विकास है, उसके हृदयमें क्षेमभावका उदय हुए बिना न रहेगा । जिसके अध्यात्ममें लज्जाका विकास है, उसके हृदयमें प्रश्रय (विनय) का विकास होना ही चाहिये । जिसके हृदयमें धर्मपत्नी मूर्तिका विकास होता है, उसके अध्यात्ममें सब गुणोंका विकास होता है । प्रधानतः वह सबका आधार बना रहता है । अध्यात्ममें इस प्रकार दक्ष-कन्याओं (धर्मपत्नियों) के प्रभावका प्रदर्शन है ।

अब दक्षकन्याओंके पतियोंके विकासमें उत्पन्न होनेवाले अध्यात्मभावोंका निर्देश किया जाता है । जिस मानवमें दक्षकन्या ख्यातिके पति भृगु (प्राण) का विकास होता है, उस मानवमें ख्याति (ज्ञान) भावका उदय होता है । अर्थात् वह ज्ञानार्जनके लिये सचेष्ट रहता है । जिसके अध्यात्ममें दक्षकन्या सम्भूतिके पति मरीचि (प्राण) का उदय होता है, उसमें सम्भूति (प्रजननसामर्थ्य) भावका उदय होता है । यही मरीचिके साथ दक्षकन्या सम्भूतिके विवाहका रूपक-रहस्य है । जिसके अध्यात्ममें दक्षकन्या स्मृतिके पति अङ्गिरा स्मृति (प्राण) का अधिक विकास होता है, उस मानवमें स्मृति (स्मरणशक्ति) का प्राकट्य होता है ।

अधिदैवत अथवा अध्यात्ममें वसिष्ठ-प्राण ओजस्विताभावका प्रवर्तक है । अतः जिस प्राणीमें दक्षकन्या ऊर्जाके पति वसिष्ठ-प्राणकी प्रधानता होती है, उसमें ओजस्विताभावका उदय होता है । ओजस्विता ही ऊर्जा है । जिस मानव अथवा स्त्रीमें ओजस्विता-गुणका प्राकट्य हो तो निश्चय ही उसमें वसिष्ठ-प्राणकी प्रधानता है । अत्रिप्राण अनसूया-भावका प्रवर्तक है । अतः जिस मानवमें दक्ष-कन्या अनसूयाके पति अत्रि-प्राणका उदय (विकास) होगा, उसके अध्यात्ममें अनसूयाभाव (गुण) का उदय होगा, जिसके स्वरूपका उल्लेख शास्त्रमें इस प्रकार हुआ है ।

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
न हसेच्चान्यदोषांश्च सानसूया प्रकीर्तिता ॥

पुलस्त्य-प्राण विश्वमें राग और घातक वृत्तिका प्रवर्तक है । अतः जिस प्राणीमें प्रीतिके प्रति पुलस्त्य-प्राणका उदय होता है, उसमें अर्थ और कामके प्रति राग एवं घातक वृत्तिवाले गुणका उदय होता है । इसीलिये अधर्मसे अध कामप्रवण और घातक वृत्तिवाले रावणादि राक्षसोंको

पौलस्त्यकुलनन्दन कहा है। ऋतु-प्राण क्षमा एवं अध्यवसाय (कर्मनिर्भरता)का प्रवर्तक है। इस प्राणका जिस मानवमें उदय होगा, वह मानव सहनशील और कर्मनिपुण होगा। दक्ष-प्राण व्यवसाय-शक्तिका प्रवर्तक है। इस प्राणकी जिसमें प्रधानता है, वह सदा कर्मतत्पर बना रहता है। ऐसे मानवको उद्देश्य करके ही श्रीपुष्पदन्ताचार्यने 'क्रियादक्षो दक्षः' यह कहा है।

अधर्म-वंश

अधर्म धर्मका प्रतिद्वन्द्वी है। दर्शनवेत्ताओंने इन दोनोंके द्वन्द्वको जगत्की स्थितिका कारण माना है। अतः अधर्म-वंशका ज्ञान धर्मवंशके सम्यक् ज्ञानके लिये अति उपयोगी है। इसका जानना भी परमावश्यक है। अधर्म-वंशका ज्ञान अधर्मको छोड़नेमें कारण होता है। श्रीमद्भागवतमें उसका निर्देश इस प्रकार है—

अधर्मकी पत्नी मृषा (मिथ्यावाद) है। अधर्म एवं मृषाके दाम्पत्यभावसे दम्भ और माया नामक मिथुन (जोड़ा) उत्पन्न हुआ। इस दम्भ और मायारूप मिथुनको प्रजारहित निर्ऋतिने दत्तकरूपमें स्वीकृत कर लिया। दम्भ और मायाके दाम्पत्यभावसे लोभ और निकृति (शठता) नामक युगल (जोड़ा) उत्पन्न हुआ। इस जोड़ेसे क्रोध और हिंसा नामक युगल उत्पन्न हुआ। इस जोड़ेसे दुरुक्ति और कलिनामक जोड़ा बना। कलिसे दुरुक्ति पत्नीमें भय और मृत्युनामक जोड़ा उत्पन्न हुआ। इस भय और मृत्युरूप युगलसे यातना और निरय नामक मिथुन उत्पन्न हुआ। नरक और यातना दोनों ऊर्ध्वरेता होनेसे अप्रज (संततिरहित) हैं।

प्रकारान्तर

दूसरे पुराणोंमें प्रकारान्तरसे अधर्म-वंशका वर्णन मिलता है। अधर्म ब्रह्माजीके वामस्तन अथवा पृष्ठभागसे उत्पन्न हुआ है। अधर्मकी पत्नी हिंसा है। हिंसाने अधर्मसे अनृत-नामक पुत्र एवं निकृति (शठता) नामक मिथुन (जोड़े)-को उत्पन्न किया। निकृति एवं अनृत दोनोंने माया और भय, वेदना और नरक—ये दो मिथुन (जोड़े) उत्पन्न किये। माया और भय दम्पतीने सर्वभूतापहारी मृत्युको उत्पन्न किया। वेदना और नरकने दुःखरूप पुत्रको उत्पन्न किया। मृत्युने व्याधि, शोक, जरा, तृष्णा, क्रोध आदिको जन्म दिया।

इस सम्बन्धमें मार्कण्डेयपुराणका कथन है कि मृत्युकी दो पत्नियाँ हैं—एक निर्ऋति, दूसरी अलक्ष्मी। निर्ऋतिके पुत्र व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा एवं क्रोध आदि हैं। अलक्ष्मीके पुत्र चौदह हैं। चौदह पुत्रोंमें तेरह पुत्र—दस इन्द्रियाँ मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं, जो अहंकारमें निवास करते हैं। चौदहवें कनिष्ठ पुत्रका नाम दुस्सह है। दुस्सहके दन्ताकृष्टि, तथोक्ति, परिवर्त, अङ्गधृक्, शकुनि, दण्डान्तरति, गर्भहा एवं शस्यहा—ये आठ पुत्र तथा नियोजिका, विरोधिनी, संहारकरी, भ्रामणी, ऋतुहारिका, स्मृतिहरा, बीजहरा और विद्वेषिणी—ये आठ पुत्रियाँ हैं। इनके विनाशक कार्य इनके अन्वर्थक नामसे ही प्रकट हैं। इन आठ कुमार और कुमारियोंके भी अड़तीस कुमार-कुमारियाँ उत्पन्न हैं। उनमेंसे प्रधानके नाम इस प्रकार हैं—विजल्पा, कलहा, तालजिह्व, विरूप, विकृति, निघ्न, मोहिनी, क्षुद्रक, प्रचण्ड, वातरूप, अरूप, अपकारक एवं आत्मस्तोता। इन सबका नाशक कार्य नामसे सुस्पष्ट है। विशेष जिज्ञासुओंको इस विषयमें मार्कण्डेयपुराणके ५० वें तथा ५१ वें अध्यायोंका अध्ययन-मनन करना चाहिये। ये सब पुत्र-पुत्रियाँ प्राणरूप हैं। सर्वसाधारणको यह रहस्य समझानेके लिये इनका परस्परमें विवाह एवं एक दूसरेके प्रति पिता-पुत्र-भाव आदि सम्पूर्ण व्यवहार काव्यकी परिभाषामें रूपकालंकार एवं दर्शनोंकी भाषामें आहार्य ज्ञानसे पुराणोंमें गूढ़ निरूपण किया गया है। जिस प्रकार अधिदैवत एवं अध्यात्ममें दक्ष-कन्याओंके विकासका सुन्दर और रक्षक प्रभाव होता है, तथैव निर्ऋति एवं अलक्ष्मीके पुत्र-पुत्रियोंका भी कुत्सित एवं विनाशक प्रभाव होता है। अतः इनसे दूर रहना परमावश्यक है। विश्वमें अधर्म एवं उसके कुलके प्रसारका कुफल शास्त्रोंमें इस प्रकारसे कहा गया है—

दुःखोत्तराः स्मृता ह्येते सर्वे चाधर्मलक्षणाः।
नैषां पुत्रोऽस्ति भार्या वा सर्वे ते ह्यूर्ध्वरेतसः॥
रौद्राण्येतानि रूपाणि विष्णोर्नरवरात्मज।
नित्यप्रलयहेतुत्वं जगतोऽस्य प्रयान्ति वै॥

अर्थात् अधर्मके फैलावका कुफल दुःख और अधोगमन है—**'गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण'**। अतः राष्ट्र एवं राष्ट्रवासियोंकी उन्नतिके इच्छुकोंको अधर्मका परित्याग एवं धर्मका आचरण करना परमावश्यक है। वेदकी आज्ञा है कि—

'एष आदेशः' 'एष उपदेशः' 'एवमुपासितव्यम्' 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' ओमिति।

धर्मप्रतिमा

पदार्थमात्रमें अन्तर्यामिरूप (तत्-तत् पदार्थोंके धर्मरूप)

से व्याप्त प्रत्येक पदार्थके स्वरूप-संरक्षक एवं संवर्द्धक धर्मका स्वरूप तथा धर्मजन्य फलोंका सरलरूपसे सर्वसाधारणको प्रबोध करानेके लिये धर्मप्रतिमाका सहेतुक निर्माण शास्त्र करनेमें मिलता है। निदान-शास्त्रका इस विषयमें यह आदेश है—

चतुर्वक्त्रश्चतुष्पादश्चतुर्बाहुः सिताम्बरः।
सर्वाभरणवाञ्श्वेतो धर्मः कार्यो विजानता॥
दक्षिणे चाक्षमालां च तस्य वामे तु पुस्तकम्।
मूर्तिमान् व्यवसायस्तु कार्यो दक्षिणभागगः॥
वामभागगतः कार्यः सुखः परमरूपवान्।
कार्यौ धर्मकरौ मूर्ध्नि विन्यस्तौ च तथा तयोः॥
अक्षमाला स्मृतः कालः पुस्तकं चागमं स्मृतम्।
यज्ञः सत्यं तपो दानं तस्य वक्त्रचतुष्टयम्॥
देशकालौ तथा शौचं शुद्धिश्चास्य भुजाः स्मृताः।
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः॥
तस्य देवस्य धर्मज्ञ ज्ञेयं पादचतुष्टयम्।
सत्त्वाधिकत्वाच्छुक्लस्तु ज्ञानवासाश्च कीर्त्यते॥
अथवा चास्य कर्तव्याः पत्न्यश्चैव चतुर्दश।
कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया मतिः॥
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिस्तुष्टिश्चतुर्दश।
द्वाराण्येतानि धर्मस्य सर्वाणि कथितानि ते॥
कार्याः सुरूपा द्विभुजाश्च सर्वा-
स्तेजोऽन्विताास्ताश्च सुभूषणाश्च।
धर्मः स्थितः स्याद्यदि चैक एव
भार्यान्वितश्चेदथ चोपविष्टः॥

इन श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि धर्म चतुर्भुज (चार हाथवाला), चतुर्मुख (चार मुखवाला) एवं चतुष्पाद (चार पाँववाला) है। धर्मके वस्त्र श्वेत हैं। वह सर्वाभरण-भूषित है। उसका वर्ण श्वेत है, उसके दक्षिण हाथमें अक्षमाला एवं वाम हाथमें पुस्तक है। धर्मके दक्षिण भागमें मूर्तिमान् व्यवसाय (कर्मठता) एवं वाम भागमें परम सुन्दर सुख है। उन दोनोंके मस्तकोंपर धर्मके दो हाथ रखे हुए हैं। धर्मके प्रतिमानिर्माणका रहस्य यह है कि धर्मके हाथोंमें विद्यमान अक्षमाला कालका संकेत है। पुस्तक आगमका सूचक है। इन दोनों संकेतोंसे यह सूचित होता है कि काल एवं आगम धर्मके दो सहकारी कारण हैं। अर्थात् केवल शास्त्रको पकड़कर वर्तमान कालको भूल जाना—यह धर्मका अनादर है। अथवा केवल वर्तमानकालको ही पकड़कर शास्त्रका अनादर करना भी धर्मका अनादर है। इन दो भावोंके सूचक अक्षमाला तथा आगम हैं। धर्मके चार मुख यज्ञ, सत्य, तप एवं दानके सूचक हैं। धर्मके चार हाथ देश, काल, शौच (शारीरिक पवित्रता) एवं शुद्धि (पदार्थगत पवित्रता) के सूचक हैं। धर्मके चार पाँव श्रुति, स्मृति, सदाचार एवं आत्मप्रियताके सूचक हैं। अर्थात् जहाँपर श्रुति एवं स्मृतिके अनुकूल सदाचारका पालन होता हो और अपनी आत्माको उपमान बनाकर दूसरोंके प्रिय-अप्रियका ध्यान रखा जाता हो, वहाँपर ही धर्म प्रतिष्ठित रहता है। धर्मका शुक्ल वर्ण सत्त्वगुणके आधिक्यका सूचक है। अर्थात् मनमें सत्त्वगुणकी वृद्धि धर्माचरणके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती है। धर्मका श्वेत वस्त्र ज्ञानका सूचक है।

प्रकारान्तर

धर्मप्रतिमाके चित्रणका अन्य प्रकार यह है—धर्मके समीप उनकी चौदह पत्नियों (शक्तियों) का निर्माण करना चाहिये। धर्मकी शक्तियोंके नाम ये हैं—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, मति, बुद्धि, लज्जा, वपुः, शान्ति, सिद्धि, तुष्टि। धर्मपत्नीरूपसे वर्णित ये सब शक्तियाँ धर्मके द्वार हैं। इनके द्वारा ही धर्मकी उपासना होती है।

इस प्रतिमारूप स्थूल माध्यमसे सूक्ष्म धर्मतत्त्वका ज्ञान सुगम किया गया है। इस माध्यमसे यह उपदेश दिया गया है कि धर्मका फल व्यवसाय (कर्मठता) एवं सुख है। बिना धर्माचरणके लोकमें व्यवसाय एवं सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। व्यवसाय (कर्मठता) एवं सुखपर सदैव धर्मके वरद हस्त हैं। लक्ष्मी, धृति एवं पुष्टि आदि शक्तियाँ धर्मके शरीर ही हैं। इनमेंसे एक भी गुणका धारण साक्षात् धर्मका ही धारण है। अतः उन्नति, रक्षा, व्यवसाय, सुख एवं शान्तिके इच्छुकोंको धर्मका सदा ही आचरण करना चाहिये। इससे स्वहित, परहित तथा इहलोक एवं परलोकमें शाश्वत कल्याणकी प्राप्ति होती है।

धर्मे मतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥
यतो धर्मस्ततो जयः।

सब अनर्थोंके मूलभूत राग-द्वेषके नाशके उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यमें अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति हर समय होती रहती है। इनसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं। अनुकूलमें राग होता है और प्रतिकूलमें द्वेष। ये राग-द्वेष ही सारे अनर्थोंकी जड़ हैं। रागसे काम और द्वेषसे क्रोध उत्पन्न होता है—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।

(गीता २। ६२)

'आसक्तिसे विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।' यहाँ यह शङ्का होती है कि क्रोधका कारण काम है या द्वेष? इसका उत्तर यह है कि दोनों ही हैं। काम तो क्रोधका निमित्तकारण है और द्वेष उपादानकारण।

इसी प्रकार हर्ष-शोकादि विकार भी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें ही होते हैं। अनुकूलतामें हर्ष और प्रतिकूलतामें शोक होता है। चिन्ता, भय, शोक, ईर्ष्या, वैर, क्रोध—ये सभी द्वेषमूलक प्रतिकूल वृत्तिमें ही होते हैं। इसलिये अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियोंका नाश होनेसे सारे विकारोंका नाश होकर मनुष्यमें स्वाभाविक ही समता आ जाती है। समता ही सिद्ध पुरुषकी कसौटी है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५। १९)

'जिन शुद्धचित्तवाले मनुष्योंका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे ये सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

परमात्माकी समता चेतन है; क्योंकि परमात्मा चेतन है। महापुरुषोंमें जो समता है, वह सात्त्विक भाव है; किंतु सात्त्विक भाव होनेपर भी है तो वह प्रकृतिका कार्य ही। प्रकृति जड होनेसे प्रकृतिका कार्यरूप सात्त्विक भाव भी जड ही है। महापुरुषोंकी समता व्यापक और असीम होनेपर भी परमात्माकी समताकी अपेक्षा सीमित ही है; किंतु है यह परमात्मासे ही। या यों समझें कि यह परमात्माका ही आभास है। जैसे दर्पणमें चन्द्रमाका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह चन्द्रमासे ही है और बिम्बभूत चन्द्रमाके-जैसा ही वह प्रतीत होता है। इसी प्रकार यहाँ चन्द्रमास्थानीय तो परमात्माकी समता है और चन्द्र-प्रतिबिम्बस्थानीय महात्माओंकी समता है। दर्पणस्थानीय है शुद्धबुद्धि, शुद्धबुद्धिमें ही परमात्माकी समताका प्रतिबिम्ब पड़ता है। कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोग—किसीके द्वारा भी पहुँचे हुए महापुरुषोंमें यह समता स्वाभाविक होती है।

कर्मयोगके द्वारा पहुँचे हुए पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके छठे अध्यायके ७-८-९ वें श्लोकोंमें है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—

यों कहा जाता है । सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

तथा भक्तियोगके द्वारा पहुँचे हुए भक्त पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके १२ वें अध्यायके १८–१९ वें श्लोकोंमें है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम और आसक्तिसे रहित है; जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।'

एवं ज्ञानयोगके द्वारा पहुँचे हुए गुणातीत पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके चौदहवें अध्यायके २४-२५ वें श्लोकोंमें मिलता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

किंतु साधक पुरुषमें जो समता है, वह सिद्ध पुरुषकी समताकी नकल है, स्वाभाविक नहीं है । अतः सिद्ध पुरुषमें जो समता है, उसको आदर्श मानकर उसका अनुकरण करना चाहिये । सिद्ध और साधककी समतामें भी अन्तर है । सिद्धमें तो समता स्वाभाविक होती है, किंतु साधकमें समता करनेसे होती है । गीतामें भगवान्ने जहाँ भी साधकके लिये समताका उपदेश दिया है, वहाँ 'कृत्वा' 'भूत्वा' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है । जैसे, भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको सम करके यानी उनको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा ।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(गीता २ । ४८)

'हे धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर; समत्व ही योग कहलाता है ।'

यहाँ 'सम करके', 'सम होकर' ऐसे शब्दोंके द्वारा समता करनेका आदेश है । अतः साधकमें समता स्वाभाविक नहीं है ।

सर्वत्र समता न होनेमें अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति ही कारण है । यही राग-द्वेष आदि सारे अनर्थोंकी जड़ है । अतः इसका नाश करना परम आवश्यक है । इसके नाशके लिये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं । उनमें ज्ञानयोग (अद्वैतमार्ग) की दृष्टिसे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिके नाशके लिये साधकको यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ भी देखने, सुनने, समझनेमें आता है, वह पदार्थ और जिसके द्वारा देखा, सुना, समझा

जाता है, वह मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि करण—ये सभी मायिक हैं । जैसे मरुभूमिमें जल, आकाशमें नीलिमा, नेत्रविकारसे आकाशमें तिलमिले, मनोराज्यमें पदार्थ, स्वप्नमें नाना प्रकारकी सृष्टि आदि बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये संसारके पदार्थ और करण आदि सभी बिना हुए ही प्रतीत हो रहे हैं । एवं जैसे स्वप्नमें पुरुषको जो कुछ प्रतीत होता है वह उस पुरुषके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं; इसी प्रकार यह संसार परमात्माका संकल्पमात्र है, वस्तुतः कुछ नहीं। इस तरह समझनेसे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिसे उत्पन्न राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा विनाश हो सकता है ।

तथा भक्तिमार्गकी दृष्टिसे साधकको यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि संसारमें जो भी कुछ घटना, परिस्थिति, पदार्थ प्राप्त हो रहा है वह सब उन मङ्गलमय भगवान्के दयापूर्ण विधान (आज्ञा) से ही हो रहा है । अथवा यह सब हमारे कल्याणके लिये भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार (इनाम) है । ऐसा समझकर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये या सब कुछ भगवान्की लीला समझकर प्रसन्न रहना चाहिये । यह प्रसन्नता-संतुष्टि हर्ष-शोकयुक्त नहीं है । यह तो भगवान्की प्रसन्नतासे प्रसन्नता है, अपनी अनुकूलताको लेकर नहीं । अनुकूलतामें होनेवाली प्रसन्नता तो राजसी होनेसे बन्धनकारक, एकदेशीय, क्षणिक और विनाशशील है; किंतु साधक भक्तकी यह प्रसन्नता सात्त्विक होनेसे कल्याणकारक, व्यापक और स्थायी है ।

इस प्रकारके अविचल श्रद्धा-विश्वाससे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिजनित राग-द्वेषादि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हो सकता है ।

एवं कर्मयोगकी दृष्टिसे ऐसा निश्चय करना चाहिये कि अनिच्छा या परेच्छासे जो भी अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि प्राप्त है, वह अपने ही पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंका प्रारब्धरूप फल है। सुख देनेवाली अनुकूलता पुण्यका फल है और दुःख देनेवाली प्रतिकूलता पापका फल है । अतः अनिच्छा या परेच्छासे जो भी घटना, पदार्थ, परिस्थिति आकर प्राप्त हो, उसे अपने कर्मोंका प्रारब्धरूप फल समझकर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि उस फलभोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, जो कल्याणकारिणी है ।

इस प्रकारके दृढ़ निश्चयसे उसके अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिसे उत्पन्न राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा नाश हो सकता है ।

ऊपर ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—तीनों साधनोंकी दृष्टिसे केवल राग-द्वेषके नाशके लिये सरल तरीका बताया गया है । इसके साथ ही मनुष्यको, शीघ्र कल्याण हो—इसके लिये इन तीनों साधनोंमेंसे किसीका भी अनुष्ठान करना परम आवश्यक है । ज्ञानयोग (सांख्ययोग) का साधन यों करना चाहिये । अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरद्वारा होनेवाले सभी कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो, 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—यों समझकर नित्य-निरन्तर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके ही अस्तित्वका भाव रहना चाहिये । मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त पदार्थ प्रकृतिके ही कार्य हैं—'यों समझकर सब क्रिया इनके द्वारा ही हो रही है, मैं कुछ भी नहीं करता'—इस प्रकार सब क्रियाओंको इन्हींपर छोड़ देना चाहिये । भगवान्ने गीतामें कहा है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
(गीता ५ । ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास

लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों (विषयों) में बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निस्संदेह ऐसा माने कि मैं कुछ नहीं करता ।'

तथा—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
(गीता ५ । १३)

'अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नौ द्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे छोड़कर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ।'

इस प्रकार गीतामें अन्यत्र भी जहाँ राग-द्वेष—अहंता-ममतासे रहित क्रियाका उल्लेख है, वहाँ भी सांख्ययोगका ही साधन समझना चाहिये । जैसे—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
(गीता १८ । २३)

'जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है ।'

इस प्रकार समझकर सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का साधन करना चाहिये ।

एवं भक्तियोगके साधकको यों साधन करना चाहिये कि जैसे सांख्ययोगमें प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंपर ही समस्त शास्त्रविहित क्रियाओंको छोड़ा जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगमें सारी क्रियाओंको भगवान्पर छोड़ा जाता है यानी समर्पण किया जाता है । गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
(३ । ३०)

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर ।'

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
(गीता ५ । १०)

'जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
(गीता ९ । २७-२८)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर । इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
(गीता १८ । ५७, ५८½)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा । इस प्रकार मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा ।'

जैसे कठपुतली अपने शरीरको और अपनी सारी क्रियाओंको सूत्रधारके अर्पण किये हुए है—सूत्रधार जैसे नचाता है वैसे ही वह नाचती है, उसी प्रकार भक्तिके साधकोंको अपने शरीर और अपनी सारी क्रियाओंको भगवान्के अर्पण कर देना चाहिये। कठपुतलीके तो केवल शरीर ही है; किंतु पुरुषमें तो मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि विशेष हैं। अतः उसे उनको भी भगवान्के अर्पण करना है। वास्तवमें कठपुतलीकी सारी क्रिया सूत्रधार ही करता है, उसी प्रकार जो अपने-आपको भगवान्को सौंप देता है उसकी भी सारी क्रिया भगवान्के द्वारा ही होती है। किंतु यह खयाल करना चाहिये कि भगवान्के द्वारा होनेवाली क्रिया भगवान्के विधानसे विरुद्ध नहीं होती। यदि भगवान्के विधानके विरुद्ध क्रिया होती है तो जानना चाहिये कि वहाँ भगवान्का हाथ नहीं, कामका हाथ है। जब अर्जुनने भगवान्से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्ने यही कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

अतएव भगवान्की आज्ञाके विरुद्ध क्रिया होनेमें राग-द्वेष ही कारण है। जैसे छोटा बच्चा अक्षर सीखते समय क, ख, ग, घ अक्षरोंको लिखनेमें भूल कर देता है, किंतु जब गुरु अपने हाथसे उसके हाथको पकड़कर लिखाता है तब उसमें भूल नहीं होती; क्योंकि उस लिखनेमें गुरुकी ही प्रधानता है, उसी प्रकार जो अपनेको भगवान्के समर्पण कर चुका है, उसके सिरपर भगवान्का हाथ रहते हुए उससे जो कुछ क्रिया होती है, उसमें कभी भूल नहीं होती; क्योंकि उन क्रियाओंके होनेमें भगवान्की ही प्रधानता है। इस कसौटीसे अपनेको कसकर अपनी क्रियाको देखते रहना चाहिये।

भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे भगवान्की प्रसन्नताके लिये कर्म किये भी जायँ, तो भी वे भगवदर्पणके समान ही हैं; क्योंकि उन कर्मोंमें जो कर्तापन है, वह निर्दोष है। जैसे भगवान्ने कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

अतः यह भगवदर्थ कर्म भगवदर्पणके समान ही है।

एवं कर्मयोगके साधकको नीचे लिखी रीतिसे साधन करना चाहिये। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
(५ । ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(५ । १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है ।'

तथा दूसरेका ४८ वाँ श्लोक ऊपर दिया ही जा चुका है । इन सबके अनुसार मुख्यरूपसे आसक्ति और कर्मफलकामनाका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए कर्तव्यकर्मोंको करना कर्मयोगका साधन है ।

ध्यान देना चाहिये । साधन किसी भी दृष्टिसे हो, अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होना ही चाहिये । इनका सर्वथा अभाव नहीं है तो इन सबका त्याग करना चाहिये और फिर 'त्याग' क्रियाके अभिमानका भी त्याग कर देना चाहिये अर्थात् त्यागका भी त्याग करना चाहिये । गीतामें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोगके साधनोंका जहाँ-जहाँ प्रकरण आया है, वहाँ अहंता-ममता, राग-द्वेष और कामनाका त्याग तथा संसारसे वैराग्य पद-पदपर बताया गया है । जैसे, गीताके अठारहवें अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वें तक ज्ञाननिष्ठाका वर्णन है, वहाँ भगवान् कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(गीता १८ । ५१-५३)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें करनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ।'

यहाँ ५१ वें श्लोकमें राग-द्वेषके त्यागका, ५२ वेंमें वैराग्यका आश्रय लेनेका तथा ५३ वेंमें अहंता, ममता और कामनाके त्यागका स्पष्ट उल्लेख है ।

भक्तिके प्रकरणमें कहा गया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
(गीता ९ । १३)

'हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ।'

अतः भक्तमें आसुरी सम्पदा कभी नहीं रहती। अहंता, ममता, राग, द्वेष, कामना, आसक्ति—ये सभी आसुरी सम्पदा ही हैं। (देखिये गीता अ० १६ । ७-२०) एवं भक्तिके साधकके लिये पंद्रहवें अध्यायमें भगवान्ने कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥
(गीता १५ । ३-४)

'इस संसार-वृक्षका स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है । इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।'

आगे भगवान् इस साधनसे सिद्ध हुए भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
(गीता १५ । ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्यस्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ।

यहाँ ३ रे श्लोकमें 'असङ्गशस्त्रेण' से वैराग्यका, ५ वें श्लोक 'निर्मानमोहाः' से अहंता-ममताके त्यागका, 'विनिवृत्तकामाः' से कामनाके त्यागका और 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' से राग-द्वेषके त्यागका संकेत किया गया है ।

कर्मयोगके प्रकरणमें बताया गया है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है ।'

यहाँ 'वैराग्य'का कथन है ही ।

तथा—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ६४)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ भी अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है ।'

—इसमें 'राग-द्वेषके त्याग'का वर्णन है। एवं दूसरे अध्यायके ७१ वें श्लोकमें, जो ऊपर दिया जा चुका है, कर्मयोगीके लिये अहंता-ममता और कामनाके त्यागका उल्लेख है ।

सार बात यह है कि किसी भी साधनसे हो, अनुकूलता-प्रतिकूलतासे उत्पन्न राग-द्वेष आदि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हुए बिना समता प्राप्त नहीं होती । समता ही परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान लक्षण है । अतः राग-द्वेषादि दोषोंका अत्यन्त अभाव करनेके लिये अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि, सामर्थ्य और अधिकारके अनुसार उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करना चाहिये ।

* * *

३—

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ)

शान्तिकी खोज बहुत प्राचीन कालसे हो रही है। संसारके सभी मनुष्य शान्ति चाहते हैं। ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों तरहकी शान्ति प्राप्त करनेके उपाय दार्शनिक शास्त्रोंमें प्रचुर मात्रामें लिखे गये हैं। परंतु मनुष्य ठीक उसके विपरीत ही चल रहे हैं, अतः शान्ति मिलती नहीं।

ईशोपनिषद्में लिखा है—

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

इस मन्त्रका तात्पर्य यह है कि संसारके जितने भी पदार्थ हैं, वे ईश्वरसे व्याप्त हैं—वे चाहे स्थावर हों या जंगम। इसलिये ईश्वरके द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिये हुए पदार्थोंका उपभोग करो। दूसरेकी वस्तुको देखकर मन मत ललचाओ और उसके लिये स्पृहा न करो।

संसारके मनुष्योंकी प्रवृत्ति संग्रहकी ओर हो रही है। संग्रहमें शान्ति नहीं, अशान्ति रहती है। फिर संग्रहसे शान्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना वालुकासे तेल निकालनेके समान असम्भवको सम्भव करनेका विफल प्रयत्न है।

असंतोषके कारण मनुष्य अधिक-से-अधिक भोग्य विषयोंको प्राप्त करना चाहता है। वह सोचता है कि अमुक वस्तुके मिल जानेसे हम सुखी हो जायँगे और मनमें शान्ति आ जायगी। परंतु इच्छाकी इतिश्री इच्छित वस्तुके उपभोगसे नहीं होती। ययाति राजाने विषयोपभोगसे अपने मनको तृप्त करनेके लिये अपने पुत्रसे एक हजार वर्षके लिये जवानी उधार ली। एक हजार वर्षके पूर्ण होनेपर जब पुत्रको जवानी लौटानेका समय आया, तब उन्होंने कहा—

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वेव जायते॥
यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

पुत्रसे ली हुई जवानीको लौटाते समय महाराज ययातिका मन चञ्चल हो उठा। लौटानेकी इच्छा नहीं होती थी। मेरा वृद्धत्व लेकर पुत्रने कितना कष्ट सहा, उसका मन भी विषयोपभोग चाहता होगा—इन बातोंपर उनका ध्यान नहीं गया। ये सांसारिक विषय ऐसे हैं कि अपने सुखके सामने दूसरेके दुःखकी ओर विवेक-शक्तिको जाने नहीं देते।

पुत्रकी जवानी अनिच्छासे ही लौटाकर जब वे तपस्या करनेके विचारसे वनमें चले गये और भोग्य वस्तुओंके प्राप्त न होनेसे तथा इन्द्रियोंकी शिथिलतासे जब उनका मन विषयोपभोगसे उपरत हुआ, तभी उनको शान्ति मिली।

लौकिक शान्तिके विषयमें एक कविने कहा है कि जो त्याग करता है, उसीकी स्थिति उन्नत होती है और जो केवल संग्रह करता है, उसकी स्थिति सदा नीचे रहती है। जैसे—

दानात् प्रतिष्ठा लोकेऽस्मिन् न तु वित्तस्य संचयात्।
ऊर्ध्वं स्थितिः पयोदानां समुद्राणामधस्तथा॥

संसारके प्राणीमात्र मेघको चाहते हैं। उसके जलसे सबको तृप्ति होती है। वह सदा अपने मनमें शान्तिका अनुभव करता है। परंतु समुद्र इस विश्वकी सभी नदियोंका जल अपने घरमें रख लेता है, किसीको देता नहीं। अतः वह सदा अशान्त रहता है और

उसकी गति सदा नीचे ही रहती है। संग्रह सदा अशान्ति पैदा करनेवाला है। हम जितना ही अभीष्ट वस्तुका संग्रह अधिक करते हैं, उतने ही दुःखका अनुभव करते हैं।

एक कविने यह भी कहा है कि हम सुख-प्राप्तिकी आशासे संसारमें अधिक-से-अधिक स्त्री, पुत्र और धन आदिसे सम्बन्ध जोड़ते हैं; परंतु सुख और शान्ति मिलती नहीं। यथा—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

अर्थात् इस नश्वर संसारमें सम्बन्धियोंसे वियोग होना निश्चित है और वियोगके समय अशान्ति होना भी निश्चित है। अतः इससे किसीको शान्ति आजतक न मिली है और न मिलेगी।

गीतामें भी नरकके तीन द्वार बतलाये गये हैं, जो आत्माके नाशके कारण हैं। जैसे—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

अर्थात् काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों मनुष्यकी अशान्तिके कारण हैं। इनसे ही दुःखोंका प्रवेश होता है। अतः इन तीनोंको बिना छोड़े मनुष्य कभी सुख और शान्तिका अनुभव कर नहीं सकता। यही कारण है कि प्राचीन कालके ऋषि-महर्षि वनोंमें तथा पर्वतोंकी गुफाओंमें रहकर एकान्त जीवन व्यतीत करते थे।

नगरोंमें और ग्रामोंमें विषय और विषयी दोनोंका संसर्ग रहता है। उनके संसर्गसे विषयोपभोगकी लिप्सा उत्पन्न होती है। श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें लिखा है—

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥

तात्पर्य यह है कि अज्ञानका कारण जितना स्त्रीका संसर्ग नहीं है उससे अधिक विषयोपभोगमें लिप्त पुरुषोंका संसर्ग है। अतः विषय और विषयी मनुष्योंके संसर्गसे बचनेके लिये मनुष्यको एकान्तवास करना चाहिये। अन्यथा शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायमें त्यागका विवेचन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने किया है। भगवान्ने तीन तरहके त्याग बतलाये हैं—तामस, राजस और सात्त्विक। इनमें नियत कर्मोंका त्याग असम्भव है, इसलिये उसका त्याग करना तामस त्याग है। इस त्यागमें दोष है। हठसे नियत कर्मोंको छोड़नेसे शारीरिक और मानसिक दोनों तरहके कष्ट होते हैं।

राजस त्यागमें दुःख होगा, शरीरमें पीडा होगी—इत्यादि भयसे अपने कर्तव्योंको छोड़कर त्यागी बननेका दम्भ होता है। इसलिये ये दो तरहके त्याग करनेसे त्यागका फल प्राप्त नहीं होता। इसी बातको भगवान्ने गीतामें कहा है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥

अतः सात्त्विक त्याग जो है, वही वस्तुतः त्याग है। भगवान्ने कहा है कि स्वरूपतः कर्म-त्यागको त्याग नहीं कहते। कर्तव्य समझकर कर्मोंको तो करते ही रहना चाहिये, परंतु आसक्ति और कर्मके फलका त्याग करना चाहिये—यही वास्तविक त्याग है। इसी तरहके त्यागसे शान्ति प्राप्त होती है। इसी त्यागके फलको बतलाते हुए **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** कहा गया है। सात्त्विक त्यागका लक्षण भगवान्ने कहा है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

सात्त्विक त्याग विषयोपभोगमें विराग होनेसे होता

है और विषयोंमें अनुराग होनेसे विषयोंका संग्रह होता है। हमलोगोंकी क्रियाएँ विपरीतरूपसे होती हैं; क्योंकि भगवान्‌में अनुराग होनेसे विषयसे वैराग्य होता है और वस्तुमें वैराग्य होनेसे उसका त्याग होता है; किंतु हमलोग विषयसे अनुराग करते हैं और भगवान्‌से वैराग्य करते हैं। यदि हमारी क्रियाएँ इसी तरह होती रहेंगी तो शान्ति कैसे मिलेगी ? अतः यदि हमारी क्रियाओंकी दिशा बदल जाय तो शान्ति मिलनेमें एक क्षणकी भी देर न लगेगी। क्रियाओंकी दिशा बदल जानेपर सांसारिक विषय विष-भक्षणकी तरह त्याज्य हो जाय। फिर तो हमें वह आनन्द प्राप्त होगा कि संसारके भारी-से-भारी कष्ट आनेपर भी हमारा मन कभी चञ्चल न होगा।

अतः यदि हमें शान्ति प्राप्त करनी है तो भगवान्‌में अनुराग करना चाहिये। भगवान्‌में अनुराग होनेसे विषयोपभोगमें वैराग्य स्वयं आ जाता है; फिर वह धनियोंको तुच्छ समझता है। वह किसीकी परवा नहीं करता। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥

तात्पर्य यह है कि भगवत्प्रेम प्राप्त होनेपर सांसारिक सुखोपभोग तुच्छ जान पड़ता है। जिसको ईश्वरमें अनुराग है, वह रास्तेके चिथड़ेसे ही शरीर ढक लेता है। उसको अच्छे कपड़ेकी स्पृहा नहीं होती। भिक्षासे प्राप्त अन्न जैसा भी हो, उसीसे संतुष्ट रहता है। नदियोंका जल जो सबके लिये सुलभ है, वह उसकी पिपासा शान्त कर ही देता है। पर्वतोंकी गुफाएँ खुली पड़ी हैं, उनमें रहकर वृष्टि और शीतसे अपनी रक्षा कर ही सकता है; क्योंकि शरणमें आये हुएकी रक्षा करनेके भारको भगवान्‌ने अपने कंधेपर ले रखा है। फिर वह धनमदसे मत्त धनी पुरुषोंके दरवाजेको क्यों खटखटायेगा।

इस तरह सांसारिक विषयोंसे जिसका मन विरक्त हो गया है, वह विद्वान् पुरुष किसी धनीके पास क्यों जाय ? जब विषयोपभोगकी लालसा होती है, तभी वह उसको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। न मिलनेसे दुःख होता है। मिल जानेपर लालसाकी तृप्ति होती ही नहीं, अतः और अधिक प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। इस तरह कभी तृप्ति होती ही नहीं। अतः त्यागसे ही शान्ति मिलती है, यह निश्चित है।

◆

स्वयंके अतिरिक्त

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

स्वयं-ज्योतिके उजालेमें क्या नहीं दीखता ?
स्वयं-तमकी तिमिरतामें क्या नहीं खो जाता ?
ज्योति और तममें सम्बन्ध है सापेक्षताका।
सापेक्ष वस्तुओंका अस्तित्व नहीं होता।
अतः न ज्योति है न तम।
और अब ज्योति है न तम तो क्या दीखता है!
........क्या न दीखता है !
बात तो यह है कि केवलमात्र स्वयंके अतिरिक्त
........उस स्वयंके, जिसके बारेमें न कुछ कहते बने न
चुप रहते, कहीं और है ही क्या ?..........
सच, कुछ भी तो नहीं।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी

(भाद्रपद-कृष्णाष्टमीके महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन)

भगवान् श्रीकृष्णके प्रति नमस्कार

अंशांशकांशककलाद्यवतारवृन्दै-
रावेशपूर्णसहितैश्च परस्य यस्य ।
सर्गादयः किल भवन्ति तमेव कृष्णं
पूर्णात् परं तु परिपूर्णतमं नताः स्मः ॥
मन्वन्तरेषु च युगेषु गतागतेषु
कल्पेषु चांशकलया स्ववपुर्बिभर्षि ।
अद्यैव धाम परिपूर्णतमं तनोषि
धर्मं विधाय भुवि मङ्गलमातनोषि ॥
यद् दुर्लभं विरादयोगिभिरप्यगम्यं
गम्यं द्रवद्भिरमलाशयभक्तियोगैः ।
आनन्दकंद चरतस्तव मन्दयानं
पादारविन्दमकरन्दरजो दधामः ॥
पूर्वं तथात्र कमनीयवपुष्मयं त्वां
कंदर्पकोटिशतमोहनमद्भुतं च ।
गोलोकधामधिषणद्युतिमादधानं
राधापतिं धरणिधुर्यधनं दधामः ॥

जिस परम पुरुषके अंश, अंशांश, कला, आवेश और पूर्ण आदि अवतारोंसे सृष्टि-संहारादि लीलाकार्य सम्पन्न होते हैं, उन पूर्णसे भी परे परिपूर्णतम श्रीकृष्णको हम नमस्कार करते हैं।

जो अतीत और अनागत मन्वन्तर, युग और कल्पोंमें श्रीबलरामजीके रूपमें अपनी अंशकलाके साथ दिव्य विग्रह धारण करते हैं, सम्प्रति भी जो अपने परिपूर्ण तेजका विस्तार कर रहे हैं, धर्मविस्तार करके जो पृथ्वीका विविध प्रकारसे मङ्गलविधान किया करते हैं, जो उत्तम योगिगणोंके लिये भी दुर्लभ और एकमात्र सरल शुद्धाशय द्रवितचित्त भक्तियोगके द्वारा ही गम्य हैं, उन आनन्दकन्द विभुके मन्द-मन्द विचरणशील पदारविन्दके मकरन्द-रजको हम अपने हृदयमें धारण करते हैं। हे राधापते! हमने आपके जिस रूपको देखा और अब भी देख रहे हैं, आपके उस अद्भुत कमनीय शतकोटि-मन्मथ-मोहन तथा परम गोलोकधामके द्युतिधारी धरणी-धारण-क्षम रूपको हम हृदयमें धारण करते हैं।

अवतारका स्वरूप और कारण

वैवस्वत मन्वन्तरीय अट्ठाईसवें चतुर्युगके द्वापरके अन्तमें भाद्रमासकी मङ्गलमयी कृष्णाष्टमीके दिन इस पृथ्वी-मण्डलको श्रीकृष्णके प्राकट्यका परम सौभाग्य मिला था। आज वही श्रीकृष्णजन्माष्टमीका परम पावन महान् महोत्सव-पर्व है। यह स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका समग्र रूपमें पृथ्वीपर अवतरण है। भगवान्के स्वरूप-तत्त्वकी महिमा और व्याख्या न तो आजतक कोई कर सका है न आगे कोई कर ही सकेगा। स्वयं भगवान्के और भगवत्प्रेमी महानुभावोंके सांकेतिक शब्दोंके आधारपर उनकी सहज करुणामयी प्रेरणासे ही अपने जीवनको धन्य करनेके लिये भगवान्के महत्तत्त्वका किंचित् स्मरण कर लिया जाता है। भगवान् नित्य-सत्य-सच्चिदानन्दघन-मङ्गल-विग्रह हैं, नित्य सर्वातीत और सर्वमय हैं, सर्वगुणातीत और अचिन्त्यानन्त-सद्गुण-स्वरूप हैं। उनके अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य नित्य नवायमान हैं। वे नित्य अजन्मा रहते हुए ही जन्म-लीला करते हैं, नित्य अविनाशी होते हुए ही अन्तर्धान होते हैं और नित्य सर्वभूतमहेश्वर होते हुए ही छोटे-से पराधीन शिशु बनकर मधुर शिशु-लीला करते हैं। इसी अपने अचिन्त्यानन्त-युगपद्-विरुद्ध-धर्माश्रयी स्वरूपका संकेत भगवान्ने भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायके छठे श्लोकमें किया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४ । ६)

मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और समस्त भूतोंका ईश्वर रहते हुए ही अपनी प्रकृति (स्वां प्रकृतिम्) में अधिष्ठित रहकर, अपनी माया (आत्ममाया) से प्रकट होता हूँ।

भगवान्की तीन प्रकृतियाँ हैं—(१) जगद्रूप अष्टधा 'अपरा प्रकृति', (२) जीवभूत चेतन 'परा प्रकृति', जो अखिल जगत्को धारण करती है। (३) 'अपनी प्रकृति', जिसमें भगवान् लीलाके समय अधिष्ठित

रहते हैं। यह अन्तरङ्गा, विशुद्ध भगवन्मयी है। इसी प्रकारसे भगवान्‌की मायाके भी अनेक रूप हैं; पर जिस मायासे भगवान् स्वयं लीला सम्पादन करते हैं, वह माया भगवान्‌की निजी माया है। इसीका नाम 'योगमाया' अथवा भगवान्‌की 'स्वरूपभूता लीला' है। वे जबतक अपनी विशेष लीला करते हैं, तबतक इसी योगमायाका अवलम्बन करते हैं। रासलीलाके प्रारम्भमें भी इसी योगमायाका समाश्रयण किया गया था। 'योगमायामुपाश्रितः'। इसी योगमायासे अपनेको छिपाये भी रखते हैं—'योगमायासमावृतः' (गीता)।

जीवोंकी भाँति भगवान्‌की दिव्य देह न तो पाञ्चभौतिक होती है न कर्मजनित ही। वह स्वेच्छामय विशुद्ध भगवद्रूप होती है। इसी विशुद्ध भगवद्रूपमें भगवान् श्रीकृष्णका आजकी महामहिमामयी अष्टमी तिथिको प्राकट्य हुआ था। भगवान्‌ने अपने अवतारके तीन प्रधान हेतु बतलाये हैं—'साधुका परित्राण', 'दुष्कृतोंका विनाश' और 'धर्मका संस्थापन'। स्वयं भगवान्‌के इस पूर्ण अवतारमें भगवदाकारके अन्यान्य अवतारी कारणोंका भी समावेश रहता है। इसीलिये पापात्मा राजाओंके रूपमें प्रकट असुरोंका विनाश, उनके द्वारा संत्रस्त साधुओंका परित्राण और पापाचारियोंके द्वारा प्रचलित अधर्मका विध्वंस करके विशुद्ध सनातन मानवधर्मकी स्थापनाका मङ्गल कार्य भी इस अवतारके द्वारा सुसम्पन्न हुआ है। परंतु भगवान् अपने इस घनीभूत परम-प्रेमानन्द-रसरूप लीला-विग्रहके द्वारा उन साधुओंका परित्राण करते हैं, जो भगवान्‌के मङ्गलमय प्रेम और परमानन्दमय दर्शनकी महती उत्कण्ठासे भयानक विरह-वेदनाका अनुभव करते हैं और जीवनका एक-एक पल इस भीषण विरहाग्निकी भयानक ज्वालामें विदग्ध होते हुए बिताते हैं। इसी प्रकार उन दुष्टोंका, उन भाग्यवान् असुरोंके असुर-देहोंका विनाश करके उन्हें सहज ही स्वधाममें पहुँचा देते हैं, जो केवल भगवान्‌के ही मङ्गलरूप कर-कमलोंके द्वारा प्राण-त्याग करके भगवान्‌के दिव्य धाममें पहुँचनेके अधिकारी हो चुके हैं। धर्मकी स्थापनासे काम-कलुषित विषय-सेवनरूप अधर्मके अभ्युत्थानको ध्वंसकर परम उत्कृष्ट मुक्तिमुक्तिकी वाञ्छाके सहज त्यागसे सम्पन्न हुए परम मधुरतम विशुद्ध प्रेम-धर्मके संस्थापनकी ओर स्पष्ट संकेत है। अतएव लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, ज्ञान-प्रेम, सभी क्षेत्रोंमें अयुक्त आसुरी भोग-भावोंका उन्मूलन करके परमोच्च विशुद्ध दैवी भावोंकी स्थापना सहज ही स्वयं भगवान्‌के इस प्राकट्यके द्वारा सुसम्पन्न होती है।

भगवान्‌का प्राकट्य कंसके कारागारमें अर्धरात्रिके समय होता है। उस समय दसों दिशाओंसहित आकाश निर्मल हो जाता है। नक्षत्र-राशि विचित्र रूपसे झलमलाने लगती है। समस्त भू-मण्डल प्रसन्न हो उठता है। नद-नदियाँ, समुद्र-सरोवर सहज ही स्वच्छ हो जाते हैं। अर्धरात्रिके समय ही नदियों और सरोवरोंमें सर्वत्र शतदल और सहस्रदल पद्म प्रस्फुटित हो उठते हैं। उनकी मधुर सुगन्ध वायुके स्पर्शसे सर्वत्र फैल जाती है। इधर-उधर पराग बिखर जाती है और भ्रमरोंके समुदाय असंख्य रूपमें आ-आकर मधुपान और मधुगुंजारमें प्रवृत्त हो जाते हैं। मयूर महानन्दमें नृत्य करने लगते हैं। शीतल-मन्द-सुगन्ध मलयपवन प्रवाहित होने लगता है। जनपद-समूह समृद्ध हो जाते हैं। ग्राम-नगर सभी मङ्गलनिकेतन बन जाते हैं और देवता-ब्राह्मण, गिरि-समूह और गोसमुदाय सुख-समृद्ध हो जाते हैं। स्वर्गमें अकस्मात् तुमुल जय-ध्वनि-संयुक्त देव-दुन्दुभि बज उठती है। विद्याधर, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर और चारण मधुर गान करने लगते हैं। देवताओंके स्तुति-वाक्योंसे दिग्‌दिगन्त गूँज उठता है। दिव्य गन्धर्व और विद्याधरगण नाच उठते हैं और देवतागण पारिजात, मन्दार, मालती आदि उत्तम सुगन्धमय सुमनोंकी वर्षा करने लगते हैं। सजल मेघ मन्द-मन्द गर्जन करते हुए स्तव-गान करते हैं। इस प्रकार समस्त विश्व-चराचर अपने प्रभुके मङ्गल स्वागतमें अपनेको सजाकर धन्य हो जाते हैं। ऐसे शुभ समयमें भाद्रमासकी कृष्णाष्टमीकी अर्ध रात्रिके समय रोहिणी नक्षत्रके

हर्षण योगमें अरणिसे यज्ञाग्निके सदृश वसुदेवके यहाँ देवकीसे साक्षात् भगवान् हरि आविर्भूत होते हैं। उस समयके भगवान्के स्वरूप-सौन्दर्यका वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं—

स्फुरदच्छविचित्रहारिणं
विलसत्कौस्तुभरत्नधारिणम् ।
परिधिद्युतिनूपुराङ्गदं
धृतबालार्ककिरीटकुण्डलम् ॥
चलदद्भुतवह्निकङ्कणं
तडिदूर्जितगुणमेखलाचितम् ।
मधुभृद्ध्वनिपद्ममालिनं
नवजाम्बूनददिव्यवाससम् ॥
सतडिद्घनदिव्यसौभगं
चलनीलालकवृन्दभृन्मुखम् ।
चलदंशुतमोहरं परं
शुभदं सुन्दरमम्बुजेक्षणम् ॥
कृतपत्रविचित्रमण्डनं
सततं कोटिमनोजमोहनम् ।
परिपूर्णतमं परात्परं
कलवेणुध्वनिवाद्यतत्परम् ॥

वसुदेवजीने देखा कि बालक चमचमाते हुए, निर्मल एवं रंग-बिरंगे हारसे विभूषित है । गलेमें शोभाधाम कौस्तुभमणि धारण किये है, चरणोंमें नूपुर एवं भुजाओंमें बाजूबंद सुशोभित हैं, जिनसे क्रमशः चन्द्रमण्डल और सूर्यमण्डलका-सा प्रकाश फैल रहा है। मस्तकपर किरीट-मुकुट और कानोंमें कुण्डल हैं, जिनसे उदयकालीन सूर्यकी-सी आभा छिटक रही है । हाथोंमें कंगन हैं, जो घूमती हुई अग्नि (लुकारी) की शोभा बिखेर रहे हैं। कटि-प्रदेश करधनीद्वारा वेष्टित है, जिसकी लड़ें विद्युल्लेखाके समान कौंध रही हैं। वक्षःस्थलपर कमलोंकी माला झूल रही है, जिसपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। शरीरपर दिव्य पीताम्बर सुशोभित है, जिसकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णकी-सी है और जिसके कारण उसका श्रीविग्रह सौदामनीयुक्त घनघटाका दिव्य शोभा धारण किये है। मुखमण्डल झूलती हुई नील अलकावलीसे आवृत है। शरीरसे छूटती हुई रश्मियोंद्वारा वह परम सुन्दर एवं सुखदायक बालक भवनके अन्धकारका नाश कर रहा है। कमलके समान बड़ी-बड़ी उसकी आँखें हैं, श्रीअङ्गोंपर शृङ्गारके रूपमें रंग-बिरंगे बेल-बूटोंकी रचना हो रही है और वह परिपूर्णतम पुरुषोत्तम परात्पर बालक अपनी रूप-छटासे प्रतिक्षण करोड़ों कामदेवोंको मोहित करता हुआ मधुर-मधुर मुरली-ध्वनि कर रहा है।

भगवान्के इस अपूर्व माधुर्य-सौन्दर्यमय स्वरूपका दर्शन करके वसुदेव-देवकी सफलजीवन हो गये। उनके आनन्दका पार नहीं रहा। वसुदेवने भगवान्का स्तवन किया। भगवान्ने पूर्वजन्मकी बातें बतलायीं। तदनन्तर वसुदेव-देवकीके प्रार्थनानुसार भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत शिशुरूप हो गये और वसुदेवजी उन्हें गोदमें लेकर नन्दालयमें पहुँच गये तथा बदलेमें योग-मायाको ले आये। भगवान्की विचित्र मायाके प्रभावसे सभी स्थानोंके सभी लोग निद्राभिभूत हो गये, इसलिये इस रहस्यको कोई न जान सका।

इसके बादकी श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, हरिवंशपुराण, महाभारत आदि अनेक ग्रन्थोंमें विशदरूपमें आ चुका है। उसे जितना पढ़ा-समझा जाय, हृदयंगम किया जाय, उतना ही परम मङ्गल है।

श्रीभगवान्के लीला-चरित्रसे शिक्षा तथा कर्तव्य

श्रीभगवान्के सभी गुण परम आदर्श हैं। निष्काम कर्मका जो ज्वलन्त उदाहरण भगवान् श्रीकृष्णने अपनी लीलामें सबके सामने रखा है, वह अद्वितीय है। राग-द्वेष-रहित होकर धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होना, हजारों अधर्मी नरेशोंका विनाश करके उनके स्थानपर उन्हींके वंशजोंको स्थापित कर देना, असंख्य-राज्य-निर्माता होकर भी किसी राज्यको स्वीकार न करके सबको समान भावसे प्रेम-दान देते हुए भी अन्यायका समर्थन न करके सबको अधर्मका नाश करनेकी प्रेरणा देना और संसारका सारा कार्य नाटकके रंगमञ्चपर सुनिपुण अभिनेताकी भाँति

सुसम्पन्न करते हुए ममता, आसक्ति, आशा, कामनासे सर्वथा दूर रहकर प्रत्येक कार्यको भगवान्‌की मङ्गल-पूजाके रूपमें परिणत कर देनेका सरल सहज साधन स्वयं आचरण करके जगत्‌के सामने रखना भगवान् श्रीकृष्णके लीला-चरित्रकी विशेषता है।

भगवान्‌का वृन्दावनीय बाल-चरित्र तो परम मधुरतम वात्सल्य, सख्य और माधुर्यकी पवित्रतम लीलाओंसे परिपूर्ण है। कहीं भी किसी भी देशके इतिहासमें, किसी भी साहित्यकी सृष्टिमें, किसी भी काव्यके कल्पना-काननमें सर्वथा ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी यह अपनी कोई समता नहीं रखता। जिस किसीने इस परम मधुर लीला-सुधा-समुद्रमें अवगाहन किया, वही परम धन्य हो गया। अनेकों बड़े-बड़े परमहंस ऋषि-मुनि-महात्मा, अद्वैत-तत्त्वमें परिनिष्ठित ब्रह्मस्वरूप महापुरुष, तत्त्वज्ञ योगी इस परम अगाध रस-समुद्रमें सर्वथा डूबकर धन्य हो चुके हैं। आज भी भगवान् श्रीकृष्णका लीला-मधुर-रस-समुद्र उसी भाँति लहरा रहा है। उसमें कूदनेका साहस उसीको करना चाहिये जो सारी भोग-मोक्षकी आकाङ्क्षाओंसे सर्वथा शून्य हो चुका हो।

यों भगवान्‌के आदर्श दिव्य कर्मयोगका, उनके द्वारा आचरित महती जीवन-चर्याका, उनके उपदेशों और शिक्षाओंका आदर्श ग्रहणकर यथायोग्य उन्हें अपने जीवनमें उतारकर सभी धन्य हो सकते हैं और सभीको होना चाहिये।

आज तो प्रायः सारा ही दृश्य-विश्व 'कामोपभोग-परायण' होकर सर्वथा असुरभावापन्न हो रहा है। इसीसे आजका आसुरी-राक्षसी यन्त्रासुर-समन्वित विज्ञान प्रकारान्तरसे विशुद्ध अध्यात्मनाशक अज्ञानका प्रसार करके आत्मविध्वंसके उद्योग-पर्वमें संलग्न है। इसीसे आज विश्वकी गति विकास तथा प्रगतिके नामपर आध्यात्मिक, नैतिक एवं धार्मिक भाव तथा आचरणोंके विनाश तथा अधोगतिकी ओर हो रही है और सबसे अधिक खेदकी बात तो यह है कि तामसिक बुद्धिके प्रभावसे विपरीत अनुभूति हो रही है—**'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।'** और इसका परिणाम अधोगति भी निश्चित ही है—

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।

भारत भी आज मोहान्ध होकर इसीका अन्ध-अनुकरण कर पतनोन्मुख हो रहा है।

इस भयानक धर्म-संकटके समय बचे हुए कुछ धर्मभीरु लोगोंके मार्ग-दर्शनके लिये भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्गीता ही एकमात्र पथ-प्रदर्शक दीप-स्तम्भ, नित्य सङ्गिनी पथ-ज्योति और परम पाथेय है। अतएव इस समय भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य उपदेश-वाणीका प्रचार-प्रसार और जीवनमें क्रियात्मक आचरण ही सर्व-प्रधान अथवा एकमात्र आशा-स्थल है। भारतपर इस समय भीषण संकटके बादल छाये हैं और वह 'किंकर्तव्य-विमूढ़' हो रहा है। चीनासुर तथा पाकासुर सिरपर चढ़े आ रहे हैं। इस समय आध्यात्मिक भागवती शक्तिकी आराधना करके उसे जगाना और उससे अमोघ बल प्राप्त करना विशेष प्रयोजनीय है। अन्तमें प्रार्थना कीजिये—

सत्-चित्-घन परिपूर्णतम, परम प्रेम-आनन्द।
विश्वेश्वर वसुदेवसुत, नँदनंदन गोविन्द॥
जयति यशोदातनय हरि, देवकिसुवन ललाम।
राधा-उर-सरसिज-तपन, मधुरत अलि अभिराम॥
वाणी हो गुणगानरत, कर्ण श्रवण-गुण लीन।
मन सुरूप-चिन्तन-निरत, तन सेवा-आधीन॥
पूर्ण समर्पित रहे नित, तन-मन-बुद्धि अनन्य।
सहज सफलता प्राप्तकर, हो मम जीवन धन्य॥

नंदके आनंद भयो, जै कन्हैया लालकी।

विपत्तिको पराजित करनेकी रीतियाँ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

विपत्ति एक परीक्षा है। परीक्षाका उद्देश्य मनुष्यको मजबूत करना होता है। दंगलमें उस्ताद अपने नये पहलवानोंको खूब पटकनी देता है। बार-बार गिराता है। हाथ-पाँवोंकी कसरतें कराकर अपने शिष्यको आनेवाली हर मुसीबतके लिये मज़बूत बना देता है। इसी प्रकार विपत्ति हमें दो-चार पटकनी देकर मज़बूत बनाने आती है। एक विपत्तिको सहनकर हम आनेवाली उससे भी बड़ी मुसीबतको परास्त करनेकी ताकत प्राप्त कर लेते हैं। उत्तरोत्तर विपत्तियोंको सहन करते-करते हम भावी जीवनके लिये हर प्रकार सुदृढ़ बन जाते हैं। आनेवाली विपत्तियोंको यों मात दीजिये—

पहली रीति जो अवश्यम्भावी है, उसे स्वीकार कीजिये

जिस विपत्तिसे नहीं बचा जा सकता, उसे सहन करनेकी ताकत इकट्ठी कीजिये। उसे ग्रहण करनेके योग्य शरीर और मनको बनाइये। समयको अवसर दीजिये कि वह आपको नयी आनेवाली बदली हुई परिस्थितिसे युद्ध करने योग्य बना दे।

आप जिस बातसे किसी प्रकार नहीं बच सकते, उसके विषयमें चिन्ता करनेसे भला, आपको क्या लाभ होनेवाला है। बस, आप अपनी कार्य-शक्तियोंको पङ्गुमात्र बनाकर ही रहेंगे। मृत्यु, हानि, विछोह, परीक्षामें फेल होना या और जो बात रुक नहीं सकती, उसे ग्रहण ही कर लीजिये। समयमें बड़ी ताकत है। यह बड़े-से-बड़े मानसिक घाव—भयंकर हानियाँ, दुःख और तकलीफें कम कर देता है।

मेरे एक मित्रने एक पत्नीकी मृत्युके बाद चार विवाह किये। हर पत्नीके मरनेपर स्वयं आत्महत्याके प्रयत्न किये। उन्हें किसी प्रकार समझा-बुझाकर रोका गया तो फिर समयके प्रवाहसे उनके पुराने घाव भर गये। वे नये विवाह करते गये। आज वे वृद्ध हैं और अपनी चौथी पत्नीके साथ मधुर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्होंने समयको मौका दिया। समय बीतता गया और उनमें पत्नीके विछोहको सहन करनेकी ही नहीं, वरं नया विवाह करनेतककी नयी शक्ति आ गयी। अतः जो अपरिहार्य अर्थात् जरूरी है, उसे पूरी ताकतसे ग्रहण कीजिये और समयको मौका दीजिये। आप विपत्तिको जरूर पराजित कर सकेंगे।

संकटकी घड़ी बीत जानेपर स्वयं शक्ति आने लगती है। व्यग्र होनेसे कोई लाभ नहीं है।

दूसरी रीति—कष्टके विरुद्ध कार्यवाही कीजिये

कष्ट आनेपर अपने विवेक-बुद्धिद्वारा उसे परास्त करनेकी कोई युक्ति सोचिये। यदि आपका कोई इष्ट-मित्र या सच्चा सनेही हो तो उससे सलाह लेकर उसके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही कीजिये। किसी प्रकार उससे कम-से-कम हानि हो, यह विचारिये। सच मानिये, आप जरूर कोई-न-कोई तरकीब खोज निकालेंगे। जो व्यक्ति कार्यवाहीमें तेजी और सतर्कता दिखाता है, वह अवश्य सफल होता है। कष्टकी घड़ी टल जाती है।

तीसरी रीति—जबतक जीवन है, तबतक उसका पूरा उपयोग कीजिये

जीवन बहुत लंबा है। यह पग-पगपर बहुमूल्य है। न जाने कब किस रूपमें आपका भाग्य चमक उठे,

अच्छे दिन आ जायँ। प्रत्येक दिन नयी-नयी सम्भावनाओंसे भरा पड़ा है। इसलिये निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि संसारके उपकारके लिये उसका अधिक-से-अधिक उपयोग किया जाय, मनुष्य आदर्श बने तथा अपने पीछेवालोंके लिये कुछ अनुकरणीय आदर्श छोड़ जाय। शरीरका कोई अङ्ग विकृत होनेपर भी दूसरे अङ्गोंसे जनताकी सेवा की जा सकती है। दूसरोंकी सेवामें मनुष्य अपना दुःख-दर्द भूल जाता है। अतः दूसरोंको सहायता देनेपर मनको एकाग्र कीजिये।

चौथी रीति—आपके पास जो मङ्गलकारी वस्तुएँ हैं, उनकी गिनती कीजिये

आपको अच्छा स्वास्थ्य, प्यार करनेवाला परिवार, पतिभक्ता पत्नी, बन्धु-बान्धव, मकान, वस्त्र, व्यापार, यश, प्रतिष्ठा, यौवन, कीर्ति—न जाने कितनी मङ्गलकारी वस्तुएँ प्राप्त हैं। असंख्य वस्तुएँ ऐसी हैं, जो दूसरोंके पास नहीं हैं। आप इन्हें गिनें और उन लोगोंके जीवनकी कल्पना करें, जिनके पास ये मङ्गलकारी वस्तुएँ नहीं हैं। फिर सोचिये, विपत्तिके लिये शोक करना कितना व्यर्थ है।

माँकी शक्ति ही निराश व्यक्तिको नवजीवन देती है

रामायणकालीन एक घटना आपकी निराशाको नव प्रेरणा दे सकती है। लीजिये, सुनिये—

अपहृता सीताके कारण विरहकातर राम एक दिन अत्यन्त निराश और दुखी थे। कोई मज़बूत सहारा नहीं दीख रहा था। चारों ओर जैसे अन्धकार-ही-अन्धकार था। सुग्रीव उन्हें एक सहारा मिला था। लेकिन वह भी निरपेक्ष था।

श्रीरामको अपने असहाय एकाकीपनपर बेहद आत्मग्लानि हुई। संसारमें उन्हें कुछ भी आश्रय नहीं दीख रहा था। जैसे सारा संसार ही खाली-खाली हो। परदेशमें उस संकटकालीन परिस्थितिमें वे लक्ष्मणको सम्बोधित कर बोले—

'लक्ष्मण! सब दुर्दशा करके भी दुष्ट दैव न जाने मुझे अभी कितना कष्ट और देगा। संकटोंको झेलते-झेलते मैं जैसे थक गया हूँ। साहस जवाब दे रहा है। घर छूटा, सगे-सम्बन्धी छूटे, पतिव्रता सहधर्मिणी छूटी। सब ओर दुःख-ही-दुःख है। वनका संकटापन्न जीवन भी विधिको सह्य नहीं हुआ। उफ़ कैसी विवशता है! हमारे वंशमें आजतक मेरे-जैसा दुःखभागी आदमी उत्पन्न नहीं हुआ है। लक्ष्मण! बताओ, अब क्या करूँ? मेरे तो हाथ-पाँव नहीं चलते।' भगवान्ने आगे कहा—

न वित्तं न बलं वीर त्वमेकः सहचारकः।
न चात्र तरणोपायो ह्यसहायस्य मे किल॥

भगवान् श्रीराम दुखी और निराश हो कहने लगे—

लक्ष्मण! मेरे पास धन (अर्थात् आर्थिक बल) नहीं है। मेरे पास शारीरिक शक्ति भी नहीं है। केवल तुम्हारा ही सहारा है। इस दुःखसागरसे पार उतरनेका तुम्हारे अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं है। मैं तो एकदम असहाय और निराश हो गया हूँ। जानकीको यदि कुछ हो गया, तो मैं जीवनसे ऊबकर प्राण त्याग दूँगा।

लक्ष्मण महापराक्रमी भगवान्की ऐसी निराशामयी वाणी सुनकर चकित रह गये। क्या भगवान् श्रीराम-जैसे शक्तिसम्पन्न व्यक्तिको निराश—निरुपाय होना चाहिये! कदापि नहीं।

निराश श्रीरामको ऐसा निस्तेज और निरुत्साह देखकर लक्ष्मणने कहा—‘भगवन् ! क्या आपको अपने लक्ष्मण-जैसे वीर भाईके बाहुबलपर भरोसा नहीं है ? इसके अतिरिक्त हमारे पास भाई भरत, राजा जनक एवं सुग्रीव आदिके सैन्यबलका भरोसा है । हम सब आपके साथ हैं, जीवनके हर पगपर सहायता करनेवाले हैं । यह जीवन संघर्षपूर्ण है—

‘कर्मक्षेत्रं हि मानुष्यम्’ । (म० भा० अनु० प० २१६ । १३)

अर्थात् मानव-जीवन कर्मक्षेत्र है । अतः हमें—

‘आत्मा रक्ष्यः प्रयत्नेन’ । (वा० रा० सु० का० ४६ । १५)

अर्थात् हमें अपनी रक्षा प्रयत्नसे करनी चाहिये, निराश नहीं होना चाहिये ।

तस्माच्छोको न कर्तव्यो व्यसने सति राघव ।
उद्यमे चित्तमास्थाय स्थातव्यं वै विपश्चिता ॥

अर्थात् मनुष्यको (निराश न होकर) सदा अपने उद्यम और शक्तिका ही भरोसा करना चाहिये । कष्टको दूर करनेका निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये ।

जीवनके दीप उत्साहसे जगमगाते रहें । उद्योगका प्रकाश हमारे चरित्रमें स्थायी हो । हमारे मनमें सर्वरक्षिका, सर्वशक्तिमती माँ दुर्गाकी शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हम अपने और जन-जनके अनिष्ट और अमङ्गल दूर कर सकें ।

लक्ष्मणके समझाने-बुझानेसे भी मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम आश्वस्त न हुए । इतनेमें महर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे और रामको निराश हुआ देखकर बोले—

‘राम ! जीवनमें निराश होनेसे कैसे काम चलेगा ? हृदयमें अदम्य उत्साह और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उत्साहको लेकर ही मनुष्य अपने जीवनकी विविध कठिनाइयोंको पार करता है । वनमें आकर आप अपनी संकल्पशक्ति खो बैठे हैं । तभी आप शक्तिके अभावसे कातर और कायर बने हुए हैं । आप नौ दिनका व्रत लेकर शक्तिकी उपासना कीजिये । मैं उसमें आपकी सहायता करूँगा । शक्तिकी आराधना आपको रावण-विजयके लिये काफी ताकत दे देगी । पूर्वकालमें जब-जब संकट आया, तब-तब ब्रह्मा, विष्णु और महेशतकने शक्ति (महिमावती दुर्गा)की आराधना करके बल पाया है ।

‘वह शक्ति नित्य, सनातन, सर्वादिकारण और सर्वकामप्रदा, दुःखनाशिनी है । उसके बिना कोई पलक भी नहीं मार सकता । विष्णुकी पालनशक्ति, ब्रह्माकी सृजनशक्ति, रुद्रकी प्रलयशक्तिका आधार वही (दुर्गा) शक्ति है । प्रलयकालमें निर्गुण होकर वह परब्रह्ममें लीन रहती है और सृष्टिकालमें सगुण, सक्रिय होकर विश्वका संचालन करती है । अतः शक्तिकी उपासनासे नवजीवन प्राप्त कीजिये ।’

रामने नौ दिनोंके व्रत-उपवाससे शरीर और आत्माको शुद्ध किया, भगवती दुर्गाका अनुष्ठान किया । माँकी महती शक्तिका उनमें प्रादुर्भाव हुआ । इसीके आधारपर उनकी निराशा, निरुत्साह और दुःख कम हुआ । उनका शरीर और आत्मा ओजस्वी बने और उन्हें पूर्ण विजय प्राप्त हुई । शक्तिकी आराधनाका प्रभाव यह होता है कि उससे मनुष्यकी कष्ट-विरोधिका ताकत बढ़ती है । निर्बलता और हीनताकी भावना हटकर साहस और बलका प्रादुर्भाव होता है । कहा गया है—

ज्ञानतृप्तो न शोचति ।
(महाभारत, शा० ३३७ । २४)

अर्थात् ज्ञानसे तृप्त विचारशील व्यक्ति व्यर्थ ही निराश नहीं होता, न शोक ही करता है ।

जो मनुष्य कर्म और अपने लक्ष्यमें तल्लीन होकर अपनापन भूल जाते हैं, वे ही सफल होते हैं ।

संसारमें सबसे बड़ी भूल वे लोग करते हैं, जो सच्चिदानन्द आनन्दकन्द ईश्वरको सर्वव्यापक मानते हुए भी संसारमें दुःख और पापका साम्राज्य मानते हैं।

कड़ी चोटें लगने दीजिये। कड़ी चोटें खा-खाकर लोहा मजबूत बनता है, कमजोर शक्तिशाली बनता है। कड़ी चोटें जीवनका सच्चा पाठ पढ़ाती हैं और परिस्थितियोंपर विजय पानेका ज्ञान देती हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामपर बचपनसे ही चोटें पड़ीं—अनगिनत चोटें—वनवासकी असंख्य असुविधाएँ, भोजन-निवास-राक्षसोंकी परेशानियाँ, सीता-जीका अपहरण, रावणसे युद्ध—इत्यादि; किंतु उन चोटोंके बाद राम फौलाद ही बन गये। उनकी समस्त कमजोरियाँ शक्तिरूपा बन गयीं। टक्करोंका स्वागत कीजिये और उनके विरुद्ध संगठित होकर कदम उठाइये।

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

मुक्तिहेतोः कृतो यज्ञो ब्रह्मणासुभृतां परः।
मुक्तिक्षेत्र इति ख्यातस्तस्माल्लोके घटोद्भव ॥*

(स्कन्दपुराण)

छप्पय

बद्ध जीव उद्धार हेतु अवतार धरें हरि।
कच्छ मच्छ बाराह बनें जड-चेतन तनु धरि ॥
बृंदा कूँ करि निमित भए पाषान दयानिधि।
सालगराम स्वरूप तरें नर पूजा करि विधि ॥
भवसागर तैं तरन हित, मुक्ति करन, भव-भय हरन।
मुक्तिनाथ स्वामी बने, जग जीवनि जारूनि जरन ॥

भगवान् वेदव्यासजीने पृथिवीके सात द्वीपोंमेंसे छः द्वीपोंको भूस्वर्ग बताया है। सात द्वीपोंमेंसे जो हमारा यह जम्बूद्वीप है, इसके भी नौ खण्ड हैं। उन नौ खण्डोंमेंसे एक अजनाभ-खण्ड है (जो अब भरतखण्ड या भारतवर्षके नामसे विख्यात है)। केवल यही खण्ड कर्मभूमि है। शेष आठ खण्ड भोगभूमि हैं, अर्थात् वे भी भूस्वर्ग हैं। उनमें द्यौ-स्वर्गसे पुण्यशेष जीव आते हैं। उनकी दस हजार वर्षकी आयु होती है। पुराणोंके अनुसार जहाँतक खारा समुद्र है, वह सब भारतवर्ष ही है। अर्थात् योरोप, अमेरिका, अफ्रीका, एशिया—इन सबकी गणना भारतवर्षमें ही है। पीछेसे हिमालयसे कन्याकुमारीतककी भूमिको ही भारतवर्ष कहनेकी प्रथा चल पड़ी; क्योंकि इसी बीचमें वर्णाश्रमधर्मी आर्य रहते हैं। शेषमें वर्णाश्रमेतर लोगोंके रहनेसे उनको भारतवर्षसे पृथक् माना गया। जैसे द्यौस्वर्ग, पातालस्वर्ग हैं वैसे ही भूमिपर भी आठ खण्ड और सप्तद्वीप भूस्वर्ग हैं। अर्थात् ये कर्मभूमि न होकर भोगभूमि हैं।

वैष्णवलोग स्वर्गको विशेष महत्त्व नहीं देते। उसे भी वे 'निरय' अर्थात् एक प्रकारका नरक ही मानते हैं। जिसमें पल-पलपर पुण्य क्षीण होनेपर पतनका भय बना रहे, जिसमें सातिशयता दोष हो—दूसरेके ऐश्वर्यको देखकर जलन बनी रहे वह नरक नहीं तो क्या है ? इसीलिये वैष्णवगण वैकुण्ठको ही श्रेष्ठ मानते हैं। कोई उसे गोलोक कहते हैं, कोई साकेतके नामसे पुकारते हैं। श्रीवैष्णव उसे महावैकुण्ठ कहते हैं।

जैसे ऊपर वैकुण्ठ है, वैसे ही वे पृथिवीपर भी आठ स्थानोंको वैकुण्ठ कहते हैं। उनके मतानुसार वैष्णवदर्पणमें पृथिवीके इन आठ स्थानोंपर महाविष्णुका नित्य निवास है। इन आठ-मेंसे चार स्थान दक्षिणमें और चार उत्तरमें मानते हैं। दक्षिणमें कावेरी द्वीपमें स्थित (१) भगवान् श्रीरङ्गनाथजी, (२) श्री-मुष्टिनाथजी, (३) तीसरे वेङ्कटाद्रिपर स्थित तिरुपति बालाजी और (४) चौथे तोताद्रि। जब हम सिंहाचलम् (विजगापट्टम्) में गये, तब वहाँके माहात्म्यमें भगवान् वाराहनृसिंहके स्थान सिंहाचलम्की भी गणना अष्ट भूवैकुण्ठोंमें की गयी थी। इसलिये सिंहाचलम् या तोताद्रि दोनोंको ही भूवैकुण्ठ मानना चाहिये। उत्तरमें (५) श्रीबदरीनाथ, (६) नैमिषारण्य (७) पुष्करक्षेत्र और (८) शालग्रामपर्वतस्थित मुक्तिनाथ—इनको भूवैकुण्ठ माना है। इस पृथिवीपर ये आठ क्षेत्र

---

* स्कन्दजी कहते हैं—हे अगस्त्यजी ! 'प्राणियोंकी मुक्ति हो' इस हेतु ब्रह्माजीने यहाँ यज्ञ किया था, इसीलिये संसारमें यह श्रेष्ठ स्थान 'मुक्तिक्षेत्र' के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

वैकुण्ठके समान पुण्यप्रद हैं ।* श्रेयस्कामीको इन स्थानोंकी यात्रा अवश्य करनी चाहिये; क्योंकि पुराणोंमें तीर्थयात्राका बड़ा ही माहात्म्य है । पुराणोंके श्रवण, अध्ययनसे मैं तो इसी निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि प्रायः सभी पुराणोंमें पाँच वस्तुओंका ही माहात्म्य विशेषरूपसे वर्णन किया गया है, स्थान-स्थानपर इन्हीं पाँचोंपर बल दिया गया है। (१) एक तो गङ्गाजीका माहात्म्य, (२) दूसरे तुलसीजीका माहात्म्य, (३) तीसरे एकादशीका माहात्म्य, (४) चौथे समस्त तीर्थोंका माहात्म्य और (५) पाँचवें शालग्रामका माहात्म्य। कदाचित् ही कोई ऐसा पुराण हो, जिसमें इन पाँचोंका वर्णन न आता हो । इसमें भी शालग्रामकी महिमा सबसे अधिक है । कहना चाहिये कि वर्णाश्रमी सनातन वैदिक भागवत-धर्मका आधार-स्तम्भ शालग्राम भी हैं । हम श्रुति-स्मृतिको माननेवाले वर्णाश्रमियोंका शालग्रामके बिना कोई काम चल ही नहीं सकता । सत्यनारायणकी कथा करो तो शालग्राम लाओ । नाम-करण-संस्कारसे लेकर दाह-संस्कारतक हमें प्रत्येक कार्यमें शालग्रामकी आवश्यकता है । संन्यास लेते समय शालग्राम-शिला ही सिरपर रखकर सर्वस्व-त्यागकी शपथ ली जाती है । संन्यासी हो जानेपर भी शालग्रामका आराधन करते हैं । मृत्यु-समय हृदयपर शालग्राम ही रखते हैं ।

वैष्णवोंका तो शालग्रामके बिना एक क्षण भी काम नहीं चल सकता । कहा गया है कि बिना शालग्रामको भोग लगाये जो खाता है, वह चण्डालके समान है और मरनेपर कल्पपर्यन्त विष्ठाका कीड़ा बनता है । शालग्राम-शिलाकी पूजामें कोई विशेष विधि-विधान नहीं । जो भी सामग्री मिल जाय, उसीसे शालग्रामकी पूजा हो सकती है । हमारे यहाँ एक कहावत है—शालग्राम-पूजामें क्या प्रयास 'धोकर पी लेना, दिखाकर खा लेना ।' शालग्रामजीपर तुलसीका पत्र, फूल, दूर्वा, फल, मूल कुछ भी क्यों न चढ़ा दो, सुमेरुके समान उसका फल हो जाता है ।†

बहुत-से देशोंको शास्त्रोंने कीकट या म्लेच्छदेश बताया है । वहाँ जाना भी निषेध है, वहाँ जाना ही पड़े तो कैसे जाय ? अपने साथ छोटी एक शालग्राम-बटिया ले जाय । बस, काम बन गया । जहाँ ये चक्राङ्कित शालग्राम रहते हैं, वहाँ तीन योजन अर्थात् छः कोसतक भगवान्का क्षेत्र बन जाता है ।* कहनेका सार यही है कि शालग्रामका सम्बन्ध भागवत-धर्मसे अच्छेद्य है । पीना हो तो शालग्रामका चरणामृत या पञ्चामृत पीओ । खाना हो तो प्रत्येक वस्तुको शालग्रामका भोग लगाकर तुलसी डालकर खाओ । मस्तकपर चन्दन लगाना हो तो उसी चन्दनको लगाओ जिसकी टिकिया बनाकर शालग्रामके ऊपर चढ़ायी गयी हो । जीवनमें सदा शालग्राम-शिलाको साथ रखो और मरते समय उन्हें हृदयपर रखकर मरो तो कभी भी प्राणीकी अधोगति नहीं होगी ।

जिन शालग्राम भगवान्का ऐसा भारी माहात्म्य है, वे शालग्राम हिमालयमें मुक्तिनाथमें ही मिलते हैं । वहीं शालग्राम पर्वत है । वह कितना पवित्रतम पुण्यप्रद स्थल होगा, इसकी कल्पना धर्मप्रेमी महानुभाव स्वयं ही कर सकते हैं ।

मैंने भारतवर्षके प्रायः सभी प्रसिद्ध तीर्थोंकी एक बार नहीं, अनेकों बार यात्राएँ की हैं । पशुपतिनाथजी भी तीन बार गया हूँ । जब भी नैपाल जाता, तभी लोग कहते—महाराज, मुक्तिनाथकी यात्रा करनी चाहिये; किंतु वह है अत्यन्त कठिन । वहाँ तो कोई विरक्त फक्कड़ ही जा सकते हैं । मुक्तिनाथकी कठिनता, दुरूहता तथा वहाँकी असुविधाओंके सम्बन्धमें अनेकानेक किंवदन्तियाँ सुनी थीं । आजसे जो चालीस-पचास वर्ष पहले मुक्तिनाथ गये थे, वे वहाँकी अतिरञ्जित बातें सुनाते थे । कोई कहते वहाँ तो बरफपर चलना पड़ता है, कोई कहते वहाँ कोई रास्ता थोड़े ही है, घास पकड़के पहाड़ोंपर चढ़ना पड़ता है, भाग्यवश चढ़ गये तो चढ़ गये, हाथसे घास छूट गयी तो मर गये । कोई कहते, वहाँ नदियोंपर पुल थोड़े ही है । रस्सियोंमें लकड़ियाँ बाँधकर झूलते हैं, तनिक भी पैर फिसला तो घड़ामसे नदीमें गिर गये । कोई कहते वहाँ मीलों नदीके ठंडे जलमें चलना पड़ता है । कुछ कहते वहाँ खानेको तो कुछ मिलता ही नहीं । कोदो या मडुआ मिलता है, जो कड़वा होता है; उसीकी रोटी बनाकर खानी पड़ती है । कोई कहते, वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णाश्रमी थोड़े ही रहते हैं । भोटिया लोग हैं, वे आदमीका

---

* अयमेतत् स्वयं व्यक्तं विमानं रङ्गसंज्ञकम् ।
श्रीमुष्णं वेंकटाद्रिं च शालग्रामं च नैमिषम् ॥
तोताद्रिं पुष्करं चैव नरनारायणाश्रमम् ।
अष्टौ मे मूर्तयः सन्ति स्वयं व्यक्ता महीतले ॥

† पत्रं पुष्पं फलं मूलं तोयं दूर्वाक्षताः सुत ।
जायते मेरुणा तुल्यं शालग्रामशिलार्पितम् ॥

* म्लेच्छदेशेऽशुचौ वापि चक्राङ्को यत्र तिष्ठति ।
योजनानां तथा त्रीणि मम क्षेत्रं वसुंधरे ॥

मांसतक खा जाते हैं । आप अपनेको कभी काशी, प्रयागका न बतायें, नहीं तो आपको वे पवित्र मानकर प्रसादरूपमें खा जायँगे । इस प्रकारकी किंवदन्तियाँ सुनते-सुनते मनमें जो कभी जानेका साहस भी होता, वह कम पड़ जाता । ऐसी ही किंवदन्तियाँ आजसे पचास वर्ष पूर्व बदरीनाथजीके सम्बन्धमें थीं । किंवदन्तियाँ क्या, वे बातें ठीक ही थीं । आजसे तीस-बत्तीस वर्ष पूर्व जब हम श्रीबदरीनाथ गये, उसमें और आजकी यात्रामें आकाश-पातालका अन्तर है । तब सब यात्रियोंको ऋषिकेशसे ही पैदल जाना पड़ता था, यद्यपि तबतक सरकारकी ओरसे सड़कें बनने लगी थीं । ओवरसियर-इंजीनियर सदा नियुक्त रहते । मरम्मत करनेवाले मजदूरोंकी टोलियाँ सदा नियुक्त रहतीं, सैकड़ों भंगी उत्तरप्रदेश भरसे सफाईको भेजे जाते । चट्टियोंमें सामान रखनेका प्रबन्ध था । स्थान-स्थानपर औषधालय, नल, डाकघर, तारघर, डाक-बँगले सरकारकी ओरसे बन चुके थे, कालीकमलीवालोंकी ओरसे स्थान-स्थानपर सदावर्त, धर्मशालाएँ, पानी पिलानेकी प्याउएँ लग चुकी थीं । इतना सब होनेपर भी आजसे पचीस-तीस वर्ष पहले बदरीनाथकी यात्रा अत्यन्त दुरूह थी । लोग जीवनकी आशा छोड़कर जाते थे, फिर आजसे सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व, जब ये सब कुछ भी नहीं थे, तब कितनी दुरूह यात्रा रही होगी—इसका अनुमान आजका बदरीनाथयात्री कैसे कर सकता है, जो पहले दिन मोटरमें चले, दूसरे दिन बदरीनाथके सामने मोटरसे उतर पड़े, जिस बदरीनाथ शहरमें दिल्लीकी सभी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हों ।

मुक्तिनाथ तो नैपालराज्यमें पड़ता है, जहाँ अभीतक यात्राकी ये सुविधाएँ काठमाण्डू तथा आस-पासके स्थानोंतक ही पहुँचा पायी हैं, वह भी ८-१० वर्षके भीतर ही भारत-सरकारकी सहायतासे; जहाँके राणा कर लेना तो जानते थे, किंतु जनताके इस पैसेको सड़क, औषधालय, शिक्षा, पुल आदि अन्य जनताकी सुख-सुविधाके काममें लगाना चाहिये—यह वे जानते ही न थे । धर्मबुद्धिसे वापी, कूप, तड़ाग, धर्मशाला आदि जो उनकी स्त्रियाँ या वे बनवाते थे, वह दूसरी बात रही । मुक्तिनाथ-यात्रामें अभीतक इन आधुनिक सुविधाओंका प्रवेश नहीं हुआ है, न आरम्भ ही हुआ है: ऐसी दशामें मार्ग दुरूह तो होगा ही; किंतु हमने सोचा—लोग थोड़ेका बहुत बना ही देते हैं । फिर एक शुभ वासना है, उसे पूरी कर ही लेनी चाहिये । अब तो शनैः-शनैः आयु क्षीण ही होती जा रही है । इन्द्रियाँ शिथिलप्राय होती जा रही हैं । मोटर आदिकी सुविधा होनेसे चलनेका अभ्यास छूटता जा रहा है । यद्यपि भागवतकार तीर्थयात्राके विषयमें बहुत उत्साह नहीं दिखाते—वे तो भगवद्-भक्तिपर, सत्सङ्गपर ही बल देते हैं, फिर भी तीर्थोंका अपना महत्त्व है । सबसे बड़ी बात यह है कि एक सद्वासनाकी पूर्ति हो जाती है । इसीलिये अनेकों बार बदरीनाथ आदि पर्वतीय क्षेत्रोंकी यात्रा करनेपर भी हमने इस वर्ष मुक्तिनाथकी यात्राका निश्चय कर ही डाला।

मुक्तिनाथ-यात्राके मार्ग

श्रीमुक्तिनाथजी तिब्बतकी सीमापर अवस्थित हैं । वहाँका जलवायु, रहन-सहन, आचार-विचार, धर्म-संस्कृति—सब तिब्बतसे मिलती है । वहाँ वर्णाश्रमी सनातनी प्रायः नहीं हैं। आसपास प्रायः सभी बौद्ध हैं । वह यद्यपि नैपालराज्यके अन्तर्गत है; तथापि वहाँपर नैपाल-राज्यका कोई सुदृढ़ शासन नहीं है । सिक्का अवश्य नैपाली-चलता है और कुछ केवल नाममात्रका भूमि-कर भी नैपालराज्यको मिलता होगा । इसके अतिरिक्त नैपालराज्यकी ओरसे वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं—न पुलिस, न डाकखाना, न कोई न्यायालय तथा अन्यान्य शासनकी सुविधा ।

हम पहले ही बता चुके हैं कि पुराणोंके अनुसार आजकल जितने चार महाद्वीप हैं, सभी भारतवर्षके अन्तर्गत हैं। जिस प्रकारकी आज शासनकी सीमाएँ हैं, वैसी हमारे भारतमें या संसारके किसी भी देशमें सीमाएँ नहीं । पहले संसार तीन ही विभागोंमें विभक्त था—वर्णाश्रमी प्रजा, अवर्णाश्रमी प्रजा और वनवासी प्रजा। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि भेद तो धर्मके नामपर अब थोड़े ही दिनोंसे-लगभग हजार-डेढ़-हजार वर्षसे हुए हैं । योरोप, अमेरिका, अफ्रीका—ये सभी वनवासी प्रान्त माने जाते थे; इनमें वनवासी मल्लाह, कोल, भील, नागा आदि लोग रहते थे, जो पेड़ोंके नीचे या झोंपड़ी बनाकर रहते थे । जंतर-मंतर, जादू-टोना, भूत-प्रेत-पिशाचोंकी पूजा प्रचलित थी। अपनेमेंसे ही उनके दलपति चौधरी होते थे । प्रायः सभी देश-कालके अनुसार छोटे-छोटे वर्गोंमें बँटे थे, जलवायुके अनुसार उनमें कुछ काले-कलूटे थे, कुछ गोरे होते थे । वर्णाश्रमी वे होते थे जो वेद-उपासनाको मानते थे और जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ऐसे भेद होते थे, जिनमेंके क्षत्रिय अपनेको समस्त पृथिवीका जन्मजात स्वामी मानते थे । स्वामी माननेसे उनका

अभिप्राय सभीसे कर लेना या किसीके निजी शासनमें हस्तक्षेप करना नहीं होता था। हम जो आज्ञा प्रसारित करें, उसके सामने सभी सिर झुका दें; बस, इतना ही उनका अभिप्राय था।

तीसरे अवर्णाश्रमी थे। वे वनवासी और वर्णाश्रमियोंके बीचमें थे। उनमें नियमानुसार राजा होते थे, जो अपनी सेना रखते थे, शासक होते थे, युद्ध करते थे; परंतु उनमें वर्ण-आश्रमका कोई भेद नहीं होता था। उनमें आचार-विचार-संस्कार, वेदाध्ययनकी प्रथा नहीं थी। जब वे वर्णाश्रमियोंके संसर्गमें आते थे, तब वर्णाश्रमी क्षत्रिय राजाओंके उदात्त चरित्र, उनके समाजकी सुव्यवस्था, त्यागी-तपस्वी ब्राह्मणोंका उज्ज्वल चरित्र, अरबों-खरबों सुवर्णमुद्राएँ लगाकर बड़े-बड़े राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ देखते तो उनके मनमें भी ऐसा करनेकी इच्छा होती। उनमें जो शासक होते, वे अपनी कन्याओंको दूसरे शासित लोगोंको देनेमें हिचकते थे। वे चाहते थे क्षत्रिय हमारी कन्याओंको ले लें। उदारमना ऋषिगण कह देते—**'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि'**—भाई, स्त्री तो रत्न है, वह कभी वंशके कारण अपवित्र नहीं होता; इसलिये उसे नीच कुलसे भी लेना चाहिये। ऐसे निषाद, किरात, हूण, पुलिन्द, पुल्कश, आभीर आदि राजाओंका क्षत्रियोंसे सम्बन्ध भी होने लगा। वर्णाश्रमी क्षत्रिय उन्हें अपनी कन्या नहीं देते थे, किंतु उनकी कन्या ले लेते थे। कभी-कभी वर्णाश्रमी किसी राजासे पराजित होनेपर अवर्णाश्रमी राज्योंमें चले जाते तो वहाँके राजा भी बन जाते। कभी-कभी वर्णाश्रमी किसी अपराधपर किसी राजपुत्रको बहिष्कृत कर देते, देश-निकाला दे देते तो वे लोग पर्वतोंमें, वनोंमें जाकर या तो अपना स्वतन्त्र छोटा राज्य स्थापित कर लेते या किसी अवर्णाश्रमी राजाको पराजित करके उसके राज्यके अधिकारी बन जाते, दुर्बल होते तो अवर्णाश्रमियोंमें मिल जाते। इस प्रकार वर्णाश्रमी राजा तथा अवर्णाश्रमी राजा आपसमें घुलने-मिलने लगे। कोई-कोई अवर्णाश्रमी राजा क्षत्रियोंसे भी प्रबल होते, वे क्षत्रियोंको परास्त करके यहाँके राजा बन जाते। ब्राह्मण इसमें कुछ हस्तक्षेप न करते। उनका मत था क्षत्रियत्व तो शौर्यमें है—जो बली है, वीर्यवान् है, वही राजा है। इस प्रकार दो-चार पीढ़ीके पश्चात् ऐसे राजा या राजाके साथी भी वर्णाश्रमियोंमें घुल-मिल जाते। हमारे देशमें हूण आये, शक आये, कम्बोज आये, यवन-देशीय (मुसल्मान नहीं) आये, वे सब वर्णाश्रमियोंमें धीरे-धीरे घुल-मिल गये। अब उनका नाम भी नहीं है।

आज जिसे भारतवर्ष कहते हैं, वह तो छोटा होते-होते इतना हो गया है। पहिले चीन, जापान, तिब्बत, इंडोनेशिया, जावा, सुमात्रा, अफगानिस्तान—ये सब भारतके अन्तर्गत थे, और भी आजके सैकड़ों देश।

हम जब छोटे थे, तब भूगोलमें पढ़ा करते थे—भारतवर्षमें दो स्वतन्त्र राज्य हैं—नैपाल और भूटान। आपगास्थान (अफगानिस्तान) भारतका एक अङ्ग था। यही नहीं, वैदिक वर्णाश्रमियोंका वही प्रधान स्थान था। १५०–२०० वर्ष पूर्व ही वह भारतसे पृथक् हो गया। हम कभी स्वप्नमें भी अनुमान कर सकते थे कि ढाकाकी ढाकेश्वरी देवी, लवपुर (लाहौर), सिन्धुप्रदेश—जिसके कारण हम हिंदु कहलाने लगे—ये सब हमारे लिये विदेश बन जायँगे। राजनीतिक परिस्थितियोंसे आज इनकी गणना भारतसे पृथक् होने लगी।

हमारे यहाँ धर्म ही सबको एक सूत्रमें पिरोये हुए था। तीर्थयात्रा ही हमें एक दूसरेसे मिलाये हुए थी। रूसका अग्नि-तीर्थ, जो आज चार सौ वर्ष पहिले हम वर्णाश्रमियोंके अधीन था, अब भी जहाँ वर्णाश्रमी सनातनियोंका मन्दिर है तथा सहस्रों वर्णाश्रमियोंके रहनेका नगर अभी-अभी मिला है; आज हम वहाँ बिना राजकीय अनुमतिके जा नहीं सकते।

देवीभागवतमें जहाँ मुख्य-मुख्य सिद्ध पीठोंका वर्णन है वहाँ एक प्रधान देवीपीठ चीनमें बतलाया गया है।* आज वह पीठ लुप्तप्राय हो गया। जो चीन भारतका एक अङ्ग था, विधिकी विडम्बना तो देखिये, वही चीन आज हमारा शत्रु बना हुआ है और कहता है, भारतने हमारा तिब्बतका प्रदेश दबा लिया है। अरे बाबा ! सनातनसे जब चीन ही हमारा संरक्षित देश था, तब महाचीन (प्राचीन ग्रन्थोंमें तिब्बतके लिये 'महाचीन' शब्दका ही प्रयोग होता आया है) तो भारतका अङ्ग था ही। अंग्रेजोंके कालतक तिब्बतमें हमारी ही सेनाएँ रहती थीं, हमारे ही न्यायालय थे, हमारे ही वहाँ डाकबँगले थे, हमारा ही एक प्रकारसे शासन था। वर्णाश्रमियोंके सबसे प्रधान तीर्थ कैलास-मानसरोवर तिब्बतमें ही हैं। तब फिर हम उसे भारतसे पृथक् कैसे कहें। जिनके हाथमें शासनसत्ता है, उनकी भूलके कारण तिब्बतपर चीनकी प्रभुसत्ता मान ली गयी। अस्तु, यह हमारा विषय नहीं।

---

* महालसा परं स्थानं योगेश्वर्यास्तथैव च।
तथा नीलसरस्वत्याः स्थानं चीनेषु विश्रुतम्॥
(देवीभागवत ७ स्कं० अ० ३८ १३ श्लो०)

हाँ, तो हम मुक्तिनाथके मार्गोंका वर्णन कर रहे थे। मुक्तिनाथक्षेत्र नैपालराज्यमें है। नैपाल और भारतमें अब थोड़े दिनोंसे राजनीतिक भेद भले ही पड़ गया है। नहीं तो धार्मिक दृष्टिसे नैपाल-भारतमें कभी भी भेदभाव नहीं था। जैसे यहाँ वर्णाश्रमी हैं, वैसे वहाँ भी हैं। जैसे हम गङ्गा, गायत्री, शालग्राम, तुलसी, वर्ण-आश्रम, तीर्थ मानते हैं—वैसे नैपालमें। यों राजनीति-दृष्टिसे तो भारतके सात सौ राज्य, जो अभी-अभी कांग्रेस-शासनमें विलीन हुए हैं, अपनेको कंपनीराज (अंग्रेजीराज्य) से पृथक् मानते थे। बहुत-से राज्योंके पृथक् सिक्के चलते थे—जैसे ग्वालियर, जयपुर, निजाम हैदराबाद, कश्मीर आदिके। ये अंग्रेजोंद्वारा संरक्षित थे। नैपाल, भूटान प्रभुसत्ता-सम्पन्न माने गये थे। वैसे वे भारतमें ही थे। हिमालय भारतवर्षका सिर है। हिमालयके पाँच खण्ड हैं—(१) नैपाल, (२) कमायूँ, (३) केदार, (४) जालंधर, (५) कश्मीर। ये सब भारतके ही अन्तर्गत हैं।*

जब मैं कश्मीर गया था, तब मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि कश्मीरमें पग-पगपर पुण्यतीर्थ हैं। वहाँ नागोंके तीर्थ विशेष हैं। इसी प्रकार नैपालमें भी पग-पगपर तीर्थ हैं। पर्वतीय प्रान्त होनेसे देवीकी मान्यता अधिक है। किंतु विष्णु, शिव, सूर्य आदिके भी मन्दिर असंख्यों हैं। पहले यह देश किरातोंद्वारा शासित था। स्यात् नीवार जाति उन्हींका भेद हो। भगवान् पशुपतिनाथने अर्जुनको यहीं किरातरूपमें दर्शन दिया था, भगवान् पशुपतिनाथ तथा गुह्येश्वरी देवीके बीचमें किरातेश्वरका बड़ा भारी मन्दिर अभीतक विद्यमान है। भगवान् पशुपतिनाथसे ही अर्जुनको पाशुपतास्त्र प्राप्त हुआ था। नैपालमें बहुत-से पुराणप्रसिद्ध बहुत बड़े-बड़े तीर्थ हैं—जैसे भगवान् पशुपतिनाथ, जगदम्बिका गुह्येश्वरी शक्तिपीठ, नीलकण्ठ, शेषशायी विष्णु, राजधानीके चारों ओर चार विष्णु, चार देवीपीठ, सूर्य, विनायक आदि चार गणेश, नीलकण्ठ, ह्रद, सप्तकौशिकी, सप्तगण्डकी, वराहक्षेत्र, दन्तकाली, पिण्डेश्वर, जनकपुर तथा पुराणप्रसिद्ध अनेक ऋषियोंके स्थान, धौलागिरि, नीलगिरि आदि लाखों पर्वत—जिनमें पग-पगपर असंख्यों तीर्थ हैं। उसी नैपालराज्यके अन्तर्गत श्रीमुक्तिनाथ हैं। वहाँ जानेके अनेकों मार्ग हैं।

नैपालसे मुक्तिनाथ जानेका मार्ग

काठमांडूमें पशुपतिनाथजीका दर्शन करके जो मुक्तिनाथ जाते हैं, उन्हें त्रिशूली मार्ग होकर जाना पड़ता है। यह बड़ा विकट मार्ग है। अब तो त्रिशूलीतक मोटर भी काठमांडूसे जाती है। मोटरसे त्रिशूलीतक पैदल या मोटरसे जाय। वहाँसे भी कठेनी, सल्याणटार, खानचौक, लुईटेल कुन्हा, देउराली, पोखरा, लुंलेगाँव, उल्लेरी, सींकगाँव, दानबाजार, लेतेगाँव, टुकचाबाजार-काकवैंनी और मुक्तिनाथ।

गोरखपुरसे मार्ग

जो लोग काठमांडूसे न जायँ, सीधे भारतसे ही जाना चाहें, उन्हें या तो गोरखपुरसे रेलद्वारा नौतनवाँ—वहाँसे मोटरद्वारा भैरवा—भैरवासे हवाईजहाजद्वारा पोखरा और पोखरासे वही मुक्तिनाथवाले मार्गको जाना चाहिये, जिसको हम पहले बता आये हैं। जो भैरवासे हवाईजहाजसे पोखरा न जाना चाहें, पैदल ही जाना चाहें, उन्हें भैरवासे मोटरद्वारा बुटवल जाना चाहिये और बुटवलसे फिर पैदल जाना चाहिये।

बुटवलसे ३ मार्ग

बुटवलसे भी तीन मार्ग हैं। एक तो राशीघाट होकर। बुटवलसे नयापाटी, माल्लुंगा, भूमरे, पुतलीखेत, ग्यादी, फरसे, वेग खोला, दानबाजार, फिर लेते, टुकचे, कागवैंनी होकर मुक्तिनाथ। दूसरा बुटवलसे भैंसेफटारिड़ी रुरुक्षेत्र, धापाखानी, दह, बैंनीबाजार, तिपल्याङ्ग, कापरे, फिर वही टुकचे, कागवैंनी और मुक्तिनाथ।

तीसरा मार्ग

बुटवलसे तानसेन, रानीघाट, फिर गंडकीके किनारे-किनारेके अनेक तीर्थोंको करते हुए मुक्तिनाथ पहुँचना। हम इस तीसरे ही मार्गसे गये। अब आप संक्षेपमें उसी मार्गका वर्णन सुनिये। मैं यह सब वर्णन बहुत ही संक्षेपमें दे रहा हूँ। पुराणोंकी कथाएँ भी नहीं कह रहा हूँ, नैपालका भौगोलिक राजनीतिक वर्णन भी नहीं कर रहा हूँ। ये सब बातें विस्तारसे मैं अपनी शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली 'नैपालीमुक्तिनाथ-यात्रा' नामक पुस्तकमें करूँगा। यहाँ तो बहुत ही संक्षेपमें मार्गका विवरण ही दे रहा हूँ।

---

* खण्डाः पञ्च हिमालयस्य कथिता नैपालकूर्माचलौ
केदारोऽथ जलन्धरोऽथ रुचिरः काश्मीरसंज्ञोऽन्तिमः ॥ (केदारखण्ड)

झूँसीसे गोरखपुर

सोचा यह था कि अबकी बहुत भीड़-भाड़ नहीं करेंगे, विकट यात्रा है, चार-पाँच साथियोंको लेकर ही जायँगे; किंतु यह अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल है। जो अपने साथ चलनेको तैयार है, उसे मना कैसे करें; जो न भी चलता हो, उससे भी पूछ लेते हैं—यात्राको चलोगे? ऐसे करते-करते हम पचीस-छब्बीस आदमी तो यहीं हो गये। वैसे मुक्तिनाथ प्रायः गृहस्थी नहीं जाते, प्रायः फक्कड़—साधु-वैरागी ही जाते हैं, जिनके 'आगे नाथ न पीछे पगहा।' कहावत है—'और तीर्थोंमें जायँ राँड़ भी, किंतु मुक्तिनाथ जायँ साँड़ ही।' अर्थात् घर-द्वार छोड़े हुए स्वच्छन्द घूमनेवाले साधु-वैरागी ही मुक्तिनाथकी यात्रा करते हैं। हमारे साथ पाँच-छः माताएँ भी तैयार हो गयीं। हमने कहा—'चलो; जो भगवान् करेंगे, वही होगा।'

ज्येष्ठ शुक्ला प्रतिपदाको हमलोगोंने झूँसीसे प्रस्थान किया। झूँसीकी वर्तमान सरकारने उपेक्षा कर दी है। आजतक इतिहासमें कभी ऐसा नहीं हुआ कि झूँसीमें कभी कोई गाड़ी खड़ी न होती हो। एक बार डाकगाड़ी यहाँ नहीं खड़ी हुई। हमने तत्काल रेलवे मन्त्रीसे कहा। फिरसे गाड़ी खड़ी होने लगी; किंतु अब आने-जानेवाली कोई डाकगाड़ी झूँसी स्टेशनपर नहीं खड़ी होती। अतः हम सबको अत्यन्त कष्टके साथ रामबाग जाना पड़ता है। पीपेका पुल टूट जानेपर वर्षामें तो अत्यन्त ही कष्ट होता है। पचीस-तीस आदमियोंकी एक प्रकारकी बरात-सी ही थी। सबका यात्राका सामान, कई बार मोटर गयी-आयी। उसी बीच मोटरसे एक दुर्घटना भी हो गयी। एक लड़का मोटरके नीचे आ गया। गुंडोंने उड़ा दिया कि लड़का मर गया। ड्राइवर मोटर छोड़कर भागा, पुलिस आयी, लोग एकत्रित हुए, आधा सामान गया, आधा रह गया। सब चले गये, अकेला मैं रह गया। मैं पैदल ही दौड़ा। रामबाग छः मील, जैसे-तैसे पुल पार किया। पैदल कहाँतक दौड़ें। स्टेशनपर बहुत-से आदमी आये, वे सब निराश हुए, गाड़ी छूट गयी। दारागंज स्टेशनपर जैसे-तैसे पहुँचे ही थे कि गाड़ी वहाँसे भी छूट गयी। किसी तरह जंजीर खींचकर गाड़ी पुनः खड़ी की। राम-राम करके गाड़ीमें चढ़ ही गये। प्रातःकाल आठ बजेके लगभग गोरखपुर स्टेशनपर पहुँच गये। भाईजी ऋषिकेश गये थे। स्टेशनपर गोस्वामीजी तथा गीताप्रेसके अन्यान्य सभी बन्धु मिल गये। बड़े आदर-स्नेहसे हमें गीता-वाटिकाकी अतिथिशालामें ले गये। भाईजीकी पुत्री सावित्रीदेवी वहाँ थी ही। उसने सबको बड़े स्नेहसे भोजन कराया। रेलवे कर्मचारियोंमें दो स्थानोंपर सत्सङ्गका आयोजन था, उनमें थोड़ी-थोड़ी देर होकर गीताप्रेस देखने गये। स्टेशनपर आनन्दनगर चीनी मिलके व्यवस्थापक शर्माजी भी आये थे। उनका आग्रह था कि हम आनन्दनगर भी होते जायँ। अतः और सबको तो चार बजेकी रेलसे नौतनवाँ भेज दिया, हम तीन-चार आदमी गीताप्रेसकी मोटरसे आनन्दनगर गये। मिल तो बंद ही थी, उसे देखकर वहाँके लोगोंसे मिलकर आनन्दनगर स्टेशनपर आ गये, वहाँ सब साथी मिल गये। वहाँसे सब साथमें ही नौतनवाँ पहुँचे।

नौतनवाँसे बुटवल

नौतनवाँ नैपालकी सीमाके समीप एक छोटा-सा व्यापारिक नगर है। भारतीय रेल वहींतक जाती है। अभी वह आधुनिक सभ्यताकी दृष्टिसे पिछड़ा हुआ नगर है। कुछ शहरीपन, कुछ देहातीपनकी खिचड़ी है, सीलन-गंदगी बहुत, मच्छड़ोंका तो वहाँ साम्राज्य ही है। एक मारवाड़ी सज्जनके घरपर ठहरे। उन्होंने बड़ा स्वागत-सत्कार किया। प्रातः एक निजी बस की, पाँच बजे ही सब सामान लादकर चल दिये। एक पत्रकार शर्माजी भी नौतनवाँसे हमारे साथ हो लिये। बड़े ही सज्जन थे। वहाँ बहुत दिनोंसे रहते हैं, सबसे उनका परिचय था। उनसे हमें यात्रा-व्यवस्थामें बड़ी सहायता मिली। बुटवलतक वे हमारे साथ ही गये और सारी व्यवस्था उन्होंने ही की।

नौतनवाँसे हमारी बस प्रातः पाँच-साढ़े पाँच बजे चली। वहाँसे पाँच-छः मीलपर ही नैपाल राज्यकी सीमा थी। उस गाँवका नाम सनौली था। सनौलीसे गोरखपुरको पक्की सड़क जाती है। पक्की सड़कसे उस पार नैपाल राज्य था। बसने हमें ले जाकर नैपाल राज्यकी सीमामें छोड़ दिया। वहाँ हमें ऐसा लगा जैसे आजसे पचास-साठ वर्षके राजस्थानके किसी देशी राज्यके गाँवमें आ गये हैं। कच्ची सड़क, एक पेड़के नीचे पाँच-सात पुरानी मोटरें खड़ी थीं। एक टूटी-फूटी मोटर पड़ी थी। न कोई वहाँ पुलिस न कोई आदमी। किसीसे पूछो गाड़ी कब जायगी, कोई ठीक उत्तर ही न दे। कोई कह दे सवारी हो जायगी तो जायगी। कोई कहे निजी मोटरकार कर लो।

मैं लौटकर सड़कके इस पार भारतीय प्रदेशमें एक साधुकी कुटीपर आया। वहाँ सीमा-रक्षावाली भारतीय सेनाकी एक टुकड़ी अपना शिविर डाले पड़ी थी। सैनिक ड्राइवर

सिपाही कई प्रयागके थे। उन सबने मुझे पहचान लिया। बड़ा आदर-सत्कार किया, वे तुरंत गये। वहाँ कहकर हमारे लिये तुरंत बसका प्रबन्ध करा दिया। हम उस टूटे-फूटे कच्चे रास्तेमें खचड़-खचड़ करते हुए दो-तीन मील चलकर भैरवा पहुँचे। यहाँ भारत सरकारके सहयोग तथा सहायतासे नैपाल सरकारका एक हवाई अड्डा है, जिससे पोखराको हवाई जहाज जाते रहते हैं। पहले हमारा विचार यहींसे हवाई जहाजसे पोखरा होकर मुक्तिनाथ जानेका था; किंतु पीछे खर्चकी कमीसे हमारा विचार बदल गया और हम सीधे बुटवल मोटरसे चले गये। (क्रमशः)

◆

किसने पुकारा ?

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम')

पूजाका आसन था—

आँखें बंद थीं। पर मैंने देखा, भगवान् एकदम चौंककर उठ बैठे।

'किसने पुकारा ?'

लक्ष्मीजी बोलीं—'नाथ ! किसीने तो नहीं।'

'नहीं लक्ष्मी ! किसीने पुकारा है।' कहकर एकदम गरुड़पर सवार हो चल दिये, पर तुरंत ही लौट आये उदास-से। 'प्रभो ! कैसे लौट आये ?' लक्ष्मीजीने एक हल्की मुस्कानके साथ कहा। 'लक्ष्मी ! उसने वास्तवमें तुम्हें पुकारा था—मेरा नाम लेकर; मुझे नहीं पुकारा—' दुखी हृदयसे कहा और बैठ गये। धीरेसे फिर बोले, 'तो तुम जाओ न, लक्ष्मी ! उसने तुम्हें पुकारा है।' 'नाथ ! आपकी सेवा छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ ?—लक्ष्मीपतिको न पुकारे तो लक्ष्मी कैसे जाय ?' लक्ष्मीजी मुस्करा दीं। इस मुस्कानमें कितना रहस्य था, इसे भगवान् बूझ गये। भगवान्ने कुछ खिन्न-चित्त होकर कहा—'हाँ लक्ष्मी ! लोग मुझे याद करते हैं—मेरे लिये नहीं, तुम्हारे लिये, संसार पानेको। तुम आशीर्वादके रूपमें देती हो—एक नौका, कि जीव संसार-सागरसे सुखपूर्वक पार हो जायँ; पर वे उस नौकामें विहार करने लगते हैं—गुमराह हो जाते हैं। फिर तुम्हें बरबस पानेकी प्रबल इच्छा, घोर प्रयत्न करते हैं। जब तुम अपनी छत्रछाया उठा लेती हो, तब मेरी ओर दौड़ते हैं; पर मेरे लिये नहीं—तुम्हारी ही कृपाको लक्ष्य करके। जब मैं उन्हें अपनी ओर खींचता हूँ, तब वे डरकर भाग जाते हैं—'त्राहि-त्राहि' चिल्लाने लगते हैं। लक्ष्मी ! कैसे नादान हैं ये लोग ! मैं दिन-रात कान लगाये रहता हूँ—केवल यह सुननेको कि किसीने पुकारा। रात-दिन घूमता-फिरता हूँ—द्वार-पर-द्वार खटखटाता हूँ कि कोई द्वार खोले—मुझे अंदर बुलाये, पर मनुष्य मेरा नाम तो लेता है—आशीर्वाद माँगता है; पर जब उसकी झलकमात्र देता हूँ तो रो पड़ता है—दूर भागता है ! इतना मोहग्रस्त है वह—अज्ञान है ! वह चाहता है कृपा मिले, पर उसकी इच्छाके अनुसार, उसके समयानुसार, उसकी विधिके अनुसार। वह कृपा माँगता थोड़े ही है—वह तो एक आदेश देता है—एक हुक्म। वह प्रार्थना नहीं करता। रागकी एक भारी गठरी लादे घूमता है—न उसे हल्की करता है न करने देता है। पागलकी भाँति गूदड़-गादड़का एक बोझ लिये है; उसीमें हर्ष मानता है। हर ठोकरको विस्मृतिके गर्तमें डुबो देता है—हर नयी ठोकरको पुरानी करता चलता है, परंतु अपने जीवनमें परिवर्तन लानेको तैयार नहीं होता। हर ठोकर एक चेतावनी है; पर वह उसे चेतावनी थोड़े ही मानता है—वह तो उसे अपने सुखमय जीवनमें एक बाधा मानता है। मूर्ख जो है। उस राग-ग्रस्त जीवनके बिना खोया-खोया-सा फिरता है—न एकाकी रहना जानता है न मेरे साथ रहना चाहता है। चलो, लक्ष्मी ! कहीं भ्रमण कर आयें। चलो, संसारमें ही चलें।'

दोनों चलनेको तैयार ही थे कि आवाज सुनी—'नारायण ! नारायण !' 'कौन, नारद ?' भगवान् मुस्कराये। 'कैसे आये ? हम संसारमें अपने अनेकों जीवोंके खेलको देखने जा रहे हैं !' प्रभु अपने हृदयकी व्यथा रोक न सके—बोले, 'नारद ! कोई हमें पुकारता क्यों नहीं ? हम पुकार सुननेको बेचैन हैं, हम सब देनेको तत्पर हैं—अपनेको भी; फिर हमें कोई बुलाता क्यों नहीं ? नारद ! तुम उनसे कहते क्यों नहीं ? हम उनसे बातें करना चाहते हैं, वे हमसे बोलें—जैसे बालक पितासे बोलता है, जैसे दोस्त दोस्तसे बोलता है। वे याद करते हैं हमारी, पर निगाह रखते हैं संसारपर। तुमने उस चील्हको देखा, जो आसमानपर उड़ती

है, पर निगाह रखती है जमीनपर पड़े मांसके टुकड़ेपर। नारद ! हमें यह भी मंजूर है कि वे याद करें संसारको, पर निगाह तो रखें मेरी ओर—मुझे अपनी इच्छाओंकी पूर्तिका एक साधनमात्र न मानें। मैं तो माया भी देता हूँ—लक्ष्मी क्या मुझसे अलग है ? मैं आनन्द देता हूँ—हर खितिमें रहनेवाला आनन्द। वे माँगते हैं सुख, जिसका दूसरा रूप है दुःख। विषयेन्द्रियोंका सुख क्या दुःखसे अलग हो सकता है ! वे जानते हैं, पर मानते नहीं। जन्म-मरणको भोगते हैं, अपने पूर्व कर्मको पहचानते हैं; पर उसी भूलको फिर दोहराना चाहते हैं। मैं छुटकारा देनेको हाथ बढ़ाता हूँ तो वे हाथ खींच लेते हैं। कोई विरले ही मेरे संकेतको बूझते हैं और मेरी ओर हाथ पसारते हैं। वे ही मुझे जीवन देते हैं—वे ही मेरे प्राण हैं—मैं उन्हींके लिये जीता हूँ। आज भी शान्तिके लिये उन्हींके पास जा रहा हूँ—किसी राहीको राहपर लाकर जीवन सार्थक हो।' यह कहकर भगवान् लक्ष्मीजीके साथ चल दिये। प्रभुने मुड़कर देखा, कहा—'नारद ! तुम कहाँ ?' नारदजीने कहा, 'प्रभु ! जहाँ आप, वहीं तो मैं हूँ।' लक्ष्मीजी मुस्करा दीं।

वह एक साधारण किसान था—संतुष्ट था—बड़ी हवेली या लाख-दो-लाखकी माँग नहीं करता था। दिनभर मेहनत-मजदूरी करता था, सायंकालको भोजन पाकर बाल-बच्चोंसमेत अड़ोसी-पड़ोसी बटोरकर एक ढोलक लेकर भजन गाता था। गाँववाले उसे 'संतोषी' कहते थे। शायद इसलिये कि वह अपनी खितिसे पूर्णतया संतोष मानता था—संतुष्ट था—शान्त था और प्रसन्न भी था। खेत जानेसे पहले मुँह-हाथ धोता, सूर्यकी ओर मुख करके घुटने टेककर बैठता, नमस्कार करता, अँजुली पसारकर कहता 'प्रभु ! मुझे तुमने सब दिया, बाल-बच्चे दिये, खेत दिये, जानवर दिये। मैं सुखी हूँ। कोटिशः धन्यवाद ! मैं क्या माँगूँ ? बस, अपनी कृपा बनाये रखो। बस, इतना देते रहो कि पेट भरता रहे—किसी दूसरेके द्वारे माँगना न पड़े। न तो इतना दो कि उसीको सँभालनेमें तुम्हें भूल जाऊँ और न इतना कम ही दो कि मजबूर होकर कोई कदम ऐसा उठ जाय, जो तुम्हारे नाममें धब्बा लगा दे। मैं, मेरी औलाद—सब तुम्हारे हैं। इनका पालन-पोषण तुम्हारा भार है। मेहनत मैं पूरी करूँगा, बस, तुम्हारा हाथ सिरपर रहे।' इतना कहकर कुछ देर आँख मूँद लेता। उठता, कुछ खाता, कुछ बाँध लेता और खेत चल देता—सुगन्धित फूलकी तरह सुगन्ध चारों ओर बिखेरता चलता था।

वह एक बारह-तेरह वर्षका यतीम बच्चा था। माँ-बापका साया उठ गया था—गायें चराता था। शामको जानवर लौटा लानेपर एक समय खानेको रोटी मिल जाती। दुखी था संसारसे, संसारवालोंसे। पर प्रभुमें विश्वास और श्रद्धा उसकी माँने कूट-कूटकर भर दी थी। पेड़के सहारे गाँवसे दूर—दोपहरीमें बैठा यह कहता—'राम ! माँ कहती थी तुम सबके पिता हो, तुम सबके पास ही रहते हो—सबको खिलाते-जिलाते हो, तो हमें भी रोटी दो—तुम्हीं दो, और कोई नहीं देता—मुझे भूख लगी है—दो देना !' बस, बातें करता था। कोई निर्धारित प्रार्थना वह नहीं जानता था—कोई स्तुति-श्लोक उसे नहीं याद थे—पर सरल बातें ही तो प्रार्थना थीं—ये ही प्रभुको प्रिय लगीं। एक सेठकी मोटर वहाँ आयी—लड़केसे पूछा, 'लड़के ! यहाँ कहीं पानी है !' उसने कहा 'गाँवके पास कुआँ है—मैं चलूँ।' सेठने उसे बिठा लिया। उसने कुएँसे पानी निकाला—कुछ सेठने पिया, कुछ सेठकी मोटरने। सेठसे बातें हुईं—पूछा, 'लड़के ! तुम्हारे माँ-बाप कहाँ हैं ?' उसने कहा, 'नहीं हैं—बस, भगवान् ही हैं—क्षत्रियका लड़का हूँ—था—।' सेठने पूछा—'मेरे साथ चलोगे ?' उसने कहा, 'जहाँ भगवान्की इच्छा, वहीं जाऊँगा।' सेठ प्रभावित हुआ—कहा, 'ड्राइवर ! इसे अपने पास बिठा लो—यह हमारे साथ रहेगा।' बालक बैठ गया और मोटर चल दी। नारदजी मुस्करा दिये—'प्रभु ! तुम्हारी लीला अपरंपार है ! उसके माँ-बाप तो छीन लिये और बड़ा बाप दे दिया—यह प्रार्थना तो उत्तम निकली—स्वच्छ हृदयकी सीधी-सादी पुकार जो थी।'

वह एक मन्दिरका पुजारी था—बड़े-बड़े श्लोक—बड़ी-बड़ी स्तुति पढ़ रहा था—इधर-उधर लोगोंमें अपनी विद्वत्ताका अभिमान बाँटता, मन संसारमें था—वाणी संगीतमय थी—कर अनेक कार्य कर रहे थे—शङ्ख भी बजाता, घंटी भी सुनाता और नेत्रोंसे बातें भी करता—फिर आरती की और सब समाप्त, परदा खींच दिया। न उसने प्रभुको सुना—न प्रभुको सुनानेका मौका ही दिया—जैसे पत्थरपर कुछ वाक्य फेंककर मार दिये और चल दिये—जैसे वास्तवमें ही कुछ करके चले। आडम्बर—एक खानापूरी, न मन दिया न तन दिया न कुछ पाया न कुछ पाने दिया। वह प्यार क्या जो नैन-कटोरेसे छलककर दो बूँद बाहर न गिरा दे—वह प्यार क्या, जो बुद्धिको हृदयकी लहरोंमें डुबो न दे—वह प्यार क्या, जो

मूक पत्थरमें वाणी न भर दे। पर यहाँ ऐसा ही प्यार था, जो सजीवको निर्जीव बना दे।

और वहीं निकट मन्दिरमें देखा—एक स्त्रीको—एक अत्यन्त ही व्यथित हृदयको—बाल बिखरे पड़े थे, माथा भूमिमें गड़ा था—हाथ चरणोंकी उँगलियोंको टटोल रहे थे—नेत्रोंसे एक धार बह रही थी। टप-टप करके आँसू गिरते—गिड़गिड़ाकर रो रही थी, जैसे संसारमें सब खो चुकी हो—कोई और आसरा ही न हो—कोई और विश्वासपात्र ही न हो। पटसे एक फूल मूर्तिसे उसके सिरपर गिरा—उसे भी शायद कुछ प्रतीत हुआ। उसने आँखें ऊपर उठायीं और आँचलकी झोली फैला दी—एक फूल टप करके उसमें फिर गिरा। क्या प्रभुने उसकी पुकार सुनी? मान ली? यह आशीर्वाद था! उसने आँसू पोंछे—पुष्पको नेत्रों और सिरसे लगाया। आँचलसे मूर्तिके चरण पोंछे, फिर मत्था टेक दिया—टेके ही रही—फूट-फूटकर रो पड़ी। इस रुदनमें सान्त्वना थी—उल्लास था—कृतज्ञता थी—उस उदास अशान्त चेहरेपर अब इतनी शान्ति थी। क्या मूर्ति बोली? शायद हाँ। यह असहायका रुदन ही प्रार्थना थी।

वट-वृक्षके नीचे वहाँ एक संत अनेक एकत्रित भक्तोंको समझा रहे थे—कह रहे थे—"लोग कहते हैं प्रभु सुनते नहीं—प्रार्थनाका कोई असर ही नहीं होता—कैसे करें प्रार्थना? क्या करें? अरे भाई! प्रार्थना तो बड़ी सरल है—बातें करो, जैसे प्रेयसी अपने प्रियतमसे दिल खोलकर बातें करती है—हर प्रकारकी—किसी भी समय; क्योंकि वह 'अपने'से बात करती है, ग़ैरसे नहीं। द्रौपदीने पुकारा तो दौड़ पड़े—जबतक पाण्डवोंकी ओर निहारती रही, तबतक नहीं आये—बुलाया जो नहीं। गजराजने चीत्कार किया तो भाग पड़े—जबतक अपने बलपर लड़ता रहा, नहीं आये—याद जो नहीं किया। जो चींटीके पैर लड़खड़ानेकी आवाजको भी सुनता है, वह आपकी न सुनेगा? जो उदरमें भी भोजन पहुँचाता है, वह क्या भूल जायगा? जो अबतक साथ है, क्या अब साथ छोड़ देगा—फिर तुम्हें छोड़कर जायगा कहाँ। भक्त ही तो उसके सिरका मुकुट है—वह मुकुटको मान देता है और मुकुट उसको! मुकुटके बग़ैर वह तो है, पर उसके बग़ैर मुकुट बेकार ही है। वह हमारा-तुम्हारा पिता है—हमें देता है तो प्रेमके वश और नहीं देता है तो भी प्रेमके ही कारण। माँ बच्चेकी माँग पूरी करती है तो प्यारके कारण और जब नहीं पूरी करती तो भी प्यारके ही कारण—उसीके हितके लिये। ह हमारी भूल है, हमारी मूर्खता है जो हम सोचते हैं कि हमारी दृष्टिमें जो हितकर है, वास्तवमें वही ठीक है और यदि भगवान् इसके विपरीत समझते हैं तो हम कहने लगते हैं—भगवान् हमें भूल गये। यह कैसा विश्वास है हमारा! उसकी कृपाके अनेक रूप हैं।

"वह दे तो उसकी कृपा—जैसे ध्रुवको दिया।

"वह न दे तो भी कृपा—जैसे नारदको रूप न दिया, जब लक्ष्मीको पानेके लिये भ्रान्त बुद्धिने रूप माँगा था।

"बिना माँगे ही दे—जैसे विभीषणको।

"वह कार्य तुम्हारा स्वयं सिद्ध कर दे और यश तुम्हें दे—जैसे अर्जुनको।

"वह देखता रहे, पर बिना बुलाये न आये, जबतक अहं गल न जाय—पुरुषार्थ-भाव लोप न हो जाय—जैसे गजराजको—द्रौपदीको।

"अनन्य विश्वास रखे तो पत्थरमें जान डाल दे—अग्निको शीतल कर दे—जहरको अमृत कर दे—जैसे प्रह्लाद और मीराके लिये। वह दिया हुआ छीन ले—जैसे माँ उस बच्चेसे खिलौना छीन लेती है जो खेलमें उलझा रहे और अपनी पढ़ाई न करे—उसीके हितके लिये। और जान भी ले ले—जैसे रावणको, पूतनाको उबारा।

"यदि वह प्यारा है तो हर अदा उसकी प्यारी है—हर भाव उसका न्यारा है—हितकर है। दुःख उसके प्यारकी परख नहीं है। दुःख वह आँच है, जो सोनेको तपाकर चमक दे—हथौड़ीकी वह चोट है, जो हीरेमें पानी पैदा करे, कीमत दे। मौत उसके प्यारमें कोई दाग़ नहीं है—वह तो लंबे सफरमें विश्रामका एक मुकाम है—स्वास्थ्यके लिये डाक्टर रोगीको जबरदस्ती सुलाता नहीं क्या?

"तो हम उसके पास कैसे जायँ? जैसे एक रोगी डाक्टरके पास जाता है, वह डाक्टरको पूरी जाँच करनेका अधिकार देता है—यदि कोई दर्द है और रोगी जानता है किस स्थानपर है तो बता देता है। यदि स्थान नहीं जानता तो दर्द बताता है—जाँचके पश्चात् अपनी व्यथा कहनेके बाद डाक्टरकी सुनो—मौन होकर, दवा और पथ्य दोनों ले करो। हमारा और भगवान्‌का नाता कुछ ऐसा ही है। यदि तुम अपनी ही कहते रहो और डाक्टरको अपनी

कहनेका मौका न दो तो क्या डाक्टरके पास जानेका लाभ होगा ?

"जैसे एक फेफड़ेका मरीज सूर्यकी किरणोंमें शरीर खोल देता है, चुप-चाप लेटा रहता है—रोग-नाश तो सूर्यकी किरणें करेंगी ? प्रार्थनाका रहस्य भी यही है कि हमने कितना हृदय-द्वार खोला—प्रभुको कितना अधिकार दिया ?

"हम उसके पास जायँ, जैसे एक बालक अपनी माँके पास जाता है। माँ प्यार करती है, तो भी उसीकी गोदमें। डाँटती-मारती है, तो भी उसीकी गोदमें। वही हमें नहला-धुलाकर साफ करेगी। बस, उस अबोध बालककी तरह, जो केवल माँको जानता है—माँकी गोद जानता है—माँका आँचल। तुमने यदि पाप किया है तो प्रायश्चित्त करके माँका आँचल थाम लो। एक गुमराहको राहपर ला खड़ा कर देनेसे कितनी प्रसन्नता होती है। एक माँके पाँच बच्चे मेले-तमाशेमें गये। एक गुम गया—बहुत भटका, रोया-चिल्लाया, माँने ढूँढ़ा और पा लिया—एक खोया बच्चा मिल जानेसे बच्चेको, माँको कितना हर्ष हुआ, अनुमान करो। यदि वह न खोता तो इतना दुःख न होता। भगवान्ने कहा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

"धर्मके लिये—भक्तके लिये भगवान् आते हैं, परंतु अधर्मी पापी भी उनके आनेका कारण है। उनके बुलानेकी कीमत पापी देता है। उस पिताकी गोदमें सबके लिये स्थान है—क्या पुण्यात्मा—क्या पापात्मा। बस, उधर मुख होना चाहिये—वह आनेका केवल बहानामात्र चाहता है। बलिहारी है उस पापकी, जो पापीको प्रभुकी ओर हाथ पसारनेको कहता है! किस कामका वह पुण्य, जो पुण्यवान्को पुण्यपर गर्व दे—प्रभुसे विमुख कर दे। किसी भी, कितने भी पुण्यसे प्रभुका प्रेम नहीं खरीदा जा सकता। एक सरल अनन्य भक्तिवाला हृदय बिना मूल्य दिये ही उन्हें अपना लेता है। प्रेम कोई मूल्य नहीं है। प्रेम देता है, लेता नहीं। जो देता है, वह पाता है—यही विधान है। पूर्णतया असहाय-निराश्रित और अनन्य अनन्त विश्वासीको ही पुकारनेका अधिकार है—वह हृदय खोलकर उनके सामने जाय और वही तो प्रभुका प्रिय है—वही तो उनके पास जाता है।

"कुन्तीने भगवान्से प्रार्थना की थी—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

"अर्थात् उन्होंने सदाके लिये विपत्ति ही माँगी; क्योंकि विपत्तिमें प्रभुके दर्शन होते हैं, दर्शनसे मोक्ष होता है—समस्त क्लेशोंसे छुटकारा होता है।

"अब प्रार्थना कैसे करें—क्या कहें ? यह जाननेके लिये किसी पुस्तककी—किसी विद्याकी आवश्यकता नहीं, केवल सरल हृदय चाहिये। सच्ची प्रार्थना हृदयसे होती है—वाणी या शब्दोंके शृङ्गारसे नहीं। तुम्हारी असहायता या निराश्रयता ही सबसे बड़ी प्रार्थना है—मूक प्रार्थना। छोटे बच्चेको देखो, जो एक शब्द भी नहीं बोल सकता। वह माँपर पूरी तरह आश्रित है। माँ उसकी सारी आवश्यकताओंको जानती है और पूर्ण करती है। भगवान्से अपनी हर छोटी-बड़ी बात कहो—अपने सुखकी बात, अपने दुःखकी बात, अपनी कमजोरी, अपनी भूलें, अपनी हर परेशानी, सभी कुछ। यद्यपि तुम उसे नहीं देखते, वह तो तुम्हें देखता ही है। प्रार्थना करो कि वह तुम्हें एक योग्य पात्र बना दे, तुम उसके एक उपयोगी यन्त्र हो सको, बजानेवाला वही हो। इस तन्त्रीके तारोंको मिलाकर वह एक झनकार पैदा कर देगा।

"प्रार्थना यों तो स्वाभाविक ही होती है, परंतु अभ्याससे निश्चय ही लाभ होता है। प्रार्थना करनेके पूर्व कुछ देर मौन—ध्यानस्थ अवश्य रहो। प्रार्थना करनेके लिये उपयुक्त वातावरण—एक आवश्यक मानसिक अवस्था हो जाय। प्रार्थना करनेके पश्चात् कुछ देर मौन रहो, उसकी आवाजको सुनो, तुरंत ही उठकर काममें व्यस्त न हो जाओ।

"याद रखो, तुम्हारी निराश्रयता (Helplessness) और तुम्हारा अटल विश्वास (Faith) प्रार्थनाकी नींव (Foundation) हैं, जिसपर प्रार्थनाकी इमारत उठती है। ये ही दो मुख्य अङ्ग हैं, हम दोनोंकी ही तौलमें कम उतरते हैं। हम उसकी ओर हाथ तो फैलाते हैं, पर अपने पुरुषार्थ और दूसरेकी सहायतापर विश्वास करते हैं और सहारा माँगते हैं। यह अनन्य भक्ति नहीं, यह आत्मसमर्पणकी अवस्था नहीं!

"एक कहानी है कि भगवान् शंकरके एक भक्तको जंगलमें डाकुओंने घेर लिया। वह शंकरभगवान्को चिल्लाकर बुलाने लगा। और कोई सहायक न था ही न कोई दिखायी

ही दिया। इधर शंकरजी एकदम पार्वतीजीको छोड़ त्रिशूल लेकर चल पड़े, पर तुरंत ही लौट आये। पार्वतीजीने पूछा—'कैसे एकदम चले, कैसे लौट आये?' शंकरजी बोले—'मेरे भक्तपर एक आपत्ति आयी थी—उसने मुझे पुकारा; परंतु फिर उसने एक ईंट अपनी रक्षाके लिये उठा ली।'

"ऐसा ही हाल हमारे विश्वासका है—कहते तो हैं हम कि पूर्ण विश्वास रखते हैं, पर प्रार्थनाके पूर्व हम शङ्का करते हैं कि क्या भगवान् सुनेंगे। प्रार्थना करते समय भी अविश्वास करते हैं कि क्या प्रार्थना सुनी जा रही है—क्या हमारी आवाज उनतक पहुँची? और प्रार्थना करनेके पश्चात् भी हम अविश्वास ही करते हैं कि क्या हमारी प्रार्थना सुनी गयी? क्या फल देगी? इस अविश्वासके रूपको भी हम विश्वास कहते हैं! ऐसी प्रार्थना एक भारस्वरूप हो जाती है। प्रार्थना हृदयसे होती है, बुद्धि-कौशलसे नहीं। जबतक हमें यह भान होता है कि हम ठीक प्रार्थना कर रहे हैं कि नहीं, कौन-सी प्रार्थना करें—कैसे करें, तबतक यह प्रत्यक्ष ही है कि न हमारा विश्वास ही पूर्ण है और न हमारी निराश्रयता ही। प्रार्थनामें यदि प्रयत्न (Effort) का आभासमात्र भी है तो वह प्रार्थना ठीक नहीं—वह प्रार्थना है ही नहीं, प्रार्थना सहज और स्वाभाविक होती है।

"कुछ लोग पूछते हैं हम कैसे जानें कि हमारी प्रार्थना सुन ली गयी। प्रभुका प्रेम ही प्रभुसे आगे चलता है। जब तुम प्रार्थना करने चले तो प्रार्थना करनेके पूर्व ही तुम्हारी प्रार्थना सुन ली गयी—वही तो तुम्हें प्रार्थनाके लिये प्रेरित करता है, फिर न सुननेका गिला कैसा? प्रार्थनाके पश्चात् शरीर हल्का हो, मन हल्का हो तो जान लो, उसका प्रसाद तुमको मिल गया। प्रार्थना तुम्हारी फलीभूत हो गयी।

"कहानी सुनो—एक भक्त बालक जोर-जोरसे भगवान्‌को बुला रहा था। शैतान आया। उसने कहा—'क्यों बेकार चिल्लाते हो? ईश्वर कहीं तुम्हारी सुनता है?' बालक चुप हो गया नतमस्तक होकर। आवाज आयी—'बेटे! तूने मुझे बुलाना क्यों बंद कर दिया? तू नहीं जानता बुलाना मुझे कितना प्यारा है। क्या मैंने ही तुझे यहाँ नहीं बुलाया—क्या मैंने ही तेरे मनमें मुझे बुलानेकी प्रेरणा नहीं की? तू मुझे नहीं देखता, पर, मैं तो देखता हूँ।' बालक रो पड़ा, कहा—'प्रभु! मुझे क्षमा करो।' किसी अज्ञात हाथोंने उसके आँसू पोंछ दिये।

"एक बार एक मोची प्रार्थना कर रहा था—'भगवन्! मुझे दर्शन दो कि मैं एक सुन्दर जूता तुम्हें पहना सकूँ।' हजरत मूसाने इसे सुना और उसे भला-बुरा कहा। आवाज आयी—'मूसा, हमने तुम्हें भूली आत्माओंको निकट लाने भेजा है—उन्हें दूर भगानेको नहीं।' मूसाको होश आया। उसने प्रभुसे क्षमा माँगी।

"ऐसे ही एक बार एक नट एक गिरजाघरमें गया। वह भूखा था, कुछ कमाई नहीं थी। उसे कोई प्रार्थना न आती थी—वह वर्जिन मेरीकी मूर्तिको प्रसन्न करनेके लिये अकेलेमें अपना खेल दिखाने लगा। कुछ अधिकारियोंने देखा, वह उसे ताड़ना देने चले। नट पसीने-पसीने था, बड़ी मेहनत की थी उसने। इतनेमें देखा मूर्ति सजीव होकर उतरी, उसने नटके माथेका पसीना पोंछा। अधिकारी विस्मयसे भर गये और घुटनोंपर गिर पड़े। यह हमारी भूल है कि हम केवल अपनी जरूरत न बताकर यह बताने लगते हैं कि हमें यह चाहिये, ऐसे चाहिये और अभी चाहिये। यह विश्वासमें कमीको बताता है।

"एक बार दुर्वासा ऋषि पाण्डवोंके यहाँ तब पहुँचे जब भोजन समाप्त हो चुका था—और दस हजार शिष्योंके साथ पहुँचे। भोजन माँगा—कहा, 'स्नान करके अभी आते हैं—भोजन करेंगे।' द्रौपदीके पास सूर्यकी दी हुई एक बटलोई थी, जिससे वह अपने भोजनके पहले अनगिनतको खिला सकती थी। पर अब क्या हो? उसने भगवान् कृष्णको याद किया—केवल अपनी विवशता बता दी, अपनी स्थिति। भगवान्‌ने कहा, 'बटलोई लाओ' और उसमेंसे एक सागका पत्ता, जो कहीं चिपका रह गया था, निकाला और खा लिया। उधर दुर्वासा और उनके शिष्य डकारें लेने लगे—उनका पेट भर गया था। यह हुई प्रार्थना, यह है विश्वास—यह है प्रार्थनाकी पूर्ति भगवत्-इच्छाके अनुसार।

"मनुष्य चिल्लाता है विश्वास, पर विश्वास करता नहीं, इसीसे उसकी प्रार्थना प्रार्थना नहीं होती।

"साधारण जीवनमें लोग देखते हैं, तब विश्वास करते हैं (Seeing is believing); परंतु भक्तजीवनमें पहले विश्वास है, फिर देखना (Believing is seeing)।

प्रार्थना उसीकी सार्थक है, जिसकी भक्ति अनन्य है, विश्वास अनन्त है, आत्मा पूर्णतया समर्पित है।

"प्रार्थनासे शान्ति, शक्ति, निर्भयता और विनम्रता आती है। यदि तुम अपने बाल-बच्चोंके लिये धन-सम्पत्ति नहीं छोड़ सकते तो चिन्ता न करो। अच्छा ही है—धन-सम्पत्ति बरबाद हो सकती है—उसका दुरुपयोग हो सकता है। तुम उनके लिये प्रार्थनारूपी अनेक बीज बो दो, जो समय-समयपर फल देंगे—यही तुम्हारी सबसे बड़ी देन है।"

थोड़ा मौन रहकर संत फिर बोले—"तो आओ, प्रार्थना करें। प्रार्थना ही जीवनका श्रृङ्गार है—प्रार्थना ही जीवन है—प्रार्थना ही वह बेतारका तार है, जो हमारी बात उस प्रभुतक पहुँचा देती है। निःस्वार्थ प्रार्थना उत्तम है।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

मेरी अँजुली खुली थी, दो बूँदें उसमें टपक पड़ीं। मत्था टेका, चरण छूए, पुष्प माथेसे लगाया। जैसे किसीने सिरपर हाथ धर दिया—कहा,

पिता नोऽसि, पिता नो बोधीः, नमस्तेऽस्तु, मां मा हिंसीः, विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।

रामचरितमानसमें नारीका स्थान

(लेखक—आचार्य पं० श्रीकेदारनाथजी मिश्र एम्० ए०, एल्० टी०)

रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदासजीकी ऐसी अप्रतिम कृति है, जो विश्व-साहित्यके सर्वोत्कृष्ट आसनपर प्रतिष्ठित है। लोक-धर्म-व्यवस्था-विधानका निरूपण तथा लोक-संग्रहका अद्भुत प्रतिपादन जिस शास्त्रीय विधिसे मानसमें किया गया है, वह सार्वकालिक तथा सार्वजनिक है। संसार-तापसे संतप्त कलियुगके समस्त जीवोंको भगवत्कथा-सुधाका पान कराकर कल्याण करना, रामचरितमानसका उद्देश्य है।

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥

यह पावन ग्रन्थ सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय है और जो भी सत्सङ्गके प्रेमी, भगवदनुरागी प्राणी हैं, वे सभी इसके अधिकारी हैं।

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सत संगति अति प्यारी॥

तथा जो प्रेमपूर्वक, श्रद्धाके साथ मानसकी कथाको सदा श्रवण करते हैं, वे स्त्री-पुरुष भी इसके अधिकारी हैं।

सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥

इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो यह निश्चित होता है कि 'पुरुष, नपुंसक, नारि' सभीका मानसके द्वारा कल्याण विहित है। अतएव यह जिज्ञासा कि रामचरितमानसमें नारीका क्या स्थान है, स्वाभाविक ही है। वस्तुतः मानसमें कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनमें नारियोंके सम्बन्धमें आपाततः उपेक्षाके भाव प्रतीत होते हैं। उन्हींको लेकर एक भ्रान्तिका सृजन हो गया है, जिससे कहा जाता है कि गोस्वामीजीके हृदयमें नारी-जातिके प्रति तिरस्कारके भाव विद्यमान थे और तत्तत्प्रसङ्गोंमें वे ही स्वाभाविक रूपसे व्यक्त हो गये हैं। किंतु यदि हम इस विषयपर समुचित विचार करें तो इस भ्रान्तिका निराकरण ही नहीं, वरन् यह भी भलीभाँति विदित हो सकता है कि मानसमें नारीका अत्यधिक सम्मान है।

यह हम देखते हैं कि रामचरितमानसके चार श्रोताओंमें अन्यतम एक नारी ही है और उसपर भी गम्भीरतासे दृष्टिपात करें तो पता लगेगा कि एकमात्र नारी ही इस ग्रन्थकी मुख्य श्रोत्री है।

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥

जब शिवने शिवाको सुसमयमें मानसका श्रवण कराया, तब उसी प्रसङ्गमें अन्य तीन श्रोताओं एवं वक्ताओंकी चर्चा हुई। अतः कहा जा सकता है कि अन्य श्रोता-वक्ता तो प्रासङ्गिक और शिवाशिव मूल एवं मुख्य हैं।

ऐसी स्थितिमें नारीकी उपेक्षा मानसका गौण प्रतिपाद्य भी कैसे हो सकता है? इसलिये हमें उन स्थलोंका सम्यक् परीक्षण करना चाहिये, जिनमें नारी-विषयक कुछ विचार प्रकट किये गये हैं। यहाँपर ऐसे प्रधान स्थलोंपर ही विचार किया जायगा। प्रथम (१)—प्रसङ्ग सतीमोहका है,

जिसमें सतीजीने भगवान् रामकी परीक्षा लेनेके अनन्तर भगवान् शिवसे असत्य भाषण करनेपर—

सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ॥

२—मन्थराका राज्याभिषेकके समारोहको देखकर दुःखित होनेपर भरत-माताके निकट दीर्घ निःश्वास लेना और रुदन करना है, जो—

उतरु देइ न लेइ उसासू। नारि चरित करि ढारइ आँसू॥

—के रूपमें कहा गया है।

३—जब मन्थराके द्वारा बुद्धि-भेद होनेपर कैकेयी कोप-भवनमें जाती हैं, उस समय उनके प्रति व्यक्तिगत आक्षेपके साथ-साथ नारी-जातिपर भी आक्षेप परिलक्षित होता है—

गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि तीय अधरबुधि रानि।

कैकेयीकी करतूतपर विकल-मनस्क नगरके नर-नारी कहने लगते हैं—

सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥

काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ॥

४—शूर्पणखाका चरित्र और उसके प्रति राम-लक्ष्मणका व्यवहार भी इसका एक उदाहरण माना जाता है।

वर्षा ऋतुके प्रसङ्गमें—

महाबृष्टि चलि फूटि किआरीं। जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं॥

—को भी कुछ लोग नारीका अपमान समझते हैं।

५—शबरीके आश्रममें भगवान् रामके पधारनेपर शबरीकी प्रार्थनाके अभ्यन्तर भी, जिसमें उसने निवेदन किया है कि—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

—नारी-निन्दाकी झलकका आरोप कुछ लोग देखते हैं।

६—नारदजीके द्वारा भगवान्से यह प्रश्न करनेपर कि—

राम जबहिं प्रेरेउ निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥

उत्तर देते हुए भगवान्के निम्नाङ्कित उद्गार हैं—

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥
जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरषप्रद बरषा एका॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधिआरी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥

अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि॥

७—समुद्रसे मार्ग-याचनाका प्रसङ्ग है, जिसमें रामके कुपित होनेपर समुद्रकी अपने सम्बन्धमें भगवान्के कोपका औचित्य सिद्ध करते हुए उक्ति है—

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥

८—लङ्काकाण्डका वह स्थल है, जिसमें मन्दोदरी और रावणका संवाद आया है। जब मन्दोदरी अपने पतिसे भगवान् रामके प्रति वैरका परित्याग करके उनके चरण-कमलोंसे प्रीति करनेकी सानुरोध प्रार्थना करती है—

बिहँसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह महिमा बलवाना॥
नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥

अतएव सरसरी दृष्टिसे इन सभी स्थलोंपर क्रमानुसार विहंगम-दृष्टि डालनेसे गोस्वामीजीके नारी-विषयक दृष्टिकोणका परिज्ञान हो जायगा।

(१) इन सभी स्थलोंपर जो नारी-जातिपर व्यङ्ग परिलक्षित होता है, उसका कारण नारीके प्रति घृणा नहीं है, अपितु उसके स्वभावसिद्ध कोमल गुणोंका अभिव्यञ्जन है। ऐसे प्रसङ्गोंमें कविका ध्यान नीतिशास्त्रोंके वचनोंकी ओर चला जाता है, जिनमें व्यवहारोपयोगी मानसिक विश्लेषणका प्राचुर्य है; किंतु सभी नारियोंमें सदैव यह स्थिति विद्यमान रहती हो, ऐसी बात नहीं है।

भारतीय संस्कृतिका यह परम्परागत विश्वास है कि पत्नीका सौभाग्य, सतीत्व और श्रैष्ठ्य पतिके साथ निष्कपट होकर तादात्म्य ग्रहण कर लेनेमें ही है और तभी इन सबके क्षेमका

निर्वाह सम्भव है। यही कारण है कि जहाँ इसका व्यतिरेक पाया गया, वहीं मानसकारने उन विशेषणोंको छोड़ दिया जो उन गुणोंके अन्वयमें थे।

उदाहरणार्थ—जब भगवान् शंकरके साथ श्रीसतीजी श्रीअगस्त्यजीके आश्रममें पधारीं; तब उनके सम्बन्धमें कहा गया—

संग सती जग जननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी॥

और उन्होंने जब शंकरजीसे दुराव किया, तब उन्हींके सम्बन्धमें यह भी कह दिया—

सती कीन्ह चह तहँहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाउ प्रभाऊ॥

ऐसे स्थलोंमें भी यदि निन्दाके भाव व्यक्त न हों तो नारीके प्राशस्त्यका ज्ञान कैसे हो? श्रीरामजी भी, जो शंकर-भगवान्‌के अनन्यभक्त हैं, परीक्षाके लिये श्रीसीताके रूपमें समुपस्थित सतीजीको प्रणाम करनेके पश्चात् ही यह पूछते हैं—

पूछा बहुरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥

इससे भी उपर्युक्त सिद्धान्तकी परिपुष्टि होती है।

(२-३) इन दोनों स्थलोंकी पृष्ठभूमिमें नारीका मर्यादातिक्रमण वन-गमनका कारण बनता है, जिससे संक्षुब्ध होकर कवि नारीके उस उग्र स्वरूपकी ओर श्रोताओंका ध्यान आकृष्ट करने लगता है, जो उसके सहज सौशील्यके आधारभूत पति-प्रेमसे रहित हो जानेपर सम्भावित हुआ करता है।

(४) शूर्पणखाका चरित्र ऐसा है कि यदि आदिसे अन्ततक उसका पर्यालोचन किया जाय तो उसमें भारतीय नारीत्वकी झलक भी देखनेको नहीं मिलती।

उसका रूप-परिवर्तन—

रुचिर रूप धरि तहँ सो गई।

और गर्वोक्ति—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी।···मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥

तथा रामके द्वारा लक्ष्मणकी ओर संकेत किये जानेपर लक्ष्मणकी ओर चली जाना और लक्ष्मणके द्वारा श्रीरामकी प्रशंसा किये जानेपर श्रीरामके समीप पहुँचना और फिर निराश होनेपर श्रीसीताजीको ही भक्षण कर लेनेके लिये उद्यत हो जाना, उसके इन सब व्यापारों तथा क्रियाकलापोंको देखते हुए इस प्रसङ्गमें यहाँ किसी नारीका अपमान हुआ, यह नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार पावस-वर्णन-प्रसङ्गमें—

महावृष्टि चलि फूटि किआरीं। जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं॥

—को भी कुछ व्यक्ति नारीका असम्मान समझते हैं; किंतु इसके दोषी केवल गोस्वामीजी ही नहीं अपितु समस्त वैदिक वाङ्मय है। स्मृतियोंमें कहा है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

अर्थात् कुमारावस्थामें पिता, यौवनकालमें पति तथा वृद्धावस्थामें पुत्र स्त्रीकी रक्षा करता है। वह पूर्ण स्वातन्त्र्यके औचित्यकी अधिकारिणी नहीं होती।

इससे तो नारीकी गरिमा ही भासित होती है, जो मनुष्यसे कहीं बढ़कर है। बहुमूल्य और उत्तम वस्तु ही सदैव रक्षणीय समझी जाती है। भारतीय ललनाओंकी मर्यादा उज्ज्वल तथा सतत रक्षणीय रही है। उसका अतिक्रमण करके प्राप्य स्वतन्त्रता वाञ्छनीय नहीं होती। कुलकी पवित्रता कुलके पुरुषोंपर नहीं, वरन् कुलाङ्गनाओंपर ही अवलम्बित है। इसलिये उनकी समुचित रक्षाका ध्यान न दिया जाना और उनकी अमर्यादित स्वतन्त्रताको गर्हित समझा जाना ही उचित है। श्रीगोस्वामीजीका यही प्रयोजन है। वस्तुतः यहाँ 'स्वतन्त्र' शब्द स्वेच्छाचारीके ही अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और स्वतन्त्रतासे यहाँ स्वेच्छाचारिताका ही द्योतन होता है। कुलकी पवित्रता भारतीय समाज-शास्त्रमें एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यह लोकोक्ति है—

'दुराचारी सदाचारी हो सकता है, पर कुलहीन कुलीन नहीं हो सकता।'

(५) शबरी-प्रसङ्गमें शबरीका उद्गार शुद्ध दैन्य है, जो एक भक्तकी असाधारण विशेषता मानी जाती है। दैन्यकी अवस्थामें एक उच्चकोटिका उत्कृष्ट संत भी अपनेमें दुर्गुणोंकी अनन्त राशियाँ देखने लग जाता है। स्वदोषानुसंधान और आराध्य प्रभुके अचिन्त्य, अनन्त कल्याण-गुणोंका स्मरण भक्तिका पोषक ही है। नारीका स्वदोषानुसंधान और प्रकारका होगा, पुरुषका और प्रकारका।

(६) नारदजीके प्रसङ्गमें न तो नारीके व्यक्तित्वकी निन्दा है और न जातिकी ही। यहाँपर तो भगवान्‌को नारदजीके हृदयमें मोहवश नारीकी जो एक वासनामयी मूर्ति निर्मित हो गयी है, उसमें दोषदृष्टि करानी है।

निवृत्ति-मार्गमें वैराग्यको मुक्ति-सौधकी आधार-भित्ति

माना गया है और वैराग्यका भी आधार विषयोंमें दोषदृष्टि है। यहाँ नारीकी निन्दा नहीं अपितु शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँच विषयोंकी ओर आकृष्ट होती हुई साधककी प्रज्ञाको पुनः अपने लक्ष्यमें स्थिर करनेके लिये विषयमें दोषानुसंधान आवश्यक हुआ करता है। यही बात यदि किसी नारीका मन अपने पतिको छोड़कर पर-पतिकी ओर आकृष्ट होता है तो पुरुषपर भी लागू हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा रुक्मिणीसे व्यंग-विनोदके अवसरपर भगवान्के द्वारा शिशुपालादि नरेशोंकी ओर रुक्मिणीका ध्यान आकृष्ट किये जानेपर रुक्मिणीका उत्तर इसका एक उदाहरण है। उन्होंने कहा है—

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥

अर्थात् जिस स्त्रीने आपके चरणारविन्दमकरन्दका आघ्राण नहीं किया, वही विमूढ़ा कान्तमतिसे चर्म, दाढ़ी, मूँछ, रोम, नख, केशसे आच्छादित और भीतर मांस, हड्डी, रुधिर, कृमि, मल, कफ, पित्तसे भरे हुए, जीवित ही मृतकके समान अन्य पुरुषका भजन करेगी।

ऐसे नारी-पक्षके भी उदाहरण हमारे शास्त्रोंमें मिलते ही हैं।

(७) समुद्रसे मार्ग-याचना-स्थलमें भी नारीको पतिके नियन्त्रणमें रहना चाहिये—यही अभिप्रेत है। ताड़नका अर्थ मारना-पीटना नहीं, वरन् अङ्कुश है। यहाँ यदि ताड़नका अर्थ शारीरिक नियन्त्रण ही किया जाय तो इस शब्दसे ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी—पाँचोंमें एकोक्ति उपलब्ध नहीं होती है।

और (८) रावण-मन्दोदरी-संवादमें जो कुछ स्त्रीके लिये रावणके द्वारा कहा गया है, वह किसी वेदका तो वचन है नहीं, किसी कविकी उक्ति है, जैसा कि रावण कहता भी है कि—

नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं।

इससे यही सिद्ध होता है कि रावण अभिमानाभिभूत होकर अपनी अर्द्धाङ्गिनी, धर्मपत्नीके सत्-परामर्शपर तो ध्यान देता नहीं। इसके विपरीत कुछ कवियोंकी युक्तियोंको उद्धृत करके उसके सुनीति-युक्त परामर्शको विनोदमें ही टाल देता है—

एहि बिधि करत बिनोद बहु प्रात प्रगट दसकंध।
सहज असंक लंकपति सभाँ गयउ मद अंध॥

और मन्दोदरीने भी रावणके वचनोंको गम्भीरतापूर्वक ग्रहण नहीं किया, वरन् उन्हें पतिके मतिभ्रमका ही परिणाम समझा—

मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मतिभ्रम भयऊ॥

यहाँतक तो संक्षेपमें रामचरितमानसके अन्तर्गत इन अपवादोंकी चर्चा की गयी है, जो अधिक प्रसिद्ध हैं। विस्तृत समीक्षा तो पाठकोंको प्रस्तुत ग्रन्थमें ही पढ़नेको मिलेगी।

वस्तुतः अपवादोंके द्वारा मापदण्ड निर्माण करके किसी लेखक या कवि-मतका ठीक-ठीक ज्ञान एवं निर्धारण नहीं हो सकता। हमें देखना तो यह है कि आदर्श नारियोंके चरित्र-चित्रणके समय या नारी-धर्म-वर्णनके संदर्भमें वे क्या कहते हैं। इन सब प्रसङ्गोंका निष्कर्ष यही है—जहाँ-जहाँ नारियोंके विपरीत कुछ कथन किया गया है, वह सविशेष रूपको लेकर ही किया गया है, निर्विशेष नारीत्वको लेकर कदापि नहीं।

उदाहरणार्थ एक चौपाई है—

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥

इसमें जिस प्रकार सविशेष शठ सेवक, कृपण नृप, कुनारी और कपटी मित्रको शूलके समान बताया गया है—किंतु इससे यह कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता कि यहाँ केवल सेवक, नृप और नारीकी निन्दा की गयी है, उसी भाँति यही न्याय उपर्युक्त प्रसङ्गोंमें भी लागू होता है।

नारीके समुज्ज्वल पक्षका चित्रण एवं निरूपण जितना अच्छा गोस्वामी तुलसीदासने मानसमें किया है, उतना उत्तम शायद ही कोई कवि कर सका हो। जब श्रीजानकीजी अनसूयाके निकट जाकर उनसे सच्छिक्षा प्राप्त करती हैं, तब उस प्रसङ्गमें वे जो उत्तम पतिव्रताका लक्षण बतलाती हैं—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

—उसपर गम्भीर विचार करनेपर विदित होता है कि यह स्थिति उच्च कोटिके भगवद्भक्त अथवा जीवन्मुक्तके ही

समान है। जिस प्रकार भक्तके लिये भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता और जिस प्रकार जीवन्मुक्त अशेष विशेषोंका निषेध करके एकमात्र प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वको ही देखता है, उसी प्रकार उत्तम पतिव्रता भी—

सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥

—की अवस्थाका अनुभव करती है।

इस कोटिकी पतिव्रताएँ, यदि गोस्वामीजीकी दृष्टिमें सम्भावित हैं, जैसा कि उन्होंने सीताजीके सम्बन्धमें अनसूयाजीसे कहलाया है कि—

नामु तुम्हार सुमिरि संसारा। तिय चढ़िअहिं पतिब्रत असिधारा ॥

—तो नारी सद्‌गुणोंके सम्पादनमें, आत्मकल्याणमें अकल्प है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता। और जब कि गोस्वामीजी नारीके इस उच्चतम रूपको व्यावहारिक जीवनकी वस्तु मानते हैं, तब यह उनका मत हो भी कैसे सकता है।

पार्वती, कौसल्या, सुमित्रा, सुनयना, अरुन्धती, अनसूया आदि ऐसी नारियोंका चरित्र मानसमें चित्रित है, जिसे सुनकर श्रद्धासे मस्तक झुक जाता है और एक ऐसी अमिट छाप हृदयमें बैठ जाती है कि कहीं भी किसी नारीमें इन भावोंकी छाया भी उपलब्ध हो जाय तो एक विलक्षण सात्त्विक आनन्दकी उपलब्धि होती है।

जो लोग मानसमें नारीकी अवमानना देखते हैं, उन्हें इस भौतिकवादी युगमें यह पता नहीं कि भारतीय नारीके गौरव और अगौरवका मानदण्ड क्या है। वस्तुतः प्रत्येक सामाजिक तथा वैयक्तिक धारणाके पीछे एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। यदि हमारे जीवनका लक्ष्य भौतिक ही है तो मानसकी आदर्श नारी ही हमें अंधविश्वासग्रस्त, अशिक्षित, अस्वतन्त्र, उत्पीडित, शोषित और दुःखित ही दृष्टिगोचर होगी। उसका उदात्त स्वरूप तो हमारे दृष्टि-पथमें तभी[आयेगा, जब हम जीवनके अभौतिक लक्ष्यको समक्ष रखकर उसके चरित्रोंके मूल्याङ्कन करनेकी चेष्टा करेंगे।

गोस्वामीजीके हृदयमें नारीके प्रति कितना सम्मान था, कितना समादर था, इसका पत्ता तो इसी बातसे लग सकता है कि उन्होंने कहीं भी नारीके श्राङ्गारिक रूपका खुला वर्णन नहीं किया। यहाँतक कि जहाँ इस प्रकार वर्णन प्रसक्त था, वहाँ भी उन्होंने अत्यन्त संयत भाषाका प्रयोग किया है और यह श्रेय एकमात्र मानसकारको ही प्राप्त है—अन्य किसी कवि या लेखकको नहीं। श्रीसीताजीकी अङ्ग-छविका वर्णन एक ज्वलंत उदाहरण है। वे कहते हैं—

सोह नवल तनु सुंदर सारी ॥

—और फिर तुरंत मर्यादाका निर्वाह करते हुए कहने लग जाते हैं—

जगत जननि अतुलित छवि भारी ।

ऐसा ही एक प्रसङ्ग है राम-वनवासके समयका—जब ग्राम-वधूटियाँ श्रीजानकीजीको पाकर उनसे प्रश्न करती हैं—

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥

उत्तरमें श्रीसीता व्यतिरेक-मुखसे भगवान् रामको अपना प्राण-वल्लभ, जीवन-सर्वस्व बताना चाहती हैं।

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे ॥

परंतु जब इतनेसे भी उनका परितोष नहीं होता, तब आगे गोस्वामीजी वर्णन करते हैं। इङ्गितमात्रसे ही कैसी अनूठी सुमर्यादित मृदु उक्ति है, जो भारतीय ललनाओंकी सुसंस्कृतिकी द्योतक अमूल्य निधि है—

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥

इसमें जो सुमर्यादित मधुर श्रृङ्गार है उसकी गौरव-गरिमाको क्या कोई उन्मुक्त श्राङ्गारिक वर्णन कर सकता है? कहाँ मिल सकेगा विश्वसाहित्यभरमें ऐसा अद्वितीय उदाहरण? इसी न्यायको हम, गोस्वामीजीकी दृष्टिमें और जो एक आदर्श नारीका रूप है उसमें, और जो आधुनिक भौतिकवादी जनोंकी दृष्टिमें स्वतन्त्र नारीका रूप है उसमें, घटित कर सकते हैं।

इस प्रकारकी और भी अनेक बातें इस संदर्भमें कही जा सकती हैं। दुराचारी पुरुषोंकी निन्दा मानसमें कम नहीं है। असंतोंका वर्णन तो उन्हीं महानुभावोंका यशोगान है। ऐसी स्थितिमें बाह्यजनोंके द्वारा जो भी शङ्काएँ उपस्थित की जाती हैं, वे सब निर्मूल ही ठहरती हैं।

श्रीश्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सव

[श्रीराधा-जन्माष्टमी (सं० २०२०) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके गोरखपुरमें प्रवचन]

(दिनमें)

रसवलितमृगाक्षीमौलिमाणिक्यलक्ष्मीः
प्रमुदितमुरवैरिप्रेमवापीमराली ।
व्रजवरवृषभानोः पुण्यगीर्वाणवल्ली
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु ॥
व्रजकुलमहिलानां प्राणभूताखिलानां
पशुपपतिगृहिण्याः कृष्णवत् प्रेमपात्रम् ।
सुललितललितान्तःस्नेहफुल्लान्तरात्मा
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु ॥

आज श्रीराधारानीके प्राकट्य-महोत्सवका महापर्व है। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण नित्य अनादि हैं, वैसे ही श्रीराधारानी भी नित्य अनादि हैं। जैसे सारे जीवोंकी भाँति भगवान् प्राक्तन कर्म तथा संस्कारवश तदनुरूप पाञ्चभौतिक देह धारण करके कर्म-फल नहीं भोगते और न वे जीवोंकी भाँति अहंकार-आसक्ति-कामनावश नवीन कर्म करते हैं, इसीसे भगवान्के 'जन्म-कर्म' दिव्य—असाधारण, अलौकिक तथा अप्राकृत हैं, उनका विग्रह नित्य सच्चिदानन्दमय है, उसका न तो ग्रहण और त्याग है, न उसमें हानोपादान है और न वह उदयास्त-स्वभाव है—वह नित्य, सत्य, कालातीत और निर्विकार है, वैसे ही सच्चिदानन्दविग्रहा, दिव्य भगवदानन्दांश-घनीभूता, नित्य ह्लादिनीमूर्ति श्रीराधारानीका यह मङ्गल विग्रह भी सर्वथा दिव्य है। सच तो यह है कि श्रीराधारानीकी भगवान् श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्नता है। स्वयं श्रीकृष्ण ही स्वरूपभूत प्रेम-रसास्वादनार्थ श्रीराधा-रूपसे नित्य विद्यमान हैं और समय-समयपर भारतकी पुनीत धराको परम पवित्र करनेके लिये भगवान्की भाँति ही वे अपनी प्रकृति (स्वां प्रकृतिम्) में अधिष्ठित होकर अपनी निज माया (योगमाया) से प्रकट होती हैं।

केवल श्रीराधा ही नहीं, भगवान तो उस समय अवतरित समस्त वृन्दावनको ही नित्य चिदानन्दमय बतलाते हैं। वे कहते हैं—

नित्याः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः।
सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम ॥
सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्दरसात्मकम्।
इदमानन्दकंदाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम ॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'मैं जैसे नित्यविग्रह हूँ, वैसे ही हे रुद्र ! ये सभी नित्य हैं। यहाँ मेरे पिता, माता, सखा, गोपगण, गौएँ और वृन्दावन—सभी नित्य और चिदानन्द-रसात्मक हैं। इस वृन्दावनको मेरा आनन्दकंदस्वरूप ही समझो।'

दिव्य प्रेमराज्यमें श्रीराधारानी अधिरूढ़ महाभावकी या मधुरा रतिकी सकल सम्पदासम्पन्न सजीव मूर्ति हैं। 'श्रीकृष्ण मेरे हैं' इस 'मदीय रति' रूप गोपीभावकी चरम तथा परम परिपूर्ण परिणति अथवा इसका मूल उद्गम-स्थान श्रीराधारानी ही हैं। इनकी इस 'मदीय रति' के नित्य वशीभूत हो दिव्य प्रेमस्वरूप स्वयं रसराजशिरोमणि श्रीकृष्ण राधाके प्रति आत्मसमर्पण किये रहते हैं और अपनी कायव्यूहरूपा समस्त गोपीजनोंके समेत श्रीराधाका अपना स्वभाव तथा स्वरूप प्रियतम श्रीकृष्णका सुख-सम्पादन ही बन जाता है। यही मधुर लीलास्वादन है। वास्तवमें इस मधुरोज्ज्वल लीलामें एक ही परम रस-तत्त्व आस्वाद्य, आस्वादक तथा आस्वादन-रूप बनकर नित्य लीलायमान है।

नित्यसिद्धा गोपाङ्गनाओंमें और नित्यसिद्ध भगवद्-परिकरोंमें सब कुछ विशुद्ध सत्त्वमय अप्राकृत तत्त्व ही होता है। उनके अप्राकृत चित्तमें 'श्रीकृष्ण-प्रीति-सुखेच्छा' या 'सहज सर्वत्यागमय विशुद्ध प्रेम' सहज ही वर्तमान रहता है। साधनसिद्ध गोपाङ्गनाओं तथा

भक्तोंमें पवित्र मञ्जरी-साधनासे या भगवत्कृपासे क्रमशः आगे बढ़ते हुए विशुद्ध प्रेमका उदय होता है। प्रेमके विशुद्ध भावकी वृद्धि होनेपर प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति अनन्यासक्ति तथा अनन्य-ममताका दृढ़ प्रादुर्भाव हो जाता है। यही 'प्रेम' उच्च स्तरपर पहुँचकर 'भाव' बनता है। 'भाव' का अर्थ है——प्रेमकी अत्यन्त प्रगाढ़ सर्वनिवेदनमयी स्थिति, जहाँ अपनी स्मृति-सत्ता केवल प्रियतमकी सुखरूपताके रूपमें ही बच रहती है। इस 'भाव' की परम प्रगाढ़ स्थितिका नाम ही 'महाभाव' है। इसी महाभावमें मोदन-मादन भावोंका उदय होता है। इनमें भी 'मादन' सर्वोपरि है, जो श्रीराधारानीका स्वरूप ही है। यह मन-वाणी-बुद्धिसे अगोचर अनिर्वचनीयाचिन्त्य परमोत्कृष्ट विशुद्ध प्रेम श्रीराधारानीमें नित्य मूर्तिमान् होकर लीला करता है। इस लीलामें सर्वत्र केवल 'सहज त्याग', केवल 'सहज अनुराग' और केवल 'सहज सर्वसमर्पण' रहता है।

इस विशुद्ध परम प्रेमकी मूर्तिमती सजीव प्रतिमा राधामुख्या श्रीव्रजाङ्गनाएँ लोक-परलोक एवं भोग-मोक्षके कामना-लेशसे शून्य रहकर श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही जीवन धारण करती हैं। उनमें शृङ्गार-सज्जा है, पर अपने लिये नहीं; उनमें भोग-सुखका त्याग है, पर किसी अपने त्याग-सुख या मोक्ष-सुखकी प्राप्तिके लिये नहीं; उनमें ममता है, पर वह है केवल प्रियतम श्रीकृष्णके सुखमें ही; उनमें योग-क्षेम है, पर वह भी परिपूर्ण होकर प्रियतम श्रीकृष्णके सुखार्थ ही है। वे सुस्वादु भोजन-पान करती हैं, पर अपने स्वाद-सुखके लिये नहीं, केवल श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही। वे संयमपूर्ण व्रतोपवास करती हैं, परंतु किसी अन्य फलकी कामनासे नहीं, श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही। उनमें मान भी है, लोभ भी है, अहंता भी है, आसक्ति भी है और कामना भी है; पर वह मान श्रीकृष्णके प्रेम-सुख-रसास्वादनकी वृद्धिके लिये है, लोभ श्रीकृष्ण-सुखके विस्तारका है, अहंता नित्य उनकी सुखरूपतामें है, आसक्ति उनकी मधुर सुखमयी मुस्कानमें है और कामना केवल उन प्रियतम श्रीकृष्णके सुखकी है। वे जगत्के समस्त बर्ताव-व्यवहार करती हैं, पर उन सबमें भोग-विराग है, आसक्तिका त्याग है तथा संयमकी सुरक्षा है। उनमें कहीं भी अपने अहंकी मङ्गलकामनासे या स्वसुख-कल्पनासे कोई सम्पर्क ही नहीं है। काय-व्यूहरूपा अनन्त गोपियोंसहित श्रीराधाजीका यही मधुर मनोहर स्वरूप है। इसीसे श्रीराधा प्रियतम श्रीकृष्णकी नित्य सहज आराधिका होकर भी नित्य तृप्त, नित्य निष्काम भगवान् श्रीकृष्णके हृदयमें अपने दिव्य स्वरूपभूत सुखकी अपेक्षा भी कहीं विलक्षण श्रीराधाके द्वारा दिव्य रसमय सुख प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न करती रहती हैं और इसीसे उनको भगवान्‌की पवित्रतम परमाराध्या भी बनना पड़ता है। ऐसी श्रीराधाके त्रिभुवनपावन परम पवित्र सर्वत्यागमय प्रेमकी स्मृति जगानेवाली आजकी यह मङ्गलमयी परम पुण्य तिथि भाद्र-शुक्लाष्टमी है। हमारा परम सौभाग्य है कि हम आज इन सर्वसमर्पणमयी, परमत्यागमयी, विशुद्ध प्रेममयी, श्रीकृष्णकी आराधिकाराध्या, श्रीकृष्णात्मा, नित्य दिव्य-लीलाविहारिणी, नित्य निकुञ्जेश्वरी, भगवती श्रीराधाका परम पवित्र स्मरण करके अपनेको धन्य कर रहे हैं।

इस पवित्र प्रेमका सांकेतिक स्वरूप यों समझिये——

इन्द्रिय-सुख-इच्छासे विरहित अतिशय मधुर कृष्ण-अनुराग।
प्रियतम-सुखमय सहज उदित 'सर्वस्व-त्याग', मन भोग-विराग॥
दिव्यज्योति योगी-वाञ्छित शुचि सिद्धि, अनेक अलौकिक भुक्ति।
तीव्र ज्ञान-साधन-संयुत ज्ञानीजन-वाञ्छित दुर्लभ मुक्ति॥
नहीं कामना-लेश किसीमें, नहीं कहीं ममता-मद-मान।
केवल हृदय प्रेम-रस-पूरित, निर्मल निरुपम दिव्य महान॥
देना-ही-देना है जिसमें, लेनेका न कहीं कुछ काम।
नित देनेको, नित लेना ही सहज मानती वृत्ति ललाम॥
राधामुख्या गोपीजनमें रहता यही भाव अभिराम।
इसी प्रेम-रस-आस्वादनके लोभी नित रहते हैं श्याम॥

इस विशुद्ध प्रेमका सर्वप्रथम प्रारम्भ त्यागसे होता

है और ऋषि-मुनि-वाञ्छित मोक्ष-सुखपर्यन्त स्वसुख-वाञ्छाके सहज त्यागसे ही इस प्रेमका यथार्थतः प्राकट्य होता है। आजका मानव तो काम-कलुष-कलङ्कित और सर्वथा कामोपभोगपरायण हो रहा है। इसीसे वह त्यागके नामपर भी भोग-लालसा चरितार्थ करनेमें संलग्न है। एक युग था, जब समराङ्गणमें ठीक शस्त्र-सम्पातके समय भगवान् श्रीकृष्णको दिव्य ज्ञानोपदेश करने तथा अर्जुनको उसे सुननेका सुअवसर प्राप्त था और जिसको सुनाकर भगवान्ने युद्धरूप घोर कर्मका अध्यात्मीकरण करके युद्धके द्वारा ही भगवदाराधन, भगवत्पूजन आदिके सम्पादनसे मानव-जीवनकी चरम तथा परम गति लाभ करनेका अर्जुनको अधिकारी बना दिया था। और कहाँ आज ऐसा दुर्दिन है कि धर्म तथा उपासनाके क्षेत्रमें भी गंदी राजनीति आ गयी है और वहाँ भी नीच स्वार्थकी सिद्धिके लिये दुर्योजनाएँ बनती हैं। आजका मानव इस भीषण कामोपभोग-परायणताके कारण सर्वथा असुरभावापन्न होकर धर्म, ईश्वर, सत्य, मानव-सेवा, लोक-सेवा, देश-सेवा और न्यायके नामपर भी अत्यन्त सीमित नीच स्वार्थ-साधनमें संलग्न हैं। इसीसे आजका मानव भगवद्गीताके समयके उस आध्यात्मिक मानस-धरातलकी कल्पना ही नहीं कर सकता और इस बुद्धिभ्रमके कारण ही आजके कुछ विद्वान् भगवद्गीताका उपदेश युद्धस्थलमें हुआ था, ऐसा नहीं मानते।

इस परिस्थितिमें पवित्रतम गोपी-प्रेम या महाभावरूप श्रीराधाके परमोत्कृष्ट सर्वत्यागकी बातको समझ लेना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है; परंतु जीवका वास्तविक लक्ष्य भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही है। अतएव भगवत्कृपासे जीवके चित्तको इस ओर खींचने-खिंचानेका विशुद्ध प्रयास करना सभीका कर्तव्य है। इसीलिये शृङ्गार-प्रचारकी तनिक-सी भी कल्पना न करके विषयासक्ति-त्यागपूर्वक भगवान्के प्रति केवल विशुद्ध प्रेमका उदय हो, इसी उद्देश्यसे इस राधाष्टमी-महोत्सवका प्रारम्भ किया गया था और इसी उद्देश्यसे इसे चलाया भी जा रहा है। तथापि हमलोगोंके स्वभाव-दोषसे विषय-विरक्ति तथा भगवत्प्रेमका जितना प्रचार-प्रसार होना चाहिये था, वैराग्य-राग-रसिकता आकर विशुद्ध भगवदनुराग-रसका जितना प्रादुर्भाव होना चाहिये था और कम-से-कम कौतूहल तथा नाटकमात्र न रहकर इसको जितना परम आध्यात्मिक साधनका सूत्रपात करनेवाला होना चाहिये था, वैसा यह नहीं हो पा रहा है और अधिकांश लोगोंके लिये यह एक (धार्मिक) मेला मात्र रह जाता है—यह अवश्य विचारणीय है और इसके लिये हमारे विचारोंमें, कार्योंमें, कार्यपद्धतिमें एवं उत्सवमें सम्मिलित होनेवाले महानुभावों तथा देवियोंके विचारों और कार्योंमें ऐसे सफल परिवर्तनकी आवश्यकता है, जिससे हमारा यह महोत्सव प्रभु-प्रेम-प्राप्तिका एक अमोघ साधन बन जाय। प्रारम्भिक साधकोंके लिये प्रेमी भक्तोंके द्वारा उपदिष्ट और प्रेमी साधकोंके द्वारा आचरित नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है—

अहित, असत्य, व्यर्थ, कटु, निन्दायुत, उद्वेग-वचनका त्याग।
लीला-भगवन्नाम-गुणोंका गान करे नित सह अनुराग॥
मनसे काम-क्रोध-लोभके वेगोंका करके परिहार।
लीला-भगवद्गुण-नामोंका करे नित्य चिन्तन अविकार॥
हिंसामय अशुद्ध भोजनका, करे चटोरेपनका त्याग।
सादा शुद्ध सुभोजन सात्त्विक करे, स्वादका तजकर राग॥
सादे वस्त्र, आचरण सीधे, जीवन आडम्बरसे हीन।
आवश्यकता-अभाव-विरहित, सदा दीन-सेवामें लीन॥
विषयी-संसारी लोगोंका सङ्ग छोड़, सेवै सत्सङ्ग।
व्यर्थ-अनर्थ कार्य सब इन्द्रिय-मनके तजकर रहे असङ्ग॥
भजनोत्साह सदा, भगवत्-अस्तित्व-कृपामें दृढ़ विश्वास।
भजन-सहायक कर्मोंमें शुचि प्रीति, प्रवृत्ति, ध्यान-आयास॥
घोर विपद्में धैर्य, मानकर प्रभुका मङ्गलमय सुविधान।
राधा-कृष्ण-प्रेमको ही, बस, मान एक उद्देश्य महान॥

इन साधनोंपर गम्भीरतासे ध्यान देकर यथासाध्य

इनको जीवनमें उतारनेसे श्रीराधा-माधव-प्रेमकी प्राप्तिका मार्ग सहज ही प्राप्त हो सकता है। अन्तमें हम प्रार्थना करें—

सदा राधिकानाम जिह्वाग्रतः स्यात्
सदा राधिकारूपमक्ष्यग्र आस्ताम्।
श्रुतौ राधिकाकीर्तिरन्तःस्वभावे
गुणा राधिकायाः श्रिया एतदीहे॥

जिह्वाके मम अग्रभागपर रहे विराजित राधा-नाम।
मेरी आँखोंके सम्मुख नित रहे राधिका-रूप ललाम॥
कानोंमें नित रहे गूँजती, राधाकीर्ति-कथा अभिराम।
बना रहे श्रीश्रीराधाका गुण-गण-चिन्तन मन अविराम॥

बोलो कीर्तिदाकुमारी श्रीराधारानीकी जय !!

(रात्रिमें)

वन्दे वृन्दावनानन्दां राधिकां परमेश्वरीम्।
गोपिकां परमां श्रेष्ठां ह्लादिनीं शक्तिरूपिणीम्॥
पूर्णानुरागरसमूर्तितडिल्लताभं
ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यम्।
यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे
तत्किंकरी भवितुमेव ममाभिलाषः॥

हमारा महान् सौभाग्य है, जो आज हमलोग परम त्यागकी तथा दिव्य भगवत्प्रेमानन्दकी घनीभूत सजीव प्रतिमा श्रीश्रीराधाके प्राकट्योत्सवके सुअवसरपर श्रीराधा-माधवके पुनीत स्मरणका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं।

श्रीराधाकी ऐतिहासिक सत्ता है या नहीं, उनको पहले क्या मानते थे तथा पीछे क्या मानने लगे, उनका क्रम-विकास हुआ या नहीं, उनके सम्बन्धमें वैष्णवों और भक्तोंकी कल्पनाका कितना विस्तार है—इन सब प्रश्नोंपर विवाद करनेकी योग्यता मैं अपनेमें नहीं समझता। मेरी तुच्छ धारणामें तथा मेरे विश्वासमें तो श्रीराधा परात्पर समग्र ब्रह्म सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति ही नित्य सत्य तत्त्व हैं। इन दोनोंका नित्य एकत्व तथा नित्य ही लीला-भेद है और वह अनादि-अनन्त है। श्रीराधाजी महाभाग श्रीवृषभानुके यहाँ प्रकट हुई थीं, समय-समयपर हुआ करती हैं—यह सत्य है। उनकी वृन्दावनकी मधुर लीला भी परम सत्य है। हो सकता है, प्राचीन साहित्य उपलब्ध न होने या लुप्त हो जानेके कारण उनका नाम पहलेके सब ग्रन्थोंमें न मिलता हो। हो सकता है, सब लोगोंको उनके स्वरूप तथा लीलातत्त्वका पता न हो। यह भी सम्भव है कि उनकी छायाका विवाह रायण गोपसे हुआ हो और वे स्वरूपतः यथार्थमें भगवान् श्रीकृष्णकी ही नित्यसङ्गिनी रही हों। अतः उनमें परकीया भावकी कल्पना की गयी हो। एवं ब्रह्माजीके द्वारा विवाह कराये जानेके कारण पहले उन्हें लोग स्वकीया मानते हों और इस कारण उनके साहित्यिक रूपमें साहित्यिकोंके भावनानुसार समय-समयपर परिवर्तन हुआ हो और इसीको क्रम-विकासका नाम दे दिया गया हो। पर 'उनके तात्त्विक सत्य स्वरूपमें किसी भी कल्पनाका स्थान है और कल्पना-राज्यमें ही उनकी सृष्टि, विकास, भावान्तर या रूपान्तर हुआ है एवं प्रेमके केवल साहित्यिक रूपमें ही उनकी काल्पनिक सत्ता है' यह बात माननेको कभी मन नहीं चाहता। उनके नित्य अस्तित्वकी सत्यताका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि अनेकों प्रेमी भक्तोंको उन अलौकिक प्रेममयी, दिव्य स्नेहमयी, अलौकिक अप्राकृत विग्रहरूपा श्रीराधारानीकी विलक्षण कृपासे उनके प्रत्यक्ष दर्शन, साक्षात्कार, उनकी विविध लीलाओंकी अनुभूति, उनकी लीलामें प्रवेश-प्राप्ति और दिव्य परम स्नेहाशीर्वादकी उपलब्धि हुई है। विश्वासी पुरुषोंके लिये इसके प्रचुर प्रमाण हैं।

भारतके प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराजने 'कल्याण'में प्रकाशित एक लेखमें लिखा था—"कोई भयभीत मनुष्य जनशून्य अज्ञात देशमें घोर विपत्तिके समय पलक मारते ही यह देखता है कि स्निग्ध करुणामय एवं प्रशान्त मुखश्रीसे युक्त एक दिव्य ज्योतिर्मय मूर्त्ति उसके दृष्टिपथमें

शून्यस्थानमें आविर्भूत होकर उसके समस्त भयका हरण कर लेती है, उसे आश्वासन देती हुई कहती है—'वत्स, तुम भयभीत क्यों हो रहे हो ? देखो, सामने दीपक जल रहा है। वहाँ जाओ। तुम्हारे सारे अभाव दूर हो जायँगे। मैं तुम्हारे साथ हूँ। भयका कोई कारण नहीं है।' इस आश्वासनको सुनकर वह यदि देखता है कि सचमुच ही सामने पर्णकुटीमें दीपक जल रहा है और वहाँ एक मनुष्य मानो उसीकी प्रतीक्षामें बैठा हुआ है, वह वहाँ आश्रय पाता है, क्षुधा-निवृत्तिके लिये मनमाना भोजन-लाभ करता है, भयसे त्राण पाता है, गन्तव्य स्थानका मार्ग पाता है तथा राहका साथी पाता है तो बताइये उसके हृदयमें किस प्रकारके भावोंका उदय होगा········ ।" इस घटनाको वह मनुष्य चाहे लौकिक कार्य-कारणके सम्बन्धद्वारा किसीको न समझा सके और कोई चाहे इस घटनाको सत्य न समझे; पर जिसने प्रत्यक्ष ऐसा अनुभव प्राप्त किया है, वह इसे कैसे अस्वीकार कर सकता है और कैसे वह किसीके न माननेसे या तर्कयुक्त खण्डन करनेसे अपने प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध उसकी बातको स्वीकार कर सकता है ? ठीक यही बात श्रीराधारानीके सम्बन्धमें है। उनकी सत्ताको कोई स्वीकार करे या न करे, उन्हें कोई चाहे केवल कल्पनाकी वस्तु माने अथवा उनके रूपमें अपने मनकी कल्पनाके अनुसार तर्कयुक्तिका अवलम्बन करके क्रम-विकास माने; पर श्रीराधारानीकी अनुकम्पासे जिनको प्रत्यक्ष अनुभूति हो चुकी है या होती है, तर्कयुक्ति या शब्दजालके आधारपर उनके सत्य विश्वासको कोई कैसे हिला सकता है ? इसी प्रत्यक्ष अनुभूतिके आधारपर अबतकके प्रेमी भक्तोंने जो कुछ देखा, निरखा और फिर लिखा है, उसीपर सहज विश्वास करके इस पवित्र मार्गके साधकोंको विना किसी शङ्का-संदेहके श्रीराधारानीकी आराधना करनी चाहिये।

मैं न तो साहित्य-क्षेत्रमें प्रवेशका यथार्थ अधिकारी हूँ, न मुझमें विशुद्ध भक्ति और प्रेमका ही तनिक-सा भी प्रत्यक्ष अङ्कुर उगा है; इस अवस्थामें मेरे-सरीखे साहित्य तथा प्रेमके दरिद्रके लिये तो सहज करुणामयी श्रीराधारानीकी मङ्गल-प्रेरणाके अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं है, जिससे मैं उनके सम्बन्धमें कुछ कह-सुन सकूँ।

श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्णका ही एक दूसरा स्वरूप हैं और उन्हींकी भाँति उनमें समस्त भगवदीय गुणोंका प्राकट्य है। प्रेमकी परमोच्च सीमास्वरूप महाभावरूपा होनेपर भी वे नित्य-निरन्तर अपनेमें प्रेमका अभाव देखती हैं। अतएव उनका वह दिव्य प्रेम प्रतिपल—नित्य वर्द्धनशील है, वह कभी पूरा होता ही नहीं। वे नित्य परिवर्द्धनशील, नित्य नवायमान सौन्दर्य-माधुर्यका अगाध, अपरिसीम, अनन्त भंडार होनेपर भी अपनेमें कुरूपता देखकर कभी भी अपनेको प्रियतम श्यामसुन्दरके योग्य अनुभव नहीं करतीं और सदा सकुचाती रहती हैं। अनन्त-अचिन्त्य अनिर्वचनीय सहज दिव्य भगवत्स्वरूप होनेपर भी वे अपनेको दोषागार मानकर लज्जाका अनुभव करती हैं। शिव-ब्रह्मादि देवगण, नारद-सनत्कुमार आदि मुनि, वशिष्ठ-व्यासादि महर्षि, याज्ञवल्क्य-शुकदेव आदि ज्ञानी, अनसूया-अरुन्धती आदि सती-पतिव्रता एवं ब्रह्मविद्या आदि प्रत्यक्ष ज्ञानमूर्ति देवियों आदिके द्वारा उपासित, आराधित, परम गौरवमयी, महान् महिमामयी, नित्य निर्मल प्रेमाकर-स्वरूपा होनेपर भी वे अपनेको गौरव-महिमा-विहीन और विकारी हृदय-सम्पन्न बतलाती हैं और नित्य सहज अनुगत होनेपर भी पुनः-पुनः वक्र गतिका अवलम्बन करती हैं। इस प्रकार उनमें नित्य-निरन्तर अनन्त, अचिन्त्य निरतिशय परस्पर-विरोधी धर्म एवं भावोंका विकास रहता है।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण अभिन्न होनेपर भी विलक्षण प्रेम-सम्बन्धसे सम्बन्धित हैं। वे परस्पर प्रेमी भी हैं और

प्रेमास्पद भी। परंतु अधिकांशमें श्रीराधा ही आश्रयालम्बन-स्वरूप बनी हुई श्रीकृष्णकी आराधना करके उन्हें सुख पहुँचाती रहती हैं। श्रीराधामें अनन्त गुण हैं। उनके स्वरूप-गुणोंको यथार्थतः पूरा कोई नहीं जानता। फिर कोई बता तो कैसे सकता है। पर प्रेमी भक्तोंको उनके निम्नलिखित चौंसठ गुणोंकी विशेषरूपसे उपलब्धि हुई है और वे ये हैं——

अङ्ग अङ्ग अप्रतिम असित सौन्दर्य, अतुल माधुर्य महान।
दिव्य पवित्र अङ्ग-सौरस, संतत शुचि अधर मधुर मुसकान॥
नेत्र सुधावर्षिणी दृष्टियुत, चञ्चलता, वक्रता विशाल।
दीर्घ कृष्ण कच, सोह चन्द्रिका, वेणि-सुगुम्फित मालति-माल॥
सुकुमारता, सहज श्री-सुषमा; प्रियदर्शना, विलक्षण रूप।
सहज सरलता, परम बुद्धिमत्ता, सेवा-रति, धैर्य अनूप॥
नित्य विरह-कातरता, मिलनोत्कण्ठा, नित्य मिलन अनुभूति।
निरभिमानता, मान-रूपता, वामभावना, विमल विभूति॥
विनयशीलता, शुचि विनम्रता, सर्वत्यागमयता अति पूत।
करुणामयता, अति उदारता, कर्मकुशलता रस-सम्भूत॥
साधुभाव, सौशील्य परम, चापल्य मधुर, गाम्भीर्य अपार।
गीत-वाद्य-शुचिनृत्य-कुशलता, ललित अनन्त कला आगार॥
प्रिय-गुण-वर्णन-मुखरा अति, मन मौन, नित्य उद्दीपित भाव।
स्व-सुख-कल्पना-शून्य सर्वथा, नित्य एक प्रियतम-सुख-चाव॥
सहज प्रेम-प्रतिमा, पर निजमें नित्य प्रेमशून्यता-ज्ञान।
आत्मनिवेदनमयता, पर है नहीं समर्पण-स्मृति-अभिमान॥
सखी-सहचरी-प्रेम-विवशता, सबमें गुण-महिमाका भान।
सबके सुखमें सुखी सदा निज सुखका सहज त्याग निर्मान॥
सौत-प्रियता-सेवा सुखमय प्रियतम-सुख-सम्पादन-जन्य।
प्रियतम-वशीकरण गुणगणमय, परम त्यागमय जीवन धन्य॥
रति, स्नेह अति, प्रणय, मान शुचि, पञ्चम राग तथा अनुराग।
सप्तम दुर्लभ भाव, प्रेम अष्टम अति महाभाव युत त्याग॥
आठोंसे सम्पन्न, इन्हींकी अगली शुभ परिणतिसे युक्त।
प्रियतम-महिषी-प्रेयसिगणमें प्रमुख सर्व-अर्पण-संयुक्त॥
प्रेमविवशता मधुर, नित्य अभिसार-प्रियता, प्रिय-स्मृति-लीन।
नवनिकुञ्जवासिनि, मधुभाषिणि, परमैश्वर्यमयी, शुचि दीन॥
ममतामयी मधुकरी करती प्रिय-पद-कंज-मधुर-रस-पान।
'मैं अभिन्न प्रियतमा श्यामकी' एक अनन्य अहंका मान॥

१. प्रत्येक अङ्गमें अतुलनीय अपरिमित सौन्दर्य, २. अतुलनीय महान् माधुर्य, ३. दिव्य अङ्गोंमें पवित्र सुगन्ध, ४. अधरोंपर निरन्तर पवित्र मधुर मुसकान, ५. नेत्रोंकी सुधावर्षिणी दृष्टि, ६. नेत्रोंकी चञ्चलता, ७. विशाल नेत्रोंकी वक्रता, ८. लंबे काले केश, ९. सिरपर चन्द्रिका सुशोभित, १०. वेणीमें मालतीकी माला गुँथी हुई, ११. अङ्गोंकी सुकुमारता, १२. सहज श्री-शोभा, १३. देखनेमें अत्यन्त प्रियदर्शिता, १४. अलौकिक रूप-सौन्दर्य, १५. सहज सरलता, १६. परम बुद्धिमत्ता, १७. सेवामें प्रीति, १८. अनुपम धैर्य, १९. श्रीकृष्ण-विरह-जन्य नित्य कातरता, २०. श्रीकृष्णके प्रति मिलनोत्कण्ठा, २१. श्रीकृष्णके नित्य मिलनका अनुभव, २२. निरभिमानता, २३. मान, २४. वामभाव, २५. निर्मल वैभव, २६. विनयशीलता, २७. पवित्र नम्रता, २८. अत्यन्त पवित्र सर्वत्याग-मयता, २९. करुणामयता, ३०. परम उदारता, ३१. प्रेमसे प्रादुर्भूत कार्यकुशलता, ३२. साधुभाव, ३३. परम सुशीलता, ३४. मधुर चपलता, ३५. अपार गम्भीरता, ३६. पवित्र गीत-वाद्य-नृत्य-कुशलता, ३७. अनन्त ललित कलाओंकी भंडार, ३८. प्रियतम श्रीकृष्णके गुण-वर्णनमें अत्यन्त मुखरता, ३९. मानसिक मौन, ४०. नित्य उद्दीप्त भाव, ४१. स्वसुखकी कल्पनाका सर्वथा अभाव, ४२. नित्य एकमात्र प्रियतमके सुखकी इच्छा, ४३. सहज प्रेम-प्रतिमारूपता, ४४. अपनेमें नित्य प्रेमके अभावका ज्ञान, ४५. आत्मनिवेदन-मयता, ४६. समर्पणकी स्मृति और अभिमानका अभाव, ४७. सखी-सहचरियोंके प्रति प्रेमविवशता और उनमें गुण-महिमाके दर्शन, ४८. सखी-सहचरियोंके सुखमें नित्य सुखी रहना, ४९. अपने सुखका अभिमानरहित सहज त्याग, ५०. प्रियतमके सुख-सम्पादनके लिये सौतकी प्रियता और सेवामें सुखकी अनुभूति, ५१. प्रियतमको वशमें करनेवाले गुणोंका समूह, ५२. परम त्यागमय धन्य जीवन, ५३. रति, स्नेह, प्रणय, मान, राग,

अनुराग, भाव और महाभावरूप त्यागमय प्रेमका नित्य विकास, ५४. इन आठों भावोंकी अगली परिणति (मोदन-मादन आदि) की प्राप्ति, ५५. प्रियतम श्रीकृष्णकी पटरानियों और प्रेयसियोंमें सर्व-समर्पणयुत प्रमुखता, ५६. मधुर प्रेमविवशता, ५७. नित्य अभिसारप्रियता, ५८. प्रियतम श्रीकृष्णकी स्मृतिमें तल्लीनता, ५९. नव निकुञ्जमें निवास, ६०. मधुर भाषण, ६१. परम ऐश्वर्यमयता, ६२. पवित्र दैन्य, ६३. प्रियतम-पद-कमलके मधुर रसपानके लिये ममतामयी भ्रमरीरूपता, ६४. 'मैं श्रीश्यामसुन्दरकी अभिन्न प्रियतमा हूँ' एकमात्र ऐसा अनन्य अहंकार।

इन्हींके साथ-साथ श्रीकृष्णके प्रति उनके क्या भाव—सम्बन्ध हैं, नीचेके वर्णनसे उनका पता लगता है और गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर श्रीराधाके परम पवित्र प्रेममय हृदयके स्वरूपकी पवित्र झाँकीके दर्शन होते हैं।

कृष्णप्राणाधिका राधा कृष्णप्रेमविनोदिनी।
श्रीकृष्णाङ्गशुभध्यात्री कृष्णानन्दप्रदायिनी॥
कृष्णस्याह्लादिनी देवी कृष्णध्यानपरायणा।
कृष्णसम्मोहिनी नित्या कृष्णानन्दप्रवर्द्धिनी॥
कृष्णानन्दसदानन्दा कृष्णकेलिसुखास्पदा।
कृष्णप्रिया कृष्णकान्ता कृष्णसेवापरायणा॥
कृष्णप्रेमाब्धिशफरी कृष्णप्रेमतरङ्गिणी।
कृष्णचित्तहरा देवी कीर्तिदाकुलपद्मिनी॥
कृष्णमुखी हास्यमुखी सदा कृष्णकुतूहला।
कृष्णानुरागिणी धन्या किशोरी कृष्णवल्लभा॥
कृष्णकामा कृष्णवन्द्या कृष्णार्थे सर्वकामना।
कृष्णप्रेममयी राधा कल्याणी कृष्णमाधुरी॥
कृष्णस्योन्मादिनी काम्या कृष्णलीलाशिरोमणिः।
कृष्णसंजीवनी राधा कृष्णवक्षःस्थलस्थिता॥
कृष्णप्रेममदोन्मत्ता कृष्णसङ्गविलासिनी।
श्रीकृष्णरमणी राधा कृष्णप्रेम्णा कलङ्किनी॥
कृष्णप्रेमवती कर्त्री कृष्णभक्तिपरायणा।
श्रीकृष्णमहिषीश्रेष्ठा श्रीकृष्णाङ्गप्रियंकरी॥
कृष्णसंयुक्तकामेशी श्रीकृष्णप्रियवादिनी।
कृष्णशक्तिः काञ्चनाभा कृष्णा कृष्णप्रिया सती॥
कृष्णप्राणेश्वरी धीरा केलिकुञ्जनिवासिनी।
कृष्णप्राणाधिदेवी सा कृष्णानन्दप्रदायिनी॥
कृष्णप्रसाध्यमाना च कृष्णप्रेमपरायणा।
कृष्णचित्तस्थिता देवी श्रीकृष्णाङ्गसदारता॥

'श्रीराधा श्रीकृष्णको प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारी हैं, कृष्ण-प्रेम ही उनके विनोद—मन-बहलावका साधन है। वे श्रीकृष्णके अङ्गोंका ही सदा शुभचिन्तन करती रहती हैं। श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करना ही उनका स्वभाव है और वे श्रीकृष्णको आह्लादित करती हैं। इतना ही नहीं, वे देवी श्रीकृष्णके ध्यानमें ही तत्पर रहती हैं। श्रीकृष्णका ध्यान ही उनकी सर्वश्रेष्ठ गति है। वे (सबके आकर्षक) श्रीकृष्णको भलीभाँति मोहित किये रहती हैं। वे सदा रहनेवाली—अविनाशिनी हैं और आनन्दरूपा श्रीकृष्णके आनन्दको कईगुना बढ़ा देती हैं। श्रीकृष्णके आनन्दमें ही वे सदा आनन्द मानती हैं, श्रीकृष्णके केलिसुखकी आधारभूता हैं। वे श्रीकृष्णकी प्यारी, श्रीकृष्णके द्वारा कमनीय और श्रीकृष्णकी सेवामें ही तत्पर रहनेवाली हैं। श्रीकृष्णके प्रेमरूपी पारावारमें विहार करनेवाली मछली हैं, श्रीकृष्णप्रेमकी तरङ्गिणी हैं। वे श्रीकृष्णके चित्तको चुरानेवाली देवी अपनी जननी कीर्तिदाके कुलको सौरभित करनेवाली कमलिनी हैं। उनका मुख सदा श्रीकृष्णकी ओर रहता है। उनके वदनपर हास्यकी रेखा सदा खेलती रहती है तथा श्रीकृष्ण ही सदा उनके कुतूहल—उत्कण्ठाके विषय बने रहते हैं। वे श्रीकृष्ण-विषयक अनुरागसे पूर्ण होनेके कारण धन्यातिधन्य हैं, नित्य किशोरी तथा श्रीकृष्णवल्लभा हैं। श्रीकृष्ण ही उनकी कामनाके एकमात्र विषय हैं। वे श्रीकृष्णकी भी वन्दनीया हैं और उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ श्रीकृष्णके लिये—श्रीकृष्णको लेकर ही होती हैं। नहीं-नहीं, ये राधारानी कृष्णप्रेमकी जीती-जागती पुतली, कल्याणमयी

तथा कृष्णमाधुरीका मूर्तस्वरूप हैं । वे श्रीकृष्णको भी उन्मत्त बना देनेवाली हैं तथा श्रीकृष्णके लिये कामनाका विषय बनी रहती हैं और श्रीकृष्णलीलाकी मुकुटमणि हैं । राधा श्रीकृष्णके प्राणोंके लिये संजीवनी बूटी हैं और श्रीकृष्णके वक्षःस्थलमें निवास करती हैं । वे कृष्णप्रेमके नशेमें मतवाली हुई घूमती हैं और श्रीकृष्णके विलासमें रत रहती हैं । वे श्रीराधा श्रीकृष्णको आनन्दित करती हैं और श्रीकृष्णप्रेमके कारण कलङ्किनी बनी रहती हैं । वे श्रीकृष्णप्रेमकी आश्रयभूता विधात्री तथा श्रीकृष्णकी भक्तिमें सदा तत्पर रहती हैं । वे श्रीकृष्णकी पत्नियोंमें श्रेष्ठ तथा श्रीकृष्णके अङ्गोंका सदा प्रिय करनेवाली हैं । वे श्रीकृष्णसे सदा संयुक्त रहनेवाली भगवती कामेश्वरी—त्रिपुरसुन्दरीका ही दूसरा रूप हैं तथा श्रीकृष्णके प्रति सदा मधुर वचन बोलती हैं । वे श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति और सुवर्णकी-सी कान्तिसे युक्त हैं । कृष्णा—श्यामानामसे विख्यात श्रीकृष्णकी प्रेयसी एवं सतीशिरोमणि हैं । वे श्रीकृष्णके प्राणोंकी स्वामिनी, धैर्यवती तथा केलिकुञ्जमें निवास करनेवाली हैं । और तो क्या, वे श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री एवं श्रीकृष्णको प्रचुर आनन्द देनेवाली हैं । वे राधादेवी स्वयं श्रीकृष्णके द्वारा सजायी जाती हैं, श्रीकृष्ण-प्रेममें ही तत्पर रहती हैं, श्रीकृष्णके मनमें बसी रहती हैं और श्रीकृष्णके ही मधुर मनोहर अङ्गोंमें सदा प्रीतियुक्त रहती हैं ।' अस्तु,

श्रीराधा स्वकीया थीं या परकीया, यह भी एक व्यर्थका ही प्रश्न है । जब श्रीकृष्ण और राधा स्वरूपतः नित्य अभिन्न एक ही तत्त्व हैं, तब उनमें अपने-परायेकी कल्पना कैसी ? जैसे भगवान् निराकार भी हैं, साकार भी हैं और उन दोनोंसे परे भी हैं, उसी प्रकार श्रीराधाजी भी स्वकीया भी हैं, परकीया भी हैं और दोनोंसे परे भी हैं । भगवान् श्रीकृष्णने तो यहाँतक कहा है—

ये राधिकायां मयि केशवे हरौ
कुर्वन्ति भेदं कुधियो जना भुवि ।
ते कालसूत्रे प्रपतन्ति दुःखिता
रम्भोरु यावत् किल चन्द्रभास्करौ ॥

'इस पृथ्वीपर जो कुबुद्धि मानव राधिकामें और मुझ केशवमें—हरिमें भेद-बुद्धि करते हैं, वे जबतक चन्द्र-सूर्यका अस्तित्व है, तबतक कालसूत्र नामक नरकमें पड़े हुए दुःख भोगते रहते हैं ।'

अतएव स्वकीया-परकीया—जिस-किसी भी भावसे श्रीराधाकी आराधना करते हुए उन्हें श्रीकृष्णसे अभिन्न मानना चाहिये और उनकी समर्था रतिका समादर करते हुए यथासाध्य प्रेम-भावनाको जीवनमें उतारना चाहिये । रतिके तीन भेद माने गये हैं । १—साधारणी, २—समञ्जसा और ३—समर्था । द्वारकालीलामें महाभागा महिषियोंकी रति 'साधारणी' मानी गयी है; क्योंकि उनमें स्वाभाविक ही गृहस्थ-धर्मके अनुसार संतानके लालन-पालनकी आशा और आत्म-सुखकी आकाङ्क्षा भी थी । श्रीकृष्णको सुख देने और उनसे स्वयं सुख पानेकी आकाङ्क्षाके अतिरिक्त अन्य किसी आकाङ्क्षाका जिसमें अभाव होता है, ऐसा जो समरस विलास है, उसे 'समञ्जसा-रति' कहते हैं और जहाँ स्वसुख-वाञ्छाका सर्वथा अभाव है, उसे 'समर्था रति' कहा गया है । समर्था रतिकी प्रतीकरूपा श्रीगोपाङ्गनाएँ हैं और श्रीराधाजी उनमें सर्वप्रधान हैं । वैकुण्ठादि दिव्य परमधामोंकी भगवत्स्वरूपा लक्ष्मी आदि महादेवियाँ यद्यपि श्रीराधासे अभिन्न हैं, तथापि प्रेम-राज्यमें उनकी रतिकी भी श्रीराधाकी रतिसे तुलना नहीं होती । द्वारकाकी पट्टमहिषियोंके सम्बन्धमें तो ऐसी बहुत-सी कथाएँ आती हैं, जिनसे वृन्दावनीय श्रीगोपाङ्गनाओंकी रतिका श्रेष्ठत्व सिद्ध हुआ है । एक कथा है—

'एक बार द्वारकाकी सारी पटरानियाँ द्वारकानाथ भगवान् श्यामसुन्दरके साथ सिद्धाश्रममें पधारीं । पटरानियाँ श्रीकृष्णके द्वारा श्रीराधिका और व्रजगोपियोंके सौन्दर्य, माधुर्य, त्याग तथा प्रेमका प्रभाव सुन चुकी थीं । इसलिये

उनमें बड़ी लालसा थी कि वे श्रीराधारानी आदिके दर्शन करें ।

'पटरानियोंमें सत्यभामा आदिने पहले तो अपने सौन्दर्यका बड़ा गर्व किया, पर श्रीराधा आदिका दर्शन करते ही उन सबको मूर्छा हो गयी । तब उनका गर्व गल गया । तत्पश्चात् परस्पर प्रेम-मिलन हुआ । परस्पर बड़े प्रेमकी चर्चा हुई । फिर श्रीकृष्णके आज्ञानुसार रुक्मिणीजीने स्वर्णपात्रमें शर्करायुक्त उष्ण दुग्ध बड़ी प्रीतिके साथ श्रीराधाजीको पिलाया । तदनन्तर सब अपने-अपने स्थानोंको पधार गयीं । रात्रिको भगवान् श्रीकृष्णके समीप रुक्मिणीजी आयीं और शयनके समय अपने कोमल कर-पल्लवोंके द्वारा सदाकी भाँति वे स्वामी श्रीकृष्णका पाद-संवाहन करने लगीं । रुक्मिणीजीने आश्चर्यसे देखा—भगवान्के श्रीचरण-तलमें फफोले पड़े हुए हैं । रुक्मिणीके बहुत पूछनेपर भगवान्ने कहा—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे ।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्द्धं न चलत्यतीव ॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
बुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति ।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम् ॥

'रुक्मिणी ! राधिकाके हृदयकमलमें मेरे पद-कमल नित्य विराजित रहते हैं । उनके प्रेमपाशमें बँधे हुए मेरे चरण-कमल एक आधे लवके लिये भी वहाँसे नहीं हटते । आज राधिकाने बहुत गरम दूध पी लिया था, इसीसे मेरे पद-कमलोंमें फफोले पड़ गये हैं । तुमने अधिक गरम दूध दे दिया, उसीका यह फल है ।' यद्यपि राधाके प्रेमका यह एक बहुत ही स्थूल नगण्य-सा लक्षण है, तथापि भगवान्के इन वचनोंको सुनकर रुक्मिणी आदि परमपवित्र देवी-शिरोमणियोंका दूषणरहित दर्प तत्काल दलित हो गया । उसी अवसरपर पटरानियोंके आग्रहसे श्रीराधा आदि समस्त गोपिकाओंको साथ लेकर भगवान्ने रास भी किया और इससे श्रीसत्यभामा आदिको फिर गर्व हो गया कि हमारा आजका यह रास वृन्दावनके रासकी अपेक्षा बड़े महत्त्वका हुआ होगा; पर श्रीकृष्णके कहनेपर जब श्रीराधाजीसे उनकी बातचीत हुई और श्रीराधाने वृन्दावनीय रासके सौन्दर्य और प्रभावका वर्णन किया, तब तो समस्त पटरानियोंको यह अच्छी तरहसे भान हो गया कि भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र प्रेममें श्रीराधा और गोपाङ्गनाओंकी तुलना किसीके साथ नहीं हो सकती । अतएव श्रीराधाका महात्यागमय प्रेम सभीके लिये आदर्श है । इसीसे बहुत बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने, ब्रह्मर्षियोंने, वेदकी ऋचाओंने और ब्रह्मविद्या आदिने भी तीव्रतम तपस्या करके गोपीप्रेमको प्राप्त करनेका प्रयास करके सफलता प्राप्त की थी । आज उन्हीं श्रीराधाके महान् प्राकट्य-महोत्सवका शुभ दिन है । आज हमें अभिन्नस्वरूप उन श्रीराधा और माधवके चरणोंमें प्रेम प्राप्त करनेका निश्चय करना चाहिये । भगवान् श्रीराधा-माधवका प्रेम प्राप्त करनेके लिये श्रीराधाकी आराधना ही प्रधान साधन है । भगवान् शंकरके पूछनेपर स्वयं श्रीकृष्णने उनसे कहा था—

यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर ।
न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम् ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत् ।
आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि ॥
इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्तितम् ।
त्वयाप्येतन्महादेव गोपनीयं प्रयत्नतः ॥

'श्रीमहादेव ! जो मेरे शरण होते हैं, पर मेरी प्रिया श्रीराधाके नहीं होते, वे वास्तवमें मुझे प्राप्त नहीं करते । अतएव सब प्रकारसे मेरी प्रिया श्रीराधाके शरणापन्न होकर उनकी आराधना करनी चाहिये । रुद्र ! यदि मुझे वशमें करना चाहते हो तो मेरी प्रिया राधाके शरणापन्न होओ—यह मैं तुमको गुप्त रहस्य बतलाता हूँ ।'

आराधनामें एक ही भावकी विशेषता है कि आराधक

सब प्रकारसे एक ही लक्ष्यको सामने रखकर साधनामें प्रवृत्त हो । भगवान् शंकरने कहा है—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा ।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सङ्गैककाङ्क्षिणी ॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च ।
श्रीकृष्णगुणलीलायाः स्मरणादि तथाऽऽचरेत् ॥

'जैसे पतिपरायणा रमणी दीर्घकालसे विदेश गये हुए एकमात्र पतिमें ही अनुरक्त रहती है, केवल पतिके ही सङ्गकी आकाङ्क्षा करती हुई दीनभावसे सदा उसीके गुणोंका चिन्तन, उसीका गुणगान और उसीका गुण-श्रवण करती रहती है, उसी प्रकार साधकको श्रीकृष्णमें आसक्तचित्त होकर श्रीकृष्णका नाम-गुण-लीलादिका ही स्मरण, गान तथा श्रवण करते रहना चाहिये ।'

श्रीराधाकी आराधनाके दो प्रधान साधन हैं— (१) श्रीराधाके परम प्रियतम श्रीकृष्णकी सुख-साधना और (२) किसी सिद्धा मञ्जरीके अनुगत होकर मञ्जरी-भावसे श्रीराधा-माधवकी मधुर विशुद्ध सेवामय उपासना ।

राधाराधन के परम हैं दो सुन्दर रूप ।
दोऊ परम अमोघ सुभ, दोऊ श्रेष्ठ अनूप ॥
प्रियतम प्रभु श्रीकृष्ण कौ सुख ही राधाभाव ।
राधा-मन में बढ़त नित प्रियतम सुख कौ चाव ॥
तिन की सेवा में निरत रहे जो जन मतिमान ।
राधा तासौं सदा ही पावै मोद महान ॥
राधा-सुख कौ दूसरौ यह साधन बलवान ।
मंजरि बनि सेवा करै समुद जुगल रसखान ॥
निज सुख कौ रंचक नहीं, कितहुँ कलपना-लेस ।
सुख हित लाड़लि-लाल के सहै समोद कलेस ॥
सेवा सफल निकुंज की करै सदा अविकार ।
संयत इंद्रिय-मन सदा, बस, सेवा अधिकार ॥
लखि निकुंज-लीला सुखी स्यामा-स्याम ललाम ।
लहै परम सुख, बढ़ै सुचि, सेवा-रुचि अभिराम ॥
काउ मंजरी कौ रहै अनुगत सदा सचेत ।
मंजरि सम सेवा करै ताकौ पाइ सँकेत ॥

जो वास्तवमें ही श्रीराधा-माधवकी प्रेम-प्राप्तिके मार्गपर चलना चाहते हों, उन्हें अपनी रुचि एवं अधिकारके अनुसार इन दोनोंमेंसे किसी एक साधनाका आश्रय लेना चाहिये । इनमें श्रीकृष्णकी उपासनाके लिये श्रीराधाकी उपासना और श्रीराधाकी उपासनाके लिये श्रीकृष्णकी उपासना अपेक्षित है । वे एक-दूसरेकी उपासनामें ही अपनी उपासना मानकर परम प्रसन्न होते हैं ।

अन्तमें हम श्रीराधारानीसे प्रार्थना करें —

दुराराध्यमाराध्य कृष्णं वशे त्वं
महाप्रेमपूरेण राधाभिधाभूः ।
स्वयं नामकृत्या हरिप्रेम यच्छ
प्रपन्नाय मे कृष्णरूपे समक्षम् ॥
मुकुन्दस्त्वया प्रेमदोरेण बद्धः
पतङ्गो यथा त्वामनुभ्रास्यमाणः ।
उपक्रीडयन् हार्दमेवानुगच्छन्
कृपा वर्तते कारयातो मयेष्टिम् ॥

'श्रीराधे ! जिनकी आराधना कठिन है, उन श्रीकृष्णकी भी आराधना करके तुमने अपने महान् प्रेमसिन्धुकी बाढ़से उन्हें वशमें कर लिया । श्रीकृष्णकी आराधनाके ही कारण तुम राधा-नामसे विख्यात हुई । श्रीकृष्णस्वरूपे ! अपना यह नामकरण स्वयं तुमने किया है, इससे अपने सम्मुख आये हुए मुझ शरणागतको श्रीहरिका प्रेम प्रदान करो ।

'तुम्हारी प्रेमडोरमें बँधे हुए भगवान् श्रीकृष्ण पतंगकी भाँति सदा तुम्हारे आस-पास ही चक्कर लगाते रहते हैं, हार्दिक प्रेमका अनुसरण करके तुम्हारे पास ही रहते और क्रीडा करते हैं । देवि ! तुम्हारी कृपा सत्वपर है, अतः मेरेद्वारा अपनी आराधना-सेवा करवाओ ।'

बोलो श्रीश्रीराधा-माधवकी जय !!

धर्म, सम्प्रदाय, सदाचार और ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गीताप्रेस-जैसी एक-दो सच्ची धार्मिक संस्थाओंको छोड़ दिया जाय तो आजके विद्यालय तथा सभी भौतिकवादी प्रेटफार्म केवल अर्थ-कामपरायणता एवं खर्चीले तथा विलासी जीवनकी ही शिक्षा देते दीखते हैं । इससे सभी जगह चोरी, डाका, हत्या आदि भीषण पापोंकी भरमार दीखती है । अभी एक दिन कई पत्रोंमें यह समाचार छपा था कि कुछ डाकुओंने एक छोटे बालककी गाँवके सामने लाकर इसलिये हत्या कर दी कि उसका गरीब पिता उनकी माँगके अनुसार १५००) की जगह कुल ५००) ही दे सका था । धर्म-निरपेक्षताके, पता नहीं, ऐसे परिणाम आये दिन कितने होते हैं ?

सम्प्रदाय

श्रेष्ठ अर्थवाची 'सम्' उपसर्ग, प्रकृष्ट अर्थवाचक 'प्र' उपसर्ग, 'दा' धातु और 'घञ्' प्रत्यय लगानेसे 'सम्प्रदाय' शब्द बनता है । इसमें बुरे भावका कोई गन्धतक नहीं है । उद्योतकरने न्यायवार्तिकके आरम्भमें सम्प्रदायकी परिभाषा इस प्रकार की है—**'तत्र सम्प्रदायो नाम शिष्योपाध्यायसम्बन्धस्याविच्छेदेन शास्त्रप्राप्तिः ।'** अमरकोषके व्याख्याता भरत, भानुजिदीक्षित, क्षीरस्वामी आदिने 'गुरुपरम्परागत प्राप्त सदुपदेश' तथा 'शिष्टपरम्परापरिगृहीतावतीर्णोपदेश' को 'सम्प्रदाय' कहा है ।* पहले 'सम्प्रदायविहीनता' गाली थी और 'सम्प्रदायविद्' एक अत्यन्त श्रेष्ठ विशेषण । शंकराचार्य, मधुसूदन आदि अपने परम गुरुओंको 'सम्प्रदायविद्' कहते हैं—बृहदारण्यकभाष्य २ । १ । २०, माण्डूक्यकारिका ३ । ४१ के भाष्य आदिमें शंकराचार्यने गौडपादको सम्प्रदायविद् कहा है—**'अत्र च सम्प्रदायविदः आख्यायिकां सम्प्रचक्षते ।'** (शां० भा०) **अत्र द्रविडाचार्य (गौडपादाचार्य) सम्मतिमाह सम्प्रदायविद् इति'** (आनन्दगिरिव्याख्या) । मधुसूदन सरस्वती भी गीता ६ । २३ की व्याख्यामें ऐसा ही लिखते हैं । पद्मपुराण, गौतमीतन्त्र, शक्तिसंगमतन्त्र आदिमें सम्प्रदायहीनकी बड़ी निन्दा है । कहते हैं ऐसे लोगोंको मन्त्रसिद्धि नहीं मिलती—

> **सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फलाः स्मृताः ।**
> **साधनौघैर्न सिध्यन्ति कालकोटिशतैरपि ।**
> **सम्प्रदायपरिच्छिन्नं सदा कुर्याद् गुरुः प्रिये ।**
> **देवास्तमेव शंसन्ति पारम्पर्यपुरस्सरम् ॥**
> (कुलार्णव, तन्त्रसार, दीक्षातत्त्व, पद्म, गौतमी, शक्ति सं० आदि)

आचार्योंकी दृष्टिमें सम्प्रदायहीन मूर्खवत् उपेक्षणीय है, चाहे वह भारी विद्वान् ही क्यों न हो—**'तस्मादसम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेवोपेक्षणीयः'** (गीताशांकरभा० १३।२)। उपदेशसाहस्री (पृ० २८१, ३२३, १० आदि गुजराती प्रे० का संस्क०) तथा श्रीभाष्य आदिमें 'सम्प्रदाय' का बड़ा महत्त्व प्रदर्शित है । इसी दृष्टिसे 'कात्यायनश्रौतसूत्र' का 'सम्प्रदायभाष्य', काव्यप्रकाशकी 'सम्प्रदायप्रकाशिका' टीका तथा 'रीतिसम्प्रदाय', 'ध्वनिसम्प्रदाय' आदि सब आदरणीय तथा सुन्दर नाम ही रक्खे गये थे । पर आज 'साम्प्रदायिकता' को सबसे बड़ा पाप मान लिया गया है । यह संस्कृतभाषा तथा भारतीय संस्कृतिका भारी तिरस्कार नहीं तो और क्या है ? और जो भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत-साहित्यको तिरस्कृत तथा पददलितकर अपनेको देशसेवक मान रहे हैं, भगवान् उन्हें सुबुद्धि दें; क्योंकि किसी देशकी संस्कृति तथा प्राचीन सत्साहित्यादिका गौरव, इतिहासादिकी प्रतिष्ठा, श्रेष्ठ भाषा, रीति-रिवाजोंके प्रचलन आदि ही वास्तविक राष्ट्रीयता और देश हैं । इनकी ही सेवा वास्तविक देशसेवा है । जो कहते हैं कि हम तो इस प्रकार देशसेवा नहीं, मानवताकी सेवा कर रहे हैं, वास्तवमें वे भी दयनीय हैं; क्योंकि धर्म, सम्प्रदाय, सदाचार और सबकी अन्तरतम आत्मा परमेश्वर और अध्यात्मकी हत्या कर देनेपर मानवता नामकी कोई भी

---

* 'शंकरदिग्विजय' पृष्ठ १८४ (आनन्दा० स० ५।१०४) के 'साम्प्रदायिक पराशरपुत्र' आदि श्लोककी 'लक्ष्मी' तथा 'डिण्डिम' टीकाओंमें सम्प्रदाय शब्दकी बहुत बड़ी व्याख्याएँ हैं । उनका संक्षेप है—'प्रकृष्टो निरुपमो यो दायः पितृधनं 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' इति श्रुतेः पितृशब्दितसद्गुरोर्धनमिव सर्वस्वीभूतं ··· ···ज्ञानमेव । तस्य प्रकृष्टत्वं ह्यप्रतिबद्धत्वेन सद्यः फलजनकत्वान्निरुपमत्वमेव । स सम्यगपरोक्षो येनेश्वरादिगुरुपारम्पर्येण स सम्प्रदायः । तत्र भवः साम्प्रदायिकः ।

वस्तु शेप नहीं रह जाती। वह तो दानवतासे भी हीन अवस्था होगी।

सदाचार

यों तो '**श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः**···**साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्**' आदिसे सदाचार भी 'धर्म' के अन्तर्गत ही है और उससे भिन्न वस्तु नहीं है, तथापि आज जिन्हें शास्त्रोंमें आस्था नहीं, वे इसे भिन्न मानकर भी यदि इसको कुछ आदर दें तो उत्तम ही है। 'सदाचारका अर्थ सत्पुरुषोंका आचार है।' पर सत्पुरुष वे ही हैं; जो शास्त्रोक्त धर्मका पालन करते हों—

शिष्टा ये श्रुतिसम्मताः।
के शिष्टा ये सदाचाराः. सदाचाराश्च तत्कृताः।
इतीतरेतराधीननिर्णयत्वाद्निर्णयः ॥

इत्यादि (मीमांसा० १ । ३ । ७ पर श्लोकवार्तिक*)

इस प्रकार भी परोपकार; त्याग; सच्चाई; ईमानदारी, उदारता; क्षमा; सरलता; साधुता; निश्छलता आदि ही सदाचारमें आते हैं, जो 'धर्म' से अलग नहीं हैं।

नारायण-उपनिषद्में इस धर्मरूपी सदाचारपर ही संसारको टिका बतलाया है। दुनिया सदाचारीपर ही विश्वास करती है। उसीके पास जाती है, अतः सदाचारपरायण होना चाहिये, किंतु वास्तवमें धर्मका अविरोधी ही सदाचार होता है—

शिष्टं यावच्छ्रुतिस्मृत्योस्तेन यन्न विरुध्यते।
तच्छिष्टाचरणं धर्मे प्रमाणत्वेन गम्यते ॥
यदि शिष्टस्य कोपः स्याद् विरुध्येत प्रमाणता।
तदकोपात्तु नाचारप्रमाणत्वं विरुध्यते ॥

(मीमांसा १ । ३ । ४ ।)

—आदिके तन्त्रवार्तिकमें श्रुति-स्मृत्युक्त धर्मसे अविरुद्ध होनेके कारण ही सदाचारको प्रमाण माना है। अन्यथा आचार प्रमाणकोटिमें आता ही नहीं। '**श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।**' (वशिष्ठ १ । ३)

स्मृतेर्वेदविरोधे तु परित्यागो यथा भवेत्।
तथैव लौकिकं वाक्यं स्मृतिबाधे परित्यजेत् ॥

(विधानपारिजात)

—आदिके अनुसार भी धर्म ही श्रेष्ठ सदाचार है। इसीलिये गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्णने '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**'—धर्मपालनमें मरणको भी परम कल्याणकर ही बतलाया है।

संस्कृतभाषा और सत्साहित्य

भाषाकी दृष्टिसे संस्कृत शुद्ध, पवित्र, साधु तथा विश्वकी श्रेष्ठतम भाषा है। पर आज इसकी बड़ी उपेक्षा है; यद्यपि अन्तर्हृदयमें इसकी महत्ता सभी मानते हैं। न जाननेसे ही लोग इससे द्वेष तथा तिरस्कार करते हैं। उपनिषद्, दर्शन, योगवाशिष्ठ, वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, पुराण आदि सत्साहित्यका विशेष प्रचार तथा अध्ययन-अध्यापन होना चाहिये। इससे सदाचारके प्रसारमें तथा प्रजाके कल्याणमें जो सहायता मिली थी और मिलेगी, वह शासन-कानून आदिसे नहीं मिल सकती। सत्साहित्यके ज्ञानसे बिना बाह्य सुखके भी प्राणी सर्वोत्तम ब्रह्मसुख किं वा स्वाराज्य-पदपर सदाके लिये आसीन हो जाता है। अतः संस्कृत-साहित्य, इसके टीकासाहित्य आदिके विशेष प्रयत्नसे प्रकाशन, प्रचार आदिपर ध्यान देना चाहिये। तथा जगह-जगह कथा, प्रवचन आदिका भी प्रबन्ध होना चाहिये। इससे सदाचार, सद्विचार, सद्भावनाके प्रचारमें सहायता मिलेगी।

ईश्वर

वास्तवमें सभी सद्भावनाओं तथा लोकके कल्याणका बीज परमेश्वर ही है। उसीके भयसे प्रजा पाप नहीं करती। वह सदा सबको देखता है; यह समझकर प्राणी एकान्तमें भी कोई गलत काम नहीं करना चाहता। पर आज लोग उसीका अपलाप करके अपनी काबिलियत प्रकट करना चाहते हैं; पर इससे बढ़कर अज्ञान क्या होगा? सदाचार तथा ईश्वरको सभी धर्मके लोग मानते हैं। उसका सांनिध्य भी सभी प्रकारसे सिद्ध है। आराधना करनेवालोंकी वह सभी प्रकारसे सहायता करता है। '**अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**' (वेदान्तसूत्र ३।२।६।२४)—इस ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें भगवान्

---

* मीमांसा १ । ३ । ७ तथा गौतमधर्मसूत्र १ । १ । २–५ में केवल वेद तथा स्मृतिको ही प्रमाण माना है। अनेक उदाहरणोंको दिखलाकर महापुरुषोंके केवल धर्माचरणको ही ग्राह्य माना है। यही बात 'यान्यस्माकं सुचरितानि' आदि प्रसिद्ध उपनिषद्-वचनमें तथा 'तेषां यत्स्ववचोयुक्तम्' आदि भागवतवचनमें भी बतलायी गयी है।

शंकराचार्य लिखते हैं कि भक्ति, ध्यान, प्रणिधान आदि अनुष्ठानोंसे योगिजन उस परमात्माका दर्शन—साक्षात्कार करते हैं। 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।' (बृहदारण्यक उप० ३।१।८) आदि उपनिषद्-वचन तथा—

यं विनिद्रा विनिश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥
(महाभा० शा० पर्व ४७।५४, ४०।८७, ब्रह्मपुराण २८४।६९)

—आदि पुराणवचनोंका भी यही भाव है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥'
(गीता ११।५४)

—आदि गीता-वचनोंसे भी यही अभिप्रेत है। उस परमेश्वरकी कृपा साधारण वस्तु नहीं है। यद्यपि उसकी कृपा सामान्यतया सर्वत्र सभी प्राणियोंपर ही है; तथापि जो उसकी परवा न करके पापाचरणमें रत रहते हैं, वे नरक और क्लेशके भाजन होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं—

जगत्त्रयत्राणविधौ धृतव्रतं
त्वदङ्घ्रिराजीवमपास्य ये जनाः ।
शरण्यमन्यन्मृगयन्ति यान्ति ते
नितान्तमीशान कृतान्तदेहलीम् ॥
(करुणालहरी ५)

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
……ततो यान्त्यधमां गतिम् ।
(गीता १६ । १९-२०)

अतः कल्याणकामी व्यक्ति या राष्ट्रको उसकी विशेषरूपसे आराधना करनी चाहिये। संतोंकी दृष्टिमें तो इस असार संसारमें एकमात्र वह प्रभु ही सार है। उसके चरणोंकी शरण जाना तथा भजन ही सभी सुखोंका मूल है। उसके चरणोंकी विस्मृति मानो विपत्तियोंको निमन्त्रण देना है। संतोंके वे भगवान् ही सब कुछ हैं। उनके सभी प्रिय-सम्बन्धोंका पर्यवसान एकमात्र उन परमात्मामें ही हो जाता है। जो उस प्रभुको छोड़कर किसी भी दूसरेको मित्र-कलत्र-पुत्र-प्रियतम नहीं मानते, वे ही संत कहे जाते हैं। ऐसे संतोंका ही आचार सदाचार या धर्मादि कहा जाता है—

'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धर्मसार जग होइहि सोई॥'

उनके ही वचन, आचरण आदिसे विश्वका कल्याण होता है। अतः निरन्तर उन्हें प्रसन्नकर सच्चा साधु, संत, महात्मा बनकर विश्वमें धर्म-सदाचारादिका प्रचार-प्रसार करते हुए अपना तथा विश्वका वास्तविक कल्याण करना चाहिये। धन, भोग, राज्य-पद आदिकी मिथ्या लिप्सा और मोहमें पड़कर तो हमलोग मानो आत्मनाश तथा विश्वनाशका ही प्रयत्न कर रहे हैं। अतः सच्चे संत एवं साधु बननेकी चेष्टा करनी चाहिये—योगी, राजा, राष्ट्रपति अथवा मन्त्री आदि बननेकी कदापि नहीं। इसीमें अपना तथा जगत्का वास्तविक हित निहित है। महात्मा गांधीका भी प्रायः यही आदर्श था। आज उसकी उपेक्षा करनेसे तथा अर्थकी महत्ता एवं पदोंके मोह आदिके कारण ही देशमें भीषण अशान्ति तथा उपद्रव व्याप्त हैं।

पत्र-पत्रिकाओंको भी सदाचार तथा ज्ञानकी चर्चा करनी चाहिये। पर वे प्रायः सदा धनियों तथा पदप्राप्त व्यक्तियोंकी ही चर्चा करते हैं। ईश्वरका तो वे नाम भी लेना अपनी बेइज्जती मानते हैं। इससे उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ तथा विपरीत-परिणामोत्पादक बन जाता है। यद्यपि वे अपनेको देश-सेवारत ही मानते हैं, तथापि वे धर्म, सदाचार, ज्ञान, भक्तिकी चर्चामें अपनी बड़ी भारी तौहीन मानते हैं। विचारसे भागना तथा अदूरदर्शिता ही इसका प्रमुख कारण है। यदि उन्हें सच्चा विश्वहित करना है तो उन्हें भी सच्ची बुद्धिके सहारे ईश्वर, सदाचार, त्याग, परोपकारादि धर्मोंकी चर्चामें ही विशेष योगदान करना चाहिये। आशा है, देशके नेतागण तथा विद्वान् पुरुष इसपर विचार करनेकी कृपा करेंगे।

* * *

परम योग

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'परो हि योगो मनसः समाधिः ।'

—भागवत

हिमालयके दुर्गम क्षेत्रमें नेपाल राज्यके मुक्तिनाथसे और आगे दामोदरकुण्ड (नकली नहीं, असली दामोदरकुण्ड) के समीप कुछ योगसिद्ध साधकोंका समुदाय एकत्र था । बड़ी-बड़ी कृष्ण-कपिश जटाएँ, सुगठित प्रलम्ब देह, भस्मभूषित सर्वाङ्ग और फटे कानोंमें मोटी योगमुद्रा । यह सिद्ध योगीश्वर गुरु गोरखनाथका शिष्यमण्डल था और 'उनके सिद्धेश्वर गुरु आज उनके साथ थे ।

'भगवान् दत्तात्रेय आज सोमवती अमावस्याका स्नान दामोदरकुण्डपर करनेवाले हैं ।' सर्वज्ञ योगियोंके सन्देश-विनिमयके लिये कोई चर अथवा स्थूल माध्यम तो आवश्यक नहीं है । कल सायंकाल गुरुको ध्यानमें भगवान् दत्तका संकल्प ज्ञात हो गया था और अपने प्रमुख शिष्योंके साथ आज उषःकालमें उन्होंने दामोदरकुण्डके हिमशीतल जलमें डुबकियाँ लगायीं । भस्मोद्धूलन हो चुका सबका और अब तो सभी हिममुक्त शिलाओंपर बैठे उन सुरासुरवन्दित श्री-अत्रिनन्दनके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

यह हिमक्षेत्र—तृण भी नहीं होता यहाँ । नीचे जमे हुए उज्ज्वल हिममें यत्र-तत्र कुछ शिलाएँ हैं और ऊपर नील गगन है । चारों ओरसे रजतकान्त शिखरोंसे घिरे इस क्षेत्रमें दामोदरकुण्डका जल पारदर्शी हिमके नीचे स्थिर-शान्त पड़ा है । भगवान् भास्करके दर्शन हुए नहीं; किंतु उनकी क्षितिजसे उठती किरणोंने हिमके इस साम्राज्यपर गुलाल बिखेरना प्रारम्भ कर दिया है ।

केवल एक शिलापर मृगचर्म बिछा है । अपेक्षाकृत कुछ ऊँची शिला है वह । उसपर जो प्रलम्बबाहु, उन्नतभाल, कमललोचन तेजोमय जटाधारी हैं—इन बाबा गोरखनाथका भी क्या परिचय देना आवश्यक है ?

सभी केवल कौपीन-परिधान हैं । योगियोंकी सिद्ध कायाको शैत्य स्पर्श करनेमें असमर्थ है । एक शिलापर कमलपत्रपर दूर्वादल, कमलपुष्प, कुछ फल तथा नवनिर्मित दुग्धोज्ज्वल भस्म है । यत्नपूर्वक यह अर्चन-सामग्री दूरसे लायी गयी है इस अवसरके लिये ।

दिशाएँ आलोकसे भर गयीं । यह ठीक है कि भुवनभास्करकी किरणोंने शिखरोंको स्वर्ण-स्नान करा दिया है; किंतु अम्बरसे यह जो कोटि-कोटि सूर्यसम अपार प्रकाश-पुञ्ज सीधे उतरता आता है । सहसा एक साथ ससम्भ्रम उठ खड़ा हुआ योगियोंका समुदाय और गुरु गोरखनाथने अञ्जलिमें कमलपुष्प उठाये । एक साथ उन कण्ठोंसे परावाणी गूँजी—'अलख ! दत्त गुरु दाता !'

× × ×

'आपके समुदायकी साधना अव्याहत है ?' गुरुदत्तने कुशल-प्रश्न किया । उन्होंने स्नान कर लिया था और प्रशस्त शिलातलपर व्याघ्राम्बर सनाथ हो गया था उनका आसन बनकर । पादपद्मोंमें अर्चाके कमलदल पड़े थे । वाम भाग योगकक्षके सहारे तनिक झुक गया था । विभूति-भूषित भाल और रुद्राक्षकी मालाओंकी शोभा उस कर्पूर-गौर श्रीअङ्गके कण्ठ, भुजा, मणिबन्धमें । दूरसे हिमशिलाओंके टूटने-गिरनेका मन्दस्वर आने लगा था; किंतु जहाँ भुवन-वन्दित योगियोंका समुदाय एकत्र हो उनकी शान्तिमें व्याघात

बननेका साहस प्रकृति कैसे कर सकती है। वायुके पद भी वहाँ शिथिल-संयमित हो जाते हैं।

'नित्य पूर्णकाम भुवनेश्वर प्रभु जब स्वयं साधकोंके साफल्यके लिये सप्रयत्न हैं, इसी मङ्गल विधानके लिये उन्होंने यह योगेश्वरावतार अपना रक्खा है, विघ्न कैसे किसीकी साधनामें व्याघात बन सकते हैं; किंतु–, गुरु गोरखनाथने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया–'जब इन पुण्य चरणोंके दर्शनका सौभाग्य मिला है, सभी आदेश एवं ज्ञानोपदेशसे कृतार्थ होनेकी लालसा रखते हैं!'

'मैं देखना चाहता हूँ पहले आपके साधकोंकी साधना-परिपाटी!' भगवान्‌ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया।

'जैसी आज्ञा!' गुरु गोरखनाथके संकेतपर एक तरुण योगी आगे आये। उन्होंने आसन स्थिर किया, आधे क्षणमें प्रत्याहार ध्यानमें और ध्यान समाधिकी भूमिमें पहुँचा। स्थिर अर्धोन्मीलित दृग्! भगवान् दत्तका दक्षिण कर उठा और योगी सविकल्पसे निर्विकल्पमें पहुँचनेके स्थानपर बाह्यचेतनामें आ गया।

'मनुष्य सदा समाधिमें स्थित नहीं रह सकता!' भगवान्‌के शब्दोंने एक सन्देश दिया—'निर्विकल्पकी शान्ति सामान्य जीवनमें अवतरित करो वत्स! अपने गुरुदेवके आदर्शको अपनानेका प्रयत्न करो!'

'सोऽहं' दीर्घ घण्टा-निनाद। दूसरे साधकने वह स्थान लिया पहलेके उठ जानेपर और उनका प्रगाढ़ संयम—अनाहत उनके अन्तःसे बाह्य जगत्‌में गूँजने लगा। शङ्ख, वंशीके स्वर उठे और लय हुए–मेघगर्जनसे ऊपर दिशामें प्रणवकी पराध्वनिसे गूँजने लगीं।

'वत्स!' भगवान् दत्तके संकल्पके साथ साधक जागृतिमें आ गया–'वाद्योंका स्वर जगत्‌में दुर्लभ नहीं है। मेघकी ध्वनि भी अयाचित आकाशमें गूँजती है। शब्दकी साधनाका लक्ष्य है अशब्दमें स्थिति—नित्य सहज स्थिति जगत्‌के कोलाहलमें रहते अविकम्प शान्त अशब्दमें!'

'ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म ॐ' अन्य साधक आ बैठे थे उस प्रयोगशिलापर। नेत्र-कोणोंके संवेदन-स्नायुसूत्रका उन्होंने किंचित् स्पर्श किया और स्थिर हो गये। रूप—अद्भुत अपूर्व रंगोंकी छटा जब अन्तरसे उमड़ी, सम्पूर्ण हिमप्रदेश रक्त, पाटलपीत, हरित, नील रंगोंसे रञ्जित होने लगा। दो-चार क्षण रंगोंकी छटा और फिर दृश्य—अद्भुत अपूर्व दृश्य। जैसे सम्पूर्ण दिव्य सृष्टि साकार हो उठी है। अन्तमें एक परमोज्ज्वल प्रकाण्ड प्रकाश-राशि।

'अलं!' प्रभुके एक शब्दने साधकको उत्थित कर दिया। 'रंग और रूप सम्पूर्ण दृश्य सृष्टिमें बिखरे पड़े हैं। तुम नेत्र बंद करके संकल्प न भी करो, दिवाकरका तो तीव्र तेज है, जगत्‌के नेत्रोंको वह नित्य सुलभ है। यह साधना इस रंग-रूपकी सृष्टिमें तुम्हें नित्य अरूपमें निवास दे सके तो यह सफल हुई।'

'लं' केवल बीजका उच्चारण किया अब आसनपर आये साधकने। शीघ्र ही दिशाएँ सौरभसे भर गयीं। पुष्प-सार जैसे सम्पूर्ण पर्वतोंपर लुढ़का दिये गये हों। क्षण-क्षण सुरभिका परिवर्तन मनों घृत-कर्पूरका मानो हवन हो रहा हो और अन्तमें तुलसी-मञ्जरीका स्थिर अपार सौरभ!

भगवान् दत्तात्रेयने उत्थित करके समझाया इस साधकको 'कहीं भी कोई जाय, गन्ध आयेगी ही। अगन्ध–सहजावस्था है और उसमें स्थित रहना है।'

इसी प्रकार रसका साधक आया। खेचरी मुद्रा तो की उसने; किंतु उसे उत्थित करके गुरु दत्त किंचित् हँसे—'वत्स! तुम्हारे साधनने हम सबका आतिथ्य कर दिया। नाना रसोंका आस्वादन अनुभव किया हमने और अमृतका स्वाद पाया; किंतु रस कहाँ लोकमें दुर्लभ हैं। रसातीत स्थितिमें नित्य अवस्थिति, यह लक्ष्य है तुम्हारी साधनाका।'

स्पर्शके साधकने कुछ अङ्ग-चालनकी क्रियाएँ कीं और तब स्थिर हुआ। हिमप्रदेश सुखद उष्ण बन गया। सबके त्वक्‌ने पाटलदलोंके स्पर्शका अनुभव किया। भगवान्‌ने उसे सन्देश दिया 'अस्पर्श—समस्त स्पर्शोंमें रहते स्पर्शातीत बने रहो !'

'तुमने क्या-क्या अनुभव किये !' अन्तमें भगवान् दत्तने योगी भर्तृहरिसे पूछा।

'आपके पदपङ्कज सम्मुख हैं और उनका जो चिन्मय प्रभाव है, वह वाणीमें नहीं आता !' विनम्र उत्तर था।

'तुम्हारे इन साथियोंके प्रयोगोंका चमत्कार ?'

'क्षमा करें प्रभु !' वाणीका संकोच कह रहा था कि भर्तृहरिका मन इन्द्रियोंके साथ नहीं था, अतः उन्हें कोई चमत्कार प्रभावित नहीं कर सका। कोई वृत्ति उनके चित्तमें उठी नहीं।

'यही अलख—अलक्ष्य स्थिति !' भगवान्‌ने बताया—'मनकी यही सहज एकाग्रता परम योग है। सब योगक्रियाओंका यही परम लक्ष्य है।'

खान-पानमें भयानक अशुद्धि

भारतवर्षमें त्रिकालज्ञ परम ज्ञान-विज्ञान-विशारद ऋषियों-मुनियों तथा मनीषियोंने खान-पानकी शुद्धिपर विशेष ध्यान दिया था। खान-पानकी शुद्धिसे आचार तथा धर्मका सम्बन्ध तो प्रधान है ही, स्वास्थ्यका भी बड़ा सम्बन्ध है। अनुचित खान-पानका स्वास्थ्यपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। भोजनसे ही मन-बुद्धिका निर्माण होता है। 'जैसा भोजन वैसा मन'—प्रसिद्ध है। आहारकी शुद्धिसे ही मनकी शुद्धि होती है। शुद्ध आहारके लिये कम-से-कम नीचे लिखी बातें आवश्यक हैं।

(१) न्याय तथा सत्यतापूर्वक कमाये हुए अपने हकके पैसोंसे प्राप्त हुआ अन्न।

(२) हिंसा-प्रतिहिंसा, परस्वापहरण, पर-हानिसे रहित अन्न।

(३) शुद्ध स्थानमें, शुद्ध शान्त मनवाले व्यक्तिके द्वारा पाक किया हुआ अन्न।

(४) तामसिकतासे वर्जित, उत्तेजना करनेवाला राजस अन्न न होकर शुद्ध सात्त्विक आहार।

(५) उच्छिष्ट या किसीकी थालीमें खानेसे बचा हुआ अथवा किसीका जूठा हुआ भोजन न होकर शुद्ध आहार करना।

वर्तमानमें इन सभीकी उपेक्षा है और हमारे भोजनमें खूब मनमानी चल रही है। सत्य तथा न्याययुक्त कमाई बहुत कम अंशमें रह गयी है। दूसरोंका हक मारने-लूटनेकी प्रचेष्टा व्यापार-कुशलता मानी जाने लगी है।

जनताके स्वास्थ्य-नाशकी कोई परवा न करके अर्थलोभ-वश खाने-पीनेकी वस्तुओंतकमें मिलावट की जाती है। अभी दिल्लीकी एक सरकारी रिपोर्टमें लिखा था कि 'खाद्यान्नोंमें १५ से ५१ प्रतिशततक मिलावट होती है।' कुछ समय पूर्व अधिकारके साथ यह कहा गया था कि 'दवाइयोंमें प्रायः ५० प्रतिशत नकली दवाइयाँ या मिलावट की हुई दवाइयाँ बाजारमें बिकती हैं।' ऐसी मिलावटी खाद्य-सामग्रियाँ तथा दवाइयाँ बहुत पकड़ी भी गयी हैं और पकड़ी जाती हैं।

आहारकी तामसी वस्तुओंका प्रचार-प्रसार बहुत जोरसे बढ़ रहा है। हिंसामय भोजनका प्रचार तो स्वयं सरकार ही करना चाहती है, इसीसे स्थान-स्थानपर वैज्ञानिक कसाईखाने खोलनेकी और मछली-मुर्गी-व्यवसायकी घृणित योजनाएँ हैं !

हर किसीके हाथका न खाना आजकल कानूनन अपराध माना जाता है। निरामिषभोजी विद्यार्थियोंके लिये बड़ी कठिनता है। अहिंसा-प्रधान भारतवर्षमें आज ऐसे होस्टलोंका, विद्यार्थी-गृहोंका या छात्रालयोंका अभाव हो रहा है, जहाँ केवल निरामिष भोजन बनता हो। प्रायः सभी होस्टलोंमें आमिष भोजन बनता है। निरामिषभोजी बच्चोंके लिये उसी रसोईमें निरामिष चीजें उन्हीं बरतनोंमें तथा उन्हीं रसोइयोंके द्वारा बना दी जाती हैं। छोटे बच्चे जानते भी नहीं कि कौन-सा पदार्थ निरामिष है। फिर अधिक-संख्यक आमिषभोजी साथियों और संरक्षकों-संचालकोंके द्वारा उन्हें बार-बार आमिष-भोजनके लिये उत्साहित किया जाता है। इस अवस्थामें उन बच्चोंका—जिनके घरोंमें कुल-परम्परासे सदा निरामिष भोजन होता आया है—आमिष-भोजनसे बचे रहना असम्भव-सा हो

गया है। अभी हमारे परिवारके ही लगभग छः वर्षके एक बच्चेको छात्रावासमें रखना था; पर कोई ऐसा छात्रालय मिला ही नहीं, जहाँ शुद्ध निरामिष भोजनकी ही व्यवस्था हो। यह बड़े ही दुःखकी बात है और इसपर अहिंसक शुद्ध निरामिषभोजियोंके लिये विचार करने तथा कर्तव्य निश्चय करनेकी आवश्यकता है।

अंडेको तो बहुत-से मनचले लोग निरामिष ही बताने लगे हैं और घर-घरमें, वैष्णव घरोंतकमें अंडोंका प्रचार हो रहा है। रसगुल्ला आदि मिठाइयोंमें अंडे पड़ते हैं; अभी पंजाब-सरकारने विद्यार्थियोंके लिये छात्रालयोंमें अंडे देना अनिवार्य कर दिया था। बहुत विरोधात्मक लिखा-पढ़ी करनेपर यह किया गया है कि जो अंडे नहीं लेना चाहेंगे, उन्हें दूध दिया जायगा।

आजकल खान-पानकी वस्तुओंमें ऐसी चीजें मिलायी जाती हैं, जो विषाक्त होती हैं और मनुष्यके खाने लायक नहीं होतीं।

आजकल बाजारमें जो अच्छी मानी जानेवाली बढ़िया आइस-क्रीम मिलती है, उसमें अंडे तो प्रायः होते ही हैं; क्योंकि कहते हैं बिना अंडेके बढ़िया आइस-क्रीम बनती ही नहीं। कुछ समय पूर्व 'नेचर्स पाथ' नामक पत्रमें छपा था कि आइस-क्रीम, जो रासायनिक पदार्थोंके संयोगसे बनायी जाती है, उसमें Vamilla (मधु गन्ध) की जगहपर पिपरोनल (Piperonal—जूँ मारनेकी दवा), Cherry (प्रबदर) की सुगन्ध लानेके लिये ऐलडीहाइड सी १७ (Alde-Hyde C 17—एक आग पकड़नेवाला तरल पदार्थ, जिसका उपयोग रंग, प्लास्टिक और रबड़के निर्माणमें होता है), अनन्नासकी सुगंध लानेके लिये एथिल ऐसीटेट (Ethyl Acetate—जो चमड़ा और कपड़ा धोनेके काममें लिया जाता है—इसकी भाप फेफड़ा, यकृत और हृदयको हानि पहुँचाती है), केलेकी सुगन्ध लानेके लिये एमिल ऐसीटेट (Amyel Acetate—यह तेलसे बने रंगोंका घोलक है)। इस प्रकारकी और भी चीजें मिलायी जाती हैं। 'नेचर्स पाथ' लिखता है 'आप आइस-क्रीमके नामपर अपने परिवारको सम्भवतः विष खिला रहे हैं।'

जूँठन खाना-खिलाना तो वर्तमान सभ्यताका एक लक्षण माना जाने लगा है। जो जूँठन नहीं खाना चाहते, उन्हें बहुत पिछड़े वर्गका गिना जाता है और उनका मजाक ही नहीं उड़ाया जाता, उनसे घृणातक की जाती है।

केवल खान-पानके पदार्थोंमें ही अपवित्र चीजें मिलायी जाती हों, सो नहीं, खान-पानके लिये जो बर्तन आदि चीजें बनती हैं, उन सबमें भी अपवित्र वस्तुओंका संयोग होता है। उदाहरणके लिये भले घरोंमें रोज काममें लिये जानेवाले चीनी मिट्टीके बर्तनोंको ही लीजिये।

'हिंदुस्तान स्टैण्डर्ड'के एक मुख्य संवाददाता उसके १५-७-६३ के अंकमें लिखते हैं—

'विशाल चक्कियोंमें स्फटिक जातिके पत्थरोंके टुकड़े पीसे जा रहे थे। फैक्ट्रीकी छतके समीप भारी-भारी पीपे घूम-घूमकर पत्थरोंको तरलरूप प्रदान कर रहे थे। इस द्रवमें क्रमशः चीनी मिट्टीका घोल मिलाया जा रहा था और फिर हड्डियोंकी बुकनी भी। इस मिश्रित घोलको नालियोंद्वारा धरतीके भीतर गलायी हुई मिट्टीसे भरी एक टंकीमें ले जाया जा रहा था और वहाँसे उसपर ८० से १५० सेरका दबाव डालते हुए उसे एक गाढ़ा करनेवाले यन्त्रमें पहुँचाया जा रहा था, जहाँ इसने रोटियोंका-सा रूप धारण कर लिया।

इस प्रकार कच्चा माल तैयार हुआ। फिर पहिये घूमने लगे, साँचे भरने लगे तथा तश्तरियाँ, प्याले, सुराहियाँ और फूलदानियाँ नाचती हुई बाहर निकलने लगीं। तदुपरान्त कोयले अथवा तेलकी भट्ठियोंपर खुरचने, चिकनाने, चित्रित करने तथा दुबारा चमकानेका काम आरम्भ हुआ और बेलियाघाटमें सरकारद्वारा चालित बंगाल सिरामिक इंस्टिट्यूटमें झन-झन करते हुए हड्डी और चीनी मिट्टीके मिश्रणसे बने हुए उपकरण तथा खाने-पीनेके बर्तन अपने अन्तिम परिपक्वरूपमें सामने आने लगे।'

इस प्रकार ये प्याले, जिनमें लोग चाय पीते हैं, मिट्टी तथा हड्डीकी बुकनीकी मिलावटसे बनते हैं। अतएव चीनी मिट्टीके इन प्यालोंका उपयोग करना घृणास्पद है।

इस प्रकार खान-पानकी सभी प्रकारकी शुद्धियोंपर खुले आम चारों ओरसे प्रहार हो रहे हैं। पता नहीं, देशकी पतनकी गति तामसिकताकी किस निम्न-स्तरकी भूमिकापर पहुँचकर स्थिर होगी? अभी तो शत-शत दिशाओंसे पतन हो रहा है और उसीको उत्थान माना जाता है। इस विषयपर गम्भीरतासे सोचना चाहिये।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सच्ची शिक्षिताका स्वरूप

मैंने एम्० ए० पास किया; उसके तीन वर्षके पहले ही मेरा विवाह देहातकी एक साधारण पढ़ी-लिखी लड़कीसे हो चुका था। मेरे चचेरे छोटे भाई रणजीतकी शादी, जो अभी बी० ए० के प्रथम वर्षमें था, गयी साल एक बी० ए० पास शहरी लड़कीसे हुई। यद्यपि मेरी पत्नी बड़ी सुशीला, आज्ञाकारिणी थी तथा घरका सब काम-काज बड़ी लगनसे करती थी एवं बड़े चावसे मेरी सेवा करना चाहती थी। वह कभी सामने नहीं बोलती। पर मेरे साथ घूमने जानेमें तथा सिनेमा आदि देखने जानेमें बहुत सकुचाती। न मेरे मित्रमण्डलमें होनेवाले भोज आदिमें जानेका उसका मन करता। यद्यपि मेरी बातको टालती नहीं; परंतु इससे उसका मन प्रसन्न नहीं रहता। मैं इसी कारण उसपर सदा झुँझलाया करता। उसके प्रति अनुचित शब्दोंका प्रयोग तथा अयुक्त बर्ताव भी कर बैठता। वह यह सब सहती। पर मैं उससे प्रायः नाराज ही रहा करता। कभी आदर और प्रेमसे उससे नहीं बोलता। इसका एक प्रधान कारण यह था कि यद्यपि मेरे छोटे भाईकी शिक्षिता पत्नी घरका काम करनेमें कभी उत्साह नहीं दिखाती। वह न पतिका कोई सेवा-सत्कार ही करती, उससे खूब विवाद भी करती, तथापि वह थी बड़े फैशनसे रहनेवाली, बहुत चञ्चल स्वभावकी तथा चुलबुली प्रकृतिकी। वह मेरे भाईके मित्रोंका बड़े चावसे स्वागत करती, उन्हें भोजनादि कराती, उनसे विनोद भी करती और सिनेमा तथा पार्टियोंमें तो बड़े शौकसे स्वामीको उत्साहित करके ले जाती और स्वयं साथ रहती। मैं अपनी पत्नीसे भी ऐसे ही चुलबुलेपनकी चाह करता था और उसके पूरी न होनेपर निराश, उदास तथा क्षुब्ध होता था।

मेरी उदासी तथा क्षोभसे वह बेचारी भी उदास रहती पर कभी उसने कोई शिकायत नहीं की। उसमें एक खूबी यह भी थी कि वह फैशनसे सदा दूर रहती, इससे उसकी आवश्यकता बहुत कम थी। वह कभी कुछ माँग करती ही नहीं। जैसा कपड़ा मिल गया, वैसा ही पहन लिया। यह उसका बड़ा गुण था। पर मेरी आँखों द्वेषबुद्धि होनेके कारण इस गुणको भी उसका दोष—एक गँवारपन ही देखती थीं।

गरमीके दिन थे। छुट्टियोंमें मेरा भाई अपनी पत्नीके साथ पहाड़पर गया था। पर मैं घरपर ही था। ऐसी असभ्य पत्नीको लेकर पहाड़पर जानेवाले सभ्य मित्रोंमें अपनी हँसी कराने भला कैसे जाता। इससे कुढ़कर घरपर ही रह गया था। एक दिन अकस्मात् छोटे भाईकी पत्नीका तार मिला कि 'रणजीतको बुखार हो गया है। मेरा स्वास्थ्य भी ऐसा नहीं कि मैं काम कर सकूँ; अतएव सेवाके लिये आइये या किन्हींको भेजिये।' मैं बड़ी चिन्तामें पड़ा। तार दिया कि 'हमलोग शीघ्र आ रहे हैं, पर लिखो भाईका क्या हाल है और तुम्हें क्या बीमारी है।' उत्तरमें तीसरे दिन तार मिला कि 'रणजीतका बुखार उतर गया, कमजोरी है। मेरा स्वास्थ्य ठीक है। पर इस अवस्थामें मैं यहाँ नहीं रह सकती। मैं आज ही अपने नैहर जा रही हूँ। आप किसीको इनकी सेवा आदिके लिये भेज दीजिये।' तार पढ़कर मैं दंग रह गया। बहू क्यों नहीं रह सकती। जब भाईका बुखार उतर गया और उसका अपना भी स्वास्थ्य ठीक है, तब उसे वहाँ रहनेमें क्या अड़चन है?

सारी बातें सुनकर मेरी पत्नीने कहा—'हमलोगोंको जल्दी चलना चाहिये। समयपर ही सेवाकी आवश्यकता होती है।' हमलोग उसी दिन चल दिये और दूसरे दिन वहाँ पहुँच गये। बहू तबतक जा चुकी थी। पता लगा कि कमजोरीके कारण रणजीत बहूको साथ लेकर सिनेमा देखने नहीं जा सके, इसीसे वह नाराज होकर चली गयी। मेरी पत्नीने कहा—'अभी बच्ची है, माता-पिताके स्नेहसे पली है। उनकी याद आ गयी होगी। चली गयी तो क्या हुआ। हमलोग आ ही गये हैं।'

भाग्यकी बात—दूसरे ही दिन मुझे बुखार हो गया। घरपर कोई नहीं था। इसलिये रणजीतको मैंने आदमी साथ देकर तीसरे दिन घर भेज दिया। हम दोनों वहाँ रह गये। मेरा ज्वर बढ़ता ही गया और वह १०४. तक पहुँच गया। शरीर जला जाता था। मेरी पत्नी बहुत पढ़ी-लिखी नहीं थी, पर वह तुरंत जाकर एक डाक्टरको लायी। इलाज शुरू हुआ। मेरे बड़े जोरकी चेचक निकल आयी। पंद्रह दिन हो गये। मेरी कमजोरी बढ़ती ही गयी। पर इलाज बहुत ठीक चल रहा था। इस स्थितिमें मैंने जो कुछ देखा, उससे मेरी आँखें खुल गयीं। मेरी उस देहाती पत्नीने अपनी नींद-भूखको बिल्कुल ही भुला दिया। उसका देहातीपन भी विस्मृत हो गया। बड़ी ही दक्षताके साथ समयपर डाक्टरको बुलाना, दवा लाना, ठीक समयपर मुझे दवा देना, रातों जगकर मेरी सेवा करना—इसीमें उसने अपनेको पूरा-पूरा लगा दिया।

ऊपरी काम-काजके लिये एक आदमी रख लिया। मेरे टट्टी-पेशाबके साफ करनेसे लेकर दवा-पथ्य आदिका सारा काम वह इस लगनसे करने लगी कि मैं देखकर दंग रह गया। उसकी सेवा-शुश्रूषाने मुझे बाईस दिनोंमें स्वस्थ कर दिया। ज्वर उतर गया। चेचकके सारे दाने सूखकर गिर गये। मुझे अन्नका पथ्य दे दिया गया। पर वह अब भी मशीनकी भाँति यथायोग्य अपने सब कल-पुर्जोंको पूरा-पूरा लगाकर मेरी सेवा करती ही रही। उसकी सेवा देखकर मेरा मस्तक श्रद्धासे उसके प्रति नत हो गया।

एक दिन उसके मुँहपर मैंने उसकी सेवाके लिये कुछ बड़ाईके शब्द कह दिये। वह तो सुनकर रोने लगी। सिसकती हुई बोली—'मेरे भगवान्! आप यह क्या कह रहे हैं। आपके मुँहसे मैं अपनी बड़ाई सुननेका यह पाप कैसे स्वीकार कर सकती हूँ। मेरे जीवनका कण-कण आपकी पद-रजका सहज सेवक है। इसमें बड़ाईकी कौन-सी बात है। भगवान्ने कृपा करके मेरे सुहागकी रक्षा की। यह सब उनकी दयाका परिणाम है। मैं तो सदा ही नालायक हूँ। मेरा यह सौभाग्य है कि मेरे सुहागकी रक्षा करनेका काम स्वयं करके भी भगवान्ने मुझे अवसर दिया कि मेरे द्वारा होनेवाली अपने स्वार्थ-साधनकी भौंडी क्रियाको आपने स्वीकार कर लिया।'

मैं सुनकर गद्गद हो गया। मैं उस दिन यह समझ सका कि असली शिक्षा तो यही है जिससे शिक्षित होकर इस प्रकार मनुष्य अपनेको सर्वथा सेवामें समर्पण करके भी अभिमान नहीं करता और इसे भगवान्की कृपा और अपना सौभाग्य समझता है। धन्य है भारतीय नारीकी यह शिक्षा!

—नरेन्द्रकुमार

(२)

हृदयस्थ प्रभुके आज्ञापालनका चमत्कार

कुछ दिनों पूर्वकी बात है। एक बृहस्पतिवारको मैं और मेरे एक साथी शेगाँवके ब्रह्मीभूत श्रीमत्स्वामी गजानन महाराजके समाधिके दर्शनार्थ गये थे। बृहस्पतिवारको यहाँ यात्रियोंकी इतनी भीड़ होती है, मानो स्वामीके दर्शन-मधुपानके लिये अनन्त मधुमक्खियाँ एकत्र हुई हों। ऐसी स्थितिमें दर्शन होना बड़ा ही कठिन होता है। मन्दिराधिपतिके आज्ञानुसार सब दर्शनार्थी लोगोंको एक पंक्ति बनाकर खड़ा किया गया। पंक्तिमें हमारा स्थान बहुत ही पीछे था। हमलोगोंको समाधिके दर्शन संध्याके समय हुए। दर्शन करके गाँवको लौटना था और पैदल ही जानेका हमारा अटल प्रण था।

हमलोग चलकर दो-तीन मील ही बढ़े होंगे कि पीछेसे जूतोंकी आहट सुनायी दी। हमने पीछेकी ओर देखा तो काले रंगके तीन-चार भीमकाय पुरुष हमारा पीछा करते दिखायी दिये। वे लगभग एक-डेढ़ फर्लोंगकी दूरीपर थे। कहना न होगा कि वे चोर थे। उन्हें देखकर हमें भागनेके सिवा और कोई उपाय नहीं सूझा। हम ईश्वरका स्मरण करते हुए पूरी शक्ति लगाकर दौड़ने लगे। पीछे-पीछे चोर भी दौड़ने लगे। रास्तेमें शिवजीका एक मन्दिर पड़ता है, वह इतना अधिक जीर्ण है कि उसे मन्दिरके बजाय खँडहर कहना ही बेहतर होगा। हम भागते-भागते उस खँडहरतक पहुँचे। अबतक अन्धकारने अच्छी तरह अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। न तो चोर हमको दीखते थे, न हमें वे दिखायी देते थे। ऐसी स्थितिमें हम दोनों ठहर गये। मैंने दियासलाई जलायी और खँडहरको देखकर उसमें हम घुस ही रहे थे कि मुझे द्वारपर एक बहुत बड़ा मकड़ीका जाला दिखायी दिया और मेरे हृदयस्थ परमेश्वरने मेरे हृदयमें मकड़ीके प्रति दया उत्पन्न कर दी। मैंने अपने साथीको रोककर कहा—'देखो साठेजी! यह जाला एक छोटेसे जीवकी महीनोंकी मेहनत होगी, इसे तोड़ना उचित नहीं, हमें इसे तोड़े बिना ही खँडहरमें जाना है।' साथी भी सात्त्विक गुणसम्पन्न था। उसे मेरी बात पसंद आयी और हम दोनों बड़े कष्टसे दीवालपर चढ़े और कूदकर अंदर पहुँचकर छिप गये। मेरे देह-मन्दिरमें मन-साधक प्रभुका नाम जप रहा था। कुछ ही समय बीता होगा कि चोर भी वहाँ आ पहुँचे। एकने सबको ठहराकर कहा—'ठहरो, हमलोग शायद खँडहरतक पहुँचे होंगे, मेरा अनुमान है वे लोग इसीमें छिपे हों, दियासलाई जलाओ।' दियासलाई जलायी गयी और हमें जूतोंकी आवाज सुनायी देने लगी। खँडहरके पास आते ही मुखियाने अन्य चोरोंसे कहा—'चलो-चलो, वे यहाँ नहीं छिपे हैं, क्योंकि खँडहरके द्वारपर मकड़ीका जाला लगा है। यदि यहाँ छिपते तो यह जाला अवश्य ही कायम नहीं रहता।' वे चल दिये।

हम घबराये हुए चुपचाप वहीं दुबके रहे। कुछ समय बाद खँडहरसे निकले और वहाँसे दो फर्लोंगपर स्थित वरखेड़ नामक गाँवमें पहुँचकर वहाँ राम-मन्दिरमें ठहरे। अब हमारे

हृदयसिन्धुमें उछलती हुई घबराहटकी भीषण तरङ्गें शान्त हुई। मैंने परमेश्वरका आभार मानते हुए मित्रसे कहा—'साठेजी! देखो, मेरे हृदयस्थ परमेश्वरने प्रेरणा करके हमें मकड़ीका जाला दयावश नहीं तोड़ने दिया। इसीसे आज हमारी इज्जत और जान बच गयी।'

इस घटनासे यही दो बोधरत्न ग्रहण करने चाहिये कि 'किसी भी प्राणीका भला करने या चाहनेसे अपना भला अपने-आप ही होता है तथा हृदयस्थ प्रभुकी अनुमतिसे कार्य किये जायँ तो हमारा योगक्षेम वे स्वयं वहन करते हैं।'

बोलो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!

—बटवाड़ीकर मधुकर आखरे। बटवाड़ी (महाराष्ट्र)

(३)

भलेका फल भला

दो सज्जनोंका हिस्सेदारीमें बंबईमें रूईका कारोबार था। वे आढ़तियोंका तैयार माल भी मँगवाकर बेचा करते थे और रूईकी दलालीका काम भी उनके यहाँ होता था। एक दूसरे बड़े व्यापारीके साथ उनका लेन-देनका व्यापार चलता था। उसके अकस्मात् व्यापारमें बहुत बड़ा नुकसान हो गया। अतः इन दोनों सज्जनोंके फर्मके लगभग चालीस हजार रुपये उक्त व्यापारीमें रह गये। वह था ईमानदार, पर घाटा इतना अधिक हो गया था कि वह सबके रुपये चुका नहीं सका। इनकी फर्मने उसपर कोर्टमें नालिश कर दी। उसको रुपये तो देने थे ही, अतः उसने कोई एतराज नहीं किया। वरं अन्तिम पेशीके दिन तो वह अदालतमें हाजिर ही नहीं हुआ। उसपर खर्चसमेत लगभग पैंतालीस हजारकी एकतरफा डिग्री हो गयी। उसके पास रुपये नहीं थे, यह बात सबको मालूम थी, पर उसके घरमें उसकी दो विवाहिता लड़कियोंका प्रायः दो लाखका जेवर रक्खा था। इस बातका पता इस फार्मके एक हिस्सेदारको लग गया। उन्होंने उसके घरपर कुर्कीका आर्डर कोर्टसे ले लिया। इस बातका जब दूसरे हिस्सेदारको पता लगा तो उन्होंने कहा कि 'अपने रुपये सचमुच लेने हैं और उन्हें वसूल करना भी न्यायसंगत है; पर जब हमें यह मालूम हो गया है कि उसके पास अपने पैसे नहीं हैं, लड़कियोंका जेवर है तो उस जेवरको कुर्क कराना उचित नहीं।'

यह बात पहले हिस्सेदारको नहीं जची। उन्होंने कुर्कीकी व्यवस्था करवा दी। तब दूसरे हिस्सेदारने पूरी रकम जाकर उक्त व्यापारीको फोन कर दिया कि 'हमारी डिग्रीके रुपयोंकी वसूलीके लिये आपके घर अभी कुर्की आनेवाली है। आप अपनी लड़कियोंके गहनेको तुरंत हटा दीजिये।' वह तो सुनकर कृतज्ञतासे भर गया। गहना हटा दिया गया। कुर्कीवाले असफल वापस लौट आये। पहले हिस्सेदार इससे कुछ नाराज तो हुए; पर वे भी धार्मिक विचारके थे, इससे उन्होंने भी संतोष माना।

परिणाम यह हुआ कि उक्त व्यापारीके हृदयमें इतनी कृतज्ञता जगी कि उसने अपने देशके रहनेके मकानको केवल इसीलिये बेचकर इनके असली रुपये चुका दिये। 'भलेका फल भला'

—शिवरतन महेश्वरी

(४)

भगवान् महामृत्युञ्जयकी कृपा

भगवान् महामृत्युञ्जयका आराधक मैं अपने जीवनके स्मृतिकालसे हूँ और उनपर सदा मेरा श्रद्धा-विश्वास रहा है एवं जीवनपर्यन्त वह अक्षुण्ण रहेगा। यह निर्विवाद है कि भारी-से-भारी संकट-कालमें भी उनकी कृपाके बलपर मेरा उद्धार होता रहा है; जिसे मैंने अपनी आत्म-कथामें क्रमवार संकलित भी किया है; उसीमेंसे एक घटनाका उद्धरण नीचे दिया जा रहा है।

मेरा जन्मस्थान मध्यप्रदेशान्तर्गत सतना जिलेकी तहसील अमरपाटनके एक छोटे-से ग्राम करौंमें है। मेरा अब भी स्थायी निवास इसी ग्राममें है। जन्मस्थान होनेके नाते इस ग्रामसे मेरी ममता भी असीम है। जिस स्थानपर इस ग्राममें मेरा आवास स्थित है, वह बहुत पुराना है। मेरे बाबा गुरु वंशधारी राम अग्निहोत्रीने इस स्थानपर विक्रमी संवत् १९१५ में वर्तमान आवासकी नींव डाली थी, तबसे इसी स्थानपर मेरा आवास स्थित है।

आवासके साथ ही एक साधारण कुएँका भी निर्माण मेरे स्वर्गवासी बाबाने कराया था, पर उस कुएँका जल मई लगते ही घट जाता था और गरमीके दिनोंमें करीब चार फर्लांगसे जल मँगाकर गुजर करना पड़ता था। इस अभावको दूर करनेके लिये वि० सं० १९९२ में मैंने एक दूसरे कूपका निर्माण कराया, पर इसमें भी वही हाल रहा; पर्याप्त जल प्राप्त करनेके लिये मैंने कटनी और जबलपुरसे भी बोरिंग करनेवालोंको बुलवाया, पर फल कुछ न हुआ। लगभग

चार हजार रुपये व्यय करनेपर भी जलकी सुविधा न प्राप्त हो सकी।

अन्तमें मैंने एयर कम्प्रेसर मशीनके लिये उपमन्त्री महोदय स्वास्थ्यविभाग म० प्र०से प्रार्थना की; उनकी कृपासे उक्त मशीन मुझे जून १९६२में प्राप्त हुई। लगातार दो दिनोंतक मशीनसे सारा कुआँ छेद डाला गया; पर जल प्राप्त न हुआ। दूसरे दिन शामको मशीनका नियन्त्रक हताश होकर अगले दिन प्रातःकाल ही वापस जानेके लिये उद्यत हो गया। मैं भी हताश था और सोच रहा था कि अब इस पुराने आवासको ही बदल दूँगा, जहाँपर जलका इतना बड़ा अभाव तथा कष्ट है वहाँ रहना ठीक नहीं।

दूसरे दिन नित्यकी भाँति प्रातःकाल जब मैं भगवान् महामृत्युञ्जयका ध्यान कर रहा था, तब मन-ही-मन मैंने जल-अभावकी पूर्तिके लिये कातर प्रार्थना की। प्रार्थनामें मग्न ही था कि अन्तरात्मासे प्रतिध्वनि हुई कि आज पुनः मशीन कुएँमें लगायी जाय। जल प्राप्त होगा। प्रतिध्वनि होते ही ध्यानभंग हुआ और मैं स्थानसे उठकर नियन्त्रकके पास उस स्थानपर आया, जहाँ वह वापस लौटनेके लिये अपना डेरा-सामान बाँध रहा था। मैंने उससे कहा कि 'आज एक बार और मशीन लगाइये और अगर एक बारमें जल न निकला तो आप मशीनके साथ वापस चले जाइयेगा।'

बहुत कहने-सुननेके बाद नियन्त्रक बड़े क्रोधके साथ कुएँमें घुसा और उसने अपनी मशीनको चालू किया। कठिनतासे वह पाँच मिनट भी मशीन न चला पाया होगा कि पानीका एक मोटा स्रोत ऊपर उछलने लगा। नियन्त्रक कुएँके भीतर-से 'खींचो-खींचो'की आवाज लगाकर चिल्लाने लगा। मैं कुएँ-की जगतपर ही बैठा भगवान् महामृत्युञ्जयनाथसे मन-ही-मन प्रार्थना कर रहा था। उसकी चिल्लाहट सुनकर मैंने पूछा, क्या बात है। नियन्त्रकने घबराहटके साथ कहा—'शीघ्र निकालिये, नहीं तो मैं डूब जाऊँगा; पानीका मोटा स्रोत नीचेसे फूट रहा है और पानी मेरी कमरतक आ गया है।'

मैंने मनोरथ सिद्ध हुआ जान भगवान् महामृत्युञ्जयको मन-ही-मन प्रणाम किया और नियन्त्रकके निकालनेकी शीघ्र ही व्यवस्था भी की। नियन्त्रकके निकलते-निकलते दस फुट पानी कुएँमें हो गया। आनन्दकी सीमा न रही। भगवान् महामृत्युञ्जयके पूर्णाभिषेककी व्यवस्था की। अब शीतल और सुस्वादु जलसे सैकड़ों प्राणी तृप्त हो रहे हैं। भगवान् महा-मृत्युञ्जयकी आस्तिकता सदा ही फलवती होती है, इसमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं।

—गुरु रामप्यारे अग्निहोत्री इतिहासकार, रीवाँ (म० प्र०)

(५)

उच्चकोटिकी ईमानदारी

जिन उच्चकोटिके ईमानदार व्यक्तिपर ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, खेद है कि वे अब इस संसारमें नहीं हैं। गत ८ दिसम्बर १९६२ को उनका स्वर्गवास अपने सुयोग्य पौत्र श्रीनिर्मलकुमार भय्याके साथ कलकत्ता जाते समय अचानक हार्टफेल हो जानेसे नर्मदातटवर्ती बड़वाह (म० प्र०) में लेखकके लघु भ्राता श्रीव्रजमोहनदास गाँधीके निवासस्थानपर हो गया जहाँ श्रीओंकारेश्वरकी तीर्थयात्राके लिये आप सपरिवार ठहरे थे।

आपका शुभनाम था श्रीलक्ष्मीनारायणजी भय्या। इन्दौरकी सुप्रसिद्ध फर्म श्रीचतुरभुज गणेशरामके आप मालिक थे। जिसका अधिकतर सम्बन्ध राजा-महाराजा और जागीरदारोंसे ही रहा और उन दिनों इन्दौरके तोपखानेमें इनकी सबसे बढ़ी-चढ़ी कपड़ेकी दूकान थी। कपड़े आदिके व्यवसायमें आपको भारी धक्का लगा। जिनमें पैसा लेना था वह समयपर आ नहीं पाया। नतीजा यह हुआ कि आप सब कुछ छोड़-कर उज्जैन आ बसे। आपकी नीयत बिल्कुल साफ थी। अतः ईश्वर-कृपासे यहाँ स्व० मनोहरलालजी जायसवालकी फर्म श्रीमनोहरलाल बालमुकुन्दसे आपका सम्बन्ध जुड़ गया और इन्हींकी भागीदारीमें सूतका धंधा आपने उज्जैनमें आरम्भ किया एवं भगवत्कृपासे वह उच्च शिखरतक पहुँचा। द्वितीय महायुद्धके समय एकतरफा तेजीमें आपने लाखों रुपये कमाये। भागीदारी भी सानन्द समाप्त की और इन्दौरकी पुरानी फर्मके प्रायः १६ साल पुराने करीब एक लाख रुपयेका कर्ज एक-एकके घर जाकर आपने चुकाया और तब कहीं भाड़ेके मकानसे घरका मकान बनवाकर उसमें रहनेको गये।

आजके युगमें ईमानदारीके ऐसे उदाहरण बहुत कम देखे-सुने जाते हैं।

—राधाकृष्ण गाँधी, पत्रकार

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके २४१ लेखोंका एक संग्रह

(प्रत्येक भागमें सर्वथा स्वतन्त्र अलग-अलग लेख हैं)

इन लेखोंमें लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, सर्वतोमुखी उन्नति करानेमें सहायक एवं सभी वर्ण-आश्रम, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंके कामकी यथेष्ट सामग्री है। वस्तुतः ये लेख परमात्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये 'चिन्तामणि'के समान हैं।

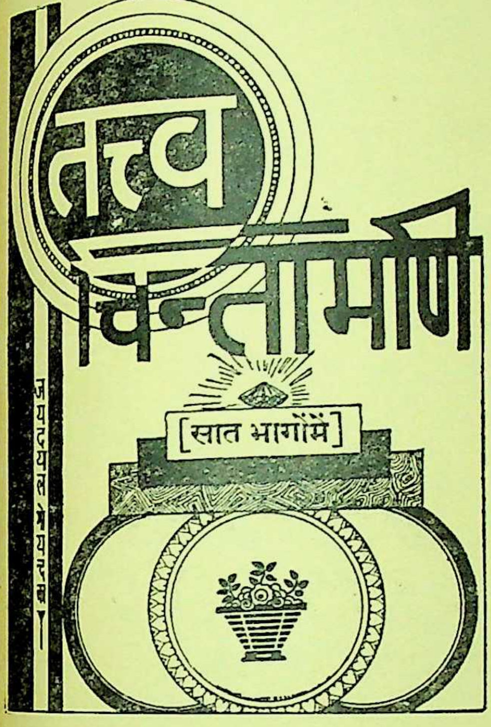

भाग १—में २९ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ३५२, चित्र तिरंगा २, मूल्य … .६२

भाग २—में ४८ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५९२, चित्र तिरंगा १, मूल्य … .८७

भाग ३—में ३३ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ, ४२४, चित्र तिरंगे २, मूल्य … .७०

भाग ४—में ३१ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२८, चित्र तिरंगे ५, मूल्य … .८१

भाग ५—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४९६, चित्र तिरंगे ४, मूल्य … .८१

भाग ६—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४५६, चित्र तिरंगा १, मूल्य … १.००

भाग ७—में ३२ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२०, चित्र तिरंगा १, मूल्य … १.१२,

इन सातों भागोंमें कुल लेख २४१, पृष्ठ ३३६८, चित्र तिरंगे १६, सातोंका मूल्य ५.९३, डाकखर्च ३.८५, कुल ९.७८ मात्र।

भाग १ से ५ तकके छोटे आकारके गुटका संस्करण भी मिलते हैं।

पाँचों भागोंकी कुल पृष्ठ-संख्या ३०६१, तिरंगे चित्र ६, पाँचोंका अलग-अलग जिल्दमें सजिल्द मू० २.७४, डाकखर्च २.२३, कुल ४.९७।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याणके गत वर्षोंके सचित्र, सुन्दर और शिक्षाप्रद मासिक अङ्कोंके दामोंमें भारी रियायत।

वर्ष २८—अङ्क १२
वर्ष २९—अङ्क २, ३, ४, ५, ६, ७
वर्ष ३०—अङ्क ३
वर्ष ३१—अङ्क ४, १०, ११
वर्ष ३२—अङ्क २, १०, ११
वर्ष ३३—अङ्क २, ३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १२
वर्ष ३४—अङ्क ३, ६, ८, ९, १०, ११
वर्ष ३५—अङ्क २, ३, ४, ५, ७, ८, ९, १०, ११, १२

उपर्युक्त ४० अङ्कोंकी पृष्ठ संख्या—२५६०, चित्र रंगीन—४०, चालू दामोंमें मूल्य १८.०० परंतु एक साथ सब-के-सब ४० अङ्क लेनेपर केवल ६.००, रजिस्ट्री-खर्च .५५ न० पै०। जिन्हें लेना हो रु० ६.५५ मनीआर्डरसे भेजनेकी कृपा करें। वी० पी० द्वारा भेजनेमें सुविधा नहीं है।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० (गीताप्रेस) गोरखपुर

कल्याणके पुराने विशेषाङ्कोंमेंसे केवल चार ही मिल सकते हैं

कल्याणके पिछले छत्तीस वर्षोंके प्रायः सभी विशेषाङ्क इतने अधिक जनप्रिय और आकर्षक हुए कि उनमेंसे इकतीस विशेषाङ्क इस समय अप्राप्य हैं। ग्राहकगण उन्हें पानेके लिये बार-बार आग्रह करते रहते हैं परंतु प्रेसमें कामकी अधिकताके कारण उनका पुनर्मुद्रण नहीं हो पाता। अब केवल चार विशेषाङ्कोंकी थोड़ी-थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं। अतः जिन्हें इनका संग्रह करना हो, वे कृपया शीघ्रता करें।

चारोंके अलग-अलग लेनेपर मूल्य रु० २९.०० है। एक साथ लेनेपर केवल रु० २५.००। डाकखर्च हमारा

१–हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, डाकव्ययसहित मू० ६ रु० ५० नये पैसे। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के, अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

२—संतवाणी-अङ्क

पृष्ठ-सं० ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्ययसहित ७ रु० ५० नये पैसे।

इस अङ्कमें संतोंकी पवित्र, जीवन-निर्माणमें सहायक, जीवनको उच्चस्तरपर पहुँचा देनेवाली दिव्य वाणियोंका अभूतपूर्व संकलन है, जो कुमार्गपर जाते हुए जीवनको वहाँसे हटाकर सच्चे सन्मार्गपर लानेके लिये परम सुहृद् बन्धु है। प्रबल मोह-सरिताके प्रवाहमें बहते हुए जीवोंके उद्धारके लिये सुखमय सुदृढ़ जहाज हैं। भगवान्‌की मधुरतम मुखछविका दर्शन करानेके लिये संत-वचन भगवान्‌के नित्य सङ्गी प्रेमी पार्षद हैं। इस अङ्क में ५८५ संतोंकी वाणियोंका अनेक गद्यों एवं पद्योंमें संग्रह है।

३—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-सं० ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और रेखाचित्र। डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे।

देशभरमें चुने हुए महात्माओं और विद्वानों तथा विदेशी महानुभावोंके मानवतासम्बन्धी सद्विचारोंके संग्रहसे सम्पन्न और सबके द्वारा प्रशंसित।

४–'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क' (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८ कुल १६८। मूल्य ७.५०

३६ वें वर्षका यह 'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क' प्रथम बार १,३१,००० छापा गया; परंतु उसकी माँग इतनी अधिक हुई कि सब प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक गयीं और हजारों पुराने ग्राहकोंको भी अङ्क न मिल सके। इसलिये कामकी अधिक असुविधा होनेपर भी २०,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापना पड़ा था।

यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता है। इसमें भगवान् शिवकी बड़ी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा योगभक्तिके तत्त्वोंका बड़ा ही विशद और सर्वोपयोगी वर्णन है। कथाएँ बड़ी ही रोचक तथा प्रभावोत्पादक हैं।

व्यवस्थापक—**कल्याण**, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर

कल्याण

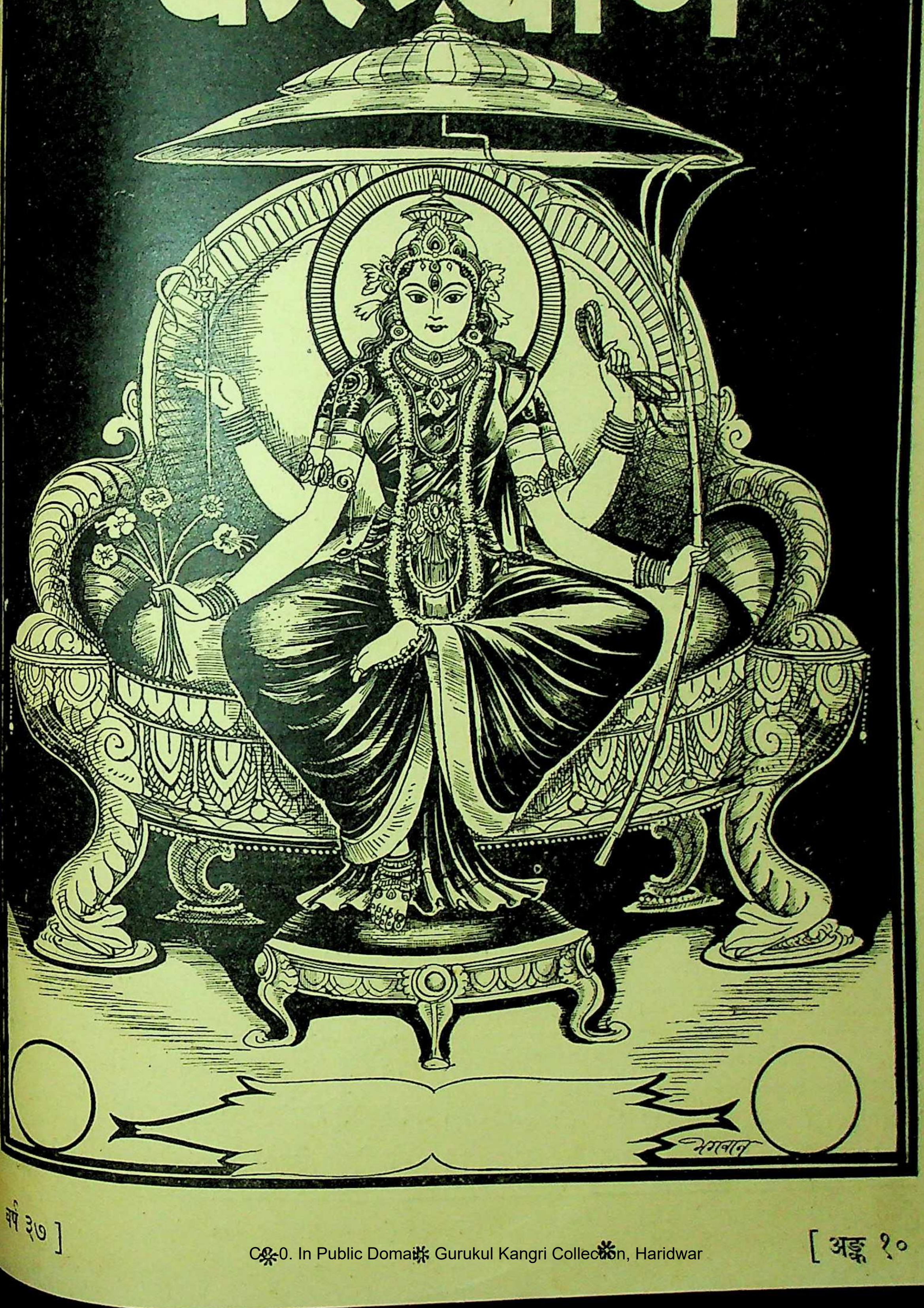

वर्ष ३७]

[अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २०२०, अक्टूबर १९६३

विषय ... पृष्ठ-संख्या
१–अनुपम रूप-सौन्दर्य [कविता] ... ११९५
२–कल्याण ('शिव') ... ११९६
३–शरीर-मीमांसा (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ... ११९७
४–मनको संयत और एकाग्र करनेके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १२०१
५–समस्त जीवन ही साधन है (श्री'माधव') १२०६
६–मधुर १२०८
७–'नैराश्यं परमं सुखम्' (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) १२१०
८–श्रीकृष्णकी जन्मकालीन महानता (श्रीब्रिजलालजी बियाणी) ... १२१३
९–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ... १२१४
१०–रे मन ! [कविता] (विद्यालङ्कार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) १२१७
११–जीवनमें नया परिवर्तन (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) १२१८
१२–प्रभुकी अनुकम्पा [कविता] ... १२२०
१३–सहनशक्ति बढ़ाइये (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १२२१
१४–भगवान्‌की दृष्टि (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १२२३
१५–उत्साह (डा०श्रीप्रकाशसिंहजी बी० एस्-सी०, एम्० बी० बी० एस्०) ... १२२४
१६–रक्षकके लंबे हाथ [कहानी] (श्री'चक्र') १२२५
१७–सारथि (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ... १२२७
१८–हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ? (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) १२३०
१९–रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय, एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत), साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०) १२३३
२०–दृष्टान्त-रहस्य (श्रीह० भ० प० चातुर्मास्ये महाराज) ... १२३६
२१–क्षमाका जीवनमें स्थान (श्रीमती पद्मारानी वैश्य) १२३८
२२–विश्वास और श्रद्धाके प्रतीक देवालय (श्रीओंकारमलजी सराफ, संस्थापक देवालयरक्षण-समिति) ... १२३९
२३–रस-सुधाधारा [कविता] ... १२४१
२४–विष्णुध्वज (डा० श्रीदेवसहायजी त्रिवेद एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... १२४२
२५–जीवन तुम्हारा लीलाधाम बन गया [कविता] १२४४
२६–इन्द्राक्षी-कवचका अद्भुत चमत्कार ... (एक बहन) १२४५
२७–सदाचार (श्रीचोडवरपु रामशेषय्या) ... १२४८
२८–श्रीभगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग—'कल्याण'–कार्यालय, गोरखपुर) ... १२५१
२९–बिना साबुन, बिना पानी निर्मल करनेवाले (श्री'दुर्गेश') ... १२५४
३०–पढ़ो, समझो और करो ... १२५५
३१–जय वृषभानुकिशोरी [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') १२५८

चित्र-सूची

१–भगवती अन्नपूर्णा ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–अनुपम रूप-सौन्दर्य ... ... (तिरंगा) ... ११९५

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

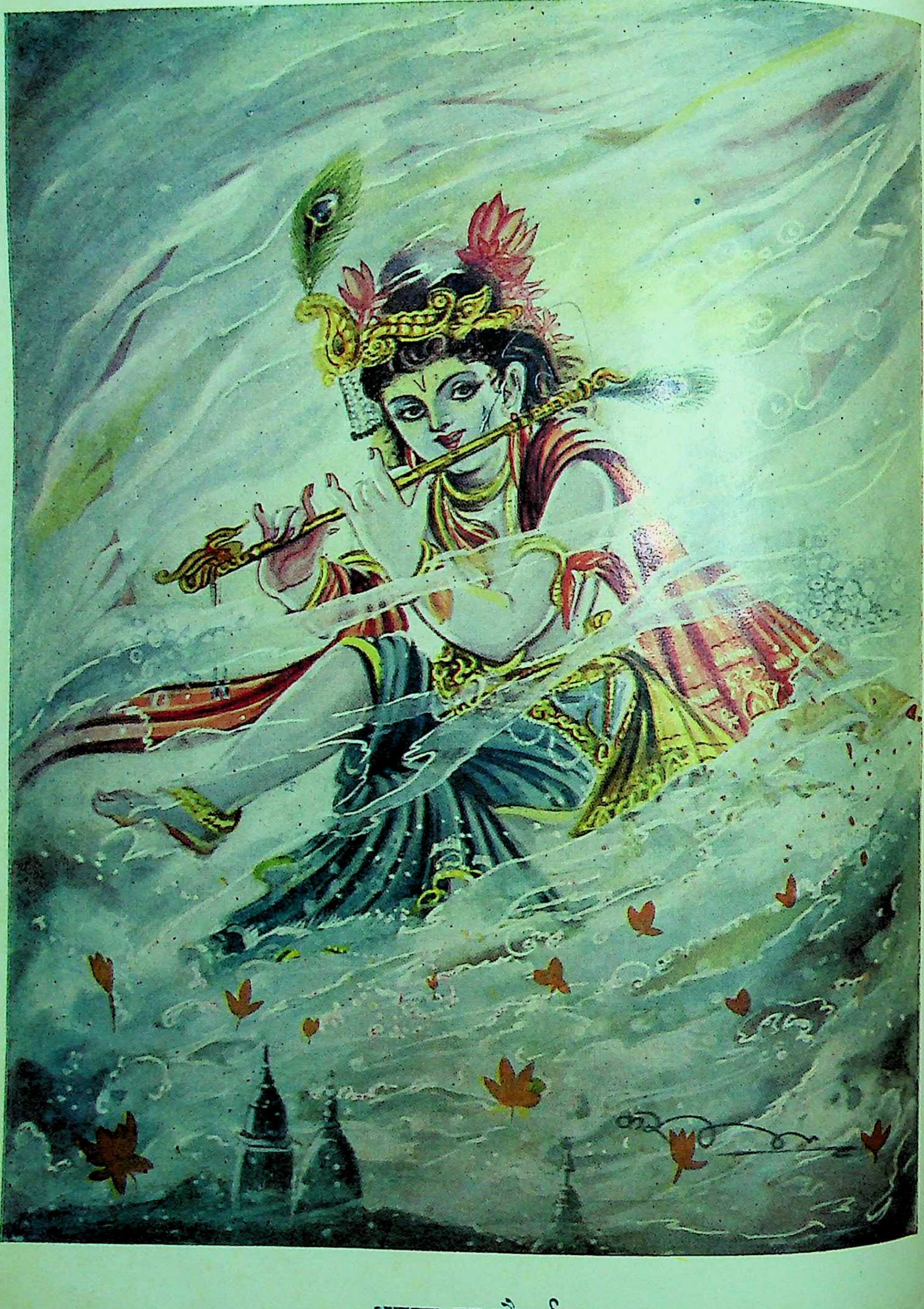

अनुपम रूप-सौन्दर्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

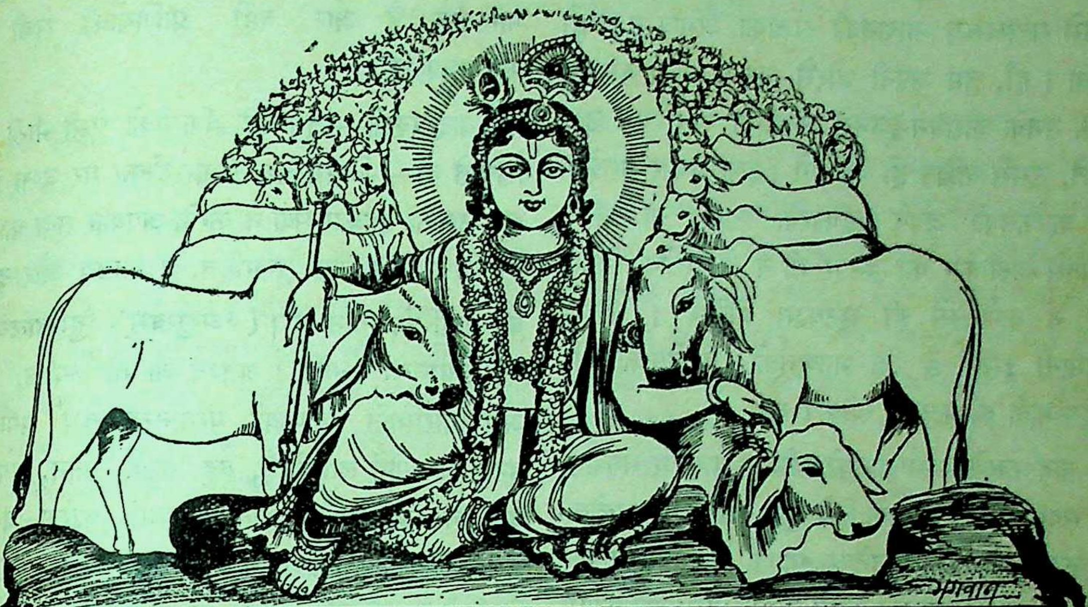

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०२०, अक्टूबर १९६३ { संख्या १०
पूर्ण संख्या ४४३

अनुपम रूप-सौन्दर्य

कालीदह-जल ऊपर सोहत ।
करि कालिय-उद्धार सु निकसत बाहर, सुर-मुनि-जन-मन मोहत ॥
कियौ सिंगार बिबिध बिधि अनुपम कालियकी घरिनी मिलि सारी ।
मधुर रूप-सुंदरतापर सब त्रिभुवन की सुंदरता वारी ॥
मुसुकत मधुर मुरलि धरि अधरनि परम दिव्य रस-सरि बिस्तारत ।
भव-दुख-दावानल-निर्वापित करत, सकल जंजाल निवारत ॥

याद रक्खो—तुम्हारे न मानने या न स्वीकार करनेसे सत्यस्वरूप भगवान्‌की सत्ताका अभाव नहीं हो सकता। हाँ, तुम अपनी ओरसे उनकी सत्ता स्वीकार करके उनके आराधन-पूजनसे जो सीधा परम लाभ उठा सकते, उससे वञ्चित हो जाओगे। इसी प्रकार परलोक और कर्मफलको अपने अहंकारके कारण या भ्रान्त बहुमतसे अस्वीकार कर देनेपर भी न तो परलोक मिटेगा और न कर्मफलसे ही छुटकारा मिलेगा। अतएव बुद्धिमानी इसीमें है कि भगवान्‌को, परलोकको और अवश्यम्भावी कर्मफलको स्वीकार करो।

याद रक्खो—भगवान्‌को स्वीकार करनेपर भगवान्‌की सहायता प्राप्त करनेके लिये शुभ कर्म होंगे, परलोकको तथा कर्मफलको माननेपर पापके परिणामरूप घोर दुःखकी सम्भावनासे पाप-कर्मसे बचकर तुम पुण्य-कर्मोंमें लगोगे। भगवान्, परलोक और कर्मफलकी सत्ता यदि न भी हो तो भी तुम्हें लाभ ही होगा; क्योंकि तुम शुभ कर्मोंके द्वारा सुख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त करोगे। हानि तो कुछ भी होगी ही नहीं; परंतु यदि तुम इनको नहीं मानोगे तो इस लाभसे भी वञ्चित रह जाओगे और यदि भगवान्, परलोक तथा कर्मफलकी सत्ता है, तब तो इनके न माननेपर तुम स्वेच्छाचारी और दुष्कर्म करनेवाले बनकर अपना इह-पर सभी बिगाड़ लोगे, तुम्हारी महती हानि होगी।

याद रक्खो—असली बात तो यह है कि भगवान्, परलोक तथा कर्मफल सत्य हैं ही। इन्हें मानकर इनका यथायोग्य सेवन करके तुम स्वयं तो परम लाभके भागी होओगे ही—अपने आचरणोंसे, अपने जीवनसे, अपने आदर्शसे दूसरोंको भी इस ओर लगानेमें समर्थ होओगे। वे अपने आदर्श आचरणसे दूसरोंको लगायेंगे, अतएव तुम विशुद्ध भगवद्भावके प्रचार-प्रसारमें सफल निमित्त बननेका पुण्य और सौभाग्य प्राप्त करोगे।

याद रक्खो—जो स्वयं भगवान्‌की सेवामें लगा है तथा अपने आचरणसे दूसरोंको लगाता है, वह बड़ा भाग्यवान् है और वही प्राणियोंकी सच्ची सेवा करनेवाला है।

याद रक्खो—तुम यदि किसीको ऐसी मीठी चीज खिलाते हो—जिससे वह बीमार होकर मर जाता है तो तुम उसका उपकार-सेवा न करके अपकार तथा कष्टदान ही करते हो। भोग सुखरहित, दुःखालय और दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं। (**'असुखम्'**, **'दुःखालयम्'**, **'दुःखयोनयः'**—गीता) अतएव जो भी व्यक्ति, वस्तु और परिस्थिति मनुष्यको परमानन्दस्वरूप भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें लगाती है, वह उसके पतन, भयानक कष्ट, नरकप्राप्ति और आत्म-विनाशमें कारण बनकर उसके साथ शत्रुताका काम करती है। अतः यदि तुम किसीको भगवान्‌में लगाते हो तो उसकी परम सेवा करते हो; क्योंकि इसीसे उसका भविष्य सुख-सौभाग्यमय, पवित्र, उन्नत होगा और वह अविनाशी पदको प्राप्त होगा। एवं यदि तुम भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें लगाते हो तो तुम उसके प्रति बहुत बड़ा अपराध करते हो; क्योंकि भोगासक्ति मनुष्यके सब प्रकारसे पतनका कारण है। इतना ही नहीं, यदि तुम अपनी चित्तवृत्तिको भी भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें लगाते हो तो अपने साथ भी शत्रुताका ही बर्ताव करते हो; क्योंकि तुम ऐसा करके आप ही अपनेको पतन तथा विनाशके पथपर बढ़ाये ले जाते हो। अतः सावधानीके साथ ऐसा आचरण करो, जिससे तुम स्वयं भोगोंकी ओर न लगकर भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सको और दूसरोंको भी भगवान्‌की ओर लगा सको। इसीमें तुम्हारा सौभाग्य है और इसीमें सच्ची लोकसेवा है।

याद रक्खो—भगवान्, परलोक तथा कर्मफलकी सच्ची सत्ताको स्वीकार करनेसे भगवान्‌में वृत्ति सुगमतासे लगती है, अतएव इन्हें स्वीकार करके इनसे लाभ उठाओ और अपना जीवन सफल करो।

'शिव'

शरीर-मीमांसा

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ ११३६ से आगे]

अब देखिये । जाग्रत्-स्वप्नमें सुख-दुःखका भोग दीख पड़ता है, क्योंकि यहाँ अन्तःकरण मौजूद रहता है; सुषुप्तिमें सुख-दुःखका भोग नहीं दीखता, क्योंकि वहाँ अन्तःकरण उपस्थित नहीं होता । जीव तो तीनों अवस्थाओंमें एक ही स्वरूपमें रहता है । यदि सुख-दुःखका भोग वस्तुतः जीवको होता तो वह सुषुप्तिमें भी दीख पड़ता, परंतु सुषुप्तिमें सुख-दुःखका भोग रहता नहीं, अतएव अन्वय-व्यतिरेकसे यह सिद्ध हुआ कि सुख-दुःखका भोग अन्तःकरणको ही होता है । अन्वय यानी जहाँ अन्तःकरण है, वहाँ भोग भी है; और व्यतिरेक यानी जहाँ अन्तःकरण नहीं है, वहाँ सुख-दुःखका भोग भी नहीं है । अतएव सुख-दुःखका भोग वस्तुतः जीवको नहीं, बल्कि अन्तःकरणको होता है । यह बात साधकको खूब दृढ़ करनी चाहिये; क्योंकि यदि यह विश्वास पक्का हो जाय कि सुख-दुःखके भोगके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, तो जीवके भवबन्धन छूटनेमें बड़ी सुविधा हो जाय ।

सूक्ष्म शरीरको एक रूपकद्वारा इस प्रकार समझा सकते हैं । दस इन्द्रियाँ तो रथरूप हैं, सब जड होनेके कारण स्वतन्त्र रूपसे कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हैं । प्राण गतिशील है, अतएव उसको इस रथका घोड़ा कह सकते हैं । उस रथमें अन्तःकरण राजाके समान बैठा है और सारे सूक्ष्म शरीरका नियमन कर रहा है और इसके साथ ही स्थूल शरीरका नियमन भी होता जाता है ।

यहाँतक हमने यह पक्का कर लिया कि सारे कर्मोंको अन्तःकरण सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके द्वारा सम्पादन करता है और इस कारण कर्मके फलरूप सुख-दुःखका भोग भी वही भोगता है । इस विषयमें गीताका प्रमाण लीजिये—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

अर्थात् प्रकृतिके गुणोंसे ही सारे कर्म सम्पादन होते हैं । प्रकृतिके गुण हैं सत्त्व, रज और तम—सूक्ष्म भावमें इन्हींके द्वारा कर्म सम्पादित होते हैं । यहाँ प्रकृतिके गुण और उनके कार्य शरीरसे अभिप्राय है । शरीरसे स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंको समझना चाहिये । प्रकृतिके तीन गुणोंसे पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए हैं और पञ्चमहाभूतोंसे यह शरीर बना है । अर्थात् शरीरके द्वारा सारे कार्य सम्पादित होते हैं । यह श्रीभगवान्के श्रीमुखकी बात है । इसके ही प्रमाणके विवेचनमें भगवान् कहते हैं—'अहङ्कारविमूढात्मा'—अहङ्कारसे विमूढ़ होकर, अपना स्वरूप न जानकर आत्मा अपनेको जीव मान बैठा है । मैं आत्मा हूँ, कर्ता हूँ, ऐसा मानता है । वस्तुतः कर्ता तो अन्तःकरण है, परंतु उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर जीव अपनेको कर्ता मानता है ।

आगे चलकर श्रीभगवान् कहते हैं—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

तत्त्ववित् अर्थात् जिसने अपने स्वरूपको जाना है ऐसा योगी यथायोग्य शारीरिक व्यापार करते हुए भी यह मानता है कि वह कुछ भी नहीं करता; क्योंकि उसको दृढ़ प्रतीति है कि इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यवहार करती हैं, इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं तो केवल इनका व्यवहार देखनेवाला हूँ ।

पुनः दूसरे प्रसङ्गमें भी श्रीभगवान् कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

पहले कह चुके हैं कि प्रकृतिके गुणोंद्वारा कर्म होते हैं, यहाँ कहते हैं कि प्रकृतिसे ही सारे कर्म होते हैं । यहाँ एक बात समझने योग्य है । कहीं तो गुणोंको प्रकृतिका कार्य अर्थात् उससे उत्पन्न होनेवाला कहते हैं । जैसे 'सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ।' यहाँ गुणोंको 'प्रकृतिज' कहा है अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाला, जैसे आत्मज, पङ्कज आदि । दूसरी जगह प्रकृतिको 'त्रिगुणात्मिका' या 'गुणमयी' कहा है, अर्थात् तीन गुण प्रकृतिके स्वरूप हैं, उसके कार्य नहीं । यह बात दोनों प्रकारसे ठीक है और वस्तुस्थितिको समझनेमें कोई गड़बड़ी नहीं होती । हम तो इसको इस प्रकार समझते हैं

कि प्रकृतिसे या उसके गुणोंसे कार्य-सम्पादनका अर्थ है शरीरसे सारे कार्य सम्पादन होते हैं। इसमें कोई गड़बड़ी भी नहीं होती। दूसरी गड़बड़ी यह आती है कि पहले तो अज्ञानके कारण जीव अपनेको कर्ता मानता है, ऐसा कहा। अब स्पष्ट कहते हैं कि जीव अपनेको कर्ता नहीं मानता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टा नु पश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

ये दो श्लोक पूर्ण साधन हैं। यदि इनको ठीक समझकर हृदयमें उतार लिया जाय तो दूसरा कोई साधन न करना पड़े। **'यदा नु द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्त्तारं न पश्यति'** अर्थात् जब निश्चयपूर्वक द्रष्टा अर्थात् जीव गुणोंसे दूसरा कोई, यानी शरीरसे दूसरा कोई कर्त्ता है, ऐसा नहीं मानता। अर्थात् जब जीव यह मानता है कि सारे कर्म शरीरसे ही सम्पादन होते हैं और निश्चयपूर्वक यह भी मानता है कि मैं शरीरसे पृथक् हूँ, तब जीव मद्भाव अर्थात् परमात्मभावको प्राप्त करता है। संक्षेपमें इस श्लोकका यही अर्थ हुआ कि जब जीव अपनेको शरीरसे भिन्न मानता है और यह निश्चय कर लेता है कि सारे कर्म शरीरसे ही सम्पादित होते हैं, तब उसका जीवभाव छूट जाता है और वह अपने परमात्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है।

देही देहसमुद्भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य, जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः (भवति) (च) अमृतम् अश्नुते। **देही** अर्थात् जीव (ऊपरके श्लोकमें जीवको द्रष्टा और यहाँ देही कहा है)। **देहसमुद्भवान्**--जिससे देह उत्पन्न होता है, **एतान् त्रीन् गुणानतीत्य**—ऊपर बताये प्रकृतिके तीन गुणोंसे परे होकर। तात्पर्य यह है कि जिनसे शरीर उत्पन्न होता है, उन प्रकृतिके तीनों गुणोंसे जीव जब अपनेको अलग मानता है तब **जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः (भवति)**—जन्म-मृत्यु और वृद्धावस्थाके दुःखसे छूट जाता है और **'अमृतं अश्नुते'** अमृतपदको भोगता है। सारांश यह है कि जीव जब **'मैं देह हूँ'**—यह भाव छोड़ देता है और स्वरूपमें स्थित होता है, तब अपनेको देहसे पृथक् मानता है (देही या द्रष्टाके रूपमें) और इससे जन्म-मृत्यु और जरा—जो शरीरके दुःख हैं उनसे मुक्त हो जाता है और अन्तमें परमात्मस्वरूपको प्राप्त करता है अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। श्रीशंकराचार्यने कहा है—

'नाहं कर्त्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे।'

गीतामें कहा है—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

बहुत समझने योग्य श्लोक है। हमें तो केवल जीवका अकर्तृत्व सिद्ध करना है। अतएव उतना ही विचार किया जायगा। भगवान् कहते हैं कि कायिक, वाचिक और मानसिक कार्य सम्पादन करनेमें पाँच कारण हैं—(१) अधिष्ठान अर्थात् उपादान कारण, (२) कर्त्ता अर्थात् निमित्त कारण, (३) **करणं च पृथग्विधम्** अर्थात् विविध साधन, (४) **विविधाः च पृथक् चेष्टा** अर्थात् विभिन्न प्रकारकी क्रियाएँ, (५) **दैवम्** अर्थात् दैवकी अनुकूलता। इस प्रकार कोई भी कर्म इन पाँच कारणोंसे ही निष्पन्न होता है। तथापि जो दुर्मति जीव ठीक न समझनेके कारण अपनेको कर्त्ता मानता है, वह अंधा ही है। यह हस्तामलकवत् स्पष्ट बात भी समझमें न आवे तो उसे अंधा न कहें तो और क्या कहेंगे ?

इन पाँच कारणोंपर कुछ ध्यान देना आवश्यक है। एक घड़ा बनाना है। पहले, उसका उपादान कारण मिट्टी चाहिये, दूसरा, निमित्त कारण कुम्भकार होगा। तीसरे, घड़ा बनानेके अन्यान्य साधन जैसे चक्र, उसको घुमानेवाला दण्ड, पानीका कूँड़ा, बासन काटनेकी डोर और पाँचवाँ, दैवयोग भी अनुकूल होना चाहिये।

जीवको बन्धनमें देनेवाले पाँच क्लेश भी इस अन्तःकरणमें ही रहते हैं—(१) अविद्या, अर्थात् विपर्यय बुद्धि—उल्टी समझ, दुःखमें सुख-बुद्धि, अपवित्रमें पवित्र-बुद्धि तथा जो क्षणभङ्गुर है, उसे नित्य मानना, (२) अस्मिता अर्थात् द्रष्टा और दृश्यकी एकात्मता, (३, ४) राग और द्वेष, अनुकूल और प्रतिकूल भावोंका होना। (५) अभिनिवेश—मृत्युभय अथवा मताग्रह। अनुभवप्रकाशके कर्त्ता स्वामी विशुद्धानन्दका मत है कि अभिनिवेशका अर्थ है अपने मतका आग्रह, अर्थात् जो मैं कहता हूँ, वही सत्य है।

इस प्रकार जीवको अपने स्वरूपको जाननेके मार्गमें

बाधक दोष भी इस अन्तःकरणमें ही रहते हैं। वे मल, विक्षेप और आवरण नामसे पुकारे जाते हैं। मल अर्थात् पाप जो संचित कर्मोंके साथ चित्तमें रहता है। विक्षेप अर्थात् अन्तःकरणकी चञ्चलता जो मनमें रहती है और तीसरा आवरण अर्थात् पर्दा, जो बुद्धिमें रहता है। बुद्धि जो भले-बुरेका निश्चय करती है, यह जबतक न छोड़े तबतक जीवकी स्वरूपमें स्थिति नहीं होती है, यही आवरण है।

इसलिये जबतक निष्काम कर्मसे अथवा परमेश्वरके किसी भी नामका जप करनेसे या दूसरे किसी उपायसे पापका नाश नहीं होता, विवेकयुक्त वैराग्यके द्वारा विषयोंमेंसे आसक्ति नहीं दूर होती और मनका संकल्प-विकल्प बंद नहीं होता तथा जबतक अन्तःकरण चञ्चल रहता है और इस कारण उसमें ज्ञानका उदय नहीं होता, यानी जीव अपने स्वरूपमें नहीं आ जाता, तबतक साधकको चाहिये कि निष्काम कर्मसे, नाम-जपसे या शास्त्रोक्त दूसरे उपायोंसे पापका नाश करे, जिससे पुण्यका उदय हो। पश्चात् विवेकयुक्त वैराग्यसे तथा विषयोंमें दोषदर्शनसे संसारके भोगसे आसक्ति छोड़ दे, इससे अन्तःकरण अपने आप निश्चल होगा और उसके बाद ज्ञानका साधन करनेसे आवरण-भङ्ग हो जायगा और स्वरूपमें स्थिति हो जायगी।

इन तीन शरीरोंमें एक चमत्कारकी बात यह है कि कोई शरीर अकेला नहीं रह सकता। कम-से-कम दो शरीरोंको एक साथ रहना ही चाहिये। स्थूल शरीरका आधार प्रारब्ध कर्मके भोगके ऊपर है। अतएव प्रारब्धका भोग भोग लेनेके बाद यह अपने आप नाशको प्राप्त होता है। इसके नाशके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सूक्ष्म शरीरका अवलम्बन संचित कर्म है, अर्थात् जबतक संचित कर्म हैं, तबतक उसका नाश नहीं होता। कारण-शरीरका आधार अज्ञान है, अर्थात् जबतक अज्ञान है तबतक यह नाशको नहीं प्राप्त होता अतएव जन्म-मरणके बन्धनसे छूटना हो तो ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, ज्ञानके होते ही अज्ञान नष्ट हो जायगा और तब कारण-शरीर नष्ट हो जायगा। गीतामें श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे कहा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

अर्थात् जैसे लौकिक अग्नि काष्ठको जला डालती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मोंको जला देती है। यहाँ सारे कर्मका अर्थ संचित कर्म है; क्योंकि प्रारब्ध कर्म तो भोगसे अपने आप नाशको प्राप्त होता है। संचित कर्म जब नाशको प्राप्त होता है तो सूक्ष्म शरीरका अवलम्बन नष्ट हो जाता है, अर्थात् वह निर्बल बन जाता है; परंतु स्थूल शरीरको निभानेका कार्य कर सकता है। प्रारब्ध क्षय होनेपर स्थूल शरीर नष्ट हो जानेपर सूक्ष्म शरीर अकेला नहीं रह सकता और उसका पोषण बंद हो जानेपर वह टिक नहीं सकता, यानी विच्छिन्न हो जाता है और नाशको प्राप्त होता है।

ज्ञानी अन्तःकरणको निर्मल अर्थात् वासना-शून्य बनाता है। ऐसे विशुद्ध अन्तःकरणमें संशय-विपर्यय-रहित तत्त्वज्ञानका उदय होता है। अर्थात् 'मैं सत्-चित्-आनन्दरूप आत्मा हूँ, स्वभावसे निर्विकल्प—निर्विकार हूँ अर्थात् मुक्त हूँ।' ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है। इस प्रकारके ज्ञानके उदयसे अज्ञान नाशको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार दीपसे अन्धकारका नाश होता है। अज्ञानका नाश होनेपर कारण-शरीरका नाश हो जाता है। उसी क्षणसे ज्ञानी जीवन्मुक्त होकर विचरण करता है। जबतक प्रारब्धका क्षय नहीं हो जाता, तबतक उसके शरीरसे यथायोग्य व्यवहार होता रहता है, पर वे कर्म उसके बाधक नहीं होते। प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर स्थूल शरीर अपने आप नाशको प्राप्त होता है और सूक्ष्म शरीर अकेला न रह सकनेके कारण विच्छिन्न होकर अपने-अपने उपादानमें मिल जाता है। उसका प्राण महाप्राणमें मिल जाता है, यह बतलाते हुए श्रुति कहती है—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ते।'

अर्थात् ज्ञानीके प्राण फिर दूसरे शरीरमें प्रविष्ट नहीं होते।

अब हम इस लेखमें प्रारम्भमें आये प्रश्नकी ओर लौटते हैं। पहला प्रश्न यह था कि जन्म-मरण जो प्रत्यक्ष दीखता है, वह क्या है? इसका सहज उत्तर यह है कि स्थूल देह ही जन्मता है और यही नाशको प्राप्त होता है। स्थूल देहके नष्ट होनेपर सूक्ष्म देह तथा कारण देह नाशको प्राप्त नहीं होते।

दूसरा प्रश्न यह था कि जीव विभिन्न योनियोंमें भटकता है, यह क्या है? जब प्रारब्ध कर्म पूरा-पूरा भोग लिया जाता है, तब स्थूल देह अपने आप नाशको प्राप्त होता है। अर्थात् सूक्ष्म तथा कारण शरीर स्थूल देहको छोड़ देते हैं और नवीन प्रारब्धके अनुसार दूसरा स्थूल देह धारण करते हैं।

एक योनिसे दूसरी योनिमें भ्रमण होता है सूक्ष्म देहका; परंतु जीव अपना प्रतिबिम्ब अन्तःकरणमें देखकर भ्रान्तिसे अपनेको उसके साथ आवागमन करता हुआ मानता है । जो वस्तु सर्वव्यापक है, वह कहाँ और कैसे आ-जा सकती है ? अर्थात् कहीं आ-जा नहीं सकती । यहाँ यह समझने योग्य बात है कि अन्तःकरण जहाँ जाता है, वहाँ आत्माका प्रतिबिम्ब साथ-साथ रहता है । यह समझनेके लिये दर्पणका उदाहरण लेना पड़ेगा। दर्पण हाथमें लेकर उसे चित रखकर खुली जगहमें घूमे तो दर्पणमें आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही, घरमें चलें तो सिरके ऊपर छत या छप्पर जो कुछ होगा, उसका प्रतिबिम्ब पड़ेगा। उसको उलट दें तो जिस वस्तुके ऊपर दर्पण होगा उसका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ेगा, भले ही बाहर हमें न दीखे । सारांश यह है कि जबतक दर्पण है तबतक उसमें प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही । इसी प्रकार अन्तःकरण जहाँ रहेगा अथवा जहाँ जायगा वहाँ प्रतिबिम्बसहित ही रहेगा । इसी कारण, अर्थात् प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी अन्तःकरणकी इस शक्तिका कारण यह आत्माकी मुख्य उपाधि परिगणित होता है । कारण यह है कि अन्तःकरण इस प्रकार कार्य करता है मानो वह स्वयं चैतन्य हो । प्रस्तुत प्रसङ्गमें जीवके बदले आत्मा शब्द इसकी सर्वव्यापकता जतलानेके लिये ही व्यवहृत हुआ है । (**अतति व्याप्नोति इति आत्मा**) वस्तुतः भ्रम जीवको ही होता है ।

हमारा तीसरा प्रश्न था कि कर्मका फल भोगनेवाला कौन है ? स्पष्ट है कि जो कर्म करता है वही उसके अच्छे-बुरे फलको भोगता है । कर्म कोई करे और फल दूसरा भोगे— ऐसा अन्याय ईश्वरके राज्यमें नहीं होता । अतः अब यह देखना रहा कि कर्मका कर्ता कौन है । स्थूल शरीर तो बिल्कुल जड है, अतएव उसमें कर्तापन नहीं हो सकता । आत्मा अक्रिय और शान्त सत्तामात्र है, उसमें भी कर्तापन नहीं हो सकता । अब शेष रहा सूक्ष्म शरीर और यही कर्मका कर्ता है । आत्माके सांनिध्यसे शक्तिशाली बनकर अहङ्कारपूर्वक भले-बुरे कर्म सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरके द्वारा सम्पादन करता है और इन कर्मोंके फलके रूपमें सुख-दुःख आदि भोग भी यही भोगता है और इस भोगको भोगनेके लिये अनेक योनियोंमें भ्रमण भी सूक्ष्म शरीर ही करता है । जीवात्मा तो केवल भ्रमसे अपनेको कर्ता मानता है और न होनेपर भी जन्म-मरणका अनुभव करता हुआ नाना प्रकारके सुख-दुःख भोगता है । सूक्ष्म शरीरसे भ्रमवश आत्माका तादात्म्य होनेसे वही जीव कहलाता है और इसी कारण वह सुख-दुःखका भोक्ता हो जाता है ।

हमने देखा कि शरीर तीन हैं । स्थूल शरीर लोहे और काष्ठके समान पूर्णतः जड है । कारण शरीर तो नाममात्र है, क्योंकि वह शरीर नहीं है । संसारचक्रको चलानेका कारणरूप होनेसे उसका नाम कारण शरीर है । इस संसारमें सारा तूफान मचानेवाला तो यह सूक्ष्म शरीर है और उसमें भी मुख्य है—अन्तःकरण । इस अन्तःकरणके प्रतापसे ही यह संसारका बगीचा दृष्टिगोचर हो रहा है । आत्मामें जीवभाव भी इस अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होनेसे ही आता है । अपना प्रतिबिम्ब देखकर आत्मा अपनेको अन्तःकरण मान लेता है। यही पुरुषका 'प्रकृतिस्थ' होना है । फलतः दूसरेके सुख-दुःख और जन्म-मरणको स्वयं भोगने लगता है । जिस प्रकार कि 'गाड़ीका भार श्वान खींचता है ।'

अब मनुष्य-शरीरको देखिये । इसी शरीरमें रहकर नर नारायण हो सकता है । सारे मानव-शरीरकी बनावट एक-सी है । सब पञ्चमहाभूतके बने हैं । स्थूल शरीरमें रहकर उसे चेतन बनानेवाला सूक्ष्म शरीर भी सबका एक ही उपादानसे बना है । कारण शरीर अर्थात् अज्ञान भी सबमें एक-सा है। तथापि संसारमें व्यवहारकी विभिन्नता क्यों है, यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता । किसीका स्वभाव क्रूर है, किसीका शान्त। किसीको धर्म प्रिय है तो किसीकी पापाचरणमें रुचि है। कोई भोगमें आसक्त दीखता है, तो कोई त्यागमय जीवन पसंद करता है । कोई प्रवृत्तिपरायण है तो कोई निवृत्तिपरायण— इस प्रकार स्वभाव और आचरणमें विरोध और विभिन्नता दीख पड़ती है, वैसे ही सुख-दुःखके भोग भी विभिन्न दीख पड़ते हैं । इसका कारण यह है कि सबके अन्तःकरणके संस्कार विभिन्न हैं, अतएव रुचि भी विभिन्न है तथा प्रारब्धके भोग भी विभिन्न होने चाहिये । अतएव सुख-दुःखके भोगमें तारतम्य होना चाहिये और वैसा ही देखनेमें आता है ।

* * *

मनको संयत और एकाग्र करनेके उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको यह शरीर अपना कल्याण करनेके ही लिये मिला है। मनुष्येतर जितनी भी योनियाँ हैं वे सभी भोगयोनियाँ हैं; उनमें यदि किसी प्राणीका कल्याण हो गया है तो वह एक अपवाद (रियायत) है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि योनियोंमें तो बुद्धिकी मन्दताके कारण परमात्माके तात्त्विक यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है और यथार्थ ज्ञान हुए बिना कल्याण होना सम्भव नहीं। कहा भी है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' देवताओंमें बुद्धि तो तीक्ष्ण है, किंतु स्वर्गमें भोगोंकी बहुलता होने और देवताओंकी विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण परमात्माको पानेके लिये रुचि तथा प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये उनका कल्याण होनेमें कठिनाई है तथा उन्हें अधिकार भी प्राप्त नहीं है। पर मनुष्यका उसमें अधिकार है। ऐसे अधिकारको पाकर भी यदि मनुष्य कल्याणसे वञ्चित रहे तो यह उसका प्रमाद है और घोर पश्चात्तापका विषय है। श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(उत्तर० ४२। ४; ४३)

मनुष्यके कल्याणमें सबसे प्रधान बाधक बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें आसक्त होकर उन सबके अधीन हो जाना ही है; क्योंकि विषयोंमें आसक्तिवाले प्रयत्नशील विवेकी मनुष्यकी इन्द्रियाँ भी बलात्कारसे उसके मनको विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं (गीता २। ६०)। इसलिये साधकको मनके द्वारा सभी इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माके शरण हो जाना चाहिये (गीता २। ६१)। जबतक मन वशमें नहीं होता तबतक परमात्माकी प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

अतः मनको अपने वशमें और स्थिर करनेके लिये शास्त्रोंमें जो बहुत-से उपाय बताये हुए हैं उनमेंसे किसी भी उपायके द्वारा मनको निगृहीत और स्थिर करना परम आवश्यक है। मनकी चञ्चलता तो प्रत्यक्ष है। अर्जुनने भी मनके चञ्चल होनेके कारण इसको वशमें करना कठिन बताया है (गीता ६। ३३-३४), किंतु भगवान् अर्जुनके कथनका समर्थन करते हुए मनको रोकना कठिन मानकर भी इसका उपाय बतलाते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(योगद० १। १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।'

अभ्यासका रूप बतलाते हैं—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योगद० १ । १३)

'उन दोनोंमेंसे स्थितिके लिये जो प्रयत्न करना है, वह 'अभ्यास' है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(योगद० १ । १४)

'परंतु वह अभ्यास लंबे समयतक, निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है।'

इस अभ्यासके अनेक प्रकार हैं। जैसे—

(१) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ ही परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना और वहीं मनको परमात्मामें लगा देना; क्योंकि परमात्मा सब जगह सदा ही व्यापक हैं; कोई भी ऐसा स्थान या काल नहीं, जहाँ परमात्मा न हों।

(२) मन जहाँ-जहाँ संसारके पदार्थोंमें जाय, वहाँ-वहाँसे उसको विवेकपूर्वक हटाकर परमात्माके स्वरूपमें लगाते रहना (गीता ६ । २६)।

(३) विधिपूर्वक एकान्तमें बैठकर सगुण भगवान्‌का ध्यान करना। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
(६ । ११-१४)

'शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला* और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा; ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे। काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर अन्य दिशाओंको न देखता हुआ, ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

छठे अध्यायके इस चौदहवें श्लोककी गीतातत्त्व-विवेचनी टीकामें ध्यानके लिये सगुण भगवान्‌के विभिन्न कुछ स्वरूपोंका निरूपण किया हुआ है उनको पढ़कर उनमेंसे अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचिके अनुरूप किसी भी एक स्वरूपका ध्यान ऊपर बतायी हुई विधिसे करना चाहिये।

(४) एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय करके तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा उस आनन्दमय परमात्माका ध्यान करना। भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(६ । २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित

---

* मृगचर्म अपनी मौतसे मरे हुए मृगका होना चाहिये, जान-बूझकर मारे हुए मृगका नहीं। हिंसासे प्राप्त मृगचर्म साधनमें सहायक नहीं हो सकता। पवित्र मृगचर्मके अभावमें ऊन और कुशाका आसन ही पर्याप्त है।

वह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं, (वह योग निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है) ।'

इस प्रकार समझकर निर्गुण-निराकार परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्माके यथार्थ तत्त्वका अनुभव होनेपर मन-बुद्धि अचल और स्थिर हो सकते हैं ।

(५) पहले सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके, विवेकपूर्वक मनके द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, धीरे-धीरे उपरत होकर मनको एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्ममें लगा देना ।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
(गीता ६ । २५)

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ।'

(६) निष्काम कर्मद्वारा पदार्थों और कर्मोंमें आसक्तिसे रहित एवं सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित हो जाना । भगवान् कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है ।'

(७) कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—कोई भी साधन क्यों न हो, उसमें मनुष्यका आहार-विहार, साधन, क्रिया, सोना, जागना—सभी यथायोग्य और उचित होना चाहिये (गीता ६ । १७) । ये सब यथायोग्य न होनेसे किसी भी योगकी सिद्धि सम्भव नहीं है और इनके यथायोग्य होनेपर जब योग सिद्ध हो जाता है तब मनुष्यका चित्त वैसे ही निगृहीत, अचल और स्थिर हो जाता है जैसे वायुरहित स्थानमें दीप-शिखा (गीता ६ । १९) ।

गीताके छठे अध्यायमें भगवान्‌ने आत्मा यानी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिके संयमके बहुत-से उपाय बताये हैं, इसीलिये इस अध्यायका नाम ही है आत्म-संयमयोग । उनमेंसे कुछ उपायोंका ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है । इन उपायोंमेंसे कोई-सा भी उपाय करें तो मन संयत और स्थिर होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । गीतादि शास्त्रोंमें और भी बहुत-सी युक्तियाँ हैं, उनको विवेकपूर्वक भलीभाँति समझकर काम-में लाना चाहिये ।

(८) अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबके द्वारा सब प्रकारसे ईश्वरके शरण हो जाना । योगदर्शन-में बताया गया है—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा । (१ । २३)

'ईश्वरकी शरणागतिसे भी (समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है) ।'

(९) प्राण और मनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्राणोंके निरोधसे मनका निरोध हो जाता है और मनके निरोधसे प्राणोंका निरोध हो जाता है । इसलिये प्राणायामका साधन करना चाहिये । श्रीपतञ्जलिजी बताते हैं—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।
(योगद० १ । ३४)

'प्राणवायुको बारंबार बाहर निकालने और रोकनेके अभ्याससे भी चित्त निर्मल होकर एकाग्र हो जाता है ।'

भगवान् श्रीकृष्णने भी गीताके चौथे अध्यायके २९वें, ३०वें श्लोकोंमें यज्ञके रूपकसे प्राणायामको

परमात्माकी प्राप्तिका साधन माना है। इसके सिवा, वहाँ श्लोक २४ से २८ तक और भी दस साधन बताये हैं, जो सभी मनको एकाग्र और वशमें करनेके लिये परम लाभदायक हैं।

(१०) जैसे उन्मत्त हाथीको वशमें करना कठिन है उसी प्रकार मनको वशमें करना बड़ा कठिन है; फिर भी जैसे हाथी अङ्कुशसे वशमें हो जाता है वैसे ही यह मन साधनसे वशमें हो जाता है। मनपर विजय प्राप्त करनेके उपाय योगवासिष्ठमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।
(उपशमप्रकरण, ९२ । ३५, ३५१/२)

‘अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चित रूपसे दृढ़ उपाय हैं।’

अभिप्राय यह कि अध्यात्मविषयक शास्त्रोंका मनन करके उनका ज्ञान प्राप्त करनेसे, अध्यात्मविषयके ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे अध्यात्म और ध्यान आदिके विषयमें वार्तालाप करने और उनसे मनको रोकनेकी युक्तियाँ सुन-समझकर उनके अनुसार अभ्यास करनेसे, सांसारिक विषयभोगोंकी वासनाओंको अत्यन्त हानिकारक समझकर विचारद्वारा उनका भलीभाँति त्याग करनेसे तथा युक्तिपूर्वक प्राणायाम करनेसे मन वशमें और एकाग्र होता है।

ऊपर अभ्यासके कई प्रकार बतलाये गये। जैसे अभ्याससे मन वशमें होकर निरुद्ध हो जाता है इसी प्रकार संसारसे वैराग्य होनेपर भी हो जाता है। वैराग्यका रूप श्रीपतञ्जलिजीने इस तरह बतलाया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
(योगद० १ । १५)

‘देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।’

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (योगद० १ । १६)

‘पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है वह ‘परवैराग्य’ है।’

संसारसे वैराग्य होनेके अनेक उपाय हैं—

(१) परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर स्वतः ही वैराग्य हो जाता है।

(२) जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करनेसे भी वैराग्य होता है—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।
(गीता १३ । ८ का उत्तरार्ध)

श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (योगद० २ । १५)

‘परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब कर्मफल दुःखरूप ही हैं।’

भाव यह कि संसारके पदार्थ, विषयभोग और शरीर——सभी प्रत्यक्ष ही दुःखरूप, परिणामी, क्षणभङ्गुर और विनाशशील हैं; स्त्री, पुत्र, पति, शरीर, धन, सम्पत्ति आदि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष ही कालके मुखमें जा रहे हैं—ऐसा विवेक-विचारपूर्वक समझनेसे स्वाभाविक ही संसारसे वैराग्य हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

(३) वीतराग महापुरुषोंके सङ्गसे भी वैराग्य उत्पन्न होकर चित्त वशमें हो सकता है ।

(४) संसारके पदार्थों और भोगोंमें रमणीयता और सुखबुद्धि न रहनेसे भी वैराग्य हो जाता है ।

(५) जिनमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका एवं जगत्‌के यथार्थ स्वरूपका वर्णन हो उन सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे भी वैराग्य हो सकता है ।

(६) भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, धामके सम्बन्धमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रवण, मनन और चिन्तन करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर स्वतः ही संसारसे वैराग्य हो सकता है ।

इसी तरह अभ्यास और वैराग्यके और भी अनेक प्रकार हैं । जिस किसी प्रकारसे हो, कल्याणकामी मनुष्योंको अपने मनको वशमें करके परमात्मामें तत्परतासे लगना चाहिये । व्यवहारकालमें तो यह मन चञ्चल रहता ही है, एकान्तमें आत्मकल्याणके साधनके लिये बैठनेपर भी मन इधर-उधर भटकता रहता है । अतः यदि इसके निग्रहका उपाय नहीं किया जायगा तो साधकका अबतक जिस तरह समय बीतता आया है वैसे ही भविष्यमें बीतता रहेगा । इससे यह मनुष्य-जन्मका अमूल्य समय व्यर्थ चला जायगा । अतः मनुष्य-जन्मके समयको सार्थक बनानेके लिये शीघ्र-से-शीघ्र इस मनके निग्रहका साधन करना आवश्यक है; क्योंकि अनादिकालसे जो अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति होती आ रही है, वह साधन करनेसे ही दूर हो सकती है ।

यह मन ही मनुष्यका मित्र है और मन ही शत्रु है । जीता हुआ मन तो मित्र है और जो मन जीता हुआ नहीं है वह शत्रु है । भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥
(६ । ६)

'जिस मनुष्यद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस मनुष्यका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है ।'

भगवान्‌के इस कथनपर भलीभाँति ध्यान देना चाहिये और अपने सुधारके लिये तत्पर हो जाना चाहिये । मनुष्यका अभ्यास बड़ा प्रबल होता है । वह दिनमें जैसा मनन करता है, उसके अनुसार रात्रिमें स्वप्नमें भी प्रायः वैसा ही मनन स्वाभाविक होता रहता है । इसलिये हर समय ही भगवान्‌के स्वरूपका मनन करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये । नहीं तो, मनुष्यके अधिकारमें जो भी कुछ सम्पत्ति, बल, बुद्धि आदि पदार्थ हैं वे फिर क्या काम आयेंगे । मृत्यु होनेके पश्चात् ये सब यहीं रह जायँगे । अतः उनको और अपने सर्वस्वको लगाकर भी जिस किस प्रकारसे भी हो, मनको वशमें करनेके लिये वैराग्ययुक्त चित्तसे कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त तत्परतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिये ।

समस्त जीवन ही साधन है

एक महात्माके प्रवचनका कुछ मार्मिक अंश

[यथाश्रुत, यथागृहीत]

(संकलयिता—श्री'माधव')

किसीकी बुराई नहीं सोचना, नहीं चाहना और नहीं करना—यही सही कार्य करनेकी भित्ति है। इतिहास और अनुभव इसका साक्षी है। दूसरोंके द्वारा अपने प्रति बुराई हो जाती है या दूसरोंके साथ अपने द्वारा बुराई हो जाती है। परंतु जो सुख किसीके दुःखसे आता है वह कालान्तरमें घोर दुःखमें परिवर्तित हो जाता है और इसी प्रकार जो दुःख किसीके सुखसे आता है, वह कालान्तरमें महान् आनन्दका कारण बन जाता है। हमें अपने लिये कुछ नहीं चाहिये, हमें अपने लिये कुछ नहीं करना है—यही साधकका सही मार्ग है। सुने हुएमें आस्था, श्रद्धा और विश्वास करनेसे ही साधक अपने सही मार्गपर चल सकता है।

कर्तव्य-पथपर सही-सही चलनेके लिये साधक इस बातका स्मरण रक्खेगा कि मैं दूसरोंको बुरा नहीं समझूँगा। दूसरेको बुरा समझनेका किसी व्यक्तिको अधिकार भी नहीं है। सबसे बुरी बुराई दूसरोंको बुरा समझना है और सबसे बड़ी सेवा दूसरोंको भला समझना है। कोई भी व्यक्ति सर्वांशतः सब समय सबके लिये बुरा नहीं होता। सही काम न करके कोई सही आदमी नहीं बनता, सही आदमी बनकर सही काम ही करना होता है। सही आदमीसे सही कार्य होता है और गलत आदमीसे गलत काम होता है। सही काम तो कभी-कभी दम्भपूर्वक भी हो सकता है, परंतु सही आदमी दम्भसे नहीं होता। सही आदमी सत्सङ्गसे बनता है। सत्सङ्ग स्वाधीनतापूर्वक किया जा सकता है। दूसरेको बुरा नहीं मानने, बुरा नहीं चाहने और बुरा नहीं करनेमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। अहंकार, ममता, कामना छोड़नेमें सभी स्वतन्त्र हैं। किये हुएका फल विनाशी है परंतु हमारी माँग अविनाशी है। इसीलिये मुझे अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। जिसे अपने लिये कुछ भी नहीं करना है उसे मिली हुई वस्तु और योग्यतासे कोई कामना नहीं रहती। अतएव वह राग, काम और अहङ्कारसे मुक्त हो जाता है। वहाँ योग है, बोध है, प्रेम है। यदि आप आस्था, श्रद्धा और विश्वासके साथ प्रभुसे मिलते हैं तो आप भक्त हैं। भक्ति भक्तका स्वभाव है। भक्तमें भक्ति अविभक्त होती है। भक्ति भगवान्‌को रस देती है।

सत्सङ्गसे साधनकी अभिव्यक्ति होती है और असाधनकी निवृत्ति होती है। सत्सङ्गसे कामकी निवृत्ति होती है और चिरशान्ति मिलती है। सत्सङ्गसे जिज्ञासाकी पूर्ति होती है और बोधकी प्राप्ति होती है। सत्सङ्गसे प्रेमकी प्राप्ति होती है और रसरूप जीवनकी अभिव्यक्ति होती है एवं सत्सङ्गसे स्वधर्मकी अभिव्यक्ति होती है। सत्सङ्ग ही स्वधर्म है।

जिसकी कोई माँग हो, जिसपर कोई दायित्व हो, वही मानव है। सत्सङ्गका अर्थ न जाननेके कारण ही व्यक्तिगत जीवनमें असफलता और सामाजिक जीवनमें संघर्ष है। आज मानवने अपनेको अपनी ही भूलसे सर्वथा पराधीन, दीन-हीन बना लिया है। सत्सङ्गके बिना साधनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। सत्सङ्गका फल है—साधन-परायणता, अखण्ड शान्ति, अगाध आत्मीयता। प्रभुके सिवा जो कोई अन्यपर आस्था, श्रद्धा, विश्वास नहीं करता, वही ईश्वरवादी है। सुने हुएमें यदि आस्था, श्रद्धा और विश्वास नहीं है तो वह व्यक्ति ईश्वरवादी कैसे है? साधन और जीवनमें भिन्नता नहीं होती। समस्त जीवन ही साधन है। वह तब होता है जब सत्सङ्गको अपनाया जाय।

मानव होनेके नाते तुम्हारा क्या मूल्य है ? यही मौलिक प्रश्न है । क्या स्वाधीनतापूर्वक रहना तुम पसंद नहीं करते ? यदि करते हो तो तुम्हें जगत्के लिये, प्रभुके लिये उपयोगी बनना है । जो अपने लिये अनुपयोगी होता है वह कहीं भी उपयोगी नहीं हो सकता । जिसे पराधीनता भाती है वह अपने लिये अनुपयोगी होता है । अतएव वह जगत्पतिके लिये अनुपयोगी हो जाता है । प्रश्न है कि क्या हम स्वाधीन नहीं हो सकते ? स्वाधीनताकी आवश्यकताका अनुभव करते ही आज अभी तुम स्वाधीन हो सकते हो । स्वाधीनताका अर्थ है—अपने अधीन । अपनेका अर्थ 'यह' और 'वह' नहीं हो सकता । 'यह' माने बुद्धिकी सीमाके अंदर, 'वह' माने बुद्धिकी सीमाके बाहर । कोई किसीको नयी बातें कह सकता है यह पागलपन है । ज्ञानवाली बात सीखने-सिखानेकी नहीं होती । ज्ञान सीखने-सिखानेकी चीज नहीं है । वह पोथीसे नहीं मिलता । जो किसी औरके द्वारा प्राप्त हो, वह ज्ञान नहीं । यदि आप स्वाधीन बनना चाहते हैं तो पराधीन किसने बनाया ? स्वाधीनताका अर्थ है जब आपको अपने लिये कुछ नहीं करना पड़े, कुछ नहीं चाहें, कुछ नहीं रक्खें । यदि आपको स्वाधीनता चाहिये तो कुछ मत चाहो, कुछ मत करो, कुछ न रक्खो । स्वाधीन होनेके बाद जगत्के लिये कर्तव्यनिष्ठ और प्रभुके लिये आत्मीयता स्वीकार करो । पराधीन जगत्के काम नहीं आ सकता, परमात्मासे नहीं मिल सकता । कुछ न करे, कुछ न चाहे, कुछ न रक्खे—यही स्वाधीनता है । न करनेमें, सामान न रखनेमें और कुछ भी नहीं चाहनेमें आप पराधीन हो नहीं सकते । पराधीन होकर, धर्मात्मा, ईश्वरनिष्ठ भक्त कोई हो नहीं सकता, न वह जगत्के लिये उपयोगी हो सकता है । स्वाधीन ही भक्त, मुक्त, शान्त और कर्तव्यनिष्ठ होता है । जगत्को, प्रभुको आपकी आवश्यकता है और तभी आप स्वाधीन हैं । स्वाधीनताका उपाय है सत्सङ्ग । सत्सङ्ग सत्-चर्चा नहीं, वह सत्-चिन्तन भी नहीं है, न सत्-कर्म ही है । सत्-चिन्तन बुद्धिके अधीन है, सत्कर्म शरीरके अधीन है । अपनेमें अपना करके कुछ नहीं चाहो । शरीरको गङ्गामें फेंकनेकी क्या आवश्यकता है ? यह शरीर तुम्हारा है क्या ? क्या सृष्टिसे शरीरका विभाजन हो सकता है ? करनेवाली बात हर बहन-भाईकी अलग-अलग होती है । नहीं करनेवाली बात सबकी एक ही होती है । नहीं करनेवाली बात हो चुकनेपर आपकी रचनाके अनुरूप करनेवाली बातें अपने-आप होने लगती हैं । सत्सङ्गसे शक्ति, मुक्ति, ईश्वरपरायणता आयेगी । सत्सङ्ग ही पुरुषार्थ है, जीवन है, साधन है । स्वाधीन व्यक्तिमें ही साधनकी अभिव्यक्ति होगी । साधन है—मिला हुआ जो कुछ है तुम्हारा नहीं है—यह सत्य है । जब मिला हुआ शरीर, वस्तु, योग्यता अपना नहीं तो फिर देखा हुआ संसार तुम्हारा कैसे ? कुछ नहीं करनेसे, कुछ नहीं चाहनेसे और कुछ नहीं रखनेसे मिले हुएका दुरुपयोग नहीं होता और तभी तुम होते हो कर्तव्यनिष्ठ । तब तुम्हारे द्वारा सभीके अधिकार सुरक्षित हो जायँगे और तुम हो जाओगे अधिकार-लिप्सासे रहित । तुम्हारा मूल्य जगत्से अधिक हो जायगा । तब जगत्के लिये तुम उपयोगी हुए । जब समस्त दृश्योंसे तुमने अपनेको विमुख कर लिया तब 'उन' के सम्मुख हुए जिनके तुम दृश्य थे—जिसे मीराँने अपना पति, ईसाने अपना पिता और मुहम्मदने अपना दोस्त कहा था । जब तुम अपना दृश्य छोड़ते हो तो दृश्य तुममें विलीन होकर द्रष्टामें विलीन हो जाता है । जिसकी सत्ता है उसमें आस्था रक्खो । आस्था सबसे अच्छेमें की जाती है । उसीमें विश्वास होता है । आस्था, श्रद्धा और विश्वास—एकहीके तीन रूप हैं । तुम आस्था उसमें करो जिसके तुम दृश्य हो

और ममता-कामना उनकी छोड़ो जो तुम्हारे दृश्य हैं। यही सत्सङ्ग है जिसका फल—बोध, प्रेम, योग है। यह मिलता है मानवको। यही मानवकी महिमा है। जो अपनी कीमत औरके आधारपर आँकता है वह मानव नहीं। मानव वह है जिसकी माँग जगत्‌को है, जिसकी माँग प्रभुको है। ऐसे मानवका निर्माण प्रभुने किया। यह प्रभुकी दया है।

सही काम करनेवालोंके लिये जगत्‌में सर्वत्र माँग है। सही काम करे और कुछ नहीं चाहे तो उसका मूल्य कैसे आँका जाय ? और फिर वह करे प्रेम तो उसकी कीमत ईश्वर भी नहीं चुका सकते। इतने मूल्यवान् मानवको बनाया प्रभुने। अचाह होकर, निरहंकार होकर और निर्मल होकर तुम सच्चे मानव बनोगे। अचाहसे असङ्गता आती है और सच्चे कर्तव्यकी अभिव्यक्ति होती है। यह है मानवकी महिमा। यह है तुम्हारे रचयिताकी महिमा, प्रभुकी महिमा। यह प्रभुको भी मोहित करती है—जगत्‌को तो मोहित करती ही है।

मधुर

प्रियतम श्रीकृष्णके अमिलनके विषम विरहानलसे संतप्त श्रीराधिकाजी कुंजके अंदर बैठी हैं। वे अत्यन्त विरह-व्याकुल हैं, हृदय व्यथासे भरा है और उनके जीवनमें सर्वत्र सब ओर विषाद छाया है। पर इस घोर दुःखमें भी एक परम सुख उन्हें प्राप्त है—वह है—'नित्य-निरन्तर बनी रहनेवाली प्रियतमकी मधुरतम स्मृति।'

विरहाकुल अति व्यथित हृदय है,
छाया है सब ओर विषाद।
एक परम सुख है,—'प्रियकी
है बनी निरन्तर प्यारी याद॥'

इसी समय एक सखीने आकर यह मङ्गल सुखद समाचार सुनाया कि 'श्यामसुन्दर आ गये।' इतना सुनते ही राधाजीकी सारी हृदय-व्यथा मिट गयी और विषाद परम आह्लादके रूपमें परिणत हो गया। वे उठीं और दर्शनके लिये आर्त्त–विह्वल होकर प्रियतमकी ओर भाग चलीं। मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, क्यों भाग रही हूँ—प्रियतमके प्रेममें निमग्न होकर वे यह सब भूल गयीं।

'श्याम आ गये' इसी समय,
यह सखिने दिया सुखद संवाद।
सुनते ही, उर-व्यथा मिट गयी,
बना विषाद परम आह्लाद॥
उठी, दर्शनातुर विह्वल हो,
भाग चली प्रियतमकी ओर।
कौन, कहाँ, क्यों भाग रही मैं,
भूली होकर प्रेमविभोर॥

वह नशेमें चूर-सी डगमगाती हुई दौड़ी और तुरंत कुंजके द्वारपर जा पहुँची। वहाँ जाकर देखा प्राणधन श्रीनन्दकुमार श्यामसुन्दर खड़े मधुर-मधुर मुसकरा रहे हैं। दोनोंने परस्पर एक-दूसरेके उस सुख-सार अनुपम मुखचन्द्रको देखा, जो असंख्य चन्द्रमाओंको लजानेवाला था और दोनों ही प्रेम-सुख-रसके समुद्रमें निमग्न हो गये तथा दोनोंके ही नेत्रोंसे प्रेम-रसकी धारा बह चली।

मदमाती डगमगती दौड़ी,
पहुँची तुरत कुंजके द्वार।
देखा, खड़े मधुर मुसुकाते,
वहाँ प्रेमधन नन्दकुमार॥
देख परस्पर मुख-शशि अनुपम
अगणित विधु-निन्दक सुखसार।
हुए निमग्न प्रेम-सुख-रसनिधि
दृगसे बही प्रेम-रस-धार॥

इसी बीच तुरंत ही श्रीराधाजीमें सहज स्वाभाविक

(दैन्यरूप) अपनी अयोग्यता और प्रेमहीनताकी अनुभूति जाग उठी और उधर उन्हें दिखायी दिया कि अतुलनीय रूप-गुणोंके समुद्र श्रीश्यामसुन्दर पवित्र प्रेमसे अभिभूत हो रहे हैं। यह देखते ही राधाजीके मनमें बड़ा संकोच हुआ और प्रियतमके प्रति उनकी प्रियता विशेषरूपसे बढ़ गयी। उन्होंने सोचा—कहाँ तो ये अतुलनीय समस्त गुणोंके आश्रयरूप श्यामसुन्दर और कहाँ मैं सद्गुणके लेशसे भी सर्वथा रहित। मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर कितने अपरिमित प्रेममय हैं, ये कितने सहज ही असीम उदार हैं जो मुझ मलिनासे मिलनेके लिये तुच्छता स्वीकार करके स्वयं पधारे हैं।

जगी तुरत अपनी अयोग्यता,
प्रेमहीनताकी अनुभूति।
दीखी उधर, रूप-गुण-निधिकी
अतुल पवित्र प्रेम-अभिभूति ॥
उपजा मन संकोच, बढ़ी फिर,
प्रियता प्रियतमपर सविशेष।
कहाँ अतुल ये सर्वगुणाश्रय,
कहाँ हीन मैं सद्गुण-लेश ॥
कितने अमित प्रेममय प्रियतम,
कितने सहज असीम उदार।
जो मिलने मुझ-सी मलिनासे
आये स्वयं तुच्छता धार ॥

इतनेमें ही प्रियतम श्यामसुन्दरने (श्रीराधाकी विचित्र हर्षविषादमयी मुखाकृति देखकर) अपने स्नेह-भरे करकमलोंसे अपनी ओर खींच लिया और अत्यन्त निषेध (बार-बार ना ना) करते रहनेपर भी उन्हें अपने हृदयमें दबा लिया। प्रेममें मिलनेपर पवित्र निषेध होता है और अमिलनमें मिलनेकी तीव्र चाह हुआ करती है। इस पवित्र करनेवाले परम प्रेम-रस-समुद्रकी थाह किसीको भी नहीं मिलती।

इतनेमें प्रियतमने उसको
स्नेह भरे हाथोंसे खींच।
अति निषेध करते ही करते
लिया उसे निज उरमें भींच ॥
मिलनेपर निषेध शुचि होता,
अमिलनमें मिलनेकी चाह।
पावन परम प्रेम-रस-निधिकी
मिलती नहीं किसीको थाह ॥

तदनन्तर अत्यन्त मुदित हुए दोनों बैठ गये और परस्पर प्रेमालाप करने लगे। एक दूसरेका गुण देखना और गुण वर्णन करना—बस, कहीं इसका माप-तौल नहीं। दोनोंको ही अपनेमें असंख्य दोष दीखते हैं और दूसरेमें सद्गुणोंका अपार समुद्र लहराता दिखायी देता है, इससे कहीं भी कभी भी गर्व या अहंकार उत्पन्न ही नहीं हो पाता। इस प्रेमसिन्धुमें नित्य-निरन्तर प्रेम भरता ही रहता है, पर यह अभी पूरा भर ही नहीं पाता। दोनोंमें एक-दूसरेकी प्रेमवृद्धिकी ऐसी होड़ लगी रहती है कि उन्हें अपनेमें सदा प्रेमकी अपूर्णता ही दिखायी देती है।

अपने दोष दीखते अगणित,
उसका सद्गुण-सिन्धु अपार।
उदय नहीं हो पाता इससे,
कहीं कभी गर्वाहंकार ॥
भरता रहता प्रेम-सिन्धु नित,
पर न कभी भर पाता पूर्ण।
प्रेमवृद्धिकी सहज होड़
दिखलाती अपना प्रेम अपूर्ण ॥

धन्य इस मधुरातिमधुर पवित्र प्रेमको !

* * *

'नैराश्यं परमं सुखम्'

[आशा-त्यागकी आवश्यकता]

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

भगवान् रामका अपनी गीतामें श्रीलक्ष्मणजीसे कथन है कि तैत्तिरीयश्रुति (तैत्तिरीय आरण्यक १० । १०, अवधूतोपनिषद् १ । ५, कैवल्योपनिषद् ३, महानारायणोपनिषद् ८ । १४ इत्यादिमें प्रोक्त) '**न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।**' के अनुसार धनसे नहीं, कर्मसे नहीं, त्यागसे ही ज्ञानियोंने अमृतत्व प्राप्त किया था—

'सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम् ।'
(अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड रामगीता ५ । २१)

भगवान् शंकराचार्य भी बार-बार कहते हैं—

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम् ॥
(केनोप० ४ । ४ । ७ शां० भा० आदि)

शान्तिपर्व ३३९ । ५ में व्यासजी भी कहते हैं—

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात्सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥

गीता भी त्यागके बाद तुरंत शान्ति बतलाती है—

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् । (१२ । १२)

नारदपरिव्राजकोपनिषद् भी यही कहती है—

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च ।
आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥
(४ । १)

त्यागमें भी आशा-त्यागमें कुछ अधिक कठिनाई दीखती है । पर जबतक नामभरकी भी आशा है, तबतक वास्तविक सुखकी कल्पना नहीं की जा सकती—

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय-आस मन माहीं ।
तुलसिदास जग-जोनि भ्रमत तबलगि सपनेहुँ सुख नाहीं ॥
(विनयपत्रिका १२३ । ५)

तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम ।
सेवे सोक समरपई बिमुख भए अभिराम ॥
(दोहावली १०७)

अब नाथहिं अनुराग, जाग जड़, त्याग दुरासा जीते ।

आशां छिन्धि विषोपमेषु विषयेष्वेषैव मृत्योः सृतिः ।
(विवेकचू० ३७८)

कामनाका तीव्र रूप तृष्णा, उसीकी विवशताका दुर्बल रूप आशा है । अतः इन तीनोंको ही समूल त्याग करनेमें ही कल्याण है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठोप० ६ । १४, बृहदार० ४ । ४ । ७, शाट्याय० २५)

अन्यथा आशा-तृष्णा-कामनाओंका जो दास बनता है—वह किसका दास नहीं है—

जे लोलुप भए दास आसके ते सबहीके चेरे ।
प्रभु-बिस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ॥
(विनयपत्रिका)

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥
(कवितामृतकूपः २७)

आशानाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्यश्रृङ्खला ।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत् ।
(स्कन्द० वेंकटाचलमा० २० । १८)

आकाशका अन्त लग सकता है, पर इस दुराशाका अन्त नहीं है—

गिरिर्महान् गिरेरब्धिर्महानब्धेर्नभो महत् ।
नभसोऽपि महद्ब्रह्म ततोऽप्याशा गरीयसी ॥

जनकराजकी विदेहनगरीमें निवास करनेवाली पिङ्गला नामकी वेश्याने जब इस दुराशाको छोड़ा तब वह सुखसे सो पायी—

आशा बलवती कष्टं नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥

(महा० शा० पर्व० १७४ । ६५, भागवत ११ । ८ । ४४, सांख्यदर्शन ५)

आशागृहीता विकला भवन्ति
हतत्रपा व्यस्तगुणाभिमानाः ।
भ्राम्यन्ति मत्ता इव नष्टसंज्ञा
देहीति वाचस्तरलस्वभावाः ॥

योगवाशिष्ठमें इसकी बड़ी भर्त्सना है—

अज्ञस्याशाः प्रसूयन्ते सुकृष्टादिव शालयः ।
नरकश्रीरिहाज्ञानं दुष्कृतव्यालवेष्टितम् ॥
नेत्रलोलालिनी लोला स्फुरिताधरपल्लवा ।
मूर्खार्थमेव विकसत्यङ्गना विषवल्लरी ॥

(६ । ६ । ३८)

यावद् विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः ।
अविवेकेन सम्पन्ना साप्याशा हि न वस्तुनः ॥
विवेकवशतो याता क्षयमाशा यदा तदा ।
आत्मा जीवत्वमुत्सृज्य ब्रह्मतामेत्यनामयः ॥

(६ । १२१ । १—२)

भगवान् रामके शब्दोंमें यह आशा विषवल्लरी महान् घोर कष्टकारक है—(योग० १ । २९ । १७) । भगवान् शंकराचार्य इस आशाको साक्षात् मृत्युकी सृति (रास्ता) कहते हैं (विवेकचू० ३७८) । पद्मपुराण उत्तरखण्ड (पूना) २३८ । ३०–३४ में निर्विण्ण प्रश्न ब्राह्मण कहता है—

कष्टाशा वर्तते यस्य विद्वानप्यपण्डितः ।
… … … …
बलं तेजो यशश्चैव विद्यां मानमपि श्रुतम् ॥
तथैव सत्कुले जन्म आशा हन्त्यतियोगतः ।
आशाभिभूता ये मर्त्या महामोहासवोद्धताः ॥
अवमानादिकं दुःखं न जानन्त्यल्पमप्यहो ।

इसी प्रकार स्कन्दपुराण वैष्णवखण्डके भूमिवाराहखण्ड (वेङ्कटाचलमाहात्म्य) के अन्तर्गत पापविनाशनतीर्थ-महिमामें भद्रमति ब्राह्मणकी कथा है । वह भी आशासे त्रस्त होकर कहता है—

अहो दरिद्रता दुःखं तत्राप्याशातिदुःखदा ।
आशाभिभूताः पुरुषा दुःखमश्नुवते क्षणात् ॥
आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।

(२० । १६–१८)

योगवाशिष्ठ स्थितिप्रकरणके २४वें अध्यायमें आशाद्वारा होनेवाली हानियोंका बड़ा भयानक रूपक खींचा है । शान्तिपर्वके १२५ वें अध्यायमें युधिष्ठिरने भीष्मसे पूछा कि आशा कैसे उत्पन्न हुई ? इसपर भीष्मने सुमित्र राजाकी कथा कही । हैहयवंशी सुमित्र राजा शिकार खेलने गया था । उसका बाण एक आविद्ध मृग ले भागा । राजाने उसका पीछा किया, पर वह हाथ न आया । राजाको थका-माँदा देख ऋषियोंको दया आयी और उसके वन आनेका कारण पूछा । उसने मृगद्वारा अपनी आशाके भंग होनेका दुःख कहा और आशाका रहस्य पूछा । इसपर ऋषभ नामके एक मुनि कहने लगे कि बदरीवनमें नर-नारायणाश्रमके पास ही एक वैहायस सरोवर है । उस सरोवरमें एक बार मैं विधिवत् देव-ऋषि-पितृ-तर्पण कर आश्रममें गया । वहाँ मैंने अत्यन्त कृश एकतनु नामके ऋषिको देखा । उनकी मुटाई कानी अंगुलीसे अधिक न थी । लंबाई तो मनुष्यके बराबर ही थी । पर हाथ-पैर-गर्दन तो बहुत पतले थे । मैं उन्हें देखकर डर गया और उन्हें नमस्कार कर वहीं बैठ गया । वे कृशमुनि फिर कुछ ऋषियोंके बीचमें कथा कहने लग गये । इसी बीच वीरधूम्र नामका राजा अपने भूले हुए पुत्रको ढूँढता हुआ वहाँ पहुँचा । उसने भी अपनी व्याकुलता तथा आशाके दौर्बल्यके सम्बन्धमें मुनिसे प्रश्न

पूछे। कृशतनु मुनिने कहा कि 'आशासे दुबली तो कुछ भी नहीं है ।' राजाने पूछा—'मुने ! क्या आशा आपसे भी दुबली है ?' इसपर मुनिने कहा कि एक पुत्रवाले पिताको पुत्रके भूल जानेपर (जिसका कुछ भी पता नहीं है) जो आशा लगी रहती है, वह मुझसे दुबली है । प्रसवके समय स्त्रीकी, बूढ़े होनेपर पुत्रोत्पत्तिकी तथा दरिद्रोंको धनी होने आदिकी आशा मुझसे दुबली है । फिर मुनिने अपने तपोबलसे उसके पुत्रको भी ला दिया तथा अपने दिव्य एवं सुन्दर रूपका भी दर्शन कराया तथा वनमें अन्तर्हित हो गये । (शा० १२८)

'मङ्कि' मुनि आशासे तंग आ गये थे । उनकी कथा शान्तिपर्व १७७ वाँ अ०, योगवाशि० निर्वाण उ० २३–२६ तथा पद्मपुराण उत्तरखण्ड १३६ (पूना) १४३ (वेंकटे०), (मोर) आदिमें आती है । उनकी धन कमानेकी आशा बार-बार भंग होती थी । तब भी एक बार खेतीके लिये दो बैल खरीदकर वे जुआठे चले जा रहे थे । मार्गमें एक ऊँट बैठा था । दोनों बैल उसके दो बगलसे जाने लगे, तबतक वह भड़क उठा और बैलोंको गर्दनपर लेकर भागने लगा । दोनों बैल इस प्रकार मर गये । इससे मङ्किकी आँखें खुल गयीं । उन्होंने कहा कि चाहे कोई कितना भी दक्ष (चतुर) क्यों न हो, अविहित (भाग्या-निर्दिष्ट) धन नहीं प्राप्त कर सकता—भोगोंको स्थिर तो कोई कर ही नहीं सकता[1]' । अतः निराश तथा निर्विण्ण होना ही बुद्धिमानी है—

सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने । (१४)

इस दुर्दैवने मेरी बार-बार अप्रतिष्ठा की, पर मैंने आशा न छोड़ी । अरे ! यह मेरा कैसा अज्ञान है, जो अबतक मैं इस दुराशाका क्रीडामृग बना रहा । अरे काम ! तेरा हृदय तो वज्रसारसे भी अधिक दृढ़ है जो सैकड़ों अनर्थोंसे परिपूर्ण होकर भी शतधा विदीर्ण नहीं होता—

नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम् ।
यदनर्थशताविष्टं शतधा न विदीर्यते ॥ (२३)

'तू तो पातालके समान दुष्पूर है । तेरा लक्ष्य ही एकमात्र मुझे दुःखमें डालना है; पर मैं अब तेरेद्वारा आविष्ट नहीं होनेको हूँ । मैं परा निर्वृतिको प्राप्तकर अब कामनाकी बात नहीं सोचता । न मैं तुम्हें सोचूँगा और न तुम समूल (अङ्कुरित) ही होओगे । अरे दुष्ट शत्रो ! मैं तुम्हें अब सकाम—सफलमनोरथ कभी न होने दूँगा । अब मैं लोभ, आशा आदिको छोड़कर ब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो रहा हूँ ।' ऐसा कहकर मङ्कि मुनि परम शान्त, सुखी तथा पूर्णानन्दमें प्रतिष्ठित हो गये ।

---

[1] अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ।' (भारतसावि० महाभा०)

[2] कुछ विद्वानोंकी मान्यता है कि बौद्ध तथा जैनधर्मके प्रसिद्ध 'मंखलि गोसाल' ये ही 'मङ्कि' मुनि थे । जैन आगम (उवासगदसाओ) में इनका नाम 'गोसाल मंखलिपुत्त' आता है । संस्कृतमें यह 'मस्करि गोशालि पुत्र' हो जाता है । दिव्यावदान पृष्ठ १४३ में इसका इसी प्रकार उल्लेख है । भगवती सूत्र १५ । १ उनके नामका कारण मंख मुनिका पुत्र होना बतलाया है । पहले भारतमें 'आजीवक' नामकी भी कोई दर्शनकी विचारधारा थी । इसके संस्थापक या प्रवर्तक ये मङ्कि मुनि ही कहे जाते हैं । कहते हैं 'पाणिनि'के (६ । १ । १५४) में आये हुए 'मस्करि' शब्दसे भी ये मङ्कि मुनि ही अभिप्रेत हैं । पाणिनिने (४ । ३ । ३५) में गोशाल शब्दकी भी व्युत्पत्ति लिखी है । किंतु ६ । १ । १५४ के महाभाष्यमें 'मस्करि' शब्दकी व्याख्यामें तथा पाणिनिकी अन्य व्याख्याओंमें इसकी विशेष प्रशंसा नहीं है । (मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीन्याहातो मस्करि परिव्राजकः । महाभा० ६ । १ । १५४) किंतु पद्म, योगवाशिष्ठ, महाभारतादिमें इसकी बहुत प्रशंसा है, इसलिये इन सभीकी एकतापर संदेह होना स्वाभाविक है । योगवाशिष्ठ पुरुषार्थप्रधान है, उसमें आजीवक या दैव सम्प्रदायकी प्रशंसाकी आशा नहीं की जा सकती ।

श्रीकृष्णकी जन्मकालीन महानता

(लेखक—श्रीब्रिजलालजी बियाणी)

महानताका लक्षण है संकटोंसे संघर्ष करनेकी शक्ति या अन्यायोंके निवारणार्थ सतत प्रयत्न । संघर्ष या अन्यायनिवारणके प्रयत्नोंमें सफलता-प्राप्ति सफल महानता है । विश्वके इतिहासमें सफल-असफल दोनों प्रकारकी महानताओंके उदाहरण मिलते हैं । संघर्षकी जितनी विपुलता और व्यापकता या कठोरता, उतनी ही महानताकी तेजस्विता ।

हर महापुरुषके जीवनमें संघर्ष रहता है पर श्रीकृष्णके जीवनमें संघर्ष और संकटोंका आक्रमण जिस प्रमाणमें रहा है, उस प्रकार विश्वके किसी व्यक्तिके जीवनमें नहीं दिखायी देता ।

महापुरुषोंका जन्म सर्वसाधारण स्थितिमें होता है । जन्मके साथ उनकी महानताके दर्शन नहीं होते हैं; पर ज्यों-ज्यों जीवन विकसित होता है, संकटोंका और संघर्षोंका निर्माण होता है और महापुरुषोंकी प्रतीकार-शक्ति उनके जीवनको महान् बना देती है ।

श्रीकृष्णके जीवनमें संकटोंका आक्रमण उनके जन्मकालसे ही नहीं, पर उनके गर्भमें प्रवेश होनेके पूर्वसे ही प्रारम्भ हो गया । माता देवकीके गर्भसे कंसका विनाशकर्ता जन्म लेगा, इस ज्ञानसे संकटोंका आरम्भ हुआ । वसुदेव-देवकीको कारावासमें बंद किया गया । श्रीकृष्णका जन्म कारागृहमें हुआ । श्रीकृष्णके जन्मके साथ कुछ प्राकृतिक घटनाओंका सम्बन्ध है । उनका जन्म भाद्रपद कृष्णा अष्टमीको रात्रिमें १२ बजे हुआ । वर्षाऋतु, अन्धकारमय रात्रिका समय, बादलोंके कारण ताराओंके प्रकाशका अभाव, इस निविड़ अन्धकारके समय श्रीकृष्णने जन्म लिया । इसका अर्थ यही है, उस समय समाजमें चारों ओर अन्यायरूपी अन्धकार छाया हुआ था । इस अन्धकारमय स्थितिमें श्रीकृष्णने जन्म लिया । दूसरी प्राकृतिक घटना है कि अष्टमीके दिन रात्रिके १२ बजनेके पश्चात् अल्प समयके अनन्तर ही चन्द्रका उदय होता है । अर्थ यह है कि आकाशमें अल्प प्रकाश दिखायी दिया । मानो कृष्णजन्मके साथ समाजमें आशाकी मन्द किरण प्रकट हुई । जेलमें जीवन सुरक्षित नहीं, अतः जन्मदात्री माताकी गोदीसे तत्क्षण ही श्रीकृष्णको अलग होना पड़ा ।

उस जन्मावस्थामें ही उनके प्रभावके व्यापक परिणामस्वरूप कारागारके दरवाजे खुले और पिता वसुदेव नवजात शिशुको लेकर गोकुलकी ओर रवाना हुए । मार्गमें यमुना पार करना, यमुना जलसे भरी बह रही है, नदी पार करते समय यमुनाका प्रवाह बढ़ता गया मानो संकट बढ़ता गया हो । पर श्रीकृष्णके चरणका स्पर्श होते ही जल-संकट विलीन हो गया । यमुनाने रास्ता दिया और वसुदेवका मार्ग सुरक्षित हो गया । गोकुलमें नन्द-यशोदाके यहाँ बालिकाका जन्म । श्रीकृष्णको वहाँ लिटाना, बालिकाको वहाँसे उठाना । श्रीकृष्णको जन्मदाता माता-पिताको त्यागना पड़ा, माता-पिताका स्थान दूसरोंको देना पड़ा । जीवनके आरम्भ-कालसे ही कितना संकट । जीवनमें कितना परिवर्तन, पर जन्मके साथ ही महान् शक्तिका विकास, जिसके कारण सारे संकट निवारण और श्रीकृष्ण सुरक्षित । जन्मके साथ कितने संकट, कितनी शक्ति और कितनी महानता । इस प्रकारके जीवनका आरम्भ विश्वके इतिहासमें यही एक है ।

समस्त भारतमें जन्माष्टमी मनायी गयी । आज भारत संकटकी अवस्थामें है । चीनी आक्रमणके बादल भारतीय जीवनपर मँडरा रहे हैं । इस स्थितिमें श्रीकृष्ण-

की महन् शक्ति जो ज्ञान, क्रियाशक्ति और शत्रुओंके नाशमें सफल हुई है और जिसने गीता प्रदान कर महाभारतके युद्धमें पाण्डवोंको विजयी बनाया है, उस श्रीकृष्णकी शक्ति आजके भारतको नवजीवन दे और चीनी आक्रमणकी सम्भावनासे घिरे बादलोंसे रक्षा क अन्यायका नाश करनेमें भारतको शक्ति दे।

श्रीकृष्णके जीवनमें शक्तिका संदेश है। भारतको आज उसी संदेशकी आवश्यकता है।

* * *

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

[गताङ्क—पृष्ठ ११६४ से आगे]

बुटवलमें

बुटवलकी शोभा, उसका महत्त्व, उसके दृश्य ठीक ऋषिकेशके समान हैं। मसूरी तथा गंगोत्री, यमुनोत्री आदिके पहाड़ोंको जो महत्त्व देहरादूनका है तथा बद्री, केदार, टिहरी आदिके लिये जो महत्त्व ऋषीकेशका है, वही ऊपरके पहाड़ों मुक्तिनाथतकके लिये बुटवलका है। उसे मुक्तिनाथका द्वार समझना चाहिये। दोनों पहाड़ोंकी श्रेणियाँ यहाँ आकर समाप्त होती हैं। दोनों ओर सुन्दर हरे-भरे शोभायुक्त पहाड़ोंकी श्रेणियाँ हैं। उनपर सीधे लंबे हरे-हरे वृक्ष खड़े हैं; सामने विस्तृत मैदान है। भैरवासे यहाँतक सड़क है। सड़क तो नाममात्रकी है, उसे दगड़ा ही कहना चाहिये। आते समय मोटरमें कितने हच्चे लगे, कितना कष्ट हुआ यह कहनेकी बात नहीं। भारत-सरकारकी सहायतासे नौतनवासे बुटवलतक एक सीधी सड़क बन रही है, अभी वह चालू नहीं हुई। उस सड़कके बन जानेसे रास्ता भी कम हो जायगा और यात्रियोंको भी सुविधा होगी। बुटवलकी भी अत्यधिक उन्नति होगी। मोटर आने-जानेसे अब बुटवल बहुत सुन्दर व्यापारिक मंडी बन गयी है। लाखोंका व्यापार होता है। कई गुना बड़ा नगर बन गया है। थोड़े ही दिनोंमें यह नैपाल राज्यकी तराईकी बहुत भारी मंडी बन जायगी।

बुटवल तिलोत्तमा नदीके दोनों ओर बसा है। उस पार पुरानी मंडी है पहाड़से लगी हुई। उसमें नैपाली धनिक व्यापारिक सेठ रहते हैं। इस पार साधारण बाजार था। सड़क आ जानेसे अब इसीपर बस्ती बढ़ रही है। सरकारी भवन इसी पार बन रहे हैं। नहर-विभाग, सार्वजनिक निर्माणविभाग, न्यायालय सब इसी पार बने हैं। बाजार भी बढ़ रहा है। मोटरें इसी पार खड़ी होती हैं। उस पार जानेको एक पुल है तो सही लोहेका, किंतु वह दूर है। तिलोत्तमा नदी छोटी-सी नदी है, तानसेनकी ओरसे आनेवाले तीन-चार नालोंके मिलनेसे यह बनी है। लोग वैसे ही पार हो जाते हैं। इसकी छोटी-छोटी दो-तीन धाराएँ हो गयी हैं। बरसातमें जल बढ़नेपर ये सब एक हो जाती हैं। उस समय यात्री पार नहीं कर सकते होंगे। पुलसे ही आते-जाते होंगे।

अभी हालमें ही इसी पार नदी-किनारे श्रीराधाकृष्णका मन्दिर तथा धर्मशाला चंदेसे बनी है हमारे प्रद्युम्नजीके उद्योगसे। प्रद्युम्नजी हरेराम-संकीर्तनमण्डलीकी ओरसे प्रचार करते हैं। संकीर्तनभवन झूँसी तथा संकीर्तनभवन वंशीवट वृन्दावनमें भी बहुत दिन रहे हैं। कविप्रसादजीके भेजे हुए चन्द्रमणि तथा दो आदमी और हमें गोरखपुरमें ही मिल गये थे। तीनों बुटवलतक आये। १०, १२ अखण्डकीर्तन करते हुए 'पोखरा' आये हुए थे। वे पोखरामें आठ दिनसे बैठे हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें आकाशवाणीसे सूचना दी। वे पोखरासे सीधे तातापानी आकर हमें मिले। चन्द्रमणिको तो साथ रख लिया। शेष दोको नैपालको विदा कर दिया।

हमारी यात्रा बुटवलसे ही आरम्भ होनेवाली थी। यहींसे कुली तै करने हैं, यहींसे सब पैदल चलते हैं। कुलियोंकी मजदूरी बहुत तेज है। सामान घटाना है। बहुत ही आवश्यक सामान ले जाना है, शेषको बुटवल ही छोड़ना है। बुटवल तो अपना आश्रमकी ही भाँति था। हमारे आनेकी पहले ही सूचना थी। कीर्तनका प्रबन्ध था, खूब धूमधाम मन्दिरमें मच गयी। बुटवल लुम्बिनी अञ्चल (कमिश्नरी) में है। अब पहले नैपाल पूर्व-पश्चिम आदि नम्बरोंमें विभक्त था। अब उसे एक अञ्चलों (कमिश्नरियों) में विभक्त कर दिया है। एक-एक अञ्चलमें तीन-तीन चार-चार जिले हैं। एक-एक जिलेमें

जिलाधीश (बड़ा हाकिम) रहता है। उनके ऊपर एक अञ्चलाधीश (कमिश्नर) है।

लुम्बिनी-अञ्चलके अञ्चलाधीश बुटवल आये हुए थे। वे तराई दरभंगाके आस-पासके एक उपाध्याय थे। उन्होंने जब हमारे आनेकी बात सुनी तो अपने समस्त पंचायत, जिला, नगरपालिकाके अधिकारी तथा सदस्योंको साथ लेकर मिलने आये। उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे काशीके पढ़े हुए पण्डित थे। व्याकरणाचार्य तथा साहित्याचार्य थे। कलकत्तेकी न्यायवैशेषिक आदि कई विषयोंके 'तीर्थ' थे। ऐसे पण्डितको अञ्चलाधीशके रूपमें देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। नेपालराज्यका समस्त कार्य देवनागरी लिपिमें लिखित नेपाली भाषामें होता है। उसमें क्रिया-विभक्ति ही कुछ पृथक् है; नहीं तो एक प्रकारकी हिंदी ही है। उसमें सत्तर-अस्सी प्रतिशत शब्द संस्कृतके हैं। अबतक वहाँ जिलाधीश-राज्यपाल सभी संस्कृत तथा नैपाली ही जाननेवाले होते हैं। अंग्रेजीका प्रचलन तो अभी चार-पाँच वर्षसे हुआ है। राज्यके समस्त कार्यालयोंमें बैंक, न्यायालय, डाकघर आदिमें समस्त कार्य नेपालीमें ही होते हैं। यद्यपि नैपाल-राज्यमें चालीस क्षेत्रीय भाषाएँ हैं और वे ऐसी भाषाएँ हैं जिनकी अपनी लिपि भी है और एक दूसरेकी भाषा नहीं समझते; किंतु नैपाली सभी जानते हैं, सभी बोलते हैं। राजकाज सभी नैपालीमें ही होते हैं। केवलमात्र संस्कृतके ही विद्वान्को अञ्चलाधीशके पदपर प्रतिष्ठित देखकर हमें आन्तरिक हर्ष हुआ। हमारे यहाँ कहनेको तो शास्त्रीको बी० ए० के, आचार्यको एम्० ए० के समकक्ष माना है। संस्कृतके तीन स्वतन्त्र विश्वविद्यालय भी हैं। वाराणसेय-विश्वविद्यालय, दरभंगा-विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय। किंतु इनके निकले एक भी छात्रको कोई उच्च राजकीय सेवाका पद प्राप्त नहीं हुआ। एक भी किसी देशमें राजदूत बनाकर नहीं भेजा गया। उच्च राजकीय सेवाकी बात छोड़ दें। ये संस्कृत-विश्वविद्यालयके स्नातक हैं, इस नाते आजतक किसीको माध्यमिक या आरम्भिक विद्यालयोंके अध्यापकके पदपर भी नियुक्त नहीं किया गया। संस्कृत पाठशालाओंके पहिले जो निरीक्षक होते थे, संस्कृतके पण्डित ही होते थे, जो अंग्रेजीका एक अक्षर नहीं जानते थे। अब उनके लिये भी एम्० ए० उत्तीर्णता अनिवार्य कर दी है। वे प्रथमाका एक रूप भी सिद्ध नहीं कर सकते। पाठशालाओंमें अंग्रेजी पढ़ानेको ही व्यग्र रहते हैं। ऐसे अंग्रेजीप्रेमी शासनमें हिंदी या संस्कृतकी उन्नति असम्भव है। हमारे शासक जबतक अंग्रेजीका मोह नहीं छोड़ेंगे, भारतमें भारतीयता आ ही नहीं सकती।

अञ्चलाधीशजीने हमारी सुविधाओंके सम्बन्धमें पूछा। वे अपने पुराने परिचित निकले। झूँसी संकीर्तनभवनमें भी वे पहिले आ चुके थे। लोगोंको उन्होंने हमारे कुली आदि ठीक करनेके आदेश दिये। कुली यहाँ बड़ी कठिनाईसे मिलते हैं। बद्री, केदार, गंगोत्री तथा यमुनोत्रीकी भाँति यहाँ कोई यात्रा चालू तो है नहीं। विरक्त साधु ही प्रायः जाते हैं, जिनपर एक तूमाके अतिरिक्त कुछ नहीं होता। सामान लेकर यात्रा करनेवाले सालमें कोई १०-५ विरले ही होते हैं। हम सबने अपना सभी सामान बुटवलमें ही छोड़ दिया। बहुत ही आवश्यक सामान लिया। सबसे कह दिया जो अपना जितना सामान स्वयं ले जा सके, उतना ही ले। फिर भी छः कुली तो करने ही पड़े। यहाँ कोई कुलियोंकी आढ़त (एजेंसी) नहीं। कोई पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन) नहीं। कई घटनाएँ ऐसी हुई हैं। कुली सामान लेकर भाग गये हैं, यात्री छटपटाते रह गये हैं। कुलियोंके करनेमें दो दिनसे बड़ा ही झंझट मच रहा था। किसी प्रकार दूसरे दिन दोपहरमें तै हुआ। नैपाली १९) रुपये रोजपर छः कुली तैयार किये।

यात्रा आरम्भ

कुली तै हो जानेपर हमलोगोंने अपने-अपने डंडे और जूते-छाते सम्हाले। पहाड़ी यात्रामें ये तीनों वस्तुएँ अत्यन्त आवश्यक हैं। कुलियोंके पीछे-पीछे आनेको ३-४ आदमी नियुक्त किये और हमने 'हरये नमः' कहकर यात्रा आरम्भ कर दी। एक बात पाठकोंको स्मरण रखनी चाहिये कि पहाड़ोंमें मार्ग नदी-नाले ही बनाते हैं। पहाड़ी जितने भी मार्ग होंगे, सब नदियोंके किनारे-किनारे ही होंगे। जहाँ नदी मुड़ जाय, दो पहाड़ोंके बीचमें मार्ग न हो, वहाँ एक पहाड़की चोटीपर चढ़कर उसे लाँघकर फिर उसी नदीके किनारे आना पड़ता है। यदि नदीके किनारे ही रास्ता मिलता जाय तो कोई असुविधा न हो। बीचमें ये पर्वत चढ़ना और फिर उतना ही उतरकर नीचे आना यही यात्रीको मार लेता है। पहाड़ोंमें यही बारंबार भूतकी भाँति करना पड़ता है कि पहाड़की चोटीपर चढ़ो फिर नीचे उतरो, फिर चढ़ो। इसीलिये कहा है '**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण**' चढ़ो-उतरो, चढ़ो-उतरो, यही पहाड़ी यात्राका स्वरूप है। नीचे-ऊपर, नीचे-ऊपर यही संसार-चक्र है।

बुटवलसे दोभान

ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थीको मध्याह्नोत्तर हमने बुटवलसे यात्रा आरम्भ की। भारत और अमेरिकाकी सहायतासे बुटवलसे तानसेनतक मोटरकी सड़क बन रही है। उसे तानसेनसे पोखरातक ले जानेका आयोजन है। बीचमें जहाँ बड़े-बड़े पहाड़ हैं उनका काटना शेष है, नदी-नालोंपर पुल बनने हैं। वैसे एक बार तानसेनतक सड़क बन गयी है। पर्वत कट जायँ, पुल बन जायँ, फिरसे सड़कका मलवा हटा दिया जाय तो सड़क तैयार हो जाय; किंतु पहाड़ी सड़क एक बरसात भी रह गयी तो उसका बनना न बनना बराबर है। फिर एक-सी हो जाती है। पहाड़ोंसे पानीके साथ मलवा बहकर उसे पाट देता है। न जाने क्यों आजकल सड़कका काम स्थगित है। यदि इस वर्षातक ऐसे ही रह गयी तो करोड़ों रुपयोंकी लागत बरबाद हो जायगी। पहाड़ोंको तोड़नेवाली गाड़ियाँ खड़ी थीं। एक पूरी जल गयी थी। बुटवलसे आगे चलते ही एक पहाड़ है, उसके टूटनेमें बड़ा परिश्रम है। कई आदमी मर गये। पहाड़ तोड़नेवाली गाड़ी जल गयी। अभीतक पहाड़ टूटा नहीं। वहाँ किसी सिद्ध बाबाकी तपःस्थली है। लोगोंका कहना है कि सिद्धबाबा सड़क नहीं बनने देता। सिद्धबाबाको न जाने सड़कसे ऐसी शत्रुता क्यों है, फिर भी बनानेवाले सिद्धबाबाकी बात मानेंगे थोड़े ही, बनाकर ही छोड़ेंगे। जब हम लौटे थे तब फिर एक पत्थर तोड़नेवाली गाड़ी पहाड़ोंको तोड़ रही थी, ऊपर-नीचे चढ़ते हुए हम आगे बढ़े। सैकड़ों पहाड़ी कुली सामान ले जा रहे थे, सैकड़ों आ रहे थे। इस सड़कपर तानसेन और बागलु—ये दो बड़े-बड़े नगर हैं। दोनों जिले हैं। इनके लिये समस्त विक्रीका लाखों-करोड़ोंका सामान कुलियोंके पीठपर बुटवलसे ही जाता है। मिट्टीका तैल, लालटैन, रंग-बिरंगे कपड़े, जूते, छाते, सिगरेटोंके बक्स, चूड़ियाँ सभी आवश्यक सामान कुलियोंद्वारा जाता है। सिगरेटका पहाड़में अत्यधिक प्रचार है। स्त्री-पुरुष सभी पीते हैं। एक आदमीने मुझे बताया अकेले बुटवलमें ही ५०-५२ लाख रुपयेकी सिगरेट बिक जाती है। हम एक अजीब दुनियामें आ गये थे। सभीकी भाषा, भेष, भोजन, रहन-सहन भिन्न थी। कुली तो मन-मन दो-दो मन सामान माथेपर चौड़ा फीता लगाये ढो ही रहे थे, कोई ऐसा पहाड़ी यात्री नहीं था, जिसके ऊपर दस-बीस सेर बोझा लदा न हो। युवक-युवतियाँ सरस गीतोंको गाती जाती थीं। हमलोग तिलोत्तमाके तट-तट प्रकृतिका अनुपम सौन्दर्य निहारते हुए कभी ऊपर चढ़ जाते, कभी नीचे उतर आते। आगे चलकर दो नालोंका सुन्दर संगम है, लोहेका झूला है। उससे आगे दोभान ग्रामपंचायतका कार्यालय है। दोभान ग्राम बहुत बड़ा है। मीलोंतकके छोटे-छोटे ग्राम दोभानमें लगते हैं। अभी हम बुटवलसे लगभग ३-४ ही मील आये होंगे। सायंकाल हो गया, हमलोग अत्यन्त थक गये। प्रथम ही इतना चलनेका अवसर था। रात्रिमें हम पंचायतकी झोंपड़ीमें ही रह गये। सरपंचजीको अग्रयायीदल-के द्वारा हमारे आगमनकी सूचना पहिले ही मिल चुकी थी। शौच, पूजा, पाठ, भोजनादि करके हमलोग सो गये। सरपंचने दूध भी भिजवाया किंतु सभी इतने थके थे कि सो गये, प्रातः पता चला। उसे छोड़कर सूर्योदयसे पूर्व ही चल दिये।

दोभानसे तानसेन

ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमीको प्रातः हम दोभानसे तानसेनको चले। कहनेको तो तानसेन यहाँसे ११ मील ही है, किंतु दो-दो मीलकी तीन चढ़ाई और दो उतराई हैं। उतराई चढ़ाईसे भी अधिक विकट है। महाराज पृथुजी! आपने इन समस्त पर्वतोंको उत्तरमें ही क्यों फेंक दिया? फेंकते तो भी इन्हें दुर्गम तो न बनाते! इन्द्रदेवने इन पर्वतोंके पंख काटकर गाँवोंको तो विपत्तिसे बचा लिया; किंतु इनके पंख होते तो हम इनके ऊपर चढ़कर प्रार्थना करते—'हे पर्वतश्रेष्ठ! हमें मुक्तिनारायणतक पहुँचा दो।' तो सम्भव है हमारी प्रार्थना मानकर हमें श्रमसे बचा लेते। अब तो ये सब पंख-कटे आकाशसे न जाने क्या बातें करते रहते हैं। आज प्रातःकालसे ही चढ़ाई प्रारम्भ हुई। आठ बजते-बजते सभी क्लान्त हो गये। एक दुकानपर भुटमुरा मिला। सबको जलपान कराया। पूरी चढ़ाई चढ़ लेनेपर फिर कुछ दूर सम मार्ग मिला। हरे-भरे धान-मकईके खेत देखे। छोटे-छोटे गाँव बसे थे। फिर एक चढ़ाई आयी। निश्चय यह हुआ कि इस पूरी चढ़ाईको चढ़कर चोटीपर जो ग्राम है, उसमें मध्याह्नका भोजन बनेगा। जैसे-तैसे दस-ग्यारह बजेतक राम-राम करके उस गाँवमें पहुँचे; किंतु वहाँ पहाड़के ऊपर पानीका बड़ा अभाव था। साधुको भोजन भले ही न मिले, पानीके वह संनिकट ही बसना चाहता है, अब नीचे उतरना था। उतरते समय सबको छठीतकका दूध याद आ गया। वह कच्चा पहाड़ था। कुछ बूँदा-बूँदी भी हो गयी थी। सीधा पैर फिसल जाता। हमारे साथकी माताएँ अत्यन्त ही दुःखित हुईं।

लोग बैठ-बैठकर फिसल-फिसलकर उतर रहे थे। लोगोंने कहा आधे मीलपर नाला है, किंतु हम दो मीलतक चलते गये। नालेका पता ही नहीं। उतरते ही गये। दूरसे जलका कल-कल शब्द सुनायी दिया। दो नालोंका संगम भी दिखायी दिया; किंतु वहाँ आटा, दाल, चावल कुछ भी नहीं मिला। अनिच्छासे और आगे बढ़े, नालेके किनारे विशाल वट-वृक्ष मिला। एक नाममात्रकी झोंपड़ी भी पड़ी थी। वहीं हमने डेरा डाला। सबकी खिचड़ी बनी। मेरा फलाहार-का सब सामान तो कुलियोंपर रह गया था। अतः एक पेड़से पपीता तोड़कर उसीका साग बनाकर भगवान्‌का भोग लगाया और इस उदर-दरीको भरा।

एक बुटवलका पहाड़ी लड़का अपनी बहिनको तानसेन बालिका-विद्यालयमें पहुँचाने जा रहा था। दोनों भाई-बहिन हँसते-खेलते खटाखट उतरते हुए जा रहे थे। हमारे पूछनेपर उसने बताया—मैं बुटवलमें किसी सरकारी कार्यालयमें काम करता हूँ। बहिन तानसेनमें पढ़ती है। हम आज प्रातः बुटवलसे चले हैं, दोपहरका भोजन तानसेनमें करके मैं उसी समय लौट पड़ूँगा। कल मुझे अपने कामपर अवश्य पहुँचना है। हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। जिस मार्गको हम कलसे चल रहे हैं और कल कहीं जाकर पहुँचेंगे, उसे ये पंद्रह-बीस वर्षके बच्चे प्रातःसे दोपहरमें ही तै कर लेंगे। पीछे हमें अनुभव हुआ कि अभ्यासके सामने कोई बात कठिन नहीं। जिस मार्गको हमने जाते समय तीन दिनमें पार किया था, एक महीने निरन्तर चलते रहनेके अभ्यासके कारण आते समय हम प्रातः तानसेनसे चले थे और मध्याह्नके दो बजे बुटवलमें ही आकर स्नान-पूजन किया था। एक महीनेमें हम पूरे तो नहीं, रुपयेमें कम-से-कम बारह आने तो पहाड़ी बन ही गये थे। वैसे ही लाठी लेकर दिनभर चलते। पहाड़ियोंकी तरह रूखा-सूखा, कच्चा-पक्का देशसे चौगुना खाते, वैसे ही कपड़े मैले हो गये थे। पैरोंपर, शरीरपर मैल जम गया था। जैसा देश वैसा वेष।

कुली अभीतक नहीं आये। प्रसाद पाकर थके हुए डंडा लेकर फिर चल पड़े। 'पांडे तोड़ द्वारका जानो।' अब चढ़ाई नहीं थी। नालेके किनारे सुन्दर सीधा मार्ग था। इस पार पुरानी सड़क थी। उसपर नयी बन रही मोटरकी सड़क थी। तानसेनके नीचे खूब विस्तृत मैदान था, जिसमें हरे-हरे धानके खेत लहलहा रहे थे। इस पहाड़में इतना हरा-भरा विस्तृत मैदान देखकर बड़ा सुख हुआ; किंतु उस सुखको तानसेनकी विकट चढ़ाईने किरकिरा बना दिया। हमारे साथके पहाड़ी कहते—बस, अब एक ही मील और है, किंतु हम पहाड़ी मीलोंका अर्थ समझते हैं। रात्रि हो गयी थी, एक-एक पग चलना भारी था। तानसेनसे नीचे ही एक दुकानमें सो रहे। प्रातः उठे और डेढ़ मील चलकर तानसेनमें पहुँच गये। यहाँतक तो अभी मार्गका ही कष्ट था। भूख दुगुनी सब लोगोंकी हो गयी थी, पैर थक गये थे। आगे चलकर जब भूख चौगुनी हो जायगी और पैसा देनेपर भी खाने-पीनेका कोई भी सामान नहीं मिलेगा और चढ़ाईके पश्चात् चढ़ाई और उतराईके पश्चात् उतराई आती जायगी, इसका वर्णन पाठक-पाठिकाएँ क्रमशः आगे पढ़ेंगे। (क्रमशः)

रे मन !

(रचयिता—विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न)

(१)

ब्रह्ममें सकल साधना लीन।
साध प्रेम तू, अरे मूढ़ मन, रह न ग्रन्थि-आधीन॥
ठान ले, एक विनय-व्रत-नेम,
क्षणिक जीवनमें भर ले प्रेम,
साधन विनय सभी हैं निष्फल, प्रेम-मन्त्रसे हीन।
ब्रह्ममें सकल साधना लीन॥

(२)

प्रेमका है अखण्ड व्यापार,
प्रेमका कर निर्मित संसार,
भ्रमण उसीमें कर, जागेगी तुझमें ज्योति नवीन।
ब्रह्ममें सकल साधना लीन॥

(३)

विश्व तो है मायाका देश,
भूल जा अरे, यहाँका वेश,
वस्त्र त्यागका धारण कर ले, रख उतार प्राचीन।
ब्रह्ममें सकल साधना लीन॥

(४)

गूँथकर भक्ति-सुमनका हार,
पारकर सागर चल उस पार,
तप-पतंगकी ज्योति जगा ले, मानस कलुष-मलीन।
ब्रह्ममें सकल साधना लीन॥

जीवनमें नया परिवर्तन

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

स्वर-विज्ञानकी नयी खोजें अद्‌भुत हैं । मनोवैज्ञानिकोंने सिद्ध किया है कि जो शब्द आपके मुखसे निकलते हैं, उनमें ऐसे-ऐसे गुप्त अर्थ छिपे हुए हैं, जिनका बल आपके जीवनको बदल डालनेकी सामर्थ्य रखता है ।

आपके मुखसे निकलनेवाला हर एक स्वर या शब्द, चाहे उसका कुछ भी अर्थ क्यों न हो, आपके मन, वाणी और सम्पूर्ण शरीरको चलायमान कर देनेकी ताकत रखता है ।

शब्द बोलते समय क्या होता है ? ध्यानसे देखिये, इससे हमारी समस्त नाड़ियाँ झंकृत हो उठती हैं । हमारे मुखमण्डलके अवयव विशेषरूपमें तनते या ढीले पड़ते रहते हैं । हमारे ओंठ हिलते हैं, पर साथ ही हमारे नेत्र, हमारे कपोल, हमारा मुखमण्डल एक विशेष प्रकारसे देदीप्यमान हो उठता है ।

प्रत्येक शब्दके साथ एक विशेष तथा अन्य छोटे-छोटे असंख्य भाव छिपे हुए हैं । जब हम अर्थ समझकर किसी भी शब्दका उच्चारण पूरी निष्ठा और एकाग्रतासे करते हैं, तो वे भाव हमारे मानसिक जगत्‌में तथा शरीरके रक्तके कण-कणमें फैल जाते हैं ।

हमारा सम्पूर्ण मानसिक वातावरण उसी स्वरसे आच्छादित हो उठता है । शरीरका अणु-अणु उसी शब्दके भाव तथा अर्थसे काँप उठता है या यों कहें वह उसी शब्दसे ढल जाता है ।

आप कोई शब्द पूर्ण विश्वास और एकाग्रतासे उच्चारण कीजिये और साथ ही दर्पणमें अपने मुँहकी आकृति भी देखिये । आप पायेंगे कि उस शब्दके भाव या अर्थके अनुसार ही आपकी आकृति भी बनती-बिगड़ती जा रही है ।

जैसे ही क्रोध, आवेश या उत्तेजनाका कोई शब्द आपके मुँहसे निकलता है, वैसे ही आपका चेहरा तन जाता है, ओंठ काँपने लगते हैं, सम्पूर्ण शरीरमें थरथराहट उत्पन्न हो जाती है, आपके नेत्र चढ़ जाते हैं । इन बाह्य परिवर्तनोंके अलावा आपके शरीरके अंदर समग्र मानसिक जगत्‌में एक अजीब कोलाहल, कसर और तेजी पैदा हो जाती है । जितनी देरतक क्रोधके शब्द आपके मुँहसे निकलते रहेंगे, उतनी देरतक आपके मानसिक संस्थानमें भी भयंकरता छायी रहेगी । वैसी ही अन्तःस्थिति बन जायेगी । आपके हृदयमें क्रोधाग्नि जलने लगेगी । दिलकी धड़कन बढ़ जायेगी । शरीरमें गरमी, खुश्की और वायु-प्रकोप प्रतीत होगा । देरतक क्रोधके शब्दोंका उच्चारण करनेसे सिरमें भारीपन आ जायगा । आप पायेंगे कि आपकी कमर दर्द करने लगी है ।

बुरे शब्दोंसे मनोरोग

स्वर-विज्ञान बतलाता है कि बुरे शब्दोंका उच्चारण करनेसे मनुष्य मानसिक बीमारियोंका शिकार बनता है । देरतक क्रोध, आवेश, भ्रम, संदेह, द्वेष, घृणाके शब्द बोलनेसे मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं ।

प्रत्येक अच्छा या बुरा शब्द एक प्रकारका बीज है, जो बोलनेसे मनके गुप्त भागमें जड़ जमा लेता है । ये जड़ें बार-बार वही शब्द या वाक्य बोलनेसे बढ़कर वृक्ष बन जाती हैं और वैसे ही अच्छे या बुरे फल जीवनमें प्रकट करती हैं । बुरे शब्दोंसे स्वभाव कर्कश, उत्तेजक, क्रोधी, ईर्ष्यालु, दम्भी बन जाता है ।

मनोविज्ञानवेत्ता बतलाते हैं कि जो व्यक्ति या असभ्य जातियाँ मुँहसे कुशब्द, वासनासे सने गाने, गाली-गलौज इत्यादिका उच्चारण किया करती हैं, उनके बच्चोंके चरित्रोंके गिरानेमें इन कुशब्दोंका बड़ा हाथ होता है । अबोध बच्चे बिना उनका अर्थ समझे जैसे गंदे और अश्लील शब्द माँ-बाप, पास-पड़ोस और निकट वातावरणमें सुनते हैं, वे वैसा ही उचित समझकर उन्हें गुप्त मनमें बीजरूपसे जमा लेते हैं । सिनेमाके अश्लील गीत गुनगुनाया करते हैं । बड़े होनेपर उनका गंदा और विकृत मतलब समझकर वे उधर ही ढुलक पड़ते हैं । फिर उन मनमें बसे शब्दोंके अनुसार ही अपना जीवन ढालने लगते हैं और सदाके लिये पतनके मार्गपर पड़ जाते हैं ।

शब्द और हमारे संस्कार

हमारा प्रत्येक बोला हुआ शब्द हमारे गुप्त मनपर एक

प्रबल संस्कार छोड़ता है। उस संस्कारसे मनुष्यका स्वभाव, आदतें और चरित्र बनते हैं। उन्हीं गुप्त संस्कारोंके बलपर वह समाजमें अनेक कार्य करता है। इन कर्मोंसे जीवन-निर्माण होता है। अतः हमारी जिह्वासे निकलनेवाले शब्दोंका दैनिक जीवनमें बड़ा महत्त्व है। शब्द ही मनुष्यके निर्माता हैं, संसार-संघर्षमें सफलता अथवा विफलता देनेवाले हैं।

हमारे मुखसे निकलनेवाले शब्द ही जीवनको सरस अथवा नीरस बनाते हैं। स्वस्थ और कल्याणकारी स्वरोंके उच्चारणसे नूतन विचारों, भावनाओं और संस्कारोंका निर्माण होता है।

शान्त और पवित्र शब्दोंके निरन्तर साधन और संयम-द्वारा मनुष्य जीवनकी कठिनाइयों और उत्तेजनाओंके अनेक क्षणोंमें विजय पानेमें समर्थ हुआ है। विचारकों, कवियों, चिन्तकों और उपदेशकोंके शब्द अनेक व्यक्तियोंके जीवनमें नया मोड़ पैदा करनेवाले हुए हैं। शब्द न हों तो मनुष्यका अस्तित्व ही न रहे। उन्नति ही रुक जाय। तमके निगूढ़तम क्षणोंमें कवियोंके शब्दोंद्वारा प्रकाशकी अभिनव प्रभाका उदय होता है।

शब्द-साधनासे सुप्त मानवी शक्तियाँ जागती हैं। नयी सृजनात्मक शक्ति और अद्भुत सामर्थ्यका उदय होता है। निष्प्राण व्यक्तिमें नयी जान और नये प्राण आते हैं। मूढ़ मन भी सशक्त शब्दोंके बार-बार उच्चारणसे विकसित हो जाता है।

भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने इसीसे 'मन्त्र-विज्ञान' नामक प्रक्रियाओंको जन्म दिया है। मन्त्र क्या है। वह चुने हुए सशक्त, तेजस्वी, स्वस्थ और अनेक गुणकारी शब्दों या ध्वनियोंका संग्रह है। ये वे शब्द हैं जो विशेष अर्थ रखते हैं और किसीके भी जीवनमें आधारभूत परिवर्तन करनेकी क्षमता रखते हैं। ये मन्त्र हमारे आचार्योंने बड़े अनुभव और ज्ञानसे बनाये हैं। अपने अनुभवोंका निचोड़ इनमें भर दिया है। मन्त्रमें आये हुए शब्दोंका साकार हो जाना, जीवनमें पूरी तरह चरितार्थ हो जाना ही मन्त्रसिद्धि कहलाता है। जो व्यक्ति मन्त्रोंपर चित्तको एकाग्र कर इन्हें जीवनमें उतार लेता है, भारतीय पद्धतिके अनुसार उसके जीवनका कायापलट हो जाता है।

मन्त्रोंके जापसे अर्थात् पूरी श्रद्धा और निष्ठासे एकाग्र होकर उच्चारण करनेसे नयी शक्ति प्राप्त होती है, नयी स्वस्थ उत्पादक मनःस्थितिकी प्राप्ति होती है। उत्तम शब्दोंमें महान् उत्पादक गुणकारी शक्ति भरी हुई है। इनके द्वारा एक अदृश्य वातावरणका निर्माण होता है, जो जीवनकी दिशाको बदल डालता है। शब्द आपके मनसे जुड़ा हुआ है। जो कुछ आप उच्चारण करेंगे, वैसा ही भाव आपके मन, हृदय तथा सम्पूर्ण शरीरमें, उसके कण-कणमें फैल जायगा। आपकी आत्माकी भी वैसी ही उच्च या निम्न स्थिति होगी।

एक विद्वान्‌ने मन्त्र-जापका मनोवैज्ञानिक रहस्य स्पष्ट करते हुए सत्य ही लिखा है—

'शब्द उच्चारण करने या मन्त्र जपनेका सबसे पहला प्रभाव मन्त्र जपनेवालेके शरीरपर पड़ता है, अर्थात् सबसे पहले शरीरके जीवन-परिमाणु गरम होकर प्रत्येक गुप्त और प्रकट नस, नाड़ी, तन्तु तथा इससे भी सूक्ष्म नासाजालमें गरमी पहुँचायेंगे, जिससे वे ठीक-ठीक स्वास्थ्यवर्द्धक क्रियाएँ करने लगेंगे। अधिक मन्त्र जपनेसे बाहरके जीवन-शक्ति-परमाणुओंमें धक्का लगना प्रारम्भ होगा और लगातार धक्का लगनेसे वे परमाणु और अधिक गरम हो जायँगे। अधिक-से-अधिक गरमी पहुँचनेसे वह गरमी अपने कारणमें लय होती है अर्थात् सूर्यकी गरमीकी ओर आकर्षित होती है और फिर सूर्यसे वह शक्ति जापकको वापस प्रदान होती है। जिस इच्छासे शब्द या मन्त्र उच्चारण किया गया है, वह इच्छा पूर्ण हो जाती है। जीवन उसके अनुसार ढल जाता है। प्रत्येक शब्दके उच्चारणकी ऐसी शुभाशुभ प्रतिक्रिया है।'

कहनेका मतलब यह है कि हमारे शास्त्रों, मुनियों और उपनिषदोंने बोले जानेवाले प्रत्येक शब्दके प्रति बड़ा सावधान रहनेका आदेश दिया है; क्योंकि शब्दमें नयी सृष्टिकी रचना करनेकी बड़ी प्रबल शक्ति है। जो काम हम वर्षोंमें नहीं कर सकते, उसको चुने हुए शब्दोंकी शक्ति कुछ क्षणोंमें ही कर दिखाती है। शब्दकी चुम्बकीय शक्तिद्वारा खिंचकर इच्छित वस्तु हमतक पहुँचती है।

अतः हम किन शब्दोंका प्रयोग करें ? उत्तर है—

'जिह्वा मे मधुमत्तमा'

(तैत्तिरीय० १ । ४)

हे ईश्वर ! मेरी यह जीभ मीठी वाणी बोले। मैं कभी कटु, कर्कश और कुवचन बोलकर अपनी वाणीको दूषित न करूँ।

हम सर्वदा, दैनिक जीवनमें, समाजमें, परिवार और व्यवहार-में उन्हीं शब्दोंका प्रयोग करें जो मृदु, सरस, उत्साहप्रद, मधुर

हितकारी हों। जो हमारी नीरसता दूर भगाकर मनमें नयी उमंग, नयी प्रसन्नता और हृदयके उल्लासकी अभिवृद्धि करें।

संतोंकी वाणियाँ, मधुर भगवद्भजन, आरती, भक्ति, संगीतका अथाह भंडार आपके हृदयमें उल्लासपूर्ण भावोंकी सृष्टि कर सकता है। मनको नयी प्रसन्नता और उत्साहसे भर सकता है। मधुर तथा उन्नतिशील भावोंके गीत और कविताओंका उच्चारण कीजिये।

मनको शान्त कर चुपचाप ऐसे शब्दोंका उच्चारण कीजिये जो मनको शान्त और संतुलित करें। आत्मश्रद्धाको बढ़ावें। कर्तव्यपथपर चलनेको प्रोत्साहित करें।

जैसे, आप कहिये, 'मेरा अन्तःकरण दृढ़ है। मैं शान्त और संतुलित हूँ। मेरे मनमें किसी प्रकारकी क्षुद्र चञ्चलता, व्याकुलता और बुराई नहीं ठहर सकती। मेरे अंदर साक्षात् ईश्वर विराजमान हैं। उन्हींकी शक्ति मुझमें कार्य कर रही है।'

'मैं परमात्माका अंश हूँ। मैं समस्त प्राणीमात्रमें अपनी ही परछाईं देखता हूँ। सबको प्रेम, दया और सहानुभूतिसे देखना चाहता हूँ। मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हूँ, मैं आत्मा हूँ; समस्त रोग और शोकसे रहित हूँ, मैं अपनी आत्माके गुणोंको ही जीवनमें प्रकट कर रहा हूँ।'

'मेरे हृदयमें अखण्ड प्रसन्नता; अखण्ड आनन्द और शाश्वत शान्तिदायक सद्विचारोंका दिव्य प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। मेरी शान्तिको कोई भी भंग नहीं कर सकता। विपरीत स्थितिमें भी मेरी मनःशान्ति अक्षय बनी रहती है।'

'मैं अपने अंदर अनन्त शक्तिका अनुभव कर रहा हूँ। मेरे अंदर अखिल विश्वमें व्याप्त ईश्वरीय सत्ताका स्वरूप प्रकट हो रहा है। मेरा निर्माण भगवान्के सनातन शुद्ध अंशसे हुआ है। मैं अपने अंदर उसी मङ्गलमय भगवान्का दर्शन कर रहा हूँ। मैं हर प्रकारसे शुद्ध हूँ, सात्त्विक हूँ। मुझमें पूर्ण ज्ञान है। पूर्ण शक्ति है—प्रेम है, ईश्वर मुझमें है, मैं ईश्वरमें हूँ।'

अपने इच्छानुकूल सुन्दर सात्त्विक मन्त्र चुनिये। उनका अर्थ समझिये और प्रतिदिनकी पूजामें उन्हें बार-बार दुहराइये। ऊपर लिखे मानसिक संकेत बनाइये और रात्रिमें सोते समय तथा सुबह उठते ही उनका उच्चारण कीजिये। भक्तोंके, कवियोंके तथा नीति एवं उपदेशोंसे सने हुए भजन, गीत और कविताएँ श्रद्धापूर्वक उच्चारण कीजिये। कीर्तन कीजिये। निश्चय जानिये, सात्त्विक शब्दोंका रसायन आपके जीवनमें एक नया परिवर्तन ला देगा। हमारे यहाँ जप-नामकी जो धार्मिक क्रिया है, उसका मनोवैज्ञानिक आधार यही शब्द-शक्ति है। अच्छे मन्त्रोंके जपसे नये-नये गुण, ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रकट होती हैं और शुभ प्रवृत्तियोंका विकास होता है।

हमारी यही कामना होनी चाहिये; 'हे ईश्वर! मेरी जिह्वा सदा मधुर, सत्य, कल्याणकारी, सर्वहितकारिणी वाणी ही बोले। मैं कभी कटु, कर्कश और कुवचन बोलकर अपनी वाणीको दूषित न करूँ। सात्त्विक शब्दोंसे अपने इर्द-गिर्द पवित्र वातावरणका निर्माण करूँ। मैं निरर्थक बकवाससे सदा बचता रहूँ। सारगर्भित, पवित्र और कल्याणकारी शब्दोंका ही प्रयोग करता रहूँ। मेरे मुँहसे 'ॐ शान्तिः', 'हरे कृष्ण', 'जय राम,' इत्यादि पवित्र नाम ही निकलें। मेरी वाणी सर्वहितकारिणी हो। मुझे आध्यात्मिक जीवनकी ओर ले चले।'

ॐ विश्वानि देव सवितुः दुरितानि परासुवः यद्भद्रं तन्न आसुवः।

'हे परमपिता, जगदीश्वर! जो दुःखदायक वस्तुएँ हों, उन्हें हमसे दूर हटा दीजिये। जिन शब्दोंसे हमें आत्मिक सुख प्राप्त हो, उन्हें ही हमारे मुखसे निकलने दीजिये।'

प्रभुकी अनुकम्पा

प्रभुकी अनुकम्पा परम छायी चारों ओर।
आत्यन्तिक सुख-शान्तिका मिलता ओर न छोर॥
कोई कैसी भी विषम, हो स्थिति अति प्रतिकूल।
चुभा नहीं सकती तनिक मेरे उरमें शूल॥
सभी परिस्थितियोंमें सदा रहती शाश्वत शान्ति।
हटती कभी न हृदयसे मोहनकी मुखकान्ति॥

सहनशक्ति बढ़ाइये

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

भारतीय ऋषियों, मुनियों और महापुरुषोंने तितिक्षा या सहिष्णुताको आध्यात्मिक उन्नतिके लिये बहुत ही आवश्यक माना है। बड़ा बनना या ऊँचा उठना अवश्य ही कष्टसाध्य है। जिसमें सहनशीलता नहीं, वह उन्नति नहीं कर सकता। आध्यात्मिक उत्थानकी बात छोड़ भी दें, व्यावहारिक जीवनमें भी इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। प्रकृतिने भी हमें यह संदेश दिया है कि हम सहनशील बनें। कभी गरमी, कभी सर्दी, कभी लू, कभी वर्षा और कभी ओले गिरते हैं तो कभी भूकम्प होता है। कहीं तीखे काँटे पड़े रहते हैं तो कहीं नुकीले कंकड़; कभी भूख लगती है तो कभी प्यास। इसी प्रकारके अनेक कष्ट; प्रतिकूलताएँ प्रकृतिने ही पैदा की हैं। उन सबके सहन किये बिना जीवन चल नहीं सकता। सहिष्णुतासे ही मनुष्य आगे बढ़ता है और उसकी शक्तियाँ विकसित होती हैं।

इधर संसारमें अनन्त प्राणी हैं। उनकी रुचि, प्रकृति, ध्वनि, आकृति, स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। बहुत-से तो एक-दूसरेके विरोधी भी हैं। अतः एक-दूसरेको जान या अनजानमें कष्ट देते हैं। वचनद्वारा; शरीरद्वारा बहुत-कुछ प्रतिकूलताएँ उपस्थित होती हैं और उनके सहन किये बिना चारा नहीं। यदि छोटी-छोटी बातोंके लिये उबल पड़ें; बरस पड़ें; टकरा जायें और संघर्ष छेड़ दें तो जीना दूभर हो जायगा। अतः व्यावहारिक जीवनमें भी इसकी आवश्यकता है ही। पल-पलपर उसका आश्रय लेना पड़ता है।

प्रतिवाद करनेकी शक्ति न हो और अनिच्छासे सहना पड़े, वह सहिष्णुता नहीं है। पर अपनी इच्छासे, बिना किसी विषादके शान्ति और समभावके साथ जो कुछ भी प्रकृति; पुरुषों, पशुओं और देवोंद्वारा कष्ट आयें, प्रतिकूलताएँ हों, उन सबको सह लेना सच्ची सहिष्णुता है। सहिष्णु व्यक्ति घबराता नहीं, चिल्लाता नहीं, परवा नहीं करता। उसे तो कष्ट झेलनेमें आनन्द आता है। वह प्रतिकूलताओंको अपनी परीक्षाओंका अवसर मानता है, विचलित नहीं होता, डटा रहता है। द्रष्टा होकर देखता रहता है पर क्षुब्धमान नहीं होता। धीरज ही उसका संबल है। शक्ति ही उसके लिये उपास्य है। समभाव ही उसका आराध्य है। सब परिस्थितियोंमें वह एकरस हो जाता है। कोई मान करे, अपमान करे; कोई गाली दे, निन्दा करे, प्रशंसा करे, मारे-पीटे, झूठा कलंक दे और विपत्तियोंमें फँसाये, प्राणान्त कष्ट आ जाये—पर वह हँसते-हँसते सबको झेल लेगा। उफ् और टीसका एक भी शब्द मुँहसे न निकले; प्रतिरोध करनेकी मनमें भावना तक न जगे, वही सच्चा सहिष्णु है। आज हम इतने असहिष्णु बन गये हैं कि थोड़ेसे व्यंग्य या तीखे वाक्योंसे उबल पड़ते हैं; आपेसे बाहर हो जाते हैं, विवेक खो देते हैं। चाहे कोई कुछ बिगाड़ भी न करे, पर हम किसीके कहनेसे या गलत धारणा या भ्रमसे किसीको अपना विरोधी मान लेते हैं, तो मनमें कुढ़ने लगते हैं। बाहरसे कुछ न कह सकें, पर अंदर द्वेषकी आग भभक उठती है, क्रोधसे भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं और आँखें लाल-सुर्ख हो जाती हैं, दाँत पीसने और किटकिटाने लगते हैं। जरा-सा मौका मिला कि विरोधीको पीट डालनेका संकल्प कर बैठते हैं। कहाँ हमारा प्राचीन आदर्श और कहाँ हमारी वर्तमान दैन्य स्थिति ? आकाश और पातालका अन्तर हो गया है। कोई सामञ्जस्य ही दिखायी नहीं देता। पूर्वज क्या थे, हम क्या हो गये हैं। उन्होंने क्या रास्ता दिखाया, हम किधर जा रहे हैं। जरा गहराईसे, ठंडे दिमागसे सोचें तो अपनी बड़ी भूलका पता स्पष्ट चल जायगा।

और तो और, हमारे धर्म, जो हमें क्षमा, करुणा, मैत्री, तितिक्षाका संदेश देते रहते हैं, उन धर्मोंके मामलोंमें हमारी यह असहिष्णुता और भी अधिक दिखायी देती है। शान्तिका स्थान अशान्तिका अड्डा बन गया है। बहुत बार ऐसा लगता है कि पानीमें आग लग गयी, असम्भव सम्भव हो गया। बाड़ ही खेतको खा गयी, रक्षक ही भक्षक बन गये। पर्वतसे गिरे और पातालमें जा धँसे। आदर्श कितना ऊँचा, पर व्यवहार बड़ा नीचा। इस खाईको पाटनेका इलाज नहीं, यही खेद और आश्चर्य है। इसका इलाज हो भी क्या ? भाई-भाई लड़ पड़े, बेटा-बाप लड़ पड़े, गुरु-चेले झगड़ पड़े। इस असहिष्णुताकी एक चपेटसे सब बावले हो गये। किसे कोई क्या कहे ? कूएँमें भाँग पड़ी, कौन समझाये ? सबके हृदयमें, मस्तिष्कमें, बोल-चालमें, प्रवृत्तिमें, व्यवहारमें असहिष्णुता छा गयी। आश्चर्य है कि इसके ताण्डव नृत्य

तथा कुफलके दुष्परिणामको देखकर भी हम चौकन्ने नहीं होते, जाग्रत् नहीं होते, विचार नहीं करते कि आखिर यह क्यों ? चंद दिनोंके मेहमान हम सब, फिर जीवनको अशान्ति और कलहका अड्डा एवं साम्राज्य क्यों बनायें ? अमृतकी जगह विष क्यों घोलें ? प्रेम और आनन्दका मजा क्यों न लूटें ?

विचार-भेद प्रकृतिका अटल नियम है । कभी ऐसा युग नहीं आया कि सबके विचार एक-से हो गये हों; क्योंकि सबमें अपना व्यक्तित्व है, चैतन्यकी छटा सबमें अलग-अलग छिटक रही है । धर्म सबके अलग-अलग हैं, प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है तो परिणाम भी भिन्न होंगे । पर याद रखिये, इन सब विविधताओंमें समानता भी है, भेदमें भी अभेद है, अनेकतामें एकता है । अशान्तिमें शान्ति भी है । विरोधमें मेल भी है, वैमनस्यमें साम्य भी है । हर रोगका इलाज है पर हमने भेदको ही बढ़ाया, अनेकताको ही आगे किया, छोटी-छोटी बातोंको बड़ा मान लिया । इसलिये हम सहिष्णुताका गुण छोड़ बैठे, असहिष्णुताके मिटानेका यही इलाज है, यही रामबाण औषध है कि हम समत्वकी ओर आयें और अभेदको बढ़ायें । विरोधीको भी अपना समझें । यदि कोई भाई—हमारा आत्मीय किसी गलत रास्तेपर चला गया है तो हम उसका अनुसरण न करें, हम भी भटक न जायँ, अपितु अपने सद्व्यवहारके द्वारा उसे रास्तेपर लायें । वह गलती कर रहा है तो हम उसे न दोहरायें ।

अहिंसा और आत्मीयता हमें भेद-बुद्धिसे खींचकर अभेद-वृत्ति तथा समन्वयकी ओर आगे बढ़ाती है । प्राणिमात्रमें अपनेपनका अनुभव करना, उसके कष्टको अपना कष्ट मानना यही अहिंसाकी मूल भित्ति है और विभिन्न विचारोंसे एकताका सूत्र खोलना, समन्वयका रास्ता ढूँढ़ निकालना—यही अनेकान्त है । सहिष्णुता इन दोनोंके मूलमें काम कर रही है । विरोधीके विचारोंको हम शान्तिसे सुनें, समझें, उनके दृष्टि-विन्दुको पकड़ लें, विचार-भेदका कारण ढूँढ़ निकालें और कोई हमें कष्ट देता है तो हम धैर्य रक्खें, उसे सह लें, पर प्रतिरोधकी भावना और वृत्ति न पैदा होने दें । यही सहिष्णुता है, यही अहिंसा है, अनेकान्त है, चाहे क्षमा कहिये, चाहे धैर्य कहिये, चाहे शान्ति कहिये, चाहे समता कहिये—ये सभी सहिष्णुताके ही अपर नाम हैं ।

विचार-भेद हैं और रहेंगे । हमें इन मत-भेदोंसे मन-भेद नहीं करना है । कोई भाई हमें कुछ कटु वाक्य कहता है या मार-पीट भी कर देता है तो उस अज्ञानी बन्धुके प्रति हमारा करुणाभाव हो । हमारे हृदयमें क्रोध और द्वेषकी ज्वाला न भड़के, प्रतिरोधकी भावना न जगे । विरोधका डिंडिमनाद न बजे, तब समझिये कि सहिष्णुताका पहला पाठ आप सीख चुके हैं । अभी इसके आगे एक और पाठ है, वह है शत्रुको भी मित्र मानना, कष्टदाताको भी सहायक मानना । मरणान्त कष्ट देनेवालेका भी उपकार मानकर उसके उद्धार करनेकी भावना एवं प्रवृत्तिको न मिटने देना ।

'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल ।'

साधारण मनुष्योंकी पहली स्टेज है—'विरोधीके प्रति विरोधी भावना,' 'जैसेको तैसा,' 'शठं प्रति शाठ्यम् ।' उनके विचारमें या नीतिमें यह तर्क होता है कि हम किसीकी क्यों सहें ? सहता वह है जो निर्बल है । ताकत होते हुए भी जो आक्रमणका प्रतीकार नहीं करता, कोई मारनेको आये तो उसको मारनेके लिये सामने नहीं जाता, कोई अपनी बुराई करे तो उसको चुपचाप सह लेना, वे इसे कमजोरी समझते हैं और व्यवहारमें उनकी मान्यताके अनुसार आपत्ति आती है, दुष्टता बढ़ती है, अनीति पनपती है और भले आदमियोंका जीवन खतरेमें पड़ जाता है। इसीलिये दण्ड-व्यवस्था एवं कानून बने हैं ।

दूसरा स्तर है कि हम अपनेको सम्हाले रहें । दूसरा गलती करता है तो हम गलती क्यों करें ? एक व्यक्ति क्रोध करता है, हम आग-बबूला क्यों हों जब कि हम मानते हैं कि क्रोध बुरा है । किसीको कष्ट देना पाप है, तो हम उस बुराईको, पापको क्यों अपनायें ? एक व्यक्ति अज्ञानसे या स्वार्थसे कुछ अनुचित कर बैठता है तो दूसरा भी वही बर्ताव करे, इसमें अच्छाई क्या है, बड़प्पन क्या है ? इसीलिये हम समभाव रक्खें । दोषसे अपनेको बचाये रक्खें। कोई व्यक्ति हमें कुछ अनुचित कहता है, हमारा दोष प्रकट करता है तो उसके कारणका अनुसंधान करें और यदि वास्तवमें हमारी कुछ गलती है तो उसका सुधार करें । यदि हम निर्दोष हैं और विरोधी व्यक्ति भ्रम या अज्ञानसे गलती करता है तो उसे उसका भान करा दें । इसपर भी वह नहीं मानता है तो उदासीन हो जायँ और उपेक्षा कर दें; पर उसके प्रति मनमें द्वेष, घृणा, उसका बुरा करनेका भाव और उसके-जैसी भावना न रक्खें ।

इससे ऊँचा स्तर वह है जिसमें कोई विरोधी रहता ही नहीं। सबमें एक ही ब्रह्मका या ईशका निवास है। कोई पराया नहीं; सबमें वही भगवान् बस रहा है जो कि हममें है। वहाँ ऊँच-नीचकी, भेद-भावकी दीवारें मिट जाती हैं। सारा जगत् ब्रह्ममय, परमात्म-स्वरूप या अपना ही रूप दिखायी देता है। इस अवस्थामें असहिष्णुताका प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे स्टेजतक ही उसकी आवश्यकता है। पहलेके लिये तो विशेष है। हमारे महापुरुषोंको कितने कष्ट मिले, पर सबको सहकर ही वे बड़े बने। हम भी उन्हींकी संतान हैं। उनका अनुसरण कर सहनशील, धीर और गम्भीर बनें। सारा जड-चेतन जगत् हमें सहिष्णुताका ही पाठ पढ़ा रहा है। पृथ्वी हमें संदेश दे रही है कि देखो मैं कितना सहिष्णु हूँ। नाना प्रकारके प्राणी नाना प्रकारके कष्ट मुझे देते हैं, मैं सब सह लेती हूँ, हर एकका उपकार ही करती हूँ, अपकार नहीं। विरोध करना मेरा धर्म नहीं, मैं सबकी माता जो हूँ। बच्चा बहुत बार जाने-अनजानेमें नुकसान कर देता है, पर माँ उन सबको सह लेती है। उसका प्रेम अनन्त है, असीम है। वह यदि उसको डाँटती है; मारती है, तो उसके हितके लिये ही। पुत्र कुपुत्र हो जाय पर माता कुमाता कभी नहीं होती। नारी भी सहिष्णुताकी मूर्ति है। वह घरवालोंके लिये, बाहरके लोगोंके दिये हुए भी कष्ट सहती जाती है। हम इन सबसे सहिष्णुताका सुन्दर पाठ ग्रहणकर अपने जीवनको आनन्दमय बनायें। यही मङ्गलमय कामना है। सहिष्णुताको अपनाकर शान्ति लाभ करें और उन्नत बनें।

भगवान्की दृष्टि

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

आरतीकी थालीमें निर्धन श्रद्धालुने नतशिर हो, पलक मूँदकर मैली-कुचैली एक भेंट चढ़ायी और धनिक प्रशंसाके इच्छुकने इधर-उधर गर्वीली दृष्टि फेंकते हुए चमकती-दमकती एक स्वर्ण-मुद्रा।

पुजारीने—भोले भक्तोंके समूहने भी निर्धनको हेय-दृष्टिमें देखा और धनिकको सम्मान-दृष्टिसे !

निर्धन बेचारा सकुच गया। फूला धनिक और फूल गया !

परंतु यह क्या ?

सहसा आश्चर्यका धरती-आकाश एक हो गया। सबके देखते-देखते, विस्मय-विस्फारित नेत्रोंसे देखते-देखते थालीमेंसे निकलकर मैली-कुचैली पाई श्री-विग्रहके चरण छूती हुई उनके मस्तकपर जा चढ़ी और चमकती-दमकती स्वर्ण-मुद्रा चलकर चरणोंमें ········चरणोंतक भी न पहुँच पाकर निश्चल हो परे-परे ही पड़ी रह गयी !

ऐसा होना आश्चर्यजनक अवश्य था किंतु अकारण नहीं।

मैली-कुचैली पाईके साथ उसके भेंट-कर्ताका निर्मल हृदय भी तो भेंट हुआ था। उस सहृदय पाईको अन्तर्यामी शीशपर न चढ़ाते तो क्या करते। उधर चमकती-दमकती स्वर्ण-मुद्राके लिये, उसकी गतिके लिये उसके दाताका दानाभिमान ही व्यवधान बन गया था। सर्व-गर्वहारीके श्रीचरणोंका स्पर्श ही सहज उसकी पहुँचके बाहर था, शीशके समीप पहुँचनेकी तो बात ही क्या ?

भगवान्की दृष्टिकी बात ही और है। वह मर्ममें पैठती है, तहमें पहुँचती है। उसे धोखा नहीं दिया जा सकता; उसमें धूल नहीं झोंकी जा सकती।

उत्साह

(लेखक—डा० श्रीप्रकाशसिंहजी बी० एस्-सी०, एम्० बी० बी० एस्०)

जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके सभी साधनोंमें उत्साहका अपना प्रमुख स्थान है। इसके बिना अपनी उन्नतिके किसी भी कार्यक्रममें आप सफल नहीं हो सकते या यों कहिये, उत्साहका सहारा लेकर अपने परिश्रमका आप पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। जीवनमें आप जो कुछ भी करना चाहें, एकाग्रताका पाठ पढ़ना चाहें, अथाह शक्ति अर्जित करना चाहें अथवा आत्मोन्नति करना चाहें, सभीमें उत्साह आपको कार्यशील बनाता है, कार्यरत रखता है और उन्नतिकी ओर अग्रसर करता है। यह उत्साह क्षणिक नहीं बल्कि स्थायी होना चाहिये।

उत्साह बड़ा ही प्रेरणाप्रद है। बिना उत्साहके बड़े ही प्रभावशाली तर्क-वितर्क भी आपको कार्यशील नहीं बना सकते हैं। किसी भी कार्यमें यदि आप श्रेष्ठता प्राप्त करना चाहते हैं अथवा पदोन्नति करके शिखरपर पहुँचना चाहते हैं, चाहे वह आपका प्रिय व्यापार हो, आपका दैनिक कार्य हो या आपके अध्ययनका विषय हो, इसके लिये आपको पहले अपनेमें उत्साह उत्पन्न करना पड़ेगा और फिर उस तीव्र उत्साहको बनाये रखना पड़ेगा।

उत्साहको उत्पन्न करने और बढ़ानेके कितने ही नियम हैं। आप उन नियमोंको पालन करनेका प्रयत्न कीजिये, सफलता आपकी दासी बनकर रहेगी। अपने विषयमें विशेषज्ञ बननेका प्रयत्न कीजिये। आप विद्यार्थी हों तो अध्ययनसे, चिकित्सक हों तो रोगियोंसे और चिकित्सा-सम्बन्धी पुस्तकोंसे या गायक हों तो गान-विद्या-विषयक अभ्याससे अनुराग उत्पन्न कीजिये। अपने कार्यसे एकाकार हो जाइये। अपने विषयकी गहराइयोंमें प्रवेश कीजिये तो उत्साह बढ़ता ही जायगा। उत्साह आपकी योग्यता और चातुर्यके साथ बढ़ता ही जायगा। जैसे ही किसी विषयमें आपका उत्साह कम होने लगे, उस विषयकी सूक्ष्मताओंकी खोजमें लग जाइये।

जो भी कार्य कीजिये, उसमें नया जीवन फूँक दीजिये, हँसते हुए कीजिये, मुसकराते हुए कीजिये। सदा सर्वत्र आपके मुखपर आशा और उमंगकी छाप होनी चाहिये।

अपनी विफलताओंपर निराश न होइये, उनको बार-बार मस्तिष्कमें स्थान न दीजिये, विफलताएँ सफलताका रास्ता खोल देती हैं। अपनी सफलताओं और पूर्ण किये हुए कार्योंके विषयमें दूसरेसे बातचीत कीजिये; परंतु ध्यान रखिये कि अहंकारका भाव न आने पाये। अपने सौभाग्यके विषयमें दूसरोंको बताइये, अपनी विफलताओं और भूलोंके विषयमें दूसरोंको न बताइये। अपनी विफलताओं और भूलोंके विषयमें चुप परंतु सावधान रहिये। आपका उत्साह दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा।

बड़े महापुरुषोंकी जीवनी पढ़िये, उनके-जैसे चरित्रवान बननेका प्रयत्न कीजिये। नैपोलियनकी जीवनी पढ़िये जिसको आल्पस पर्वतने रास्ता दे दिया था और महाराजा रणजीतसिंहके जीवनसे प्रेरणा लीजिये जिनको बरसातमें बढ़ी हुई सिन्धु नदीने रास्ता दे दिया था। ये उत्साहके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

हमारी मानसिक स्थितिका प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ता है और हमारी शारीरिक दशा हमारे मानसको प्रभावित करती है। उत्साह मुसकान, हँसी, लगन, शक्ति, ध्यान अथवा सावधानीके रूपमें प्रकट होता है। ये ही शक्तियाँ हमें सफलताकी ओर अग्रसर करती हैं। संसारके चित्रपटपर एक उत्साही पुरुषका अभिनय कीजिये। यथार्थ उत्साह स्वयमेव ऊपरकी शक्तियोंको प्रकट कर देगा।

जीवनके हर पहलूमें उत्साह ही मनुष्यको सामान्य या विशिष्ट पुरुष बना देता है। एक विद्यार्थी, जिसके लिये विद्याध्ययन केवल कर्तव्य है, एक साधारण नागरिक ही बन पाता है, जब कि दूसरा विद्यार्थी अपना कार्य साहस और उत्साहके साथ करता है तो बड़ा राजनीतिज्ञ नेता या वैज्ञानिक बनता है।

उत्साह आपके कार्यको उस प्रसन्नता और सफलतामें बदल देगा जिसकी आप बहुत दिनोंसे आशा लगाये बैठे थे। उत्साह ही सफलताका रहस्य है जो कि आपके गुणोंमें चार चाँद लगा देता है।

रक्षकके लंबे हाथ

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आज रक्षक भक्षक बन गया है। हम किसी प्रकार तुझे सेनामें जानेसे रोक नहीं सकते।' मेरी माताने कहा था। उस माताने जिसने जीवनके अस्सी वसंत देख लिये हैं। जो पिछले बाईस वर्षका अपना वैधव्यका जीवन एकमात्र अपने इस पुत्रके सहारे बिताती रही है। जिसकी भौंहोंके केशतक श्वेत हो चुके हैं। जिसके शरीरपर कालकी रेखाएँ झुर्रियोंके रूपमें सर्वत्र गिनी जा सकती हैं। जो इस बुढ़ापेमें भी घरके कामसे बचा समय अपने छोटे बगीचेमें पेड़ों-पौधोंको सींचने-गोड़ने तथा घास निकालनेमें बिता देती है। फलोंको कुतरनेवाली चिड़ियोंमें एवं गिलहरियोंको भी जो बुरा-भला कहनेके बदले चुगनेको दोनों समय नियमसे दाने डालती है। जिसे किसीसे झगड़ते पूरे कस्बेमें किसीने कभी नहीं देखा। वह मेरी माँ रो रही थी। उसने मुझे विदा देते समय कहा था—'जहाँतक बन सके, अपने हाथ निरपराधोंके रक्तसे रँगनेसे बचना। परमात्मा तेरी रक्षा करेगा। बड़े लंबे हैं उस रक्षा करनेवालेके हाथ।'

प्रत्येक युवकको सैनिक शिक्षा लेनी ही पड़ती है हमारे देशमें और प्रत्येक सैनिक आयुका व्यक्ति इस युद्धके प्रारम्भमें ही सेनामें बुला लिया गया। मेरी माँको चाहे जितना दुःख हो—सहस्रों माताओंको ऐसा ही दुःख है; किंतु जर्मनीमें फ्युहरर (हिटलर) के आदेशको कोई असहाय वृद्धा कैसे टाल सकती थी।

मुझे सैनिक-प्रशिक्षण पहले ही प्राप्त हो चुका था। अब कुछ महीनोंमें मैं पनडुब्बीपर काम करनेके लिये शिक्षित किया गया; क्योंकि मैं बहुत कुछ जल-सेनाके सैनिककी शिक्षा भी प्राप्त कर चुका था। जर्मनीकी जल-सेना छोटी है। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिकाकी संयुक्त जलसेनाकी चर्चा तो दूर रही, अकेले ब्रिटेनकी जलशक्तिसे टक्कर लेनेकी बात भी सोची नहीं जा सकती, किंतु फ्युहररको अपनी पनडुब्बियोंपर भरोसा है। विपक्षीके जहाजोंको डुबाकर उसकी जलसेनाकी रीढ़ तोड़ दी जा सकेगी, यह कठिन भले हो, असम्भव नहीं लगता है और जर्मनीका शौर्य असम्भवको सम्भव बनानेसे ही कब हिचका है।

मेरा काम न यान-संचालन करना है और न तारपीडोंसे प्रहार करना। मैं यन्त्रकक्षका निरीक्षक हूँ। कभी-कभी रेडियो-संवाद लेने और सुननेका भी काम करता रहा हूँ। वैसे आप सम्भवतः नहीं जानते कि पनडुब्बीके प्रत्येक व्यक्तिको उसके संचालन, तारपीडो-प्रहार तथा यन्त्रोंके समस्त प्रयोगोंकी शिक्षा लेनी पड़ती है। कब कैसी दुर्घटना होगी और किस व्यक्तिके लिये कौन-सा काम अनिवार्य बन जायगा, यह कहा नहीं जा सकता।

आप कह सकते हैं कि मैंने किसी जहाजपर अपने हाथसे 'तारपीडो' नहीं चलाया, अतः हत्याके रक्तसे मैं बचा हूँ। किंतु मैं अपने-आपको धोखा कैसे दे सकता हूँ? मुझे ही सूचित करना पड़ता था अपने यन्त्रोंसे पता लगाकर कि विपक्षी जहाज कहाँ है, किस ओर जा रहा है। किस स्थानसे उसपर आघात करना ठीक रहेगा, यह निर्णय भले कप्तान करता हो; किंतु मेरा योग इस विनाशमें कम नहीं था। उन जहाजोंके सैनिक, मल्लाह तथा दूसरे लोग जिन्होंने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा, जिन्हें हम जानते तक नहीं। वे हमारे देशपर कभी आक्रमण करने न जायँ, यह भी तो हो सकता था; किंतु वे विपक्षके जहाजपर हैं—जब वे सर्वथा असावधान होते, हमारी पनडुब्बीसे उनकी मृत्यु दौड़ पड़ती उनकी ओर।

हमारी पनडुब्बीमें पर्याप्त पेट्रोल था। एक महीने हम बराबर समुद्रमें रह सकें; इतना ईंधन, भोजनका सामान और आघातके प्रचुर अस्त्र। हमने अफ्रिकाके दुर्गम पश्चिमी तटके एक स्थानपर कुछ खाद्य-पदार्थ और पेट्रोल छिपा रक्खा था। संकटके समय वह हमारे काम आता। दो बार बीचमें हम वहाँ उतरे भी थे।

कुल सात व्यक्ति थे हमारी पनडुब्बीमें सब युवक और साहसी। हमने ब्रिटेनके पाँच जहाज डुबाये, जिनमें तीन भारी सैनिक जहाज थे; किंतु इसका यह परिणाम हुआ कि ब्रिटेनके हवाई जहाज और विध्वंसकोंका पूरा दल हमारी खोजमें निकल पड़ा। वनमें जैसे किसी नरघाती चीतेको ढूँढ़ने शिकारी कुत्तोंका दल निकले—पश्चिम अफ्रिका तथा ब्रिटेनसे पश्चिमका महासागर वे चप्पा-चप्पा करके ढूँढ़ने लगे। सम्भव है, उन्होंने अपने लिये अन्वेषणके क्षेत्र बाँट लिये हों।

'बचने और भागनेकी नीति कायरोंकी नीति है।' हमने केन्द्रको परिस्थितिकी सूचना दी तो वहाँसे फटकार मिली—'आघात करो और शत्रुके अधिक-से-अधिक विध्वंसकोंको नष्ट कर दो ! तुम्हारे दो सहयोगी और जा रहे हैं।'

हमारा कप्तान आवेशमें आ गया। केवल बारह घंटोंमें हमने विपक्षके तीन विध्वंसकोंको और जलसमाधि दे दी; किंतु इस उत्साहका दुष्परिणाम सम्मुख आ गया। हम घिर गये। ब्रिटिश पोतोंने इस प्रकार विस्फोटक फेंकने प्रारम्भ किये, जिससे मीलोंतक समुद्रका जल पूरी गहराईतक ऐसे उबलने लगा, जैसे चूल्हेपर चढ़ा पतीलीका पानी।

भयंकर विस्फोटका शब्द ! मैं मूर्छित हो गया और फिर मुझे कुछ पता नहीं है कि मेरे साथियोंका, मेरी पनडुब्बीका अथवा हमें घेरेमें लेकर मौतकी वर्षा करनेवाले उन विपक्षके विध्वंसकोंका ही क्या हुआ। केवल अनुमान कर सकता हूँ कि पनडुब्बीके चिथड़े उड़ गये होंगे। मेरे साथी समुद्रके गर्भमें सो गये होंगे या समुद्री जन्तुओंने उन्हें पेटमें पहुँचा दिया होगा। जलके ऊपर तेलका प्रवाह जब तैर आया होगा, विपक्षी पोत अपनी सफलताका आनन्द मनाते लौट गये होंगे; किंतु मैं······'रक्षकके हाथ बहुत लंबे हैं' इसीलिये मैं यह सब लिखनेको बचा हुआ हूँ।

× × ×

जब मुझे चेतना प्राप्त हुई, तेज धूप थी। सूर्य आकाशमें सिरके ऊपर था। पीड़ासे मेरा पूरा शरीर फटा जा रहा था। शीघ्र ही वमन हुई। बहुत-सा खारा पानी निकला पेटसे। शरीर और सिरका दर्द कुछ कम हुआ। किंतु प्याससे कण्ठ सूखा जा रहा था। हिलनेकी शक्ति नहीं थी। मैं औंधेसे चित पड़ गया और पता नहीं कबतक पड़ा रहा। सम्भवतः मैं फिर मूर्छित हो गया था।

इस बार मुझे वर्षाकी बूँदोंने जगाया। बड़ी-बड़ी बूँदें बहुत तेज वर्षा; किंतु कुल आधे घंटेके पश्चात् फिर सूर्य निकल आया। कुछ पानी वर्षाका मैंने मुख खोलकर कण्ठतक पहुँचाया था। अब बैठकर मैंने कमीज खोल ली और उसे मुखमें निचोड़ने लगा।

थोड़ी शक्ति मिली जल पीकर। मैं चौंक गया; क्योंकि मैं जिस आधारपर पड़ा हूँ, वह स्थिर नहीं है। वह हिल रहा है और सम्भवतः चल भी रहा है। मैं उठकर खड़ा हो गया और देखने लगा कि मैं कहाँ हूँ।

चारों ओर अनन्त समुद्र है। सूर्य ढलने लगा है, अतः मैं केवल दिशाका अनुमान कर सकता हूँ; किंतु मैं इस समय कहाँ हूँ—यह जाननेका कोई उपाय नहीं। यह मैंने देख लिया है कि जिस आधारपर मैं इस समय हूँ, वह एक तैरता हिमखण्ड है—उत्तरध्रुवसे समुद्रमें तैर आनेवाला एक हिमखण्ड। जलमें वह कितना डूबा है, पता नहीं; किंतु ऊपर अब वह कुल दो-ढाई सौ गज लंबा है। इसका अर्थ है कि मैं उत्तरध्रुवसे चलनेवाली शीतल धारामें दक्षिण-अफ्रिकाकी ओर इस हिमखण्डपर बहता जा रहा हूँ। ऊपर एक भारी गिद्ध चक्कर लगा रहा है। वह मेरी मृत्युकी प्रतीक्षा करता होगा। यह समुद्री गीध अब दस-पंद्रह दिन मजेसे प्रतीक्षा करता साथ चल सकता है।

मृत्यु—मैं सिहर उठा। जेबोंको टटोलनेपर पेन्सिल, डायरी और कुछ गोलियाँ मिल गयी हैं। ये आहारकी गोलियाँ हैं। इनसे पेट नहीं भरता, क्षुधाका कष्ट नहीं मिटता; किंतु शरीरको पोषण मिल जाता है। काम करनेकी क्षमता बनी रहती है। हमारे वैज्ञानिकोंने विपत्तिमें पड़े सैनिकोंके लिये इनका आविष्कार किया था।

मैंने तीन गोली एक साथ खा ली हैं। शरीरमें अब स्फूर्तिका अनुभव करता हूँ। दर्द भी घटा है। किंतु यह तैरता हिमखण्ड—इन बहते हिमखण्डोंकी सूचना देनेवाला विभाग क्या इससे अनभिज्ञ है ? क्या इसके उपेक्षणीय आकारतक गल जानेके कारण अब उसने इसका पता रखना और इसके सम्बन्धमें जहाजोंको सूचना देना बंद कर दिया है ? क्या कोई जहाज मिलेगा मार्गमें ? यह भी तो सम्भव है कि इसके प्रवाहकी सूचना दी गयी हो और इधरसे कोई जहाज आये ही नहीं।

अन्तिम सम्भावना ही अधिक है। इसका अर्थ जो कुछ है, जीवनके अन्तिम क्षणतक उसे लेकर आतंकित क्यों बनूँ। किंतु मैं यह सब क्यों लिखने बैठा हूँ ? क्या उपयोग इसका ! इस हिमखण्डपर बैठे-बैठे और कर भी क्या सकता हूँ। समय काटनेका साधन भी तो कुछ चाहिये।

रात्रिका अन्धकार फैलनेसे पूर्व एक दुर्घटना और हो गयी। मैं जिस हिमखण्डपर था, उसमें एक रेखा दीखी मुझे बालके समान पतली। शीघ्र ही वह दरार बन गयी और हिमखण्ड दो टुकड़ोंमें विभक्त हो गया। मैं जिस टुकड़ेपर बैठा था, वह बहुत छोटा हो गया था। कूदकर मैं दूसरे टुकड़ेपर आ गया।

रात्रि कैसे व्यतीत हुई—पूछिये मत ! सूर्यकी किरणोंको देरतक मेरा शरीर सेंकना पड़ा, तब कहीं मैं उठकर बैठने योग्य हुआ हूँ; किंतु यह सम्मुख क्या है ? हे भगवान् ! हे दयाधाम ! यह तो पृथ्वी है, ये वृक्ष दीख रहे हैं समुद्रतटके। मेरे प्रभु ! तो तेरे लंबे हाथ मुझे बचाने यहाँतक बढ़ आये हैं। इतना समुद्र तो मैं अब सरलतासे तैर सकता हूँ।

× × ×

वर्षों पीछे कांगोके समुद्रतटपर एक डायरी मिली। उसमें किसी जर्मन सैनिककी लिखी कुछ बातें हैं। अनुमान है कि पनडुब्बीके डूबनेपर उसका मूर्छित शरीर लहरोंपर बहता रहा और किसी बड़ी लहरने उसे उठाकर पानीमें तैरते हिमखण्डपर फेंक दिया। लेकिन पृथ्वीपर पहुँचकर उसका क्या हुआ, इसका कुछ पता नहीं है।

कांगोके सुदूर उत्तरी गहन जंगलीय भागमें अत्यन्त बर्बर बौने लोग रहते हैं। कांगोके सात फुट ऊँचे बाल्बा जातिके शूर भी उन बौनोंके नामसे काँपते हैं। कोई साहस नहीं कर सका अभीतक उस अञ्चलमें जानेका। सुना जाता है कि कोई गौरवर्ण तरुण उन बौनोंके मध्य रहता है। दूरसे दो-एक आखेटकोंने उसे देखा है। बौनोंके सम्पर्कमें आनेवाली जातिके मुखियाका कहना है—'वह बौनोंका देवता है। उसीके कारण बौने अत्यधिक निर्भय हो गये हैं और अब नरहत्या भी उन्होंने छोड़ दी है। वह देवता कहता है कि 'पूरे संसारका कोई स्वामी है और उसके रक्षा करनेवाले हाथ भले दीखते न हों; सब कहीं विपत्तिसे बचानेको बढ़ जाते हैं, किंतु प्राणियोंके मारनेवालेको वह रक्षक पसंद नहीं करता।'

सारथि

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

यात्री–तुम ऐसा करो, सारथि ! दोपहर होनेसे पूर्व ही हम अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जायँ, नहीं तो कड़ी धूप और मरुभूमिका मार्ग है, बड़ा कष्ट होगा। अच्छा, यह क्या ? देखो कितना सुन्दर उद्यान। मैं कुछ देर यहाँ रुकूँगा। सारथि ! मेरा मन नहीं मानता और मैं थक भी गया हूँ। कुछ विश्राम कर लूँ। तुम भी तो थक गये होगे, घोड़े भी थक गये होंगे। फिर कुछ गति बढ़ा देना।

सारथि–ऐसे तो बहुत-से उद्यान मार्गमें आयेंगे। इससे भी कहीं सुन्दर, इस प्रकार तो, यात्री ! तुम कभी भी गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँच सकोगे।

यात्री–नहीं, अच्छे सारथि ! तुम मेरे ऊपर नहीं तो, इस मूक पशुओंपर ही दया करो तथा अपने ऊपर दया करो। कुछ देर विश्राम कर लो।

सारथि–मैं और मेरे घोड़े दिव्य हैं। हमें थकान नहीं होती। शीघ्र-से-शीघ्र यात्रियोंको उनके गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देना ही हमारा उद्देश्य है। हमें विश्रामकी आवश्यकता नहीं।

सारथिकी बात सुनी-अनसुनी करके यात्री रथसे कूद पड़ा, उद्यानके भीतर घुसा और वहाँका सौन्दर्य देखकर सब कुछ भूल गया। ऊँचे-ऊँचे सघन छायावाले पके फलोंसे लदे वृक्ष, रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्प, मीठे निर्मल जलके स्रोत, पक्षियोंका कलरव—न जाने कितना समय बीत गया। सारथिने पुकारा—'यात्री ! चलो। अब विलम्बका समय नहीं।' यात्रीने उत्तर दिया, 'ठहरो, अभी चलते हैं।' बार-बार सारथि पुकारता, बार-बार यात्री कुछ देर और ठहरनेकी अनुमति माँगता। सारथिका पुकारना अब यात्रीको बुरा लगने लगा और एक बार वह झल्ला ही तो उठा, 'अब इस भरी दोपहरीमें चलनेका समय है ? मारोगे मुझे ?' सारथि अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

कुछ समयके पश्चात् मालीने आकर यात्रीसे कहा, 'अब स्वामी अपनी स्त्रियोंसहित विश्रामके लिये उद्यानमें आनेवाले हैं। आप कृपा करके अन्यत्र चले जायँ।'

यात्री सुनते ही आपेसे बाहर हो गया, 'उस मूर्ख सारथिके बहकाये हुए जान पड़ते हो। मैं नहीं जाता। तुम्हारा स्वामी कैसा असभ्य है जो भरी दोपहरीमें यात्रियोंको आश्रय देनेके स्थानपर उन्हें बाहर सड़कपर धक्का देता है।'

मालीने बहुत समझाया, परंतु मूढ़ यात्रीपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसी बीचमें उद्यानका स्वामी आ गया। उसने धक्के-मुक्के दिलवाकर यात्रीको बलात् बाहर निकलवा दिया। यात्री हताश जलती दोपहरीमें सड़कपर पड़ा बिलबिलाने लगा। जब शोकका वेग कम हुआ तब उसने सारथिको याद किया। अपनी अवज्ञा और उसकी चेतावनीका

स्मरण करके वह पछताने लगा। आँख उठाकर देखा तो रथ और सारथि सामने खड़े थे। यात्रीने सारथिके चरणोंमें सिर रखते हुए कातर स्वरमें कहा, 'अच्छे सारथि ! मुझे क्षमा करना, मैंने तुम्हारी अवज्ञा की।'

'मेरे यहाँ सबको क्षमा है, मैं अवज्ञासे अप्रसन्न नहीं होता।'

'नहीं अप्रसन्न होते तो मुझे इतना कठोर दण्ड क्यों दिलवाया ?'

'मैं किसीको दण्ड नहीं देता। सीधे-से-सीधे और सरल-से-सरल मार्गद्वारा यात्रियोंको उनके गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देना ही मेरा एकमात्र उद्देश्य है। बैठो रथमें। चलोगे ?'

'हाँ चलूँगा सारथि ! अवश्य। पर यह बताओ तुम मुझसे अप्रसन्न तो नहीं हो ?'

'मैं किसीसे कभी अप्रसन्न नहीं होता।'

रथ चलने लगा, परंतु धूप और गरमीके कारण यात्री तिलमिला उठा, घबराकर सारथिसे बोला—'सारथि ! तुम और तुम्हारा रथ दिव्य हैं, पर मैं दिव्य नहीं हूँ। ऐसा अनुग्रह करो, तुम्हारी अवज्ञा भी न हो और मेरे प्राण भी बच जायँ।'

'देखो, सामने एक और उद्यान है, उसमें दोपहर भर विश्राम कर लो, रम मत जाना। सूर्य ढलते ही चलेंगे। उद्यानके माली और स्वामीकी जितनी भी हो सके, सेवा करना, क्रोध और अहंकारके पास न फटकना तो वे प्रसन्न होकर तुम्हें आश्रय दे देंगे। आश्रय पानेवाले अभ्यागतकी तरहसे रहना, अभिमान मत बघारना। देखो, सावधान।'

यात्रीने सारथिकी आज्ञा शिरोधार्य की और अत्यन्त विनीत भावसे उद्यानके एक मालीसे आश्रयकी प्रार्थना की। मालीने विश्रामके लिये एक स्थान बतला दिया। दोपहरी ढली, सारथिने पुकारा। यात्रीने अगले दिन प्रातः चलनेके लिये कहा। सारथि चला गया। इसी बीचमें अपनी विनम्रता और अपने मधुर सम्भाषणसे यात्रीने उद्यानके स्वामीको भी प्रसन्न कर लिया। स्वामीने उसे ठहरनेके लिये एक सुन्दर स्थान दे दिया और उसके भोजनकी भी व्यवस्था कर दी।

प्रातः होते ही सारथि फिर आया और फिर यात्रीने अगले दिनपर टाल दिया। यही क्रम चलता रहा, प्रत्येक प्रातःकाल सारथि आता और प्रत्येक बार वह उसे अगले दिनपर टाल देता। इधर अपनी सेवा और विनम्रतासे यात्रीने उद्यानके स्वामी और समस्त कर्मचारियोंको बहुत ही संतुष्ट कर लिया। उसके दिन बड़े सुखसे कटने लगे और एक दिन उसने सारथिसे कह ही तो दिया—'सारथि ! गन्तव्य स्थानमें क्या इससे भी अधिक सुख है, यदि हो तो भी मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। मैं इसीमें बहुत संतुष्ट हूँ।'

सारथि चला गया और फिर नहीं आया।

दिन जाते देर नहीं लगती। यात्रीको वहाँ रहते कई वर्ष बीत गये और वह सारथि तथा गन्तव्य स्थानको बिल्कुल भूल ही-सा गया। परंतु अब कुछ दिनोंसे यात्रीको बेचैनी अनुभव होने लगी थी। उसके बढ़ते हुए प्रभाव और यशको देखकर कुछ लोग उससे जलने लगे थे। यात्रीने यह भी चाहा कि उसका प्रभाव और यश न फैले, केवल उसे शान्तिपूर्वक रहने दिया जाय, परंतु यह कैसे सम्भव है कि फूल खिले और उसकी सुगन्ध न फैले। यदि फूल अपनी सुगन्धको फैलनेसे रोकना चाहता है तो उसे चाहिये कि बस्तीमें न खिलकर वह किसी जंगलमें खिले; परंतु जंगलमें खिलनेके लिये यात्री तैयार न था। उस उद्यानमें इतना उसका मन रम गया था। एक दिन स्वामीके भोजनमें विष पकड़ा गया। यात्रीपर संदेह हुआ। वह पकड़कर बंदीगृहमें डाल दिया गया। 'हमारे स्वामीको मारकर स्वयं राजा बनना चाहता था'—ऐसा लोग कहते थे और कहते थे कि 'राजा तो बन ही गया था, इसके सामने स्वामीकी कोई पूछ ही नहीं रह गयी थी, परंतु धीरज नहीं रक्खा, नाममात्रका भी आधिपत्य सहन नहीं हुआ। कहाँ स्वामीका उपकार कहाँ इसकी नीचता। कृतघ्न।'

यात्री अब बिलख-बिलखकर रो रहा था, सारथि और उसका रथ बार-बार याद आते थे। अर्द्धरात्रिके उपरान्त किसीने बंदीगृहको खोला, स्वामी सामने खड़े थे, 'नव आगन्तुक ! मुझे विश्वास है तुम निर्दोष हो, मैं तुम्हें बन्धनमुक्त करता हूँ; परंतु अब तुम यहाँ मत ठहरना एक क्षण भी। तुम जाओ, मेरी समस्त शुभ कामनाओंके साथ।'

स्वामीने यात्रीके बन्धन खोलकर उसे मुक्त कर दिया। दोनों बंदीगृहके बाहर आये। यात्रीने स्वामीके चरणोंपर सिर रखकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे क्षमा माँगी, स्वामीने उठाकर आलिङ्गन किया, बिदा दी।

यात्री रुक-रुककर जाने लगा, घनिष्ठ इष्ट-मित्रोंसे अन्तिम बिदा लेनेके लिये रुका। धीरे-धीरे बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी, यात्रीके जानेसे सब दुखी थे; परंतु स्वामीने निर्दोष

पाकर मुक्त कर दिया, इससे सब प्रसन्न भी थे। इतनेमें ही कोई बोल उठा, 'यह तो इधर-उधरकी बातें बनाकर बच गया, अब देखो किसपर विपत्ति आती है।' 'रातभर स्वामी-के कान भरे हैं, देखो कौन-कौन फँसते हैं।' 'तभी तो स्वयं भागा जा रहा है।' 'पकड़ो, भागने न पाये, अन्तिम निर्णयतक' एक साथ बहुतसे कण्ठ चिल्ला उठे। राज्या-धिकारियोंने बीचमें पड़कर यात्रीको निकल जाने दिया। फिर भी कुछ धौल-मुक्के तो उसपर पड़ ही गये।

उद्यानसे निकलकर एक स्थानपर बैठकर यात्री अपनी दशापर विलाप करने लगा—मुझे कहाँ जाना था, सारथिने क्या कहा था, 'रम मत जाना' मैं क्यों उसका आदेश भूल गया, अब क्या होगा, न यहाँका रहा, न वहाँका रहा।

'वहाँके सदैव हो, हर समय हो, जब बनना चाहो तभी हो। यहाँके कभी नहीं हो चाहे कितना ही बननेका प्रयत्न करो। अपनेको यहाँका समझना केवल भ्रम है।'

'कौन, सारथि!, तुम आ गये, अबतक तुम कहाँ थे? कबसे मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ, कबसे मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ।'

'मैं यहीं था, मैं कहीं नहीं जाता। तुम्हीं बार-बार मुझे छोड़कर चले जाते हो। मेरी कोई प्रतीक्षा नहीं करता, मैं ही सबकी प्रतीक्षा करता हूँ। मुझे कोई नहीं पुकारता, मैं ही सबको पुकारता हूँ, जब भी कोई मेरी पुकार सुन ले।'

'सारथि! अब मुझे ले चलो एक दम, शीघ्र, इसी समय। मैंने तुम्हारा आदेश नहीं माना, मैं रम गया। अब नहीं रमूँगा, अब नहीं रुकूँगा।'

रथ फिर यात्रीको लेकर चल निकला। 'सारथि! गति बढ़ाओ, मुझसे कुछ अप्रसन्न हो क्या? जहाँ तुम मुझे ले चलना चाहते हो उस स्थानके लिये आज मैं प्रथम बार इतना उतावला बना हूँ। सारथि! अब प्रसन्न क्यों नहीं होते?'

'मैं कभी अप्रसन्न नहीं होता, मैं कभी प्रसन्न नहीं होता। यात्रियोंको उनके गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देना ही मेरा उद्देश्य है।'

'जो तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं उन्हें सुखपूर्वक, जो तुम्हारी अवहेलना करते हैं और जितनी करते हैं उतने ही उन्हें कष्टों और आपदाओंके बीचसे फँसाकर।'

'मैं न तो किसीको सुख देता हूँ, न किसीको दुःख ही देता हूँ। जिसकी जैसी स्थिति होती है उसके अनुसार ही मैं उसका मार्ग निर्धारित करता हूँ। जो उस मार्गपर चलने-में सुखका अनुभव करे उसे सुख है और जो दुःखका अनुभव करे उसे दुःख है।'

'ठीक है सारथि! क्षमा करो, उस पथसे भटक जाना ही दुःख है। अब मैं उस पथसे नहीं भटकूँगा। गति बढ़ाओ, मैं शीघ्र-से-शीघ्र यात्रा पूरी करना चाहता हूँ।'

'किस गतिसे गन्तव्य मार्गकी ओर बढ़ना है इसका निर्णय भी मैं ही करता हूँ। धीमे-धीमे या द्रुतगतिसे, जैसे मैं उचित समझता हूँ उस गतिसे चलता हूँ।'

'नहीं, सारथि! ऐसा मत कहो, तुम बहुत धीमे-धीमे चल रहे हो, बीचमें कोई और उद्यान दिखायी पड़ गया और मेरा मन रम गया तो क्या होगा। सारथि! अब मैं धोखा नहीं खाऊँगा। इतनी द्रुतगतिसे चलो कि मार्गमें पड़ने-वाला कोई दृश्य मुझे दिखायी न दे। गति, गति और गति, केवल गतिका ही ध्यान रहे। लो, तुम नहीं मानते, बहुत थक गये हो, कुछ देरके लिये भीतर बैठो। मैं रथ हाँकता हूँ।'

यात्रीने लपककर बाग अपने हाथमें ले ली, सारथि भीतर जा बैठा। अब घोड़े हवासे बातें करने लगे। गन्तव्य स्थान अब आया और अब आया, एकाएक रथ उलट गया, यात्री गिर पड़ा, उसका शरीर चूर-चूर हो गया। चेत होनेपर उसने फिर पुकारा, 'सारथि।'

'यात्री।'

'अब तुम्हीं रथ चलाओ, भूल हुई।'

'मैं बहुत मन्द गतिसे चलाऊँगा।'

'मन्द गतिसे चलाओ।'

'मैं बहुत तीव्र गतिसे चलाऊँगा।'

'तीव्र गतिसे चलाओ।'

'मैं नहीं चलाऊँगा।'

'मत चलाओ।'

एकाएक एक झपकीके साथ यात्रीने आँखें खोलकर देखा कि गन्तव्य स्थान आ पहुँचा!

हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ?

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हबीब अजमी बहुत पैसेवाले थे ।

बसरेमें रहते—रुपया सूदपर उठाते ।

सोच रक्खा था उन्होंने कि सूदखोरीसे जो आमदनी होगी उसीसे अपना काम चलाऊँगा । मूलको छुऊँगा भी नहीं ।

जिस दिन सूद न मिलता उस दिन कर्जदारके घरसे खाने-पीनेकी कोई चीज ही उठा लाते और उसीपर वह दिन गुजार देते ।

किसीके यहाँ सूद आसानीसे न मिलता तो हबीब कड़ाई भी बरतते ।

एक दिन एक कर्जदारके यहाँ तकाजा करने पहुँचे तो पता चला कि वह घरपर ही नहीं है । उसकी बीबीने अपनी मजबूरी बतायी । मगर हबीब बिना कुछ लिये टलें कैसे !

लाचार खानेकी कुछ बची चीजें उठाकर उस बेचारीने इनके हवाले कर दीं ।

घर लौटे तो बीबी बोली—मियाँ, खाना पकानेके लिये न आटा है, न लकड़ी । आप फिर निकल पड़े और दूसरे कर्जदारोंको खटखटाकर लकड़ी और आटा ले आये । खाना बननेपर एक फकीर आया । हबीबने उसे यह कहकर वापस कर दिया—'जाओ जी, क्या रक्खा है हमारे पास । हमारे पास जो है वह दे देनेसे तुम तो अमीर बन नहीं जाओगे, हम अलबत्ता गरीब हो जायँगे ।'

बीबी जब सालन उतारकर परोसने बढ़ी तो वह चौंक पड़ी—यह क्या ! हाँड़ीमें तो सालनकी जगह खून-ही-खून भरा है ।

पतिकी कंजूसीसे तंग आ चुकी थी वह भी । बोली—'देखो, यह है तुम्हारी बदबख्तीका—तुम्हारे बुरे कामोंका नतीजा ।'

पत्थर पसीज उठा ।

हबीबने अपने कान पकड़े । कहा—'तुम गवाह हो कि आजसे मैं अपनी जिंदगी बदलनेका इरादा करता हूँ ।'

× × ×

दूसरे दिन था जुमा ।

हबीब घरसे निकला तो पासमें खेलनेवाले लड़के बोले—'देखो जी, वह आता है सूदखोर हबीब, हट जाओ रास्तेसे । कहीं ऐसा न हो कि उसकी धूल हमपर पड़ जाय और हम भी इसीकी तरह बदबख्त हो जायँ ।'

चोटपर चोट !

हबीब सीधे पहुँचा प्रसिद्ध सूफी संत हसन बसरीके पास । उसने उनसे दीक्षा ली और वहीं तोबा कर ली ।

लौटा तो सामनेसे उसका एक कर्जदार जा रहा था । उसे देखकर वह भागा । हबीबने कहा—'अब तुझे मुझसे नहीं भागना है, मुझे ही तुझसे भागना है ।'

हबीबने सोच लिया कि अब न तो मैं सूद लूँगा और न मूल ।

लौटते समय वे ही लड़के फिर खेलते मिले । लड़के इस दफा कह रहे थे—'हट जाओ जी, रास्तेसे । हबीब अब तोबा करके आ रहा है । ऐसा न हो कि हमारी धूल उसपर पड़ जाय और उसके कारण अल्लाह हमारा नाम गुनहगारोंमें लिख लें ।'

हबीबका दिल भर आया !

कितना दयालु है ईश्वर ! तोबा करनेकी देर नहीं कि उसने मेरा नाम नेकनामोंमें लिख लिया ।

हबीबने घर आकर घोषणा कर दी—'मैंने सबको कर्ज छोड़ा ।'

उसने अपनी सारी दौलत खुदाका नाम लेकर गरीबोंमें बाँट दी और नदी-किनारे जाकर एक झोंपड़ी डाल ली । वहीं रहकर साधना करने लगा ।

× × ×

एक दफा हसन बसरी दज्लाके किनारे खड़े थे । हबीबने पूछा—'कैसे खड़े हैं उस्ताद ?'

बोले—'नावके इंतजारमें हूँ ।'

हबीबने कहा—'हसद, ईर्ष्या और दुनियाकी मुहब्बतको दिलसे निकाल दीजिये, बलाओंको गनीमत समझिये और खुदापर यकीन करके पानीपर पैर रखते चले जाइये ।'

हबीबने खुद वैसा करके दिखा दिया ।

हसन बसरी यह देख बेहोश हो गये । होश आनेपर बोले—'हबीबने मुझसे ही ज्ञान सीखा और मुझे ही शिक्षा दी ।'

बादमें उन्होंने हबीबसे पूछा—'तुम्हें यह मर्तबा कैसे हासिल हुआ ?'

हबीबने जवाब दिया—'मैं दिल साफ करता रहा और आप कागज काला करते रहे !'

× × ×

फजील बिन अयाज डाकू थे ।

डाकू ही नहीं; डाकुओंके सरदार ।

लूटका माल साथियोंमें बाँट देते । अपनेको जो चीज पसंद आती, सिर्फ उतनी अपने लिये रख लेते ।

मगर तमाशा यह कि डाकू होते हुए भी बाकायदा नमाज पढ़ा करते, रोजा रखते—पूरी लगनके साथ ।

बात बेतुकी-सी लगती थी; फिर भी फजील डाकू थे ।

एक स्त्रीसे फजीलको प्रेम हो गया ।

लूटका अपना हिस्सा उसीके पास भेज देते । कभी-कभी उसके घर भी चले जाते ।

एक रातकी बात है । फजील अपनी प्रेमिकाके घरपर टिके थे ।

एक काफिला भी वहाँ आकर टिका । उस काफिलेके किसी आदमीने ऐसी एक आयत पढ़ी—

क्या नहीं आया ऐसा वक्त ईमानवालोंके लिये कि उनके दिल अल्लाहके खौफसे डरें ?

फजीलको मानो तीर लगा ।

कहने लगे—'अफसोस, अबतक मैं लूट-मारमें अपनी जिंदगी बर्बाद करता रहा । अब वक्त आ गया है कि मैं खुदाकी राहपर चलूँ ।'

और उस दिनसे फजील डाकूसे साधु बन गये ।

× × ×

इब्राहीम बिन अदहम बलखके बादशाह थे ।

कहते हैं कि एक रातको सोते समय छतपर उन्हें कुछ खटका हुआ ।

आपने आवाज दी—'कौन है ऊपर ।'

जवाब मिला—'तेरा कोई जान-पहचानवाला ही है ।'

'क्या कर रहा है वहाँ ?'

'ऊँट खो गया है, उसीको ढूँढ़ रहा हूँ ।'

'तेरा ऊँट यहाँ महलकी छतपर मिलेगा ?'

इब्राहीमने ताना कसा ।

'बात तो तेरी ठीक है'—आवाज आयी—'पर शाही पोशाक पहनकर तख्तपर बैठनेसे तेरा खुदा तुझे मिल जायगा ?'

इब्राहीमको तीर लगा । बलखकी बादशाहत ठुकरा दी उन्होंने । नेशापुरकी गुफामें जाकर तपस्या करने लगे । हफ्तेमें एक दफा जंगलसे लकड़ियाँ ले जाकर बाजारमें बेचते । कुछ पैसा खैरात करते, बाकीसे अपना हफ्तेभरका काम चलाते । कभी खैरातसे कुछ न बचता तो उपवास करते ।

यह शाही लकड़हारा बहुत ऊँचा सूफी फकीर बना ।

× × ×

एक दिन इब्राहीमने देखा कि एक शराबी जमीनपर पड़ा है । उसका मुँह मिट्टीसे सना था । आप बोले—'जिस मुँहसे अल्लाहका जिक्र होता है उसे इस हालतमें नहीं रहना चाहिये ।'

आपने पानी लाकर उसका मुँह धो दिया ।

जब वह होशमें आया तो लोगोंने उसे बताया कि इब्राहीम साहब ऐसा कहकर तेरा मुँह धो गये हैं । उसपर इसका बहुत असर पड़ा । उसने तोबा की और वह ईश्वरकी आराधनामें लग गया ।

इधर इब्राहीमने सपना देखा कि फरिश्ते उनसे कह रहे हैं—'ऐ इब्राहीम ! तूने अल्लाहके वास्ते उस शराबीका मुँह धोया । अल्लाह तेरा दिल धो दिया ।'

× × ×

अबु हफ़स हदाद एक बाँदीपर लट्टू थे ।

पर अल्लाहकी इबादत फिर भी करते ही रहते थे ।

एक जादूगरसे उन्होंने अपने दिलकी बात कही । बोला—देखो जी, इबादत और जादूमें मेल नहीं बैठता । तुम चालीस दिन इबादत मत करो । तब मैं जादू करूँगा । चालीस दिन बाद जब ये उसके पास पहुँचे और वह जादू चलाने लगा तो उसका जादू कुछ असर ही न कर पाया ।

हैरान होकर बोला—'इन चालीस दिनोंमें तुमने कोई नेक काम तो नहीं किया ? मेरा जादू काम नहीं करता है ।'

हदाद बोले—'नेक काम तो कुछ किया नहीं । सिर्फ इतना ही किया है कि रास्तेमें जाते समय कंकड़-पत्थर उठाकर एक तरफ रख देता था कि कहीं किसीको ठोकर न लगे ।'

जादूगर बोला—'तुम भी क्या आदमी हो ? कितने अफसोसकी बात है कि तुम उस खुदाको याद नहीं करते जिसने इतनेसे मामूली नेक कामको कबूल करके मेरे जादूके असरको खतम कर दिया और उसने तुम्हारी चालीस दिनकी नाफर्मानीका कोई ख्याल नहीं किया ।'

हदादको बड़ी शर्म लगी ।

उनका 'इश्के मजाजी'—दुनयवी प्रेम 'इश्के हकीकी'—ईश्वरीय प्रेममें बदल गया ।

× × ×

हबीब हो या फजील, इब्राहीम हो या हदाद, वाल्मीकि हो या नामदेव, सूरदास हो या बेमन्ना—हम देखते हैं कि पापी-से-पापी व्यक्ति भी एक क्षणमें बदल जाता है । उसकी जिंदगी एकदम नया मोड़ ले लेती है । ऐसा मोड़ कि देखकर दाँतोंतले उँगली दबानी पड़ती है ।

कलतक जो आदमी रुपये-पैसेके लिये, धन-दौलतके लिये, भोग-विलासके लिये, नाना प्रकारकी वासनाओंकी पूर्तिके लिये पागल था—आज वह ईश्वरके लिये पागल हो उठता है !

और हम ? हममें कोई परिवर्तन क्यों नहीं होता ? हम 'जस-के-तस' बने रहते हैं—गोलमटोल पत्थर; क्योंकि हम या तो यह मान बैठे हैं कि हममें कोई दोष नहीं, या यह मान बैठे हैं कि हम तो जो हैं सो ही रहनेवाले हैं, या हम अपने दोष मिटानेका भरपूर प्रयत्न नहीं करते । कभी-कभी एकाध क्षणके लिये किसी बातको लेकर दिल उच्चटता है, पर वह श्मशान-वैराग्य होकर ही रह जाता है ।

बहुत हुआ तो हम शेखजीकी तरह अपनेको बहला लेते हैं—

हाथमें थी जामे मय—लबपर खुदाका नाम था,
दीनो दुनियासे तअल्लुक शेखजीका काम था ।

अथवा—

शामको ढाल ली औ सुबहको तोबा कर ली,
रिन्दके रिन्द रहे, हाथसे जन्नत न गयी ।

पर ऐसी बातोंसे क्या होना-जाना है ?

हमारा जीवन गलत रास्तेपर चलता चले और कभी-कभी हम अपनेको फुसलानेके लिये ईश्वरका भी नाम लेते रहें—तो उससे क्या होगा ?

× × ×

सवाल है कि तब हम करें क्या ?

रास्ता उसका भी है । पर हम उस रास्तेपर चलना भी तो चाहें सच्चे दिलसे ।

उसके लिये हमें सबसे पहले बाहरके बजाय भीतरकी तरफ मुड़ना होगा ।

'हम क्या हैं'—यह देखना होगा ।

ऊपरसे हम क्या दिखते हैं, यह सवाल नहीं । सवाल यह है कि भीतरसे हम क्या हैं । ठीक कहा है किसीने—

अपने ऐबोंपर नज़र कर अपने दिलको पाक कर ।
क्या हुआ गर खल्कमें तू पारसा मशहूर है !

जरूरत है दिलको पाक करनेकी, दिलको माँजनेकी ।

घरकी संडासको जब मैं साफ करता हूँ, साइफनको पानीसे धोता हूँ, झाड़ू रगड़-रगड़कर उसकी काई और मैलको निकालता हूँ तो अकसर ही एक टीस निकल पड़ती है—'काश, इस तरह मैं अपना दिल धो पाता ! मुँहसे गुनगुनाकर ही रह जाता हूँ—

क्या कायाको मल मल धोवे,
मनका मैल निकाल प्यारे !

मनमें तो राग और द्वेषका, मद और मोहका विषय और विकारका अपार मल भरा पड़ा है । कौन दिन होगा ऐसा जब मैं उसे साफकर सफेद बना पाऊँगा ? स्वच्छ, निर्मल, निष्कलंक । यह स्वच्छता, शुभ्रता, सफेदी भीतरकी चाहिये, ऊपरसे क्या !

खानए दिल है सफेद, इसकी सियाही दूर कर !
क्या सफेदीसे महल करता है तू अपना सफेद !

रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ

(लेखक—डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय, एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत), साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०)

भक्तप्रवर नारदकी उत्पत्तिकी कथा

बालमीक नारद घट जोनी । निज निज मुखनि कही निज होनी ॥
(बालकाण्ड ३ । ३)

भक्तिके क्षेत्रमें महात्मा नारदका अद्वितीय स्थान है। भारतीय वाङ्मयके विविध युगोंमें विविध प्रकारसे इनकी यशोगाथाका उल्लेख हुआ है। नारदमुनिका अथर्ववेदमें कई स्थानोंपर नामाङ्कन मिलता है[1]। ब्राह्मण तथा सूत्रकालमें भी आगे चलकर इनके चरित्रपर प्रकाश डाला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा सांख्यायन श्रौतसूत्रमें एक स्थानपर महात्मा नारद पर्वत मुनिके साथ तथा हरिश्चन्द्रके पुरोहितके रूपमें मिलते हैं[2]। छान्दोग्य उपनिषद्में इनकी सनत्कुमारसे भेंट दिखायी गयी है[3]। एक अध्यापकके रूपमें भी इनका परिचय ऐतरेय ब्राह्मण तथा मैत्रायणी-संहितामें उपलब्ध होता है[4]। सामविधान ब्राह्मणमें इनको बृहस्पतिका प्रिय शिष्य बताया हैं[5]। वेदमें इनको मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहा है। ऋक्संहिताके आठवें मण्डलके तेरहवें सूक्त तथा नवें मण्डलके १०४-१०५ वें सूक्तके ये ऋषि कहे गये हैं।

वैदिक साहित्यके इन उपर्युक्त स्थलोंके अध्ययनसे कोई भी इस तथ्यपर पहुँच सकता है कि भक्तप्रवर नारदका जन्म किसी उच्चकुलमें ही हुआ है; क्योंकि पुरोहित तथा अध्यापक आदिका कार्य ब्राह्मण-वर्गके अतिरिक्त किसी अन्य वर्गको उस समय नहीं दिया जाता था। मन्त्रद्रष्टा तथा ऋषिरूप भी इनका ब्राह्मणत्व सिद्ध करता है। महात्मा तुलसीने अन्तःकथारूपमें इन्हें निम्नवंशमें उत्पन्न स्वीकार किया है। कारण स्पष्ट है—

बालमीक नारद घट जोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥

इस चौपाईमें नारदका उल्लेख वाल्मीकि और घटयोनि (अगस्त्य) के साथ हुआ है। अगस्त्य उर्वशीपुत्र थे, इसका उल्लेख ऋग्वेदके सातवें मण्डलके ३३ वें सूक्तकी १०-१३ ऋचाओंमें हुआ है। अप्सरा उर्वशीके वारविलासिनी रूपका संकेत भी ऋग्वेदकी उपर्युक्त ऋचाओंमें उपलब्ध हो जाता है। कवि वाल्मीकिका सम्बन्ध भी किरातोंसे हो जाता है। अतः यह भी निम्नवंशसे सम्बन्धित सिद्ध होते हैं। अगस्त्य और वाल्मीकिके निम्न वंशमें उत्पन्न होनेपर भी भगवत्कृपासे ये दोनों कितने महान् और तेजस्वी हुए—यह सर्वविदित है। इन दोनों महापुरुषोंके साथ 'मानस' में नारदका उल्लेख जिस परिस्थितिमें हुआ है; वह भी नारदको निम्न वंशसे ही सम्पर्क सिद्ध करता है।

सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई॥

इस चौपाईके बाद ही वाल्मीकि, नारद और अगस्त्यके जन्मोंका उल्लेख है। स्पष्ट है; सत्संगति तथा भगवत्-महिमाके द्वारा कौन क्या नहीं हो जाता, इसी माहात्म्य-प्रदर्शनके लिये इन तीन महापुरुषोंकी जीवन-गाथाओंकी ओर महात्मा तुलसीने संकेत दिया है। वैदिक स्थलोंके विवेचनसे इतना तो स्पष्ट ही है कि इस कथाके लिये महात्मा तुलसीने अपना उपजीव्य वैदिक साहित्य नहीं बनाया। श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा वराहपुराणमें वर्णित नारदके जन्मकी कथा ही इनका आधार रही है; क्योंकि भागवतादिमें नारदको दासीपुत्र बताया है। दासीपुत्र नारद किस प्रकार भगवान्के प्रसादसे भक्तप्रवरों और श्रेष्ठ मुनियोंमें अग्रणी हुए; मात्र वैष्णव-धर्मके माहात्म्य-दर्शनके लिये भागवतमें नारदके जन्मका उल्लेख है और इसी उद्देश्यको लेकर महात्मा तुलसीने भी उपर्युक्त प्रसङ्गमें भक्त नारदकी जन्म-गाथाको अन्तःकथामें चित्रित किया है।

वैसे पौराणिक साहित्यमें भी महात्मा नारदका महत्त्व कम नहीं दिखाया गया है। अनेक स्थलोंपर इनका माहात्म्य-वर्णन है। पुराणोंमें नारद शिवके विवाहमें घटक-रूपसे, भगवान् वामनके उपनयनमें उद्योगी-रूपसे, ध्रुवकी तपस्यामें मन्त्रदाताके रूपसे तथा दक्षके शापको निष्फल बनानेमें महान् तपस्वीके रूपसे सभी जगह मिलते हैं। निगम और आगमके ज्ञाता-रूपमें भी नारदका चरित्र पुराणोंमें वर्णित है। श्रीमद्भागवतके अनुसार इन्होंने पञ्चरात्रागम तन्त्रका उपदेश सावर्णि मनुको किया है[1]। महाभारतके अनुसार इन्होंने नारायणतकको आत्मतत्त्वका बोध कराया है[2]। महाभारतमें इनकी सनत्कुमारसे ज्ञानविषयक वार्ता भी हुई है[3]। इन्होंने महात्मा

विस्तारसे देखिये—१. अथर्व० ५।१९।९ तथा ७।४।१६; २. ऐत० ब्रा० ७।१३ तथा सांख्या० श्रौ० सू० १२।१७; ३. छान्दो० उप० ७।१।१; ४. ऐत० ब्रा० ७।३४ तथा मैत्रा० सं० १।५।८; ५. साम० ब्रा० ३।९।

विस्तारसे देखिये—१. भाग० १।३८ तथा १।५।१९ २. महाभा० शा० ३३९। ३. महाभा० अनु० ३८

शुकदेवको ज्ञानोपदेश दिया[1]। वासुदेवको भागवत-धर्म बताया[2] तथा भक्त पुण्डरीकको नारायण-माहात्म्य सुनाया[3]। स्मृतिकार याज्ञवल्क्यने धर्मशास्त्रकारोंमें इनका भी उल्लेख किया है[4]। नारद-भक्तिसूत्र इनकी भक्तिविषयक ज्ञान-गरिमाको बता रहा है।

वैदिक साहित्यमें इनके जन्मका केवल संकेत मिलता है। कथारूपमें उसका निरूपण वैदिक साहित्यमें कहीं नहीं हुआ। पुराणोंमें इनकी उत्पत्तिके विषयमें विविध प्रकारकी धारणाएँ हैं। वहाँ इनको कहीं ब्रह्माका मानस-पुत्र कहा है[5] तो कहीं साक्षात् ब्रह्माका तीसरा अवतार ही बताया है[6]। एक अन्य स्थानपर इनको ब्रह्माकी जंघासे उत्पन्न कहा गया है[7]। ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्मपुराणके अनुसार परमेष्ठिने दक्षपुत्रीसे इन्हें पैदा किया है[8]। देवीभागवतमें तो इन्हें वीरिणीसे साक्षात् दक्षका ही पुत्र बताया है[9]। वायुपुराणमें एक स्थान-पर इन्हें कश्यप प्रजापतिका पुत्र कहा है[10]। भागवतमें इनको दासीपुत्र तथा वराहपुराणमें इन्हें सारस्वत ब्राह्मण बताया है[11]। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी इनके कई जन्मोंकी कथाका उल्लेख है[12]।

ऊपर पुराणोंमें वर्णित कथाकी समीक्षा की जाय तो महर्षि नारदकी उत्पत्ति मुख्यतः ब्रह्मासे, दक्ष या कश्यप प्रजापतिसे, किसी सारस्वत ब्राह्मणसे या किसी दासीसे इन चार रूपोंमें हुई है। पुराणोंमें मुनिके जन्म-सम्बन्धी ये विविध मान्यताएँ जैसा कि पुराणोंमें वर्णित कथासे स्पष्ट होता है, कल्पभेदसे मानी गयी हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि किसी शापसे किसी कल्पमें जन्म-जन्मान्तर ग्रहण करनेपर भी महर्षि नारदका सम्बन्ध ब्रह्मासे जोड़ दिया गया है। इनमें भागवत तथा ब्रह्मवैवर्तपुराणको छोड़ कहीं भी मुनिको हेयजन्मा नहीं दिखाया है। गोस्वामीजीके उपजीव्य सम्भवतः ये दो ग्रन्थ ही हो सकते हैं। नीचे हम इन्हीं कतिपय पुराणोंका आधार लेकर महर्षि नारदके जन्म-जन्मान्तरोंकी गाथा संक्षेपमें प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध १, अध्याय ५-६की कथाका सार

पूर्वकालमें नारद किन्हीं वेदाध्यायी ब्राह्मणोंकी सेवा करनेवाली किसी दासीके पुत्र थे। एक बार वर्षाऋतुमें कुछ योगी समीपमें ही चातुर्मास्य कर रहे थे। उन ब्राह्मणोंने नारदको योगियोंकी सेवामें नियुक्त कर दिया। अपने बाल-कालमें भी दासीपुत्र होते हुए नारद जितेन्द्रिय तथा कर्मठ थे। इसीलिये योगियोंका अनुग्रह उनपर बहुत अधिक था। योगियोंने उन्हें अनेक मनोहर कथाएँ सुनायीं, जिससे उनका हृदय शुद्ध हो गया और भगवान्‌की भक्ति उनमें उत्पन्न हो गयी। उनकी भक्ति-भावना देखकर उन योगियोंने जाते समय उन्हें गुह्यतम ज्ञानका उपदेश भी दिया, जिससे उन्होंने मायाके प्रभावको जाना।

महात्माओंके जानेके बाद उन्होंने अपना जीवन अधिक भगवदर्चनामें लगाया। वह अपनी दासी माँके अकेले पुत्र थे, अतः माँने उन्हें स्नेह-पाशमें जकड़ रखा था। योगक्षेमकी चिन्ता उस समय उनकी माँ ही करती थी। एक बार रात्रिमें गो-दोहनके लिये उनकी माँको घरसे बाहर आना पड़ा। संयोगसे मार्गमें उन्हें सर्पने डस लिया और इस प्रकार उनकी माँकी मृत्यु हो गयी। माँके मरनेपर वे भी ब्राह्मणोंका सामीप्य छोड़ अज्ञात उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े। अनेक नदी, गाँव तथा लघु पर्वतोंको लाँघते हुए वे एक गहन वनमें पहुँचे। वहाँ नदीमें स्नान और जलपान कर वे एक अश्वत्थ वृक्षके नीचे समाधि लगाकर बैठ गये। भक्तिके वश भगवान् हृदयमें प्रकट हुए, पर सहसा ही वे अन्तर्हित भी हो गये। उन्होंने हृदयमें भगवद्दर्शनके लिये बहुत प्रयास किया, पर वे फिर उस छविको नहीं देख सके। तब भक्तकी आतुरतापर आकाश-वाणीसे मधुर स्वरमें भगवान्‌ने कहा—'खेद है कि इस जन्ममें तुम मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे; क्योंकि जिनकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो जातीं, ऐसे उन अधकचरे योगियोंको मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है।' अनन्तर भगवान्‌की कृपासे उनकी जगत्सम्बन्धी आसक्ति मिट गयी और वे निःस्पृह हो गये। उन्होंने जीवनपर्यन्त अनासक्तभावसे अपनेको भगवद्भजनमें लगाया। अन्तमें मृत्यु होनेपर उन्होंने अपने इस पञ्चभूतमय स्थूल शरीरको त्यागा और सूक्ष्मरूपमें भगवान्‌के पार्षद बने। पुनः सृष्टिके विस्तारपर नारदरूपसे ब्रह्माके मानस पुत्र बनकर भगवान्‌के गुणोंका गायन करते हुए वे पृथ्वीपर भ्रमण कर रहे हैं।

---

[1] महाभा० शान्ति० ३२९–३३२; [2] भाग० ११. २; [3] महाभा० अनु० १८६ तथा पद्म० उत्तर० ८०; [4] याज्ञ० १। ४-५; [5] मत्स्य० ३। ६–८, ह० वं० १, वायु० २। ४. ९; [6] भाग० १।३।८; [7] भाग० ३।१२।२८; [8] ब्रह्माण्ड० ३।२।१८ तथा ब्रह्म० १२।१२–१५; [9] देवीभा० ७।१; [10] वायु० २।९।७८–८०; [11] भाग० १।५-६; वराह० ३; [12] ब्रह्मवै० ब्रह्म ८–२१

भागवतमें अपने इस जन्मसम्बन्धी आख्यानको नारदने स्वयं ही महर्षि वेदव्यासको सुनाया है। यहाँ ब्रह्मपुत्र होनेसे पूर्व नारदको दासीपुत्र बताया है तथा भक्तिके प्रभावमें उन्हें भगवान्‌का पार्षद होना भी दिखाया है।

ब्रह्मवैवर्त पुराणमें नारदके कई जन्मोंका वर्णन है। भागवतमें ब्रह्माका मानस-पुत्र बननेसे पूर्व नारदका दासी-पुत्ररूपमें उल्लेख है, किंतु यहाँ नारदको पूर्वमें ही ब्रह्माका पुत्र बताया है। यहाँ पिता ब्रह्माके शापके कारण ही नारदको विभिन्न जन्मोंमें भटकना पड़ा है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखण्ड अ० ८–२१ की कथाका सार

'सृष्टि-रचना करते हुए ब्रह्माने अन्य बहुत-से ऋषियोंके साथ नारदको भी उत्पन्न किया। ब्रह्माने उन सभीको संतान पैदा करनेकी आज्ञा दी। उन सभीने पिताकी आज्ञाका पालन किया, पर उनमेंसे नारदने भगवद्भक्तिको अमृत तथा विषयप्रवृत्तिको विष बता पिताके आदेशका विरोध किया। इसपर ब्रह्माने नाना जन्मोंमें और भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेनेका नारदको शाप दिया। शापमें उन्होंने उन्हें स्त्रियोंके प्रति लोभी, लम्पट तथा श्रृङ्गाराभिलाषी आदि होनेकी बात कही[1]। ब्रह्माजीके शापके कारण नारद एक जन्ममें गन्धर्वकुलमें उपबर्हण नामसे, दूसरे जन्ममें द्रुमिल शूद्रके यहाँ शूद्रा-पुत्र होकर तथा तीसरे जन्ममें पुनः ब्रह्माके पुत्र हुए। नारदके गन्धर्वकुलमें तथा दासीकुलमें जन्म लेनेकी कथा क्रमशः इस प्रकार है[2]—

'उपबर्हण गन्धर्वराजका पुत्र था। गन्धर्वराजने इस पुत्रको दिव्य सौ वर्ष शंकरकी उपासना करके प्राप्त किया था। उपबर्हणको गन्धर्वोंकी पचास पत्नियोंने प्रेमसे देखा। इन सभी स्त्रियोंने आसक्तिके योगसे प्राण छोड़ चित्ररथकी कन्याओंके रूपमें पुनः जन्म लिया। बड़ी होनेपर सभी उपबर्हणके साथ ब्याह दी गयीं। उपबर्हणने तीन लाख वर्षतक इनके साथ भोग किया। एक दिन ब्रह्मसभामें रम्भाके यौवनको देख उपबर्हणका मन चञ्चल हो उठा। इससे ब्रह्माने उसे पुनः शूद्रयोनिमें जन्म लेनेका शाप दिया। उपबर्हणने योगसे अपना शरीर छोड़ा। यही उपबर्हण दूसरे जन्ममें ब्रह्माके शापसे शूद्राके गर्भसे उत्पन्न हुआ।'

उपबर्हणके शूद्रकुलमें जन्म लेनेकी कथा इस प्रकार है—

'कान्यकुब्ज देशमें द्रुमिल नामका एक शूद्र राजा था। उसकी कलावती नामकी एक स्त्री थी जो बाँझ थी। वह पतिकी आज्ञासे काश्यप नारदके पास वीर्याधानका प्रस्ताव लेकर पहुँची। नारदने उस शूद्राको भली-बुरी बातें सुनायीं। इसी समय मेनका उधरसे निकली। इस अप्सराका सौन्दर्य देख काश्यप नारदका शुक्र स्खलित हुआ। कलावतीने उसे पी लिया। इसी गर्भसे एक बालकका जन्म हुआ। इस बालकको पाँच वर्षकी अवस्थामें ही अपने पूर्व-जन्मकी स्मृति बनी हुई थी। वह भगवद्भक्त भी था। इसीसे इसका नाम नारद पड़ा। इस पुत्रको पाकर द्रुमिलका शरीर पवित्र हो गया और वह जीवन्मुक्त हो गया। तब पुत्र-सहित वह कलावती शूद्रा किसी ब्राह्मणके घर रहने लगी। एक बार उस ब्राह्मणके यहाँ चार मुनि आये। संयोगसे उन मुनियोंका उच्छिष्ट भोजन उस बालकको मिला। मुनि उस बालककी भक्ति-भावना देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उनमेंसे चौथे मुनिने बालकको कृष्णमन्त्र भी दिया। मुनियोंके जानेपर वह उनके बताये मार्गका अनुसरण कर भगवद्-भजनमें जीवन-यापन करने लगा। एक बार उसकी माताको सर्पने काट लिया, जिससे वह मर गयी। अनन्तर मातासे वियुक्त उस बालकने गङ्गाके किनारे जाकर किसी अश्वत्थ वृक्षके नीचे दिव्य सहस्र वर्ष कृष्णमन्त्रका जाप किया। इससे उसे हरिदर्शन हुए, पर भगवान् शीघ्र ही अन्तर्हित हो गये। तब उसकी व्याकुलता देखकर आकाशवाणी हुई कि तुझे इस शरीरसे कृष्णदर्शन नहीं होंगे। तब धैर्य-पूर्वक कृष्णमन्त्रका जाप करते हुए उसने अपना वह दासी-पुत्रका शरीर त्यागा और इस प्रकार ब्रह्माके शापसे छुटकारा पाकर अन्तमें उसने श्रीकृष्णका सांनिध्य पाया।'

'यही दासीपुत्र नारद बादमें सृष्टिके विस्तारपर पुनः ब्रह्माका मानसपुत्र हुआ और अनन्तर उन्होंने अपना जीवन भगवान्‌के यशोगानमें लगाया। इस पुराणमें यहाँ नारदके नामकी अनेक व्युत्पत्तियाँ भी दी गयी हैं[1]।'

---

[1] ब्रह्मवै० ब्रह्म० ८. ६७.६८

[2] उपबर्हणकी कथा इसी पुराणके अध्याय १२–१८ में तथा दासीपुत्रकी कथा अध्याय २०–२१ में है।

[1] व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं—इस बालकके जन्म लेनेसे पूर्व देशमें अनावृष्टि थी, इसके जन्म लेते ही वर्षा हुई, इसीसे इसका नाम (नारं–जलं, ददाति इति नारदः) नारद पड़ा। इसने जन्म लेते ही अन्य बालकोंको ज्ञान दिया। इस प्रकार महाज्ञानी होनेसे (नारं—ज्ञानं ददाति इति नारदः) इसका नाम नारद पड़ा। यह काश्यप नारदके वीर्यसे उत्पन्न हुआ, अतः इसका नाम (नारदस्य अपत्यः पुमान् इति नारदः) नारद पड़ा। देखिये ब्रह्मवै० ब्रह्म० २१. ८–१०।

स्पष्ट है शूद्रकुलमें नारदकी उत्पत्ति दिखाकर कथाकारने यहाँ भागवतका अनुसरण भी किया है, साथ ही उपबर्हणके जन्मकी घटनामें उसकी नवीन कथा भी है। उपबर्हणकी घटनामें लेखकका उद्देश्य चरित्ररक्षा प्रतीत होता है; क्योंकि चारित्रिक दूषणके कारण ही उपबर्हणको शूद्रकुलमें जन्म लेना पड़ा। शेष बादकी घटनामें भागवतकी भाँति यहाँ भी भक्तिका प्रभाव दिखाया गया है।

वराहपुराण—अध्याय ३

'पूर्वजन्ममें अवन्तीपुरीमें सारस्वत नामक कोई ब्राह्मण था। उसने एक बार विषय-सुखोंकी असारताको सोच तपके लिये प्रस्थान किया। उसने पुष्कर तालाबपर स्नान कर समाधि लगा विष्णुका ध्यान किया। भगवान् वहाँ प्रकट हुए। तब उसने भगवान्के शरीरमें लय माँगा। भगवान् विष्णुने कहा—'प्रकृतिपूर्वक इस शरीरके त्यागनेपर दूसरे शरीरसे ही तुम मुझमें लय पा सकते हो।' भगवान्के वचनोंका आदर कर सारस्वतने समयपर भौतिक शरीर त्यागा। वही सारस्वत ब्राह्मण भगवान्की भक्तिसे ब्रह्माके दस मानस पुत्रोंमेंसे नारदरूपमें एक हुआ, जिसने उस जन्ममें भी भगवदर्चनामें ही जीवन लगाया।'

वराहपुराणकी इस कथामें भागवत आदिकी भाँति नारदको पूर्वमें दासीपुत्र नहीं दिखाया गया है, उनको ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न बताया है। भागवतादिकी भाँति यहाँ भी नारदजन्मपर भक्तिका प्रभाव स्पष्ट है।

* * *

दृष्टान्त-रहस्य

(लेखक—श्री ह० भ० प० चातुर्मास्ये महाराज)

प्रायः श्रीमद्भागवत एवं ज्ञानेश्वरी आदि ग्रन्थोंमें किसी सिद्धान्तको सिद्ध करनेके लिये जो दृष्टान्त दिये गये हैं, उनमें प्रथम दृष्टान्तमें कुछ न्यूनता होनेसे दूसरा दृष्टान्त दिया गया है, दूसरेमें त्रुटि होनेपर तीसरा, तीसरेमें कमी होनेसे चौथा। सारांश, जबतक दृष्टान्तमें पूर्णता नहीं आती, तबतक वह परम्परा चलती ही रहती है। श्रद्धालु भावुकोंकी ऐसी ही धारणा है और हमारी बुद्धि भी इसी सत्यपर पहुँचती है। प्रसंगवश हमें एक महत्त्वपूर्ण भागवत-श्लोकके दृष्टान्त-रहस्यपर विचार करना है। वह श्लोक इस प्रकार है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(श्रीमद्भागवत ६। ११। २६)

इसका सरलार्थ इस प्रकार है—'जिन्हें पंख नहीं जमे हैं, ऐसे छोटे-छोटे पक्षियोंके बच्चे अपनी माताकी जिस तीव्रतासे राह देखते हैं, क्षुधा-पीड़ित आतुरतासे जिस प्रकार स्तन्यपान करनेके लिये गौकी प्रतीक्षा करते हैं, दूर-देशस्थ प्रिय पतिसे मिलनेके लिये पतिव्रता स्त्री जिस तरह उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन तुमको देखनेके लिये लालायित है।' इस श्लोकमें मन भगवान्के लिये कैसे उत्कण्ठित है, यह बतलानेके लिये तीन दृष्टान्त दिये गये हैं। यहाँ विचार करना है कि पूर्व दृष्टान्तमें क्या त्रुटि देखकर उत्तरोत्तर दृष्टान्त दिये गये हैं। पहला दृष्टान्त पक्षियोंके उन बच्चोंका दिया गया है, जिनके अभीतक पंख नहीं जमे हैं। वे अपने आहारके लिये इतर-परमुखापेक्षी होते हैं। माता जब उनके मुखमें इधर-उधरसे लाकर दाने डालती है, तभी उनका पोषण होता है, अन्यथा नहीं। पंखके अभावमें स्वतन्त्ररूपसे या माताके साथ भी कहीं जाना उनके लिये अशक्य होता है। इसलिये जिस स्थानमें वे होते हैं, वहींसे आहारके लिये माताकी प्रतीक्षा करना उनके लिये अनिवार्य होता है। अर्थात् माताको अधिक स

दानेपर भूखके कारण जैसे उनकी उत्कण्ठा बढ़ती है, वैसे ही हे भगवन् ! मेरा मन तुम्हारे लिये छटपटाता है ।

अब इस बातपर विचार करना है कि प्रथम दृष्टान्तमें क्या त्रुटि देखकर दूसरा दृष्टान्त दिया गया । इस दृष्टान्तमें यह न्यूनता है कि बच्चोंका मातापर गौण प्रेम होता है । माता उनके लिये आहार जुटानेका साधनमात्र होती है, अतः उनका दानेपर मुख्य और मातापर गौण प्रेम होता है । इसलिये यह दृष्टान्त पूरा नहीं उतरा । दूसरे दृष्टान्तमें यह त्रुटि दूर कर दी गयी । दूसरे दृष्टान्तमें पहलेकी अपेक्षा यह वैशिष्ट्य है कि वत्सोंको उसके पालकद्वारा बाँधा जाता है । उनमें गौके साथ वनमें जानेकी शक्ति होनेपर भी उन्हें जबरदस्ती बन्धनमें रक्खा जाता है । पक्षियोंके बच्चोंमें माताके साथ जानेकी शक्ति ही नहीं रहती । इससे वत्सोंके दुःखकी तीव्रता अधिक होती है और उनका उपजीव्य भी प्रत्यक्ष गौ होती है । पहले दृष्टान्तकी भाँति अन्य पदार्थ नहीं होता । गोवत्सका स्तन्यके लिये लालायित होना मानो गौके लिये ही लालायित होना है । कारण, गौके स्तनोंमें और गौमें अवयव-अवयवि-भाव सम्बन्ध है । यद्यपि तार्किकोंने अवयव-अवयवी, जाति-व्यक्ति, क्रिया-क्रियावान् आदिमें समवाय-सम्बन्ध माना है, वेदान्त-शास्त्रने तो उनमें तादात्म्य अर्थात् अभेद सम्बन्ध ही माना है, इससे गौ और उसके स्तन एक ही वस्तु है । पक्षियोंकी भाँति उनका उपजीव्य अन्य पदार्थ न होनेसे वत्सोंका गौके ऊपर मुख्य प्रेम होता है । इसके सिवा वत्सोंके लिये 'क्षुधार्त्ताः' विशेषण दिया गया, इससे भी उनके दुःखकी तीव्रता अधिक सिद्ध होती है ।

अब तीसरे दृष्टान्तके कारणपर विचार करेंगे । दूसरे दृष्टान्तमें यह कमी है कि गोवत्सोंका प्रेम कालके द्वारा मर्यादित है । गौके स्तनोंका दूध पी लेनेके बाद न तो वत्सोंको गौकी आवश्यकता रह जाती है, न गौका प्रेम ही वत्सोंपर उतना रह जाता है । अर्थात् दोनों ओर प्रेमकी अखण्ड धारा न होनेसे यह दृष्टान्त भी अपूर्ण ठहराया गया । तब तीसरा दृष्टान्त देकर यह न्यूनता भी पूर्ण कर दी गयी । तीसरे दृष्टान्तमें पतिव्रता स्त्रीका प्रेम अपने पतिपर आजीवन अखण्ड होता है । यह सत्य है कि आजकल कुछ प्रेम-विवाह करनेवाले थोड़े ही दिनोंमें परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं; किंतु उनका विवाह-बन्धन केवल वैषयिक आकर्षणको लेकर ही होता है । पातिव्रत्यकी भावना उन ललनाओंमें नहीं होती । यदि ऐसा होता तो सम्बन्ध-विच्छेदकी परिस्थिति कैसे आती ? ऊँचे स्तरकी पतिव्रता नारी पति-निधनके बाद उसका सहगमन करती है अर्थात् उसमें पतिके प्रति आत्मसमर्पणका दिव्य भाव रहता है । साधकके लिये अधिकार-भेदसे जैसे कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि साधन कहे गये हैं, वैसे ही स्त्रियोंके लिये शास्त्रने पातिव्रत्य योगका साधन कहा है । अर्थात् इस दृष्टान्तमें आत्मसमर्पणका भाव पूर्णतया अभिव्यक्त होनेसे इसके आगे कोई और दृष्टान्त नहीं दिया गया । पतिके प्रति आत्मसमर्पण करनेवाली पतिव्रता पत्नी पतिके दूर देशस्थ होनेपर उसको देखनेके लिये कितनी आतुर होती है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है । इस श्लोकमें भगवान्के लिये 'अरविन्दाक्ष' विशेषण देनेसे भक्त-जनमानसपर भ्रमरत्वका आरोप किया गया जान पड़ता है और 'मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्' इस वाक्यमें दिदृक्षा—देखनेकी इच्छा—रूप क्रियाका कर्ता अपनेको न बताकर मनको बताया गया है, इससे भगवद्दर्शनकी लालसाकी तीव्रता द्योतित की गयी है ।

क्षमाका जीवनमें स्थान

(लेखिका—श्रीमती पद्मारानी वैश्य)

दूसरोंके द्वारा जो सांसारिक हानि हमको यदा-कदा पहुँच जाती है, उसका ध्यान रखते हुए बदलेकी भावनाको बनाये रखना आध्यात्मिक आत्म-हत्या है। क्षमा-भावके उदयसे हृदयके अंदर आध्यात्मिक प्रकाशका उदय होता है और शान्त तथा सुखी जीवनका आरम्भ। जो व्यक्ति यह सोचता है कि अमुक व्यक्तिने उसका अपमान किया, अनादर किया, हानि पहुँचायी और उससे बदला लेनेकी तरकीबें सोचता रहता है, ऐसे व्यक्तिको स्वप्नमें भी मानसिक शान्ति नहीं मिल सकती। जिसमें प्रतिहिंसाके भाव भरे हुए हैं, जो बदलेकी भावनाके कारण अस्थिर है, ऐसे हृदयमें मानसिक शान्ति किस प्रकार रह सकती है।

प्रतिहिंसा एक तीव्र विष है, जो चित्तके अणु-अणुमें फैलकर उसे विकारयुक्त बना देता है। विकारयुक्त चित्तमें वैर-भाव अपना घर बना लेता है, जिसके कारण चित्तकी सब अच्छी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। नाराज होना एक प्रकारकी अस्वास्थ्यकर कुटेव है, जो मनुष्योंके दया-रस और प्रेम-भावको सुखा देती है। वास्तवमें हृदय-हीन और क्षमा-भावरहित व्यक्तियोंको बहुत ही तीव्र मानसिक वेदना होती है। वह वेदना प्रायः निरन्तर बढ़ती ही रहती है; क्योंकि आकर्षण-सिद्धान्तके अनुसार ऐसे व्यक्तियोंका हृदय दूसरे मनुष्योंके प्रति हिंसक विचारोंसे बहुत प्रभावित होता है। हृदयका हृदय-हीन और कठोर हो जाना हृदयपर एक विचित्र प्रतिक्रिया पैदा करता है, जिसके कारण मानसिक अशान्ति और क्लेश बढ़ जाते हैं।

जब भी कोई व्यक्ति अपने किसी दृश्य अथवा अदृश्य कार्यसे हृदय-हीनता और क्षमा-हीनताका परिचय देता है तो वह स्वयं अपने अंदर निम्नलिखित पाँच प्रकारके मानसिक क्लेशोंका आह्वान करता है—

१—प्रेम-भावके नष्ट होनेका मानसिक क्लेश।

२—भ्रातृ-भावके नष्ट होनेका मानसिक क्लेश।

३—मानसिक अस्थिरतासे उत्पन्न हुआ मानसिक क्लेश।

४—खण्डित गर्व अथवा अतृप्त वासनासे पैदा हुआ मानसिक क्लेश।

५—दूसरोंके द्वारा दिया गया दण्ड और मानसिक क्लेश।

इसके विपरीत क्षमा-भावसे प्रेरित प्रत्येक कार्य करनेपर निम्नलिखित पाँच प्रकारके आनन्द-भाव आशीर्वादस्वरूप प्राप्त होते हैं—

१—प्रेम-भावसे प्राप्त आनन्द।

२—भ्रातृ-भाव-बन्धन दृढ़ होनेका आनन्द।

३—शान्ति और स्थिर मनसे उत्पन्न हुआ आनन्द।

४—वासनाओंके शान्त होने और गर्वके जीते जानेका आनन्द।

५—दूसरोंके द्वारा की गयी भलाइयोंका आनन्द।

क्षमाभावरहित मनुष्योंके हृदयमें अहंभावकी गन्ध होना स्वाभाविक है। छोटी-छोटी बातोंपर बिगड़ उठना, खीझ जाना, क्षणिक आवेशमें कुछ भी कह डालना। वास्तवमें बात यही है कि उस क्षमाहीन व्यक्तिपर अभिमानका नशा छाया रहता है। मिथ्याभिमानके कारण उसे ऐसा प्रतीत होता है कि सबके काम और सबके विचार उसके प्रतिकूल हैं।

मिथ्या अभिमानको समूल नष्ट करना बहुत ही कठिन कार्य है, किंतु जितना भी प्रयत्न इस दिशामें किया जाय उतना ही प्रशंसनीय है। मिथ्या अभिमान-

को नष्ट करने और क्षमा-भावको सदैव बनाये रखनेके लिये यह आवश्यक है कि हम क्रोधको अपने पास न फटकने दें और दूसरोंकी बातसे नाराजगी और प्रति-हिंसाकी भावना मनमें उत्पन्न न होने दें। मिथ्याभिमान-को नष्ट करना ही क्षमा-शीलताको उत्पन्न करना है।

दूसरोंको नाराज न करना और दूसरोंपर नाराज न होना—ये दोनों बातें साथ-साथ चलती हैं, जैसे मधुर-भाषी एवं क्षमाशील मनुष्य वाणीद्वारा तो दूसरोंपर नाराज होते ही नहीं; वे अपने कार्योंद्वारा भी यही ध्यान रखते हैं कि दूसरोंको कष्ट या हानि न पहुँचे ताकि वे नाराज न हों। उनके हृदयमें प्रेम-भाव, दया-भाव और विनय-भावका प्रादुर्भाव सदैव वर्तमान रहता है। क्षमाशील व्यक्तिको इस बातकी चिन्ता नहीं रहती कि दूसरे मनुष्य उसके विरुद्ध क्या करेंगे या कहेंगे? यदि दूसरे मनुष्य उसकी किसी त्रुटि अथवा कमजोरीको बताते हैं तो खुशी-खुशी वह उसपर मननके द्वारा अपनी त्रुटियोंको सुधारनेका सतत प्रयत्न करता है।

यह एक अटल सत्य है कि ईर्ष्या ईर्ष्यासे नष्ट नहीं हो सकती, यह प्रेम और क्षमासे ही जीती जा सकती है। जहाँ प्रतिहिंसा और हृदय-हीनता घुटने टेक देती है, वहाँ क्षमा और प्रेम सफल होते हैं।

विशुद्ध ईश्वरीय प्रेम-मन्दिरका एक द्वार क्षमा है। मन्दिरके अंदर प्रवेश करनेसे पहलेतक हमारा ध्यान क्षमा-द्वारकी ओर रहता है, किंतु अंदर प्रवेश करनेके बाद प्रेममय हो जाता है, फिर वहाँ क्षमा और प्रतिहिंसा-का अस्तित्व ही मिट जाता है।

विश्वास और श्रद्धाके प्रतीक देवालय

(लेखक—श्रीओंकारमलजी सराफ, संस्थापक, देवालय-संरक्षणसमिति*)

सनातनधर्मकी नींवमें युगोंसे संचित विश्वास और श्रद्धाकी ईंट तथा वज्रलेप लगा है। इस विश्वास और श्रद्धाकी रक्षा न केवल वैयक्तिक या सामूहिक तपश्चर्यासे होती रही है, बल्कि कोटि-कोटि बलिदानोंसे भी हुई है। सनातनधर्मका पूरा इतिहास बलिदान, समर्पण और साहचर्यसे लिखा गया है। इन तीनों आचारोंकी जड़में अटूट विश्वास और अखण्ड श्रद्धा संनिहित है।

आज विश्वास टूट रहा है, श्रद्धा खण्डित हो रही है और धर्म प्राणिमात्रकी सुरक्षासे विमुख हो रहा है। कहीं-कहीं किसी-किसी मुखसे यह भी सुन लिया जाता है कि धर्म पण्डितों और पूँजीवादियोंका साम्राज्यवाद है, जो फासिस्ट ढंगसे भोली-भाली जनताके मस्तिष्कपर लाद दिया गया है। कहनेवाले कहा करते हैं—इसमें न तो कोई तथ्य है, न इसके पीछे कोई विचार-शक्ति। यह भी उन अनात्मवादियोंका अनियन्त्रित साम्राज्यवाद है, जो फासिस्ट ढंगसे भोली-भाली जनताके मस्तिष्कमें घुसेड़ा जा रहा है।

कोई भी धर्म प्रचलित रूढ़ियों और अविवेकी प्रतिगामिताके विरुद्धमें प्रवर्तित हुआ है। कोई भी विचार विना अपेक्षित विरोधाभासके सिद्धान्तरूपमें स्वीकार नहीं किया जाता। संघर्ष या द्वन्द्व सृष्टिकी गतिका कारण है। हिगेल और उसका अनुयायी कार्लमार्क्स इसके उदाहरण हैं। धर्मका द्वन्द्व सर्वदा अधर्मसे होता है। इसका स्थल व्यक्तिगत भी होता है और सामाजिक भी। धर्म सत्य और ऋतका समर्थक है और इन्हींके द्वारा अखण्ड चिदानन्दकी प्रतिष्ठापना करता है। अपेक्षा है धर्ममें हमारी श्रद्धा हो और विश्वास हो। विना श्रद्धा-

---

* पता है—१२ चौरंगी रोड, कलकत्ता १३।

के आस्थाकी नींव डगमगाती दिखायी देती है और बिना श्रद्धाके आस्था तिलमिलाती है।

ईश्वरपर विश्वास और श्रद्धा लाना स्वयंपर विश्वास और श्रद्धा लाना है। धर्मपर भी विश्वास और श्रद्धा लाना अपने सुव्यवस्थित और आनन्दमय आचार-विचारपर श्रद्धा और विश्वास लाना है। नास्तिकवाद न केवल धर्म और ईश्वरके अस्तित्वपर आक्षेप करता है, बल्कि स्वयं आत्मापर भी उसका विश्वास नहीं होता। इसीलिये नास्तिकवाद उच्छृङ्खल और अनियन्त्रित होता है तथा लोकमें क्लेशका प्रतिपादक होता है। महर्षि चार्वाकने जहाँ अन्नको ब्रह्म मानकर शारीरिक और सांसारिक सुखोंकी मान्यता दी, वह भी आस्तिकवादकी एक प्रक्रिया है—स्वयंपर विश्वास और श्रद्धाका प्रतिरूप।

सनातन धर्म अर्पणकी वकालत करता है। अर्पण ही उसका रहस्य है और उसके सारे वाङ्मयका आदर्श भी। मन चञ्चल है। नानाविध शङ्काओं और अविश्वासोंकी जड़ है। अपने प्रत्येक चरणपर संदेहकी सृष्टि कर लेना उसका स्वभाव है। इसीलिये गीतामें भगवान्‌की घोषणा है—समर्पण करो और मेरी—सत्य और ऋत-स्वरूप भगवान्‌की आज्ञाको बिना संदेह, विश्वास और श्रद्धाके साथ अंगीकार करो। मैं तुम्हें सभी प्रकारके पापों और क्लेशोंसे विमुक्त कर दूँगा। किंतु यह तभी होगा जब तुम सारे धर्म अर्थात् मनकी सारी संदिग्ध और तर्कधर्मिताका परित्याग करोगे जो तुम्हारी प्रकृति है।

इसी समर्पणके आधारपर भक्ति या मुक्तिका आरोपण किया गया। भक्ति और मुक्ति भी विश्वास और श्रद्धाका परिणाम है। मैत्री आनन्दका चरमस्थल है जो श्रद्धा और विश्वासपर ही आधारित होती है। सनातनधर्मने अपने लोकोपयोगी सिद्धान्तों और विचारोंको बिम्ब-स्वरूप बनाया। देवी और देवताओंकी भावनामें आत्माकी दृष्टिका साकार निरूपण किया गया। ये अनुकरणीय हैं। इनकी पूजा, अर्चना, उपासना—हमारी श्रद्धा और विश्वासकी भावनाका धीरे-धीरे तादात्म्य होना है। सारे अन्तरोंका विलीनीकरण ही समर्पण है। इन्हीं अमृतोपम उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये देवालयोंकी स्थापना हुई, जहाँ संस्कृति और धर्म केन्द्रित हुआ।

हम एक मन्दिरमें चलें। वहाँ भगवान्‌के श्रीविग्रहको देखें। पाषाण-प्रतिमामें मानवी श्रद्धा और विश्वासने जिस समर्पणकी भावनाका निरूपण किया है और वह अर्पण उस प्रतिमाके समक्ष जिस प्रकार तल्लीन होकर नाच उठता है—वह तर्ककी आँखोंसे नहीं, समर्पणकी आँखोंसे देखा और समझा जा सकता है। यही है सनातनधर्मकी चरम स्थिति। इसमें एकान्त तपस्या, भजन आदि भी सम्मिलित हैं।

किंतु आज आस्थाएँ टूट रही हैं, श्रद्धा तिरोहित हो रही है और देवालय उपेक्षित हो रहे हैं। संस्कृति जीर्ण हो रही है और आत्मा क्लेशोंमें डूब रही है। सारा मानव-समाज व्यथित है; क्योंकि उसे अब वह आवाज सुनायी नहीं दे रही है कि—'यह सारा विश्व ईश्वरद्वारा आच्छादित है। इसे त्यागपूर्वक भोगता जा। किसीके धनकी वासना न रख।'

आज विस्तारवादिताकी प्रमुखता है। यह विस्तारवाद वैयक्तिक भी है और अन्ताराष्ट्रीय भी। दोनों प्रकारकी विस्तारवादिताका निराकरण होना चाहिये। सीमाका उल्लङ्घन दुःख है, संयमका परित्याग उच्छृङ्खलता और अव्यवस्था है। किंतु प्रश्न उठता है—कौन उपदेश दे। दिग्भ्रमित युगको कौन शङ्खनाद सुनाये, कौन आरतीकी मधुर ज्योत्स्नामें सुमार्ग दर्शाये? इनके केन्द्र देवालय तो मनुष्यकी आत्म-जीर्णताके साथ ही जीर्ण हो गये हैं, जहाँसे प्रत्येक सांध्य-उषामें आरतीका

मधुर प्रकाश छिटकता था, शङ्ख और घंटाका नाद होता था और युगको प्रतिपल सचेत किया जाता था। आज जो देशपर विदेशी आक्रमण होते हैं। हमें अरक्षित होनेका भय सताता है, इसके मूलमें भी श्रद्धा और विश्वासकी न्यूनता है। शस्त्रकी शक्तिसे अनेकगुणा शक्ति है आत्माके शस्त्रमें। हमारा आन्तरिक बल अनैतिकता और अविश्वाससे पराजित हो उठा है। हम व्यक्तिगत स्वार्थ पहले देख रहे हैं, इसीलिये संकटग्रस्त राष्ट्र हमारा दूसरा उद्देश्य बन गया और व्यक्तिगत स्वार्थ पहला। यहाँका राष्ट्र और धर्म एक दूसरेके पूरक हैं। धर्म राष्ट्रको सुरक्षा प्रदान करता है और राष्ट्र धर्मको प्रश्रय प्रदान करता है। जब-जब राष्ट्र धर्मसे विलग हुआ है तब-तब व्यक्ति स्वार्थवादी बना है। राष्ट्र और धर्मका सामञ्जस्य-माध्यम देवालय है जो एकको दूसरेके प्रति श्रद्धा और विश्वासके प्रतीक हैं।

इसी उद्देश्यसे देवालय-संरक्षण-समितिकी स्थापना की गयी थी कि आरतीके मधुर प्रकाशमें जन-युग अपना पथ निश्चित करे और जीर्णताका परित्याग कर सत्य और ऋतकी ओर अग्रसर हो। राष्ट्रकी दुर्गतिका प्रधान कारण है धर्म-निरपेक्षता। इस प्रकारका विचार भारतके राष्ट्रपति श्रद्धेय डा० राधाकृष्णनने भी अपनी पुस्तक धर्म और समाजमें प्रकट किया है। धर्मसापेक्ष राष्ट्र सतत उन्नति और अजेयताकी ओर प्रगतिशील होता है; क्योंकि प्रत्येक दिशामें मर्यादा पंथ बनती है। देवालयोंकी उपेक्षासे कभी भी हमारी समृद्धि नहीं हो सकती। देवालय शान्तिकालमें आत्म-विकासके केन्द्र हैं और संकटकालमें आत्म-रक्षाके दुर्ग।

देवालयोंकी दुर्व्यवस्था यह संकेत करती है कि हमारा विश्वास और हमारी श्रद्धा जीर्ण हो गयी है, जिसका पुनरुत्थान नितान्त आवश्यक है। बिना विश्वास और श्रद्धाकी सबलताके हम सुरक्षा या विजयकी कामना करें, असम्भव है।

अतः सम्पूर्ण राष्ट्रजनको समिति आह्वान करती है कि वे एक बार अपनी ओर मुड़ कर देखें और भू-लुण्ठित श्रद्धा और विश्वासके साथ पुनः समृद्धिके मार्गपर बढ़ें। यदि इसी प्रकार देवालय और उपेक्षित हुए तो एक दिन इनकी समाप्तिके साथ ही हमारी संस्कृति भी नष्ट हो जायगी। किंतु संस्कृति नष्ट नहीं होगी, धर्म उन्मूलित नहीं होगा, सत्य और ऋतकी ध्वजा नहीं झुकेगी। विश्वास और श्रद्धाका पथ प्रशस्त ही रहेगा। एक बार हृदय-मन्थनकी आवश्यकता है।

समिति सनातनधर्म-प्रेमियोंसे आग्रह करती है कि वे अपना-अपना हृदय मन्थन करें और विश्वास तथा श्रद्धाका माप करें तथा उसका उत्तर अपने क्षेत्रके देवालयकी मूक अवस्थासे प्राप्त कर हमें सूचित करें। मुझे आशा है समिति इस ओर कुछ दिशा निर्धारित करनेमें सफल सिद्ध होगी।

* * *

रस-सुधाधारा

जन्म-मरण न दुःख-सुख कुछ हैं नहीं जिसमें कभी।
बह रही रस-सुधा-धारा नित्य प्लावित कर सभी॥
छा रहा आनन्द अनुपम परम अतुल सदा वहाँ।
नाचते रहते निरन्तर नीलमणि नित हैं जहाँ॥

विष्णुध्वज

(लेखक—डा० श्रीदेवसहायजी त्रिवेद एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

दिल्लीके पास मेहरौलीमें आपने एक विशाल मनार देखा होगा। स्टेशनसे उतरते ही ताँगेवाले पुकारते हैं—'कुतुब चलियेगा, कुतुब।'

'कुतुब मनार' नाम होनेसे प्रायः लोग समझते हैं कि इस मनारको गुलामवंशी सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबकने बनवाया था। हो सकता है कि कुतुबुद्दीनमनारको लोग संक्षेपमें कुतुबमनार कहने लगे। किंतु इतिहासमें कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि इसे कुतुबुद्दीनने बनवाया था। कुतुबुद्दीनने केवल चार वर्ष राज्य किया (१२०६—१२१०ई०)। इतने कम समयमें ऐसे विशाल मनारका निर्माण नहीं हो सकता; क्योंकि एक इंजीनियरको इसके केवल ऊपरी खण्डके जीर्णोद्धारमें २५ वर्ष (१८००—१८२५ ई०) लग गये थे।

यह मनार क्यों बना। कुछ लोगोंका मत है कि यह जयस्तम्भ है। मुसल्मानोंकी भारतविजयका यह स्मारक है। किंतु कोई भी स्मारक जयस्तम्भ तथा कीर्तिस्तंभ झुका हुआ नहीं होता। अन्य मत है कि यह समीपस्थ मस्जिदका मजीना है, जिसपर चढ़कर आजान दिया जाता है। किंतु किसी भी मस्जिदमें केवल एक या तीन मजीना नहीं होता। यह मजीना सदा जोड़ा होता है न कि फूट। इस कमीको दूर करनेके लिये अलाउद्दीनने इसका जोड़ा बनवाना आरम्भ किया था सन् १३१३ई०में, किंतु वह पूरा न हो सका। किसी भी इस्लामी इमारतका प्रवेशद्वार काबाकी ओर होता है; न कि उत्तराभिमुखी या कैलासकी ओर। मजीना सदा मस्जिदके समीप एक कोनेपर होता है न कि उससे सुदूर। पहले मस्जिद बनती है, मजीना पीछे। मस्जिद ऊँचाईपर है तथा यह तथाकथित मजीना धरातलपर। अतः यह मस्जिदका मजीना नहीं हो सकता। हिंदुओंके मन्दिर इत्यादिका निर्माण धरातलसे ही आरम्भ हो जाता है, किंतु इस्लामी इमारत चबूतरे या प्लैटफार्मपर बनानेकी प्रथा है जो समीपस्थ अलाउद्दीनके अधूरे मजीना हेतु निर्मित मनारसे स्पष्ट है। अतः यह इस्लामी इमारत नहीं हो सकती। सर सैयद अहमदने १८४७ ई० में अपने असार-उल-सनारीदमें यह मत प्रकट किया था कि यह मनार किसी भी हालतमें मुसल्मानी इमारत नहीं हो सकती। वे इसके हिंदुत्वके हामी हैं।

इस मनारसें २३ जूनको १२ बजे छाया एकदम नहीं होती। यह दक्षिणकी ओर झुका है जिस प्रकार जन्तर-मन्तरमें मिश्र यन्त्रकी दीवाल पाँच अंश दक्षिणकी ओर झुकी है। अतः जिज्ञासा होती है कि यह मनार क्यों बनाया गया तथा इसे किसने बनवाया ?

इस मनारके पास ही एक कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद है। इसके अंदर फारसीमें पत्थरपर लिखा है कि कुतुबुद्दीनने इस मस्जिदको सन् ११९२ ई०में बनवाया। उसने पासके सत्ताईस मन्दिरोंको तुड़वाकर उन्हींके ईंट एवं गारेसे इस मस्जिदको बनवाया। इन सत्ताईस मन्दिरोंको बनवानेमें प्रत्येक-पर २० लाख अर्थात् ५४० लाख व्यय हुआ था। ताज-उल-माशीर नामक समकालिक इतिहासग्रन्थमें लिखा है कि कुतुबुद्दीनने यहाँके २७ मन्दिरोंको तुड़वाकर उन्हींके हीरे-जवाहरातोंसे इस मस्जिदको सजाया। अब भी कुतुब मनारके निचले खण्डमें २७ खिड़कियाँ तथा दरवाजे हैं जिनसे हवा या रोशनी जाय। २७ संख्या शायद किसी विशेष अर्थकी द्योतक है। हिंदुओंके २७ नक्षत्र प्रसिद्ध हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस स्थानपर शायद २७ नक्षत्रोंकी विशाल वेधशाला थी।

इस वेधशालाका प्रधान मनार (कुतुब मनार) केन्द्रमें था। सबसे पहले यही मनार बना होगा जिससे नक्षत्रमण्डलका अध्ययन सुचारु रूपसे हो सके। यह मनार भी दक्षिणकी ओर झुका है।

वेधशालाका स्मारक

यह मनार मेहरौलीमें है। फारसीमें मेहर और संस्कृतमें मिहिर शब्दका एक ही अर्थ है—सूर्य। अतः मिहिरावलीका अर्थ होगा—सूर्यसमूह या नक्षत्रपुञ्ज। सम्भवतः वेधशाला होनेसे ही इस स्थानका नाम मिहिरावली या मेहरौली पड़ा। मिहिरावली या वेधशाला पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं। इस मनारमें १२ राशियोंके बारह पहलू और ७ स्वर्गके द्योतक सात खण्ड हैं। इसके प्रथम तीन खण्ड और ऊपरके शेष खण्डोंकी कारीगरीमें आकाश-पातालका अन्तर है। नीचेके खण्ड मजबूत हैं, वे एक पत्थरके बने प्रतीत होते हैं। इनमें कहीं भी जोड़ नहीं दिखता। किंतु ऊपरी खण्डोंमें सिमेंटकी जुड़ाई स्पष्ट है और उसमें दरारें दिखती हैं।

निर्माता

इस मनारको किसने बनाया—इस सम्बन्धमें विभिन्न मत हैं। इब्न बतूताके अनुसार इस मनारको बलबनके पोते कैकुबादने बनवाया। अबुलफिदा इसे दिल्लीके जामी मस्जिदका मजीना कहता है। शमसीराज कहता है कि सुल्तान शमसुद्दीन इल्तुतमशने पुरानी दिल्लीके जामी मस्जिदमें विशाल स्तम्भ खड़ा किया। अमीर खुशरू कहता है कि अलाउद्दीनने जामी मस्जिदके ऊँचे मनारका जोड़ा बनानेका विचार किया। अतः अबुलफिदा और मीर खुशरू इस मनारको केवल मजीना स्वीकार करते हैं। अतः इल्तुतमशसे इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं बतलाते। शमसीराज शायद भ्रममें है। किंतु फिरोजशाहके अनुसार इसे महम्मद गोरीने बनवाया। कुतुब मनार नाम होनेसे आधुनिक इतिहासकार प्रायः इसे कुतुबुद्दीनका बनाया मानते हैं। अन्य मत है कि इसके निचले भागको कुतुबुद्दीनने और ऊपरी भागको इसके दामाद अल्तमशने बनवाया। कुछ लोगोंका मत है कि इस मनारकी रचना अफगानिस्तानमें बगदादके पास एक फकीर ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काबीके नामपर हुई और अल्तमशने एक पत्थरसे दो पक्षी मार गिराया, जिसमें उसके प्रश्रयदाता तथा श्वसुर कुतुबुद्दीन सुल्तान तथा फकीर कुतुबुद्दीनका भी नाम चिरस्थायी हो। किंतु इस मनारमें फकीरके विषयमें एक अक्षर, शब्द या पंक्ति भी नहीं मिलती जबकि अल्तमशके चार अभिलेख इसपर अङ्कित हैं।

इस मनारपर नीचेसे ऊपरतक अनेक अभिलेख तथा कुरान शरीफके आयात अङ्कित हैं। यथा महम्मद गोरीके दो, कुतुबुद्दीनके एक, अल्तमशके चार तथा फिरोजशाह तुगलक तथा सिकन्दर लोदी प्रत्येकके एक-एक अभिलेख हैं। इससे प्रकट है कि इस मनारके निर्माताके सम्बन्धमें कितना भ्रम है।

इस मनारपर २९ अभिलेख देवाक्षरमें भी हैं। इनमें एक अभिलेख लिपिके आधारपर सप्तमी शती खिष्टका माना जाता है। १९५५-५६में मरम्मतके समय एक पत्थर धड़ाम-से नीचे गिर पड़ा, जिसके एक ओर ब्राह्मीलिपिमें और दूसरी ओर अरबीमें कुछ लिखा है। वह अभीतक अप्रकाशित है। इन अभिलेखोंमें विभिन्न लोगों तथा राजाओंके नाम हैं, जिन्होंने इसकी मरम्मत करवायी। यथा—पृथ्वीराज, मलिकदीन, गोविन्दपाल, अलादीन, महम्मदशाह, फिरोजशाह इत्यादि। अलाउद्दीन इसे अपना जयस्तम्भ कहता है। इसमें सुल्तान महम्मद तुगलकका अभिलेख संवत् १३८२ (सन् १३२५) का है।

कुछ लोग इसे पृथ्वीराजका बनाया बतलाते हैं, किंतु पृथ्वीराज रासोमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि इसे पृथ्वीराजने बनवाया, अपितु पृथ्वीराज तो अजमेरका राजा था न कि दिल्लीका।

अतः इस मनारके सम्बन्धमें विशेष खोजकी आवश्यकता है। क्या यह मनार मुसलमानी राज्यके पहले था, यदि था तो अल्बेरुनी (१०३० में) ने इसका उल्लेख क्यों नहीं किया। अल्बेरुणी इस मनारका नाम नहीं लेता; किंतु कहता है कि 'हिंदू २७ नक्षत्र तथा १२ राशियोंका प्रयोग समानरूपेण करते हैं। नक्षत्रमण्डलकी स्थितिके सम्बन्धमें मैंने एक ग्रन्थ लिखा है।' पुनः वह प्रत्येक नक्षत्रका अक्षांश तथा देशान्तर लिखता है जो केवल दिल्लीको प्रकट कर सकता है। अतः इससे प्रकट है कि अल्बेरुनी इस वेधशालासे पूर्ण परिचित था।

भारतवर्षमें प्राचीन कालसे मकरध्वज, गरुडध्वज, वृषध्वज, विष्णुध्वजकी प्रथा चली आ रही है। यदि यह मनार इस्लामकी सत्ताके पूर्वका है तो इसका प्राचीन नाम क्या था तथा इसे किसने बनवाया। किसी भी विषयका अध्ययन एकाङ्गी नहीं किया जा सकता। हमें आँख फाड़कर देखना चाहिये चारों ओर।

इस मनारके समीप एक लौहस्तम्भ है। जिसपर संस्कृत भाषा एवं ब्राह्मीलिपिमें सात पंक्तियोंमें तीन शार्दूल-विक्रीडित छन्द खुदे हैं। इसपर लिखा है कि इस लंबे विष्णुध्वजको बनानेवाला अब संसारमें नहीं है, किंतु उसकी कीर्ति शेष है। उसने सिन्धुनदके सात मुहानोंको पार कर वल्लख जीता; बंग एवं दक्षिण समुद्र उसकी कीर्तिसे लहराते हैं। वह शरीर छोड़कर चला गया; किंतु उसकी कीर्ति नहीं मिट रही है। उसने अपनी क्रोधाग्निमें शत्रुओंको भून डाला। उसने भुजबलसे राज्य हथियाया और चिरकाल एकछत्र राज्य किया। उसके समान प्रतापी अन्य राजा न हुआ। इतिहासकार इस विषयमें एकमत हैं कि भारतवर्षमें

ऐसा राजा केवल समुद्रगुप्त ही हुआ। इस लौहस्तम्भपर राजा चन्द्रका नाम लिखा है, समुद्रगुप्तका नहीं। चन्द्र—चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्तका पुत्र तथा उत्तराधिकारी था। वह विष्णुका भक्त था। उसका मुख पूर्ण चन्द्रके समान था। उसने इस प्रांशु विष्णुध्वजकी स्थापना की।

संस्कृतमें विष्णु शब्दका अर्थ होता है सूर्य, ध्वजका अर्थ है पताका, मनार या गुम्बज। इससे प्रकट है कि यह विष्णुध्वज सूर्यघटिका या वेधशालाके रूपमें था, जिससे २७ मन्दिर २७ नक्षत्रोंके मन्दिर थे और यह उस वेधशालाका विशाल गुम्बज था, जिसके द्वारा नक्षत्रोंका अध्ययन होता था। जिस प्रकार मकान, तालाब, इमारत या कूप बनानेपर उसके बनानेवालेकी प्रशस्ति लिखी जाती है, उसी प्रकार इस महान् वेधशालाकी प्रशस्ति इस लौहस्तम्भपर लिखी गयी।

दिशासूचक गुम्बज

अरबी भाषामें कुत्ब और कुतुब दो शब्द हैं। कुत्ब शब्दका अर्थ है ध्रुवतारा या धुरी। आपने कुत्बनुमा सुना होगा जिससे दिशाका ज्ञान होता है और जिसकी सूई सदा उत्तरकी ओर रहती है। मीनार शब्द अशुद्ध है। मनार शुद्ध रूप है। मनारका अर्थ है दीयट, जिसपर रोशनी रक्खी जाती है। अतः कुत्बमनार शब्दका अर्थ है दिशासूचक गुम्बज या 'आवजरवेटरी टावर।' विष्णुध्वज शब्द भी इसी अर्थका द्योतक है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस कुत्बमनारका प्राचीन नाम है—विष्णुध्वज। मुसल्मानोंने इस नामका ही अनुवाद कर दिया और इसे कुत्बमनारके नामसे पुकारने लगे। बादमें कुतुब मीनार नाम अपभ्रंशरूपमें प्रचारित हुआ।

समुद्रगुप्तने ३२० खिष्टपूर्वसे २६९ खि० पूर्वतक राज्य किया। उसने इस विष्णुध्वजकी रचना खि० पू० २८० में की। इस वेधशालाकी प्रशस्ति इसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीयने खि० पू० २६८में लिखवायी।

जब हिंदू पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़े थे और उनको जानके लाले पड़े थे, तब उन्होंने इस तुच्छ बातकी ओर ध्यान न दिया। अंग्रेजी राज्यके आरम्भमें लोग प्रायः इसे हिंदुओंका बतलाते थे। किसी भी फारसी इतिहासकारने इस मनारका वर्णन नहीं किया; क्योंकि वे हिंदुओंकी इमारतोंसे दिलचस्पी नहीं रखते थे। अकबर द्वितीय (१८०९-३७ ई०) के मुंशी सैयद अहमदने सर्वप्रथम इसे इस्लामी इमारत बतलाया। पहले अंग्रेज भी हिंदुत्वके हामी थे, किंतु १८५७ ई० के स्वतन्त्रता-संग्रामके बाद उनका रवैया बदल गया और वे इसे इस्लामी रचना बतलाने लगे।

* * *

जीवन तुम्हारा लीलाधाम बन गया

हुआ जबसे मैं तुम्हारा भूलकर सम्बन्ध सारे।
तभीसे आने लगे क्रमशः सभी सद्गुण तुम्हारे॥
वस्तु जो विपरीत थी, या थी विरोधी भाव-धारा।
मिटी अपने-आप सारी, रह गया कोई न चारा॥
सूर्यके शुभ उदयसे ज्यों नष्ट होता सब अँधेरा।
मिटा त्यों सञ्चित युगोंसे था तिमिर उरमें घनेरा॥
हुआ ज्यों खाली हृदय त्यों ही जला कूड़ा-कबाड़ा।
आ बिराजे तुम सदल-बल जम गया पूरा अखाड़ा॥
अब तुम्हारे इस भवनमें अन्य कोई आ न पाता।
छा रहे सर्वत्र तुम कोई यहाँ कैसे समाता?॥
चल रही लीला तुम्हारी बना लीलाधाम जीवन।
दे रहा आनन्द सबको बना सबका सहज निज जन॥

इन्द्राक्षी-कवचका अद्भुत चमत्कार

(लेखिका—एक बहन)

करीब दो महीने पहलेकी बात है। मेरी आँखोंमें असीम पीड़ा हो रही थी। नेत्र लाल हो गये थे और उनसे निरन्तर जल बहता रहता था। काफी जलन भी थी। डाक्टरकी सलाहसे (Achromycin) 'एक्रोमाइसिन' नामक दवा रोज आँखमें डालती रही। किंतु इससे नेत्र-रोग दूर नहीं हुआ, वरं उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा।

इसी बीच मैंने सौभाग्यवश 'इन्द्राक्षी-कवच'का स्तोत्र एक पुस्तिकामें देखा। तुरंत विभूतिमें कवचका यन्त्र लिखकर मैंने स्तोत्र-कवचका पाठ करना शुरू कर दिया। अन्तमें उस विभूतिको आँखोंकी पलकोंके ऊपर थोड़ा-सा डालकर हाथोंसे तीन बार उसे नीचेकी ओर झाड़ दिया। थोड़ी ही देरमें अधिकांश पीड़ा दूर हो गयी। अगले दिन विभूतिका दूसरी बार प्रयोग करनेपर आँखोंकी ललाई और जल बहना आदि दोष भी दूर हो गये। 'इन्द्राक्षी-कवच' से परकर्मसे—अभिचार आदि कुकर्मोंसे होनेवाली पीड़ाएँ, ज्वर, नेत्ररोग, क्षयरोग, कुष्ठरोग आदि-आदि शान्त होते हैं—ऐसा कहा गया है। मैंने यह तो अपने अनुभवसे देख लिया है कि इस कवचसे नेत्र-रोग बहुत जल्दी दूर होते हैं। सम्भवतः ऐसे ही अन्यान्य रोगोंका भी शमन होता होगा। पाठक आवश्यकतानुसार प्रयोग करके देखें।

इस कवचसे सभी लोग लाभ उठायें—इसी विचारसे 'इन्द्राक्षी-कवच' और 'इन्द्राक्षी-स्तोत्र' को नीचे दे रही हूँ। पहले विनायक-स्तोत्रको पढ़ लेना चाहिये—

मूषक-वाहन मोदक-हस्त
चामर-कर्ण विलम्बित-सूत्र।
वामनरूप महेश्वरपुत्र
विघ्नविनायकपाद नमस्ते ॥

इन्द्राक्षी-यन्त्र

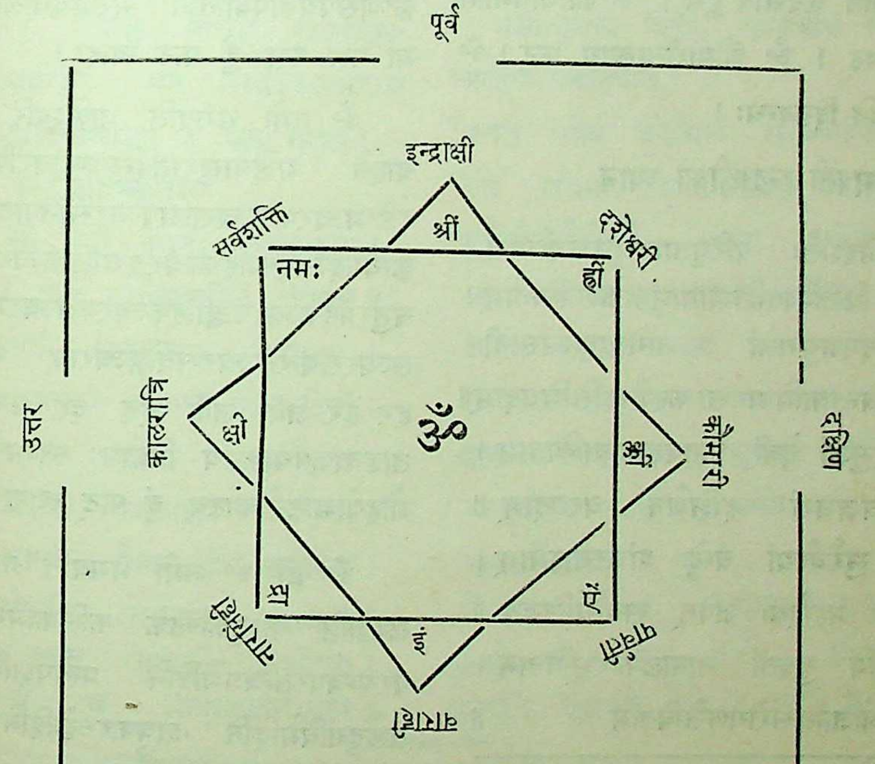

ऊपर लिखित यन्त्रको विभूतिमें लिखकर निम्नलिखित प्रकारसे जप करें—

ॐ अस्य श्रीइन्द्राक्षीस्तोत्रमहामन्त्रस्य शची-पुरन्दर ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। इन्द्राक्षी दुर्गा देवता। लक्ष्मीर्बीजम्। भुवनेश्वरी शक्तिः, भवानीति कीलकम्, मम इन्द्राक्षीप्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

ॐ इन्द्राक्षीत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ महालक्ष्मीरिति तर्जनीभ्यां नमः। ॐ माहेश्वरीति मध्यमाभ्यां नमः। ॐ अम्बुजाक्षीत्यनामिकाभ्यां नमः। ॐ कात्यायनीति कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ कौमारीति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

*ॐ इन्द्राक्षीति हृदयाय नमः। ॐ महालक्ष्मीरिति शिरसे स्वाहा। ॐ माहेश्वरीति शिखायै वषट्। ॐ अम्बुजाक्षीति कवचाय हुम्। ॐ कात्यायनीति नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ कौमारीत्यस्त्राय फट्। ॐ भूर्भुवस्स्वरोमिति दिग्बन्धः।

भगवती इन्द्राक्षीका ध्यान

नेत्राणां दशभिश्शतैः परिवृतामत्युग्रचर्माम्बरां
हेमाभां महतीं विलम्बितशिखामामुक्तकेशान्विताम्।
घण्टामण्डितपादपद्मयुगलां नागेन्द्रकुम्भस्तनी-
मिन्द्राक्षीं परिचिन्तयामि मनसा कल्पोक्तसिद्धिप्रदाम्॥

इन्द्राक्षीं द्विभुजां देवीं पीतवस्त्रद्वयान्विताम्।
वामहस्ते वज्रधरां दक्षिणेन वरप्रदाम्॥
इन्द्रादिभिः सुरैर्वन्द्यां वन्दे शंकरवल्लभाम्।
एवं ध्यात्वा महादेवीं जपेत् सर्वार्थसिद्धये॥
इन्द्राक्षीं नौमि युवतीं नानालंकारभूषिताम्।
प्रसन्नवदनाम्भोजामप्सरोगणसेविताम्॥

इन्द्र उवाच—

इन्द्राक्षी पूर्वतः पातु पात्वाग्नेय्यां दशेश्वरी।
कौमारी दक्षिणे पातु नैर्ऋत्यां पातु पार्वती॥
वाराही पश्चिमे पातु वायव्ये नारसिंह्यपि।
उदीच्यां कालरात्री मामैशान्यां सर्वशक्तयः॥
भैरव्यूर्ध्वं सदा पातु पात्वधो वैष्णवी सदा।
एवं दश दिशो रक्षेत् सर्वाङ्गं भुवनेश्वरी॥

इन्द्राक्षीकवचम्

ॐ नमो भगवत्यै इन्द्राक्ष्यै महालक्ष्म्यै सर्वजनवशंकर्यै सर्वदुष्टग्रहस्तम्भिन्यै स्वाहा।

ॐ नमो भगवति पिङ्गलभैरवि त्रैलोक्यलक्ष्मि त्रैलोक्यमोहिनीन्द्राक्षि मां रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।

ॐ नमो भगवति भद्रकालि महादेवि कृष्णवर्णे तुङ्गस्तनि शूर्पहस्ते कवाटवक्षःस्थले कपालधरे परशुधरे चापधरे विकृतरूपधरे विकृतरूपे महाकृष्णसर्पयज्ञोपवीतिनि भस्मोद्धूलितसर्वगात्रीन्द्राक्षि मां रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।

ॐ नमो भगवति प्राणेश्वरि पद्मासने सिंहवाहने महिषासुरमर्दिन्युष्णज्वरपित्तज्वरवातज्वरश्लेष्मज्वरकफज्वरालापज्वरसंनिपातज्वरकृत्रिमज्वरकृत्यादिज्वरैकाहिकज्वरद्व्याहिकज्वरत्र्याहिकज्वरचतुराहिकज्वरपञ्चाहिकज्वरपक्षज्वरमासज्वरषण्मासज्वरसंवत्सरज्वरसर्वाङ्गज्वरान् नाशय नाशय हर हर जहि जहि दह दह पच पच ताडय ताडयाकर्षयाकर्षय विद्विषः स्तम्भय स्तम्भय मोहय मोहयोच्चाटयोच्चाटय हुं फट् स्वाहा।

ॐ ह्रीं ॐ नमो भगवति प्राणेश्वरि पद्मासने लम्बोष्ठि कम्बुकण्ठिके कलिकामरूपिणि परमन्त्रपरयन्त्रपरतन्त्रप्रभेदिनि प्रतिपक्षविध्वंसिनि परबलदुर्गविमर्दिनि शत्रुकरच्छेदिनि सकलदुष्टज्वरनिवारिणि भूतप्रेतपिशाचब्रह्मराक्षसयक्षयमदूतशाकिनीडाकिनीकामिनीस्तम्भिनीमोहिनीवशंकरीकुक्षि-

---

* 'इन्द्राक्षीति हृदयाय नमः' से 'अप्सरोगणसेविताम्' तक दो बार जप करना चाहिये।

रोगशिरोरोगनेत्ररोगक्षयापस्मारकुष्ठादिमहारोगनिवारिणि मम सर्वरोगान् नाशय नाशय ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः हुं फट् स्वाहा ।

ॐ ऐं श्रीं हुं दुं इन्द्राक्षि मां रक्ष रक्ष, मम शत्रून् नाशय नाशय, जलरोगान् शोषय शोषय, दुःखव्याधीन् स्फोटय स्फोटय, क्रूरानरीन् भञ्जय भञ्जय, मनोग्रन्थिप्राणग्रन्थिशिरोग्रन्थीन् काटय काटय, इन्द्राक्षि मां रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा ।

ॐ नमो भगवति माहेश्वरि महाचिन्तामणि दुर्गे सकलसिद्धेश्वरि सकलजनमनोहारिणि कालकालरात्र्यनलेऽजितेऽभये महाघोररूपे विश्वरूपिणि मधुसूदनि महाविष्णुस्वरूपिणि नेत्रशूलकर्णशूलकटिशूलपक्षशूलपाण्डुरोगकमलादीन् नाशय नाशय वैष्णवि ब्रह्मास्त्रेण विष्णुचक्रेण रुद्रशूलेन यमदण्डेन वरुणपाशेन वासववज्रेण सर्वानरीन् भञ्जय भञ्जय यक्षग्रहराक्षसग्रहस्कन्दग्रहविनायकग्रहबालग्रहचौरग्रहकूष्माण्डग्रहादीन् निगृह्ण निगृह्ण, राजयक्ष्मक्षयरोगतापज्वरनिवारिणि मम सर्वज्वरान्नाशय नाशय सर्वग्रहानुच्चाटयोच्चाटय हुं फट् स्वाहा ।

इन्द्राक्षी-स्तोत्रम्

इन्द्राक्षी नाम सा देवी दैवतैः समुदाहृता ।
गौरी शाकम्भरी देवी दुर्गानाम्नीति विश्रुता ॥
कात्यायनी महादेवी चन्द्रघण्टा महातपाः ।
सावित्री सा च गायत्री ब्रह्माणी ब्रह्मवादिनी ॥
नारायणी भद्रकाली रुद्राणी कृष्णपिङ्गला ।
अग्निज्वाला रौद्रमुखी कालरात्री तपस्विनी ॥
मेघस्वना सहस्राक्षी विकटाङ्गी जलोदरी ।
महोदरी मुक्तकेशी घोररूपा महाबला ॥
अजिता भद्रदाऽऽनन्दा रोगहर्त्री शिवप्रिया ।
शिवदूती कराली च प्रत्यक्षपरमेश्वरी ॥
इन्द्राणी इन्द्ररूपा च इन्द्रशक्तिः परायणा ।
सदा सम्मोहिनी देवी सुन्दरी भुवनेश्वरी ॥
एकाक्षरी परा ब्राह्मी स्थूलसूक्ष्मप्रवर्तिनी ।
नित्यं सकलकल्याणी भोगमोक्षप्रदायिनी ॥
महिषासुरसंहर्त्री चामुण्डा सप्तमातृका ।
वाराही नारसिंही च भीमा भैरवनादिनी ॥
श्रुतिः स्मृतिर्धृतिर्मेधा विद्या लक्ष्मीः सरस्वती ।
अनन्ता विजयापर्णा मानस्तोकापराजिता ॥
भवानी पार्वती दुर्गा हैमवत्यम्बिका शिवा ।
शिवा भवानी रुद्राणी शंकरार्द्धशरीरिणी ॥
ऐरावतगजारूढा वज्रहस्ता वरप्रदा ।
भ्रामरी काञ्चिकामाक्षी क्वणन्माणिक्यनूपुरा ॥
त्रिपाद्भस्मप्रहरणा त्रिशिरा रक्तलोचना ।
शिवा च शिवरूपा च शिवभक्तिपरायणा ॥
मृत्युंजया महामाया सर्वरोगनिवारिणी ।
ऐन्द्री देवी सदा कालं शान्तिमाशु करोतु मे ॥

भस्मायुधाय विद्महे रक्तनेत्राय धीमहि तन्नो ज्वरहरः प्रचोदयात् ।

एतत् स्तोत्रं जपेन्नित्यं सर्वव्याधिनिवारणम् ।
रणे राजभये शौर्ये सर्वत्र विजयी भवेत् ॥
एतैर्नामपदैर्दिव्यैः स्तुता शक्रेण धीमता ।
सा मे प्रीत्या सुखं दद्यात् सर्वापत्तिनिवारिणी ॥
ज्वरं भूतज्वरं चैव शीतोष्णज्वरमेव च ।
ज्वरं ज्वरातिसारं च अतिसारज्वरं हर ॥
शतमावर्तयेद् यस्तु मुच्यते व्याधिबन्धनात् ।
आवर्त्तयन् सहस्रं तु लभते वाञ्छितं फलम् ॥
एतत्स्तोत्रमिदं पुण्यं जपेदायुष्यवर्द्धनम् ।
विनाशाय च रोगाणामपमृत्युहराय च ॥
सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥*

---

* माननीय बहनके द्वारा भेजे हुए कवच तथा स्तोत्रके पाठको कई प्रतियोंसे मिलाकर यथामति शुद्ध करके प्रकाशित किया गया है—सम्पादक—

सदाचार

(लेखक—श्रीचोडवरपु रामशेषय्या)

श्रुति-स्मृतियाँ सदाचारकी आवश्यकतापर अत्यन्त प्रभाव डालती हैं। मानव अन्य प्राणियोंसे अत्यधिक विवेकशील है। पर मनकी आसुरी प्रवृत्ति उसे पथच्युत करती रहती है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।

—भोगकी तृष्णा, ऐश्वर्यकी कामना उसके विवेकको आच्छादित करती हैं।—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

—इन्द्रिय, मन और बुद्धि कामनाके अधिष्ठान हैं। इसी कामनासे प्रेरित होकर मानव कर्तव्यच्युत होता है। वह सत्-असत्, धर्म-अधर्म और न्याय-अन्यायका विचार छोड़कर विषयसुख-प्राप्तिके अन्वेषणमें मग्न होता है। उसका आचरण अमानुषिक होता है, जो लोकके लिये विनाशक होता है। अतएव समय-समयपर महान् पुरुष मानवको प्रबोधित करते रहते हैं। पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थोंके द्वारा वे वेदोंका विश्लेषण कर सदाचारकी ओर मानवको आकृष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं और यह स्पष्ट कर देते हैं कि सदाचारके बिना मानव-कल्याण कदापि नहीं हो सकता।

वेदकथित धर्मका आचरण ही सदाचार है। धर्म कई प्रकारके होते हैं, किंतु मानवधर्म उन सबका आधारभूत है। जो सामान्य मानव-धर्मका पालन नहीं कर सकता, वह विशेष धर्मोंकी विशिष्टता नहीं जान सकता। मानवधर्म मानवके आचरणका विश्लेषण करता है, उसका गम्य स्थान निर्देशित करता है और उसके कर्तव्यका विवेचन करता है। जो कृति किसी भी प्राणिविशेषको हानि नहीं पहुँचाकर लाभ पहुँचाती है, वह सदाचार है। किसी सज्जनने पूछा कि हमारे चलते समय कितनी ही चींटियाँ हमारे पैरोंके नीचे दबकर मर जाती हैं; क्या यह प्राणहानि नहीं है? यह प्रश्न अत्यन्त उचित है। जो सज्जन अंधाधुंध न चलकर चींटीतककी रक्षाका भी विचार रखता है, वह उत्तम कहा जाता है। पर प्रश्न यह उठता है, जो सज्जन अपने पारिवारिक लोगोंके साथ भी मीठी छुरी-सा बर्ताव करता है, वह किस कोटिमें आता है? मानवका लक्ष्य निश्चित है। प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। पर यह सुख दूसरोंकी हानि करनेसे प्राप्त नहीं हो सकता। अपने कर्तव्यका पालन करनेपर ही आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता है। वह कर्तव्य दया और धर्मपर निर्भर है।

सदाचार दया और धर्मके सुदृढ़ कूलोंके बीचसे शान्त प्रवाहित गङ्गाजीका प्रविमल प्रवाह है। प्राणिमात्रके प्रति दया रखना मानवका साधारण धर्म है। महर्षि वाल्मीकिका हृदय क्रौञ्च पक्षीके वधसे विगलित होकर बह चला था। तभी तो रामायण-जैसे परमोत्कृष्ट काव्यका उनके द्वारा सर्जन हुआ है। असहाय अनाथोंके आर्तनादपर जो हृदय आर्द्र नहीं होता, प्राणिमात्रकी विकल अवस्थापर जो हृदय विगलित नहीं होता, वह हृदय नहीं है, कठिन शिला है, वज्रसार है। जो प्रवाहमें डूबतों और पावककी ज्वालाओंसे आवेष्टितोंके रक्षणार्थ प्राणोंपर खेलकर कूद नहीं पड़ता और जो आततायियोंसे आक्रमित अबलाओंकी चीख सुनकर उन अत्याचारियोंपर टूट नहीं पड़ता, वह सामान्य धर्मसे भी हाथ धो बैठता है। दया हार्दिक है और धर्म कारणका कार्य है। दयासे प्रेरणा मिलती है, विवेक धर्मका पालन करनेपर विवश करता है। ये दोनों गुण जिस मानवमें पाये जाते हैं, वह सदाचारी है।

जनसाधारणका विश्वास है कि शिक्षासे सदाचार प्राप्त होता है; किंतु वाल्मीकि दस्यु था और रावण सकल शास्त्र-पारङ्गत। पूर्वकालके उस दस्युने हृदयविदारक क्रन्दनसे कोमल वृत्ति प्राप्त की थी और रावणने दया-धर्मको तिलाञ्जलि देकर अपनी मृत्युको अपने आप बुला लिया था। शिक्षाकी आवश्यकता विवेककी वृद्धिके लिये होती है। शिक्षासे विज्ञानकी प्राप्ति होती है, मानवका मस्तिष्क विकसित होता है, जिससे उसको उचित-अनुचितका बोध होता है। इसीसे प्राचीन शिक्षामें पग-पगपर मानव-कल्याणका उपदेश मिलता है; परंतु आधुनिक शिक्षा मनुष्यको अपने मानव-धर्मकी ओर अग्रसर करानेके बदले उसको अनुचित आवश्यकताओंकी पूर्तिकी प्रेरणा देती है, और उसे आसुरी भावकी ओर ले जाती है। एम्० ए० पास होने मात्रसे कोई मानव नहीं बन सकता। मानव बननेके लिये हृदय चाहिये। जिसके हृदय नहीं, वह शिक्षित होकर भी सदाचारी नहीं बन सकता। उसकी शिक्षा समाजको वञ्चित कर अपना उल्लू सीधा करनेके लिये उपयोगी होती है। धर्ममें त्याग है, त्यागमें मानवता है। शिक्षा जब मानवताका विकास करनेमें समर्थ होती है, तभी उससे लोक-कल्याण होता है।

लोक-कल्याणकी भावना भक्तिमें होती है, जिसका सम्बन्ध हृदयसे है। ईश्वरका अर्चन भी सदाचारके अन्तर्गत ही तो है। सदाचारीको अपने कर्तव्यके पालनमें दुराचारीसे अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं, जिससे उसका विकल हृदय सहज ही भगवान्की शरणके लिये तड़पता है; किंतु आजकल प्रायः यह पाया जाता है कि भक्तिके नामपर भी दुराचार किये जाते हैं। 'मुँहमें राम बगलमें छुरी' की कहावत इसीकी द्योतक है। वह मनसे दूसरोंकी बुराई चाहता ही नहीं, करता भी है। पर बात-बातमें भगवान्का नाम लेता है। सदाचारका ढोंग रचता है। वह सोचता है कि मैं दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेमें नितान्त कुशल हूँ। पर यह भूल जाता है कि इससे शनैः-शनैः उसकी मानवताका ह्रास होता जा रहा है। किसी-किसीका विश्वास है कि पापका पहाड़ एक राम-बाणसे छिन्न-भिन्न हो जायगा। हाँ, यह सत्य है कि यदि वह हृदयपूर्वक रामकी शरण लेता है तो ईश्वर उसकी सहायता अवश्य करता है। पर जिसकी भक्ति मौखिक होती है, हार्दिक नहीं, उसका फल भी आनुषङ्गिक है। सदाचारमें अभिनयकी गुंजाइश नहीं। सद्भावनाकी आवश्यकता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

दुराचारी कर्मेन्द्रियोंकी अवहेलना कर मनको भोगोंके चिन्तनमें लगाये रखता है।

इस यान्त्रिक युगने मनुष्यकी आवश्यकताएँ बढ़ा दी हैं। उनकी पूर्ति बिना धनके नहीं हो सकती। इसलिये मानव धनके उपार्जन और वृद्धि करनेमें मग्न हो जाता है। इसमें वह किसी प्रकारकी बाधा नहीं सह सकता। सारी बुद्धि लगा देता है। हृदयका मान नहीं रहता। वह सोचता है कि घोड़ा घाससे यारी करे तो खायेगा क्या? हाँ, वास्तवमें हर किसीको अपनी जीविकाकी चिन्ता तो होती है और अपने परिवारकी सदा शुभ-कामना भी बनी रहती है, यह उचित भी है। पर दूसरोंके मुँहका ग्रास छीननेका किसीको अधिकार नहीं। वह स्वयं अपनी शक्तिपर आप भरोसा रक्खे। वह जान गया है कि उसकी शक्ति सीमित है। इस यान्त्रिक युगमें मानसिक या शारीरिक शक्तिको बौद्धिक शक्तिके सामने सिर झुकाना पड़ता है। इसलिये मानव कल्पित विशिष्टता तथा कृत्रिम सभ्यताका आश्रय लेता

है । इन दोनों वृत्तियोंकी जड़ संदेह है । साधारणतया अपरिचितोंपर अविश्वास होता है । किंतु इस नवीन सभ्यतामें अपने परिचितोंपर ही नहीं, स्वजनोंपर भी संदेह करना स्वाभाविक हो जाता है । वह इस संदेहके कालकूटपर कृत्रिम मन्द हासका पर्दा डाले रखता है । उसकी हँसीमें पवित्रता नहीं होती, उसकी शिष्टतामें सज्जनता नहीं, धूर्तता होती है । उसकी धन-कामना या पद-कामना उसे पथच्युत कर देती है ।

सदाचारमें सहृदयता, सज्जनता और उदारता अपना स्फुट रूप लिये प्रत्यक्ष होती हैं । सदाचारीको अपने प्रति पूर्ण विश्वास होता है । इसलिये उसमें दूसरोंपर संदेह करनेकी प्रवृत्ति नहीं पायी जाती । हिंस्र पशुकी भाँति दूसरोंकी हानिपर उसका जीवन निर्भर नहीं करता । उसमें आत्मगौरव है । वह अपने ही हककी कमाई खाता है । सूखी रोटी भी क्यों न हो, उसमें उसे आत्मिक आनन्द मिलता है । वह अपने साथी-संगियोंकी दीनावस्थापर अपनेको अर्पण करता है । उसके हृदय है ।

केवल बौद्धिक शक्तिपर निर्भर रहनेवालेको यह सब बात मूर्खता ज्ञात होती है । वह परिहास करता है; किंतु शिष्ट शब्दोंमें । उसकी शिष्टता असत्यके अलक्तरेमें रँगी रहती है । उसे आत्माभिमानकी आवश्यकता नहीं । वह हरिश्चन्द्रोंको समाजके कीड़े समझता है । उसके लिये असत्य वचनोंमें मिश्री घोलना कुशलता या आधुनिक कला है । वह कहता है कि कालकी गतिको रोकनेकी चेष्टा व्यर्थ है । दकियानूसी किसी कामकी नहीं । समयके अनुसार बर्तना ही सदाचार और समझदारी है । दया-धर्मकी गुंजाइश इस युगमें नहीं। कोई-कोई कहते हैं कि जो ईश्वर तुम्हें दया-धर्मकी शिक्षा देता है, वही हमें हिंसा और असत्यकी ओर प्रेरित करता है । इसमें हमारा कोई दोष नहीं, चूँकि वह इस जगका भार अपने सिर लेता है, इसलिये धर्माधर्म उसीके हैं । ऐसे लोगोंके लिये भगवान् कहते हैं—**'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति'** भूत-समुदायकी विषम-रचनाके कारणरूप वे कर्म मुझ ईश्वरको बन्धनमें नहीं डालते । अब विदित हो जाता है कि मानवकी प्रबल कामना तृष्णा ही उसे दुराचारी बनाती है । 'काम'की अपूर्तिमें क्रोध-मोह आदि दुर्गुण प्रसन्न होकर मानवताका विनाश करते हैं । परपीड़नको ही आत्मसुखका साधन बनानेकी प्रवृत्ति मानव-समाजके लिये बड़ी ही हानिप्रद है ।

सदाचारके बिना संसार नहीं । भगवान्के लिये **'नानवाप्तमवाप्तव्यम्'**—तीनों लोकोंमें पाने योग्य कोई वस्तु नहीं—उन्हें अप्राप्त वस्तु नहीं प्राप्त करनी है। फिर भी वे **'वर्त एव च कर्मणि'**कर्मोंमें—सदाचारमें बर्तते हैं । लोक-कल्याण सदाचारपर अवलम्बित है । यान्त्रिक युगने मानवके हृदयको अभी पूरा लोहा नहीं बनाया है। अभी कुछ मृदुलता शेष है । इसीलिये मानव अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेको असत्यका आश्रय ले रहा है । उसका हृदय उसकी दुर्बलताको पग-पगपर प्रकट करता है। वह समाजकी आँखोंमें असत्य वचनोंकी धूल झोंकनेका व्यर्थ प्रयास करता है । जब वह यन्त्रका अनुसरण करना छोड़ देगा, तब उसकी हृत्तन्त्री सदाचारका मधुर राग अलापेगी ।

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

भगवान्‌का नाम परम मङ्गलमय है, फिर यह षोडश नाम-मन्त्र तो सर्वार्थमय होनेके कारण सबके लिये लोक, परलोक, परमार्थके सर्वविघ्नोंका नाशक और सब प्रकारसे परम कल्याणका सरल साधन है ।

बड़े ही आनन्दका विषय है कि 'कल्याण'में प्रकाशित निवेदनके अनुसार कल्याणके भगवत्प्रेमी पाठक-पाठिकाओंने बड़े चावसे भगवन्नामका जप किया है और दूसरोंसे करवाकर उनकी परम सेवा की है । इस वर्ष ११३७ स्थानोंसे आयी हुई सूचनाएँ दर्ज हुई हैं और इनके अनुसार सब मिलाकर ५४,९७,२९,६०० पूरे सोलह नामोंके मन्त्रका जप हुआ है। इनकी नाम-संख्या होती है—८,७९,५६,७३,६०० (आठ अरब उनासी करोड छप्पन लाख तिहत्तर हजार छः सौ)। पर जहाँतक अनुमान है—इस वर्ष कई विघ्न-बाधाओंके कारण सूचनाएँ पूरी दर्ज नहीं हो पायीं । अतएव जिनके स्थानका नाम नहीं छपा हो या नाम छपनेमें कुछ भूल रह गयी हो तो वे महानुभाव क्षमा करें। हमारी समझसे जप-संख्या इससे ड्योढ़ी होनी चाहिये ।

स्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—

अंकोला, अचलगुम्मा, अजनासिंगी, अक्कलकोट, अकछोर, अकबरपुर, अख्तियारपुर, अगवानपुर, अचलजामू, अचलापुरा, अछलदा, अजमेर, अजयगढ़, अठेहा, अतरझोला, अतरी, अथगढ़, अमकुई, अमरवाड़ा, अमराही, अमलनेर, अमलापुरम्, अम्बडगट्टी, अम्बिकापुर, अरई, अरनोद, अरसारा, अरुणकापसी, अरुविक्करा, अलणाहाट, अल्मोड़ा, अलीगंज, अशोकनगर, असरगंज, असोई, अहमदपुर, अहमदाबाद, अहिरी, अहिल्यापुर, आंतरी, आकोला, आखतवोड, आगरा, आवगिला, आबूरोड, आमीअकिलपुर, आयराखेड़ा, आरम्मा, आरोग्यवरम्, आर्वी, आलवाये, आलिमूड़, आष्टी, इंदी, इंदौर, इचाक, इच्छापुर, इटारसी, इटावा, इटौंजा, इटौरा, इरनाकुलम्, इलाहाबाद, इसरी बाजार, ईडर, ईसरदा, ईसागढ़, उजानगंगौली, उज्जैन, उडुपि, उदईपुर, उदयपुर, उदयपुरा, उन्नाव, उबोल, उमधा, उमरिया, उमरेडी, उमशाही, उमस्था, उमस्मा, उरदान, उबाला, ऊँझा, ऊँनगर, ऊना, ऊमरपुर, एकडंगा, एकमा, एटा, ५६ एत्मादपुर, ए० पी० ओ०, एरंडगाँव, ओमनगर, औरंगाबाद, औराखेड़ा, औरैया, औहर, कंटाग्राम, कक्कड़ियाँ, ककवारा, कजरा, कटक, कटकी, कटघर, कटघरवा, कटनी, कटपाडी, कटरा प्रयाग, कटशरी, कटिहार, कठघरा, कठपुड़िया, कठौड़ा, कड़बिन्धा, कड़लू, कनकगिरि, कनबाग, कर्नुल, कन्हईपुर, कपासन, कपिलेश्वरपुरम्, कपूरसिंह, कमलापुर, कमलिया, कमासी, कमासीन, करकंब, करनाल, करनूल, करमाटाँड़, करमाल, कराड, करेली, करोम, करोहन, कलकत्ता, कलाली, कल्याण, कल्याणपुरम्, कवड़ल, कवर्धा, कवाली, कर्वी, कसरावद, कसारू, कहलगाँव, काँकरोली, कांकेर, कांचरापाडा, कांठ, काकवारा, काकीनाडा, कागुपाडु, काजीगाँव, काजीबाग, काठमाँडू (नेपाल), कानपुर, कामठी, कामदेवपुर, कालकाजी, कालिम्पोंग, काहनोवान, किछा, कियाना, किरारी, किशुनगंज, किसनगंज, कीरतपुर निमाना, कुंजरोद, कुंडेच, कुँवर कोटरी, कुड़ाना, कुमना, कुर्झा, कुर्माहाट, कुम्हेर, कुलकुलपल्ली, कुलटावगहा, कृष्णनगर, कृष्णपुराकंपा, केटावन, केतान, केराला, कैथा, कैथाना, कैथौली, कोटा, कोंडर, कोचीन, कोचुरखुट्टुक, कोचीकोड, कोटगीर, कोटडा, कोटभी, कोटा, कोटापल्ली, कोटेतरा, कोडरमा, कोतमा, कोत्तापल्ली, कोपडिया, कोमाँपेठ, कोयम्बतूर, कोयला, कोरोराघवपुर, कोशलु, कोहठा, कौंडल्यपुर, कौठ, कौलापुर, खंडेबल्लूर, खंभालिया, खगड़िया, खडेरटीकतपुरा, खपरायाली, खसिहाकला, खयार, खडगपुर, खरदा, खरीका, खरेला, खरोसा, खर्साङ्ग, खवासपुर, खवासा, खाँभोदर, खाखरवाडा, खानपुरचिपर्डा, खापाकला, खामखेडा, खालिसपुर डुहिया, खासपट्टी, खिद्दापुर, खिरसू, खीरवली, खुरजा, खुशनामपुर, खुशरूपुर, खेरागढ़, खैरवाया, खोकरा कलाँ, खोपली, खौरी, गंगापुर, गंगोह, गंडर्गा, गठपूरा, गढ़वा, गढ़ाकोटा, गढ़ीजौरी, गढ़ीपुरा, गनियारी, गमाना, गया, गरियाबंद, गरीफा, गरुडवड़ेत, गवाली, गाडरवारा, गातला, गातेगाँव, गादिया, गीगगी, गुजरा, गुंटूर, गुड़गावाँ, गुड़िहारी, गुडेवल्लूर, गुना, गुरदासपुर, गुरुबाजम, गुरुसहायगंज, गुलबर्गा, गुलिविंडला, गेन्डोली,

गैरोली, गोंडल, गोंडा, गोढ़य्या, गोदरा, गोनौन, गोरसार छोटी, गोविन्दगढ़, गोविन्दपुर, गोसीअमनौर, गोह, गौड़ावली, गौवरी, घाटकोपर, घाटपुर, घोंटा, चकराता, चकरियापल, चकिया, चकौंध, चतुरैया, चन्द्रपुरा, चन्दाडीह, चनपटिया, चनायनबान, चपहर, चम्पानगर, चमोली, चरियावरियारपुर, चाँद, चाँदराना, चाड़ी, चान्दपुरा, चामा, चिंगलपट, चिंचवड, चिकमागालुर, चिकुर्ती, चिखलठाणा, चिखली, चितेगाँव, चित्रकूट, चिरमिरि, चिलवरिया, चिह्ली, चुड़ियावाड़ा, चुनार, चेतां, चेला, चैनपुर, चोकड़ी, चोपन, चौथा, चौदट्टा, छतरपुर, छपकहिया, छपरा, छपारा, छाताटान्डबाजार, छापेवाडा, छितौनी, छिंदवाड़ा, छिबरामऊ, छींतडीहरा, छोटारावला, छौलापुर, जगदलपुर, जगदीश, जगदीशपुर, जगनेवा, जगाधरी, जटपुरा, जटेरी, जड़ोल, जण्डवाल, जबलपुर, जमशेदपुर, जमालपुर, जमुथरि, जयपुर, जरगवाँ, जरार, जरिगुम्मा, जरूवाडी, जरैला, जलालाबाद, जवल, जवाली, जसरापुर, जसेला, जहानाबाद, जागपुर, जाटुसाना, जाटूशाना, जानसठ, जामठी, जालंधर, जुधनगर, जुन्हैटा, जुहावदा, जूना धामनगाँव, जेऊर, जेतलपुर, जैतपुर कछमा, जैतीपुर कुरुआ, जोकबंध, जोजोहातु, जोधपुर, जोरावरडीह, जोरी गुम्मा, जौनपुर, जौराखेरा, झरी, झलोखर, झाँसी, झालरापाटन, झिकरिया, झिरिया, झींझर, झूँझनूँ, झूनिवावाली, झूँथरी, टंकारियापंथ, टड़वा, टन्डवा, टांगा, टिकरी माफी, टिकारी, टिटिलागढ़, टिमनपुर, टिमरनी, टीकमगढ़, टीला, टुटीकोरिन, टुण्डला, टेरही बाजार, टोलुम्बर, ठटिया, ठूटीवारी, डगावाशंकर, डडवाँ, डढ़ेला, डावहिलरोड, डिहरी-औन-सोन, डुमरयानी, डुमटहर, डुमरी, डूँगरपुर, डेंगपदर, डोंगरगढ़, डोम्हाटोला, डौंड़ी, ढखका, ढाणकी, ढालम्, ढीपरी, ढूँठीवारी, तमलूर, तरौनी, तलेगाँव, तालडीह, तिगिरिआ, तियरा (मनोहरपुर), तिरवा, तिरुपति, तिरुनेलवेली, तिरुमंगलम्, तिरोडी, तिलहर, तिलकपुर, तिलोकपुर, तुगाँव, तुतिहा, तुर्रा, तुलरही, तुलसीपुर, तेङस, तेन्तुलिखुंटि, तेल्हाड़ी, थातीधनारी, थान्जापुर, दमोह, दरवा (मुरा), दवयाना बंगला, दहीखेड़ा, दाड़ी (काँगड़ा), दातिया, दामोदरपुर, दारापुर, दाल्की, दिगिग्राम, दिघवारा, दिनाजपुर, दिह्ली, दिह्ली छावनी, दीनदयालपुर, दीहाना, दुर्गाडीह, दुर्गावती, दुर्गागढ़ी, दुधपुरा, दुमका, दूदनी, देपालपुर, देवगढ़, देवबन्द, देवरिया, देवरी, देवलहा, देवाशि प्रसौनी, देहरादून, देहली, देहलीभगेसर, दोआबा, दौलेश्वरम्, धनवाली, धनवाही, धनिगवाँ, धर्मक्षेत्रअमात, धरणगाँव, धबुलिया, धोत्रे, नन्दवाना, नन्दग्राम, नगेरक्वाइल, नयी दिह्ली, नरमण्ड, नरला, नरसिंहगढ़, नरसिंहपुर, नरायनपुर, नरी, नरेला, नहजर्ली, नवरंगपुर, नवहट्टा, नाऊरदेऊर, नागझरी, नागपुर, नागलपुर, नागेरकोइल, नागौद, नागौर, नान्देड, नान्दकार, नापासर, नारदीगंज, नासिक, नाहली, निमियाँ, नियार, निवादा, नीमाज, नीमौन, नुनियाही, नेचुआजलालपुर, नेदुनूर, नेपानगर, नेम्मिकूर, नैनी, नैनीताल, नोहझील, नोहर, नौगाँवा, पंजवारा, पटना, पचपोखरा, पटियाला, पट्टीसोयतकलां, पटेहरा, पठखौली, पड़रिया, पदमावतीपुर, पनगाँव, पन्डाराखाली, पन्त्यूड़ी, पनहास, पपरेंदा, पयागपुर, परतेवा, परली बैजनाथ, परसदा, परसौनी देवाजित, परसौही, पलटा, पलासी, पवारखेड़ा, पसवाड़ा, प्रतापगंज गुलहरिया, प्रतापगढ़, प्रमाणपुर जागीर, पाँचोट, पाँचोर, पाँचगनी, पाँगरखेड, पाँवशी कुडाल, पाउली, पाकल, पाटणवाव, पाठारिसिहोरा, पाडर्डा, पाडुछोली, पाण्डेगाँव, पाण्डेटोला, पात्रपुट, पाताबोझ, पानागढ़, पालगंज, पालघाट, पाली, पिपरहरी, पिपरिया, पिपरौली, पिपरौली बड़ागाँव, पिलवासिनि, पीथापुरम्, पीपरगाँव, पीपरतराई, पीपरपाँती, पीपरी गहरवार, पीपलगाँव हरिहरेश्वर, पीपलरावा, पीपलवाड़ा, पीपलियागोधा, पीलीभीत, पुँजापूरा, पुआरखेड़ा, पुखरायाँ, पुडुकोहाई, पुनासिया, पुरहिया, पुरी, पुरलिया, पुलगाँव, पुलियुर, पुवायाँ, पूजापुरा, पूठी, पूर्णिया, पूना, पेण्डरा, पेन्दुरती, पैंची, पैडगुमल, पोखरभिण्डा, पोरबन्दर, फकुली, फतेहपुर (जेसादा), फरइ, फरहदा, फागी, फारबिसगंज, फिरोजपुर छावनी, फिरोजपुर झिरका, फिल्लौर, फुलपरास, फुलवरिया, फुलहर, फुलौत, फैजपुर, बंगलौर, बंगीनोवाड़ी, बंडोल, बंधवारण्य, बक्सर, बकोरिया, बगडिया, बगड़ी सज्जनपुर, बजौरा, बटाला, बड़काचुम्बा, बड़गाँव, बड़वानी, बड़हरवा, बड़ी उकावद, बड़ी देथली, बड़ंगी, बड़ोदा, बड़ोली, बढ़ईयाटोला, बदायूँ, बद्रीनाथ, बन्धा, बनेड़ियाचारणान, बम्बई, बम्हनी बंजर, बरकतपुर, बरमंडल, बरीपाल, बरेली, बरौंधा, बलरामपुर, बलहापारा, बसंतपुर, बस्ती, बसावनपट्टी, बसौली, बहेरकुआँकोट,

बाँकपाल, बामौरकलाँ, बारपली, बाराजीका गाँव, बाराद्वार, बाराबंकी, बारू, बाल-बंगरा, बालसमुद, बालाकोट, बालाघाट, बालोतरा, बालोन, बावल, बिछवाँ, बिरना लखनसेन, बिरैंची, बिलासपुर, बिसलपुर, बीकानेर, बीड़, बुढ़ाखेड़ा, बुधगाँव, बुधारा, बरुडगाँव, बुलन्दशहर, बेटमा, बेतिया, बेनकनहल्ली, बेमेतरा, बेलखरा, बेलगाँव, बेलमंडई, बेलर, बेल्लारी, बेहटा, बैतूलबाजार, बोचू (काश्मीर), बोधन, बोधापुर, बोवस, भऊखेड़ी, भगवतगढ़, भगवानपुरा, भटगाई, भड्डू, भदेवाँ, भदौल, भवानीपुर, भमरहा, भरतपुर, भरथाँव, भरथा, भरथौली, भरावहा, भरौरी, भवानी, भवानीपुरबाजार, भागलपुर, भाटपारा, भालोद, भावनगर, भिकनूर, भिलाईबाजार, भिलावट, भिसकले, भीकनगाँव, भीमड़ास, भीलवाड़ा, भुरका, भुसनूर, भुसावल, भूपालगंज (भीलवाड़ा), भेड़ा, भृगुपुर, भोईपुरा, भोगावानिपानी, भोजया, भोपाल, भोलग(कंगर), भौजनगर, भौरासी, मंगलवेढा, मंडला, मंडावद, मऊआइमा, मझारा, मटियारी, मडक्की माला, मढ़न, मण्डी, मत्तेपुर, मथुरा, मद्रास, मदुरा, मधवापुर, मनीमाजरा, मरीकुप्पम्, मल्कापुर, मलणगाँव, मल्लेश्वरम्, मवड़ा, मस्की, महथी, महमदपुरबदल, महमूदखाँ-सराय, महरागाँव, महाराजगंज, महाराजपुरमंडला, महारानीपेठा, महावीरपुर, महिदपुर, महीपविगहा, महुआँवा, महेन्द्रगढ़, महेश्वर, महोली, मांडई, मांडल, माटे, माढ, माधोपुरगोविन्द, माधौपाली, मान्ध्या, मान्धाता ओंकारेश्वर, मानपुरनगरिया, मानोरा, मानूरगंज, मायापुर, माल्कोसनी, मिटेवानी, मिनावटा, मिरजागंज, मिसरोद, मीरजापुर, मीस्त्रीपारा, मुंडगाँव, मुग्गा, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुडिनापल्ली, मुरली, मुरादपुर, मुरार छावनी, मुल्तानपुरा, मूंदी, मेंगराग्राम, मेंगलोर, मेदनीपुर, मेनसागी, मेरठ, मेल्लेमपुडी, मेंहदावल, मोकलवाड़ा, मोकाबाजार, मोठ, मोढ़ा, मोतीनगर, मोतीपुर, मोतीहारी, मोरटाकेवड़ी, मोरवड, मोवीया, मोहम्मदपुर मछनाई, मौदह चतुर, मौधिया, मौबेमुआँकी, यमुनानगर, यवतमाल, येवला, रंगवासा, रगजा, रणजितपुर, रतलाम, रतिया, रनियाँ, रवल, रवलपुरा, रसधान, रहमतपुर, रहली, रहावली उवारी, राँची, राजकोट, राजगढ़, राजनाँदगाँव, राजपुर, राजमंदरी, राजमहेन्द्रवरम्, राजाखेड़ा, राणेबन्नूर, राधापुर, रानीपुर, रानीपुल, रानीपूल, रानीबाग, रानेबेन्नूर, रामगलीमड़वा, रामनगर, रामपुर, रामपुरअहिरौली, रामपुरकला (A. P.), रामपुरचाय, रामपुर (छातापुर R. S.), रामपुरनट्टी, रामपुरहाट, रामानुजनगर, रायकुर, रायचुर, रायपुर, रावदियापीर, राविनूतला, रिताक, रींगनोट, रुड़की, रुपौला, रुपौली, रुड़की, रूपनागर, रूपाहेडा, रुहेरा, रैंका, रेन, रेनीगुण्टा, रोड्डम, रोंदा, रोहिणी, रोजा, लखनऊ, लखनपुरा, लखीसराय, लत्ता, लधौसी, लन्दन (इंगलैण्ड), लश्कर, लहरनिया, लहरीतिवारीडीह, लक्ष्मी, लाँका, लाखागुड़ा, लाँघबोरो (इंगलैण्ड), लाडवा, लातेहार, लालगंज, लालपुर, लावनी, लासलगाँम, लाहान बाजार (नेपाल), लुआवद, लोखा, लोनावाला, लोलावास, लोहा, वगरौनी, वडनगर, वडरिया, वड़री, वर्डा, वणी, वनखेड़ी, वरहमपुर, वरहट, वरुअटा, वरौधा, वसवेखंड, वागडेहि, वादीपुरा, वानमौर, वामपुर, वामरा, वामोरीशाला, वगाँव, वाराणसी, वाल्टीयर, वासौदा, विगह, विजयनगर, विजयवाडा, विजवार, विराल, विलोविहम, विष्णुपुर भलेगवाँ, विष्णुपुरवृत्त, विशाखापत्तनम्, विशाड़, विशाला, विशौनी, विहरा (मढ़िया), विहारशरीफ, वीकापुर, वीजापुर, वीरसिंहपुर, वीवापुर, वेंपल्ली, वेमावल, वेल्थरा रोड, वेल्लदुरु, वैगावल वसरवारी रोड, वैजापुर, वैसाडीह, वैहर, शंखलपुर, शंभुगढ़, शकुरबस्ती, शर्मिष्ठापुर, शरफुद्दीनपुर, शहपुर सिटौनी, शहरना, शाजापुर, शामदेव, शासन, शाहपुर-भगरौन, शिमला, शिरसोली, शिलकोट, शिव, शिवगंज, शेगाँव, शेरभुक्का, श्रीनगर, श्रीरामपुर, श्रीविल्लीपुत्तुर, संखेड़ा, संगमनेर, संगसूर, संगेम, सगुनी, सठियाँव, सड़रा, सढ़वारा, सणसोली, सनकुई, सनेहवा, सतपोखर, सबलपुर, सब्बलपुर, सबैला, समदरड़ी, सम्भल, समलागोविंदपुर कोइलरी, समस्तीपुर, समेसर, समोधपुर, सरायभावसिंह, सरिया, सरोनिया, सरोरा, सलैया, सहारनपुर, सहिया, संबलपुर, साँचोर, साइपुरसिर्थौमट्टी, साँड़िया, साकेत, साकेवान, साजपानी, सातनपुरवा, सादूलपुर, सान्दौल्याँ, सामाना, सारनाथ, सारभ, सालहल्ली, सावरकुंडला, साहवा, साहेबगंज, सिकन्दरपुर, सिकन्दराबाद, सिझोरा, सिघिनाली, सिन्दरु, सिंदीजवलगा, सिधपुर, सिमलटोकी, सिरसिल्ला, सिलदर, सिलारी, सिवनी, सिवनी-पेण्डरा, सिसदेवरी, सिंहेश्वर, सिंहेश्वरस्थान, सीकर, सीतापुर,

सीतामऊ, सीतारामपुर, सुजानयन, सुठालिया, सुन्दरपुर, सुपेड़ी, सुपोल, सुभवा, सुरहेड़ा, सुरेमनपुर, सूर्यननयानपुरम्, सुलतानपुर, सुल्हतह पालमपुर, सेझी-कोटवा, सेन्दुरजना, सेलोटपार, सैदपुर, सैलवारा, सोंढ़, सोडपुर, सोनई, सोनगाँव, सोनवा, सोनवर्षा, सोनपै, सोनत, सोनाडीह, सोलन, सोलापुर, सोहन्दरहाट, सोहागपुर, सौंगडा, सौंदला, हंसकेर, हजारीबाग, हटनी, हथियर, हथिया, हनुमानगंज, हनुमानगढ़, हरजीपुर, हरदा, हरदी, हरदोई, हरपालपुर, हरसिंगपुर, हरसिल, हरसेर, हरिद्वार, हरिपुर, हरिमा, हरिहरपुर, हवीबपुर, हसनगंज, हसनगढ़, हाँफा, हाजीपुर, हाटी, हापुड़, हिंगोली, हिण्डौन, हिण्डोरिया, हिमगिरिरोड़, हिरदेनगर, हिस्यामपुर, हिसार, हुसैनपुर, हेडगे, हैदरगढ़, हैदरनगर, हैदराबाद, होर्मा, होसाडीह।

नाम-जप-विभाग—**'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर**

बिना साबुन, बिना पानी निर्मल करनेवाले

(श्री 'दुर्गेश')

निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय। बिनु साबुन पानी बिना निरमल करै सुभाय ॥

निंदक बुरे तो लगते ही हैं; क्योंकि वे दर्पणकी भाँति हमारे दुर्गुणोंको दिखा देते हैं। परंतु हमने कभी यह नहीं सोचा कि 'जब हमारी बुराईको बतानेवाले हमें इतने बुरे लगते हैं, तब वह बुराई तो हमें और भी अधिक बुरी लगनी चाहिये; अतः हम अपनी बुराइयोंको ही क्यों न दूर कर दें।' यह सत्य है कि स्वभाव पड़ा हुआ बड़ी कठिनतासे छूटता है पर हमें चेष्टा तो यही करनी चाहिये कि हमारा बुरा स्वभाव बदल जाय, बुराइयाँ निकल जायँ। यों अपना स्वभाव सुधारना चाहिये न कि दूसरेके प्रति बुरा भाव उत्पन्न करके उसे और भी बिगाड़ दिया जाय।

जैसे मुझे बहुत शीघ्र क्रोध आ जाता है; मैं प्रयत्न करके भी इस दुर्गुणको नहीं मिटा सकती। इस प्रकार जब मैं स्वयं अपने स्वभावपर नियन्त्रण नहीं रख सकती, तब दूसरोंके स्वभावपर बुरा माननेका या उसका विरोध करनेका मुझे क्या अधिकार है? जब स्वयं मैं भली नहीं हूँ तब दूसरोंको बुरा बताकर और मानकर उन्हें भला बननेके लिये कैसे दबाव डाल सकती हूँ?

मान लिया जाय कि मुझमें अमुक दोष नहीं है, झूठ-मूठ ही मुझपर लाञ्छन लगाया जाता है। इस अवस्थामें भी यह सोचना चाहिये कि मुझमें झूठा दोष देखकर भी वह वास्तवमें मुझे दोषरहित ही देखना चाहता है, सावधान तो करता ही है। अतः मेरा भला ही करता है। फिर सचाई तो सामने आ जायगी।

मैं वास्तवमें भली उसी समय हो सकती हूँ जब मैं दूसरोंकी बुराइयोंको पचा सकूँ और उनके गुणोंको देखूँ। निन्दा करनेवाला कितना अच्छा है कि वह स्वयं बुरा कहलाकर भी हमारे स्वभावकी गंदगीको धोकर साफ करता है। अतः निन्दा सुनकर हम क्रोध न करें, वरं अपने दोषोंकी ओर देखकर उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करें और निन्दकको अपना हितैषी मानें।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श अतिथि-सत्कार

हम देख रहे हैं कि आजके इस भौतिकवादी आसुरी युगमें सच्ची मानवताका दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। अतिथि-सत्कारकी भावनाकी जगह अतिथि-तिरस्कारकी भावना घर कर रही है। शिक्षित तथा उच्च घरोंमें अतिथि-सत्कारको कोई महत्त्व ही नहीं दिया जाता। परमार्थकी भावनाका लोप हो रहा है।

ऐसे समयमें निम्न लिखित आदर्श अतिथि-सत्कारकी सच्ची घटना मानवताका चिर नवीन कल्याणकारी संदेश सुनाती है। वह घटना बंगालके प्रसिद्ध लोकसेवी एवं परोपकारी महापुरुष ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके जीवनसे सम्बन्धित है।

घटना उन दिनोंकी है जब विद्यासागर कलकत्तेके पास एक कस्बेमें नौकरी करते थे।

रात्रिका समय था, वर्षा हो रही थी। अन्धेरी रात्रि भयानक प्रतीत पड़ती थी। उसी समय दूरका एक पथिक उस कस्बेमें आया।

उसका दूरका कोई सम्बन्धी या मित्र भी उस कस्बेमें नहीं था जहाँ जाकर वह ठहरता। वह गाँवके मुखियाके पास गया और उससे रात्रिमें उसके यहाँ ठहरनेकी अनुमति माँगी; पर मुखियाने इन्कार कर दिया। वह अनेक व्यक्तियोंके पास गया, पर किसीने भी उसे आश्रय नहीं दिया। उसे चिन्ता हुई कि वह रात्रि कहाँ काटेगा। अन्तमें उसने एक व्यक्तिका द्वार खटखटाया। यह घर विद्यासागरका था। मकानका द्वार खुला और पथिकको लालटेन लिये हुए एक प्रसन्नवदन तेजस्वी व्यक्तिके दर्शन हुए। पथिक सर्दीसे ठिठुर रहा था और उसके सारे वस्त्र पानीसे भीग गये थे।

विद्यासागरने उससे कहा—'आइये ! अंदर बैठिये, बाहर खड़े क्यों हैं ?'

सान्त्वनाभरे इन शब्दोंने उस व्यक्तिको हर्ष-विह्वल कर दिया। विद्यासागरने उसे अंदर ले जाकर चारपाईपर बिठलाया।

अतिथिने कहा—'महाशय ! मैं आपके कस्बेके प्रत्येक व्यक्तिके पास गया पर मुझे किसीने आश्रय नहीं दिया और न कोई प्रेमके दो शब्द ही मुझसे बोला। आपके इन सान्त्वनापूर्ण शब्दोंने मेरा आधा कष्ट दूर कर दिया। आपने मेरे साथ बड़ा ही उपकार किया है।'

विद्यासागर बोले—'इसमें मैंने कौन-सा बड़ा कार्य किया है। यह तो गृहस्थीका धर्म है। **'अतिथिदेवो भव'** (अतिथि देवता है)। अतः अभ्यागतका सत्कार करना मेरा धर्म है।

विद्यासागरने उसके गीले वस्त्र उतरवाये एवं अपने नये सूखे वस्त्र पहननेको दिये। वह ठंढसे काँप रहा था। विद्यासागरने कोयलेकी अँगीठी जलायी और उसके शरीरको ताप पहुँचाया। पथिकमें ताजगी आ गयी।

अतिथिके मना करनेपर भी उसके लिये भोजनका प्रबन्ध किया।

रात्रिमें उसके सोनेका पूरा प्रबन्ध किया। अनजान अतिथिने रात्रि सुखसे व्यतीत की। प्रातः जब उसने उनके घरसे प्रस्थान किया तो उसके नेत्रोंमें हर्षके आँसू थे।

उसने विद्यासागरसे कहा—'आप मनुष्य नहीं साक्षात् देवता हैं।' वास्तवमें यह आदर्श अतिथि-सत्कारका एक अनुपम उदाहरण है।

अतिथियों, दीन-दुखियों एवं विपत्तिग्रस्त व्यक्तियोंकी सेवा करना ही सच्ची मानवता है।

—प्रो० श्याममनोहर व्यास एम्० एस्-सी०

(२)

दरिद्रनारायणकी आदर्श दया

सरजू आज इस धरतीपर नहीं है; किंतु मेरी स्मृतिमें सदैवके लिये टँगा हुआ है। उसका वात्सल्यसे भीगा चेहरा जैसे आज भी स्वामी रामतीर्थके शब्दोंमें शब्द मिलाकर कह रहा है—'मनका अमृत कभी समाप्त हुआ है रे ? दोनों हाथोंसे उलीचे जा पगले। कृपणता क्यों बरतता है ?' अपने घरमें अँधेरा रखकर भी दूसरेके घरमें दीया चासना मैंने सरजूमें देखा !

मैं उस गाँवमें स्थानान्तरित होकर गया था। परीक्षामें बैठनेकी अनुमति मिल चुकी थी, किंतु वेतनका कुछ पता न

था। अनुमति वैसे ही विलम्बसे प्राप्त हुई थी, फिर, अब तो लेट फीस देकर भी फार्म भेजनेका समय पास आ रहा था। सोच रहा था यदि पैसोंके अभावमें फार्म न भरा गया तो एक वर्ष व्यर्थ चला जायगा। गाँवमें किसीसे जान-पहचान नहीं थी। उधार माँगनेमें आत्मग्लानि होती थी। चिन्तासागरमें डूबता-उतराता एक दिन बैठा था कि शालाका 'पार्ट टाइम सर्वेंट' सरजू जिसे उन दिनों झाड़ू-पानीके तीन रुपये माहवार मिलते थे, मेरे पास आया और अभिवादनके पश्चात् सामने धरतीपर बैठ गया। मुझे चुप देखकर उसने नेत्रोंमें ममताका अथाह सागर समेटे मुझसे चुप्पीका कारण पूछा और तब मैंने अटकते-अटकते उससे पैसोंके अभावकी बात कह दी।

एक-एक पैसेको मोहर समझनेवाला दुःख-दारिद्र्यकी साक्षात् प्रतिमा वह दरिद्रनारायण दूसरे दिन सुबह ही मेरे पास ५०) लेकर आया। अंधेको क्या चाहिये—दो आँखें। पैसे लेकर मैं भागा हुआ अजमेर आया और फार्म भर दिया।

रविके रथका पहिया घूमता रहा। काले और धौले चूहे जिंदगीको कुतरते रहे किंतु न तो वेतन आया और न मैं सरजूको रुपये दे पाया। एक दिन शामकी छुट्टी करके मैं घरकी ओर जा रहा था कि कुछ लोगोंको सामने पेड़ तले खड़े पाया। आवाजें आ रही थीं—'नहीं चुकाया जाता तो पैसे क्यों लिये ? 'लेत परम सुख ऊपजे लेके दियो न जाय,' अंजी पूरा अमलदार है, ऐसे अमल खानेकी बजाय मिट्टी क्यों नहीं फाँकता।' आदि-आदि।

पास गया और जो देखा तो माथा घूम गया। आँखोंके आगे तिरमिरे तैरने लगे—एक फटे टाटपर एक मटकी पानीकी और एक मिट्टीकी हँडिया लिये सरजू बैठा है। लोगोंने बतलाया महाजनसे ५०) रु० तीन माह पहले पंद्रह दिनका नाम लेकर अपनी झोपड़ी और एक-दो काँसेके बरतन गिरवी रखकर लाया था, आजतक नहीं चुकाये। इससे महाजनने मकानसे निकाल बाहर किया और सामानको नीलाम कर दिया।

'सब कुछ समझ गया'—कहते हुए मैंने आगे बढ़कर सरजूकी बाँह थामी और कहा—'उठो सरजू, आजसे मेरे साथ रहना।' महाजनका हिसाब उसी रोज जैसे-तैसे बेबाक कर दिया गया।

पीछेसे गाँववाले कह रहे थे—'मास्टर साहब बड़े सज्जन, संत-महात्मा और न जाने क्या-क्या हैं।'

मैं कैसा था इसे किसीने नहीं जाना और सरजू कैसा था, इसे भी शायद किसीने नहीं जाना।

—गोपालकृष्ण विरह

(३)

दरिद्रनारायणकी सेवा

पौष महीनेकी प्राणहारिणी सर्दी थी। फिर, उसमें महाबलेश्वर-जैसा हिल-स्टेशन। रातके लगभग दस बजे होंगे। लोग सब सो गये थे। झींगुरोंकी आवाज और गिरते पत्तोंकी खड़खड़ाहटके अतिरिक्त सर्वत्र निस्तब्ध शान्ति छायी थी।

मैं मधुवनसे वापस लौट रहा था। मुझसे कुछ ही आगे एक युवक नखसिख गरम सूटसे लैस मजेमें गाता हुआ धीर गतिसे चल रहा था। वह अचानक एक जगह एकदम रुक गया। उसने कान लगाये। रास्तेमें एक पेड़की जड़में सर्दीसे थरथर काँपता हुआ चिथड़े लपेटे एक भिखारी घुटने सिकोड़े पड़ा कराह रहा था। इतनेमें मैं भी उस युवकके समीप पहुँच गया। युवकने धीरेसे अपने शरीरपरसे गरम ओवरकोट उतारा। भिखारीके पास जाकर उसको उठाया और बिना ही कुछ कहे-सुने उसके शरीरपर वह कोट पहना दिया, सिरपर अपना मफलर लपेट दिया और दो रुपयेके नोट उसके हाथपर रख दिये।

भिखारी एक बार तो हक्का-बक्का-सा रह गया। उसके मुरझाये होठ काँपते हुए खुले—'हे भगवान् ! तेरी कैसी दया।' फिर युवकको सामने देखकर उसने कहा—'मेरे प्यारे ! मैं तुझे क्या दूँ ? मेरे पास है ही क्या ? सिर्फ दुआ।' यों कहकर उसने युवकके दोनों हाथ चूम लिये।

इस अनजान युवक और दरिद्रनारायणका यह पुनीत मिलन आज भी मुझमें आनन्दकी लहरें उत्पन्न कर रहा है। (अखण्ड आनन्द)

—दलपतभाई डा० श्रीमाली

(४)

बच्चोंके सूखा रोगकी अनुभूत दवा

दूध पीनेवाले छोटे बच्चोंको सूखेकी बीमारी हुआ करती है। माताका दूध हजम न होना, हरे-पीले ज्यादा दस्त होना, शरीरका खून यहाँतक सूख जाना कि जिससे चमड़ी तक चटकने लगे, शरीरका अत्यन्त कृश हो जाना, आँखें

छोटी पड़कर अंदर घुसती हुई-सी दिखायी देना तथा बच्चेकी रोनेकी आवाजका बहुत धीमी पड़ जाना आदि लक्षण इस बीमारीमें प्रकट होते हैं।

मेरे घरमें बहुत बच्चे हैं। उनको यह बीमारी अक्सर हो जाया करती थी। अन्तमें पंजाबके एक महात्माने एक दवा तथा उपचार बताया, उसके करनेसे बच्चोंका रोग मिट गया। तबसे मैंने इसका बहुत बार प्रयोग करके सफलता पायी है। 'कल्याण'के पाठकोंको भी इससे लाभ उठाना चाहिये। दवा और उपचार नीचे लिखे अनुसार हैं—

सफेद या पीले रंगकी गौकी साल-डेढ़-सालकी बछड़ीका गोमूत्र चीनी या काँचके बरतनमें लेकर पंद्रह-बीस मिनट बाद उसे साफ कपड़ेसे छान लिया जाय। उस छने हुए गोमूत्रमेंसे बच्चेकी माता करीब एक तोला पी लें और फिर रोगी बच्चेको उसकी आयुके अनुसार तीनसे पाँच माशेतक पिला दे। यों बिना नागा लगातार सात दिनतक माता और बच्चा दोनों पीते रहें।

जिस दिनसे यह गोमूत्र पीना शुरू किया जाय, उसी दिनसे उगते हुए सूर्यकी सुहाती हुई धूपमें माता बच्चेको लेकर बैठ जाय। बच्चेकी पीठ सूर्यकी ओर रक्खे और नागरबेलका पान लगा हुआ (—जिसमें सिर्फ कत्था, चूना, सुपारी हो और जिसमें २॥ पत्ते चिरपोटणके पत्ते डाले हुए हों।—) माता मुखमें लेकर चबाती रहे और बच्चेके पीठकी रीढ़की हड्डीपर उस पानका पीक डालती और खूब मालिश करती रहे। यह पीकका मालिश भी सात दिनोंतक करना चाहिये।

चिरपोटण बरसातकी मौसमसे हर कहीं उगी मिलती है। अन्य मौसिमोंमें साग-सब्जीकी बाड़ियोंमें तथा बगीचोंमें मिलती है। चिरपोटणका पौधा डेढ़ या दो फुटतक बड़ा होता है। इसके नीचेकी डंठल कुछ काली झाँई-सी देती होती है, मिर्च-जैसे तीखे पत्ते होते हैं। मौसममें इसमें चिरमीके समान फलोंके झूमके लटकते रहते हैं। पक जानेपर ये लाल हो जाते हैं, इनको पंसारी दवामें बेचते हैं। यूनानीमें इनको मकोय कहते हैं। जिनको चिरपोटण न मिले, वे उसके बदले स्वस्थ भैंसका गोबर लेकर उसे कपड़ेमें निचोड़कर उस निचोये हुए पानीमें भैंसका दही अच्छी तरह मिलाकर उसका बच्चेकी रीढ़पर मालिश करे। इसे चौदह दिनोंतक मलना पड़ेगा। इससे भगवत्कृपासे बच्चा अवश्य स्वस्थ हो जायगा।

—ठाकुर श्रीहरीसिंह नरुका, पो० किशनगढ़ (अजमेर) राजस्थान

(५)

अनोखा बर्ताव

जाड़ेकी कड़कड़ाती सर्दी। खून जम जाय, ऐसी सरसराती ठंढी हवा चल रही थी। ठंढी हवाका ऐसा झोंका आता था कि खेतोंकी रखवाली करनेवाले अपनी मचानपर जग जाते थे। ऐसा ही एक जबरदस्त ठंढा झोंका आया और खेतमें मचानपर सोया हुआ गोविन्द भगत जाग गया। उसके कानोंमें कानाफूसीकी आवाज आयी।

'अरे मगनजी, अब बस करो, बेचारे भगत आदमीका ज्यादा नहीं लेना चाहिये।'

'अब चुपचाप बीनता जा, ऐसे धानी जैसे बिनौले मिलनेका संयोग सहज ही हाथ नहीं आता।'

'अरे मोहन! तुझे ऐसी दया रखनी थी तो हमारे साथ नहीं आना चाहिये था।' तीसरे व्यक्तिने कहा।

'अरे लेकिन, प्रभात होनेको आया है, देख वह तारा भी तो उग गया है।' मोहन बोला।

'अरे मूर्ख! पूरा एक मन तो हो जाने दे।' पल्लेमेंसे ढेरमें डालते हुए मगनजीने कहा।

गाँवके तीनों नामी चोर भगतको सोया समझकर बिनौले बीनते चले जा रहे हैं। दो-दो मन बिनौले बीने गये। पोटें बाँधकर तैयार कर लीं। इसी बीचमें पड़ोसके खेतका रखवाला, उसे घरमें दही मथना था, इसलिये जल्दी उठ गया। उसने मचानपर बैठे-बैठे ही बीड़ी सुलगायी। तीनोंकी हिम्मत हवा हो गयी। पहले दोनोंको मोहनजीने पोटें उठा दीं और वे चल दिये। मोहनजी पोट उठानेका जीतोड़ प्रयत्न करने लगा। इतनेमें ही आवाज आयी—

'भाई! परेशान मत हो, मैं उठा देता हूँ।' यों कहते हुए भगत मचानसे कूद पड़े और दौड़कर मोहनजीके पास आ पहुँचे। मोहन भागनेकी तैयारी करने लगा, परंतु वहाँ तो फिर मिठासभरे शब्द निकले—

'भागना मत भाई! तेरे स्त्री-बच्चे भूखे होंगे, उठा ले जा।'

मोहनके पैर रुक गये। वह थरथर काँपने लगा। इतनेमें तो भगतने उसका हाथ पकड़कर पीछेसे जोर लगाकर पोट उसके सिरपर उठा दी। मोहनजी पोट उठाकर चल दिया। भगत मचानपर जाकर सो गये।

सबेरा हुआ, भगत उठे। चिलमका दम भरते हुए हाथमें लाठी लेकर घरकी ओर चल दिये। घर पहुँचते ही मोहनजीको पोट रक्खे अपने घरके बाहर बरामदेमें बैठे देखा। भगतको देखते ही वह सामने आकर भगतके चरणोंमें झुक गया। उसने कहा—'माफ करना भगत! मैंने आपको पहचाना नहीं। बुरी संगतमें पड़कर खेतमें चोरी करने घुस गया। मुझसे यह बहुत बड़ी भूल हो गयी। इसका मुझे बड़ा पछतावा हो रहा है।'

भगतने हाथ पकड़कर उसे उठाया और कहा—'भाई! तेरे स्त्री-बच्चे भूखे हों तो तू ले जा, इसमें कुछ भी पाप नहीं है। मनुष्यका उपजाया हुआ मनुष्य न खाय तो फिर कौन खायेगा?'

उस दिनसे मोहनजीने चोरी करना छोड़ दिया और भगतके साथ उनके साथीकी तरह रहने लगा। आत्माने आत्माको पहचाना। मोहनजीका बुरी वृत्तिरूपी कीचड़ भगतके अमृत सिंचनसे धुल गया और उसका हृदय कंचनके समान साफ हो गया। वह स्वयं परिश्रम करके रोटी कमाना सीख गया। कैसा अनोखा बर्ताव! कैसा संगका रंग। (अखण्ड आनन्द) —बालजी भाई ह० पटेल

* * *

जय वृषभानुकिशोरी

(१)

नेति नेति कह वेद गा रहे जिसकी महिमा भारी,
तव पदनखकी ज्योति ब्रह्म वह राधे कीर्तिकुमारी!
जिन्हें ढूँढ़ते सतत सिद्ध मुनि योगीश्वर व्रतधारी,
वे सतृष्ण श्रीकृष्ण चाहते केवल कृपा तुम्हारी॥

(२)

अप्राकृत सच्चिदानन्दघनपरम-व्योमकी रानी,
मंजु तुम्हारी महिमा जानें क्या इस जगके प्रानी।
तव मधुवनके तृण-तरुवरका एक-एक भी पत्ता—
अपनेमें सीमित रखता है कल्पवृक्षकी सत्ता॥

(३)

गौएँ तव गोलोकधामकी कामधेनुएँ सारी,
नाम तुम्हारा मधुर चारु चिन्तामणि भानुदुलारी!
होता शोभित धाम तुम्हारा अखिल विश्वके ऊपर,
भक्तजनोंपर किंतु कृपाकर तुम उतरीं इस भूपर॥

(४)

मोहनके मुखचन्द्र मधुरकी चाहक चारु चकोरी!
श्याम-सिंधुरस अवगाहनरत जय वृषभानुकिशोरी!

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

विजयादशमी, दीपावली और गीता-जयन्ती

हमने चाहा था कि विजयादशमी तथा दीपावली देशभरमें सभी जगह एक ही तारीखोंको मनायी जाय। हमने प्रयत्न भी किया था कि सब मिलकर कोई-सी एक तिथियाँ निश्चय कर लें; पर ज्योतिषी महोदयोंका मतभेद नहीं मिट सका। अतः सब जगह एक ही तारीखोंपर ये पर्व नहीं मनाये जायँगे। यह दुःखकी बात है। हमलोग तो वाराणसीके महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरधरजी शर्मा तथा पूज्य श्रीश्रीकरपात्रीजी महाराज आदि विद्वानोंके मतानुसार विजयादशमी ता० २७ अक्टूबर, दीपावली ता० १५ नवम्बर तथा गीता-जयन्ती ता० २६ दिसम्बरको मना रहे हैं। सब लोग अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मना सकते हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समितिका पता पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून) है

परीक्षा-समितिका कार्यालय बहुत वर्षों पहले यहाँसे गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून) जा चुका है, फिर भी अभीतक उस सम्बन्धके पत्र यहाँ आते रहते हैं जिससे उनके काममें विलम्ब हो जाता है। प्रार्थना है कि सही पतेपर पत्र-व्यवहार करना चाहिये।

पुस्तक-विक्रेताओंको सूचना

(१) गीता-दैनन्दिनी सन् १९६४ की इस बार भी गतवर्षकी तरह ही केवल बाइंडिंग क्लाथवाली अजिल्द बनी है। मूल्य वही ·६२ न० पै० हैं। ·७५ नये पैसेवाली गोरखपुरी कपड़ेकी सजिल्द बनवानेकी व्यवस्था नहीं है। अतः सजिल्दका आर्डर नहीं भेजना चाहिये।

विक्रेताओंको थोकके दामोंमें जो विशेष सुविधा कुछ वर्षोंसे मिलती है वह इस वर्ष भी चालू है।

(२) गीता-पञ्चाङ्ग—वि० सं० २०२१ का कार्यकी अधिकता आदि कारणोंसे इस वर्ष निकालनेका विचार नहीं है। अतः इसके लिये भी किसीको आर्डर नहीं भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याणके पुराने विशेषाङ्क

'कल्याण'के पुराने विशेषाङ्क बहुत सज्जन माँगा करते हैं; पर हमारे पास न होनेके कारण नहीं दिये जा सकते। अतः किन्हीं सज्जनके पास केवल पुराने विशेषाङ्क, पूरे वर्षके अङ्क आदि हों और वे मूल्य लेकर देना चाहें तो कृपया कौन-से विशेषाङ्क तथा किस वर्षके फाइल हैं, सो लिखनेकी कृपा करें।

सम्पादक—**'कल्याण' पो० गीताप्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)**

रजि० सं० ए० १७

कल्याणका आगामी विशेषाङ्क

(संक्षिप्त लीला-प्रसङ्गसहित) श्रीकृष्ण-वचनामृत-अङ्क

(१) बहुत वर्षों पूर्व प्रातःस्मरणीय महामना मालवीयजी महाराजने भगवान् श्रीकृष्णके वचनामृत-संग्रहके लिये कहा था। अन्यान्य बहुतसे पूज्य महानुभावोंका भी ऐसा आग्रह था और अब भी है, प अबतक यह काम नहीं हो पाया था। इस बार 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें भगवान् श्रीकृष्णके चुने हुए वचनोंका संग्रह प्रकाशित होने जा रहा है। इसमें प्रधानरूपसे श्रीमद्भागवत और महाभारतसे संग्रह किया गया है। अन्यान्य ग्रन्थोंसे भी वचन लिये गये हैं। वचनोंके साथ ही लीला-प्रसङ्ग भी दे दिया गया है, जिससे विशेषाङ्ककी परम उपादेयताके साथ ही रोचकता तथा बड़े-बूढ़े-बालक, माताएँ-बहनें सभीके लिये रोचकता तथा प्रियता बढ़ गयी है।

भगवान् श्रीकृष्णके कर्म, उपासना, ज्ञान, भक्ति, प्रेम, निष्काम कर्मयोग, योग, राजनीति, समाजनीति, सदाचार, कर्तव्य, त्याग आदि विविध विषयोंपर महत्त्वपूर्ण वचन मिलते हैं। इस अङ्कमें उन सभी विषयोंके चुने हुए प्रसङ्गों तथा वचनोंका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेशप्रद, मनोरञ्जक, मधुर, मनोहर, सर्वदुःखहर, शाश्वत शान्तिदायक संग्रह (मूल श्लोक हिंदी-अनुवादसहित) मिलेगा। श्रीमद्भगवद्गीता और उद्धव-गीता सम्पूर्ण रहेगी। श्रीकृष्णके लीला-प्रसङ्गोंके रंगीन तथा सादे चित्र भी पर्याप्त संख्यामें रहेंगे, जिनसे अङ्क परम सुन्दर तथा आकर्षक हो जायगा।

(२) इस वर्ष महँगी तथा खर्च और भी बढ़ा है, अतः मूल्य बढ़ानेके प्रस्ताव भी आये, परंतु मूल्य न बढ़ाकर वह ७.५० ही रक्खा गया है। पृष्ठ-संख्या भी वही ७०० के लगभग होगी। इस अङ्ककी बहुत अधिक माँग होनेकी सम्भावना है। अतएव पुराने ग्राहकोंको तुरंत ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) मनीआर्डरद्वारा भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। नये ग्राहकोंको भी अभीसे रुपये भेजकर अपना नाम दर्ज करा लेना चाहिये, अङ्क शीघ्र समाप्त हो जायगा और दूसरा संस्करण न छपेगा तो प्राप्त होना सम्भव नहीं होगा।

(३) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखनेकी कृपा अवश्य करें और नाम, पता, ग्राम, मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश—सब बहुत साफ-साफ बड़े अक्षरोंमें लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिखना कृपया न भूलें। रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भेजें। मनीआर्डर-फार्म सेवामें भेजा जा रहा है। केवल विशेषाङ्कका मूल्य भी ७.५० है, अतः पूरे वर्षका ही ग्राहक बनना उचित है।

(४) जिन पुराने ग्राहक महोदयोंको किसी कारणवश अगले वर्ष ग्राहक न रहना हो वे कृपया एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे डाकखर्चकी हानि न उठानी पड़े।

(५) गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'कल्याण-कल्पतरु-विभाग' कल्याण-विभागसे पृथक् हैं। अतः पुस्तकोंके तथा 'कल्पतरु'के लिये उन-उनके व्यवस्थापकोंके नाम अलग पत्र-व्यवहार करना चाहिये और रुपये भी अलग-अलग उन्हींके नामसे भेजने चाहिये।

(६) इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) हैं।

(७) इस अङ्कमें लेख प्रायः नहीं जायँगे। इस अङ्ककी सामग्री भी कहीं बढ़ गयी तो अगले अङ्कोंमें देनी पड़े। अतएव कोई महानुभाव लेख, कविता आदि कृपया न भेजें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०

६२१

गुरुकुल काँगड़ी

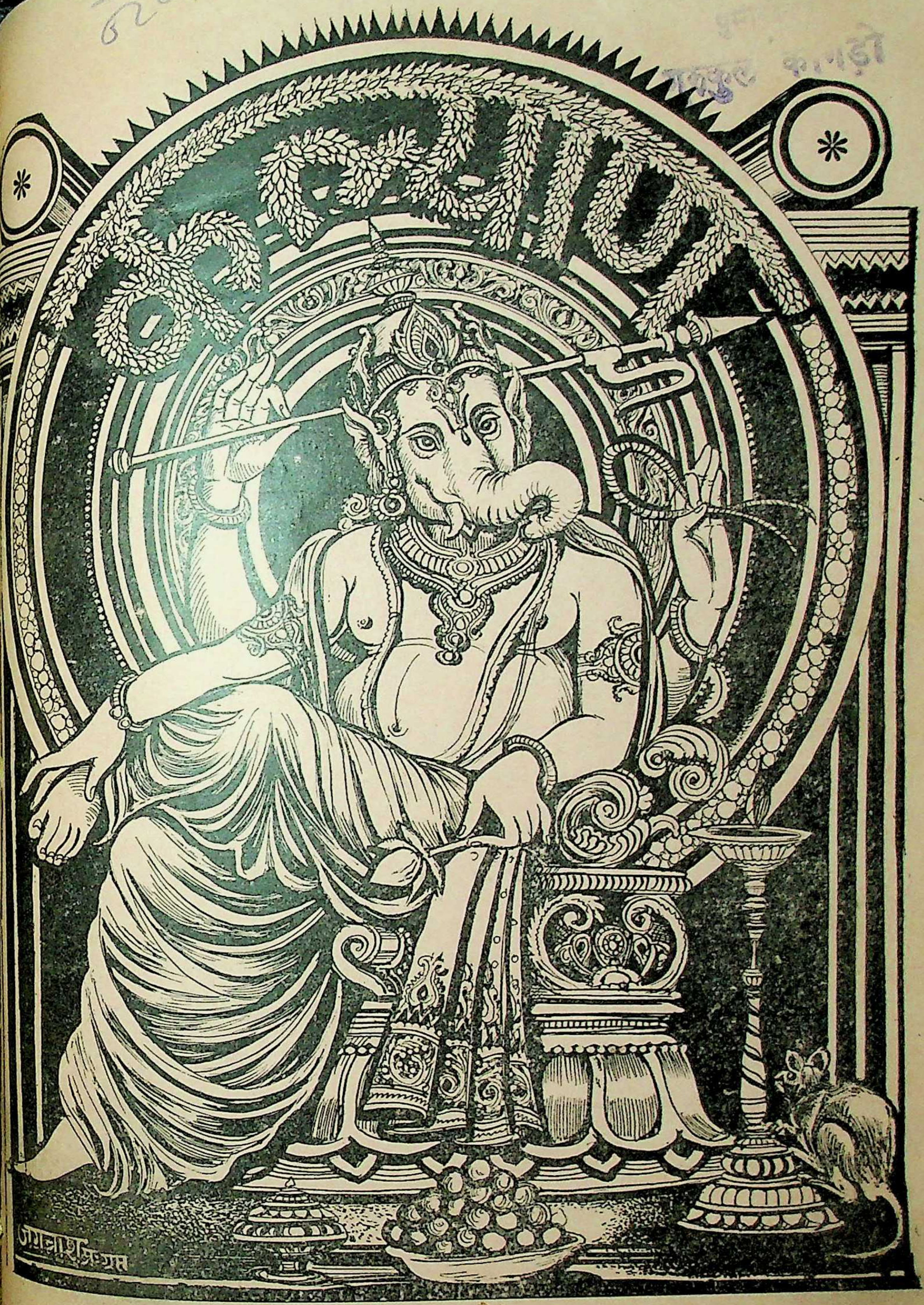

वर्ष ३७] * * * [अङ्क ११

हर राम हर राम राम राम हर हर । हर कृष्ण हर कृष्ण कृष्ण कृष्ण हर

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २०२०, नवम्बर १९६३

विषय — पृष्ठ-संख्या
१—मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत [कविता] (संकलित—गीतावली) ··· १२५९
२—कल्याण ('शिव') ··· १२६०
३—ज्ञानका स्वरूप (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ··· १२६१
४—एक महात्माका प्रसाद (श्री'माधव'जी) ··· १२६५
५—तुम्हारा पता [कविता] (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ··· १२६६
६—भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १२६७
७—पागलकी झोली (महात्मा श्रीठाकुर सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) १२७३
८—बड़प्पनका मापदण्ड (श्रीअजयकुमारजी ठाकुर) ··· १२७७
९—वेदान्तका श्रवण-मनन (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा; अनु०—श्रीसुरेश एम० भट) ··· १२७८
१०—विश्वमें अशान्ति क्यों ? (महात्मा श्रीनिरञ्जनजीके विचार; प्रेषक—डा० सूर्यकान्त ठाकुर) ··· १२८०
११—मधुर ··· १२८१
१२—प्रभु सहज सुहृद् हैं [कविता] ··· १२८३
१३—श्रीरामचरितमानसमें 'ब्राह्मण'की परिभाषा (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· १२८४
१४—प्रदक्षिणाकी महिमा और विधि (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १२८८
१५—संत कौन ? [कविता] (श्रीभगवतरसिकदेवजी) ··· १२८९
विषय — पृष्ठ-संख्या
१६—यह जादू भी अच्छा काम करता है, जरा प्रयोग करके देखिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्०डी०) ··· १२९०
१७—मंगल सोचो, मंगल करो [कविता] ··· १२९१
१८—हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ? (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ··· १२९२
१९—भगवत्कृपाकी नित्य वर्षा [कविता] ··· १२९४
२०—सूरका वात्सल्य (श्रीदिनेश भ्रमरजी एम्० ए०, रिसर्च स्कालर) ··· १२९५
२१—भगवान्‌के समान हितैषी भगवान् ही हैं [कविता] ··· ··· १२९७
२२—भक्तियोग (स्वामीजी श्रीभक्तिदीपक भारतीजी महाराज) ··· १२९८
२३—इतनी कृपा करो [कविता] ··· १२९९
२४—आध्यात्मिक धनकी श्रेष्ठता (पं० श्रीजयकान्तजी झा) ··· १३००
२५—मानव-बुद्धि और ज्ञान (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· १३०२
२६—हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ··· १३०३
२७—प्रेमी भक्त श्यामानन्द (श्रीराधाकृष्णजी) १३०८
२८—हिंदू-संस्कृतिमें धर्म और राष्ट्र (श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय) ··· १३११
२९—महामना पं० मदनमोहन मालवीय सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय थे (श्री एम्० जी० दीक्षित) ··· १३१३
३०—श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (चिम्मनलाल गोस्वामी) ··· १३१५
३१—पढ़ो, समझो और करो ··· १३१७
३२—क्या जयपुरमें गोहत्या होती है और गोमांस बिकता है ? (डा० श्रीश्रीकान्त जैन, एम्० पी०) ··· १३२२

चित्र-सूची

१—भगवान् गणपति ··· ··· (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२—मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत ··· ··· (तिरंगा) ··· १२५९

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

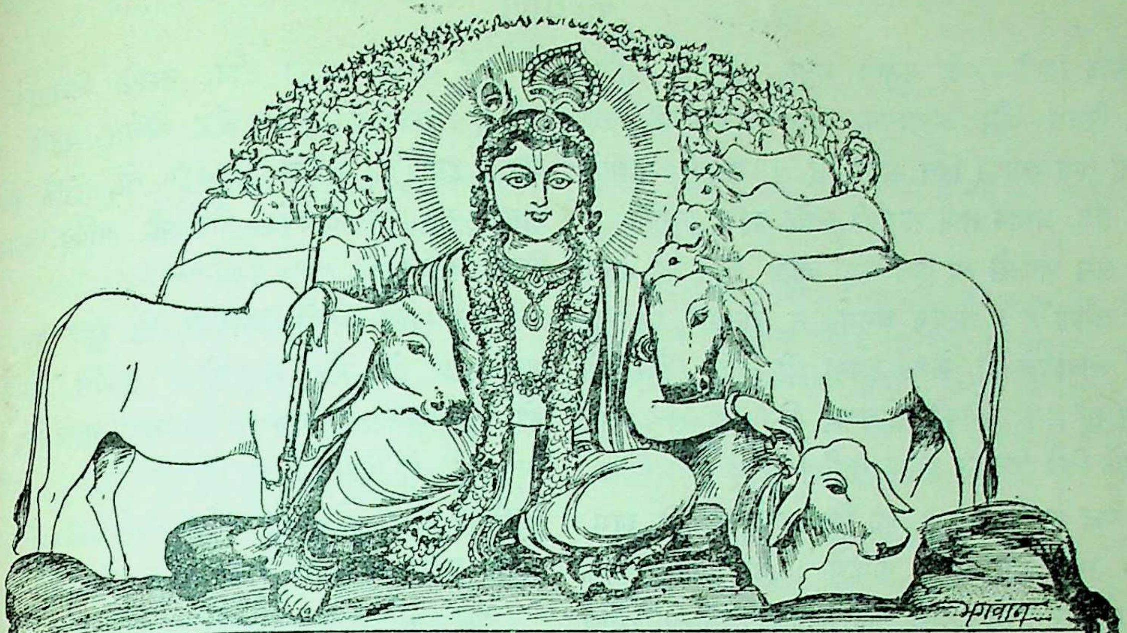

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ | गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०२०, नवम्बर १९६३ | संख्या ११
पूर्ण संख्या ४४४

मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत

मंजुल मंगलमय नृप-ढोटा ।
मुनि, मुनितिय, मुनिसिसु बिलोकि कहैं मधुर मनोहर जोटा ॥ १ ॥
नाम-रूप-अनुरूप बेष बय, राम लखनलाल लोने ।
इन्ह तें लही है मानो घन-दामिनि दुति मनसिज, मरकत, सोने ॥ २ ॥
चरन-सरोज, पीतपट कटितट, तून-तीर-धनुधारी ।
केहरि-कंध, काम-करि-करबर बिपुल बाहु, बल भारी ॥ ३ ॥
दूषन-रहित समय सम भूषन पाइ सुअंगनि सोहैं ।
नव-राजीव-नयन, पूरन बिधु-बदन मदन मन मोहैं ॥ ४ ॥
सिरनि सिखंड, सुमन-दल-मंडन बाल सुभाय बनाये ।
केलि-अंक तनु-रेनुपंक जनु प्रगटत चरित चोराये ॥ ५ ॥
मख राखिबे लागि दसरथ सों माँगि आश्रमहि आने ।
प्रेम पूजि पाहुने प्रानप्रिय गाधिसुवन सनमाने ॥ ६ ॥
साधन-फल साधक सिद्धनिके, लोचन-फल सबही के ।
सकल सुकृत-फल मातु-पिताके, जीवन-धन तुलसी के ॥ ७ ॥

—गीतावली

याद रक्खो—जो मनुष्य मधुर, हितकर, सत्य, शुभ, विनम्र और आवश्यक वाणी बोलता है, वह अपना तथा सबका हित करता है । उसकी वाणीमें बल, तेज, प्रभाव तथा सत्यकी शक्ति बढ़ने लगती है और उस वाणीसे जो कुछ कहा जाता है, वह सत्य होने लगता है । अतएव अनर्गल न बोलकर जितना, जहाँ आवश्यक हो, केवल उतना ही बोलो और जो बोलो सो इस बातको सोचकर कि वह सत्य तथा दूसरेके लिये हितकर है या नहीं ।

याद रक्खो—सत्य तथा हितकर वचन भी शुभ, मधुर तथा विनम्र होने चाहिये । नहीं तो, उनके ग्रहण करनेमें लोग उपेक्षा करेंगे, कहीं-कहीं तो विरोध होने लगेगा और उनका प्रभाव नष्ट-सा हो जायगा ।

याद रक्खो—वाणीमें अभिमान, रूखापन, अपनी बड़ाई, दूसरोंकी निन्दा, दूसरोंके लिये अपमानजनक वाक्य, चुगली, झूठा हठ, व्यर्थकी बकवासके तथा अशुभ शब्द होंगे तो उनसे अपना भी अहित होगा तथा सुननेवालोंपर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा । अतएव जहाँतक हो, कम-से-कम बोलो—आवश्यक होनेपर ही बोलो एवं उपर्युक्त दोषोंसे बचाकर ही शब्दोंका उच्चारण करो ।

याद रक्खो—वाणीमें मधुरता तथा नम्रता अवश्य होनी चाहिये, पर दम्भ, झूठी खुशामद तथा कपट नहीं होने चाहिये । सरल वचन हों और मूर्खताभरे व्यर्थ भी न हों । जिनसे प्रेम, विश्वास, परस्परमें सुख पहुँचानेका भाव, सेवा-भाव, त्याग और आत्मीयता बढ़ते हों, ऐसे वचन बोलो । पर व्यर्थकी ममता पैदा करके राग-द्वेष आते हों, ऐसे वचनोंसे भी सावधान रहो ।

याद रक्खो—कभी दो आदमियोंके बीचमें मत बोलो, उनके हितके लिये बोलना आवश्यक भी हो तो नम्रतापूर्वक उनसे पूछकर बोलो । किसीकी बातको काटो मत । यदि उसका मत भ्रान्त हो तो उसके गुणोंकी प्रशंसा करके उसे पहले अपना बनाओ, फिर नम्रतासे उसके मतका दोष, उसके विचारार्थ उसे बताओ । तब वह सुनेगा और विचार करके अपने दोषको हटा भी सकेगा । नहीं तो, तुम्हें विरोधी मानकर वह उस दोषको और भी अधिक जीवनसे चिपटा लेगा ।

याद रक्खो—ऐसे विनोदकी, जो शुद्ध तथा हर्ष बढ़ानेवाला हो और सद्गुणोंकी उत्पत्ति करनेवाला हो, जीवनमें आवश्यकता भी है, पर ऐसा विनोद कभी मत करो, जो किसीका जी दुखानेवाला हो, किसीपर आक्षेपमूलक हो, किसीका अहित करनेवाला हो और अपनी मूर्खता प्रकट करनेवाला हो ।

याद रक्खो—उस वाणीका विशेष आदर होता है, जो हितकर और मधुर होनेके साथ ही शुभ तथा गम्भीर होती हैं, अच्छे विचारक लोग भी उसपर सोचते हैं । पर जो वाणी छिछोरेपनको लिये होती है, वह व्यर्थ जाती है । अतः गम्भीरतासे अर्थयुक्त थोड़ेसे शुभ शब्दोंमें अपनी बात कहो ।

याद रक्खो—वाणी विषका संचार कर सकती है और वाणी ही सर्वत्र अमृतका विस्तार कर सकती है । वाणीसे सर्वत्र अमृतका विस्तार करो । जो वाणी सत्य, उत्साह तथा उल्लास बढ़ानेवाली, निष्कपट, मधुर तथा हितकर होगी, जिससे दैवी गुणोंका, भगवान्के पवित्र गुणानुवाद तथा नामका पवित्र मधुर सुधा-प्रवाह बहता होगा, वही वाणी सनातन दिव्य अमृतका विस्तार करेगी । अतएव सत्य, मधुर, हितकर, विनम्र, शुभ वाणी बोलो; वाणीको अनर्थ तथा व्यर्थ वचनोंके उच्चारणसे बचाकर उसे निरन्तर भगवन्नाम-जप, भगवन्नाम-कीर्तन, भगवद्गुण-कथनमें लगाये रक्खो । इसीमें वाणीका सदुपयोग है ।

याद रक्खो—मौनमें बड़ी शक्ति है, अतएव प्रतिदिन कुछ समयतक नियमित रूपसे मौन रहो । सप्ताहमें या महीनेमें एक दिनका मौन रक्खो और उस समयको सच्चिन्तन, आत्मचिन्तन या भगवच्चिन्तनमें ही लगाओ ।

'शिव'

ज्ञानका स्वरूप

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

ज्ञानका स्वरूप अति संक्षेपमें तथा प्रभावोत्पादक ढंगसे यदि कहीं चित्रित किया गया है तो वह श्रीमद्भगवद्गीता-में है। गीताके तेरहवें अध्यायमें ज्ञेय पदार्थका—परमात्माका स्वरूप समझाते हुए उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

'ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों सबके हृदयमें स्थित हैं।' तात्पर्य कहनेका यह है कि जिस ज्ञानके द्वारा परमात्माको जानना है, वह ज्ञेय पदार्थ आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है। अर्थात् तात्त्विक दृष्टिसे ज्ञान और ज्ञेय अलग-अलग पदार्थ नहीं हैं। परमात्मा ही शरीरमें आत्मारूपमें जाना जाता है। यानी आत्मा और परमात्मा शब्द दो हैं; परंतु एक ही वस्तुके उपाधिभेदसे पृथक्-पृथक् नाम हैं। जैसे व्यवहारमें छोटा भाई अपने बड़े भाईको भाई कहे या बड़ा भाई कहे, है एक ही बात। बल्कि ज्ञानसे प्राप्त करने योग्य (ज्ञानगम्य) भी परमात्मा ही है, अर्थात् ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य एक ही वस्तुके तीनों पृथक्-पृथक् नाम हैं। अब यदि ज्ञान-स्वरूप आत्माकी प्राप्ति करनी है तो उसको कहाँ ढूँढ़ें ? यह प्रश्न होता है। अतएव श्रीभगवान्ने पहले ही कह दिया है कि आत्मा प्राणीमात्रके हृदयप्रदेशमें विराज रहा है। चींटीसे लेकर हाथीतक सारे प्राणियोंमें तथा रजःकणसे लेकर हिमालयतक छोटे-बड़े सब पदार्थोंमें सर्वत्र व्याप्त है। उसको ढूँढ़नेके लिये कहीं देशान्तरमें तो जाना नहीं है; क्योंकि वह सब प्राणी-पदार्थोंमें सदा व्याप्त है और 'मैं' कहकर अपने अस्तित्वको प्रकट कर रहा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ' यह निश्चय करना ही सच्चा ज्ञान है और इतना ही ज्ञानका स्वरूप है। (यहाँ शरीरको आत्मा नहीं कहा जाता है। आत्मारूपमें शरीरमें स्थित चेतन-तत्त्व ही आत्मा है।)

उपनिषदोंमें स्थान-स्थानपर ज्ञानके स्वरूपका वर्णन किया है। उन सबका सार निकालें तो इस प्रकार कहेंगे—

(१) ज्ञान स्वतःप्रमाण है। ज्ञानको सिद्ध करनेमें प्रमाता, प्रमेय और प्रमाणकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि प्रमाणोंसे ज्ञानकी सिद्धि नहीं होती। बल्कि ज्ञानसे ही प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार सिद्ध होते हैं।

(२) ज्ञान नित्य है अर्थात् उसे उत्पन्न नहीं करना पड़ता, वह शास्त्राभ्याससे उत्पन्न नहीं हो सकता। वह तो शाश्वत है। अन्तःकरण निर्मल होनेपर अविद्याका पर्दा हटनेपर वह उसी प्रकार अपने-आप प्रकाशित होता है, जैसे बादलके दूर हटनेपर सूर्य प्रकाशता है।

(३) ज्ञान पूर्ण है, उसमें सुधार या वृद्धि करनेका अवकाश नहीं। अतः अमुक मनुष्यमें ज्ञान कम है और अमुकमें अधिक है, यह कहना नहीं बनता। ज्ञान वस्तुतः जहाँ प्रकट होता है वहाँ पूर्णरूपमें ही प्रकट होता है। जैसे चींटीमें आत्मा पूर्ण है, वैसे हाथीमें भी पूर्ण है। शरीरके छोटा-बड़ा होनेसे आत्मा छोटा-बड़ा नहीं होता। इस प्रकार मनुष्यमें शास्त्राभ्यास न्यूनाधिक होनेसे ज्ञानमें कभी न्यूनाधिकता नहीं होती। वह तो पूर्ण ही रहता है।

(४) ज्ञान देश और कालसे परिच्छिन्न नहीं होता; क्योंकि वह नित्य होनेके कारण सर्वदेशमें तथा सर्वकालमें स्वतः सिद्ध है। कोई देश या कोई काल ऐसा नहीं हो सकता, जिसमें ज्ञानका अभाव हो; क्योंकि ज्ञानके बिना देश और कालकी प्रतीति ही नहीं हो सकती।

(५) ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद उपाधिको लेकर होता है। ज्ञानसे पृथक् ज्ञेय पदार्थकी उपस्थिति इसके साथ बनी रहती है और ज्ञेयके बिना ज्ञातृत्वके व्यवहारकी सिद्धि नहीं होती। ज्ञेय और ज्ञाताको एक दूसरेकी अपेक्षा रहती है; परंतु ज्ञान स्वयंसिद्ध होता है, अतएव उसकी सिद्धिके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं होती। ज्ञेय ज्ञानसे पृथक् नहीं; यह सिद्ध हो जानेपर ज्ञाताकी कल्पना अपने-आप शान्त हो जाती है।

(६) संक्षेपमें ज्ञानके स्वरूपको अनिर्वचनीय कहकर उपनिषद् उपसंहार करते हैं; क्योंकि ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय एक ही परमात्माके उपाधि-भेदसे विभिन्न कल्पित स्वरूप हैं। श्रुति कहती है—'प्रज्ञानं ब्रह्म'—ज्ञान ही ब्रह्म है,

'अयमात्मा ब्रह्म'—यह आत्मा अर्थात् शरीरमें प्रकाशित प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है ।

अब यदि उपनिषद्में निर्दिष्ट ज्ञानके स्वरूपकी आलोचना करें तो उसका सार इस प्रकार होगा—

(१) ब्रह्म ज्ञानस्वरूप ही है ।

(२) प्रत्यगात्मा ब्रह्मस्वरूप है ।

अर्थात् शरीरस्थ आत्मा ज्ञानस्वरूप है ।

अतएव ज्ञानकी प्राप्तिका अर्थ है आत्माके स्वरूपको जानना । आत्माके ऊपर अविद्याका पर्दा पड़ गया है और इस कारणसे वह अपनेको जीव मानकर शरीरके धर्मोंको अपने भीतर कल्पित करके देहरूप हो गया है । यही पुरुषका 'प्रकृतिस्थ' होना है । अतएव आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये अविद्याका पर्दा दूर करनेके सिवा और कुछ करना नहीं रहता ।

यही बात पातञ्जल-योगदर्शनके एक सूत्रमें इस प्रकार कही गयी है—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।
(२ । २५)

अर्थात् अविद्याकी निवृत्ति करनेसे आत्माका देहाध्यास तुरंत छूट जायगा और तब आत्मा अपने स्वयंप्रकाश-स्वरूपमें प्रतीत होने लगेगा । फिर उसे चाहे ज्ञान कहो या मुक्ति ।

ज्ञानके स्वरूपका भगवान्ने गीतामें (अ० ४ । ३६–४० श्लोकोंमें) बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, वह भी विशेष-रूपसे द्रष्टव्य है ।

छत्तीसवें श्लोकमें ज्ञानकी महिमा बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

'इस संसारमें यदि सब पापियोंमें तू महापापी होगा तो भी इस ज्ञान-नौकाके योगसे इस भवाब्धिको पार कर लेगा ।' तात्पर्य यह है कि हे अर्जुन ! थोड़ी देरके लिये मान लें कि तू सब पापियोंमें महापापी है, तथापि ज्ञानरूपी नौका ऐसा प्रबल साधन है कि इसके द्वारा जन्म-मृत्युमय पापरूप इस संसारको पार करनेमें तुझे कुछ भी देर न लगेगी । यहाँ श्रीभगवान्ने ज्ञानको भवसागर पार करनेका एकमात्र साधन बताया है ।

सैंतीसवें श्लोकमें ज्ञानका कार्यक्षेत्र बताकर ज्ञान किस प्रकार भवसागर तरनेका साधन बनता है, यह समझाते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

अर्जुन ! जैसे लौकिक अग्नि काष्ठको जलाकर राख कर देती है, वह कहीं कच्चे-सूखे, छोटे-बड़े, मोटे-पतलेका भेद नहीं देखती, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि भी कर्म-मात्रको जला डालती है । यहाँ 'कर्ममात्र' का अर्थ समस्त संचित-कर्म समझना चाहिये; क्योंकि प्रारब्ध-कर्म तो भोगके द्वारा अपने-आप नाशको प्राप्त होता है, उसको जलाना नहीं पड़ता । अतएव शेष संचित-कर्म जो जन्म-मरणके चक्रको चालू रखता है, उसको जलाना आवश्यक है । समस्त संचित-कर्मका भाव यह है कि अनिष्ट, इष्ट और मिश्रफलको उत्पन्न करनेवाले शुभ, अशुभ और मिश्र जो संचित-कर्म होते हैं, उन सबको ज्ञान जला डालता है । निःशेष जला डालता है । (अनिष्ट, इष्ट और मिश्र फलके लिये भगवद्गीता अ० १८ श्लोक १२ देखिये)

ऊपर ज्ञानके कार्यक्षेत्रको बताकर अब अड़तीसवें श्लोकसे श्रीभगवान् ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र वस्तु कुछ नहीं है । योगके द्वारा चित्तकी शुद्धि होनेपर वह हृदयमें स्वयं स्फुरित होता है ।

पहले श्रीभगवान् अर्जुनसे कह चुके हैं कि 'तू चाहे कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, ज्ञानरूपी नौकासे पाप-समुद्रको सहज ही पार कर जायगा ।' इसके अनुसंधानमें श्रीभगवान् कहते हैं कि पापको जलानेके लिये तो पवित्र वस्तुकी आवश्यकता है और ज्ञानके समान पवित्र वस्तु इस जगत्में दूसरी कोई नहीं है । अतएव पवित्र ज्ञान पापरूपी समुद्रको पार करनेमें उत्तम नौका है । ज्ञानकी ऐसी महिमा सुनकर अर्जुनको ज्ञानका स्वरूप समझानेकी जिज्ञासा हुए बिना नहीं रह सकती, ऐसा समझकर कहते हैं कि निष्काम-कर्मयोग या भक्तियोग या ज्ञानयोगकी

सिद्धि होनेपर अन्तःकरणके शुद्ध होते ही ज्ञान इनके साथ अपने-आप प्रकट होता है। उसको प्रकट करनेके लिये किसी भी योगके द्वारा चित्तको शुद्ध करनेके सिवा और कुछ करना नहीं पड़ता।

इस प्रसङ्गमें गीताके पाँचवें अध्यायमें बहुत ही तत्त्वरूपसे जो कहा गया है, उसकी यहाँ आलोचना करना अप्रासङ्गिक न होगा। श्रीभगवान् कहते हैं—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

(गीता ५।१५)

'अज्ञानसे ज्ञान ढँक गया है, इसी कारण प्राणियोंको मोह होता है।' ज्ञान नित्य है तथा स्वयंभू है। तब फिर मनुष्य संसारमें मोहको प्राप्त होकर अन्धकारमें क्यों भटका करता है? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं कि ज्ञान नित्य है—यह सत्य है और इसको उत्पन्न नहीं करना पड़ता, यह भी उतना ही सत्य है। परंतु उस ज्ञानके ऊपर अज्ञानका, यानी अविद्या या मायाका पर्दा पड़ गया है और इस कारणसे मनुष्यको ज्ञानका प्रकाश नहीं मिलता और वह अन्धकारमें भटकता-फिरता है। केवल यह पर्दा हटाना आवश्यक है। यह बतलाते हुए श्रीभगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

'परंतु ज्ञानसे जिसका अज्ञान नष्ट हो गया है, उसको आत्मज्ञानसे ब्रह्मदर्शन होता है।' परंतु जिसका यह अज्ञानरूपी पर्दा, अविद्याका पर्दा आत्मज्ञानके द्वारा छिन्न-भिन्न हो गया है, उसके हृदयमें सूर्यके समान परब्रह्मका प्रकाश प्रकटित होता है; जैसे बादलके हट जानेपर सूर्यका प्रकाश अपने-आप होता है, उसी प्रकार अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे आत्मज्ञानका प्रकाश अपने-आप होता है।

इसके बाद ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये, यह समझानेके लिये श्रीभगवान् उनतालीसवें श्लोकमें कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

'श्रद्धासे, साधनकी तत्परतासे, वैराग्य आदि उपायोंसे जो ज्ञान होता है वह सद्योमुक्ति प्रदान करता है।'

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रीभगवान्‌ने यहाँ तीन शर्तें रक्खी हैं—(१) श्रद्धा होनी चाहिये, (२) साधन करनेमें तत्परता होनी चाहिये। आलस्य-प्रमाद काम नहीं आते और (३) इन्द्रियोंके संयमके द्वारा वैराग्य होना चाहिये।

श्रद्धा न हो तो तत्परता नहीं आती। साधनमें पूर्ण श्रद्धा होनेसे ही तत्परतासे साधन होता है। यदि श्रद्धा और तत्परता दोनों हों, परंतु वैराग्य न हो तो ये दोनों दीर्घकालतक टिक नहीं सकतीं। मन विषय-लोलुप हो जाय तो श्रद्धा डिग जाती है और यदि श्रद्धा ही डिग गयी तो बेचारी तत्परता कहाँ खड़ी रहेगी? अतएव ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रथम आवश्यकता वैराग्यकी है; क्योंकि इसके बिना श्रद्धा और तत्परता टिक नहीं सकतीं। अब ज्ञानका प्रकाश होनेपर क्या होता है, यह समझाते हुए कहते हैं कि ज्ञानका उदय होते ही तुरंत, उसी क्षण मनुष्य परम-शान्ति प्राप्त करता है। बड़ी-से-बड़ी जो अशान्ति होती है वह है जन्म-मरणके भयकी अशान्ति। अतएव परम शान्तिका अर्थ है—जन्म-मरणके भयकी निवृत्ति, अर्थात् मुक्ति या मोक्ष। इस श्लोकका तात्पर्य यह हुआ कि मुक्तिके लिये परम साधन ज्ञान है और ज्ञान तथा मुक्ति समकालीन होते हैं। जिस क्षण ज्ञान होता है उसी क्षण मनुष्य मुक्त हो जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि ज्ञान क्यों प्राप्त किया जाय? क्या ज्ञान प्राप्त किये बिना काम नहीं चल सकता? इस प्रश्नके उत्तरमें अज्ञानकी स्थिति समझाते हुए श्रीभगवान् चालीसवें श्लोकमें कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

मूर्ख, श्रद्धाहीन और संशयात्मा नाशको प्राप्त होते हैं, उनको इहलोक-परलोकमें कहीं सुख नहीं मिलता। जो मनुष्य मूर्ख है और शास्त्र, गुरु या ईश्वरमें श्रद्धा नहीं रखता, वह बीच समुद्रमें पड़ी बिना पतवारकी नौकाके समान है। मूर्खताके साथ सदा ही दुराग्रह और कुतर्क लगे रहते हैं। मूर्ख मनुष्य कुतर्क करता ही रहता है और साथ ही यह दुराग्रह भी रहता है कि वह जो समझता है, वही

ठीक है । ऐसी स्थितिमें संशयकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? उसकी बुद्धि मन्द होती है यानी तमोगुणसे ढँकी होती है, अतः उसको उलटा ही दीखता है और वह पशुके समान विषय-सेवनमें ही जीवन गँवाता है । ऐसा मनुष्य यदि विनाशको न प्राप्त हो तो दूसरा कौन होगा ? ऐसे मनुष्यको शास्त्र 'पामर' कहते हैं, अर्थात् वह शरीरसे तो मनुष्य होता है; पर उसका व्यवहार पशुका ही होता है ।

बल्कि इस जगत्के सारे व्यवहार श्रद्धा और विश्वासके ऊपर ही चलते हैं । उदाहरणार्थ व्यापारीको ग्राहकके ऊपर विश्वास न हो और ग्राहकको व्यापारीके ऊपर विश्वास न हो तो व्यवहार रुक जाय । व्यापारी पैसा लिये बिना माल न दे और ग्राहक माल लेनेके पहले पैसा न दे तो सौदा किस प्रकार हो ? यह एक साधारण दृष्टान्त हुआ । इसीलिये एक कहावत है कि 'विश्वासपर नौका चलती है ।'

अब ऐसे मूर्ख मनुष्यको किसीके ऊपर श्रद्धा या विश्वास न हो तो इहलोकका व्यवहार भी बिगड़ ही जायगा । फिर जो इहलोकको न सुधार सका, वह परलोकको सुधारनेका क्या साधन कर सकेगा ? इसी कारण श्रीभगवान् कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना अति आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना इहलोक या परलोकमें शान्ति और सुख नहीं मिलता ।

इस श्लोकमें श्रीभगवान्ने ज्ञानप्राप्तिके मार्गके प्रतिबन्धकोंका निर्देश किया है। वे हैं—(१) कुतर्क, (२) दुराग्रह, (३) मन्द बुद्धि और (४) विषयासक्ति । अतः ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इनमेंसे जो भी प्रतिबन्धक दीख पड़े, उसकी निवृत्ति करनी चाहिये । गुरुकी सेवा करनेसे गुरुके प्रसन्न होनेपर ये प्रतिबन्धक दूर हो सकते हैं ।

इन पाँचों श्लोकोंका सार यही है कि चाहे कैसा ही पापी हो, उसका ज्ञानके द्वारा उद्धार हो सकता है । ज्ञानकी प्राप्ति किसी भी योगके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध करनेसे अपने-आप होती है । यहाँ किसी अप्राप्तको प्राप्त नहीं करना है, बल्कि ज्ञानके सामने अविद्याका जो पर्दा पड़ गया है, उसको हटाना है । मनुष्य-जीवनकी सार्थकता ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर लेनेमें है। अतएव जो मनुष्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, वह न तो इहलोकमें सुख-शान्ति पाता है और न अपना परलोक ही सुधार सकता है । उसकी स्थिति तो 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति'-जैसी है ।

अब ज्ञानका स्वरूप समझनेका प्रयोजन देखिये । जब पुस्तकोंकी सुविधा न थी, उस समय गुरुके मुखसे विद्याभ्यास किया जाता था और गुरु अधिकारके अनुसार प्रत्येकको विद्याभ्यास कराता था । परंतु अब इस प्रेसके युगमें अधिकारका प्रश्न ही उड़ गया । जिसके पास पैसा खर्च करनेकी सुविधा है, वही पुस्तक खरीदकर बाँचनेका अधिकार प्राप्त कर लेता है । ऐसी स्थितिमें पुस्तक बाँचनेका अधिकार बुद्धिकी योग्यताके ऊपर न होकर पैसा खर्च करनेकी शक्तिके ऊपर रहता है । ऐसी स्थितिमें लोग समझने लगे कि पुस्तकोंका बाँचना ही ज्ञान है और जिसने अधिक बाँचा है वह बड़ा ज्ञानी है । इससे शास्त्र-वासना बढ़ने लगी, और दूसरे क्षेत्रोंके समान इस क्षेत्रमें भी जैसे-जैसे अधिक बाँचते जाओ, वैसे-वैसे शास्त्र-वासना बढ़ती ही जाती है ।

फलतः शास्त्र-वासनाकी प्रबलता सर्वत्र दीख रही है।

विशेषतः ज्ञानयोगके लिये अधिकारकी प्रथम आवश्यकता है । अधिकारके बिना केवल बाँचनेसे शास्त्र-वासना उत्तेजित होनेके सिवा और कोई लाभ नहीं होता । यह अधिकार है साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होनेका । (१) विवेक, (२) वैराग्य, (३) शम-दमादि षट् सम्पत्ति और (४) मुमुक्षुतासे युक्त हुए बिना प्रस्थानत्रयीका कोई भी ग्रन्थ बाँचनेका अधिकार वस्तुतः किसीको नहीं है, बल्कि ज्ञानयोगके लिये दूसरी भी तैयारी करनी पड़ती है । अन्तःकरणमें मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन दोष होते हैं । निष्काम भाव और जप आदि साधनोंसे पहले सब दोषोंको निवृत्त करना चाहिये। पश्चात् सगुण और निर्गुण उपासनाके द्वारा विक्षेप अर्थात् चित्तकी चञ्चलतारूपी दोषको दूर करना चाहिये। इन दो दोषोंके दूर हो जानेके बाद ही आवरण-भङ्गके लिये ज्ञानकाण्डका अधिकार होता है, उसके पहले नहीं ।

एक महात्माका प्रसाद

(संकलयिता—श्री'माधव'जी)

हम सब मानव हैं और मानव होनेके नाते साधक हैं। हममें जिज्ञासा है, माँग है, आस्था है। जिसकी कोई माँग होती है, उसपर दायित्व भी होता है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य यह जो कुछ भी हैं, सब-का-सब मिला हुआ है, 'उस'का है। निश्चय ही यह 'मैं' नहीं है। स्वीकृति भी 'मैं' नहीं, प्रतीति भी 'मैं' नहीं। 'मैं' वह है जिसकी माँग हो, जिसपर दायित्व हो। मिले हुएका दुरुपयोग न करना। मिला हुआ, किसीका दिया हुआ होता है। वह किसी औरका होता है और सुने हुएपर अश्रद्धा नहीं करना—यही साधकका कर्तव्य है। जो कुछ भी वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य हमें मिले, उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे, उसे अपना नहीं मानेंगे और मिला हुआ जो अनुभव है उसका अनादर नहीं करेंगे, जो सुना हुआ है उसमें अश्रद्धा नहीं करेंगे—तभी हमारा जीवन भूलरहित हो जायगा। जो अपना नहीं है उसे अपना करके नहीं मानो। मिला हुआ अपना नहीं है। उसपर हमारा अपना अधिकार नहीं है—ऐसा मानते ही निर्ममता आयेगी। जो मेरा नहीं है तो क्या मेरे लिये है? चिरशान्ति, स्वाधीनता, परम प्रेमकी माँग इस मिले हुएसे नहीं होती। मेरा नहीं, मेरे लिये नहीं—ऐसा मानते ही मोह, दीनता, अभिमान आदि सब नष्ट हो जाते हैं। यदि हम अपनी भूलको निकाल दें तो अभी निर्विकार हो जायँगे। यह निर्विकारिता प्राकृतिक है। अनुभवसिद्ध बातका विरोध बातसे नहीं होता। श्रद्धासे अनुभवका विरोध नहीं होता। यदि आप अपने अनुभवका अनादर नहीं करें तो विषमता अपने-आप समाप्त हो जाय। सही कर्तव्य करनेसे साधक रागसे मुक्त हो जाता है। स्वीकृतिके अनुरूप जीवन होनेपर स्वीकृति नहीं रहती।

सत्सङ्ग मानव-जीवनका दायित्व है। सत्सङ्गसे साधनकी अभिव्यक्ति होती है और तभी साधन और जीवनकी एकता होती है। जीवनमें साधन और असाधनकी द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है और जबतक यह द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है, तबतक 'मैं' की अनुभूति होती है।

सत्के साम्राज्यमें श्रेणी-भेद नहीं होता। सभी मान्यताएँ निकाल देनेपर योग, विश्राम और अनन्त प्रेम स्वतः अभिव्यक्त हो जाता है—स्वतः प्राप्त हो जाता है। कर्तव्य, विश्राम राग-निवृत्तिका हेतु है। सही कामसे मनुष्य रागरहित हो जाता है। स्वीकृतिको अभिनयात्मक मान लेनेसे वासना अपने-आप नष्ट हो जाती है। सही काम करनेसे कार्यके अन्तमें शान्त हो जायँगे। उस शान्तिमें रमण न करनेसे अचाह हो जायँगे। तब 'किसी'से अभिन्न हो जायँगे। वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। दासतासे रहित और प्रेमसे युक्त होनेपर तुमने स्वाधीनताको प्राप्त कर लिया। वह परम प्रियतम अभिलाषी है मानवका। यही मानवकी महिमा है।

सत्सङ्गसे योग, बोध, प्रेमकी प्राप्ति होती है। सत्सङ्गका अर्थ है जाने हुए असत्का त्याग और सत्की स्वीकृति। सत् माने सदैव रहना। जो सदैव है वह अब भी है। सत्सङ्गका अर्थ सत्-चर्चा या सत्-चिन्तन नहीं है, सत्सङ्गका अर्थ है—मौजूदका सङ्ग। सत्सङ्गके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है। श्रमरहित सत्सङ्गसे ही किये हुए, भोगे हुएका चिन्तन उत्पन्न होगा। उस चिन्तनसे भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं। सत्सङ्गका अर्थ है

मिले हुएको अपना नहीं मानना, अपने लिये नहीं मानना और उसका दुरुपयोग नहीं करना । जबतक अपने लिये करते रहेंगे, तबतक रागकी निवृत्ति नहीं हो सकती । अपने लिये है विश्राम, दूसरोंके लिये है मिले हुएका सदुपयोग । मौजूदका सङ्ग करनेसे अहंकाररहित होनेके लिये सही काम करना होगा । सही काम करनेके लिये पहले अपनेको सही करना पड़ेगा । सही करनेका अर्थ है—अपनेको बुरा नहीं समझूँगा । बुराईके साथ अपनेको मिलाऊँगा नहीं ।

मैं साधक हूँ । सत्सङ्ग मेरा दायित्व है । बोध, योग और प्रेम मेरी माँग है । साधक होनेके नाते हम जन्मजात सिद्धिके अधिकारी हैं । भावशक्ति, विवेकशक्ति और क्रियाशक्तिका सामञ्जस्य होनेपर ही मानवकी महिमा व्यक्त होती है ।

तुम्हारा पता

दूर खोजने जाऊँ क्यों मैं, तुम तो मिलते पासमें ।
मनके विमल विकासमें, और अटल विश्वासमें ॥

× × ×

अपना भवन छोड़ क्यों जाऊँ अगम गहन कान्तारमें ?
भवन सजा दूँ भावोंसे, तुम आ जाओगे प्यारमें ॥

× × ×

जब न राग मिलता मानसको, प्रणय-वीन्-झंकारमें ।
तुम्हें खोज ही लेता है वह अपनी करुण पुकारमें ॥

× × ×

राजमहलके सिंहासनपर, खोज थक गये कितने भूप ।
देखा निवसन निराधारने, धूल-प्रयुक्त तुम्हारा रूप ॥

× × ×

यौवन-पथिक खोजता तुमको, नव वसन्त-श्रृंगारमें ।
तुम मिल जाते किंतु अचानक पतझड़-शुष्क-बयारमें ॥

× × ×

कोई भूला खोज रहा है, वन-वन हरित रसालमें ।
तुम बैठे हो कबसे छिपकर कल कदम्बकी डालमें ॥

× × ×

पथिक खोजते फिरते तुमको, व्रजके वन-उद्यानमें ।
तुम मिल जाते कोई खोजे वृंदावनके प्राणमें ॥

× × ×

कीर्ति तुम्हारी छिपी हुई है, रामायण-आख्यानमें ।
मूर्तिमान- तुम रहे निरन्तर वैदेहीके ध्यानमें ॥

× × ×

अङ्कित है संदेश तुम्हारा अवधपुरीके भागमें ।
जगमें किंतु तुम्हें पाया है, बन्धु भरतके त्यागमें ॥

× × ×

तुम्हें देखना चाहे तितली मधुर मधुप-गुंजारमें ।
तुम थे स्नेह-सलिल बरसाते, सूखे सुमन-कतारमें ॥

× × ×

दौड़ा पवन तुम्हें पानेको, दूर स्वरोंके द्वारमें ।
तुम थे पार किसीकी करते, नाव पड़ी मँझधारमें ॥

× × ×

चन्द्र सूर्य कहते हैं, तुमको छिपे किरणकी धारमें ।
तम-परिश्रान्त पथिक पाते हैं, तुम्हें ज्योति-संचारमें ॥

× × ×

तुम्हें खोजना कठिन नहीं है, सत्य-सुकीर्ति-प्रवाहमें ।
सदा तुम्हारी ध्वनि गुंजारित करुणा-जनित-कराहमें ॥

—विद्यालंकार श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न

* * *

भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एकमात्र भगवान्‌के ही सब प्रकारसे शरण हो जाना—यह सभी मनुष्योंके लिये परमात्माकी प्राप्तिका बहुत ही सुगम उपाय है। किंतु जो मनुष्य ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग आदि साधनोंको करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिये तो एकमात्र भगवान्‌की ही शरण ग्रहण कर लेना सब प्रकारसे लाभदायक है; क्योंकि भगवान् परम प्रेमी, परम सुहृद् और बिना ही कारण दया करनेवाले हैं। वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करते। श्रीभरतजी कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा० च० मा० उत्तरकाण्ड)

अतः जो मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है उसे भगवान् सबसे अभय कर देते हैं। स्वयं भगवान्‌के वचन हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकीय रा० यु० १८। ३३)

"जो मनुष्य 'मैं आपका हूँ' इस भावसे भावित होकर केवल एक बार अपनेको सब ओरसे मेरे अर्पण कर देता है—भलीभाँति मुझे सौंप देता है, उस सच्चे भावसे प्रार्थना करनेवाले भक्तको अपनाकर मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे सदाके लिये निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा 'प्रण' है।"

चाहे कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, उसका भी भगवान् त्याग नहीं करते। रामचरितमानसमें भगवान्‌के वाक्य हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

(सुन्दरकाण्ड ४४। १)

इसलिये जो सब साधनोंसे हीन है उस मनुष्यके कल्याणके लिये तो भगवान्‌की शरणमें जाना ही सुगम और सरल उपाय है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९। ३२)

'अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डाल आदि जो कोई भी हों वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

चाहे वह नीची-से-नीची जातिका क्यों न हो, भगवान्‌की शरण (भक्ति) से परमपदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २१)

'उद्धव! मैं संतोंका परम प्रिय 'आत्मा' हूँ। मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं।'

इसी प्रकार जो शुभ आचरणसे भी हीन है, वह भी शीघ्र ही धर्मात्मा होकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता ।'

फिर जिनकी उत्तम जाति और उत्तम आचरण हो उनका उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इसलिये मनुष्यको उन हेतुरहित प्रेम करनेवाले और परम दयालु एकमात्र भगवान्के ही सब प्रकारसे शरण होना चाहिये । सब प्रकारसे शरण होनेका स्वरूप गीतामें यों मिलता है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(९ । ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ।'

इस श्लोकमें भगवान्ने शरणके चार प्रकार बतलाये हैं । इनको समझना चाहिये । हमारे पास ये चार ही प्रधान साधन हैं—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर । 'मन्मना भव' से मनको भगवान्में लगानेके लिये कहा गया है, जैसे व्रजकी गोपियाँ निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करती रहती थीं । श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(१० । ४४ । १५)

'जिनका चित्त निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ है, जिनकी बुद्धि भगवान्में ही अनुरक्त है, जिनका कण्ठ प्रेमाश्रुओंके कारण गद्गद हो रहा है और जो दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको झूला झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरोंको झाड़ते-बुहारते—सारे काम करते समय भगवान्के ही गुणोंका गान करती रहती हैं, वे व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं ।'

इस प्रकार मनको भगवान्में लगा देना मनसे भगवान्के शरण होना है ।

'मद्भक्तो भव' से प्रधान रूपसे बुद्धिको भगवान्में लगानेके लिये कहा गया है । भगवान् ही मेरे परम सुहृद्, परम दयालु, परम प्रेमी और हितैषी हैं, उनके समान और कोई नहीं है । शरण लेने योग्य, आत्मीयताके योग्य, प्रेम करने योग्य एक भगवान् ही हैं । यों बुद्धिसे भगवान्के गुण-प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझकर एकमात्र भगवान्में ही अपनता करना एवं भगवान्में ही अनन्य और विशुद्ध प्रेम करना चाहिये, जैसे भक्तशिरोमणि प्रह्लादका भगवान्में अनन्य और विशुद्ध प्रेम था। भगवान्में अनन्य प्रेम होना ही असली भक्ति है। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें बतलाया गया है—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** (सूत्र २)—'ईश्वरमें परम अनुराग (प्रेम) होना ही भक्ति है ।'

इस प्रकार बुद्धिको भगवान्में लगा देना बुद्धिसे भगवान्के शरण होना है ।

'मद्याजी भव' से भगवान्ने यह भाव दर्शाया है कि सम्पूर्ण यज्ञ, तप आदि कर्मोंका मैं ही भोक्ता हूँ—**'भोक्तारं यज्ञतपसाम्'** (गीता ५ । २९), मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ—**'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** (गीता १० । २०) और मैं ही सबमें व्यापक हूँ—**'मया ततमिदं सर्वम्'** (गीता ९ । ४)—ऐसा समझकर मेरी पूजा करनी चाहिये । आगे भगवान्ने पूजाका प्रकार स्वयं बतला दिया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।'

यहाँ पूजासे तात्पर्य है सब प्राणियोंमें भगवान्को समझकर भगवद्भावसे विनय और प्रेमपूर्वक सबके हितके लिये अपनी इन्द्रियोंसे सबको आदर-सत्कार-मान देते हुए स्वयं अभिमान और स्वार्थभावसे रहित हो सेवा-द्वारा सबको सुख पहुँचाना । यही भगवान्की व्यापक पूजा है । इसमें प्रधान रूपसे सारी इन्द्रियोंको भगवान्में लगाना है । इसलिये यहाँ 'मद्याजी भव' का अभिप्राय इन्द्रियोंसे भगवान्के शरण होना है ।

'मां नमस्कुरु'से अपने शरीरको भगवान्के अर्पण करना बतलाया गया है । भाव यह कि एकमात्र भगवान्पर ही निर्भर हो जाय । अपने मनके अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी भगवान् करें यानी अनिच्छा (दैवेच्छा) या परेच्छासे जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थिति प्राप्त हो, उसको भगवान्का विधान (आज्ञा) या पुरस्कार समझकर प्रसन्न हो एवं भगवान्के उस विधानमें पद-पदपर दयाका दर्शन करता रहे । अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शास्त्र और सिद्धान्तके अनुकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिमें भगवान्की दयाका दर्शन होकर शान्ति मिलना तो स्वाभाविक है ही, पर जिसे प्रतिकूलतामें भी भगवान्की दयाका दर्शन होता रहता है, वही भगवान्की दयाके तत्त्व-रहस्यको यथार्थरूपसे समझता है । अनुकूलतामें जो प्रसन्नता–शान्ति रहती है वह तो सभीको रहती है, किंतु वह राजसी है । प्रतिकूलताको भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक समझकर जो शान्ति रहती है, वही सात्त्विक शान्ति है । मनके प्रतिकूल बीमारी प्राप्त होनेपर या स्त्री, पुत्र, धन आदिका विनाश होनेपर यह भाव होना चाहिये कि यह घटना देखनेमें तो दुःखदायी है; किंतु भगवान्ने यह मेरे हितके लिये ही किया है । इससे कई लाभ हैं । दुःख भोगनेसे पापोंका नाश होता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होता है । विपत्तिके समय मनुष्यको भगवान्की स्मृति होती है । यह दुःख पापका फल है—ऐसा समझनेसे पुनः पापकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती । दुःख सहनेसे तितिक्षा बढ़ती है । इस प्रकार समझनेपर जो शान्ति मिलती है वह भी सात्त्विक शान्ति ही है । किंतु जो परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्ति है अथवा तीनों गुणोंसे अतीत जो परम शान्ति है, वह इनसे भी विलक्षण है । जो इस तत्त्वको समझकर साधन करता है, वह किसी भी प्रकारकी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिके प्राप्त होनेपर उसे भगवान्का विधान यानी भगवान्की आज्ञा मानकर भगवान्की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहता है और शान्तिमें ही सदा-सर्वदा मग्न रहता है; वह परम शान्ति है । फिर उस मनुष्यका अनुकूलता-प्रतिकूलता—दोनोंमें समभाव रहता है और उसके चिन्ता-भय, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकारोंका सर्वथा अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसे पद-पदपर प्रसन्नता, शान्ति और आनन्दका सर्वत्र अनुभव होता रहता है ।

वह भगवान्का भक्त अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरको सम्पूर्णरूपसे भगवान्के अर्पण कर चुका है, इसलिये उसके इस शरीरके द्वारा भी जो भी कुछ क्रिया होती है उसमें भी उसे भगवान्की दयाका ही अनुभव होता रहता है; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है । इससे उसके द्वारा जो कुछ होता है वह भगवान्के संकेतके अनुसार ही होता है । भगवान्की जैसी इच्छा हो वैसे उससे कर्म करावें । वह उस क्रियासे होनेवाले फल—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय—सभीमें सम होकर रहता है । जिसने अपना सर्वस्व भगवान्के अर्पण कर दिया है, उस मनुष्यके द्वारा जो कुछ कर्म होता है वह शास्त्रके अनुकूल ही होता है, शास्त्रके विरुद्ध और व्यर्थ

कर्म उसके द्वारा नहीं होता; क्योंकि उसकी सारी क्रिया भगवान्‌के द्वारा ही संचालित होती है । इसलिये उस मनुष्यकी सारी क्रिया भगवान्‌की लीलाके समान है । वह संसारके लिये भी बहुत लाभदायक होती है; क्योंकि वह आदर्श है । इसलिये दूसरे मनुष्य उसका अनुकरण करके ही मुक्त हो जाते हैं । ऐसे श्रेष्ठ महापुरुषके ही सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

‘श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।’

निष्कर्ष यह समझना चाहिये कि उस मनुष्यको अनिच्छा (दैवेच्छा) या परेच्छासे जो घटना, पदार्थ, परिस्थिति आदि प्राप्त होते हैं और स्वेच्छासे भी उसके शरीरद्वारा जितने कर्म होते हैं, उन सबमें वह भगवान्‌की अनन्त अपार दयाका पद-पदमें दर्शन करता रहता है । वह सम्पूर्ण पदार्थोंमें भगवान्‌के स्वरूपका और सम्पूर्ण क्रियाओंमें भगवान्‌की लीलाका अनुभव करके भगवान्‌की असीम दयाका दर्शन करता रहता है एवं सभी परिस्थितियोंमें निर्विकार, सम, संतुष्ट, प्रसन्न और शान्त रहता है ।

इस प्रकार अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकमात्र भगवान्‌में लगा देना ही भगवान्‌की अनन्य शरण है । भगवान्‌की अनन्य शरण कहें या अनन्य भक्ति—सिद्धान्तसे दोनों एक ही बात है । गीतामें जहाँ भगवान्‌ने शरणका वर्णन किया है वहाँ भक्तिको भी उसका एक प्रधान अङ्ग कहा है । जैसे, उपर्युक्त शरणागति-प्रतिपादक श्लोकमें ‘मद्भक्तो भव’ कहकर भक्तिका मुख्यरूपसे लक्ष्य कराया है । इसी प्रकार गीताके ग्यारहवें अध्यायके ५४-५५वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका वर्णन किया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

‘परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा तो इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ ।’

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

‘अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और समस्त भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।’

यहाँ ५५वें श्लोकमें अनन्य भक्तिके स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये भक्तके लक्षणोंमें ‘मत्परमः’ कहकर शरणागतिको भक्तिका एक प्रधान अङ्ग बतला दिया है । इससे यह समझना चाहिये कि अनन्य शरण और अनन्य-भक्ति वस्तुतः एक ही है ।

इस तरह जो मनुष्य भगवान्‌के अनन्यशरण हो जाता है, वह भगवद्भक्त सर्वथा और सर्वत्र निर्भय हो जाता है । उसे किसीका भी भय नहीं रहता । यमदूत आदि उसके निकट भी नहीं आ सकते । श्रीविष्णुपुराणमें श्रीभीष्मजीके वचन हैं—

किङ्कराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः ।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा ॥
(अंश ३ अ० ७ श्लो० ३८)

‘जिसका हृदय निरन्तर भगवान् केशवके परायण है उसका यम, यमदूत, यमपाश, यमदण्ड अथवा यमयातना कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते ।’

इस प्रसंगमें पितामह भीष्मजीने महामना नकुलके

प्रति, यमराजके द्वारा अपने दूतोंको दिये हुए आदेशका वर्णन करते हुए भक्तोंके लक्षण कुछ विस्तारसे बतलाये हैं, वे वहाँ पढ़कर मनन और धारण करने योग्य हैं। ऐसे भगवद्भक्त जहाँ प्राणत्याग कर रहे हों, वहाँ यमराज और यमदूत दोनोंका ही जानेका अधिकार नहीं है। श्रीभीष्मजी कहते हैं—

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणामवैष्णवानाम् ॥

'अपने अनुचरको हाथमें पाश लिये देखकर यमराजने उसके कानमें कहा—'भगवान् मधुसूदनके शरणागत व्यक्तियोंको तुम छोड़ देना; क्योंकि जो विष्णुभक्त नहीं हैं ऐसे अन्य मनुष्योंका ही मैं स्वामी हूँ।'

हरिममरवरार्चिताङ्घ्रिपद्मं
प्रणमति यः परमार्थतो हि मर्त्यः ।
तमपगतसमस्तपापबन्धं
व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यसिक्तम् ॥

'जो भगवान्के सुरवरवन्दित चरणकमलोंको परमार्थ-बुद्धिसे प्रणाम करता है, समस्त पापबन्धनसे मुक्त हुए उस मनुष्यको तुम दूरसे ही उसी प्रकार छोड़कर निकल जाना, जिस प्रकार घृताहुतिसे प्रज्वलित प्रचण्ड अग्निको लोग छोड़कर निकल जाते हैं।'

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा
विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम् ।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं
सततमवेहि हरेरतीवभक्तम् ॥

'जिस निर्मल-मतिका चित्त कलिकल्मषरूप मलसे मलिन नहीं हुआ और जिसने अपने हृदयमें सर्वदा भगवान् जनार्दनको बसा लिया है, उस मनुष्यको तुम भगवान्का अतीव भक्त समझो।'

कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या
तृणमिव यः समवैति वै परस्वम् ।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः
पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥

'जो एकान्तमें पड़े हुए दूसरेके स्वर्णको देखकर भी उसे अपनी बुद्धिके द्वारा तृणके समान समझता है और निरन्तर भगवान्का अनन्यभावसे चिन्तन करता है उस नरश्रेष्ठको तुम विष्णुका भक्त जानो।'

विमलमतिरमत्सरः प्रशान्तः
शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः ।
प्रियहितवचनोऽस्तमानमायो
वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः ॥
वसति हृदि सनातने च तस्मिन्
भवति पुमाञ्जगतोऽस्य सौम्यरूपः ।

'जो मनुष्य निर्मलबुद्धि, मात्सर्यरहित, प्रशान्त, शुद्धचरित्र, समस्त जीवोंका सुहृद्, प्रिय और हितकर वचन बोलनेवाला तथा अभिमान और माया (कपट) से रहित होता है, उसके हृदयमें भगवान् वासुदेव सदा विराजमान रहते हैं। एवं उन सनातन भगवान्के हृदयमें विराजित हो जानेपर मनुष्य इस जगत्के लिये सौम्यरूप (शान्तरूप) हो जाता है।'

यमनियमविधूतकल्मषाणा-
मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम् ।
अपगतमदमानमत्सराणां
त्यज भट दूरतरेण मानवानाम् ॥

'हे दूत ! यम[1] और नियम[2]के द्वारा जिनकी पापराशि दूर हो गयी है, जिनका हृदय निरन्तर श्रीअच्युतमें ही

---

[1] अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
(योगदर्शन २ । ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं।'

[2] शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
(योगदर्शन २ । ३२)

'बाहर-भीतरकी पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं।'

आसक्त रहता है तथा जिनमें गर्व, अभिमान और मात्सर्यका लेश भी नहीं रहा है, उन मनुष्योंको तुम दूरसे ही त्याग देना ।'

हृदि यदि भगवाननादिरास्ते
हरिरसिशङ्खगदाधरोऽव्ययात्मा ।
तदघमघविघातकर्तृभिन्नं
भवति कथं सति चान्धकारमर्के ॥

'यदि खड्ग, शङ्ख और गदा धारण करनेवाले अनादि अव्ययात्मा भगवान् हरि हृदयमें विराजमान हैं तो उन पापनाशक भगवान्के द्वारा उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं । जहाँ सूर्य विद्यमान हैं वहाँ भला अन्धकार कैसे ठहर सकता है !'

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥

'यह समस्त जगत् और मैं एक परमपुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं, हृदयमें भगवान् अनन्तके स्थित होनेपर जिनकी ऐसी स्थिरबुद्धि हो गयी है, उन्हें तुम दूरसे ही छोड़कर चले जाना ।'

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥

'हे कमलनयन ! हे वासुदेव ! हे विष्णो ! हे धरणिधर ! हे अच्युत ! हे शङ्खचक्रपाणे ! आप हमें शरण दीजिये । जो लोग इस प्रकार पुकारते हों, उन निष्पाप व्यक्तियोंको तुम दूरसे ही त्याग देना ।'

वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा
पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते ।
तव गतिरथ वा ममास्ति चक्र-
प्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः ॥

'जिस पुरुषश्रेष्ठके अन्तःकरणमें वे अव्ययात्मा भगवान् विराज रहे हैं उसका जहाँतक दृष्टिपात होता है, वहाँतक भगवान्के चक्रके प्रभावसे अपने बल-वीर्य परास्त हो जानेके कारण तुम्हारी अथवा मेरी गति नहीं है । वह महापुरुष तो अन्य वैकुण्ठादि लोकोंका अधिकारी है ।'

(विष्णुपुराण अं० ३ अ० ७ श्लो० १४, १८, २१, २२, २४, २४॥, २६, २७, ३२, ३३, ३४)

यह है अनन्य विशुद्ध भगवद्भक्ति (शरणागति)का महान् प्रभाव ! अतएव हमलोगोंको उपर्युक्त प्रकारसे अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकमात्र भगवान्में ही लगाकर पद-पदपर उनकी अपार दयाका दर्शन करते हुए उनकी प्रसन्नतामें ही अत्यन्त प्रसन्न और परम संतुष्ट रहना चाहिये । इससे बहुत शीघ्र परम पदकी प्राप्ति हो सकती है । इसीलिये योगीश्वर श्रीकविजीने कहा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ३६)

'मनुष्य अपने शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, आत्मासे अथवा परम्परागत स्वभावसे जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे ।' यह उनकी प्राप्तिका सरल-से-सरल उपाय है ।

पागलकी झोली

[कामिनी-काञ्चन]

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीठाकुर सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

पागल—ओह, कैसा भीषण अन्धकार है ? मुझे कहाँ ले आये ? मेरा श्वास रुका जा रहा है, अरे ! मुझे किस नरकमें रखकर तुम कहाँ चले गये ? मैं तुम्हारा हूँ । मुझे बचाओ । क्या कहा ? भय नहीं है ? तब खोलूँ आँख ?

वाह-वाह ! यह तो बड़ा सुन्दर देश है । वृक्ष-लता सभी बड़े सुन्दर हैं । अहा ! कैसा सुन्दर है पक्षियोंका गान । प्रतीत होता है मानो नदीकी प्रत्येक तरङ्गमें स्वर-लहरी खेल रही है । इस देशमें भी वैसे ही दिखायी देते हैं—मिट्टी, जल, आग, हवा और आकाश । यहाँ भी प्रत्येक प्रभातके समय पूर्वाकाशमें ज्योति फैलाते हुए दिनमणि उदय होते हैं । शशधर भी इस देशके लोगोंको अमृतधारासे अभिषिक्त करते हैं । नदीके किनारे-किनारे यह रास्ता है । चलूँ, इसी राहको पकड़कर चलूँ । वह एक आदमी क्या बोलता हुआ आ रहा है । 'हाँ भैया ! यह रास्ता कहाँतक जाता है ?'

आगन्तुक—अर्थ, अर्थ ही जगत्में साधनाका धन है । अर्थके बिना कोई काम नहीं होता । धर्म-कर्म कुछ भी क्यों न कहें, अर्थ हुए बिना कुछ भी नहीं होता । जिसके पास अर्थ नहीं है, वह कुत्ते-सियारसे भी हीन है । उसके माता-पिता उसकी सार-सँभाल नहीं करते । स्त्री-पुत्र उसके पास नहीं आते । आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव अर्थहीनको देखकर दूरसे ही भाग छूटते हैं ।

पागल—हाँ भैया ! यह रास्ता कहाँ जाता है ?

आगन्तुक—सुख कहो या शान्ति, अर्थ न होनेपर कुछ भी नहीं होता । जिसके पास अर्थ नहीं है, उसके तो मर जानेमें ही मङ्गल है । चाहिये अर्थ, चाहिये अर्थ ! चोरी, डकैती, ठगी, विश्वासघात—जैसे भी हो **अर्थ-संग्रह करना होगा ! अर्थ—अर्थ—अर्थ !**

पागल—यह क्या ? यह आदमी पागल तो नहीं है ? मेरी बातका जवाब दिये बिना ही अर्थ-अर्थ चिल्लाता हुआ चला गया ! ये एक और सभ्य पुरुष आ रहे हैं—'हाँ, महाशय ! यह रास्ता कहाँ जाता है ?'

सभ्य महाशय—जो अर्थ देता है, वह भंगी, चमार, चाण्डाल, विधर्मी कुछ भी क्यों न हो, वह प्रणामके योग्य है । जिसके पास अर्थ है, वही तो देवता है । जैसा समय-काल आ गया है, इसमें अर्थके बिना एक पैंड चलनेका भी उपाय नहीं है । गुलामी करके हो या जो कुछ भी करके हो—जो अर्थ उपार्जन कर लेता है, उसीका जन्म सार्थक है । अरे, यदि तू मनुष्य कहलाना चाहता है तो अर्थ संग्रह कर । अर्थ-अर्थ-अर्थ ।

पागल—यह आदमी भी मेरी बात नहीं सुन सका । अर्थ-अर्थ पुकारता चला गया । ये देखो—एक ब्राह्मण पण्डित आ रहे हैं । शरीरपर रामनामी है, भालपर तिलक है—श्रीभगवान्का नाम लेते आ रहे हैं—अरे नहीं, नहीं; भगवान्का नाम नहीं, ये तो अर्थ-अर्थका जप कर रहे हैं । 'हाँ महाशयजी ?—

ब्राह्मण पण्डित—

'धनेन बलवाँल्लोके धनाद्भवति पण्डितः ।'

'धनके द्वारा ही मनुष्य बलवान् होता है, धनके द्वारा ही मनुष्य पण्डित होता है ।'

अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥

'ग्रीष्मऋतुमें जैसे छोटी नदी और पोखरी सूख जाती है, इसी प्रकार अर्थहीन व्यक्तिके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं ।'

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥

शास्त्रकार जो कुछ कह गये हैं, अकाट्य सत्य है। जिसके पास अर्थ है—उसीके मित्र, बन्धु-बान्धव हैं। 'उसके हँसनेपर मोती झरते हैं और रोनेपर माणिक पड़ते हैं।' अर्थहीनके लिये जगत्में कोई नहीं है। जो धनवान् है—अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष—चतुर्वर्ग उसकी मुट्ठीमें है। जैसे भोजन करते ही भूख भाग जाती है, वैसे ही धन आते ही अशान्ति मिट जाती है। इस लोकमें ही यदि शान्ति नहीं मिली तो परलोकमें शान्ति मिलनेसे क्या होगा ?

न श्ववृत्त्या कदाचन—

ब्राह्मणको नौकरी नहीं करनी चाहिये—ये सब व्यर्थकी बातें हैं। वेदोंको बेचनेपर हो, नौकरी करनेपर हो; चोरी करने, झूठ बोलने, जाल बिछाने या बेईमानी करनेसे हो—जैसे भी हो धन मिलना चाहिये। यही शास्त्र है—मैं इसी धर्मका एकनिष्ठ सेवक हूँ। मेरा आदर्श है—'अर्थं अर्थं भावय नित्यम्!'

पागल—तेरा भला हो; ये पण्डितजी भी मेरी बातका कुछ भी उत्तर दिये बिना ही चले गये। सभीके मुँहसे एक ही बात—अर्थ-अर्थ ! यह क्या मामला है, क्या सभी पागल हैं यहाँ ? यह लीजिये—एक साधु बाबा आ रहे हैं—आहा ! कैसी सौम्य मूर्ति है। गेरुआ पहने हैं, बायें हाथमें कमण्डलु है, दाहिने हाथसे माला जपते-जपते इधर पधार रहे हैं। ओह हरि ! इनकी मालाका मन्त्र भी 'अर्थ' है !

साधु—अर्थ-अर्थ-अर्थ ! मैं अपने भोगके लिये नहीं कहता, अपने भोगके लिये नहीं माँगता, मेरी कुटियापर साधु वैष्णवोंकी चरण-धूलि पड़ती है—उनकी सेवाके लिये ही अर्थकी आवश्यकता है। यह देखो, मेरे गेरुआ वस्त्र, यह देखो मेरा कमण्डलु, यह देखो मेरी जपमाला;—मैंने सारे भोगोंको त्याग दिया है। मेरा सब कुछ दूसरोंके लिये है, मैं तीर्थयात्रा करूँगा; दो, मुझे अर्थ दो।

पागल—हरि हरि ! साधुजीने मेरी ओर एक बार देखा भी नहीं। 'लाओ अर्थ, दो अर्थ' पुकारते हुए ही चल दिये। भगवान् मुझे कहाँ ले आये ? यह कुछ दूरपर हरि-संकीर्तन सुनायी दे रहा है; मृदङ्ग-करतालकी ध्वनि आ रही है—अच्छा है 'हरिनाम-संकीर्तन-दल' इधर ही आ रहा है। जो कुछ भी हो, इसी दलमें शामिल होकर कुछ भगवान्का नाम लूँगा। हाय गुरुदेव! यह कैसा हरि-संकीर्तन !

जपे जाओ—अर्थ अर्थ अर्थ अर्थ अर्थ अर्थ।
कहे जाओ—अर्थ अर्थ अर्थ अर्थ अर्थ अर्थ ॥
(बोलो भाई; अर्थ अर्थ महामन्त्र बोलो भाई।)

पागल—यह क्या हो गया ? सभीके मुखसे एक ही बात। सैकड़ों-सैकड़ों कण्ठोंसे केवल अर्थ-अर्थकी चिल्लाहट ! ये जो हजारों आदमी—अर्थ-अर्थ पुकारते बे-भान दौड़ रहे हैं, पड़ेंगे या मरेंगे, पता नहीं है। सभी जोरोंसे दौड़ रहे हैं, मैं ही केवल चुपचाप खड़ा देख रहा हूँ। ये सब पागल हैं या मैं पागल हूँ, समझ नहीं पा रहा हूँ। कोई है—एक बार बता तो दो मैं पागल हूँ या नहीं ? ओ मेरे तुम ! बोलो-बोलो-बोलो।

—'स्वप्नोऽयं स्थिरो भव'

स्वप्न ! हरि हरि, मैंने यह सबेरे-सबेरे खड़े-खड़े स्वप्न देखा ! रहने दो, इस रास्ते अब नहीं जाऊँगा। इस उल्टी राहको पकड़कर चलूँगा। यह जो एक सुन्दर युवक चला आ रहा है—'हाँ भाई, यहाँसे बस्ती कितनी दूर है ?'

युवक—मनुष्य रचा गया है मौज लूटनेके लिये। नशा-शराब न किया गया, रमणियोंको लेकर मौज-मजा न लूटा गया तो फिर मनुष्य क्यों बने ? फिर तो पशु-पक्षी ही बनना चाहिये था। भगवान्ने जब मनुष्य बनाया है, तो मजा लूटो। गाओ-बजाओ, नारियोंके साथ—आँख-कानोंको सार्थक करो !

पागल—माँ दुर्गा ! यह एक नया उपसर्ग चला । यह भी मेरी बातका उत्तर न देकर ही चला गया । अबकी बार ये एक प्रौढ़ व्यक्ति आ रहे हैं——'हाँ महाशय ! गाँवका रास्ता किधर है ?'

प्रौढ़—इस विश्वकी रानी है नारी ! जो नारीको संतुष्ट कर सका, उसीका जीवन सार्थक है, वही कृत-कृत्य है, वही प्रातःस्मरणीय पुरुष है । पिता-माता आज नहीं तो कल मर ही जायँगे——उनकी सेवा करनेमें क्या लाभ ? स्त्रीकी सेवा करो, वह तुम्हें चतुर्वर्ग फल देगी । फूल-तुलसी-चन्दन लेकर भगवान्की पूजा न करके नारीकी पूजा करो । नारीको कष्ट मत दो । इससे घरका कोई भी काम मत करवाओ । किसी अतिथिकी सेवा इसके द्वारा करवाकर इसे कष्ट मत पहुँचाओ । बड़े जतनसे चुपचाप नारीकी सेवा किये जाओ । नारी संतुष्ट हो जायगी तो जगत् संतुष्ट होगा । नारी-नारी-नारी ।

पागल—ये भले आदमी तो नारी-नारी पुकारते चले गये । मैं अब किस ओर जाऊँ ? ये एक ब्राह्मण पण्डित फिर आ रहे हैं । रामनामी और तिलकमें तो अब मेरा विश्वास-भरोसा रहा नहीं बाबा ! कुछ भी हो जरा पूछ तो लूँ । 'हाँ महाशय ! गाँव कितनी दूर जानेपर मिलेगा ?'

ब्राह्मण—सम्पर्क-सम्बन्धकी बात सोचनेपर काम नहीं चलता । भोगकी चीजको भोगते जाओ । किस दिन मौत आ जायगी——पता नहीं । जबतक जीवन है, भोग करो । भोग करो, भोग करो, भोग करो ! ध्यान करना हो——मनोहर नारी-मूर्तिका ध्यान करो । जप करना हो तो 'नारी'-मन्त्रका जप करो । पूजा करनी हो तो नारीके चरणोंकी पूजा करो । दासत्व करना हो तो बस नारीका दासत्व करो ।

पागल—'नारी, नारी' पुकारते ये ब्राह्मण देवता भी चले गये । यह सब क्या हो रहा है ? मैं कहाँ चला आया । हजारों-हजारों बालक, वृद्ध, युवक 'नारी-नारी' चिल्लाते दौड़ रहे हैं । यह उस ब्रह्मचारीकी लीलास्थली पवित्र आर्यभूमि है या महाश्मशान है ? ये सब मनुष्य हैं या भूत-प्रेत ? कैसा भीषण प्रवाह है ! बचाओ-बचाओ, रक्षा करो । मैं तुम्हारे शरणागत हूँ । जगत्की रक्षा करो । मुझे लगता है मैं पागल हो गया हूँ । सचमुच ऐसी ही बात है ? यह क्या देख रहा हूँ बताओ तो !

——'किमत्र हेयम् ? कनकं च कान्ता । द्वारं किमेकं नरकस्य ? नारी ।'

'उत्तिष्ठत जाग्रत ! स्वप्नोऽयं स्थिरो भव ।'

पागल—राम-राम ! मैंने फिर स्वप्न देखा । अब कहीं नहीं जाऊँगा । जो हो भाग्यमें । अब तो यहीं बैठूँगा, ये एक रमणी आ रही हैं, अब मैं कुछ नहीं बोलूँगा । देखूँ ये क्या बोलती चली आ रही हैं ?

रमणी—पुरुष पशु है, हमारे इशारेपर उठेगा, बैठेगा, हँसेगा, रोयेगा, नाचेगा । हमारी जो इच्छा होगी हम वही करेंगी । जगत्का ध्वंस करनेके लिये ही हमारी सृष्टि हुई है । हम नहीं होने देंगी अब देवसेवा, अतिथि-सेवा संसारमें । एकमात्र हमारी सेवा करके ही पुरुष कृतार्थ होगा । घरसे आत्मीय-स्वजनोंको निकालकर घरकी मालिकिन बनकर हम पतिरूप बंदरको गुलाम बनाकर रक्खेंगी । वह सब कुछ छोड़कर हमारी सेवा-परिचर्यामें लगा रहेगा । हमारा हँसमुख देखकर वह धन्य होगा । वह अपनी सारी शक्ति, सम्पूर्ण चेष्टाके द्वारा हमारी पूजा करेगा । उसके इहलोक-परलोकको बिगाड़ देनेके लिये ही हमारा जन्म हुआ है । जबतक पुरुष नारीका दासत्व नहीं करेगा, तबतक वह पशुके सदृश ही बना रहेगा ।

पागल—ओह ! यह सब क्या है ? कैसी विश्वव्यापी भयानक चिल्लाहट है !! 'भोग करो, भोग करो——भोग करो । चार दिनोंके लिये संसारमें आये हो, भोग

कर लो ।' मानो पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता आदि सब कह रहे हैं—भोग करो । वायु मानो 'भोग करो, भोग करो' पुकारता हुआ बह रहा है, नदीकी तरङ्गें 'भोग करो, भोग करो' कहती हुई तटपर पछाड़ खा रही हैं ! बस, यही ? इतने बड़े मानव-जीवनका क्या यही उद्देश्य है ? मुझे बड़ी नींद आ रही है ! मैं मानो खूब छोटा-सा हो गया हूँ ! 'गोदमें लेकर स्तन्य पान कराना चाहती हो, कौन हो तुम ?'

—'मैं तेरी माँ हूँ। बेटा ! ले—स्तन-दुग्ध पी ले ।'

पागल—तुम कैसे मेरी माँ हो गयी ? मैं तो अभी-अभी इस देशमें आया हूँ । सभी मानो टूटा-टूटा-सा है, सभी गोलमाल-सा है ! मेरा मानो कोई एक अपना था, वह बहुत ही प्यार करता सदा । समुद्रमें जलकी बूँदके समान मैं उसके वक्षःस्थलपर मानो खेला करता । बड़ी नींद आ रही है । 'यह तुम और कौन हो ?'

'—मैं तुम्हारा पिता हूँ ।'

पागल—पिता ! पिता ! कौन-सी मानो एक बात याद नहीं आ रही है, याद करने जाकर भूल जा रहा हूँ । मेरा एक कोई अपना था, सदा वह मुझे छातीसे लगाये रखता ! 'अच्छा तो बताओ—तुम्हीं लोग बताओ, बताओ मैं क्या करूँ ?'

'—पढ़ना-लिखना चाहिये । पिता-माताकी सेवा करनी चाहिये और इसके लिये अर्थोपार्जन करना चाहिये ।'

पागल—बस यही ? मेरा वह कहाँ चला गया ? ओहो—बड़ी नींद आ रही है । 'अरी, तुम फिर कौन आ गयी ?'

'—मैं तुम्हारी स्त्री हूँ ।'

पागल—वही पुरानी बात—याद जो नहीं कर पा रहा हूँ; मेरा अपना एक कोई था । वह कहाँ चला गया ? ये सब कौन आ गये ? 'बताओ, मुझे क्या करना है ?'

'—मैं तुम्हारी स्त्री हूँ । मेरा भरण-पोषण करना चाहिये, मेरा आदर-सत्कार करना चाहिये, अर्थोपार्जन करना चाहिये और सुखभोग करना चाहिये ।'

पागल—माता, पिता, स्त्री—सभी अर्थकी ही बात कह रहे हैं । मुझे मानो एक स्वप्न-राज्यकी बात याद आ रही है । वह मानो बड़ा ही सुन्दर देश था, वहाँ 'वह' था और 'मैं' था । मैं भी मानो नहीं था । बड़ी नींद आ रही है । 'अरे—तुम सब इतने कौन हो ?'

'—हम हैं तुम्हारे पुत्र-कन्या, बन्धु-बान्धव, आत्मीय-स्वजन—तुमको हमारा पालन करना चाहिये, यों उदासीन रहना ठीक नहीं, अर्थोपार्जन करो ।'

पागल—रास्तेके बीचमें मेरे इतने लोग कहाँसे इकट्ठे हो गये ? सभी एक अर्थकी बात कह रहे हैं । अर्थका अत्यन्त प्रयोजन है—अच्छा यही करूँगा । अच्छा, वह कहाँ छिप गया ? वह जो मेरा कुछ लगता था । मुझे कितना प्यार करता !

अरे बाप रे यह क्या ? स्त्री एक साँप बन गयी, वह दौड़ा आकर मेरी छातीमें डँस रहा है । मरा-मरा—अरे माता-पिता, बन्धु-बान्धव, आत्मीय-स्वजन कहाँ हो तुम सब ? मेरी रक्षा करो—मैं मरा । अरे, देखते-ही-देखते ये सभी साँप बन गये—लड़का साँप बन गया, कन्याएँ साँप बन गयीं । चारों ओरसे लगातार मुझे डँस रहे हैं । मरा, मरा जल-भुनकर ! हाय रे विषकी ज्वालासे जलकर मरा ! कोई है ? मुझे बचाओ । मैं तुम्हारे शरण हूँ—मैं तुम्हारा हूँ, बचाओ-बचाओ ।

'त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष हरे संसारसागरात् ।'

हरि ॐ—हरि ॐ—हरि ॐ

'—क्यों रे पागल ! मेरे इन रूपोंको देखकर तू डर गया था ? भय नहीं है—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।

पागल—अहा, आ गये तुम ? ये सब क्या तुम्हारे ही रूप थे ? कौन हो तुम जो गुरुरूपसे मेरा उद्धार करने आये हो ? तब पुकारूँ—हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ ।

'—क्या रे पागल, नाच रहा है ?'

पागल—अब नाचूँगा नहीं ? तुम जब शब्दब्रह्मरूपमें दर्शन दे रहे हो ! अब नाचूँगा नहीं ? केवल मैं ही नहीं नाच रहा हूँ । मेरे हाथ नाच रहे हैं, मेरे पैर नाच रहे हैं, जीभ नाच रही है, नस-नसमें रक्तकण नाच रहे हैं, मेरा अङ्ग-अङ्ग—रोम-रोम नाच रहा है । मैं नाचके सागरमें डूब रहा हूँ । हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ । खूब हो तुम !

'क्यों रे ? हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ ।'

पागल—ओहो हरि ! तुम्हीं सब सज रहे हो । तुम्हीं पिता-माता, स्त्री-पुत्र सब सजे थे । पर देखो, मैं तुम्हें जरा भी नहीं पहचान सका । कैसी पीड़ा है ! तुम यदि इस पीड़ाका अनुभव करते तो ऐसा खेल नहीं खेलते । तुम तो, मालूम होता है, बहुरूपिया हो । अकेले तुम इतने वेष बना सकते हो । नर-नारी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता सब बनकर खेल करते हो । वाह, खूब ! यह बात पहले ही क्यों नहीं बता दी कि देखो सब कुछ मैं ही हूँ ।

'—इस देशमें आकर जो सो जाता है, वही स्वप्नमें पीड़ा प्राप्त करता है । तुम जगते रहो—सब कुछ मैं ही हूँ, यह ज्ञान स्थिर रहेगा ।'

पागल—बड़ी नींद जो आ रही है ।

'—जप करो । सदा 'हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ' जप करो । लगातार उच्चस्वरसे बोलते रहो—हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ । फिर, तुम्हें कैसे भी नींद नहीं आयेगी ? जो सो रहे हैं, तुम्हारी जोरकी चिल्लाहटसे उनकी भी नींद टूट जायगी । तुम्हारे स्वरमें स्वर मिलाकर वे भी गाने लगेंगे—हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ । **कितने ही भय क्यों न आवें—नाम मत छोड़ना ।'**

पागल—भय किस चीजका ! तुम हो और मैं हूँ ।

हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ ।

बड़प्पनका मापदण्ड

कोई कहता है कि मैं धनी हूँ, इसलिये बड़ा हूँ । कोई कहता है मैं पहलवान हूँ, इसलिये बड़ा हूँ । कोई कहता है मैं विद्वान् हूँ, इसलिये बड़ा हूँ । कोई कहता है मैं बुद्धिमान् हूँ, इसलिये बड़ा हूँ । कोई कहता है मैं उच्चपदाधिकारी हूँ, इसलिये बड़ा हूँ । कोई कहता है मैं कुलीन हूँ, इसलिये बड़ा हूँ; परंतु यह सब कुछ नहीं । इस तरहकी धारणा सीमित और अपूर्ण है । बुद्धि, बल, विद्या, धन, कुलीनता, उच्चपद आदि प्रतिभासे सम्पन्न हो जानेकी स्थितिमात्र बड़प्पनके सम्बन्धमें पर्याप्त नहीं है । मनुष्यका मूल्याङ्कन मानव-धर्मके आचरणपर अवलम्बित है । मानव-धर्मका आचरण करना ही बड़प्पनका सही मापदण्ड है । बड़प्पनकी अभिलाषाकी पूर्ति मानव-धर्मके आचरण करनेसे अवश्य हो सकेगी ।

—श्रीअजयकुमार ठाकुर

वेदान्तका श्रवण-मनन

(लेखक—ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा)

[अनुवादक—श्रीसुरेश एम० भट]

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

आत्मसाक्षात्कारके लिये वेदान्तके श्रवण, मनन और निदिध्यासनका विधान श्रुतिमें किया गया है । जीव-ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपके अभेदका बोध करनेवाला वेदका जो उपनिषद्भाग है उसे वेदान्त कहते हैं । वेदान्तके प्रमाणभूत तीन ग्रन्थ हैं—शांकरभाष्यसहित ईश आदि दस उपनिषद्, शांकरभाष्यसहित श्रीभगवद्गीता और शांकरभाष्यसहित ब्रह्मसूत्र । इन प्रमाणभूत ग्रन्थोंका किसी श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ पुरुषद्वारा एकाग्र-चित्तसे आदरपूर्वक श्रवण करना ही वेदान्त-श्रवण है ।

अन्तःकरणकी योग्यताके बिना वेदान्तश्रवण मनुष्यके लिये लाभजनक नहीं होता । इसीलिये विवेकी मनुष्यको पहले अपने अन्तःकरणकी योग्यता बढ़ानी चाहिये । विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चार साधनोंकी प्राप्ति होनेपर अन्तःकरणकी योग्यता बढ़ती है । इन चार साधनोंसे हीन मनुष्यके लिये वेदान्तश्रवण निरुपयोगी है ।

भ्रमित अन्तःकरणसे उपनिषद् अथवा ऐसे ही अन्य ग्रन्थोंका श्रवण करनेसे यथोचित लाभ नहीं होता । इसीलिये अन्तःकरणको एकाग्र रखकर वेदान्त-श्रवण करनेका अनुरोध किया गया है ।

वेदान्तश्रवण पवित्र स्थानपर, एकाग्रतासे, एक आसनसे, वक्ताके सम्मुख बैठकर, सावधानता और परम प्रीति रखकर करना चाहिये तथा वेदान्तके विषयोंको अपने अन्तःकरणमें सुस्थिर करना चाहिये ।

जो मनुष्य वेदान्त-सिद्धान्तके मुख्य ग्रन्थोंको अर्थसहित नहीं समझता, जो सुन्दर युक्तियोंके द्वारा जिज्ञासुओंके मनका समाधान करनेमें असमर्थ है और जिसको ब्रह्मस्वरूपका दृढ साक्षात्कार नहीं हुआ है, ऐसे पुरुषके द्वारा वेदान्तश्रवण करनेकी इच्छा जिज्ञासु—मुमुक्षुको नहीं रखनी चाहिये ।

वेदान्त-सिद्धान्तके श्रवणद्वारा ब्रह्मभाव किंवा सर्वात्मभाव प्राप्त करना है । मनुष्यके संकुचित हृदयका आत्यन्तिक विकास हुए बिना वह सर्वात्मभावको प्राप्त नहीं कर सकता । वेदान्तश्रवण करनेवाले साधकको समस्त प्राणी-पदार्थोंके अधिष्ठानरूप ब्रह्मका दृढ साक्षात्कार करना है । अतः ऐसे जिज्ञासु-मुमुक्षुको समस्त प्राणी-पदार्थोंके प्रति विशुद्ध प्रेमभाव रखना और ऐसा ही बर्ताव करना चाहिये । किसीमें न तो द्वेषयुक्त दृष्टि रखनी चाहिये और न द्वेषयुक्त बर्ताव ही करना चाहिये । जो मनुष्य सच्चे अर्थमें वेदान्ती बनना चाहते हैं, उन्हें अपने अन्तःकरणको गर्व, द्वेष, ईर्ष्या, क्रूरता और असूया आदि दोषोंसे दूर रखना चाहिये तथा प्राणिमात्रके साथ स्वार्थरहित निर्दोष प्रेम रखना चाहिये । इतना ही नहीं, अपने सधर्मी बन्धुओंके साथ उन्हें अपने निकटके सम्बन्धियोंसे भी अधिक प्रीति रखकर उनका आदर करना चाहिये ।

पवित्र और एकाग्र अन्तःकरणयुक्त जिज्ञासु जब श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके द्वारा वेदान्तश्रवण करता है, तब उसे आत्मासे अभिन्न ब्रह्मका ज्ञान होता है । ऐसा ज्ञान होनेपर उसके आलोकसे दुःखोंका नाश होता है; क्योंकि भोक्ता और भोग्य दोनों मिथ्या हैं, यह बात उसकी समझमें आ जाती है । परलोकके सुख-दुःखकी चिन्ता ज्ञानी मनुष्यको नहीं होती । ज्ञानामृतसे तृप्त कृतार्थ—ज्ञानीके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है । ब्रह्मवेत्ताको सहज ही अभय, ब्रह्मभाव, सर्वदुःखोंके अभाव और सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है ।

जब मनुष्यका चित्त शुद्ध और विवेक आदि साधनोंसे सम्पन्न होता है और वह श्रद्धा, आदर और एकाग्रतासे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषोंद्वारा वेदान्तका श्रवण करता है तब उसे वेदान्तका मनन होता है । बाधक-साधक युक्तियोंके द्वारा स्वस्थतापूर्वक आदरसहित उपनिषद्-द्वारा प्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्मका चिन्तन करना ही

वेदान्त-मनन है। ब्रह्मस्वरूपका अनुभव करके कृतार्थ होनेकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुको अपने चित्-स्वरूपका अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करना चाहिये।

वेदान्तमें जगत्के, ईश्वरके, आत्माके, ब्रह्मके एवं मोक्षके स्वरूपका तथा मोक्षके साक्षात् या परम्पराके साधनोंका निरूपण किया गया है।

नाम, रूप और क्रियाका समुच्चय ही जगत् है। ब्रह्मके आश्रयसे मायाशक्ति विविध जगत्का निर्माण करती है। ब्रह्ममें विवर्तरूपसे प्रतीत होता हुआ जगत् यानी सर्वप्राणि-पदार्थ ब्रह्मरूप ही हैं और ब्रह्मसे अभिन्न हैं। जगत्के स्वरूपका मनन करते-करते भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे युक्त पदार्थ भी अन्तमें एक ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। मुमुक्षुके हृदयमें यह निश्चय दृढ होनेपर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्यकी सत्यताकी स्पष्ट धारणा हो जाती है।

जगत्के स्वरूपका मनन हो जानेपर मुमुक्षुको जीवके स्वरूप-सम्बन्धमें मनन करना चाहिये। जीवका वास्तविक स्वरूप सर्वव्यापक ब्रह्मसे अभिन्न है। जीवके स्वरूपका मनन करते-करते ऐसा निश्चय हो जाता है कि प्रत्येक जीवमें व्याप्त सद्रूप, चिद्रूप, परमानन्दरूप, व्यापक, असङ्ग और अक्रिय ब्रह्मतत्त्व ही समस्त जीवोंका वास्तविक स्वरूप है। जगत् और जीवके स्वरूपका मनन करनेके बाद ईश्वरके स्वरूपका मनन करना चाहिये। वस्तुतः शुद्ध चेतन या ब्रह्म ही ईश्वर है।

जीवमेंसे अविद्या एवं उनके धर्मोंका नाश होनेपर जो शुद्ध स्वरूप रह जाता है वही आत्मा है और वह आत्मा ही ब्रह्मस्वरूप है। देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित तथा सजातीय, विजातीय और स्वगत आदि भेदोंसे रहित शुद्ध चैतन्यको ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म सर्वदा सब प्रकारके दुःखोंसे अत्यन्त रहित और नित्य परमानन्दरूप है। आत्मासे अभिन्न इस ब्रह्मस्वरूपमें उत्थानरहित स्थिति करना ही मोक्ष है।

यह मोक्ष ब्रह्मके दृढ अपरोक्ष ज्ञानसे होता है। ब्रह्मका दृढ अपरोक्ष ज्ञान साधनसम्पन्न पुरुषको समर्थ सद्गुरुके ब्रह्मोपदेशसे होता है। जो अधिकारी अपनी बुद्धिके दोषसे ब्रह्मका दृढ साक्षात्कार करनेमें असमर्थ हैं, उनको सर्वसंशयोंकी निवृत्ति होनेतक सद्गुरुके उपदेशका आदरपूर्वक श्रवण-मनन करना आवश्यक है।

जिस मनुष्यके चित्तमें विवेक, वैराग्य, शम आदि षट्सम्पत्ति और मोक्षप्राप्तिकी इच्छा—ये चार साधन उत्पन्न नहीं हुए हैं, उसके चित्तमें सद्गुरुके उपदेशका आदरपूर्वक यथार्थ ग्रहण—धारण नहीं हो सकता। आदरपूर्वक प्रयत्न करके इन चार साधनोंका सम्पादन करना चाहिये। तभी श्रवण-मनन आदिके द्वारा कृतार्थ होना सहज होगा।

आलस्य-प्रमाद आदिका परित्याग कर अपने चित्तको पवित्र करके जो मनुष्य विवेक आदि साधनोंका सदाग्रहपूर्वक सम्पादन करता है। तत्पश्चात् वेदान्तका श्रवण और उनके मुख्य विषयोंका उपर्युक्त रीतिसे मनन करता है। वही मुमुक्षु निदिध्यासन या ब्रह्मध्यान करनेमें समर्थ है।

ब्रह्मका साक्षात्कार ही मोक्षकी प्राप्ति है। ब्रह्मका साक्षात्कार ब्रह्म-विचार या निदिध्यासनसे होता है। वेदान्तके मुख्य विषयोंका मनन करनेपर स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि एक और अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब पारमार्थिक नहीं, बल्कि प्रातिभासिक सत्य है।

जो मननशील मुमुक्षु पुरुष वेदान्तका या सद्गुरुके उपदेशका आदरपूर्वक श्रवण-मनन करता है, वह समस्त शास्त्रोंके तर्कोंका त्याग करके एकमात्र ब्रह्मचिन्तनमें तत्पर होता है। ऐसा अधिकार प्राप्त किये बिना वास्तविक ब्रह्मचिन्तन या निदिध्यासन किसी भी पुरुषके द्वारा नहीं हो सकता। अतः उनके फलस्वरूप होनेवाला वास्तविक ब्रह्मसाक्षात्कार भी उनको नहीं हो सकता।

अन्तर्यामी ईश्वर सभी अधिकारी मुमुक्षु पुरुषोंको उपर्युक्त रीतिसे वेदान्तका श्रवण-मनन करनेका उत्तम सामर्थ्य प्रदान करें। हरि ॐ

* * *

विश्वमें अशान्ति क्यों ?

(लेखक—महात्मा श्रीनिरञ्जनजीके विचार)

[प्रेषक—डा० सूर्यकान्त ठाकुर]

जब मनुष्य प्रकृति-द्रौपदीके सामने मातृभावसे पेश न आकर दुःशासन बनता है तब उसीका परिणाम भीषण महाभारत होता है। जडवादी विज्ञानरूपी दुःशासन प्रकृति-द्रौपदीके आवरणोंको हटाना चाहता है। उसी अवाञ्छनीय मनोरथका परिणाम वर्तमान महायुद्ध है। आर्य-संस्कृतिका इतिहास कहता है कि भारतके प्राचीन चैतन्य विज्ञानियोंने मातृभावसे प्रकृति देवीके रहस्योंको जाननेका प्रयत्न किया था। आर्य-संस्कृतिके गम्भीर अध्ययनशील पुरुषोंसे उसका परिणाम छिपा हुआ नहीं है। मानवजाति सदा शान्ति चाहती है, परंतु अज्ञानवश अज्ञातरूपसे या अपने सीमित अभिमान और बुद्धिके भरोसे अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाओंकी पूर्तिके उद्देश्यसे मनुष्य कुछ ऐसे काम कर बैठता है जो मानव-समाजके लिये अशान्ति और अकल्याणका कारण बन जाते हैं।

आर्य-संस्कृति केवल मानव-सृष्टिका ही नहीं, बल्कि समस्त प्राणिजगत्‌का कल्याण चाहती है। ठीक उसीके विपरीत पाश्चात्त्य जड-संस्कृति है, जिससे प्रभावित होकर मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थशील, भोगविलासमें लिप्त और क्षुद्र वासनाओंकी तृप्तिका एकमात्र ध्येय अपने सामने रखकर अपनी समग्र शक्तियोंको उसी ओर लगा देता है। भूगर्भके खनिज पदार्थ रसायन इत्यादिका, जो पृथ्वीकी जीवनीशक्तिके आधारस्वरूप प्रधान वस्तुओंमें हैं, विनाश करनेमें मनुष्यकी पूरी शक्ति लगी हुई है। प्रकृति इस या इस प्रकारकी और कुप्रवृत्तियोंको सहन नहीं कर सकती। इन कामोंकी प्रतिक्रियाएँ विश्वके बाहरी वायुमण्डल और जड-चेतन पदार्थोंको दुःख, अशान्ति और विपत्ति उत्पन्न करनेवाली परिस्थितिमें डाल देती हैं। प्रकृतिका अगोचर हाथ पृथ्वीके पटपर शतरंजकी चाल शुरू कर देता है। गोटियाँ समझती हैं कि वे समझदारीसे एक दूसरेका मुकाबला कर रही हैं, परंतु वास्तवमें वे तो उसी छिपे हुए हाथकी कठपुतलियाँ हैं। विश्वके अणु-अणुमें फैली हुई मातृशक्ति जडवादद्वारा पैदा की हुई अव्यवस्थाको सुव्यवस्थित करना चाहती है। उस महाशक्तिका इरादा पूरा हो जाता है और मनुष्यमें ऐसे प्रसङ्गोंके विरुद्ध, जिनको उसने पर्याप्त महत्त्व दे रक्खा है, परंतु जो प्रकृतिके निस्सीम क्षेत्रोंकी तुलनामें नगण्य और क्षुद्रवत् हैं,—प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है, तब वहीं पृथ्वीको रक्तरञ्जित करनेवाला नाट्य-प्रयोग इतिश्रीके निकट पहुँचता है। जबतक वर्तमान विज्ञानकी प्रगति अध्यात्मवादकी ओर न झुक जाय, तबतक संसारमें शान्ति स्थापित होना अशक्य मालूम पड़ता है। मनुष्य या मानव-समाजकी इच्छा हो या न हो, प्रकृतिदेवी उस परिस्थितिमें उसे बाध्य करके घसीट ले जाना चाहती है।

संसारकी समस्त संस्कृतियोंकी जननी सच्ची आर्य-संस्कृति, मानव-समाजके कल्याणमें उपयुक्त हो सकती है। मनुष्यजाति जितने अंशमें इस संस्कृतिसे दूर भागेगी, उतने ही अंशोंमें उसे शान्तिसे दूर रहना पड़ेगा।

* * *

मधुर

प्रेमके प्रगाढ़भावसे अनुरक्त मनमें मिलनकी अत्यन्त उत्कण्ठाके उदय हो जानेपर जो एक विलक्षण व्याकुलता आ जाती है, मिलनकी पूर्वावस्थामें दर्शन-श्रवणादि विभिन्न हेतुओंसे भावोंके उद्दीप्त होनेपर जो एक अनिर्वचनीय मिलन-व्यग्रता उत्पन्न हो जाती है, उसे 'पूर्वराग' कहते हैं। प्राकृत नायक-नायिकाओंका पूर्वराग मलिन मिलन-कामनाको लेकर होता है, परंतु भगवान् श्यामसुन्दर तथा स्व-सुख-वाञ्छा-विरहित श्रीगोपाङ्गनाओंका पूर्वराग विशुद्ध प्रेममय होता है। इस पूर्वरागकी उत्पत्तिके अनेक हेतु होते हैं। उनमें यहाँ आज 'साक्षात् दर्शन,' 'स्वप्नदर्शन,' 'श्रीकृष्ण-नामश्रवण', 'दूतीके द्वारा रूपशील-श्रवण' और 'लीलास्थली-दर्शन'—इन पाँच हेतुओंका संकेत बतानेवाले श्रीगोपाङ्गनाओंके द्वारा अनुभूत कुछ भाव नीचेके पाँच पदोंमें दिये जाते हैं—

साक्षात् दर्शन

हौं जल भरन गई री सजनी !
चलि वा दिन कालिंदी कूल।
देखे तहँ ठाढ़े नटवर नँद-
लाल, गई सारी सुध भूल ॥
अंग अंग रस-सुधा बरस रहि,
नव किसोर लावन्य ललाम।
कुंचित कच, त्रिभंग तनु भंगिम,
सिर मयूर-चंद्रिका सुठाम ॥
चंचल दृग तिरछे अरुनारे,
स्रवत प्रेमरस की मधु धार।
बरबस, करषि लियौ मन मेरौ,
कोटि मनोज लजावनहार ॥
सुस्मित अधर, बदन मुनि-मनहर,
बरन नील, उर मुकता-पाँति।
मधुर मुरलि मधु-नाद-निनादिनि
हरत मदन-मानस सब भाँति ॥
वा दिन तें मोहि कछु न सुहावै,
काँपत सकल अंग दिन रात।
कब निरखौं हिय भरि मनमोहन,
कब परसौं सुचि पद-जलजात ॥

'सजनी ! उस दिन मैं जल भरनेके लिये चलकर यमुनाजीके तटपर गयी थी। वहाँ मैंने नटवर नन्दनन्दनको खड़े देखा, देखते ही मैं सारी सुध-बुध भूल गयी। उनके अङ्ग-अङ्गसे रस-सुधाकी वर्षा हो रही थी, नवीन किशोर वय था, ललित लावण्य था। घुँघराले केश, त्रिभंग भंगिमायुक्त मङ्गलविग्रह, सिरपर मोरपंखकी सुन्दर चन्द्रिका और अरुणिम चञ्चल नेत्र थे, जिनसे प्रेम-रसकी मधुर धारा बह रही थी। उन करोड़ों-करोड़ों कामदेवोंको लज्जित करनेवाले सौन्दर्यस्वरूपने मेरे मनको बलात् खींच लिया। उनके अधरोंपर मृदु हास्य खेल रहा था, उनका श्रीमुख मुनि-मन-हारी था, नीलश्याम वर्ण था, वक्षःस्थलपर मोतीकी लड़ियाँ सुशोभित थीं। वे मधुर नादका निनाद करनेवाली मुरली लिये थे। मदनके मनको भी सब भाँतिसे हरण कर रहे थे। जिस दिन इस रूपमें उनको देखा, उस दिनसे मुझे कुछ भी नहीं सुहाता। तबसे मेरे सारे अङ्ग काँपते रहते हैं। मैं कब उन मनमोहनको हृदय भरकर देखूँगी और कब उनके चरण कमलोंका स्पर्श करूँगी।'

स्वप्न-दर्शन

सोवत रही सखी ! मैं अति सुख !
कोटि भानु दुति राजत सीतल
प्रगट्यौ मधुर मनोहर श्रीमुख !
अधर मधुर मृदु मुसुकनि मोहनि,
ऋषि-मुनि-ज्ञानी-तापस मन-हर।
भ्रुकुटि कुटिल सुचि चंचल दृग-जुग,
मोहन बेनु विमल राजत कर ॥
मुक्ता-मनि-गुंजा-तुलसी-बन-
सुमन-हार सोभित सुंदर गल।
पग नूपुर छमकार चित्तहर,
बाजत कटि किंकिनि घूँघर कल ॥

पाय रूप-सौंदर्य-सुधा मैं
छकी, थकी-सी रही चकित मन।
भुजा पसार चली अति आतुर
बिह्वल तुरत चरन-जुग पकरन ॥
टूट्यौ सुपन जगी औचक, रहि
भौंचक दीखे नहिं नँदनंदन।
तब तें दारुन जरत जरनि जिय,
निसिदिन दहत रहत सखि ! मन-तन ॥

'सखी ! मैं अत्यन्त सुखसे सो रही थी। (मैंने स्वप्नमें देखा——) करोड़ों सूर्योंके शीतलतायुक्त प्रकाशसे सुशोभित मधुर मनोहर मुख प्रकट हो गया। उसके अधरोंपर मधुर मन्द मोहनी ऐसी मुसकान छिटक रही थी जो ऋषि, मुनि, ज्ञानी तथा तपस्वियोंके भी मनका हरण करनेवाली थी। (इतनेमें पूरे मङ्गलविग्रहके दर्शन होने लगे) उन श्रीश्यामसुन्दरकी भौंहें टेढ़ी थीं, पवित्र नेत्र-युगल चञ्चल थे, पवित्र हाथमें मोहन मुरली सुशोभित थी। गलेमें सुन्दर मोती, मणि, गुंजा, तुलसी तथा वनपुष्पोंके हार झूल रहे थे। पैरोंमें चित्त हरण करनेवाली नूपुरोंकी छम-छम-ध्वनि हो रही थी। कटि-प्रदेशमें किंकिणीके सुन्दर घुँघरू बज रहे थे। मैं इस रूप-सौन्दर्य-सुधाको पाकर छक गयी, मेरा मन आश्चर्यमें डूब गया। मैं थकी-सी रह गयी। फिर, मैं अत्यन्त आतुर होकर विह्वलताके साथ तुरंत ही भुजाएँ पसारकर उनके चरण-युगलोंको ग्रहण करने चली। इतनेमें स्वप्न टूट गया। मैं अचानक जग गयी, भौंचक-सी रह गयी, कहीं नन्दनन्दन नहीं दिखायी दिये। सखी ! उसी समयसे मेरे हृदयमें दारुण अग्नि जल रही है और मेरे मन-तन रात-दिन उससे धधकते रहते हैं।'

श्रीकृष्णनामश्रवण

भइ गति कैसी सुनु सजनी !
धुनी मनोहर कृष्ण नामकी,
जब तें मधुर सुनी ॥
अचरज, भर्‍यौ अमृत हियमें,
तातें प्रगटी अगिनी।
बुझै न बिनु पाये यह दरसन-
सुधा दाह-समनी ॥
नित्य निरंतर तड़फत मन,
नहिं चैन दिवस-रजनी।
सार-हीन जीवन बिनु प्रियतम
सु-मिलन नीलमनी ॥
सखी ! सुदौसी लै चलु, हौं जहँ
माधव नाम-धनी।
नहिं उपकार बिसारूँ पल-छिन,
रहूँ कृतज्ञ-रिनी ॥

'सजनी ! सुनो, जबसे मैंने 'कृष्ण' नामकी मधुर मनोहर ध्वनि सुनी, तबसे मेरी कैसी गति हो रही है! उस ध्वनिके आते ही हृदय अमृतसे भर गया, पर आश्चर्य है कि उस अमृतसे ही (मिलनेच्छाकी) आग भड़क उठी। यह अग्नि अब दाहको बुझानेवाली दर्शन-सुधाके पाये बिना कभी नहीं बुझेगी। मेरा मन नित्य निरन्तर तड़प रहा है। दिन-रातमें कभी मुझे चैन नहीं पड़ती। उन नीमलणिसे भलीभाँति मिले बिना मेरा जीवन सर्वथा निःसार है। सखी ! मुझको शीघ्र वहाँ ले चल, जहाँ (श्रीकृष्ण-) नामके धनी श्रीमाधव विराजमान हैं। मैं एक पल-क्षणके लिये भी तेरा उपकार नहीं भूलूँगी। जीवनभर कृतज्ञ तथा ऋणी बनी रहूँगी।'

दूतीके द्वारा रूप-गुणश्रवण

लग्यौ तब हिय मीठो आघात।
जब बनितोत्सव रूप-सीलकी
दूतीने कहि बात ॥
तब तें घाव हरौ ही है सखि !
पल-पल बढ़ती पीर।
देखन कौं वा रूप-सील-छबि
मैं अति भई अधीर ॥
नव-नीरद-दुति, नटवर सुंदर
मोरपिच्छ सिर सोह।
मुरली मधुर अधर पर सोभित
चिदानन्द-संदोह ॥

मृदु मुसकान, नैन-भौं बाँकी,
घन घुँघरारे केस ।
बिजुरी-बरन बसन तन राजत
सुर-मुनि-मोहन भेस ॥
कटि करधनि, पग नूपुर बाजत,
गल गुंजा-बनमाल ।
कैसे करि सखि ! सपदि बिलोकूँ
मैं वह रूप रसाल ॥
नहिंतर, टीस मिटै नहिं कबहूँ
सूखै कबहुँ न घाव ।
बिषम बेदनामें स्मृति-सुख अति
रहत बढ़ावत चाव ॥

जिस क्षण दूतीने प्रियतम श्यामसुन्दरके वनिता-मात्रके उत्सव-स्वरूप रूप-सौन्दर्य तथा शील-स्वभावकी बात कही, उसी क्षण मेरे हृदयमें (मिलनेच्छाकी) एक मीठी चोट लग गयी । उस दिनसे सखी ! वह घाव हरा ही बन रहा है और उसकी पीड़ा प्रतिपल बढ़ रही है । उस रूप-शीलकी छवि देखनेके लिये मैं अत्यन्त अधीर हो रही हूँ । वह द्युतिमय नवीन नीरद-वर्ण, चिदानन्दसंदोह सुन्दर नटवर-रूप, सिरपर मयूरपिच्छ सुशोभित, अधरपर मधुर मुरली विराजित, मृदु मुसकान, टेढ़े नेत्र और भ्रुकुटि, घने घुँघराले केश, बिजली-वर्णका पीत वस्त्र शरीरपर शोभित, सुर-मुनि-मोहन वेष, कटिदेशमें करधनी, पैरोंमें बजते हुए नूपुर और गलेमें गुंजाकी तथा वनकुसुमोंकी मालाएँ ! सखी ! वह रसमय रूप मैं शीघ्र-से-शीघ्र कैसे, किस उपायसे देखूँ ! उसे देखे बिना तो सखी ! न घावकी यह कसक कभी मिटेगी और न कभी घाव सूखेगा ही ! इस विषम वेदनामें भी स्मृतिका अत्यन्त सुख प्राप्त हो रहा है, जो निरन्तर मिलनके चावको बढ़ा रहा है !

लीलास्थली-दर्शन

सखी ! मैं कहा कहूँ मन की ।
जागत बनै न सोवत मो तें
भइ बौरी, सनकी ॥
गई हुती वा दिन मैं बन कूँ
सुध बिसरी तनकी ।
जा पहुँची प्रेरित-सी लीला-
भुवि मनमोहन की ॥
देखी तहाँ बिचित्र बिलच्छन
सुषमा-श्री बन की ।
परस्यौ पवन तहाँ कौ तन भइ
संगति रज-कन की ॥
बे-सुध, फिरि आई मैं भूली
संज्ञा जीवन की ।
तब तें कछु न सुहावै, लगि रहि
ललक सु-दरसन की ॥

सखी ! मैं अपने मनकी क्या बताऊँ ? मुझसे न तो जगते बनता है, न सोते ही । मैं बावली हो गयी हूँ, सनक गयी हूँ । उस दिन मैं वनकी ओर चली गयी थी । शरीरकी स्मृति भूल गयी थी और किसीके द्वारा प्रेरित-सी मैं प्रियतम मनमोहनकी लीलास्थलीमें जा पहुँची । वहाँ उस मनोहर वनकी विचित्र विलक्षण शोभा-श्री मैंने देखी । वहाँके पवनका मेरे शरीरसे स्पर्श हुआ और वायुके द्वारा उड़े हुए रजःकणोंका मेरे शरीरको सङ्ग मिला । मैं बे-सुध हो गयी और उसी सुधहीन स्थितिमें लौट आयी । मैं जीवनकी संज्ञा तकको भूल गयी । सखी ! उस समयसे मुझे कुछ भी नहीं सुहाता । केवल उनके सुन्दर दर्शनकी ही ललक लग रही है ।

* * *

प्रभु सहज सुहृद् हैं

जिसने प्रभुसे कहा हृदयसे—'मुझे बना लो तुम अपना' ।
सहज उदार परम हरिने स्वीकार किया उसको अपना ॥
उसने मुँह मोड़ा, पर हरिने तजा न कभी बिरद अपना ।
उसके अपने बने, बनाये रक्खा उसे सदा अपना ॥

श्रीरामचरितमानसमें 'ब्राह्मण'की परिभाषा

(लेखक——डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

(१)

एक बार मेरे निवास-स्थानपर श्रीरामचरितमानसकी कथा हो रही थी। लगभग बीस नगरके चुने हुए पूज्य मानस-प्रेमी तथा मानस-विद्वान् एकत्रित थे। श्रीरामचरितमानसकी कथामें प्रसंगवश ब्राह्मणोंकी चर्चा आयी; जिनके प्रति गोस्वामी तुलसीदासजीने विशेष आदरसूचक भाव प्रकट किया है। तब एक आदरणीय मानस-विद्वान्ने कहा कि स्वयं ब्राह्मण होनेके नाते गोस्वामीजीने ब्राह्मणोंका इतना आदर किया है और उनके ब्राह्मण-सम्बन्धी वाक्य आजकलके प्रजातन्त्रवादी समयके अनुकूल नहीं हैं। उनका कहना था कि यदि हम परमात्माको परम पिता मानें तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस परमात्माकी दृष्टिमें सब समान हैं, सब पुत्रवत् हैं, चाहे ब्राह्मण हों या शूद्र; क्योंकि परमात्मा सत्य और न्यायकी मूर्ति हैं। इसलिये न्यायसंगत यही है कि परमात्माकी दृष्टिमें मानवमात्रको समान माना जाय और यदि विशेष अधिकार दिया भी जाय तो वह शूद्रोंको मिले। शङ्काकारका तर्क यह था कि चतुर्वर्णकी प्रणाली एक सामाजिक संगठनकी आवश्यकता थी और इसका विचार आध्यात्मिक चर्चामें करना अनुचित है।

पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥

ऐसे पतितपावनके दरबारमें वर्णको स्थान देना न्यायसंगत नहीं दीख पड़ता और कम-से-कम इस छन्दसे तो ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता प्रतिपादित नहीं होती।

इस शङ्काका समाधान कई प्रकारसे हो सकता है; परंतु कविवर तुलसीदासजीकी जो शैली है, उसके अनुसार प्रत्येक शङ्काका समाधान श्रीरामचरितमानसमें ही मिल जाता है। इसलिये अधिक उपयुक्त यही होगा कि श्रीरामचरितमानसके शब्दोंमें ही इस शङ्काका समाधान ढूँढ़ा जाय।

(२)

काकभुशुण्डि जब गरुड़से अपना इतिहास वर्णन कर रहे थे, तब उन्होंने अपने पूर्वजन्म-प्रसंगमें कहा——

एक बार हर मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम।
गुर आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
सो दयाल नहिं कहेउ कछु उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुर अपमानता सहि नहिं सके महेस॥

काकभुशुण्डिके इस अनुचित व्यवहारका परिणाम यह हुआ कि रुद्र भगवान्ने काकभुशुण्डिको घोर शाप दे दिया।

हाहाकार कीन्ह गुर दारुन सुनि सिव साप।
कंपित मोहि बिलोकि अति उर उपजा परिताप॥
करि दंडवत सप्रेम द्विज सिव सन्मुख कर जोरि।
बिनय करत गदगद स्वर समुझि घोर गति मोरि॥

गुरुकी भक्तिसनी कोमल वाणीमें स्तुति सुनकर आशुतोष कृपाल प्रसन्न हो गये। उन्होंने गुरुको वरदान दिया। गुरुने शंकर भगवान्को प्रसन्न देखकर उनसे यह प्रार्थना की——

एहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना॥

इस प्रकार काकभुशुण्डिके गुरुकी आर्त प्रार्थनापर महादेवजीने काकभुशुण्डिके 'परम कल्याना'के निमित्त जो रहस्य बतलाया वह यह था——

सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई॥

ज्ञान और भक्तिके गूढ़तम रहस्यको जाननेवाले शंकर भगवान्ने 'द्विज सेवकाई'के व्रतको 'हरितोषन व्रत' कहा। काकभुशुण्डिको यह संदेह न रहे कि वे 'द्विज' कौन हैं, जिनकी सेवासे हरि तृप्त हो जाते हैं इसलिये शंकर भगवान्ने ब्राह्मणका अर्थ दूसरी ही पंक्तिमें स्पष्ट कर दिया। उन्होंने कहा——

अब जनि करहि बिप्र अपमाना।

क्योंकि——

जानेसु संत अनंत समाना।

अर्थात् संतको——विप्रको——अनन्तके समान, भगवान्के समान जानना। इस प्रकार विप्रकी शंकर भगवान्ने संतके साथ समानता प्रतिपादित की।

अब जनि करहि बिप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना॥

इस अर्धालीमें 'विप्र' और 'संत' शब्दोंका पर्यायवाची प्रयोग हुआ है। इसलिये विप्रके लक्षण जाननेके लिये संतके गुण जानने आवश्यक हैं।

श्रीरामचरितमानसके आरम्भमें संतोंके गुणोंकी चर्चा करते हुए भक्तवर तुलसीदासजीने कहा है-—

संत सरल चित जगत हित···

और किस प्रकार संत जगत्-हित करते हैं यह समझाते हुए कविवर कहते हैं—

जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा ।

संतोंका जीवन दूसरोंके कल्याणार्थ अर्पित होता है और विप्रोंका गुण भी यही है कि वे परहितरत हों । इसीलिये काकभुशुण्डिके गुरुकी शिष्यकल्याणरत वाणीको कविवर तुलसीदासजीने 'विप्र गिरा' कहा है; क्योंकि काकभुशुण्डिके गुरुकी गिरा दूसरेके हितका साधन कर रही थी ।

विप्र गिरा सुनि पर हित सानी ।

गोस्वामीजीने उन गुरुके लिये 'विप्र' और 'द्विजवर' शब्दोंका प्रयोग किया है, जो काकभुशुण्डि-जैसे शिष्यसे अपमानित होनेपर भी शिष्यके कल्याणकी ही प्रार्थना शंकर भगवान्से करते हैं ।

सुनि बिनती सर्बग्य सिव देखि बिप्र अनुरागु ।
पुनि मंदिर नभबानी भइ द्विजबर बर मागु ॥

गुरुको 'विप्र' और 'द्विजवर' शब्दोंसे सम्बोधन करनेका कारण यह है कि गोस्वामीजीके कथनानुसार ब्राह्मणको विशेष प्रकारसे क्षमाशील होना चाहिये । इसी आशयसे श्रीरघुनाथजीने धनुषभङ्गके उपरान्त कुपित परशुरामको स्मरण दिलाया था कि—

चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी ।

और जब यह ब्राह्मणोचित कृपाका गुण परशुराममें लुप्त हो गया, तब उनका ब्रह्मबल दुर्बल पड़ गया और वे अजेय ब्राह्मण—श्रेष्ठ होते हुए भी एक क्षत्रिय राजकुमारसे पराजित हुए ।

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें प्रजाको उपदेशवाले प्रसंगमें श्रीरघुनाथजीने सबको यह विश्वास दिलाया—

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा । मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा । जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा ॥

यहाँ प्रश्न यह होता है कि वे कैसे द्विज होने चाहिये, जिनकी सेवा करनेसे देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं ? इसका उत्तर शंकर भगवान्के निम्नलिखित शब्दोंसे स्पष्ट है—

छमासील जे पर उपकारी । ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी ॥

अर्थात् क्षमाशील ब्राह्मण, जो संतोंके समान पर-उपकारी हों वे ही खरारिके समान—श्रीरघुनाथजीके समान मुझे प्रिय हैं । शंकर भगवान्ने क्षमाशील संत-स्वभाव ब्राह्मणको देवताके समान पदवी दी ।

(३)

ब्राह्मणका धर्मपर अटल रहना उसका विशेष गुण है । धर्म भी ब्राह्मणका गोस्वामीजीके अनुसार वैदिक-धर्म होना चाहिये । जिस ब्राह्मणका ऐसा आचरण नहीं होता, उसकी गति गोस्वामीजी शोचनीय समझते हैं । मुनिवर वशिष्ठ कहते हैं—

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना । तजि निज धरमु बिषय लय लीना ॥

इसी आशयसे शंकर भगवान्ने गिरिजाजीसे कहा—

धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई ।

ब्राह्मणका धर्म यह है कि वह परमार्थ-तत्त्व ग्रहण करके लोगोंको भक्ति-पथपर अग्रसर करे । जब श्रीरघुनाथजी मुनि विश्वामित्रके आश्रममें जाकर रहे तब वहाँ—

भगति हेतु बहु कथा पुराना । कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना ॥

विप्रका यही धर्म है कि वह स्वयं परमार्थी हो और दूसरोंको भी परमार्थ-पथपर ले चले । एक उत्कृष्ट विप्रका वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

बिप्र एक बैदिक सिव पूजा । करइ सदा तेहि काज न दूजा ॥
परम साधु परमारथ बिंदक । संभु उपासक नहिं हरि निंदक ॥

गोस्वामीजीका कथन है कि विप्रका एक ही कर्म है और वह यह कि विप्र सदा पूजा करता रहे, हर समय भगवत्-आराधनामें मग्न हो । विप्र साधु ही नहीं, बल्कि 'परम साधु' होता है; क्योंकि उसका सम्पूर्ण जीवन दूसरोंके कल्याणके लिये, परहितके लिये समर्पित रहता है । अतएव विप्र परम धार्मिक होता है; क्योंकि परहितमें तत्पर रहना धर्मका लक्षण है जैसा श्रीरघुनाथजीका वचन है—

पर हित सरिस धरम नहिं भाई ।

इस प्रकार परहितस्वरूप धर्ममें लगा हुआ विप्र परमार्थ-बिंदक—अर्थात् आत्मतत्त्ववेत्ता हो जाता है । कर्मसे 'बैदिक सिव पूजा करइ'; मनसे 'परम साधु' और वचनसे 'नहिं हरि निंदक' तीनों प्रकारसे विप्र शुद्ध सात्त्विक होते हैं । ऐसे ही ब्राह्मणोंकी वन्दना गोस्वामीजीको अभीष्ट है । जब उन्होंने ब्राह्मण-वन्दना की और कहा—

बंदउँ प्रथम महीसुर चरना ।

तब उन्होंने ब्राह्मणकी परिभाषा भी स्पष्ट कर दी। उनके विचारसे महीसुर वे ही हैं; वन्दनीय ब्राह्मण वे ही हैं, जो जन्मसे ब्राह्मण होते हुए मोह-भ्रमनाशक भी हैं।

मोह जनित संसय सब हरना।

आत्मतत्त्ववेत्ता होना ही यथेष्ट नहीं है, केवल परमार्थ-ज्ञाता होनेसे ही काम नहीं चलता, परहितकारक होनेके नाते ब्राह्मणके लिये परमार्थ-ज्ञानसे दूसरोंका मोहजनित संशयहरण करना उसका धर्म है।

बिनु सतसंग बिबेक न होई।

बिना जिनके सत्संगके ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और अविवेक नहीं मिट सकता, ऐसे ही संतस्वरूप द्विज सच्चे ब्राह्मण हैं, वे ही वन्दनीय हैं, जो परमार्थबिंदक होकर लोगोंके मोहजनित संशयको हरण करते हैं, अज्ञानरूप अन्धकारका हरण करते हैं। यही ब्राह्मणका धर्म है और यदि कोई ब्राह्मण इस धर्मको भूल जाय और विषय-लयलीन हो जाय तो निश्चय ही उसकी दशा बहुत शोचनीय है।

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥

ब्राह्मणको ब्रह्मकी जिज्ञासामें लीन रहना चाहिये, न कि विषय-भोगमें। 'परमार्थ बिंदक' होनेके नाते विप्र रामानुरागी होते हैं। ऐसा होना उनके लिये ठीक भी है; क्योंकि यदि विप्र रामानुरागी न हो तो पूजामें सदा लीन कैसे रहे? वैदिक पूजा करना ही विप्रका सबसे बड़ा और एकमात्र कार्य है।

तेहि काज न दूजा।

जो रामानुरागी होते हैं उनका यह स्वभाव होता है कि—

रमाबिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

रामभक्त, रामानुरागी रमाविलासको भी त्याज्य समझते हैं और उससे दूर रहते हैं। इसलिये गोस्वामीजीने ऐसे विप्रोंकी दशा शोचनीय बतलायी है जो रामानुरागी होनेके स्थानपर विषयानुरागी हों। सच्चे ब्राह्मण सदाचारके निकेतन होते हैं और दयालु-स्वभाव होते हैं।

द्विज दयालु अति नीति निकेता।

'नीतिनिकेता'से यहाँ राजनीति या लोकनीति अथवा व्यावहारिक नीतिके निकेत होनेका भाव नहीं है। शंकर भगवान‌का वचन है—

नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥

'नीतिनिकेता'का अर्थ है 'श्रुतिसिद्धान्त'को ठीकसे जाननेवाला, इसलिये विप्रको श्रुति-सिद्धान्तके ज्ञानमें निपुण होना चाहिये। श्रुति-सिद्धान्तका तत्त्व क्या है जिसके जानने और समझनेकी निरन्तर लालसा विप्रको बनी रहती है, इसे गोस्वामीजीने पार्वतीजीके श्रीमुखसे स्पष्ट करवाया है। आर्त्त भावसे वे शंकर भगवान‌से विनयपूर्वक कहती हैं—

बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि।
बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि॥

अतएव—'श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना' जिन्होंने श्रीरघुनाथजीके गुणोंका निरन्तर गान करना सीखा। विप्र संत हैं, परहितरत हैं, जग-मङ्गल-अभिलाषी हैं तो इनके लिये श्रीरघुनाथजीके गुण-ग्रामके निरन्तर गानसे अधिक प्रिय कौन-सी वस्तु हो सकती है? सिवा श्रीरघुनाथजीके गुणोंके और कौन-सी वस्तु जग-मङ्गलकारक है?

जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥
सद्गुर ग्यान बिराग जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के॥
जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के॥

ऐसे ही भक्त ब्राह्मणोंको गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानस-सरके रखवारोंकी पदवी दी है—

जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन महीसुरोंको गोस्वामीजीने प्रथम वन्दनीय समझा, वे केवल जन्मसे ब्राह्मण होनेके कारण पूज्य नहीं थे। कलिकालके पथभ्रष्ट ब्राह्मणोंका वर्णन तुलसीदासजीने तीन स्थानोंपर इस प्रकार किया है—

(क) द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
(ख) बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥
(ग) × × × द्विज चिह्न जनेउ उघार तपी।

कलियुगके पतित ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें तुलसीदासजीने यह कहा है कि वे वेदोंको बेचनेवाले हैं अर्थात् वेदोंका श्रुतिसम्मत अर्थ न करके स्वार्थवश धनके लोभसे लोगोंको प्रसन्न करनेके लिये, उनकी हाँ-में-हाँ मिलानेके लिये अर्थका अनर्थ करते हैं। कहाँ तो गोस्वामीजीके कथनानुसार वैदिक पूजामें निरन्तर मग्न ब्राह्मण और कहाँ कलियुगके भ्रष्ट ब्राह्मण जो निगमकी आज्ञाका पालन ही नहीं करते। ऐसे भ्रष्ट ब्राह्मण अपढ़, लोभी, कामी, शुभाचार-विमुख, मूर्ख और नीच जातिकी व्यभिचारिणी स्त्रियोंके स्वामी होते हैं। कलियुगमें द्विजका चिह्न जनेऊमात्र रह जाता है, जैसे नंगे बदन रहना तपस्वियोंका एकमात्र चिह्न है। इस प्रकार गोस्वामीजीने पथभ्रष्ट ब्राह्मणोंके अवगुणोंके वर्णनमें संकोच

नहीं किया है । निश्चय ही ऐसे अवगुणप्रधान असंत ब्राह्मणोंके लिये तुलसीदासजीने यह नहीं कहा—

बंदउँ प्रथम महीसुर चरना ।

क्योंकि वे मोहजनित संशयोंके हरणमें असमर्थ हैं । जिन द्विजोंको उन्होंने वन्दनीय माना, वे शुद्ध सात्त्विक, पर-उपकारी, क्षमाशील, परमार्थचिन्तक, श्रुति-सिद्धान्तके निचोड़रूप रामगुण-ग्रामके निरन्तर गायक, हर समय भगवदाराधनामें लीन महापुरुष हैं । वे तपस्वी हैं; क्योंकि श्रीरामचरितमानसमें कहा है कि—

तपबल बिप्र सदा बरिआरा ।

तपबलसे ही ब्राह्मण सदा बलवान् रहते हैं ।

चित्रकूटमें जब गुरु वशिष्ठको, माताओंको, भरतको, अयोध्यावासियोंको और राजा जनक और उनके समाजको रहते-रहते कुछ दिन बीत गये तब एक दिन—

नहाइ गुर पहिं रघुराई । बंदि चरन बोले रुख पाई ॥
भरतु पुरजन महतारी । सोक बिकल बनबास दुखारी ॥
सहित समाज राउ मिथिलेसू । बहुत दिवस भए सहत कलेसू ॥
उचित होइ सोइ कीजिअ नाथा । हित सबही कर रौरें हाथा ॥

गुरु वशिष्ठने यह स्नेह और शीलयुक्त श्रीरघुनाथजीके वचन राजाको सुनाये । राजा जनक श्रीरघुनाथजीके वचन सुनकर प्रेममग्न हो गये । उनका ज्ञान और वैराग्य छूट गया ।

सिथिल सनेहँ गुनत मन माहीं । आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं ॥
हि रायँ कहेउ बन जाना । कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना ॥
अब बन तें बनहि पठाई । प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई ॥
मुनि महिसुर सुनि देखी । भए प्रेम बस बिकल बिसेषी ॥

कविवर तुलसीदासजीने इस चौपाईमें 'महिसुर' को 'तापस' और 'मुनि' के साथ एक ही श्रेणीमें रखकर 'महिसुर' के वास्तविक रूपकी ओर संकेत किया है । यह रूप अयोध्याकाण्डके २४४ वें दोहेके बादके प्रसंगसे और भी स्पष्ट हो जाता है, जहाँ अयोध्यासे आये हुए लोगोंके साथ श्रीरघुनाथजीके मिलनेका प्रसंग है । माताओंसे मिलनेके बाद दोनों भाइयोंने ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंसहित गुरुपत्नी अरुन्धतीके चरणोंकी वन्दना की ।

तिय पद बंदे दुहु भाईं । सहित बिप्रतिय जे सँग आईं ॥

इसके बाद नौ पंक्तियोंके पश्चात् महारानी श्रीसीताजी भी उन्हीं स्त्रियोंसे मिलीं; जिनसे श्रीरघुनाथजी और लखनलाल मिल चुके थे ।

सीय आइ मुनिबर पग लागी । उचित असीस लही मन मागी ॥
गुरपतिनिहि मुनि तियन्ह समेता । मिली प्रेमु कहि जाइ न जेता ॥

श्रीरघुनाथजी और लखनलाल जिन स्त्रियोंसे मिलते हैं वे 'गुरतिय' और 'बिप्रतिय' हैं । और जब महारानी श्रीसीताजी उन्हीं स्त्रियोंसे मिलती हैं तब कविवर तुलसीदासजी 'गुरपतिनि' और 'मुनितिय' शब्दोंका प्रयोग करते हैं । 'गुरतिय' के स्थानपर 'गुरपतिनि' और 'बिप्रतिय'के स्थानपर 'मुनितिय' का प्रयोग कविवरने किया है । इस प्रकार 'मुनि' शब्द 'विप्र'के पर्यायवाचीके रूपमें प्रयोग हुआ है । गोस्वामी तुलसीदासजीकी दृष्टिमें जो वन्दनीय महीसुर हैं, वे तापस और मुनिकी श्रेणीके हैं । वे उन ब्राह्मणोंके समान नहीं हैं जो केवल जनेऊधारी होनेके कारण अपनेको ब्राह्मण कहलानेके अधिकारी समझते हैं । ऐसे हरिभक्त, परकल्याण-रत, धर्मात्मा, परमार्थवादी, मुनिसमान विप्रके प्रति गोस्वामीजीका इतना अधिक आदर था कि उन्होंने यहाँतक कह दिया कि शाप देता हुआ, मारता हुआ और कठोर वचन कहता हुआ भी ब्राह्मण पूज्य है—

सापत ताड़त परुष कहंता । बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ॥

तुलसीदासजी यह नहीं कहते हैं कि यह बात मैं कह रहा हूँ और यह मेरा विचार है । वे कहते हैं कि यह बात मैंने संतोंसे बार-बार सुनी और विस्तारसे सुनी—'गावहिं संता ।' शंकर भगवान्‌का वचन है—

उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

गोस्वामीजीके मतानुसार जो वन्दनीय महीसुर हैं, वे रामानुरागी हैं, वे रामचरण-रत हैं । ऐसे मुनि-तुल्य संत कैसे किसीसे विरोध कर सकते हैं । भक्तवर तुलसीदासजीकी भाषामें विप्र कहलानेके अधिकारी वे ही हैं, जो पर-उपकारी, परमार्थी, विशद रामयशके निरन्तर गायक, विषय-त्यागी और तपस्वी हैं । और यदि ऐसा कोई महात्मा किसीको शाप देनेका, मारनेका, कठोर वचन कहनेका नाटक कर रहा है तो निश्चय ही इसमें कोई-न-कोई कल्याणप्रद रहस्य निहित है । इसलिये ऐसे कठोर कर्म करते हुए भी एक उत्कृष्ट संतस्वरूप विप्र पूज्य है ।

* * *

प्रदक्षिणाकी महिमा और विधि

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

प्रदक्षिणा पूजाका एक भावपूर्ण आवश्यक अङ्ग है। इसके पग-पगमें अनन्त पाप नाश होते हैं। मनुने देवता, गौ, ब्राह्मण, चौराहे आदिकी प्रदक्षिणा करनेकी आज्ञा दी है। (४। ३९) दिलीपने नन्दिनी गौकी प्रदक्षिणा नहीं की, तो उन्हें पुत्र न उत्पन्न होनेका शाप लग गया *। गोवर्धन, चित्रकूट (कामदगिरि), काशी, व्रज आदिकी परिक्रमाएँ ही बनी हुई हैं। तन्त्रसार (चौखंबा सं०) पृ० ८२ के अनुसार विष्णुकी प्रदक्षिणाका पुण्य पृथ्वीदानके तुल्य बतलाया गया है—

वेदविद्भ्यो धरां दत्त्वा यत्फलं लभते नरः।
तत्फलं लभते भक्त्या कृष्णे कृत्वा प्रदक्षिणम्॥

स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्डके मार्गशीर्षमाहात्म्यमें बतलाया गया है कि मार्गशीर्षमें विष्णुकी एक प्रदक्षिणा मानो सारी पृथ्वीकी ही प्रदक्षिणा है। तीन प्रदक्षिणाओंसे सात दिनके पाप नष्ट होते हैं। एक सौ आठ प्रदक्षिणासे सभी यज्ञोंका फल प्राप्त हो जाता है। माता, शालग्राम शिला तथा पृथ्वीकी परिक्रमा एक समान है—

अष्टोत्तरशतं येन कृता भक्त्या प्रदक्षिणाः।
तेनेष्टं क्रतुभिः सर्वैः समाप्तवरदक्षिणैः॥
मातुः प्रदक्षिणा तद्वद् भूतधात्रीप्रदक्षिणाः।
शालग्रामशिलायाश्च सममेतत्त्रयं स्मृतम्॥

(स्कं० वैष्णवखंड मार्ग० माहा० १०। १३, १८)

'विश्वसारतन्त्र' के अनुसार हाथमें शङ्ख लेकर प्रदक्षिणा करनी चाहिये—

शङ्खहस्तेन सर्वत्र दक्षिणं परिकीर्तितम्।

रुद्रयामलके अनुसार किसी भी देवताकी एक बार प्रदक्षिणा निषिद्ध है—

एकहस्तं प्रणामश्च एकं वापि प्रदक्षिणम्।
अकाले दर्शनं विष्णोर्हन्ति पुण्यं पुराकृतम्॥

पर शिवजीकी प्रदक्षिणा तो आधी ही की जाती है—

अर्द्धचन्द्रं महेशस्य पृष्ठतश्च समीरिता।
शिवप्रदक्षिणे मन्त्री अर्धचन्द्रक्रमेण तु॥
सव्यासव्यक्रमेणैव सोमसूत्रं न लङ्घयेत्।

(तन्त्रसार, रुद्रयामल)

इसमें अर्धचन्द्रके क्रमसे सोमसूत्र (मन्दिरके पीछे जल निकलनेकी पतली नाली) तक जाकर पुनः वापस लौट आनेकी विधि है। मेरुतन्त्र, यामल, तन्त्रसार, कालिकापुराण आदिमें प्रदक्षिणाकी विधि इस प्रकार बतलायी गयी है—

प्रसार्य दक्षिणं हस्तं स्वयं नम्रशिरा पुनः।
दर्शयेद्दक्षिणं पार्श्वं मनसापि च दक्षिणः॥
त्रिधा च वेष्टयेत् सम्यग् देवतायाः प्रदक्षिणम्।

(कालिकापुराण अध्याय ७०। ८)

अर्थात् दाहिने हाथको फैलाकर, सिर झुकाकर, दाहिनी ओर देखते हुए, मनमें श्रद्धा रखकर, तीन बार देवताको फेरी देना—वेष्टन करना प्रदक्षिणा कहलाती है।

प्रदक्षिणा कितनी बार ?

पूर्वोक्त यामलादिके वचनानुसार किसी भी देवता (शिवको छोड़कर) की तीन बार ही परिक्रमाकी विधि है। प्राचीन ग्रन्थोंके अनुसंधानसे यही पद्धति समीचीन भी सिद्ध होती है। भागवतमें ब्रह्माजी वत्सोपहरण-लीलाके बाद जाते समय भगवान् श्रीकृष्णकी तीन बार परिक्रमा करते हैं—

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४१)

वाल्मीकि, अध्यात्म आदि रामायणोंमें भी यही प्रथा दृष्टिगोचर होती है—

'प्रदक्षिणं चापि चकार राघवम्' **'प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा दण्डवत् प्रणिपत्य तम्'** (अध्यात्म० २। १। ४०)

शिवपुराण, कैलाससंहिता ११। ३६ में वामदेवजी कार्तिकेयजीकी तीन प्रदक्षिणाएँ करते हैं-

---

* **इसी** प्रकार काशीखण्ड ८८। ५५-५६ में कहा गया है कि भगवती सतीने दक्षयज्ञमें जाते समय शिवजीकी प्रदक्षिणा नहीं की थी, अतएव वे वापस न लौट पायीं—

न ननाम महादेवं न च चक्रे प्रदक्षिणम्।
अतएव हि सा देवी गता न पुनरागता॥
अप्रणम्य महेशानं अकृत्वापि प्रदक्षिणम्।
अद्यापि न निवर्तन्ते गताः प्रावासरा इव॥

इति स्तुत्वा वामदेवो देवं सेनापतिं प्रभुम् ।
प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥
(शिवपु० कैलाससं० ११ । ३६)

'ब्रह्मपुराण'में पुरुषोत्तमक्षेत्रके कल्पवृक्षवटकी तीन प्रदक्षिणा करनेका आदेश है—

कल्पवृक्षं ततो गत्वा कृत्वा तं त्रिः प्रदक्षिणम् ।
(५७ । १२)

वहीं श्रीजगन्नाथजीकी भी तीन प्रदक्षिणा निर्दिष्ट है—

प्रविश्यायतनं विष्णोः कृत्वा तं त्रिःप्रदक्षिणम् ।
(५७ । २१)

प्रदक्षिणं प्रकुर्वीत त्रिवारं सुसमाहितः ।
(६० । १४)

ऐसा ही क्रम शाकुन्तल, रघुवंश आदिमें दीखता है। किंतु जहाँ-तहाँ इसका अपवाद भी दीखता है। काशीखण्ड ४८ । ५६ तथा ६१ । १२८ में भगवान् शिव तथा सूर्यकी आठ प्रदक्षिणा करनेकी अनुमति है—

अष्टौ प्रदक्षिणा देयाः प्रत्यहं भक्तितत्परैः ।
नमनीयौ प्रयत्नेन भवानीशंकरौ सदा ॥
इत्यादि । (६१ । १२८)

नारदपुराण भागवततन्त्र, ६७ । १०५ में विष्णु, शिव, चन्द्र, सूर्य और गणेशकी क्रमशः चार, आधी, एक, सात तथा तीन परिक्रमाका विधान है—

नत्वा च दण्डवन्मन्त्री ततः कुर्यात् प्रदक्षिणाम् ।
विष्णूसोमार्कविघ्नानां वेदार्धैन्द्वद्रिवह्नयः ॥

अन्यत्र भी कहा गया है—

प्रदक्षिणा रवेः सप्त तिस्रः कुर्याद् विनायके ।
चतस्रः केशवे कुर्याच्छिवस्यार्द्धं प्रदक्षिणा ॥
इत्यादि ।

विभिन्न धर्मोंमें विकृत प्रथा

अन्य धर्मोंमें भी इसका कोई-न-कोई रूप अवश्य मिलता है। 'महानिर्वाणसूत्त' में आता है कि गौतम बुद्धके पाँच सौ शिष्योंने उनकी चिताकी प्रदक्षिणा की थी। चीन, जापानके भी बौद्ध-मन्दिरोंमें परिक्रमाएँ बनी हैं। यूनानी कवि होमरने लिखा है कि 'युद्धमें जाते समय अचलिसने सेनासहित पेट्रॉलिक्सकी प्रदक्षिणा की थी। एथेन्समें पहले प्रदक्षिणाकी प्रथा थी। अब भी बच्चा पैदा होनेपर लोग वहाँ चूल्हेकी प्रदक्षिणा करते हैं। रोमन कैथोलिक ईसाइयोंके कुछ सम्प्रदायोंमें विवाहके समय वर-वधू वेदीकी प्रदक्षिणा करते हैं। यह भारतीय सप्तपदी (भाँवरी) की ही नकल है। बाबरद्वारा बीमार हुमायूँकी प्रदक्षिणा इतिहास-प्रसिद्ध है। स्काटलैण्डवाले दिसम्बरकी अन्तिम रातमें अपने घर या खेतकी प्रदक्षिणा करते हैं। हज करनेवाले भी मक्कामें काबाकी प्रदक्षिणा करते हैं। इन सभीपर वस्तुतः भारतीय संस्कृतिकी ही छाप है।

* * *

संत कौन ?

इतने गुन जामें सो संत ।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत ॥
हरिको भजन, साधुकी सेवा, सर्वभूतपर दाया ।
हिंसा लोभ दंभ छल त्यागै, विष सम देखै माया ॥
सहनसील, आसय उदार अति, धीरजसहित विवेकी ।
सत्य वचन, सबको सुखदायक गहि अनन्य व्रत एकी ॥
इंद्रीजित, अभिमान न जाके करै जगत कौं पावन ।
'भगवतरसिक' तासु की संगति तीनहु ताप नसावन ॥
(श्रीभगवतरसिकदेवजी)

यह जादू भी अच्छा काम करता है, जरा प्रयोग करके देखिये

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

औरंगजेब मुगल वंशका अन्तिम प्रभावशाली सम्राट् हुआ। वह सबसे छोटा भाई था अपने भाइयोंमें, उम्रमें सबसे कम, पर बुद्धिमें सबसे चतुर, चींटी-जैसा काममें चिपटा हुआ। उसने अपने पिताको छल-बलसे जेलखानेमें डाला और एक-एक करके सब भाइयोंकी हत्या कर डाली। धोखा, झूठ, कपट, छल, फरेब, हत्या, खूँरेजी—जो कुछ भी सम्भव था, वह उसने काममें लिया। इस प्रकार जो छोटा भाई कभी शाहंशाह न बनता; वह भारतका सम्राट् हुआ।

और उसने भारतपर अस्सी वर्ष राज्य किया। हिंदू उसके नामसे काँपते थे, मुसल्मानोंका भी वह प्यारा न बन सका। उसका घरेलू और पारिवारिक जीवन भी सुखी और शान्त न रह सका।

इस भारत-सम्राट्की मानसिक अशान्तिका क्या कारण था?

क्या उसके पास रुपये-पैसे, शान-शौकत, नौकर-चाकरोंकी कमी थी? क्या शरीरकी सेवा करने या चिकित्सा करनेवाले डाक्टर उसके पास न थे? या सांसारिक वैभवकी कमी थी? नहीं, इनमेंसे किसीकी कमी उसके पास न थी। उसे संसारके समस्त वैभव, सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं।

पर उसके मनमें सबके प्रति घोर अविश्वास था। वह अनेकोंको मारकर या सताकर भारतका शाहंशाह बना था। इसलिये सभीको अपने शत्रुरूपमें देखता था। किसीपर किसी तरहका भी विश्वास नहीं करता था।

खाने-पीनेमें उसे अपने रसोइयापर विश्वास न था। उसे सदा डर था कि कोई उसे जहर न दे दे। उसे अपने सैनिकों, फौजके अफसरों, कार्यकर्ताओं, पुत्र-पुत्रियों, मातहतों—किसीपर भी विश्वास न था। वह सभीको धोखेबाज, मक्कार, बेईमान, झूठे, फरेबी समझता था। उसके शासनकालमें अविश्वासका यह विषैला और दूषित वातावरण समग्र भारतमें विस्तृत होकर फैल गया। जनताको भी उसमें विश्वास न रहा। वे उससे घृणा करते रहे। औरंगजेब दमनसे काम लेता रहा। उसे यही डर रहता था कि न जाने किस ओरसे उसके प्रति विद्वेष, क्रान्ति और कटुताका ज्वालामुखी फूट पड़े। यह अविश्वास ही अन्ततः विशाल मुगल-साम्राज्यके क्षयका कारण बना।

यह है अविश्वासका कुप्रभाव!

विश्वाससे विश्वास पैदा होता है, किंतु अविश्वाससे अविश्वासका ही वातावरण फैलता है।

जब पिता पुत्रपर, माता पुत्रीपर, पति पत्नीपर, भाई भाईपर, ग्राहक दूकानदारपर, अफसर मातहतपर अविश्वासकी काली छाया डालता है, तो उससे घर, परिवार, दफ्तर, महकमे या समाजका सौख्य, प्रेम, पारस्परिक सद्भाव सब नष्ट हो जाता है। घृणाका जन्म होता है। हर व्यक्ति दूसरेसे डरता है।

अविश्वाससे घरमें स्थान-स्थानपर ताले पड़े रहते हैं। हर एक सन्दूक तथा अलमारीका अलग ताला होता है। घरका स्वामी तालोंकी कुंजियोंको मजबूतीसे पकड़े रहता है। कोई उसके संदूकके पास भी जाता है, तो उसे संदेहकी नजरसे देखता है। रात्रिमें जरा-सा खटका होते ही उसकी नींद खुल जाती है।

अविश्वासके कारण प्रत्येक पारिवारिक सदस्य एक-दूसरेसे अनेक बातोंको छिपाता है, एक दूसरेसे पैसे-पैसेका हिसाब पूछता है। यदि संयोगवश कोई वस्तु यथास्थान न मिले तो चोरीका भ्रम उत्पन्न होता है। संदेहयुक्त व्यवहारसे कटुता उत्पन्न होती है।

अविश्वासके उत्तरमें दूसरा भी अविश्वाससे जवाब देता है। सम्पूर्ण वातावरण अस्वस्थ विचारोंसे बोझिल हो जाता है।

विश्वास एक आध्यात्मिक शक्ति है

इंग्लैंडका एक पादरी विश्वासकी आध्यात्मिक शक्तिमें प्रगाढ़ विश्वास करता था। वह प्रायः कहा करता था कि विश्वासके सही प्रयोगद्वारा बुरे आदमीमें भी सद्गुणों, सत्-प्रवृत्तियों और शुभ संकल्पोंको विकसित किया जा सकता है।

उसका द्वार सदा-सर्वदा यात्रियों, कष्टपीड़ितों, दीनहीन, गरीबों अर्थात् हर किसीके लिये खुला रहता था। दिन तो क्या, राततकमें वह आतिथ्य करनेसे न चूकता था। जो कोई उसके घरमें एक बार आतिथ्य पा लेता था, उसके प्रेमभाव, सेवा, सहयोग और भलमनसाहतसे प्रभावित हुए बिना न रहता था।

एक बार कैदसे छूटा हुआ एक भयंकर अपराधी रातको शरण लेनेके लिये उसी नगरमें इधर-उधर फिर रहा था।

उसे पादरीका द्वार खुला हुआ दीखा । अंदर रोशनी चमक रही थी । उसने उसमें प्रवेश किया ।

पादरी प्रेमकी साक्षात् प्रतिमा था । उसने बड़े प्यारसे उसका स्वागत किया । भोजन कराया, विश्रामके लिये चारपाई दी । रात्रिमें जब अपराधी सो रहा था, तब उसके मनमें फिर चोरीकी बात आयी । जब सब सो रहे थे, तब उसने पादरीके दो चाँदीके दीपदान चुरा लिये, किंतु जब वह चुराकर जा रहा था, पुलिसके द्वारा वह पकड़ा गया । जब वह पादरीके सम्मुख लाया गया, तब उसने कहा—'ये मेरे प्रिय मित्र हैं । मैंने ये दीपदान इन्हें उपहारके रूपमें दिये हैं । आप इन्हें छोड़ दीजिये ।'

वह अपराधी छोड़ दिया गया, पर उसके मनमें धक्का लगा । उसके ज्ञानके नेत्र खुल गये । अपने पापपर उसे पश्चात्ताप हुआ । उसे चोरी, डकैती, अन्याय, झूठ, कपटसे घृणा हो गयी । उसकी जगी हुई आत्माने उसे न्याय, सत्य और विवेकके पथपर अग्रसर किया । उसने अच्छा नागरिक बननेका प्रयत्न किया और एक दिन आया जब वह बदलकर एक श्रेष्ठ भला नागरिक बन गया । यह था पादरीके भले व्यवहारोंका शुभ चमत्कार !

जब आप किसीको शुभ संकेत देते हैं, उसके साथ सद्व्यवहार करते हैं तो उसकी भलाईको जाग्रत् करते हैं । शुभ संकेतोंसे मनमें सोया हुआ देवत्व जाग उठता है । मनुष्यका नया जन्म होता है ।

दूसरोंके भले और उत्तम गुणोंको सक्रिय कीजिये । यदि आपको किसीमें कोई भली बात, कोई दैवी गुण, कोई श्रेष्ठता दिखायी देती है, तो उसकी जी खोलकर प्रशंसा कीजिये । आपके इस प्रोत्साहनसे उस व्यक्तिका दैवी पक्ष जाग उठेगा ।

संसारमें कोई व्यक्ति बुरा नहीं है । सबमें श्रेष्ठताएँ भरी हुई हैं । आवश्यकता एक ऐसे व्यक्तिकी है, जो अच्छाईको लगातार प्रोत्साहन देकर बढ़ाता रहे । कैसे दुःखकी बात है कि हम मनुष्यको उसकी त्रुटियोंके लिये तो सजा देते हैं, पर उसकी अच्छाईके लिये प्रशंसामें कंजूसी करते हैं ।

यदि आप विश्वासके साथ दूसरेको अच्छा कहें, तो निश्चय ही वह श्रेष्ठ बनेगा । मनको अच्छाईपर जमाइये, सर्वत्र अच्छाई ही बढ़ेगी । आपके तथा दूसरेके मनमें बैठे हुए देव जाग्रत् और चैतन्य होकर उसका देवत्व बढ़ेगा ।

स्मरण रखिये, दोषोंके चिन्तनसे हानि-ही-हानि है । अपने या दूसरोंके दोषोंका चिन्तन करने, बार-बार कहने या विचार करनेसे वे ही उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं । जो मनुष्य नित्य अपने-आपको गलत या कुवाक्य कहता है, वे चाहे झूठ ही क्यों न हों, मनमें सत्य जँचने लगते हैं । बार-बार कही हुई बात सत्य प्रतीत होने लगती है । इसलिये सदा सबके लिये शुभ ही उच्चारण कीजिये । जो निराश, दुखी और अपने विषयमें दीन-हीन विचार रखते हैं, उन्हें भी सदा शुभ संकेत दीजिये । जो आपके लिये अशुभ वचन बोलते हैं, उनके विषयमें भी शुभ विचार और शुभ विश्वास ही प्रकट कीजिये । जिसपर विश्वास करेंगे, वह विश्वास ही लौटायेगा ।

अपकारिषु यः साधुः पुण्यभाक् स उदाहृतः ।
(ब्रह्मपुराण ८० । ५५)

जो अपकार करनेवालेकी भी भलाई करता है, उसे पुण्यात्मा कहा है ।

मंगल सोचो, मंगल करो

करो न पर-दोषोंका चिन्तन-कथन कभी भी किसी प्रकार ।
करो न कुछ तन-मन-वाणीसे कभी किसीका भी अपकार ॥
देखो थोड़े-से गुणको भी, उसे बढ़ाओ कर सत्कार ।
प्रोत्साहन दो निज-परकी शुभ वृत्ति मात्रको सभी प्रकार ॥
मंगल ही सोचो नित मनमें, करो सभी मंगल-आचार ।
सोचो, करो वही, जिसमें हो दैवी सम्पद्का विस्तार ॥
कभी किसीका जी न दुखाओ, दो न किसीको भी दुत्कार ।
सबमें सदा विराजित ईश्वर, देखो उसे, करो सत्कार ॥

हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ?

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हममें परिवर्तन न होनेके तीन कारण हो सकते हैं—

१. यह मान बैठना कि हममें कोई दोष है ही नहीं या हमारा दोष ही हमारा गुण है, हमारी विशेषता है, हमारी पर्सनेलिटी (व्यक्तित्व) है ।

२. यह मान बैठना कि हममें कोई परिवर्तन हो नहीं सकता ।

३. सच्चे हृदयसे हम अपनेमें परिवर्तन करनेके लिये प्रयत्नशील नहीं होते ।

× × ×

मन्दिरमें हम जाते हैं । वहाँ हम भावविभोर होकर गाते हैं—

'मो सम कौन कुटिल खल कामी !
पापी कौन बड़ो जग मोतें सब पतितनमें नामी !!…'

पर वहींपर, या बाहर निकलनेपर कोई ज़रा-सी ऐसी बात कह दे जिससे हमारे किसी दोषका जरा-सा भी संकेत मिलता हो, फिर देखिये, हमारा गुर्राना, फुफकारना और बिगड़ना !

अब कोई पूछे कि 'क्या हो गया भाई ! अभी तो आप ही कह रहे थे—**'पापोऽहं पापकर्माऽहम्……!'** और मैंने जरा-सा बता दिया कि जी हाँ आप ठीक कहते हैं, तो आप इतने लाल-पीले क्यों होते हैं ?'

हमारे पास इसका कोई जवाब तो नहीं है, परंतु हम शब्दोंका मुलम्मा लगाकर अपनी कुछ-न-कुछ सफाई जरूर दे देंगे ।

कारण ?

कारण यही है कि हम ऊपरसे भले ही अपनेको विनम्र, विनयावनत आदि कुछ भी कहें, पत्रोंमें अपनेको दासानुदास, चरणरज, खाकसार आदि कुछ भी लिखें—भीतरसे हम न तो अपनेको किसीसे नीचा मानते हैं, न किसीसे कम । अपनेमें कोई दोष हम मानते ही नहीं ।

हम झूठे हैं, आप हमें 'झूठा' कह तो देखिये ! हम बेईमान हैं, आप हमें 'बेईमान' कह तो देखिये ! हम चरित्रहीन हैं, आप हमें 'लफंगा' कह तो देखिये ! हम चोर हैं, आप हमें 'चोर' कह तो देखिये । इधरकी उधर लगानेमें हमें बहुत रस आता है, आप हमें 'माहिल' कह तो देखिये ! दूसरोंके घरमें आग लगानेमें हमें मजा आता है, आप हमें 'जमालो' कह तो देखिये ! दूसरोंकी निन्दा करनेमें हमारे २४ में कम-से-कम १८ घंटे बीतते हैं, आप हमें जरा टोक तो दीजिये !

हमारा बस चलेगा तो हम आपको फाड़ खायेंगे । आपको गाली देनेमें, आपपर हाथ चलानेमें, आपका अनिष्ट करनेमें हम कोई भी बात उठा नहीं रक्खेंगे ।

क्यों ?

इसलिये कि आप हमारे मर्मपर प्रहार करते हैं । आप वहीं दबा रहे हैं जहाँपर हमारा जूता काटता है ।

आपका 'मूड' यदि कुछ ठीक हुआ और आपको समझाकर कोई बात कही गयी तो भी आप इतना कहकर टाल देंगे—'क्या करूँ, यह मेरा स्वभाव है, मेरी आदत है, मेरा 'नेचर' है ! यह तो नहीं बदल सकता ।'

'क्यों नहीं बदल सकता आपका स्वभाव ? आपकी आदत किसी औरकी डाली हुई तो है नहीं । आपने ही तो डाली है । आप चाहें तो उसे बदल भी सकते हैं ।'—आपसे यदि ऐसा कह दिया जाय तो आप तुरंत उखड़ जायँगे ।

× × ×

ऐन मौकेपर आपकी किसी कमजोरीको कोई पकड़ ले, तो आप यह कहकर छूटनेकी कोशिश करेंगे कि जाने दीजिये । हर आदमीमें कुछ-न-कुछ कमजोरी होती है । अब तो मेरी यह कमजोरी मेरे जीवनका अङ्ग बन गयी है । अच्छा हूँ, बुरा हूँ, जो हूँ सो हूँ । मेरी इस कमजोरीको जानते हुए भी आपको निभाना चाहिये ।

तमाशा यह है कि आप मुझसे ही क्यों, सभीसे ऐसी अपेक्षा रखते हैं कि सब लोग आपकी कमजोरीको निभाएँ, मगर आप खुद ? आप किसीकी कमजोरीको निभाना नहीं चाहते, निभाते भी नहीं ।

तौलनेके कैसे दो बटखरे हैं हमारे ये !

× × ×

तो, जिन्हें अपने दोष दोष ही नहीं लगते, अपनी कमजोरियाँ क्षम्य लगती हैं, अपनी आदतें सही लगतीं

है, अपनी कमियोंसे प्यार होता है, उन्हें कौन सुधार सकता है ? किसमें सामर्थ्य है जो उनमें कोई परिवर्तन कर सके ? सोते हुएको जगाया जा सकता है, जो जान-बूझकर आँखें बंद किये पड़ा है उसे कौन जगा सकता है ?

दोष किसमें नहीं होते ?

निर्दोष तो केवल एक परमात्मा है ।

जो लोग जान-बूझकर अपनी आँखोंपर पट्टी बाँधे हैं, उनको या तो अपने दोष दिखायी ही नहीं देते या दिखायी भी देते हैं तो वे उनकी तरफसे मुँह फेर लेते हैं । उनमेंसे अधिकांश लोग ऊपरसे पाक-साफ दीखनेकी कोशिश करते हैं, पर जबतक दिल साफ नहीं है, ऊपरी सफाईसे कहीं कोई साफ हुआ है ? मौका आता है और उनकी कलई खुल जाती है । पर्दा फाश हो जाता है । लोग कह उठते हैं—

उसकी बातोंसे समझ रखा है तुमने उसे खिज्र ।
उसके पाँवोंको तो देखो कि किधर जाते हैं !!

विनोबा कहते हैं 'गीताप्रवचन'में—

'पानी ऊपर साफ दीखता है । परंतु उसमें पत्थर डालिये, तुरंत ही अंदरकी गंदगी ऊपर तैर आयेगी । वैसी ही दशा हमारे मनकी है । मनके अन्तःसरोवरमें नीचे घुटनेभर गंदगी जमा रहती है । बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह दिखायी देने लगती है । हम कहते हैं, उसे गुस्सा आ गया । तो यह गुस्सा कहीं बाहरसे आ गया ? वह तो अंदर ही था । मनमें यदि न होता तो वह बाहर दिखायी ही न देता ।'

× × ×

यों हमारा पेट साफ ही मालूम होता है; पर एनिमा लेनेके बाद जब हम शौच जाते हैं, तब पता चलता है कि पेटमें कितनी गन्दगी भरी है । मनकी गन्दगीका भी तभी पता चलता है, जब हम विवेक और विचारके जलसे उसे धोते हैं ।

हम जब देखेंगे और गौरसे देखेंगे तो यह बात साफ हो जायगी कि हमारे मनके भीतर गन्दगी-ही-गन्दगी भरी है । कोई भी मौका आता है कि वह खटसे बाहर फूट पड़ती है । काम और क्रोध, लोभ और मोह, मद और मत्सरकी गन्दगी रोज ही तो हमारी आँखोंके आगे आती रहती है—नाना रूपोंमें, नाना वेषोंमें । तटस्थ व्यक्तिकी तरह किसी भी दिन हम आत्मविश्लेषण करने बैठें तो तुरंत जाहिर हो जायगा कि 'इस दूधमें कितना पानी है !'

पर न तो हमें इतनी फुरसत है कि हम अपनी डायरी लिखने बैठें और न हम उसकी कोई जरूरत ही मानते हैं । कभी यदि अपने दोषोंपर नजर पड़ भी जाती है तो हम यह मानकर उन्हें दूर करनेकी बात भी नहीं सोचते कि 'बूढ़े तोते राम-राम नहीं पढ़ते ।' हममें कोई परिवर्तन हो ही नहीं सकता । हम जो हैं सो ही रहेंगे ।

× × ×

८ मई १९६० से ८ जून १९६० तक विनोबाने चम्बलके डाकूग्रस्त क्षेत्रकी यात्रा की । उस यात्रामें मैं भी था उनके साथ । २० डाकुओंने उनके समक्ष आत्मसमर्पण किया और यह प्रतिज्ञा की कि 'अबतक हमसे बहुत गलत काम हुए, अब हम ऐसी गलतियाँ न करेंगे ।'

बीस डाकू, इश्तिहारी डाकू, जिनपर कई-कई हजारों रुपयोंके इनाम थे, विनोबाके चरणोंमें आकर गिरते हैं, अपनी बन्दूकें, गनें, स्टेनगनें, कारतूसें लाकर डाल देते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि हम अब लूट-मारकी, डकैतीकी, हत्या और अत्याचारकी जिंदगी छोड़ते हैं । भविष्यमें हम पवित्र जीवन बितानेका प्रयत्न करेंगे । विद्यारामने कहा ही—'आज तें हमाई नई जिन्दगी है रही है ।' (आजसे हमारा नया जीवन हो रहा है ।)

दुनिया चौंक पड़ी । लुक्का और लच्छी, कन्हई और तेजसिंह-जैसे लोगोंने जब अपना जीवन बदलनेका संकल्प किया तो बड़े-बड़ोंने दाँतोंतले अँगुली दबायी ।

पर हम तो हम ! हम तरह-तरहकी बातें कहने लगे । आखिर एक दिन अपने प्रवचनमें विनोबाको कहना पड़ा—

"बहुत-से लोग ऐसी बात करते हैं कि डाकुओंको रियायत मिली या मिलनेका भरोसा हुआ, इसीलिये वे शरण आये होंगे या पुलिसकी वजहसे पीड़ित हुए होंगे, इसलिये आये होंगे । ऐसा इसलिये होता है कि मनुष्यके मनमें यह भाव रहता है कि 'हमारा परिवर्तन तो हुआ नहीं, हम तो पापोंको छोड़ सके नहीं, दूसरोंने ऐसा कैसे किया होगा ?' लेकिन वे समझते नहीं कि अंदरका कारण और बाहरका कारण मिलकर ही काम बनता है ।"

महात्मा तुकारामकी जिंदगीके ३१ साल संसारमें गये उनकी पत्नी मर गयी । तरह-तरहकी आपत्तियोंसे वे गुजरे । लेकिन आज महाराष्ट्रकी हर झोपड़ीमें 'ज्ञानवर तुकाराम'का

जप चलता है । भगवान्‌के नामसे उनका नाम मिल गया है । किंतु ये लोग क्या कहते हैं ? 'तुकारामपर आफत गुजरी, इसलिये वे संसारसे विरक्त हो गये । उन्हें वैराग्य हो आया !' ऐसा कहनेवाले यह खयाल नहीं करते कि उससे दस गुनी विपत्ति आनेपर भी बेशर्मीसे संसारमें फँसे रहनेवाले असंख्य लोग हैं ।

ऐसा ही मान लिया जाय कि तुकारामको आपत्तिने परमेश्वरकी ओर ढकेल दिया । मैं मान लेता हूँ कि आपत्तिने डाकुओंको मेरे पास आनेकी प्रेरणा दी । गीतामें भगवान्‌ने कहा है, 'तू दुःखमय संसारमें आया है तो तू क्यों नहीं मेरी भक्ति करता ?' दुःखका उपयोग पश्चात्ताप होनेमें हुआ तो उस पश्चात्तापकी कीमत कम नहीं होती ।'

किसीका लड़का मर गया, तो वह विरक्त होता है । भोगपरायणता छोड़ता है; लेकिन बहुत लोग ऐसे भी हैं, जिनका लड़का मर जाता है, तो कहते हैं, 'ठीक है, दूसरा होगा !' उन्हें विरक्ति नहीं होती ।'

होता क्या है ? आज हम चाहते ही नहीं कि दुनियामें कोई सत्कार्य बने । इसलिये दूसरेमें विश्वास नहीं रखना चाहते । इसलिये नहीं कि हमारा हृदय खराब है, लेकिन हमारा अनुभव ही वैसा है । मैं मानता हूँ कि उन डाकुओंके मनमें परिवर्तन हुआ है। 'यह जिंदगी कुत्तेकी-सी है'—ऐसा मानकर ही उन्होंने समर्पण किया हो, तो भी समर्पण तो किया ! जितनी संख्यामें उन्होंने समर्पण किया, उतनी मात्रामें तो लोगोंको राहत मिली । यह सब परमेश्वरकी कृपा है ।'

× × ×

दीनबन्धु एण्ड्रूज !

कालेज-जीवन समाप्त कर जा पहुँचे दक्षिण-पूर्वी लन्दनके उस हिस्सेमें, जहाँ रहते थे—चोर, जुआरी, शराबी, ठग और धूर्त। चार वर्ष लगाये आपने वहाँ इन दीन भाइयोंकी सेवामें । इन्हीं लोगोंमें था एक ऐसा व्यक्ति, जिसे दुर्व्यसनोंकी लत-सी पड़ गयी थी । वह शराब पीकर खूब उपद्रव मचाता। नतीजा यह होता कि पकड़कर जेलमें ठूँस दिया जाता।

जब-जब वह जेलसे छूटकर आता, एण्ड्रूज बड़े प्रेमसे उससे मिलते और उसके कल्याणके लिये प्रभुसे प्रार्थना करते ।

अन्तमें एक दिन वह चिढ़कर बोल ही तो पड़ा—'आप क्यों पड़े हैं मेरे पीछे ? आप मुझे पक्का ईसाई बनानेपर तुले हैं ! पर मैं आपको साफ बता देना चाहता हूँ कि मुझे रत्ती भर विश्वास नहीं आपके भगवान्‌पर, आपके ईसापर !'

'भैया ! तुम भगवान्‌पर विश्वास करो या न करो, भगवान् तो तुमपर विश्वास करते हैं । वे तो तुमसे बराबर स्नेह करते हैं !'—कहते हुए एण्ड्रूजने हर बारकी तरह उसे फिर चिपटा लिया गलेसे !

न जाने कौन-सा जादू था एण्ड्रूजके इन शब्दोंमें। उस व्यक्तिका जीवन एकबारगी ही पलट गया ।

लोग हैरान थे उसका परिवर्तन देखकर ।

उससे पूछा गया—'क्यों भाई, आजकल तुम्हारा व्यवहार इतना ममतामय कैसे हो गया ? तुम्हारी वृत्ति ऐसी शान्तिमयी कैसे हो गयी ?'

वह बोला—'जानते नहीं ? भगवान् मुझे प्रेम करते हैं; फिर मुझे भी उनके विराट् प्रेमके उपयुक्त बनना चाहिये न ?'

कुछ दिनों बाद वह चला गया अफ्रीका और वहाँ अनेक वर्षोंतक पादरीके रूपमें जनताकी सेवा करता रहा।

× × ×

इन सब लोगोंके लिये जीवनका यह परिवर्तन यदि सम्भव है तो हमारे लिये क्यों नहीं है ?

* * *

भगवत्कृपाकी नित्य वर्षा

बरस रही है सबपर भगवत्कृपा, सहज ही नित्य निरंतर ।
जीव मात्रके सहज स्वजन हरि, भरे सभीके बाहर-भीतर ॥
सदा सभीके लिये वेगसे झरता कृपा-सुधाका निर्झर ।
परमाश्रय वे प्राणिमात्रके भेदरहित वे परम सुहृद् वर ॥

सूरका वात्सल्य

(लेखक—श्रीदिनेश भ्रमरजी एम्० ए०, रिसर्च स्कालर)

भक्ति-शृङ्गारकी मन्दाकिनी जो एक विशिष्ट सीमा-कूलोंमें प्रवाहित होती चली आ रही थी, उसे सूरदासने जनभाषाके व्यापक धरातलपर अवतरित करके संगीत और माधुर्यसे अभिमण्डित किया। भक्तिको भव्यता एवं उदात्तताका आभूषण पहनाते समय सूरने शृङ्गार एवं माधुर्यकी सार्वभौम सत्ताका जैसा जयघोष अपने काव्यद्वारा किया, वैसा उनसे पूर्व किसी भी लोकभाषामें नहीं हुआ। साम्प्रदायिक भक्ति-सिद्धान्तोंके प्रति पूर्ण आस्था रखते हुए भी सूरदासने काव्यकी व्यापकताको अक्षुण्ण रक्खा है। उनके मनका क्षितिज इतना विस्तीर्ण था कि लोक-परलोककी चिन्ताके साथ रस-रागरंजनका अतुल वैभव जुटाकर वे अमर-काव्यकी सृष्टि करनेमें समर्थ सिद्ध हो सके। जन-मानसको विमुग्ध करनेवाला उनका काव्य भक्तिका नवनीत है, जो भवत्रस्त विपन्नजनको स्निग्ध-शान्त करता हुआ मोहनमें लीन करनेकी अद्भुत शक्ति रखता है। सूर-साहित्यमें भक्ति और काव्यका जैसा अपूर्व सम्मिश्रण हुआ है, वैसा विश्व-साहित्यमें बहुत कम देखनेको मिलता है। भक्तिके आवेष्टनमें ही कई रस-सरिताएँ उन्होंने प्रवाहित कीं, जिनमें एक वात्सल्य रस भी है?

वात्सल्यका 'वत्सल' स्थायी भाव है। माता-पिताका पुत्रादिपर जो स्वाभाविक एवं नैसर्गिक स्नेह होता है, उसे वात्सल्य रस कहते हैं। वात्सल्य रस, वत्ससे व्युत्पन्न और पुत्रादिविषयक रतिका पर्याय है। विश्वनाथके अनुसार—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।

—भोजराजने भी शृङ्गारको रसराज सिद्ध करनेके प्रसङ्गमें अन्य रसोंकी गणना करते हुए उनकी संख्या 'वत्सल' रसको मिलाकर दस बतलायी है। विश्वनाथके समयतक आते-आते इसको सर्वाङ्गरूपसे मान्यता प्राप्त हो गयी। परवर्ती कालमें केशवदास, चिन्तामणि, भिखारीदास आदि प्रायः समस्त प्रमुख रीतिकालीन आचार्योंने इसकी उपेक्षा की है। भारतेन्दुने 'वात्सल्य'की गणना की है।

वात्सल्य-रसको परिपूर्णता यदि मिली किसी कविद्वारा, तो वह कवि सूरदास हैं।

सूरदासद्वारा इस वात्सल्यभावका इतना विस्तार किया गया कि 'सूर-सागर'को दृष्टिमें रखकर वात्सल्यको रस न मानना एक विडम्बना-सा प्रतीत होता है। हरिऔधने मूलतः इसी आधारपर वात्सल्यको रस सिद्ध किया है।

सूरदास वात्सल्यके प्रधान एवं विलक्षण व्यक्तित्ववाले कवि हैं। सूरकी ख्याति हिंदी-साहित्यमें विशेषतः उनके मनोमुग्धकारी वात्सल्य-वर्णनको लेकर ही है। कालिदासने भी वात्सल्य-रससे एक छन्द अवश्य लिखा है, पर उसकी समता सूरकी कविताओंसे नहीं की जा सकती। आंग्ल साहित्यमें 'लांगफेलो'ने शिशुके गुणोंका उल्लेख अवश्य किया है; किंतु सूरकी-सी मार्मिकता या विदग्धताका सर्वथा अभाव है। आधुनिक युगमें रवीन्द्रनाथ ठाकुरने वात्सल्यरसको स्वाभाविकरूपसे प्रस्तुत करनेका एकमात्र प्रयास किया है। किंतु रविबाबूका शिशु प्रौढ़ताकी सीमापर खड़ा परिलक्षित होता है, जो शिशु-सुलभ स्वभावमें वैषम्य उत्पन्न करता है। वस्तुतः वात्सल्यकी जितनी मार्मिक एवं विशद व्याख्या सूरमें मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। होमरने अपने 'ओडेसी'नामक महाकाव्यमें कदाचित् अत्यल्परूपमें ही वात्सल्यको उल्लिखित किया है, किंतु सूरके समक्ष उसका अस्तित्व लुप्तप्राय हो जाता है। सूरने मनोविज्ञानके साथ अभिव्यक्तिका अनुभूतिमय आधार लेकर जिस साहित्यकी सृष्टि की है, वह अमर है। उनका प्रत्येक वर्णन उनकी भावनाओंकी अनुभूतिसे अभिमण्डित है। डा० रामकुमार वर्माके मतानुसार वात्सल्यके अन्तर्गत विश्वव्यापी वृत्तियोंका परिदर्शन किया है; और जिसके आधारपर वे 'सूर-सागर'को 'विश्व-काव्य'की कोटिमें रखते हैं।

सूरने वात्सल्यका परिपाक बाल-लीला-वर्णनके प्रसंगमें ही किया है। सूरने बाल-भावोंका इतना स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है कि हम विस्मयाभिभूत हो जाते हैं।

'वस्तुतः नयनविहीन कविकी तीक्ष्ण मनोवैज्ञानिक दृष्टिने बालकके अन्तरतममें पैठ इस कदरसे उसके सुकुमार भावोंको शब्दोंके माध्यमसे प्रतिपादित किया है कि मानो स्वयं वीणापाणि भगवती सरस्वतीने उसकी जिह्वाको सरस वाणी प्रदान की हो।' वियोगी हरिके शब्दोंमें—

तत्त्व-तत्त्व सूरा कही।

गजब थी उस अंधेकी सूझ। वात्सल्यरसकी जो विमल धारा प्रेमावतार सूरने बहायी, उसमें आज भी वीणापाणि भगवती सरस्वती अपनेको निमज्जित कर अपने सुख-सौभाग्य-

को सराहती है। वात्सल्य-रस सूरका इतना काव्याङ्गपूर्ण एवं प्रगल्भ रहा है कि अन्य कवियोंकी सरस सूक्तियाँ सूरकी जूठी जान पड़ती हैं। सूर-जैसा वात्सल्य-रसका चित्रकार—

'न भूतो न भविष्यति।'

ऐसा प्रतीत होता है कि सूरके मानस-घटमें वात्सल्य-रस चिरकालसे संचित हो, उसी रसकलशको उँड़ेलकर वात्सल्यकी आनन्ददायिनी मन्दाकिनी प्रवाहित की हो। आशय यह कि बाल-लीलाके अंशमें सूरकी प्रतिभा अप्रतिम है। साहित्यमें वात्सल्यको रसके अन्तर्गत परिगणित करानेका समस्त श्रेय सूरको प्राप्त है, अन्यथा वात्सल्य इसके पूर्व भावमात्र था।

सूरने जिस वात्सल्य-रसकी अभिव्यक्ति अपने काव्यके माध्यमसे की है, उसकी कई कोटियाँ हैं। व्रजकी वयस्क नारियाँ शिशु श्रीकृष्णके अभिराम रूप-सौन्दर्यसे प्रभावित होकर अपने सहज मातृत्वके अनुकूल उन्हें अपना निःस्वार्थ हार्दिक प्रेम प्रदान करती हैं, जो उनकी बाल-क्रीड़ा, विनोदपूर्ण चपलता तथा प्रिय स्वभावसे परिपुष्ट होता हुआ उत्तरोत्तर वृद्धि पाता है। असुरोंके उत्पातोंसे जब शिशु और बाल-कृष्ण खेलके क्रममें ही अपनी तथा व्रजकी रक्षा कर लेते हैं तो व्रज-नारियोंके मनमें सम्भ्रम एवं आतङ्कका समावेश हो जाता है, पर कालान्तरमें पुनः वह मूलभाव दृढ़ हो जाता है। यह वात्सल्यका उत्कट प्रमाण ही है कि श्रीकृष्णके कथनमात्रपर इन्द्रकी पूजाके बदले गोवर्धनकी पूजाके लिये व्रज-नारियाँ उद्यत हो जाती हैं।

वयस्क गोपोंके हृदयमें भी श्रीकृष्णके प्रति अनुकम्पा रति है। यदा-कदा श्रीकृष्णका अलौकिक कृत्य देखकर उनके अखण्ड वात्सल्यमें व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः वात्सल्यकी अखण्ड, अबाध, गम्भीरतम निष्पत्ति यशोदाके भावमें ही हुई थी। यशोदाका स्नेह शुद्ध-हृदय मातृ-प्रवृत्तिपर आधारित है। सूरने यशोदाके भावको अतीन्द्रिय एवं स्वतःपूर्ण रूपमें चित्रित करके वात्सल्यभावमें भक्तिकी चरम अवस्थाकी व्यञ्जना की है। यशोदाके भावमें परिस्थितिके परिवर्तनसे भी परिवर्तन नहीं होता।

वात्सल्य-भाव श्रीकृष्णके बालरूप और उनकी बाललीलाओंपर आश्रित है। कविने प्रारम्भसे ही श्रीकृष्णलीलाके वातावरणमें ऐहिक भावनाओंकी प्रधानता रक्खी है। यही कारण है कि कविको श्रीकृष्णके प्रति सहज रूपमें रति उत्पन्न करानेमें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। गोकुलमें आकर हरिके प्रकट होनेपर जो आनन्दका सागर लहराया, उस उल्लासमय वातावरणके परोक्षमें सूरने वात्सल्य-भक्तिकी पुष्ट भूमिका तैयार की है, जिसमें व्रजके सभी नर-नारी समानभावसे श्रीकृष्णके प्रति अपना अनन्य स्नेह प्रकट करनेमें होड़-सी लगाते हैं।

कविने वात्सल्य-रसका प्रतिपादन प्रधानतया नन्द एवं यशोदाके माध्यमसे किया है। देवकी एवं वसुदेव आदिका स्नेह भी वात्सल्यसे आप्यायित है; किंतु उनमें यशोदा-जैसी तल्लीनता नहीं है। वे यशोदाकी भाँति श्रीकृष्णके माहात्म्यसे सर्वथा उदासीन नहीं रहतीं। यशोदाका 'वत्सल स्नेह' इतना अधिक तन्मयतापूर्ण है कि श्रीकृष्णके अतिलौकिक कार्योंको प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसका भाव अक्षुण्ण रहता है। यशोदाके रूपमें वात्सल्यकी परम गम्भीरताका चित्रण करके कविने भक्तिकी महत्ता व्यञ्जित की है। अन्य व्यक्तियोंके वात्सल्यमें यशोदाकी अपेक्षा जो न्यूनता है, उसका कारण स्वयं उनकी मानसिक अनुभूतिका अन्तर है।

वात्सल्य एवं भाव-विस्तार

जो कवि जितने विविध रूपोंमें अपने व्यक्तित्वको उद्भासित करता है, उसका भाव-जगत् उतना ही सम्पन्न एवं क्रियाशील होता है। सूरके मानसकी विविध प्रवृत्तियों और विभिन्न भावोंके संयोगमें उनके प्रसार तथा प्रधान भावधाराओंका दर्शन हम करते हैं। वात्सल्यके अन्तर्गत जिन भावोंका प्रकाशन हुआ है, उनमें प्रथम कोटिके वे भाव हैं, जो हृदयमें उन्मुक्तता, विस्तार एवं उच्चताकी अनुभूति उत्पन्न करते हैं। यशोदा एवं नन्द आदिका हर्ष श्रीकृष्णके निरापद जीवनके लिये उनकी 'अभिलाषा' श्रीकृष्णके दर्शन आदिकी 'उत्सुकता', श्रीकृष्ण-जैसा पुत्ररत्न पाकर 'गर्व', श्रीकृष्णकी परिचर्यामें 'उत्साह'का वर्णन करके कविने मनुष्य-स्वभावके उस सरलतम पक्षका परिचय दिया है, जिसमें समस्त प्राप्य एवं वाञ्छनीय वस्तुओंकी सहज सुलभतासे उत्पन्न मनोदशा चित्रित हो गयी है।

कवि वात्सल्यकी प्रतीक यशोदाके द्वारा सुखकी इस चरम अनुभूतिको निरन्तर अक्षुण्ण रखनेकी चेष्टा करता है। माखनचोरीके उपालम्भोंको सुनते-सुनते यशोदाको श्रीकृष्णपर क्रोध आता है। इस प्रसङ्गमें यशोदाके भाव-द्वन्द्वका वर्णन करके कविने वात्सल्यकी तीव्रता व्यञ्जित की है। कभी-कभी यशोदाके सरल वात्सल्यमें क्षोभ भी उत्पन्न हो जाता है।

सूरने वात्सल्यका चित्र क्रमिक रूपमें विकसित किया है। उनके प्रायः सभी चित्र गत्यात्मक हैं। प्रवृत्ति-अङ्कनमें भी सूरको नैपुण्य प्राप्त है।

स्पर्द्धाभाव—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥

अथवा—

मैया! मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोलको लीन्हो तोहि जसुमति कब जायो॥

इन पंक्तियोंमें बालक कृष्णका क्षोभ प्रकट हुआ है। यही है सूरके वात्सल्यकी आत्मा।

श्रीकृष्णकी वचनविदग्धता भी कम लावण्यपूर्ण नहीं।

मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परै, ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥

कौन भावुक इस वचन-चातुरीपर मुग्ध नहीं हो जायगा। यही है सूरकी यशस्विनी लेखनीका चमत्कार। जिस भावका स्पर्श किया प्राणवत्ता आ गयी, जिस शब्दको जड़ दिया अर्थवत्ता आ गयी।

सूरका वात्सल्य-वर्णन एकाङ्गी नहीं कहा जा सकता। एक ओर जहाँ बाल मनोवृत्तियोंका सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण हुआ है, दूसरी ओर मातृ-हृदयकी व्यञ्जना भी बड़ी सरसताके साथ उद्घाटित हुई है। अगर हम कभी इस बातका अनुसंधान करें कि माताका हृदय विधाताने किन स्वर्गीय उपादानोंसे निर्मित किया है, तो पता चलेगा कि यशोदाका हृदय स्नेहका विस्तीर्ण पयोनिधि है।

सूरका वात्सल्य-वर्णन अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़ा है—इसके कई कारण हैं।

प्रथमतः तो सूरने अपने नायकको तुलसीके समान सर्वथा लोकोत्तर नहीं बनाया।

द्वितीयतः, वातावरण भी सूरने उपयुक्त चुना है। सूरके श्रीकृष्ण, तुलसीके रामके सदृश राज-प्रासादमें नहीं पालित-पोषित होते, अपितु उनका विकास ग्राम्य वातावरणमें होता है, जो वात्सल्यके लिये सर्वथा औचित्यपूर्ण है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है भक्ति-पद्धति। सूरकी भक्ति सख्य-भावकी भक्ति है। तुलसीकी भक्ति सेव्य-सेवक भावकी है। सूरको अपने आराध्यके प्रति जितना कहनेकी स्वतन्त्रता है, उतना तुलसीको नहीं।

अन्ततः हम कतिपय मान्य विद्वानोंका मत उपस्थित करते हुए इस निबन्धका अन्त करेंगे। डा० विजयेन्द्र स्नातक—'कृष्णलीलाके विविध रूपोंमें भावों और मनोविकारोंकी विविधताका यदि संधान किया जाय तो विदित होगा कि सूरकी अन्तर्दृष्टि मनके उन गुह्य स्तरोंतक गयी थी, जहाँ सामान्य मानवकी पहुँच नहीं हो सकती।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'जितने विस्तृत एवं विशदरूपमें बाल्यजीवनका चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृतरूपमें अन्य किसी कविने नहीं किया।'

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'बाल-स्वभावके वर्णनमें सूर बेजोड़ हैं। वे स्वयं वयःप्राप्त बालक थे।'

डा० शिवनन्दनप्रसाद—'मानव-हृदयकी भावुकताका विस्तार मानवेतर जगत्‌में देखना कल्पनाकी उर्वरताका ही नहीं, हृदयकी उदारताका भी परिचायक है। शाश्वत और उदात्त मानव-अनुभूतियोंको वाणी देनेके कारण सूरके काव्यका रस-प्रवाह सूखेगा नहीं और न हृदयको ऊँचा उठानेकी दृष्टिसे उसका महत्त्व ही कम होगा।'

भगवान्‌के समान हितैषी भगवान् ही हैं

हरि सम हरि ही हितू हमारो।
आश्रय एक दीन-पतितन को सहज सहाय सहारो॥
अवगुन-दोष गिनत नहिं एकहु सरनागतके भारी।
निज अवलंबन देय मिटावत जन की पीड़ा सारी॥
अभय करत निज दया दान दै, भय-विषाद हर सारे।
पठवत अन्त दिव्य निज धामहि निज सुभाव से हारे॥

भक्तियोग

(लेखक—स्वामीजी श्रीभक्तिदीपक भारतीजी महाराज)

देवर्षि नारद भक्तिका स्वरूप बतलाते हुए अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—

सा कस्मै परमप्रेमरूपा ।

'भगवान्‌के चरणोंमें विशुद्ध प्रीतिको ही भक्ति कहते हैं ।'

संसारके लोगोंके प्रति जो प्रेम देखा जाता है वह यथार्थरूपमें भक्ति नहीं है; क्योंकि उसमें स्वार्थकी भावना निहित रहती है । अर्थात् उसमें केवल प्रेमास्पद-के सुखकी ही अभिलाषा न रहकर अपने सुखकी इच्छा बढ़ी हुई रहती है ! इस प्रकार विचार करके देखनेपर पिता-पुत्रका, भाई-बहनका, पति-पत्नीका तथा मित्रोंका पारस्परिक प्रेम स्वार्थसे भरा होता है। इस विषयमें एक छोटा-सा दृष्टान्त दिया जाता है । पिता अपने छोटे बच्चेको लेकर उसके कोमल कपोलको जब अपनी कटी हुई दाढ़ीवाले मुखसे रगड़ता है तो बच्चा रोने लगता है, परंतु पिताको उसमें सुखका अनुभव होता है । इसलिये वह बराबर रगड़ता है । अपने देह-सुखके लिये पति पत्नीसे तथा पत्नी पतिसे प्रेम करती है । इस प्रकार औरोंका भी प्रेम है ।

भगवान्‌के सच्चे प्रेमियों—भक्तोंका अपने इष्टदेव भगवान्‌के प्रति जो प्रेम होता है, उसमें प्रेमास्पद भगवान्‌के सुखकी इच्छाको छोड़कर अपने सुखकी इच्छा बिल्कुल ही नहीं रहती, इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । २९ । ११-१४)

जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवण-मात्रसे मनकी गतिका तैल-धारावत् अविच्छिन्न रूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह 'निर्गुण भक्तियोग' का लक्षण कहा गया है । ऐसे निष्काम भक्त दिये जानेपर भी, मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्षतक नहीं लेते। भगवत्-सेवाके लिये मुक्तिका तिरस्कार करनेवाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको, मेरे प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायके आचार्यवर्य महानुभाव श्रील रूप गोस्वामी प्रभुने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थमें लिखा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

"श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णभक्तिके अतिरिक्त सभी प्रकारकी कामनाओंका परित्याग करते हुए, ब्रह्मके साथ एक हो जानेकी इच्छा, भक्तिविरुद्ध सकाम कर्मादिसे रहित तथा भगवद्-भक्तिके अनुकूल आचारोंका पालन करते हुए जो अनुशीलन किया जाता है, उसे ही 'उत्तमा भक्ति' कहते हैं ।"

भक्तिमें किसी प्रकारकी कामनाको स्थान नहीं है। किसी कामनाको लेकर जो भक्ति की जाती है वह शुद्ध भक्ति नहीं है । भक्तराज प्रह्लादकी निष्ठासे संतुष्ट होकर

भगवान् नृसिंहके रूपमें प्रकट हुए, प्रकट होकर वर माँगनेके लिये उन्होंने प्रह्लादसे कहा। प्रह्लादने कहा—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।
यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥
(श्रीमद्भागवत ७। १०। ४-७)

'जो सेवक आपसे अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं; वह तो लेन-देन करनेवाला निरा बनिया है। हे वरदानि-शिरोमणि स्वामी! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो।'

ब्रह्मके साथ एक हो जानेकी इच्छाका भक्तिके साथ घोर विरोध है। भगवान्, भक्ति और भक्त—ये तीनों नित्य हैं। इहलोकमें तथा अप्राकृत भगवद्धाममें भी ये तीनों सदा वर्त्तमान रहते हैं। भगवद्भक्त भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलाको अप्राकृत जानकर उसीके श्रवण, कीर्तन तथा स्मरणादिमें समय व्यतीत करते हैं। जो कर्म या अनुष्ठान भगवान्की सेवाके अनुकूल है, उसीको वे ग्रहण करते हैं। भगवान्की सेवाके प्रतिकूल सकाम कर्मादि तथा शुष्क वैराग्यादिका भी वे आदर नहीं करते। भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(श्रीमद्भागवत ११। २०। २९—३१)

'ऊपर बताये गये भक्तियोगके द्वारा बारंबार भजन करते हुए मेरे भक्तके,—मैं अन्तर्यामी, हृदयमें स्थित रहनेके कारण, हृदयके सारे काम-दोष नष्ट हो जाते हैं। मुझ सर्वान्तिर्यामीका हृदयमें अनुभव हो जानेपर उसके हृदयकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, उसके सारे संशय मिट जाते हैं तथा कर्म-बन्धन सर्वथा क्षय हो जाते हैं। इसलिये मुझमें चित्त लगानेवाले, अनन्य भावसे मेरा ही भजन करनेवाले भक्तयोगियोंके लिये ज्ञान अथवा वैराग्य भी प्रायशः कल्याणकारी नहीं होते।'

उपर्युक्त श्रीमद्भागवतके श्लोकोंमें जो ज्ञान तथा वैराग्यको कल्याणकारी नहीं कहा गया है, वह निर्विशेष ब्रह्ममें एक हो जानेकी चेष्टा तथा भगवत्-सम्बन्धसे रहित शुष्क वैराग्यके लिये ही कहा है। भगवत्-तत्त्वका सिद्धान्त जाननेकी इच्छा तथा श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये भोगोंका त्याग तो भक्तिमार्गमें आवश्यक है ही।

इतनी कृपा करो

किसी कामका नहीं जगत्में, हूँ मैं केवल भूका भार।
केवल एक विलक्षण है सौभाग्य, तुम्हारा पाया प्यार॥
पर यह है शुचि सहज तुम्हारा विरद, तुम्हारा सहज सुभाव।
हो तुम सुहृद अहैतुक सबके, सबको देते मीठे भाव॥
इतनी कृपा करो अब मुझपर परम कृपामय हे सरकार।
मधुर तुम्हारा स्मरण बने बस, मेरा एक जीवनाधार॥
गान करूँ मैं सदा तुम्हारा, सुनूँ तुम्हारा ही गुणगान।
रोम-रोम नित जपे तुम्हारा नाम मधुर मेरे भगवान्!॥

आध्यात्मिक धनकी श्रेष्ठता

(लेखक—पं० श्रीजयकान्तजी झा)

जिस प्रकार भौतिक धन सांसारिक वस्तुओंका होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक धन मनुष्यके सद् विचारोंका होता है। किसी मनुष्यके मनमें जबतक सद् विचार है और जहाँतक वह दूसरोंके हितकी कामना अपने मनमें रखता है, वहाँतक वह आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है। भौतिक धनकी वृद्धिसे मनुष्यमें अपने-आपके विषयमें चिन्ता करनेका अभ्यास बढ़ता है, किंतु आध्यात्मिक धनकी वृद्धि होनेपर वह अपने स्वार्थको विस्मरण करना सीखता है और दूसरोंको सुखी बनानेके लिये सदा चिन्तन करता रहता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरोंके कष्ट-निवारणके लिये तत्पर रहता है, वह उतना ही आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है। महात्मा बुद्ध, सुकरात, स्वामी विवेकानन्द आदिके पास एक पैसा भी नहीं था, पर वे आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी थे; क्योंकि वे अपने-आपको भूलकर संसारके दुःख-विनाशमें ही सदा लगे रहते थे।

भौतिक धन मनुष्यके पास कितना भी क्यों न हो, जबतक उसे इस धनकी चाह है, तबतक वह दीन-दरिद्र ही बना रहता है। इस धनके बढ़नेसे धनकी चाह कम नहीं होती, अपितु और भी बढ़ जाती है। वह सदा असंतुष्ट रहता है। उसका यह असंतोष उसे सदा दुःख दिया करता है। जो व्यक्ति धनी लोगोंकी खुशामद किया करते हैं अथवा उनसे ईर्ष्या-वैर करते हैं, वे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियोंसे निर्धन हैं। धनी लोगोंकी निन्दा करनेवालोंको जब धन मिल जाता है, तब वे भी उसी प्रकार धनके गुलाम हो जाते हैं जिस प्रकार दूसरे धनी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि निर्धन होना ही पुरुषार्थ नहीं। आध्यात्मिक धन तात्त्विक वस्तु है। इसके प्राप्त होनेपर ही मनुष्य अपनी निर्धन अवस्थामें भी प्रसन्नचित्त रहता है। वह अपने-आपको संसारके सम्राट्के समान सुखी और भाग्यवान् मानता है। इस धनकी एक परख यह है कि इस धनका स्वामी दूसरोंका प्यारा होता है। वे उसे हृदयसे चाहते हैं। भौतिक धनके स्वामीको अपने भाई, पुत्र और स्त्री भी हृदयसे नहीं चाहते। वह सदा उन्हें संदेहकी दृष्टिसे देखता है। इसके कारण वे भी उससे वहीं तक प्यार करते हैं जहाँतक धनका लाभ उन्हें उससे होता है। भौतिक धनके स्वामीका धन नाश होनेपर उसे कोई नहीं पूछता; पर आध्यात्मिक धनके स्वामीको अपने प्रेमियोंसे तिरस्कृत होनेका कोई भय नहीं रहता। मनुष्य जैसे विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजता है, उसे वैसे ही विचार उससे मिलते हैं। यदि हम वैर, द्वेष और संदेहके विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजेंगे तो हमें भी वैर, द्वेष और संदेहके ही विचार मिलेंगे और यदि हम प्रेम और विश्वासके ही विचार उनके पास भेजेंगे तो उनसे भी हमें प्रेम और विश्वासके ही विचार मिलेंगे। मनुष्य अभ्यासका दास है। जिस मनुष्यका अभ्यास जैसा हो जाता है, उसके पास वैसे ही विचार स्वभावतः आते हैं।

मनुष्यका आध्यात्मिक धन उसके अच्छे विचारोंका अभ्यास है। हमारे विचारोंका प्रवाह हमारे अभ्यासके ऊपर निर्भर करता है। जैसे विचार हम अपने मनमें सदा आने देते हैं, वैसे ही विचार बार-बार हमारे मनमें आते रहते हैं। जब हम किसी बुरे विचारको अपने मनमें लाते हैं, तब वह भी अपनी दूषित मनोवृत्तिके कारण उस समय हमें भला ही लगता है, पर वह हमारे मनको क्लेशित कर जाता है। बार-

बार अपने मनमें बुरे विचारोंको लानेसे मन इतना निर्बल हो जाता है कि फिर यदि हम उन विचारोंका मनमें आना रोकना भी चाहें तो वे विचार रुकते नहीं। मानसिक रोगकी अवस्थामें रोगीके मनमें जब कोई अभद्र विचार घुस जाता है तो फिर वह रोकनेका प्रयत्न करनेपर भी नहीं रुकता। वह मनुष्यको बहुत भारी त्रास देता रहता है। ऐसी अवस्थामें सुखकी सभी बाह्य सामग्री उपस्थित रहनेपर भी वह व्यक्ति सुखका उपभोग नहीं कर पाता। इस प्रकारके विचारोंको रोकनेके लिये कई दिनोंतक उसके विपरीत अभ्यास करना पड़ता है। दूसरोंके विषयमें कुचिन्तन करनेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्तिका ह्रास हो जाता है। इसके ह्रास हो जानेपर फिर मनुष्य अपने ही विषयमें कुचिन्तन करने लगता है। उसके विचार आत्म-विनाशक बन जाते हैं। अतएव हर समय अपने विचारोंको देखते रहना आवश्यक है। अपने मनके दरवाजेपर हमें सदा-सर्वदा एक सावधान और नित्य जाग्रत् पहरेदार बैठा देना चाहिये जो बुरे विचारोंका आना रोके और भले विचारोंका प्रवेश कराये एवं सतत हमारे आध्यात्मिक धनकी रखवाली करे।

भौतिक धन जैसे बहुत-से मकान, घोड़े, हाथी, मोटर आदि तो दृष्टिगोचर हैं; पर आध्यात्मिक धन पहचानना इतना सरल नहीं है। यदि कहा जाय कि जिस व्यक्तिके पास भौतिक धन नहीं है, वह आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है तो यह ठीक नहीं होगा। फिर तो प्रत्येक गरीब, भिखारी आध्यात्मिक धनका प्रभु मान लिया जायगा। ऐसा ही होता तो आध्यात्मिक धनकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्नकी कोई आवश्यकता न होती। सभी निर्धन, निकम्मे व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी मान लिये जाते। पर यह वस्तुतः बात नहीं है। जिन लोगोंके पास न तो भौतिक धन होता है और न आध्यात्मिक ही, वे भौतिक धनवालोंसे डाह करते हैं और उनका विनाश करना चाहते हैं। वे वास्तवमें आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वथा निर्धन हैं। आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी तो वे लोग हैं जिन्हें भौतिक धनकी तनिक भी स्पृहा नहीं है और यदि संयोगसे उन्हें भौतिक धन प्राप्त हो ही जाय तो वे उसे लोगोंमें अनायास बाँट देते हैं और सदा-सर्वदा आत्म-संतोषकी अनुभूति करते रहते हैं। इस प्रकारके धनके स्वामी इने-गिने ही होते हैं और उनको पहचानना कठिन होता है; क्योंकि वे जो कुछ करते हैं, सब सहजस्वभावसे ही करते हैं—विज्ञापनके लिये नहीं। ऐसे व्यक्ति अपने निन्दकोंको प्यारकी दृष्टिसे देखते हैं। जिन्हें सामान्य लोग शत्रुके रूपमें देखते हैं, उन्हें वे अपना मित्र समझते हैं। श्रीकबीरदासजी कहते हैं—

निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी साबुन बिना निरमल करै सुभाय॥

इस प्रकार सभी लोगोंको कल्याणकारी मानकर आध्यात्मिक धनके प्रेमीको किसीके भी प्रति बुरी भावना नहीं होती। जिस प्रकारका सतत प्रयत्न भौतिक धनके उपार्जन, संचय और संरक्षणके लिये संयमके रूपमें करना पड़ता है, उससे कहीं अधिक प्रयत्न आध्यात्मिक धनके संचयमें करना पड़ता है। जिसे किसी भौतिक लाभकी चाह नहीं, जो संसारके धनी लोगोंकी निन्दा नहीं करता और न उनका विनाश ही चाहता है, वरं उन्हें दयाका पात्र समझता है, वही आध्यात्मिक धनका स्वामी कहा जा सकता है। आध्यात्मिक धनका स्वामी धन प्राप्त होनेपर प्रसन्न न होकर उसे एक प्रकारकी झंझट समझता है। एक बार एक साधुके पास, जो जंगलमें अपनी कुटियामें अकेला रहता था और जो गाँवके लोगोंकी दी हुई रोटी खाकर अपना जीवन-निर्वाह करता था, एक धनी व्यक्ति आया। उसने चाहा कि वह उस साधुकी कई दिनोंके लिये भोजनकी व्यवस्था कर दे। अतः उसने एक अशरफी निकालकर साधुको देना चाहा। साधु अशरफी

देखकर बोला—'इसकी आवश्यकता मुझे नहीं है। इसे तुम किसी गरीबको दे दो।' साधुके वचन सुनकर धनी व्यक्ति चकित हो गया कि इससे अधिक गरीब और कौन होगा? उसने साधुसे पूछा—'महाराज! मैं किस गरीबको इसे दूँ?' साधुने जवाब दिया—'एक गरीब नित्य प्रति इधरसे जाता है, उसीको यह अशरफी दे देना।' इतनेमें वहाँ राजाकी सवारी आ निकली। साधुने संकेत किया कि वह गरीब आ गया। उस धनी व्यक्तिने राजाको जब अपने हाथमें अशरफी रख कर दिखायी, तब उसने भेंट समझकर उसे ले लिया। सारांश यह कि भौतिक धन मनुष्यके पास कितना ही क्यों न हो, किंतु जबतक उसे इस धनकी चाह है, तबतक वह गरीब ही बना हुआ है। इसके विपरीत आध्यात्मिक धनका स्वामी अपने आपको संसारके बादशाहके समान सुखी और सम्पन्न समझता है। ऐसे ही लोगोंके बारेमें श्रीकबीरदासजीने कहा है—

चाह गई चिंता गई मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो जग शाहंशाह॥

अतः जबतक मनुष्य दैन्य-भावसे मुक्त नहीं होता, तबतक उसे आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी नहीं माना जा सकता। आध्यात्मिक धनवाले व्यक्तिको सदा भौतिक धन देनेकी इच्छा रहती है, लेनेकी नहीं। वह दूसरोंकी सेवा धन-प्राप्तिके लिये नहीं वरं उनका हित करनेमात्रके लिये ही करता है। अतएव हमें आध्यात्मिक धनकी सतत वृद्धि करनेके लिये हर समय अपने विचारोंका निरीक्षण करते रहना आवश्यक है, जिससे बुरे विचारोंका आना रुके और भले विचारोंका सदा स्वागत होता रहे।

मानव-बुद्धि और ज्ञान

ज्ञानकी गरिमापर मुग्ध और स्वयंकी क्षुद्रतासे क्षुब्ध मानव-बुद्धिने कुछ झुँझलाते, कुछ गिड़गिड़ाते हुए ज्ञानसे कहा—

'ज्ञान दे ज्ञान! यह क्या पागलपन है? मैं पागल हुई जा रही हूँ तेरे पीछे—तुझे आत्मसात् करनेके लिये और तेरे भावें ही नहीं। तू तो निकला-भागा ही जा रहा है।'

ज्ञानने अपनी गरिमाके अनुरूप सहज गम्भीर स्वरमें, किंतु कुछ चुटकी-सी भी भरते हुए उत्तर दिया—

'पागलको सब पागल सूझते हैं बुद्धिरानी! तेरा दोष नहीं; परंतु भोली! इतना तो जाना होता कि किसीको आत्मसात् करनेके लिये किसीके आत्मसात् हुआ भी जाता है।'

बात पतेकी थी। मानव-बुद्धिकी 'मैं' पर चोट पड़ी, जिससे एक बार तो वह बुरी तरह तिलमिलायी' फिर कुछ संयत हो, उसकी मीमांसा करते गहरे गोतमें उतरती गयी—फीकी पड़ती गयी।

उबारा ज्ञानने भी उसे इस अवस्थासे। चुटकनेकी झाईको भी दूर रख, गाम्भीर्य-गरिमामें परम आत्मीयताकी सहज पुट देकर आत्मसात् होता करता-सा बोला वह—

'चिन्ता न कर पगली! तू मुझमें आत्मसात् न हुई तो क्या हुआ! मैंने तुझको अपनेमें आत्मसात् कर लिया है और इस तरह मैं अपनी अनन्तता-सहित स्वयं भी तुझमें आत्मसात् हो गया हूँ।'

और इस तरह मानव-बुद्धि ज्ञान-प्रसाद पाकर चिन्ता-गोतसे निकलकर खिल उठी। खिली-खिली वह आकाशसे भी परेकी ऊँचाइयाँ पातालसे भी नीचेकी गहराइयाँ छूने-नापने लगी। अनन्त ज्ञानकी अनन्त किरणें उसमेंसे विकीर्ण होकर समस्त भूमण्डलको ज्ञान-प्रकाशसे व्याप्त करने लगीं, कर रही हैं आजतक—करती रहेंगी भविष्यमें भी!

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

[गताङ्क पृष्ठ १२१७ से आगे]

पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
तत् फलं समवाप्नोति विष्णोर्नामानुकीर्तनात् ॥
तस्मादेव नदी श्रेष्ठा कृष्णाभा सा घटोद्भव ।
परिवारैः समं स्वांशैर्विष्णुना नित्यसेविता ॥
सर्वदेवमयो विष्णुः सर्वतीर्थमयीव सा ।
गौरीस्वेदोद्भवा स्नानात् कोटितीर्थगुणं फलम् ॥ *

(स्कन्द० पु० हिमवतखण्डे)

छप्पय

नारायनको नाम अखिल अघ हरिबे वारो ।
बनिकें सालिगराम रूप प्रभु धारयो कारो ॥
नित्य गंडकी सलिल बसैं श्रद्धा तैं सेवैं ।
मनवांछित फल सतत सलिलसे विनिकूँ देवैं ॥
श्रेष्ठ सुरनिमें विष्णु ज्यों, त्यों सरितनि महँ गंडकी ।
कारी गंगा सलिल सित, उद्गम है आनंद की ॥

पहले हम बता चुके हैं कि पर्वतीयोंको छोड़कर हम नीचेवालोंके लिये मुक्तिनाथका सरल सीधा मार्ग गोरखपुरसे भैरवा होते हुए बुटवलसे है। बुटवल ही यात्राका मुख्य स्थान है, जैसे बद्रीनाथ यात्राका आरम्भ-स्थान ऋषिकेश है। समस्त पहाड़ी मार्ग किसी नदी-नालेके किनारे-किनारे होते हैं, मुक्तिनाथ गंडकी नदीके उद्गमपर है, अतः गंडकी नदीके किनारे-किनारे ही उनतक पहुँचा जा सकता है। गंडकी बिहारके सोनपुर हरिहरक्षेत्रके समीप पटनाके सामने उस पार श्रीगङ्गाजीसें मिली हैं। अतः जहाँसे भी सुविधा हो वहींसे गंडकीका किनारा पकड़ना चाहिये। गंडकीका जल काला है, इसलिये इनका नाम कृष्णाभा या कालीगङ्गा भी है। उधर सभी इन्हें कालीगङ्गा ही कहते हैं। भगवान् नारायण (शालग्रामरूपसे) इनमें नित्य निवास करते हैं, अतः इनका नाम नारायणी भी है। गंडकी, कालीगङ्गा या नारायणीका ही आश्रय लेकर मुक्तिधाम पहुँचा जा सकता है। हरिहरक्षेत्रसे तो ये बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी दुर्गम स्थानोंसे बही हैं अतः जहाँतक सवारीकी सुविधा हो वहाँतक सवारीसे जायँ। जहाँ सवारीकी सुविधा समाप्त हो जाय, वहाँसे सीध बाँधकर गंडकीकी शरण ले लें। अब बुटवलसे हमें गंडकीका किनारा पकड़ना है। बड़ोंके पास जानेको प्रथम छोटोंका आश्रय लेना पड़ता है। छोटोंके ही सहारे बड़ोंतक पहुँचा जा सकता है। बुटवलमें छोटी नदी तिलोत्तमा है। अतः उसीका सहारा लेकर हम चले। तिलोत्तमा कई नालोंके मिलनेसे बनी है। उसका मूल नाला तानसेनके पर्वतके समीप है। अतः बुटवलसे हमें तानसेन जाना आवश्यक है। इसीलिये हम बुटवलसे पैठेगाँव होकर दोभान ग्राममें पहुँचे। यहीं दोभान नालेमें झूमसा नाला मिला है। आगे वही तिलोत्तमा नदी हो गयी है, झूमसाके किनारे-किनारे अनेक पहाड़ोंको लाँघते हम गौड़ेवास, रानीवासा मरके, शिशिनीखोला होते हुए मस्यांग नामक ग्राममें पहुँचे। जो लोग रुरुक्षेत्र (रीडी) होकर जाना चाहते हैं उनके लिये रीडीको यहींसे मार्ग जाता है। उनको तानसेन नहीं जाना पड़ता। रुरुक्षेत्र बालखिल्यों-की तपोभूमि बतायी जाती है। महाराजा युद्धशमसेरने वानप्रस्थ जीवन बितानेको यहाँ एक स्थान गंडकी तटपर बनाया था, किंतु घटनाचक्रके अनुसार उन्हें देहरादूनमें आकर रहना पड़ा और वहीं उनकी मृत्यु हुई।

जो लोग रुरुक्षेत्र न जाकर रानीघाट होकर जाते हैं उन्हें तानसेन होकर ही जाना पड़ता है। हमें रानीघाटसे ही जाना था। अतः मस्यांगसे कोकलछाप, बाँसतारी, परवस होते हुए तानसेनमें पहुँच गये। मार्गमें हरे-भरे नयनाभिराम धानके खेतोंकी शोभा अवर्णनीय थी। तानसेन तकका वृत्तान्त हम पिछले लेखमें दे चुके हैं, अब तानसेनसे आगेकी कमनीय कहानी सुननेकी कृपा कीजिये।

तानसेन

पहाड़में यह एक सुन्दर समृद्धिशाली सुहावना शहर है। राणाओंके कालमें जब समस्त नैपाल नंबरोंमें बँटा था—नं० १

---

* श्रीकार्तिकेयजी महामुनि अगस्त्यजीसे कह रहे हैं—हे महामुने ! भूमण्डलमें जितने भी तीर्थ, मन्दिर तथा पुण्यस्थल हैं, उनके सेवनसे जो फल मिलता है, वह फल तो (शालग्रामस्वरूप) श्रीविष्णुके नामसंकीर्तनमात्रसे ही मिल जाता है, इसलिये सर्वश्रेष्ठ विष्णु ही हुए। उन विष्णु (शालग्राम) को भी जो गंडकी अपने गर्भमें धारण करती है और अपने अंशरूप जो देवादि हैं उनके सहित श्रीविष्णु भी जिनका नित्य सेवन करते हैं। इससे सिद्ध हुआ श्रीविष्णु सर्वदेवमय हैं और उन्हें नित्य धारण करनेवाली काली गङ्गा गंडकी सर्वतीर्थमयी है। यह गंडकी गौरीजीके पसीनेसे उत्पन्न हुई है, अतः यह करोड़ों तीर्थोंसे अधिक फल देनेवाली है।

नं० २ नं० ३ ऐसे। उस समय तानसेनमें एक राज्यपाल गवर्नर रहता था। सरकारी फौज भी रहती थी। फौज तो थोड़ी-बहुत अब भी रहती है, किंतु अब यह प्रान्त न रहकर एक जिलामात्र रह गया है। बड़ा हाकिम (कलेक्टर) यहाँ रहता है। यहाँ पहाड़के ऊपर एक बड़ा ही सुन्दर मैदान है। यह सैनिकोंके अभ्यासका स्थल है। तोपखाना भी है। नैपाल महाराज इसे हवाई अड्डा बनाना चाहते थे। इसके आस-पासके पेड़ भी कटा दिये गये। पीछे पता चला स्थान हवाई अड्डा बनानेको कम है, इससे यह योजना स्थगित हो गयी। बहुत ही सुहावना स्थान है। पहले यहाँका स्वतन्त्र राजा था। १५०, २०० वर्ष पूर्व। नैपालवालोंने उसे हराकर इस राज्यको नैपालमें मिला लिया। यहाँका जलवायु बड़ा सुन्दर है। नैपालमें अमेरिकन ईसाई मिसनरियोंका बड़ी ही तेजीसे बड़ा व्यापक योजनापूर्ण प्रचार हो रहा है। तानसेनसे लगभग दो-तीन मील दूर ईसाइयोंने कई लाख रुपये लगाकर अपने बड़े सुन्दर-सुन्दर दिव्य भवन बनाये हैं। एक क्षय-चिकित्सालय (टी० बी० अस्पताल) विशाल पैमानेमें बना रक्खा है। नैपाली भाषामें बाइबिलका एक सुन्दर अनुवाद छापा है, उसे नाममात्रके मूल्यपर (मूल्य तो कहनेको है उसे एक प्रकारसे बिना मूल्य ही) वितरित किया जाता है। ईसाइयोंने इस विशाल नगरको अपने 'प्रचार'का गढ़ बना रक्खा है।

यहाँ नारायणका एक विशाल मन्दिर है। नैपाल-राज्यके जो मन्त्री थापा हैं, उनके ही वंशज किन्हीं थापाने इसकी स्थापना की थी। इसमें छोटे-छोटे ७०, ८० गाँव लगे हैं, जिनसे हजारों मन धान आता है। मन्दिर विशाल है, उसका एक विशाल बगीचा है। पर्वोंपर उत्सव होते हैं, नैपाली तथा संस्कृतकी पाठशाला है, आगत अतिथियोंको नित्य सदाबर्त मिलता है। यहाँके लोगोंमें अभी देशकी हवा कम लगी है, सीधे-सादे भोले-भाले धर्मनिष्ठ हैं। यहाँ नगरपालिका है, पानीके लिये नल लगे हैं। बिजली अभी यहाँ नहीं आयी। हम जब लौट रहे थे तब ४०, ५० आदमी कंधोंपर रखकर बिजलीका यन्त्र (जनरेटर) ले जा रहे थे। आशा है अबतक तानसेनमें भी बिजली लग गयी हो। इस स्थानकी शोभा देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। हमारे कुली अभीतक नहीं आये थे, अतः हमें एक दिन तानसेनमें ठहरना पड़ा।

तानसेनसे वीरधा

(ज्येष्ठ शु० ८, ३० मई)

तानसेनसे प्रातःकाल ही हमलोग चल दिये। कुछ दूर तो हल्की-सी एक मीलकी चढ़ाई थी। फिर जो उतराई आरम्भ हुई वह रानीघाट गंडकीके किनारे ही समाप्त हुई। मार्ग बड़ा ही सुन्दर हरा-भरा था। खेतोंमें धान लग रहे थे। राणाओंके शासनमें यहाँके राज्यपाल श्रीखड्ग समसेर बहादुर राणा यहाँ रहते थे। रानीघाटमें गंडकीके बिल्कुल तटपर उन्होंने एक बहुत ही भव्य भवन बनवाया था। वह छोटा-मोटा किला ही है। तानसेनसे रानीघाटतक उन्होंने पुराने ढंगकी सड़क बनवायी थी। उसपर बीच-बीचमें पुल भी बने हैं। सड़कके दोनों ओर वृक्ष लगवाये गये हैं। पहले इस देशमें वापी, कूप, तड़ाग, आराम तथा पेड़-पौधे लगानेकी, धर्मशाला बनवानेकी बड़ी प्रथा थी। जो विधवा चक्की पीस-पीसकर सौ, दो सौ रुपये इकट्ठे कर लेती थी, उसकी भी यही इच्छा होती थी मेरे नामकी छोटी-सी धर्मशाला बन जाय। कुआँ ही बन जाय। जो धनवान् होते थे, वे बड़े-बड़े तालाब, धर्मशाला, पाठशाला, सदावर्त लगाते थे। अंग्रेजी-कालमें ये सब होते थे। लोग लाखों-करोड़ों रुपये इन मन्दिर-पाठशालाओंमें लगाते थे। बहुत-से लोग आमके एक-एक लाख पेड़ लगाकर उन्हें सर्वसाधारणके लिये छोड़ देते थे, उनके फलोंको चाहे जो खायें। उन्हें लखोरी बाग कहते थे। ऐसे बहुत-से बाग हमने देखे हैं। उनमें बैठकर भरपेट आम खाये हैं। हमारे प्रयागके पास एक छोटी-सी रियासत है (है क्या थी), उसमें ९ लाख आमके पेड़ लगाकर सर्वसाधारणको छोड़ दिये थे। इसीलिये उस रियासतका नाम नौलखा है। पहले दूध, पूत और फल बेचना महापाप माना जाता था। नदियोंके पानीको, वृक्षोंके फलोंको, कपड़ोंसे फाड़कर पेड़ोंपर लटकायी गयी चीरोंको जो चाहे सो ले जाय। तभी तो भागवतमें कहा है—क्या रास्तोंमें पहिननेको चीर नहीं है? क्या परोपकारी वृक्ष खानेको फल नहीं देते? क्या पीनेको नदियोंका जल सूख गया? क्या पहाड़ोंकी गुफा रहनेको नहीं हैं, क्या वे रुद्ध हो गये? क्या भगवान् अपनी शरणमें आये हुओंका पालन नहीं करते? यदि यह सब है तो धन पाकर जो दुर्मद हो गये हैं ऐसे धन-दुर्मदान्ध व्यक्तियोंकी कविगण क्यों लल्लो-चप्पो करते हैं, क्यों उनकी चाटुकारितामें लगे रहते हैं *।

---

* चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्तु भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवतु नोपपन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वृक्षोंके फलोंको कोई बेचता नहीं था, व्यवसायी माली भले ही बेचते हों । पहले-पहल जब मैं बद्रीनारायणकी यात्रामें गया था—तबतक ऋषिकेशसे आगे कोई सवारी नहीं जाती थी । तब मैंने वहाँ आमोंके पेड़ोंके नीचे हजारों पके फल सड़ते देखे । हमने भरपेट खाये । हम आश्चर्यमें रहे,—यहाँ फलोंको कोई खाता क्यों नहीं ! खाय कहाँतक, वहाँ तो सभी वृक्षोंमें इतने फल लगते थे कि लोगोंसे खाये नहीं जाते । दुबारा जब बद्रीनाथ गया तो एक पैसेके आठ फल बिकने लगे । अब तो हमारे यहाँकी भाँति वहाँ भी तौलकर बिकते हैं । अब हम असभ्यसे सभ्य जो हो गये ! अपनी सभ्यताको हमने बद्रीनाथके पहाड़ियोंको भी सिखा दिया; किंतु अभीतक हमारी सभ्यता तानसेनसे आगे नहीं पहुँची । वहाँ सड़कके किनारे लाखों आमके पेड़ खड़े थे । नीचे आम पड़े थे, कोई लेनेवाला नहीं । पहले तो हमलोगोंने लालचमें आकर खूब आम बटोर लिये, जब देखा, उत्तरोत्तर अच्छे आम आने लगे और रानीघाटमें तो आमोंकी भरमार थी, तब हमलोगोंको अपने लालचपर पश्चात्ताप हुआ । उन दिनों आम कच्चे थे, आप चाहें हजारों मन आम तोड़ लायें, आपको कोई बोलनेवाला नहीं । हमलोग तानसेनसे आगे बरान्दी खोलाके किनारे-किनारे मार्गके मनोरम दृश्योंको देखते प्रपातोंके पुनीत पयका प्रेमपूर्वक पान करते हुए पथमें पड़े रसाल आम्रोंके कच्चे फलोंको बटोरते हुए, धानके लहलहाते हरे-भरे खेतोंकी नयनाभिराम शोभा निहारते हुए, प्रचण्ड धूपमें सघन पादपोंकी सुखद छायाके सुखको अनुभव करते हुए रानीघाट गंडकीके सुखद तटपर आ ही तो गये । ज्येष्ठकी प्रचण्ड गरमी पड़ रही थी, पहाड़ी मार्ग और तिसपर भी पाँच मीलकी खड़ी उतराईके कारण थक गये थे । शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया था । गंडकीके सुखद सलिलके स्पर्शसे परम शान्ति मिली । भूखके मारे आँतें कुडुड़-कुडुड़ कर रही थीं । सभी एक दूसरेसे खानेकी वस्तु माँग रहे थे, कोई चनालाईकी खोज कर रहे थे, कोई नहाकर पूजा कर रहे थे और बीच-बीचमें देखते भी जाते थे, कि चूल्हा चेता या नहीं !

रानीघाटमें कोई बस्ती नहीं, गाँव नहीं । एक ही छोटी-सी दूकान है । उसमें कठिनतासे दाल-चावल मिले । सब लोगोंने कृष्णसलिला गंडकीमें डुबकी लगायी । किसीने माला सरकायी, किसीने घंटी बजायी, किसीने खिचड़ी चढ़ाई, किसीने कच्चे आमोंकी चटनी बनायी । सबने मिलकर प्रेमपूर्वक यथेच्छ खिचड़ी खायी और तब सबने सुखपूर्वक पेड़ोंकी शीतल छायामें लेट लगायी ।

मैं रानीघाटके महलोंको देखने गया । कितने भारी-भारी कमरे थे । पचासों छोटे-बड़े सदन, सभाभवन, मनोहर मण्डप, विशाल बगीचा, कितनी चातुरीसे ये तिमंजले, चौमंजले भवन बनाये गये होंगे । जिस समय राणा परिवारके अधिकारी इसमें रहते होंगे, उस समय वायु भी यहाँ बिना आज्ञाके प्रवेश न कर सकती होगी । आज वे महल खंडहर पड़े हैं, कोई गिर गया है, किसीकी दीवार गिर गयी है, किसीकी सोटकड़ी सड़ गयी है । बिना मरम्मतके यह इतना भारी भवन जंगलमें सुनसान खड़ा है । खड़ा क्या है अपने पूर्व वैभवको स्मरण करके रो रहा है । इसे देखकर मुझे भर्तृहरिके इस श्लोकका भाव स्मरण हो आया । कोई वृद्ध किसी युवकसे कह रहा है—'देखो भैया ! यह जो तुम्हें सामने टूटा-फूटा-सा खेड़ा दिखायी दे रहा है, यहाँ एक बड़ी रमणीक नगरी थी, उसमें एक बड़ा राजा रहता था, उसमें बड़े-बड़े सामन्त आते-जाते रहते थे । यहाँकी चन्द्रानना रमणियोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या, ऐश्वर्यके मदसे मदमत्त शारीरिक बलके कारण इठलाते हुए राजकुमारोंका समूह क्रीड़ा करता रहता था । बंदीगण प्रातःकालसे ही विविध वाद्योंके साथ ताल-स्वरमें राजवंशका गुणगान करते रहते थे । ये सब वस्तुएँ जिनके कारण केवल स्मृति-पटलपर एक धुँधली-सी रेखा छोड़कर न जाने कहाँ विलीन हो गयीं, उन कालदेवको बारंबार नमस्कार है ।*

मैंने राणाओंके सुनहरे दिवस देखे हैं । उनके वैभवका अवलोकन किया है । नैपालमें तो नहीं, अन्यत्र उनका आतिथ्य ग्रहण किया है, आज उस वैभवको स्मरण करके और इन खंडहरोंको देखकर वे अतीतकी स्मृतियाँ नूतन हो जाती हैं । उस इतने भारी विशाल महलमें एक-दो नौकर होंगे । राणाओंके शासनके अन्तमें जनताने यहाँके अधिकारीको भी भागनेके लिये विवश कर दिया । राणा तो भाग गया, छोड़ गया इन खंडहरोंमें अपनी कसक भरी स्मृतियाँ !

---

* भ्रातः कष्टमहो महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत् ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥
(भर्तृहरि वै०)

हाँ, तो खा-पीकर हम आगे बढ़े। यहाँ गंडकी चञ्चल नहीं, शान्त है। ऐसा लगता है वह बाल्यकालको पार करके प्रौढ़ा हो गयी है। यहाँ देशकी भाँति शान्तभावसे बह रही है। इसीसे यहाँ नौका चलती है, नौका भी यहाँकी दर्शनीय। जीवनमें सर्वप्रथम ऐसी नौका देखी। वह काठके पटरोंसे या टीनसे बनी नहीं, एक मोटे वृक्षका तना खोखला करके पानीमें डाल दिया है, उसमें लोहेकी बघौड़ी भी नहीं। एक मोटी लकड़ीसे मल्लाह खेते हैं, पानीको काटते हैं। हमलोग उस नौकासे उस पार हुए। पार होते ही चढ़ाई आरम्भ हो गयी। लगभग तीन मीलकी सीधी चढ़ाई। यहाँ गंडकी एक पहाड़के तीनों ओरसे बहती है। उस पहाड़के ऊपरके गाँववाले बड़े गर्वसे कहते हैं, हम तो गंडकीके गर्भमें निवास करते हैं। एक ओर तनिक खुला है, नहीं तो चारों ओरसे गंडकी उसकी परिक्रमा देकर बह रही है। हमलोग चढ़ते ही गये, चढ़ते ही गये। बीचमें नाना प्रकारके वृक्ष मिलते थे। नाना प्रकारके वेष-भूषामें पहाड़ी पुरुष तथा महिलाएँ कृषिका कार्य करते हुए मिलती थीं। एक बुढ़िया अकेली घास काट रही थी। कानमें सोनेके कर्णफूल पहिने थी। हमने पूछा—'ये असली सोनेके हैं?' वह बड़े गर्वसे बोली—'बिल्कुल असली सोनेके हैं, तीन तोलेके हैं!' उसके भोलेपनको देखकर हमें हँसी आ गयी। जब चढ़ते-चढ़ते पहाड़की चोटीपर आ गये। चढ़ाई समाप्त हो गयी, तो हमें एक छोटा-सा गाँव पड़ा। उसमें दो दुकानें थीं। ३-४ घर। चढ़ते-चढ़ते इतने थक गये थे कि हमने यहीं रात्रि बितानेका निश्चय किया। इस गाँवका नाम था ओइधा सुस्टुंग। जब हमने पूछा—पानी कहाँ है तब दुकानदारने कहा—यहाँसे थोड़ी दूरपर एक कुआँ है। कुआँ पहाड़में भला कहाँ? किसी पानीके छोटे-से सोतेको खोदकर गड़हा कर लेते हैं, उसीको कुआँ कहते हैं। साधुको और चाहे कुछ हो-न-हो, उसे विपुल पानी अवश्य चाहिये। हमने पूछा—'आगे गाँव कितनी दूर है?' दुकानदारने कहा—एक मील ही नीचे ही वीरघा बड़ा गाँव है, वहाँ पानी आदिका बड़ा सुपास है। हमने सोचा—एक मील क्या बात है, फिर चढ़ाई नहीं उतराई। इसीलिये हमारे साथी जो पीछे रह गये थे, उनकी बिना ही प्रतीक्षा किये रामराज, वंशीवाला और दो आदमियोंके साथ हम चल दिये। उतराई ऐसी खड़ी कि मानो कोई बलात् ढकेल रहा हो। एक मील उतरकर मकईकी ऐसी हरी-भरी खेती आ गयी कि मन प्रसन्न हो गया। पहाड़के बीचमें इतना विस्तृत मैदान और मक्काकी इतनी सुन्दर खेती देखकर हम आश्चर्यचकित रह गये। हमने सोचा—जैसे हमारे यहाँ छोटे-छोटे गाँव होते हैं, ऐसे ही वीरघा कोई एक मीलपर गाँव होगा। किंतु वह ग्राम न होकर एक ग्रामसमूहका नाम वीरघा है। लगभग तीन-चार मील लम्बी बस्तीका नाम वीरघा है। पहाड़में ऐसे ही ग्रामसमूह एक नामसे पुकारे जाते हैं। जैसे १०–१२ मीलकी बस्तीका नाम प्रयाग है। हम चलते ही गये पानीका सुपास ढूँढ़ते-ढूँढ़ते। एक-एक मील कर तीन-चार मील चल दिये। तानसेनसे चले-चले थक गये थे। बादल हो रहे थे, अँधेरी रात्रि मक्काके खेतोंमें होकर छोटी-सी पगडंडीसे जाना जिससे ठहरनेको पूछें, वही कह दे आगे जाओ, आगे जाओ। अन्तमें रात्रिके आठ-नौ बजे एक दुकानपर पहुँचे। उससे बहुत अनुनय-विनय की। उसने इस शर्तपर स्थान दिया कि हमसे खानेको मत माँगना। शर्त स्वीकार कर लेनेपर उसने अपना घर खोल दिया। जिस पानीकी आशासे रात्रिमें इतने दौड़कर आये वह पानी भी वहाँ नहीं था। साथी पीछे भटक रहे थे। चिल्ला रहे थे। हम इधरसे पूरी शक्तिसे चिल्ला रहे थे 'हे नाथ नारायण वासुदेव'। 'नाथ नारायण वासुदेवने टेर सुन ली। नौ-दस बजे-तक सभी साथी इकट्ठे हो गये। भूखके मारे सब व्याकुल थे; किंतु यहाँ पैसा देनेपर भी कोई भी सामान आटा, दाल, चावल नहीं मिला। चना-चबैना-गुड़ कुछ भी नहीं। मन मारकर सब सो गये।

वीरघासे श्वेतबैंनी

(ज्येष्ठ शु० ९, ३१ मई)

प्रातःकाल उठे। कलकी चढ़ाईने नसें ढीली कर दी थीं। अङ्ग-प्रत्यङ्गमें पीड़ा हो रही थी; किंतु मुक्तिनारायणके दर्शनोंकी लगन जो लगी थी। चल पाँडे तुझे तो द्वारका जाना ही है। 'मुक्तिनाथकी जय' बोलकर चल दिये। मक्काके खेतोंमें होकर छोटी-सी पगडंडीसे हमारी छोटी-सी यात्रियोंकी सेना मुक्तिनाथकी चढ़ाईके लिये चल रही थी। मार्गमें जो भी गाँव मिलते, वहीं हमारे साथी पूछते कहीं चना मिलेगा, गुड़ मिलेगा, चावल मिलेंगे; किंतु यहाँ सबके मुखपर एक ही उत्तर था छैईना (है नहीं)। रास्तामें न चढ़ाई थी, न उतराई। देशकी भाँति सुन्दर मार्ग था। मेरी-मेरी गाँव होकर मोहन डांडामें आये। यहाँ थोड़ी उतराई है। वहाँसे गंडकीपर पुल (झूला) है, नये ढंगका बना हुआ।

आगे आदिधारा गङ्गा और गंडकीका संगम है । पार होकर हम संगम-स्नानको गये । एकदम सितासित संगम था । प्रयागराजका दृश्य था । स्नान करके बड़ी प्रसन्नता हुई । फिर ऊपर चढ़कर चले । मार्ग तो बहुत चढ़ाईका नहीं था; किंतु सभीको इतनी जोरकी भूख लगी थी कि पग-पग भारी हो रहा था । अन्नका स्वाद तो ऐसी यात्रामें ही आता है । कैसा भी रूखा-सूखा सड़ा-गला अन्न मिल जाय, वह अमृतोपम प्रतीत होता है । सबकी भूख चौगुनी हो गयी थी । एक छोटा-सा घर कहो, गाँव कहो, मिला । भले ही उसे दूकान भी कह लो । घरवालेने कहा—यहाँ दाल-चावल मोल मिल जायगा । पानी वहाँसे दूर था, घरकी बुढ़ियाने आश्वासन दिया, मैं पानी भी ला दूँगी । वहीं डेरा डाला । बुढ़ियाके यहाँ मोल दूध भी मिल गया । मानो अमृत मिल गया हो, जिसके हाथ पड़ गया वही पी गया । मट्ठा मिला उसे ही उड़ा गये । फिर बनी खिचड़ी । पाठकोंमेंसे कोई होता और वह पत्तलोंपर परसी खिचड़ीको देखता तो सोचता क्या इतनी खिचड़ीको एक आदमी खा सकता है ? किंतु हमारे साथी खाते थे और एक बार नहीं दो-दो बार । मिल जाय तो तीन बार भी । बुढ़ियाको आटा-दाल-चावल, मट्ठा, दूध, लकड़ीके दाम चुकाये और पानी लानेके पैसे देने लगे तो उसने कहा—'मैं पानी लानेके पैसे नहीं लूँगी । नहीं तो, आप देशमें जाकर कहोगे—'नैपालके लोग पानीके भी पैसे ले लेते हैं ।' हमें उसकी इस बातपर बड़ा हर्ष हुआ कि इसे अपने देशकी प्रतिष्ठाका कितना ध्यान है ।

वहाँसे भोजन करके आगे बढ़े । लगभग दो मील आगे ही श्वेतबैनी-तीर्थ है । वहाँ श्वेत-गङ्गा और गंडकीका सुन्दर संगम है । कल गङ्गा-दशहरा है । आज संगमपर आ गये । यह स्थान बड़ा ही मनोहर है । चारों ओर पहाड़ोंसे घिरा है, दूकानोंपर सभी सामान मिलता है । यहाँ चना-चबैना भी मिलता है । इससे आगे मुक्तिनाथतक दाल-चावलको छोड़कर और कोई वस्तु नहीं मिलती । यहाँ मुक्तिनाथके यात्री साधु-संतोंको सदावर्त भी मिलता है । कोई साधु चन्द्रगिरिजी हो गये हैं । उन्होंने ही इस सदावर्तको आरम्भ किया था, अब उनकी एक शिष्या टीकागिरि उसे चला रही हैं । एक संस्कृत-पाठशाला भी है । एक नैपाली संत उसे चलाते हैं । विद्यार्थियोंको पाँच रुपये मासिक छात्रवृत्ति देते हैं । निम्बार्क-सम्प्रदायका एक श्रीकृष्ण भगवानका मन्दिर भी है । पहाड़में यह एक सुन्दर स्थान है । हमलोगोंने यहीं शामका भोजन बनाया । सदावर्तसे सामान लिया ।

श्वेतबैनीसे फाकसैंनी

(ज्ये० शु० १०, १ जून)

श्वेतबैनीमें एक लाख शालग्रामकी शिला है । सुनते हैं ये शिलाएँ बहते-बहते यहाँ स्थित हो गयीं । उसमें शालग्राम-ही-शालग्राम है । संगमका दृश्य मनोहर है । हमने प्रातः गङ्गा-दशहराका स्नान यहीं संगमपर किया । स्नान करके चल दिये । आगे ठाढ़ीचोरेमें दोपहरका भोजन हुआ । भोजन करके चल दिये । यहाँ लोगोंको पता नहीं; मील क्या है, कोस क्या है ? इतना ही जानते हैं एक दिनका मार्ग है, दो दिनका मार्ग है । जिस स्थानको लोग एक कोस बता देते, वह हमारे यहाँके ७-८ मीलसे कम न होता । हमें एक गाँव दो मील बताया गया; किंतु हम चलते ही गये—रात्रि हो गयी । वह गाँव फिर भी दो मील । अन्तमें मुक्तिनाथबाबाने मार्गसे दूर एक फाकसैंनी गाँव बताया । जैसे-तैसे उस गाँवमें पहुँचे । पानी वहाँसे बहुत दूर । बड़ी ही असुविधा हुई । घरवालेसे पानीके पीछे कुछ कहा-सुनी भी हो गयी । इधरके लोग अत्यन्त ही रूखे हैं, वे न तो आतिथ्य करना जानते हैं, न किसीकी किसी प्रकारकी सहायता ही करनेको उत्सुक हैं । यहाँ लोग आते भी नहीं । कुछ फक्कड़ साधु मात्र ही आते हैं । जैसे-तैसे रात्रि काटी । रात्रिमें पानी भी आ गया । भोजन बननेका कोई डौल-डाल नहीं था, अतः सब सो गये ।

(क्रमशः)

* * *

प्रेमी भक्त श्यामानन्द

(लेखक—श्रीराधाकृष्णजी)

सोलहवीं शताब्दी आधीसे अधिक बीत चुकी थी। बंगाल और उड़ीसाके अध्यात्मसिन्धुमें भगवान् श्रीचैतन्यकी भावतरङ्गोंके ज्वार-भाटे आ रहे थे। बर्दवानके अम्बिका-काल्नाके गौर-मन्दिरमें आरतीके बाद आचार्य हृदयचैतन्य भगवान्‌की लीला-कथा कहनेमें लीन थे कि इसी समय एक नवयुवक आकर उनके चरणोंमें लोट गया। करुण-कातर स्वरमें बोला—'प्रभो ! मेरा जीवन धन्य करें। मुझे दीक्षा देकर अपना शिष्य स्वीकार कर लें।'

हृदयचैतन्यने उसे बैठाकर उसके सिरपर प्रेमसे हाथ फेरा। स्नेहपूर्वक उससे पूछने लगे—'बेटा ! तुम कौन हो ? कहाँसे आ रहे हो ? तुम्हारा परिचय क्या है ?'

उत्तरमें उस नवयुवकने अपना परिचय बतलाया।

'बहुत दूर उड़ीसाके धरेंदापुरमें उसका निवास-स्थान है। उतनी दूरसे जंगल और पहाड़ोंमें भटकता हुआ, नदियोंको लाँघता हुआ, पैदल चला आ रहा हूँ आपके पास अम्बिका-काल्नामें। आकाङ्क्षा एकमात्र यही है कि आप मुझे अपने शिष्यके रूपमें स्वीकार कर लें—मुझे दीक्षा दे दें। फिर तो मेरा जीवन धन्य हो जायगा।' आचार्य हृदयचैतन्यने देखा कि दीर्घ-यात्राके फलस्वरूप युवकके पैर फट-फट गये हैं, वहाँसे खून निकल रहा है। थकावटके कारण शरीर शिथिल, अवसन्न। दोनों आँखोंमें क्लान्ति भरी है और उसके भीतरसे भक्तिकी आकुलता झाँक रही है।

'बेटा ! तुमने अपना नाम तो बतलाया नहीं।'

'नाम है मेरा दुखी !'

'दुखी !··ऐसा न कहो बेटा, तुम दुखी नहीं।' आचार्य हृदयचैतन्यने कहा—'तुम्हें आश्रय मिलेगा, तुम्हें दीक्षा मिलेगी। इसी गौर-विग्रहके सामने मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा। अबसे तुम्हारा नाम होगा—'दुखी कृष्णदास।' विश्वास रक्खो, मैं तुम्हें जो कुछ दे सकता हूँ, दूँगा।'

और वह नवयुवक 'दुखी'से कृष्णदास कहलाया। दीक्षा मिल गयी।

चलने लगी एक क्रमसे गौड़ीय वैष्णव पंथकी साधना। दिन आने लगे, रात जाने लगी·····।

इसी उम्रमें वह असाधारण था। उसने वैष्णव-शास्त्रोंका मन्थन किया था। विद्यामें कमी नहीं, बुद्धिमें कमी नहीं, निष्ठा और भक्तिमें कमी नहीं। उपयुक्त शिष्यको उपयुक्त गुरु मिले थे। बड़ी निष्ठा थी, बड़ी भक्ति थी। अपनी साधनामें वह तन्मय रहता।

जातिका वह गोप था। पिताका नाम था श्रीकृष्ण मंडल, माँ थी दुरिका। संतानें तो कई हुईं, मगर टिकी एक भी नहीं। जो जन्म लेते थे, अकाल ही काल-कवलित हो जाते थे। भगवान्‌का ऐसा कोप ! क्या करें ? पिता दुखी थे, माँ दुखी थी। ऐसे ही समयमें माँकी गोदमें एक बालक आया। दुखी माता-पिताने उसका भी नाम रख दिया 'दुखी'।

माँ-बाप चाहते थे कि बेटा विद्वान् बने, सुनाम अर्जन करे। दुखीको संस्कृत-टोलमें पढ़नेके लिये भेजा गया। वाह, क्या छात्र है ! विचित्र थी उसकी मेधा। अद्भुत थी उसकी प्रतिभा। बड़ी शीघ्रताके साथ वह पाठ-पर-पाठ समाप्त करता गया और थोड़े ही दिनोंमें शास्त्रके दुरूह ग्रन्थोंका अध्ययन-मनन करने लगा। किशोरावस्थासे ही मनमें वैराग्यने नीड़ बना लिया था। निताई-गौराङ्गके नाम उसके हृदयमें तरङ्गित होते रहते। संसारमें क्या रक्खा है ? सब क्षणभङ्गुर। इसे पाया तो क्या पाया ? पाना तो उसे है जो अनश्वर है। लेना तो वह है जो कभी नष्ट न हो। अगर वह गृह-त्याग न करे तो क्या करे ? यहाँ मन नहीं लगता। हृदयचैतन्यका नाम वह बार-बार सुनता आ रहा है। वह उनके पास ही जायगा, उनसे ही दीक्षा लेगा।·····

और एक दिन वह घर-द्वार, माता-पिताका मोह त्यागकर चल खड़ा हुआ। वह चलता जा रहा है, चलता जा रहा है। बहुत दूर जाना है उसे। बर्दवानके अम्बिका-काल्नामें जाना है। वहाँ गौर-विग्रहका मन्दिर है। वहीं हृदयचैतन्य रहते हैं। उनके चरणोंमें जाकर ही वह कृतार्थ होगा। वह चला जा रहा है, चला जा रहा है।·····

गौर-विग्रहकी सेवा-पूजामें दुखी कृष्णदास रम गये। वैष्णव आचार और निष्ठाकी तपस्या चलने लगी। मूर्तिके स्नानके लिये बहुत दूर जाकर गङ्गाजल लाना पड़ता है। घड़ा भी बहुत बड़ा है। इतने बड़े घड़ेमें जल भरकर इतनी

दूर लाना। हो नहीं पाता; फिर भी कृष्णदास अपने काममें लगा हुआ है। घड़ेको ढोते-ढोते सिरमें बहुत बड़ा घाव हो गया है। अब असहनीय है। किसी तरह भी जल लाया नहीं जाता। फिर भी निष्ठा है। इस तनको क्या सोचे; वह गौर-विग्रहको सोचता है, उनकी पूजाके बारेमें सोचता है, उनकी सेवाके बारेमें सोचता है। कार्यक्रम उसी प्रकार चलता जा रहा है, घाव भी उसी प्रकार बढ़ता जा रहा है।

एक दिन आचार्यने स्नेहपूर्वक उसके सिरपर हाथ फेरा तो सिहर उठे, चकित रह गये। 'इतना बड़ा घाव ? यह कैसे ?'

'गुरुदेव ! घड़ा भारी है और स्नान-आचमनके लिये गङ्गाजीका जल लाना आवश्यक है।'

'परंतु इतना बड़ा घाव होनेपर भी तुमने गङ्गाजल लाना छोड़ा नहीं ?'

'गुरुदेव ! यदि ऐसा करता तो भगवान्की सेवामें बाधा होती।'

शिष्यकी इस निष्ठाने गुरुको भी चकित-स्तम्भित कर दिया।

'बेटा ! तुम्हारे आध्यात्मिक जीवनका भविष्य महान् है। तुम चले जाओ वृन्दावन। वहाँ श्रीजीव गोस्वामीके पास जाकर मेरा नाम लेना। मैं उन्हें पत्र भी दे रहा हूँ। वहाँ जाकर उनके आश्रयमें रहना और वैष्णव-शास्त्रोंका अध्ययन करना।'

हृदयचैतन्यने श्रीजीव गोस्वामीके नाम पत्र लिख दिया और उसे लेकर दुखी कृष्णदास चल पड़े। श्रीधाम, नवद्वीप, गया, काशी, प्रयाग और एक दिन वृन्दावनमें आ उपस्थित हुए। वहाँ जाकर उन्होंने रघुनाथ गोस्वामीका नाम सुना। सम्पूर्ण व्रजमण्डलमें रघुनाथ गोस्वामीका सुयश प्रकाशकी भाँति फैला हुआ था। प्रेम-भक्तिका ऐसा समर्थ साधक न देखा गया, न सुना गया। राधाकुण्डके किनारे उनकी कुटियामें भक्तोंकी भीड़ लगी रहती थी।

दुखी कृष्णदासको जाना था श्रीजीव गोस्वामीके पास; परंतु पहुँच गये वे रघुनाथ गोस्वामीकी कुटियामें। जाकर उन्हें प्रणाम किया।

रघुनाथदासने कहा—'बेटा ! तुम्हें श्रीजीव गोस्वामीके पास जाना है। मेरे पास क्यों आये हो ? जाकर उनकी शरण लो और शास्त्र तथा साधनामें मन लगाओ।'

रघुनाथदासने एक आदमीको साथ कर दिया। दुखी कृष्णदास श्रीजीव गोस्वामीकी कुटियापर पहुँचे। अपने गुरुका पत्र उन्हें दे दिया। श्रीजीव गोस्वामी मुस्कराने लगे।

दुखी कृष्णदास वहाँ वर्षों रह गये। बीच-बीचमें जन्मभूमि उड़ीसा जाते रहते, वैष्णवधर्मका प्रचार करते रहते। सब होता; परंतु वृन्दावन गये बिना जी न मानता। उड़ीसासे घूम-फिरकर वे वृन्दावन पहुँच ही जाते, जहाँ भगवान् श्रीकृष्णने विहार किया था, जहाँके चप्पे-चप्पेपर उनकी लीलाओंका मधुर इतिहास अङ्कित है।

उन्होंने वृन्दावनके निकुञ्ज-मन्दिरमें झाड़ू देनेका काम ले लिया। रोज वहाँ झाड़ू लगाकर मन्दिर साफ करते और भगवान्की लीलाओंका स्मरण करते हुए आनन्दमें मग्न रहते। मनमें एक आशा बलवती होती जा रही थी कि 'यहाँ रहकर क्या कभी राधा-गोविन्दकी निकुञ्ज-लीला भी देख पाऊँगा ?'

एक दिन·······प्रभात होनेहीवाला था। दुखी कृष्णदासकी नींद टूटी और वे अपने काममें लग गये। झाड़ू देते हुए सहसा उन्होंने देखा कि मन्दिरके बाहरी प्राङ्गणमें कोई चीज चमक रही है। समीप गये। देखा वह सोनेका नूपुर था। उससे एक दिव्य छटा निकल रही है। उन्होंने उसे उठा लिया। सहसा उनका हृदय भी उसी दिव्य छटासे आलोकित हो उठा। 'अरे, बड़ा भाग्यशाली है तू कृष्णदास, तुझे राधाप्यारीके चरणोंका नूपुर मिल गया !···'

दुखी कृष्णदासकी आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

इसी समय एक अनुपम रूपवाली किशोरी वहाँ पहुँचती है और कृष्णदाससे पूछती है—'भैयाजी, तुम्हें एक सोनेका नूपुर मिला है ?'

कृष्णदासने कहा—'हाँ, मिला तो है किंतु वह है किसका ?'

'एक राजकुमारी मेरी सखी है। वही मेरे साथ मन्दिरमें आयी थी। उसीका सोनेका नूपुर गिर गया। वह तरुणी है, राजकुमारी है, किसीके सामने नहीं आती। लानेके लिये मुझे भेजा है।'

दुखी कृष्णदासने युक्ति लगायी। बोले—'परंतु मैं यह कैसे जानूँ कि तुम सच कहती हो या नहीं। जिसका नूपुर है, उसीको बुला लाओ तो जानूँ। मैं स्वयं तुम्हारी सखीके

चरणोंमें पहनाकर देखूँगा कि नूपुर उन्हें ठीक-ठीक आता है या नहीं। यह भी तो देख लेना होगा।'

'ऐसे नहीं दोगे?'

'कह तो दिया।'

किशोरीने देख लिया कि यह आदमी अपनी बातसे नहीं टलेगा। चली गयी राजकुमारीको बुलाने। थोड़ी देरके बाद ही मन्दिरके उस प्राङ्गणमें रूपमाधुर्यका आलोक जगमगा उठा। किशोरीको साथ लिये हुए वह तरुणी अपना नूपुर लेनेके लिये आयी थी।............'मैं सब जानता हूँ। मुझे छलो मत। तुम श्रीराधारानी हो, राधारानी! तुम नूपुरके उद्धारके लिये नहीं, इस अधम कृष्णदासके उद्धारके लिये आयी हो। मालूम है, मुझे मालूम है।' कृष्णदासका तन पुलकित, आँखोंसे अविरल अश्रुधारा, कण्ठ गद्गद। धन्य भाग्य, आज ब्राह्ममुहूर्तमें श्रीराधाजीके दर्शन हो गये।.........

फिर भी कृष्णदासने पूछा—'तुम दोनों सखियाँ निभृत रातमें मन्दिरमें आयी थीं क्यों?'

अमृतमें घुली हुई मीठी वाणी सुनायी पड़ी—'क्या आना और क्या जाना है वैष्णव! यह मेरा ही निकुंज-मन्दिर है। तुम्हें जो जानना था, वह स्पष्ट बतला दिया। अब लाओ, मेरा नूपुर दे दो।'

मनका पर्दा खुलता जा रहा है। कृष्णदासको देहका भान नहीं। उनकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही है। अवाक् हैं वे, निष्पन्द हैं, चुप हैं।......

'देखो वैष्णव! हठ न करो। प्रातः हो आया। मेरा नूपुर वापस करो।'

कृष्णदासने रोते-रोते कहा—'मैं सब जानता हूँ। जानता हूँ कि तुम राधारानी हो। मुझपर कृपा करो। अपने वास्तविक रूपमें मुझे दर्शन दो।'

राधारानी बोलीं—'इन आँखोंसे तुम मेरा चिन्मय रूप नहीं देख सकोगे।'

मगर कृष्णदास कातर थे, रो रहे थे, बिलख रहे थे।

तब राधारानीकी सखी ललिताजीने कहा—'जब ऐसी बात है तो भक्तपर थोड़ी-सी कृपा और कर दो। इन्हें दर्शन करनेकी शक्ति भी दे दो।'

और क्षणमात्रमें ही सारा संसार बदल गया। दुखी कृष्णदासने क्या देखा, इसे कौन कह सकेगा और कौन जान सकेगा?

अपना रूप दिखलाकर राधारानीने कहा—'तुम्हारी भक्ति और निष्ठाने मुझे आकृष्ट किया है। मेरी कृपाका चिह्न तुम अपने मस्तकपर धारण कर लो।'

और राधारानीने अपना नूपुर दुखी कृष्णदासके मस्तकसे छुला दिया।

उसके बाद कहाँ राधारानी और कहाँ ललिता! दोनों अन्तर्धान हो गयीं। भक्त कृष्णदास सुध-बुध खोकर मूर्च्छित हो गये।

चेत होनेपर वे रोते हुए श्रीजीव गोस्वामीके पास पहुँचे। सारा हाल कहा और फिर रोने लगे। राधारानीको देखा, उनकी सखी ललिताको देखा। राधारानीने कृपापूर्वक अपना दर्शन दिया, अपने स्वर्ण-नूपुरको मेरे मस्तकसे छुला दिया। यह देखिये, ललाटपर उसका चिह्न।

श्रीजीव गोस्वामीने कहा—'भाग्यवान् हो वत्स! तुम्हें राधारानीके दर्शन सुलभ हो गये। अब तुम्हें दुखी कृष्णदास कौन कहेगा? अबसे तुम गोस्वामी श्यामानन्द हो गये।'

और तबसे वे श्यामानन्द कहे जाने लगे। व्रजमण्डलमें धूम मच गयी। राधारानीने दुखी-कृष्णदासको अपना दर्शन दिया, चिन्मय रूप दिखाया और अपने नूपुरका तिलक उसके ललाटपर लगा दिया। अब वे श्यामानन्द हैं। हर्षित होकर श्रीजीव गोस्वामीने उन्हें यह नाम दे दिया है।

बात दूर-दूरतक फैली। बंगालमें बैठे हुए आचार्य हृदयचैतन्यने भी सुना। सुना कि 'आपके शिष्यने आपका दिया हुआ नाम छोड़ दिया, आपका वैष्णवी तिलक छोड़ दिया। वह बिल्कुल परिवर्तित है। उसने दूसरा गुरु भी कर लिया।'

क्रोध आना स्वाभाविक था। हृदयचैतन्यने श्रीजीव गोस्वामीको पत्र लिखा—'दुखी कृष्णदासको मेरे पास अविलम्ब वापस भेज दीजिये—तत्काल!'

श्यामानन्द कालना आ गये।

गुरुदेवने क्रुद्ध होकर पूछा—'क्यों रे, तेरी ऐसी स्पर्धा! तूने मेरा दिया हुआ नाम बदल दिया? तूने गौड़ीय वैष्णवका तिलक मिटा दिया? तेरा इतना साहस! बोल, जवाब दे?'

'गुरुदेव ! यह आपकी कृपासे ही सम्भव हुआ !'

'कैसे ?'

श्यामानन्दने सारा हाल बतलाया। अपनी सारी बात कह गये। मगर क्रोधके सामने क्या तर्क और क्या विवेक ! हृदयचैतन्यने कहा—'छोड़—छोड़ यह अपना ढकोसला; रख अपना प्रपञ्च। मैंने जो तुझे नाम दिया है, उसे रख; फिरसे गौड़ीय वैष्णवोंका तिलक ललाटपर धारण कर। तू गुरुकी आज्ञा भी नहीं मानेगा ?'

श्यामानन्दने कहा—'प्रभो ! ललाटपर यह नवीन तिलक मुझे प्रसादमें मिला है। मैं इसे अपने हाथों नहीं मिटा सकता। मिटाना हो तो आप ही इसे अपने हाथसे मिटा दीजिये।'

ठाकुर हृदयचैतन्यने अपने वस्त्रसे रगड़कर तिलकको मिटा देना चाहा। परंतु कहाँ ! तिलक तो मिटता नहीं ! गुरु मिटाते-मिटाते हार गये हैं, किंतु तिलक ज्यों-का-त्यों, जैसा-का-तैसा है। बार-बार मिटाना चाहते हैं, लेकिन नहीं मिट पाता। कौन कहता है कि यह तिलक साधारण है ! सचमुच इसके ललाटका यह तिलक अलौकिक है, दिव्य है। यह मिटनेवाला नहीं, मिटेगा भी नहीं !

गुरुने पुलकित होकर अपने शिष्यको गलेसे लगा लिया।

× × ×

इन्हीं श्यामानन्दके बारह शिष्योंने उड़ीसामें वैष्णवधर्मकी बारह शाखाएँ चलायीं। स्वर्णरेखा नदीके तीर गोपीवल्लभपुरमें श्यामानन्दी-सम्प्रदायका प्रधान केन्द्र स्थापित हुआ। उड़ीसाकी संस्कृति और आध्यात्मिक विचारधारापर श्यामानन्दका प्रभाव उसी प्रकार अमिट है, जिस प्रकार श्रीराधारानीका दिया हुआ तिलक उनके ललाटपर अमिट था।

* * *

हिंदू-संस्कृतिमें धर्म और राष्ट्र

(लेखक—श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय)

हिंदू-संस्कृतिकी धार्मिक सदाशयताके कारण यहाँ विश्व-धर्मोंका एकत्र दर्शन किया जा सकता है। अनादिकालसे यहाँ यही बताया जाता रहा है कि सत्य और ज्ञानतक पहुँचनेके लिये, 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार अनेक मतोंके उत्पन्न होनेपर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। सच तो यह है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' एक ही सत्य-शक्तिको ज्ञानीजन कई रूपोंमें कहते हैं। इसके फलस्वरूप हिंदू-संस्कृतिकी धार्मिक सदाशयताको इस रूपमें भी कहा जा सकता है कि वह सदासे सर्व-समन्वयात्मक और सर्वग्राह्य रही है। उसका दर्शन-शास्त्र विश्वजनीन है, जिसकी कोई परिमित सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। वह हर क्षेत्रमें अरूढ़ है और अपनेको सर्वकल्याणमयी समयानुसारी स्थितियोंमें ढाल देनेकी अद्भुत क्षमता भी रखता है। हिंदूधर्मकी इसी महाशयताकी व्याख्या करते हुए एक बार अमेरिकाकी किसी सभामें स्वामी विवेकानन्दजीने कहा था—'हिंदूधर्मके अनुसार उसका उपासक किसी भी मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघरमें अपने उपास्यकी उपासना कर सकनेमें स्वतन्त्र है। उसका कर्मकाण्ड, आदेश, विधियाँ यथाकाम संग्रथित होती हैं। जाति, भाषा, राजनीतिक गठन, सामाजिक परम्पराओं और रुचियोंकी भिन्नतासे संस्कृतिका मूल रूप नहीं बदलता। हिंदू-संस्कृतिका निवास आत्माकी अजरता-अमरतामें है, जड देहके क्षणिक-विनाशमें नहीं, डा० राधाकुमुद मुकर्जीने इस सदाशयताको अपने 'हिंदू सभ्यता' नामक ग्रन्थमें बड़े सजीव ढंगसे व्यक्त किया है—'यह (हिंदू-संस्कृति) निष्प्राण वस्तुओं या ईंट-पत्थरोंका अजायबघर नहीं, बल्कि प्राणवन्त मानव-जाति और आध्यात्मिक विचारोंका, जो अपने-अपने ढंगसे विकसित होते रहे हैं, महान् कोष है।'

जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई कोई भी इस सदाशयतापर अंगुली नहीं उठा सकता। सर्वशक्तिमान्‌की प्रतिमाके सम्मुख बैठा हुआ उपासक अपने उपास्यको सबके उपास्य-रूपमें देखता है—'हे विश्वभावन प्रभु ! तुम्हीं शैवोंके लिये शिव, वैष्णवोंके लिये विष्णु, वेदान्तियोंके ब्रह्म, बौद्धोंके बुद्ध, जैनियोंके अर्हत और मीमांसकोंके कर्मरूप होकर भी मेरे लिये हरि हो। मुझे मेरा वाञ्छित फल प्रदान करो।' इस प्रकार वैचारिक और भौगोलिक परिस्थितियोंसे उत्पन्न व्यावहारिक भिन्नताओंके बाद भी संस्कृतिके पनपानेवाले मानदण्ड समूचे भारतके लिये सदासे एक रहे हैं। विशृंखलतासे बचाये रखनेके लिये, राष्ट्र-स्वरूपको निर्धारित करते हुए उसके सात भिन्न-भिन्न भागोंमें सप्त पुरियोंकी स्थापना की गयी है—अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका और द्वारावती। वैष्णव, शैव, शाक्त सबके अपने-अपने अलग तीर्थस्थान हैं जो पूरे भारतको एकप्राण बनाये रखनेमें बड़े प्रयत्नशील रहे हैं। सभी सम्प्रदायोंमें हर अन्य सम्प्रदायके तीर्थस्थानपर जाने और उनका सम्मान करनेकी पूरी छूट है। इस प्रकारकी धार्मिक सहिष्णुताने समूचे राष्ट्रके लिये जीवित, जाग्रत् प्रेम पैदा करनेमें अद्भुत योग दिया है।

देशके चारों कोनोंमें अपने मठोंद्वारा जगद्गुरुने इस कार्यको और सराहनीय कर दिया है। एक प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान्‌के अनुसार 'हिंदुओंके लिये भारतवर्ष न केवल एक सत्तासे शासित इकाई है, बल्कि वह उनकी आध्यात्मिक संस्कृतिका मूर्त्त-रूप अथवा मातृदेवी है। उसमें उसने अपनी आत्माको उँडेल दिया है। उसके विचारानुसार उसकी आत्माका महान् रूप ही उसकी मातृभूमि है।'

भारतवर्ष और हिंदू-धर्मका सम्बन्ध आत्मा और शरीरकी तरह अभिन्न रहा है। इसी भावनाने ही देशकी सांस्कृतिक एकताको इतिहासकी अनेक राजनीतिक उथल-पुथलोंके बीच भी अटूट रक्खा है। इस ऐक्य-सूत्रको दृढ़ बनानेमें सबसे अधिक कार्य किया है संस्कृत भाषाने। मोनियर विलियमने इसके सहयोगकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है—'यद्यपि भारतवर्षमें पाँच सौसे अधिक बोलियाँ हैं पर धार्मिक भाषा केवल एक है, जिसमें उसके समस्त धार्मिक साहित्यकी सर्जना की गयी है, जिसे हिंदूधर्मके सभी अनुयायी, जाति, पाँति, बोली, सामाजिक परिस्थितियों और भौगोलिक भिन्नताओंके उपरान्त भी मानते हैं और श्रद्धासे पूजते हैं। वह भाषा संस्कृत और साहित्य भी संस्कृत है। वही वेद या विश्वजनीन ज्ञानका सर्वमान्य कोष है। सभीका एकमात्र साधन है। केवल वही एक ऐसा दर्पण है जिसमें हिंदुओंके सभी मत-मतान्तर, विचार, रीति-रिवाज और प्रथाएँ पूर्णरूपेण प्रतिविम्बित हैं, या वही ऐसी खान है, जहाँसे सभी देशी भाषाओंको भी उन्नत करनेकी सामग्री उपलब्ध होती है।'

इस प्रकार सदाशयताकी धरतीपर पनपी हिंदू-संस्कृतिने, समूचे राष्ट्रको एकताकी मजबूत डोरमें बाँध दिया। देश और संस्कृति परस्पर अविभाज्य हैं, इस विचारधाराने इस एकताको और दृढ़ बना दिया। धीरे-धीरे देशका भौगोलिक रूप उसके आध्यात्मिक रूपमें विलीन होता गया और अजनाभ, सप्तसिंधु, ब्रह्मर्षि देश, ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, जम्बूद्वीप और भारतवर्ष आदि अनेक नाम-सोपानोंसे उतरते हुए उसने अपनी प्रबल समन्वयात्मक अनुप्राणनकी शक्तिसे कालान्तरमें एक बृहत्तर भारतकी सर्जना की। इसकी वैचारिक संस्थाएँ श्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो क्रमशः (कम्बोज, यवद्वीप, सुवर्णद्वीप, बलिद्वीप, वारुणद्वीप) तक फैलती गयीं। आर्ष-ग्रन्थोंमें वर्णित अगस्त्य और कौण्डिन्य ऋषियोंको इसका सबसे अधिक श्रेय है। इन देशोंके साहित्य, मन्दिरों, स्तूपों, कलाकृतियों, लोकवार्ताओं और जनश्रुतियोंपर हिंदू-संस्कृतिकी छाप स्पष्ट दर्शनीय है।

राजनीतिक विषमताओंके परे हिंदू-संस्कृतिकी सबसे प्रमुख ऐतिहासिक विशेषता यह रही है कि देशको शासनकी छोटी-छोटी इकाइयों और प्रादेशिक राज्य-व्यवस्थाओंसे सर्वथा अछूता रक्खा गया। उसके एकप्राण रूपपर कभी आँच नहीं आयी। आजतक समस्त भारत विचार और जीवनके आदर्शोंमें एक ही मूल शक्तिसे प्रेरित होकर, एक-जैसे राष्ट्रीय आदर्श और एक-जैसी मूलभूत योजना-संस्थाओंके उदय और उन्नयनमें विश्वास करता आया है। यही कारण है कि अनेक घातों-प्रत्याघातोंके बीच भी उसकी आत्मिक-शक्ति सूर्यके प्रकाशकी भाँति ही प्रभविष्णु रही। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने इसकी इस महत्ताको बड़े ही रमणीय ढंगसे व्यक्त किया है। 'हमारे धर्मशास्त्रोंने और वेदके अङ्ग कहे जानेवाले लोक-व्यवहारकी यथार्थता बतानेवाले शास्त्रोंने भारतीय विचार-परम्पराके एक मेरुदण्डका निर्माण किया है। हिमालयकी ऊँचाईसे लेकर समुद्रमें सँकरी भूमिके रूपमें लीन हो जानेवाले अन्तरीप कन्याकुमारीतकके विभिन्न धार्मिक विश्वासों और पुण्यग्राही अनुष्ठानोंके अन्तरालमें भारतीय विचार-परम्पराका यह मेरुदण्ड शक्ति और दृढ़ताका सहारा बना हुआ है। इस प्रकार हमारे आचारसमूहोंके ऊपरसे भिन्न और बहुमुखी दीखनेवाले जंजालके भीतर भी एक प्रकारकी दृढ़ एकता प्रतिष्ठित है। परवर्ती कालोंमें जो कुछ भी लिखा या सोचा गया है उसकी आधार-शिला यही है।'

वैदिक सूक्तियोंके द्वारा, वेदोंसे निर्गमित, कालान्तरके शास्त्रोंसे पोषित हिंदू-चिन्तन-प्रणालीका मर्म काफी स्पष्ट हो जाता है। (संगच्छध्वं संवदध्वं) एक साथ मिलकर चलते और बोलते हुए हम सब (स्वस्ति पन्थानमनुचरेम) अपने-अपने कल्याणमार्गपर चलें। (उपसर्प मातरम् भूमिम्) मातृभूमिकी सेवा करते हुए, स्वराज्यके लिये प्रयत्नशील हों (स्वराज्ये यतेमहि)। (अहमिन्द्रेन पराजिग्ये) मैं आत्मा हूँ, मुझे कोई पराजित नहीं कर सकता, जैसे निडर संकल्पवाला व्यक्ति ही अपनेमें सुख और कल्याणमय संकल्प, ज्ञान और कर्मको धारण करनेकी स्पृहा करता है—(भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि)। इस प्रकार सोचता हुआ व्यक्ति सम्पूर्ण विश्वको एक ही परमात्मशक्तिसे संचालित और स्थिर मानता है—(तस्मिन् ह तस्थु भुवनानि विश्वाः)। अतः वह सभी प्रजामें ओतप्रोत विभुसे (स ओतप्रोतश्च विभुः प्रजासु) कामना करता है कि 'हे परमेश्वर! हम तेरे मित्रभावसे दुखी और विनष्ट न हों—(अग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव) इस प्रकारकी निःस्वार्थ चिन्तन-प्रणालीमें केवल विभुसे ही कहनेभरकी प्रार्थना की जाती हो, ऐसी बात नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्तिके हृदय-सन्दिरमें परस्परावलम्बन तथा सहानुभूतिका प्रदीप प्रज्वलित करनेका विधान है। सब एक ही प्रजापतिकी संतान तो हैं, फिर अपने ही भाईके लिये प्रमाद

और शत्रुभावकी धारणा क्यों ? (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे) हम सब परस्पर एक-दूसरेके साथ मित्रवत् व्यवहार करते हुए आगे बढ़ें। हिंदू-संस्कृतिका यह एक सूत्र और दृढ़ हो पाता !

महामना पं० मदनमोहन मालवीय, सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय थे

(लेखक—श्री एम्० जी० दीक्षित)

स्वनामधन्य स्वर्गीय महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीयको एक सच्चे देशसेवी तथा अग्रगण्य राष्ट्रीय नेताके रूपमें सभी जानते हैं; परंतु कम लोगोंको पता है कि राजनीति तथा वकालतके क्षेत्रमें अनुपम ख्याति अर्जित करनेवाले मालवीयजीका अन्तर अनेक रसमयी भावनाओंसे आप्लावित एक सहृदय कविका अन्तर था। उनके दैनिक क्रिया-कलापोंमें तथा उनके द्वारा समय-समयपर रचित साहित्यमें उनके अन्तरकी रसमयी भावनाओंके दर्शन होते थे। उनकी प्रभावशाली तथा सुमधुर वाणी भी उनके कवि-हृदयकी ही देन थी।

सिरसे पैरतक हृदय

प्रयागसे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' के यशस्वी सम्पादक स्वर्गीय सी० वाई० चिन्तामणि महामनाके निकट सम्पर्कमें रहे थे। उनके व्यक्तित्वकी व्याख्या करते हुए एक बार श्रीचिन्तामणिने कहा था—'मालवीयजी सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय हैं।' यह एक छोटा-सा वाक्य ही मालवीयजीके भावनाशील व्यक्तित्वका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करनेके लिये पर्याप्त है। मालवीयजी कितने दयालु और दूसरोंके दुःखसे द्रवित हो जानेवाले थे, यह तथ्य उनके अनेक जीवन-प्रसंगोंसे भलीभाँति स्पष्ट है। इनमेंसे कुछका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

एक बार वे एक आवश्यक मीटिंगके कार्यमें बुरी तरह व्यस्त थे। तनिक-सा अवकाश मिलनेपर द्वारपर आये तो देखा कि एक गरीब-सा दिखायी देनेवाला युवक आशापूर्ण नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहा है। उन्हें देखते ही उसने एक प्रार्थना-पत्र उनकी ओर बढ़ा दिया, जिसमें उसने अपनी दीनदशाका वर्णन करते हुए फीस माफ कर दिये जानेकी प्रार्थना की थी। मालवीयजीने अपनी व्यस्तताकी तनिक भी न परवा करते हुए और तनिक-सी भी खीझ न प्रदर्शित करते हुए तुरंत उस प्रार्थना-पत्रपर रजिस्ट्रारके नाम संदेश लिख दिया कि यदि हो सके तो इस विद्यार्थीकी फीस माफ कर दी जाय। रजिस्ट्रारने इतना लिखा पाकर उसकी फीस माफ कर दी और वह विद्यार्थी निहाल हो गया।

यह केवल एक उदाहरण है। मालवीयजीके दैनिक जीवनमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते थे। उनका घर हर छोटे-बड़े आदमीके लिये खुला था। सबकी कहानी वे ध्यानपूर्वक सुनते थे और यथाशक्ति उनकी सहायता करनेका प्रयत्न करते थे। उस दशामें भी जब कमजोरीके कारण डाक्टरोंने उन्हें मुलाकातियोंकी संख्या कम-से-कम रखनेकी सलाह दी थी, वे किसीको भी अपने द्वारसे निराश नहीं लौटाते थे।

मनुष्य ही नहीं, पशुपर भी दया

केवल मनुष्य ही उनकी दयाके पात्र नहीं थे, बल्कि पशुओंको भी वे दुखी नहीं देख सकते थे। एक बार वे कहींसे आ रहे थे। रास्तेमें एक कुत्तेकी चीख-पुकारने उनका ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने देखा कि कुत्तेके कानके पास एक घाव हो गया है जिसपर मक्खियाँ लगी हुई हैं। मालवीयजी जल्दीमें थे, फिर भी वे तुरंत डाक्टरके पास गये और उनसे उस घावपर लगानेकी दवाकी जानकारी कर तुरंत वह दवा ले आये। रास्तेमें ही खड़े होकर उन्होंने बाँसमें बँधे हुए कपड़ेको दवामें तर किया और कुत्तेके घावपर उसे लगाया। जबतक कुत्ता आरामकी नींद सो नहीं गया, उन्हें चैन नहीं मिला।

मानवमात्र दयाका पात्र

मालवीयजीमें धार्मिक सहिष्णुता कूट-कूटकर भरी थी। उनकी दृष्टिमें हिंदू, मुसल्मान, सिख, ईसाई आदिका कोई भेद नहीं था। उनके लिये तो सभी परमात्माकी संतान थे और सबको जीनेका समान अधिकार था। पंजाबके हिंदू-मुस्लिम दंगोंके समय एक ओर जहाँ उन्होंने अत्याचार करनेवाले मुस्लिम गुंडोंकी लानत-मलामत की थी, वहीं अल्पसंख्यक मुसल्मानोंपर अत्याचार करनेवाले हिंदुओंको भी माफ नहीं किया था। स्त्री-पुरुषोंपर हुए जघन्य अत्याचारोंकी करुण कहानी सुनकर तो वे रो पड़े थे।

अपने अन्तिम समयमें जब वे चलने-फिरनेसे असमर्थ होकर मृत्युशय्यापर पड़े हुए थे, तभी उन्हें नोआखालीके समाचार मिले; जिन्होंने उनका हृदय हिला दिया और जो उनकी शीघ्र मृत्युका कारण बने। वहाँ होनेवाले अत्याचारोंकी कहानी सुनकर मालवीयजी फूट-फूटकर रोये थे और अपनी चारपाईसे न उठ सकनेकी विवशतापर आर्त्तनाद कर उठे थे। उसी समयका लिखा उनका अन्तिम लेख 'कल्याण' में प्रकाशित हुआ था।

वाणीमें दयाभाव

मालवीयजीकी वाणी बड़ी प्रभावशालिनी थी । वे संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजीके अच्छे ज्ञाता थे और तीनों भाषाओंमें धाराप्रवाह बोलते थे । हिंदी बोलते समय बहुधा वे संस्कृतके तत्सम शब्दोंका प्रयोग किया करते थे, फिर भी उन्हें यह ध्यान रहता था कि ऐसे शब्द न बोले जायँ, जिनका अर्थ सरलतासे समझमें न आ सके । बोलचालमें प्रचलित शब्दोंकी भी उनके भाषणोंमें भरमार रहती थी । यही कारण है कि जनता उन्हें सुनकर मुग्ध हो जाती थी ।

भाषण देते समय बहुधा मालवीयजीको भावावेश होता था । भारतीय जनताकी दुर्दशाका वर्णन करते समय तो उनकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाती थी । खुद भी रोते थे और साथ-साथ श्रोताओंको भी रुलाते थे । जिस किसीको एक भी बार उनका भाषण सुननेका अवसर प्राप्त हुआ है, वह उनकी भावुकतासे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है । बनारस हिंदूविश्वविद्यालयके लिये धन एकत्रित करते समय उन्होंने जो भाषण दिये, उन्होंने जनताके हृदयको छू लिया और उस तंगीके समयमें देशके दरिद्र होते हुए भी अपने प्रभावके बलपर ही मालवीयजी एक करोड़ रुपये विश्वविद्यालयके लिये संग्रह करनेमें सफल हुए । उनकी वाणीमें इतना प्रभाव था कि जो भी उनसे मिलता था, विश्वविद्यालयके लिये कुछ-न-कुछ देकर ही जाता था । जनताके प्रत्येक वर्गने यथाशक्ति उन्हें सहायता दी । यहाँतक कि कई जगह लोगोंने शरीरपरके वस्त्रतक उतारकर विश्वविद्यालय-कोषमें दे दिये ।

सौम्यस्वरूप और परिधान

मालवीयजीके दयामय स्वभावकी झलक उनके सौम्य-स्वरूप और परिधानमें भी देखनेको मिलती थी । वे बहुधा श्वेत वस्त्र धारण करते थे । पैरोंमें चमड़ेका जूता पहनना, उन्होंने उसी दिन छोड़ दिया था जिस दिन उन्हें पता लगा कि इसके लिये पशुओंकी निर्ममतासे हत्या की जाती है । अतः जीवनभर उन्होंने चमड़ेके जूतेके स्थानपर कपड़ेका जूता पहना । उनके वस्त्र सादे और स्वच्छ तथा भारतीय-परम्पराके अनुकूल रहते थे । बहुधा वे ढीला पायजामा और अंगरखा धारण करते थे । गलेमें पण्डिताऊ ढंगका दुपट्टा और सिरपर श्वेत पगड़ी रहती थी । मुखपर सदा मन्द मुस्कान खेलती रहती थी ।

मालवीयजीके सामने जानेमें या उनसे बातें करनेमें किसीको भी भय या रोबदाबका भान नहीं होता था । यह मालवीयजीकी अपनी विशेषता थी । छोटे-से-छोटे लोगोंसे वे परम आत्मीयताके साथ मिला करते थे । विश्वविद्यालय घूमने-आनेवाले लोगोंसे सवा रुपया या एक रुपया तकका दान विश्वविद्यालय-कोषके लिये खुद अपने हाथोंसे बिना किसी संकोचके स्वीकार करते लोगोंने उन्हें देखा था । लोगोंको उनके पास जाकर इतनी छोटी-सी रकम उन्हें भेंट करनेमें कोई संकोच नहीं होता था । वे उनसे निर्भय होकर मिलते थे और मालवीयजीके स्नेहकी गहरी छाप उनके मनपर पड़ती थी ।

भारतीय-परम्परामें ऐसे ही लोगोंको महान् कहा गया है, जिनके सामने आनेपर क्षुद्र-से-क्षुद्र व्यक्ति भी बड़प्पन महसूस करे और उनसे निर्भय होकर वार्तालाप करे ।

मालवीयजीमें अपने बड़प्पनके प्रति घमंडकी भावना बिल्कुल ही नहीं छू गयी थी । रास्ते चलते किसी भिक्षुककी करुण पुकार सुनकर उसके पास बैठते और उसका हालचाल पूछते उन्हें कोई संकोच नहीं होता था । घरमें भाँति-भाँतिके पक्षी उन्होंने पाल रक्खे थे और अपने व्यस्त जीवनमेंसे उन्हें खाना खिलानेके लिये समय वे निकाल ही लिया करते थे । उनकी कृपासे कितने निर्धन विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर जीवनमें सफल हुए, कितनोंको मुसीबतोंसे छुटकारा मिला और कितनोंने संघर्षोंसे लड़नेके लिये आत्मविश्वास प्राप्त किया, इसकी कोई गिनती नहीं है ।

यह उनके नवनीत-हृदयका ही परिणाम था कि वे अपनी दिन-प्रतिदिन उन्नतिशील वकालत छोड़कर देशकी पुकारपर कंटकाकीर्ण पथपर चल पड़े । उनके दयास्वभावने ही अनेक बाधाएँ सामने आनेपर भी अपने मानवकल्याण और सेवाके मार्गपर दृढ़ रहनेकी प्रेरणा दी । बनारस-हिंदू-विश्वविद्यालयके लिये धन एकत्रित करते समय उन्हें न केवल संकटोंका सामना करना पड़ा, किंतु उपहास और तिरस्कारका शिकार भी बनना पड़ा । स्वयं उनके कई सहयोगियोंने उनके निश्चयकी हँसी उड़ायी और उन्हें 'पागल' कहा । फिर भी वे तनिक भी विचलित न होकर अपने मार्गपर आगे बढ़ते गये और हिंदू-विश्वविद्यालयके रूपमें उन्होंने जनहितका ऐसा कार्य किया, जिसकी मिसाल आनेवाली अनेक पीढ़ियों तक कायम रहेगी ।

उनके दयालु व्यक्तित्वकी विशेषताओंको ध्यानमें रखकर ही स्वर्गीय डा० सच्चिदानन्द सिनहाने उनकी प्रशंसामें अँगरेजीमें निम्न शब्द कहे थे—

> ही वाज़ वर्दी, फुल आफ पावर
> जैन्टिल, लिबरल-माइंडेड ग्रेट
> कान्सिस्टेंट वियरिंग आल दैट वेट
> आफलनिंग लाइटली लाइक ए फ्लावर ।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार । तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥
जपहिं नाम जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥
राम नाम नर केसरी कनककसिपु कलिकाल । जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ॥

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, वैषम्य-दारिद्र्य, तमसाच्छन्न बुद्धि-अहंकार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीड़ित; अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण; अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छाचार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्त कर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है । सभी श्रेणियोंके, सभी जातियोंके सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं । भगवन्नाम-जपमें कोई खास प्रयास भी नहीं है, न कोई अधिकार भेद है । भगवन्नामका फल है महान् । लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ—सभी क्षेत्रोंमें भगवन्नाम अमोघ है । इस समय चारों ओर अशान्तिके बादल छाये हैं, युद्धकी घटाएँ घुमड़ी आ रही हैं, आये दिन भयानक बाढ़, भूकम्प और दुर्घटनाओंके कारण धन-जनका भयंकर विनाश होनेके समाचार मिल रहे हैं । मनुष्य भगवान्को भूलकर राक्षस हुआ जा रहा है । इन सारी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विपत्तियोंके निवारणके लिये भगवन्नाम ही परम साधन है । इसीलिये 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्षकी भाँति प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें । यही परम हित है । गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है । नियमादि इस प्रकार हैं—

१–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है ।

२–इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १४, शनिवार (३० नवम्बर १९६३) से आरम्भ होकर शुद्ध चैत्र शुक्ला १५, रविवार (२६ अप्रैल १९६४) तक रहेगा । जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति शुद्ध चैत्र शुक्ला १५ सं० २०२१ को समझनी चाहिये । पाँच महीनेका समय है । उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है । करना चाहिये ही ।

३–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं ।

४–एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५–संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अंगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है।

६–यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७–बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८–घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९–स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०–इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११–सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३–सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४–जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५–सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६–सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग,' 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—**चिम्मनलाल गोस्वामी**
सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

डाक्टरकी सत्यप्रियता और दयालुता

डाक्टर साहब अपनी विद्यामें पारंगत थे और भगवान्‌की कृपासे उनके हाथ बड़ा यश था। डाक्टर साहबकी दवा अमृतका-सा काम करती। डाक्टरकी यह कीर्ति दूर-दूरतक फैली थी। इससे उनके यहाँ रोगियोंकी भीड़ लगी रहती। अमीर-गरीब बीमार सभी होते हैं इसलिये अमीर-गरीब सभी उनके पास आते भी। वे सबसे समान व्यवहार करते, उन्हें आश्वासन देते और भगवत्कृपापर विश्वास करके, भगवान्‌का नाम लेकर दवा देते और इसी प्रकार भगवत्कृपापर विश्वासके साथ भगवन्नाम लेकर ही दवा सेवन करनेके लिये कहते। यह भगवत्कृपा तथा भगवन्नामका ही प्रभाव होगा कि उनके रोगी प्रायः शीघ्र अच्छे हो जाते। रोगीके अच्छे होनेपर वे दवा चालू न रखकर उसे संयम-नियमसे रहने तथा भगवन्नामका विशेष आश्रय लेनेकी सम्मति देते।

उस समय जमींदारी कायम थी और सर्वत्र जमींदारोंका प्रभाव था। जमींदारोंसे जहाँ बहुत सेवा-उपकारधर्मके काम होते, वहाँ उनमेंसे कई लोगोंके द्वारा मदकी प्रबलतासे बुरे काम भी बहुत बनते।

डाक्टर साहबके गाँवके जमींदार अच्छे आदमी थे। डाक्टर साहबसे उनका बड़ा प्रेम भी था। घरमें खुला आना-जाना था और उनसे डाक्टर साहबको आर्थिक लाभ भी कम नहीं था। जमींदारका लड़का बदचलन था और स्वाभाविक ही उसके साथी-संगी भी ऐसे ही थे। बड़े आदमियोंके लड़कोंसे अपना स्वार्थ-साधन करनेके लिये आवारा लोग उनकी सेवा-खुशामद करके उन्हें पतनके गर्तमें गिराया करते हैं। यहाँ भी ऐसी ही बात थी। एक कुलीन गृहस्थकी पुत्र-वधूके सम्बन्धमें साथी-संगियोंने जमींदारके लड़केको उकसाया। उन्होंने हर तरहकी सहायता देनेका वादा किया। जमींदारका लड़का तैयार हो गया। बहुत-सी अनुचित कार्रवाइयाँ हुईं। अन्तमें इसी दुष्प्रपञ्चके सिलसिलेमें जमींदार-पुत्रके द्वारा उस लड़कीके पिता सद्गृहस्थका खून हो गया। मामला सच्चा था। पर डाक्टरकी रिपोर्टपर निर्भर करता था। डाक्टरसे जमींदारने कहा कि 'इसे आत्महत्या सिद्ध कर दिया जाय'। पर डाक्टरने बड़ी विनयके साथ उत्तर दिया—'आपके तथा आपके लड़केके साथ मेरी बड़ी सहानुभूति है, मैं आपके दुःखसे दुखी हूँ। आपके रोनेके साथ मुझे भी रोना आता है; पर मैं जानता हूँ कि यह आत्महत्या नहीं है, हत्या है और इसका करनेवाला आपका पुत्र है। तब मैं कैसे दूसरी बात लिखूँ'। जमींदारने बहुत दबाया। अन्तमें एक लाख रुपयेका लालच दिया और न माननेपर अपनी जमींदारीके बलसे बरबाद कर डालनेकी धमकी भी दी। पर डाक्टरने अपने सत्यको नहीं छोड़ा। सच्ची रिपोर्ट लिखकर जमी-जमाई डाक्टरी तथा आमदनीको लात मारकर गाँव छोड़कर दूसरी जगह चले गये। गाँवमें रहनेपर जमींदार तंग करता।

डाक्टर सत्यके हिमायती, न्यायपरायण होनेके साथ ही दयालु भी थे। उन्होंने रिपोर्टके साथ ही कलेक्टरको एक पत्र इस आशयका लिख दिया जो सत्य था कि लड़केने आवेशमें यह हत्या की है, उम्र छोटी है, जमींदारका एक मात्र लड़का है और गतवर्ष ही विवाह हुआ है, अतएव सरकार इसपर दयापूर्ण भावसे विचार करे। उस समय कलेक्टर ही सर्वेसर्वा होते थे। लड़केपर मुकदमा चला, पर सरकारकी इच्छाके अनुसार उसे केवल दो सालकी ही सजा हुई। डाक्टरकी सत्यप्रियता और दयाशीलताका ही यह सुपरिणाम था।

—देवनारायण तिवारी

(२)

काँटेके बदले फूल

रविवार संध्याका समय था। डाक्टर क्लब जानेकी तैयारीमें थे। इतनेमें एक वृद्धने दीनतासे कहा—'डाक्टर साहेब! मेरा बच्चा मर रहा है।'

'कल सबेरे आना।'

'साहेब! छः तो चले गये, यह अन्तिम भी चला जायगा। कृपा करो……'

सुनी-अनसुनी करके डाक्टर मोटरमें बैठ गये। वृद्ध निराश-मुँह वापस लौट गया। उसी रात्रिको उसका सात वर्षका लड़का संसारसे कूच कर गया!

कुछ वर्ष बीत गये इस बातको। डाक्टरने बड़ा यश कमाया। उन्होंने अपने इकलौते बेटेको खूब पढ़ाया।

एक दिन वह मित्रोंके साथ सैरको गया था। उसके पैरके नीचे कोई चीज दबी; देखा तो काला नाग था। घर लानेपर तो उसे देखकर डाक्टर व्याकुल होकर रो पड़े। ओझा आया, लेकिन लड़केकी प्रतिक्षण बिगड़ती हालतको देखकर मन्त्र पढ़नेकी उसकी हिम्मत ही नहीं हुई। डाक्टर निराश हो गये !

शहरके किनारे नन्हीं-सी झोंपड़ीमें बूढ़ा-बूढ़ी आग ताप रहे थे। इतनेमें बाहरसे आवाज आयी—'भगत ! जाग रहे हो क्या ? डाक्टरके बच्चेको साँपने काट खाया है !'

'किसको ? डाक्टरके लड़केको ? वह डाक्टर जो छावनीके बँगलेमें रहता है ?'

'हाँ, हाँ, वही। चलते हो ? बड़ी भलाईका काम होगा।'

भगतने कठोरतासे सिर धुना—'जाय मेरी बला ! अब उसे पता लगेगा कि बेटेके मरनेका दुःख कैसा होता है।'

बुढ़िया बड़बड़ाई, 'इतनी रातको इस कड़ाकेकी सर्दीमें कौन जाय ?'

'अरे, दुपहरी होती और मोटर लेकर आया होता तो भी मैं नहीं जाता। मेरे मंगल बेटेका मुँह अब भी मेरे सामने तैर रहा है। बच्चेका मरना कितना दुःखदायी होता है ? दुनिया मुझे भले ही निर्दयी कहे।' भगतने कहा।

भगतके लिये किसीको साँप काटनेकी खबर सुनकर न जाना—यह उसके जीवनमें पहला ही प्रसंग है।

चारपाईपर पड़े-पड़े उसने कितनी ही करवटें बदलीं, पर नींद नहीं आयी; उसने दरवाजा खोला।

'कहाँ जा रहे हो ?' बुढ़ियाने पूछा।

'कहीं नहीं; यह तो देख रहा था कि कितनी रात बाकी है। नींद नहीं आ रही है।'

'कहाँसे आती ? तुम्हारा मन तो चला गया है उस डाक्टरके यहाँ, पर गये तो देखना······'

'नहीं भाई, मैं मूर्ख नहीं हूँ जो काँटेके बदलेमें फूल दूँ ?'

परंतु न जाने क्यों उसका हृदय मान नहीं रहा था। एक पलका विलम्ब भी सहन नहीं हो रहा था। उसने धीरेसे दरवाजा खोला। राह चलते चौकीदारसे पूछा—'कै बजे हैं ?' 'एक बजा है भगत ! उस डाक्टरका बेटा मर रहा है। सुना है वह बचानेवालेको दस हजार रुपये देगा।'

भगत बड़बड़ाया—'दस लाख क्यों नहीं देता ?'

चौकीदार चल दिया। पीछे-पीछे भगत खिंचे-से चले।

आधे रास्ते पहुँचकर भगत रुके। 'इस कड़ाकेकी सर्दीमें मुझे मरनेकी क्या जरूरत थी ? आरामसे सोया क्यों नहीं ! नींद न आती तो दो-चार भजन ही गा लिये जाते। यह व्यर्थकी दौड़-धूप किस लिये ? दुनियामें ऐसे तो कितने मरते हैं·········'ना-ना, जाऊँगा तो जरूर। देखना है बड़े आदमी भी छोटोंकी तरह ही रोते-पीटते हैं क्या ?'

और वह आगे बढ़े। भगतकी चाल तेज हो गयी। कुछ ही क्षणमें तो वे मुट्ठी बाँधकर दौड़ने लगे। इतनी उम्रमें कभी ऐसे नहीं दौड़े।

हाँफते-हाँफते डाक्टरके घर पहुँचे। दो मिनटतक शून्यमनस्क-भावसे बच्चेकी तरफ देखते रहे। फिर बोले—'झटपट पानी भरकर लाओ'। पता नहीं, कितने घड़े पानी भगतने बच्चेके सिरपर उँड़ेले। मन्त्र पढ़े; जड़ी-बूटी सुँघायी और उषाके आगमनके साथ-साथ बच्चेने आलस मरोड़ा। डाक्टर तो आनन्दके अतिरेकमें कुछ बोलचाल ही नहीं सके। बातको हवा उड़ा ले गयी—'डाक्टरके मरते बच्चेको भगतने बचा दिया।'

भगतको सब ढूँढ़ रहे थे, पर वे तो गायब ! जिस तेजीसे दौड़े आये थे, उससे भी ज्यादा तेजीसे दौड़ चले थे। बुढ़ियाके जगनेसे पहले ही उन्हें चारपाईपर जो पहुँच जाना था। 'अखण्ड आनन्द'

—कान्ति शाह

(३)

आदर्श ईमानदारी

कलकत्ता बड़ाबाजारमें पचास वर्ष पहले शिवलाल तकतमल नामक एक नापासरका फर्म था। संवत् १९८१ में उस फर्मपर कुछ दूसरे फर्मोंके रुपये रह गये, जिनको उस समय उन्होंने चार आने (२५ प्रतिशत) चुकाया था; क्योंकि रुपये थे नहीं। फर्म बंद हो गया था। रुपये पानेवालोंको शेष रुपये मिलनेकी आशा तो क्या, कल्पना भी नहीं रह गयी; पर शिवलाल तकतमलने, जिनके रुपये देने थे, उनकी सूची रुपयोंकी संख्या-समेत रख ली थी। कुछ वर्षों बाद इस फर्मका परिवार कई भागोंमें बँटकर उसके कई परिवार हो गये। इनमें एक परिवारकी हालत आगे चलकर

कुछ ठीक हुई तो उन्होंने अपने हिस्सेके रुपये चुका दिये। इधर व्यवसाय अच्छा चला तो उसी एक परिवारने पूरे (शिवलाल तकतमल) फर्मके रुपये गत चैत्र-वैशाखमें चुका दिये। रुपयोंकी संख्या अस्सी हजारसे एक लाखके लगभग होगी। फर्मको बंद हुए चालीस साल हो गये, इस अवधिमें पानेवाले कितने ही फर्म उठ गये, कोई कहीं चले गये। ऐसे लोगोंके कुछ रुपये अभी देने शेष हैं। उनका पता लगाकर रुपये देनेकी चेष्टा चालू है। घरवालोंने कई बार पूछा, पर जिन भाईने रुपये चुकाये, उन्होंने पूरी बात नहीं बतायी। न वे इस घटनाको प्रकाशित ही करना चाहते हैं। इसीसे उनका नाम नहीं लिखा गया है। पर इस ईमानदार परिवारका यह काम है आदर्श और अनुकरणीय तथा प्रशंसनीय, कम-से-कम इस भयानक आजके युगमें।

—नरसिंहप्रसाद शर्मा

(४)

प्रभु-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव

लगभग चौबीस-पचीस वर्षकी बात है। उन दिनों हम लाहौरमें रहते थे। मेरी धर्मपत्नीको कुछ खाँसी-जुकामकी तकलीफ हुई। चिकित्सा की गयी। दस-बारह दिन व्यतीत हो गये; पर आराम न हुआ। उन दिनों उसके पिता जेहलमके पास एक स्थान राजड़में रहते थे। वहाँ वे सरकारी कर्मचारी थे। वहाँ खुली जगह थी और जलवायु अच्छा था। उसके पिताने उसे वहाँ बुला लिया। वहाँ एक डाक्टरकी चिकित्सा प्रारम्भ की गयी। थोड़े दिनोंके पश्चात् बड़े दिनों (क्रिसमिस) की छुट्टियाँ आ गयीं। मैं भी उन छुट्टियोंमें अपनी धर्मपत्नीके पास राजड़ चला गया। वहाँ उसकी चिकित्सा चल रही थी। खाँसीकी तकलीफ तो थी ही, साथ ही अब हल्का-हल्का ज्वर भी आने लग गया था। मुझे तीन-चार दिन वहाँ गये हुए थे कि जिस डाक्टरका इलाज था, उसने मुझे अलग बुलवाया और कहा—'मैं तुम्हारी धर्मपत्नीकी चिकित्सा कर रहा हूँ। मैंने उसका बड़ी अच्छी तरह तीन-चार बार निरीक्षण किया है। उसका बायाँ फेफड़ा कुछ खराब हो गया है। पर घबरानेकी कोई बात नहीं। अभी पहिली स्टेज ही है। इलाज करनेसे ठीक हो जायगी। पर देख-भाल बड़ी अच्छी तरह करनी होगी।' जब मैंने यह सुना तो मेरे पाँव-तलेकी जमीन निकल गयी। स्वभावतः ही मुझे बहुत चिन्ता हुई। डाक्टरका इलाज जारी रहा और मैं छुट्टियाँ समाप्त होनेपर लाहौर लौट आया। वहाँ मैं हर समय बहुत चिन्तित रहने लगा। न खाना अच्छा लगता, न पीना और न किसी काममें ही मन लगता। इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत हो गये।

मुझे दफ्तर जाते हुए कभी-कभी दफ्तरके कामसे ही रास्तेमें सरकारी बैंक जाना पड़ता था। उस दिन जिस रास्तेसे मैं दफ्तर जाता था, उस रास्तेपर एक गिरजाघर पड़ता था। उस गिरजाघरके बाहर एक बड़े बोर्डपर प्रति सप्ताह एक वाक्य (सम्भवतः बाइबिलमेंसे कोई उद्धरण) बड़े मोटे अक्षरोंमें लिखा होता था। मैं जब कभी उधरसे जाता, वह वाक्य अवश्य पढ़ता। ये वाक्य बड़े प्रेरणात्मक तथा आत्माको उठानेवाले होते थे। प्रायः घर आकर मैं उन्हें नोट भी कर लेता था। मुझे लाहौर वापिस आये हुए दस-बारह दिन हुए होंगे कि एक दिन मैं जब दफ्तरसे चला तो उसी रास्ते मुझको घर जाना था। उस दिन मेरा मन विशेषरूपसे अवसाद और चिन्ताग्रस्त था। चलते समय मैंने मन-ही-मन भगवान्से बड़े कातर भावसे प्रार्थना की—'प्रभो! अब मैं इस चिन्ताको अधिक सहन नहीं कर सकता। ऐसी कृपा करो कि आज वहाँ जो वाक्य लिखा हो, उसके माध्यमद्वारा मुझे कोई ऐसा उपदेश, आशीर्वाद दो, जिससे मेरी चिन्ता दूर हो और मेरे मनको शान्ति मिले।' जब मैं उस स्थानपर पहुँचा तो बड़ी अधीरतासे मैंने उस दिनके वाक्यको पढ़ा। लिखा था—'Don't worry; it may never happen' 'मत चिन्ता करो, ऐसा नहीं होगा'। यह बिल्कुल मेरी मानसिक स्थितिके अनुकूल था। ऐसा मालूम होता था—भगवान्ने मेरी प्रार्थनाके उत्तरमें मुझे ही यह आदेश दिया था। यह वाक्य पढ़कर मेरी जो अवस्था हुई, मैं उसे शब्दोंमें व्यक्त करनेमें असमर्थ हूँ। मुझे ऐसा भान हुआ कि यह कागजपर लिखा वाक्य नहीं, स्वयं भगवान्की ओरसे ही मेरे लिये यह आकाशवाणी हुई है। एकदम मेरी चिन्ता, पता नहीं, कहाँ भाग गयी और मेरा मन बिल्कुल स्वस्थ, शान्त और हल्का हो गया एवं मस्तक प्रभुके आगे झुक गया। मुझे निश्चय हो गया कि मेरी धर्मपत्नीको वह रोग (टी० बी०) नहीं है जो डाक्टरने बतलाया है। जब घर पहुँचा तो मेरे श्वसुरका मेरे नाम एक पत्र आया हुआ मिला। उसमें लिखा था कि 'तेरे यहाँसे चले आनेके पश्चात् डाक्टरने तीन-चार बार फिर मेरी

धर्मपत्नीका अच्छी तरह निरीक्षण किया था, पर अब उसे उसके फेंफड़े बिल्कुल ठीक लगे हैं। उस प्रकार (टी० बी०) का कोई दोष उनमें दिखायी नहीं दिया और वैसे भी उसका स्वास्थ्य अब पहलेसे काफी सुधर गया है। इसलिये मुझे किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये'। साथमें उन्होंने मेरी पूरी तसल्ली और विश्वासके लिये डाक्टरके अपने हाथका लिखा मेरे नामका एक पत्र भी भेजा था, जिसमें डाक्टरने अपने शब्दोंमें वही बातें लिखी थीं जो मेरे श्वसुरने लिखी थीं। साथ ही लिखा था कि 'पहले शायद फेंफड़ोंपर बलगम रहा हो जिसके कारण ऐसी आवाज आती थी और जिससे उन्हें टी० बी०का अनुमान हुआ था'। यह पत्र पढ़कर मुझे ऐसा नहीं लगा, जैसे यह कोई नयी बात हो। मुझे ऐसा लगा कि इसका तो मुझे पहले ही पता लग चुका था। हाँ! प्रभुके चरणोंमें मेरा मस्तक एक बार फिर झुक गया और आँखोंमें कृतज्ञताके आँसू आ गये। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इसके थोड़े दिनों पश्चात् ही मेरी धर्मपत्नीका स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक हो गया। यह है प्रभु-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव—प्रमाण!

—लाजपतराय

(५)

अतिथि-सेवाका फल

अतिथि-सेवा हमलोगोंके धार्मिक दैनिक कर्तव्योंमें मुख्य है। इसकी महिमा सभी स्मृति तथा पुराणोंने गायी है। एक समय था कि हमारे भारतमें किसी भी बटोहीको भोजन तथा विश्रामकी अपनी यात्रामें चिन्ता नहीं रहती थी। भोजनके समय सभी सद्गृहस्थ चाहते थे कि कोई अतिथि भोजन कर ले तो उनका भोजन बनाना सुफल हो।

जीवमात्रमें हमारे आराध्यदेव विराज रहे हैं, यह भावना-मात्र नहीं है किंतु ध्रुव सत्य है। निष्काम भक्तिकी यह एक उच्च अर्चना-पद्धति है कि प्रभुकी पूजा एक ऐसे व्यक्तिमें की जाय जिससे हम न तो परिचित हैं और न जिससे हमारा कोई सम्बन्ध है। केवल ईश्वरीय भावनासे ही सेवा की जाय। हमारे प्रभु तो भावके भूखे हैं। जिस भावसे कोई उनकी आराधना करता है, उसीके अनुसार उसको फल मिलता है। यह घटना साठ-पैंसठ वर्ष पुरानी है, पर है सत्य। परम पूज्य श्रीस्वामी अभयानन्दजी आत्मदर्शी कैलाशवासीने बतायी थी।

हाथरसके समीप मैण्डू नामक एक छोटा-सा स्थान है। वहाँ एक सज्जन रहते थे, जो किसी मिडल स्कूलके हेडमास्टर थे; किंतु किसी कारणवश उनकी नौकरी छूट गयी थी और वे अपने घरपर रहकर ही बड़े कष्टसे जीवन-निर्वाह कर रहे थे। बहुत समयसे वे नौकरीके लिये प्रयत्न कर रहे थे, किंतु भाग्यवश उनको सफलता नहीं मिलती थी। इसलिये वे निराश तथा दुखी थे।

उनका घर सड़कके किनारे ही था और द्वारके आगे एक लिपा-पुता चबूतरा था; जहाँ संध्याके समय दो-चार पड़ोसी आ बैठते थे और विविध चर्चासे मनोरञ्जन करते थे।

ज्येष्ठका महीना था, दिनके दो बजे होंगे। चिलचिलाती धूप और भाड़-सी गरम लूसे शरीर जला जाता था। हेडमास्टर साहेब और उनकी धर्मपत्नी सभी खिड़की-दरवाजे बंद किये आराम कर रहे थे। इतनेमें बाहर चबूतरेपर किसीके धम्मसे गिरनेकी आवाज आयी। मास्टरजीने किवाड़ खोलकर देखा तो उन्होंने एक फटेहाल व्यक्तिको पड़े पाया। मास्टरजीने उसको उठाया और सहारेसे भीतर ले आये। उनकी पत्नीने एक बड़ा शरबतका ठंडा ग्लास पिलाया, जिससे उसको बड़ी शान्ति मिली और वह स्वस्थ होकर बैठ गया। गृहिणीने उस नव आगन्तुकके लिये भोजन बनाया और उसको बड़े प्रेमसे खिलाया। भोजनोपरान्त उसको खाटपर आराम करनेको कहा और पति-पत्नी उसको पंखा झलने लगे। वह शीघ्र ही निद्रादेवीके वशीभूत हो गया।

सोते-सोते वह उठकर बैठ गया और मास्टरजीसे कहने लगा—'तुम्हें सवा सौ रुपये वेतनकी हेडमास्टरी मिल गयी है और परसों तुम्हें इसकी सूचना मिल जायगी।' इतना कहकर वह फिर सो गया। जागनेपर उससे जब मास्टरजीने पूछा तो उसने कहा कि 'मुझे इस बातका किंचित् भी ज्ञान नहीं कि मैंने आपसे कुछ कहा था। मैं तो एक दुःखका मारा चमार हूँ। मैंने तीन दिनोंसे अपने पुत्रकी मृत्युके कारण कुछ भी खाया-पीया नहीं था और भीषण गरमीके कारण आपके द्वारपर बेहोश हो गया था।' अतिथि तो शाम

होनेपर चला गया । किंतु मास्टरजीको सवा सौ रुपये महीनेकी नौकरी लग जानेकी सूचना नियत समयपर मिल गयी । श्रीस्वामीजी कहा करते थे कि यह भगवान्का आवेशावतार था, जो चमारके मुखसे बोला था और मास्टरजीके लिये था यह अतिथि-सेवाका फल !

—निरञ्जनदास धीर

(६)

सत्संगके एक वाक्यका चमत्कारी फल

(सफेद झंडा फहराया)

गुजरातके कवीश्वर दलपतराम डाह्याभाईके साथ प्रसिद्ध नाट्यकार डाह्याभाई धोलशाजीकी किसी कारण अनबन हो गयी थी और पत्रोंमें परस्पर चर्चाकी मिर्चें उड़ाकर जीवनमें और भी जलन बढ़ायी जा रही थी । इस प्रकार कई वर्षोंतक दोनोंमें वैमनस्य चलता रहा ।

एक दिन 'सत्संग-सभा' में किसी संतका व्याख्यान होनेवाला था । उसे सुनने डाह्याभाई धोलशाजी वहाँ गये हुए थे । प्रवचनमें उन्होंने ऐसा एक वाक्य सुना—'बुढ़ापेमें वृद्ध मनुष्यको सारा वैर-जहर भूलकर सुलह-प्रेमकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये । दो पशु आपसमें सींगोंसे लड़ते हैं तो वे परस्पर क्षमा चाहें, ऐसा हृदय ही ईश्वरने नहीं दिया । परंतु मनुष्यको तो प्रभुने विवेकशील हृदय दिया है ।'

यह वाक्य सुनते ही डाह्याभाईके हृदयपर एक चोट लगी और मन-ही-मन उन्होंने सोचा कि 'बात तो सच है, बुढ़ापा तो आशीर्वाद है; परंतु बुढ़ापेके दोष अभिशाप हैं । मनुष्यकी जवानीकी भूलें बुढ़ापेमें सुधार लेनी चाहिये । कड़वी नीबोलीमें भी पकनेपर मिठास आ जाती है ।' इससे कवीश्वरके साथ चलते झगड़ेका अन्त करनेकी उन्हें प्रेरणा मिली और सभा समाप्त होते ही वे सीधे कवि दलपतरामके दरवाजेपर पहुँच गये ।

दलपतरामके आँगनमें जाकर डाह्याभाई सिर झुकाये खड़े हो गये । दलपतराम इस समय घरमें हिंडोलेपर बैठे झूल रहे थे । वहींसे उनकी नजर डाह्याभाईपर पड़ी । वे कुछ क्षणोंके लिये आश्चर्यमें पड़ गये—'मैं जग रहा हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ ?' दलपतरामको लगा कि जरा भी पीछे पैर न रखनेवाला महान् योद्धा आज शस्त्र त्यागकर मेरे आँगनमें कहाँसे आ गया ! कवीश्वर हिंडोलेसे उतरकर डाह्याभाईके पास पहुँचे ।

'भाई ! आप मेरे यहाँ ?' कवीश्वरने गद्गद कण्ठसे कहा । कविका प्रेमोद्गार स्वीकार करते हुए डाह्याभाईने कहा—'हाँ भाई ! अंदर चलिये । अपने दिलकी बातें करें ।'

और दोनों अनुभवी वृद्ध घरमें जाकर हिंडोलेपर बैठ गये ।

'युद्धमें यदि एक पक्ष सफेद झंडा फहरा देता है तो युद्ध रुक जाता है और सुलह हो जाती है । क्यों, यह बात ठीक है न ?' डाह्याभाईने कवीश्वरसे पूछा ।

'हाँ भाई, सुलहके लिये ही सफेद झंडा फहराया जाता है ।'

डाह्याभाईने सिरकी पगड़ी उतारकर कविके पास रख दी और सिरकी सफेद चोटी दिखाकर कहा—'प्रकृतिकी दी हुई इस सफेद झंडीकी उपेक्षा करके हमलोग कबतक लड़ते रहेंगे । ऐसा विचार मनमें आते ही मैं कवि-हृदयकी क्षमा-याचना करने आपके द्वारपर चला आया ।' डाह्याभाईने कहा ।

इसका उत्तर कवीश्वरने जीभसे नहीं, उनकी आँखोंसे झरझर झरते हुए आसुओंने ही दिया । दोनों वृद्ध राम-भरतकी तरह चिपट गये और जबतक जीवित रहे, पवित्र मैत्री भावसे ही रहे । 'अखंड आनंद'

—धैर्यचन्द्र बुद्ध

(७)

गौओंको महामारीसे बचानेका सरल साधन

पुष्यार्क (रविवार—पुष्यनक्षत्र या गुरुवार—पुष्य नक्षत्रके दिन) शुद्धतापूर्वक भोजपत्रपर अनारकी कलमसे गोरोचन या अष्टगन्धके द्वारा अर्जुनके—अर्जुन, किरीटी, गुडाकेश, धनञ्जय, पार्थ, भारत, सव्यसाची, कपिध्वज, कौन्तेय, कुरुनन्दन, पाण्डव, कुरुप्रवीर, कुरुश्रेष्ठ, कुरुसत्तम, परंतप, पुरुषर्षभ, भरतर्षभ, भरतसत्तम—इन अठारह नामोंको लिखकर गुगुल वगैरहका धूप देकर लाल कपड़ेमें बाँधकर जानवरोंके आने-जानेवाले दरवाजेके ऊपर लटका दें । पर्वके समय धूप कर दिया करें । रविवार पुष्य या गुरुवार पुष्यनक्षत्रका मौका न लगे तो जब भी पुष्यनक्षत्र हो, रविके होरामें यह प्रयोग कर सकते हैं, विश्वास रखिये—निश्चय सफलता मिलेगी ।

—सुरजमल सुतड़ा, आनदी (रायपुर)

क्या जयपुरमें गोहत्या होती है और गोमांस बिकता है ?

(लेखक—डा० श्रीश्रीकान्त जैन एम० पी०)

कुछ दिनों पहलेकी घटना है। जयपुरमें बेचनेके लिये गोमांस लाते हुए कुछ मांसाहारी लोग रँगे हाथों पकड़े गये थे। पुलिसको उनके पास गोमांस मिला था और पुलिसने उनके विरुद्ध कार्यवाही करके उन्हें पकड़ लिया था।

स्थानीय जनताकी धारणा है कि जयपुरमें गोहत्या करने तथा गोमांसका व्यापार करनेवाले व्यक्तियोंका संगठित समूह है, जो पिछले कुछ समयसे यह अपराध कर रहा है।

पुलिसने इन बड़े अपराधियोंके विरुद्ध अभीतक कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। साथ ही जो लोग प्रच्छन्नरूपसे गोमांस बेच रहे हैं और होटलोंके मालिक गुप्तरूपसे पर खुले हाथों गोमांसका खाद्यसामग्रीके रूपमें प्रयोग कर रहे हैं, उनके विरुद्ध भी ऐसी कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की गयी, जिससे इन नराधमोंकी अक्ल ठिकाने आती। होटलोंके मालिक खुले आम गोमांस पकायें, मांसाहारीलोग उसे खायें और लोग देखते रहें, पर इस अराजकताको रोकनेका नैतिक साहस न दिखा सकें, यह सचमुच आश्चर्यकी (दुःखकी) बात है। पुलिसने अबतक इस तरहके व्यापार करनेवाले तथा होटलोंके मालिकोंके नाम भी प्रकट नहीं किये हैं। पुलिसकी इस प्रकारकी पक्षपातपूर्ण नीतिसे जनता कई तरहकी अटकलें लगा रही है। पुलिसका आचरण दिनोंदिन संदेहास्पद होता जा रहा है।

जो लोग व्यवसायके रूपमें गोहत्या करते हैं, वे तो अपराधी हैं ही, पर वे लोग इनसे भी अधिक अपराधी हैं जो इस प्रकारके नीच कार्यको प्रोत्साहन दे रहे हैं। गोमांस बेचनेवाले लोगोंके विरुद्ध सख्त कानूनी कार्यवाही न करके पुलिसविभाग देखी-अनदेखी करे और मौन साधे रहे वहाँ मानवता कैसी ! इन लोगोंके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करनी चाहिये। जिन लोगोंको सचमुच मांस बेचनेका लाइसेंस मिला है या मिलनेवाला है, उसे रद्द करानेके लिये 'अहिंसा परमो धर्मः'के पुजारियोंको कमर कस लेनी चाहिये। जनता जानना चाहती है कि अबतक पुलिसविभागने ऐसे कितने लोगोंके विरुद्ध कार्यवाही की है, जो बकरेके मांसके साथ गोमांस बेच रहे हैं।

जनता उन होटलोंके नाम भी जानना चाहती है जिनमें अधिक-से-अधिक गोमांस पकाया जाता है और अनजान लोगोंको खिलाकर उनका धर्म भ्रष्ट किया जाता है। ऐसे होटलोंके नामोंकी जानकारी जनताकी दृष्टिमें बहुत आवश्यक है। ऐसे होटलोंपर मामला चलानेके साथ ही उन्हें बंद करानेकी भी अनिवार्य आवश्यकता है। बढ़ती हुई बुराईको तुरंत रोकनेमें ही सबका हित समाया है। आज सबसे अधिक वे अपराधी हैं जो क्षुद्र स्वार्थके लिये जनताके धर्मके साथ खेल रहे हैं। जयपुर राजस्थानकी राजधानी है। वहाँ अहिंसक जैनों (तथा वैष्णवों) की विशाल संख्या है। क्या उन्हें इस पापका पता नहीं है ? और पता है तो वे किसलिये न्यायकी माँग नहीं करते ?' 'जीव दया' *

---

* उपर्युक्त समाचार सत्य है तो बड़े ही दुःख तथा लज्जाकी बात है। राजाओंके राज्यमें राजस्थानमें कहीं भी न तो गोहत्या होती थी, न कहीं गोमांस ही बिकता था। अब यदि जनताकी सरकारके राज्यमें ये पाप राजस्थानमें होने लगे हैं तो राजस्थानियोंके लिये डूब मरनेकी बात है। मैं राजस्थान सरकारके संचालकोंसे सविनय अनुरोध करता हूँ कि वे तुरंत इस पापका पता लगायें और यदि यह पाप होने लगा हो तो तुरंत इसे बंद करके अपना कलङ्क मार्जन करें। —सम्पादक

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बननेके नियम

(१) एक साथ एक सौ रुपये देनेवाले सज्जन 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं । जो लोग जिस वर्षका वार्षिक मूल्य रु० ७.५० भेज चुके होते हैं, वे उस वर्षमें ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं ।

(२) जो सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १२५.०० (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये ।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये आजीवन-ग्राहक-मूल्य १२५.०० या १० पौंड है । सजिल्दका १५०.०० या १२ पौंड है ।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा । उनके पीछे उनके उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद हो जानेपर भी नहीं मिलेगा । दोनों ही हालतमें रुपये 'गीताप्रेस'के स्थायी कोषमें सम्मिलित हो जायँगे और प्रकारान्तरसे यह उनके द्वारा गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचारकार्यमें सहायता हो जायगी ।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्मको भी आजीवन ग्राहक बनाया जा सकता है ।

व्यवस्थापक—**'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'गीता-पञ्चाङ्ग'का प्रकाशन बंद

'गीता-पञ्चाङ्ग' का प्रकाशन बंद किये जानेके समाचारसे कुछ सज्जनोंने ऐसा अनुमान लगाया है कि 'गीता-पञ्चाङ्ग' के निर्माता वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीसीतारामजी महाराजके साथ मतभेद होने या उनका कार्य पसंद न होनेके कारण 'गीता-पञ्चाङ्ग' बंद किया गया है, पर यह कारण सर्वथा नहीं है । पण्डितजीके कार्यसे पूरा संतोष था और है; एवं उन्होंने इतने वर्षोंतक गीता-पञ्चाङ्गका निर्माण करके जो महान् सेवा की है, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं । 'गीता-पञ्चाङ्ग'का प्रकाशन बंद करनेका प्रधान कारण तो कार्यकी अधिकता है, कुछ दूसरे गौण कारण भी हैं, पर उनका पण्डितजीके पञ्चाङ्ग-निर्माण-कार्यसे कोई सम्बन्ध नहीं है । 'गीता-पञ्चाङ्ग' इन्हीं सब हेतुओंसे अनिश्चित समयके लिये बंद किया गया है । इससे जिन सज्जनोंको खेद पहुँचा है, हम उनकी कृपाके लिये कृतज्ञता प्रकट करते हुए उनसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

आवश्यक सूचना

पिछले दिनों भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार अस्वस्थ रहे थे, इससे काम पूरा नहीं कर पाते थे । अब भी उनकी यह स्थिति है कि वे पत्रोंका उत्तर न तो लिख पाते हैं, न लिखा ही सकते हैं । उनके नाम आये हुए हजारों पत्र विना उत्तरके पड़े हैं । इसके लिये वे सभी पत्र-लेखकोंसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहते हैं और सबसे प्रार्थना करते हैं कि बहुत आवश्यक होनेपर ही उन्हें पत्र लिखें एवं उत्तर देरसे पहुँचे या न पहुँचे तो कृपापूर्वक क्षमा करें ।

व्यवस्थापक—**'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

12 NOV 1963

राज० सं० ए० १०

'कल्याण'के कृपालु तथा प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे निवेदन

(१) यह 'कल्याण'के ३७वें वर्षका ११वाँ अङ्क है । अगले दिसम्बरका १२वाँ अङ्क निकलनेपर यह वर्ष पूर्ण हो जायगा । ३८वें वर्षका पहला अङ्क 'संक्षिप्त लीला-प्रसङ्गसहित श्रीकृष्णवचनामृत-अङ्क'—विशेषाङ्क होगा । इसमें भगवान् श्रीकृष्णके विविध विषयोंके महत्त्वपूर्ण वचनोंका संग्रह मूल तथा हिंदी अनुवादसहित रहेगा । भगवद्गीता, उद्धवगीता अर्थसहित पूरी रहेगी तथा उत्तरगीता, वैष्णव-धर्मोपदेश आदिके भी चुने हुए अंश रहेंगे । बहुसंख्यक सुन्दर चित्रोंसे सुशोभित लीला-प्रसङ्गोंके साथ रहनेसे अङ्क बहुत ही रोचक और चित्ताकर्षक होगा । भगवान्‌के वचनामृतकी तो महिमा ही अलौकिक है ।

(२) इस बहुमूल्य विशेषाङ्कका मूल्य ७.५० ही रहेगा । पृष्ठ-संख्या भी पूर्ववत् लगभग ७०० होगी । अतएव पुराने ग्राहकोंको तुरंत मनीआर्डरद्वारा ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये । मनीआर्डर-फार्म गत अङ्कमें भेजा जा चुका है । नये ग्राहकोंको भी शीघ्र रुपये भेजकर अपना नाम लिखवा लेना चाहिये । श्रीकृष्णवचनामृत-संग्रहके लिये सर्वसाधारणके साथ ही बहुत बड़े-बड़े लोगोंकी माँग है, अतएव ऐसा अनुमान है कि यह अङ्क शीघ्र समाप्त हो जायगा ।

(३) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनेकी कृपा करें और नाम, पता, मुहल्लेका नाम, ग्राम, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें लिखें । नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा अवश्य करें । रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये । केवल विशेषाङ्कका मूल्य भी ७.५० है । इसलिये वर्षभरका ग्राहक बननेमें ही लाभ है ।

(४) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना अवश्य दे दें, जिससे व्यर्थ वी० पी० भेजनेमें समय और डाकखर्चका अपव्यय न हो ।

(५) गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग तथा 'कल्याण-कल्पतरु' विभाग कल्याण-विभागसे पृथक् हैं । अतः पुस्तकोंके तथा 'कल्पतरु'के लिये उन-उनके व्यवस्थापकके नाम ही अलग-अलग आदेश तथा रुपये भेजें ।

(६) इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है । यों सजिल्दका मूल्य ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) हैं ।

(७) सभी कृपालु ग्राहक-अनुग्राहक तथा प्रेमी पाठक-पाठिकागण कम-से-कम दो-दो नये ग्राहक बनाकर देशमें सद्भावोंका प्रसार करनेमें सहायक बनें । यह विनीत निवेदन है ।

(८) इस अङ्कमें लेख प्रायः नहीं जायँगे । इस अङ्ककी सामग्री भी कहीं बढ़ गयी तो अगले अङ्कोंमें देनी पड़ेगी । अतएव कोई महानुभाव लेख, कविता आदि कृपया न भेजें । जिन्होंने भेजे हों, वे सज्जन न छपनेपर कृपया अप्रसन्न न हों ।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** उ० प्र०

कल्याण

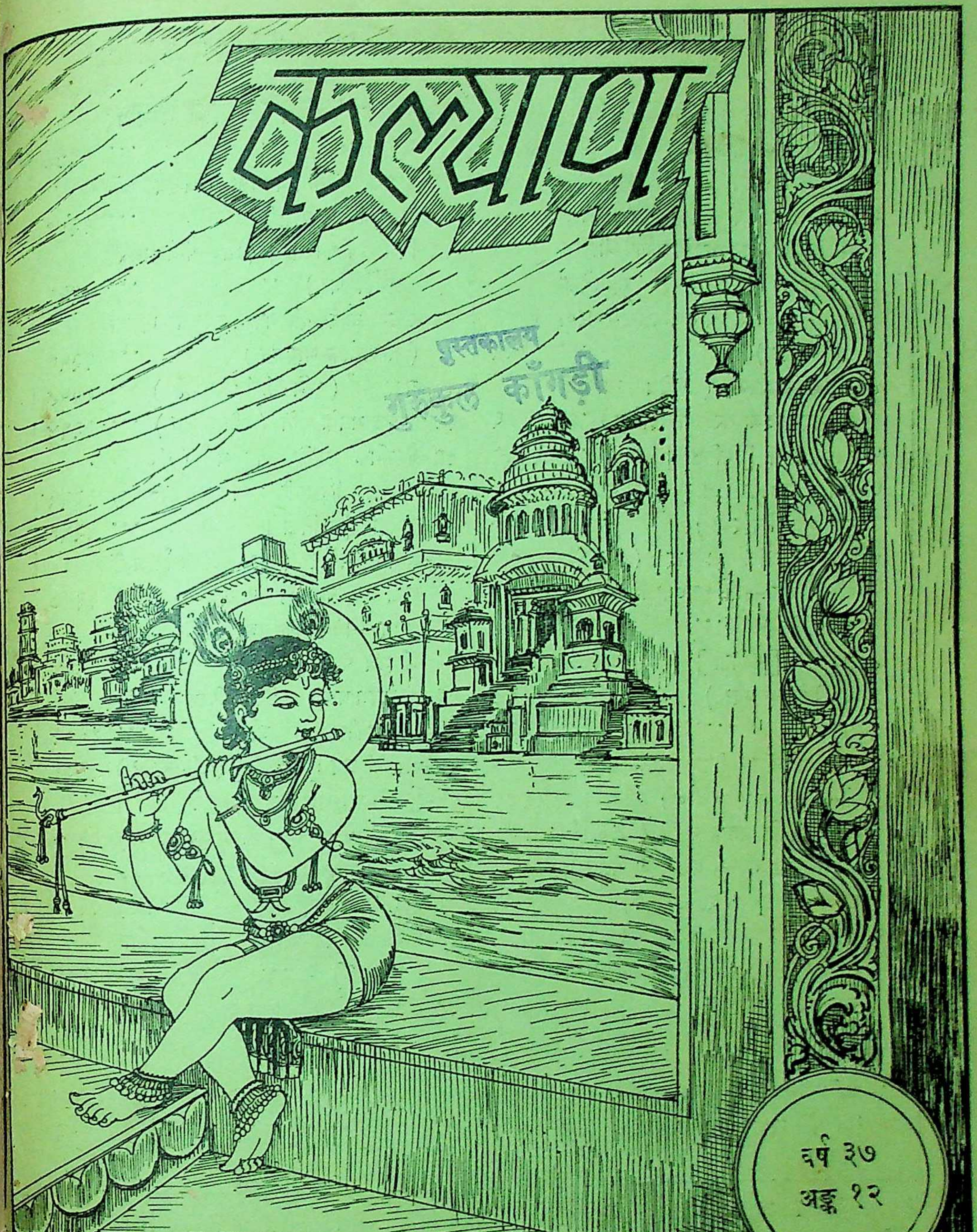

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

वर्ष ३७
अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०२०, दिसम्बर १९६३

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–सिखवति चलन अँगुरियाँ लाये [कविता] (संकलित—गीतावली) ··· १३२३
२–कल्याण ('शिव') ··· १३२४
३–मानव-जीवन कैसा हो ? (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश; प्रेषक—श्रीगोकुलचन्द गोयल एम्०ए०, साहित्यरत्न) ··· १३२५
४–ज्ञानका स्वरूप (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ··· १३२६
५–मिथ्या ज्ञानी [कविता] ··· १३२९
६–भगवन्नामजपका प्रभाव (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १३३०
७–एक महात्माका प्रसाद (संकलयिता और प्रेषक—श्री 'माधव'जी—यथाश्रुत-यथागृहीत) ··· ··· १३३६
८–तपस्वी [कविता] (श्रीगुलाबरत्नजी वाजपेयी 'गुलाब') ··· १३३८
९–मधुर ··· ··· १३३९
१०–आस्थाकी माँग (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· १३४१
११–देववृत्तियोंको जगाये रखिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· १३४२
१२–सत्सङ्गसे ही प्राप्तव्यकी प्राप्ति (मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी) ··· ··· १३४५
१३–भरतका देवपूजन (श्रीब्रह्मेश भटनागर एम्० ए०) ··· ··· १३४७
१४–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ··· १३४९
१५–निर्मोही [कविता] (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण') ··· ··· १३५५
१६–उत्तर और दक्षिणकी शाश्वत एकता (श्रीअशोक महाजन) ··· १३५६
१७–मानवधर्म (मुनि श्रीसंत बालजी) ··· १३५८
१८–चञ्चल मनके प्रति (श्री'दुर्गेश') ··· १३६४
१९–वैज्ञानिक प्रगति और धर्म (पं० श्रीरामप्रतापजी शास्त्री, नव्य-व्याकरणाचार्य) १३६५
२०–व्यवहार [कविता] ··· १३६६
२१–मैं क्या बनूँ ? (डा० श्रीतीर्थराजजी शर्मा एम्०काम०, पी-एच्० डी०) १३६७
२२–जगत्—प्रियतमका पत्र (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ··· १३७०
२३–संस्कृतभाषाका टीकासाहित्य (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १३७१
२४–श्रद्धाकी जय [कहानी] (श्री 'चक्र') १३७४
२५–तुलसीका सुराज (डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) १३७७
२६–संस्कृति और श्रीअरविन्द (डा० श्रीइन्द्रसेनजी, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी) १३७९
२७–प्रभुसे सच्चे प्रेमके लिये प्रार्थना [कविता] ··· ··· १३८१
२८–पढ़ो, समझो और करो ··· १३८२

चित्र-सूची

१–कालिन्दी-तटपर मुरलीकी तानमें मस्त कन्हैया (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–सिखवति चलन अँगुरियाँ लाये (तिरंगा) ··· १३२३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

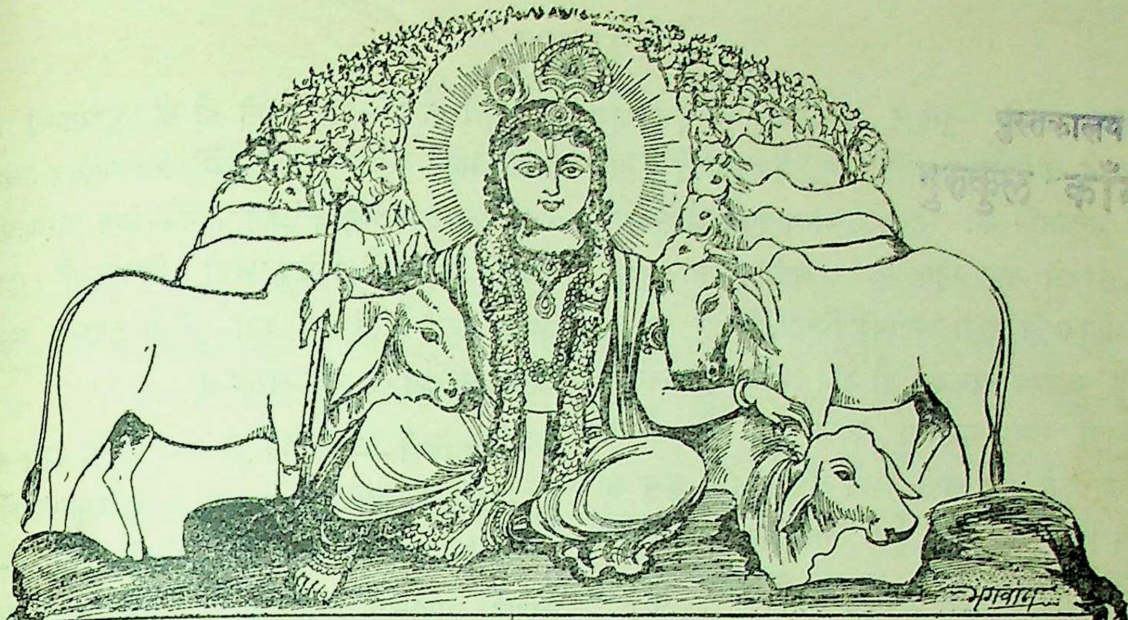

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर पौष २०२०, दिसम्बर १९६३ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ४४५

सिखवति चलन अँगुरियाँ लाये

ललित सुतहि लालति सचु पाये ।
कौसल्या कल कनक अजिर महँ सिखवति चलन अँगुरियाँ लाये ॥
कटि किंकिनी, पैजनी पाँयनि बाजति रुनझुन मधुर रेँगाये ।
पहुँची करनि, कंठ कठुला बन्यो केहरि-नख मनि-जरित जराये ॥
पीत पुनीत बिचित्र झँगुलिया सोहति स्याम सरीर सोहाये ।
दँतियाँ द्वै द्वै मनोहर मुखछबि, अरुन अधर चित लेत चोराये ॥
चिबुक कपोल नासिका सुंदर, भाल तिलक मसिबिंदु बनाये ।
राजत नयन मंजु अंजनजुत, खंजन कंज मीन मद नाये ॥
लटकन चारु भ्रुकुटिया टेढ़ी मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाये ।
किलकि किलकि नाचत चुटकी सुनि, डरपति जननि पानि छुटकाये ॥
गिरि घुटुरुवनि टेकि उठि अनुजनि तोतरि बोलत पूप देखाये ।
बालकेलि अवलोकि मातु सब मुदित मगन आनँद न अमाये ॥
देखत नभ घन ओट चरित मुनि जोग समाधि बिरति बिसराये ।
तुलसिदास जे रसिक न यहि रस ते नर जड जीवत जग जाये ॥

—गीतावली

याद रक्खो—तुम्हारे जीवनका एक-एक क्षण अमूल्य है और भगवत्-प्राप्तिका सुअवसर-रूप है। मरते समय भगवान्में मन रहेगा तो भगवान्की प्राप्ति होगी और नरकमें मन रहेगा तो नरककी। भोग-लालसा-युक्त भोग-स्मृति नाना प्रकारकी चिन्ताओं और दुःखोंसे भरी है, अतएव नरकरूप ही है। इसलिये तुम निरन्तर भगवान्का स्मरण करनेका प्रयत्न करो और भोगका विस्मरण करो, पता नहीं किस क्षण तुम्हारी मृत्यु आ जायगी। मृत्युके समय तुम भगवान्का स्मरण करते होओगे तो निस्संदेह भगवान्की ही प्राप्ति होगी—तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।

याद रक्खो—मनुष्य-जीवनकी विशेषता भगवच्चिन्तन-परायण रहकर भगवान्की सेवा करनेमें ही है। भोगचिन्तन तो पशु-पक्षी सभी करते हैं। जो मनुष्य भगवच्चिन्तन-परायण न रहकर भोगचिन्तन करता है, उसका सर्वनाश होता है—पतन होता है और वह मनुष्य मानव-शरीरधारी होनेपर भी वास्तवमें पशुसे भी निकृष्ट है; क्योंकि भोगपरायण मनुष्यकी मृत्यु उसे बार-बार आसुरीयोनि एवं नरकोंकी प्राप्ति करानेवाली होती है; वह जिस पुण्यकी पूँजीको लेकर मानव-शरीरकी प्राप्तिका अधिकारी हुआ था, उस पुण्यपुञ्जको समाप्त कर वह अपने दुष्कर्मोंके फलस्वरूप अधोगतिमें जा रहा है।

याद रक्खो—पशु-पक्षी मनुष्येतर जीवोंकी मृत्यु होती है—प्रगतिके लिये। वे पशु-पक्षी अपने जीवनमें अपने पूर्वकृत असत्कर्मोंका फल भोगकर उनसे मुक्त होकर आगे बढ़ते हैं, वहाँ मनुष्य-शरीरधारी जीव नये-नये असत्कर्म करके उनका संग्रह करके ले जाता है पुनः नारकी योनि प्राप्त करके दुःख भोगनेके लिये। अतएव वह अवनतिकी ओर जाता है।

याद रक्खो—मनुष्य बने हो तो मनुष्यताकी रक्षा करो, मनुष्यत्वका संवर्धन करो और मानव-जीवनके परम लक्ष्य परमात्माको प्राप्त करनेके लिये परमात्माकी सेवाकी भावनासे इन्द्रिय-मनको नियन्त्रणमें रखकर उनके द्वारा वे ही कर्म करो, जिनसे तुम्हारा मानव-जीवन सुरक्षित रहे और सफल हो।

याद रक्खो—तुम इन्द्रियोंके तथा मनके दास नहीं हो। तुम हो निर्विकार निरीह सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर इन सबके स्वामी। ये सब तुम्हें मिले हैं—तुम्हारी—तुम्हारे आत्मस्वरूप भगवान्की सेवाके लिये। तुम्हारे स्वामी बनकर तुमसे मनमानी सेवा लेनेके लिये नहीं। अतएव अपने स्वरूपको समझकर तुम अपने मनको तथा इन्द्रियोंको उनके मनमाने कार्योंमें न लगने देकर आत्मकल्याणके कार्यमें—भगवान्की सेवामें लगाओ। भगवान्में लगे हुए मन-इन्द्रिय तुम्हारे कल्याणके साधन बनेंगे और उच्छृङ्खल भोगोंमें लगे हुए तुम्हारे पतन तथा सर्वनाशके।

याद रक्खो—मानवजीवन क्षणभंगुर है, प्रतिपल मृत्युके प्रवाहमें तुम्हारा यह जीवन बहा जा रहा है। कब समाप्त हो जायगा, पता नहीं। इसलिये बड़ी सावधानीसे जीवनके एक-एक पलको भगवान्की सेवामें लगाओ। जरा भी प्रमादमें मत लगने दो।

याद रक्खो—तुम्हारा भविष्य तुम्हारे ही हाथोंमें है। अपने कल्याणके तुम स्वयं ही साधन हो। बुरे सङ्गसे बचे रहकर नित्य-निरन्तर सत्सङ्ग करो, सत्को बटोरो, सत्का चिन्तन करो, सत्कर्म करो और सत्को ही प्राप्त हो जाओ। वास्तवमें 'सत्' भगवान् ही हैं। भगवान्के सिवा सभी कुछ असत् है।

'शिव'

मानव-जीवन कैसा हो ?

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश]

(प्रेषक—श्रीगोकुलचन्द गोयल एम्० ए०, साहित्यरत्न)

जिस प्रकार हम पुराना वस्त्र त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करनेमें प्रसन्नताका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी नवीन शरीर धारणकर प्रसन्न होता है। किंतु मृत्युके समय मनुष्य रोता क्यों है ? उसे भय और कष्ट क्यों सताते हैं ? इसका कारण मृत्युके समय जीवनभर किये पापोंका चित्र खिंच जाना है। मनुष्य चिन्ता करता है कि अब क्या गति होगी ? परंतु घबराना नहीं चाहिये। धैर्यपूर्वक अन्तिम समयपर भी प्रभु-स्मरणसे अजामिलकी भाँति प्रभु-शरण प्राप्त हो सकती है। अतः रामनामका जप करना चाहिये।

आज विज्ञानका युग है। प्रत्येक बातमें 'क्यों' 'कैसे' प्रश्न जोड़े जाते हैं। रामनामसे क्या होगा, यह भी प्रश्न किया जाता है। परंतु स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें प्रेमके कारण नहीं ढूँढ़े जाते। प्रेम तर्कसे परे है। उन्होंने भक्तियोगमें कहा है—The Love has no bargaining. The Love has no fear. The Love has the highest ideal. दैवीशक्तिका उपासक भयसे दूर रहता है। होली-दहन-प्रसङ्गमें भक्त प्रह्लाद रामनामके प्रभावसे निर्भय रहा। लोग शङ्का करते हैं कि अग्निसे वह जला कैसे नहीं ? परंतु गर्भमें शिशु माँके पेटकी जठराग्निमें भी सकुशल रहता ही है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है। भगवान्की शरणमें रहनेवाला निर्भय रहता है और जीवनके अन्तिम क्षणतक क्रियाशील रहता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (पुरुषार्थ-चतुष्टय) मनुष्य-जीवनकी सफलताके आधार हैं। गार्हस्थ्यमें अर्थ एवं काम आवश्यक हैं, किंतु इनकी सीमाएँ हैं। न्यायपूर्वक धनार्जन शास्त्रसम्मत है। किंतु धर्मात्मा धनवान् न होकर अपनेको सर्वथा संतुष्ट करनेकी सामर्थ्य रखता है। पहले, राजाओंके कोषका धन उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होता था। आज मनुष्य धनके पीछे स्वाभिमान एवं चरित्रशून्य होकर पागल-सा हुआ फिरता है। दुर्वचन सुनकर भी पैसा चाहता है।

आज मनुष्य धर्म-कर्म भुलाता जा रहा है। बिना नित्यकर्म, संध्या-भजन लोग पैसोंकी कमाईपर चले जाते हैं। ऐसे पैसेको लात मारनी चाहिये। परंतु आज मनुष्य अज्ञानी होता जा रहा है। इसीलिये प्रतिदिन मुकदमा, दवा आदिमें उसे सब कमाई खोनी पड़ती है। न्यायपूर्वक धनार्जन कर उसे उचित कार्योंमें व्यय करना चाहिये।

मनुष्य धर्मसे मुँह मोड़ता है। सम्पन्न होकर भी दान नहीं देता। धनी व्यक्तिके द्वारपरसे भी गरीब भिक्षुक लौट जाते हैं। किंतु मानो भिक्षुक धनी व्यक्तिको प्रत्यक्ष उपदेश देता है कि दान न देनेसे ही उसकी यह दशा हुई है। अतः धर्म मानव-जीवनका मुख्य अङ्ग बनना चाहिये। धार्मिक प्रवृत्तिसे मनुष्यको सच्चा आत्मिक सुख एवं परम संतोष प्राप्त होता है। सुकर्म करनेवालेका मस्तक गौरवान्वित रहता है।

काम सृष्टिका मूल है। ऋतुदान आवश्यक है। गृहस्थके लिये धर्मयुक्त संतान भी आवश्यक है। भगवान् स्वयं सबसे बड़े गृहस्थ हैं। मनुष्यके तो दो-चार संतानें होती हैं, भगवान्के ८४ लाख योनियोंमें असंख्य संतान हैं। परंतु स्वपत्नीके अतिरिक्त सबोंको माँ, बहिन, पुत्री मानना चाहिये। कहा भी है—

'मातृवत् परदारेषु……'

भगवान् राम चौदह वर्षके लिये वनमें गये। सीता साथ गयीं, परंतु जैसे गये वैसे ही लौट आये। आज युवक विदेश जाते हैं और वहाँसे केवल पत्नी (Lady ही नहीं, बच्चा (Baby) भी साथ लाते हैं। अतः मनुष्यको मर्यादामें रहकर ही जीवनके इस अङ्गको व्यवहारमें लाना चाहिये।

पाण्डवोंके हिमालय-प्रयाणके समय कुत्ता साथ गया था। एक-एक करके सब पाण्डव गिर गये। क्यों? द्रौपदी क्यों गिरी? वह अर्जुनको सब भाइयोंकी अपेक्षा अधिक प्यार करती थी। सहदेव क्यों गिरे? बुद्धिका अभिमान था उन्हें। नकुलको रूपका तथा अर्जुनको शक्तिका अभिमान था। भीमने जब युधिष्ठिरसे स्वयं गिरते समय कारण पूछा तो धर्मराजने कहा—'तुम खाते अधिक थे'। अब केवल कुत्ता और युधिष्ठिर रह गये। इन्द्र आये और युधिष्ठिरको रथपर चढ़ाने लगे, पर युधिष्ठिरने कहा—'हम तो कुत्तेको साथ लेकर जायँगे।' अपने साथ आये कुत्तेके प्रति भी युधिष्ठिर कितने दयालु थे। कुत्ता और कोई नहीं, स्वयं धर्मराज थे। युधिष्ठिरकी धर्मनिष्ठासे प्रसन्न हो वे अपने असली रूपमें प्रकट हो गये और महाराज युधिष्ठिर स्वर्गमें गये।

वेद-शास्त्रोंके निर्देशानुसार विद्वानोंद्वारा निर्दिष्ट मार्गपर ही चलना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है।

* * *

ज्ञानका स्वरूप

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ १२६४ से आगे]

इस विषयमें श्रुति भगवती कहती है कि अन्तःकरणको शुद्ध किये बिना केवल बाँचनेसे या शास्त्राभ्याससे आत्मज्ञान नहीं होता। इस विषयको कठोपनिषद्का यह मन्त्र कहता है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(२।१।२४)

जबतक विषयोंसे युक्त दुर्गुण तथा दुराचारका त्याग नहीं किया तथा जबतक चित्तका विषयोंमें भटकना बंद नहीं होता और जबतक इन्द्रियोंका निरोध नहीं किया तथा जबतक मनका संकल्प बंद नहीं हुआ, तबतक बहुत शास्त्राभ्याससे अथवा बहुत श्रवण या तर्कसे आत्मज्ञान नहीं होता। श्रुतिके कथनका तात्पर्य यह है कि ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणको वासना-शून्य करना चाहिये; क्योंकि जबतक एक भी भोगवासना अन्तःकरणमें पड़ी रहेगी, तबतक ज्ञान स्थिर न हो सकेगा।

गीतामें अधिकारकी आवश्यकता बतलाते हुए श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि 'पहले ऐसी योग्यता प्राप्त कर लो, इसके बाद मैं तुझको ज्ञानका उपदेश करूँगा'।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
(गीता ७।१)

'मुझमें मनको जोड़कर मेरा आश्रय लेकर रहो। फिर मेरा स्वरूप जाननेके लिये तुझको क्या करना पड़ेगा, मैं तुझे कहूँगा।' पहले तो 'मय्यासक्तमनाः' होनेको कहते हैं। अर्थात् जगत्के भोगपदार्थोंमेंसे आसक्ति हटाकर मुझमें मनको जोड़ दो। दूसरी है 'योगं युञ्जन्'—किसी भी योगके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध कर लो। तीसरी है 'मदाश्रयः' हो जाओ। मेरे सिवा दूसरे किसीका आश्रय न रक्खो। इसमें—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'

अर्थात् सब धर्मोंको छोड़कर तुम मेरी शरणमें आ जा (गीता १८।६६) का भाव है। इतनी योग्यता प्राप्त करनेके बाद अर्जुन! तुम संशयरहित होकर पूर्णरूपसे जान सकोगे। जो ज्ञान संशयरहित होता है, वही 'ज्ञान' कहलाने योग्य है। संशययुक्त ज्ञान तो केवल कथनमात्र है। फिर कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
(गीता ७ । २)

'अब मैं ज्ञानके साथ सम्पूर्ण विज्ञान कहता हूँ, जिसको जान लेनेपर कुछ जानना शेष नहीं रहता ।'

इस श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि अब मैं तुमको ज्ञानका स्वरूप समझाता हूँ, जिसके जाननेके बाद दूसरा कुछ जाननेके लिये बच नहीं रहता । यह ज्ञान केवल पाँच श्लोकोंमें समझाया गया है । उनके आगेके तेईस श्लोक इन पाँच श्लोकोंके विस्तार हैं । यहाँ भगवान्ने भी यह कहा है कि ज्ञानके लिये बहुत पोथी बाँचना जरूरी नहीं है, बल्कि योग्यता प्राप्त करनेकी आवश्यकता है ।

अब लौकिक क्षेत्रका एक उदाहरण लीजिये । वैद्यक शास्त्रमें कायाकल्पका प्रयोग लिखा है । यह प्रयोग करनेके पहले पञ्चकर्मसे शरीरको शुद्ध करना पड़ता है । इस प्रयोगमें कठिनसे कठिन यदि कोई वस्तु है तो वह है—पञ्चकर्मसे शरीरको शुद्ध करना । इसके करनेमें महीना, सवा महीना लग जाता है और रोगी हिम्मत हार जाता है । परंतु यदि पञ्चकर्मसे शरीरकी शुद्धि ठीक तौरपर न हो तो ओषधि लाभ न करे । यही नहीं, कभी-कभी तो अशुद्धि रह जानेसे शरीरमें विकार उत्पन्न हो जाता है । अतएव चाहे कष्ट कितना भी हो, शरीर-शुद्धि तो कर ही लेनी चाहिये ।

इसी प्रकार ज्ञानरूपी महारसायन लेनेके पहले अन्तःकरणको शुद्ध करना चाहिये । ऐसा करनेमें परिश्रम बहुत होता है और साधक लाचार हो जाता है, परंतु हिम्मत रखकर चित्त-शुद्धि तो करनी ही चाहिये । चित्त शुद्ध न हो और ऊपरसे ज्ञान उँड़ेला जाय तो ज्ञान स्थिर नहीं रहेगा । यही नहीं, कभी-कभी वह विकृत हो जायगा । आजकलके युगमें विद्वानोंमें तथा ज्ञानियोंमें स्वेच्छाचार देखनेमें आता है । इसका कारण यही है कि अन्तःकरण शुद्ध करनेके पहले पढ़ना शुरू हो जाता है और जानकारीको ही ज्ञान समझकर अपने-आपको ज्ञानी समझकर 'को विधिः को निषेधः' (ज्ञानीके लिये विधि क्या और निषेध क्या ?)—इसका रहस्य बिना समझे अपनेको विधि-निषेधसे परे मानकर यथेच्छाचार करते हैं ।

अब यहाँ 'जानकारीको ही ज्ञान मानकर'—इस वाक्यांशका अर्थ समझना अप्रासङ्गिक न होगा । माताने कहा कि गुड़ मीठा होता है । पुत्रने माना कि गुड़ मीठा होता है । यह हुई जानकारी, इसका उपयोग दूसरोंको कहनेमें हो सकता है, परंतु जब माता गुड़की भेली हाथमें देती है और पुत्र उसे खाता है, उसके स्वादको अनुभव करता है, तब वह अनुभवयुक्त ज्ञान या विज्ञान कहलाता है ।

इसी प्रकार पञ्चदशीमें हम 'प्रत्यक् तत्त्वविवेक' प्रकरण पढ़ते हैं । वहाँ 'श्रवण'की व्याख्या देखकर, 'मनन'की व्याख्या समझकर 'निदिध्यासन'से लेकर 'समाधि-दशा' तकके श्लोकोंको पढ़कर हम कण्ठस्थ कर लेते हैं । अब इसको हम ज्ञान कहें तो ठीक नहीं । यह तो जानकारी मात्र है । जो बात पुस्तकमें थी, वह बुद्धिमें बैठ गयी । परंतु जब एकाध महावाक्यको लेकर पञ्चदशीके उपदेशानुसार श्रवण, मनन और निदिध्यासन करें और उसका अनुभव हो तब वह ज्ञान कहलायेगा । ऐसा ज्ञान होनेपर साधक मुक्त हो जाता है ।

श्रीशंकराचार्यने कहा है कि **'माण्डूक्यमेकलं मुमुक्षूणां विमुक्तये'** । अर्थात् मुमुक्षु पुरुषोंकी मुक्तिके लिये एक माण्डूक्य उपनिषद् पर्याप्त है । 'मुमुक्षु' बाँचे तो उसकी अवश्य मुक्ति हो जाय । इसमें किसी बातकी शङ्का नहीं है । परंतु यहाँ तो बाँचनेवालेमें मुमुक्षुता आदि कोई अधिकार ही नहीं होता । केवल लोग कुतूहल-वृत्तिको पोषण करनेके लिये बाँचते हैं, तब फिर उनको एक उपनिषद्से क्या तृप्ति होगी ? पश्चात् दस उपनिषद् बाँचते हैं । उनसे तृप्तिका अनुभव न होनेपर अट्ठाईस उपनिषद् बाँचते हैं और फिर बाँचनेकी वासना प्रबल होनेपर जो मिलता है उसे ही बाँचने लगते हैं ।

इस प्रकारके वाचनका व्यसन दूर करनेके लिये आज हम वाचनके द्वारा मिलनेवाली जानकारी या समाचार, विद्वत्ता या पाण्डित्यका स्वरूप क्या है, सच्चे ज्ञानका स्वरूप क्या है तथा इन दोनोंके बीच क्या अन्तर है, इसका तुलनात्मक विचार करेंगे ।

यथार्थज्ञान या तत्त्वज्ञान और विद्वत्ता या पाण्डित्यके बीच बड़ा अन्तर है, यह बात विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है, अतएव ज्ञानी और विद्वान्के बीच भी बड़ा भेद रहता है । एक मनुष्य षड्दर्शनका अभ्यासी है, इसलिये वह ज्ञानी भी है, यह नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार एक मनुष्य ज्ञानी है, पर वह विद्वान् होगा ही—ऐसा नहीं कह सकते । दोनोंका सुयोग विरल ही होता है । विद्वत्ताका पार नहीं है, आजतक विद्याका पार कोई नहीं पा सका, न भविष्यमें पार

कर सकेगा। इस पृथ्वीपरके सब सागरोंको इकट्ठा करें तो भी वे विद्याके सागरके बराबर नहीं होंगे। **'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्'** अर्थात् शास्त्र या विद्याको पढ़कर कोई पार नहीं पा सकता।

इस बातको श्रीशंकराचार्य इस प्रकार कहते हैं—

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारकम्।
अतः प्रयत्नाज् ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः॥

अर्थात् शब्दशास्त्र अथवा पुस्तकोंका वाचन एक घोर अरण्यमें पैठनेके समान है। जिस प्रकार अरण्यमें भूल जानेपर चित्त भ्रमित हो जाता है, उसी प्रकार वाचनरूपी अरण्यसे कोई बाहर नहीं निकल सकता, इससे चित्त भ्रमित हो जाता है। अतएव श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान् मनुष्यको शब्दजालमें न फँसकर अपने साधनके अनुकूल जितना हो उतना ही बाँचना चाहिये और जैसे हो वैसे ही आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये, इसीमें मानवजीवनकी सार्थकता है।

अतः जहाँ विद्वत्ताका अन्त नहीं है, वहाँ ज्ञान बस बिल्कुल जरा-सा है, बहुत ही थोड़ा है। संतवाणीमें कहें तो कह सकते हैं, **'तलभर ताळुं अने रज भर कुंची'** (**तिलभरका ताला, रजभरकी कुंजी**)। धीर पुरुषके शब्दोंमें कहें तो, 'तरणा ओथे डुंगर रे, डुंगर कोई देखे नहिं'——ऐसा कह सकते हैं। विद्वत्ताकी उपमा सात समुद्रसे दें तो ज्ञान एक चम्मचमें आ जा सकता है। 'अहं ब्रह्मास्मि'—'मैं ब्रह्म हूँ'—यह ज्ञान हुआ। सहज रीतिसे कहें तो, 'मैं आत्मा हूँ'—यह ज्ञान है। खूब स्पष्ट करके कहें तो, 'मैं यह शरीर नहीं हूँ, बल्कि इसका नियमन करनेवाला आत्मा हूँ'—यह है ज्ञान। इससे अधिक व्यौरेवार कहें तो 'मैं शरीर नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं, इन्द्रियाँ नहीं तथा इन सबका समूह नहीं; परंतु मैं आत्मा हूँ और शरीर, मन, बुद्धि आदि जड पदार्थोंका नियमन करनेवाला हूँ।' ऐसा कह सकते हैं।

पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्यने यह बात इस प्रकार कही है—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्नबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा॥

'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ'—ऐसा यथार्थ ज्ञान होनेका नाम मोक्ष है। इसके सिवा मुक्तिका दूसरा कोई स्वरूप नहीं। दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि स्वप्नका नाश करनेके लिये—स्वप्नका अन्त लानेके लिये निद्रासे जागनेके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं। इसी प्रकार मुक्तिका दूसरा कोई स्वरूप नहीं। ज्ञान ही मुक्ति है।

जहाँ ज्ञानसे मुक्ति होती है, अविचल सुख मिलता है, वहाँ विद्वत्ता भुक्ति प्रदान करती है यानी जगत्‌में प्रतिष्ठा बढ़ाती है, यश, धन, मकान, ऐश्वर्य आदि शरीरके सुखके साधन प्रदान करती है, अर्थात् मायिक पदार्थोंको प्रदान करती है, मोक्षसुख नहीं प्रदान करती। बल्कि बहुत पुस्तकें बाँचनेसे और कण्ठस्थ करनेसे शास्त्र-वासना बढ़ती है और 'मैं कुछ हूँ'—इस प्रकारका अनर्थकारी अहंकार खड़ा हो जाता है।

इस भावका वर्णन श्रीशंकराचार्यने इस प्रकार किया है—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये॥

अर्थात् वाणीका जिसमें अस्खलित प्रवाह चलता हो, ऐसे भाषणसे, अथवा शास्त्रोंके पढ़ने-पढ़ानेकी कुशलतासे, तथा विद्वान् पुरुषकी विद्वत्तासे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, केवल संसारके मायिक भोग प्राप्त हो सकते हैं।

विद्वत्ता और ज्ञानके बीच एक दूसरा महान् अन्तर यह है कि विद्वत्ता श्रमसाध्य है, प्रयत्न करके पुरुष उसे प्राप्त कर सकता है। सतत अभ्यास और परिश्रमके फलस्वरूप वह प्राप्त हो सकती है। परंतु ज्ञान कृपासाध्य है, जब ईश्वरकी और गुरुकी कृपा होती है तभी विशुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञान स्वयं स्फुरित होता है। ज्ञान स्वयंभू है और विद्वत्ताकी परिश्रमके द्वारा प्रतिष्ठा करनी पड़ती है।

भगवती श्रुति भी कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठ० १। २। २३)

प्रथम दो चरणोंमें कहते हैं कि आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान पुरुषार्थ-साध्य नहीं है और अन्तिम दो चरणोंमें कहते हैं कि वह कृपा-साध्य है। मन्त्रका भाव यह है कि आत्माकी प्राप्ति यानी अपने स्वरूपका ज्ञान बहुत शास्त्राभ्याससे नहीं होता। बल्कि केवल सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही होता है। उसी प्रकार बहुत श्रवणसे भी नहीं होता, अर्थात् पुरुषके प्रयत्नसे नहीं होता। तब ज्ञान होता है कैसे ? इसका

उत्तर देते हुए कहते हैं कि जब साधक पूर्ण आत्मसमर्पण करता है और उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा होती है, तब यह ज्ञान अपने-आप प्रकट होता है और ईश्वर अपना समग्र स्वरूप उसे यथार्थतः दिखाते हैं या समझाते हैं ।

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये किसी प्रबल पुरुषार्थकी या बहुत-सी पुस्तकोंके बाँचनेकी आवश्यकता नहीं । केवल अन्तःकरणको निर्मल करके दृष्टिको सम बनाना है ।

श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं—

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥

कैसी सरल बात है ! कैसा अमोघ उपदेश है ! इसका अनुभव करके, ऐसा ही करनेमें लग जाय तो ईश्वरकी कृपासे साक्षात्कार हो जायगा । साधन तो करनेकी वस्तु है, बाँचने, सुनने या चर्चा करनेकी वस्तु नहीं । करनेसे मिलेगा, भोजनकी माला फेरनेसे पेट भरनेवाला नहीं तथा चले बिना कोई गन्तव्य स्थानमें नहीं पहुँच सकता । इसलिये अभ्यासमें लगना आवश्यक है । 'मैं प्रवीणराय हूँ'—यह ज्ञान कितना दृढ़ है ? गहरी नींदमें हो और कोई जोरसे पुकारे 'प्रवीणराय !' तो तुम चट नींदसे जगकर हुंकारी देते हो । स्वप्नमें या नींदमें कभी भी 'मैं प्रवीणराय हूँ'—इस विषयमें तुम्हें कोई शङ्का नहीं हुई ।

यह ज्ञान जैसा दृढ़ और संशयरहित है, ऐसा ही दृढ़ ज्ञान हो जाय कि 'मैं आत्मा हूँ, मैं यह शरीरादि नहीं हूँ, बल्कि इनका नियन्ता चेतन स्वरूप आत्मा हूँ'—तो फिर तुम उसी क्षणसे मुक्त हो जाओगे ।

इस श्लोकका चौथा चरण है—**'स नेच्छन्नपि मुच्यते ।'** अर्थात् 'पुरुषकी इच्छा न हो तो भी आत्मज्ञान होनेपर वह मुक्त हो जाता है ।' इसका भाव यह है कि 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा यथार्थ ज्ञान होनेका नाम ही मुक्ति है । तत्त्वज्ञान और मुक्ति दो पृथक् पदार्थ नहीं हैं, जो ज्ञानके बाद मुक्तिके लिये अलग प्रयत्न करना पड़े । 'मैं देह हूँ और देहके सम्बन्धसे ये प्राणी-पदार्थ मेरे हैं'—इस प्रकारके विपरीत ज्ञान (विपर्यय) का नाम बन्धन है और 'मैं देह नहीं, बल्कि इसका नियन्ता चेतनस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसा यथार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान) ही बन्धनसे निवृत्ति अर्थात् मुक्ति है ।

यह बात अष्टावक्र मुनिने इस प्रकार कही है—

यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥

श्रीअष्टावक्र मुनि राजा जनकसे कहते हैं कि हे राजन् ! यदि तुम 'मैं देह नहीं हूँ'—ऐसा निश्चय करके तीनों देहोंसे पृथक् हो जाओ और 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा दृढ़ निश्चय करके अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाओ तो इसी क्षण तुम जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होकर सुखी और शान्त हो जाओगे ।

बस, ज्ञानका स्वरूप इतना ही है । ज्ञानकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है केवल अधिकार-सम्पन्न होनेकी, बहुत ग्रन्थ बाँचनेकी या अभ्यास करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

इस प्रसङ्गको श्रीशंकराचार्यने बड़ी सुन्दरतासे स्पष्ट किया है, उसका यहाँ उल्लेख कर लेख समाप्त किया जाता है ।

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
विज्ञाते तु परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥

परतत्त्वके ज्ञान बिना, है शास्त्राभ्यास अनर्थक ।
परतत्त्वका ज्ञान हुआ, फिर शास्त्राभ्यास अनर्थक ॥

तात्पर्य यह है कि शास्त्राभ्यास तभीतक आवश्यक है, जबतक तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है । उससे यदि तत्त्वज्ञानका उदय नहीं होता तो उस शास्त्राभ्यासको निरर्थक समझो । शास्त्राभ्यासके बिना भी यदि आत्मज्ञान हो गया तो फिर शास्त्राभ्यासकी आवश्यकता नहीं रहती ।

* * *

मिथ्या ज्ञानी

नाम-रूपका बना हुआ है जिनके अंतरमें अध्यास ।
जिनके मनमें वर्तमान है भोगासक्ति, भोग-अभिलाष ॥
वाचिक ज्ञानयुक्त जो मानव करते मनमाना आचार ।
विधि-निषेधसे परे मान, वे हैं अज्ञानी मिथ्याचार ॥

भगवन्नामजपका प्रभाव

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इस मनुष्य-जन्मकी सार्थकता भगवान्‌की प्राप्तिमें ही है। भगवान्‌में प्रेम होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है—यह बात गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

श्रीरामचरितमानसमें श्रीशिवजीके वचन हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(बाल० १८४।३)

श्रीमद्भागवतमें श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्॥
(३।३२।२३)

'भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरंत ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है।'

यही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी भक्त उद्धवसे कहा है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२०-२१)

'उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करनेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति। मैं सत्पुरुषोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं एकमात्र अनन्य श्रद्धा-भक्तिसे ही प्राप्त होता हूँ। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं।'

इस प्रकार प्रेमसे ही भगवान्‌की प्राप्ति बतलायी गयी है। वह प्रेम प्राप्त होता है सत्सङ्गसे।

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(रा० च० मा० उत्तर० ६१)

तथा जैसे विषयोंका चिन्तन करनेसे विषयोंमें प्रेम हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌का चिन्तन करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जानेपर भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और भगवान्‌के नामका जप अपने-आप ही होता रहता है। फिर वह भगवान्‌को भूल ही नहीं सकता। गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य प्रेम था; अतः वे भगवान्‌को कभी नहीं भूलती थीं। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(१०।४४।१५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

जिस प्रकार भगवच्चिन्तनसे भगवत्प्रेम प्राप्त होता है वैसे ही केवल भगवन्नामजपसे भी भगवान्में प्रेम हो जाता है । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥
(राम० च० मा० बाल० २० । ३)

श्रीतुलसीदासजीने तो भगवान्से भी बढ़कर भगवान्के नामकी महिमा गायी है—

**राम भगत हित नर तनु धारी । सहि संकट किए साधु सुखारी ॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा । भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥
राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
भंजेउ राम आपु भवचापू । भवभय भंजन नाम प्रतापू ॥
दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन । जन मन अमित नाम किए पावन ॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन । नामु सकल कलि कलुष निकंदन ॥
सबरी गीध सुसेवकन्हि सुगति दीन्ह रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ॥**
(रा० च० मा० बाल० २३ । १—४; २४)

श्रीतुलसीदासजीने अपने ग्रन्थोंमें 'राम' नामकी विशेष महिमा कही है, इसी प्रकार वेदोंमें और योगदर्शनमें 'ॐ' की, भागवत आदिमें 'कृष्ण' की, शिवपुराणमें 'शिव' की, विष्णुपुराणमें 'विष्णु', 'हरि' आदिकी, गीतामें 'ॐ', 'तत्', 'सत्' नामोंकी, * कुरानशरीफमें 'अल्लाह', 'खुदा' की, बाइबिलमें 'गॉड' की, जैनग्रन्थोंमें 'अर्हन्त' और 'ॐ' की, आर्यसमाजके ग्रन्थोंमें 'ॐ' की विशेष महिमा कही गयी है । इसी तरह अन्यान्य सभी सम्प्रदायोंके महानुभावोंने अपने-अपने इष्टदेवके नामकी विशेष महिमा कही है । अतः समझना चाहिये कि राम, कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव, हरि, विष्णु, शिव, ॐ, तत्, सत्, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि परमात्माके जिस नाममें जिस मनुष्यकी रुचि, श्रद्धा, विश्वास हो, उसके लिये वही सबसे बढ़कर है । इसलिये उसको उसी नामका श्रद्धा, प्रेम और निष्काम भावसे तत्परतापूर्वक जप करना उचित है ।

वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके जो जप किया जाता है उसे 'वाचिक' जप कहते हैं, उससे वह उपांशु जप श्रेष्ठ है जो होठ और जीभसे दूसरोंको सुनायी न दे, ऐसे मन्दस्वरमें धीरे-धीरे उच्चारण करके किया जाता है; किंतु उससे भी बढ़कर मानसिक जप है ।

श्रीमनुजीने तो यज्ञसे भी नामजपकी महिमा बहुत अधिक बतायी है—

**विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥**
(मनु० २ । ८५)

'विधियज्ञ (अग्निहोत्र आदि) की अपेक्षा उच्चारण करके किया हुआ जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है ।'

गीतामें भगवान्ने 'यज्ञ' के नामसे बहुत-से साधन बताये हैं, उन साधनोंमें जपयज्ञको अपना स्वरूप यानी साध्य बतलाया है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १० । २५ का तीसरा चरण) 'सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ ।'

जो नामजप मनसे—मन लगाकर किया जाता है वह मानसिक जप है । मानसिक जपके कई भेद हैं । जैसे—

(१) जिसमें मनुष्यका विशेष प्रेम होता है वह वस्तु बिना याद किये भी अपने-आप याद आती है और उसको वह भुलानेपर भी भूल नहीं सकता; इसी प्रकार बलात् भगवान्के नामकी स्मृति निरन्तर होना—यह सबसे बढ़कर मानसिक जप है ।

---

* ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥
(गीता १७ । २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये ।'

२—

(२) जिस प्रकार मनमें भगवान्‌के स्वरूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, लीला आदिकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवन्नामकी मनमें बार-बार स्मृति होना—यह भी मानसिक जप है ।

(३) दीवालपर लिखे हुए अक्षरोंकी भाँति भगवान्‌के ललाटपर भगवान्‌का नाम लिखा हुआ है ऐसा मानकर मनसे ही उसे बार-बार पढ़ना—यह भी मानसिक जप है ।

(४) हृदय, कण्ठ, भ्रुकुटी आदि स्थानोंमें नाड़ीकी चालके साथ नामजपकी भावना करनेसे उसके द्वारा नामजप होता हुआ प्रतीत होता है, उसका मनसे बार-बार अनुभव करना—यह भी मानसिक जप है ।

(५) रात्रिमें सोनेके समय स्वाभाविक ही कानोंमें एक प्रकारका शब्द सुनायी देता रहता है, उसमें राम, शिव, ॐ आदि अल्पाक्षरोंके भगवन्नामकी भावना करनेसे वह नाम स्वतः ही सुनायी देता है । इसका दृढ़ अभ्यास हो जानेपर चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते भी मनसे उस नामका सुनायी देना—यह भी एक प्रकारका मानसिक जप ही है ।

इसके सिवा, जीभ और होठ बंद करके श्वास-प्रश्वासके द्वारा (श्वासके आने-जानेके साथ) जो नामजपका अभ्यास किया जाता है, उसमें अभ्यास हो जानेपर नामका उच्चारण कण्ठसे स्वाभाविक होता रहता है । यह श्वासद्वारा होनेवाला जप उपांशुसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि यह मरणकालपर्यन्त वाणी और नाड़ीकी गति बंद होनेपर भी हो सकता है । किंतु यदि इसके साथ मनको लगा दिया जाय तब तो यह भी मानसिक जपकी गणनामें शामिल हो जाता है ।

भगवन्नामजपके साथ उस नामका अर्थ जो नामी—भगवान् हैं, उनका स्मरण रखनेसे वह जप बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारक हो जाता है । योगदर्शनमें बताया गया है—

तस्य वाचकः प्रणवः । (योग० १ । २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है ।'

तज्जपस्तदर्थभावनम् । (योग० १ । २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये ।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । (योग० १ । २९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और परमात्माके स्वरूपकी भी प्राप्ति हो जाती है ।'

गीतामें भगवान् भी कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
(८ । १३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ।'

किंतु नामजप यदि परम श्रद्धा-प्रेमपूर्वक किया जाय तो उसकी महिमा तो कोई गा ही नहीं सकता; क्योंकि श्रद्धा-प्रेम होनेसे जप निरन्तर तो अपने-आप ही होने लगता है । फिर यदि किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर निःस्वार्थ-भावसे केवल कर्तव्य समझकर नामजप किया जाय तो उसके तुल्य तो कोई भी साधन नहीं है । इस प्रकार नाम-जप करनेवाले साधकको तो तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । उच्च कोटिका विशुद्ध प्रेम निष्कामभाव होनेपर ही होता है । इसीको अनन्य विशुद्ध परम प्रेम कहते हैं, जिसके प्राप्त होनेपर भगवत्साक्षात्कार होनेमें क्षणभरका भी विलम्ब नहीं हो सकता ।

किंतु याद रखना चाहिये कि उस सच्चे प्रेममें दिखाऊपन कभी नहीं रहता । सच्चा प्रेमी 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा कहता-कहलाता नहीं, बल्कि स्वयं वैसा बनता है । जो मनुष्य संसारमें 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा प्रचार करता है, वह सच्चा विशुद्ध प्रेमी नहीं है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और कञ्चन-कामिनी, भोग-आरामका इच्छुक पुरुष ही लोकदिखाऊ प्रेम किया करता है । परंतु प्रेम न करनेसे तो ऐसा सकाम प्रेम करना भी अच्छा है; क्योंकि कभी आगे जाकर वही प्रेम सकामसे निष्काम हो सकता है । पर स्मरण रखना चाहिये कि निष्काम और अनन्य प्रेम होनेपर ही भगवान् अपना दर्शन देनेके लिये विशेष बाध्य होते हैं (गीता ११।५४)। यदि भगवान् निष्काम प्रेम न होनेपर भी अनन्य भक्तिसे दर्शन दे दें तो यह उनकी विशेष उदारता है ।

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् स्वयं निष्काम भजन करनेवाले भक्तकी विशेषता बतलाते हैं—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥
(अरण्य० १७)

जो नामोच्चारण अकेले या बहुत व्यक्ति मिलकर बाजेके साथ या बिना बाजेके उच्चस्वरसे सामूहिक रूपमें किया जाता है, उसे 'कीर्तन' कहते हैं । उस नाम-कीर्तनकी महिमा भी अपार है । किंतु उसमें भी प्रधानता श्रद्धा-प्रेमकी ही है । जितना ही अधिक श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभाव होता है, उतना ही वह अधिक मूल्यवान् है । श्रीनारदजी, श्रीतुलसीदासजी, श्रीसूरदासजी, श्रीनरसिंह मेहता, श्रीगौराङ्ग महाप्रभु एवं मीराँबाई आदि बहुत-से भक्त कीर्तन-प्रेमी माने जाते हैं ।

किंतु श्रीमद्भागवतमें तो यहाँतक बतलाया गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥
(६ । २ । १८)

'जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है उसी प्रकार पवित्रकीर्ति श्रीहरिके नामका संकीर्तन, जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है ।'

श्रीशुक्राचार्यजीने भगवान्से कहा है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २३ । १६)

'प्रभो ! मन्त्रोंकी, अनुष्ठानपद्धतिकी, देश, काल, पात्र और वस्तुकी सारी भूलें आपके नाम-संकीर्तनसे सुधर जाती हैं । आपका नाम सारी त्रुटियोंको पूर्ण कर देता है ।'

यही नहीं, भगवन्नामजपका बड़ा भारी प्रभाव है । नामजपके प्रभावसे तो स्वयं भगवान् ही उस जापकके वशमें हो जाते हैं—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ॥
(राम० च० मा० बाल० २५ । ३)

भक्त हनुमान्जीकी भगवान्के नाममें परम निष्ठा थी । अध्यात्मरामायणमें समुद्रोल्लङ्घनके समय वे कहते हैं—

प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत् स्मरन् ॥
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम् ।
(सुन्दर० १ । ४-५)

'प्राण निकलते समय जिन भगवान्के नामका एक बार स्मरण करनेसे ही मनुष्य अपार संसारसागरसे तरकर उनके परमधामको चला जाता है ।'

राज्याभिषेकके पश्चात् जब श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्जीकी भक्तिसे प्रसन्न हो उन्हें वर माँगनेको कहते हैं तब श्रीहनुमान्जी अत्यन्त हर्षित हो यही वर माँगते हैं—

त्वन्नाम स्मरतो राम न तृप्यति मनो मम ॥
अतस्त्वन्नाम सततं स्मरन् स्थास्यामि भूतले ।
(अध्यात्म० युद्ध० १६ । १२-१३)

'हे रामजी ! आपका नाम-स्मरण करते हुए मेरा मन तृप्त नहीं होता है; इसलिये मैं सदा-सर्वदा आपका नाम स्मरण करता हुआ ही इस पृथ्वीपर स्थित रहूँ ।'

भगवान् श्रीरामने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें वर दिया ।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥
(१२ । ३ । ४४)

'मनुष्य मरते समय, आतुर-अवस्थामें, गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्के नामका उच्चारण कर ले तो वह सारे कर्मबन्धनोंसे छूटकर उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है । ऐसा होनेपर भी घोर कलियुगमें मनुष्य उन भगवान्की उपासना तत्परतासे नहीं करते हैं ।'

इतना ही नहीं, मनुष्य कैसा भी पापी क्यों न हो, नामजपके प्रभावसे उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और उसका कल्याण हो जाता है ।

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ ॥
कहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका ॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
(राम० मा० बा० २५ । ४; २६ । १,३)

किसी कविने भी कहा है—

जबहिं नाम हिरदै धर्‌यो भयो पापको नास ।
मानो चिनगी आगकी परी पुराने घास ॥

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है । वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान्के पार्षदोंके वचन हैं—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
(६ । २ । १०)

'सभी पापियोंके लिये इतना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है कि भगवान्के नामोंका उच्चारण किया जाय; क्योंकि भगवन्नामोंके उच्चारणसे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्के गुण, लीला और स्वरूपमें रम जाती है और स्वयं भगवान्की उसके प्रति आत्मीयबुद्धि हो जाती है ।'

श्रीशुकदेवजी परीक्षित्से कहते हैं—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् ।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥
(श्रीमद्भा० ६ । २ । ४९)

'अजामिल-जैसे पापीने मरते समय पुत्रके निमित्तसे भगवान्के नामका उच्चारण किया था, किंतु उसे भी परम धामकी प्राप्ति हो गयी; फिर जो लोग श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है !'

श्रीसूतजीने कहा है—

पतितः स्खलितश्चार्त्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ४६)

'जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'हरये नमः', वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।'

श्रीनारदपुराणमें श्रीसनकजी नारदजीके प्रति कहते हैं—

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय ॥
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः ।
(पूर्व० ४१ । ९९-१००)

'जो लोग प्रतिदिन हरे ! केशव ! गोविन्द ! वासुदेव ! जगन्मय ! इत्यादि भगवान्के नामोंका उच्चारण करते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता ।'

और भी कहते हैं—

अहो चित्रमहो चित्रमहो चित्रमिदं द्विज ।
हरिनाम्नि स्थिते लोकः संसारे परिवर्तते ॥
(नारद० पूर्व० ३४ । ४८)

'ब्रह्मन् ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है, बड़ी अद्भुत बात है और बड़ी विचित्र बात है कि भगवान् विष्णुके नामके रहते हुए भी लोग जन्म-मृत्युरूप संसारमें चक्कर काटते हैं ।'

स्वपन् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा ।
चिन्तयेद्यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः ॥
(नारद० पूर्व० ३९ । ६)

'जो सोते, खाते, चलते, ठहरते, उठते और बोलते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता है, उसे नित्य बारंबार नमस्कार है ।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(नारद० पूर्व० ४१ । ११५)

'भगवान् विष्णुका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है । कलियुगमें दूसरी कोई गति है ही नहीं, है ही नहीं, है ही नहीं ।'

श्रुति भी कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(कठ० १ । २ । १६)

'यह अक्षर (ॐ) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है । इसलिये इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है ।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह नामकी भूरि-भूरि महिमा गायी गयी है । यहाँ तो कुछ साधारण दिग्दर्शन कराया है । वस्तुतः नामकी महिमा कोई गा ही नहीं सकता; क्योंकि गाना तो वाणीसे ही होता है; किंतु वाणी **परिमित है और भगवन्नामकी महिमा अपरिमित है । अतः उसकी महिमा मनुष्य कहाँतक गा सकता है । यह कथन भी कोई अनुचित नहीं कि भगवान्के नामकी महिमा भगवान् भी नहीं गा सकते—**

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥
(रामचरितमानस बाल० २५ । ४)

इसलिये हमलोगोंको भगवान्में परम प्रेम होनेके लिये अनन्य विशुद्ध श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मनसे हर समय भगवान्के नामका जप करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

* * *

एक महात्माका प्रसाद

दिव्य जीवन

(संकलयिता और प्रेषक—श्री'माधवजी'—यथाश्रुत, यथागृहीत)

मानवमात्र दिव्य जीवनका जन्मजात अधिकारी है। दिव्य जीवनका अर्थ है—ऐसा जीवन, जो किसीके लिये अनुपयोगी न हो, अपितु सबके लिये उपयोगी हो। जिसका जीवन सबके लिये उपयोगी है, वही मानव है। दिव्य जीवनकी प्राप्तिका उपाय है—सत्सङ्ग। सत्सङ्गका उपाय है—अपना जाना हुआ असत् नहीं रहे। सत्सङ्ग कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसे हर भाई-बहन स्वाधीनतापूर्वक न कर सकें। हर व्यक्तिको बुराईका ज्ञान है। उस बुराईको जीवनमें नहीं रखना ही सत्सङ्ग है। जानी हुई बुराईका अर्थ है—सबलसे हम रक्षाकी आशा करते हैं, परंतु अपनेसे निर्बलकी रक्षा नहीं कर पाते। जीवनमें ईमानदार, योग्य परिश्रमी साथी खोजते हैं, पर स्वयं वैसा नहीं बन पाते। कोई भी व्यक्ति बेईमान साथी नहीं चाहता।

राष्ट्र और मजहबने बेईमानीको रोकनेका प्रयास किया। राष्ट्रने कानूनके बलपर और मजहबने समझा-बुझाकर; परंतु समाजसे बेईमानी नहीं गयी। सभी सम्प्रदाय अपनी-अपनी महिमा गाते हैं, परंतु वास्तविक समाजका निर्माण नहीं कर पाते। करनेवाली बात सबके लिये समान हो नहीं सकती; क्योंकि रुचि, परिस्थिति और योग्यतामें भेद है। भेद तो सहोदर बन्धुओंमें, पति-पत्नीमें भी है। इस तथ्यको सामने रखनेपर करनेवाली बात सबके लिये समान हो नहीं सकती। इसी भूलके कारण धर्म, इज़्म, सम्प्रदाय असफल हो जाता है। अतएव करनेसे पहले न करने योग्य बातोंपर विचार करें। ईश्वरवादीको क्या नहीं करना चाहिये? ईश्वरवादीमें अन्यके प्रति विश्वास, श्रद्धा नहीं होनी चाहिये। ईश्वर कैसा है? यह बात व्यर्थ है। ईश्वर दो होते तो हम सोचते कि वह कैसा है। अगर उन्हें तुम छोड़ सकते तो सोचते कि ईश्वर कैसा होता है? ईश्वरवादी ईश्वरको छोड़ नहीं सकता। ईश्वर दो है नहीं। जिसने ईश्वरको स्वीकार किया, उसका दायित्व है कि उसका किसी दूसरेमें विश्वास न हो। किसी औरसे सम्बन्ध न हो। अन्य चिन्तन नहीं होनेपर अखण्ड स्मृति जाग्रत् होगी—मनमें नहीं, इन्द्रियोंमें नहीं, प्राणोंमें नहीं, अपने-आपमें जागेगी। तुम चाहते हो स्मृतिको मनमें जगाना और मनको भगवान्में लगाना—कैसी बेतुकी बात है। अपना सम्बन्ध जोड़ दिया तनसे, मनसे, धनसे, वस्तुओंसे, और मन लगाना चाहते हैं भगवान्में। यह हो तो कैसे? मन उसीमें लगता है जिसे आप अपना मानते हैं तथा जिसकी आवश्यकताका अनुभव करते हैं। बार-बार हठपूर्वक मनको भगवान्में लगाते हैं परंतु वह अपने-आप भाग जाता है। मनका स्वभाव यह है कि वह जिसमें लग जाता है, वैसा ही बन जाता है। यदि मन प्रभुमें लग गया तो हट नहीं सकता; फिर दुनियामें लग भी नहीं सकता। होता यह है कि मन है आपके अधीन और आप हैं वस्तुके अधीन। इसीसे मन भगवान्में नहीं लगता। जो ईश्वरको स्वीकार कर लेते हैं, उन्हें जगत् दिखायी नहीं पड़ता; क्योंकि एक साथ दो विरोधी स्वीकृति ठहर नहीं सकती। दिव्य जीवनमें अभाव नहीं होता, नीरसता नहीं आती। मान-भोग दिव्य जीवन नहीं है। भोगी कभी स्वाधीन नहीं होता। यह सबका अनुभव है। जो स्वाधीन नहीं, वह दिव्य जीवनमें

प्रवेश कैसे पायेगा ? जीवनमें पराधीनता नहीं हो, यहींसे दिव्य जीवनका शुभारम्भ है । पराधीन प्राणी दिव्य जीवनमें प्रवेश नहीं पाता । स्वाधीनताका अर्थ है—मुझे अपने लिये कुछ नहीं करना है और मिले हुएके द्वारा दूसरेके लिये उपयोगी होना है । मिला हुआ 'किसी'का दिया हुआ है और उसने इस उदारतासे दिया है कि जो कुछ हमें मिला है, उसके द्वारा उसीकी सेवा करें । जो कुछ मिला है, सबको सबका देते हुए बदलेमें न चाहें, तब फिर आपका प्रवेश दिव्य जीवनमें होगा । अपने लिये अपना कुछ नहीं है । सामर्थ्य, वस्तु, योग्यता, पद, शरीर, मन, प्राण, बुद्धि सब कुछ मिला हुआ है । इसके द्वारा अभावका अभाव नहीं हो सकता । मिला हुआ हमारा नहीं है । वह दूसरोंकी सेवाके लिये है, भगवान्‌की पूजाके लिये है । अपने सुखके लिये हम किसीको क्षति नहीं पहुँचायेंगे । मानव होनेके नाते जो-जो करना चाहिये, करनेमें हम स्वतन्त्र हैं । जिसे मानना चाहिये या जिसे जानना चाहिये, उसे मानने या जाननेमें पराधीन नहीं हैं। बुराईके ज्ञानसे बुराईकी निवृत्ति होती है । यदि आप अपनी तस्वीर देखेंगे तो सारी कुरूपता प्रकट हो जायगी । उसके कारणका ज्ञान भी हो जायगा और ज्ञान हो जानेपर कुरूपता नष्ट होकर सुरूपता आ जायगी । हम सभी रामके समान पुत्र चाहते हैं, परंतु दशरथ-जैसे पिता नहीं बनते । सीता-जैसी पत्नी चाहते हैं, परंतु राम-जैसे पति नहीं बनते । हम दूसरेके बारेमें सोचते हैं, अपने बारेमें नहीं सोचते । हम अपना सोचा हुआ जब अपने ही काममें नहीं लाते, तब हमारे सगे-सम्बन्धी उसे काममें क्यों लायेंगे ? आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने धर्म अपने गुरुके द्वारा अपनेको सुन्दर बना पायें । संसार सुन्दरताका पुजारी है । संसार सुन्दरताका अधिकारी है । हम धर्मका गुण गा-गाकर सम्मानपूर्वक स्थान चाहते हैं, परंतु ऐसा हो नहीं सकता । जीवन और अनुभवको एक हो जाना चाहिये । ईश्वरवादीके जीवनमें 'प्रभु मेरा है'—इसकी छाप लग जाती है । उसे सर्वत्र ईश्वर ही दीखता है । शरीर, मन, प्राण, बुद्धि, परिवार, साधन, संसार—सब कुछ-पर अपने प्यारे प्रभुकी मुहर लगा लें । संसारपर भगवान्‌की मुहर लगनेपर संसार साधक हो जाता है, बाधक नहीं । बाधक तो अपना मन ही है । यदि प्रभुसे मन लगाना चाहते हो तो हर चीजपर प्यारे प्रभुकी 'सील' लगा लो और निश्चिन्त हो जाओ । प्रभुके हो जानेपर चिन्ता किस बातकी ? मिलकियतपर मालिककी चिन्ता होती है । 'उनकी' दी हुई वस्तु, उनकी दी हुई योग्यता और उनके दिये हुए साधन आदिका उपयोग उन्हींके नाते विवेकरूपी प्रकाशके सामने करना है । हमारा कोई भी कर्म विवेक-विरोधी नहीं होना चाहिये । प्रभुके लिये, प्रभुके नाते जो कुछ भी कर्म होगा, उससे उन्हींकी पूजा होगी । पूजा होनी चाहिये अखण्ड ।

अखण्ड—बोलना-सुनना, खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना, सब कुछ पूजा-ही-पूजा । जो अनावश्यक अशुद्ध कर्मोंको छोड़ देता है, वही पूजा कर सकता है । जो नहीं रखना चाहते, जो नहीं कर सकते, उसे छोड़कर जो कुछ कर सकते हैं, प्रभुके नाते करें । प्रभुकी आत्मीयतासे जाग्रत् जो प्रीति होती है, उसी भावसे हमें वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म सामर्थ्यद्वारा विवेकके अनुरूप प्रभु-प्रेमकी जागृतिके लिये ही करना चाहिये । प्रश्न प्रभु-प्राप्तिका नहीं है । प्रश्न है—प्रभु-प्रेमका । ईश्वरकी कृपाका ज्वलन्त उदाहरण आकाश, जल, वायु, पृथ्वी, तेज—सभीको प्राप्त है, परंतु फिर ईश्वर अप्राप्त क्यों है ? एकमात्र इसमें हेतु है कि ईश्वरसे प्रेम नहीं है । प्रेम न होनेसे ईश्वर कहाँ है, कैसा है, कितनी दूर है ? ऐसे सारे प्रश्न उठते हैं । यदि उसे अपना स्वीकार कर लें तो प्रभु-प्रेमकी प्राप्ति हो सकती

है । अपना माननेकी बड़ी जबरदस्त कीमत है—उसे जब अपना मानना है तो फिर औरको क्यों अपना नहीं मान सकते और प्रभुसे कुछ माँग नहीं सकते । मोक्षार्थी और भोगार्थी प्रभुको नहीं पा सकते । जिसे न भोग चाहिये और न मोक्ष चाहिये, वही प्रभुको अपना मान सकता है। जिसे कुछ भी नहीं चाहिये उसे पराधीनता, जडता, अशान्ति कहाँ है ? चिरशान्ति, चिन्मयता, स्वाधीनता—यही दिव्य जीवन है । दिव्य जीवनका अर्थ है—'कुछ नहीं चाहो ।' निष्कामता हर परिस्थितिमें समान रूपसे हो सकती है, परंतु आज दशा यह है कि ईश्वरको मानते हैं परंतु निष्काम नहीं । अपने लिये, परिवारके लिये, समाजके लिये, जगत्‌के लिये निष्कामता अनिवार्य है । निष्काम बिना संयम कैसे और संयम बिना शरीरकी सेवा कैसे ! किसी भी सेवाके लिये निष्काम होना अनिवार्यतया आवश्यक है । निष्कामतासे प्राप्त शान्तिमें रमण नहीं करनेसे प्रेमकी जागृति होती है । प्रेमकी जागृति होनेपर दिव्य जीवन होगा; क्योंकि प्रेम ही दिव्य है । प्रेम जगत्‌को और जगत् पतिको भाता है । यही एक तत्व है जिसका कभी नाश नहीं होता, कभी पूर्ति नहीं होती, क्षति नहीं होती और निवृत्ति नहीं होती। प्रेमकी जागृति सत्सङ्गसे होती है । सत्सङ्गका अर्थ है 'मेरा कुछ नहीं,' 'मुझे कुछ नहीं चाहिये ।' प्रेम जाग्रत् होगा आत्मीयतासे । अस्तु, निःसङ्गता, उदारता और आत्मीयता—यही दिव्य जीवन है ।

तपस्वी

(रचयिता--श्रीगुलाबरत्नजी वाजपेयी 'गुलाब')

(१)

इस सुन्दर तप काननमें,
हे ऋषि ! हे वल्कलधारी !
यह फैल रही है कैसी ?
आनन्द-ज्योति अति प्यारी ।

(२)

आश्चर्य भावसें भूले,
अनुराग-बागके माली,
क्यों ध्यानमग्न तुम बैठे ?
भर कर फूलोंसे डाली ।

(३)

आकाश ओ३म्से झंकृत,
अलि-दल पराग रस पीता;
है गूँज रही त्रिभुवनमें,
ऋषिराज ! तुम्हारी गीता ।

(४)

सुन्दर फूलोंकी फुहियाँ,
झर-झर तुमपर झरती हैं,
नतमस्तक वृक्ष खड़े हैं,
पत्तियाँ पवन करती हैं ।

(५)

यह भक्ति, मुक्तिकी पूजा,
हैं सूर्य-चन्द्रमा किंकर;
आरती प्रकृति करती है,
गोधूलिरूप धारण कर ।

(६)

हैं खेल रहे बालक-सा,
मृग शिष्य विनोद खिलौना,
आकाश श्वेत अम्बर है,
दूर्वा-दल दिव्य बिछौना ।

(७)

फिर जटा-जाल फैला कर
भगवान भक्त हुलसाओ;
हम लोट रहे चरणोंपर,
गुरुवर ! गुरु-मन्त्र सुनाओ ।

(८)

वह सत्य प्रदीप जला दो,
हो अन्त न कविता—'लौ' का;
भिड़ जाय सिन्धुके तटपर—
कविकी यह जर्जर-नौका ।

मधुर

अखिलरसामृतसिन्धु अचिन्त्यानन्त-नित्य-युगपत् परस्पर-विरोधी-धर्मगुणाश्रय-स्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर और परम त्यागमयी प्रेममूर्ति श्रीकृष्ण-प्राणा श्रीगोपाङ्गनाओंके विशुद्ध प्रेममय पूर्वरागके हेतुओंका संकेत बतानेवाले पाँच पद गताङ्कमें छपे थे । यहाँ 'मुरलीध्वनि,' दूरसे श्रीकृष्ण-वाणी-श्रवण, गुणश्रवण, वन्दीजनद्वारा गुणश्रवण, सखीद्वारा गुणश्रवण——इन पाँच हेतुओंका संकेत बतानेवाले पद दिये जाते हैं——

मुरली-ध्वनि

गयो मन मेरो, सब कछु त्याग ।
मुरलीकी सुनि मधुर तान मन
उमग्यो अति अनुराग ॥
अधर-सुधा-रस-सनी सुनाई
गाय मधुरतम राग ।
मधुर दिव्य रस भरयौ हृदयमें,
अग-जग छयौ बिराग ॥
बिनसे सोक-मोह-मद-लज्जा-
गर्व, चल्यौ भय भाग ।
मिटी सकल ममता, अभिलाषा,
भुक्ति-मुक्ति की माँग ॥
मधुर मिलन की एक लालसा
उठी तीव्रतम जाग ।
दै दरसन कृतार्थ करिहैं कब
मनमोहन बड़भाग ॥

'मुरलीकी मधुर तान सुनते ही मनमें अत्यन्त अनुराग उमड़ आया और मेरा मन सब कुछ त्यागकर चला गया (मुरली बजानेवालेके पास) । उसने अपने अधर-सुधा-रससे सनी हुई मधुरतम राग मुरलीमें गाकर सुनायी, जिससे मेरा हृदय दिव्य मधुर रससे भर गया और सारे जगत्प्रपञ्चके प्रति वैराग्य छा गया । शोक, मोह, मद, लज्जा और गर्व नष्ट हो गये और भय भाग छूटा । जगत्के पदार्थोंकी सारी ममता, सारी अभिलाषा और भोग-मोक्षकी माँग मिट गयी । बस, प्रियतम श्यामसुन्दरके मधुर मिलनकी एकमात्र अत्यन्त तीव्र लालसा जाग उठी । वे बड़भागी मनमोहन दर्शन देकर कब मुझे कृतार्थ करेंगे ।'

दूरसे श्रीकृष्ण-वाणी-श्रवण

सुनि सहसा सुर मधुर भई हौं बावरी ।
बिंध्यौ प्रेमको बान भयो हिय घाव री ॥
मधुर कसक कमनीय भरयौ रस-भाव री ।
मिट्यौ सकल अभिमान, गयौ सब ताव री ॥
भोग-राग मिटि गयौ, न रह्यौ झुकाव री ।
भयौ समरपन निराबरन, न दुराव री ॥
मन-गति सूधी भई, न रहे पड़ाव री ।
भय-बिषाद-लज्जा को भयो अभाव री ॥
जाग्यौ अमिट अमाय मिलनको चाव री ।
सखि ! अब मोकूँ माधव बेगि मिलाव री ॥

'एक दिन अचानक मैंने श्यामसुन्दरकी मधुर वाणीका स्वर सुन लिया और उसी क्षण बावली हो गयी । मेरा हृदय प्रेमबाणसे बिंध गया और उसमें घाव हो गया । तबसे वह घाव रस और भावसे भरा है और उसमें सदा वाञ्छनीय मीठी-मीठी पीड़ा हो रही है । मेरा सारा अभिमान मिट गया है और सारा ताव जाता रहा है । भोगासक्ति नष्ट हो गयी है, मनका कहीं भी कोई झुकाव नहीं रह गया । श्रीश्यामसुन्दरके प्रति मेरा निरावरण समर्पण हो चुका । कहीं कुछ भी छिपाव नहीं रह गया । मनकी गति सीधी उनकी ओर ही हो गयी, कहीं भी बीचमें रुकने——टिकनेके स्थान नहीं रह गये । मेरे भय, विषाद, लज्जाका सर्वथा अभाव हो गया और प्रियतम श्यामसुन्दरसे मिलनेकी अक्षय अपार मीठी-मीठी अभिलाषा जाग उठी । सखि ! अब तू मुझको उन प्यारे माधवसे शीघ्र मिला दे ।'

गुण-श्रवण

स्याम बिमल गुन सुनत गोपिका
तन-धन सकल भुलानी हो ।
मन हर लियौ स्याम-गुन ताकौ,
सो बिनु मोल बिकानी हो ॥
रंग-भरे, रस-भरे, गुन-भरे
मोहन रसके खानी हो ।
करी ताहि सब भाँति अकरसी,
दुख-सुख रहित दिवानी हो ॥
रोवत कबहुँ, हँसत, बिलपत अति
निरतत, रहत चुपानी हो ।
कबहुँ प्रेमरस बरनत बहु बिधि
भाव निमग्न सयानी हो ॥
कबहुँ असम्बद्ध बोलत बहु
करत प्रलाप, परानी हो ।
भई बिचित्र दसा गोपी की
प्रेम-समुद्र समानी हो ॥
पूर्वराग के परम प्रेम की
मूरति प्रिय-मन मानी हो ।
धन्य धन्य रसमयी गोपिका
दिव्य प्रेम सहदानी हो ॥

'प्रियतम श्यामसुन्दरके निर्मल गुणोंको श्रवण करते ही गोपी अपने तनको, धन-सम्पत्तिको (घर, सम्पत्ति, गाय-भैंस, आत्मीय-स्वजन) सबको भूल गयी । श्यामसुन्दरके गुणोंने उसके मनको हर लिया और वह बिना ही मोल बिक गयी । वे मोहन लीला, रस और गुणोंसे परिपूर्ण रसकी खान हैं, उनके गुणोंने उसे सब प्रकारसे कर्मरहित, दुःख-सुखरहित पगली बना दिया । वह कभी रोती है, कभी हँसती है, कभी अत्यन्त विलाप करती है, कभी नाचती है, कभी चुप रह जाती है और कभी भावमें डूबी हुई सयानी बनकर बहुत प्रकारसे प्रेम-रसका व्याख्यान करने लगती है एवं कभी असम्बद्ध बोलती हुई बहुत प्रकारसे प्रलाप करने लगती है तथा कभी भाग जाती है । उस गोपीकी विचित्र दशा हो गयी है, वह प्रेम-समुद्रमें समा गयी है । वह पूर्वरागके परम प्रेमकी साक्षात् मूर्ति हो गयी है और प्रियतमके मनको भा गयी है । वह रसमयी गोपी धन्य है, धन्य है, जो दिव्य प्रेमकी पहचानरूप है ।'

वन्दीजनद्वारा गुण-श्रवण

बंदीजन आये गुन गावत ।
मोद भरे मन मोहन-प्रिय गुन-
रूप रुचिर बहुभाँति सुनावत ॥
अतुलनीय गुन-रूप-सुधानिधि
कितहुँ न कछु उपमा कबि पावत ।
बिबिध बिचित्र बिमल गुन बरनत
करत, सबनि को मोद बढ़ावत ॥
भाग्यवान् उन बंदीजन कूँ
देखि मधुरतम रस बरसावत ।
प्रेम-अगिनि प्रगटी उर अंदर
भोग-राग-अभिलाष जरावत ॥
मधुर रूप-गुन निधि कौं सुनि, मो
लगी न बेर हृदयमें लावत ।
कर एकाधिपत्य मो मनमें
आय बसे प्रिय हँसत-हँसावत ॥
तब ते सखि ! मैं भई बावरी
रही न सुध कछु करत-करावत ।
कब वे मिलैं प्रानधन मोकूँ,
सरस हृदय सौं हिय सरसावत ॥

'उस दिन वंदीजन आकर प्रसन्नतासे भरे हुए मनसे प्रियतम मोहनके रुचिर गुणों-रूपोंको भाँति-भाँतिसे गाने और सुनाने लगे । वे प्रियतम गुण-रूप-सुधाके अतुलनीय समुद्र हैं । कविगण उनके लिये कहीं कुछ भी उपमा नहीं ढूँढ़ पाते । वंदीजन उनके विविध विचित्र निर्मल गुणोंका वर्णन करके सबका मोद बढ़ाने लगे । उन सौभाग्यवान् वन्दीजनको इस प्रकार रस बरसाते देखकर मेरे हृदयमें भोगासक्ति तथा भोग-कामनाको जलाती हुई प्रेमको अग्नि प्रकट हो गयी । फिर उन मधुर रूप-गुण-समुद्र श्यामसुन्दरको (भोगासक्ति-कामनासे शून्य) हृदयमें लाते मुझे जरा भी देर न लगी । वे प्रियतम स्वयं हँसते और मुझे आनन्दमें हँसाते हुए

तुरंत ही एकाधिपत्य करके मेरे मनमें आ विराजे । यों वे अंदर तो विराज गये, पर सखि ! मैं तबसे बावली हो गयी, क्या करती हूँ—क्या कराती हूँ, इसकी कुछ भी स्मृति नहीं रह गयी और यही चाह करने लगी कि कब वे मेरे प्राणधन (बाहर भी) अपने सरस हृदयसे मेरे हृदयको सरसाते हुए मिलेंगे ।'

सखीसे गुण-श्रवण

सखी सौं सुनि वा दिन गुन-गान ।
रंग-रूप-रस-जस परिपूरन
रसिकराज रसखान ॥
ता दिनतें उर बसी माधुरी
मूरति मोद-निधान ।
चलत, खात, सोवत, जागत नित,
पल न परत व्यवधान ॥
सखि ! तुम कहौ सबइ मेरे हित,
चहौ सदा कल्यान ।
किंतु बिबस, मोहि सुधि न रही कछु,
रह्यौ न जग कौ ध्यान ॥
बिसरी लोक-वेद-मरजादा
ममता कुलकी कान ।
मिलिबे को अति आतुर मन, पल
बीतत जुगनि समान ॥
मोहि न मुक्तिकी बांछा सजनी !
नहीं नरक भय-भान ।
अब तौ मिलौं स्याम-प्रिय निधरक
गाय, बजाय निसान ॥

'उस दिन उन लीला, रूप, रस, यश आदिसे परिपूर्ण रसिकराज रसखान श्रीश्यामसुन्दरके गुणोंका गान सखीके मुखसे सुना, सुनते ही उसी दिनसे वह अनन्त आनन्दनिधि माधुरी-मूर्ति मेरे हृदयमें बस गयी । चलते, खाते, सोते, जगते—सभी समय वह विराजित रहती है । एक पलके लिये भी उससे जरा भी व्यवधान नहीं होता । सखि ! तुम सब मेरे हितके लिये ही मुझे कह रही हो (मुझको समझा रही हो); क्योंकि तुम सदा ही मेरा कल्याण चाहती हो । परंतु मैं विवश हूँ । मुझे कुछ भी सुध-बुध नहीं रही है, जगत्का जरा भी ध्यान नहीं रह गया है । लोक-वेदकी सारी मर्यादा मुझे भूल गयी है, न किसी प्राणी-पदार्थमें ममताकी स्मृति है और न कुलकी लाजकी ही । मेरा मन उन प्रियतमसे प्रत्यक्ष मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो रहा है । एक-एक पल युगोंके समान बीत रहा है । सजनी ! मुझे न मुक्तिकी इच्छा है और न नरकके भयका ही भान है । अब तो सखि ! मैं प्रियतम श्यामसुन्दरसे बेधड़क गाती और धौंसा बजाती हुई मिलूँगी ।'

समर्पणकी पराकाष्ठा है ।

आस्थाकी माँग

मेरे हित-अनहितका ज्ञान मुझसे कहीं अधिक तुझे है,
क्यों कि—
मेरे ज्ञानकी परिधिमें तो केवल अतीत और वर्तमान हैं,
जब कि—
भविष्य-ज्ञानकी परिधि तुझमें ही है ।
इसीलिये—
आस्थाकी माँग है:—
जो कुछ हो रहा है उससे विचलित न होनेकी; कर्त्तव्य-कर्म किये जानेकी—अडिग, निःशंक, सफलतापर दर्प दिखाये बिना; विफलतापर चीखे-चिल्लाये बिना ।

—बालकृष्ण बलदुवा

देववृत्तियोंको जगाये रखिये

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

आप एक महान् व्यक्ति हैं

हमारे शरीर, मन तथा परिस्थितियोंके सम्बन्धमें हमारी बहुत-सी क्रियाएँ हमारी प्रत्यक्ष इच्छाके बिना ही अज्ञातरूपसे हुआ करती हैं। जिन क्रियाओंको हम समझते हैं कि हम अपनी इच्छासे ही करते हैं, वे भी प्रायः किसी-न-किसी आवेगके वश ही की जाती हैं।

उदाहरणस्वरूप—जब कोई गवैया किसी बाजेको अच्छी तरह सीख लेता है, तो फिर उसे इस बातकी आवश्यकता ही नहीं रहती कि उस बाजेको बजाते समय अपनी प्रत्येक अँगुलीकी गतिपर ध्यान दे। यदि उसका चित्त उन शब्दोंमें लगा हुआ हो, जिन्हें वह बाजेपर गा रहा है, तो उसकी अँगुलियाँ स्वयमेव ही ऐसी योग्य गतिसे बाजेपर पड़ेंगी कि उसमेंसे रागके अनुकूल ही स्वर-ताल निकलेंगे। ऐसी ही गति हमारी सब क्रियाओंकी होती है। यह सब कार्य हमारे गुप्त-मनद्वारा होता है। किसी सुपरिचित कार्यके करते समय बाह्य मन भ्रमण भी करने लगता है, तो भी गुप्त मनके प्रभावसे चुपचाप क्रिया स्वयं होती रहती है।

अपने जीवनमें हम प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ नया कार्य करते रहते हैं, जिनका हमें ज्ञान भी नहीं होता। उनमेंसे कुछ आदतें तो अच्छी होती हैं और कुछ बुरी। पहले तो उनका ज्ञान न होनेसे उनका प्रभाव बहुत थोड़ा होता है, पर समय पाकर जब वे गहरी जड़ें कर लेती हैं, तो उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। पान खाने, बीड़ी-सिगरेट पीने, मांस-भक्षण, सिनेमा देखनेकी गंदी आदतें, कड़े-रूखे और अभिमान-भरे वचन मित्रोंमें तथा समाजमें अति सूक्ष्मरूपोंमें शुरू होती हैं, किंतु समय पाकर वे गहराईसे शरीरमें जड़ पकड़ लेती हैं। बच्चोंमें चोरी, अपराधकी वृत्ति या युवकोंमें व्यभिचारकी दुष्प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे जमकर बढ़ती जाती हैं। पहले छोटेसे कार्यसे एक गंदी आदत या विषैले विचारका प्रारम्भ होता है, पर उसीके बढ़ जानेपर उससे छुटकारा पाना असम्भव-सा हो जाता है।

उन्नति करना अपने वशकी बात है

अच्छे विचारों, अच्छी आदतों या शुभ संकल्पोंको ग्रहण करना हमारे वशकी बात है। देववृत्तियाँ जब सोने लगती हैं, तभी दुष्ट अशुभ वृत्तियाँ जागती हैं। असुर हमारे अंदर सोये पड़े रहते हैं। या यों कहिये कि हमारे मनमें बसने और सदा जाग्रत् रहनेवाले देवता उन्हें दबाये रहते हैं। देववृत्तियाँ उन विषैले राक्षसोंको दबाये या शक्तिहीन बनाये रखती हैं। यदि हम वास्तविक सुख-शान्ति चाहें, तो हमें देववृत्तियों—जैसे प्रेम, दया, सहानुभूति, सेवा, विनय आदिको सतत जाग्रत् और विकासोन्मुख रखना चाहिये। यदि शुद्ध-वृत्तियाँ या आपके मनोराज्यमें सोये हुए देवता लगातार जागते रहें, अपना देवोचित कार्य सजगतासे करते रहें, तो असुर-वृत्तियोंको पनपनेका अवसर ही प्राप्त नहीं होता और मनुष्य भव्य मार्गोंमें बढ़ता चला जाता है।

शुभ संकल्पोंको ग्रहणकर कार्यरूपमें परिणत करना हमारे हाथमें है। यदि हम सदैव सावधान रहें और विवेकसे अच्छी आदतोंको ही चुनें, तो बहुत कुछ उन्नति कर सकते हैं। हम अपना चरित्र जैसा चाहें, बना सकते हैं। सत्-संकल्पकी शक्ति स्वाभाविकरूपसे मनुष्यमें छिपी हुई है। स्वयं आपमें भी यह देवशक्ति है। इसको खोजकर और इसको उन्नत कर, निरन्तर इसका उपयोग कर हम इसे जितना चाहें, बढ़ा सकते हैं।

दिव्य शक्तियोंके उपयोगसे उन्हें विकसित कीजिये

याद रखिये, आपकी शक्तियाँ उत्तरोत्तर उपयोगसे ही बढ़ती हैं । यदि उनसे काम न लिया जाय, तो वे सोने या क्षय होने लगती हैं । प्रत्येक कार्यका कारण विचार है । हम अपने मानसिक साम्राज्यके स्वतन्त्र राजा हैं ।

यह मानसिक राज्य भी कैसा विचित्र राज्य है । इसमें विचित्र कल्पनाएँ और दुनियाभरकी देखी, सुनी, बिनदेखी सभी बातें होती हैं । इस राज्यमें स्वयं आपके अतिरिक्त किसी दूसरेकी पहुँच नहीं है । यह राज्य ऐसा है जहाँ किसी स्थूलकी गति नहीं है । यह राज्य शून्यमें स्थापित है और वह शून्य साकार——गणितका शून्य नहीं, परंतु निराकार है । वहाँ वायुकी भी पहुँच नहीं है ।

अपने मानसिक, कल्पनात्मक राज्यमें आप पूर्ण स्वतन्त्र हैं और सब नियमोंके निर्माता आप स्वयं ही हैं । सब कुछ आप ही हैं । असम्भवको सम्भव बना सकते हैं । यह आपका ऐसा गुप्त राज्य है, जिसे न तो कोई देख सकता है और न कोई जान सकता है तथा न आपके विचारोंसे किसी व्यक्तिको किसी प्रकारकी आपत्ति हो सकती है ।

स्मरण रखिये, कठिनाई और सरलता, असफलता और सफलता, लाभ और हानि, उन्नति और अवनति——सब आपके मनके अनुसार ही आपके जीवनमें प्रतिबिम्बित होती हैं ।

निराश कभी मत होइये । उन्नतिके लिये, अच्छी आदतोंके लिये, अपने शुभ संकल्पोंकी सिद्धिके लिये सतत प्रयत्न करते रहिये । बार-बार प्रयत्न करनेसे ही आपको उत्साह मिलेगा । सफलता मिलेगी । आपके कठिन कार्य सरल होते जायँगे । प्रत्येक प्रयत्न, आपकी प्रत्येक छोटी-सी सफलता आपका आत्मबल बढ़ानेवाली हैं । भविष्यमें आप कठिनतर कार्य भी हँसते-हँसते कर सकेंगे । जीवनमें सबसे आवश्यक अपने शुभ संकल्पोंकी सिद्धिके लिये सावधान रहकर प्रयत्न करना ही है । इस आत्मबलकी आवश्यकता युवकोंको ही नहीं, किंतु वृद्धोंके लिये भी है ।

सफलता एक आदत है

सफलता एक आदत है । छोटेपनसे ही सफलताकी आदत बनाइये । मनुष्यके मनमें ऐसी अद्भुत शक्तियोंका भण्डार है, जिसकी कल्पना स्वयं मनुष्य नहीं कर सकता । नैपोलियन बोनापार्ट संसारका एक वीर शक्तिशाली व्यक्ति समझा जाता है । वह एक निर्भीक नेता था । उसके वीरतापूर्ण और साहसिक कार्योंके कारण ही संसारके इतिहासमें उसका नाम अमर हो गया है । जब हम उसके प्रारम्भिक जीवनपर ध्यान देते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि किस प्रकार नैपोलियन इतनी उन्नति कर सका ।

‘क्या वह किसी धनी पूँजीपतिका पुत्र था ?’

‘बिल्कुल नहीं ? उसका जन्म कोर्सिका नामक द्वीपमें एक गरीब परिवारमें हुआ था ।’

‘क्या उसे शिक्षा और जीवनकी सुविधाएँ प्राप्त थीं ?’

‘नहीं, बेचारे नैपोलियनकी शिक्षाकी कुछ भी व्यवस्था न हो सकी थी ।’

‘क्या बचपनमें वह आराम और शानसे रहा ?’

‘नहीं, उसका बचपन अन्धकारमय था । वह अपने बाल्यकालसे ही मंद बुद्धिवाला लड़का था । उस समय उसका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था । साथ-ही-साथ वह अत्यन्त दुर्बल एवं कृश शरीरका व्यक्ति था ।

इतनी मुसीबतों, कठिनाइयों, विरोधोंके बावजूद अपने आत्मबल और उच्च संकल्पशक्तियोंके बलपर नैपोलियनने उन्नति की थी ।

वह गरीब, अल्पशिक्षित होकर भी फ्रांसका शासक बना। यह शासक अपने बचपनके नैपोलियनसे बिल्कुल भिन्न था। नैपोलियन एक साधारण सैनिकसे फ्रांसका सेनापति बना। अनेक यूरोपीय देशोंको पराजित करके उसने अपने राज्यमें मिलाया। उसकी आश्चर्यजनक उन्नतिका कारण उसका आत्मविश्वास था। वह अपने मनोराज्यमें सदा यही सोचा करता था कि वही संसारका एक वीर पुरुष है। उसे बचपनसे ही अपनी वीरता और महानतापर विश्वास जम गया था। उसका कहना था कि संकल्पबलकी सहायतासे संसारमें कोई वस्तु असम्भव नहीं है। वह प्रारम्भसे ही अपने मनोराज्यमें विश्वपर शासन करनेका स्वप्न देखता था।

अपनी महानतामें अखण्ड विश्वास रखिये

अपनी महानतामें सदा विश्वास रखिये। मनुष्यके मनमें ऐसी अद्भुत शक्तियोंका भण्डार है, जिसकी कल्पना स्वयं मनुष्य भी नहीं कर सकता।

मनकी प्रधानता होनेके कारण ही इस शरीरका नाम मनुष्य है। विकसित मनवाले व्यक्तिको ही मनुष्य कहना चाहिये। जीवनमें प्रत्येक पलपर मनका प्रभाव देखा जाता है। मनुष्य अपने विचारोंके कारण ही बन्धन अथवा मोक्षमें पड़ता है। विचारोंको एक उद्देश्यपर केन्द्रित करनेसे ही शक्ति उत्पन्न होती है। अतः जैसे विचारोंका मनन, चिन्तन या मनमें निवास होगा, वैसी ही इच्छा-शक्ति उत्पन्न होगी।

यदि आपके विचार नीचे स्तरके, विषय-वासना, व्यर्थ खेल-कूद, मनोरंजन, शौक-सपाटा,—क्षणिक आनन्दके हैं, तो शक्ति भी वैसी ही होगी। जिनके विचार क्षण-क्षण बदलते रहते हैं, वे भला कैसे आगे बढ़ेंगे ?

आप शरीर नहीं, सर्वशक्तिमान् आत्मा हैं

जहाँ विचार दृढ़ और संशयरहित है, वहाँ शक्ति प्रबल और तीव्र होती है। विचारोंमें स्थिरता और टिकाऊपन दृढ़ता और श्रद्धासे होता है।

जरा विचार कीजिये, आप कौन हैं ? क्या आप शरीर हैं ? क्या आप हाड़, मांस, रक्त, चमड़ा आदि दुर्गन्धयुक्त घृणोत्पादक पदार्थोंसे बने हुए पुतले हैं ? नहीं, आप हाड़, मांस, रक्त कुछ नहीं हैं। आप एक देवमूर्ति हैं। जब शरीरपर कोई थप्पड़ मारता है, तब आप कहते हैं कि 'मुझे मारा'। यह भूल करते हैं। विचारो, आपको मालूम होगा कि आप शरीर नहीं हैं, किंतु स्वयं विचार हैं। स्वयं शक्ति हैं। 'You are what you think' आप वैसे ही हैं, जैसा आप वस्तुतः विचार करते हैं। यदि आप अपने-आपको शरीर समझते हैं, तो शरीरमात्र हैं। यदि आप अपने-आपको आत्मा, महान् आत्मा, उन्नत महत्तर आत्मा, सर्वशक्तिमान् आत्मा समझते हैं, तो वास्तवमें सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, योद्धा, धीर-वीर नर-पुङ्गव हैं। आप दिव्यमूर्ति हैं। अपने संकल्पसे आप जो चाहें बन सकते हैं।

आप बलवान्, स्वस्थ, तेजस्वी होनेके जन्मसिद्ध प्रकृत अधिकारी हैं। कभी मत कहिये कि 'मैं दुखी हूँ, अशक्त हूँ, गरीब हूँ, निम्न जातिका हूँ, वृद्ध हूँ, बीमार हूँ, निर्बल हूँ, ज्वर-ग्रस्त हूँ।' ये सब बातें ऊपरी हैं—शरीर-सम्बन्धी हैं।

आप शरीरसे ऊँचे हैं। आप मन हैं, बुद्धि हैं, आत्मा हैं। दैवी शक्तिके नायक हैं। सबके स्वामी हैं। मनपर पूर्ण अधिकार कीजिये। उसे बलवान् बनाइये। शरीर भी मनकी आज्ञा मानेगा। फिर दुःख, चिन्ता, निर्बलता, वृद्धावस्था या असफलताका अस्तित्व न रहेगा। निर्बलता छोड़ दीजिये। भ्रमके अन्धकारसे ज्ञानके प्रकाशमें जागिये।

यदि 'अगर-मगर', यदि ऐसा होता, तो मैं भी उन्नति करता, मेरी सिफारिश होती तो मैं तरक्की करता;·······मगर ऐसा नहीं हुआ; योग्यताकी कोई पूछ नहीं——आदि कायरपनके शब्दोंका व्यवहार अपनी बातोंमें कदापि न कीजिये। ये शब्द आपको निर्बल बनाते हैं। हृदय और मनमें दुःख, शोक, रोग, पीड़ा,

हानि तथा निर्बलता एवं आपत्तिकी बातोंको स्थान मत दीजिये । इनसे आपकी सामर्थ्य शिथिल होती है, अधिकार भ्रष्ट होता है और आप दासताको प्राप्त होते हैं ।

लोकलज्जाको अपने ऊँचे ध्येयकी पूर्त्तिके आगे मत लाइये । यह विचार आपको उन्नति करनेसे रोकता है । आपके पैर पकड़ लेता है । 'लोग हँसेंगे, टीका-टिप्पणी करेंगे, जगत-हँसाई होगी, निन्दा होगी', इसकी परवा मत कीजिये । उन्नतिका मार्ग कठोर और दुरूह होता है । संसारको पसंद नहीं आता । वे उस व्यक्तिसे ईर्ष्या करते हैं, जो उन्नति कर रहा है । यदि आप जगत्‌की व्यर्थ बातोंकी परवा करेंगे, तो सदैवके लिये निराशाके गढ़ेमें गिरकर सदा एक ही स्थितिमें सड़ते रहेंगे । कूप-मण्डूक बनकर बाहरका संसार न देख सकेंगे । ये दुर्बलताके विचार आपकी संकल्पशक्तिकी परीक्षाके लिये आते हैं । अतः इनसे विचलित न होकर अपनी दृढ़ताका परिचय दीजिये । असमर्थता मत दिखाइये । दृढ़ प्रतिज्ञा, आत्म-विश्वास और निरन्तर अभ्याससे असाध्य भी सुसाध्य हो जायगा । भगवान्‌की अहैतुकी कृपा और आत्मशक्तिपर विश्वास करके सतत आगे बढ़ते रहिये ।

वेदोंने पुकार-पुकार कर कहा है—

'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्'
'आत्मानं नावमन्येथा नात्मानमवसादयेत्'
'अदीनाः स्याम शरदः शतम्'

आत्माका तिरस्कार न होने दो, आत्माकी अवज्ञा न होने दो । अपने अन्तर्वासी, आत्मदीपकी सदा प्रज्वलित शिखाको मन्द न होने दो ।

हम मानव संसारके कोलाहलमें इस अमृतवाणीको सुनकर भी अनसुना कर देते हैं ।

* * *

सत्सङ्गसे ही प्राप्तव्यकी प्राप्ति

(लेखक—मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी)

सदलकीशपतीशसुरक्षकं
सबलरावणशीर्षकतक्षकम् ।
समलभक्तभयार्तिविमर्दकं
नमत वानरराजमिहाद्भुतम् ॥

जीवमात्रकी स्वाभाविक इच्छा होती है कि मेरी मति सर्वश्रेष्ठ हो (मैं सर्वज्ञ हो जाऊँ), मैं कीर्तिमान् होऊँ (मेरी कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापिनी हो, मेरा सुयश सर्वभुवनव्यापी हो), मुझे सतत—सर्वकाल सब प्रकारके ऐश्वर्योंकी प्राप्ति अक्षुण्णरूपेण होती रहे, मेरी सदैव भलाई अर्थात् शारीरिक सुख, स्वास्थ्य-सौन्दर्यादिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे और शरीरान्तके बाद मैं सम्पूर्ण मायिक बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त करूँ ।

इसके लिये सत्सङ्गको सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हुए प्रायः सभी सुमनीषियोंने कहा है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥
दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति
चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति ।
भूतेषु किंच करुणां बहुलीकरोति
सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति ॥
बुद्धिं वर्द्धयति श्रियं वितनुते वैदग्ध्यमासुञ्चति
श्रेयः पल्लवयत्यघानि दलयत्युन्मीलयत्युन्नतिम् ।
विज्ञानं परिशोधयत्युपचिनोत्युच्चैः कलाकौशलं
किं किं नारभते हरेरिव कथामर्जय सतां सङ्गतिम् ॥

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भी अपने महाकाव्य श्रीरामचरितमानसमें उपर्युक्त पाँचों वस्तुओंके शाश्वत प्राप्त होने और होते रहनेका अत्यन्त सरल, परम सुन्दर एवं सर्वश्रेष्ठ अथच शास्त्र-

सम्मत साधन सत्सङ्ग ही बतलाया है । यह नहीं कि किसी अन्य साधनको भी सत्सङ्गके बराबर माना हो और कहा हो कि उपर्युक्त पाँचों वस्तुएँ किसी एक ही अन्य साधनसे भी मिलती हैं और सत्सङ्गसे भी मिलती हैं । नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है । आप तो डंकेकी चोट वैदिक हवाला देते हुए कहते हैं कि उक्त पाँचों वस्तुएँ एक साधन—एकमात्र सत्सङ्गसे ही मिलती हैं, किसी अन्य एक ही साधनसे तो मिल ही नहीं सकतीं । आजतक किसीने भी किसी अन्य एक साधनसे पाँचों प्राप्तव्य वस्तुओंको पाया ही नहीं और जिस किसीने कभी एक ही साधनसे पाया हो तो केवल सत्सङ्गसे ही—

जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥

यहाँ जलचरने मति, थलचरने कीर्ति, नभचरने गति, जड़ने भूति और चेतनने भलाई पायी । अर्थ करना तो प्रसङ्गोपात्त नहीं है; क्योंकि जलचरमें भी जड और चेतन घनेरे जीव हैं, थलचरमें भी जड और चेतन जीव हैं और नभचरमें भी जड और चेतन बहुत जीव हैं—

जे जड चेतन जीव घनेरे ॥

अतः यह कहा जा सकता है कि जलचरमें समुद्रकी सत्सङ्गतिसे जड (पर्वत) मैनाक सुधरा—

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी । तैं मैनाक होहि श्रम हारी ॥

जलचरोंमें चेतन मकर, उरग, झषादि—

देखन कहँ प्रभु करुना कंदा । प्रगट भए बहु जलचर बृंदा ॥

× × × ×

अपर जलचरन्ह ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहिं जाहिं ॥

थलचरमें जड़—

सब तरु फरे रामहित लागी ।

थलचरमें चेतन शबरी, कोल-किरातादि—

कोल किरात भिल्ल बनबासी ।

इसी तरह नभचरमें जड—मेघ, वायु आदि—

किए जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात ॥

नभचरमें चेतन—सम्पाती, काकभुशुण्डि आदि । परंतु त्रिस्थाननिवासी उभयविध जीवोंको पाँचों प्राप्त थे । इसका एक दृष्टान्त मानससे ही दिया जा रहा है । चित्रकूटकी भूमि सब दिनसे महात्माओंकी भजनस्थली रही आयी है और बहुत कालसे—

अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं । करहिं जोग जप तप तन कसहीं ॥

अतः वहाँके सभी जलचर, थलचर, नभचर सभी प्रकारके चराचर (जड-चेतन) जीवमात्रको सत्सङ्ग प्राप्त था । एतदर्थ उन्हें पाँचों प्राप्तव्य पदार्थ किस तरह प्राप्त थे, इसे श्रीगोस्वामीजीके श्रीमुखसे ही सुनिये—

चित्रकूट के बिहँग मृग बेलि बिटप तृन जाति ।
'पुन्य पुंज' सब 'धन्य' अस कहहिं देव दिन राति ॥
'नयनवंत' रघुबरहिं बिलोकी । पाइ नयनफल होहिं बिसोकी ॥
परसि चरन रज 'अचर' सुखारी । भए 'परमगति' के अधिकारी ॥

नभचर=विहँग । पक्षी जलचर और थलचर दोनों प्रकारके ही होते हैं । जैसे जलचर विहँग—

बोलहिं जल कुक्कुट कलहंसा ।

थलचर विहँग—

चातक कोकिल कीर चकोरा ॥

नभचरमें विहँग चेतन हैं और जड मेघ तथा वायुकी बात ऊपर कही जा चुकी है ।

थलचरमें चेतन मृग, पशु, मनुष्यादि और जड—

बेलि बिटप तृन जाति ।

—एवं पर्वत आदि । उद्भिज्ज भी दो तरहके होते हैं । थलचर उद्भिज्ज अनेक तृण, लता, गुल्म, वृक्ष, वीरुध, ओषधि और वनस्पति आदि तथा जलचर उद्भिज्ज कमल, कुमुद आदि ।

—ध्यानपूर्वक स्मरण रखनेकी एक विशेष बात यह है कि जिस तरह मति, कीर्ति आदि पाँचों पदार्थोंके

एक साथ प्राप्तिका एकमात्र साधन सत्सङ्ग कहा गया है, उसी तरह पाँचोंके एक साथ ही विनष्ट होनेका एकमात्र कारण परस्त्री-गमनकी चेष्टाको ही बतलाया गया है——

जो आपन चाहै कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना॥
सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चउथि के चंद कि नाईं॥

उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका॥
(प्रसन्नराघवनाटक ७। १)

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त पाँचोंका एक साथ प्रापक एकमात्र सबसे प्रबल एवं श्रेष्ठतम साधन सत्सङ्ग ही है और पाँचोंका एक साथ नाशक एकमात्र सबसे प्रबल एवं निकृष्टतम कुसाधन परस्त्रीमें दुर्भावना मात्र है। अतएव समस्त मुमुक्षु किंवा बुभुक्षु जीवमात्रको सदैव सत्सङ्ग करना चाहिये और परस्त्री-गमनकी कल्पना तकका त्याग।

* * *

भरतका देवपूजन

(लेखक——श्रीब्रजेश भटनागर एम० ए०)

राजकुमारी जानकीके विवाहोत्सवको होते हुए कई मास बीत गये। समस्त नगर हर्ष और उल्लासके सागरमें आकण्ठ डूबा हुआ बेसुध-सा हो रहा था। अन्तमें पाणिग्रहणका चिर-अभिलषित माङ्गलिक दिवस आ गया। आजकी शोभा तो अवर्णनीय थी। ऋद्धियों-सिद्धियोंने मैथिलीके आदेशसे कृतकृत्य हो नगरकी साज-सज्जामें चार चाँद लगा दिये। तभी तो मिथिलाका ऐश्वर्य और सौन्दर्य स्वर्गमें ईर्ष्याका विषय बन गया। साधारण-से-साधारण आवासको देखकर सुरराजको अपने भव्य प्रासाद श्रीहीन प्रतीत होने लगे और विवाहमण्डपके निर्माणमें जहाँ श्रीराम-जानकीका विवाह सम्पन्न हो रहा था, मिथिलाके शिल्पकारोंने अपनी कलाका पूर्णतम सफल प्रयोग कर दिया था। साक्षात् सुषमा भी उसकी सुषमापर लजा रही थी।

वर-वधू मण्डपमें विराजमान थे। एक ओर अवधपति समस्त बरातियोंसहित सुशोभित थे और दूसरी ओर मिथिलाधिपति अपने स्वजन बन्धु-बान्धव तथा नगरके गण्यमान्य प्रतिष्ठित व्यक्तियोंसहित आसीन थे। दोनों नरेश अपनी-अपनी मङ्गलकामना-लताको पल्लवित-पुष्पित देखकर फूले नहीं समा रहे थे। वेदोंकी ऋचाएँ गा-गाकर महर्षिगण पाणिग्रहण-संस्कार करा रहे थे और उस स्निग्ध वातावरणमें माधुर्यका प्रसार करता हुआ गूँज रहा था गाती हुई मैथिली रमणियोंका मधुर कोमल गीत-स्वर।

महलके एक प्रकोष्ठसे आते हुए सुकेशीने कहा, 'चित्रा! आज तो रघुवंशियोंके छकानेकी मैंने एक अपूर्व योजना बनायी है।'

'छकानेकी योजना?' विस्मयसे उसने पूछा।

'अरी हाँ।' और उसने चित्राके कानमें कुछ अस्फुट स्वरमें कहा। वह मुस्करा उठी। 'बड़ा आनन्द आयेगा केशी! जबतक नाक न रगड़वा लेंगी, मानेंगी नहीं।' मृदुलाको आते देखकर सुकेशीने पूछा——'संस्कार सम्पन्न होनेमें कितना विलम्ब है देवि!'

'अधिक नहीं! महर्षिगण स्वस्तिवाचन कर रहे हैं। कोहबरकी व्यवस्था ठीक है न?'

'सब व्यवस्थित है। आप चिन्ता न करें। वर-वधूके आनेके पूर्व हमें सूचना देना न भूलें।'

'अवश्य!' और वह मन्दगतिसे मण्डपकी ओर चली गयी।

'मुझे भय है सुकेशी! इस योजनामें हमें मुँहकी न खानी पड़े।' गम्भीर स्वरसे नन्दाने कहा।

'कैसी बात कह रही है नन्दा! हम उन्हें सरलतासे नहीं छोड़ेंगी!'

'वह साँवला कुमार बड़ा जादूगर है। कलकी ही तो घटना है। चक्रवर्तीजी अपने चारों कुमारों एवं बरातियोंके सहित भोजन कर रहे थे। हास और परिहासका सिन्धु हिलोरें मार रहा था। अट्टहासका तुमुल स्वर वातावरणको कभी-

कभी प्रकम्पित कर जाता था। गवाक्षोंमें बैठी नारियाँ अवधेशको मधुर गालियाँ सुना रही थीं और अवधपति उनका रसास्वादन ले-लेकर खिलखिला उठते थे। मेरी वाणी सबसे तीव्र थी। मेरी स्वर-लहरी अजस्र रूपसे फूट रही थी। साँवले कुमार जब अधिक न सह सके तो उन्होंने कनखियोंसे पिताकी दृष्टि बचाकर मेरी ओर देखा। न जाने चित्रा! उस दृष्टिमें क्या था? क्या सम्मोहन था? कैसा आकर्षण था कि मैं सुधबुध भूल गयी और उमंगसे गाने लगी।

'अबकी बार तीव्र अट्टहास बरातियोंमें गूँज उठा और उधर मुझे टोकते हुए रम्भाने कहा, 'क्या गा रही है पगली! क्या अपने महाराजको गाली दे रही है? सुनती नहीं? अवधेशके स्थानपर मिथिलेशको स्वपक्षियोंद्वारा गाली देनेपर ही तो बराती लोग खिलखिला रहे हैं।' और मैं लजाकर भाग गयी। क्या सोचेंगे श्रीमहाराज?'

× × ×

'सूर्यकुलभूषण राजराजेन्द्रकी जय!' जय-घोष गूँज उठा। परिचारिकाने आकर कहा—'देवि! महादेवीका आदेश है कि चारों कुमार वधुओंसहित कोहबरमें पधार रहे हैं। आप प्रस्तुत हैं न?'

'हाँ!' केशीने कहा।

दासियाँ मार्गप्रदर्शनके लिये पुष्पोंके पाँवड़े बिछाने लगीं और सखियाँ आरतीका थाल लेकर प्रतीक्षा करने लगीं। चारों युगल जोड़ियोंको गीत गाती हुई नारियाँ कोहबरमें ले आयीं। लाल कपड़ोंमें सुसज्जित देवताके समक्ष चारों कुमारोंको बैठा दिया।

राघवेन्द्रकी ओर इङ्गित करते हुए सुकेशीने कहा—'राघव! पहले कुलदेवताको नतमस्तक हो प्रणाम करो।'

वे देवताका निराला रूप देखकर समझ गये कि देवताकी आड़में मूर्ख बनानेका कार्यक्रम है। किंचित् हास्यसे बोले—'यदि मैं प्रणाम न करूँ तो?'

'तो शेष रीतियाँ स्थगित।'

'और यदि मेरा कोई अनुज इस रीतिको निभा दे?'

'तो कोई आपत्ति नहीं।'

राघवने अनुजकी ओर देखकर कहा—'सौमित्रे! मेरा कार्य तुम्हीं सम्पन्न कर दो।' लक्ष्मण ऊहापोहमें पड़ गये। अवश्य कुछ दालमें काला है। नहीं तो, यह कर्त्तव्य निभानेका आदेश मुझे न मिलता। सौमित्रिने कुमार शत्रुघ्नकी ओर देखा। 'भैया! मेरा दायित्व तुम्हीं पूरा कर दो।'

छोटे कुमारके समक्ष धर्मसंकट था। अस्वीकार करें तो कैसे? और यदि पालन करते हैं तो कहीं उपहासका भाजन न बनना पड़े। सहसा उन्हें एक युक्ति सूझी। अनुनयके स्वरमें भरतभद्रसे याचना करते हुए कुमारने कहा—'अग्रज! आपके होते हुए यह दायित्व मैं वहन करूँ, उचित नहीं प्रतीत होता।'

भरतलाल तो देवताकी छविपर मुग्ध हो रहे थे। दायित्व पाकर फूले नहीं समाये।

'तुम चिन्ता न करो कुमार!' अपने स्थानसे उठते हुए उन्होंने कहा। देवताके समक्ष नतमस्तक प्रणामकर वे गद्गद स्वरमें बोले—'मेरे जन्म-जन्मान्तरके देवता! न जाने कितने युगोंसे तुम्हारे दर्शनोंके लिये मेरे नयन तड़प रहे थे। आज इस रूपमें पाकर मैं निहाल हो गया।'

देवताको उठाकर भरतने धीरे-धीरे उन्हें निरावरण किया। देवताके स्थानमें जानकीजीकी चरणपादुकाओंको देखकर सखियोंके समूहमें हास्य मुखरित हो उठा। तीनों कुमारोंके मुखपर मुसकान बिखर गयी। किंतु उधर भरतकी दशा विलक्षण थी। नयनोंसे अश्रुधारा बह रही थी। माँकी पादुकाओंको बार-बार मस्तकपर धर रहे थे। 'माँ!' उनका स्वर उस कोलाहलमें गूँज उठा। 'करुणामयी! मेरा अहोभाग्य है जो आज तुम्हारी पादुकाओंको मस्तकपर रखनेका सुअवसर इस दासको मिला है। चिरसंचित इच्छा पूर्ण हो गयी। आशीर्वाद दो माँ! इन पावन पादुकाओंका सदा दास बना रहूँ' और खड़े होकर वे नृत्य करने लगे—

जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥

उधर नृत्य हो रहा था और इधर सखियाँ अपनी योजनाको सम्पूर्ण असफल देखकर लज्जावनत हो रही थीं।

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

[गताङ्क पृष्ठ १२०७ से आगे]

फाकसैनीसे फलेवास

ज्येष्ठ शुक्ल ११ (ता० २ जून)

फाकसैनीसे प्रातः चले। मार्ग सीधा था, न चढ़ाई न उतराई। चारों ओर मकईकी खेती-ही-खेती दिखायी देती थी। हम रानीघाटसे गंडकीके किनारे-ही-किनारे चल रहे हैं। जहाँ गंडकी बहुत नीची रह जाती हैं, वहीं जलका कष्ट हो जाता है। जहाँ गंडकी या दूसरा कोई खोला समीप मिलता है, वहाँ पानीका सुपास हो जाता है। फाकसैनीसे चलकर बारहखंभामें दोपहरका भोजन हुआ। वहाँ एक दूकान भी है, गंडकी भी समीप ही हैं। यहाँ दाल, चावल, आलू भी मिल गये। प्रसाद पाकर फिर चले। मार्ग बिल्कुल देशका-जैसा, न चढ़ाई न उतराई। ऐसा लगता था मानो हम ऋषिकेशसे देहरादून जा रहे हैं। आगे फलेवास मिला। वहाँके विस्तृत मैदानको देखकर तो मनमयूर नृत्य करने लगा। वहाँकी भूमि बड़ी उपजाऊ। तीन फसलें वहाँ वर्षमें होती हैं। एक बार धान, फिर मकई, फिर कोदो आदि। इतनेपर भी एक विशाल मैदान बिना बोये-जोते पड़ा था। हमारे पूछनेपर बताया गया कि यह गोचरभूमि है, इसे कोई जोतता नहीं। कैसी विशुद्ध धर्मभावना है। पहिले यहाँ भी गाँव-गाँवमें गोचरभूमि थी। पर अब लोग लोभ-लालचमें आकर उसे जोतने लगे। पहाड़के बीचमें हरी-भरी इस समतल भूमिको देखकर मनमें बड़ा आह्लाद हुआ। मार्गमें स्थान-स्थानपर वट और पीपलके दो-दो विशाल वृक्ष लगे हुए हैं। तानसेनसे मुक्तिनाथतक यह क्रम एक-सा है। ये वृक्ष किसी संस्थाने या नैपाल-राज्यने नहीं लगाये, गाँवके लोगोंने धर्मभावनासे प्रेरित होकर पूरे मार्गमें लगाये हैं। ये वृक्ष धर्मशालाओंसे बढ़कर कार्य करते हैं। यात्री इनके नीचे सुखसे बैठते हैं, इनके चबूतरोंके सहारे कुली अपना बोझा उतारते हैं। फलेवासमें तो इन वृक्षोंकी भरमार है। यहाँकी सड़क लगभग पचास फुट चौड़ी होगी। दोनों ओर पंक्तिबद्ध वृक्ष और फिर थोड़ी-थोड़ी दूरपर पीपल-वटके युग्म वृक्षोंके चबूतरे। गाँवमें जिसके पास भी चार पैसे हो जायँगे, पथमें हमारे दो वृक्ष लग जायँ। पीपल-वटके दो वृक्ष लगायेंगे। दोनोंका विवाह कर देंगे, चबूतरा बना देंगे। कैसी सुन्दर प्रथा है। पहिले हमारे यहाँ भी यह प्रथा थी। जिला परिषदोंने तथा कलिकाल-देवने यह प्रथा समाप्तप्राय कर दी। बहुतसे वट-पीपलके वृक्ष तो कई सौ वर्षके पुराने थे, जिनकी छायामें दो-चार हजार आदमी सुखसे बैठ जायँ। फलेवास गाँव भी लगभग कोस भरमें बसा होगा। आम, पपीता, केला तथा अन्यान्य वृक्षोंकी यहाँ भरमार है। फलोंका आवास-स्थान होनेसे इसका नाम 'फलावास' रहा होगा। पीछेसे फलेवास हो गया होगा। यहाँका दृश्य हमें सबसे सुन्दर लगा; किंतु यहाँ भी जलका बड़ा कष्ट है। गंडकी यहाँसे बहुत नीचे है। पानीका स्रोत मीलों दूर है। रात्रिमें हमें अत्यन्त कष्टसे पहाड़ोंसे उतरकर पानीके लिये जाना पड़ा। हमारे श्रमित-थकित साथी एक-एक घूँट पानीके लिये तरस गये। एक चिलबाराम लड़का घड़ा लेकर नीचे पानी लेने गया, एक बैलने उसे टक्कर मार दी। बेचारा गिर गया, घड़ा लुढ़क गया। पासमें खड़े जलार्थी उसे उठाने तो गये नहीं, घड़ेको उलट-पलटकर देखते रहे कि इसमें कुछ पानी बचा है या नहीं। इन स्थानोंमें सामान्य-सा नल लग जाय, जलकी व्यवस्था हो जाय तो ये भू-स्वर्ग बन जायँ। अभी इधर नल आदिका प्रवेश ही नहीं। नैपाल-सरकार कर उगाहनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं करती थी। नदियोंपर झूले, धर्मशालाएँ, सड़क बनाना, उनमें पत्थर लगाना, पेड़ लगाकर उनपर चबूतरे बनाना—ये सब काम गाँवके जमींदार या गाँवकी पंचायतें मिल-जुलकर करती थीं। जहाँके जमींदार धार्मिक होते थे, उनके यहाँ वृक्षोंकी, धर्मशालाओंकी, पानीके स्थानोंकी भरमार रहती थी। फलेवासके पास भी कोई बड़े धर्मात्मा जमींदार थे। कुछ महाजन थे। उन्होंने ही ये सहस्रों छायादार पेड़ लगवाये, मध्यवैनीपर पुल बनवाया। और भी बहुत-से धर्मके काम किये। अब उनका देहान्त हो गया। उनके पुत्र हैं, उनमें वैसी धर्मभावना भी नहीं है और भारतकी देखा-देखी यहाँ भी जमींदारी समाप्त हो रही है। यहाँ भी अन्तर्जातीय-विवाह, जाति-पाँति-परित्यागकी प्रथा

प्रारम्भ हो गयी है । राज्यने भी विधान बनाकर पुरानी सभी वर्णाश्रमकी प्रथाओंको समाप्त कर दिया है ।

हम फलेबाससे भी आगे जाना चाहते थे, किंतु वर्षा आ गयी । इसलिये यहीं एक मकानमें ठहर गये, खाने-पीनेकी कोई भी वस्तु नहीं मिली । जलका भी कष्ट था, इसलिये सभी थके-थकाये तो थे ही, पड़ते ही सो गये और प्रातः जब कौओंने काँय-काँय की, तब कहीं उठकर बैठे ।

फलेबाससे सहस्रधारा

ज्येष्ठ शु० १२ (३ जून)

फलेबाससे प्रातः उठकर हम बिना ही नित्यकर्मोंसे निवृत्त हुए चल दिये । यह मार्ग चालू है । जैसे तानसेन बड़ा नगर तथा जिला है, वैसे ही इससे आगे बागलूम एक बड़ा नगर है । वह भी नैपाल-राज्यका एक जिला है । बागलूममें सब चीजें कुलियोंकी पीठपर लदकर ही बुटवलसे आती हैं । अतः सैकड़ों कुली अपनी पीठोंपर मिट्टीके तेल तथा सरसोंके तेलोंके कनस्टर, रंग-बिरंगे कपड़ोंकी गाँठें, लालटेनें, सिगरेटके बक्स, छाते, जूते तथा समस्त जीवनोपयोगी सामग्रियोंको लादे बहुत-से तो बुटवलसे बागलूम जा रहे थे, बहुत-से तानसेनसे आ रहे थे । एक-एक कुलीपर दो-दो, ढाई-ढाई मन बोझ था और वे सुखपूर्वक हँसते-खेलते गीत गाते बातें करते जा रहे थे, मानो उनका यह सहज कार्य है । हम सभ्यतामें पले खाली हाथों केवल चलनेसे ही थक जाते हैं । बड़े-बड़े वृक्षोंके बृहद् वितान बने थे । सड़कके दोनों ओर मकईके खेत खड़े थे । कहीं-कहीं गहरे नीले रंगके धान वायुमें सरररर करते हुए लहरा रहे थे । आगे एक बड़ा भारी बटका और दूसरा जाने किसका वृक्ष मिला । उसके नीचे एक दूकान थी । वहींसे उतराई आरम्भ हो गयी । उतराईमें किसीने पक्की पत्थरोंकी सीढ़ियाँ-सी बनवा दी हैं । इससे उतरनेमें विशेष कष्ट नहीं होता । लगभग एक मील उतरकर अब हम गंडकीके किनारे पहुँच गये । किनारे-किनारे चलते-चलते सामने हमें मधुवैंनीका संगम दिखायी दिया । असलमें सप्त गंडकी हैं । ये जहाँ कृष्णागंडकीमें मिली हैं, वहीं परम पावन तीर्थ बन गया है । जहाँ भी दो पुण्यप्रदा नदी मिलती है, वहीं गुप्तरूपसे सरस्वती भी आकर मिल जाती है । इसीलिये दो नदियोंके मिलनेके स्थानको 'संगम' प्रयाग या वैंनी कहते हैं । स्त्रियाँ जो वैंनी गूँथती हैं, वे बालोंके तीन भाग करके उसे मिलाती हैं । वे भाग तो तीन होते हैं; किंतु गूँथनेपर दिखायी देते हैं दो ही । इसीलिये सरस्वती संगमोंमें सदा गुप्त रहती है । प्रयागराजमें जहाँ त्रिवेणी हैं वहाँ गङ्गा-यमुनाकी दो धारा तो प्रत्यक्ष दीखती हैं, सरस्वती गुप्त हैं । यहाँ गंडकीमें ऐसी सात वैंणी हैं । पीछे आदि वैंणीका तो हम वर्णन कर ही चुके हैं । यह मध्यवैंणी हैं । मध्यवैंणीको ही मधवैंनी कोई मधुवैंनी कहते हैं । यहाँका दृश्य बड़ा ही सुन्दर है । मध्यगङ्गा जब कृष्णा-गंडकी गङ्गासे मिलती हैं तो ऐसा लगता है मानो दो प्रत्यक्ष एक नीली साड़ी ओढ़े, एक सफेद साड़ी ओढ़े छाती-से-छाती भिड़ाकर मिल रही हों । दोनोंके नेत्रोंसे फव्वारेकी भाँति आनन्दाश्रु बह रहे हों । हमें सामने ही संगमके दर्शन हो रहे थे; किंतु मध्यवैंणीमें पहुँचनेको अभी हमें घूमकर लगभग एक मील जाना था । वहाँके दृश्योंको देखते, पानीकी पनचक्कीमें पिसते हुए आटेको निहारते हुए नालोंको पैरोंसे पार करके लकड़ीके पुराने बने हुए हिंडोलेकी भाँति हिलते हुए पुलपर होकर हम मध्यवैंनीमें पहुँच गये ।

ठीक संगमके ऊपर निम्बार्क-सम्प्रदायके साधुओंका एक बड़ा ही सुन्दर आश्रम है, हमलोग जब गये थे तो आश्रममें श्रीमद्भागवतका सप्ताह हो रहा था । छोटी-छोटी कुटियाएँ बनी थीं, स्थान-स्थानपर तुलसीके बिरवे लगे हुए थे । आश्रममें दस-बीस भक्त-भक्तानी रहते हैं । हमारे आनेकी उनको पहले ही सूचना मिल चुकी थी, ठहरनेको स्थान दिया । गङ्गाके संगमपर साधुओंके खुले आश्रमपर आकर परम सुखका अनुभव हुआ, मानो अपने आश्रममें आ गये । आज व्रतकी एकादशी थी । मेरा तो सदा ही व्रत रहता है । तीसों वर्षसे फलाहार ही लेता हूँ । आज तो सबके लिये फलाहार बनना था । यहाँ नैपालमें तो चावलको छोड़कर गेहूँकी रोटी, मक्काकी रोटी सभी फलाहार मानी जाती हैं । एकादशीके व्रतमें ये लोग गेहूँकी रोटीका फलाहार करते हैं । हमारे पास कूटूका कुछ आटा था, उसीमें आलू मिलाकर सबके लिये रोटी-साग बना । सबने पेट भरके फलाहार किया । संगम-स्नानमें जो सुख हुआ, जो आनन्द आया, वह वर्णनातीत है । यहाँतक अभी खूब गरमी पड़ती है । इस स्थानको छोड़कर जानेकी इच्छा तो नहीं होती थी । रात्रिमें यहीं निवासकी इच्छा थी, किंतु मुक्तिनाथजी हमें शीघ्र ही बुला रहे थे, हमें भी उनके दर्शनोंकी चटपटी लगी थी, अतः हम प्रसाद पाकर थोड़ा आराम करके आगे चल दिये ।

हम आज बागलूम जाकर रहना चाहते थे। किसीने हमें बताया—'आप बागलूम जाकर क्या करेंगे। बागलूम कोई तीर्थ तो है नहीं। बड़ा शहर है। एक मीलकी चढ़ाई, फिर एक मीलकी उतराई। इससे आप उस पार बागलूम न जाकर सीधे इसी पार किनारे-किनारे बैंनी बाजार क्यों नहीं जाते। इससे चढ़ाई-उतराईसे भी बच जायँगे और दो मीलका चक्कर भी बच जायगा।'

इस यात्रामें हमें चढ़ाई-उतराईसे ही बड़ा भय लगता था। फिर दो मीलका फेर भी बचे 'अन्धे तुझे क्या चाहिये ? केवल दो आँख' 'चुपड़े और दो-दो' 'मीठा और भर कठौता' हमने बागलूम जानेका विचार छोड़ दिया और मधुबैंनी या मध्यबैंनीसे इसी किनारे-किनारे बैंनी बाजारकी बाटसे वेगपूर्वक बढ़े।

मार्गमें हमें कुछ भारतीय अधिकारी मिले, जो तिब्बत और नैपाल सीमाके विवादको तै करने गये थे। बात यह थी कि मुक्तिनाथजीसे आगे तीन दिनका मार्ग है—दामोदरकुण्डका। उससे भी आगे तीन-चार दिनके मार्गमें कुछ प्रदेश पड़ता है। वहाँ कोई बस्ती तो है नहीं हिम प्रदेश है। चीन-सरकारका कहना था, यह तिब्बतकी भूमि है, नैपाल-सरकारका कहना था, यह नैपालकी भूमि है। इसीलिये दोनों ओरके अधिकारियोंकी एक बैठक हुई थी। नैपाल-सरकारने भारतसरकारसे सर्वे कार्यमें दक्ष कुछ अधिकारी माँगे थे। भारतसरकारने नैपालकी माँगपर उधारमें इन्हें भेजा था। वे लोग गये। चीन-सरकारके अधिकारियोंसे परामर्श किया। इन्होंने अपने सब प्रमाण उपस्थित किये। चीन-सरकारने नैपाल-सरकारके दावोंको स्वीकार किया और उसे नैपालकी ही भूमि मान लिया। इतने विकट स्थानमें पहाड़ोंके बीच अपने यहाँके आदमियोंको देखकर बड़ी आत्मीयता हुई। हमारे साथ जो वृन्दावन चार सम्प्रदायके श्रीरामदास शास्त्री थे, उनसे जब उन्हें मालूम हुआ कि ये वे ही ब्रह्मचारीजी हैं जिन्होंने नेहरूजीके विरुद्ध चुनाव लड़ा था, तब तो वे बड़े प्रसन्न हुए। कहने लगे—'तब हम कॉलेजमें पढ़ते थे। बड़ा हल्ला होता था। ब्रह्मचारीजीको वोट दो, ब्रह्मचारीजीको वोट दो। हमें स्वप्नमें भी आशा नहीं थी, उनके यहाँ दर्शन होंगे।' ये लोग अलीगढ़ जिलेके सासनी नामक ग्रामके रहनेवाले थे, जो वृन्दावनसे बहुत ही निकट है। वे लोग पीछे चले गये, हम आगे बढ़ गये।

आगे चलकर 'सहस्रधारा' नामका एक बड़ा ही मनोहर स्थान आया। इधरका वह तीर्थ ही है। सैकड़ों स्थानोंसे जलकी धाराएँ बह रही हैं। गंडकी यहाँ, जैसे प्रयागमें यमुना शान्त है, वैसे ही शान्तिके साथ बहती है। यह स्थान समतल है। पहाड़-जैसा लगता ही नहीं। मधुबैंनीसे यहाँतक कहीं विशेष चढ़ाई-उतराई नहीं। घोर जंगलमें जलकी ये इतनी धाराएँ क्यों बह रही हैं ? किसके लिये इतना पानी उड़ेल रही हैं ? क्यों ये निरन्तर रात्रि-दिन बहती ही रहती हैं ? क्यों कभी ये विश्राम नहीं लेतीं ? इन प्रश्नोंका उत्तर कौन दे। यही कहना पड़ता है, बहते रहना इनका स्वभाव है। इनकी यह सहज प्रकृति है।

यहाँसे थोड़ी दूरपर एक मठ है। रामानुजी-सम्प्रदायके लोग हैं। इन वैष्णव सम्प्रदायके आचार्योंने कितना भारी कार्य किया है। कितनी भारी इनकी तपस्या है। जहाँतक मानवकी पहुँच है, वहाँतक इन्होंने भागवतधर्मका संदेश पहुँचाया है। दो ही सम्प्रदायोंका इधर विशेष प्रचार दृष्टिगोचर हुआ—एक तो निम्बार्क-सम्प्रदायके तीन मन्दिर, आश्रम दीखे या फिर रामानुज-सम्प्रदायके अनुयायी। गुसाइयोंकी तो नैपालमें भरमार ही है। स्थान-स्थानपर गुसाईं तथा गुसाईं माइयाँ मिलीं। यहाँ भी एक साधु मिले। दो-एक पशुपालकोंका पशु बाँधनेके गोष्ठ थे। यहाँ दूध भी मोल मिल गया। रात्रि यहीं गंडकीके तटपर बितायी।

सहस्रधारासे गलेश्वर

ज्येष्ठ शु० १२ (४ जून)

प्रातःकाल 'सहस्रधारा' से गंडकीके किनारे-किनारे चले। गङ्गाके किनारे देशकी भाँति बालू बिछी थी। न बहुत चढ़ाई, न उतराई। कहीं-कहीं गंडकीके बढ़नेसे वर्षा होनेसे ऊपरका मार्ग कट गया था। मकईके खेतोंकी भरमार थी, जहाँतक दृष्टि जाती, मक्काके खेत-ही-खेत दिखायी देते। धान अभी कहीं-कहीं थे। लगभग दो-तीन मील चलकर खेन्या घाटकी बस्ती मिली। कोई कहते हैं—खेन्नीके पेड़ होनेसे इसका नाम 'खेन्या' पड़ा। कोई कहते हैं कन्याघाटसे खेन्याघाट हुआ। बस्ती अच्छी है। सभी उपयोगी सामग्री मिलती हैं। एक स्थानपर बेलाके खूब फूल फूल रहे थे। भगवान्के लिये फूल लिये। इससे आगे गंडकीपर आधुनिक ढंगका झूला (पुल) है। इसी पुलको पार करके बागलूम

जाना होता है। लगभग एक मील ऊँचेपर बागलूम नगर बसा है। उसके पास ही मैदान है। नैपाल-सरकारकी सेना यहाँ रहती है। इस मैदानमें सैनिक अभ्यास करते हैं। दूरसे ही बंदूकोंकी आवाज सुनायी दे रही थी। बागलूमसे उतरकर उसके किनारे-किनारे एक सड़क बैंनीबाजारको जाती है। इस पार भी बैंनीबाजारको रास्ता है, हम इसी पारसे गये। आगे चलकर फरसे घाट है। तब आगे बैंनीबाजार है। यहाँ भी दो गङ्गाओंका संगम है। बैंनीबाजार अच्छी बस्ती है। यहाँ एक मन्दिरमें प्राइमरी पाठशाला है, एक सर्वोदय पुस्तकालय है। सुन्दर बाजार है। जीवनोपयोगी सभी सामग्रियाँ मिलती हैं। एक गोरखा लड़का मिल गया, जो चार-पाँच वर्ष कलकत्तेमें दरवानगी कर आया था। उससे बहुत सहायता मिली। मार्गमें यहीं हमें दो-तीन प्रकारके साग मिले। भली प्रकार भोजन मिला। सभीने आज खूब तृप्तिसे भोजन किया। यहाँ एक नवदुर्गाओंका मन्दिर भी है। प्रतीत होता है नवदुर्गाओंकी उत्पत्ति यहीं हुई है; क्योंकि मंगला, काली, कपालिनी, दुर्गा, स्वधा, स्वाहा और नारायणी—ये सब नदियाँ यहाँपर हैं। प्रसाद पाकर हम यहाँसे आगे बढ़े। यहाँ गंडकीपर एक पुराने ढंगका बहुत ही जीर्ण-शीर्ण झूला (पुल) है। उसे देखते ही भयसे शरीर काँपने लगता है। नीचेकी लकड़ी सड़ी हुई है। दोनों हाथोंसे दोनों ओरके तार पकड़कर फूँक-फूँक पैर रखने पड़ते हैं। पहाड़ी कुली तो दो-दो मनका बोझा लेकर इसे सरलतासे पार कर लेते हैं। हमलोग खाली हाथों भी इसे पार करनेमें भयभीत होते थे। एक-एक करके जो पार हो जाता, वही समझता मृत्युके मुखसे बच आये। उस पार लगभग एक मील चलकर गलेश्वर शिवजीका अति प्राचीन मन्दिर मिला। यह वही स्थान है जहाँ जडभरतजीने तपस्या की थी। मङ्गला, गङ्गा और गंडकीका बड़ा ही सुन्दर संगम है। यहाँकी छटा निराली है। गलेश्वरके सामने उस पार जडभरतजीका आश्रम है, जो पुलहाश्रमके नामसे पुराणोंमें प्रसिद्ध है।

गलेश्वरजीका बड़ा ही सुन्दर गंडकीके तटपर मन्दिर है। कोई कहते हैं जलेश्वरसे गलेश्वर हो गया। कोई कहते हैं शिवजीपर यहाँ हर समय जल टपकता रहता है। किंतु मेरा अनुमान है कि गणेश्वरसे गलेश्वर हुआ है। राजा रहूगणने यहीं तपस्या की थी। उन रहूगणके नामसे ये गणेश्वर शिवजी हैं। घाटका नाम राहू घाट है। गाँवका नाम राहू है। इस प्रकार यहाँ राजा रहूगणकी स्मृतिमें गाँव, घाट और शिवजी हैं। यहाँपर पुलह तथा पुलस्त्य दोनों ऋषियोंके आश्रम थे। रावण, कुम्भकर्ण और विभीषणके जन्म यहीं हुए थे। यहींसे जाकर कुबेरको हराकर रावण लंकाका राजा हुआ और उनसे पुष्पक विमान छीन लिया। पुष्पक विमानसे वह यहाँ अपने पिताके दर्शनोंको आया करता था। कैसी हमारी संस्कृति है, कहाँ एकदम उत्तरमें पैदा हुआ और एकदम दक्षिणमें राजा हुआ। ब्राह्मण ऋषिका पुत्र अपने कर्मोंसे राक्षस हो गया।

गलेश्वरजीके दर्शन करके हम नीचे उतरे। एक मील लगभग चलकर मंगला नदीको पुलसे पार करके हम मंगला और गंडकीके ठीक संगमपर स्थित जडभरतजीके आश्रमपर गये। यहाँ आजकल एक पहाड़ी ब्रह्मचारी आश्रम बनाकर रहते हैं। उनके आश्रमको देखकर और ब्रह्मचारीजीसे मिलकर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। आश्रममें सर्वत्र सात्त्विकता टपक रही थी, बड़ा ही शान्त वातावरण था। ब्रह्मचारीजी अकेले ही यहाँ अठारह-बीस वर्षसे रहते हैं। अपने हाथों ही उन्होंने यहाँ एक छोटा-सा बगीचा लगा रक्खा है, जिसमें आम, अमरूद, केला, नीबू, नारंगी आदि वृक्ष हैं। अपने हाथों बहुत ही छोटी कच्ची दो कुटिया बना ली है, जिनमें एक आदमी पैर फैलाकर सो भी नहीं सकता। किसीसे याचना नहीं करते, कहीं जाते नहीं, आकाशवृत्तिसे जो आता है उससे मुक्तहस्त होकर परोपकार करते हैं। मुक्तिनाथ जानेवाला जो भी यात्री आ जाय—साधु हो, गृहस्थ हो, कुली हो, सबको भोजन देते हैं। कितने भी आ जायँ, किसीको मना नहीं। वैसे तो यहाँ आता ही कौन है किंतु यात्राकालमें दस-बीस साधु प्रायः नित्य ही आते हैं। महात्मा सबका सत्कार करते हैं। भगवान् न 'जाने कहाँसे उन्हें दे देते हैं। बड़ी निर्मुक्त हँसी हँसते हैं। स्वभाव जैसे बच्चोंका-सा। आलस्यका तो नाम नहीं। जितनी बार जो वस्तु माँगो, तुरंत उठकर जाते हैं, उस वस्तुको लाकर देते हैं। देनेमें संकोच नहीं, कृपणता नहीं, खीझ नहीं, बड़े उल्लाससे बड़ी उदारतासे निरालस्य होकर देते हैं। हम गये, बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। हम उस पार ठहरे थे। २५-३० आदमी थे। आश्रममें स्थान नहीं था। हमें स्वयं अपने हाथों बथुयेका साग तोड़ कर दिया। बड़ी देरतक बातें करते रहे। वे हमारी आधुनिक सभ्यतासे बहुत दूर हैं। एक लंगोटी लगाये सम्पूर्ण शरीरमें रज लपेटे बालकोंकी भाँति हँसते हुए फुदकते हुए बड़े ही अच्छे लगते थे। उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। इतनी आत्मीयतासे इस यात्रामें ये ही महात्मा

मिले। मानो हमें जडभरत ही मिल गये हों। अवस्था ६०। ७० की होगी, किंतु आलस्य उनके शरीरमें तनिक भी नहीं था। कुछ त्रिफला आदि पीसकर गोली बनाकर उन्हें तुंबड़ियोंमें रख लेते हैं। जो पहाड़ी आते हैं, उन्हें दे देते हैं। लोग चावल, दाल, आटा उन्हें दे जाते हैं, वे परोपकारमें उसे लगा देते हैं। उनसे मिलकर हम इस पार आ गये। स्नान-पूजनसे निवृत्त होकर मंगलाके तटपर एक नव निर्मित भवनकी तीसरी मंजिलपर सो गये।

गलेश्वरसे टिपलिंग

ज्येष्ठ शुक्ला १३ (५ जून)

मंगलाके पुलको राहूघाटसे पार करते ही चढ़ाई आ गयी, साँस फूलने लगी। छठी तककी याद आ गयी। चढ़ते ही गये, चढ़ते ही गये। रारहू गाँवमें पहुँच गये। वहाँसे आगे महाभिर है। इससे आगे एक झूला (पुल) है बहुत ही जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें। नीचेके पटरे भी सड़ गये हैं। लोग अब इसपर क्यों नहीं ध्यान देते ? बैंनीबाजारके पास तो एक आधुनिक ढंगका नैपाल-सरकारकी ओरसे पुल बन रहा है। इन छोटे-छोटे पुलोंकी ओर भी सरकारको ध्यान देना चाहिये। पुल पार करके टिपलिंग एक छोटा-सा गाँव आता है। हमलोगोंने यहीं आज मध्याह्नका भोजन बनाया। नैपालमें घर-घरमें मुर्गियाँ रहती हैं। मुर्गियोंके बच्चे घरभरमें घूमते रहते हैं। स्यात् ब्राह्मण तो अभीतक मुर्गी नहीं पालते। शेष सभी पालते हैं। वे सब अन्न-जलमें मुँह दे देती हैं। क्या करें, विवश थे। हमें मुर्गियोंके बीच ही शयन, भोजन करना पड़ता था। यहाँ एक बगीचामें पूजा की, प्रसाद पाया। प्रसाद पाकर कुछ लोग तो आगे चल दिये, किंतु हमारे कुली आये ही नहीं। कुलीके साथ रहनेवालोंने सूचना दी, कुली इससे आगे जा नहीं सकते। अतः हम सब लोग रात्रिमें यहीं एकके छोटे-से घरमें अंडे-मुर्गोंके बीच सो गये।

टिपलिंगसे दाणा

ज्येष्ठ शुक्ला १४ (६ जून)

हमलोग तो रात्रिमें टिपलिंगमें ही रह गये थे, किंतु श्यामप्रकाश ब्रह्मचारी वंशीवाले तथा और दो-तीन आदमी पहले ही दिन चलकर तातापानी पहुँच गये थे। वहाँ उन्हें यात्रासे लौटते हुए स्वामी हीरानन्दजी पहाड़ी मिल गये। उनसे यात्राकी सब बातें मालूम हो गयीं। हमलोग प्रातः चले। दुवाखोला होकर घारखोला पहुँचे। खोला छोटी नदीको कहते हैं। गंडकीमें ऐसे सैकड़ों खोले आकर मिले हैं। जहाँ बड़ी गङ्गा मिलती है वह बैंनी कहलाता है। घारखोलासे थोड़ी दूरपर तातापानी है। यहाँतक तो अपने देशकी ही भाँति गरमी पड़ती है। यहाँतक हमें एक दिन भी गरम कपड़े ओढ़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। यही नहीं, मार्गमें चद्दर ओढ़नेपर भी पसीनेसे लथपथ हो जाते थे। इसलिये नंगे शरीर ही चलते थे। तातापानीसे कुछ सर्दी आरम्भ हो गयी। ऋतु बदल गयी। देश बदल गया; सभ्यता बदल गयी। यहाँसे आगे अब गरम वस्त्रोंकी आवश्यकता अनुभव होने लगी। यहाँतक तो वर्णाश्रमी ब्राह्मण-क्षत्रिय मिलते थे। यहाँसे आगे भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य कुछ-कुछ हैं; किंतु अधिकांश बौद्ध-धर्मको माननेवाले हैं। बौद्धोंके चैत्य-मन्दिर भी मार्गमें मिलने आरम्भ हो जाते हैं। टुकचासे आगे तो सब बौद्ध-ही-बौद्ध हैं। तातापानीमें गंडकीके समीप एक कुंड है, जिसमें गंधकका गरम जलका स्रोत है। जलमें गंधककी गंध आती है। घुसकर स्नान नहीं कर सकते। यहाँ गंडकीपर आधुनिक ढंगका बना सुन्दर पुल है। नैपाल-सरकारने इस मार्गपर यही एक सुन्दर पुल तैयार किया है। अब स्थान-स्थानपर नये पुल बन रहे हैं। यहींसे नैपाल जानेके लिये पोखराका मार्ग है। हमसे चार-पाँच दिन पूर्व ही नैपालके महाराजाधिराजके छोटे भाई अपने मामाके साथ मुक्तिनाथकी यात्रा करके गये थे। उनके स्वागतके लिये सजायी हुई ध्वजा-पताका अभीतक लगी थीं। यहीं हमें नैपालके गोरखनाथ मठके सुप्रसिद्ध मठाधीश योगी नरहरिनाथजी भी मिल गये। वे नैपालके जननेता हैं। बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं। एक पत्रिका भी निकालते हैं। अच्छे नामी विद्वान् हैं। आप कई बार हमारे झूसी आश्रममें भी आ चुके हैं। यहाँ मिलकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की।

नैपालसे अखण्ड कीर्तन करते हुए जो दस-बारह भक्त आये थे और पोखरामें हमारी प्रतीक्षामें आठ-नौ दिन ठहरे रहे और समाचार मिलनेपर हमारे साथ होनेको पोखरासे पैदल कीर्तन करते हुए आ रहे थे, वे भी यहीं मिल गये। अब हमारी मंडली पूरी बन गयी। हम चालीस-एकतालीस आदमी हो गये। अखण्ड कीर्तन साथ-साथ होनेसे यात्राकी शोभा बढ़ गयी। हम सब लोगोंने तातापानीमें भोजन-प्रसाद बनाया। गरम जलमें स्नान किया। फिर भोजनादिसे निवृत्त होकर आगे चल दिये।

तातापानीसे आगे बड़ा सुन्दर सुहावना मार्ग है। मार्गमें पोदीनाका जंगल ही खड़ा है। इस स्थानका

नाम जल-थल है। एक महात्मा मिले, उन्होंने अपने खेतसे निकालकर ताजा आलू दिये। आगे चलनेपर पानी बरसने लगा। सब लोग भागने लगे। पानी जोरोंसे बरस रहा था। हम भागते-भागते दाणागाँवमें पहुँच गये। एक बड़ेसे घरमें घुस गये। घरकी स्वामिनीने बड़े प्रेमसे हमें आसन दिया। अखण्ड कीर्तन हो रहा था। एक बड़ी ही सरल सात्त्विक प्रकृतिकी कन्याने आकर हमें प्रणाम किया। उसकी माँने बताया—बालकपनसे ही इसकी रुचि भजनमें है। यद्यपि घरके सभी लोग मांस-अंडा खाते हैं, किंतु यह मांस-अंडा छूतीतक नहीं। हमलोगोंके हाथका खाती भी नहीं। स्वयं भोजन बनाकर भगवान्‌को भोग लगाकर खाती है। दिनभर भजन करती रहती है। व्रत-उपवास करती रहती है। इस मांस-मदिरा-प्रधान देशमें भी ऐसी सात्त्विक प्रकृतिकी लड़की मिल सकती है, हमें बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वह ऐसी मिल गयी मानो हमारा जन्म-जन्मान्तरसे उसका सम्बन्ध हो। रात्रिभर वह भजन-कीर्तनमें संलग्न रही। सभी लोग वहाँ रहकर बड़े प्रसन्न हुए।

दाणासे लेते

ज्येष्ठ शु० पूर्णिमा (७ जून)

प्रातःकाल दाणासे हम चले। कुमारी मीराँबाईने तथा उसकी माता, बहिन तथा समस्त परिवारने हमें विदाई दी। दाणासे थोड़ी दूरपर कोटचेपानी गाँव है। यहाँकी प्राकृतिक शोभा वर्णनातीत है। मार्गमें छोटे-छोटे ढाक (पलास) के वृक्ष खड़े थे, जिनपर लाल-लाल पुष्प लगे थे। हमारे यहाँ ढाकके वृक्ष बड़े-बड़े वृक्षके समान होते हैं, उनपर छोटे-छोटे पत्ते आते हैं, किंतु यहाँके ढाकके वृक्ष तो बहुत ही छोटे-छोटे थे, किंतु उनके पत्ते इतने बड़े-बड़े कि दो आदमी भोजन कर लें। कमलके पत्तोंसे भी बड़े। इतने बड़े ढाकके पत्ते तो आजतक हमने देखे नहीं। यहाँ गंडकीकी दो धारा हो जाती है। दोनोंपर ग्रामीण लोग काठके पटरे डालकर पुल बाँध देते हैं। वर्षामें जब पुल बह जाते हैं तो दो-तीन मीलका चक्कर खाकर दो-तीन मीलकी चढ़ाई चढ़कर उस पारसे जाना पड़ता है। हम जब पहुँचे तब एक धाराका पुल तो सुरक्षित था, दूसरा पुल बह गया था। उस समय उसे हमने कैसे पार किया, इसका स्मरण करके अब भी रोमाञ्च हो आता है। वैसे पानी तो कमर-कमर ही था, किंतु धारा इतने वेगकी थी कि तनिक पैर फिसला कि फिर पता नहीं कितनी दूर बह जायँ। सबसे अधिक कठिनाई ठंडे पानीकी थी, जल शूलकी तरह चुभता था। अग्निकी भाँति जलाता था। पैर सुन्न पड़ जाते थे, उनमेंसे जीवनी-शक्ति नष्ट हो जाती थी। हमलोग तो लाठीके सहारे किसी तरह पार हो गये। हमारे साथकी माताओंको बड़ा कष्ट हुआ। किसी प्रकार पकड़-पकड़कर उन्हें पार किया। इस पार आकर प्रायः सभी आधे बेहोश-से हो गये। जब शरीरमें कुछ चेतना हुई तब आगे बढ़े। कोटचेपानी, काभ्रे तथा तालवगर होते हुए हमलोग घासा पहुँचे। घासा अच्छा गाँव है। नेपाल-सरकारकी ओरसे एक पाठशाला है। बिल्कुल एकान्तमें ऊँची पहाड़ीपर। चारों ओर चीड़-देवदारुके वृक्ष हैं। हम उसी पाठशालामें गये। किंतु वहाँ पानीका बड़ा कष्ट था, नीचेसे लाना पड़ता था, इसलिये नीचे पानीके पास एक घर था। घरवाले सब खेतोंमें काम करने चले गये थे। उस सूने खुले घरमें हमने डेरा जमाया। स्नान-पूजा हुई। प्रसाद बना। यहाँ जौका सत्तू और गुड़ भी बाजारमें मिल गया। खिचड़ी प्रसाद सबने बनाया। कमला-उर्मिलाने ऊपर फलाहार बनाया। यहाँ जल समीप था, दूकानें भी पास थीं। कुछ असुविधा नहीं हुई। प्रसाद पाकर फिर चल दिये। आजकल हमलोगोंको चलनेकी ही धुन सवार थी। कब मुक्तिनाथके दर्शन हों, कब लौटकर चलें, कब यह विकट यात्रा समाप्त हो। यही एकमात्र सबको चिन्ता थी। यहाँसे आगे प्रायः सब बौद्ध-ही-बौद्ध हैं। मार्गमें स्थान-स्थानपर बौद्धोंके चैत्य (चबूतरे), बौद्धोंके मन्दिर, बौद्धोंकी ही ॐ माने पंमे हुँ (ॐ मणि पद्मे हुँ) यही मन्त्र लिखी चरखियाँ रक्खी थीं। उन चरखियोंके घुमानेसे मानो मन्त्रका जाप हो गया। यहाँसे बरफके पहाड़ दिखायी देते थे। ठंड भी पड़ने लगी थी। अब ओढ़कर चलना पड़ता था। वर्षा भी प्रायः नित्य ही होती। चलनेका भी अब अभ्यास हो गया था। चढ़ाई-उतराईमें तो कष्ट होता था। शेष समतल चढ़ाईमें कुछ भी असुविधा प्रतीत नहीं होती थी। यहाँके दृश्योंको देखकर तो यही मन होता था कि यहीं रम जायँ, किंतु विषयोंकी वासनाएँ हमें लौटनेको प्रेरित करती थीं। स्थान-स्थानपर बहुत-से नदी-नाले खाले आ-आकर कृष्णा गंडकीमें मिल रहे थे। लेता-खोलाका जहाँ संगम है, वहाँसे आगे लेता बाजार है। घासाकी यह चढ़ाई अत्यन्त विकट है। लोगोंका कहना है जिसने घासाकी चढ़ाई पार कर ली, मानो उसने मुक्तिनाथके दर्शन कर ही लिये। अब तो हम घासाकी चढ़ाईको पार कर ही आये हैं। अब तो हमें विश्राम

हो ही गया कि मुक्तिनाथ भगवान्‌के दर्शन मिल ही जायँगे। घासासे चलते-चलते, चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते हमें रात्रि हो गयी। जैसे-तैसे राम-राम करके हम लेते गाँवमें पहुँचे। गाँव बड़ा है। इसमें एक जमींदारका घर है। हमलोग उन्हींके घर पहुँचे। पहले तो गृहस्वामिनीने ना-ना किया, किंतु हमने डेरा डाल ही दिया, चिमटा गाढ़ ही दिया। गृहस्वामिनीने कहा—रहनेको तो रह जाओ, किंतु जल मत माँगना। जल यहाँ एक मील नीचेसे आता है। हमलोग पानीके घड़े लेकर पानी भरने तथा नित्य-कर्मसे निवृत्त होने चले। अँधेरी रात्रि, घोर जंगल, पहाड़ी विकट मार्ग, उस दृश्यको स्मरण करते हैं तो अब भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। गृहस्वामिनीने मार्ग दिखानेको एक दासीको हमारे साथ भेजा। ऊबड़-खाबड़ मार्गसे पत्थरों-चट्टानोंको पार करते हुए कृष्णा गंडकीके समीप एक छोटे झरनेमें पहुँचे। कृष्णागंडकीका जल तो काला था, काली बालू उसमें मिली थी। अतः गाँववाले दूसरे झरनोंका जल पीते हैं। रात्रिमें लोगोंने भोजन भी बनाया। अखण्ड कीर्तनकी ध्वनिसे सर्वत्र महामन्त्र गूँजता रहा, रात्रिभर वहीं रहे।

लेतेसे टुकचा बाजार

(आषाढ़ कृ० १, ८ जून)

प्रातःकाल लेतेसे चले। आगे कालापानी नामक स्थान पड़ा। बड़ा ही मनोमोहक दृश्य था। हजारों-लाखों छोटी-छोटी शालग्राम-शिलाएँ वहाँ पड़ी थीं। उन्हींपर पैर रखकर चलना था। यहाँ गंडकी फैल-फूट कर बह रही है। मीलों लंबा-चौड़ा मैदान था, जिसमें बालू बिछी हुई थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो झूसीसे हम त्रिवेणीसंगमपर बालू-बालू जा रहे हैं। मील, डेढ़ मील चलकर हलकी-सी चढ़ाई आयी। उसे चढ़कर किनारे-किनारे चले। अब यहाँ मक्काकी खेतीके स्थानमें धानकी खेती दिखायी देने लगी। जहाँ देखो वहीं धानकी खेती दिखायी दे रही है। इधर स्त्रियोंका ही प्राधान्य है। पुरुष तो केवल कमा लाता है। नहीं तो, घरका खेती-बारीका सभी काम स्त्रियाँ ही करती हैं। कई छोटे-मोटे पुलोंको पार करते हुए, कहीं पानीसे, कहीं बालूसे और कहीं सूखे मार्गसे निकलते हुए हम देवथान या देवस्थान नामक ग्राममें पहुँचे। यह बौद्धोंका गाँव है। बहुत बड़ा गाँव है। बौद्धोंका मन्दिर है। स्थान-स्थानपर चैत्य-चबूतरे बने हुए हैं, जिनमें बहुत-सी फिरनियाँ लगी हुई हैं। उनके दायें-बायें दोनों ओर सड़कें हैं। लोग आने-जानेवाले इन पूजा-चबूतरोंको दायीं ओर करके जाते हैं। ऊपर मकान बने हैं। मकानोंके नीचे-नीचे मार्ग है, सड़क है। गंदगीका तो फिर कहना ही क्या ? स्त्री-पुरुष सब गंदे कपड़े पहिने हुए, मार्ग भी गंदे। किंतु मनमें छल-कपट नहीं, इतनी भगवान्‌की कृपा है।

हमलोग देवथानसे होते हुए दोपहरके लगभग टुकचे-बाजार पहुँच गये। टुकचा पहुँच गये मानो मुक्तिनाथ पहुँच गये। टुकचा बड़ा स्थान है। एक प्रकारकी पहाड़ी मण्डी ही है। यह मुक्तिनाथकी सीमा है, जैसे बद्रीनाथजीकी सीमा जोशीमठ। मुक्तिनाथजीकी रेख-देख यहाँ टुकचेके ही टकाली लोग विशेषरूपसे करते हैं। अतः यहाँ पहले टुकचाका परिचय कराके तब आगे बढ़ेंगे। पाठक अभी कुछ देर टुकचाकी शोभा निहार लें। यहाँका परिचय प्राप्त कर लें, तब मुक्तिनाथजीके दर्शनोंके लिये आगे चलें। (क्रमशः)

निर्मोही !

(रचयिता—प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण')

जितनी दूरी कम होती है, उतनी मंजिल बढ़ती जाती।
गीली-गीली राह सँपीली,
साँस-साँस की आशा ढीली;
मनका दर्द न उड़ पाता है,
छन्द न बनती पीर पनीली;
जितनी देह सूखती जाती, उतनी धूप विहँस मुस्काती।
जितनी दूरी……

हवा बनाती काया चंचल,
चू पड़ता है कभी दृगंचल;
धुन्ध कुहासा दिनमें करता,
हृदय सूखता, किस्मत निश्चल !
जितनी चाल बदलती जाती, उतनी छलना खुशी मनाती।
जितनी दूरी……

भीगी ध्वनि मोती-सी लगती,
नई प्रेरणा-बूँद न जगती;
झिलमिल मृग-मरीचिका निष्फल,
जड़िमामें ममता न उमगती;
जितनी घड़ी बीतती जाती, उतनी ही श्रद्धा मुरझाती।
जितनी दूरी……

उत्तर और दक्षिणकी शाश्वत एकता

(लेखक--श्रीअशोक महाजन)

आज कुछ लोग एक झूठा नारा लगाकर एकात्म भारतमें विभेदकी दीवारें खड़ी करना चाहते हैं । वे कहते हैं कि 'उत्तर दक्षिणपर आधिपत्य करना चाहता है ।' यह झूठ है । उत्तर और दक्षिणका पर्दा मायाका पर्दा है । वास्तवमें दोनोंमें अपनी-अपनी विशिष्टता है, पर दोनोंकी मूल प्रतिभा एक-दूसरेसे आबद्ध है—संस्कृतिमें, धर्ममें, आचारमें, साहित्यमें, इतिहासमें, कलामें, रीति-नीति और भाषा तकमें समस्त भारतकी आत्मा एक है ।

मनु और संत तिरुवल्लुवर

भारतीय एकताके आदि संस्थापकोंमें मनु और तिरुवल्लुवरका नाम विशेषरूपसे लिया जा सकता है । मनु उत्तरके थे और तिरुवल्लुवर दक्षिणके । पर दोनोंके विचारोंमें आश्चर्यजनक साम्य था । समाज-व्यवस्था, नियम और अनुशासन-सम्बन्धी जो निर्देश मनुने 'मनुस्मृति' में दिये, वही तिरुवल्लुवरने 'तिरुकुरल' में दिये । मनुने कहा है—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥

(मनुस्मृति ५ । ५३)

अर्थात् कोई वर्ष-प्रतिवर्ष सौ-सौ अश्वमेध यज्ञ करे, किंतु वह जो मांस खाता ही नहीं, उसे बिना यज्ञ किये ही सौ अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है । तिरुवल्लुवर इसी तथ्यको इस प्रकार कहता है—'जो प्राणी मांसको नहीं छूता, हिंसा नहीं अपनाता, वह महान् सुख प्राप्त करता है ।' अतः इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिकालमें, उत्तर दक्षिणकी संस्कृतिसे प्रभावित था और दक्षिण उत्तरकी संस्कृतिसे ।

इसके बाद दक्षिणपर जैनधर्मका प्रभाव पड़ा । उत्तरके जैन प्रचारक दक्षिणमें आये । 'नमो अर्हन्तम्' आदि पाँच नमस्कार-मन्त्रोंका उन्होंने प्रचार किया । तभी सहसा वहाँ एक विराट् आध्यात्मिक क्रान्ति हुई । दक्षिणके संत वागीश और गौडपादाचार्य उत्तरकी ओर बढ़े । शैव संत अप्पर सुन्दरार और अव्वई असत्य और अधर्मका खण्डन करनेके लिये निकल पड़े । दक्षिणमें ज्ञानके दीप जल उठे । उत्तरने उन दीपोंकी ज्योतिमें समन्वय और एकताका पाठ पढ़ा ।

भूमिकी प्रतिष्ठासे ऐक्य-भावना

करीब १२०० साल पहलेकी बात है । केरलके आचार्य शंकर अपनी कुटीमें यात्राकी तैयारी कर रहे थे । वे वेदान्तके पारदर्शी विद्वान् श्रीगोविन्द भगवत्पादके पास बदरीनाथ जा रहे थे । धुर दक्षिणका आचार्य, हिमालयकी ओर उन्मुख !

शंकर चलते-चलते थक गये थे । मैसूरमें एक तालाबके पास वे विश्रामके हेतु बैठ गये । उसके किनारे छोटे-छोटे मेढक खेल रहे थे । शंकर उनकी क्रीड़ा देखने लगे । तभी एक विचित्र घटना हुई । धूपसे पीड़ित होकर एक मेढक 'टर्र टर्र' कर रहा था और लगता था जैसे सहायताके लिये किसीको पुकार रहा हो । इतनेमें एक काले साँपने आकर उसके ऊपर अपना फन पसार दिया ।

मेढक तो सर्पका भोज्य है, फिर यह क्या हुआ ?

शंकरने दाँतों-तले अँगुली दबा ली । उन्होंने दौड़कर तालाबके किनारे बनी एक कुटीमें प्रवेश किया । शंकरने कुटीके स्वामीको यह घटना सुनायी । उसने तत्काल ही उत्तर दिया कि 'यह ऋषि श्रृंगीका पवित्र आश्रम है, इसीलिये यहाँके जीव आपसी वैर त्यागकर प्रेमके साथ निवास करते हैं ।'

उसकी बात सुनकर विद्युत्की भाँति आचार्य शंकरके मनमें एक विचार कौंध गया । भूमिकी प्रतिष्ठासे यदि हिंसक जीवोंमें ऐक्यकी कल्पना सम्भव है तो जनताकी एकता भूमिकी प्रतिष्ठाके द्वारा क्यों नहीं स्थापित की जा सकती ! घूम गया हिमालयसे कन्याकुमारीतकका यह विस्तृत देश शंकरकी आँखोंके सामने । यदि दक्षिणका जनसमुदाय हिमालयको उतनी ही श्रद्धा दे, जितनी कि उत्तरी जनता; और उत्तरकी जनता रामेश्वरम्को उसी श्रद्धासे पूजे, जिस श्रद्धासे, जिस आस्थासे एक बार स्वयं रामने पूजा की थी ।

शंकरने मन-ही-मन संकल्प किया—जबतक इस महादेश-में एक दर्शनकी स्थापना न हो जायगी, तबतक मैं विश्राम नहीं करूँगा ।

बस, इसी संकल्पको पूरा करनेके लिये आचार्य शंकरने समस्त भारतका पैदल भ्रमण किया । उत्तरमें बदरीनाथके

समीप, दक्षिणमें रामेश्वरम्‌के समीप, पूर्वमें जगन्नाथपुरीके समीप और पश्चिममें द्वारिकापुरीके समीप उन्होंने मठ स्थापित कर एकताके कार्यमें बड़ा सहयोग दिया। परिणाम यह हुआ कि एक नादान—गँवार भारतीय भी, जो भूगोलके नामपर चाहे कुछ भी न जानता हो, उत्तरके बदरी-केदार, दक्खिनके बाबा रामेश्वर, पूरबके जगन्नाथ स्वामी और पच्छिमके द्वारकाजीको खूब अच्छी तरह जानता है। जब वह अलकनंदामें दूसरे व्यक्तिकी देह-से-देह भिड़ाकर स्नान करता है तो उसे होश नहीं रहता कि वह उत्तरका है या दक्षिणका। वह समस्त भेदभावोंको भूल जाता है और एकताके सूत्रमें खुद-ब-खुद बँध जाता है।

संघर्षकी जड़ राजनीति

राजनीति विभेदकी दीवारें उठाती है, आपसमें विभाजन पैदा करती है, संस्कृति ये दीवारें गिराती हैं, आपसमें ऐक्य कराती हैं। आज भाषाके नामपर उत्तर और दक्षिणमें मनोमालिन्य और द्वेष-भाव व्याप्त हो गया है। कुछ क्षुद्र राजनीतिज्ञोंके षड्‌यन्त्रसे भाषाकी आड़में आज प्रादेशिकताको बढ़ावा मिल रहा है। इतिहास साक्षी है कि प्राचीन भारतमें भाषाके नामपर कोई विवाद नहीं था। भारतमें उत्तरकी भाषा संस्कृत ही सर्वत्र पूज्य थी। उसकी किसीसे कोई टक्कर न थी। प्राचीन आर्यग्रन्थोंमें दक्षिणकी 'पञ्चद्राविड़' भाषाओंका नाम आदरपूर्वक लिया गया है। 'कन्नड़' कर्नाटक एवं अन्य शब्द आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें सम्मानार्थ प्रयुक्त हुए हैं। महाभारतके 'सभापर्व'में 'कर्णाटकाश्च कूटाश्च पद्मजालाः सतीनराः' प्रभृति-विवरण मिलता है। तेलुगु भाषा द्रविड़की होते हुए भी उत्तरकी आर्यभाषाओंसे पर्याप्त सम्बद्ध रही है। तेलुगु भाषा-भाषी आन्ध्र जाति आर्यावर्तमें श्रद्धा और सम्मानकी दृष्टिसे देखी जाती रही है। ऐतरेय ब्राह्मण (७ । ६ । ३३) में कहा गया है—

तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः पञ्चाशत्कनीयांसः, तद्ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे ताननु व्याजहारान्तान्वः प्रजा भक्षीष्टेति त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः।

इसी प्रकार तमिळ, मलयाल्म और दक्षिणकी अन्य भाषाओंका उत्तरसे पर्याप्त मधुर सम्बन्ध रहा है। यह सुनकर पाठकोंको आश्चर्य होगा कि दक्षिणमें तुलसीकी हिंदी-रामायणका प्रचार एक तमिळभाषीने किया था। इस प्रकार उत्तर-दक्षिणकी आत्मा सदा एक रही।

उत्तर दक्षिणका ऋणी है

उत्तर दक्षिणके अनेक उपकारोंसे दबा हुआ है। दक्षिणके रामानुजके शिष्य रामानन्दने भक्तिमार्गका प्रचार कर हिंदीको दो महान् परम ज्ञानी परम भक्त, कवि दिये—कबीर और तुलसी। हिंदीका एक अन्य महान् कवि 'सूर' आन्ध्रके विचारक वल्लभाचार्यके पुष्टिमार्गके अष्टछापका सदस्य था। स्थानाभावके कारण यहाँ दक्षिणके समस्त उपकारोंका तो उल्लेख नहीं किया जा सकता, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि जब-जब उत्तरमें आध्यात्मिक अग्नि मन्द हुई, दक्षिणने महापुरुषोंको जन्म देकर उत्तरको प्रदीप्त किया; जब-जब उत्तरके नभपर संकट छाया, दक्षिणमें उत्तरकी रक्षार्थ शक्तिकी अधिष्ठात्री माँ चण्डीका पूजन हुआ। अभी पिछले दिनों उत्तरपर चीनका जब हमला हुआ तो दक्षिणमें पञ्चदिवसीय महायज्ञ हुआ। यदि उत्तर और दक्षिणके बीच सचमुच कोई भेदभाव होता तो दक्षिणमें इतना बड़ा यज्ञ न होता।*

* * *

---

* कुछ वर्षों पूर्व हमलोग एक स्पेशल तीर्थयात्रा ट्रेनसे दक्षिणके तीर्थदर्शनार्थ गये थे। दक्षिणके प्रायः सभी प्रसिद्ध मन्दिरों, देवस्थानों और तीर्थोंके दर्शन-स्नानका तथा वहाँके विद्वानोंके साथ ही साधारण जनसमुदायसे भी मिलनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। हमने कहीं भी उत्तर-दक्षिणका कोई भेद नहीं पाया। एक संस्कृति, एक धर्म, एक शास्त्र, एक भगवान्। वहाँके लोगोंने हमलोगोंके प्रति जिस प्रेम-सम्मानका व्यवहार किया, जैसा आदर्श आतिथ्य किया, वह हमारे जीवनमें चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होंने बताया कि आजकल जो दक्षिण-उत्तरका विवाद खड़ा किया जा रहा है, वह बड़े नगरोंमें ही है, गाँवोंमें नहीं। राजनीतिक लोगोंमें ही है, साधारण जनतामें नहीं।

भगवान्‌के अधिकांश अवतार——सर्वप्रमुख श्रीराम और श्रीकृष्ण उत्तरमें हुए, जिनको दक्षिणवाले वैसे ही मानते हैं, जैसे उत्तरवाले। भारतके ज्ञान-भक्तिके महान् आचार्य श्रीशंकर, श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीवल्लभ सब दक्षिणमें हुए, जिनका पूजन और अनुकरण उत्तरवाले दक्षिण-वालों-जैसा ही, बल्कि कहीं-कहीं तो उससे बढ़कर करते हैं। वहाँ आर्य-अनार्यका झगड़ा भी बिल्कुल आधुनिक है। रावण अनार्य नहीं, आर्य ब्राह्मण कुलके थे——जो नेपालराज्यके गलेश्वर महादेवके 'राहू'नामक स्थानमें उत्पन्न थे, पीछेसे असत्कर्मोंके कारण राक्षस हो गये।——सम्पादक

मानवधर्म

(लेखक--मुनि श्रीसंत बालजी)

आज जगह-जगह 'मानवधर्म' की बड़ी चर्चा है। हमें इस बारेमें स्पष्ट और व्यापक दृष्टिकोणसे विचार कर लेना चाहिये; क्योंकि मानवधर्म मानवजीवनकी नींव है। वह मजबूत नहीं होगी तो आखिर जिंदगीको हम टिकायेंगे किस आधारपर ? और यदि मानवधर्मको अपनाये बिना ही कोई जैसे-तैसे अपनी जिंदगी बितानेकी बात करता है तो उस जिंदगीका मूल्य ही क्या है ? ऐसी जिंदगी पशुओं-जैसी जिंदगी होती है। उसमें जिंदगीका कोई मूल्याङ्कन या कोई महत्त्व नहीं होता, न कोई उत्कर्षका विचार होता है, जब कि मानव-जीवनमें उपर्युक्त सभी बातें आवश्यक होती हैं।

हमारे देशमें आये दिन धर्म और अध्यात्मकी बड़ी-बड़ी बातें होती हैं; किंतु आज हमारे देशवासियोंकी यह स्थिति है कि वे जीवनकी छोटी-छोटी समस्याएँ, नगण्य प्रश्न और छोटी-छोटी समस्याओंका धर्म और अध्यात्मकी दृष्टिसे समाधान नहीं कर पाते। इसका मूल कारण यह है कि हम बुनियादको सुदृढ़ किये बिना ही महल खड़ा करनेका प्रयास करते हैं। हर क्षेत्रमें आज हम पिछड़े हुए हैं और तप-त्याग-संयमके सही रास्तेसे कतराकर आसान रास्ता—जिसमें कुछ करना-धरना न पड़े, खोजते रहते हैं। इस सस्ते नुस्खेकी खोजने हमें विलासी, स्वार्थी, दुर्बल, असंयमी, ईर्ष्यालु और असहिष्णु बना दिया है। अतः हमें ऐसा मार्ग खोजना चाहिये, जिसमें चाहे हमें थोड़ा तप, त्याग या संयम करना पड़े, पर यथार्थ सुख और शान्ति स्थायी रूपसे मिले। वह मार्ग है—'मानवधर्म।'

मानवजीवनमें दो चीजें महत्त्वपूर्ण हैं—(१) जीवनको सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करना और (२) सुरक्षामें जहाँ बाधाएँ आयें, न्याय प्राप्त करना हो, वहाँ संघर्षके लिये जीवनको तैयार रखना, उसे नया मोड़ देना।

पहली चीज हर प्राणीमें पायी जाती है। छोटे-से-छोटा प्राणी भी अपने जीवनको टिकाये रखनेके लिये सतत पुरुषार्थ करता रहता है; परंतु दूसरे प्राणियोंके जीवन टिकानेकी और मनुष्यके जीवन टिकानेकी दृष्टिमें अन्तर है। दूसरे प्राणी प्रायः अपने या अपने आसपासके स्वजातीय प्राणियोंतकका ही विचार करते हैं, जब कि मनुष्य अपने आसपासके स्वजातीय प्राणियोंके अतिरिक्त अपने पड़ोस, गाँव, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एवं अन्य राष्ट्रोंके मानवोंका ही नहीं; प्राणिमात्र तकका—विशेषतः उपकारी प्राणियोंका—विचार करता है। इसलिये खाने-पीने, रहने आदिका विचार पशु जैसे अपना या अपनेतकका ही करता है, वैसे मनुष्य नहीं करता। वह व्यापक पैमानेपर, दूसरोंका भी विचार करता है। यही मानवधर्म कहलाता है, जो मनुष्यका विशेष गुण है।

परंतु इतनेमें ही मानवधर्मकी इति—समाप्ति नहीं हो जाती। मनुष्यको खाने, पीने, रहने आदिके सिवा न्याय, सुरक्षा, आरोग्य और शिक्षण-संस्कार आदिकी भी आवश्यकता रहती है। मनुष्यको खाने-पीनेको अच्छा मिलता है परंतु उसपर कोई अन्याय करता है या उसपर प्रहार करता है तो उसका जीवन दुःखमय बन जाता है। उसे मन-ही-मन वह दुःख, अपमान और भय कचोटता रहता है। अतएव न्याय और सुरक्षाके लिये उसका संघर्ष जारी रहता है। कई बार संघर्ष करते-करते उसके मनको यथार्थ शिक्षा और संस्कार नहीं मिले होनेसे वह क्रुद्ध होकर चाहे जिसपर प्रहार करनेको उतारू हो जाता है, उसे हर एक व्यक्तिके प्रति शंका रहती है कि यह दुष्ट है, यह मेरे साथ धोखा करेगा, अन्याय करेगा या मुझे मारेगा। इसीसे कई लोग रास्ते चलते हुए साँप या बिच्छूको देखते हैं तो उसे शत्रु समझकर तुरंत ही उसे मारनेके लिये टूट पड़ते हैं। यह नहीं सोचते कि जैसे हमें जीनेका अधिकार है, ठीक वैसे ही उसे भी जीनेका अधिकार है। वे इसी दृष्टिकोणसे सोचते हैं कि इसे जीवित रहने देकर क्या करना है ? यह मुझे नहीं काटेगा, तो किसी दूसरेको काटेगा। किंतु जैसे हमारे अंदर परमात्माका अंश है, वैसे उसके अंदर भी परमात्माका अंश है। इस दृष्टिसे हम आत्मीय हैं, सम आत्मतत्त्ववाले हैं। इस दृष्टिसे सोचा जाय तो सोचनेका ढंग ही बदल जायगा। जैसे मैं जीता हूँ, वैसे वह भी जीये। इस दृष्टिसे सोचनेमें ही मानवता और सब प्राणियोंके साथ आत्मीयता रही हुई है। इसीलिये सभी धर्मोंके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम मानवधर्म या मानवताके विचारको विकासका प्रथम चरण माना गया है। यदि मानवता नहीं है और केवल मानव-शरीरका ढाँचा है तो उसे इतना महत्त्व नहीं दिया गया है। जैनागमोंमें देखिये—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुइ सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥

इस जगत्‌में प्राणियोंके लिये चार बातें बड़ी दुर्लभ हैं, उनमें सर्वप्रथम मनुष्यत्व। फिर क्रमशः श्रवण, श्रद्धा और संयमाचरणमें पुरुषार्थ।

बाइबिलमें भी यही बात कही गयी है—

'Humanity is the great gift of God.'

'मानवता ईश्वरकी सबसे बड़ी देन है।' इस्लामधर्ममें इन्सानियत आला दर्जेकी चीज बतायी है। वैदिकधर्ममें तुलसीरामायणमें इसी बातको सरल शब्दोंमें कहा है—

नरतन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत एही॥
सरग नरक अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुख देनी॥

अभिप्राय यह है कि चर-अचर चौरासी लाख जीव-योनिमें सबसे महान् प्राणी मनुष्य है। परंतु इसकी महत्ता केवल शरीर-सुख बढ़ाने, धन-वैभव बढ़ाने, बुद्धि बढ़ाने या सत्ता बढ़ानेमें नहीं है। उसकी महत्ता मनुष्यता बढ़ानेमें है। जो सर्वाधिक महान् होता है, उसकी जिम्मेवारी भी उतनी ही महान् होती है। अर्थात् मनुष्यपर सबसे अधिक जिम्मेदारी यह है कि वह अपने जीवनमें मनुष्यताकी ज्योति जगाये; क्योंकि मानवधर्मके बिना स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वेदान्तके महान् दार्शनिक एवं संन्यास-संस्थाके पुनरुद्धारक श्रीशंकराचार्यने विवेकचूडामणिमें मुमुक्षुत्वके पहले मनुष्यत्वका होना अनिवार्य बताया है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

मनुष्यत्वकी भूमिका तैयार हुए बिना मोक्षत्व-प्राप्तिकी भूमिका तैयार नहीं हो सकती। अतः सभी धर्मग्रन्थोंका निचोड़ यही है कि सर्वप्रथम मानवधर्म प्राप्त करो। इसे प्राप्त नहीं करोगे तबतक आत्मा, परमात्मा और वेदान्तकी बड़ी-बड़ी बातें व्यर्थ हैं, राखपर लीपनेके समान हैं।

मानवधर्मकी कसौटी दो प्रसंगोंपर होती है—जीवन सुरक्षित रखनेमें और न्याय तथा सुरक्षाके लिये संघर्ष करनेमें। इन दो प्रसंगोंपर उसकी जिंदगीको नया मोड़ न मिले, सही संस्कार न मिलें और दृढ़तापूर्वक मानवधर्मके सिद्धान्तोंपर टिकनेकी क्षमता न हो तो वह हार जाता है, थक जाता है, क्रूर बन जाता है या वह जडताकी प्रतिमूर्ति बन जाता है अथवा विलासी बन जाता है। यह मानवजीवनकी सबसे बड़ी हार है।

आप कहेंगे कि आत्माको टिकानेकी बात न कहकर शरीरको टिकानेकी बातपर क्यों जोर दिया जाता है? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि शरीर साधन है, साध्य नहीं है; किंतु जबतक आत्माके साथ वह संलग्न है, तबतक उसके द्वारा साध्य-प्राप्तिका प्रयत्न किया जाना चाहिये।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'

शरीर प्रथम धर्मका साधन है। मानव शरीरद्वारा धर्म-साधना करके उद्देश्य प्राप्त कर सकता है। इसीलिये इसको स्वस्थ, सुरक्षित एवं सुसंस्कारित रखना अत्यावश्यक है और ऐसे धर्मसाधनायोग्य शरीरसे जीविका, न्याय, सुरक्षा आदिके लिये संघर्षके समय मानवधर्मको सुरक्षित रखना और बढ़ाना चाहिये। अब हम इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये क्रमशः कुछ उदाहरण देते हैं—

घटना लगभग पचीस साल पहलेकी है। एक दिन एक तीन दिनका भूखा आदमी एक साधनसम्पन्न सेठके द्वारपर आया। सेठ गद्दीपर बैठे मुखवास ले रहे थे। इसी समय वह क्षुधापीड़ित व्यक्ति क्षणभर सेठकी ओर, दूसरे क्षण बाहरकी ओर झाँक रहा था। भूखसे वह घबराया हुआ था; पर उसके पैर अंदर घुसनेके लिये उठ नहीं रहे थे। कई दिनोंसे वह किसी काम-धंधेकी तलाशमें था; पर काम न मिला। जहाँ जाता वहाँसे इन्कार ही मिलता। **'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'** इस उक्तिके अनुसार भूखे व्यक्तिके मनमें कई बुरे विचार भी आ जाते हैं। पर इसके मनमें यही विचार आये कि इस साधनसम्पन्न व्यक्तिके पास जाकर कोई काम माँगूँ, यदि काम न देंगे तो रोटी तो जरूर दे देंगे। आजतक उसने किसीके आगे हाथ नहीं पसारे थे। उसका स्वाभिमान उसे सेठजीको कुछ कहनेसे इन्कार कर रहा था। इतनेमेंही सेठकी दृष्टि उसपर पड़ी। सेठने भ्रुकुटि चढ़ाते हुए कहा—'कौन है?' उसने कहा—'मैं मनुष्य हूँ।' सेठ बोले—'मनुष्य है यह तो मैं भी जानता हूँ, पर कौन और किसलिये यहाँ आया है?' वह बोला—'मैं एक तीन दिनसे भूखा आदमी हूँ। आपके द्वारपर कुछ आशा लेकर आया हूँ।' सेठ गरजते हुए बोले—'तू तो हट्टाकट्टा है, काम कर सकता है, फिर भी काम नहीं करता और मुफ्तमें खाना चाहता है।'

हाय ! सुखचैनमें रहनेवाला मनुष्य दुखियाके दर्दको नहीं महसूस कर सकता । इस संसारमें जो दुखी है, वही पर-दुःखका अनुभव कर सकता है । 'घायलकी गति घायल जाने और न जाने कोय !' सेठजीको क्या पता कि भूख कैसी भयानक चीज होती है ? क्योंकि उन्होंने कभी भूखमें दिन नहीं बिताये थे ।

सेठजीको उत्तरमें उसने यही कहा—'मैंने काम ढूँढ़नेके लिये बहुत प्रयत्न किया; परंतु काम नहीं मिला । मेरे पेटमें पानीके सिवा तीन दिनसे कुछ नहीं पड़ा । इससे शरीरमें इतनी ताकत कहाँ कि वह काम कर सके ! मुझे कुछ खानेको मिले तो मैं अवश्य ही काम करनेको तैयार हूँ ।' पर सेठजीकी मानवता मर चुकी थी । वे तुरंत बोले—'जाओ, चले जाओ यहाँसे ! मैं तुम्हारी यह बहानेबाजी सुननेको तैयार नहीं ।' बुभुक्षित व्यक्तिने फिर भी साहस करके कहा—'सेठजी ! मैं भी एक दिन साधनसम्पन्न था । बीस-पचीस आदमी मेरे यहाँ काम करते थे । आज मेरे बुरे दिन आये हैं, इसलिये बहुत संकोचसे मैं आपके पास आया हूँ । मैं भिखारी नहीं हूँ ।' सेठजीका पारा गरम हो गया । वे कहने लगे—'बस-बस, बंद करो अपनी यह शेखी ! माँगने तो आया है, फिर भी इतनी शेखी बघारता है । जाओ, कुछ नहीं मिलेगा ।'

तुलसी कर पर कर करो कर तर करो न कोय ।
जा दिन कर तर कर करो वा दिन मरन भलोय ॥

इस उक्तिके अनुसार बेचारे उस व्यक्तिका स्वाभिमान मर चुका था । वह एक दम बाहर निकल गया और सोचने लगा—'अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? इस सेठको पता नहीं है कि मुझे कहीं कुछ मिला नहीं है, तभी इनके द्वारपर आया था । सेठजी मानव होकर भी सही ढंगसे कुछ विचार नहीं करते ।' कहा है—

'विचार बिन नर है पशु समान'

यह सोच ही रहा था—इतनेमें एक आदमी मिला । उसने सलाह दी—'भाई ! तुम इन सेठजीके पास ही दुबारा जाओ । इनकी आदत है कि ये पहले डाँटते हैं, फिर काम देते हैं ।' इस बार फिर बड़ी आशासे वह अंदर घुसा । पर सेठजी उसे देखते ही आगबबूला होकर अपने नौकरसे कहते हैं—'अरे ! जाओ, इस आदमीको मार भगाओ । ये ऐसे धूर्तलोग हैं कि दिनमें सब देख जाते हैं और रातको चोरी करते हैं ।' नौकरके पास आनेसे पहले ही वह बाहर हो गया । उसके स्वाभिमानको बहुत बड़ी चोट लगी । सोचने लगा—'बस, अब इस संसारमें मेरा कोई नहीं है । इससे तो अच्छा यही है कि मैं अपना जीवन समाप्त कर दूँ, जिससे सदाके लिये भूख न सताये । मेरे बिना इस संसारका कौन-सा काम अटका है ?'

मनुष्य स्वाभिमान नष्ट होनेपर जीना हराम समझता है । वह भाई भी शीघ्र रेलगाड़ीकी पटरीपर जाकर सो गया । थोड़ी देरमें छुक-छुक करती रेलगाड़ी आयी । ड्राइवरने देखा नहीं, उसके शरीरपरसे गाड़ी चली गयी । बस क्या था । उसका सिर धड़से अलग जा पड़ा । सारा अङ्ग लोहूलुहान हो गया । थोड़ी दूर जानेपर ड्राइवरको पता चला कि एक्सीडेंट (दुर्घटना) हो गया है । उसने ट्रेन रोकी । कई यात्री यह देखनेके लिये उतरे कि क्या हुआ ? इस दुर्घटनामें कौन मरा ? लोग मृत व्यक्तिकी ओर करुणापूर्ण नेत्रोंसे देख रहे थे । अभागे मृतककी जेबमेंसे एक चिट्ठी बाहर गिर पड़ी थी । लोगोंने उसे उठाकर पढ़ा तो वे इसका रहस्य पा गये कि यह दुर्घटना नहीं हुई । आत्महत्या की गयी है । भावुक यात्री कहने लगे—'आह ! यह संसार कैसा है ? लोग आत्महत्या क्यों कर लेते हैं ? पता नहीं इसमें उन्हें क्या स्वाद मिलता है !' यों थोड़ी देर विचार-विनिमय करके वे एक-एक करके सब अपने डिब्बोंमें चले गये और खाने-पीनेमें मशगूल हो गये । वे सेठजी जिनके यहाँ यह अभागा मृत भाई काम माँगने और खाना माँगने गया था, इस समय इस घटनास्थलपर पहुँचे । सारी परिस्थिति देखी, चिट्ठी पढ़ी और उनके सामने कल घरपर आये हुए और भूखसे पीड़ित व्यक्तिका चेहरा घूमने लगा । सेठजीकी आँखोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे । लोगोंने सेठजीसे कहा—'सेठजी, यह क्या ? आपकी आँखोंमें आँसू ! क्या यह आपका कोई रिश्तेदार होता है ?' सेठजीने आँसू पोंछते हुए उत्तर दिया—'भाइयो ! इसकी आत्महत्याका निमित्त मैं हूँ । मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गयी है । कल यह भाई मेरे यहाँ आया था, काम माँगता था, कोई भी काम ! किंतु मैंने इसे डाँटा । न इसे काम दिया और न खाना ही ।'

इन सेठजीने शीघ्र ही सारी घटना आद्योपान्त श्रीकिशोरलालभाई मश्रुवालाको लिखी और पत्रद्वारा पूछा कि मेरे जीवनमें यह कैसी दुःखद घटना घटी है, जो मेरे मनको

दुःखित कर रही है । मैं इसका क्या प्रायश्चित्त करूँ ? मैंने नामवरीके लिये बहुत दान दिया, पर एक मरते हुए मानवको बचानेके लिये मानवताके नाते कुछ नहीं दिया । पर अब क्या हो सकता है, जब कि वह भूखा इन्सान तो अपना दम तोड़ चुका है ?' किशोरलालभाईने उस पत्रका आवश्यक अंश 'नवजीवन'में प्रकाशित किया और उसपर इस आशयकी टिप्पणी लिखी, जो उन सेठजीके पत्रके उत्तर-रूपमें थी—'भाई ! आजकल भिखारियोंकी समस्या यहाँ बढ़ गयी है । हमारा देश पहले ही गरीब है । हम सभीको दें तो भिखारीपन बढ़ता है । परंतु इतना अवश्य होना चाहिये कि अगर किसी व्यक्तिको हमें थोड़ा देना हो या कुछ भी न देना हो तो हाथ जोड़कर नम्रतासे कह देना चाहिये । किसी व्यक्तिको डाँट-डपटकर उसका अपमान नहीं करना चाहिये ।'

पर ऐसा कौन करेगा ? जिसमें मानवधर्मका दीपक जल रहा होगा, मानवता जाग्रत् होगी । जिसकी इन्सानियत मर चुकी होगी, वह ऐसा नहीं सोचेगा । मानवधर्म जिसमें जाग्रत् होगा, वह प्रत्येक पदपर विचार करेगा कि जैसे मुझे मीठे शब्द प्रिय लगते हैं, वैसे ही दूसरोंको भी प्रिय लगते हैं । जैसी मुझे भूख लगती है, वैसी ही दूसरोंको लगती है । मैंने खाना खा लिया, पड़ोसी भूखा तो नहीं है ? गाँवमें कोई भूख या अभावसे पीड़ित तो नहीं है ? गाँवमें किसको रोजी नहीं मिली है ?

यह समस्या केवल इस देशकी ही नहीं, सारे संसारकी है । यदि मानवधर्म सुरक्षित रखकर यह समस्या सुलझायी जाय तो शान्तिसे सुलझ सकती है । परंतु मानवधर्मको तिलाञ्जलि दी जायगी और केवल धर्मोंके आश्रित क्रियाकाण्डोंका आडम्बर किया जायगा तो समस्या सुलझेगी नहीं और आखिर साम्यवाद वहाँ आकर खड़ा हो जायगा । धर्मगुरु उस समय समस्याको नीति-धर्मकी दृष्टिसे सुलझानेके बजाय यही कहते रहें कि 'संसार असार है, हमें 'संसारके पचड़ेमें पड़नेसे क्या मतलब ? जो होना होगा, सो होकर ही रहेगा । हमारे पुरुषार्थसे क्या होता है ? आदि ।' तो वे अपनी आँखोंके सामने जीता-जागता प्रलय देखेंगे और तिब्बतमें लामाओंकी जो दुर्दशा हुई, उसीकी पुनरावृत्ति यहाँ होगी ।

एक विदेशी विद्वान्ने तो यहाँतक कहा है कि 'जहाँ एक भी अच्छा संत रहता होगा, वहाँ अनिष्ट पैदा हों तो भी वे टिक नहीं सकते; क्योंकि धर्ममें सभी अनिष्टोंको धोनेकी ताकत है ।' पर हमारे धर्मगुरुओंकी प्रायः यह हालत है कि वे मानवजीवनके किसी भी क्षेत्रमें कोई अनिष्ट होगा तो कदाचित् व्याख्यानमें उसकी सामान्य चर्चा कर देंगे, या उस अनिष्टकी निन्दा कर देंगे, पर उस अनिष्टको दूर करनेके लिये तप-त्यागका कार्यक्रम अपनानेके लिये कहा जायगा तो कहेंगे—'यह हमारा काम नहीं है ।' महात्मा गाँधीजीने जब राजनीतिके क्षेत्रको शुद्ध करनेका कदम उठाया तो उनसे कहा गया—'आप इतने आध्यात्मिक होकर राजनीतिकी गंदगीमें क्यों पड़े ?' उन्होंने सचोट उत्तर दिया—'जहाँ गंदगी है, वहीं सफाई करना आध्यात्मिकका काम है । माँ बच्चेकी टट्टी देखकर दूर भागे, साफ न करे तो कौन करेगा ? धर्ममें तो इतनी शक्ति है कि वह पापी-से-पापी व्यक्तिको पवित्र कर सकता है, तो फिर समाजके अनिष्टों—गंदगीसे वह क्यों घबराता और भागता है ?' सारा संसार डूब रहा हो तो उसे तिराकर बादमें स्वयं पार होना यही तो धर्मगुरुका कर्तव्य है । जो स्वयं मरकर दूसरोंको जिला नहीं सकता, वह अहिंसक वीर साधु कैसे कहा जा सकता है ?

हाँ तो, मैं कह रहा था कि साधुता तो बहुत दूरकी चीज है, पहले मनुष्यता होनी चाहिये; क्योंकि मनुष्यता मोक्षकी नींव है । मकानकी नींव न हो और वृक्षका मूल न हो तो—ये दोनों कैसे टिकेंगे ?

इसीलिये 'मानवधर्म'में दो बातोंको मुख्यता दी गयी । पहली बात यह है कि अपने साथ-साथ दूसरोंकी जिंदगी और जीविकाका भी विचार करो और दूसरी बात—सामूहिक न्याय और सुरक्षाके लिये तैयार रहो । यदि मनुष्य केवल अपने ही जीवनका विचार करे तो वह स्वार्थी कहलायेगा । मुझे एक माताका उदाहरण याद आ रहा है ।

एक माता थी; वह अपने बच्चोंको प्यार तो करती थी, पर अपनी स्वाद-लोलुपताके कारण अच्छा-अच्छा भोजन बच्चोंसे छिपाकर अपने लिये एक डिब्बेमें ताला बंद करके रख देती थी और बच्चे इधर-उधर चले जाते, तब खाती थी । कई दिनोंतक उसका यह क्रम चलता रहा । एक दिन एक बच्चेने देख लिया कि माँ स्वयं अच्छा खाना खा रही है । उसने अपने भाई-बहनोंसे यह बात कह दी । दूसरे बच्चोंने कहा—'यह माता तो है, पर हमें अच्छा खाना नहीं खिलाती ।' अब क्या था ? एक दिन माता कहीं बाहर गयी हुई थी, सब बच्चोंने मिलकर खानेके

डिब्बेका ताला तोड़ डाला और उसमें रक्खा हुआ सारा भोजन साफ़ कर दिया। माता घर आयी और उसने खानेका डिब्बा सँभाला तो खाना नदारद! उसे बच्चोंपर शक हुआ। तुरंत ही पड़ोसियोंके पास जाकर हो-हल्ला मचाया—'हाय! हाय! कलियुग आ गया है। बच्चे कैसे हो गये हैं। माताकी बात नहीं मानते और ताला तोड़कर खाना खा जाते हैं।' पड़ोसिनने कहा— 'तू बच्चोंको अच्छा खाना खिलाती है कभी?' उसने कहा—'इन्हें अच्छा खाना खिलानेसे इनकी आदत जो बिगड़ जायगी।' पड़ोसिनने कहा—'बस रहने दे, तेरी फिलोसाफी! हमें तो इसमें दोष तेरा ही लगता है, बच्चे बेचारे और क्या करते, जब तू उनसे छिपाकर स्वयं अच्छा खाती है और उन्हें नहीं खिलाती?'

जैसे भोजन परोसनेवाला पहले सबको खिलाकर बादमें स्वयं खाता है। वही धर्म माताका है और वही धर्म व्यापारीका समझना चाहिये। व्यापारी समाजको यथायोग्य चीजें परोसनेवाला है। उसके पास संग्रह इसीलिये होता है कि वह समाजमें यथायोग्य वितरण करे और बचे हुएका स्वयं उपभोग करे। इसीलिये व्यापारीको 'महाजन' कहा गया है। पुराने जमानेके महाजन गाँवमें कोई भूखा होता तो उसे खिलाये बिना स्वयं तबतक भोजन नहीं करते थे। व्यापारियोंने तो अपना मानवधर्म भूतकालमें सुरक्षित रक्खा था। वे अपनेको धनका ट्रस्टी समझते थे। जब समाजको जरूरत होती तो उसके चरणोंमें अर्पित कर देते थे।

भालप्रदेशके हडाला गाँवका खीमाशाह देदराणी इसी प्रकारका गुजरातका प्रसिद्ध व्यापारी हो गया है। गुजरातमें जब भयंकर दुष्काल पड़ा और लोग अन्नके दानेके लिये तरस रहे थे, पशु मर रहे थे, उस समय गुजरातके व्यापारियों (शाहों) ने अपना कर्तव्य समझकर सारे गुजरातमें दौरा करके तिथियाँ लिखना शुरू कर दिया। एक महीनेमें सारा काम निपटाना था। एक दिन प्रभातबेलामें वे हडाला गाँवके बाहरसे होकर जा रहे थे कि खीमाशाहने उन्हें देख लिया और पहिचान लिया। वह बड़ी मुश्किलसे बहुत आग्रहपूर्वक उन्हें नाश्ता करनेके बहाने अपने घरपर लाया। स्वस्थ हो जानेके बाद उसने मूल बात छेड़ी और समझ गया कि ये गुजरातके दुष्काल-निवारणके लिये अन्नकी तिथियाँ लिखनेके हेतु दौरा कर रहे हैं। तत्काल अपने पिताजीकी सम्मति लेकर खीमाशाहने तिथियाँ अंकित थीं, उस पन्नेको हाथमें लेकर ३६५ तिथियाँ लिख दीं। शाहोंने समझा 'शायद ये पढ़े-लिखे कम होंगे, भूलसे ऐसा लिख दिया होगा।' उन्होंने स्पष्टीकरण किया तो उनका अनुमान गलत निकला। खीमाशाहने उनकी शंकाका समाधान करनेके लिये अपने अन्नके भंडार तथा सोने-चाँदी एवं जवाहरातके ढेर बताये। लोग आश्चर्यचकित होकर उन्हें धन्यवाद देने लगे। खीमाने कहा—'यह सम्पत्ति मेरी नहीं, समाजकी है, मैंने इसे समाजसे प्राप्त की है। हाँ, मैंने पुरुषार्थ जरूर किया है।'

यह है मानवधर्मका ज्वलन्त उदाहरण!

भारतमें एक दिन मानवधर्मका डंका बजता था। लोगोंको मानवधर्मके पालनका उपदेश नहीं देना पड़ता था। वह उनके जीवनमें ताने-बानेकी तरह सहज ओत-प्रोत था। आज भी इसके नमूने गाँवोंमें मिलते हैं; क्योंकि भारतकी संस्कृतिमें माता, पिता, गुरु और अतिथि—इन चारोंको देवता मानकर चलनेका विधान है। फिर मानवधर्म तो इसमें आ ही जाता है।

अमेरिकासे भारतका प्रवास करनेके लिये एक महिला आयी। वह मेरे पास मिलने आयी तो मैंने उससे पूछा—'आपने भारतमें क्या विशेषता देखी?' उसने कहा—'मुझे यहाँ अतिथिके लिये अपना सब कुछ दे देनेकी वृत्ति दिखायी दी। जहाँ जाती, वहाँ आँखोंमें प्यार झलकता देखा। यूरोप-अमेरिकामें सम्पत्तिकी कमी नहीं है, पर वहाँ ऐसा प्रेम नहीं है। वहाँ कुत्तेके साथ अवश्य प्यार किया जाता है; पर मनुष्यको प्यार नहीं मिलता।' मैंने कहा—'यह तो आपने अच्छाईका पहलू बताया। खटकनेवाली चीज क्या देखी?' उसने कहा—'मैंने सुना था कि हिंदुस्तान गाँधीजीका पुजारी देश है; पर यहाँ मैंने देखा कि लोग खादी बहुत पहनते हैं, पर गाँधीजीके विचारोंपर नहीं चलते। जहाँकी ८५ प्रतिशत गाँवोंमें बसनेवाली जनता बेकार-बेरोजगार हो, वहाँ खादी पहनकर इने-गिने लोग कारोंमें घूमते-फिरें, यह चीज शोभा नहीं देती।'

हाँ तो, अमेरिकन बहिनके मुँहसे ऐसी लज्जाजनक बात सुनकर भी आप धार्मिक होनेका दावा करें और आपके अन्नदाता ग्रामीण भाई भूखों मरें, फटे-हाल रहें, यह आपके मानवधर्मको बहुत बड़ी चुनौती है।

अब मानवधर्मके दूसरे अङ्गपर विचार कर लें। जब कभी न्याय और सुरक्षाके लिये संघर्ष आये, उस समय

टिके रहना बड़ा ही कठिन है। महाकवि सेक्सपियरने एक बार कहा था—'मनुष्य स्वार्थके लिये भी परमार्थ करता है।' इस युक्तिमें कितना तथ्य है। मनुष्यको अपना जीवन सुख-शान्तिपूर्वक बितानेके लिये, अपने जीवनके साथ समाज-जीवनमें सुव्यवस्था लानेके लिये भी 'मानवधर्म'का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। मान लीजिये, आपके गाँवकी एक बहनकी कोई गुंडा छेड़खानी करने, उसपर बलात्कार करके उसका शील हरण करनेको उतारू हो जाता है, उस समय आप यही सोचें कि यह हमारे कुटुम्ब, जाति, समाज, धर्म-सम्प्रदाय या प्रान्तकी तो नहीं है; हमें इससे क्या मतलब! तो कलको आपकी बहन-बेटीपर कहीं ऐसी ही वारदात हो रही होगी; उस समय दूसरे कुटुम्ब, जाति, धर्म-सम्प्रदाय, समाज या प्रान्तका व्यक्ति भी ऐसा ही सोचने लगे तो क्या हाल होगा? फिर तो कहीं भी किसी बहन-बेटीकी इजत सहीसलामत नहीं रह सकेगी। ऐसी ही बात समाजमें अन्यायियों, अत्याचारियों, शोषकों या अनीतिमानोंद्वारा प्रचलित अन्याय, अत्याचार, शोषण, अनीति, धोखा, बेईमानी आदि अनिष्टोंके समय आपके और दूसरे कुटुम्ब, जाति, समाज, धर्म-सम्प्रदाय या प्रान्तवालोंको सोचनी है। यदि उस समय सबमें मानवधर्मका भान हो तो वे उक्त अनिष्टोंसे अनिष्ट-पीड़ितोंकी सुरक्षा किये बिना रह ही नहीं सकते। पर हम ऐसे मौकोंपर क्या सोचते हैं—इसके सिरपर चोटी नहीं, यह हमारा नहीं; या इसके मुँहपर दाढ़ी नहीं हो तो वह पराया है। अथवा नमाज पढ़ता हो तो हमारा है या तिलक लगाता हो तो हमारा है! यह सोचनेका सही ढंग नहीं है। कोई भी, कहीं भी, किसी देश-वेष और प्रान्तका क्यों न हो यदि वह मानव विपत्तिमें पड़ा है तो हमें मानवताके नाते उस समय धर्म, जाति, देश, प्रान्तके लेवलोंसे परे होकर उसकी सहायता करनेको कूद पड़ना चाहिये। ऐसे मौकेपर जीवनके असली मूल्योंको निभाते हुए जीना ही मर्दानगी है और मानवधर्मका आचरण है।

हिंदुस्तान और पाकिस्तानके विभाजनके समय हमारे मानवधर्मकी कसौटी हुई। पर हम उसमें असफल हुए; क्योंकि हिंदुओंकी बहन-बेटियोंके शीलपर पाकिस्तानके कुछ गुंडोंने आक्रमण किया तो हिंदूलोग या मुस्लिमलोग तटस्थकी तरह कायर होकर देखते रह गये। उन्होंने इन्सानियतका गला अपने ही हाथोंसे घोंट डाला।

सौराष्ट्रका एक प्रसंग है। एक महिला एक हाथमें अपने बच्चेको लिये हुए और दूसरे हाथमें सामानकी पोटली लेकर रेलगाड़ीसे उतरी। उसका पति पीछे-पीछे चला आ रहा था। सहसा एक अंग्रेज उस युवतीके सौन्दर्यको देखकर मोहित हो गया। शायद वह शराबके नशेमें था। वह तुरंत डिब्बेमेंसे उतरा और एक हाथमें रिवाल्वर तानते हुए उसने दूसरे हाथसे उक्त बहनका हाथ पकड़ लिया और खींचकर उसे ले जाने लगा।

दिनदहाड़े यह दुष्कार्य हो रहा था। प्लेटफार्मपर सैकड़ों आदमी खड़े थे; पर किसीकी हिम्मत नहीं हुई कि इस अंग्रेजके फंदेसे युवतीको छुड़ाये और उसे कुछ कहे। सबको अपने प्राणोंकी चिन्ता थी। उस बहिनका पति, जो शरीरमें तगड़ा था, वह भी यह सब अपनी आँखोंसे देखते हुए भी चूँ न कर सका। बहिन 'बचाओ—बचाओ' चिल्ला रही थी।

इतनेमें ही दूसरी गाड़ीमेंसे एक भाईने यह सब देखा और वह मर्दका बच्चा अपना माल-असबाब ज्यों-का-त्यों छोड़कर दौड़ पड़ा और एक ही झटकेमें उस बहिनको अंग्रेजके हाथसे छुड़ा लिया। उस भाईने भी अपनी जेबमेंसे तमंचा निकाला। अंग्रेज सिर नीचे किये तमंचा ताने खड़ा था। उसने उसे खूब फटकारा। अंग्रेज चला गया। बहन प्रसन्न हुई, हृदयसे आशीर्वाद देने लगी। इतनेमें प्लेटफार्मपर खड़े तमाशबीन लोग उस वीरको धन्यवाद देने आये। पर उसने उन्हें साफ-साफ सुना दिया—'आप धन्यवाद देने आये हैं। अबतक कहाँ गये थे। मैं ऐसे नामर्दोंका धन्यवाद नहीं चाहता।'

सहसा वह बहिनके पतिकी ओर मुड़ा और एक थप्पड़ उसके गालपर जमाया। कहा—'अरे नामर्द! जब तू अपनी औरतकी रक्षा नहीं कर सकता तो तूने शादी क्यों की? तेरा शादी करनेका अधिकार नहीं। तेरा कर्त्तव्य था कि तू इसके सुख-दुःखमें, परेशानीमें, आफतमें साथ रहता।' युवक पति झेंप गया और शर्मके मारे नीचा मुँह किये खड़ा रहा।

इतनेमें तो वह अंग्रेज पुलिस चौकीपर पहुँचा और उसने रिपोर्ट लिखायी कि 'मेरा खून करनेका उक्त भाईका इरादा था।' पुलिस आयी और बिना कुछ कहे-सुने स्त्रीको बचानेवाले उस भाईको गिरफ्तार कर लिया। उसने पुलिससे कहा—'मेरे बयान तो सुनो, बादमें मेरा अपराध हो तो

पकड़ना ।' पर पुलिसवालोंने कहा—'तुम्हारा कोई गवाह है, इस किस्सेमें ?' प्रत्यक्षदर्शी साक्षी तो प्लेटफार्मपर बहुत-से खड़े थे और धन्यवाद देने भी आये थे । परंतु जब उस जवाँमर्द भाईने गवाहीके लिये उनकी ओर नजर दौड़ायी तो सभी छूमंतर हो गये थे, यहाँतक कि धन्यवाद देनेवाले भी गायब थे । आखिरकार वह भाई पुलिसके पंजेसे छूट तो गये; पर उनके मनमें कसक रह गयी और मेरे पू० गुरुदेवके पास आकर कहने लगे कि आप धर्म और अध्यात्मकी लम्बी-चौड़ी बातें कहने और उपदेश करनेके बजाय सर्वप्रथम मानव-धर्मकी बात अपने अनुयायियोंसे कहिये और उनमें मर्दानगी भरिये ।

जहाँ मानवधर्म विदा हो जाता है, वहाँ तो हैवानियत या शैतानियत आकर डेरा डाल देती है ।

इसीलिये आज मानवधर्मके पालनकी स्वार्थ और परार्थ दोनों दृष्टियोंसे अत्यन्त आवश्यकता है ।

मैंने आपके सामने मानवधर्मके दो पहलू रक्खे—(१) पहला पहलू है खुद जीते हुए दूसरोंको जिलाना । अपने पास जो कुछ भी है, उसमें दूसरेका भी हिस्सा है । जैसे एक माँको यह कहना नहीं पड़ता कि तेरे बच्चेको भूख लगी है, दूध पिला। वह तो स्वयं स्फुरणासे बच्चेकी भूख-प्यास मिटाती है । वैसे ही साधनसम्पन्न व्यक्ति भी माताकी तरह स्वयं स्फुरणासे समाजकी भूख-प्यास मिटायें । समाजकी जिंदगी टिकाये रखनेका प्रयत्न करें । (२)दूसरा पहलू है—न्याय और सुरक्षाके लिये जब संघर्षका अवसर आये तब मानव-मूल्योंको सुरक्षित रखते हुए अपने सुसंस्कारवश हम स्वयं तैयार हों । यानी मृत्युका भय छोड़कर भी इन दोनों तत्त्वोंकी सुरक्षा करें ।

ये दोनों पहलू मिलनेसे मानवधर्म सर्वाङ्गपूर्ण बनता है। यदि यह सर्वप्रथम जीवनमें नहीं आया तो धर्म, अध्यात्म आदि बिना एकके शून्य-जैसे हैं । दस बिन्दियाँ लगी हों, किंतु उनके पहले एक न हो तो उनकी कोई कीमत नहीं होती । वैसे ही मानवधर्म न हो तो अध्यात्मकी बातें शून्यवत् हो जाती हैं ।

आशा है, आप इस विषयपर गहराईसे सोचेंगे और मानवधर्मको अपने जीवनमें चरितार्थ करनेका प्रयत्न करेंगे।

चञ्चल मनके प्रति

रे मन ! चञ्चल तू धोखा मत दे ! ऐ मेरे साथी ! तू वैरी मत हो ।

'प्रभु-स्मरणको अवकाश नहीं'—यह एक बहाना है । क्या हरि-चिन्तनको भी निश्चित समय चाहिये ! नहीं-नहीं, यह तो हर-पहर, हर-घड़ी, हर-क्षणका काम है ।

क्या मुस्कराता हुआ सुमन, चुभता हुआ काँटा, जलता हुआ दीपक और पड़ता हुआ काजल—हरि-चिन्तनका सहायक नहीं है ? क्या वह कुमारी चक्की पीसते समय भी ध्यानस्थ नहीं रहती थी ? व्रजबालाओंका तो सारा गृह-कार्य श्रीकृष्ण-चिन्तनके साथ ही चलता था ।

क्या समय मना करता है कि खाते समय भगवान्‌की याद न करो, या चलते-फिरते हरिकी याद न आ जाय ?

मेरे प्यारे मन ! तू बहाना मत कर । मुझे हर समय हरि-चिन्तनमें मदद दे । मेरे सहायक मन ! सरिताकी तरल तरङ्गोंमें, उठते बादलोंमें, तपते तपनमें और राकापतिकी शीतल किरणोंमें—तू मुझे मेरे प्रभुकी झाँकी करा ।

रे मन ! तू मेरा सहायक बन जा ।

—'दुर्गेश'

वैज्ञानिक प्रगति और धर्म

(लेखक——पं० श्रीरामप्रतापजी शास्त्री, नव्य-व्याकरणाचार्य)

विश्वके समस्त प्राणी सुख चाहते हैं तथा इसके लिये वे यथासम्भव प्रयत्न करते भी देखे जाते हैं। मनुष्यके प्रबल परिश्रमने ही विज्ञानके द्वारा दुःखको कम करनेकी बहुत-सी विधियाँ हमारे समक्ष उपस्थित की हैं। विज्ञानने बहुत सीमातक दुःखोंके दूरीकरणके प्रयासमें अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया है, जिसके लिये हम बिना कृतज्ञता-ज्ञापनके नहीं रह सकते। परंतु दुःख है कि विज्ञानसे संसारका दुःख कम न हुआ। जहाँ विज्ञानने सुविधा-हेतु द्रुतगामी अनेकानेक यन्त्र बनाये, वायुयान बनाये, मनुष्यको अन्यान्य भौतिक उपकरणोंसे सुविधाएँ प्रदान कीं, वहीं उसने परस्पर देशोंके शस्त्रास्त्रोंके निर्माण और परीक्षणकी होड़के बढ़ते हुए दौरके द्वारा विश्वको विनाशके द्वारपर ला खड़ा किया है।

आज विज्ञानके नये-नये आविष्कारोंसे मानव विलासिताकी ओर अग्रसर हो रहा है। नवीन यन्त्रोंके आविष्कारके परिणामस्वरूप ही वह अकर्मण्य, आलसी बनता जा रहा है। वह पूर्वकालकी भाँति अब स्वस्थ नहीं है। यहाँतक कि आजके युवकोंको थोड़ी दूरके लिये पैदल चलना भी कठिन हो गया है। इसीको आजकल प्रगतिकी संज्ञा दी जा रही है। परंतु यह 'प्रगति' नहीं। प्रगति जाननेके लिये मनुष्यको सर्वप्रथम अपने जीवनका लक्ष्य निश्चित करना होगा। जबतक लक्ष्य निश्चित नहीं होगा कि उसे कहाँ पहुँचना है, तबतक अथक चलकर भी वह कहाँ पहुँचेगा ? यह वह भी नहीं बता सकता।

मनमानी बुद्धिके अनुसार बिना किसी सुनिश्चित ध्येयके समयके प्रवाहमें बहते जाना प्रगति न होकर विनाशके गर्तमें पहुँचानेवाली अधोगति ही हो सकती है। यह तो मानवका स्वभाव है कि तत्क्षण सुखकर प्रतीत होनेवाली वस्तुकी ओर उसका आकर्षण हुआ करता है। परंतु ऐसी परिस्थितिमें हमें सुविचार करना चाहिये कि उधर हमारा श्रेय कहाँतक सम्भव है और तभी इस विचारके लिये एक आधारशिलाकी आवश्यकता आ पड़ती है, वही आधार-शिला मानवके लिये सुविचारित धर्मशास्त्र है। जिसके आधारपर मानव अनुचित रूपमें होनेवाले स्वाभाविक आकर्षणसे अपना नियन्त्रणकर निश्चित ध्येयके अनुसार अपने गन्तव्यकी ओर जब प्रवृत्त होता है, तभी वस्तुतः 'प्रगति'का प्रारम्भ कहा जा सकता है।

अतएव सबसे पहले हमें यह देखना है कि अनादिकालसे प्रारम्भ हमारी इस जीवनयात्राका गन्तव्य स्थान कौन-सा है ? साथ ही यह भी सोचना है कि वह ऐसा हो जहाँ पहुँचकर हमें पूर्ण विश्राम मिल सके; फिर कभी वहाँसे हटना न पड़े। ऐसा स्थान भगवान्के शब्दोंमें भगवान् ही हैं। भगवान् कहते हैं मुझको (भगवान्को) प्राप्त होनेपर वे परम सिद्ध महात्मा फिर इस अनित्य तथा दुःखालय पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

भगवान् श्रीकृष्णके शब्दोंमें हमारा यही कर्तव्य है कि ——इस अनित्य और सुखरहित लोकको प्राप्त होकर हम भगवान्का भजन करें।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

ईश्वर, सत्-चित्-आनन्द=सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः 'सत्' उसका पहला अंश है। संसारकी प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्वके लिये उस 'सत्' रूपी परमात्माकी अपेक्षा करती है। किसीके विकासकी सच्ची रूप-रेखा भी तो यही होती है कि उसका 'सत्' (परमात्मा) के लिये उपयोग हो। ऐसे 'सदुपयोग' के बलपर ही भौतिक विज्ञान सर्वदा सुस्थिर रह सकता है, अन्यथा उसका वह क्षण दूर नहीं, जब कि वह अपने जन्मदाता मानवको ध्वंस करके स्वयं ही नष्ट हो जाय। विज्ञानका स्थायित्व इसी 'सत्'—अध्यात्मवादके संरक्षण और नियन्त्रणपर निर्भर है। नहीं तो; उसका कार्य केवल पाशविक बुभुक्षाको तीव्र बनाकर आन्तरिक संघर्षको बढ़ावा देनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

किसी समय जब मनुष्यने वेदों एवं तन्मूलक शास्त्रोंको अपनी आत्यन्तिक उन्नतिका एकमात्र आधार मानकर व्यष्टि-जीवनसे लेकर समष्टि-जीवन तककी प्रगतिका भार धर्मसे कर रक्खा था, तब मनुष्यके जीवनके सर्वाङ्गोंमें सुन्दर सामञ्जस्यकी स्थापना, आत्माके लक्ष्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वरूपकी प्राप्तिको ही मुख्य प्रयोजन मानकर विश्वमें मानव-जीवन सुख-शान्तिमय-रूपमें सुप्रतिष्ठित था और विश्व-कल्याणकी कामनासे प्रेरित होकर ही उसका सहज उद्घोष था—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिः ।

× × × ×

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

आपके समक्ष दो कोटियाँ हैं—एक पशुता और दूसरी मानवता । मानवमें यदि मानवता सुप्रतिष्ठित है तो वह पशुतासे ऊपर अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और यही उसकी वास्तविक 'प्रगति' है । शास्त्रोंके आधारपर पशुतासे मानवताको उच्चतम स्थान प्राप्त करनेमें एक ही विशेष हेतु है, जिसे 'धर्म' कहते हैं । आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि तो मनुष्यों और पशुओंमें समान रूपसे विद्यमान हैं । मानवमें एक 'धर्म' ही ऐसा है जो पशुओंमें नहीं । यदि मनुष्य धर्मसे हीन हो गये तो वे पशुओंके समान हैं—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

मनुष्यके लिये धर्म ही सर्वस्व माना गया है और धर्मके द्वारा ही वह ऐहिक, पारलौकिक समस्त श्रेयकी प्राप्ति कर परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है । जब उसकी दृष्टिमें वेद-शास्त्रद्वारा निर्धारित स्वकर्म—स्वधर्मका पालन एवं रक्षण ही सर्वोच्च कर्तव्य हो—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्म—स्वधर्मकी प्रमुखतामें यही एक निष्कर्ष है कि समस्त जगत्के समस्त क्षेत्रोंमें अपने क्रिया-कलापोंको शास्त्रीय नियन्त्रणमें रखनेका पूर्ण अभ्यास कर हम एक ही 'सत्'—परमात्माकी उपलब्धि करें । जिसके लिये हमें यह ध्यान रहे कि समस्त प्राणिवर्ग, भगवान्का विराट् विश्वमय शरीर हैं, इसके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गको उन्होंने ही विशिष्टता प्रदान की है तथा पृथक्-पृथक् कर्माधिकार दिये हैं और इस विभिन्नताके मध्य नित्य अभिन्न एकत्वको ही उन्होंने प्रमुखता प्रदान की है । विश्वरूपमें उस एक परमात्माकी अभिव्यक्ति समझकर अपने-अपने कर्मोंद्वारा उन सर्वान्तर्यामी सर्वरूप भगवान्की सेवा करना है । अतएव मनुने आजसे बहुत समय पूर्व धर्मकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की थी—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धृति, क्षमा, मनका निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियदमन, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।*

हम देखें कि आज इन्हीं गुणोंकी कमीके कारण समय विकराल रूप धारण कर रहा है । यदि हम धर्मको प्रत्येक कार्यमें साथ लेकर चलें तो शनैः-शनैः ये सब उपद्रव दूर हो जायँ और मानव इन्हीं सद्गुणोंको धारण करता हुआ, स्वकर्म—स्वधर्मका पालन करता हुआ, विश्व-कल्याणकी भावनाको साथ लेकर अग्रसर हो सके । अतएव इस दिशामें हमारा और आपका, सभीका प्रयत्न तीव्र संवेगके साथ होना अनिवार्य है; क्योंकि जबतक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा नहीं आया, इन्द्रियोंकी शक्ति बनी हुई है, आयुके दिन शेष हैं तभीतक बुद्धिमान् मनुष्यको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयास कर लेना चाहिये । घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेसे क्या लाभ होगा—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

—श्रीभर्तृहरि

व्यवहार

अपने लिये चाहते सबसे तुम, जो कुछ, जैसा व्यवहार ।
वैसा ही, तुम करो सभीसे, सदा सजग रहकर व्यवहार ॥
विनय-मधुरभाषण-सुख-हितमय सत्य करो, सबसे व्यवहार ।
बदलेमें तुम कई गुना पाओगे, वैसा ही व्यवहार ॥
प्रभुको सबमें देख, करो तुम सेवामय सबसे व्यवहार ।
सेवारूप बने जीवनके एक-एक पलका व्यवहार ॥

---

* धर्मके इन दस लक्षणोंकी व्याख्या 'मानवधर्म' नामक पुस्तिकामें गीताप्रेससे प्रकाशित है ।

मैं क्या बनूँ ?

(लेखक—डा० श्रीतीर्थराजजी शर्मा एम्०काम०, पी-एच्० डी०)

देश स्वतन्त्र हुआ और उसीके साथ शासकीय ढाँचा बदल गया । नयी भावनाएँ एवं नया उत्साह दिखलायी पड़ने लगा । प्रजातन्त्रपर आधारित देशका आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ढाँचा तैयार होने लगा । सभी देशवासी एक ओर स्वातन्त्र्यके आनन्दकी अनुभूति करने लगे तो दूसरी ओर अपने कर्तव्यों तथा अधिकारोंको समझनेकी चेष्टा करने लगे । मनुष्योंके दृष्टिकोणमें परिवर्तन हो गया और प्रत्येक मनुष्य अपने-आपको विदेशी भारसे मुक्त समझकर नवजीवन एवं नवीन आदर्शोंकी प्राप्तिकी रूपरेखा तैयार करने लगा ।

यह हुआ परिवर्तन । साथ-ही-साथ राष्ट्रीय सरकार भी नये स्वाधीन एवं नये आदर्शोंका आश्रय लेकर देश-निर्माणके कार्यमें जुट गयी । वह ऋषि-महर्षियोंके इस पुराने देशकी छिन्न-विच्छिन्न स्थितिको देखकर यह निश्चय करने लगी कि किस प्रकार भारतवर्ष अपने प्राचीन गौरवको प्राप्त कर सके तथा किस प्रकार संसारमें अपना प्राचीन स्थान प्राप्त कर सके ? आदर्श रक्खे गये एवं योजनाएँ तैयार की गयीं, ताकि जीवनके आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रत्येक क्षेत्रमें विकास-कार्य किया जा सके । प्रथम योजना तैयार हुई । उसी प्रकार द्वितीय योजना तैयार हुई एवं पूरे पाँच वर्षतक कार्य करनेके पश्चात् वह सन् १९६१में पूर्ण हुई । अब तृतीय पञ्चवर्षीय योजना चल रही है और निश्चित क्षेत्रोंमें विकास-कार्य हो रहा है । यह रहा मोटे तौरसे राष्ट्रीय प्रक्रियाका चक्र, जो चल रहा है और चलता रहेगा ।

पर मैं क्या बनूँ ? यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है । राष्ट्रकी रामलीला हो रही है । यों तो प्रतिवर्ष रामलीला देशभरमें स्थान-स्थानपर होती है और दशहराके दिन रावण भी मारा जाता है । सभी पात्र अपना-अपना कार्य भी करते हैं, पर इससे कहीं भिन्न राष्ट्रकी रामलीला है । इस बड़ी रामलीलामें कौन क्या बने ? यह प्रश्न बड़ा सरल दिखलायी पड़ता है । परंतु है अत्यन्त कठिन । मैं किसीकी क्यों सोचूँ । मेरा तो यही प्रश्न है कि मैं क्या बनूँ ?

हाँ, उत्तरकी तलाश करना चाहता हूँ और प्रयत्न भी कर रहा हूँ, पर अभी समाधान नहीं हो पा रहा है कि मैं क्या कार्य करूँ । मैं रामलीलामें किस पात्रका स्थान ग्रहण करूँ और उसी प्रकार जीवनका कर्तव्य निर्धारित करता हुआ राष्ट्रनिर्माणके कार्यमें आवश्यक योग दे सकूँ ।

उत्तर मिला,—'मैं राम बनूँ ।' बात बड़ी सीधी एवं सरल है । पर राम बनूँ कैसे ? यह बात कठिन है । हृदय कहता है कि राम-जैसे गुणोंकी मुझमें बिल्कुल कमी है । जब वे गुण नहीं, वह स्वभाव नहीं, वह पराक्रम नहीं, वह देश-भक्ति नहीं, तो फिर राम कैसे बनूँ ? रामको मर्यादा-पुरुषोत्तम कहते हैं । वे अवतार माने जाते हैं । तुलसीदासजीके शब्दोंमें वे—

तात राम नहिं नर भूपाला । भुवनेस्वर कालहु कर काला ॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता । ब्यापक अजित अनादि अनंता ॥

यह कैसे भी सम्भव नहीं है कि मैं राम बनूँ । क्या मैं शरणागतकी रक्षा कर सकता हूँ ? क्या शरणागत विभीषणको, जो रावणका भाई था, एकाएक अपनानेकी क्षमता कभी मुझमें आ सकती है ? उत्तर है, कदापि नहीं । मुझे तो यही बात याद आती है कि—'कहाँ राम राम, कहाँ टाँय टाँय ।'

राम जनसेवी थे । जनहित-जनताकी सेवा करनेके लिये एवं पृथ्वीको राक्षसोंके भारसे मुक्त करनेके लिये उनका अवतार हुआ था । उनको 'गो सुर धेनु विप्र हितकारी । कृपासिंधु मानुष तनु धारी ॥' कहा गया है । इस दृष्टिकोणसे भी मैं अपने आपको शक्तिहीन मानता हूँ । जनताकी सेवा आजके युगमें प्रत्येक प्राणीका परम कर्तव्य होना चाहिये । मुझे भी वही मार्ग अपनाना चाहिये । पर कैसे ? देशमें अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो जनसेवाका नारा बुलन्द करते हैं और उसके साथ धोखा करते हैं । क्या शासनमें, और क्या बाहर—सर्वत्र, ऐसे ही विचारोंका बोलबाला है । उन्हें देखकर उनपर क्रोध आनेके स्थानपर तरस आता है । जनता-जनार्दनकी सेवाका वचन देनेवाले अपने-आपको धोखा देते हैं और चरित्र-भ्रष्ट हो जाते हैं । नहीं, नहीं, मुझसे ऐसा नहीं हो सकता । फिर मैं क्या करूँ ? यदि ऊँची बातें न करूँ तो संसारमें कोई पूछनेवाला नहीं, और यदि किसीके विरुद्ध जबान खोलूँ तो फिर खैर नहीं । पता चलता है कि इस रामलीलाका स्वरूप ही भिन्न हो चला है । मायाका राम बनकर कार्य किया जाय । पर इससे तो आत्मिक शान्ति नहीं मिल सकती ।

आखिर क्या हो ? हाँ, उत्तर यही सरल-सा प्रतीत होता है कि मैं राम नहीं बन सकता। तो फिर क्या ? चलो कुछ और सोचा जाय।

पर फिर क्या बनूँ ? अच्छा लक्ष्मण बना जाय। विचार वही कि क्या लक्ष्मण-जैसे लक्षण अपने अंदर हैं। लक्ष्मण रामके सेवक और एक बड़े राष्ट्रभक्त थे। तुलसीदासजीने यही तो कहा था—

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

लक्ष्मण गुणवान् थे। श्रीराम तथा सीता बन जानेकी तैयारी कर रहे थे। लक्ष्मण स्वयं वन जानेकी इच्छा प्रकट करते हुए रामके सम्मुख व्याकुल हो जाते हैं और बड़ी कठिनाईके साथ वे भगवान् रामको उन्हें साथ ले चलनेके लिये राजी कर पाते हैं। डरते-डरते माता सुमित्रासे आज्ञा लेते हैं और सुमित्रा लक्ष्मणजीकी भावनाका स्वागत करती हुई कहती है—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥

ऐसी वे माता और लक्ष्मण-जैसे पुत्र। लक्ष्मण वीर थे, गुणवान् थे, जनसेवक थे और वे चौदह बर्षतक भगवान् श्रीरामकी सेवामें निरन्तर रहकर जनता-जनार्दनकी सेवा करते रहे। माता सुमित्राकी उनको यादतक नहीं आयी। अपनी पत्नी उर्मिलाके विषयमें उन्होंने कभी भी विचार नहीं किया। तुलसीदासजी भी रामायणमें उर्मिलाके लिये अधिक नहीं लिख पाये। यही तो कि—

'गए लखनु जहँ जानकिनाथू।'

कुछ भी सही, लक्ष्मण-जैसा पात्र रामायणमें अपने ढंगका अनूठा ही है। जिन्होंने बराबर रामकी सेवा की। राम सोते हैं, लक्ष्मण जगकर पहरा देते हैं। श्रीरामचन्द्रके पीछे सीता चलती हैं, लक्ष्मणजी उनकी रखवाली करते हुए पीछे-पीछे चलते हैं। कहाँ है वह त्याग और तपस्याकी भावना ? क्या करूँ ? लक्ष्मणके सामने मैं पासंग भी नहीं। राष्ट्रकी सेवामें किस प्रकार सब कुछ छोड़कर आगे बढ़ूँ ? मैं अपने-आपको बहुत-सी बातोंमें तुच्छ पाता हूँ। ऐसी बात नहीं कि मैं स्वयंके विषयमें सोचता हूँ। सोचता हूँ बराबर, पर पाता यही हूँ कि अपने अंदर वे गुण नहीं हैं और हों भी कैसे ? फिर क्या बनूँ। अच्छा तो फिर कुछ और सोचा जाय।

तो फिर भरत बनना ठीक है। तुलसीदासजीके अनुसार भरतजी—भरत नाम देना इसलिये हुआ कि भरत विश्वका पालन करनेवाले थे।

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

भरतका सेवा-भाव और उनकी तपस्वी-वृत्तिसे कौन परिचित नहीं है ? जब चौदह वर्षतक भगवान् राम वनमें निवास करते हैं तो भरत उसी प्रकार निरन्तर तपस्वी-वेषमें अयोध्या पुरीसे अलग कुटी बनाकर रहते हैं और भगवान् श्रीरामकी चरण-पादुकाको अयोध्याके सिंहासनपर विराजित कर देते हैं। सदैव यही प्रतीक्षा करते हैं कि वह कौन-सा दिन आयेगा जब भगवान् राम लौटकर अयोध्या आयेंगे और नर-नारियोंको शान्ति प्रदान करेंगे। जब संजीवनी ले जाते हुए हनुमान्‌जीसे अयोध्याके निकट भरतका मिलन होता है तो भरतजी यही कहते हैं कि—

अहह दैव मैं कत जग जायउँ। प्रभु के एकहु काज न आयउँ॥

पूर्ण त्याग तथा राम-सेवामय जीवन होकर भी भरतजीका अपनेको ऐसा मानना उनके परम शीलका द्योतक तथा सबके लिये अनुकरणीय है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कई बार यह कहा है कि भरतको राजमद नहीं हो सकता। आजके संसारमें पहले तो वह सेवाभाव नहीं मिलता और दूसरे ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं दीखता जिसमें मद न हो। जब मैं अपने-आपको इस दृष्टिसे देखता हूँ तो पता चलता है कि मैं भरत-जैसा तपस्वी और सेवक नहीं बन सकता और यही कहकर चुप होना पड़ता है कि मेरे लिये भरत बनना बिल्कुल ही असम्भव है। फिर क्या किया जाय ?

तो फिर शत्रुघ्न बनूँ ? लेकिन—

जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥

इस प्रकार शत्रुघ्न अपने शत्रुओंको नाश करनेवाले थे और श्रीरामके मूक सेवक थे। उनके गुण और शीलके अनुसार कठिन प्रतीत होता है कि मैं शत्रुघ्न बन सकूँ। चारों भाइयोंमें छोटे और सबके सेवक शत्रुघ्न एक ऐसे महापुरुष थे कि जिनकी उपमा मिलनी कठिन है। मुझे अपनी ओर देखकर शत्रुघ्न-जैसे पात्रका स्थान ग्रहण करना अत्यन्त कठिन कार्य प्रतीत होता है।

तो फिर क्या बनूँ ? यदि सीता बनता हूँ तो सीता-जैसी नारी आजके संसारमें नहीं मिलती है। जिनके नित्य सुमिरन करनेसे आजके मनुष्य अपने-आपको शुद्ध मानते हैं। क्यों-

तक लंकामें निरन्तर रहते हुए भी सीता भगवान् श्रीरामका पुण्य स्मरण करती रहीं और हनुमान्‌जीके शब्दोंमें—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट ॥

इस प्रकार नित्य-निरन्तर भगवान् श्रीरामका ध्यान रखना और किसी भी प्रकार विचलित न होना माता सीताका ही कार्य था । यह मुझसे सम्भव नहीं । आजके संसारमें कोई भी मनुष्य विचलित हुए बिना नहीं रह सकता है । तो फिर मैं क्या करूँ ?—

अच्छा तो मैं हनुमान् बनूँ । लेकिन हनुमान्‌जीकी-सी निःस्वार्थ सेवा कहीं दिखलायी नहीं पड़ती । सीताजीकी खबर लानेमें, लक्ष्मणजीकी मूर्छा जगानेमें, राम-लक्ष्मणको अहिरावणके चंगुलसे निकालनेमें एवं राम-रावण-युद्धमें रामको विजयी बनानेमें जो योग हनुमान्‌जीने दिया, वह किसी औरने नहीं दिया । इसी कारण सारे भारतमें हनुमान्‌जीके बल, पराक्रम और गुणोंकी पूजा होती है । मैं हनुमान्‌जी नहीं बन सकता; क्योंकि मुझमें वे गुण नहीं जो हनुमान्‌जीमें थे । अतः अब 'बुद्धिहीन तनु जान के, सुमिरौं पवन कुमार ।'—कहकर ही चुप हो जाना पड़ता है । इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग मेरे सामने नहीं है ।

तो फिर क्या रावण बनूँ ? लेकिन रावण-जैसा राजनीतिज्ञ एवं विद्वान् आजके संसारमें नहीं मिलता । कहा जाता है कि स्वयं भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणको राजनीति सीखनेके लिये रावणके पास भेजा था । विद्वान् होनेके साथ-साथ वह अपार दूरदर्शी था । शूर्पणखासे खर-दूषणके मरनेका समाचार सुनकर उसने यह निश्चय कर लिया था कि भगवान्‌का अवतार हो चुका और उनसे मुझे द्वेष करना चाहिये । जिससे मैं शीघ्र ही अपना कल्याण कर सकूँ । उसने कहा था—

खर दूषन मो सम बलवंता । तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता ॥

उसने यह भी कहा था—

सुररंजन भंजन महि भारा । जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ॥
तौ मैं जाइ बैर हठि करिहउँ । प्रभु सर प्रान तजें भव तरिहउँ ॥

इस प्रकार रावण पहलेसे ही समझ गया था कि भगवान् रामका अवतार हो गया है और उनसे वैर बढ़ाकर मुझे अपना तथा अपने परिवारका उद्धार करना चाहिये । रावण ऐसा महारथी था कि उसने श्रीरामकी सम्पूर्ण सेनाके छक्के छुड़ा दिये और स्वयं रामको भी उसे मारनेमें विभीषणकी सहायता लेनी पड़ी । अतः यह सम्भव नहीं दीखता कि मैं रावण-जैसा राक्षस भी बन सकूँ ।

तब फिर राष्ट्रकी रामलीलामें क्या बनूँ ? मेरे लिये बड़ा या छोटा कोई ऐसा पात्र नहीं, जिसका अनुकरण करके मैं इस रामलीलामें अपना सहयोग दे सकूँ । मेरे प्रश्नका हल अभी नहीं मिल रहा है । अच्छा कोई छोटा पात्र देखूँ और उसका अनुकरण करना सीखूँ । तो क्या अहल्या बनूँ जो कि भगवान् रामके चरणोंकी रजको स्पर्श करके तर गयी थी ।

मुनि तिय तरी लगत पग धूरी । कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥

पर मुझमें ऐसे गुण दिखलायी नहीं पड़ते कि गौतमकी स्त्री अहल्याकी तरह कभी राम आकर अपने चरणोंकी रजसे मेरा उद्धार करेंगे । फिर क्या हो, इस समस्याका समाधान नहीं हो पाया ।

फिर क्या किया जाय । कुछ कार्य नहीं किया जायगा तो मनुष्यका जीवन सार्थक नहीं होगा । साथ ही रामायणमें भी कोई ऐसा छोटा-सा पात्र दिखलायी नहीं पड़ता; जिसका स्थान लेकर जीवन सफल किया जा सके । विचार आता है कि मैं गिलहरीका स्थान ग्रहण करूँ; जो समुद्र पार होते समय पुल बनानेमें बराबर सहायता करती रही । बात ऐसी है कि भगवान् राम बंदरोंके सहित समुद्र-पार जानेकी तैयारी कर रहे थे और नल, नील, हनुमान् इत्यादि बंदर बड़े-बड़े पत्थर ला-लाकर पुल बना रहे थे । उसी समय एक गिलहरी इस राष्ट्र-सेवाके पुनीत कार्यमें अपना योग देना चाहती है और पुल बनानेमें सहायता करती है । वह समुद्रके जलमें अपना शरीर भिगो लेती है और किनारेकी धूलमें शरीर लपेटकर फिर समुद्रमें जाकर नहा लेती है । यह गिलहरी पत्थर लानेके योग्य नहीं थी, लेकिन धूल लाकर पुल बनवानेके कार्यमें हाथ बढ़ाती है । यह था उसका सेवाभाव और उसकी कर्तव्यनिष्ठा । इससे यह स्पष्ट होता है कि रामलीलाके कार्यमें छोटेसे जीवने भी अपनी शक्तिके अनुसार सहयोग किया था । इस गिलहरीका उदाहरण यह बतलाता है कि उस रामलीलामें प्रत्येक प्राणीने बड़ी ऊँची भावना और निष्ठाके साथ कार्य किया था । तो फिर क्या मैं गिलहरी बनूँ । किंतु यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि मुझमें गिलहरी-जैसी लगनकी कमी दिखलायी पड़ती है । फिर क्या किया जाय ?

तो क्या मेरा प्रश्न अधूरा ही रहेगा ? और जब प्रश्नका उत्तर नहीं तो फिर राष्ट्रकार्य कैसा ? जिस भारतभूमिमें

जन्म लिया, उसमें रहकर क्या मैं उसकी कुछ सेवा नहीं कर सकूँगा ! जनता-जनार्दनकी सेवाकी दुहाई लगानेवाले सैकड़ों नेता, राजनीतिज्ञ और भद्रपुरुष अपने आस-पास दिखायी पड़ते हैं। वे किसी भावनाके सहारे कार्य कर रहे हैं अथवा उनकी सेवाके पीछे उनका स्वार्थ निहित है। यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ और समझनेकी बात भी नहीं है। फिर मैं समझूँ ही क्यों ? मेरा तो वही प्रश्न है कि 'मैं क्या बनूँ ?' जिससे कि अपने जीवनका सबसे बड़े ध्येय ("Leave the circumstances better than I found them.") की पूर्ति इसी जीवनमें कर सकूँ' यह मेरी आकांक्षा है।

जगत्-प्रियतमका पत्र

बुरी तरह पकड़ाईमें आये हैं नटखट इस बार। देखूँ अब कैसे जाते हैं मुझे छोड़कर········मुझसे पल्ला छुड़ाकर !

उस दिन लगनकी डोरमें उलझा, रसकी आँख-मिचौनीमें पलक झँपा, मुझे छोड़कर दूर—पास जाने कहाँ छिप गये वे नटखट प्रियतम !

चेतमें आ, पलक खोलते ही मेरे हाथोंके तोते उड़ गये। प्रीतिके हाथों बिकी मैं आकुल-व्याकुल हो-होकर उन्हें याद कर-करके विलाप करने लगी; बावली बनकर बावलगत बखेरती जहाँ-तहाँ उन्हें खोजने लगी।

पर वे सहज हाथ कहाँ आते हैं ? चप्पा-चप्पा रौंद डाला—छान डाला, किंतु व्यर्थ निष्फल। समूचा जगत् मेरे समक्ष था; परंतु कोरे कागज टूक-सा निस्सार, थोथा, निरर्थक। कहीं·······किसी स्थानपर भी उनकी झाँई-परछाँई तकसे भेंट नहीं हुई।

श्वास फूली, मैं निराशाकी सीमापर पहुँचकर दम तोड़ रही थी कि सहसा नवजीवन प्रदान करता वायुका एक झोंका आया········अलौकिक बोध-वायुका। और मैं जी उठी; मेरे—मेरे मनचीते हो गये।

वायुके झोंकेने कागजको पलट दिया था। कागजपर········कोरे कागजपर अब कुछ लिखा हुआ पढ़नेमें आ रहा था।

हर्षाश्चर्यसे चकित रह गयी मैं········विह्वलता-विभोर हो उठी मैं उसे पढ़कर, उसमें रमकर। वह तो प्रियतमका पत्र था—वह पत्र जिसके एक-एक अक्षरमें········अक्षर-अक्षरके एक-एक कणमें प्रियतम-छवि अङ्कित थी········छवि क्या अङ्कित थी, स्वयं प्रियतम ही थे।

सुध-बुध खोई-सी मैंने पत्रको छातीसे चिपटा लिया। पत्र नहीं, प्रियतम छातीसे चिपटे थे। अद्भुत मिलनामृत पान कर मैं निहाल हो गयी, हो रही हूँ, हुई जा रही हूँ, होती रहूँगी, हुई चली जाऊँगी चिरकाल तक।········जगत्रूपमें सदा-सदाके लिये युग-युगके छलिया········छल-छटा बखेरते प्रियतमको छातीसे लगा एवं स्वयं उनकी छातीसे सतत लगी रहकर। मेरा इससे बढ़कर और क्या सौभाग्य होगा।········जीवनमें इससे बढ़कर और क्या रसोपलब्धि होगी।

हाँ तो बुरी तरह पकड़ाईमें आये हैं नटखट इस बार। देखूँ अब कैसे जाते हैं मुझे छोड़कर········मुझसे पल्ला छुड़ाकर !

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

संस्कृतभाषाका टीकासाहित्य

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

अर्थमें ही तत्त्व है। केवल शब्द जाननेसे विशेष लाभ नहीं है। अतः अर्थ जाननेके लिये प्रायः सभी भाषाओंमें कोश-टीका आदिका प्रबन्ध है। पर इस दृष्टिसे संस्कृतभाषाके सामने संसारकी सभी भाषाएँ दरिद्र-सी जँचती हैं। संस्कृतमें सूर्य, विष्णु, देवी आदिके सहस्रनाम मिलते हैं। सुवर्ण आदि शब्दोंके लिये भी सैकड़ों पर्याय तथा उनकी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं। पर अंग्रेजी आदि भाषाओंमें Sun, moon, gold आदिके अतिरिक्त कोई शब्द नहीं मिलता। ऐसा ही हुआ तो किसीके लिये दो शब्द मिल जाते हैं। व्युत्पत्ति भी उनके यहाँ अनावश्यक-सी है। उनके यहाँ जैसे जीवनमें पवित्रता अनावश्यक है, वैसे ही शब्दोंकी साधुताकी भी आवश्यकता नहीं मानी गयी। पर समयका ही यह कुछ विचित्र प्रभाव रहा कि शासनके प्रभावसे उनकी भाषाका भी खूब हो-हल्ला तथा आदर-सा हुआ। पर अब उनके यहाँके विद्वान् भी संस्कृतभाषाका महत्त्व मानने लगे हैं। देखें, भारतवासियोंको अपनी इस संस्कृतभाषामें कब अनुराग होता है। अस्तु!

शास्त्रोंमें शब्दार्थ न जाननेवालेकी बड़ी निन्दा है। कहा गया है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञस्य इत्सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

(निरुक्त)

यस्तित्याज सचिविदं सखायं
न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति।
यदी श्रृणोत्यलकं श्रृणोति
न हि प्रवेद सुकृतस्य पंथाम्॥

(ऋग्वेद ९१०।७१।६, ऐत. आर. ३।१०; तैत्ति. आ. १।३।१)

नार्थज्ञानविहीनं शब्दोच्चारणं फलति।
भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति॥
अर्थमजानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम्।
उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढैव॥
पुरुषार्थानिच्छद्भिः पुरुषैरर्थाः परिज्ञेयाः।
अर्थानादारभाजां नैवार्थः प्रत्युतानर्थः॥

(वरिवस्यारहस्य २।५४—५६)

यथा खरश्चन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य
चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति॥

(सुश्रुतसूत्रस्थान ४।३)

यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा॥
भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा॥

(महा० शान्ति० ३०५।१३—१५)

अर्थात् विना समझे हुए शास्त्रज्ञान तो गदहेके चन्दन-भारके तुल्य है। पुरुषार्थ-सिद्धिके लिये अर्थज्ञान आवश्यक है और इसी अर्थज्ञानके लिये ग्रन्थोंकी अनेकानेक टीकाएँ हैं। काव्यप्रकाश ग्रन्थपर प्रायः १३० संस्कृत टीकाएँ हैं। (द्र० बालबोधिनी टीकाकी भूमिका—भण्डारकर पूना सं०) इस बालबोधिनी टीकामें ही प्रायः बीसों टीकाओंका नामसहित सार संगृहीत है। गीता तथा भागवत ग्रन्थपर भी बहुत-सी टीकाएँ संस्कृतमें प्राप्त हैं। भगवद्गीतापर गुजराती प्रिंटिंग प्रेससे एक साथ ही १९ टीकाएँ प्रकाशित हैं। इसी तरह वाल्मीकि-रामायणपर प्रायः पचासों संस्कृत टीकाएँ हैं। (द्र० भूमिका वाल्मीकिरामायण, गीताप्रेस)। कालिदासके रघुवंश एवं श्रीहर्षके नैषधपर भी प्रायः सैकड़ों संस्कृत टीकाएँ लिखी गयी हैं। इनमें निर्णयसागर संस्करणके प्रायः दोनों ही ग्रन्थोंमें ७ टीकाओंका सार संगृहीत है। मनु-याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों, दुर्गासप्तशती आदि स्तोत्र-ग्रन्थोंपर भी बहुत-सी टीकाएँ प्राप्त हैं। बादरायणके ब्रह्मसूत्रपर प्रायः १००से अधिक भाष्य एवं टीकाएँ हैं। वेदोंकी भी अगणित व्याख्याएँ थीं, जो अधिकांश लुप्त हो गयी हैं। पर जो प्राप्त हैं, वे भी बहुत हैं। उपनिषद्-भागकी टीकाएँ तो अब भी बहुत हैं।

टीकाओंकी उपयोगिता

संस्कृत ग्रन्थोंकी टीकाएँ बहुत ही उपयोगी हैं। कई टीकाएँ इतनी सुन्दर हैं कि मूल ग्रन्थसे भी बाजी मार ले गयी

हैं। कई टीकाएँ तो इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके बिना सम्भवतः मूल ग्रन्थ ही खटाईमें पड़ गये होते। कई टीका ग्रन्थ मूल ग्रन्थकी नीरसताको दूर कर उसमें अमृतोपम माधुर्यका संचार करते हैं। उदाहरणार्थ सांख्यकारिकाकी माठरवृत्ति (जिसे माठर भाष्य भी कहते हैं), मुहूर्तचिन्तामणिकी पीयूषधारा व्याख्या, भगवान् शंकराचार्यका ब्रह्मसूत्र भाष्य[1] (इनके सभी भाष्य—गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य, सनत्सुजातीय भाष्य आदि महामहत्त्वपूर्ण तथा प्राणप्रद एवं परम श्रेष्ठ ज्ञानप्रद[2] हैं। पर ब्रह्मसूत्र भाष्य इनमें भी श्रेष्ठतम है।) नवीन टीकाओंमें काव्यप्रकाशकी बालबोधिनी बहुत श्रेष्ठ हुई है। इसी प्रकार हिंदीके रामचरितमानसकी मानसपीयूष[3] टीका भी बहुत अच्छी है।

टीकाओंके भेद

संस्कृत साहित्यमें टीकाओंके भी अनेक प्रकार हैं। उदाहरणार्थ भाष्य; वृत्ति, वार्तिक, विवरण, विवृति, व्याख्या, व्याख्यान, टीका, तिलक आदि उनके अनेक नाम हैं। इनके नामोंके विशेष कारण भी हैं। उदाहरणार्थ भाष्यके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

प्रायः भाष्य सूत्र या शास्त्र ग्रन्थोंपर होता है। शास्त्रमें दर्शनोंके अतिरिक्त व्याकरण अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और कुछ धर्मसूत्र (धर्मशास्त्र) आते हैं। मोक्षशास्त्रसे वेदान्तादि दर्शन शास्त्र ही अभिप्रेत हैं। शास्त्रग्रन्थोंकी परिभाषा भी इस प्रकार की गयी है—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
प्रयोजनं च पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः॥

अर्थात् विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा निष्कर्ष (सिद्धान्त)—ये शास्त्रोंमें ५ अधिकरण-भेद आते हैं। प्रत्येक अधिकरणमें ही ये पञ्चाङ्ग होते हैं। व्याकरणमहाभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, न्यायभाष्य, अर्थशास्त्र (कौटिलीय), वात्स्यायन-कामसूत्रादिमें इन अधिकरणोंका सर्वत्र उल्लेख हुआ है। इस तरह दुरूह विषयोंको समझने-समझानेमें बड़ी सरलता हो जाती है। भाष्योंमें वेदभाष्य, दर्शनभाष्य, व्याकरणमहाभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि विशेष महत्त्वके हैं।

व्याख्या—टीकाका दूसरा भेद व्याख्या या व्याख्यान है। भाष्यके बाद इसीको सबसे बड़ा माना गया है। इसका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

पदच्छेदः पदार्थश्च विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्॥

वस्तुतः यह सब लक्षण भाष्य-जैसे ही हैं। प्रायः इन लक्षणोंवाली व्याख्याको कहीं-कहीं भाष्य भी कह दिया गया है। उदाहरणार्थ—मनुस्मृतिका मेधातिथिकृत 'मनुव्याख्यान' ऐसा ही है, जिसे भाष्य नाम भी दे दिया जाता है। मुहूर्त-चिन्तामणिकी पीयूषधारा व्याख्या भी इसी प्रकारकी है। सांख्यकारिकाकी सांख्यकौमुदी नामक व्याख्या भी इसी प्रकारकी है। कभी-कभी संस्कृत ग्रन्थोंमें टीकाओंकी भी टीका होती है। भाष्योंकी व्याख्याएँ तो बहुत हैं। जैसे महाभाष्यकी कैयटकृत प्रदीप व्याख्या और उसकी नागेशकृत उद्योत टीका। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र-भाष्यपर भामती व्याख्या और उसपर वेदान्तकल्पतरु, परिमल, आभोगादि अनेक व्याख्याएँ हैं[1]।

अब थोड़ा वृत्ति आदि टीकाओंका परिचय दिया जाता है—

---

[1] पीछेके सभी भाष्योंपर इनकी पूरी छाप है। अधिकांश तो इनकी नकलमात्र है।

[2] प्रायः इनके सभी भाष्यादि ग्रन्थ गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित हैं।

[3] यह गीताप्रेससे ६०.०० में प्राप्त है। इसके लेखक हैं महात्मा श्रीअंजनीनंदनशरणजी। इधर ये विनयपत्रिकापर विस्तृत व्याख्या विनय-पीयूष भी छपा रहे हैं। यह ग्रन्थ भी बहुत सुन्दर हुआ है। विशेष जानकारीके लिये उन्हींसे पत्र-व्यवहार करें। पता है—करुणानिधानकुंज, ऋणमोचनघाट, अयोध्या। हिंदी ग्रन्थोंकी टीकाएँ बहुत कम हैं। केवल चौरासी तथा २५२ वैष्णवनकी वार्त्तापर गुसाँई हरिरायजीकी भावप्रकाशटीका, साहित्य-लहरीपर सरदार कविकी टीका, भक्तमालपर प्रियादासजीकी टीका तथा विहारी सतसईपर कुछ टीकाएँ हुई हैं। हाँ, गोस्वामीजीके मानसपर तथा विनयपत्रिका आदिपर अवश्य ही बहुत टीकाएँ हुई हैं। —सम्पादक

[1] इस प्रकारकी टीकाएँ प्रायः सभी सम्प्रदायोंकी बहुतेरी अलग-अलग हैं।

वृत्ति—प्रायः सूत्र[1] या गद्य ग्रन्थोंकी संक्षिप्त टीकाका नाम है। अल्पग्रन्था 'वृत्तिरारभ्यते' (कठ-बृहदारण्यक शां० भाष्य) पाणिनि सूत्रोंकी काशिका (वामनजयादित्यरचित), निरुक्तकी 'ऋज्वर्थी,' योगदर्शनकी 'भास्वती' आदि वृत्तियाँ प्रसिद्ध हैं।

वार्तिक—'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थव्यक्तिकारि तु वार्तिकम्'[2] (हेमचन्द्रकोश)। वार्तिक ग्रन्थ (कात्यायनादिको छोड़) प्रायः श्लोकोंमें प्राप्त होते हैं। न्यायवार्तिक आदि कुछ सामान्य हैं। पर श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक, तैत्तिरीयभाष्य-वार्तिक, बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक आदि बड़े विस्तृत हैं। इनमें अनुक्त तथा दुरुक्त (अस्पष्ट कथित) अर्थोंको खोल दिया जाता है।

कारिका—यह भी एक प्रकारकी पद्यबद्ध टीका है। सांख्यकारिका, नाट्यकारिका, माण्डूक्यकारिका, बौद्धविद्वान् नागार्जुनकी युक्तिषष्ठिका, विग्रहव्यावर्तिनी, शून्यतासप्तति आदि कारिकाएँ ही हैं। इनमें कुछ स्वतन्त्र व्याख्यान भी होता है। भरतकारिका, काव्यप्रकाशकी कारिकाएँ कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं।

विवृति—यह कुछ विस्तृत टीका है। इसी प्रकार व्याख्या, तिलक, टिप्पणी आदि अनेक टीकाभेद हैं। पर इनमें भाष्य सबसे बड़ा समझा जाता है।

टिप्पणी-आलोचना—कहीं-कहीं टीकाकार मूलग्रन्थोंकी आलोचना भी करता है। जैसे नागेशभट्टद्वारा रसगंगाधरकी आलोचना और पुनः टिप्पणीकारद्वारा नागेशकी कड़ी आलोचना। रामाश्रमीटीकाके १०२ पृष्ठपर भानुजि दीक्षित भी अमरसिंहपर आक्षेप करते हैं।

अनेकार्थ—कहीं-कहीं टीकाकार किसी एक पद या श्लोकके अनेक अर्थ करता है। यह पद्धति प्राचीन ही है। निरुक्तादिमें 'चत्वारि शृङ्गाः' मन्त्रके अनेक अर्थ हैं। प्रायः इस मन्त्रको सभी शास्त्रकार लिखते तथा अपने अनुकूल अर्थ करते हैं। महाभाष्यकार इसे व्याकरणपरक, उव्वटादि यज्ञपरक, कोई धर्मपरक तो कोई ज्योतिषपरक अर्थ करते हैं। (द्र० निरुक्त परिशिष्ट पृ० ७, काशीखण्ड ६८। ७७, मीमांसादर्शन पूना पृ० १५५) कुमारिलभट्टने इसका ज्योतिषपरक अर्थ किया है।

अनुकृतिमें भूल

प्रायः कई बार एक टीकाकार दूसरेकी नकल करते हैं। इसमें भूलकी भी आवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ—वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड ६४। १३ का 'ब्राह्मणः सुमहातेजाः'का देखादेखी अर्थ सभीने वशिष्ठ किया है। पर वस्तुतः यह शेष कथा स्कन्दपुराण ब्राह्मखण्ड १। ३९। ४९ में है। वहाँ विश्वामित्रके शापसे शिला बनी हुई रम्भाको श्वेतनामक मुनि वायव्यास्त्रसे अंगारका राक्षसीपर संधान करते हैं। इससे वह रामेश्वरतीर्थके अन्तर्गत कपितीर्थमें गिरकर रम्भारूपको प्राप्त करती है। ध्यान देनेकी बात है। यहाँ वाल्मीकिरामायणके कुछ श्लोक ज्यों-के-त्यों मिल जाते हैं। अन्तमें 'शिलारूपं परित्यज्य रम्भारूपमुपेयुषी' आता है।

इसी तरह रघुवंश (५। १) की टीकामें मल्लिनाथ एवं धर्ममेरु आदिने कौत्सको वरतंतुका शिष्य लिखा है। पर वास्तवमें स्कन्द० वैष्णव० अयोध्यामाहात्म्य ४-५ के अनुसार कौत्स विश्वामित्रके ही शिष्य हैं। इसी प्रकार काव्यप्रकाश ७। २३३ 'अप्राकृतस्य' इत्यादि महावीरचरित (२। ३९) के श्लोककी टीका करते हुए महेश्वर, कमलाकर, नागेशभट्ट, भीमसेन, वैद्यनाथ आदि इसे जनककी उक्ति लिखनेकी भूल करते हैं। वास्तवमें यह परशुरामकी ही उक्ति है। यह प्रसङ्ग तथा मूल ग्रन्थसे सुस्पष्ट है। इसी प्रकार महाभारतव्याख्याकार नीलकंठकी भी भूलें बहुत हैं। इन्हें अब सुधार लेना चाहिये।

* * *

---

[1] सुकृतटीकोपोद्घातमें सूत्रके भी ४ भेद बतलाये हैं—एकीयसूत्र, गुरुसूत्र, शिष्यसूत्र तथा प्रतिसंस्कृतसूत्र।

[2] पराशर-पुराणमें यह श्लोक इस प्रकार है—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थवार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

वार्तिकको अन्य विद्वान् भाष्यसूत्र (महाभाष्यदीपिका पृ० ४८), अनुतन्त्र (वाक्पदीय ब्रह्म पृ० ३५ लाहौर संस्करण) और अनुस्मृति आदि भी कहते है। यहाँ कात्यायनवार्तिकसे विशेष तात्पर्य है।

श्रद्धाकी जय

[कहानी]

(लेखक--श्री'चक्र')

आजकी बात नहीं है; किंतु है इसी युगकी बात। क्या हो गया कि इस बातको कुछ शताब्दियाँ बीत गयीं। कुलान्त-क्षेत्र (कुल्लू प्रदेश) वही है, व्यास और पार्वतीकी कल-कल-निनादिनी धाराएँ वही हैं और मणिकर्णका अर्धनारीश्वर क्षेत्र तो कहीं आता-जाता नहीं है।

कुल्लूके नरेशका शरीर युवावस्थामें ही गलित कुष्ठसे विकृत हो गया था। पर्वतीय एवं दूरस्थ प्रदेशोंके चिकित्सक व्याधिसे पराजित होकर विफलमनोरथ लौट चुके थे। क्राथ-स्नान, चूर्ण-भस्म, रस-रसायन कुछ भी तो कर सका होता।

नरेश न उच्छृङ्खल थे, न भोगपरायण। उनके पूर्व पुरुषोंने कुलान्तक्षेत्रके दिव्य त्रिकोण [व्यास नदीके उद्गम, पार्वती नदीके उद्गम और दोनोंके संगम स्थलकी मध्यभूमि] को भगवान् उमा-महेश्वरकी विहार-भूमि मानकर उसे अपने निवाससे अपवित्र करना उचित नहीं समझा। मनुष्य रहेगा तो उसके साथ उसके प्रमाद, त्रुटियाँ भी रहेंगी ही। अतः उन्होंने व्यासके दक्षिणतटपर अपनी राजधानी बनायी, जो आज कुल्लू कही जाती है। यों इस त्रिकोणमें उनके वंशधरोंने पीछे एक निवास बना लिया था नगारमें और वही आज पुरानी राजधानीके नामसे जाना जाता है।

इतने भावप्रवण कुलमें जिनका जन्म हुआ, उनके रक्तमें वासनाकी वृद्धिके लिये आहार कहाँसे मिलता। नरेश बचपन-से अत्यन्त श्रद्धालु थे और श्रीरघुनाथजीके उपासक थे। शरीरमें रोगके लक्षण प्रकट होते ही चिकित्साके साथ पण्डितोंके अनुष्ठान प्रारम्भ हो गये थे।

प्रारब्ध प्रबल होता है, तब पुरुषार्थ सहज सफल नहीं होता। वर्षाकी उमड़ती नदीमें बाँध बनानेके प्रयत्न सफल हों, असीम शक्ति और साधनकी अपेक्षा है। ग्रहशान्ति, देवा-राधन और चिकित्साके प्रयत्न प्रारब्धको रोक नहीं सके थे। नरेशके सर्वाङ्गमें कुष्ठ फूट पड़ा था।

'यह घृणित रोग'—नरेशको देहका मोह नहीं रहा था; किंतु उन्हें आन्तरिक व्यथा थी कि अब न वे सत्पुरुषों—संतोंके चरणोंपर मस्तक रखने योग्य रहे और न कथा सत्संगोंमें बैठने योग्य। किसी तीर्थमें, पुण्यक्षेत्रमें कैसे जाया जा सकता है? अपने रोगका संस्पर्श दूसरोंको प्राप्त हो, बड़ी सावधानीसे नरेश इसे बचाते थे। पत्नीतकको उन्होंने पद-वन्दनासे वञ्चित कर दिया था। उस साध्वीको भी अपने आराध्यकी आज्ञा स्वीकार करके दूरसे ही दर्शन करना पड़ता था।

'यह संस्पर्शसे फैलनेवाला संक्रामक रोग है। किसी भी पावन तीर्थमें यह भाग्यहीन अब स्नानके योग्य नहीं रहा।' महाराज अत्यन्त दुःखित रहने लगे थे। 'किसी मन्दिरमें प्रवेशका अधिकार नहीं रहा मुझे। पतितपावन प्रभु भी रूठ गये मुझसे।'

अन्तमें राजपुरोहितने नरेशको मणिकर्णमें निवासकी सम्मति दी। मणिकर्ण-क्षेत्रका उष्णोदक सम्भव है, नरेशके रोगको दूर कर सके। राजपुरोहितकी यह आशा सर्वथा निराधार नहीं थी। उष्ण जलस्रोत पृथ्वीपर बहुत हैं—भारत-में भी बहुत हैं; किंतु प्रायः सर्वत्र उनमें एक गन्ध है और वे स्वादमें कषाय न भी हों, परंतु स्वादिष्ट नहीं हैं। मणिकर्णके क्षेत्रमें खौलते जल-स्रोतका विस्तार मीलोंमें है। लगभग पूरा मणिकर्ण ग्राम घर-घरमें इस जलको अपने कुण्डोंमें रोककर उससे भोजन सिद्ध कर लेता है। जल निर्गन्ध है, स्वादिष्ट है और अब भी अनेक रोग—चर्मरोग विशेषतः उससे दूर होते हैं।

नरेशने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उनकी दृष्टि दूसरी थी। शरीर जाता ही हो तो उमा-महेश्वरकी गोदमें ही जाय! भगवती हिमवान्-सुताका साक्षात् भौतिक रूप है—पार्वती नदी और उनकी धाराको अंकमाल देते चलनेवाला खौलता उष्णोदक स्रोत साक्षात् शिवका ही तो रूप है। मणिकर्ण, क्षेत्रका प्राकट्य तो शम्भु-उमाकी क्रीड़ामें हुआ है। वहाँ कहीं भी स्नान किया जा सकेगा, मुख्य स्थलसे कुछ नीचे हटकर। जन-सम्पर्कका प्रश्न ही वहाँ नहीं उठता।

राज्यका भार वैसे भी अब मन्त्रियोंपर था। आजके समान भुन्तरके समीप व्यासपर सेतु नहीं था। रस्सियोंको बाँधकर किसी प्रकार पर्वतीय जन व्यासको पार करते थे।

नरेशके लिये कुछ अच्छा सेतु बना। व्यास-पार्वतीके संगममें स्नान करके वहाँसे दस कोस ऊपर मणिकर्ण-क्षेत्रमें नरेशका शिविर पड़ा। गिने-चुने सेवक थे साथमें और तब मणिकर्ण गाँवका कोई अस्तित्व नहीं था। केवल पर्वके समय वहाँ कुछ लोग आ जाते थे।

'इस क्षेत्रमें पाण्डु-पुत्रोंने निवास किया था। इसके मूर्धन्य भागमें ही धनञ्जयने तप करके चन्द्रमौलिकी आराधना की और अपने पराक्रमसे उन पिनाकपाणिको संतुष्ट किया। भगवान् गंगाधर अर्जुनपर कृपा करनेके लिये यहाँ किरात-वेशमें विचरण कर चुके हैं। भगवती जगदम्बा पार्वतीके शबरकन्या-रूपमें श्रीचरण यहाँ पड़े हैं।' नरेश इस क्षेत्रमें आकर अपने रोगको—अपनी व्यथाको विस्मृत हो गये। वे दूरसे चमकते धवल वर्ण इलावर्त शिखरको प्रणिपात करते, उष्णोदकमें स्नान करते और प्रायः भाव-विह्वल रहते।

'श्रीराम जय राम जय जय राम।'

जिह्वापर यह नाम तो उनके बचपनसे बसा था। अब इस क्षेत्रमें आकर उन्होंने अन्न और दूध भी त्याग दिया था। उनका राज्य स्वादिष्ट फलोंका आकर है; किंतु उनके लिये वे फल भी अब अग्राह्य बन गये थे। वनमें मिलनेवाला चावल [कहा जाता है कि यह पाण्डवोंकी तीर्थयात्राके समय उनकी की हुई कृषिका अवशेष है], जंगली गोभी और कुछ ऐसे ही शाक—इनको मणिकर्णके उष्णोदकमें उबाल लिया जाता और दिनमें एक बार नरेश उसे ग्रहण करते। अब तो यह चावल-गोभी मणिकर्णसे चौदह मील ऊपर क्षीर-गंगाक्षेत्रके वनमें ही उपलब्ध हैं।

आस-पासके क्षेत्रोंमें भी नरेश हो आते थे। तप, जप और भावना—उनके देहकी बाह्यावस्था कुछ भी हो, उनका हृदय इलावर्त शिखरपर जमे हिमके समान उज्ज्वल हो गया था, इसमें संदेह नहीं।

× × ×

सहसा एक दिन राजधानीमें संदेश आया कि नरेश लौट रहे हैं। राजसदन सजाया गया। प्रजा प्रसन्न ही हुई। उनके प्रजावत्सल नरेश रोगी सही, उनके मध्यमें तो रहें।

'गगनचुम्बी हिमगौराकृति पर्वतशिखर उन ज्योतिर्मय-के घुटनोंतक भी नहीं था। कह नहीं सकता कि द्वितीयाका चन्द्र उनके भालपर था या क्षितिजपर; किंतु पिंगल जटा-जूटका अन्त दृष्टि नहीं पाती थी।' लौटकर नरेशने एकान्तमें राजगुरुको जो कुछ बतलाया, वह यही था—'मणिकर्णके उष्णोदकसे उठती वाष्पराशि स्पष्ट नहीं देखने देती थी और संध्याकालका अन्धकार भी प्रारम्भ हो गया था; किंतु लगता था हिमशीतल पार्वतीकी धारासे एक पाटल गौर मूर्ति उठ खड़ी हुई है और उसे वामभागमें किये कर्पूरगौर, अमित तेजोमय अहिभूषण भवानीनाथ स्वयं सम्मुख खड़े हैं।'

गद्गदकण्ठ, अश्रु झरते नयन नरेश कह रहे थे 'प्रभुकी मूर्ति, लगता था, क्षणमें प्रकट होती है, फिर अदृश्य हो जाती है अथवा जलमें परिणत हो जाती है। उन्होंने मुझे आदेश दिया—'अयोध्यासे अपने श्रीरघुनाथको ले आ। उनका स्नानोदक लेकर स्नान कर—तेरा शरीर स्वस्थ हो जायगा।'

नरेशने बताया कि रात्रिमें उन्होंने स्वप्नमें अयोध्याकी वह छोटी-सी श्रीरघुनाथ-जानकीकी श्रीमूर्ति देखी है। उसका स्थान देखा है और उन मर्यादापुरुषोत्तमने भी इस पर्वतीय प्रान्तको अपने पदार्पणसे धन्य करनेका बचन दिया है।

राजपुरोहितको तो जैसे निधि प्राप्त हुई। मार्ग मिल गया तो लक्ष्य भी मिलकर ही रहेगा। स्वयं राजपुरोहितने अयोध्या जानेका निश्चय किया। सेवक, सचिव आदि सबको आदेश दे दिये गये।

यह समूह पैदल यात्रा करके अयोध्या पहुँचा। उसे निर्दिष्ट स्थलपर श्रीरघुनाथजीकी उस मूर्तिके दर्शन भी हो गये; किंतु त्रिभुवनके स्वामीको अपने घर ले जानेके पूर्व उनके सत्कारकी प्रस्तुति भी तो चाहिये। राजपुरोहित पूरे एक वर्ष अयोध्या रहे। उन्होंने प्रत्येक दिन, प्रत्येक पर्वपर जैसी, जिस विधिसे सेवा श्रीरघुनाथजीकी होती थी, उसका सावधानीपूर्वक निरीक्षण किया और उस सबको लिखते गये।

एक वर्ष पश्चात् योजना बनाकर एक रात्रिमें राजपुरोहित-के नेतृत्वमें यह पर्वतीय लोगोंका समूह मन्दिरसे उस श्रीमूर्ति-को लेकर चल पड़ा। प्रातःकाल जब मन्दिरमें मूर्ति नहीं मिली, अयोध्यामें हुई हलचलका आप अनुमान कर सकते हैं।

अयोध्याके लोग पीछा करेंगे, यह बात तो निश्चित थी। उन्होंने पीछा किया; किंतु राजपुरोहित इसके लिये प्रस्तुत थे। क्रोधसे उबलते अवधवासी जब समीप आये, राजपुरोहित अपने पूरे समाजके साथ हाथ जोड़े, सिर झुकाये

खड़े थे। उन्होंने कहा—'आप मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजीके अपने जन हैं। हमारे परमादरणीय हैं और हम पर्वतके पापी-अपराधी प्राणी हैं। आप हमें दण्ड देंगे तो हम पवित्र ही होंगे। किंतु श्रीरघुनाथजीको हम उनके आज्ञानुसार लाये हैं। वे विश्वनाथ पर्वतोंकी यात्रा करने निकले हैं। यदि वे लौटना स्वीकार करें, तो आप उन्हें प्रसन्नतापूर्वक ले जाइये।

अयोध्याके लोग क्रुद्ध तो बहुत थे; किंतु प्रतिवादके ईंधनके स्थानपर नम्रताका जल पड़े तो क्रोधाग्नि कबतक जलती रह सकती है। सबसे अद्भुत बात यह हुई कि वह कुछ तोलेकी श्रीरघुनाथजीकी श्रीमूर्ति किसीके उठाये उठती नहीं थी। सब प्रयत्न करके थक गये और अन्तमें अयोध्यासे आगतोंको कहना पड़ा—'जब प्रभु ही जाना चाहते हैं, तो उन्हें रोकनेवाले हम कौन होते हैं। किंतु श्रीरघुनाथजीके आराधकोंका एक परिवार उन्हें छोड़कर लौट जानेको तैयार नहीं था। वह परिवार श्रीरघुनाथजीके साथ ही कुल्लू आया और अभी कुछ वर्ष पूर्वतक उस परिवारके वंशधर कुल्लूमें थे।

पूरे मार्गमें विधिपूर्वक श्रीरघुनाथजीकी पूजा-अर्चा होती आयी थी। केवल विश्रामके कुछ समयमें ही उनकी पालकी यात्रा करती थी। मार्गमें ही वे पर्वोत्सव भी मनाये गये जो उस समय पड़े।

कुल्लूमें श्रीरघुनाथजीके पहुँचनेसे पूर्व ही उनके मन्दिरका निर्माण पूरा हो गया था। धूम-धामके साथ श्रीरघुनाथजी कुल्लू पधारे और मन्दिरमें उन्हें विराजमान कराया गया। नरेशने मन्दिरमें प्रवेश नहीं किया; किंतु श्रीरघुनाथजीके पधारते समय दूरसे उनकी पालकीको साष्टाङ्ग प्रणिपात कर लिया था।

उत्तम मुहूर्तमें श्रीरघुनाथजीका विधिपूर्वक महाभिषेक सम्पन्न हुआ। अभिषेकका जल स्वयं राजपुरोहित सेवकोंद्वारा लिवाकर राजाके पास आये और उल्लसित स्वरमें बोले—'आप चौकीपर विराजें। अब आपका अभिषेक सम्पन्न हो।'

'आप भी ऐसी अनुचित आज्ञा देंगे, ऐसी आशा मुझे नहीं थी।' नरेश दोनों हाथ जोड़कर दूर खड़े रोते-रोते कह रहे थे—'यह मेरे आराध्यके अभिषेकका परमपावन जल है। इसे क्या इस कुष्ठसे अपवित्र देहपर डाला जा सकता है? यह मेरा वन्दनीय है। मैं कैसे यह कर सकता हूँ कि इसका कोई कण मेरे पैरोंतक जाय?'

दो क्षण राजपुरोहित हतप्रभ खड़े रह गये। अन्तमें बोले—'भगवान् शंकर और स्वयं रघुनाथजीका ही तो यह आदेश है। श्रीगङ्गाजी भगवान्‌का पादोदक ही हैं और उनमें स्नान करना शास्त्र-संत सभी परम सौभाग्य मानते हैं।'

'मैं अज्ञ प्राणी हूँ। तर्क करनेकी क्षमता मुझमें नहीं है।' नरेशने लगभग गिड़गिड़ाते हुए कहा—'उमा-महेश्वर तो माता-पिता हैं हम पर्वतीय जनोंके। वे स्नेहसे शिशुको गोदमें लें या मस्तकपर बैठावें; किंतु जब शिशुमें अपनी कुछ समझ आ जाय—अपनी अधूरी-पूरी, भ्रान्त या ठीक समझसे वह जो कुछ सम्मान व्यक्त करनेका प्रयत्न करता है, वही तो पूजा है।'

राजपुरोहितको बड़ा खेद हुआ। राजाको वे समझा सकेंगे, ऐसी आशा उन्हें नहीं थी और नरेशको स्वस्थ देखनेकी भी दूसरी युक्ति सूझती नहीं थी। अन्ततः उन्हें वह अभिषेकजल लेकर लौटना पड़ा। स्वस्तिपाठके साथ केवल कुछ जलकण वे अपने नरेशके मस्तकपर डाल सके थे और एक कलश जल नरेशने अपने पीनेके लिये रख लिया था।

'श्रीरघुनाथकी जय!' राजपुरोहित अभी उस कक्षके द्वारतक पहुँचे थे कि उन्हें पीछेसे नरेशकी भावविह्वल जय-ध्वनि सुनायी पड़ी। वे पीछे मुड़े, इससे पूर्व नरेश दौड़कर उनके सम्मुख साष्टाङ्ग गिर गये थे—सुन्दर, स्वस्थ, युवा, निर्मल देह नरेश!

दो क्षण फिर चकित थकित राजपुरोहित हर्षविह्वल अपने यजमानकी सम्पूर्ण स्वस्थ कायाको देखते रहे और तब उनके कण्ठसे अस्पष्ट गद्‌गद स्वर निकला—'श्रद्धाकी जय!'

× × ×

कुल्लूके श्रीरघुनाथ-मन्दिरमें आज भी अयोध्यासे आया श्रीरघुनाथजीका वही श्रीविग्रह विराजमान है। देवताओंकी इस घाटीके वे अध्यक्ष हैं। विजयादशमीको घाटीके सब देवता उनका अभिवादन करने कुल्लू आते हैं।

तुलसीका सुराज

(लेखक—डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

स्वराज्य तो आ गया, परंतु अभी 'सुराज' निकट नहीं आया है । अब हमें 'सुराज'को और पास लाना है । तुलसीके 'सुराज' और 'रामराज्य'में कोई अन्तर नहीं । तुलसीने 'सुराज'की प्रशंसा सर्वत्र की है । देशमें सुख-समृद्धि 'सुराज' से ही होती है । सुराजमें ही प्रजा निरन्तर हर्ष एवं सुख पाती है और सुराजसे ही उसका कल्याण है । इस सुराजमें सज्जन सुख पाते हैं और दुष्ट दुःख भोगते हैं । राज्यका आदर्श होना भी यही चाहिये कि सज्जन सुख पायें और दुर्जन दुःख । जहाँ एक ओर राज्य अच्छे आदमियोंको सुविधापूर्वक जीविका दे, वहाँ दुर्जनोंसे छीने भी । तुलसीदासजी कहते हैं—

'पाइ सुराज सुदेस सुखारी ।'
'सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ।'
'जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा ।'

इस सुख-समृद्धि और मङ्गलमय 'सुराज'में प्रजा वृद्धि पाती ही है—

'बढ़ै प्रजा जिमि पाई सुराजा ।'

फिर ऐसे 'सुराज'में दीन-दरिद्र नहीं रह सकता, कोई भूखा न भटकेगा । पेट भर खाना तो मिलेगा ही ।

'मुदित छुधित जनु पाइ सुराजू ।'

हाँ, दुखी होनेवाले हैं केवल दुर्जन ।

'जिमि सुराज खल उद्यम गएऊ ।'

रामराज्य इसी 'सुराज'का उदाहरण है । सुराजमें वर्णित सुख-सम्पदा रामकी प्रजाको पूर्णरूपसे प्राप्त है ।

'रामराज्य कर सुख संपदा । बरनि न सकहिं फनीस सारदा ॥'
'सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज ॥'

राम वे ही कार्य करते थे जिनसे प्रजा सुख-समृद्धि प्राप्त करे ।

'जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा ।
करहिं कृपा निधि सोइ संजोगा ॥'

परिणाम हुआ—

'चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग ।'

उनकी प्रजा कल्याणमय है । यहाँतक कि न वहाँ अल्पमृत्यु है, न रोग ।

'अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा ।
सब सुंदर सब बिरुज सरीरा ॥'

रामके इसी सुराजमें न कोई दीन है, न दरिद्र—

'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना ।'

जब दीन-दरिद्र नहीं तो भूखा कोई सोयेगा क्यों ? रामके सुराजमें यदि कोई जंगलमें भी पहुँच जायेगा तो भूखा न रहेगा वहाँ भी—

'लता बिटप मागें मधु चवहीं ।'
'फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन ।'

इसी प्रकार पृथ्वी खेतीसे सम्पन्न है—

'ससि संपन्न सदा रह धरनी ।'

राम राजा रामके 'सुराज'में दुखी रहा तो पापी, चोर, जुआरी एवं वह जो घमंडी है, दूसरोंसे जलता है ।

'अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने ।'
'मत्सर मान मोह मद चोरा ।
इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥'

इस प्रकार हमने देखा कि तुलसीके 'सुराज'की सभी विशेषताएँ सुख-समृद्धि, कल्याण, क्षुधा-हीनता एवं दुष्टोंकी अवनति रामराज्यमें पायी जाती है । रामका राज्य सुराज्य ही था ।

इस सुराजका अवलम्ब तुलसीदास राजाको मानते हैं । भारतवर्षमें 'यथा राजा तथा प्रजा' वाला दृष्टिकोण रहा है । भारत ही नहीं, सर्वत्र बड़ोंके पीछे छोटे चलते हैं । इस सुराजको लानेवाला है—सुराजा । सुराजा वही है जो नीति-निपुण है । परंतु इस नीतिका अर्थ 'अर्थनीति' नहीं, 'धर्मनीति' है । अर्थनीतिको पालनेवाला केवल दिखानेके लिये नीतिका पालन करता है, जब कि धर्मनीति-पालक हृदयसे निभाता है । नीतिनिपुण राजाका राज्य सुराज है । उसके राज्यमेंसे दुष्टोंका पलायन उसी प्रकार होता है, जैसे शरद् ऋतुमें कीचड़ गायब हो जाती है । जो राजा

नीतिनिपुण नहीं होगा, उसकी प्रजा कष्ट पायेगी। ऐसा राजा शोचनीय है।

'पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप की जस करनी॥'
'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहिं न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥'

नीतियुक्त राजा अग्निकी तरह तपकर दुष्टोंको जलाता है। वह सूर्य मित्र बनकर प्रजाको सुख पहुँचाता है। वह मालीकी नाईं प्रजाकी देखभाल करता है। परंतु ऐसे 'सुराजा' कलियुगमें कम ही होंगे।

माली भानु कृसानु सम नीति निपुन महिपाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥

यह नीति क्या है? तुलसीदासजीने ऐसी दो नीतियोंकी ओर संकेत किया है। यदि कोई भी राजा इन दोनों नीतियोंको अपनायेगा, वह 'सुराज' स्थापित कर सकेगा, प्रजाको सुख दे सकेगा।

पहली है—प्रजासे कर लेकर उसे वापिस देना। जो राजा सीधे प्रजासे धन ले और प्रजाको उसपर संदेह हो जाय कि यह हमपर पूरा खर्च नहीं करता है तो संघर्ष अवश्य होगा। असंतोषकी आगमें राजा-प्रजाका सुख जल जायेगा। संसारमें सब झगड़ा धनका है। तुलसीदासजी एक सुन्दर नीति बताते हैं। यदि राजा इसका पालन करे तो प्रजा उस राजापर प्राण न्यौछावर करेगी। वह प्रजासे सीधे कर न ले। उस राजाके राज्यमें सब अप्रत्यक्ष कर लेंगे। प्रत्यक्ष करोंमें प्रजाकी जेबसे रुपया उसकी आँखोंके सामने जाता है और खलता है। जब कोई मनुष्य दो गज खरीदे कपड़ेपर बिक्री-कर देता है, ४००) रुपये जो पसीने बहाकर कमाये हैं उसपर आय-कर देता है, धूप-शीतमें खून काला कर फसल उगाता है और कृषि-करके रूपमें रुपया देता है तो उसे झुँझलाहट होती है, उसका दिल दुखता है पर वह देता है; क्योंकि देना पड़ता है। परंतु यदि कर उसकी आँखोंके सामने न लिया जाय और उसकी सुख-सुविधाओंपर रुपया व्यय होता दिखायी पड़े तो वह राजाके गुण गानेमें सबसे आगे होगा। उससे कर तो लिया जाता है पर आँखोंके पीछे, पर्देकी ओटमें। विदेशी वस्तुओंपर बंदरगाहमें उतरते ही कर लग जाता है, ग्राहकपर उसका भार तो है पर सामने नहीं। यदि बिक्रीपर सीधे, ग्राहक रुपया न दे और जिस कारखानेसे माल चला है वहीं कर ले लिया जाय तो ग्राहक नहीं जानेगा कि रुपया उससे ले लिया गया है। ऐसे उपायोंसे उगाहा रुपया अप्रत्यक्ष कर है। जनताको अनुभव नहीं होता कि उससे कर लिया जा रहा है। हाँ, जब जनताके लिये जल-कल बन रही है, उसकी सुविधाके लिये पुल बन रहे हैं, उसकी शिक्षाका उचित प्रबन्ध हो रहा है, उसकी रक्षाकी सुन्दर व्यवस्था है, तो वह प्रसन्न होकर उस राज्यकी सराहना करती है। ऐसा राज सुराज है। ऐसा राजा सूर्यके समान हितकारी है। सूर्य अपने हाथोंसे जल खींचता है। पर किसे पता चलता है? परंतु जब वह जल बरसाता है तो सब उससे लाभ उठा नाच उठते हैं। इसीलिये तुलसीदासजीने कहा—

बरषत हरषत लोग सब करषत लखय न कोय।
तुलसी भूपति भानु सम प्रजा भाग बस होय॥

सूर्य सुराजा है। वह पानी खींचनेमें परिश्रम करता है। फिर जगत्‌को जल देकर उसकी पालना करता है। स्वयं ही उस जलको नहीं पी जाता है। इसी नीतिको दूसरे रूपमें गोसाँईजीने व्यक्त किया है—

मुखिआ मुख सो चाहिए खान पान कहुँ एक।
पालै पोसै सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥

राजा मुखके समान है। खानेके चबानेमें वह बड़ा परिश्रम करता है, चक्की पीसता है। कष्ट स्वयं सह रहा है। परंतु उसी खानेसे समस्त शरीराङ्गोंको पालता है, पुष्ट करता है। अङ्गोंको खाना देकर, खानेसे बने रक्तको देकर, पुष्ट करता है। देनेमें पक्षपात नहीं, अन्याय नहीं। जिसको जितना चाहिये उतना देता है। कष्ट स्वयं सहता है, लाभ पहुँचाता है प्रजाको।

दोनों दोहोंमें राजाके लिये दो शब्द प्रयुक्त हैं—'भूपति', 'मुखिया'। उस कालमें राजा भूपति था, सबमें मुख्य था। आजके परिवर्तित युगमें भूपति है राष्ट्रपति या प्रधान-मन्त्री और वही है मुखिया, सबमें मुख्य!

दूसरी नीति भी प्रजाको संतुष्ट एवं आनन्दित करनेवाली है। राजा प्रजाका मुख नहीं बंद करता। किसीके बोलनेपर वह उसे जेल नहीं ठूँस देता। इस सुराजमें भाषण-स्वतन्त्रता है। प्रजा भगवान् रामके सुराजमें राजाकी नीतिकी आलोचना कर सकती थी। वह राज्य-नीतिमें गुण-दोष बता सकती थी। प्रजाके बुद्धिमान् प्रतिनिधि राजाको उसकी नीतिकी त्रुटियाँ बता सकते थे। परंतु एक सीमा थी। यह

गुण-दोषविवेचन नीति-निर्धारणका था; कार्यका नहीं। जबतक राजा नीति बना रहा है; तभीतक वे उसके गुण-दोष बता सकते थे। जहाँ कार्य होने लगा, फिर कोई कुछ न कह सकेगा। कार्य होते समय भी यदि राजा सुनता जाय; तो कभी सम्यक् प्रकारसे कार्य न कर सकेगा। उसके राज्यमें सुव्यवस्था न जम सकेगी। इसी नीतिको तुलसीदासजीने भगवान् रामके मुखसे कहलाया है।

'जौं अनीति कछु भाखौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥'

बड़ी उपादेय नीति है। राम कहते हैं—यदि मैं कुछ अनीति कहूँ तो मुझे निर्भय हो रोक दो। इतनी स्वतन्त्रता होनी चाहिये सुराजमें। पर यह स्वतन्त्रता असीम नहीं, इसकी एक सीमा है। स्वतन्त्रता सीमासे बाहर बहुत दुखदायी होती है। प्रजाके प्रतिनिधि—गुरु, द्विज, मुनि रामको रोक दें, यदि वे अनीति कह रहे हों। प्रजा अनीतिकी आलोचना करे; दोष बताये। परंतु यह नहीं कि अच्छे कामोंमें भी दोष देखे और व्यर्थमें मनुष्य नुक्ताचीनी करते फिरें। हाँ, जब अनीति कही जा रही है तो दोष बतायें। इसमें 'भाखौं' शब्दपर बल है। राम कहते हैं—जब मैं नीति बता रहा हूँ और वह अनीति मालूम हो तो मुझे रोक दो। परंतु जब एक बार मौन हो नीतिको स्वीकार कर लिया तो कार्यके समय; प्रबन्धके समय; कुछ नहीं कहना है।

ये दो नीतियाँ जहाँ बरती जायँगी, वहाँ सुराज होगा; वहाँ प्रजा फूलेगी; फलेगी और दूध-पूतों नहायेगी; इसमें क्या संदेह है?

संस्कृति और श्रीअरविन्द

(लेखक— डा० श्रीइन्द्रसेनजी, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी)

संस्कृति वास्तवमें मनुष्यकी मुख्य अभिरुचि, उसकी उच्चतम साधना, उसकी महत्तम प्राप्ति है। कह सकते हैं कि यह उसके जीवनका सम्पूर्ण योगफल, उसकी आन्तरिक अनुभूतियों और अपने बाह्य वातावरणके साथ विभिन्न सुसंगतताओंका योगफल ही है। इसके अंदर ही समाविष्ट हो जाते हैं उसके दर्शनशास्त्र, कला और साहित्य, उसके विज्ञान, तकनीकी और उद्योगादि, उसके सामाजिक संगठन और राजनीतिक जीवन। जीवनमात्रको वृद्धिंगत, विकसित और अधिकृत करनेके अपने प्रयत्न, संघर्ष और अभीप्साके फलस्वरूप व्यक्तिगत तथा सामाजिकरूपसे जो कुछ मनुष्य बन सका है वही है संस्कृति। पशु स्वाभाविक जीवन जीता है, उसे संस्कृति नहीं है। किंतु मनुष्य संघर्ष करता, अभीप्सा करता और वातावरणपर आधिपत्य जमाता है और उसे परिवर्तित करता है। वह जीवनके आदर्शों एवं अन्तिम परिपूर्णताका अन्वेषण करता है। वह विकास करता हुआ आगे बढ़ता है, यहाँतक कि वह अधिक-से-अधिक भिन्न बनता जाता है। इस क्रममें जो कुछ वह बन चुका है और जो कुछ बननेकी ओर अभिमुख है वही है उसकी संस्कृतिका गुण और मात्रा।

किंतु मानव-व्यक्तित्व एक जटिल वस्तु है। विविधतामें एकताका प्रतिरूप है यह। भौतिक शरीर, पशुके प्राणावेग, मानवके चिन्तनशील मन और निरपेक्ष जीव मिलकर इसको निर्मित और घटित करते हैं। इसके प्रधान अवयव होते हैं शरीर, प्राण, मन और आत्मा। प्रारम्भिक अवस्थामें व्यक्तित्व तो प्रायः शरीर, प्राण और मनका ही संगठित रूप होता है, जिसमें आत्मा अज्ञात सत्ताके रूपसे पीछे अवस्थित रहता है और इन तीनोंमेंसे कोई एक अथवा तीनोंका कुछ खास भाग इस औसत व्यक्तित्वपर शासन करता है। इस तरह मनुष्यके सांस्कृतिक विकास या प्रतिफल वास्तवमें अत्यधिक विभिन्न हो सकते हैं।

यूनानी संस्कृतिने मानव-व्यक्तित्वके बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक भागोंका विस्तार किया। इसकी प्राथमिक प्रेरणा ही बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक रही और तदनुसार ही संस्कृतिकी अभिव्यक्ति और बाहरी रूपरेखा भी उन्हीं भागोंकी गवेषणाओंको अधिकाधिक प्रश्रय देती रही।

यूरोपने विगत ४०० वर्षोंके क्रममें वैज्ञानिक शोध और अनुसंधानके मार्गदर्शनानुसार जिस सभ्यताको उद्भूत और विकसित किया है और जो सारे जगत्पर फैल चुकी है, वह हमारी वर्तमान संस्कृति मुख्यरूपसे अभावोंकी संतोषप्रद पूर्ति या सुखविलासका स्तर ही, जिसे अच्छी तरह जीना कहते हैं, अभीष्ट रखती है। इसकी प्रेरणा ही प्राणिक है और यह संतोष-प्राप्तिपर ही बल देती है। उदाहरणस्वरूप

हमारे प्राणावेगों, भोजन, गृहादिकी तृप्ति आदि । बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक खोजें विशेषतः हमारी प्राणिक तृप्तिके अन्तर्गत हैं ।

अतः वर्तमान समयके विशाल वैज्ञानिक विकाससे अपेक्षाकृत यूनानी संस्कृति ही स्पष्टतया उच्चतर मानी जायगी । यह प्रधानरूपसे बौद्धिक और सौन्दर्यमूलक थी, इसने मानव-व्यक्तित्वमें जो कुछ उच्चतर है, उसके विस्तार और विकासपर बल दिया था । लेकिन जब हम मानव-इतिहासके वर्तमान कालको सर्वोत्तम समझते हैं, तो हम जीवनकी विषयगत प्राप्तियों, जैसे रेलवे, वायुयान, रेडियो आदि-आदिसे भ्रमित हो जाते हैं । ये सब प्राप्तियाँ मिलकर अधिक-से-अधिक सभ्यताकी एक अवस्था निर्मित करती हैं जो अत्यधिक विशद और विकसित हो सकती है । किंतु ये वास्तवमें प्रकृतिको जीतनेके लिये 'जीवन'के स्रोत और उत्साहसे आगे बढ़ गयी हैं और 'जीवन'को अच्छे और सुखद ढंगसे जीनेके लिये सलाह देती हैं । आवश्यक यन्त्रके रूपमें बुद्धिका उपयोग विशद रूपसे किया गया है । इसके विपरीत, यूनानी संस्कृतिने बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक भाव-पर ही मुख्यरूपसे बल दिया था जो हमारे व्यक्तित्वके उच्चतर तत्त्व हैं और इसीलिये मानवजीवन तथा व्यक्तित्वके प्रधान गुणके अनुसार यूनानी संस्कृति उच्चतर स्वीकृत की ही जायगी ।

तथापि बुद्धि और सौन्दर्यभाव भी हमारे व्यक्तित्वकी उच्चतम वस्तु नहीं है । भारतके प्राचीन ऋषियोंने, जिन्होंने भारतीय संस्कृतिकी नींव डाली है, अपने गम्भीर आन्तरिक अनुसंधानोंके क्रममें मनसे भी महत्तर प्रकाशका आविष्कार किया था, जिसे उन्होंने 'आत्मा' कहकर पुकारा । उन ऋषियोंने इसे 'जीवन'के प्राणिक उत्स और उत्साहसे अधिक शक्तिशाली पाया । फलतः आत्मा और उसकी अनुभूति जीवनकी साधनाओंका सच्चा लक्ष्य बना, जिसे उन्होंने व्यक्तिगत जीवनकी योजनामें चरितार्थ करना चाहा । इसी योजनाके प्रमाणस्वरूप चार अवस्थाएँ—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—निर्धारित की गयी हैं । सामाजिक जीवनमें भी इसकी चरितार्थताके निमित्त चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका संगठन स्पष्टतः पाया जाता है । प्रत्येक वर्ण अपना कर्तव्य पालन करता हुआ एक ही सर्वसामान्य परम श्रेष्ठ कल्याणको प्राप्त करता है । जीवनकी मौलिक आध्यात्मिकताके विशेषतर प्रमाण-स्वरूप हम व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनके लिये चतुर्विध पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षपर बल देते हैं और इसी चतुर्विध पुरुषार्थके आधारपर भारतीय ऋषिगणने भारतीय संस्कृतिको निर्मित एवं स्थापित किया । यही कारण है कि भारतीय संस्कृति स्वभाव और आचरणमें वस्तुतः आध्यात्मिक कही जाती है ।

किंतु जो संस्कृति आत्मा और उसकी अनुभूतिको अपना मूल लक्ष्य बनाती है, क्या वह उन अन्यान्य संस्कृतियोंसे आवश्यकरूपेण उत्तम नहीं है, जो तार्किक विचार सौन्दर्यात्मकभाव, नैतिकता या सुखद जीवनको ही अपनी केन्द्रीय धारणा मानती हैं ? संस्कृति तो निश्चय ही व्यक्तित्वका विस्तार है और इस साधनामें व्यक्तित्वके सर्वोच्च और सर्वोत्तम भागको ही स्पष्टतः महत्तम अनुशीलन प्राप्त होना चाहिये । जीवात्मा अपनी वास्तविक अनुभूतिके स्वरूप तथा स्वभावसे ही सबल तात्त्विक मूल्योंका धाम है और साथ ही स्वयं मार्गदर्शन, स्वयं संचालन और स्वयं सत्ताके हेतु समर्थ है । अतएव वह मन, प्राण और शरीरसे, जो स्वभावतः बाह्यरूप—आश्रित और सापेक्ष—हैं, महत्तर और उच्चतर तत्त्व है और व्यक्तित्वका सच्चा सर्वनियन्ता मूल तत्त्व है । जो संस्कृति लघुतर तत्त्वको ही अपना प्राथमिक लक्ष्य मानती है, वह व्यक्तित्वके वास्तविक सत्यसे तथा इस तरह अपने विस्तारकी सम्भावनाओंसे वञ्चित रह जाती है ।

आध्यात्मिक जीवनके कुछ ऐसे मत हुए हैं जो जीवात्माको ही ऐकान्तिक रूपसे चाहते हैं । उन मतोंने हमारे व्यक्तित्वके अन्य भागों, मन, प्राण और शरीरको, अस्तित्वका भी अधिकार नहीं दिया है । भारत और यूरोपकी मध्यकालीन आध्यात्मिकता निःसंदेह इसी प्रकारकी थी । इसने जगत् और जगत्के जीवनका त्याग कर दिया था ।

किंतु श्रीअरविन्दने सर्वाङ्गीण आध्यात्मिकताका स्वरूप हमें प्रदान किया है, जिसके अनुसार हमारे व्यक्तित्वका प्रमुख तत्त्व जीवात्मा हमारे अन्यान्य भागोंकी शक्तियोंका पूर्ण नियन्त्रण और संचालन करनेमें समर्थ है और इसे ऐसा चरितार्थ करनेका अवसर अवश्य देना चाहिये । तदनन्तर ही सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वका सर्वोत्तम

मूल्य प्राप्त होगा और सामान्य जीवन वस्तुतः रूपान्तरित होगा। यदि जगत्से दूर जीवात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा हो तो जगत्‌के लिये कुछ विशेष आशा शायद ही रहे; क्योंकि तब जगत्पर मनके विभक्त चिन्तनों और प्राणकी द्वन्द्वात्मक वासनाओं और शरीरकी आलस्यान्वित जडताका ही शासन चलता रहेगा। आध्यात्मिक चेतनाका सर्वाङ्गीण एवं परिपूर्ण प्रकाश ही इन्हें रूपान्तरित कर सकता है और उसे ही जगत् तथा इसके संघर्षोंके ठीक बीचमें लाकर कार्यान्वित करना पड़ेगा।

वास्तवमें श्रीअरविन्दके दर्शनमें ही हम रूपान्तरित जीवनकी झलक पा रहे हैं, वह जीवन जो खण्डित धारणाओं और द्वन्द्वमूलक वासनाओंके द्वारा नहीं, वरं आत्माके समग्र प्रकाशके द्वारा परिचालित होगा। आजके साधारण अहंकारमूलक व्यक्तित्वके स्थानपर सर्वाङ्गीण आध्यात्मिक व्यक्तित्वका दर्शन है यह। तब तो सांस्कृतिक जीवन स्पष्टतः एक नूतन दिशा ग्रहण करेगा। अपने-अपने मनके द्वारा आज हम एकता, राष्ट्रीय जीवनमें एकता, अन्ताराष्ट्रीय जीवनमें एकता लानेकी चेष्टा करते हैं, किंतु इस तरहकी एकताएँ सदा ही दुर्बल रचनाएँ होती हैं। जिन-जिन विरोधी तत्त्वोंको एकताओंके सूत्रमें बाँधना चाहते हैं, वे सभी तत्त्व अपनी ही ओर विशेष रूपसे बल देते हैं और अन्य तत्त्वोंका बहिष्कार करते हैं। फलस्वरूप इस तरहकी एकताएँ सदा ही छिन्न-भिन्न हो जानेवाली प्रतीत होती रहती हैं। किंतु सर्वाङ्गिणीकृत व्यक्तित्वके लिये एकता उतनी ही निश्चित और सहज हो जायगी जितनी कि हमारे लिये विभिन्नता है। अतएव सर्वाङ्गिणीकृत व्यक्तित्वसे संचरित वह सांस्कृतिक जीवन मानव-जातिके सांस्कृतिक जीवनमें एक नवीन प्रस्थान होगा। मानव-जीवनमें एकताके प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर यह आगे बढ़ेगा और विभिन्न तथा जातियोंके समृद्ध एवं बहुविध जीवनका निर्माण करेगा। आजके अनेकानेक धर्मसम्प्रदाय और विभिन्न राष्ट्रीय चरित्र मानवजीवनकी समृद्ध एकताके व्यक्तिगत रूपवत् प्रकट होना प्रारम्भ करेंगे।

श्रीअरविन्दकी दृष्टिमें ऐसा विकास मानवजीवनकी आवश्यक ऊँचाई है। विकासात्मक अनिवार्यता भी है यह। अतीतकालमें सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वके उज्ज्वल उदाहरण निश्चय ही पाये जाते हैं, किंतु वे विशुद्ध रूपसे व्यक्तिगत प्राप्त थे। श्रीअरविन्दके गुह्य दर्शनके अनुसार अब समय परिपक्व हो चला है जब कि आध्यात्मिक जीवन, सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वका तत्त्व सामान्य मूल्यके रूपमें स्थापित हो जाना चाहिये। श्रीअरविन्द कहते हैं कि विकास-प्रक्रियामें अभीतक सत्ताके तीन प्रधान तत्त्वों—जड, प्राण और मनको अनावृत किया है, किंतु मन अपने स्वभावसे ही विकासकी अन्तिम सीमा नहीं है। वास्तवमें यह संक्रमणशील तत्त्व है जो अपनेसे परे, स्वयंसमाहित चेतना, गीताकी स्थितप्रज्ञाकी ओर निर्देश कर रहा है। यही है वह उच्चतर चेतना, जिसे श्रीअरविन्द अतिमानस कहते हैं और विकासात्मक अनिवार्यताके अनुसार मनके अनन्तर इसका स्थापन और कार्यान्वयन होना ही चाहिये। मनकी असंख्य असुविधाओं और असमर्थताओंका संकेत भी स्पष्टतः इसी ओर है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि मानव समस्याओंका वर्तमान विशालकाय संकट, प्राचीन मूल्याङ्कनोंका पतन तथा नवीन मूल्याङ्कनोंकी तीव्र और भ्रमित खोज ही अपने गुह्य तथ्यके कारण मानवजीवनके विकासमें अतिमानसके प्रादुर्भावके लिये उपयुक्त अवस्था है। श्रीअरविन्दका पूर्णयोग और उनके आश्रममें हो रहे कार्य इस प्रादुर्भावसे मूलतः सम्बन्धित हैं। मानव-स्तरपर विकास सचेतन और संकलित हो जाता है और यदि मानव प्रकृतिके रहस्यको देखे तथा उसके साथ सहयोग करे तो प्रगतिकी गति तीव्रतर हो सकती है। अतएव श्रीअरविन्द मनुष्योंका आह्वान करते हैं प्रकृतिके सच्चे रहस्यको देखनेके लिये, उसके साथ सहयोग करनेके लिये और नूतन जगत्, नूतन चेतना, सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वके प्रकटीकरणमें सहायता देनेके लिये। इससे एक नूतन एवं समृद्धतर सांस्कृतिक जीवनका स्तर निर्धारित होगा और उसी सांस्कृतिक जीवनमें मानव-एकताकी मौलिक अनुभूति रहेगी।

प्रभुसे सच्चे प्रेमके लिये प्रार्थना

प्रभु! मोहि देउ साँचौ प्रेम।
भजौं केवल तुमहि, तजि पाखंड झूँठे नेम॥
जरै विषय-कुवासना मन जगै सहज बिराग।
होय परम अनन्य तुम्हरे पद कमल अनुराग॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भगवान् जो करते हैं, परम मङ्गलके लिये करते हैं

कुछ वर्षों पहलेकी बात है। मेरे एक सुपरिचित मित्र थे। बहुत अच्छे सज्जन थे। भगवद्विश्वासी थे। व्यापारमें घाटा लगनेसे हाथ कुछ तंग हो गया था और इसी कारण उनकी सयानी लड़कीके विवाहकी व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। उनका बड़ा ऊँचा खानदान था और कुछ ही वर्षों पहलेतक वे बड़े सम्पन्न थे। अतः लड़कीके लिये योग्य वर खोज रहे थे। बड़ी कठिनतासे एक जगह सम्बन्धकी बात पक्की हुई। लड़का पढ़ा-लिखा, सुन्दर और कमानेवाला था। दो-तीन सौ रुपये मासिक वेतनपर एक व्यापारी फर्ममें काम करता था। यद्यपि खानदानकी तथा पैसेकी दृष्टिसे घर उनके योग्य नहीं था, पर लड़की बड़ी हो गयी थी, तथा बड़े दहेजके लिये उनके पास पैसे नहीं थे। दहेज बिना अच्छा घर मिलता नहीं था, इससे स्वीकार करना पड़ा। विवाहकी तिथि निश्चित हो गयी। पर विवाहकी तिथिके दो-तीन दिन पहले लड़केके पिताकी ओरसे अकस्मात् एक दूसरे व्यक्तिकी मारफत संदेश मिला कि 'उनको एक अन्य लड़कीवाला बीस हजार रुपये नकद दे रहा है और सब मिलाकर पचास हजार रुपये लगानेको तैयार है। उनको दुःख तो बहुत है और वे चाहते भी थे कि आपकी लड़कीसे ही सम्बन्ध हो, पर अब उनके घरके लोग तथा लड़का भी तैयार नहीं है, इसलिये लाचारी है।' इस संदेशने वज्रपातका-सा काम किया। लड़की १८ वर्षकी हो गयी थी। लड़कीकी माताको इतना दुःख हुआ कि वे बेहोश हो गयीं। कोई उपाय तो था ही नहीं। लड़कीके पिता अत्यन्त विषादग्रस्त थे। वहीं एक मेरे दूसरे परिचित सज्जन थे, जो भगवान्में बहुत विश्वास रखते थे, बड़े मनस्वी थे तथा इनके मित्र थे। कुछ दवा आदि भी जानते थे। पत्नीको होश आनेपर लड़कीके पिता उन मित्रके पास गये और उनको सारी बातें उन्होंने सुनायीं। वे तुरंत साथ इनके घर आये और लड़कीकी मातासे बोले—'तुम तो भगवान्में विश्वास रखती हो, फिर इतनी निराश क्यों होती हो? विश्वास रक्खो—किसी बड़े मङ्गलके लिये ही भगवान्ने यह व्यवस्था की है।' वह बहुत दुखी थी; पर इनके समझाने-बुझानेसे वह कुछ शान्त हो गयी।

ठीक सातवें दिन उसी नगरके एक बड़े धनी व्यापारीके एकमात्र बीस वर्षके निःसंतान लड़केकी स्त्रीका अकस्मात् देहान्त हो गया। अभी छः ही महीने पहले उसका विवाह हुआ था। उन्होंने हमारे सुपरिचित इन मित्रकी लड़कीसे अपने लड़केका सम्बन्ध करनेके लिये अनुरोध किया। दहेज न लेनेकी उनकी प्रतिज्ञा थी। सम्बन्ध हो गया और कुछ दिनों ही बाद अक्षयतृतीयाको विवाह सम्पन्न हो गया। लड़की बहुत अच्छे धनी तथा सुसंस्कृत खानदानमें चली गयी।

वह विवाह हो जाता तो यह सम्बन्ध नहीं मिलता। अतः भगवान् जो करते हैं, उनके मङ्गल विधानसे जो कुछ होता है, परम मङ्गलके लिये ही होता है। हम अदूरदर्शी, इसपर विश्वास न करके कोई भी बात मनके प्रतिकूल होनेपर—जो कुछ ही दिनों बाद हमारे सामने महान् मङ्गलके रूपमें प्रकट होकर हमें आश्चर्य और आनन्दमें डुबो देती है—अत्यन्त दुखी हो जाते हैं। भगवान्के मङ्गल विधानपर विश्वास कीजिये और नित्य आनन्दमें रहिये।

—मदनमोहन खत्री

(२)

इस हाथ दे, उस हाथ ले

(मौनाभिशाप)

'साधु अवग्या तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥'

गोस्वामी तुलसीदासजीकी इस वाणीकी अक्षरशः आँखों-देखी सत्यताका वर्णन उस दिन भाई गणेशदत्तजी वैद्यने किया, जिसे सुनकर रोमाञ्च हो आया। कल्याण-कामियोंकी सजगताके लिये नीचे उसका उल्लेख किया गया है।

भाई गणेशदत्तजीने कहा—बारह वर्ष पूर्वकी घटना है। तब मैं काशीमें पढ़ता था और प्रतिदिन सीधाके लिये रामनगर अपने चौदह साथियोंके साथ जाया-आया करता था। एक दिनकी बात है—नाव खुलनेमें देर हुई, जिससे विलम्बसे आनेवाले यात्रियोंसे नाव ठसाठस भर गयी। नाव खुलते-खुलते दो पुलिसके सिपाही आ धमके। नावको बेतरह भरी देख, नाविकोंने नाव खोल दी। सिपाही डाँटने-धमकाने लगे। पर नाव रुकी नहीं, बढ़ चली। मल्लाह चीखते रहे—

'दूसरी नाव तुरंत खुलनेवाली है, आपलोग उसीसे आइयेगा, यह नाव बिल्कुल भरी है; अधिक बोझ होनेसे डूबनेका भय है।' किंतु सिपाहियोंने एक न सुनी और वे कूदकर नावमें आ गये। उन्होंने नाव बढ़ानेसे नाविकोंको रोका और यात्रियोंपर दृष्टि दौड़ायी। देखा अधिकांश विद्यार्थी ही हैं, कुछ सम्भ्रान्त व्यक्ति और दो साधु-वेषधारी बाबाजी। संसारके सुखोपभोगसे उदासीन साधुलोग उनकी मदान्ध-दृष्टिमें अति तुच्छ और दुर्बल प्रतीत हुए। अतएव वे लगे उन्हें नावसे नीचे उतारने। साधु इसके लिये तैयार नहीं थे। निदान एक सिपाहीने एक साधुको—निरपराध साधुको एक सिपाहियाना चाँटा जमा दिया। सभी यात्री सिपाहीको दूसने लगे। साधुबाबा मौन हो गये। नाव बढ़ चली।

नावके अत्यधिक बोझिल हो जानेसे नाविक भयभीत थे। हवा तेज थी। रह-रहकर जलमग्नताकी आशङ्का होती थी। राम-राम कर बीच धारासे नाव बाहर निकली, पर साधुने मौन भङ्ग न किया। उसके दूसरे साथी संतने कहा—'महात्माजी, कुछ बोल तो दो, कुछ छोटा-मोटा शाप ही दे दो। मौन क्यों हो गये? क्या इस गरीबको ले ही बैठोगे?' सिपाही संतकी बातोंपर हँसते और मजाक करते। यात्रियोंको बुरा लगता। वे उत्सुकतासे परिणाम देखते रहे। पर महात्मा मौन रहे, मौन; नितान्त मौन।

नाव तटके समीप आ गयी। मल्लाहोंका भय दूर हुआ। बाबाजी मानो मूर्तिमान् कोप बने बैठे रहे और सिपाही प्रसन्न। सहसा धारा तेज हो गयी, कारण घाटकी रक्षाके लिये महाराजाने तटबन्ध बनवाये थे और लोहेके बड़े-बड़े नुकीले छड़ गङ्गाजीमें गड़वा रक्खे थे। तटबन्धसे गङ्गाकी स्वाभाविक धारामें व्याघात पहुँचनेके कारण तीव्रता आ गयी थी। नाव दो ही चार मिनटके बाद उतारकी जगह लगती; पर सिपाहियोंमें इतनी सब्र कहाँ कि किनारा पकड़े। नाव नीचे ठहरावपर जा रही थी कि एक सिपाही नावसे कूदकर छड़ोंके घेरेको पार कर गया। दूसरा जो कूदा तो निशाना चूक गया और ठीक बरछी-से नुकीले एक छड़पर ही मुँहके बल गिरा और गङ्गाकी वेगवती धारामें लगा घिरनई-सा नाचने। छड़ छाती छेदकर पार कर गया। यात्रियोंने आँखें बंद कर लीं। कहना न होगा यह वही सिपाही था, जिसने साधु-अवज्ञा की थी, जिसका फल उसे हाथों-हाथ मिल गया।

—श्रीबनारसीलाल साहित्यरत्न, विद्याभूषण रामडिहरा (शाहाबाद)

(३)

तीर्थयात्राका महत्त्व और परलोकवादकी सत्यता

आधुनिक कालमें जन-समुदायका विश्वास तीर्थ-यात्रा और परलोकवादसे उठता जा रहा है। परंतु यहाँ एक ऐसी घटनाका वर्णन दिया जा रहा है, जो केवल सत्य ही नहीं है वरं जिसकी साक्षीके रूपमें राजस्थान राज्यके भीलवाड़ा जिलेके कई व्यक्ति आज भी विद्यमान हैं। जिला भीलवाड़ा, तहसील मांडलमें, राजपुरा नामक एक ग्राम है। यह ठाकुर श्रीईश्वरीसिंहजी राठौरके अधिकारमें था। इनके ज्येष्ठ पुत्र भीमसिंहका जन्म विक्रमी संवत् १९४१ भाद्रपद कृष्ण ७ को हुआ था। जब इनकी आयु पंद्रह वर्षकी हुई, इन्होंने भी अपने पिताश्रीके साथ सौरभजी (सूकरक्षेत्र), मथुरा, वृन्दावनकी यात्रा की।

यात्रासे लौटते हुए विक्रमी संवत् १९५५ के फाल्गुन शुक्ल ११ को कासगंज (उत्तरप्रदेश) के निकटवाहिनी कालिन्दी नदीमें भी इन्होंने स्नान किया। वहाँ अन्नपूर्णा-देवीके दर्शन किये। पुष्कर होते हुए ये अपने निवास-स्थान राजपुरा आये।

राजपुरा आनेके दो वर्ष पश्चात् कार्तिक शुक्ल ११ विक्रमी संवत् १९५७ को भीमसिंहकी मृत्यु हो गयी। मृत्युके उपरान्त शवको दाह-संस्कारके लिये श्मशान-भूमि ले जानेकी तैयारी शुरू हुई। परंतु मृत्युके दो घंटे पश्चात् भीमसिंहके शवमें पुनः प्राणोंका संचार होना लक्षित हुआ और वे स्वस्थ हो गये।

तभी भीमसिंहने अपने परलोकगमनके समाचार इस तरह वर्णित किये—'गौरवर्णके चार दूत; जिनके चार-चार भुजाएँ थीं, जिनके ललाटपर श्वेत चन्दनके ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक थे, जो बड़े देदीप्यमान प्रतीत हो रहे थे, जिनके चरण पृथ्वीको स्पर्श नहीं करते थे, जिनके दो-दो हाथ ऊपर उठे हुए थे, बड़ी शीघ्रतासे मुझे एक काष्ठके तख्तेपर सुलाकर उत्तरकी तरफ उड़ा ले गये।

काफी दूर जानेके बाद एक विशाल भवन दृष्टिगोचर हुआ। दूत मुझे भीतर ले जानेको ही थे कि ऐसा कहा गया—'इस जीवकी मृत्यु इस समय नहीं है। इसकी तो अभी बहुत उम्र बाकी है। इसे शीघ्र ही अपनी देहमें वापस पहुँचा दो। अन्यथा इसकी देह जला दी जायगी। मृत्यु

तो देवरिया ग्रामनिवासी भीमसिंहकी है। उसको ले जानेके लिये ये काले दूत भेजे जा रहे हैं और इस भीमसिंहने गङ्गा-स्नान, व्रजयात्रा और कालिन्दी नदीमें स्नान किया है। अतः यह वापस तुम्हारे ही ले जाने योग्य है।' यह सुनते ही उसी तख्तेपर वे ही चारों दूत मुझे यहाँ पहुँचाकर अन्तर्धान हो गये और वापस चेतना प्राप्त होनेसे मैं अब स्वयंको स्वस्थ अनुभव कर रहा हूँ।'

उपर्युक्त भीमसिंहके पिताश्रीने इस बातके सत्यकी परीक्षा करनेके लिये, तत्काल ही मङ्गलसिंह नामके घुड़सवारको राजपुरासे पाँच मील दूर स्थित देवरिया ग्राम भेजा। वहाँवाले भीमसिंहका उसी दिन कुछ समय पहले देहावसान हो चुका था और वह घुड़सवार उसके दाह-कर्ममें शरीक होकर वापस आया और ठाकुर ईश्वरीसिंहजीको सब हाल निवेदन किया।

ठा० भीमसिंहजी इस समय भी विद्यमान हैं। यदि उनसे कोई सज्जन पत्र-व्यवहार कर जानकारी हासिल करना चाहें तो उनका पता निम्नलिखित है—

श्रीठाकुर भीमसिंहजी, मुकाम राजपुरा,
मार्फत वकील श्रीहरिश्चन्द्रजी,
पो० मांडल, जिला—भीलवाड़ा (राजस्थान)

उपर्युक्त घटनासे तीर्थ-यात्राका महत्त्व और परलोकवादकी सत्यता स्पष्ट प्रतीत होती है।

—जटाशङ्कर जोशी

(४)

वेदपाठका प्रभाव

सन् १९३४ में बरहज बाजार (जिला देवरिया) में 'महाविष्णु-यज्ञ' हुआ था। यज्ञके आचार्य भारतप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी महाराज थे और मैं जनताके प्रतिनिधिरूपमें यज्ञका 'यजमान' था।

बरहज बाजारके यज्ञमें आचार्य श्रीविद्याधरजी महाराजकी वेदमन्त्रोंके प्रति सच्ची निष्ठा और विश्वासका प्रत्यक्ष चमत्कार देखनेका अवसर प्राप्त हुआ था। बरहजमें सरयूतटपर 'महाविष्णु-यज्ञ' हो रहा था। यज्ञके पाँचवें दिनकी बात है। दिनमें चार बजे यज्ञ-हवनकुण्डमें अग्निदेव प्रचण्ड रूपमें प्रज्वलित होकर वैदिक विद्वानोंके द्वारा विधिवत् हव्य ग्रहण कर रहे थे। उस समय यज्ञशालामें दिवंगत पूज्य बाबा श्रीराघवदासजी महाराज भी उपस्थित थे। यज्ञशालाके चारों ओर यज्ञप्रेमी जनताकी अपार भीड़ थी। अकस्मात् भयंकर कोलाहल सुनायी दिया कि 'सरयूजीकी आधी धारातक बड़े वेगसे आँधी आ चुकी है और वह यदि इस पार यज्ञशालातक आ गयी, तो निश्चित ही यज्ञाग्निकी ज्वाला भीषण रूप धारण कर यज्ञशालाको भस्मीभूत कर देगी, जिससे यज्ञमें बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी और यज्ञ-विरोधी जनताको ननु-नच करनेका अवसर मिल जायगा।' इस बातको विचारकर सभी लोग भयभीत हो रहे थे। जनताकी घबराहट देखकर यज्ञके श्रीआचार्यजीने बड़ी दृढ़तासे कहा—'आपलोग तनिक भी न घबरायें। वेद-मन्त्रोंके पाठसे तत्काल आँधीका वेग शान्त हो जायगा।' इतना कहकर श्रीआचार्यजीने वेदपाठ प्रारम्भ कर दिया। वेद-पाठके प्रभावसे पाँच ही मिनटमें आँधीका प्रबल वेग शान्त हो गया और आँधी जहाँ-की-तहाँ रुक गयी अर्थात् वह आँधी सरयूजीकी आधी धारातक ही रहकर विलीन हो गयी।

श्रीआचार्यजीके वेदपाठके तात्कालिक प्रत्यक्ष प्रभावको देखकर सभी लोगोंने श्रीआचार्यजीकी सच्ची निष्ठा तथा वेदपाठके प्रभावकी बार-बार प्रशंसा की।

—दिवंगत बाबा सत्यव्रतजी, बरहज (देवरिया)

(महामहोपाध्याय श्रीविद्याधर गौडसारक ग्रन्थसे उद्धृत)

(५)

बुराईका बदला भलाई करके लेना चाहिये और विष देनेवालेको भी अमृत देना चाहिये

कई वर्ष पहलेकी सत्य घटना है। मुजफ्फरपुरसे पूर्व एक गाँवमें एक प्रसिद्ध धनी महाजन थे, उनके तीन लड़के थे और उनके छोटे भाईके केवल एक लड़का था। संयोगकी बात, लड़का जब तीन वर्षका हुआ तो उसके पिता मर गये और उसके एक वर्षके बाद ही माता भी मर गयी। अब उस मातृपितृहीन बालकके जीवन तथा पालन-पोषणका भार उस लड़केकी दादीपर ही पड़ा। दादी उसे जी-जानसे पालने लगी, किंतु चाचाजी उस भतीजेको अपने हृदयसे नहीं चाहते थे। इसका प्रबल कारण यह था कि उनके तीन लड़के थे। आधी सम्पत्तिके ये तीन हिस्सेदार थे और इधर लाखोंकी

सम्पत्तिका आधा अधिकारी केवल वह मातृ-पितृहीन एक ही लड़का होनेवाला था।

एक दिन उस निर्दयी चाचाने अपनी स्त्रीसे सलाह करके सुबहके समय उस लड़केके भोजनमें विष मिला दिया; किंतु

जाको राखे साइयाँ मारि सकै नहिं कोय।

भोजनकी थाली रक्खी है। लड़का खानेके लिये आ रहा है, इतनेमें एक कौआ आया और उस थालीमेंसे कुछ भात चोंचमें भरकर भागा, किंतु आँगनमें जाते-जाते वह लोट-पोट हो गया। लड़केकी दादीको यह देखकर मनमें संदेह उत्पन्न हो गया। उसने वह भात उस लड़केको नहीं खाने दिया और एक कुत्तेको बुलाकर उसे खिलाया। भात खाते ही कुत्ता भी तुरंत मर गया। कुछ ही समयमें यह बात बिजलीकी तरह सारे गाँवमें फैल गयी। गाँववालोंने बहुत कुछ जाँच-पड़तालके बाद लड़केके चाचाको दोषी ठहराया और उस लड़केकी रक्षाका सारा भार पक्की लिखा-पढ़ीके साथ उनके ऊपर देकर इस बातको आगे बढ़ने न दिया।

कुछ दिनोंके बाद लड़का जब बालिग हुआ, तब अपने जीवनके डरसे उसने अपने चाचासे अलग रहनेका विचार किया, किंतु धनलोलुप चाचाने उस लड़के (भतीजे) को आधा हिस्सा न देकर चारोंको बराबर-बराबर बाँटनेका विचार किया। इसपर भतीजेने कहा कि 'चाचाजी! मेरा पालन-पोषण आपने किया है; इसके एवजमें मैं अपनी आधी सम्पत्तिमेंसे केवलमात्र आपको दो आने हिस्से देनेके लिये तैयार हूँ। आपके लड़कोंको नहीं।' चाचाने इस बातको कबूल नहीं किया।

जब चाचाने इस बातको नहीं पसंद किया तो भतीजेने हारकर कोर्टमें बँटवारेका मुकदमा दायर कर दिया। बँटवारेसे भतीजाको आधा हिस्सा मिल गया। चाचाजीकी मनोकामना पूर्ण न हो सकी, किंतु उदारचित्त भतीजेने अपने आधे आठ आने हिस्सेमेंसे दो आने उस दुष्ट चित्तवाले चाचाको देकर संतुष्ट किया। यह जानकर उस (भतीजे) की स्त्रीने कहा कि 'एक बार विष देनेपर तो आपने अपनी आधी सम्पत्तिमेंसे चाचाजीको दो आने हिस्सा दे दिया। अब दूसरी बार कहीं चाचाजीकी कृपा हो जाय तो आप अपने घरद्वारसमेत सारी सम्पत्ति ही दे देंगे।' इसपर उसने कहा कि 'तुम नहीं समझती हो बुराईका बदला भलाई करके लेना चाहिये और विष देनेवालेको भी अमृत देना चाहिये।' स्त्री भी उत्तम कुलकी थी। पढ़ी-लिखी और अच्छी समझवाली थी। अपने पतिदेवकी उदारतापर वह हृदयसे प्रसन्न थी। अतः उसने भी इस काममें किसी प्रकारका विघ्न नहीं किया।

कुछ दिनोंके बाद चाचाजीके पापके फल-भोगका समय आ गया। चाचाजीके तीनों लड़के पृथक्-पृथक् हो गये। दिन-रात बाप-बेटोंमें झगड़ा होने लगा। अब तो चाचाजीको खाने-पीनेमें भी तकलीफ होने लगी। जिस जायदादके लिये चाचाजीने बड़े-बड़े पाप किये थे; उसी जायदादको अब कौड़ीके दामोंपर बेचना शुरू किया। जब उस सुयोग्य भतीजेने देखा कि घर बरबाद होनेपर है तो उसने उन तीनों भाइयोंसे कहा कि 'चाचाजी बहुत दुखी हो गये हैं। आपलोग इनको किसी प्रकारसे तकलीफ मत दीजिये और इनसे कोई जमीन न ले सके, इसके लिये कोर्टमें एक दरखास्त दे दीजिये।'

उसके कथनानुसार करनेसे बाकी जायदाद बच गयी। परंतु पूर्ववत् स्थितिमें आना उन लोगोंके लिये आकाश-कुसुमवत् हो गया। उदार भतीजेने समय-समयपर आर्थिक तथा शारीरिक सहायता देकर अपने चाचाजीकी प्रतिष्ठा-मर्यादाको कुछ भी कम न होने दिया। उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होनेपर भी खान-पान, विवाह आदि सारे कार्य पूर्ववत् ही चलते रहे। —पं० रामविलास मिश्र

(६)

भगवान्की निर्भरता

श्रीगङ्गाजीके पार जानेके लिये नावमें कुछ स्त्री-पुरुष बैठे हुए थे। जब नाव गङ्गाजीके बीचमें पहुँची तो बहुत जोरसे आँधी आयी। नाव हिलने-डुलने लगी और जल भरने लगा। जब नाव डूबनेको हुई तो नावमें बैठे हुए स्त्री-पुरुष घबरा गये। कोई-कोई तो रोने भी लगा। परंतु एक पुरुष बिल्कुल निर्भय बैठा हुआ हँस रहा था और मन-ही-मन राम-नामका जप कर रहा था। भगवान्की कृपासे आँधी बंद हो गयी और नाव डूबनेसे बच गयी। जब नाव पार पहुँच गयी तब जो पुरुष निर्भय बैठा हँस रहा था, उसकी पत्नीने पूछा—'जब आँधी आयी; नावमें जल भरने लगा और नाव डूबनेको हो गयी, उस समय सब घबरा गये; कोई-कोई तो रोने भी लगा। परंतु आप निर्भय बैठे हँस रहे थे, इसका क्या कारण था?'

इतनी बात सुनकर उसके पतिने अपनी पत्नीका हाथ पकड़कर गङ्गाजीकी ओर खींचा और कहा 'तुझे अभी गङ्गाजीमें डुबाऊँगा ।' यह सुनकर उसकी पत्नी हँसने लगी और बिल्कुल नहीं घबरायी । उसके पतिने पूछा—'मैं तुझे गङ्गाजीमें डुबानेको खींच रहा हूँ परंतु तू हँस रही है और घबरायी भी बिल्कुल नहीं । इसका क्या कारण है ?' उसकी पत्नीने कहा—'आप मेरे पति (मालिक) हैं । मैं आपकी बन चुकी हूँ, आप ही मेरे शरीरके रक्षक तथा पालन-पोषण करनेवाले हैं । मैं आपके ऊपर निर्भर हूँ, तब आप क्या मुझे डुबा सकते हैं ?' उसके पतिने कहा—जैसे तुम मेरे ऊपर निर्भर होकर निर्भय हो । वैसे ही मैं अपने भगवान् श्रीरामजीके ऊपर निर्भर होकर निर्भय हूँ, वही मेरे मालिक हैं, मैं उनका बन चुका हूँ, मेरे रक्षक तथा पालन-पोषण करनेवाले वही हैं, एकमात्र वही हैं । वे मुझे इस गङ्गामें ही डूबनेसे ही नहीं, भव-सरितामें डूबनेसे भी बचायेंगे । उन्होंने श्रीनारदजीसे कहा है ।

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा ।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी ।
जिमि बालक राखइ महतारी ॥
(श्रीरा० च० अरण्यकाण्ड)

यह सुनकर उसकी पत्नी बहुत प्रसन्न हुई और राम-राम कहती हुई अपने पतिके चरणोंमें गिर पड़ी ।

——सोनादेवी सालवन

(७)

एकान्तरा ज्वरकी रामबाण दवा

जंगलों-खेतोंमें होनेवाली हमारी जड़ी-बूटियोंमें असीम चमत्कारपूर्ण गुण भरे हैं, हम उनका उपयोग जानते नहीं, न करते ही हैं, इसीसे उस लाभसे वञ्चित रहते हैं बिदेशी पद्धतिसे बनी विषपूर्ण ओषधियोंका सेवन करके अपने धन एवं जीवनको बरबाद करते हैं । यहाँ अपामार्गके एक विलक्षण गुणका उल्लेख किया जा रहा है । इसके प्रयोगसे कैसा भी एकान्तरा (एक दिन बीचमें छोड़कर आनेवाला) ज्वर नष्ट हो जाता है । विधि यह है—

जिस रविवारको पुष्य नक्षत्र हो, उसके पहले दिन शनिवारको सायंकाल सूर्यास्तसे पहले अपामार्ग वनस्पतिके पास जाकर उसे जलसे स्नान करावे, फिर रोरी (कुंकुम) चढ़ावे, तदनन्तर जौ-तिल-चावल चढ़ावे । इसके बाद उसकी मूल (जड़) में रँगे सूत (नाल) का लंबा-सा रक्षासूत्र बाँध दे और यह निवेदन करके निमन्त्रण देकर लौट आवे कि 'मैं अपने कार्यकी सिद्धिके लिये कल प्रातःकाल आपको लेने आऊँगा ।' दूसरे दिन पुष्य नक्षत्रयुक्त रविवारके प्रातःकाल सूर्योदयके समय जाकर मूल (जड़) ले आवे और साथ ही उसमें बाँधा हुआ रक्षासूत्र भी ले आवे । यह ध्यान रहे, लाते समय कोई टोकाटाकी न करे कि तुम यह क्या कर रहे हो ?

इस विधिसे लायी हुई अपामार्गकी जड़को घरमें सुरक्षित रक्खे और जब भी जरूरत हो, उसका उपयोग करे । इस प्रकार एक बार लायी हुई जड़ वर्षोंतक काम दे सकती है । पर यह काम लोभ-लालचसे न करे । विशुद्ध सेवाभावसे ही करे । मेरा तीस वर्षका अनुभव है । यह एकान्तरा ज्वरकी रामबाण दवा है ।

रोगीको जिस दिन जिस समय ज्वर आनेकी पारी हो, उस दिन उस समयसे एक-दो घंटे पहले थोड़ी-सी मूल (जड़) उसी रक्षासूत्रसे बाँधकर सात गाँठ दे दे और फिर गुग्गुल या गोघृतकी धूप देकर रोगीके दक्षिण हाथमें (स्त्री हो तो बायें हाथमें) या कण्ठमें बाँध दे । उसी दिन आराम हो जायगा । कदाचित् उस दिन न बंद हुआ तो बहुत जोरसे ज्वर आयेगा, इससे घबराये नहीं । दूसरी पारीसे बिल्कुल नहीं आयेगा । यह परीक्षित है ।

——पं० छोटेलाल जगन्नाथ चक्कीवाला । श्रीसुदर्शन फ्लावर फैक्टरी, रायपुर दरवाजा, कांकरिया रोड, अहमदाबाद (गुजरात)

* * *

भूल स्वीकार

'कल्याण'के गत नवम्बरके अङ्कमें 'पढ़ो, समझो और करो' शीर्षकके नीचे 'काँटेके बदले फूल' नामक एक घटना छपी है । यह घटना अहमदाबादके प्रसिद्ध गुजराती मासिकपत्रसे अनुवादित है । पता लगा है कि यह 'मन्त्र' शीर्षक स्वर्गीय 'प्रेमचन्दजी'की लिखी पुरानी कहानी ही है, जो काट-छाँटकर दे दी गयी है । वास्तवमें 'कल्याण'में तो इसे सच्ची घटना समझकर ही छापा गया था । हमें खेद है कि जानकारी न होनेके कारण यह भूल हो गयी । भविष्यमें हम विशेष ध्यान रक्खेंगे । जिन सज्जनोंने हमें यह भूल सुझायी, उनके हम कृतज्ञ हैं ।

—सम्पादक

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३७

संवत् २०१९–२०२० वि०
सन् १९६३ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] ※ [प्रकाशक—मोतीलाल जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७.५० (सात रुपये, पचास नये पैसे) } आजीवन ग्राहक शुल्क १००)
विदेशोंके लिये १०.०० [१५ शिलिंग] } प्रतिसंख्या .४५ (पैंतालीस नये पैसे)

निबन्ध-सूची

विषय　　　पृष्ठ-संख्या

१–अधर्म और पापसे सावधान रहिये (श्रीराम माधव चिंगले एम्० ए०) … ९६६
२–अधिक सुन्दर बनिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शन-केशरी, विद्याभूषण, साहित्यरत्न) … ९५५
३–अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ६९५
४–अन्तःकरणशुद्धि [परम पूज्यपाद पं० श्रीपुरुषोत्तम नारायण नागरजी महाराजका सदुपदेश] (श्रीभगवानदास झा 'विमल' एम्० ए०, बी० एस्-सी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न) … … ८६२
५–अन्ताराष्ट्रीय चेतना एवं भारतीय संस्कृति (डा० श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, एम्० बी० ए० (न्यूयार्क), पी-एच्० डी० (न्यूयार्क), एम्० आर० ए०, यस्०, एम्० बी० एच्०, साहित्यरत्न, विशारद, धर्मरत्न, प्रोफेसर, लाङ्ग आईलेण्ड विश्वविद्यालय, न्यूयार्क एवं प्रतिष्ठापक, भारतकेन्द्र, न्यूयार्क) … ७०८
६–आत्मनाश–एक नशा (श्रीशेषनारायणजी चन्देले) १०८८
७–आत्मोद्धारकी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … १०१३
८–आध्यात्मिक धनकी श्रेष्ठता (पं० श्रीजयकान्तजी झा) … … १३००
९–आपमें छिपा हुआ चमत्कारी विद्युत्प्रवाह—आत्मतेज (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … ७०९
१०–आस्थाकी माँग (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) … १३४१
११–इन्द्राक्षी-कवचका अद्भुत चमत्कार (एक बहन) १२४५
१२–ईश्वर कब हँसता है ? (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी एम्० ए०) … … ७७३
१३–ईश्वरमें विश्वास (श्रीलक्ष्मणस्वरूपजी माहेश्वरी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) … ८५९
१४–उत्तर और दक्षिणकी शाश्वत एकता (श्रीअशोक महाजन) … … १३५६
१५–उत्साह (डा० श्रीप्रकाशसिंहजी बी० एस्-सी०, एम्० बी० बी० एस्०) … १२२४
१६–एक महात्माका प्रसाद (श्री-'माधव'जी) १२६५, १३३६

विषय　　　पृष्ठ-संख्या

१७–एकादशीका उपवास (मूल मराठी-लेखक श्री पं० श्रीदा० सातवलेकरजी; अनु०—श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि) ९५९, १०२२
१८–ऐसा भी कभी होगा ? (श्री'दुर्गेश') … ९५८
१९–ओ मेरे मन ! गुणगान करो 'श्रीसीताराम'का (डा० श्रीरवीन्द्रप्रताप राव, आर्गेनिक केमिस्ट्री डिपार्टमेंट, यूनिवर्सिटी ऑव् ऐडेलायड, साउथ आस्ट्रेलिया) … ११०१
२०–कल्याण ('शिव') ६८४, ७४८, ८१२, ८७६, ९४०, १००४, १०६८, ११३२, ११९६, १२६०, १३२४
२१–कालिय-मर्दन और ताण्डव-नृत्य (श्रीब्यौहार राजेन्द्रसिंहजी) … … ९८५
२२–किसने पुकारा ? (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ११६४
२३–(श्री) कृष्णकी जन्मकालीन महानता (श्रीबृजलालजी बियाणी) … … १२१३
२४–(श्री) कृष्ण-जन्माष्टमी (भाद्रपद-कृष्णाष्टमीके महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन) … … ११५१
२५–केवल निष्काम कर्मसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … १०७९
२६–कैसा साहित्य चाहिये ? (गोरखपुरमें अनुष्ठित 'निखिल-भारत बंग-साहित्य-सम्मेलनके ३८वें अधिवेशनमें स्वागत समितिके अध्यक्ष श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारके बँगला स्वागत-भाषणके कुछ भागका अनुवाद) … … ७२८
२७–कौन सोचता है ? कौन व्यथित है ? (श्रीसुन्दरलालजी बोहरा) … ७८९
२८–क्या आप किसी मानसिक दुःख या रोगसे पीड़ित हैं ? (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी०-एच्० डी०) … ८९६
२९–क्या जयपुरमें गोहत्या होती है और गोमांस बिकता है (डा० श्रीश्रीकान्त जैन, एम्० पी०) १३२२
३०–क्या हम बुद्धिमान् हैं ? … ९३०
३१–क्षमाका जीवनमें स्थान (श्रीमती पद्मारानी वैश्य) … … १२३८
३२–खान-पानमें भयानक अशुद्धि … ११८९
३३–गोस्वामी तुलसीदास और अहंकार (श्रीसद्गुरुशरणजी अवस्थी) … … ७१२

३४–चञ्चल मनके प्रति (श्री 'दुर्गेश') ··· १३६४

३५–जगत्—प्रियतमका पत्र (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ··· १३७०

३६–जन्तु-जगत्की विशेषताएँ (डा० श्रीरामदयालजी भार्गव) ··· ··· ७९९

३७–जब पाण्डव हार गये (श्रीउपेन्द्रनाथ राय एम्० ए०, शास्त्री) ··· ११२६

३८–जीवकी कल्याण-साधना (श्रीगोपालजी भट्ट एम्० ए०) ··· ··· ११०७

३९–जीवनमें नया परिवर्तन (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· १२१८

४०–जीवनमें सफलताकी कुञ्जी (प्रो० श्रीहंसराजजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी० ई० यस्) ··· ७३९

४१–जीवन-यज्ञ (आदरणीया बहिन श्रीरैहाना तैयबजी) ··· ··· ८९९

४२–ज्ञानका स्वरूप (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ··· १२६१, १३२६

४३–तुम और मैं (श्री'स्वर्णकिरण') ··· ९९७

४४–तुलसीका सुराज (डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· १३७७

४५–तुलसीदासजीकी सौन्दर्य-भावना (श्रीपरमलालजी गुप्त) ··· ··· १०३६

४६–त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ) ··· ११४८

४७–दवाओंसे बचिये (श्रीधर्मचन्द्रजी सरावगी) १०५३

४८–दानशीलता (श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक) ११०५

४९–दिल्लीके संत कवि महात्मा चरणदास (श्रीफतहचन्द्रजी शर्मा 'आराधक') ··· ७४०

५०–दीपावली-विज्ञान (श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव') ८४९, ९०३, ९६३

५१–दीर्घसूत्रीसे ! (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ८०१

५२–दुर्वचन (विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र') ··· ··· १११७

५३–दृष्टान्त-रहस्य (श्रीह० भ० प० चातुर्मास्ये महाराज) ··· ··· १२३६

५४–देववृत्तियोंको जगाये रखिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· १३४२

५५–द्वादशाक्षर मन्त्र और गीता (श्रीगोविन्दराम पं० हूँदराजजी बोधा [यजुर्वेदी]) ··· ७७९

५६–धर्मकी हानि और पापकी वृद्धिके निवारणके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९४५

५७–धर्मक्षेत्र (श्रीलक्ष्मीकान्तजी मिश्र एम्० ए०, साहित्यरत्न) ··· ··· ७६१

५८–'धर्मयुद्ध—भगवत्प्राप्तिका साधन' ··· ६८५

५९–धर्मप्राण संस्कृति और देवालय (श्रीओंकारमलजी सराफ) ··· ··· १०५९

६०–धर्म, सम्प्रदाय, सदाचार और ईश्वर (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) १०८३, ११८४

६१–निराश हृदयकी जीवन-ज्योति (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· १०९१

६२–'नैराश्यं परमं सुखम्' (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ··· १२१०

६३–न्यायोपार्जित धनसे ही शान्ति मिलती है (श्रीभगवानदासजी चौधरी) ··· ८०२

६४–पढ़ो, समझो और करो ७४२, ८०५, ८७१, ९३३, ९९८, १०६१, ११२७, ११९१, १२५५, १३१७, १३८२

६५–पागलकी झोली (महात्मा श्रीठाकुर सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ··· १२७३

६६–पारिवारिक जीवनकी दृढ़ भित्तियाँ—प्रेम, सहिष्णुता और सेवा (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ७८६

६७–पुराणोक्त धर्म-वंशका रहस्य (सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) १०४७, ११३७

६८–पुष्टिमार्गीय समाराधनामें संगीत-योग (पं० श्रीगोपालभट्टजी एम्० ए०) ··· ९८९

६९–प्रकाशका देश (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ७०२, ७५७

७०–प्रतीक्षा (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ··· ७२१

७१–प्रदक्षिणाकी महिमा और विधि (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १२८८

७२–प्रेमी भक्त श्यामानन्द (श्रीराधाकृष्णजी) ··· १३०८

७३–बड़प्पनका मापदण्ड (श्रीअजयकुमारजी ठाकुर) ··· ··· १२७७

७४–बिना साबुन, बिना पानी निर्मल करनेवाले (श्री'दुर्गेश') ··· ··· १२५४

७५–भक्ति (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा–अनु० श्रीसुरेश एम्० भट) ८९४

७६–भक्ति (डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल) ९५४

७७–भक्तियोग (स्वामीजी श्रीभक्तिदीपक भारतीजी महाराज) १२९८
७८–भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ११६७
७९–भगवत्प्राप्तिके विविध साधन (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ७४९
८०–(श्री) भगवन्नाम-जप (नामजप-विभाग—'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर) ... १२५१
८१–भगवन्नामजपका प्रभाव (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १३३०
८२–(श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (चिम्मनलाल गोस्वामी) ... १३१५
८३–भगवान्की दृष्टि (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १२२३
८४–भगवान्के स्वभावका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ८१९
८५–भद्राचलम्—भगवान् श्रीरामके चरणोंसे पावन (श्रीवेंकटलालजी ओझा) ... ९९५
८६–भरतका देवपूजन (श्रीब्रह्मेश भटनागर एम्० ए०) १३४७
८७–(श्रीमद्) भागवत—एक अनुशीलन (जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामी श्रीराघवाचार्यजी महाराज) ... ९४१
८८–(श्रीमद्) भागवतकी .मौलिकता और उसके महापुराण होनेमें प्रमाण (पण्डित श्रीगोपालदत्तजी शर्मा, ज्योतिषशास्त्री) ... १०३३
८९–भारतीय मूर्तियाँ और चित्र आपको प्रेरक शान्ति-संदेश देते हैं (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी० साहित्यरत्न, विद्याभास्कर) ८३४
९०–भारतीय संस्कृतिमें पशु-पक्षियोंका महत्त्व (श्रीइन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार) ... ७३१
९१–भोजनशुद्धि ९८६
९२–मधुर ७०७, ७६७, ८३१, ९०९, ९५३, १०२०,१२०८, १२८१, १३३९
९३–मन एवं इन्द्रियोंसे सावधान ! (प्रो० श्रीशैलजानन्दजी झा 'अंगार' एम्० ए०) ... ११२३
९४–मनको संयत और एकाग्र करनेके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १२०१
९५–मनको सदा कल्याणकारी विषयोंमें लगाइये(डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) १०४२
९६–महामना पं० मदनमोहन मालवीय सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय थे (श्रीएम्० जी० दीक्षित) १३१३
९७–महाराजा जनकके चरित्रका एक पक्ष (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ९७१
९८–माका खेल (प्रे०—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय) ८६७
९९–मानव-जीवन कैसा हो ? [अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश] (प्रेषक—श्रीगोकुलचन्द गोयल एम्० ए०, साहित्यरत्न) ... १३२५
१००–मानव-देह किसलिये ? (श्रीलक्ष्मीनारायणजी 'अलौकिक') ८३७
१०१–मानवधर्म (मुनि श्रीसंत बालजी) ... १३५८
१०२–मानव-बुद्धि और ज्ञान (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १३०२
१०३–मानसकारका दार्शनिक दृष्टिकोण (श्रीप्राणनाथजी पंकज एम्० ए०) ... ९७५
१०४–मानसरोग (श्रीगोपालदत्तजी सारस्वत) ... ७१५
१०५–मानसिक विश्लेषण (श्रीविश्वेश्वरनारायणजी) ९८०
१०६–मितव्ययिताका आदर्श (श्रीरमाकान्तजी मिश्र) १०४४
१०७–मैं क्या बनूँ ? (डा० श्रीतीर्थराजजी शर्मा एम्० काम०, पी-एच्० डी०) ... १३६७
१०८–मैं प्रस्तुत हूँ (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ... ८६६
१०९–मोक्ष-साधन-रहस्य (श्रीस्वामी प्रेमानन्दजी महाराज) १०४८
११०–मोहमेघाच्छन्नता (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ८२९
१११–मौनं चैवास्मि गुह्यानाम् (श्रीभगवानदीनजी मिश्र एम्० ए०) ८६४
११२–यह जादू भी अच्छा काम करता है, जरा प्रयोग करके देखिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... १२९०
११३–(श्रीश्री) राधा-प्राकट्य-महोत्सव—श्रीराधा-जन्माष्टमी (सं० २०२०) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके गोरखपुरमें प्रवचन) ... ११७४
११४–श्रीराम (श्रीहरेशचन्द्रजी अग्रवाल एम्० ए०, बी० टी०) ... ७६८, ८२४
११५–रामका अन्याय ?(श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ... ११२१
११६–रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डा० श्री०-वागीशदत्तजी पाण्डेय, एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत), साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०) ८४५, १२३३

१४0343...

११७–रामचरितमानसमें नारीका स्थान (आचार्य पं० श्रीकेदारनाथजी मिश्र, एम्० ए०, एल्० टी०) ११६९

११८–(श्री) रामचरितमानसमें ब्राह्मणकी परिभाषा (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) १२८४

११९–राम-महिमा (प्रो० श्रीदेउलगाँवकर चन्द्रकान्त) ७७४

१२०–राम-लक्ष्मण—दो शरीर एक प्राण (श्रीदूधनाथसिंहजी) १११०

१२१–वनवासी बन्धुओंके बीचमें (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज) ... ९१७

१२२–विज्ञानके आलोकमें शक्तिका स्वरूप (डा० श्रीकैलाशनाथजी मिश्र एम्० डी०, एम्० बी०, एच्० ए०) ८४०

१२३–विपत्तिको पराजित करनेकी रीतियाँ (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ११५५

१२४–विवेकानन्द और भारतीय धर्म तथा संस्कृति (श्रीशशिधरजी शर्मा शास्त्री, सर्वदर्शनाचार्य एम्० ए०) ८५२

१२५–विश्वमें अशान्ति क्यों ? (महात्मा श्रीनिरञ्जनजीके विचार] (प्रेषक—डा० सूर्यकान्त ठाकुर) १२८०

१२६–विश्वास और श्रद्धाके प्रतीक देवालय (श्रीओंकारमलजी सराफ, संस्थापक देवालयरक्षण-समिति) १२३९

१२७–विष्णुध्वज (डा० श्रीदेवसहायजी त्रिवेद एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... १२४२

१२८–वेदमें अवतारवाद (महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी) ... १०११

१२९–वेदान्तका श्रवण-मनन (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा; अनु०—श्रीसुरेश एम्० भट) ... १२७८

१३०–वैज्ञानिक-आध्यात्मिक अनुभव-ज्ञान (श्रीशिवमूर्तिजी) ९५१

१३१–वैज्ञानिक प्रगति और धर्म (पं० श्रीरामप्रतापजी शास्त्री, नव्य-व्याकरणाचार्य) ... १३६५

१३२–व्यवहार १००२

१३३–शक्तिकी उपासनाके दार्शनिक रहस्य (आचार्य पं० श्रीसूर्यमणिजी शास्त्री) ... ९७८

१३४–शक्ति-प्रकटनका महत्त्वपूर्ण उपाय—अभ्यास (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ... ९०१

१३५–शरीर-मीमांसा (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ... ११३३, ११९७

१३६–षोडशनाम महामन्त्रके विस्तृत विविध अर्थ (परमहंस श्रीभक्तिमयूख भागवत गोस्वामीजी महाराज) ११००

१३७–संग्रहका सुख भ्रम है (श्रीगणेशलालजी कर्ण) ९२९

१३८–संन्यास-तत्त्व (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ६९२

१३९–संस्कारकी बात (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ... ८०३

१४०–संस्कृतभाषाका टीकासाहित्य (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) १३७१

१४१–संस्कृति और श्रीअरविन्द (डा० श्रीइन्द्रसेनजी, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी) ... १३७९

१४२–संस्कृतिका भारतीय तत्त्व (डा० श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी० न्यूयार्क) ८३०

१४३–'सगुन जान नहिं कोइ' (पं० श्रीज्ञानशंकरजी पाण्डेय, एम्० ए०) ... १०९६

१४४–सच्चा मित्र (राष्ट्रपति डा० श्रीराधाकृष्णन्‌द्वारा कथित एक लघुकथा) ... ८८६

१४५–सत्सङ्गका प्रसाद (डा० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... १०१०

१४६–सत्सङ्गसे ही प्राप्तव्यकी प्राप्ति (मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी) ... १३४५

१४७–सदाचार (श्रीचोडवरपु रामशेषय्या) ... १२४८

१४८–सब अनर्थोंके मूलभूत राग-द्वेषके नाशके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ११४१

१४९–सबका कल्याण कैसे हो ? (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक भाषण) १०२७

१५०–समस्त जीवन ही साधन है (श्री'माधव') १२०६

१५१–सम्राट् अकबरद्वारा गोवध-निषेध-आज्ञा (श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०) ... ९१५

१५२–सरकारसे प्रार्थना ९३८

१५३–सर्वधर्मान् परित्यज्य (डा० कैलाशनाथजी मिश्र, एम्० डी०, एम्० बी० एच्० ए०) ७३४

१५४–सहनशक्ति बढ़ाइये (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १२२१

१५५–साधनकी सफलताके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ८८७

१५६–साधन-विचार (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) १००५, १०६९

१५७–सारथि (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ... १२२७

१५८–सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट्०) ... ७७७

१५९–सुन्दरता क्या है ! (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ७९४
१६०–सुशासनका साक्षात्कार (पण्डित श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') [प्रेषक—श्रीसत्यपालजी शर्मा] ... १०५५
१६१–सूरका वात्सल्य (श्रीदिनेश भ्रमरजी एम्० ए०, रिसर्च स्कालर) ... १२९५
१६२–सूरदासका भ्रमर-गीत (याज्ञिक-सम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य) ... ९८७
१६३–सूरदासकी सगुण भक्ति (श्रीहरनारायणजी टंडन 'स्वामीजी') ... ८५७
१६४–सूरदास मदनमोहन (श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग 'साहित्यरत्न') ... ११११३
१६५–सूर्य-रथ और उसके सात घोड़े (सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) ... ८८२
१६६–सौन्दर्य कहाँ ? (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ९५८
१६७–स्वनामधन्य व्याख्यान-वाचस्पति (स्व०) पं० दीनदयालु शर्मा ९२५
१६८–स्वयंके अतिरिक्त (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ११५०
१६९–हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ! (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) १२३०, १२९२
१७०–हमारा धर्म—धर्मयुद्ध (श्रीजीत्तूरामजी मौर्य) ... ७२३
१७१–हमारा महान् शत्रु—आलस्य (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १०४६
१७२–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ११५८, १२१४, १३०३, १३४९
१७३–हिमालय-संरक्षण, देवालय-संरक्षण (श्रीओंकारमलजी सराफ) ७९५
१७४–हृदयमें मधुर गान रखकर आनन्दित होइये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ७८३
१७५–हिंदू-दर्शन (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए० महोदय) ... ८१३, ८७७
१७६–हिंदू-संस्कृतिमें धर्म और राष्ट्र (श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय) १३११

पद्य

१–अनुपम रूप-सौन्दर्य ११९५
२–अब मैं केवल जोग तुम्हारे (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन') ... १०१९
३–अमित रूपसे राम सबसे मिले ... ९३९
४–इतनी कृपा करो १२११
५–उपमान तथा उपमेय (चतुर्वेदी श्रीउमरावसिंहजी पाण्डेय, प्रेम-विशारद) ... ९५०
६–करुण-प्रार्थना ७८८
७–किंचित् भी दोष नहीं देखते ... ७११
८–कौंध रहे वे क्षण (प्रो० 'स्वर्णकिरण') ... १०९०
९–गुरु द्रोण और कौरव-पाण्डव बालक ... ८७५
१०–जय वृषभानु किशोरी (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') १२५८
११–जीवन तुम्हारा लीलाधाम बन गया ... १२४४
१२–तपस्वी (श्रीगुलाबरत्नजी वाजपेयी 'गुलाब') ... १३३८
१३–तुम्हारा पता (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ... १२६६
१४–तुम्हारा प्यार चाहता हूँ (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ८९८
१५–दुःख-सुख, सम्पत्ति-विपत्ति और मानापमान ... ९७१
१६–दो युगोंमें (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन') ७२०
१७–धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की ... ६८३
१८–निर्मोही (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण') ... १३५५
१९–पता नहीं ७३८
२०–'पाञ्चजन्य लो हाथमें' (पाण्डेय पण्डित श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ६९१
२१–पाप त्यागकर सदाचरण करो ... ९७०
२२–प्रभुका बल ७२७
२३–प्रभुकी अनुकम्पा १२२०
२४–प्रभुकी कृपा १०२६
२५–प्रभु प्रकाशसे भर देते हैं ... ८०२
२६–प्रभु सहज सुहृद् हैं १२८३
२७–प्रभुसे सच्चे प्रेमके लिये प्रार्थना ... १३८१
२८–प्रलय-नृत्य ११३१
२९–प्रियतम-सुख १०५८
३०–प्रेयसकी गन्ध महकाओ फिर (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण' एम्० ए०) ... ८४८
३१–भगवत्कृपाकी नित्य वर्षा ... १२९४
३२–भगवान्‌के समान हितैषी भगवान् ही हैं ... १२९७
३३–मंगल सोचो, मंगल करो ... १२९१
३४–मिथ्याचार (गीता ३ । ६ के आधारपर) ... १००३
३५–मिथ्या-ज्ञानी १३२९
३६–रस-सुधा-धारा १२४१
३७–रुद्रका तीसरा नेत्र खुला ८११
३८–रे मन ! (विद्यालङ्कार श्रीजगन्नाथजी मिश्र ... १२१७
गौड़ 'कमल', वेदान्तरत्न) ... ७४७
३९–लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती

४०–वन्दना (श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालंकार) ७९८
४१–व्यवहार १३६६
४२–सबमें सब और श्यामसुन्दर ... ८२३
४३–समर्पण (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ७९१
४४–सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी (गीता ५ । ५ के आधारपर) ... १०६७
४५–सुना दे कविवर ऐसा गान (श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-ऐट-लॉ) ... ८१८
४६–स्वार्थ-परमार्थ एक हो गये ... ९२८
४७–हृदयंगम (श्रीबालयोगी प्रेमवर्णीजी) ... १०३९
४८–हे राम ! (श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालंकार) १०३५

संकलित पद्य

१–अनन्य प्रेम ही सर्वोत्तम भजन है ... १०४३
२–करता राम सनेही (संत नामदेवजी) ... १०७८
३–भक्तिके बिना सुख कहाँ ? (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ... १०७३
४–मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत (गीतावली) १२५९
५–संत कौन ? (श्रीभगवतरसिकदेवजी) ... १२८९
६–सिखवति चलन अँगुरियाँ लाए (गीतावली) ... १३२३

कहानी

१–अवतार (श्री'चक्र') ... १०२४
२–कलियुगके अन्तमें (,, ,,) ... ९११
३–कोप या कृपा (,, ,,) ... ८३८
४–जिन्हें दोष नहीं दीखते (,, ,,) ... ७१७
५–तीर्थ (,, ,,) ... ७९२
६–परमयोग (,, ,,) ... ११८७
७–रक्षकके लम्बे हाथ (,, ,,) ... १२२५
८–श्रद्धाकी जय (,, ,,) ... १३७४
९–सत्य समदर्शन (,, ,,) ... १०९४
१०–साँड़ देवता (,, ,,) ... ९८२

चित्र-सूची

रंगीन

१–अनुपम रूप-सौन्दर्य ... ११९५
२–धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की ... ६८३
३–प्रभुका ऐश्वर्य ... ९३९
४–प्रलय-नृत्य ... ११३१
५–बालकोंके सामने आचार्य द्रोणका कुएँसे गेंद निकालना ८७५
६–मिथ्याचार १००३
७–मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत ... १२५९
८–रुद्रका तीसरा नेत्र खुला ... ८११
९–लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती ... ७४७
१०–सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी ... १०६७
११–सिखवति चलत अँगुरियाँ लाए ... १३२३

इकरंगा

१–भद्राचलम्-मन्दिर ९९६

रेखा

१–कालिन्दी-तटपर मुरलीकी तानमें मस्त कन्हैया ... ... बारहवें अङ्कका मुखपृष्ठ
२–गिलहरीको प्यार देते हुए सर्वजीव-सुहृद् राम ... ... पाँचवें अङ्कका मुखपृष्ठ
३–दशरथराजकिशोर ... चौथे अङ्कका मुखपृष्ठ
४–धर्मरथीको भगवान्‌का वरदान ... तीसरे अङ्कका मुखपृष्ठ
५–भक्तको भगवती सरस्वतीका दर्शन ... सातवें अङ्कका मुखपृष्ठ
६–भगवती अन्नपूर्णा ... दसवें अङ्कका मुखपृष्ठ
७–भगवान् गणपति ... ग्यारहवें अङ्कका मुखपृष्ठ
८–मुरलीकी तान ... आठवें अङ्कका मुखपृष्ठ
९–लक्ष्मणके प्रति रामका उपदेश ... नवें अङ्कका मुखपृष्ठ
१०–वनवासी राम-लक्ष्मण .... छठे अङ्कका मुखपृष्ठ
११–वृषभारूढ़ हर-पार्वती ... दूसरे अङ्कका मुखपृष्ठ

श्रीमद्भगवद्गीता (सानुवाद श्रीधरस्वामिकृत व्याख्यासहित)

अनुवादक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ५२२, एक तिरंगा चित्र, मू० २), सजिल्द २.५०, डाकखर्च १.२५ कुल अजिल्दका ३.२५, सजिल्दका ३.७५ ।

भगवान् शंकराचार्यके मतका पूर्णतः आदर रखते हुए भी श्रीधरस्वामीने अपनी व्याख्यामें स्वतन्त्र दृष्टिकोणका भी परिचय दिया है । व्याख्याकारने इस टीकाका नाम सुबोधिनी रक्खा है और उनका विश्वास है कि इसका पाठ करनेमात्रसे गीताका भाव अनायास ही समझमें आ सकता है । गीताप्रेमियोंसे इससे लाभ उठानेकी प्रार्थना है ।

रामकथा-मन्दाकिनी (स्वरकार श्रीमती गोदावरीबाई साठे)

पृष्ठ-संख्या २४२, बढ़िया कागज, आकार डिमाई आठपेजी, मू० २.०० डाकखर्च १.५, कुल ३.५ ।

गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामचरितमानस तथा कवितावलीके चुने हुए पदोंपर रचित यह शास्त्रीय संगीतकी राम-कथा-मन्दाकिनीका सस्वर प्रवाह संगीतज्ञ भक्तजनोंके लिये अत्यन्त आनन्ददायक वस्तु है ।

भगवद्भक्ति (१२ पृष्ठकी एक छोटी-सी पुस्तिका) मूल्य दो नये पैसे,

ब्र० परमहंस स्वामीजी श्रीमंगलनाथजी महाराजके 'कल्याण'में प्रकाशित दो लेख भक्तोंके अनुरोधसे पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित किये गये हैं ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बननेके नियम

(१) एक साथ एक सौ रुपये देनेवाले सज्जन 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं । जो लोग जिस वर्षका वार्षिक मूल्य रु० ७.५० भेज चुके होते हैं, वे उस वर्षमें ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं ।

(२) जो सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १२५.०० (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये ।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये आजीवन-ग्राहक-मूल्य १२५.०० या १० पौंड है । सजिल्दका १५०.०० या १२ पौंड है ।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा । उनके पीछे उनके उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद हो जानेपर भी नहीं मिलेगा । दोनों ही हालतमें रुपये 'गीताप्रेस'के स्थायी कोषमें सम्मिलित हो जायँगे और प्रकारान्तरसे यह उनके द्वारा गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचारकार्यमें सहायता हो जायगी ।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्मको भी आजीवन ग्राहक बनाया जा सकता है ।

कल्याणके पुराने अङ्क

'कल्याण' के पुराने अङ्कोंके सम्बन्धमें सूचना निकली थी, तदनुसार कई सज्जनोंके पत्र आये हैं। पर हिंदू-संस्कृति-अङ्क, शिवपुराणाङ्क, ब्रह्मवैवर्त्तपुराणाङ्क, मानवताङ्क और संतवाणी-अङ्क तो 'कल्याण'-कार्यालयमें स्टाकमें हैं। ग्राहक महोदय इनके विज्ञापन समय-समय पढ़ते ही हैं । पहलेके भी साधारण फुटकर अङ्क नहीं चाहिये । केवल विशेषाङ्क या विशेषाङ्क-सहित पूरे फाइल आवश्यक हैं । इनमें भी श्रीकृष्णाङ्क, शिवाङ्क, शक्ति-अङ्क, साधनाङ्क, योगाङ्क, भागवताङ्क, मानसाङ्क, महाभारताङ्क, नारी-अङ्क, गो-अङ्क, तीर्थाङ्क और योगवासिष्ठाङ्ककी विशेष माँग है। ये अङ्क अच्छी हालतमें जिनके पास हों और जो लागत मूल्यपर देना चाहते हों, वे कृपया डाकसे, या अधिक अङ्क हो तो रेलपारसलसे भेज दें । मूल्य लिख दें । मूल्य और डाक या रेलखर्च यहाँसे अङ्क मिलनेपर भेज दिया जायगा । इनके अतिरिक्त दूसरे अङ्कोंको विना पूछे कृपया न भेजें ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर

श्रीगीता-जयन्ती-महोत्सव

भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (१८ । ४६)

'जिस परमात्मासे समस्त चराचर प्राणि-जगत्की उत्पत्ति हुई है तथा जो परमात्मा सारे जगत्में व्याप्त है, उस परमात्माकी अपने कर्मके द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धिको—जीवनकी सफलताको प्राप्त करता है ।'

आजका मानव इस भगवत्पूजाको भूलकर भोग-पूजामें प्रवृत्त है, इसीसे वह निरन्तर भोगचिन्तनमें लगा हुआ क्रमशः भोगासक्ति, काम, क्रोध, (लोभ), मोह, स्मृतिनाश, बुद्धिनाशको प्राप्त होता हुआ अपना सर्वनाश कर रहा है । भौतिक विज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी मनुष्य आज भयभीत, संत्रस्त और दुखी है । मानवको इस दयनीय दशासे यदि मुक्ति मिल सकती है, यदि वह समस्त जगत्के हितके कार्यमें लगकर अपना हितसाधन कर सकता है तो इसका परम साधन है—भगवान्के श्रीमुखसे निकली हुई भगवद्गीता-सुधाका यथार्थरूपमें प्रचार-प्रसार । यह गीता अर्जुनको भगवान्ने जिस दिन सुनायी थी, उसी दिनको 'गीता-जयन्ती'के नामसे मनाया जा रहा है ।

इस वर्ष श्रीगीता-जयन्तीका वह महापर्व मार्गशीर्ष शुक्ल क्षय होनेके कारण पौष शुक्ल **११**, बृहस्पतिवार तारीख २६ दिसम्बर सन् १९६३ को है । इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये । आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है । इस पर्वके उपलक्षमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद और उनसे दिव्य शक्ति प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन ।

(२) गीताके महान् वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासका पूजन ।

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण ।

(४) गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये, गीता-प्रचारके लिये, समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्यपरायण बनानेकी महान् शिक्षाके परम पुण्य दिवसका स्मृति-महोत्सव मनानेके लिये सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन, भगवन्नाम-संकीर्तन आदि ।

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण ।

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीताकथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्का विशेषरूपसे पूजन ।

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा ।

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदय, गीतासम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करें ।

* * *

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६४ ई० (तीसरा संस्करण, मू० .६२ नये पैसे, डाकखर्च अलग ।)

एक लाख पंद्रह हजार प्रतियोंके दो संस्करण हाथोंहाथ बिक गये । ग्राहकोंके विशेष आग्रहके कारण विशेषाङ्ककी छपाईके काममें असुविधा होते हुए भी १५,००० प्रतियोंका तीसरा संस्करण छापा गया है, जिसके भी अतिशीघ्र समाप्त हो जानेकी आशा है । जिन्हें लेनी हो वे अपने निकटवर्ती पुस्तक-विक्रेतासे प्राप्त करनेका प्रयत्न करें । यहाँसे मँगवानेवालोंको डाकखर्च सहित एक प्रतिके लिये १.४० दोका २.२५ तथा तीनका ३.५ भेजना चाहिये ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

110343

राज० सं० ए० २७

सम्मान्य ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा प्रार्थना

१–इस अङ्कमें 'कल्याण'का ३७ वाँ वर्ष पूर्ण हो रहा है। अब अड़तीसवें वर्षका प्रथम अङ्क 'श्रीकृष्णवचनामृताङ्क' प्रकाशित होगा। इसमें भगवान् श्रीकृष्णके विविध प्रसङ्गोंपर कहे हुए विभिन्न विषयोंके वचनामृतोंका अभूतपूर्व संग्रह होगा। साथ ही उन प्रसङ्गोंका भी बड़ा सुन्दर संक्षिप्त परिचय रहेगा। रंगीन तथा सादे बहुत-से मनोहर भावपूर्ण चित्र रहेंगे। पृष्ठ लगभग सात सौ होंगे।

२–कागजोंके तथा अन्यान्य सामग्रियोंके दाम तथा कर्मचारियोंका वेतन विशेष बढ़ जानेपर भी 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ७.५० ही रक्खा गया है। आप वार्षिक मूल्य मनीआर्डरसे भेजकर तुरंत ग्राहक बन जाइये। इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है। रुपये भेजते समय पुराने ग्राहक मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। नाम, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें।

३–'ग्राहक-संख्या' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है। इससे विशेषाङ्क नये नम्बरोंसे और पुराने नम्बरोंसे वी० पी० द्वारा दुबारा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि आप उधरसे रुपये कुछ देरसे भेजें और पहले ही यहाँसे आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न लौटाकर नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें। ऐसा करके आप अपने 'कल्याण'-कार्यालयको व्यर्थकी हानिसे बचायेंगे।

४–सभी ग्राहक पाठक महानुभावोंसे तथा ग्राहिका देवियोंसे निवेदन है कि वे प्रयत्न करके 'कल्याण'के दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें। इससे उनके 'कल्याण'के प्रचार-प्रसारमें बड़ी सहायता मिलेगी और वे एक महान् पुण्यके भागी होंगे।

५–जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको हानि न सहनी पड़े।

६–किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो विशेषाङ्क और उसके बादके जितने अङ्क पहुँच जायँ, उन्हींमें पूरे वर्षका मूल्य समाप्त हुआ समझ लेना चाहिये; क्योंकि अकेले विशेषाङ्कका मूल्य ही ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) है।

७–गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग तथा 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी-) का विभाग 'कल्याण'-विभागसे पृथक् है। इसलिये 'कल्याण'के मूल्यके साथ पुस्तकोंके लिये तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के लिये रुपये न भेजें; किंतु चेक या ड्राफ्ट सभी गीताप्रेसके नामसे भेजना चाहिये। गोरखपुरके बाहरके चेकोंमें १) बैंक-चार्ज जोड़कर भेजना चाहिये। पुस्तकोंके आर्डर 'व्यवस्थापक गीताप्रेस'के नामसे तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के रुपये 'व्यवस्थापक—कल्याण-कल्पतरु'के नामसे भेजें।

८–इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें बड़ी कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) है।

९–इस अङ्कमें शायद ही बाहरसे लेख, कविता जा सके। अतः कोई महानुभाव लेख आदि कृपया न भेजें। जिन्होंने भेजे हों, वे सज्जन न छपनेपर कृपया क्षमा करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)उ० प्र०

Compiled
1999-2000